कालिदास-ग्रन्थावली

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

कालिदास-ग्रन्थावली

आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

प्रकाशक :
प्रमोद कुमार पाण्डेय
निदेशक
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

प्राप्तिस्थानम् :
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
संस्कृत भवन, नया हैदराबाद, लखनऊ-२२६ ००७
दूरभाष : २७८०२५१ फैक्स : २७८१३५२
वेबसाइट : www.upsanskritsansthanam.org
ई-मेल : nidesans@upsansthanam.org

प्रथम संस्करण : वि.सं. २००० विक्रमाब्द
षष्ठ संस्करण : सं. २०६३ विक्रमाब्द

प्रतियाँ : ११००

मूल्य : रु. २५०.०० (दो सौ पच्चास रुपये)
© उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थानम्, लखनऊ

मुद्रक :
शिवम् आर्ट्स
२११, ५वीं गली निशातगंज
लखनऊ।
फोन : २७८२३४८, २७८२१७२

समर्पण

कालिदास-ग्रन्थावली

का

यह संस्करण

श्रौत-स्मार्त्त कर्मकाण्डके अद्वितीय विद्वान् तथा काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयके
प्राच्य-विद्या-विभागमें वेद तथा पौरोहित्यके आचार्य पूज्य पितृचरण
पंडित भीमसेनजी वेदपाठीको सादर श्रद्धाके साथ समर्पित,
जिनके पुण्यसे मैंने विद्या प्राप्त की, जिनकी प्रेरणा
और सहायतासे इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित
हुआ था और जो उसी समय सहसा
स्वर्लोक चले गए।

महर्षिकल्प पुण्यश्लोक

महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीकी
पुण्य-स्मृतिमें
अपरिमित श्रद्धा तथा निःसीम आदरके साथ
समर्पित

जिन्होंने इस ग्रन्थकी रचनाके लिये प्रेरणा, प्रोत्साहन, सहायता और आशीर्वाद दिया और जिनकी महती स्नेहमयी अनुकम्पासे मैं विश्वके कविकुलगुरु कालिदासकी सम्पूर्ण रचनाओंका उनकी अभीष्ट सरल नागरी भाषामें अनुवाद करके प्रस्तुत करनेमें सफलता प्राप्त कर सका ।

प्रकाशकीय

संस्कृत वाङ्मय जैसा विशाल और सर्वाङ्गीण साहित्य संसार की किसी भी अन्य भाषा में कदाचित् ही उपलब्ध है। इसकी विशालता और सर्वाङ्गीणता को समझने के लिए चारों वेदों, उपवेदों, रामायण, महाभारत, पुराण, उपपुराण, आयुर्वेद, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष आदि के साथ ही लौकिक साहित्य और काव्यशास्त्र का परिचयात्मक अध्ययन आवश्यक है। महाकवि कालिदास भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही दृष्टियों से संस्कृत जगत् के सर्वमान्य कवि हैं। इनके ग्रन्थों में नाट्य-कला की सुन्दरता, काव्य की वर्णन छटा गीतिकाव्य के सरस हृदयोद्गारों के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। भारतीय जनश्रुति के आधार पर कालिदास राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों के मुखिया थे। महाकवि के ग्रन्थों से भी राजा विक्रम के साथ रहने के प्रमाण मिलते हैं।

महाकवि कालिदास के काव्य, नाटक निश्चित ही देववाणी के शृङ्गार है। वे भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं, तथा उनके पात्र भारतीयता की प्रतिमूर्ति हैं। महाकवि ने अपने चयनित कुछ शब्दों के माध्यम से जिन भावों को अभिव्यक्त किये हैं, वैसा भाव अन्य कवि विस्तार में लिखकर भी स्पष्ट नहीं कर पाते हैं। महाकवि में भाव-अभिव्यक्ति का अद्भुत चातुर्य था।

संस्कृत-संस्थानम् द्वारा 'कालिदास ग्रन्थावली' के इस नवीन षष्ठ संस्करण में विद्वान् पाठकों के सुझाव पर श्लोकानुक्रमणी तैयार कर जोड़ी गयी है। मुझे इस बात का असीम कष्ट है कि इस संस्करण के सम्पादक **आचार्य सीताराम चतुर्वेदी** जी का आशीर्वाद मैं स्वयं भी नहीं पा रहा हूँ और न ही उनके सम्पादकीय के माध्यम से आप जिज्ञासु अध्येताओं को ज्ञान-राशि दे पा रहा हूँ। यदि आचार्य चतुर्वेदी जी आज होते तो इस संस्करण में कुछ और नवीन ज्ञान-राशि जुड़ी होती।

आचार्य जी विद्या, वाणी, वेश-भूषा, विनयशीलता तथा सहज उपकार के लिए सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे जिनके सम्बन्ध में आदरपूर्वक कहा जा सकता है कि -

विद्यया वपुषा वाचा वेषेण विनयेन च।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः कीर्तिमवाप्नुयात्।।

ग्रन्थावली का यह संस्करण आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी जी को समर्पित करते हुए मैं उनके चरणों में कोटिशः नमन करता हूँ।

इस संस्करण के पुनर्मुद्रण हेतु आचार्य चतुर्वेदी जी के मुजफ्फरनगर आश्रम के संचालक उनके सुपुत्र **श्री पं. प्रियशील चतुर्वेदी** जी ने अनुमति प्रदान कर संस्कृत जगत् का जो उपकार किया है इसके लिए कालिदास साहित्य मैं और संस्कृत संस्थानम् सदैव आभारी रहेगा। पुनर्मुद्रण की सम्पूर्ण व्यवस्था तथा श्लोकानुक्रमणी आदि तैयार कर विद्वानों की मांग को पूर्ण करने वाले अपने सहयोगी **डॉ. चन्द्रकान्त द्विवेदी** को तथा प्रकाशन कार्य से सम्बद्ध संस्थानम् के अन्य कर्मियों को भी बधाई देता हूँ। **शिवम् आर्ट्स प्रेस** ने इस पुस्तक के पुनर्मुद्रण में पूर्ण सहयोग दिया है, एतदर्थ साधुवाद। आशा है ग्रन्थावली के इस संस्करण को भी संस्कृत जिज्ञासु-जन पूर्व की भाँति स्वीकार कर आगामी संस्करण हेतु अपने बहुमूल्य सुझाव देकर हमें कृतार्थ करेंगे।

विनयावनत
गुरुपूर्णिमा, वि.सं. २०६३
प्रमोद कुमार पाण्डेय
निदेशक

पञ्चम संस्करणका संपादकीय निवेदन

संवत् २००० विक्रमाब्दमें जब भारत भरमें विक्रम-द्विसहस्राब्दी मनाई जा रही थी, उस समय महामना मालवीयजी महाराजने काशीमें अखिल भारतीय-विक्रम-परिषद्की स्थापना की, जिसकी योजनामें सार्वजनिक समारोहके अतिरिक्त शकारि-विक्रमादित्यके नवरत्नोंमें सर्वोज्ज्वल रत्न कविकुल-गुरु कालिदासके सभी ग्रन्थोंका अनुवाद, अभिनव नाट्यशास्त्र, समीक्षाशास्त्र, कौटल्यका अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थोंका प्रकाशन करके अत्यन्त कम मूल्यमें सर्व-साधारणके लिये सुलभ करना भी था। मालवीयजी महाराजने आदेश दिया कि "पूरा अनुवाद सरल, सुबोध और सर्वगम्य भाषामें कर डालो।" उनका आदेश मेरे लिये वेद-वाक्य था। तदनुसार मैंने सभी ग्रन्थोंका अनुवाद कर डाला और उन्हें सुना भी डाला। जहाँ-जहाँ उन्होंने परिवर्तन या व्याख्या या विस्तार करनेका सुझाव दिया वह भी कर दिया। उन्होंने यह भी आदेश दिया था कि मूल अलग तथा अनुवाद अलग रक्खा जाय। उनकी आज्ञाके अनुसार प्रथम संस्करण इसी प्रकार प्रकाशित हुआ और केवल पाँच रुपयेमें पूर्व निर्दिष्ट ग्राहकोंको दे दिया गया।

थोड़े ही दिनोंमें द्वितीय संस्करणकी आवश्यकता पड़ गई। परिषद् न तो व्यापार करती थी और न पैसा ही संचित करती थी। कागज और छपाईकी महर्घता थी। पाठकोंका आग्रह था कि मूल और अनुवाद साथ-साथ हों, आकार बड़ा कर दिया जाय, कागज भी अच्छा लगाया जाय। इधर साधनोंका पूर्ण अभाव था। मेरे परम पूज्य पितृचरण स्व० पंडित भीमसेनजी वेदपाठीजीको जब मेरी इस विवशताका ज्ञान हुआ तो उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक वात्सल्यभावसे उसके मुद्रणका व्यय देनेकी कृपा की। किन्तु वे उसके प्रकाशनसे पूर्व दिवंगत हो गए। द्वितीय संस्करण भी बातकी बातमें समाप्त हो गया और तृतीय संस्करणकी माँग होने लगी। वह संस्करण बड़ी दैवी तथा नाटकीय परिस्थितिमें प्रकाशित हुआ था।

सन् १९५८ के जनवरी मासमें मैं अत्यन्त अस्वस्थ दशामें काशीमें पड़ा हुआ कल्याणके संत-अंकका पारायण कर रहा था। उसी समय मुझे अन्तःप्रेरणा हुई कि अलीगढ़के अपने प्रिय शिष्य डा० गोवर्धननाथ शुक्लके साथ श्रीगिरिराजजीके दर्शन किए जायँ। मैंने शुक्लजीको लिख भी दिया और उन्होंने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक स्वीकृति भी दे दी। लगभग एक वर्षतक यह संकल्प असिद्ध ही पड़ा रहा। अकस्मात् सन् १९५९ के जुलाई मासमें शुक्लजीने लिखा कि "आषाढस्य प्रथम-दिवसे" के उपलक्ष्यमें अलीगढ़ विश्वविद्यालयमें महाकवि कालिदासपर आकर भाषण दीजिए। श्रीगिरिराजजीके दर्शनका लोभ भी उन्होंने साथ ही दिया था। इसलिये निमन्त्रण स्वीकार करनेमें

आपत्तिका प्रश्न ही नहीं था। यों भी शुक्लजीका मुझपर इतना अधिक आदरपूर्ण प्रेम था कि उनके आग्रहकी अवज्ञा मैं किसी भी प्रकार महीं कर सकता था।

अलीगढ़ विश्वविद्यालयमें भाषण दे चुकने पर अगले दिम हमलोग सयान होकर गोवर्धनके दर्शनके लिए चल पड़े। संयोगवश साथमें अलीगढ़स्थ भारत प्रकाशन मंदिरके अधिष्ठाता पं० बदरीप्रसाद शर्मा भी थे। गोवर्धन पर्वतके दर्शन कर चुकने पर प्रसंगवश कालिदास ग्रन्थावलीका प्रसंग छिड़ गया। मैंने अपनी विवशता प्रकट की किन्तु तत्काल पंडित बदरीप्रसाद शर्माने उसके प्रकाशनका भार स्वीकार कर लिया और पंडित गोवर्धननाथ शुक्लजीके परामर्शके अनुसार मैंने केवल तृतीय संस्करण छापनेका अधिकार परिषद्की ओरसे दे दिया। श्रीगिरिराजजीके दर्शनका यह प्रत्यक्ष और सद्यःफल था। काशी या बलियामें बैठकर इसका संशोधन संभव नहीं था किन्तु पंडित गोवर्धननाथ शुक्लने अत्यन्त तत्परताके साथ यह भार वहन करनेकी स्वीकृति देकर मुझे निश्चिन्त कर दिया। उन्होंने और उनके अग्रज पंडित चिरंजीवलाल रावलने जिस परिश्रम, मनोयोग, धैर्य और उत्साहके साथ इस ग्रन्थको सर्वांग शुद्ध मुद्रित करानेका प्रयत्न किया उसका महत्त्व मैं धन्यवादके औपचारिक शब्दोंमें परिमित नहीं करना चाहता। हाँ, मैं हृदयसे उनको इसके लिये आशीर्वाद देता हूँ।

उस संस्करणमें कुछ लेख और भी बढ़ा दिए गए थे और अत्यन्त सजग और सावधान रहने पर भी मुद्राराक्षसोंकी दयासे कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं और कुछ अशुद्धियाँ यन्त्रके प्रहारसे मात्राएँ टूट जानेसे रह गई थीं।

भारत तथा भारतके बाहरके जिन अनेक विद्वानों, मनीषियों, पंडितों, विद्यार्थियों और संस्कृत विद्यानुरागियोंने इस ग्रन्थके प्रति इतनी आत्मीयता और ममता प्रदर्शित की है उसके लिये मैं उनका हृदयसे कृतज्ञ हूँ और उनकी इस सहृदयताको ही अपने परिश्रमका सबसे बड़ा पुरस्कार समझता हूँ। यदि इस संस्करणके सम्बन्धमें भी वे कुछ सुझाव भेजेंगे तो मैं आदरपूर्वक उनका अगले संस्करणमें उपयोग करनेका प्रयत्न करूँगा। कुछ सज्जनोंने जो सुझाव भेजे थे उनका इस संस्करणमें प्रयोग कर लिया गया है और कुछ सामग्री बढ़ा भी दी गई है।

—सीताराम चतुर्वेदी

छोटी पियरी, काशी
वसन्त पंचमी सं० २०५४ वि०

प्रास्ताविक

'काव्येषु माघः कविकालिदासः' इस समीक्षात्मक सूक्ति द्वारा काव्योंमें यदि माघकवि प्रणीत शिशुपालवध महाकाव्यका वैशिष्ट्य प्रतीत हो रहा है तो कवियोंमें महाकविकालिदासका। 'गुण-गुणिनोः समवायः' की भाँति काव्य और कविको पृथक दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता। यदि कवियोंमें कालिदासका वैशिष्ट्य सर्वमान्य है तो निश्चित ही कविका वैशिष्ट्य उसकी कृतियोंपर निर्भर होनेसे कालिदासकी कृतियोंका वैशिष्ट्य सुतरां सिद्ध है। वाल्मीकि व्यासकी परम्परामें सुप्रतिष्ठित इस महाकविके ग्रन्थ आज भी अपने गुण गौरव की दृष्टिसे सामान्यसे सामान्य तथा असमान्यसे असामान्य पाठकही नहीं समीक्षकको भी आकृष्ट किये बिना नहीं रहते। 'शब्दार्थौ सत्कविरिव' वचन जहाँ हमें सत्कविद्वारा शब्द तथा शब्दनिबद्ध अर्थ सामग्रीकी समान अपेक्षाका ज्ञान कराता है वहाँ 'तददोषौ शब्दार्थौ' तथा शब्दार्थौ 'सहितौ काव्यम्' प्रभृति काव्यलक्षणोंकी ओर भी सहजतया ले चलता है। केवल शब्दचमत्कृतिकी चकाचौंध भारतीय काव्य परम्परामें कभी प्रशस्त नहीं हो पायी। यही कारण है कि कालिदासकी स्वतः स्फूर्तरमणीय पदावली तथा उसमें प्रकट आदर्श पदार्थ या वागर्थरूप जीवनतत्त्व भारतीयमनीषाके सतत अभिनन्दनीय बने हुए हैं। उत्तरभारतके प्रत्येक प्रदेशमें जैसे गोस्वामी तुलसीदासका रामचरित मानस युगयुगों पूर्व प्रकट मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामके जीवनादर्शोंका एकमात्र प्रतिपादक बन गया है वैसे ही प्राचीन जीवन मूल्यों, कुल परम्पराओं तथा ऐतिहासिक प्रमाणोंकी जानकारीके लिए आज कालिदासके ग्रन्थोंमें प्रतिपादित तथ्यही प्रमाणरूपमें जाने जाते हैं। दिलीप-रघु-अजकी क्रमिक वंश परम्परा, दुष्यन्तका हस्तिनापुरराजधानीमें निवास, भगवती जानकीका गर्भवती अवस्थामें निर्वासन तथा यक्षका अभिशप्त अवस्थामें मेघद्वारा अपनी प्रेयसी को संदेश आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिनपर ऐतिहासिक विसंवाद हो सकता है किन्तु 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' के अनुसार स्वयम्भू सार्वभौम कविसम्राट् कालिदासकी लेखनीका विश्वजनीन प्रभाव कहीं भी धूमिल होता दिखाई नहीं देता। यही कारण है कि भारतीय आदर्श जीवनके इस चित्रकारको दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, विज्ञान तथा भाषाशास्त्र आदि विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रमाणभूत आचार्य जैसी मान्यता प्राप्त है।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान संस्कृत प्रचारप्रसारके विविध क्षेत्रोंमें अपनी सक्रियताके आधारपर साधनोंके सीमित होनेपर भी सभी सहृदय सुधीजनोंका स्नेह भाजन बना है। किसी देवमन्दिरमें प्रतिष्ठित भगवद् विग्रहकी भाँति संस्कृत वाङ्मयमें सुप्रतिष्ठित वेदभगवान्की सेवा:

सांस्कृतिक-धार्मिक-वैज्ञानिक-दार्शनिकविषयाणां दुर्लभग्रन्थानां सुदुर्लभानां पाण्डुलिपीनां क्रयस्य, दुष्प्राप प्रकाशनानां प्रकाशनस्य च दायित्वमादाय संस्कृत संस्थानम्—

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्त्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥

वचनप्रतिपादितां कर्त्तव्यकर्मणः क्षिप्रकारितामजहत् सुदुर्लभग्रन्थप्रकाशनक्षेत्रे प्रवृत्तं वर्तते। महाकविकालिदासस्य ग्रन्थानां समेषां सम्बद्धसमीक्षात्मकनिबन्धानां च प्रकाशनमेतत् तस्यां दिशि क्रियमाणस्य सत्प्रयासस्य लघुतमं प्रतीकमात्रम्।

यद्यपि अस्माकमस्मत् प्रकाशनात् प्रागपि महाकवेरस्य पृथक्-पृथक् समवेतग्रन्थानां च प्रकाशनं समभूत्, तथापि आचार्यप्रवराणां पंडितप्रवरश्रीसीतारामचतुर्वेदमहाभागानामिदं संस्करणं पृथगेव स्वकीयं वैशिष्टयमाधत्ते। सरलसुगमशैल्यां हिन्दीभाषायां विहितः संक्षिप्तः सारग्राही चायमनुवादो वन्द्यचतुर्वेदप्रणीतः कालिदासं सर्वजनगम्यं विधातुमनायासेन पारयते। समीक्षात्मकनिबन्धानामस्मिन् संस्करणे संयोजनेन तत्त्वान्वेषिभ्यो मनीषिभ्यो गम्भीरांसामग्रीं प्रदाय प्रतिष्ठितः सम्पादको विश्वजनीनं कर्म सम्पादितवानिति कथनं पुनरुक्तिमात्रम्।

प्रस्तुतं संस्करणं प्रकाश्य 'उत्तरप्रदेशीयं संस्कृतसंस्थानम्' स्वतो यत् किञ्चित् कृतकार्यत्वमनुभवति। संस्थानं पूर्णतः समाश्वस्तं यत् सर्वजनकल्याणमयीदेवभाषायां अनेन सुदुर्लभवाङ्मयप्रकाशनेन सहृदयः सुधीपाठकवर्गोऽवश्यं लाभान्वितो भवितेति शम्।

विदुषां वशंवदः

आचार्यो रामनाथः सुमनाः

अध्यक्षः

उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानस्य

लक्ष्मणपुरीस्थस्य (उ० प्र०)

प्रास्ताविकम्

'काव्येषु माधः कविकालिदासः' अनया समीक्षात्मकसूक्त्या यद्येकतः काव्येषु महाकविमाघप्रणीतस्य शिशुपालवधमहाकाव्यस्य वैशिष्ट्यं प्रतीयते तर्ह्यपरतः कविषु महाकवेः कालिदासस्य। गुणगुणिनोः समवाय इव कविकाव्ययोः पार्थक्यदृष्टयादर्शनं सर्वथाऽसम्भवम्। यदि कविषु कालिदासवैशिष्टयं सर्वमान्यं तर्हि सुनिश्चितं कविवैशिष्ट्यस्य कविकृतिषु समाश्रितत्वात् कालिदासकृतीनां वैशिष्टयं सुतरां सिध्यति।

वाल्मीकिव्यासपरम्परायां सुप्रतिष्ठितस्यास्यमहाकवेर्ग्रन्थाः स्वगुणगौरवदृशा न केवलं सामान्यतः सामान्यमपितु विशिष्टाद्विशिष्टं पाठकं समीक्षकं च समाकर्षन्ति। 'शब्दार्थौ सत्कविरिव' वचनं यत्रास्मान् कवेः शब्द-शब्दनिबद्धार्थसामग्रीद्वयस्य समानामपेक्षां वेदयति तत्र 'तददोषौ शब्दार्थौ' 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' प्रभृतीनि काव्यलक्षणानि प्रत्यपि सहजतयानयति। केवलं शब्दचमत्कृतेश्चाकचिक्यं भारतीयकाव्यपरम्परायां नहि कदापि प्राशस्त्यं लेभे। अयमेव हेतुः यतः खलु कालिदासस्य स्वतःस्फूर्तिमती रमणीया पदावली तत्र प्रकटितं च आदर्शवागर्थरूपं जीवनतत्त्वं भारतीयमनीषायाः सततमभिनन्दनीयं वरीवर्ति।

उत्तरभारतस्य प्रदेशे-प्रदेशे यथा गोस्वामिनस्तुलसीदासस्य रामचरितमानसं युगयुगेभ्यः प्राक् प्राकट्यमुपेतस्यापि मर्यादापुरुषोत्तमस्य भगवतो रामस्य जीवनादर्शानामेकमेव प्रतिपादकं मन्यते तथैव प्राचीनजीवनमूल्यानां कुलपरम्पराणां पुरावृत्तानां प्रामाण्यज्ञानाय कालिदासग्रन्थेषु प्रतिपादितानि तथ्यान्येवाद्य प्रमाणानि मन्यन्ते। दिलीप-रघु-अजप्रभृति-सम्राजां क्रमिकवंशपरम्परा, दुष्यन्तस्य हस्तिनापुरनाम्न्यां राजधान्यां निवासः, गर्भवत्या भगवत्या जानक्या निर्वासनम्, शापेनास्तंगमितमहिम्नो यक्षस्य स्वकीयां प्रेयसीं प्रति मेघदौत्यमित्यादयो बहवो विषया ऐतिहासिकदृशा विसंवादग्रस्ताः सन्तोऽपि 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू' वचनमनुसृत्य स्वयम्भूसार्वभौमस्य महाकवेः कालिदासस्य लेखन्या विश्वजनीनं प्रभावं प्रत्यक्षं निदर्शयन्ति। अनेनैव हेतुना भारतीयजीवनादर्शानमेषचित्रकारो रघुकारो दर्शन-धर्मशास्त्र-पुराणेतिहास-विज्ञान-भाषा-शास्त्रादिक्षेत्रेषु प्रमाणभूत आचार्य इव सर्वैर्मान्यते।

इतश्च 'उत्तरप्रदेशीयं संस्कृतसंस्थानम्' संस्कृतप्रचारप्रसारक्षेत्रेषु स्वकीयां सक्रियतां प्रदर्शयत् साधनसम्पन्नतायाः स्वल्पत्वेऽपि समेषां सहृदयसुधीजनानां स्नेहभाजनतां निरन्तरमावहति। देवमन्दिरे प्रतिष्ठितो देवविग्रह इव संस्कृतवाङ्मये सुप्रतिष्ठितो भगवान् वेदो यथा संस्थानेन सततं सेव्यते सामान्यजनव्यापिनो जीवनादर्शविन्दवोऽपि तथैवामुना समाद्रियन्ते।

सुश्रूषासे लेकर सामान्यजनव्यापि जीवनादर्श विन्दुओंके स्पर्शतक सभी प्रमुख दिशाओंमें संस्थानका चञ्चूप्रवेश है। सांस्कृतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विषयोंके दुर्लभ ग्रन्थोंकी सुदुर्लभ पाण्डुलिपियोंके क्रय तथा अप्राप्य प्रकाशनोंके प्रकाशनका दायित्व लेकर संस्कृत संस्थान कर्तव्यकर्मकी क्षिप्र अक्रियमाण अवस्थामें काल द्वारा उसके रसपानकी आशंकासे सजग रहकर दुर्लभ ग्रन्थ प्रकाशनके क्षेत्रमें प्रवृत्त है। महाकवि कालिदासके ग्रन्थों तथा सम्बद्ध समीक्षात्मक निबन्धों का प्रस्तुत प्रकाशन इसी दिशामें किये जा रहे सत्प्रयासका लघुतम प्रतीक है। यों तो महाकवि कालिदास के व्यक्तिगत तथा सामूहिक ग्रन्थोंका प्रकाशन इस संस्करणके अतिरिक्त भी पूर्वसमयमें हो चुका है किन्तु आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी का यह संस्करण अपनी अलग विशेषता रखता है। सरल सुगमशैलीमें संक्षिप्त सारग्राही हिन्दीमें अनुवाद करके आचार्य श्री ने कालिदासको सर्वजनगम्य बना ही दिया है, समीक्षात्मक निबन्धोंके संयोजनसे तत्त्वान्वेषी मनीषियोंको भी गम्भीर सामग्री प्रदान करके विश्वजनीनकर्मका सम्पादन किया है। प्रस्तुत संस्करणका प्रकाशन करके उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान यत्किञ्चित्कृतकार्यताका अनुभव कर रहा है। संस्थान पूर्णतः आश्वस्त है कि अमरवाणी कल्याणी संस्कृत भाषाके इस दुर्लभ वाङ्मयके प्रकाशनसे सहृदय सुधीपाठकवर्ग अवश्य लाभान्वित होगा।

विदुषांवशंवदः
आचार्य रामनाथ सुमन
अध्यक्ष
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ (उ० प्र०)

परिचयात्मक प्रस्तावना

कविता तो स्वाभाविक उद्‌गिरा होती है जो किसी दैवी प्रेरणा अथवा नैसर्गिक प्रतिभाके कारण रससिद्ध कविके मुख या लेखनीसे अनायास निकलती चली जाती है। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो बलपूर्वक कविता गढ़ते तो हैं ही, उसे यत्नपूर्वक सुनाते भी फिरते हैं, सुननेको बाध्य भी करते हैं। इतना ही नहीं, अपनी उस तुकबन्दीपर वे लिखनेकी तिथि, स्थान और समयतक अंकित कर देनेके साथ ही अपना लम्बा-चौड़ा परिचय देते हुए जन्म-स्थान, जन्म-तिथि, कुल, शिक्षा आदिका भी विवरण यह समझकर दे डालते हैं कि मेरे जैसा कवि न आज-तक हुआ न होगा, लोग मेरे नामकी माला जपा करेंगे। ऐसा ही कोई भ्रान्त कवि किसी सहृदय काव्य-रसिक गुणज्ञ मनीषीके पास पहुँचकर कहने लगा कि मैं कवि हूँ, कविता सुनाने आया हूँ। इसपर उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा—

काव्यं करोषि ? किमु ते सुहृदो न सन्ति
ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति ।
गव्यं घृतं पिब निवातगृहं प्रविश्य,
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति ।।

[अच्छा ! तो आप कविता भी करते हैं ? तो यह बताइए कि क्या आपके कोई ऐसे मित्र नहीं हैं जो आपके इस कविता करनेके प्रचण्ड वातरोगको दूर कर सकें। न हों तो आप मेरी बात मान लीजिए कि आप किसी बन्द कोठरीमें बैठकर गायका घी पी डालिए क्योंकि जिन लोगोंको प्रबल वातरोग हो उठता है वे कवि बन जाते हैं अर्थात् कविता करना एक प्रकारका वातविकार ही है।]

किन्तु कविकुलगुरु कालिदास तो उस कविता-कामिनीके विलास और हाव-भाव थे, जिसके सम्बन्धमें महाकवि जयदेवने अपने प्रसन्नराघव नाटककी प्रस्तावनामें कहा है—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरो कर्णपूरो मयूरो,
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षः हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ।।

[उस कविता-कामिनीको देखकर किसे कौतुक (आश्चर्यसे देखते रहनेका चाव) नहीं होगा, जिसके चोर कवि ही केश हैं, मयूर कवि ही कर्णफूल है, भास कवि ही मुसकान हैं, कविकुलगुरु कालिदास ही जिसके विलास (हाव-भाव) हैं, महाकवि श्रीहर्ष ही जिसके हर्ष हैं और कवि बाणभट्ट ही हृदयमें बसे रहनेवाले कामदेव हैं।] यही कारण है कि बृहत्त्रयीके कवि माघ, भारवि और श्रीहर्षके होते हुए भी कवियोंकी गिनती करते समय अनामिका, अनामिका ही बनी रह गई, किसीका भी नाम उसपर नहीं चढ़ पाया—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा:।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

क्योंकि उस कविके काव्यका क्या महत्त्व और उस धनुर्धारीके बाण चलानेका क्या बाण चलाना कि दूसरेके हृदयमें लगकर भी उसे झूमनेके लिये बाध्य न कर दे, उसका सिर न चकरा दे—

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मत:।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिर:॥

कर्णाटी विजयाके विषयमें कभी किसीने झोंकमें कह दिया था कि कालिदासके पश्चात् वैदर्भी शैलीकी वाणीमें कोई निष्णात हुई तो वह कर्णाटी विजया ही हुई, उसकी जय हो—

सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसो।
या वैदर्भगिरां वास: कालिदासादनन्तरम् ॥

किन्तु क्या किसीने भी आजतक किसी कर्णाटी विजयाका कहीं नाम-तक भी सुना है या उसका कोई ग्रन्थ भी पढ़ा है ?

महाकवि कालिदासकी कवितामें तो इतना माधुर्य, इतना रस भरा पड़ा है कि किसी रसिकने जन्म-जन्मके लिये भगवान्‌से मांगी हुई वस्तुओंमें सबसे पहले कालिदासकी कविताका ही नाम लिया—

कालिदासकविता नवं वय: माहिषं दधि सशर्करं पय:।
एणमांसमबला सुकोमला संभवन्तु मम जन्मजन्मनि ॥

[जन्म-जन्ममें मुझे कालिदासकी कविता, नई चढ़ती हुई जवानी, भैंसका सजाव दही, चीनी पड़ा हुआ दूध, हरिणका मांस और सुकुमारी नवेली मिलती रहा करे।]

सब जानते ही हैं कि माघ कविको घंटा माघ कहते हैं। रैवतक पर्वतके एक ओर उदय होते हुए सूर्य और दूसरी ओर अस्त होते हुए चन्द्रमाके वर्णनमें माघने शिशुपालवधम् महाकाव्यमें कहा है—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलंबिघंटाद्वयपरिवारित-वारणेन्द्रलीलाम् ॥

[पर्वतके एक ओर उगते हुए सूर्यकी ऊपरको उठकर फैली हुई किरणोंकी डोरियों और दूसरी ओर अस्त होते हुए चन्द्रमाकी उठी हुई किरणोंके कारण यह पर्वत उस बड़ेसे हाथीके जैसा अच्छा लग रहा है जिसके दोनों ओर घंटे लटके हुए हों।] इस श्लोकमें आए हुए ‘घंटा’ शब्दके कारण माघको इसलिये ‘घंटा माघ’ कहते हैं कि जब माघकविके काव्यका घंटा बजने लगता है उस समय किसी कविका काव्य सुनाई नहीं पड़ता अर्थात् माघके काव्यके आगे सब काव्य दब जाते हैं।

जैसे माघको घंटामाघ कहते हैं वैसे ही भारविको आतपत्र-भारवि कहते हैं। किरातार्जुनीयम् महाकाव्यमें भारविने निम्नांकित श्लोकमें जलपद्म और स्थलपद्मिनीसे उठकर वायुके कारण ऊपर छत्रके रूपमें चक्कर काटते हुए परागका वर्णन करते हुए कहा है—

उत्फुल्लस्थलनलिनीदलादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसंभवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥

[धरतीपर खिली हुई कमलिनीकी पंखुड़ियों और सरोवरके कमलोंसे उठा हुआ पराग वायुके कारण आकाशमें चक्कर लगाता हुआ ऐसा शोभा दे रहा है जैसे सोनेका छत्र आ तना हो।] इस श्लोकमें आए हुए 'आतपत्र' शब्दके कारण भारविको 'आतपत्रभारवि' कहते हैं अर्थात् जब भारविका काव्यरूपी आतपत्र (छत्र) तन जाता है तब सभी काव्य उसके नीचे छिप जाते हैं।]

इसी प्रकार महाकवि कालिदासको दीपशिखा-कवि कहते हैं। अपने रघुवंशम् महाकाव्यमें अजके स्वयंवरका वर्णन करते हुए कालिदासने बताया है कि जब इन्दुमती एक राजाको प्रणाम करके अर्थात् उसे अस्वीकार करके उसके आगेसे हटकर दूसरेके आगे जा खड़ी होती थी तब पहलेवाले राजाका मुख कैसा मलिन पड़ जाता था—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

[राजमार्गसे रातको हाथमें दीपक (मशाल) लेकर चलनेपर उस राजमार्गपर पड़नेवाले जिस भवनके आगेसे उस दीपककी लौका प्रकाश पीछे पड़ जाता है वह भवन जैसा धुंधला दिखाई देने लगता है वैसे ही पतिका वरण करनेवाली इन्दुमती जिस-जिस राजाको छोड़कर आगे बढ़ जाती थी उस-उसका मुंह वैसा ही फीका पड़ जाता था, उतर जाता था।] इसी प्रकार कालिदासकी कविताके सामने सबकी कविता निस्तेज हो जाती है, कालिदासके सामने कोई कवि ठहर नहीं पाता।

अब आप इस दीपशिखा-महाकविका महाकौतुक देखते चलिए। सबसे पहला काम तो महाकवि कालिदासने यह किया कि भारतीय काव्य-शास्त्रके सारे नियम तोड़ फेंके क्योंकि वास्तविक महाकवि तो वही होता है जो अपना निराला मार्ग बनावे, दूसरेकी लीकपर न चले— मुरारेस्तृतीयः पन्था।

एक कहावत भी प्रसिद्ध है—

लीक लीक गाड़ी चलै, लीकहि चलै कपूत।
लीक छाँड़ि तीनइ चलैं, सायर, सिंह, सपूत ॥

भारतीय काव्यशास्त्रके अनुसार किसी भी महाकाव्यमें एक ही नायक होना चाहिए जिसका आदिसे अन्ततक पूरा जीवन-चरित अंकित हो, किन्तु कालिदासने अपने रघुवंशम् महाकाव्यमें किसी एक पराक्रमी व्यक्तिको नायक न बनाकर पूरे रघुवंशको ही नायक बना धरा जिसका कारण भी उन्होंने प्रारम्भमें स्वयं ही दे भी दिया है—

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥

[मैं थोड़ा पढ़ा-लिखा होनेपर भी रघुवंशियोंके उन सभी वीर पुरुषोंकी गाथा कहने जा रहा हूँ जिनके गुणोंने ही मेरे कानमें पड़कर मुझे यह ढिठाई करनेके लिये आ उकसाया है।]

भारतीय काव्य-शास्त्रके नियमके अनुसार किसी भी महाकाव्यमें इतिहास-प्रसिद्ध नायक-नायिकाका होना आवश्यक है क्योंकि इतिहास-प्रसिद्ध होनेसे ही उनके साथ पाठक या श्रोताका ऐसा रागात्मक सम्बन्ध या साधारणीकरण सुस्थिर हो पाता है जिसके कारण ही उसे रसानुभूति हो पाती है। किन्तु कालिदासने कहा कि यदि इतिहास-प्रसिद्ध नायकके चित्रणसे रसानुभूति कराई गई, तो मेरा क्या महत्त्व रहा! इसीलिये उन्होंने मेघदूतमें न नायकका परिचय दिया, न नायिकाका। नायकको तो 'कश्चित्' कहकर छोड़ दिया और नायिकाका भी पूरा वर्णन तो कर डाला—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रास्तनाभ्यां,
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।

[छरहरे शरीरकी, सलोनी, नोकदार दाँतोंवाली, पके हुए बिम्बाफलके समान अधर और होठोंवाली, पतली कमरवाली, चकित हरिणीकी आँखोंके समान बड़े बड़े चंचल नेत्रोंवाली, गहरी नाभिवाली, नितम्बोंके भारसे अलसाती चलनेवाली, स्तनोंके भारसे कुछ झुकी हुई-सी वह मेरी पत्नी ऐसी है मानो संसारकी सब युवतियोंमें ब्रह्माकी सबसे अधिक सुन्दर रचना हो।] इतना वर्णन कर देनेपर भी कविने यह नहीं बताकर दिया कि वह थी कौन। फिर भी मेघदूत-काव्य ऐसा है कि उसे जितनी भी बार पढ़ा जाय उतनी ही बार जीवन भर उसमें नया-नया रस मिलता चलता है—मेघे मेघे गतं वयः (मेघदूतही मेघदूत पढ़ते रहनेमें जीवन बिता दिया। (मेघे माघे गतं वयः नहीं)

भारतीय काव्य-शास्त्रके अनुसार अपने गुरुजनों और इष्ट देवताके उद्दाम शृंगारका वर्णन करना निषिद्ध है, किन्तु कालिदासने जगत्पिता शंकर और जगन्माता पार्वतीके संभोग-शृङ्गारका भी उद्दाम वर्णन कर ही डाला।

यों तो कालिदासने इतने काव्य-कौतुक किए हैं कि महीनोंतक उनका कीर्तन करते रहनेपर भी उनकी इति नहीं हो पा सकती, किन्तु यहाँ तो संक्षेपमें उनके कुछ इनेगिने कौतुकोंका ही परिचय कराया जा रहा है। जब अपने गुरु वशिष्ठकी आज्ञासे राजा दिलीपने उनकी गौ नन्दिनीकी सेवाका व्रत ले लिया और वे उसे खोलकर उसे वनमें चरानेके लिये ले जाने लगे तब कालिदासने उनके लिये विशेषण दिया है—'प्रजानामधिपः' प्रजाका या सन्तानका अधिपति, अनेक सन्तानोंका पिता, किन्तु प्रजानामधिपः होनेपर भी उनके प्रजा अर्थात् सन्तति थी ही नहीं। रानी सुदक्षिणाको भी वहाँ जाया (सन्तान उत्पन्न करनेवाली पत्नी) कहा गया है, किन्तु सुदक्षिणाने भी कोई सन्तान उत्पन्न नहीं की थी। यहाँ कालिदासने दिलीप और सुदक्षिणापर कठोर और कटु व्यंग्य तो किया किन्तु साथ ही भविष्यवाणी भी कर दी कि प्रजानामधिपः है तो प्रजा अवश्य होगी ही। अब अलंकार-शास्त्रियोंसे पूछा जाय कि इसमें कौन-सा अलंकार है और ध्वनिवादियोंसे पूछा जाय कि इसमें संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है या असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य? वास्तवमें इसमें पुरःफलालङ्कार है जिसका निर्देश स्वयं कालिदासने उसी प्रसंगमें कर दिया है—प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि।

जब गायको सिंह दबोच बैठा तब-'धनुर्धरः केसरिणं ददर्श' कहकर दिलीपको 'धनुर्धर' अर्थात् अपने धनुषसे शत्रुका धर्षण करनेवाला (धनुषा शत्रोः धर्षणं करोतीति धनुर्धरः) बताया किन्तु जब गौको दबोचे बैठे हुए सिंहको मारनेके लिये दिलीप बाण निकालने चले तब उनका हाथ तूणीरमें ही चिपका रह गया और वे 'धनुः धरतीति धनुर्धरः' केवल धनुष हाथमें पकड़े रहनेवाले 'धनुर्धर' बने रह गए। अब बताइए इसमें कौन-सा अलंकार है ? यह ऐसा विचित्र प्रकारका श्लेष है जिसे आप चाहें तो छाया-श्लेष या सूक्ष्मश्लेष कह सकते हैं। किन्तु इसमें भी पुरःफलालङ्कार है। पूरे सर्गमें यह पुरःफलालङ्कार भरा पड़ा है।

कालिदासका कौतुक अजके स्वयंवरका वर्णन करनेमें उस स्थानपर अधिक सचेष्ट हो उठा है जहाँ उन्होंने इन्दुमतीको देखनेपर वहाँ बैठे हुए राजाओंके हाव-भाव और उनके आंगिक भावका सूक्ष्मालंकारमें अंकन किया है कि कौन राजा किस प्रकारकी चेष्टासे इन्दुमतीको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये क्या व्यवहार कर रहा था और वहाँ जिस राजाको प्रणाम करके अर्थात् अस्वीकार करके वह आगे बढ़ जाती थी, उस समय उसका मुख कैसा धुंधला पड़ जाता था।

आजके वैज्ञानिक कहते हैं कि जब आकाशमें छाए हुए बादलोंके विद्युत्-कण आपसमें टकराने लगते हैं तब बिजली चमकती और कड़कती है। महाकवि कालिदासने दो सहस्र वर्ष पहले ही इसका रहस्य प्रकट कर दिखाया। आकाशमें रामके साथ पुष्पक विमानपर बैठी सीताजी बादलोंमेंसे होती चली आ रही थीं। उन्होंने अपना हाथ विमानसे नीचे लटकाकर जो बादलोंको झकझोरा तो सहसा उनके हाथके चारों ओर ऐसी बिजली चमकी मानो बादलोंने उनके हाथमें बिजलीका कंगन उठा पहनाया हो—

करेण वातायनलंबितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या।
आमुंचतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते॥

आकाशमें जाते हुए उनका अभिनन्दन होना भी चाहिए था इसलिये बादलोंने सीताजीके हाथमें बिजलीका कंगन ला पहनाया क्योंकि आकाश भी तो उनका एक पद ही था।

काळिदासका एक दूसरा कौतुक देखिए—

चित्रकूटपर सामने उठा हुआ बादल देखकर कुबेरके शापसे पीडित यक्षको ऐसा लगा मानो पर्वतरूपी हाथी बादलरूपी रेतके टीलेको टक्कर मार मारकर, उसकी धूल ऊपर उछाले डाल रहा हो—वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श।

पर्वत सामने था। इसलिये उसका वर्णन इस प्रकार किया गया मानो सामनेसे देख रहे हों किन्तु लंकासे पुष्पक विमानपर लौटते हुए ऊपर आकाशसे चित्रकूटको बादलसे छाया हुआ देखकर सीताजीसे राम कहते हैं—

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नांबुदवप्रपंकः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः॥

[सुन्दरी सीते ! क्रुद्ध साँड़के समान यह चित्रकूट बरबस मेरी दृष्टि अपनी ओर खींचे ले रहा है, जिसके गुफारूपी मुखसे गिरती हुई धाराकी ध्वनि गूँज रही है और जिसके सींगोंपर टीले ढाहनेसे लगा हुआ कीचड़ लिपटा हुआ है।] यह दृश्य उन्हें ऊपरसे दिखाई पड़ रहा था इसलिये चित्रकूटके शिखरपर जमे हुए बादल ऐसे लग रहे थे मानो साँड़के सींगोंपर किसी गीले टीलेसे टक्कर लेनेपर कीचड़ लिपटा हुआ हो।

सबसे बड़ा कौतुक तो कालिदासने यह किया कि विरोधी बीभत्स और शृङ्गार रसोंका मेल कर दिखाया। बहुतसे समालोचकोंने इसे रस-दोष बताया है किन्तु वे नहीं समझ पाए कि महाकवि तो वही है जो असंभवको संभव कर दे। कालिदासने बीभत्स और शृङ्गारको एक साथ ला जोड़ा और बीभत्सको भी रस बना दिया। रामने ताड़काको एक ही बाणसे मार गिराया और वह यमलोक जा पहुँची। इसपर कालिदासने कहा—

रामममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवतेशवसतिं जगाम सा॥

जैसे कोई कामपीडित अभिसारिका नायिका अपने शरीरपर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य लगाकर अपने प्रियसे मिलने जाती हो वैसे ही [रामरूपी कामदेवके असह्य बाणसे हृदयमें चोट खाई हुई वह राक्षसी ताडका भी रुधिर-रूपी गन्ध और चन्दनसे लिप्त होकर जीवितेश (प्रिय, यम)-के पास चली गई।] यहाँ जीवितेश पदमें श्लेष है।

कालिदासने अपने काव्यमें तीन तकारोंको बड़ा महत्त्व दिया है—तितिक्षा, त्याग और तपस्या। गौकी सेवा करनेमें दिलीपने अपूर्व तितिक्षा (सब प्रकारकी सहन-शीलता)-का परिचय दिया। जब रघुने कुबेर-द्वारा बरसाया हुआ सब स्वर्ण वरतन्तुके शिष्य कौत्सको देना चाहा तब गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोर्थी कौत्सने अप्रतिम त्यागका परिचय देते हुए कहा कि मैं तो उतना ही धन ले जाऊँगा जितना गुरुजीने माँगा है। राम और भरतका त्याग तो लोकप्रसिद्ध है ही। किन्तु सबसे बड़ी बात तो तपस्याकी है। जगन्माता पार्वती अपने रूपसे महादेवजीको प्राप्त करना चाहती थीं, किन्तु जब उनके देखते-देखते शिवने कामदेवको भी भस्म कर डाला तब उन्होंने समझ लिया कि शंकर-जैसा अलौकिक पति और उनका प्रेम मुझे अपने सलोने रूपसे नहीं केवल तपस्यासे ही प्राप्त हो पा सकता है। बस, उन्होंने ऐसी घोर तपस्या छेड़ दी जैसी किसीने न की, न कोई कर सकता—

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

इस तपस्याका मधुर परिणाम यह हुआ कि स्वयं शंकरने प्रकट होकर पार्वतीसे कहा—

अद्यप्रभृत्यनवताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिः   ।

[आजसे मैं तुम्हारे तपसे मोल लिया हुआ तुम्हारा दास हो गया हूँ।]

आजकल तो जो भारतपर या किसान मजदूरपर गीत लिख देता है या बापूपर तुक जोड़ देता है, वही राष्ट्रकवि कहलाने लगता है, किन्तु सच्चा राष्ट्रकवि वही है जिसने सम्पूर्ण देशको

समग्र रूपसे आत्मसात् करके उसका याथातथ्य चित्रमय और भावमय वर्णन किया हो। महाकवि कालिदासने रघुदिग्विजय और इन्दुमतीके स्वयंवरके प्रसंगमें भारतभरके जीव, पशु, पक्षी, भूप्रकृति, आचार-विचार, पर्वत, मद, नदी, सरोवर, मन्दिर, मनुष्य और विभिन्न स्थानोंके इतिहासतकका सूक्ष्म वर्णन कर दिया है। मेघदूतमें मेघको दूत बनाकर भेजनेके बहाने चित्रकूटसे अलकातकके पूरे मार्गका तो विवरण उन्होंने दे ही दिया, साथ ही वक्रः पन्था बताकर उज्जयिनीका भी सरस वर्णन कर डाला। वे वास्तवमें सच्चे अर्थमें राष्ट्रकवि थे और उनका कौतुक यही रहा कि रघुदिग्विजयमें विभिन्न प्रदेशों, वहाँके मनुष्यों और वृक्ष आदिके साथ उनके रूप और आचार-विचारका भी वर्णन कर दिया। इन्दुमतीके स्वयंवरमें विभिन्न देशोंके राजाओंके पराक्रम और उनके इतिहासके साथ वहाँकी भू-प्रकृति और वहाँके रमणीक स्थानोंका तो वर्णन किया ही, रामकी विमान-यात्रामें लंकासे अयोध्यातकके बीच पड़े हुए प्रदेश ऊपरसे कैसे दिखाई देते हैं इसका भी वर्णन कर दिया। क्या कोई दूसरा कवि ऐसा कर पाया है?

जितने कवियोंने रामकी कथा कही है सबने सरयू-तटपर स्थित अयोध्याके वैभव और सौन्दर्यका वर्णन प्रारम्भमें ही किया है, किन्तु कालिदासने बड़े कौतुकके साथ अयोध्याके उजड़ जाने और कुशावती बस जानेपर उजड़ी हुई और पहलेकी अयोध्या दोनोंका एक साथ तुलनात्मक वर्णन ला किया है। साकेत चले जानेपर रामके पुत्र कुशने कुशावती नगरी जा बसाई थी। वे एक दिन अपने चारों ओरसे बन्द कक्षमें सायंकाल बैठे हुए थे। इतनेमें वे देखते क्या हैं कि एक सुन्दर स्त्री उसमें वैसे ही आ बैठी है जैसे दर्पणमें देखनेवालेका मुख आ पहुँचता है। उसे देखते ही कुशने पूछा—

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः॥

[शुभे! तुम कौन हो, किसकी पत्नी हो और मेरे पास किसलिये आई हो? तुम यह समझकर मुँह खोलना कि संयमी रघुवंशी लोग किसी परस्त्रीपर कभी दृष्टि नहीं डालते।] उस देवीने अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं अयोध्याकी राज्यलक्ष्मी हूँ।' यह परिचय देकर उसने रामके समयकी समृद्ध अयोध्याका और उस समयकी उजड़ी हुई अयोध्याका पूरा तुलनात्मक दृश्य प्रस्तुत कर दिया जिसका केवल एक उदाहरण दिया जा रहा है—

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः संवाह्यते राजपथः शिवाभिः॥

[रातके समय पहले जिन सड़कोंपर चमचमाते बिछुओंवाली अभिसारिकाएँ चला करती थीं, उन्हींपर आजकल ऐसी सियारिनें घूमती फिरती रहती हैं, जिनके मुखसे हुँआँ-हुँआँ चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकली पड़ती हैं।]

कालिदासका मेघदूत तो बूरेका लड्डू है, जिधरसे तोड़ो उधरसे ही मीठा निकले, जितनी बार पढ़ो उतनी ही बार उसमें नया-नया चमत्कार मिलता चले —

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः॥

[सुन्दरताका लक्षण ही यह है कि उसमें क्षण-क्षणपर नया ही नया चमत्कार दिखाई पड़ने लगे।] मेघदूत तो बिहारीकी उस अलबेली नायिकाके समान है जिसका चित्र बनानेके

लिये संसारके बड़े-बड़े चित्रकार बड़े अभिमानके साथ आ-आकर बैठे तो सही पर कोई भी चित्र खींच न पाया, सब मूर्ख बन-बनकर बैठ रहे क्योंकि उस नायिकाका रूप क्षण-क्षणपर नया ही नया सुन्दरसे सुन्दरतर, सुन्दरतम होता चला जा रहा था। तब चित्र बने तो कैसे बने ?—

लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर॥

इसी भावको एक उर्दूके कविने इस प्रकार व्यक्त किया है—

वो नाजनीं का भी नाज़ क्या है, कि कुछ अजूबा-सा है तमाशा।
बयाँ करें क्या जुबांसे उसका, घड़ीमें तोला घड़ीमें माशा॥

इसीलिये कहा गया है—मेघे-मेघे गतं वयः, जिसे कुछ लोग अनुप्रासके फेरमें 'माघे मेघे गतं वयः' कहा करते हैं। किन्तु माघ और मेघकी कोई तुलना नहीं है। वीप्सा अलंकारके बदले अनुप्रासके लोभमें ही ऐसा कह दिया गया है। मेघदूत और शिशुपालवधकी तुलना ही क्या ? क्योंकि सच पूछिए तो माघके शिशुपालवधमें मूल कथा तो केवल अन्तिम तीन सर्गोंमें हैं, प्रथम दोमें तो भूमिका है और शेष पन्द्रह सर्ग असंगत शृङ्गारिक वर्णनोंसे भरे पड़े हैं। उन्नीसवाँ सर्ग चित्रकाव्यमय है, जिसे मम्मटने अवर (अधम) काव्य कहा है—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।

यहाँ शिशुपाल वधके उन्नीसवें सर्गका एक एकाक्षरी श्लोक दिया जा रहा है जिसका अर्थ कोई समझा दे तो हम भी हार मानकर आजसे कहने लगेंगे—माघे मेघे गतं वयः।

दाददो दुद्दुद्दादो दाददो ददीददोः।
दुद्दादं ददे दुद्दं दादाददददोऽददः॥

पंडितराज मल्लिनाथके पांडित्यका लोहा मानते हुए भी यह निश्चय है कि इस सर्गकी टीकामें उन्होंने भी बहुत अटकलसे काम लिया है।

सच बात तो यह है कि एक ही ग्रन्थके फेरमें पड़कर आयु बिता दी जाय तब तो उसका महत्त्व है, दोके फेरमें पड़े रहे तब क्या जीवन रहा ? रहे तो एकका ही होकर रहे।

भामहने मेघ, पवन, चन्द्र, भ्रमर, शुक आदिको दूत बनाना गर्हित बताया है पर कालिदासने तो यह विरोध प्रारम्भमें ही कीलित कर दिया है—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।

मेघदूतका काव्य-कौतुक देखिए। मेघदूतका यक्ष कुबेरका शाप लेकर चित्रकूटपर आकर आठ महीनेसे रह रहा है। वह विप्रयुक्त है, वियोगी है, साथ ही कामी भी है, अपनी पत्नीमें बहुत आसक्त है। इस अवस्थामें उसका दुर्बल हो जाना स्वाभाविक है जिसका परिणाम यह हुआ है कि उसके हाथका सोनेका कड़ा हाथके पहुँचेसे खिसककर न जाने कब निकल गया, कब गिरा, उसका उसे पता नहीं है।

'कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः' कहकर कालिदासने बता दिया कि वह बहुत दुर्बल हो गया है, पर कालिदासने तुलसीदासके समान अतिशयोक्ति नहीं की। रामके विरहमें सीता इतनी दुबली हो गईं कि—

कनगुरियाकी मुँदरी कंगन होत।

रामके विरहमें कानी उँगलीमें पहनी हुई सीताजीकी अँगूठी कंगन बन गई। यद्यपि इसमें विरहकी तीव्रताकी ही व्यञ्जना की गई है, तथापि इसपर हँसी तो आती ही है। कलाई कितनी भी पतली क्यों न हो जाय पर कानी उँगली–जैसी पतली तो हो ही नहीं सकती। अपभ्रंशके एक कविने तो और भी कमाल किया है। किसी नायिकाका पति परदेश गया हुआ था। वह अपने छज्जेपर बैठे हुए कौएको यह कहकर उड़ाए दे रही थी कि मेरा पति आता हो तो उड़ जा, जैसा प्रायः सभीके यहाँ लोग किया करते हैं। वह बहुत दुबली हो गई थी और उसके हाथकी चूड़ियाँ इतनी ढीली हो गई थीं कि उड़ानेके लिये हाथ ऊपर झटकनेके साथ ही आधी चूड़ियाँ धरतीपर जा गिरीं। यहाँतक तो माना जा सकता है। पर इतनेमें ही सहसा उसे अपने पति आते दिखाई दे गए। इस हर्षसे वह इतनी फूल उठी कि आधी चूड़ियाँ तड़ककर टूट गिरीं—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तड़त्ति॥

उर्दूके एक कविने तो अत्युक्तिकी पराकाष्ठा कर दी। कोई सज्जन या स्वयं कवि अपने प्रियके वियोगमें इतने दुबले हो गए थे कि बिस्तरपर पड़े होनेपर भी दिखाई नहीं दे रहे थे। इसलिये उनके प्रियने वहाँ आकर अपने साथ वालेसे कहा कि बिस्तरको झाड़कर देखा जाय तब सम्भवतः कहीं टपककर दिखाई दे जायँ तो दे जायँ।

इन्तहाए लाग़रीसे जब नज़र आया न मैं।
हँसके वो कहने लगे बिस्तरको झाड़ा चाहिए॥

किन्तु कालिदासने यह सब अटकलपच्चू और बेसिर-पैरकी बातें नहीं कीं। उन्होंने स्वाभाविक रूपसे कह दिया कि उसके हाथका सोनेका कड़ा अपने आप निकलकर गिर पड़ा। पर कौतुक यहीं तक नहीं है। कौतुक तो इसकी व्यञ्जनामें है कि चाँदी या ताँबेका कड़ा नहीं, सोनेका कंगन उसके हाथसे खिसक गिरा, किन्तु वह अपनी प्रियाके प्रेममें इतना अधिक मग्न था कि हाथका सोनेका भारी कड़ा निकल जानेपर भी उसे उठानेतककी सुध नहीं रह गई, इतना तीव्र था उसका अपनी पत्नीसे प्रेम। पीतल या ताँबे-लोहेका होता तो कोई बात नहीं थी, निकलकर गिर जाय तो गिरा करे।

हिन्दीमें भी घनानन्दने मेघको दूत तो नहीं बनाया, पर उससे यह प्रार्थना अवश्य की कि कभी तुम मेरी प्रिया सुजान (या मेरे प्रिय सुजान कृष्ण)-के आँगनमें मेरे आँसू ले जा बरसा आना—

पर कारज देहको धारे फिरी परजन्य यथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधाके समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।
घनआनंद जीवनदायक हौ, कबौं मेरिऔ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजानके आँगन मो अँसुवानहूँ लै बरसौ॥"

मेघदूत शृङ्गार-परक काव्य है। सच पूछिए तो सुन्दर, रसमय काव्यकी सृष्टि विरहमें ही होती है। ‘जैसे हरड़ या फिटकिरी-जैसा कसैला पदार्थ बिना डाले रँगनेसे वस्त्र आदिका रंग चटकीला नहीं हो पाता, वैसे ही विरह या विप्रयोगके बिना संयोग भी पक्का नहीं हो पाता—

न बिना विप्रयोगेन संयोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽभिवर्द्धते ॥

एक उक्ति है—

संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः ।
संगमकाले सैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥

किसी प्रेमी व्यक्तिसे किसीने पूछा कि तुम्हें अपनी प्रियाका बिछोह अच्छा लगता है या उसका मिलन ? उसने उत्तर दिया कि [अपनी प्रियाके संगम और विरहमेंसे मुझे विरह ही अधिक अच्छा लगता है क्योंकि संगम या साथ रहते समय तो वह एक अकेली ही होती है किन्तु विरहकी अवस्थामें तो तीनों लोक ही मुझे प्रियामय दिखाई देने लगते हैं ।] अल्लाह भी मजनूँको लैला नज़र आता है । उर्दूके एक कविने इसी भावको व्यक्त करते हुए कहा है—

जो मज़ा इन्तज़ारमें देखा ।
न कभी वस्ले-यारमें देखा ॥

कालिदासने कहीं-कहीं तो अपना काव्य-कौतुक दिखाते हुए नाटकीय दृश्य ही ला खड़ा किया है । पार्वतीकी तपस्याके समय ब्रह्मचारी बनकर आए हुए शिवने जब शिवकी (अपनी ही) निन्दा प्रारम्भ कर दी तब पार्वतीने वहाँसे उठकर चला जाना चाहा । ज्यों ही वे उठकर चलनेको हुईं कि शिवने अपने रूपमें आकर मुसकराते हुए कसकर पार्वतीका हाथ झपट पकड़ा । उस समयका दृश्य प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

[शिवजीको देखकर पार्वती काँप उठीं । उनका सारा शरीर पसीने-पसीने हो चला और जैसे ही आगे बढ़नेको उन्होंने अपना पैर उठाया कि शैलाधिराज हिमालयकी पुत्री पार्वती वैसे ही न तो आगे बढ़ पाईं न खड़ी ही रह पाईं जैसे बीचमें पहाड़ पड़ जानेपर कोई नदी क्षुब्ध होकर वहीं रुक जाती है ।] पार्वती तो शैलाधिराज हिमालयकी, पहाड़की पुत्री थीं इसलिये वे आगे कैसे बढ़ पा सकती थीं ! बड़ा सच्चा विशेषण कालिदासने ला टाँका है और झाँकी ला सजाई है ।

बहुतसे कवि और लेखक इस बातका ध्यान नहीं रखते कि क्या बात कहाँ, कितनी, किस ढंगसे कहनी चाहिए । महाकाव्यमें तो विशेष रूपसे वर्णनके अनुपातका बड़ा महत्त्व होता है । शिवने ज्यों ही अपना तीसरा नेत्र खोला त्यों ही कामदेव भस्म होकर राख हो गया । इस प्रसंगमें कोई दूसरा कवि होता तो बीसों श्लोक लिखकर इस घटनाके वेगका सारा महत्त्व ही नष्ट कर डालता, किन्तु जितनी देरमें यह घटना हुई उतने ही क्षणोंमें कालिदासने इतना ही कहा—आकाशमें चढ़े हुए देवता कहते ही रह गए कि प्रभु ! क्रोध रोकिए, रोकिए किन्तु इतनेमें तो उनके तीसरे नेत्रसे उत्पन्न अग्निने कामदेवको राखका ढेर ही कर डाला ।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥

फ़ारसी और उर्दूके विद्वान् बड़े गर्वके साथ कहा करते हैं कि विलापकाव्य या मरसिया कोई लिख सकता है तो हम ही लिख सकते हैं किन्तु कालिदास तो ऐसे कवि निकले, जिन्होंने स्त्रीके लिये पुरुषका और पुरुषके लिये स्त्रीका विलाप दोनों लिख डाले और दोनों ही निराले, अप्रतिम, बेजोड़। नारदकी वीणासे खिसककर गिरी हुई जिस मालासे इन्दुमतीकी मृत्यु हो जाती है उसे अपनी छातीपर रखकर इन्दुमतीके लिये विलाप करते हुए अज कहते हैं—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ।।

[यदि इस मालामें ही प्राण लेनेकी शक्ति है तब मेरे हृदयपर रक्खी होनेपर भी यह मुझे क्यों नहीं मारे डाल रही है ? सचमुच भगवान्‌की इच्छासे ही कभी विष भी अमृत हो जाता है और कभी अमृत भी विष हो जाता है।] और फिर सबसे अधिक करुणाजनक तो अजका वह उद्गार है, जिसमें वह कहता है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ।।

[तुम इन्दुमती ! मेरी गृहिणी ही नहीं थी, तुम तो मेरी मन्त्री, मेरे सब गोपनीय कार्योंमें मेरी सखी और कलाओंकी ललित रीतियाँ सीखनेमें मेरी प्रिय शिष्या भी थी। बताओ ! इस क्रूर मृत्युने तुम्हें छीनकर मेरा क्या नहीं छीन लिया, सब कुछ तो हर लिया।]

जब शिवके क्रोधकी अग्निसे कामदेव भस्म हो गया तब रति दहाड़ मार-मारकर रोने लगी। उस समय उसकी सबसे अधिक मार्मिक उक्ति थी—

हृदये वसतीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनंगः कथमन्यथा रतिः ।।

[तुम जो मुझसे यह लुभावनी बात कहा करते थे कि तुम मेरे हृदयमें बसती हो वह मैं समझती हूँ कि सब झूठ था क्योंकि यदि वह केवल दिखावटी बात न होती तो तुम्हारे भस्म हो जानेपर यह रति भला कैसे जीती बची रह जाती ?]

कालिदासका काव्य-कौतुक कहाँ तक कहा जाय ? सभी संस्कृत संस्थानोंको कालिदासके काव्योंके बारह विषयोंपर अलग-अलग प्रवचन कराने चाहिएँ और वे भी भारतके विभिन्न नगरोंमें जा-जाकर, केवल एक स्थानपर नहीं।

(१) दिलीपकी गोसेवा, (२) रघुका दान और दिग्विजय, (३) अजका स्वयंवर, (४) अजका विलाप, (५) दशरथका मृगया-विहार, (६) रामकी विमान यात्रा, (७) सीताका परित्याग, (८) कुश और अयोध्याकी राज्यलक्ष्मीका संवाद, (९) अग्निवर्णका विलास, (१०) मदन-दहन, (११) पार्वतीकी तपस्या तथा (१२) शिवजीका विवाह। साथ ही तीनों नाटकोंका प्रयोग भी कराना चाहिए और उनपर अलग-अलग भाषण भी कराने चाहिएँ। प्रायः अभिज्ञान-शाकुन्तलका ही प्रयोग अधिक देखनेको मिलता है, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्रका कहीं नाम नहीं सुनाई पड़ता।

इतने बड़े महाकविका जितना आदर होना चाहिए था, उतना हमारे देशमें हो नहीं रहा है—

आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैः विपणन्ति गोपाः ।

[अहीरोंकी बस्तीमें ग्वाले लोग तीन तीन कौड़ियोंमें चन्द्रकान्त मणि ले बेच रहे हैं ।]

आजकल अधिकांश विद्वान् इसी फेरमें पड़े हुए हैं कि कालिदासका जन्म-स्थान कहाँ था, उसकी जन्मतिथि क्या थी, उनके काव्योंका रचनाक्रम क्या है और मेघ कहाँ-कहाँ होता गया ?

सम्भवतः आपने वह कथा सुनी होगी कि जब लंका जीत लेनेपर रामने लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान्, अंगद और विभीषणको आदेश दिया कि सीताजीको लेते आओ तब विभीषणने उन्हें सुन्दर उहारसे ढकी हुई पालकीमें बैठाकर रक्षकोंके साथ रामके पास ले जानेकी व्यवस्था कर दी । वे हटो-बचो करते हुए सीताको रामके पास ले चले । वहाँ जो अनेक वानर उपस्थित थे, उन्हें यह देखनेकी बड़ी उत्सुकता हुई कि जिनके लिये युद्ध करने और प्राण देने हम लोग यहाँ आए हैं वे हैं कैसी ? रामने उनके मनकी बात ताड़ ली और आदेश दिया कि सीता पैदल ही आवें जिससे सब लोग उनका दर्शन कर सकें । उनका सुन्दर रूप देखकर बन्दरोंने अपनी दृष्टिसे कल्पना की—

अहो सुरम्यं वदनारविन्दं सुनासिका बिम्बफलाधरोष्ठम् ।
प्रफुल्लपद्मायतलोचनायाः पुच्छं विना तुच्छमिदं हि सर्वम् ॥

[वाह ! इनका मुख तो कमलके समान खिला पड़ रहा है, नाक भी बड़ी सुघर है, इनके अधर और ओष्ठ भी बिम्बाफलके समान लाल हैं और आँखें भी खिले हुए कमलके समान बड़ी-बड़ी हैं, किन्तु पूँछ न होनेसे ये सब व्यर्थ हैं ।]

उन्हीं वानरोंके समान हम लोग भी महाकविकालिदासके काव्योंका वास्तविक सौन्दर्य और रस तो लेना नहीं चाहते, केवल पूँछके फेरमें पड़े हुए व्यर्थकी उछल-कूद मचाए डाल रहे हैं ।

अभिज्ञानशाकुन्तलका नाट्य-रचना-कौशल

अब आइए अभिज्ञानशाकुन्तलपर जो सब काव्योंमें श्रेष्ठतम माना गया है—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।

गंगाजीकी बाँई ओर उत्तर प्रदेशमें बिजनौर जनपदमें वह मालिनी नदी है जिसके तटपर कण्वका वह आश्रम है, जहाँ शकुन्तलाका जन्म और पालन-पोषण हुआ था । गंगाजीके दाहिने तटपर हस्तिनापुर है, जहाँ राजा दुष्यन्त राज्य कर रहा था और उधर ही गंगा-तटपर मुजफ्फरनगर जनपदमें शक्रावतार स्थानमें वह शची-तीर्थ है, जहाँ शकुन्तलाके हाथसे अँगूठी निकल गिरी थी । इसी शक्रावतारनामको बिगाड़कर उसे अपभ्रष्ट करके, लोग उसे सुक्करताल या सुक्करतार कहते आए हैं, जिसे और भी बिगाड़कर लोग शुक्रताल, शुकताल या शुकदेवजी कहने लगे हैं जिसका कोई तुक नहीं है क्योंकि वहाँ कोई ताल है ही नहीं । भ्रमवश कहा जाता है कि यहींपर बादरायण व्यासके पुत्र शुकदेवने परीक्षित (परिक्षित्)-को भागवतकी कथा सुनाई थी । पर

शुकदेवजी तो बहुत पहले ही दिव्यलोकको जा चुके थे। [देखो शान्तिपर्व अध्याय ३३१] गंगाके इसी पश्चिमी तटपर शक्रावतारसे कुल ३७ किलोमीटरपर मेरठ जनपदमें हस्तिनापुर नगर बसा हुआ है। शतपथब्राह्मणमें कथा आई है कि शकुन्तलाने नाडपित्के तटपर भरतको जन्म दिया था इसीलिये भरतको नाडपिती भी कहते हैं।

महाभारतके आदि पर्वमें दुष्यन्त और शकुन्तलाके आख्यानके प्रसंगमें कहा गया है कि मालिनी नदीके तटपर विश्वामित्रसे मेनकाको शकुन्तला उत्पन्न हुई। उसीके तटपर कण्वका आश्रम भी था। शकुन्त (भास नामके एक गिद्ध जातिके पक्षी)-ने अपने पंखोंसे छाया करके उसकी रक्षा की थी, इसीलिये उसका नाम शकुन्तला पड़ गया। महर्षि कण्वने अपने आश्रममें ले जाकर पूर्णत: नैसर्गिक वातावरणमें उसका पालन-पोषण किया। एक बार आखेट करते हुए हस्तिनापुरके राजा दुष्यन्तने कण्वके आश्रममें पहुँचकर शकुन्तलासे गान्धर्व-विवाहका प्रस्ताव किया। शकुन्तलाने यह प्रस्ताव यह मनवाकर स्वीकार किया कि मेरा ही पुत्र हस्तिनापुरका राजा बनाया जाय। शकुन्तलासे गान्धर्व-विवाह करके दुष्यन्त अपनी राजधानीको लौट गया। जब महर्षि कण्वको यह समाचार दिया गया तब उन्होंने भी बड़ी प्रसन्नतासे उसका समर्थन कर दिया। तीन वर्ष गर्भमें रखकर शकुन्तलाके पुत्रका जन्म हुआ और आश्रममें ही उसके जातकर्म-नामकरण आदि संस्कार किए गए। वह आश्रमके जीवोंको बहुत तंग किया करता था, इसलिये उसका नाम सर्वदमन रख दिया गया। जब सर्वदमन कुछ बड़ा हो गया तब महर्षि कण्वने उसे शकुन्तलाके साथ दुष्यन्तके पास हस्तिनापुर भेज दिया। वहाँ पहुँचनेपर दुष्यन्तने उसे अस्वीकार करते हुए कहा कि मैं तो तुम्हें पहचानता भी नहीं हूँ। इसपर शकुन्तलाने दुष्यन्तको बहुत फटकारा और बहुत ऊँच-नीच भी कहा। जब इसपर भी दुष्यन्त नकारता ही गया, तब शकुन्तलाने रोषके साथ कहा कि तुम या तो इसे (सर्वदमनको) चुपचाप राज्य दे दो, नहीं तो यह बलपूर्वक तुमसे राज्य छीन लेगा। उसी समय आकाशवाणी हुई—'दुष्यन्त! तुमने शकुन्तलासे गान्धर्व विवाह किया है।' यह सुनकर दुष्यन्तने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और कहा कि मैंने लोकापवादके भयसे तुम्हें अस्वीकार किया था। सर्वदमनका नाम अब भरत रख दिया गया।

पद्मपुराणके बँगला संस्करणमें शकुन्तलाका आख्यान अभिज्ञान-शाकुन्तलकी कथासे बहुत कुछ मिलता-जुलता है—

तुर्वसु वंशके राजा मरुत्तने पुरु वंशके राजकुमार दुष्यन्तको गोद ले लिया था। दुष्यन्तने माहिष्मतीके हैहयोंको हराकर, उनसे अपना राज्य लेकर हस्तिनापुरको अपनी राजधानी बनाया, किन्तु वह कहलाता पौरव ही रहा क्योंकि यदु, द्रुह्य और तुर्वसु वंशवालोंको ययातिका शाप लगा हुआ था कि तुम्हारे वंशमें कोई राजा नहीं होगा।

शब्दकल्पद्रुममें दुष्यन्त शब्दकी व्युत्पत्ति दी गई है—दुष् दोषवती मन्यते शकुन्तलां इति दुष्यन्तः। [जो शकुन्तलाको दोषवती माने वह दुष्यन्त है।] पर उसका यह नाम तो शकुन्तलाका प्रत्याख्यान करनेसे पहले ही था।

कालिदासकी शकुन्तला

कालिदासकी शकुन्तला पूर्णतः प्रकृतिकी कन्या (निसर्ग-कन्या) है। शकुन्त (भास जातिके गिद्ध)-ने उसकी रक्षा की थी इसलिये उसका नाम शकुन्तला पड़ गया। महर्षि कण्वके आश्रमके प्राकृतिक संस्कारमें उसका पालन-पोषण हुआ है। उसे महर्षि कण्वने लता-वृक्ष सींचनेका कार्य सौंप रक्खा है। केसर (मौलसिरी) के पास खड़ी वह नई लता-जैसी रानी लगती है। वह अनसूयासे कहती भी है कि तात कण्वके कहनेसे ही मैं इन्हें नहीं सींचती, इनसे तो मेरा सहोदर (सगे भाई-बहिन) जैसा स्नेह है। सहकार (आमके वृक्ष)-पर चढ़ी हुई, उससे लिपटी हुई अपनी प्यारी लता बहिन (लदाबहिणिआ) वनज्योत्स्नाको वह बड़े प्रेमसे देखने लगती है। दुष्यन्त भी उसे हरिणके छौनोंके साथ पलनेवाली (मृगशावैः सममेधितो जनः) बताता है। शकुन्तला जब अपने प्रिय दुष्यन्तके लिये व्याकुल होती है तब वह लताकुञ्जमें ही बैठकर मदन–लेख (प्रेमपत्र)-के लिये कमलके पत्तेपर (काग़ज़पर नहीं) नखसे (कलमसे नहीं) ही लिखती है। वह विदुषी और कवयित्री भी है। उसकी विदाईके समय आश्रमके वृक्ष ही उसके लिये रेशमी वस्त्र, लाक्षारस और आभूषण हाथ बढ़ा-बढ़ाकर देते हैं। आश्रमके ऋषि और ऋषि-पत्नियाँ उसे एक कतरन-तक भी नहीं देतीं। उसकी विदाईकी आज्ञा भी महर्षि कण्व लता–वृक्षोंसे ही माँगते हैं। इसपर जब कोकिलकी कूक सुनाई पड़ती है तब महर्षि कण्व यही कह उठते हैं—

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवास-बन्धुभिः।

[लो, कोयलकी कूकके द्वारा शकुन्तलाके वनवास-बन्धु इन वृक्षोंने शकुन्तलाको जानेकी आज्ञा दे दी है।] उसके चलते समय कोई ऋषि-पत्नी आकर उसे गले लगाकर नहीं रोती। केवल वह मृग-छौना ही उसका पल्ला मुँहसे आ थामता है, जिसे शकुन्तलाने बड़े प्यारसे पाला था और जिसके मुखमें कुशाके काँटे गड़ जानेपर वहाँ इंगुदी (हिंगोट या मालकँगनी) का तेल लगाकर उसने अच्छा किया था। चलते समय शकुन्तला भी वन-ज्योत्स्नाका ही आलिंगन करती है, जो उसकी बड़ी बहिन है और जिसे सींचते समय उसीकी जड़से भौंरा निकल पड़ा था, जिसके पीछे दुष्यन्त छिपा बैठा था। उस वन-ज्योत्स्नाने अपनी छोटी बहिन शकुन्तलाके लिये योग्य वर प्रस्तुत करनेके लिये उस भौंरेको उकसा उड़ाया था, जिसके कारण दुष्यन्त वहाँ आ प्रकट हुआ था। वन-ज्योत्सनाने ही बड़ी बहिन होनेके नाते अपनी छोटी बहिन शकुन्तलाके लिये योग्य वर ढूंढ देनेका सारा काम पूरा कर डाला था इसलिये उसने विदाईके समय वन-ज्योत्स्नाका ही आलिंगन किया। शकुन्तलाके गर्भिणी होनेका समाचार कण्वको किसी ऋषि या ऋषि-पत्नीने नहीं वरन् आकाशने अशरीरी वाणीसे दिया और अग्निने धुँआँ होनेपर भी ठीक बीचमें आहुति ग्रहण करके उसका समर्थन किया था। इस प्रकार शकुन्तलाकी सारी जीवनपद्धतिका संचालन प्रकृति ही कर रही थी, मनुष्य नहीं।

शकुन्तलाके हाथमें जबसे पृथ्वीकी एक अप्राकृतिक वस्तु (दुष्यन्तकी अँगूठी) आई, तभीसे उत्पात खड़ा हो गया। दुष्यन्त कह गया था कि अँगूठीपर जितने अक्षर हैं उतने अर्थात् तीन दिनोंके भीतर ही मैं तुम्हें बुलवा लूंगा। पर जब तीन दिन बीतनेपर भी कोई न आया

तब शकुन्तला चिन्तित रहने लगी। उसी चिन्तनकी अवस्थामें उसे दुर्वासाने शाप दे डाला। आश्रमवासियोंके साथ वह हस्तिनापुरके लिये भेज दी गई।

शकुन्तला जब आश्रमसे विदा होने लगती है तब वृक्ष उसे वस्त्राभरण देते हैं, मृगछौना उसका पल्ला पकड़ता है अर्थात् भू-प्रकृति ही उसके लिये सारी सामग्री जुटाती है। अब जल और जलचर क्यों पीछे रहने लगे! जिस अँगूठीके कारण शाप लगा और शकुन्तला चिन्तित रहने लगी वह अँगूठी शचीतीर्थके जलने निकाल ली क्योंकि निसर्ग-कन्याका अपने पतिसे मिलन हस्तिनापुरके अनैसर्गिक वातावरणमें तो नहीं होना चाहिए किन्तु दुष्यन्तको घटनाका स्मरण तो दिलाना ही है इसलिये मछली उस अँगूठीको निगल जाती है और शकुन्तलाके लिये आत्म-बलिदान करनेवाली मछली धीवरके जालमें जा फँसती है। इस प्रकार जल और जलचर मछलीने भी शकुन्तलाकी सहायता कर दी।

हस्तिनापुर पहुँचनेपर शकुन्तलाको दुष्यन्त अस्वीकार कर देता है। अँगूठी लुप्त हो जानेसे प्रमाणका एकमात्र आधार भी समाप्त हो चुका रहता है। सानुमती अप्सरा उसे मारीच कश्यपके आश्रममें उड़ा ले जाती है जहाँ दैवी प्रकृतिकी गोदमें ही उसके पुत्र सर्वदमनका जन्म होता है और प्रकृतिकी कन्या शकुन्तलाका अपने प्रिय पति दुष्यन्तसे मिलन भी कश्यपके दैवी प्राकृतिक वातावरणमें ही सम्पन्न होता है। कालिदासकी यह प्रकृति-कन्या शकुन्तला पूर्णतः प्राकृतिक जीवनमें ही पालित, पोषित, परिवर्धित और रक्षित होती है। प्रकृति ही उसके सब प्रकारके कल्याणमें साधक होती है।

नाटकका प्रधान तत्त्व है कुतूहल। इस कुतूहलका निश्चित तात्पर्य है--१-दर्शकके मनमें उत्कण्ठा, यह जाननेकी तीव्र इच्छा जगाना कि न जाने आगे क्या होनेवाला है, २-द्विविधा, दर्शकके मनमें यह संकल्प-विकल्प और उथल-पुथल कि कहीं ऐसा न हो जाय, वैसा न हो जाय, ३-निराशापूर्ण विक्षोभ, अर्थात् यह आक्रोश कि हाय-हाय! यह क्या हो गया, और ४-धीरे-धीरे उत्सुकता जगाते रहनेवाले क्रमसे फल-प्राप्ति। महाकवि कालिदासने अभिज्ञान-शाकुन्तलमें कुतूहलके ये सब तत्त्व बड़े कौशलसे ला सजाए हैं इसीलिये यह दृश्य काव्य संसारका सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है।

यद्यपि संसारके सभी श्रेष्ठ साहित्यकारोंने एक स्वरसे अभिज्ञान-शाकुन्तलको संसारका सर्वश्रेष्ठ नाटक माना है तथापि अभिज्ञान-शाकुन्तलपर विचार करनेवालोंने एक बातपर न तो ध्यान ही दिया, न संकेत ही किया कि यह कथा एक भौतिक या पार्थिव शिकारी और अपार्थिव, नैसर्गिक या अलौकिक दिव्य शिकारकी कथा है। दुष्यन्त हस्तिनापुरका राजा है, उसमें राजाके सभी गुण और अवगुण विद्यमान हैं। उस समयकी प्रथाके अनुसार उसके अन्तःपुरमें अनेक रानियाँ थीं और वह स्वभावतः और भी विवाह कर ही सकता था। उसकी प्रवृत्ति भी कामुक-जैसी थी। इसलिये वह केवल मृगोंका ही आखेट नहीं करता था, सुन्दर स्त्रियोंका भी आखेट किया करता था और कण्वके आश्रममें रहकर उसने यही किया भी।

उधर शकुन्तला भी मेनका अप्सराकी पुत्री थी, इसलिये स्वभावतः वह अनिन्द्य सुन्दरी थी। जन्मके समय उसका पालन पक्षीने किया था, जिसके कारण उसका नाम शकुन्तला पड़ गया था—

शकुन्तैः पक्षिभिर्लालिता पालिता या सा शकुन्तला।

तत्पश्चात् उसका लालन-पालन महर्षि कण्वके आश्रममें मालिनी नदीके तटपर वृक्षों, लताओं, हरिणों और पक्षियोंके बीच हुआ। वह पूर्ण रूपसे निसर्ग-कन्या या प्रकृतिकी ही गोदमें पलती रहनेवाली प्रकृतिकी कन्या बनी रही। आश्रमके मृग ही उसके आत्मीय थे, वन-ज्योत्स्ना लता ही उसकी बहिन थी, वनदेवियाँ और वहाँके सब वृक्ष ही उसके रक्षक, पोषक और सहायक थे। जबतक वह प्रकृतिकी गोदमें रही और प्रकृतिकी ही सहायता पाती रही तबतक तो वह प्रसन्न रही; जहाँ भौतिक पदार्थ, मानव-निर्मित पदार्थ (अँगूठी)से या पार्थिव मनुष्य (दुष्यन्त)-से उसका सम्पर्क हुआ, वहींसे उसपर विपत्ति आ घहराई।

नाटकके आरम्भमें ही दुष्यन्तका प्रवेश इस प्रकार होता है— ततः प्रविशति मृगानुसारी शरचाप-हस्तो राजा रथेन सूतश्च।

आश्रमके ही मृगपर शरसन्धान करता हुआ दुष्यन्त प्रवेश करता है और ज्यों ही वह बाण चलानेको होता है कि आश्रमके तपस्वी नेपथ्यसे ही चिल्ला उठते हैं—"हैं हैं राजन् (भो भो राजन्। आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।) यह आश्रमका मृग है, वनमृग नहीं! इसे मत मारना, मत मारना।" जब आश्रमका मृग इतना पवित्र था कि उसका आखेट नहीं किया जा सकता था तब आश्रमवासियोंके साथ तो उसे और भी अधिक करुणा, कृपा, शिष्टता, सज्जनता और शुचिताका व्यवहार करना चाहिए था। वैखानसके कहनेपर दुष्यन्त अपना बाण उतार लेता है और उसे आशीर्वाद भी मिल जाता है कि तुम्हें चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो—

सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।

यहींसे एक संकेत दर्शकोंको मिल जाता है कि दुष्यन्तको चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होगा, किन्तु कैसे प्राप्त होगा यह कुतूहल बना ही रह जाता है। उसी समय वैखानस कहता है कि 'हम लोग तो समिधा लेने चले जा रहे हैं, यह सामने मालिनीके तीरपर कुलपति कण्वका आश्रम है, वहाँ जाकर आप अतिथि-सत्कार प्राप्त कीजिए।' जब दुष्यन्त पूछता है कि क्या कुलपति कण्व यहाँ हैं, तब वह वैखानस कहता है—'अतिथि सत्कारका भार अपनी पुत्री शकुन्तलाको सौंपकर उसके खोटे ग्रहोंकी शान्तिके लिये वे सोमतीर्थ (प्रभास पिण्डपुरीके पास क्षेत्रमें, काठियावाड़) चले गए हैं।' कालिदासने संकेत कर दिया है कि कण्व दूर चले गए हैं, शीघ्र नहीं लौटनेवाले हैं, शकुन्तलापर दुष्ट ग्रहोंका कोई प्रकोप है जिसके कारण उसपर विपत्ति आ सकती है और अतिथि-सत्कार शकुन्तला ही कर रही है। यहींसे दुष्यन्तके मनमें खोट उत्पन्न हो जाती है और वह अपने सारथिसे कहता है—'ये मेरे राजसी वस्त्र और आभरण सँभालो क्योंकि आश्रममें सीधे-सादे वेशसे ही जाना चाहिए।' आश्रममें प्रवेश करते ही उसका शुभ-सूचक दाहिना बाहु फड़कने लगता है। इतनेमें उसे शकुन्तलाका स्वर सुनाई पड़ जाता है—'अरी सखियो! इधर आओ, इधर आओ।'

दुष्यन्त शिकारी है। जैसे शिकारी अपने आखेट-स्थानमें छिपकर शिकारकी गतिविधि देखता है, उसके आकार-प्रकार और उसकी गतिविधि समझता है और अवसर देखकर उसपर

बाण चला देता है, वैसे ही दुष्यन्त भी छिपकर शकुन्तलाकी गतिविधि और उसका रूप-लावण्य देखने लगता है। चाहिए तो यह था कि दुष्यन्त सीधे तपोवनमें जाकर अपना परिचय देकर आतिथ्य ग्रहण करता तथा वैखानसके कथनानुसार यह देखता कि ऋषि लोग निर्विघ्न होकर कैसे अपनी क्रियाएँ किए जा रहे हैं, किन्तु यह न करके वह छिपकर कन्याओंको देखकर कह उठता है—'आ हा ! ये तो बड़ी सलोनी, सुहावनी दिखाई पड़ रही हैं। इन्होंने तो रनिवासकी रानियोंकी सुन्दरताको भी लजा डाला है। तो मैं यहीं ओटमें खड़ा हो रहता हूँ।' वह छिपकर शकुन्तलाको और उसकी सखियोंको देखने और उनकी बातें सुनने लगता है। अनसूया कहती है 'अरी शकुन्तला ! मैं समझती हूँ कि पिता कण्व इस आश्रमके पौधोंको तुझसे अधिक प्यार करते हैं, नहीं तो भला तुझ चमेलीकी कली-जैसी कोमल अंगवालीको थाँवले भरनेका काम क्यों सौंप जाते ?' इससे यह सिद्ध हो गया कि शकुन्तला कोमल अंगवाली है। इसपर शकुन्तला कह उठती है—'मैं केवल पिताजीकी आज्ञासे ही इन्हें नहीं सींचे जा रही हूँ, मैं तो स्वयं इन्हें अपने सगे भाई-बहिन जैसा प्यार करती हूँ।'—अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।

दुष्यन्तको परिचय मिल जाता है कि यही कण्वकी पुत्री शकुन्तला है और वह कह उठता है कि कण्वका यह काम ठीक नहीं है कि इसे आश्रमके काममें जोत लगाया। उसी समय शकुन्तला अपनी सखी अनसूयासे कहती है—'अरी अनसूया ! इस प्रियंवदाने यह वल्कल ऐसा कसकर बाँध दिया है कि मैं हिल-डुलतक नहीं पा रही हूँ। आ, इसे ढीला तो कर दे।' अनसूया उसके स्तनोंपर बँधे हुए वल्कलको ढीला कर देती है। पर प्रियंवदा बोली कसते हुए कहती है—'मुझे क्या उलाहना दिए डाल रही हो ? अपनी उस चढ़ती जवानीको क्यों नहीं उलाहना देती जो तुम्हारी छातीको इतना उभारे चली जा रही है।' यह कहलाकर कालिदासने यह भी स्पष्ट कर दिया कि शकुन्तला पूर्ण युवती हो गई है। इतनेमें पवनके झोंकोंसे हिलती हुई केसरके वृक्षकी पत्तियोंको देखकर शकुन्तला कह उठती है—'यह केसर (मौलसिरी)का वृक्ष वायुसे हिलाई हुई अपनी पत्तियोंकी उँगलियोंसे मुझे बुलाए ले रहा है। चलूँ इसका भी मन रख लूँ।' क्योंकि शकुन्तला तो उन्हें अपना सहोदर ही समझती है। वायु भी उसके लिये वातावरण तैयार कर देता है। जैसे ही वह केसरके वृक्षके साथ खड़ी होती है, तभी दुष्यन्त उसपर रीझ उठता है। प्रियंवदा कहती है कि जब तू पेड़से लगकर खड़ी होती है तब यह केसरका वृक्ष ऐसा लगता है जैसे उसके साथ कोई लता चढ़ लिपटी हो। दुष्यन्त भी कह उठता है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥

कालिदासने यह कहलाकर व्यञ्जना की है कि शकुन्तला सब प्रकारसे विवाह-योग्य हो गई है। और अब इसे वर मिलना ही चाहिए। इतनेमें अनसूया स्मरण दिलाती है कि 'तू इस वन-ज्योत्स्नाको तो छोड़े ही जा रही है, जिसने आमके वृक्षसे स्वयंवर कर लिया है और आमके

वृक्षसे जा लिपटी है ।' इसपर शकुन्तला भी कहती है—'वाह ! इसे भूलूँगी तब तो मैं अपनेको ही भूल जाऊँगी । इन दोनोंका ऐसे अच्छे समयमें मेल हुआ है कि इधर वन-ज्योत्स्ना तो अपने फूलोंसे लदकर नवयुवती हो उठी है और उधर फूलोंसे लदा हुआ आमका वृक्ष भी उभारपर आ चुका है ।' इसपर प्रियंवदा कहती है—'जानती हो अनसूया ! शकुन्तला इतनी मगन होकर वन-ज्योत्स्नाको क्यों देखे जा रही है ? इसीलिये कि जैसे यह वन-ज्योत्स्ना अपने योग्य साथी सहकारके वृक्षसे जा लिपटी है वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर मिल जाय ।' इसपर तो दुष्यन्त उसपर और भी रीझ उठता है और वह अपने मनको यही कहकर पुष्ट कर लेता है—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।

फिर भी वह उसे भली प्रकार जाननेके लिये उत्सुक हुआ ही रहता है कि यह जब ऋषिकी पुत्री नहीं है तब है किसकी ? इतनेमें उसी वन-ज्योत्स्नाके थाँवलेसे एक भौंरा उड़कर शकुन्तलापर आ मँडराता है और रक्षाके लिये पुकारनेपर अनसूया और प्रियंवदा दोनों कह उठती हैं कि 'रक्षाके लिये राजा दुष्यन्तको क्यों नहीं पुकार लेती ?' दुष्यन्त भी देखता है कि शिकार फाँसनेका यह ठीक दाँवँ है । वह तत्काल वहाँ प्रकट होकर कह उठता है कि 'दुष्यन्तके राज्य करते हुए कौन भोली-भाली बालिकाओंसे छेड़छाड़ करनेका साहस कर रहा है ?' दुष्यन्तको चाहिए था कि वह सज्जनके समान अपना परिचय देता । किन्तु वह एकपर एक असत्य बोलता चला जाता है । परिचय पूछनेपर वह कहता है कि 'मुझे राजा दुष्यन्तने अपने राज्यकी धार्मिक क्रियाओंकी देखभालका काम सौंप रक्खा है, इसीलिये मैं यहाँ आया हूँ ।' तभी दुष्यन्तके पूछनेपर अनसूया बता देती है कि विश्वामित्रसे मेनका-द्वारा इसका जन्म हुआ है । इसपर दुष्यन्त मन ही मन सोचने लगता है कि 'मेरे मनको कुछ सहारा तो मिला । यह शिकार फँसाया जा सकता है ।' और उसी प्रसंगमें प्रियंवदा बता भी देती है कि यदि इसके योग्य वर मिले तो पिता कण्व इसका विवाह भी कर देंगे । फिर जब शकुन्तला वहाँसे जानेको तैयार होती है तब प्रियंवदा कहती है कि 'अभी तुम्हें दो पौधे और सींचने हैं, इनका ऋण चुका देना तभी जाना ।' इसपर दुष्यन्त अपनी अँगूठी निकालकर उन्हें देते हुए कहता है—'लीजिए, ऋण मैं ही चुकाए देता हूँ ।' उसपर दुष्यन्तका नाम देखकर अनसूया और प्रियंवदा एक दूसरीकी ओर देखने लगती हैं, तब दुष्यन्त फिर असत्य बोलता है कि 'यह अँगूठी मुझे पुरस्कारमें मिली है, मुझे राजपुरुष ही समझिए ।' इतनेमें ही नेपथ्यमें सुनाई देता है—

भो भोस्तपस्विनः सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत । प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः ।

'हे तपस्वियो ! जाकर तपोवनके प्राणियोंको बचाओ । मृगयाविहारी, आखेट करनेवाला राजा दृष्यन्त पास आ पहुँचा है ।' इसमें स्पष्ट रूपसे संकेत कर दिया है कि 'दुष्यन्त शिकारी है और वह केवल हरिणोंका ही नहीं, आश्रमके प्राणियोंका भी आखेट करने आ पहुँचा है ।' शकुन्तला भी तो आश्रमका ही प्राणी है । यहीं प्रथम अंक समाप्त हो जाता है । राजा दुष्यन्त जब आश्रममें ही शिकारीके रूपमें प्रवेश करता है, उसे तभी सावधान कर दिया

जाता है कि आश्रमके मृगको मत मारना। किन्तु वह तो शिकारी है। वह मृगको छोड़कर अलौकिक, अपार्थिव शकुन्तलाका ही आखेट करनेपर तुल गया है। इसलिये कालिदासने प्रथम अंकके अन्तमें भी तपस्वियों-द्वारा सावधान करा दिया है कि 'इस पार्थिव राजा दुष्यन्तसे आश्रमके प्राणियोंको बचाए रक्खो।'

प्रथम अंकमें ही कालिदासने बता दिया कि दुष्यन्त अत्यन्त कामी, दुर्वृत्त (बुरी नीयतवाला) कपटी, कुटिल और मिथ्यावादी है। वह शकुन्तलापर रीझ उठा था और शकुन्तला उसपर रीझ गई थी। दुष्यन्तको तपस्वियोंने सावधान भी कर दिया था पर उसने सब सुनी-अनसुनी कर दी। वह शिकार फाँसनेकी तैयारीमें लग गया। तपस्वियोंने यहाँ दुष्यन्तको राजा नहीं, वरन् 'मृगयाविहारी पार्थिव' कहा है। इतनेपर भी दुष्यन्त नहीं समझ पाया कि यह संकेत मुझपर ही है। मुझे आश्रममें आकर ऐसा दुराचरण नहीं करना चाहिए।

दूसरे अंकमें दुष्यन्त अपने मित्र विदूषकसे शकुन्तलाके रूपकी प्रशंसा करता हुआ आश्रममें जानेका उपाय पूछता ही है कि इतनेमें ऋषिकुमार आकर दुष्यन्तसे यज्ञकी रक्षाके लिये रुकनेका अनुरोध करने लगते हैं। इसी बीच राजधानी हस्तिनापुरसे दूत आकर दुष्यन्तको समाचार देता है कि आपकी माताजीने व्रतके पारणके लिये आपको राजधानीमें बुलाया है। किन्तु दुष्यन्त कपटके साथ तीसरा झूठ बोलकर सेना-सहित विदूषकको ही भेज देता है कि मैं तो आश्रमकी रक्षाके लिये यहाँ रुका जा रहा हूँ, तुम्हीं चले जाओ। जब उसकी माताजीने उसे बुलाया था तब उसका कर्त्तव्य था कि अपनी माताजीके व्रतके समय वहाँ उपस्थित रहता, किन्तु वह माताजीकी आज्ञाकी भी अवहेलना करता हुआ कर्त्तव्यकी भी उपेक्षा करता है और आश्रमकी रक्षाका बहाना लेकर रुक जाता है। अतः, वह कर्त्तव्यहीन, कपटी और ढोंगी है। विदूषकको भेजते हुए वह फिर असत्य बोलता है—

परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः।

[मित्र! शकुन्तलाके विषयमें जो कुछ मैंने कहा है वह सब हँसीमें कहा था, उसे सत्य मत समझ बैठना।] उसे भय था कि कहीं यह चपल विदूषक रनिवासमें एककी दस जोड़कर, शकुन्तलाके प्रेमकी कथा नमकमिर्च लगाकर कहकर बखेड़ा न खड़ा कर दे। किन्तु यह कहलाकर कालिदासने शकुन्तलाके सम्बन्धका एक साक्ष्य ही समाप्त कर दिया क्योंकि आगे पंचम अंकमें जब शकुन्तलाका प्रत्याख्यान होता है तब विदूषक उस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहता और अँगूठी मिल जानेपर पूछनेपर कह भी देता है कि 'आपने ही तो कहा था कि वह हँसीकी बात थी, उसे सत्य मत समझ बैठना, तो मैं सचमुच उसे हँसीकी बात समझ बैठा।'

तृतीय अंकमें दुष्यन्तके विरहमें शकुन्तलाको व्याकुल देखकर सखियाँ उसे पत्र लिखनेको प्रेरित करती हैं और वह प्राकृतिक पदार्थोंसे अर्थात् कमलके पत्तेपर अपने नखसे मदनलेख (प्रेम-पत्र)-के रूपमें एक पद्य लिख देती है। शकुन्तलामें काव्य-प्रतिभा भी है, वह पढ़ी-लिखी

विदुषी है। उसी समय दुष्यन्त वहाँ आ पहुँचता है, सखियाँ बहाना बनाकर सरक जाती हैं, दुष्यन्त और शकुन्तलामें प्रेमालाप होने लगता है। इतनेमें गौतमीको उधर आते देखकर सखियाँ चिल्ला उठती हैं—'अरी चकवी ! अब चकवेको विदा कर दे, रात आ चली है।' बड़े कौशलसे कालिदासने संकेत कराया है कि दुष्यन्तको विदा कर दो, गौतमी आ रही है। गौतमीके आनेपर जब शकुन्तला उसके साथ चलनेको होती है तब कुंजके बहाने वह दुष्यन्तको सम्बोधित करती हुई कहती है—'मैं कल फिर इसी समय आऊँगी।' यह संकेत कालिदासने कुंजके बहाने दुष्यन्तको ही दिला दिया है कि तुम कल फिर इसी समय आ जाना, मैं आई रहूँगी।

अगले चतुर्थ अंकमें प्रियंवदा और अनसूया दोनों पुष्प-चयन कर रही हैं, इतनेमें दुर्वासाका शाप सुनाई पड़ता है—

'अरे अतिथिका ध्यान न रखनेवाली शकुन्तला ! तू जिस (दुष्यन्त)-के ध्यानमें मग्न हुई बैठी है वह स्मरण दिलानेपर भी तुझे वैसे ही स्मरण नहीं करेगा जैसे कोई पागल अपने पहले किए हुए कामको स्मरण नहीं कर पाता है।'

यह सुनते ही प्रियंवदा दौड़कर जैसे-तैसे दुर्वासाको मना लेती है और दुर्वासा यह कहकर अन्तर्धान हो जाते हैं कि 'कोई पहचानका (अभिज्ञानका) आभूषण दिखानेपर शाप नहीं रहेगा।'

यहाँ व्याकुल दर्शकोंको सान्त्वना मिल जाती है कि शकुन्तलाके पास दुष्यन्तकी अँगूठी तो है ही, अब कोई बाधा नहीं। किन्तु नाटकका कुतूहल बनाए रखनेके लिये कालिदास झट एक बाधा ला खड़ी करते हैं। वे सखियाँ तो शाप दूर करनेका उपाय जान जाती हैं, किन्तु वे शकुन्तलाको नहीं बताती और कहती हैं—

को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिंचति।

[भला नई मल्लिकाके पौधेको कहीं कोई गरम जलसे सींचा करता है ?] अर्थात् शकुन्तलाको यह शापका समाचार दे दिया जायगा तो वह वैसे ही 'घबरा उठेगी जैसे गरम जलसे सींचनेपर नवमालिका मुरझा जाती है।' नाटकीय कुतूहलके निर्वाहके लिये दुष्यन्त और शकुन्तलाके मिलनका यह दूसरा साक्ष्य भी समाप्त कर दिया जाता है। यहाँ तक कि जब शकुन्तला विदा होकर चलने लगती है तब भी सखियाँ शापकी बात न बताकर उससे इतना ही कहती हैं कि 'यदि राजा तुम्हें पहचाननेमें हिचकिचाने लगे तो तुम उसके नामवाली यह अँगूठी उसे निकाल दिखाना।' शकुन्तलाको खटका तो होता है, पर वह चल देती है।

पाँचवें अंकमें कण्वके शिष्य जब शकुन्तलाको दुष्यन्तके सम्मुख लाते हैं तब वह उसे न पहचानता है न स्वीकार करता है। बहुत प्रमाण देनेपर वह उसकी खिल्ली उड़ाने लगता है और स्त्रियोंपर छली होनेका आरोप लगाने लगता है। शकुन्तला कमलके पत्तेमें मृगछौनेको जल पिलानेकी घटनाका स्मरण भी दिलाती है पर दुष्यन्त उसे भी नहीं मानता। जब वह अँगूठी दिखानेको निकालने चलती है तब अँगूठी मिलती नहीं। वह अँगूठी अप्राकृतिक थी, इसीलिये

शचीतीर्थमें निकल गई, उसीके कारण शाप मिला, उसीके कारण प्रत्याख्यान हुआ। कण्वके शिष्य उसे वहीं छोड़कर चल देते हैं। उस समय दुष्यन्तके मनकी व्याकुलतापूर्ण दुविधा देखकर उसका पुरोहित प्रस्ताव करता है कि यदि मेरे यहाँ रहकर इसे चक्रवर्तीके लक्षणोंवाला पुत्र उत्पन्न हो जाय तब आप इसे ग्रहण कर लीजिएगा। किन्तु पुरोहितके साथ बाहर जाते ही सानुमती अप्सरा शकुन्तलाको उड़ा ले जाती है। कहाँ ले जाती है, इसका कोई संकेत कवि नहीं देता। दर्शकोंपर इस चामत्कारिक कुतूहलसे अत्यन्त निराशापूर्ण विक्षोभ हो उठता है—'हाय-हाय! यह क्या हो गया?'

छठे अंकमें मछली चीरनेपर उसके पेटसे निकली हुई अँगूठी बेचने गए हुए धीवरको राजाकी अँगूठी चुरानेके अपराधमें पकड़ लिया जाता है। जब वह अँगूठी दुष्यन्तको मिलती है तब वह धीवरको पुरस्कार देकर छोड़ देता है और उसे शकुन्तलाके प्रेमकी सारी घटना स्मरण हो आती है। राज्यके सारे उत्सव बन्द करा दिए जाते हैं। वह माधवी-मंडपमें बैठकर शकुन्तलाका चित्र बनाने लगता है। वह विदूषकसे पूछता है कि शकुन्तलाके आनेपर तुमने क्यों नहीं बता दिया था, इसपर वह कहता है कि आपने ही तो शकुन्तलाकी बातको हँसी कहा था। मैं ऐसा मिट्टीका माधो निकला कि आपकी बातको सत्य समझ बैठा। इसी बीच किसी सेठके दिवंगत होनेकी बात सुनकर, दुष्यन्त परम सद्वृत्त हो जाता है और कहता है कि जिसका जो सम्बन्धी न रहे वह मुझे ही वही सम्बन्धी मान ले। दुष्यन्तकी सात्त्विक वृत्ति जाग उठती है, प्रायश्चित्त प्रारम्भ हो जाता है। उसका पश्चात्ताप देखकर शकुन्तलाको यह समाचार देनेके लिये सानुमती उड़ जाती है। इतनेमें माढव्य चिल्ला उठता है—'बचाओ बचाओ, कोई मेरा गला मरोड़े डाल रहा है।' ज्यों ही दुष्यन्त उसे बचाने आता है कि मातलि आकर उसे इन्द्रका निमन्त्रण देता है कि 'दुर्जय नामक दानवको मारनेके लिये चले चलिए, भगवान् इन्द्रने आपको बुलाया है।' जब दुष्यन्त पूछता है कि तुमने माढव्यका गला क्यों आ ऐंठा? तब वह कहता है कि आप शोककी अवस्थामें थे, आपके मनमें क्रोध जगानेके लिये ही मैंने ऐसा किया था क्योंकि शोककी अवस्थामें युद्ध नहीं किया जा सकता, क्रोधकी अवस्थामें ही युद्ध करना सम्भव होता है।

सातवाँ अंक कालिदासकी नाट्यकलाके कौशलकी पराकाष्ठा है। अत्यन्त मनोवैज्ञानिक, कुतूहलजनक, अद्भुत और दर्शकोंके मनमें द्विविधाकी उथल-पुथल और धुकधुकी मचानेवाले क्रमसे मारीच कश्यपके आश्रममें दुष्यन्त और सपुत्र शकुन्तलाका मिलन कराया जाता है, जिसकी न कोई सम्भावना है न प्रत्याशा। मारीचके आश्रममें पहुँचकर मातलि, अशोकके वृक्षके नीचे दुष्यन्तको बैठाकर मारीच कश्यपके दर्शनके लिये चला जाता है। अशोक (शोक-हरण)-के वृक्षके नीचे सहसा दुष्यन्तकी दाहिनी भुजा फड़क उठती है, जो भावी मंगल और कल्याणकी सूचना देती है। इतनेमें दुष्यन्त देखता है कि एक बालक सिंहके बच्चेका मुँह खोलकर कहता है—

जृम्भस्व, तावद्दन्तान्ते गणयिष्यामि।

'खोल मुँह ! मैं तेरे दाँत गिनूँगा।' उसे देखकर दुष्यन्तको उसके प्रति पुत्र-जैसा स्नेह जाग उठता है। उस बालकके साथकी एक तपस्विनी उस बालकसे कहती है—'इस सिंहके बच्चेको छोड़ दे, मैं तुझे खिलौना लाए देती हूँ।' जब वह बालक खिलौना माँगनेके लिये हाथ फैलाता है तब दुष्यन्तको उसके हाथमें चक्रवर्तीके लक्षण दिखाई दे जाते हैं। इसी बीच दूसरी तपस्विनी आश्रमसे मार्कण्डेय नामक बालकका खिलौना लेने चली जाती है और पहली तपस्विनी राजासे कहती है कि सिंहको इस बालकसे तो छुड़ा दीजिए। जब राजा उस बालकको ऋषिकुमार कहकर सम्बोधन करता है, तब तपस्विनी कहती है—'यह ऋषिकुमार नहीं है।' और साथ ही यह भी कह उठती है 'ओ हो ! आप दोनोंका रूप तो बहुत मिलता-जुलता है।' जब दुष्यन्त उस तपस्विनीसे पूछता है कि यहाँ तो कोई मनुष्य आ नहीं सकता फिर यह कैसे आ गया। तब वह बताती है कि इसकी माता एक अप्सराकी कन्या है इसीलिये यहाँ इसका जन्म हुआ है। इस प्रसंगमें भी अप्सराका नाम नहीं बताया जाता क्योंकि दुष्यन्तको प्रथम अंकमें ही बता दिया गया था कि शकुन्तला तो मेनका अप्सराकी कन्या है। यदि यहाँ मेनकाका नाम बता दिया जाता तो सारा कुतूहल ही समाप्त हो जाता। जब दुष्यन्त पूछता है कि वह किस राजर्षिकी पत्नी है, तब वह तपस्विनी कहती है कि जो व्यक्ति अपनी धर्मपत्नीको छोड़ दे उस पापीका नाम नहीं लेना चाहिए। कोई दूसरा अनाड़ी नाटककार होता तो यहाँ नाम खोलकर सारा गुड़ गोबर कर डालता। किन्तु कालिदासने कुतूहल बनाए रखनेके लिये यहाँ भी दुष्यन्तका नाम नहीं खोला। दुष्यन्त उस तपस्विनीसे बालकका नाम पूछनेको ही होता है कि इतनेमें दूसरी तपस्विनी खिलौनेका मोर लिए चली आती है और कहती है—'सउंदलावण्णं पस्स,' जिसके दो अर्थ होते हैं–शकुन्तलावण्य पश्य (पक्षीकी सुन्दरता देखो) और शकुन्तला-वर्णं पश्य (शकुन्तलाका रूप देखो)। बालक इस दूसरे अर्थको ग्रहण करके पूछता है—'कहाँ है मेरी माता ?' अब दुष्यन्त कुछ-कुछ समझ पाता है कि इसकी माताका नाम शकुन्तला है। पर शकुन्तला तो किसीका भी नाम हो सकता है और फिर यहाँ वह शकुन्तला आ भी कैसे जायगी। इतनेमें बालकके हाथसे उसका रक्षा-सूत्र खिसक गिरता है। दुष्यन्त जैसे ही उसे उठाने बढ़ता ही है कि दोनों तपस्विनियाँ चिल्ला उठती हैं—'हैं, हैं यह अपराजिता नामकी जड़ीका सूत्र महर्षि कश्यपने इसे पहनाया है। इसके माता-पिताके अतिरिक्त जो इसे उठाता है, उसे यह सर्प बनकर डस लेता है।' पर दुष्यन्त तो इतनेमें उसे उठा ही लेता है। यह देखकर वे दोनों तपस्विनियाँ शकुन्तलाको सूचना देने दौड़ जाती हैं। अब दुष्यन्तको विश्वास हो जाता है कि यह मेरा ही पुत्र है। दुष्यन्त जब उस बालकको गोदमें उठा लेता है तब वह कह उठता है—'छोड़ो, छोड़ो ! हम अपनी माताके पास जायँगे।' दुष्यन्त कहता है—'बेटा ! मेरे ही साथ चलकर अपनी माताको आनन्द देना।' 'बेटा' शब्द सुनकर बालक कह उठता है—'तुम नहीं, दुष्यन्त मेरे पिता हैं।' इतनी देरमें, इतनी घटनाओंके पश्चात्, इतना कुतूहल उत्पन्न करके दुष्यन्तको विश्वास होने लगता है कि यह मेरा ही पुत्र है और तभी एकवेणीधरा शकुन्तलाका आगमन होता है और उस दैवी आश्रमके पूर्णतः प्राकृतिक और आध्यात्मिक वातावरणमें उन

तीनोंका मिलन होता है और इस मिलनका आधार भी सिंहका शावक ही होता है। न वह बालक सिंह-शावकका मुँह खोलता, न उसके विषयमें बात चलती, न सपुत्र शकुन्तलासे मिलन हो पाता। प्रकृतिका दूत सिंह-शावक ही यहाँ भी सहायक हुआ। ऐसी निसर्ग-कन्या शकुन्तला और उसके पुत्रका दुष्यन्तसे मिलन पार्थिव वातावरणवाले हस्तिनापुरमें भला कैसे हो पा सकता था ?

कालिदासके नाट्य-कौशलका सबसे बड़ा चमत्कार तो यह है कि जहाँ शकुन्तलाके होनेकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, उस मारीच कश्यपके आश्रममें दुष्यन्तसे शकुन्तलाका मिलन ले जा कराया।

कालिदासकी यह दृढ मान्यता थी कि मर्यादाका उल्लंघन करनेवालेको प्रायश्चित्तरूपी तप किए बिना इच्छित फल नहीं प्राप्त हो सकता। दुष्यन्त और शकुन्तला दोनोंको ही वियोगका मानसिक कष्ट उठाकर उस दोषका प्रायश्चित करना पड़ा। प्रायश्चित कर चुकनेपर ही उनका मिलन हो पाया! और फिर वह मिलन भी दैवी वातावरणमें हुआ। महर्षि कण्वने उन्हें भले ही क्षमा कर दिया हो किन्तु ऋततत्त्वने उन्हें क्षमा नहीं किया और उन्हें प्रायश्चित्त करना ही पड़ा।

इस प्रकार पृथ्वीने तो अपनी समस्त विभूति—लता, भ्रमर, वृक्ष, मृग, पक्षी, कमल-पत्र आदिके द्वारा शकुन्तलाका पालन-पोषण, संरक्षण और वस्त्राभूषण-दान किया ही, वायुने भी लताकी पत्तियाँ हिलाकर (वातेरितपल्लवांगुलीभिः) शकुन्तलाको उसी लताके पास आनेको प्रेरित किया जिसकी ओटमें उसका भावी पति दुष्यन्त छिपा बैठा था। शचीतीर्थके जलने उसकी मुद्रिका लेकर हस्तिनापुरके राजसी वैभवके बीच पतिसे उसके मिलनमें बाधा खड़ी कर दी जिससे उसका पति-मिलन नैसर्गिक वातावरणमें ही हो। वह क्यों जाय दुष्यन्तके पास ? दुष्यन्तको उसके पास आना होगा। इतना ही नहीं, उसी जलमें रहनेवाली मछलीने अँगूठी निगलकर, स्वयंको मछुएके हाथ पकड़वाकर और अपना पेट चिरवाकर, शकुन्तलाके लिये अपना बलिदान करके, दुष्यन्तके हाथमें अँगूठी भेज पहुँचवानेमें सहायता की जिससे दुष्यन्तको स्मरण तो हो आवे कि हाँ, मैंने शकुन्तलासे गान्धर्व विवाह किया था और उसे पश्चात्ताप भी हो कि उसका प्रत्याख्यान करके मैंने बड़ा भारी पाप किया है। इस प्रकार उस जलचरने दुष्यन्तको उसके अपराधका दण्ड भी दे डाला। आकाशने अशरीरी वाणीसे कण्वको सूचना दे दी कि दुष्यन्तसे शकुन्तलाका गान्धर्व विवाह हो गया है और वह गर्भिणी है। यज्ञकी अग्निने बहुत धुँआँ होते हुए भी ठीक मध्यमें आहुति ग्रहण करके उसका समर्थन कर दिया। इस प्रकार पृथ्वी, वायु, जल, आकाश और अग्नि, सबने निसर्ग-कन्या शकुन्तलाकी सहायता की।

जहाँतक मनुष्योंका प्रश्न है किसीने उसके साथ सहयोग नहीं किया। दुष्यन्तने उसे धोखा दिया कि तीन दिनमें बुलवा लूँगा पर सुधितक नहीं ली, दुर्वासाने शाप ही दे डाला, शार्ङ्गरव उसे डाँटता-फटकारता ही रहा, गौतमी उसे दुष्यन्तके पास छोड़कर ही चली आई, किसी ऋषि

या ऋषि-पत्नीने उसके साथ कोई सहानुभूति नहीं दिखाई, यहाँतक कि जिन महर्षि कण्वने उसका लालन-पालन किया था उन्होंने भी उसे हस्तिनापुर भेजकर उसकी कोई सुधि नहीं ली कि वह जीवित है या स्वर्गत हो गई। राज-पुरोहितने उसे पुत्र-जन्म होनेतक अपने यहाँ रखनेका प्रस्ताव किया भी किन्तु निसर्ग-कन्या उसके यहाँ भला कैसे रहने दी जा सकती थी? उसे सानुमती अप्सरा उड़ा ले गई। मनुष्य-निर्मित एकमात्र अँगूठी क्या उसकी उँगलीमें आई कि उसने सारा बखेड़ा ला खड़ा किया और उसका जीवन ही दूभर कर दिया। उसके मिलनेपर दुष्यन्तको केवल शकुन्तलाका स्मरण-मात्र ही हुआ। उनके मिलनका कारण तो मारीचके आश्रमका सिंह-शावक ही बना। पार्थिव शिकारी दुष्यन्तने अपार्थिव शकुन्तलाका शिकार तो कर लिया पर वह उसे मिल तभी पाई जब उसने प्रायश्चित्त कर लिया। क्या किसीने इस दृष्टिसे अभिज्ञानशाकुन्तलके विचित्र, अप्रतिम रचना-कौशलपर विचार किया है?

इस सम्पूर्ण कथानकमें सबसे विचित्र बात यह है कि न तो महाभारतमें, न पद्मपुराणमें और न अभिज्ञान-शाकुन्तलमें ही कहीं यह कहा गया कि शकुन्तलाने गंगा कहाँसे पार की, क्योंकि मालिनी नदीके तटपर स्थित कण्वके आश्रम और हस्तिनापुरके बीच गंगाजी पड़ती हैं। क्या यह कथा भगीरथसे पहलेकी है, अर्थात् गंगावतरणसे पहलेकी है?

कविवर श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरने श्रीदिनेशचन्द्रसेनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'रामायणी-कथा'की भूमिकामें लिखा है कि वाल्मीकिने उर्मिलाकी, बाणभट्टने पत्रलेखाकी और कालिदासने अनसूया-प्रियंवदाकी बड़ी उपेक्षा की, वे उन्हें दुबारा नहीं लाए। किन्तु नाटककार होते हुए भी उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि नाटकमें कोई पात्र तभीतक बना रहने दिया जाता है जबतक कथा-निर्वाहके लिये उसकी आवश्यकता हो। अनावश्यक और असंगत रूपसे किसी पात्रको प्रविष्ट कराते रहना तो नाट्य-दोष हो जाता है। फिर शकुन्तलाने जब विदा होते समय अपने साथ सखियोंको भेजनेके लिये कहा तभी कण्वने कह दिया था—'इमेऽपि प्रदेये' (इनका भी विवाह करना है)। अतः, वे भी अपनी-अपनी ससुराल चली गई होंगी। उन्हें फिर नाटकमें लानेका क्या तुक था? हाँ, यदि उपेक्षा हुई तो कण्वकी हुई जिन्होंने शकुन्तलाके प्रत्याख्यानका समाचार पाकर भी उसकी कोई खोज-खबर न ली।

अब आपको पूर्ण विश्वास हो गया होगा कि महाकवि कालिदास निश्चय ही सिद्ध नाटककार थे जिनकी नाट्य-प्रतिभाका सर्वाधिक चमत्कार अभिज्ञान-शाकुन्तल है।

* * *

सञ्चयन

पंचम संस्करणका संपादकीय निवेदन
भूमिका

प्रथम खण्ड (काव्य)

रघुवंशम् … … … १-१८२
कुमारसम्भवम् … … … १८३-३१६
मेघदूतम् … … … ३१७-३४४
ऋतुसंहारम् … … … ३४५-३७०

द्वितीय खण्ड (नाटक)

अभिज्ञान-शाकुन्तलम् … … … १-१३६
विक्रमोर्वशीयम् … … … १३७-२३६
मालविकाग्निमित्रम् … … … २३७-३२९

तृतीय खण्ड (समीक्षा-निबन्ध)

विक्रमादित्य—स्व० डा० राजबली पाण्डेय … … १-१०
विक्रम और उनके नवरत्न—स्व० पंडित ईशदत्त शास्त्री "श्रीश" … ११-१६
कालिदासके ग्रन्थोंकी उपादेयता—पं० सीताराम जयराम जोशी … १७-२६
कालिदासके शब्द-प्रयोग—पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय … २७-३०
कालिदासके कवित्वकी पूर्णता—स्व० श्री गो० दामोदरलालजी … ३१-३३
कालिदास की सूक्तियाँ—स्व० डा० अमरनाथ झा … ३४-३७
कालिदासका सन्देश—पं० बलदेव उपाध्याय … … ३८-४३
कालिदास और प्रकृति—पं० करुणापति त्रिपाठी … … ४४-५२
निसर्ग कन्या शकुन्तला—डा० बेलवेल्कर … … ५३-६४
योगवाशिष्ठमें मेघदूत—स्व० डा० भीखनलाल आत्रेय … … ६५-६७
मेघदूतकी रसवत्ता—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी … … ६८-८७
मेघदूतका एक अध्ययन : शिवका स्वरूप—स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल… ८८-१००
महाकवि कालिदासकी उपमाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—डा० पी० के० गोडे
… १०१-११२
कालिदासकी छन्दोयोजना—श्री पं० रामगोविन्द शुक्ल… … ११३-१२०
अभिधान-कोष—(कालिदासके काव्योंमें आए हुए व्यक्तियों, जीवों,
वस्तुओं और स्थानों का परिचय) पं० सीताराम चतुर्वेदी… १२१-१७८
कालिदास-सम्बन्धी ग्रन्थों, लेखों तथा पत्रोंकी सारणी—डा० रामकुमार चौबे… १७९-१८४
कालिदास काव्य-कालीन भारतका मानचित्र … … १८५

प्रथमं खण्डम्

महाकविश्रीकालिदासस्य काव्यानि

पहला खण्ड

[महाकविश्रीकालिदासके काव्य]

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥
सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

❀ रघुवंशम् ❀

॥ प्रथमः सर्गः ॥

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१॥
क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः । तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥२॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् । प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥३॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः । मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥४॥
सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् । आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥५॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् । यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥६॥

पहला सर्ग

(वाणी और अर्थ दोनों, जैसे अलग कहलाते हुए भी एक ही हैं, वैसे ही पार्वती और शिव भी कहनेको तो दो हैं, पर हैं वे सचमुच एक ही । इसलिये) वाणी और अर्थपर अधिकार करनेके लिये (उनको ठीक समझने और उनका ठीक व्यवहार करनेके लिये), संसारकी माता पार्वती और पिता शिवको मैं प्रणाम करता हूँ जो शब्द और अर्थके समान परस्पर मिले हुए एक ही हैं ॥ १ ॥ (मैं रघुवंशका वर्णन करने तो चला हूँ पर मैं देख रहा हूँ कि) कहाँ तो सूर्यसे उत्पन्न हुआ वह (तेजस्वी) वंश, (जिसमें रघु और राम-जैसे पराक्रमी उत्पन्न हुए हों और) कहाँ मोटी बुद्धिवाला मैं । (मैं जानता हूँ कि मैं रघुवंशका पार नहीं पा सकता फिर भी मेरी मूर्खता तो देखिए कि) तिनकोंसे बनी छोटी-सी नाव लेकर अपार समुद्रको पार करनेकी बात सोच रहा हूँ ॥ २ ॥ देखिए, मैं हूँ तो बड़ा भारी मूर्ख, पर मेरी साध यह है कि बड़े-बड़े कवियोंमें मेरी गिनती होने लगे । यह सुनकर लोग मुझपर हँसेंगे तो अवश्य, क्योंकि मेरी यह करनी वैसी ही है जैसे कोई बौना अपने नन्हें-नन्हें हाथ ऊपर उठाकर उन (ऊँचाईपर लगे) फलोंको तोड़ना चाहे जो केवल लम्बे हाथवाले ही तोड़ पा सकते हों ॥ ३ ॥ पर (मुझे यही बड़ा भारी भरोसा है कि वाल्मीकि आदि मुझसे) पूर्वके कवियोंने इस सूर्यवंशपर (सुन्दर काव्य) लिखकर वाणीका जो द्वार पहलेसे ही खोल दिया है उसमें पैठ जाना (और इस वंशका फिरसे वर्णन करना) मेरे लिये वैसा ही (सरल) हो गया है जैसे हीरेकी कनीसे बिंधे हुए मणिमें डोरा पिरो देना ॥४॥ मैं जानता हूँ कि मुझे कुछ आता-जाता नहीं है, फिर भी मैं उन (प्रतापी) रघुवंशियोंका वर्णन करनेपर तुला बैठा हूँ, जिनके चरित्र जन्मसे लेकर अन्ततक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी कामको उठाकर उसे पूरा किए बिना नहीं छोड़ते थे, जो समुद्रके ओर-छोर-तक फैली हुई सारी धरतीके स्वामी थे, जिनके रथ, पृथ्वीसे स्वर्गतक सीधे जाया-आया करते थे, जो (शास्त्रोंके) नियमके

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्। यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥७॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्। वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्। तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥९॥
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥१०॥
वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्। आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥११॥
तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः। दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥१२॥
व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः। आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥१३॥
सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना। स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥१४॥
आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः। आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥१५॥
भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्। अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥१६॥

अनुसार ही यज्ञ करते थे, जो माँगनेवालोंको मन-चाहा दान देते थे, अपराधके अनुसार ही (अपराधियोंको) दण्ड देते थे, जो अवसर देखकर ही काम करते थे, जो दान करनेके लिये ही धन इकट्ठा करते थे, जो सत्यकी रक्षाके लिये बहुत कम बोलते थे (कि जितना कहें उतना कर भी दिखावें), जो (दूसरोंका राज हड़पने या लूटमारके लिये नहीं वरन्) अपना यश बढ़ानेके लिये ही दूसरे देश जीतते थे, जो (भोग-विलासके लिये नहीं वरन्) सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह किया करते थे, जो बालकपनमें पढ़ते थे, तरुणाईमें संसारके भोगोंका आनंद लेते थे, बुढ़ापेमें मुनियोंके समान (जंगलोंमें रहकर) तपस्या करते थे और अन्तमें योगके द्वारा (ब्रह्मका ध्यान करते हुए) अपना शरीर छोड़ते थे। (सच पूछिए तो) रघुबंशियोंके इन गुणोंने ही मुझे यह काव्य लिखनेकी ढिठाई करनेको उकसाया है ॥५-९॥ इस काव्यको सुननेके अधिकारी भी वे ही सज्जन हैं जिन्हें भले-बुरेकी अच्छी परख है क्योंकि सोनेका खरापन या खोटापन तो आगमें डालनेपर ही जाना जा पाता है ॥१०॥ जैसे वेदके छंदोंमें सबसे पहले ॐकार है वैसे ही राजाओंमें सबसे पहले विवस्वानके पुत्र वैवस्वत मनु हुए जिनका आदर बड़े-बड़े विद्वान् भी किया करते थे ॥११॥ उन्हीं वैवस्वत मनुके उज्ज्वल वंशके राजाओंमें, चन्द्रमाके समान सबको सुख देनेवाले तथा अत्यन्त शुद्ध चरित्रवाले राजा दिलीपने वैसे ही जन्म लिया जैसे क्षीरसागरसे चन्द्रमाने जन्म लिया था ॥१२॥ (राजा दिलीपका रूप देखने ही योग्य था।) उनकी चौड़ी छाती, साँड़केसे ऊँचे और भारी कंधे, शालके वृक्ष-जैसी लंबी भुजाएँ और उनका अपार तेज देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों क्षत्रियोंका धर्म (वीरत्व) ही उनके शरीरमें यह समझकर आ डटा हो कि (सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंके नाश करनेका जो) मेरा काम (है वह) इस शरीरसे अवश्य पूरा हो सकेगा ॥१३॥ जैसे सुमेरु पर्वत अपनी दृढतासे संसारके सब दृढ पदार्थोंकी दबाए बैठा है, अपनी चमकसे सब चमकीली वस्तुओंकी चमक घटाए बैठा है, अपनी ऊँचाईसे सब ऊँची वस्तुओंको नीचा किए डाल रहा है और अपने फैलावसे सारी पृथ्वीको ढके हुए है वैसे ही राजा दिलीप भी अपने बल, तेज और डील-डौलवाले शरीरसे सबको नीचा दिखाकर सारी पृथ्वीको अपनी मुट्ठीमें किए बैठे थे ॥१४॥ जैसा सुन्दर उनका रूप था, वैसी ही तीखी उनकी बुद्धि थी और जैसी तीखी बुद्धि थी वैसी ही शीघ्रतासे उन्होंने सब शास्त्र पढ़ डाले थे। इसीलिये वे शास्त्रके अनुसार ही किसी कामें हाथ डालते थे और (फल यह होता था कि उन्हें) वैसी ही (बड़ी) सफलता भी (अवश्य) हाथ लग जाती थी ॥ १५ ॥ (जैसे घड़ियालों और मगरमच्छोंके डरसे लोग समुद्रमें पैठनेसे डरते हैं, वैसे ही) राजा दिलीपसे भी उनके सेवक डरते रहते थे क्योंकि

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।नव्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥१७॥
प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् । सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि,रसं रविः ॥१८॥
सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम्।शास्त्रेष्वकुण्ठता बुद्धिमौर्वी धनुषि चातता ॥१९॥
तस्य संवृतमन्त्रस्यगूढाकारेङ्गितस्य च।फलानुमेयाःप्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव॥२०॥
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः । अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥२१॥
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥२२॥
अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः। तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥२३॥

वे न्यायमें बड़े कठोर थे (और किसीका पक्षपात नहीं करते थे) किन्तु जैसे समुद्रके सुन्दर और मनोहर रत्नोंको पानेके लिये लोग समुद्रमें पैठ ही जाते हैं वैसे ही राजा दिलीप इतने दयालु, उदार और गुणशाली भी थे कि उनके सेवक उनकी कृपा पानेके लिये सदा उनका मुँह जोहते ही रहते थे ॥ १६ ॥ जैसे चतुर सारथी जब रथ चलाता है तब रथके पहिये बालभर भी लीकसे बाहर नहीं हो पाते वैसे ही राजा दिलीपने ऐसे अच्छे ढंगसे प्रजाकी देखभाल की कि प्रजाका कोई भी व्यक्ति मनुके बताये हुए नियमोंसे बालभर भी बहककर नहीं चल सकता था। (सब लोग वर्ण और आश्रमके नियमोंके अनुसार ही अपने धर्मका पालन करते थे) ॥ १७ ॥ जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जो जल सोखता है उसका सहस्रगुना ला बरसाता है, वैसे ही राजा दिलीप भी प्रजासे जो कर लेते थे वह सारा अपनी प्रजाकी भलाईमें लगा देते थे ॥ १८ ॥ राजा दिलीपके पास सेना तो बड़ी भारी थी पर वह सेना केवल शोभाके लिये ही थी (उससे राजा दिलीप कोई काम नहीं लेते थे) क्योंकि शास्त्रोंका उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था और धनुष चलानेमें भी वे एक ही थे। इसलिये वे अपना सब काम अपनी तीखी बुद्धि और धनुषपर चढ़ी हुई डोरी, इन दोसे ही निकाल लेते थे (उन्हें किसी काममें किसी दूसरेकी सहायता नहीं लेनी पड़ती थी) ॥ १९ ॥ राजा दिलीप न तो स्वयं ही अपने मनका भेद किसीको बताते थे और न अपनी भावभंगीसे ही अपने मनकी बात किसीको जानने देते थे। जैसे इस जन्ममें किसीके (सुखी या दुखी) जीवनको देखकर ही लोग समझ पाते हैं कि उसने पिछले जन्ममें क्या (अच्छे या बुरे) काम किए होंगे वैसे ही राजा दिलीपके मनकी बात भी लोग तभी जान पाते थे जब वह काम हो चुकता था (उससे पहले नहीं) ॥ २० ॥ वे निडर होकर अपनी रक्षा करते थे, बड़े धीरजके साथ अपने धर्मका पालन करते थे, लोभ छोड़कर धन इकट्ठा करते थे और मोह छोड़कर संसारके सुख भोगते थे ॥ २१ ॥ (जो लोग बहुत पढ़-लिख जाते हैं वे अपनी विद्याका ढिंढोरा पीटते फिरते हैं, जो बलवान होते हैं वे दूसरोंको सतानेमें अपनी बड़ाई समझते हैं, जो लोग दान देते हैं या किसीके लिये कुछ त्याग करते हैं वे चाहते हैं कि चारों ओर हमारा नाम हो। पर राजा दिलीपमें यह बात नहीं थी) वे सब कुछ जानकर भी चुप रहते थे, शत्रुओंसे बदला लेनेकी शक्ति रहते हुए भी उन्हें क्षमा कर देते थे और दान देकर या त्याग करके भी अपनी प्रशंसा करानेकी इच्छा नहीं करते थे। (उनके इस जगसे न्यारे व्यवहारको देखकर यही जान पड़ता था कि) चुप रहने, क्षमा करने और प्रशंसासे दूर भागनेके गुण भी उनमें ज्ञान, शक्ति और त्यागके साथ ही साथ उत्पन्न हुए थे ॥ २२ ॥ संसारके भोगोंको वे अपने पास नहीं फटकने देते थे, सारी विद्याएँ उन्होंने मुट्ठीमें कर ली थीं और अपना जीवन वे दिनरात धर्मके कामोंमें ही लगाते थे। छोटी ही अवस्थामें वे इतने चतुर हो गए थे कि बुढ़ापा आए बिना ही उनकी गिनती बड़े-बूढ़ोंमें होने लगी थी ॥ २३ ॥ जैसे पिता अपने पुत्रोंको बुरे काम करनेसे रोकता है, अच्छे काम करनेकी

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि । स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥२४॥
स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये । अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥२५॥
दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् । संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥२६॥
न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः । व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥२७॥
द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् । त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता २८
तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना । तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥२९॥
स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् । अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥३०॥
तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा । पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥३१॥
कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि । तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥३२॥

सीख देता है, सब प्रकारसे उनकी रक्षा करता है और उन्हें पाल-पोसकर बड़ा करता है वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजाको बुरे मार्गपर जानेसे रोकते थे, अच्छा काम करनेको उत्साहित करते थे, विपत्तियोंसे उनकी रक्षा करते थे और (उनके लिये अन्न, वस्त्र, धन तथा शिक्षाका प्रबन्ध करके) उनका पालन-पोषण करते थे । इस प्रकार वे ही अपनी प्रजाके सच्चे पिता थे, पिता कहलानेवाले अन्य लोग तो केवल जन्म देने भरके पिता थे ॥ २४ ॥ (क्योंकि) अपराधीको दंड दिए बिना राज्य ठहर नहीं सकता, इसलिये वे अपराधियोंको उचित दंड देते थे । (पितृ-ऋण चुकानेके लिये वंश चलाना भी मनुष्यका धर्म है, इसलिये) सन्तान उत्पन्न करके वंश चलानेकी इच्छासे ही उन्होंने विवाह किया था, कोई भोग-विलासके लिये नहीं । (इस प्रकार यद्यपि) दंड और विवाह वास्तवमें अर्थशास्त्र और कामशास्त्रके विषय हैं फिर भी उनके हाथोंमें पहुँचकर वे भी धर्म ही बन गए थे ॥२५॥ राजा दिलीप अपनी प्रजासे जो कर लेते थे वह इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये यज्ञमें लगा देते थे (क्योंकि यज्ञ करनेसे देवता प्रसन्न और पुष्ट होते हैं) । उधर इन्द्र भी इनसे प्रसन्न होकर आकाशको दूहकर जल बरसाता था जिसमें खेत अन्नसे लद जाते थे । इस प्रकार राजा दिलीप और इन्द्र एक दूसरेकी सहायता करके (पृथ्वी और स्वर्ग) दोनों लोकोंका पालन करते चलते थे ॥२६॥ दिलीपको छोड़कर और कोई भी राजा अपनी प्रजाकी रक्षा करनेमें नाम न कमा सका क्योंकि (सभीके यहाँ कभी-कभी चोरी-डकैती हो ही जाती थी । पर राजा दिलीपका अपने राज्यमें ऐसा दबदबा था कि) चोरीका शब्द कहने-सुननेको ही रह गया था (उस राज्यमें कोई भी किसीका धन नहीं चुरा पाता था) ॥ २७ ॥ जैसे रोगी यह समझकर औषधको पी लेता है कि इससे मैं अच्छा हो जाऊँगा वैसे ही राजा दिलीप भी ऐसे बैरियोंको अपना लेते थे जो भले होते थे और जैसे साँपके काटनेपर लोग अपनी उँगली भी काटकर फेंक देते हैं वैसे ही राजा दिलीप भी अपने उन सगे प्यारे लोगों तकको निकाल बाहर करते थे जो दुष्ट होते थे ॥ २८ ॥ ब्रह्माने निश्चय ही महाराज दिलीपको (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन) पाँच तत्त्वोंसे ही बनाया था क्योंकि (जैसे ये तत्त्व निरन्तर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन गुणोंसे सारी सृष्टिकी सेवा करते हैं, वैसे ही) राजा दिलीपके सब गुणोंसे भी केवल दूसरोंका ही उपकार होता था ॥ २९ ॥ (जैसे कोई राजा किसी ऐसी नगरीपर शासन करे जिसके चारों ओर परकोटा और खाई हो, वैसे ही) दिलीप इस पूरी पृथ्वीपर अकेले राज्य करते थे जिसका परकोटा समुद्रका तट था और जिसकी खाईका काम स्वयं समुद्र करता था ॥ ३० ॥ जैसे यज्ञकी पत्नी दक्षिणा प्रसिद्ध है वैसे ही मगधके राजवंशमें उत्पन्न सुदक्षिणा नामकी उनकी पत्नी भी संसारमें अपनी उदारताके लिये प्रसिद्ध

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः। विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥३३॥
संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता । तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥३४॥
अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया। तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥३५॥
स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ । प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥३६॥
मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरैः । अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥३७॥
सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः । पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥३८॥
मनोभिरामाःशृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।षड्जसंवादिनीःकेका द्विधा भिन्नाःशिखंडिभिः३९।
परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु । मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥४०॥
श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम्। सारसैःकलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥४१॥
पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः । रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥४२॥

थी ॥ ३१ ॥ वैसे तो राजा दिलीपकी बहुत-सी रानियाँ थीं, पर वे अपनेको स्त्रीवाला यदि समझते थे तो लक्ष्मीके समान मनस्विनी केवल अपनी रानी सुदक्षिणाके कारण ही ॥ ३२ ॥ उनकी बड़ी इच्छा थी कि मेरी प्यारी पत्नीसे मेरे जैसा पुत्र हो, पर दिन बीतते चले जा रहे थे, मनकी साध पूरी नहीं हो पा रही थी ॥ ३३ ॥ तब उन्होंने निश्चय किया कि सन्तान उत्पन्न करनेका कुछ न कुछ उपाय करना ही चाहिए। उन्होंने पहला काम तो यह किया कि पृथ्वी पालनेका कुल भार अपने कन्धोंसे उतारकर मंत्रियोंको उठा सौंपा ॥ ३४ ॥ राज्यकी चिन्तासे छुट्टी पाकर पवित्र मनसे राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणाने पुत्रकी इच्छासे पहले ब्रह्माकी पूजाकी और फिर वे दोनों पति-पत्नी वहाँसे अपने कुलगुरु वसिष्ठके आश्रमकी ओर चल दिए ॥ ३५ ॥ जिस रथपर वे दोनों बैठे हुए थे वह बड़ी कन-मीठी घनघनाहट करता चला जा रहा था। उसपर बैठे हुए वे दोनों ऐसे जान पड़ते थे मनो वर्षाके बादलपर ऐरावत और बिजली दोनों साथ चढ़े चले जा रहे हों ॥३६॥ उन्होंने अपने साथ सेवक नहीं लिए क्योंकि उन्हें ध्यान था कि बहुत भीड़-भाड़ ले जानेसे आश्रमके काममें बाधा होगी, पर उनका प्रताप और तेज ही इतना अधिक था कि उससे जान पड़ता था मानो साथमें बड़ी भारी सेना चली जा रही हो ॥३७॥ खुले मार्गमें सालके गोंदकी गन्ध बसा हुआ, फूलोंके पराग उड़ाता हुआ और वनके वृक्षोंकी पाँतोंको धीरे-धीरे कँपाता हुआ पवन, उनके शरीरको सुख देता हुआ उनकी सेवा करता चल रहा था ॥३८॥ राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणाने इधर-उधर दृष्टि घुमाई और देखा कि कहीं तो रथकी घनघनाहट सुनकर बहुतसे मोर इस भ्रमसे अपना मुँह ऊपर उठा उठाकर दूहरे मनोहर षड्ज[1] शब्दसे कूक रहे हैं कि कहीं ऊपर बादल तो नहीं गरज रहे हैं ॥३९॥ और कहीं वे देखते हैं कि हरिणोंके जोड़े मार्गसे कुछ हटकर रथकी ओर एकटक देख रहे हैं जिनकी सरल (भोली) चितवनको राजा दिलीपने सुदक्षिणाके नेत्रोंके समान समझा और सुदक्षिणाने राजा दिलीपके नेत्रोंके समान ॥ ४० ॥ जब कभी वे आँख उठाकर ऊपर देखते तो आकाशमें उड़ते हुए मिठ, बोले बगले भी उन्हें दिखाई पड़ जाते जो पाँतमें उड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों खम्भेके बिना ही बन्दनवार आ टँगी हो ॥ ४१ ॥ उनके अनुकूल चलता हुआ पवन भी यह संकेत दे रहा था कि मनकी इच्छाएँ अवश्य पूरी होंगी। वह पवन ऐसी दिशासे चल रहा था कि घोड़ोंके

---

[1] षड्जं मयूरो वदति। षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद नामक सात स्वरोंमेंसे पहला स्वर।

मासां कण्ठमुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संस्पृशन् ।
षड्भ्यः सञ्जायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः ॥

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम्। आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ४३।
ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम्। अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥४४॥
हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्। नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥४५॥
काप्यभिख्या तयोरासीद्व्रजतोः शुद्धवेषयोः। हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव॥४६॥
तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः । अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥४७॥
स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः । सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥४८॥
वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः । पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥४९॥
आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः । अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥५०॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्। विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ५१।
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः । मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥५२॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्। पुनानं पवनोद्धतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥५३॥

खुरोंसे उठी हुई धूल न तो देवी सुदक्षिणाके बालोंको ही छू पाती थी और न राजा दिलीपकी पगड़ीको ही ॥४२॥ मार्गमें जो तालाब पड़ते थे उनकी लहरोंकी झकोरोंसे उड़ती हुई कमलोंकी ठंडी सुगन्ध जिस पवनसे लेते हुए वे चले जा रहे थे वह सुगन्धभरा पवन उनकी साँसके समान ही सुगन्धित था ॥४३॥ जो गाँव उन्होंने ब्राह्मणोंको दान कर दिये थे और जिनमें स्थान-स्थानपर यज्ञके खम्भे खड़े हुए थे, वहाँके ब्राह्मणोंने पहले तो अर्घ्य (दूब, तिल, कुश, सरसों, पुष्प, जल, अक्षत, चन्दन) भेंट करके उनकी पूजा की और फिर उनको ऐसे आशीर्वाद दिए जो कभी निष्फल हो ही नहीं सकते थे ॥४४॥ गाँवोंके जो बड़े-बूढ़े घोसी, गायका तुरंत निकला हुआ मक्खन लेकर उनकी भेंट करनेको आते थे उनसे, राजा दिलीप और रानी, मार्गके वनों और वृक्षोंका नाम पूछती जाती थीं ॥४५॥ जैसे चैतकी पूनोंके दिन चित्रा नक्षत्रके साथ उजला चन्द्रमा आँखोंको भला लगता है वैसे ही सुन्दरी सुदक्षिणाके साथ मार्गमें उजले वस्त्र पहने जाते हुए राजा दिलीप भी बड़े सुहावने लग रहे थे ॥४६॥ पंडितोंके समान बुद्धिमान तथा लुभावने दिखाई देनेवाले राजा दिलीप अपनी पत्नीको वे सब (सुहावने दृश्य) दिखानेमें इतने रम गए थे कि उन्हें यह भी न भान हो सका कि मार्ग कबमेंको निकल गया ॥४७॥ साँझ होते-होते यशस्वी राजा दिलीप अपनी पत्नीके साथ संयमी महर्षि वसिष्ठके आश्रमतक पहुँच ही तो गए। इतने थोड़े समयमें इतनी दूरकी यात्रा करनेके कारण उनके घोड़े भी थक चुके थे॥ ४८ ॥ वहाँ पहुँचकर वे देखते क्या है कि संध्याके अग्निहोत्रके लिये बहुतसे तपस्वी हाथमें समिधा (पलाशकी सूखी लकड़ी), कुशा और फल लिए हुए जंगलोंसे लौटे चले आ रहे हैं ॥४९॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्णकुटियोंके द्वार रोके खड़े हुए थे क्योंकि उन्हें भी ऋषि-पत्नियोंके समान तिन्नी[1] के दाने खानेका अभ्यास पड़ गया था। ॥ ५० ॥ ऋषिकन्याएँ वृक्षोंकी जड़ोंमें पानी दे-देकर वहाँसे हट गई थीं कि आश्रमके पक्षी निडर होकर उन वृक्षोंके थाँवलोंका जल पी सकें ॥ ५१ ॥ धूपमें सुखानेके लिये जो तिन्नीका अन्न फैलाया हुआ था, वह दिन छिपते ही समेटकर कुटियाके आँगनमें ढेर बनाकर रख दिया गया था और वहीं आँगनमें बहुतसे हरिण सुखसे बैठे जुगाली कर रहे थे ॥ ५२ ॥ हवन-सामग्रीकी गंधसे भरा हुआ अग्निहोत्रका जो धुँआँ पवनके कारण चारों ओर फैल चला था उस धुँएँने आश्रमकी ओर आते हुए इन अतिथियोंको भी पवित्र कर दिया

---

१. तिन्नी—नीवार, तालमें बिना जोते-बोए जो चावल होता है। व्रतमें इस चावलका प्रयोग किया जाता है।

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः । तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥५४॥
तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः । अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥५५॥
विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥५६॥
तयोर्जगृहतुः पादान्राजा राज्ञी च मागधी । तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥५७॥
तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम्। पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥५८॥
अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः । अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥५९॥
उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे । दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥६०॥
तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः । प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥६१॥
हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु । वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥६२॥
पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः।यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ ६३॥
त्वय्येवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना।सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः॥६४॥

॥ ५३ ॥ (वहाँ पहुँचकर) राजा दिलीपने अपने सारथिको आज्ञा दे दी कि घोड़ोंको ठंडा कर लो । तब सहारा देकर पहले तो उन्होंने अपनी पत्नीको रथसे उतारा फिर स्वयं भी रथसे उतर पड़े ॥ ५४ ॥ जब यह समाचार आश्रमवालोंको मिला तब वहाँके सभी सभ्य संयमी मुनियोंने अपने रक्षक, आदरणीय तथा नीतिके अनुसार चलनेवाले सपत्नीक राजा दिलीपका सम्मानके साथ स्वागत किया ॥ ५५ ॥ जब संध्याकी सब क्रियाएँ पूरी हो चुकीं तब वे उन तपस्वी महामुनि वशिष्ठके पास गए जिनके पीछे देवी अरुन्धती भी उसी प्रकार बैठी थीं जैसे अग्निके पीछे स्वाहा हो ॥ ५६ ॥ राजा दिलीप और मगधकी राजकुमारी सुदक्षिणाने चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया और गुरु वसिष्ठ तथा उनकी पत्नीने बड़े दुलारसे उनका स्वागत किया ॥ ५७ ॥ पहले तो वशिष्ठने उनका इतना आतिथ्य-सत्कार किया कि रथकी हचकसे जो उन्हें थकावट हो चली थी वह सब दूर हो गई और तब मुनि वशिष्ठने राजर्षि दिलीपसे पूछा—'कहिए । आपके राज्यमें सब कुशल तो है न' ॥ ५८ ॥

राजा दिलीपने जहाँ एक ओर अपनी वीरतासे शत्रुओंके नगर जीते थे और धन एकत्र किया था वहीं दूसरी ओर वे बातचीत करनेकी कलामें भी बड़े चतुर थे, इसलिये उन्होंने अथर्ववेदके रक्षक वशिष्ठके उत्तरमें बड़ी अर्थ-भरी वाणीमें कहा–॥ ५९ ॥ 'आपकी कृपासे इस राज्यमें (राजा, मंत्री, मित्र, राजकोष, राज्य, दुर्ग और सेना, ये) सातों अंग भरपूर हैं । (अग्नि, जल, महामारी और अकालमृत्यु इन) दैवी विपत्तियों और (चोर, डाकू, शत्रु आदि) मानुषी आपत्तियोंको दूर करनेवाले तो आप बैठे ही हैं ॥ ६० ॥ आप मंत्रोंके रचयिता हैं । आपके मंत्र ही इतने शक्तिशाली हैं कि मुझे अपने बाण चलानेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि अपने बाणोंसे तो मैं केवल उन्हें ही बेध पा सकता हूँ जो मेरे आगे आवें पर आपके मंत्र तो यहीं बैठे-बैठे दूरसे ही शत्रुओंको नष्ट कर डालते हैं ॥ ६१ ॥ यज्ञ करनेवाले प्रभु ! आप जब शास्त्रीय विधिसे अग्निमें हवि छोड़ते हैं तब आपकी आहुतियाँ अनावृष्टिसे सूखे हुए धानके खेतोंपर जलवृष्टि होकर आ बरसती हैं ॥ ६२ ॥ यह आपके ब्रह्मतेजका ही तो बल है कि मेरी प्रजामें कोई भी न तो सौ बरससे कम आयु पाता है और न किसीको ईति (बाढ़, सूखा, चूहा, तोता, राज-कलह, बैरीकी चढ़ाई आदि) तथा विपत्तिका डर रहता है ॥ ६३ ॥ जब आप स्वयं ब्रह्माके पुत्र ही हमारे कुलगुरु होकर सदा हमारा कल्याण करनेके लिये आए बैठे हैं तब हमारी सम्पत्ति भला निर्विघ्न

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् । न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥६५॥
नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः । न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥६६॥
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया । पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥६७॥
सोऽहमिज्याःविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः। प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचल।६८।
लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् । संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥६९॥
तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे । सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥७०॥
असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे । अरुंतुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥७१॥
तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि। इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥७२॥
इति विज्ञापितो राजा ध्यानस्तिमितलोचनः । क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥७३॥
सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्। भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत्॥७४॥
पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः । आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥७५॥
धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् । प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥७६॥

क्यों न रहे ॥६४॥ पर देव ! आपकी इतनी कृपा होते हुए भी जब आपकी इस वधू (मेरी पत्नी)-के गर्भसे मेरे समान तेजस्वी पुत्र नहीं हुआ तब रत्न पैदा करनेवाली, कई द्वीपोंमें फैली हुई अपने राज्यकी यह पृथ्वी भी भला मुझे कैसे अच्छी लग सकती है ? ॥६५॥ अब तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा है कि मेरे पीछे कोई मुझे पिण्ड देनेवाला भी नहीं रह जायगा । इसी दुःखसे हमारे पितर मेरे दिए हुए श्राद्धके अन्नको भरपेट न खाकर उसका भाग आगेके लिये इकट्ठा करने लग गए हैं ॥६६॥ जब मैं तर्पणके समय जलदान देने लगता हूँ, तब मेरे पितर यह सोचकर दुःखकी साँसें लेने लगते हैं कि इसके पीछे हमें जल कौन देगा और यह सोचकर वे अपनी साँसोंसे गरम हुए जलको ही पी डालते हैं ॥६७॥ जिस प्रकार लोकालोक नामका (कल्पित) पर्वत एक ओरसे सूर्यका प्रकाश पड़नेसे चमकता है और दूसरी ओर प्रकाश न पड़नेसे अँधियारा रहता है, उसी प्रकार सदा यज्ञ करनेसे तो मेरा चित्त प्रसन्न रहता है किन्तु पुत्र न होनेसे सदा शोकसे ही भरा रहता है ॥६८॥ देव ! तपस्या करनेसे और ब्राह्मणों तथा दीनोंको दान देनेसे जो पुण्य मिलता है वह केवल परलोकमें सुख देता है पर अच्छी सन्तान (सेवा-शुश्रूषा करके) इस लोकमें तो सुख देती ही है, साथ ही (तर्पण और पिण्डदान आदि करके) परलोकमें भी सुख देती है ॥६९॥ गुरुदेव ! जैसे अपने हाथोंसे प्रेमसे सींचे हुए आश्रमके वृक्षमें फल लगते न देखकर बड़ा दुःख होता है वैसे ही जब आप मुझ कृपा-पात्रको सन्तानहीन देखते हैं तब क्या आपको दुःख नहीं होता ? ॥७०॥ भगवन् ! जिस प्रकार हाथीको उसका खूंटा अत्यन्त कष्ट देता है वैसे ही पुत्र न होनेके कारण जो पितरोंका भार मेरे सिरपर चढ़ रहा है वह भी मुझे बहुत पीडा दे रहा है ॥ ७१ ॥ इसलिये प्रभो ! अब कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे मेरे पुत्र-रत्न हो और मैं अपने पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाऊँ क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी सभी कठिनाइयाँ आपकी ही कृपासे सदा दूर होती चली आ रही हैं' ॥७२॥ राजाकी बात सुनकर वशिष्ठने अपनी आँखें बन्द करके क्षण भरके लिये ध्यान लगाया । उस समय वे उस तालाबके समान स्थिर और निश्चल हो गए जिसमेंकी सब मछलियाँ सो गई हों ॥ ७३ ॥ वशिष्ठने अपने योगके बलसे ध्यान किया कि पवित्र आत्मावाले इस राजाके पुत्र क्यों नहीं हुआ और ध्यान कर चुकनेपर वे राजाको समझाने लगे—॥७४॥ 'देखो राजन् ! बहुत दिन हुए एक बार जब तुम स्वर्गसे इन्द्रकी सेवा करके पृथ्वीको लौटे आ रहे थे, तब मार्गमें कल्पवृक्षकी छायामें

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति । मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥७७॥
स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः । नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥७८॥
ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः । प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥७९॥
हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः । भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥८०॥
सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः । आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥८१॥
इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम । अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥८२॥
ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला । बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं संध्येव शशिनं नवम् ॥८३॥
भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि । प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥८४॥
रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् । तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥८५॥
तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः । याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥८६॥
अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः । उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥८७॥

कामधेनु बैठी हुई थी ॥ ७५ ॥ उस समय तुम्हारी पत्नीने रजस्वला होनेपर स्नान किया था और तुम सोचते जा रहे थे कि [यदि इस समय उसके साथ संभोग नहीं करूँगा तो] गृहस्थका धर्म बिगड़ जायगा । इसी उधेड़बुनमें पड़े रहनेके कारण तुमने कामधेनुकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया । यह काम तुमने ठीक नहीं किया, क्योंकि तुम्हें चाहिए था कि उनकी पूजा और प्रदक्षिणा करते हुए वहाँसे लौटते ॥ ७६ ॥ इसीसे रुष्ट होकर कामधेनुने तुम्हें शाप दे दिया कि तुमने जो मेरा तिरस्कार किया है इसका दंड यही है कि जबतक तुम मेरी सन्तानकी सेवा नहीं करोगे तबतक तुम्हें पुत्र नहीं होगा ॥ ७७ ॥ उस समय बड़े-बड़े मतवाले दिग्गज आकाशगंगामें खेलते हुए बहुत चिग्घाड़ रहे थे, इसलिये उस शापको न तो तुम ही सुन पाए, न तुम्हारा सारथि ही ॥७८॥ इसलिये तुम्हारे पुत्र न होनेका कारण यही है कि तुमने कामधेनुका तिरस्कार किया है । देखो, जो पुरुष अपने पूज्योंकी पूजा नहीं करता उसके शुभ कार्योंमें तो विघ्न पड़ा ही करता है ॥ ७९ ॥ अब इस समय कामधेनु तो मिल नहीं सकतीं क्योंकि पातालमें वरुणदेव जो बहुत बड़ा यज्ञ ठाने बैठे हैं उस यज्ञमें आहुतिकी सामग्री देनेके लिये कामधेनु भी पाताल-लोक चली गई हैं और उस लोकके द्वारोंपर बड़े-बड़े विषधर सर्प वैसे रखवाली भी कर रहे हैं ॥८०॥ इसलिये उनकी अनुपस्थितिमें तुम उनकी पुत्री नन्दिनीको ही उनका प्रतिनिधि समझलो और अपनी रानीके साथ शुद्ध मनसे उसकी सेवा करो, क्योंकि वह प्रसन्न हो गई तो इच्छित फल वह तुरन्त दे डालेगी ॥ ८१ ॥ इधर वशिष्ठ यह कह ही रहे थे कि उनकी आहुतिके लिये घृत आदि जुटानेवाली सुलक्षणा नन्दिनी गौ भी वनसे लौटकर आ ही तो पहुँची ॥ ८२ ॥ नन्दिनीकी देह नये पत्तेके समान कोमल और लाल थी । उनके माथेपर बनी हुई भूरे बालोंकी टेढ़ी रेखा ऐसी जान पड़ती थी जैसे लाल संध्याके माथेपर द्वितीयाका चन्द्रमा चढ़ आया हो ॥ ८३ ॥ अपना बछड़ा देखते ही उसके कुंडके समान बड़े-बड़े थनोंसे वह गरम-गरम दूध निकलकर पृथ्वीपर टपकने लगा जो यज्ञके पश्चात् किए हुए अवभृथ[1] स्नानके जलसे भी अधिक पवित्र था ॥ ८५ ॥ नन्दिनीके आते समय उसके खुरोंसे उठी हुई धूलके लगनेसे राजा दिलीप वैसे ही पवित्र हो गए जैसे किसी तीर्थमें स्नान करके लौटे हों । शकुन जाननेवाले तपस्वी वशिष्ठने जब उस गौको देखा, जिसके दर्शनसे ही पुण्य मिलता है, तब वे अपने यजमान उन राजा दिलीपसे बोले जो अपनी प्रार्थना सफल करानेके लिये वहाँ आए हुए थे ॥ ८६ ॥ 'देखो राजन् ! तुम्हारा मनोरथ

---

[1] अवभृथ-स्नान=यज्ञ पूर्ण हो चुकनेपर किया जानेवाला स्नान ।

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्। विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥८८॥
प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः। निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः।
वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात्। प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥९०॥
इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव। अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम्॥९१॥
तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः। आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥९२॥
अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम्। सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥९३॥
सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः। कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम्॥९४॥
निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
वशिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ॥

बहुत शीघ्र ही पूरा होगा क्योंकि यह कल्याण करनेवाली नन्दिनी, नाम लेते ही आ पहुँची है ॥ ८७ ॥ जैसे विद्यार्थी (सब सुखोंको छोड़कर) लगनसे पढ़कर विद्या प्राप्त कर लेता है वैसे ही यदि तुम भी (सब भोगोंको छोड़कर) कन्द-मूल-फल खाते हुए सदा इस गौकी सेवा करोगे तो वह भी तुमपर प्रसन्न होकर तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी करेगी ॥ ८८ ॥ जब यह चले तब तुम भी इसके पीछे-पीछे चलने लगना, जब खड़ी हो जाय तभी तुम भी खड़े हो जाना, जब यह बैठे तभी तुम भी बैठना और जब यह पानी पीने लगे तभी तुम भी पानी पीना ॥ ८९ ॥ तुम्हारी रानी सुदक्षिणाको चाहिए कि वे नित्य प्रातःकाल बड़ी भक्तिसे इसकी पूजा किया करें। जब यह वनको जाने लगे तब वे तपोवनके बाड़ेतक उसके पीछे-पीछे जाया करें और सायंकाल जब यह लौटे तब वहाँसे अगवानी करके उसे आश्रममें ले आया करें ॥ ९० ॥ जबतक यह गौ प्रसन्न न हो जाय तबतक तुम इसी प्रकार इसकी सेवा करते रहो; तुम्हें कोई बाधा न हो और जिस प्रकार तुम अपने पिताके योग्य पुत्र हो वैसा ही तुम्हें भी सुयोग्य पुत्र प्राप्त हो ॥ ९१ ॥ राजा दिलीप यह सोचकर मनमें बहुत प्रसन्न हुए कि संध्याके समय हवनकी अग्निके सामने बैठकर वशिष्ठजीने जो कुछ कहा है वह अवश्य सत्य होगा। तब बड़ी नम्रतासे उन्होंने वशिष्ठजीसे कहा कि 'हम ऐसा ही करेंगे' और यह कहकर उन्होंने और उनकी पत्नीने गुरुजीसे इस व्रतके लिये आज्ञा ले ली ॥ ९२ ॥ रात हो चली थी। विद्वान्, सत्यवक्ता, ब्रह्माके पुत्र वशिष्ठने राजा दिलीपको जाकर सोनेकी आज्ञा दे दी ॥ ९३ ॥ यद्यपि वशिष्ठ चाहते तो अपनी तपस्याके प्रभावसे ही राजा दिलीपके योग्य भोजन और सोनेका उचित प्रबन्ध कर सकते थे पर वे व्रतके नियमोंको जानते थे इसलिये उन्होंने राजाके व्रतके योग्य (कन्दमूलके भोजन और कुशकी चटाईका) ही प्रबन्ध किया था ॥ ९४ ॥ कुलपति वशिष्ठने जो पर्णकुटी बताई उसीमें राजा दिलीप ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए रानी सुदक्षिणाके साथ कुशाकी चटाईपर ही सो गए और प्रातःकाल ही जब वशिष्ठने अपने शिष्योंको वेद पढ़ाना प्रारम्भ किया तब उसकी ध्वनि कानमें पड़ते ही राजा दिलीप उठ बैठे ॥ ९५ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यका वशिष्ठके आश्रममें आगमन नामका पहला सर्ग पूरा हुआ ॥

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥
निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥
व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥
आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ ५ ॥
स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥
स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

दूसरा सर्ग

दूसरे दिन प्रातः काल रानी सुदक्षिणाने पहले-फूल-माला चन्दन लेकर नन्दिनीकी पूजा की, फिर जब नन्दिनीके बछड़ेने दूध पी लिया तब यशस्वी राजा दिलीपने उसे बाँध दिया और ऋषिकी गौको जंगलमें चरानेके लिये खोल दिया ॥ १ ॥ जिस मार्गसे नन्दिनी चली जा रही थी और उसके खुरोंसे उड़ी हुई धूल मार्गको पवित्र करती जा रही थी उसी मार्गमें नन्दिनीके पीछे-पीछे उस समयकी पतिव्रताओंमें सर्वश्रेष्ठ रानी सुदक्षिणा ठीक वैसे ही चली जा रही थी जैसे श्रुतिके पीछे-पीछे स्मृति चली जा रही हो ॥ २ ॥ कोमल हृदयवाले यशस्वी राजा दिलीपने आश्रमके द्वारपरसे ही रानी सुदक्षिणाको लौटा दिया और अपने आप उस नन्दिनीकी रक्षाके लिये चल पड़े जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो साक्षात् पृथ्वीने ही ऐसी गौका रूप धारण कर लिया हो जिसके चारों थन ही पृथ्वीके चार समुद्र हों ॥ ३ ॥ राजा दिलीपने केवल रानीको ही नहीं वरन् सब नौकर चाकरोंको भी लौटा दिया क्योंकि गौकी सेवाका व्रत तो उन्होंने ही ले रक्खा था । रही अपने शरीरकी रक्षाकी बात, उसके लिए उन्होंने किसी सेवककी आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि जिस राजाने मनुके वंशमें जन्म लिया हो वह अपनी रक्षा तो स्वयं अपने ही बलसे कर सकता है ॥ ४ ॥ सम्राट् दिलीप बड़ी लगनसे नन्दिनीकी सेवा करनेमें जुट गए । कभी तो वे उसे रसीली घासकी पूलियाँ खिलाते, कभी उसकी देह खुजलाते, कभी डाँस उड़ाते और जिधर भी वह जाना चाहती थी उधर उसे जाने देते ॥ ५ ॥ जब वह खड़ी होती तो राजा भी खड़े हो जाते, ज्योंही वह चलनेको पग बढ़ाती त्योंही वे भी चल पड़ते, वह बैठती तो ये भी बैठ जाते और जब वह जल पीनेकी इच्छा करती तभी राजाको भी प्यास लग आती । (बस यह समझिए कि) वे छायाके समान ही उसके पीछे-पीछे चले जा रहे थे ॥ ६ ॥ किसी मतवाले हाथीके माथेसे मदकी धारा न भी निकलती हो तो भी उसको देखते ही उसके तेजका अनुमान हो ही जाता है । (राजा दिलीपके साथ भी ठीक यही बात थी) । उन्होंने गौकी सेवाके व्रतके कारण यद्यपि (छत्र, चँवर आदि सब) राज-चिह्न और राजसी ठाट छोड़ दिए थे फिर भी उनका गठा हुआ शरीर

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥ ८॥
विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥ ९॥
मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन्वाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ १०॥
धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः॥ ११॥
स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ १२॥
पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे॥ १३॥
शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने॥ १४॥
संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥ १५॥

और मुखका तेज देखकर कोई भी कह सकता था कि ये सम्राट ही हैं ॥ ७ ॥ उनके सिरकी लटें जंगलकी लताओंके समान उलझ चली थीं। जब वे हाथमें धनुष् लेकर जंगलमें घूमते तब उन्हें देखकर ऐसा लगता मानो नन्दिनीकी रक्षा के बहाने वे जंगलके दुष्ट जीवोंको शान्त रहनेकी सीख दे रहे हों ॥ ८ ॥ मार्गके वृक्षोंपर अनेक मतवाले पक्षी चहचहा रहे थे। उनकी चहचहाहट सुनकर ऐसा जान पड़ता था मानो मार्गके वृक्ष, यह समझकर वरुणके समान तेजस्वी राजा दिलीपकी जय-जयकार कर रहे हों कि उनकी जय करनेवाला कोई भी सेवक उनके साथ नहीं है ॥ ९ ॥ (जब वृक्षोंने राजाका सत्कार किया तब वनकी लताएँ ही क्यों पीछे रहे)। इसलिये जिधर-जिधर राजा दिलीप जाते थे उधर-उधरकी लताएँ अग्निके समान तेजस्वी और पूजनीय राजा दिलीपके ऊपर उसी प्रकार फूलोंकी वर्षा करती चली जा रहीं थीं जिस प्रकार राजाके स्वागतमें नगरकी कन्याएँ राजाके ऊपर धानकी खीलें बरसाया करती हैं ॥ १० ॥ राजा दिलीपके हाथोंमें धनुष् देखकर भी हरिणियाँ डरी नहीं क्योंकि वे उन्हें देखते ही ताड़ गईं कि ये बड़े कोमल हृदयवाले हैं, (बाण न चलावेंगे।) राजा दिलीपके सुन्दर शरीरको वे इस प्रकार एकटक देखती रह गईं मानो नेत्रोंके बड़े होनेका उन्हें सच्चा फल प्राप्त हो गया हो ॥ ११ ॥ राजा दिलीप सुन रहे थे कि वन-देवता वनकी कुंजमें ऊँचे स्वरसे उनका यश गा रहे हैं। उन वन-देवताओंके गीतके साथ वे बाँस भी मधुर बाँसुरी बजाए चले जा रहे थे जिनके छेदोंमें वायु भर जानेके कारण उनमेंसे मधुर स्वर निकले पड़ रहे थे ॥ १२ ॥ पहाड़ी झरनोंकी ठंडी फुहारोंसे लदा हुआ और मन्द-मन्द कँपाए हुए वृक्षोंके फूलोंकी गन्धमें बसा हुआ वायु उन सदाचारी राजा दिलीपको ठंडक देता चला जा रहा था जिन्हें छत्र न होनेके कारण धूपसे कष्ट हो रहा था ॥१३॥ राजा दिलीप प्रजा-पालक थे इसलिये उनके जंगलमें पहुँचते ही वर्षाके बिना ही वनकी आग ठंडी हो गई, वहाँके पेड़ भी फल और फूलोंसे लद गए और वहाँके बड़े जीवोंने छोटे जीवोंको सताना भी छोड़ दिया ॥१४॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥
स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥
आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥
वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥
पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव संध्या ॥ २० ॥
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥
वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

उधर दिन ढलनेपर, नये पत्तोंकी ललाईके समान सूर्यकी ललाई चारों ओर फैलकर सब दिशाओंको पवित्र करके विश्राम करने लौट चली, इधर लाल रंगकी नन्दिनी भी अपने खुरोंके स्पर्शसे मार्गको पवित्र करती हुई तपोवनकी ओर लौट पड़ी ॥ १५ ॥ पृथ्वीका पालन करनेवाले राजा दिलीप भी वशिष्ठ ऋषिके यज्ञ, श्राद्ध, अतिथि-पूजा आदि धर्मके कामोंके लिये दूध देनेवाली उस नन्दिनीके पीछे-पीछे लौटते हुए ऐसे भले लग रहे थे जैसे ब्रह्माकी पुत्री श्रद्धाके साथ सदाचार शोभा दे रहा हो ॥ १६ ॥ राजा दिलीप देखते हुए चले जा रहे थे कि कहीं तो छोटे-छोटे तालाबोंमेंसे सूअरोंके झुंडके झुंड निकले जा रहे हैं, कहीं मोर अपने बसेरोंकी ओर उड़े जा रहे हैं, कहीं हरिण थककर हरी-हरी घासोंपर जा बैठे हैं और साँझ होमेसे वनकी सारी धरती धीरे-धीरे धुँधली पड़ती जा रही है ॥१७॥ नन्दिनी और दिलीप दोनों धीरे-धीरे चले जा रहे थे। नन्दिनी अपने थनके भारी होनेसे धीरे चल रही थी और राजा दिलीप भारी शरीर होनेके कारण धीरे चल रहे थे। उन दोनोंको वहाँ धीरे चलते देखकर तपोवनका मार्ग बस देखते ही बनता था ॥१८॥ जब साँझको राजा दिलीप नन्दिनीके पीछे-पीछे लौटे तब सुदक्षिणा अपलक नेत्रोंसे उन्हें देखती रह गई मानो उसकी आँखें राजा दिलीपका रूप पीनेको प्यासी बैठी हों ॥ १९ ॥ आश्रमके मार्गमें गौके पीछे राजा दिलीप थे और अगवानीके लिये रानी सुदक्षिणा खड़ी थीं। इन दोनोंके बीचमें वह लाल रंगवाली नन्दिनी ऐसी शोभा दे रही थी जैसे दिन और रातके बीचमें साँझकी ललाई हो ॥ २० ॥ पहले तो सुदक्षिणाने हाथमें अक्षत आदि सामग्री लेकर नन्दिनीकी पूजा करके उसकी प्रदक्षिणा की, फिर प्रणाम करके उसकी सींगोंके बीचमें माथेपर चन्दन-अक्षत लगाया क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि वह सींगोंका मध्य नहीं वरन् मेरी पुत्र-कामना पूरी करनेका द्वार ही है ॥ २१ ॥ यद्यपि नन्दिनी उस समय अपना बछड़ा देखनेके लिये बहुत उतावली थी फिर भी रानीसे पूजा करानेके लिये वह वहीं खड़ी हो गई। नन्दिनीका यह प्रेम देखकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि नन्दिनीके समान मनोरथ पूर्ण करनेवाले, यदि भक्तपर प्रसन्न हो जायँ तो समझ लो कि काम पूरा ही गया ॥ २२ ॥ गौकी पूजा हो चुकनेपर शत्रुओंके संहारक राजा दिलीपने पहले

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सांध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥ २३ ॥
तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥ २४ ॥
इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्त्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥
अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥
सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥
तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥
स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥
ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥ ३० ॥

वशिष्ठ और अरुन्धतीके चरणोंकी वन्दना की और फिर सन्ध्याके अपने नित्य कर्म पूरे किए। जब नन्दिनीका दूध दुह लिया गया और वह बैठ गई तब राजा दिलीप फिर उसकी सेवामें जा जुटे ॥ २३ ॥ प्रजापालक राजा दिलीप अपनी पत्नीके साथ बहुत देरतक नन्दिनीकी सेवा और पूजा करते रहे । जब वह सो गई तब ये दोनों भी सोने चले गए और ज्योंही वह सोकर उठी त्योंही इन दोनोंकी नींद भी खुल गई ॥ २४ ॥ इस प्रकार सन्तान-प्राप्तिके लिये अपनी पत्नीके साथ यह कठोर व्रत करते हुए दोनोंके रक्षक परम कीर्तिशाली राजा दिलीपके इक्कीस दिन बीत गए ॥ २५ ॥ तब नन्दिनीने मनमें सोचा कि मैं अपने सेवक राजा दिलीपकी परीक्षा क्यों न ले लूं कि ये सच्चे भावसे सेवा कर रहे हैं या केवल स्वार्थ भावसे। इसीलिये राजा दिलीप जब बाईसवें दिन उसे वनमें ले गए तब वह झट हिमालयकी उस गुफामें पैठ गई जिसपरसे गङ्गाकी धारा गिर रही थी और जिसके तटपर घनी हरी-हरी घास जमी खड़ी थी ॥ २६ ॥ राजा दिलीपने भी उधर जानेसे उसे नहीं रोका क्योंकि उन्हें विश्वास था कि नन्दिनीपर आक्रमण करनेकी बात कोई भी हिंसक जन्तु सोच ही नहीं सकता। इतनेमें गौको अचानक एक सिंह दबोच ही तो बैठा। उस समय राजा दिलीप पर्वतकी शोभा देख रहे थे इसलिये उन्हें दिखाई नहीं पड़ा कि सिंह उसे कब दबोच बैठा ॥२७॥ सिंहकी झपटसे नन्दिनी रँभाने लगी और उसकी ध्वनि गुफामें गूंज उठी। राजा दिलीप उस समय पर्वतकी शोभा निहारनेमें लगे हुए थे पर इस पुकारने उनकी दृष्टिको उसी प्रकार खींच लिया जैसे किसीने रस्सीसे बाँधकर पकड़ खींचा हो ॥ २८ ॥ धनुषधारी राजा दिलीपने देखा कि उस लाल गौपर बैठा सिंह ऐसा लग रहा है जैसे गेरूके पहाड़की ढालपर बहुतसे पीले फूलोंवाला लोधका पेड़ फूला खड़ा हो ॥ २९ ॥ उस समय सिंहके समान चलनेवाले शरणागत-रक्षक और बलपूर्वक शत्रुओंका संहार करनेवाले राजा दिलीप क्रोधसे लाल हो उठे और उन्होंने समझा कि यह सिंह मेरी शरणमें आई हुई गौको मारकर मेरा अपमान करना चाहता है।

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥
बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥
तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥
अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥
कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥
अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६ ॥
कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥
तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्तिः ॥ ३८ ॥

बस, झट उन्होंने उस सिंहको मारनेके लिये तूणीरसे बाण निकालनेको अपना हाथ फैला उठाया ॥३०॥ (कहाँ तो राजा दिलीप उस सिंहको मारने जा रहे थे और कहाँ यह हुआ कि) उनके दाहिने हाथकी उँगलियाँ उनके नखोंसे चमकनेवाले बाणोंके पंखोंसे जा चिपकीं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ने लगा जैसे बाण निकालनेके उनके प्रयत्न करनेका किसीने चित्र खींच धरा हो ॥ ३१ ॥ इसी प्रकार हाथ बँध जानेसे राजा दिलीप पास ही खड़े अपराधीपर प्रहार न कर सकनेके कारण क्रोधसे तमतमा उठे और अपने तेजसे भीतर ही भीतर उसी प्रकार जलने लगे जैसे मन्त्र और जड़ीसे बँधा हुआ साँप ॥३२॥ सज्जनोंके मित्र, मनुबंशके शिरोमणि और सिंहके समान पराक्रमी राजा दिलीप बड़े अचम्भेमें पड़ गए थे और जब वह सिंह मनुष्यकी बोलीमें बोल उठा तब तो उनके अचरजका ठिकाना नहीं रह गया ॥ ३३ ॥ सिंह बोला—'देखो राजन् ! तुम मुझे मारनेका कोई जतन मत करो क्योंकि मुझपर चलाया हुआ कोई भी अस्त्र व्यर्थ जायगा। देखो ! आँधीका जो झोंका वृक्षको जड़से उखाड़ फेंक सकता है वह पर्वतका कुछ भी नहीं बिगाड़ पा सकता ॥३४॥ (मुझे तुम कोई ऐसा-वैसा सिंह न समझ बैठना) मैं तो सर्वशक्तिशाली शंकरका कृपापात्र सेवक कुम्भोदर नामका गण हूँ और शिवके शक्तिशाली गण निकुम्भका मित्र हूँ। जब कैलास पर्वतके समान अपने धौले नन्दीपर शंकर चढ़ने लगते हैं तब अपने चरणोंसे पहले मेरी पीठ पवित्र करते हैं ॥ ३५ ॥ और यह जो तुम्हारे सामने बड़ा-सा देवदारुका पेड़ खड़ा दिखाई दे रहा है ! इसे शंकर अपने पुत्रके समान मानते हैं क्योंकि स्वयं पार्वतीने अपने सोनेके घट जैसे स्तनोंके रससे सींच-सींचकर इसे इतना बड़ा किया है ॥३६॥ (तुम जानते नहीं कि पार्वती इसे कितना प्यार करती हैं।) एक बार एक जंगली हाथी आकर इससे रगड़कर अपनी कनपटी खुजलाने लगा तो इसकी थोड़ी सी छाल छिल गई। बस, इतनेपर ही पार्वतीको वैसा ही शोक हो आया जैसा दैत्योंके बाणोंसे घायल स्वामिकार्तिकेयको देखकर हुआ था ॥ ३७ ॥ तबसे शंकरने जंगली हाथियोंको डरानेके लिये मुझे

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रविष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥
स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ ४० ॥
इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥
प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥
संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥
मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥
स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥
अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥ ४६ ॥
एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ ४७ ॥

यहाँ पहाड़की ढालपर रखवाला बनाकर रख छोड़ा है और मेरा पेट भरनेके लिये मुझे आज्ञा दे दी है कि यहाँ जो भी जीव आवे उसे मारकर खा लिया करो ॥३८॥ जैसे चन्द्रमाका अमृत राहुको मिलता है वैसे ही शिवकी कृपासे ठीक भोजनके समयपर यह गौ आ गई है और मेरे आजके भोजनके लिये यह बहुत है ॥३९॥ इसलिये अब तुम लाज छोड़कर घर लौट जाओ। तुमने यह तो दिखला ही दिया है कि तुम अपने गुरुके बड़े भक्त हो। पर जब किसी वस्तुकी रक्षा शस्त्रसे हो ही न सके तब शस्त्र धारण करनेवालेका न दोष होता न उसका अपयश होता' ॥ ४० ॥ सिंहकी ऐसी ढीठ बातें सुनकर जब राजाको पक्का विश्वास हो गया कि शंकरके ही प्रभावसे हम इसपर अस्त्र नहीं चला पा रहे हैं तब कहीं उनके मनकी आत्मग्लानि कुछ कम हो पाई ॥ ४१ ॥ एक बार जब इन्द्रने शिवपर वज्र चला दिया था तब शिवने केवल उनकी ओर देख भर दिया कि इन्द्र कठमारेसे हो गए थे, ठीक वही दशा दिलीपकी भी हो गई थी। बाण चलानेमें पहले-पहल विफल होनेवाले, हाथबँधे राजा दिलीपने सिंहसे कहा ॥४२॥ 'देखो सिंह ! हाथ बँध जानेसे मैं कुछ कर तो सकता नहीं इसलिये जो कुछ मैं कहूँगा उसकी सब खिल्ली ही उड़ायेंगे, फिर भी तुम सबके मनकी बात जानते हो, इसलिये मैं तुमसे ही यह कह रहा हूँ ॥४३॥ देखो ! जड़-चेतन सभी प्राणियोंको जन्म देनेवाले, पालन-पोषण करने वाले और संहार करनेवाले शिवका मैं बड़ा आदर करता हूँ। पर साथ ही मैं अग्निहोत्री गुरुके इस गौरूपी धनको भी अपनी आँखोंके आगे नष्ट होते नहीं देख सकता ॥४४॥ इसलिये तुम मुझे खाकर अपनी भूख मिटा लो और महर्षि वशिष्ठकी इस गौको छोड़ दो क्योंकि इसका नन्हाँ-सा बछड़ा साँझ हो आनेसे इसकी बाट जोह रहा होगा' ॥४५॥ यह सुनकर वह शिवका सेवक सिंह गुफाके अँधेरेमें अपने दाँतोंकी चमकसे उजाला करता हुआ कुछ हँसकर राजासे

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥ ४८ ॥
अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥ ४९ ॥
तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥
एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ ५१ ॥
निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥ ५२ ॥
क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥
कथं न शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥ ५४ ॥
सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥ ५५ ॥

बोला ॥४६॥ 'राजन् ! जान पड़ता है तुममें यह-तक सोचनेकी शक्ति नहीं बच रही है कि तुम्हें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, क्योंकि तुम एक साधारण-सी गौके पीछे इतना बड़ा राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोड़नेपर उतारू हो चले हो ॥४७॥ यदि केवल प्राणियोंपर दया करनेके विचारसे ही तुम ऐसा करना चाहते हो तो भी यह त्याग ठीक नहीं है; क्योंकि इस समय यदि तुम मेरा भोजन बनते हो तो केवल एक ही गौकी रक्षा हो पावेगी, पर यदि जीते रहोगे तो पिताके समान तुम अपनी पूरी प्रजाकी रक्षा कर पा सकोगे ॥४८॥ यदि तुम्हें गौके स्वामी और अग्निके समान तेजस्वी अपने गुरुसे डर लगता हो तो तुम उन्हें बड़े-बड़े थनोंवाली करोड़ों गौएँ देकर मना ले सकते हो ॥४९॥ देखो ! अभी तुम्हारे खेलने-खानेके दिन हैं । इसलिये तुम अपने बलवान् शरीरकी रक्षा किए रक्खो, क्योंकि विद्वानोंने कहा है कि सुख और समृद्धिसे भरा हुआ राज्य तो पृथ्वीपर ही स्वर्ग बन जाता है । उस स्वर्गसे इस स्वर्गमें इतना ही अन्तर होता है कि यह भूमिका स्वर्ग होता है और वह देवलोकका' ॥५०॥ जब इतना कहकर सिंह चुप हो गया तब पर्वतकी कन्दरासे भी सुनाई पड़नेवाली उसकी गूँज ऐसी जान पड़ रही थी मानो पर्वत भी प्रसन्न होकर सिंहकी ही बातोंका समर्थन कर रहा हो ॥५१॥ राजाने एक ओर तो सिंहकी बातें सुनीं और दूसरी ओर देखा कि सिंहके नीचे दबी हुई गौ कातर नेत्रोंसे रक्षाकी भीख माँग रही है । दयालु राजा दिलीपका जी भर आया और वे बोले—॥५२॥ 'देखो सिंह ! क्षत्रिय शब्दका अर्थ ही है कि वह दूसरोंको नष्ट होनेसे बचावे । यदि मैं यही काम नहीं कर पाया तो मेरा राज्य करना ही किस कामका और अपयश लेकर जीते रहना ही किस कामका ॥५३॥ क्या तुम समझते हो कि इसके बदलेमें दूसरी गौएँ देकर मैं महर्षि वशिष्ठको मना लूंगा ? यह हो नहीं सकता । इस गौको तुम पहचान नहीं रहे हो । यह किसी भी प्रकार कामधेनुसे कम नहीं है । आज शंकरका बल लेकर ही तुम इसे दबोच बैठे हो, नहीं तो तुममें इतनी शक्ति कहाँ धरी थी (कि तुम इसका बाल भी बाँका कर सकते) ॥५४॥ इसलिये अपना शरीर देकर भी मैं इसे छुड़ाऊँगा क्योंकि ऐसा करनेसे

भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥
किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥
संम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥
तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥ ५९ ॥
तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥
उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन्।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥
तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥ ६२ ॥
भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुधां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥

तुम्हारी भूख भी मिट जायगी और गौके न रहनेसे वशिष्ठकी जो यज्ञ-क्रियाएँ रुक जातीं, वे भी न रुकेंगी ॥५५॥ देखो भाई ! तुम भी दूसरेके सेवक हो और बड़ी लगनसे देवदारके वृक्षकी रक्षा कर रहे हो। तुम यह जानते होगे कि जिसकी रक्षाका भार सेवकको मिलता है यदि वह नष्ट हो जाय और सेवक जीता रह जाय तो बताओ वह अपने स्वामीके आगे कौन मुँह लेकर जा पायगा ॥५६॥ यदि तुम किसी भी कारणसे मुझ पर दया करना चाहते हो तो मेरे यशकी रक्षा कर लो, क्योंकि मुझ जैसे लोगोंको पञ्च-तत्त्वसे बने इस नश्वर शरीरका तनिक भी मोह नहीं होता ॥५७॥ देखो भाई ! बातचीत चलानेके नाते हम दोनों मित्र हो गए हैं, इसलिये शिवके सेवक ! अपने मित्रकी प्रार्थना तुम न ठुकराओ' ॥५८॥ यह सुनकर सिंह बोला—'अच्छा तो ठीक है, यही सही।' तत्काल दिलीपका हाथ खुल गया और राजा दिलीप अपने अस्त्र फेंककर मांसके पिंडके समान सिंहके आगे जा पड़े ॥ ५९ ॥ नीचा मुँह करके पड़े हुए राजा दिलीप यह सोच ही रहे थे कि अब सिंह मुझपर झपटनेवाला है कि इतनेमें ही प्रजा-पालक राजा दिलीपके ऊपर आकाशसे विद्याधरोंने फूलोंकी झड़ी लगा दी ॥ ६० ॥ इसी बीच अमृतके समान मीठे वचन सुनाई पड़े—'उठो बेटा !' राजा दिलीपने सिर उठाया और देखा कि आगे स्तनोंसे दूध टपकाती हुई माताके समान केवल नन्दिनी ही खड़ी है, सिंहका कहीं नाम भी नहीं है ॥ ६१ ॥ राजा दिलीप यह सब अचरज-भरी आँखोंसे देख ही रहे थे कि इतनेमें मनुष्योंकी बोली में नन्दिनी बोल उठी—'साधु ! मैंने ही यह माया रचकर तुम्हारी परीक्षा ली थी। वशिष्ठ ऋषिके प्रभावसे यमराज भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते फिर अन्य हिंसक जीवोंकी तो शक्ति ही क्या है ॥ ६२ ॥ देखो पुत्र ! तुमने जो अपने गुरुमें भक्ति और मुझपर दया दिखलाई है इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहो वर माँग लो। तुम मुझे केवल दूध देनेवाली साधारण गौमात्र न समझना। मैं प्रसन्न हो जाऊँ तो मुँह माँगा फल भी दे डाल सकती हूँ ॥ ६३ ॥ तब मँगतोंको मनचाहा दान देनेवाले और

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्ति सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥
संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥
वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥
इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥
तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥
स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥
प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दंपती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वशिष्ठः ॥ ७० ॥
प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

अपने पराक्रमसे वीर कहलानेवाले राजा दिलीपने हाथ जोड़कर यह वर माँगा कि मेरी प्यारी रानी सुदक्षिणाके गर्भसे ऐसा यशस्वी पुत्र हो जिससे सूर्यवंश बराबर बढ़ता चले ॥६४॥ नन्दिनीने सन्तान माँगनेवाले राजा दिलीपसे प्रतिज्ञा की कि मैं तेरी इच्छा पूर्ण करूँगी और यह आज्ञा दी कि तू एक दोनेमें मेरा दूध दुहकर पी जा ॥६५॥ राजा ने कहा—“माँ! मैं चाहता हूँ कि बछड़ेके पी चुकने और हवन-क्रियासे बच रहनेपर ही ऋषिकी आज्ञा लेकर मैं उसी प्रकार आपका दूध ग्रहण करूँ जैसे मैं राज्यकी रक्षा करके उसका छठा भाग ग्रहण करता हूँ” ॥६६॥ यह सुनकर तो नन्दिनी बहुत ही प्रसन्न हुई और राजाके साथ ही हिमालयकी उस कन्दरासे बिना थके ही आश्रमकी ओर लौट पड़ी ॥६७॥ निर्मल चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले राजाधिराज दिलीप जब वशिष्ठजीके पास पहुँचे तब उनका प्रसन्न मुख देखते ही वशिष्ठ पहलेसे ही सब बातें समझ गए। इसलिए राजाने जो समाचार सुनाया वह उन्हें ऐसा लगा मानो दुहराया जा रहा हो। गुरुसे कह चुकनेपर राजा दिलीपने यह समाचार सुदक्षिणासे भी कह सुनाया ॥६८॥ जब बछड़ा दूध पी चुका और हवन भी हो चुका तब सज्जनोंके प्यारे प्रशंसनीय राजा दिलीपने वशिष्ठकी आज्ञासे नन्दिनीका दूध ऐसे घुटक लिया मानो उन्हें बड़ी भारी प्यास लगी रही हो। उस दूधके उजलेपनका तो कहना ही क्या ! उसको देखकर ऐसा जान पड़ा मानो स्वयं उजला यश ही दूध बन चला आया हो ॥६९॥ दूसरे दिन प्रातःकाल जितेन्द्रिय वशिष्ठने समझ लिया कि गौकी सेवाका व्रत तो पूरा हो ही गया इसलिये उन्होंने राजा और रानी दोनोंको आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा मार्ग आनन्दसे कटे और उन्हें अयोध्याके लिये बिदा कर दिया ॥७०॥ बिदा लेते समय राजाने पहले हवन-कुण्डकी, फिर गुरु वशिष्ठकी, तब माता अरुन्धतीकी और सबसे पीछे बछड़ेके साथ बैठी हुई नन्दिनीकी परिक्रमा की। महर्षिके आशीर्वाद पानेसे उनका तेज और भी अधिक बढ़ गया ॥७१॥ सहनशील राजा दिलीप अपनी धर्मपत्नीके साथ जिस रथपर चढ़कर अयोध्याकी

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनैव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥
तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥
पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥
अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥ ७५ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

चले उसकी ध्वनि कानोंको बड़ी मीठी लग रही थी और वह ऐसा अच्छा था कि उसमें नामको भी हचक नहीं लगती थी । इसलिये उसपर सुखसे चढ़कर जाते हुए वे ऐसे लगते थे मानो वे अपने सफल मनोरथपर ही बैठे चले जा रहे हों, रथपर नहीं ॥७२॥ राजाको अयोध्यासे गए बहुत दिन हो गए थे इसलिये प्रजा उनके दर्शनके लिये तरसी पड़ रही थी । पुत्रकी उत्पत्तिके लिये जो उन्होंने व्रत लिया था उससे वे कुछ दुबले हो गए थे । अब इतने दिनों बाद लौटनेसे उनकी प्रजा उन्हें ऐसी एक टक होकर देखने लगी जैसे लोग द्वितीयाके चन्द्रमाके उदय होनेपर उसे ध्यानसे देखते हैं ॥७३॥ इन्द्रके समान सम्पत्तिशाली राजा दिलीपने प्रजाका आदर पाकर अपनी ऐसी अयोध्या नगरीमें प्रवेश किया जिसमें उनके स्वागतके लिये झंडे ऊँचे कर दिए गए थे । वहाँ पहुँचकर उन्होंने शेषनागके समान अपनी बलवती भुजाओंसे फिर राज-काज सँभाल लिया ॥ ७४ ॥ जैसे अत्रि ऋषिके नेत्रसे निकली हुई चन्द्रमारूपी ज्योतिको आकाशने धारण किया और जैसे स्कन्दको उत्पन्न करनेवाले शंकरजीके उस तेजको गंगाजीने धारण कर लिया जिसे अग्नि भी नहीं सँभाल सकी थी, वैसे ही रानी सुदक्षिणाने राजा दिलीपका वंश चलानेके लिये (आठों दिशाओंके) लोकपालोंके समान तेजस्वी पुरुषोंके तेजसे भरा हुआ गर्भ धारण कर लिया ॥ ७५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यका नन्दिनी-वर-प्रदान नामक
दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

* * *

॥ तृतीयः सर्गः ॥

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य संतते सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥
शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥
तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥ ३ ॥
दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा ॥ ४ ॥
न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधीः ।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोशलेश्वरः ॥ ५ ॥
उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेतभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥ ६ ॥
क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥

तीसरा सर्ग

धीरे-धीरे रानी सुदक्षिणाके शरीरमें उस गर्भके लक्षण दिखाई देने लगे जो राजा दिलीपकी इच्छा पूरी होनेका सन्देश दे रहे थे जिन्हें देख-देखकर रानीकी सखियोंके नेत्रोंको ऐसा सुख मिल रहा था मानो वे चाँदनी देखकर मगन हुई जा रही हों और जो इस बातके प्रमाण थे कि अब इक्ष्वाकु-वंश नष्ट नहीं हो पावेगा, बराबर चलता रहेगा ॥१॥ गर्भिणी होनेसे रानी बहुत दुबली पड़ गई थीं इसलिये उन्होंने अपने बहुतसे गहने अलग उतार धरे। उनका मुँह लोधके फूलके समान पीला पड़ गया और इस वेशमें वे पौ फटते समयकी उस रात जैसी लगने लगीं जब तारे थोड़े ही बचे रह जाते हैं और चन्द्रमा भी पीला पड़ जाता है ॥२॥ जैसे गर्मीके अन्तमें पहली बार वर्षा होनेसे जंगलके छोटे-छोटे तालोंकी मिट्टी सोंधी हो जाती है और हाथी उसे बार-बार सूँघते चलता है वैसे ही मिट्टी खानेसे रानी सुदक्षिणाका जो मुँह सोंधा हो गया था उसे एकान्तमें बार-बार सूँघकर भी राजा दिलीप अघा नहीं रहे थे। ॥३॥ रानी होकर भी सुदक्षिणाने सब पदार्थ छोड़कर मानो इसीलिये मिट्टी खाना आरम्भ किया कि भविष्यमें मेरा पुत्र भी सम्पूर्ण पृथ्वीपर उसी प्रकार राज करे जैसे स्वर्गपर इन्द्र राज करते हैं ॥४॥ राजा दिलीप समझते थे कि सुदक्षिणा बड़ी लजीली है और अपने मनकी बात हमें बताती नहीं है इसलिये वे बार-बार उसके पास रहनेवाली सखियोंसे ही पूछते रहते थे कि रानीको किन-किन वस्तुओंकी इच्छा होती है ॥५॥ गर्भिणी रानी सुदक्षिणाका जब जिस वस्तुपर मन चलना था वह उसी समय उन्हें मिल भी जाती थी क्योंकि धनुर्धर राजा दिलीपको तो स्वर्गकी भी वस्तुएँ मिल सकती थीं फिर इस लोककी वस्तुओंकी तो बात ही क्या था ! ॥६॥ धीरे-धीरे जब गर्भके प्रारम्भीक कष्ट बीत गए तब रानी वैसे ही हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर लगने लगी जैसे वसंत ऋतुमें लताएँ पुराने पत्ते गिराकर नये कोमल पत्तोंसे लदकर सुन्दर लगने लगती हैं ॥७॥ थोड़े ही दिनोंमें उसके बड़े-बड़े स्तनोंकी घुंडियाँ काली पड़ गई। इससे रानीके स्तन ऐसे सुन्दर लगने लगे कि उनकी शोभाके आगे कमलके जोड़ेपर बैठे हुए भौरोंकी शोभा भी

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥ ८ ॥
निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥
प्रियानुरागस्य मनः समुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसंपदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥ १० ॥
सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥ ११ ॥
कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभ(क)र्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥ १२ ॥
ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम ॥ १३ ॥
दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥ १४ ॥
अरिष्ठशय्यां पारितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥ १५ ॥

हार मान बैठी ।।८।। गर्भिणी रानी सुदक्षिणाको राजा दिलीप वैसी ही महत्त्ववाली समझते थे जैसी अमूल्य रत्नोंसे भरी हुई पृथ्वी, अपने भीतर अग्नि छिपाए रखनेबाला शमीका वृक्ष या भीतर ही भीतर जल बहानेवाली सरस्वती नदी ।।९।। राजा दिलीप जितना रानीको प्यार करते थे, जितनी उन्हें प्रसन्नता थी और जितना बड़ा उनका राज्य था उतने ही ठाट-बाटसे उन्होंने पुंसवन आदि संस्कार भी किए ।।१०।। जब धीरे-धीरे रानी सुदक्षिणाका वह गर्भ बढ़ने लगा जिसमें लोकपालोंके अंश भरे थे, तव उन्हें उठने-बैठनेमें भी कठिनाई होने लगी, इसलिये जब राजा रनिवासमें आते तब वे बडी कठिनाईसे उनके स्वागतके लिए उठ पातीं, उनको प्रणाम करनेके लिये जब वे हाथ जोड़तीं तो हाथ ढीले पड़ जाते और थकावटसे बारबार आँखोंमें आँसू आने लगते । इन बातोंको देख-देखकर राजा दिलीप बड़े प्रसन्न होते (क्योंकि वे समझते थे कि अब पुत्र होनेमें विलम्ब नहीं है) ।।११।। बच्चोंकी चिकित्सा करनेवाले बहुतसे चतुर वैद्य वे सब उपाय किए डाल रहे थे जिनसे गर्भिणी सुखसे बच्चा जनती है और गर्भ पुष्ट होता है । दसवें महीनेमें राजाने देखा कि शीघ्र ही पुत्रको जन्म देनेवाली रानी ऐसी लग रही है जैसे तत्काल बरसनेवाले बादलोंसे घिरा हुआ आकाश हो ।।१२।। जिस प्रकार राजा अपनी तीन साधनाओंवाली शक्ति (तेज, उत्साह और ठीक मन्त्रणा) से अचल सम्पत्ति पा लेता है वैसे ही इन्द्राणीके समान तेजवाली सुदक्षिणानें भी वह पुत्र उत्पन्न किया जिसके सौभाग्यशाली होनेकी सूचना वे पाँच शुभ ग्रह दे रहे थे जो उस समय उच्च स्थानपर थे और साथ में सूर्यके न होने से फल देनेमें समर्थ थे ।।१३।। बालकके उत्पन्न होनेके समय आकाश खुल गया, शीतल मन्द-सुगन्ध वायु चलने लगा और हवनकी अग्निकी लपटें दक्षिण-की ओर घूमकर हवनकी सामग्रियाँ लेने लगीं । सभी शकुन अच्छे हो रहे थे (और यह उचित भी था) क्योंकि ऐसे बालक तो संसारके कल्याणके लिये ही उत्पन्न होते हैं ।।१४।। उस भाग्यवान् बालकका तेज सौरी-घरमें चारों ओर इतना छाया हुआ था कि आधी रातके समय घरमें रक्खे

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम् ।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥ १६ ॥
निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम् ।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद्गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥ १७ ॥
स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥ १८ ॥
सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥ १९ ॥
न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥ २० ॥
श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥ २१ ॥
पितुः प्रयत्नात्स समग्रसंपदः शुभैः शरीरावयवैर्दिनेदिने ।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥ २२ ॥

हुए दीपोंका प्रकाश भी एकदम फीका पड़ गया और वे दीप ऐसे जान पड़ने लगे मानो चित्रमें
बने हुए हों ॥१५॥ झट अन्तःपुरके सेवकने राजा दिलीपको पुत्र होनेका समाचार आ सुनाया ।
यह सुनकर वे इतने प्रसन्न हुए कि छत्र और दोनों चँवरोंको छोड़कर (क्योंकि वे राजचिह्न थे);
शेष सब आभूषण उन्होंने उतारकर उसे दे डाले ॥१६॥ वे तत्काल भीतर गए और जैसे वायुके
रुक जानेपर कमल निश्चल हो जाता है वैसे ही वे एकटक होकर अपने पुत्रका मुँह देखने लगे ।
जैसे चन्द्रमाको देखकर महासमुद्रमें ज्वार आ जाता है वैसे ही पुत्रको देखकर राजाको इतना
अधिक आनन्द हुआ कि वह उनके हृदयमें समाए न समा पाया ॥१७॥ पुरोहित वशिष्ठने भी
यह शुभ समाचार पाकर तपोवनसे वहाँ आकर स्वभावसे ही सुन्दर उस बालकके सब जातकर्म
आदि संस्कार कर डाले । संस्कार हो जानेपर वह बालक वैसा ही सुन्दर लगने लगा जैसे खानसे
निकालकर खरादा हुआ हीरा ॥१८॥ वह बालक तो संसारका कल्याण करनेवाला था इसलिये
उसके जन्म लेनेपर केवल सुदक्षिणाके पति दिलीपके ही राजमन्दिरमें मनोहर बाजे और
वेश्याओंके नाच आदि उत्सव नहीं होने लगे थे वरन् स्वर्गमें देवताओंके यहाँ भी नाच-गान
होने लगा था ॥१९॥ (जब राजकुमारका जन्म होता है तब बन्दी-गृहोंसे बन्दी छोड़ दिए जाते
हैं पर राजा दिलीपके राज्यका ऐसा अच्छा प्रबन्ध था कि कोई अपराध ही नहीं करता था ।
इसलिये) राज्यमें कोई बन्दी ही नहीं था जिसे वे पुत्र-जन्मकी प्रसन्नतामें छोड़ते । इसलिये
उन्होंने यही समझा कि पुत्र न होनेसे जो मैं पितरोंके ऋणके बन्धनमें था उस बन्धनसे आज
मैं ही छूट गया हूँ ॥२०॥ (शब्दोंके ठीक) अर्थ पहचाननेवाले राजाने (रघि) धातुका
'जाना' अर्थ समझकर अपने पुत्रका नाम इसलिये रघु रक्खा कि यह सम्पूर्ण शास्त्रोंके पार पहुँच
जायगा और युद्धक्षेत्रमें शत्रुओंके व्यूहोंको तोड़कर उनके भी पार चला जायगा ॥२१॥ जैसे शुक्ल
पक्षकी प्रतिपदाका चन्द्रमा सूर्यकी किरणें पाकर दिन-दिन बढ़ने लगता है वैसे ही बालक रघुके अंग
भी सम्पत्तिशाली पिताकी देखरेखमें दिन-दिम बढ़ने लगे ॥२२॥ जैसे कार्तिकेयके समान पुत्रको
पाकर शंकर और पार्वतीको अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी और जयन्त-जैसे प्रतापी पुत्रको पाकर इन्द्र

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यया यथा जयन्तेन शचीपुरंदरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सवृशेन तत्समौ ॥ २३ ॥
रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ २४ ॥
उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ २५ ॥
तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥ २६ ॥
अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥ २७ ॥
स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ २८ ॥
अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ २९ ॥
धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥ ३० ॥

और शची प्रसन्न हुए थे वैसे ही उन दोनोंके ही समान तेजस्वी पुत्र पाकर राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी दोनों बड़े प्रसन्न हुए ॥२३॥ राजा और रानीमें चकवे और चकवीके समान बड़ा गाढ़ा प्रेम था। वह प्रेम यद्यपि एकमात्र पुत्र रघुपर जा बँटा था फिर भी उनके परस्पर प्रेममें कोई कमी नहीं हुई, उलटे वह बढ़ता ही गया ॥२४॥ जब बालक रघु कुछ बड़े हुए तब धायने उन्हें जो कुछ सिखाया उसे वे अपनी तोतली बोलीमें बोलने लगे, उसकी उँगली पकड़कर चलने लगे और सिर झुकाकर बड़ोंलो प्रणाम करना भी सीख गए। राजा दिलीप अपने पुत्रकी ये बाल-लीलाएँ देख देखकर फूले नहीं समाते थे ॥२५॥ जब राजा उसे गोदमें उठाते तब उसका शरीर छूनेसे ही उन्हें ऐसा जान पड़ता था मानो उनके शरीरपर अमृतकी फुहारें बरसी पड़ रही हों। उस समय आँखे बन्द करके वे बहुत देरतक यह आनन्द लेते ही रह जाते थे ॥२६॥ जैसे प्रजापति ब्रह्माने अपने सतोगुणवाले अंशसे विष्णुके प्रकट होनेपर यह समझ लिया कि अब हमारी सृष्टि अमर हो गई, वैसे ही मर्यादापालक दिलीपने भी समझ लिया कि रघुसे भी सूर्यवंश सदा चलता रहेगा ॥२७॥ मुण्डन-संस्कार हो जानेपर घने चंचल लटोंवाले तथा समान आयुवाले मंत्रियोंके पुत्रोंके साथ रघुने पहले वर्णमाला लिखना-पढ़ना सीखा और फिर शास्त्र तथा काव्यका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया मानो नदीके मुहानेसे होकर समुद्रमें पैठ गए हों ॥२८॥ यज्ञोपवीत हो चुकनेपर रघुको चतुर पण्डित लोग सब विद्याएँ भी पढ़ाने लगे। इसमें गुरुओंका सारा परिश्रम सफल हो गया क्योंकि चतुर शिष्यको जो शिक्षा दी जाती है वह अवश्य फलती ही है ॥२९॥ जैसे सूर्य अपने सरपट दौड़नेवाले घोड़ोंकी सहायतासे थोड़े ही समयमें चारों दिशाओंको पार कर लेता है वैसे ही बुद्धिमान् रघुने अपनी तीव्र बुद्धिकी सहायतासे शीघ्र ही चार समुद्रोंके समान विस्तृत (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दंडनीति ये) चारों विद्याएँ सीख लीं ॥३०॥ पवित्र रुरु मृगका चर्म पहनकर रघुने मंत्रयुक्त अस्त्रोंकी शिक्षा अपने पितासे ही प्राप्त की क्योंकि उनके पिता केवल

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥ ३१ ॥
महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ ३२ ॥
अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥ ३३ ॥
युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ ३४ ॥
ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥ ३५ ॥
नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंगीतम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥ २६ ॥
विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥
नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ ३८ ॥
ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ ३९ ॥

चक्रवर्ती राजा ही नहीं थे वरन् अद्वितीय धनुष् चलानेवाले भी थे ॥३१॥ जैसे गायका बछड़ा बड़ा होकर साँड़ हो जाता है और हाथीका बच्चा बढ़कर गजराज हो जाता है वैसे ही जब रघुने भी बचपन बिताकर युवावस्थामें पैर रक्खा तब उनका शरीर और भी खिल उठा ॥३२॥ राजाने गोदान-संस्कार करके उनका विवाह कर दिया। जैसे दक्षकी [अश्विनी आदि] कन्याएँ, चन्द्रमा जैसे पतिको पाकर प्रसन्न हुई थीं वैसे ही राजकुमारियाँ भी रघु जैसा प्रतापी पति पाकर प्रसन्न हो गईं ॥३३॥ युवावस्थाके कारण रघुकी भुजाएँ हलके जुएके समान दृढ़ और लम्बी हो गईं, छाती चौड़ी हो गई और कन्धे भारी हो गए। इस प्रकार डील-डौल बढ़ जानेके कारण रघु अपने बूढ़े पितासे भी ऊँचे और तगड़े लगने लगे; पर वे इतने नम्र भी थे कि उन्होंने कभी अपना वह बड़ापन प्रकट नहीं होने दिया ॥ ३४ ॥ जब राजा दिलीपने देखा कि शिक्षा आदि संस्कारोंसे रघु नम्र हो गए हैं और भली-भाँति राज्य सँभाल सकते हैं तब उन्होंने सोचा कि बहुत दिनोंसे जो राज्य मैं चला रहा हूँ उसे रघुको क्यों न सौंप दूँ। यह विचारकर उन्होंने रघुको युवराज बना दिया ॥३५॥ जैसे सुन्दरताकी देवी मुरझाए हुए कमलको छोड़कर नये कमलपर आ चढ़ती है वैसे ही राज्य-लक्ष्मी भी बूढ़े दिलीपको छोड़कर धीरे-धीरे रघुपर आ पहुँची ॥३६॥ जैसे वायुकी सहायतासे अग्नि, शरद् ऋतुके खुले हुए आकाशको पाकर सूर्य और मद बहनेके कारण हाथी प्रचंड हो जाता है वैसे ही प्रतापी रघुकी सहायतासे दिलीप भी इतने शक्तिशाली हो गए कि उनके शत्रु उनसे थरथर काँपने लगे ॥३७॥ इन्द्रके समान प्रभावशाली दिलीपने यज्ञके घोड़ेकी रक्षाका भार रघु और अन्य धनुर्धर राजकुमारोंको सौंपकर निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ बिना बाधाके पूरे कर डाले ॥३८॥ तब दिलीपने सौवाँ यज्ञ करनेके लिये अच्छा

विषादलुप्तप्रतिपत्तिविस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥
तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ ४१ ॥
स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसंभवः ।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥ ४२ ॥
शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः ।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ ४३ ॥
मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥
त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥ ४५ ॥
तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥ ४६ ॥
इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥

घोड़ा छोड़ दिया। इन्द्रको यह बात बहुत खटकी और उन्होंने अपनेको छिपाकर धनुषधारी रक्षकोंके देखते-देखते उस घोड़ेको पकड़ चुराया ॥ ३९ ॥ जब घोड़ेकी रक्षा करनेवाली रघुकी सेनाने देखा कि घोड़ा देखते देखते अदृश्य हो गया तब तो वे बड़े घबराए और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। ठीक उसी समय वहाँ वशिष्ठ ऋषिकी प्रभावशालिनी गौ नन्दिनी घूमती-घामती चली आई ॥ ४० ॥ सज्जनों-द्वारा सम्मानित रघुने तत्काल नन्दिनीका मूत्र अपनी आँखोंसे लगाया जिससे उन्हें उन सब वस्तुओंको देख सकनेकी शक्ति आ गई जो किसी भी इन्द्रियसे किसीको नहीं ज्ञान हो पातीं ॥ ४१ ॥ इस प्रकार दिव्य दृष्टि प्राप्त करके रघु देखते क्या हैं कि पर्वतोंके पंख काटनेवाले इन्द्र स्वयं उस घोड़ेको लिए चले जा रहे हैं और वह घोड़ा भी उनके रथके पीछे बँधा हुआ, तुड़ाकर भागनेका यत्न कर रहा है जिसे इन्द्रका सारथी बार-बार सँभाले जा रहा है ॥ ४२ ॥ रघुने आँख गड़ाकर देखा कि घोड़ा चुराकर ले जानेवालेके शरीरपर आँखें ही आँखें हैं, उन आँखोंकी पलकें भी नहीं गिरती हैं और उनके रथके घोड़े भी हरे-हरे हैं। बस रघुने समझ लिया कि हो न हो ये इन्द्र ही हैं और यह समझकर वे ऊँचे गंभीर स्वरसे इस प्रकार इन्द्रसे बोले मानो उन्हें लौटनेको ललकार रहे हों ॥ ४३ ॥ 'देवेन्द्र ! विद्वानोंका कहना है कि यज्ञका भाग सबसे पहले आपको ही मिलता है। मेरे पिता भी आप लोगोंके लिये ही यज्ञ कर रहे हैं फिर न जाने क्यों आप उसमें विघ्न डालनेपर तुले हुए हैं ॥४४॥ उलटे आपको तो चाहिए कि संसारमें जो कोई भी यज्ञमें विघ्न डाले उसे आप स्वयं दंड दें, क्योंकि आप तो तीनों लोकोंके स्वामी हैं; और जब स्वयं आप ही यज्ञमें विघ्न डालने लगेंगे तब तो संसारसे धर्म ही लुप्त हो जायगा ॥ ४५ ॥ इसलिये इन्द्रदेव ! आप मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञके लिये इस घोड़ेको छोड़ दीजिए। वेदका मार्ग दिखानेवाले महात्माओंको ऐसा ओछा काम करना शोभा नहीं देता' ॥ ४६ ॥ रघुके अभिमानभरे इन वचनोंको सुनकर इन्द्रको

यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥ ४८ ॥
हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ॥ ४९ ॥
अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य संततेः ॥ ५० ॥
ततः प्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ ५१ ॥
स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥ ५२ ॥
रघोरवष्टम्भमयेन पत्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥ ५३ ॥
दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥
हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ ५५ ॥

बड़ा आश्चर्य हुआ और अपना रथ लौटाकर वे बोले—॥ ४७ ॥ 'राजकुमार ! तुम जो कह रहे हो सब ठीक है। पर हम यशस्वियोंका यह भी कर्त्तव्य है कि जो अपनेसे होड़ करने चलें उनसे अपने यशकी भी रक्षा करें। मैंने सौ यज्ञ करनेका जो यश पाया है उसे तुम्हारे पिता मुझसे छीन लेना चाहते हैं ॥ ४८ ॥ देखो ! जिस प्रकार पुरुषोत्तम केवल विष्णु ही हैं, त्र्यम्बक केवल शंकर ही हैं वैसे ही मुनि लोग शतक्रतु (सौ यज्ञ करनेवाला) केवल मुझे ही कहते हैं। जिन नामोंसे हम लोग प्रसिद्ध हैं, वे नाम दूसरे नहीं रख सकते ॥४९॥ इसलिए जैसे कपिल मुनिने तुम्हारे पुरखे सगरके घोड़ेको हर लिया था वैसे ही मैंने भी तुम्हारे पिताके इस घोड़ेको हर लिया है। इसे छुड़ानेका तुम कोई प्रयत्न मत करो, नहीं तो जैसे कपिल मुनिके क्रोधसे सगरके साठ सहस्र पुत्र भस्म हो गए थे वैसे ही हमारे क्रोधसे तुम भी भस्म हो जाओगे' ॥५०॥ यह सुनकर अश्वके रक्षक रघुने निडर होकर हँसते हुए इन्द्रसे कहा—'यदि आपने यही निश्चय किया हो तो शस्त्र उठाइए और युद्ध कीजिये। रघुको जीते बिना आप घोड़ा लेकर नहीं जा सकते' ॥५१॥ यह कहकर रघुने धनुषपर बाण चढ़ाया और पैंतरा साधकर इन्द्रकी ओर मुँह उचकाकर खड़े हो गए। उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो इन्द्रसे युद्ध करनेके लिये स्वयं शंकर ही आ डटे हों ॥५२॥ रघुने खंभेके समान दृढ एक बाण इन्द्रकी छातीमें खींच ही तो मारा। इससे इन्द्र बड़े क्रोधित हो उठे और उन्होंने अपने धनुषपर ऐसा बाण चढ़ाया जिसका वार कभी चूकता नहीं। इन्द्रका वह धनुष इतना सुन्दर था कि थोड़ी देरके लिए उसने नये बादलोंमें इन्द्र-धनुष्-जैसे रंग भर दिए ॥५३॥ बड़े-बड़े राक्षसोंका रक्त पीनेवाले उस बाणने रघुकी छातीमें घुसकर वहाँका रक्त बड़े चावसे पीया क्योंकि उसे अभीतक कभी मनुष्यके रक्तका स्वाद तो मिल नहीं पाया था ॥५४॥ कार्तिकेयके समान पराक्रमी रघुने भी अपना नाम खुदा हुआ एक बाण इन्द्रकी उस बाईं भुजापर तड़ाकसे खींच मारा जिसकी उँगलियाँ ऐरावतको बार-बार थपथपानेसे कड़ी हो गई थीं और जिसपर शचीने कुंकुम आदिसे कुछ चित्र-

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥
तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः ॥ ५७ ॥
अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥ ५८ ॥
ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः ॥ ५९ ॥
स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ ६० ॥
रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥ ६१ ॥
तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥
असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥ ६३ ॥
ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
नरेन्द्रसुनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥

कारी भी कर दी थी ॥५५॥ फिर रघुने मोरके पंखवाले दूसरे बाणसे वज्र-जैसी इन्द्रकी ध्वजाको भी काट डाला। उससे इन्द्रको ऐसा क्रोध हुआ मानो किसीने बलपूर्वक देवताओंकी राज्य लक्ष्मीके सिरके बाल ही काट उतारे हों ॥५६॥ रघु और इन्द्र दोनों ही अपनी-अपनी जीत चाह रहे थे और दोनों ही सूर्यके समान तीखे बाणोंसे भयंकर युद्ध कर रहे थे। रघुको लक्ष्य बनाकर इन्द्र नीचेकी ओर अपने बाण चलाते थे और इन्द्रको ताक-ताककर रघु ऊपर बाण चला रहे थे। ऊपर देवता और नीचे रघुके सैनिक यह अचरज-भरा युद्ध बड़े आश्चर्यसे खड़े देख रहे थे ॥५७॥ जैसे घोर वर्षा करके बादल भी अपने हृदयमें उत्पन्न बिजलीको नहीं बुझा पाता वैसे ही इन्द्र भी अपने अंशसे पैदा हुए रघुको भी बाणोंकी वर्षासे नहीं हरा पा रहे थे ॥५८॥ तब रघुने अर्द्धचन्द्रके आकारके बाणसे इन्द्रकी कलाईके पास धनुषकी वह डोरी ही काट डाली जिसमेंसे बाण चलाते समय ऐसा प्रचण्ड शब्द होता था जैसे मथे जानेके समय क्षीर-समुद्रमें होता था ॥५९॥ धनुषकी डोरी कट जानेसे इन्द्र क्रोधसे लाल हो उठे। उन्होंने धनुषको तो दूर उठा फेंका और अपने प्रबल शत्रु रघुको मारनेके लिये पर्वतोंके पंख काटनेवाला अग्निके समान चमचमाता वज्र उठा चलाया ॥६०॥ उस वज्रके लगते ही रघु पृथ्वीपर जा गिरे। उनके गिरते ही उनके सैनिकोंने रोना-पीटना आरम्भ कर दिया। किन्तु क्षण भरमें ही जब वे सँभलकर उठ खड़े हुए तब उनके साथ ही उनके सैनिकोंकी जयजयकार भी आकाशसे गूँज उठी ॥६१॥ वज्रकी चोटसे क्षणभरमें सँभलकर रघु फिर लड़नेके लिये आ डटे। उनकी इस अद्वितीय वीरताको देखकर इन्द्रको बड़ा सन्तोष हुआ। ठीक भी था, क्योंकि गुणोंका आदर तो सर्वत्र होता ही है ॥६२॥ इन्द्रने कहा—'देखो राजकुमार! पर्वतोंके पंख काटनेवाले मेरे कठोर बज्रकी चोटको तुम्हें छोड़कर आज-तक कोई नहीं सह पाया। मैं तुम्हारी वीरतापर

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥ ६५ ॥
यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तदैव संदेशहराद्विशांपतिः श्रृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥
तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान्रघोर्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥ ६७ ॥
तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥ ६८ ॥
इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥
अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥

प्रसन्न हूँ । तुम इस घोड़को छोड़कर और जो कुछ मुझसे मांगना चाहो, माँग लो ॥६३॥ इन्द्रके ये वचन सुनकर रघुने तूणीरसे आधे निकले हुए उस बाणको फिरसे उसमें डाल दिया जिसके सुनहरे पंखकी चमकसे रघुकी उँगलियोंके नख भी चमक उठे थे और फिर वे इन्द्रसे बोले ॥६४॥ 'इन्द्रदेव ! यदि आप घोड़को नहीं देना चाहते हैं तो यही वरदान दीजिए कि मेरे पिता विधिपूर्वक यज्ञकी समाप्त करके इस घोड़के बिना ही सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका फल पा जायें ॥६५॥ लोकेश ! मेरे पिता यज्ञ-मंडपमें अष्टमूर्ति शिवके एक अंशके रूपमें बैठे हुए हैं अतः वहाँ इस समय हम लोगोंमेंसे कोई पहुँच नहीं सकता । इसलिये ऐसा उपाय कीजिए जिससे आपका ही कोई दूत जाकर उन्हें यह समाचार सुना आवे' ॥६६॥ इन्द्रने कहा—ठीक है, 'ऐसा ही होगा ।' यह कहकर जिस मार्गसे वे आए थे उसी मार्ग से लौट भी गए । सुदक्षिणाके पुत्र रघु भी अपने पिता राजा दिलीपकी यज्ञ-सभामें लौट आए । वे बड़े खिन्न थे क्योंकि इन्द्रसे युद्धमें जीतनेपर भी अश्वमेधका घोड़ा लौटा न पानेका उन्हें बड़ा दुःख था ॥६७॥ रघुके पहुँचनेके पहले ही इन्द्रके दूतने राजा दिलीपको सब वृत्तान्त सुना दिया था । इसलिये जब रघु वहाँ आए तब राजा दिलीपने उसकी बड़ी प्रशंसा की और जहाँ उन्हें वज्र लगा था वहाँ धीरे-धीरे सहलाने लगे ॥६८॥ इस प्रकार जिन दिलीपकी आज्ञा कोई टाल नहीं सकता था उन्होंने मानो स्वर्ग जानेके लिये निन्यानबे यज्ञोंकी सीढ़ी-सी बना ली थी ॥६९॥ तब संसारके सब विषय छोड़कर राजा दिलीपने अपने नवयुवक पुत्र रघुको शास्त्रोंके अनुसार छत्र, चँवर आदि राजचिह्न भी सौंप दिए और देवी सुदक्षिणाके साथ तप करनेके लिये जंगलकी राह ली क्योंकि इक्ष्वाकु-वंशके राजाओंमें यही परम्परा चली आई थी कि वे बूढ़े होनेपर जंगलमें जाकर तपस्या करने लगते थे ॥ ७० ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रघुका राज्याभिषेक
नामक तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ । दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥१॥
दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् । पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥२॥
पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः । नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥३॥
सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना । तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥४॥
छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् । पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥५॥
परिकल्पितसांनिध्या काले काले च बन्दिषु । स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥६॥
मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः । तथाप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुंधरा ॥७॥
स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः । आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥८॥
मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ । फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥९॥
नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम् । पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥१०॥
पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः । नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥११॥

चौथा सर्ग

जैसे साँझके सूर्यसे तेज लेकर आग चमक उठती है वैसे ही अपने पितासे राज्य पाकर रघु और भी तेजस्वी हो उठे ॥१॥ जब दूसरे राजाओंने सुना कि दिलीपके पीछे रघु राजा हो गए तब उनके हृदयमें वैरकी जो आग धीरे-धीरे सुलग रही थी वह मानो भड़क उठी ॥ २ ॥ राजा रघु जब अपने ऊँचे सिहासनपर बैठते थे तब उनकी प्रजाके सब बूढ़े-बच्चे उनकी ओर आँखें उठाकर देखते हुए वैसे ही प्रसन्न होते थे जैसे आकाशमें उठे हुए नये इन्द्रधनुषको देखकर लोग प्रसन्न हो उठते हैं ॥३॥ हाथीके समान मस्त चालसे चलनेवाले राजा रघुने पिताके सिंहासनपर और अपने शत्रुओंपर एक साथ अधिकार कर लिया ॥४॥ जब वे सिंहासनपर बैठते थे उस समय उनके चारों ओर प्रकाशका ऐसा घेरासा बन जाता था; जिसे देखकर ऐसा जान पडता था मानो लक्ष्मी स्वयं छिपकर उजलेसे कमलका छत्र लेकर उनके पीछे आ खड़ी हुई हों ॥ ५ ॥ समय-समयपर सरस्वती भी उनके चारणोंके कंठोंमें बैठकर अर्थभरा बिरद सुनाकर उन प्रशंसनीय राजा रघुका गुण गाती चलती थी ॥६॥ यों तो रघुसे पहले मनु आदि बहुतसे प्रतापी राजा पृथ्वीको भोग चुके थे पर रघुके हाथमें पहुँचकर वही पृथ्वी ऐसी नई जान पड़ने लगी मानो पहले-पहल रघुके ही हाथोंमें आई हो ॥७॥ जैसे वसंतका पवन बहुत शीत या बहुत गरम न होनेके कारण सबको भाता है वैसे ही रघु भी (न तो अधिक कठोर थे न अधिक कोमल) जो जैसा अपराध करता था उसको वैसा ही दंड देते थे। इस प्रकारके न्यायसे उनकी प्रजा भी उनसे बड़ी प्रसन्न थी ॥८॥ और जैसे आमका सुन्दर फल देखकर लोग उसके बौरको भूल जाते हैं वैसे ही रघुमें राजा दिलीपसे अधिक गुण देखकर लोग दिलीपको भूल गए ॥९॥ नीति जाननेवाले मंत्रियोंने यद्यपि रघुको सरल और कुटिल दोनों प्रकारकी नीतियोंसे राज्य चलानेकी विधियाँ सिखायी थीं, किन्तु उस धर्मात्मा राजाने सीधी नीतिको ही अपनाया, टेढ़ी नीतिको छोड़ दिया ॥१०॥ रघुके सिंहासनपर बैठते ही जलकी मिठास अधिक हो गई, फूलोंकी सुगन्ध बढ़ गई और [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु; आकाश इन] पाँचों तत्त्वोंके गुण भी बढ़ने लगे। ऐसा जान पड़ने लगा मानो नये राजाको पाकर

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा। तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥१२॥
कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने। चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना॥१३॥
लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता। पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा॥१४॥
निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः। प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः॥१५॥
वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ। प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ॥१६॥
पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः। ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम्॥१७॥
प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे। तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः॥१८॥
हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु। विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव॥१९॥
इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्। आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥२०॥
प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः। रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः॥२१॥
मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः। लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम्॥२२॥
प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः। असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः॥२३॥

सभी वस्तुएँ नई ही हो चली हों ॥११॥ जैसे सबको आनन्द देकर चन्द्रमाने अपना 'चन्द्र' नाम सार्थक कर दिया और सबको तपाकर सूर्यने अपना 'तपन' नाम सार्थक किया, वैसे ही रघुने भी प्रजाका रंजन करके, उन्हें सुख देकर अपना 'राजा' नाम सार्थक कर दिया ॥१२॥ यद्यपि रघुके नेत्र कानों-तक फैले हुए और बहुत बड़े-बड़े थे पर इन्हें अधिक भरोसा अपने उस शास्त्र-चक्षुपर था जिससे वे सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातको भी झट समझ जाते थे ॥१३॥ जब रघुने अपने राज्यमें शान्ति स्थापित कर ली और उनका चित्त ठिकाने हुआ तभी दूसरी राज्य लक्ष्मीके समान वह शरद् ऋतु आ गई जिसमें चारों ओर सुन्दर कमल खिल उठे थे ॥१४॥ जैसे वर्षा वर्षा बीत चुकने और बादल छँट जानेपर खुले आकाशमें चमकने वाले प्रचण्ड सूर्यका प्रकाश चारों ओर फैल गया था वैसे ही शत्रुओंके नष्ट हो जानेपर रघुका प्रचंड प्रताप भी चारों ओर फैल गया ॥१५॥ जब इन्द्रने अपना वर्षा-ऋतुवाला इन्द्र-धनुष हटा लिया तब रघुने अपना विजयी धनुष हाथमें उठा लिया क्योंकि ये दोनों ही बारी-बारीसे प्रजाकी भलाई किया करते रहते थे ॥१६॥ शरद-ऋतु भी रघुके छत्र और चँवरको देखकर कमलके छत्र और फूले हुए कांसके चँवर लेकर रघुसे होड़ तो करने चली, पर सब इतना कुछ करने पर भी वह उनकी शोभा नहीं ही पा सकी ॥१७॥ शरद्-ऋतुमें रघुके खिले हुए मुख और उजले चन्द्रमा दोनोंको देखकर दर्शकोंको एक-सा आनन्द मिलता था ॥१८॥ उजले हंसोंकी उड़ती हुई पाँतों, रातको छिटके हुए टिमटिमाते तारों और तालोंमें खिली हुई कोईको देखकर जान पड़ता था कि रघुकी कीर्ति ही इतने रूप बनाकर आ फैली है ॥१९॥ (प्रजाको वे इतने प्यारे थे कि) धानके खेतोंकी रखवाली करनेवाली किसानोंकी स्त्रियाँ भी ईखकी छाया में बैठकर प्रजापालक राजा रघुकी बचपनसे तबतककी गुणकथाओंके गीत बना-बनाकर गाती रहती थीं ॥२०॥ इधर तो चमकीले अगस्त्य तारे के निकलनेसे जल निर्मल हो गया, उधर शत्रुओंके मनमें यह जानकर खलबली मच गई कि अब न जाने कब रघु हमपर चढ़ाई कर बैठें ॥२१॥ उस ऋतुमें ऊँचे-ऊँचे कंधोंवाले मतवाले साँड़ नदियोंके कगार ढाते हुए ऐसे लगते थे मानो वे रघुके लड़कपनके खेलोंका अनुकरण कर रहे हों ॥२२॥ (शरद ऋतुमें चारों ओर) छतिवनके जो फूल फूले हुए थे उनकी मद भरी गन्ध पाकर (रघुके हाथियों ने सोचा कि ये भी हाथी हैं और हमसे होड़ करके मद बहा रहे हैं। इसलिये वे भी) रीसके मारे अपनी सूँड़के नथनोंसे, दोनों कपोलोंसे, कमरसे और दोनों आँखोंसे

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान्। यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत्॥२४॥
तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ। प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ॥२५॥
स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः। षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया॥२६॥
अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः। पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम्॥२७॥
स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा। अहितानिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः॥२८॥
रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः। भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम्॥२९॥
प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्। ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः॥३०॥
मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः। विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः॥३१॥
स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम्। बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः॥३२॥
त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः। तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः॥३३॥
पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी। प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः॥३४॥

मद बहाने लगे ॥२३॥ शरद्‌के आते ही नदियोंका पानी भी उतर गया और मार्गका कीचड़ भी सूख गया, मानो शरद् ऋतुने रघुके सोचनेसे पहले ही उन्हें दिग्विजय करनेको उकसा दिया हो ॥२४॥ यात्राके लिये चलनेसे पहले घोड़ोंकी पूजाके लिये जो हवन होने लगा था उस अग्निकी लपटें भी दाहिनी ओर घूमती हुई उठ रही थीं मानो अपने हाथ उठा-उठाकर रघुको पहलेसे ही विजय दिए डाल रही हों ॥२५॥ सौभाग्यशाली रघुने पहले राजधानी और सीमाके गढ़ोंकी रक्षाका प्रबन्ध किया, फिर शुभ मुहूर्तमें (घुड़सवार, हाथी, रथ, पैदल, गुप्तचर और शत्रुके राज्यके मार्गको जाननेवालों की) छह प्रकारकी सेनाओंको लेकर वे विजयके लिए निकल पड़े ॥२६॥ जैसे मन्दराचलसे मथते समय क्षीरसागरकी लहरोंकी उछलती हुई उजली फुहारें विष्णु भगवान्‌पर बरसी पड़ रही थीं वैसे ही नगरकी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंने विजय-यात्राके लिये जाते हुए रघुके ऊपर धानकी खीलें उछाल बरसाईं॥२७॥ इन्द्रके समान प्रतापी राजा रघु दिग्विजयके लिये पहले पूर्वकी ओर चले। वायु लगनेसे सेनाकी जो झंडियाँ फरफरा रही थीं वे मानो शत्रुओंको उँगली उठाकर डाँटे जा रही थीं ॥२८॥ रघुके रथोंके चलनेसे जो धूल ऊपर उड़ी उसने आकाशको पृथ्वी बना दिया। इधर पृथ्वीपर चलती हुई सेनाके जो काले-काले बादल जैसे हाथी लगरहे थे उनसे पृथ्वी भी आकाश जैसी लगने लगी थी ॥२९॥ (रघुका प्रताप इतना अधिक था कि सेनाके पहुँचनेसे पहले ही शत्रु काँप जाते थे।) इस प्रकार आगे-आगे उनका प्रताप चलता था, पीछे उनकी सेनाका कोलाहल सुनाई पड़ता था, तब धूल उड़ती दिखाई देती थी और सबसे पीछे रथ आदिकी सेना चलती आती हुई ऐसी लगती थी मानो रघुकी सेना चार भागोंमें बँटी हुई चली आ रही हो ॥३०॥ रघुके पास ऐसे साधन थे कि मरुभूमिमें भी जलकी धाराएँ बहने लगीं, गहरी नदियोंपर पुल बँध गए और घने जंगलोंमें खुले मार्ग बन गए ॥३१॥ अपनी विशाल सेनाके साथ पूर्वी समुद्रकी ओर बढ़ते जाते समय वे ऐसे लग रहे थे मानो शंकरकी जटासे निकली हुई गंगाको साथ लिये हुए भगीरथ (पूर्वी समुद्रकी ओर) चले जा रहे हों ॥३२॥ जैसे कोई बलवान् जंगली हाथी किसी वृक्षको तो केवल धक्का मारकर छोड़ देता है, किसीको उखाड़ फेंकता है और किसीको तोड़ देता है वैसे ही रघुने भी किसी राजासे तो कर लेकर उसे छोड़ दिया, किसीका राज्य उखाड़ फेंका और किसीको लड़ाईमें ध्वस्त कर डाला। इस प्रकार शत्रुओंका नाश करके उन्होंने अपने मार्गके सब रोड़े दूर कर डाले ॥३३॥ विजयी राजा रघु पूर्वी राज्योंको जीतते हुए उस समुद्रके किनारे जा पहुँचे जो ऊपर खड़े हुए ताड़के वृक्षोंकी छाया पड़नेसे काला दिखाई पड़ने लगा था ॥३४॥ जैसे बैतकी

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव। आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम्।३५।
वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्। निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः॥३६॥
आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्। फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥३७॥
स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः। उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ॥३८॥
स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत्। अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः॥३९॥
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः। पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः॥४०॥
द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम्। सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम्॥४१॥
ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः। नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥४२॥
गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः। श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥४३॥
ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना। अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ॥४४॥
स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना। कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत्॥४५॥
बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः। मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः॥४६॥

शाखाएँ नदीकी धारामें झुककर भी खड़ी रह जाती हैं वैसे ही सुह्म देशके राजाओंने चुपचाप कान दबाकर अभिमानियोंको उखाड़ फेंकनेवाले रघुकी अधीनता मानकर अपने प्राण बचा लिए ॥३५॥ फिर सेनानायक रघुने उन बंगाली राजाओंको जा हराया जो जलसेना लेकर लड़ने आ पहुँचे थे। उन्हें जीतकर रघुने गङ्गासागरके द्वीपोंमें अपने विजयका झंडा जा गाड़ा ॥३६॥ (जैसे एक खेतसे उखाड़ उखाड़कर दूसरे खेतमें ले जाकर रोपे हुए) धानके पौधे किसानका घर अन्नसे भर देते हैं वैसे ही रघुने उन राजाओंको फिर राजपर बैठा दिया जो उनके पैरोंपर आ गिरे थे और जिन्होंने बहुतसा धनधान्य भेंटमें देकर रघुका राज्यकोष बढ़ा दिया था ॥३७॥ वहाँसे चलकर रघुने हाथियोंका पुल बनाकर अपनी पूरी सेना कपिशा नदीसे पार कर दी। वहाँके उड़ीसाके राजाओंने अधीनता तो स्वीकार की ही साथ ही आगेका मार्ग भी बता दिया और कलिङ्ग देश जीतनेके लिये रघु आगे बढ़ गए ॥३८॥ जैसे मतवाले हाथीके माथेमें हाथीवान् अंकुश जमाता है वैसे ही रघुने भी महेन्द्र पर्वतपर पहुँचकर उसकी चोटीपर अपना पड़ाव जा जमाया ॥३९॥ जैसे पत्थर बरसानेवाले पहाड़ने पत्थर बरसाकर पर्वतोंके पंख काटनेवाले इन्द्रका सामना किया था वैसे ही कलिङ्ग-नरेशने हाथियोंकी सेना लेकर और अस्त्र बरसाकर रघुका सामना किया ॥४०॥ जैसे तीर्थोंके जलसे स्नान कराकर राजाओंका राज्याभिषेक होता है और उन्हें राज्य-लक्ष्मी मिलती है वैसे ही रघुने भी शत्रुओंके बाणोंकी वर्षासे स्नान करके विजय पा ली। ४१॥ लड़ाई हो चुकनेपर रघुके वीर सैनिकोंने महेन्द्र पर्वतपर पानके पत्ते बिछा बिछाकर मदिरालय बना लिया जहाँ नारियलकी मदिराके साथ-साथ मानो उन्होंने शत्रुओंका यश भी पी डाला हो ॥४२॥ राजा रघु तो धर्म-युद्ध करते थे इसलिये उन्होंने महेन्द्र पर्वतके राजाको बन्दी तो बना लिया पर जब उसने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली तब उसे छोड़ भी दिया। इस प्रकार उन्होंने महेन्द्रके राजाकी राज्यश्री तो ले ली पर राज्य उन्हींको लौटा दिया ॥४३॥ पूर्व दिशाको जीतकर विजयी रघु समुद्रके उस तटपर होते हुए दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गए जिसपर पकी हुई सुपारियोंके पेड़ लगे हुए थे ॥४४॥ जब वे कावेरीके तटपर पहुँचे तब राजा रघुके सैनिकोंने जी भर नहा नहाकर जलको मथ डाला। फिर हाथियोंके नहानेसे तो जलमें मदकी कसैली गन्ध भी आने लगी। इस प्रकार कावेरी नदीकी उन्होंने ऐसी दुर्गति कर दी कि अपने पति समुद्रके पास जानेपर समुद्रको उसके चरित्रमें सन्देह होने लगे ॥४५॥ वहाँसे चलते-चलते वे बहुत दूर निकल गए और विजय चाहनेवाले रघुके सैनिक मलयाचलकी उस तराईमें जा उतरे जहाँ काली मिर्चकी झाड़ियोंमें

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः। तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥४७॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्। नास्त्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि ॥४८॥
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि। तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥४९॥
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः। ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥५०॥
स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ। स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता। नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥५२॥
तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः। रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥५३॥
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्। अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥५४॥
मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः। तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥५५॥
अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः। वर्मभिः पवनोद्धतराजतालीवनध्वनिः ॥५६॥
खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु। कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः ॥५७॥
अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यर्थितो ददौ। अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥५८॥
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम्। त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥५९॥

हरे-हरे सुग्गे इधर-उधर उड़ रहे थे ॥४६॥ वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए लौंगके बीज, घोड़ोंकी टापोंसे पिसकर वायुके सहारे हाथियोंके उन गालोंपर जा चिपके जहाँ उन्हींके गन्ध-जैसी मदका गन्ध निकल रहा था ॥४७॥ सदा साँपोंसे लिपटे रहनेसे वहाँके चन्दनके पेड़ोंके चारों ओर गहरी धारियाँ बन गई थीं जिनमें बँधे हुए रस्सोंको वे हाथी भी न तोड़ पा सके जो पैरकी साँकलोंतकको झटकेसे तोड़ डालते थे ॥४८॥ दक्षिण दिशामें जानेपर महाप्रतापी सूर्यका तेज भी मन्द पड़ जाता है पर रघुका तेज इतना प्रबल था कि वहाँके पांड्य राजा भी उनके आगे न ठहर सके ॥४९॥ दक्षिणके पांड्य राजाओंने ताम्रपर्णी और समुद्रके संगमसे जितने मोती बटोरे थे वे सब उन्होंने रघुको ऐसे उठा सौंपे मानो अपना बटोरा हुआ यश ही उन्हें दे डाला हो ॥५०॥ उन्हें जीतकर महाप्रतापी रघुने उन मलय और दर्दुर नामकी पहाड़ियोंपर बहुत दिनों-तक पड़ाव डाले रक्खा जिनपर चन्दनके पेड़ लगे होनेसे वे ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो चन्दनसे पुते हुए दक्षिण दिशाके दो स्तन हों ॥५१॥ फिर वे सह्यकी उस पहाड़ीको पार करके आगे बढ़ गए जो जो समुद्रके दूर हट जानेसे ऐसी दिखाई पड़ती थी मानो वह पृथ्वीका ऐसा नितंब हो जिसपरसे कपड़ा सरक गया हो ॥५२॥ यद्यपि परशुरामने अपने फरसेसे ही समुद्रको सह्य पर्वतसे दूर हटा दिया था फिर भी उसके पाससे जाती हुई रघुकी सेना ऐसी लगती थी मानो समुद्र फिर सह्याद्रिके पास ही लहरें लेने लगा हो ॥५३॥ रघुके भयसे केरल देशकी जो स्त्रियाँ साज-सिंगार छोड़कर घरसे भाग खड़ी हुई थीं उनके बालोंपर रघुकी सेनाके चलनेसे उठी हुई धूल जा बैठी थी वह ऐसी लगती थी मानो उनपर कस्तूरीका चूरा लगा हुआ हो ॥५४॥ मुरला नदी-की ओरसे आनेवाले वायुके कारण जो केवड़ेके फूलोंका पराग उड़ रहा था वह सैनिकोंके कवचोंपर जमकर बिना यत्नके ही सुगन्धित चूर्णका काम देने लगा था ॥५५॥ चलते समय घोड़ोंके शरीरपरके कवच ऐसे ऊँचे स्वरसे खनखना रहे थे कि वायुके चलनेसे जो बड़े-बड़े ताड़के पेड़ोंमेंसे ध्वनि निकल रही थी वह भी उसके आगे दब गई ॥५६॥ नागकेसरके फूलोंपर बैठे हुए भौंरोंको जैसे ही खजूरके तनोंसे बँधे हुए हाथियोंके कपोलोंसे टपकते हुए मदकी गन्ध मिली कि वे उन्हें छोड़कर इनपर ही आ टूटे ॥५७॥ पच्छिमके राजाओंने रघुके अधीन होकर उन्हें कर दिया था वह मानो उन्होंने नहीं वरन् उस प्रतापी समुद्रने ही कर दिया हो जिसने बहुत प्रार्थना करनेपर परशुरामको थोड़ी सी भूमि दे दी थी ॥५८॥ वहाँ रघुके मतवाले हाथियोने अपने दाँतोंकी चोटोंसे त्रिकूट पर्वतपर जो रेखाएँ

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥
यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः। बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥६१॥
संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः। शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥६२॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्। तस्तार सरघाव्याप्तैः सक्षौद्रपटलैरिव ॥६३॥
अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः। प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥६४॥
विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्। आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥६५॥
ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्। शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् सानिव ॥६६॥
विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः। दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्।६७।
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्। कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥६८॥
काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः। गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥६९॥
तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः। उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ।७०॥
ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः। वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥७१॥

बना दी थीं उनसे वह पर्वत ऐसा लगने लगा था मानो वह रघुकी विजयका स्मरण दिलानेवाला ऐसा जयस्तम्भ हो जिसपर रघुकी विजय-कथा लिखी हुई हो ॥५९॥ जैसे कोई योगी इन्द्रिय-रूपी शत्रुओंको जीतनेके लिये तत्त्वज्ञानका सहारा ले लेता है वैसे ही रघुने भी पारसी राजाओंको जीतनेके लिये स्थल-मार्ग जा पकड़ा ॥६०॥ जैसे असममें उठे हुए बादलोंसे प्रभातकी धूपमें खिले हुए कमलोंकी चमक जाती रहती है वैसे ही रघुके अचानक आक्रमणसे मदिरासे लाल गालोंवाली यवनियोंके मुख-कमल मुरझा गए ॥६१॥ वहाँ पश्चिम देशके घुड़सवार राजाओंसे रघुकी जो घनघोर लड़ाई हुई उसमें सेनाके चलनेसे इतनी धूल उड़ी कि आस-पास कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा था, केवल धनुषकी टङ्कारसे ही सैनिक लोग शत्रुको पहचान पा रहे थे ॥६२॥ मधुमक्खियोंसे भरे हुए छत्तेके समान दाढ़ियोंवाले यवनोंके सिरोंको भल्ल नामके बाणोंसे काट काटकर रघुने सारी पृथ्वी पूरी पाट भरी ॥६३॥ उनमेंसे जो जीते बच गए उन्होंने अपने लोहेके टोप उतारकर रघुके चरणोंमें जा रक्खे क्योंकि महापुरुषोंकी कृपा प्राप्त करनेका यही उपाय है कि उनकी शरणमें पहुँच जाया जाय। ६४॥ दाखकी लताओंसे घिरी हुई पृथ्वीपर सुहावनी मृगछालाएँ बिछा-बिछाकर रघुके सैनिक चैनसे जा बैठे और मदिरा पी पीकर लड़ाईकी थकावट मिटाने लगे ॥६५॥ जैसे सूर्य अपनी तीखी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचनेके लिये उत्तरकी ओर घूम जाता है वैसे ही रघु भी उत्तरके राजाओंको जीतनेके लिये उधर घूम पड़े ॥६६॥ सिन्धु नदीके तटपर पहुँचकर रघुके घोड़े, वहाँकी रेतीमें लोट-लोटकर अपनी थकान मिटाने लगे। वहाँ लोटनेसे उनके शरीरमें जो कुंकुमकी केसर लग गई थी उसे उठ उठकर उन्होंने हिला हिलाकर झाड़ गिराया ॥६७॥ वहाँ रघुने अपने प्रचण्ड पराक्रमसे जिन हूण राजाओंको मार डाला था उनकी स्त्रियाँ इतना सिर पीट-पीटकर रोईं कि उसके गाल लाल हो उठे ॥६८॥ कंबोज या काबुलके राजा भी लड़ाईमें रघुके आगे नहीं टिक पाए। हाथियोंके बाँधनेसे जैसे वहाँकी अखरोटकी डालियाँ झुक गई थीं वैसे ही वे राजा भी रघुके आगे आ झुके ॥६९॥ कंबोजके हारे हुए राजाओंने रघुको जो बहुतसे घोड़े और बहुतसा धन दिया वह धन पाकर भी रघुको अभिमान नहीं हुआ ॥७०॥ वहाँसे वे अपने घोड़ोंकी सेना लेकर हिमालय पहाड़पर जा चढ़े मानो अपने घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई गेरू आदि धातुओंकी लाल लाल धूलसे हिमालयकी चोटियोंको और भी ऊँचा किए डालना चाहते हों ॥७१॥ सैनिकोंके समान ही बलवान् सिंह,

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम्। गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥७२॥
भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः। गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥७३॥
विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः। दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥७४॥
सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः। आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥७५॥
तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः। गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥७६॥
तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत्। नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥७७॥
शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान्। जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥७८॥
परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु। राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥७९॥
तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः। पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥८०॥
चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः। तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥८१॥
न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम्। रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥८२॥
तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम्। भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥८३॥
कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम्। रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥८४॥

गुफाओंमें लेटे लेटे आँखें घुमा-घुमाकर रघुकी सेनाको देखे तो जा रहे थे पर उनकी सेनाके कोलाहलसे वे मनमें तनिक भी घबरा नहीं रहे थे ॥७२॥ वहाँ भोजपत्रोंमें मर्मर करता हुआ, कीचक नामके बाँसोंके छेदोंमें घुसकर बाँसुरी-सी बजाता हुआ और गंगाकी फुहारोंसे सितलाया हुआ वायु निरन्तर रघुकी सेवा करता जा रहा था ॥७३॥ और रघुके सैनिक भी वहाँ नमेरुके वृक्षोंके तले उन पथरीली घाटियोंपर बैठकर सुस्ताने लग रहे थे जिनमेंसे कस्तूरी मृगोंके बैठनेसे बड़ी सुगन्ध आ रही थी ॥७४॥ देवदारके पेड़ोंमें बँधे हुए हाथियोंके गलोंमें जो साँकलें पड़ी थीं वे रातको चमकनेवाली बूटियोंके प्रकाशसे चमचमा उठती थीं और इस प्रकार उन बूटियोंने रघुके लिये बिना तेलके ही दीपक जला दिए थे ॥७५॥ जब रघुने वहाँसे अपनी सेनाका पड़ाव हटा लिया तब वहाँ देवदारकी ऊँची ऊँची शाखाओंपर हाथियोंके गलेकी साँकलोंसे बनी रेखाएँ देखकर ही जंगली किरातोंने रघुके हाथियोंकी ऊँचाईका अनुमान कर लिया ॥७६॥ पहाडी राजाओंकी सेनाओंसे रघुको सेनाकी घनघोर लड़ाई हुई। रघुकी सेना बाण चलाती थी और पहाडी लोग पत्थर चलाते थे। इस प्रकार जब लोहे और पत्थरकी भिड़न्त हो जाती थी तो कभी-कभी आग उत्पन्न हो जाया करती थी ॥७७॥ रघुने धुआँधार बाण बरसाकर उत्सव-संकेत नामक पहाडियोंके छक्के छुड़ा दिए। इसपर किन्नरोंने मिलकर रघुकी वीरताके बहुतसे गीत गा सुनाए ॥७८॥ पहाडी राजाओंने रत्नोंके ढेरके ढेर रघुको भेंटमें ला दिए जिसे देखकर इधर रघुने तो हिमालयके अतुल धनका अनुमान और हिमालयने युद्धमें रघुके पराक्रमका अनुमान किया ॥७९॥ हिमालयपर अपना झंडा गाड़कर आगे कैलासकी ओर न बढ़कर रघु लौट पड़े। इससे कैलास पर्वतको इस बातकी लज्जा हुई कि रावणने मुझे एक बार क्या उठा लिया कि सभी मुझे हारा हुआ समझने लगे ॥८०॥ लौहित्य नदी पार करके रघु प्राग्ज्योतिष या असममें जा पहुँचे। वहाँ हाथियोंके बँधनेसे जैसे कालागुरुके पेड़ काँपते थे वैसे ही प्राग्ज्योतिषके राजा भी रघुके भयसे काँपने लगे ॥८१॥ वहाँके राजाने देखा कि बादलोंके बिना केवल रघुकी सेनाकी धूलसे ही सूर्य छिप गया। जब इस धूलसे ही वह बहुत घबरा गया तब सेनासे तो वह लड़ता ही क्या ॥८२॥ तब असमके राजाने जिन हाथियोंको लेकर बड़े बड़े शत्रुओंके छक्के छुड़ा दिए थे वे ही हाथी उसने इन्द्रसे भी अधिक पराक्रमी रघुको भेंटमें दे डाले ॥८३॥ और जैसे कोई भक्त फूल-माला आदिसे भक्तिपूर्वक देवताकी पूजा किया करता

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्। रजो विश्रामयन्राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु॥८५॥
स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्। आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव॥८६॥
सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान्।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥८७॥
ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम्।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥८८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः॥

है वैसे ही कामरूपके नरेशने पाँव-पीढ़ेपर पड़ी हुई रघुके चरणोंकी छायाको रत्नोंसे पूजा ॥८४॥ इस प्रकार जब सारी पृथ्वीको जीतकर विजयी रघु अपनी राजधानी अयोध्याको लौटने लगे तब उनके रथके पहियोंसे उठी हुई धूल उनके पीछे पीछे चलनेवाले हारे हुए राजाओंके छत्र-रहित मुकुटोंपर बैठती चल रही थी ॥८५॥ दिग्विजयसे लौटकर रघुने विश्वजित् नामका यज्ञ किया जिसमें उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दक्षिणामें दे डाली। जैसे बादल पृथ्वीसे जल लेकर फिर पृथ्वीपर ला बरसाते हैं वैसे ही महात्मा लोग भी दान करनेके लिये ही धन इकट्ठा किया करते हैं ॥८६॥ यज्ञ समाप्त हो चुकनेपर रघुने और उनके मंत्रियोंने हारे हुए राजाओंका बड़ा सत्कार किया और उनके मनमें हारनेकी जो लाज थी वह दूर कर दी। फिर अपनी रानियोंसे बहुत दिनसे बिछुड़े हुए उन सभी राजाओंको उन्होंने अपने अपने देशमें जानेकी आज्ञा दे दी ॥८७॥ जाते समय उन राजाओंने रघुके उन चरणोंमें झुककर प्रणाम किया जिनपर ध्वजा, वज्र और छत्र आदिकी रेखाएँ बनी हुई थीं। उस समय उन राजाओंके सिरकी मालाओंसे जो पराग झड़ रहा था उससे रघुके चरणोंकी उँगलियाँ गोरी हो उठीं ॥८८॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रघु-दिग्विजय
नामक चौथा सर्ग पूर्ण हुआ।

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥
स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥
तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥
अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतमृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥
आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥
क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥
निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ ८ ॥

पाँचवाँ सर्ग

जिस समय रघु विश्वजित यज्ञमें अपना सब कुछ दान किए बैठे थे उसी समय वरतन्तुके शिष्य कौत्स ऋषि गुरुदक्षिणाके लिये धन माँगनेको उनके पास आ पहुँचे ॥१॥ अतिथिका सत्कार करनेवाले, अत्यन्त शीलवान् और यशस्वी रघु इस समय मिट्टीका पात्र लेकर विद्वान् अतिथि (कौत्स ऋषि)-की पूजा करने चले क्योंकि सोने-चाँदीके पात्र तो उन्होंने सब दान ही कर डाले थे ॥२॥ तपस्वी कौत्स कुशाके आसनपर बैठे हुए थे। शास्त्रके जाननेवाले सम्माननीय रघुने बड़ी विधिसे उनकी पूजा की और हाथ जोड़कर उनसे पूछा–॥३॥ 'बुद्धिमान् ! जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे सोए हुए संसारको जगा देता है वैसे ही जिस गुरुने आपको ज्ञानकी ज्योति देकर जगाया है और जो मन्त्र-द्रष्टा ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, वे आपके गुरु कुशलसे तो हैं न ! ॥४॥ उन्होंने शरीर, मन और वचन तीनों प्रकारका जो कठिन तप करना प्रारम्भ किया था और जिसे देखकर इन्द्र भी घबरा उठे थे वह तो ठीक चल रहा है न ! ॥५॥ आप लोगोंने आश्रमके जिन वृक्षोंके थाँवले बाँधकर उन्हें पुत्रके समान जतनसे पाला है और जिनसे पथिकोंको छाया मिलती रहती है उन वृक्षोंको आँधी-पानीसे कोई हानि तो नहीं पहुँची है ? ॥६॥ हरिणियोंके वे छोटे-छोटे छौने तो कुशलसे हैं न, जिन्हें ऋषि लोग बड़े प्यारसे गोदीमें बैठाकर खिलाते हैं, जिनकी नाभिका नाल भी ऋषियोंकी गोदमें ही सूखकर गिरता है और जिन्हें ऋषि लोग यज्ञके लिये बटोरी हुई कुशा चबानेसे भी नहीं टोकते ! ॥७॥ हाँ, उन नदियोंका जल तो ठीक है न, जिसमें आप लोग प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि करते हैं और जिनकी रेतीपर आप लोग अपने चुने हुए अन्नका छठा भाग राजाका अंश समझकर रख

नीवारपाकादि कडंगरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित्।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥
अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥ १० ॥
तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥ ११ ॥
इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ १२ ॥
सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥ १३ ॥
भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग तयातिशेषे।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥ १४ ॥
शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥
स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिंचनत्वं मखजं व्यनक्ति।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥ १६ ॥

छोड़ते हैं ।।८'। तिन्नीके जिस अन्न और जिन फलोंसे आप लोग अतिथियोंका सत्कार किया करते हैं और जिन्हें खाकर ही आप लोग भी रह जाया करते हैं उन्हें आस-पासके गाँवोंके पशु तो नहीं आकर चर जाते ।।९।। क्या ऋषिने आपकी विद्वत्तासे प्रसन्न होकर आपको गृहस्थ बन जानेकी आज्ञा दे दी है ? क्योंकि आपकी इतनी अवस्था भी हो गई है कि आप विवाह करें और सबका भला करनेवाले गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें ।।१०।। आप-जैसे पूजनीय महात्माके आने भरसे मेरा जी नहीं भरा, मुझे कुछ सेवा करनेकी भी आज्ञा दीजिए और यह बताइए कि आपने केवल अपने गुरुकी आज्ञासे ही यहाँ आकर कृतार्थ किया है या अपनी इच्छासे ही आपने कृपा की है' ।।११।। कौत्सने ध्यानसे रघुकी उदार बातें सुनीं पर जब देखा कि उनके हाथमें केबल मिट्टीका पात्र भर बचा रह गया है तब उन्होंने समझ लिया कि रघुके पास एक कौड़ी भी नहीं है। उनका मुँह उतर गया और उन्होंने समझ लिया कि यहाँ हमारा काम नहीं बनेगा। यह सोचकर वरतन्तुके शिष्य कौत्स बोले–।।१२।। 'राजन् ! आपके राज्यमें हमें सब प्रकारका सुख है। जैसे सूर्यके रहते हुए अँधेरा नहीं ठहर पाता वैसे ही आपके राजा बने रहते हुए प्रजामें दुःखका नाम भी नहीं है ।।१३।। भाग्यशाली ! बड़ोंकी पूजा करना तो आपके वंशका धर्म ही है और आप तो इस बातमें अपने पूर्वजोंसे भी आगे बढ़े हुए हैं। मैं आपके पास कुछ माँगने चला आया था पर मैं समझता हूँ कि मुझे आनेमें कुछ विलम्ब हो गया है, इसीका मुझे खेद है ।।१४।। राजन् ! आपने अपना सब धन अच्छे लोगोंको दे डाला है और केवल यह शरीरभर आपके पास बचा रह गया है। इससे आप तिन्नीके पौधेकी उस ठूँठ-जैसे रह गए हैं जिसके दाने तपस्वियोंने झाड़ लिए हों ।।१५।। चक्रवर्ती होते हुए भी यज्ञमें सब कुछ देकर और दरिद्र होकर भी आप उस चन्द्रमाके समान बड़े सुन्दर लग रहे हैं जिसकी सारी कलाएँ धीरे-धीरे देवताओंने पी डाली हों ।।१६।। आपके पास तो कुछ है नहीं, इसलिये अब मैं किसी दूसरे

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये ।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥ १७ ॥
एतावदुक्त्वा प्रतियातु कामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन्गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥ १८ ॥
ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥ १९ ॥
समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै ।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥ २० ॥
निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ २१ ॥
सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे संप्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥ २२ ॥
इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥ २३ ॥
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः ॥ २४ ॥
स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसँश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥ २५ ॥

धनीका द्वार जा खटखटाता हूँ क्योंकि पपीहा भी बिना जलवाले बादलोंसे पानी नहीं माँगा करता। आपका कल्याण हो' ॥१७॥ ऐसा कहकर कौत्स जब उठकर चलने लगे तब रघुने उन्हें रोककर पूछा—'आप अपने गुरुको क्या और कितना देना चाहते हैं, कुछ कहिए भी तो' ॥१८॥ ब्रह्मचारी कौत्सने देखा कि विश्वजित् यज्ञ करनेपर भी रघुको अभिमान छू-तक नहीं गया इसलिये वर्ण और आश्रमकी रक्षा करनेवाले रघुसे उन्होंने अपने मनकी बात कहनी प्रारम्भ की—॥१९॥ 'राजन्! विद्या पढ़ चुकनेपर मैंने गुरुजीसे कहा कि आप मुझसे गुरु-दक्षिणा माँगिए। गुरुजीने कहा—मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे ही बहुत प्रसन्न हूँ फिर गुरु-दक्षिणा लेकर क्या होगा। मैंने बड़ी भक्तिसे जो उनकी सेवा की थी उसे ही उन्होंने गुरु-दक्षिणा मान ली थी ॥२०॥ पर जब मैंने बार-बार दक्षिणा माँगनेके लिये उनसे हठ किया तब तो वे बिगड़ खड़े हुए और मेरी दरिद्रताका विचार किए बिना ही बोल उठे 'मैंने तुम्हें चौदह विद्याएँ पढ़ाई हैं इसलिये मुझे चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ लाकर दो ॥२१॥ आपके हाथमें मिट्टीका पात्र देखकर ही मैं समझ गया कि आपके पास 'राजा' शब्दको छोड़कर और कुछ भी बच नहीं रह गया है। इधर मेरी गुरु-दक्षिणा भी इतनी गहरी है कि अब मेरा मन नहीं करता कि आपसे कुछ माँगूँ' ॥२२॥ जब वैदिक ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ कौत्सने यह कहा तब चन्द्रमाके समान सुन्दर परम धार्मिक रघु बोले—॥२३॥ 'आप जैसे वेदपाठी ब्राह्मण गुरु-दक्षिणाके लिये हमारे पास आवें और यहाँसे निराश लौटकर किसी दूसरेका द्वार झाँकें; यह मेरी नई बदनामी नहीं होने पावेगी ॥२४॥ इसलिये आप हमारी यज्ञशालामें चलिए। वहाँ जो तीन (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) पूजनीय अग्नियाँ स्थापित हैं वहीं आप भी चौथी अग्निके समान पूजनीय होकर दो चार दिन ठहरिए, तबतक मैं आपकी गुरु-दक्षिणाके लिये कुछ न कुछ जतन किए लेता हूँ' ॥२५॥

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्संगरमग्रजन्मा ।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् ॥ २६ ॥
वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥ २७ ॥
अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम् ।
सामन्तसंभावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥ २८ ॥
प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोशगृहे नियुक्ताः ।
हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥ २९ ॥
तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ ३० ॥
जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ ३१ ॥
अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं संप्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ ३२ ॥
किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥ ३३ ॥

यह सुनकर कौत्स बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सत्यवादी रघुकी बात मान ली। रघुने भी देखा कि पृथ्वीपर तो धन मिलने वाला है नहीं, इसलिये उन्होंने निश्चय किया कि कुबेरसे ही धन ले लिया जाय ॥२६॥ जैसे वायुके झोंकोंसे मेघ कहीं भी जा सकता है वैसे ही वशिष्ठजीके मन्त्रोंसे पवित्र किया हुआ रघुका रथ भी समुद्र, आकाश और पर्वत कहीं भी आ जा सकता था ॥२७। रघुने सोचा कि उसी रथपर चढ़कर मैं अकेला ही महाप्रतापी कैलासके स्वामी कुबेरको छोटेसे राजाके समान सहजमें ही जीत लूंगा। यह निश्चय करके वे सांझ होते ही अस्त्र-शस्त्र ठीक करके रथमें ही जाकर सो रहे ॥२८॥ दूसरे दिन तड़के जैसे ही रघु चलनेको हुए वैसे ही राजकोशके रक्षकोंने आकर यह अचरज-भरा समाचार दिया कि कोशमें बहुत देरतक सोनेकी वर्षा होती रही है ॥२९॥ (बात यह हुई थी कि) रघुकी चढ़ाईकी बात कानमें पड़ते ही कुबेरने रातों रात सोनेकी वर्षा कर दी थी। वह सोनेका ढेर ऐसा चमक रहा था जैसे वज्रसे सुमेरु पर्वतका एक टुकड़ा काटकर ला गिराया गया हो। रघुने कौत्ससे कहा कि यह सारा सोना आप लेते जाइए ॥३०॥ (उसे देखकर कौत्सने कहा—मैं इतना सोना लेकर क्या करूँगा। मुझे तो गुरु-दक्षिणा चुकाने भरको धन चाहिए। इसपर रघु बोले—यह नहीं हो सकता। यह सारा धन आपका ही है आप ले जाइए।) अयोध्या-निवासियोंने इन दोनोंकी बड़ी प्रशंसा की क्योंकि उन दोनोंमें एक तो इतना सन्तोषी था कि आवश्यकतासे अधिक एक कौड़ी लेनेको उद्यत नहीं था और दूसरा इतना बड़ा दाता था कि मांगसे कहीं अधिक धन देनेपर तुला हुआ था ॥३१॥ रघुने उस सारे धनको सैकड़ों ऊँटों और खच्चरोंपर लदवा दिया और जब कौत्स चलने लगे तब राजाने बड़ी नम्रतासे उन्हें प्रणाम किया। कौत्स बड़े प्रसन्न थे और उन्होंने राजाके सिरपर हाथ धरते हुए कहा—॥३२॥ 'धर्मात्मा राजाओंके लिये यदि पृथ्वी उनकी इच्छाके अनुसार धन दे तो कोई अचरज नहीं है, पर आपके प्रभावको देखकर तो सचमुच बड़ा आश्चर्य होता है क्योंकि आपने तो स्वर्गसे भी जितना चाहा

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥
इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
राजापि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥ ३५ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥ ३६ ॥
रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥ ३७ ॥
उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।
श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ॥ ३८ ॥
अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ ३९ ॥
तं श्लाघ्यसंबन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥ ४० ॥
तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ ४१ ॥

उतना धन दूह लिया ॥३३॥ संसारकी सभी वस्तुएँ आपको प्राप्त हो सकती हैं इसलिये आपको उनके लिये आशीर्वाद देना तो व्यर्थ है तो भी मैं यह आशीर्वाद देता हूँ कि जैसे आपके पिता दिलीपको आपके जैसा श्रेष्ठ पुत्र मिला वैसे ही आपको भी आपके ही समान प्रतापी पुत्र प्राप्त हो' ॥३४॥ राजाको यह आशीर्वाद देकर ब्राह्मण कौत्स तो अपने गुरुके पास चले गए और जैसे सूर्यसे संसार को प्रकाश मिलता है वैसे ही ब्राह्मणके आशीर्वादसे थोड़े ही दिनोंमें रघुको भी पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ ॥३५॥ रघुकी रानीकी कोखसे तड़के ब्राह्म मुहूर्तमें कार्तिकेयके समान तेजस्वी पुत्र जनमा तो ब्राह्म मुहूर्तमें जन्म होनेसे पिताने ब्रह्माके नामपर ही पुत्र का नाम अज रख दिया ॥३६॥ जैसे एक दीपकसे जलाए जानेपर दूसरे दीपकोंमें भी ठीक वैसे ही लौ और ज्योति आ जाती है वैसे ही अज भी रूप, गुण, बल सभी बातोंमें रघुके जैसा ही था, किसी भी बातमें कम नहीं था ॥३७॥ जैसे शीलवती कन्या अपनी इच्छाके अनुसार रूप-गुणवाले वरको चुनकर भी विवाहके लिये पिताकी आज्ञा ले लेना चाहती है वैसे ही राज्य-लक्ष्मी भी यद्यपि सुन्दर युवा अजको स्वामी बनाना तो चाहती थी फिर भी वह रघुकी आज्ञाकी बाट जोह रही थी कि वे कब अजको राज्य सौंपे ॥३८॥ इसी बीच विदर्भ देशके राजा भोजने अपनी बहन इन्दुमतीके स्वयंवरमें अजको बुलानेके लिये एक अपना विश्वासपात्र दूत रघुके पास भेज दिया ॥३९॥ रघुने भी सोचा कि भोजके वंशके साथ अपने कुलका सम्बन्ध करना ठीक ही होगा और कुमार अज भी विवाहके योग्य हो ही गये हैं, इसलिये उन्होंने सेनाके साथ अजको विदर्भ देशकी राजधानी जाने के लिये विदा कर दिया ॥४०॥ मार्गमें अजके ठहरनेके लिये अनेक प्रकारके ऐसे वितानोंका प्रबन्ध किया गया था जिनमें सब प्रकारके सुखकी सामग्री एकत्र कर दी गई थी। साथ ही पासके गाँववाले भी अजके लिये अच्छी-अच्छी वस्तुएँ भेटमें ला लाकर देते जा रहे थे। (इन सबके कारण) वे ग्रामीण स्थान भी ऐसे लगने लगे मानो अज राजसी विलास-उद्यानोंमें ही आ ठहरे हों ॥४१॥ वहाँसे चलकर अजने

स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले ।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥४२॥
अथोपरिष्टाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥४३॥
निःशेषविक्षालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥४४॥
संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥४५॥
शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥४६॥
तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः ॥४७॥
सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥४८॥
स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥४९॥
तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः ।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥ ५० ॥

नर्मदा नदीके किनारे अपनी उस थकी हुई सेनाका पड़ाव जा डाला जिसकी पताकाएँ मार्गकी धूल लगनेसे मटमैली हो गई थीं। वहाँ बड़ा शीतल वायु बह रहा था और उसके झोंकोंमें करंजकके पेड़ झूमे पड़ रहे थे ॥ ४२ ॥ इसी बीच एक जंगली हाथी झूमता हुआ नर्मदाके जलसे निकल उठा जिसके जलमें घुसनेकी सूचना जलके ऊपरही भनभनानेवाले भौंरे दे रहे थे और जलमें स्नान करनेके कारण जिसके माथेके दोनों ओरका मद धुल गया था ॥ ४३ ॥ यद्यपि नहानेसे उसके दाँतोंमें लगी गेरुकी लाली तो छूट गई थी फिर भी टीलोंपर टक्कर मारनेसे उसके दाँतोंपर जो नीली-नीली रेखाएँ बन गई थीं उससे जान पड़ता था कि उसनें ऋक्षवान् पर्वतकी शिलाओंपर टक्करें जा मारी हैं ॥४४॥ वह हाथी तटकी ओरको बढ़ता हुआ, अपनी सूँड़ फैला-सिकोडकर चिग्घाड़ता हुआ तथा जलकी लहरोंको चीरता हुआ ऐसा लग रहा था मानो वह अलानकी साँकलें तोड़े डाल रहा हो ॥ ४५ ॥ वह पहाड़के समान लम्बा-चौड़ा हाथी अपनी छातीसे सेवारको अपने साथ खींचता हुआ जब तटपर आ चढ़ा तब जलमें जो लहरें उठी थीं वे उससे भी पहले तटसे जा टकराईं ॥ ४६ ॥ यद्यपि नदीमें नहानेसे उस हाथीके माथेका सब मद धुल चुका था फिर भी अजकी सेनाके हाथियोंको देखकर वह बलवान् हाथी क्रोधसे तमतमा उठा और उसके माथेसे फिर धुआँधार मद बरस चला ॥४७॥ जब अजके हाथियोंने उसके छितवनके दूधके समान कसैले मदकी गन्ध पाई तबवे हाथीवानोंके बार-बार रोकनेपर भी इधर-उधर भाग खड़े हुए ॥४८॥ उस विशाल जंगली हाथीको देखते ही सब घोड़े भी रस्से तुड़ा-तुड़ाकर भाग चले। इस भगदड़में जिन रथोंके धुरे टूट गए वे इधर-उधर जहाँ तहाँ छितरा गिरे थे। उस अकेले हाथीने सेनामें इतनी भगदड़ मचा दी कि लोग अपनी-अपनी स्त्रियोंको छिपानेके लिये जहाँ तहाँ सुरक्षित स्थान ढूँढ़ने लगे ॥४९॥ जब वह हाथी अजकी

स बिद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥५१॥
अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥५२॥
मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥५३॥
स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥५४॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम् ॥५५॥
संमोचितः सत्त्ववता त्वयाहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥५६॥
संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥५७॥
अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥५८॥

ओर बढ़ा चला आने लगा तब अजने सोचा कि यह जंगली हाथी है, इसे मार डालना तो ठीक है नहीं। इसलिये उन्होंने अपने धनुषको थोड़ा-सा खींचकर एक बाण उसके मस्तकमें इसलिये मार चलाया कि वह लौट जाय ॥५०॥ बाण लगते ही वह अपना हाथीका शरीर छोड़कर देवताओंके समान सुन्दर और तेज:पूर्ण शरीरवाला बनकर उठ खड़ा हुआ। यह देखकर तो अजके सैनिक आँखें फाड़फाड़कर अचरजसे देखते हुए जहाँके तहाँ खड़ेके खड़े रह गए ॥५१॥ उस देवताका वेष धारण करनेवाले पुरुषने अपने प्रभावसे कल्पवृक्षके फूल मँगाकर अजके ऊपर उठा बरसाए और जब उसने बोलनेके लिये मुँह खोला तब तो उसके दाँतोंकी चमकसे उसके गलेमें पड़ा हुआ हार भी दमक उठा ॥५२॥ (वह बोला—)"मैं गन्धर्वोंके राजा प्रियदर्शनका पुत्र प्रियंवद हूँ। एक बार मैंने अभिमानमें आकर मतंग ऋषिका अपमान कर दिया था जिनके शापसे मैं हाथी हो गया ॥५३॥ जब मैंने ऋषिके बहुत हाथ-पाँव जोड़े तब उन्हें दया आ गई क्योंकि जल तो आगकी गर्मी पाकर ही गरम होता है, उसका अपना स्वभाव तो ठंढा ही होता है ॥५४॥ तब प्रसन्न होकर उस तपस्वीने कहा—'इक्ष्वाकु वंशमें अज नामके कुमार उत्पन्न होकर जब तुम्हारे माथेपर लोहेके फलवाले बाण मारेंगे तब तुम्हें फिरसे अपना वास्तविक शरीर प्राप्त हो जायगा' ॥५५॥ उसी दिनसे मैं हाथी हो गया और तबसे सदा आपके आनेकी बाट देखता रहा। आज बड़े भाग्यसे आपने आकर मुझे शापसे छुड़ा दिया। इस उपकारके बदलेमें यदि मैंने आपकी कोई भलाई न की तो मेरा यह शरीर पाना व्यर्थ ही है ॥५६॥ देखिए! मेरे पास यह सम्मोहन नामका गन्धर्वास्त्र है, जिसके चलाने और रोकनेके अलग-अलग मन्त्र हैं। यह दुर्लभ अस्त्र आप ले लीजिए। इसमें यह विशेषता है कि जब आप इसे चलावेंगे तब आप शत्रुके प्राण लिए बिना ही उसे जीत लेंगे ॥५७॥ जान पड़ता है आपने जो मेरे ऊपर बाण चलाया है उससे आपके मनमें कुछ संकोच हो रहा है। पर इसमें लजानेकी क्या बात है, क्योंकि बाण चलाते समय भी आपके मनमें मुझे मार डालनेकी इच्छा तो थी नहीं। आपने तो दया करके ही बाण चलाया था। अब मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥ ५९ ॥

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥ ६० ॥

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥ ६१ ॥

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥ ६३ ॥
तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥ ६४ ॥
तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम्।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥ ६५ ॥

कि आप यह अस्त्र ले लीजिए, आना-कानी न कीजिए" ॥५८॥ चन्द्रमाके समान सुन्दर अजने गन्धर्वकी बात मान ली। उन्होंने पहले चन्द्रमासे निकली हुई नर्मदाके जलका आचमन किया और फिर उत्तरकी ओर मुँह करके शापसे छूटे हुए उस गन्धर्वसे वह अस्त्र भी ले लिया और उसके चलाने और रोकनेका मन्त्र भी सीख लिया ॥५९॥ इस प्रकार दैवयोगसे मार्गमें ही अज और प्रियंवदकी मित्रता हो गई। वहाँसे प्रियंवद तो कुबेरके चित्ररथ नामक उपवनकी ओर चला गया और अज उस विदर्भ देशकी ओर चल पड़े जो अच्छे शासनके कारण सब प्रकारसे बड़ा सुखी था ॥६०॥ जब विदर्भके राजाको समाचार मिला कि अज आ गए हैं तब वे बड़े प्रसन्न हुए और जैसे समुद्र अपनी लहरें ऊँचे उठाकर चन्द्रमाका स्वागत करता है वैसे ही उन्होंने भी नगरके बाहर अजके पड़ावपर जाकर उनका स्वागत किया ॥६१॥ अजको राजा भोज अपने साथ नगरमें लिवाते ले गए और वहाँ उन्हें अपना सब कुछ भेंट करके ऐसी नम्रताके साथ उनका सत्कार किया कि लोग यही समझने लगे कि अज ही इस घरके स्वामी हैं और भोज अतिथि हैं ॥६२॥ वहाँसे भोज-राजके सेवक, अजको बड़ी नम्रतासे उस मनोहर राज-मंदिरमें लिवा ले गए जिसके द्वारकी चौकियोंपर जलसे भरे मंगल-कलश रक्खे हुए थे। उस भवनमें रघुके प्रतिनिधि अज रहते हुए ऐसे लगने लगे मानो कामदेवने ही अपना बचपन बिताकर जवानीमें पैर आ धरा हो ॥६३॥ अब अजको यही चाह हुई कि किसी प्रकार उस कन्याको प्राप्त करें जिसे पानेके लिये सैकड़ों राजा स्वयंवरमें आए हुए हैं। इसी उलझनमें पड़े रहनेके कारण रघुकी आँखोंमें रातको उसी प्रकार बहुत विलंबसे नींद आई जैसे अपने पतिके मनको न जाननेवाली नई बहू अपने पतिके पास विलंबसे जाती है ॥६४॥ एक करवट सोनेके कारण अजके भरे हुए कन्धोंपर कुण्डलके दबनेसे उसकी छाप पड़ गई और बिछौनेकी रगड़से उनके शरीरपर लगा हुआ सारा अंगराग भी पुँछ गया। दिन निकलते ही उनकी समान अवस्थावाले और मधुर बोलनेवाले सूतोंके पुत्र यह स्तुति गा-गाकर बुद्धिमान् अजको जगाने लगे—॥ ६५ ॥

रात्रिर्गता मतिमतांवर मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥ ६६ ॥
निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥ ६७ ॥
तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ ६८ ॥
वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥ ६९ ॥
ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥ ७० ॥
यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥ ७१ ॥
शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥ ७२ ॥

'परम बुद्धिमान् ! रात ढल गई है, अब शय्या छोड़िए । ब्रह्माने पृथ्वीका भार केवल दो भागोंमें बाँटा है, जिसे एक ओर तो तुम्हारे पिता सदा सजग होकर सँभाल रहे हैं और दूसरी ओर तुम्हें ही उसे जागकर सँभालना है ॥६६॥ देखो तुम्हारी सौन्दर्य-लक्ष्मीने जब यह देखा कि तुम निद्रा-रूपी दूसरी स्त्रीके वशमें जा फँसे हो तब वह तुम्हें चाहते रहनेपर भी रुष्ट होकर तुम्हारे ही मुखके समान सुन्दर चन्द्रमाके पास चली गई थी पर इस समय चन्द्रमा भी मलिन हो गया है और इसलिये वह सौन्दर्य-लक्ष्मी बेचारी निराधार हो गई है । (क्योंकि तुम्हारे मुखकी बराबरी करनेवाला और कोई सुन्दर पदार्थ तो रहा नहीं, जिसके पास वह जा सके), इसलिये जागकर तुम उसे फिर अपना लो ॥६७॥ इस समय तुम्हारी बन्द आँखोंके भीतर पुतलियाँ घूम रही हैं और तालाबोंमें कमलोंके भीतर भौंरे गूंज रहे हैं । इस समय उठो जिससे सूर्यके निकलनेपर तुम्हारे नेत्र और कमल एक साथ खिलकर एक जैसे सुन्दर लगने लगें ॥६८॥ प्रातःकालका पवन वृक्षोंकी शाखाओंपर झूलनेवाले ढीले कोरवाले फूलोंको झाड़ गिराता हुआ और सूर्यकी किरणोंसे खिले हुए कमलोंको छूता हुआ चल रहा है । मानों तुम्हें जगा हुआ न देखकर वह तुम्हारे मुखकी स्वाभाविक सुगन्ध दूसरोंसे लेनेका प्रयास कर रहा हो ॥६९॥ हारके उजले मोतियोंके समान निर्मल ओसके कण वृक्षोंके लाल लाल पत्तोंपर गिरकर वैसे ही सुन्दर लग रहे हैं जैसे तुम्हारे हँसनेके समय तुम्हारे लाल लाल ओठोंपर पड़ी हुई तुम्हारे दाँतोंकी चमक सुन्दर लगती है ॥७०॥ सूर्यके उदय होनेसे पहले ही उनका चतुर सारथी अरुण संसारसे अँधेरेको भगा देता है । यह ठीक भी है, क्योंकि जब सेवक चतुर रहता है तब स्वामीको स्वयं कार्य करनेका कष्ट नहीं उठाना पड़ता । देखो, जब तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र युद्धमें लड़ने पहुँच जाते हैं तब तुम्हारे पिताजीको क्या कभी शत्रुओंको स्वयं मारनेका कष्ट उठाना पड़ता है ? कभी नहीं ॥७१॥ तुम्हारी सेनाके हाथी भी दोनों ओर करवटें बदलकर खनखनाती हुई साँकलें खींचते हुए उठ खड़े हुए हैं । लाल सूर्यकी किरणें पड़नेसे उनके दाँत ऐसे चमक रहे हैं मानो वे अभी गेरूका पहाड़ खोदे चले आ रहे हों ॥७२॥ कमलके समान

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥७३॥
भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥७४॥
इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झांचकार ।
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥७५॥
अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा ।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥७६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अजस्वयंवराभिगमनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥

* * *

नेत्रवाले ! बड़े-बड़े पट-मंडपोंमें बँधे हुए तुम्हारे वनायु (काबुल) देशके घोड़े नींद छोड़कर सेंधे नमकके उन डलोंको अपने मुँहकी भापसे मैला किए डाल रहे हैं जो चाटनेके लिये उनके आगे धरे हुए हैं ॥७३॥ रातकी सजावटके फूल मुरझा झड़े हैं । उजाला हो आनेके कारण दीपकका प्रकाश भी अब अपनी लौसे आगे नहीं बढ़ पा रहा है और पिंजरेमें बैठा हुआ तुम्हारा यह मिठबोला सुग्गा भी हमारी बातें दुहराए जा रहा है' ॥७४॥ जैसे आकाशगंगाकी रेतीमें आया हुआ सुप्रतीक नामका देवताओंका हाथी, राजहंसोंका शब्द सुनकर जाग उठता है, वैसे ही चारणोंकी सुरचित वाणी सुनकर राजकुमार अजने उठकर पहलेसे तो शास्त्रमें बताई हुई प्रातःकालकी सब उचित क्रियाएँ कीं और फिर उनके चतुर सेवकोंने उन्हें सुन्दर सुन्दर वस्त्र ला पहनाए । इस प्रकार सज-धजकर वे स्वयंवरके राज-समाजकी ओर डग बढ़ाते चल दिए ॥७६॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें 'अजका स्वयंवर-गमन' नामका
पाँचवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

॥ षष्ठः सर्गः ॥

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ १ ॥
रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥
वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्संगमिवारुरोह ॥ ३ ॥
परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ ४ ॥
तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः ।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव ॥ ५ ॥
तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥
नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥
अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।
संचारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ ८ ॥

छठा सर्ग

(स्वयंवरकी सभामें पहुँचकर अज देखते क्या हैं कि) सजे हुए मंचोंपर बैठे राजा लोग ऐसे सुन्दर लग रहे हैं जैसे–विमानोंपर देवता आए बैठे हों ॥१॥ अजको देखते ही सभी दूसरे राजा समझ गए कि इन्दुमतीको पानेकी अब कोई आशा नहीं है क्योंकि अज ऐसे लग रहे थे मानो वे साक्षात् कामदेव ही हों, जिसे शिवने रतिकी प्रार्थनापर फिरसे जीवित कर उठाया हो ॥२। जैसे सिंहका बच्चा एक-एक शिलापर पैर रखता हुआ पहाड़पर चढ़ता चलता है वैसे ही राजकुमार अज भी सुन्दर सीढ़ीकी पैंड़ियोंपर चढ़कर भोजके बताए हुए मंचपर जा बैठे ।।३।। जिस सोनेके सिंहासनपर वे जाकर बैठे उसमें चमाचम रत्न जड़े हुए थे और उसपर रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे हुए थे । उसपर बैठे हुए वे ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो स्वयं कार्तिकेय ही अपने मोरपर आए चढ़े बैठे हों ।।४।। वहाँ बैठे हुए राजाओंके ठाट-बाट और उनकी तड़क-भड़क देखकर आँखें चौंधिया जाती थीं और ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीने अपनी सारी शोभा उन लोगोंमें वैसे ही ला बाँटी हो जैसे बिजली अपनी चमक बादलोंमें बाँट फैलाती है ॥५॥ जैसे (नन्दन वनके) कल्प-वृक्षोंमें पारिजात ही सबसे अधिक सुन्दर है वैसे ही बहुमूल्य सिंहासनोंपर बैठे हुए और बड़े ठाट-बाटसे सजे हुए राजाओंके बीच अकेले अज ही खिले पड़े रहे थे ॥६॥ जैसे फूलवाले वृक्षोंको छोड़कर मद बहानेवाले जंगली हाथियोंपर भौंरे जा टूटते हैं, वैसे ही नगरवासियोंकी आँखें सब राजाओंसे हटकर अजपर ही जा टिकी थीं ॥७॥ इतनेमें सब राजाओंके वंशकी कथा जाननेवाले भाटोंने सूर्य और चन्द्रके वंशमें उत्पन्न होनेवाले सभी आगत राजाओंकी प्रशंसा प्रारंभ कर दी । उधर अगरके सारसे बनाई हुई धूप-बत्तियोंका धुआँ चारों ओर उड़कर फैला हुआ ऊपर फहराती हुई झंडियोंतक जा चढ़ा था ॥८॥

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ ९ ॥
मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥ १० ॥
तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये ।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥ ११ ॥
तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ १२ ॥
कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयांचकार ॥ १३ ॥
विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥ १४ ॥
आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किंचित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥ १५ ॥
निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥ १६ ॥

जिन शंखों और मंगल बाजोंके बजनेपर नगरके आस-पासकी अमराइयोंमें रहनेवाले मोर उसे बादलका गरजना समझकर नाच उठे थे उन बाजोंकी ध्वनिसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं ॥९॥ इसी बीच वर चुननेके लिये विवाहके समयका वेश धारण किए हुए इन्दुमती जिस पालकीपर चढ़कर मंचोंके बीचवाले गलियारेसे आ रही थी वह पालकी मनुष्य ढो रहे थे और उसके चारों ओर दासियाँ पैदल चलती आ रही थीं ॥१०॥ वह कन्या क्या थी ब्रह्माकी रचनाकी बड़ी ही सुन्दर कारीगरी थी जिसे सैकड़ों आँखें एकटक होकर देखने लगी थीं। उसकी सुन्दरता देखते ही वहाँ बैठे हुए सब राजाओंके मन तो उसके पास जा पहुँचे और केवल उनके शरीर-भर मंचोंपर बने रह गए ॥११॥ राजाओंने इन्दुमतीपर अपना प्रेम जतानेके लिये जो वृक्षोंके पत्तोंके समान अनेक प्रकारसे भौंहें आदि चलाकर शृङ्गार-चेष्टाएँ कीं वे मानो उनके प्रेमको इन्दुमतीतक पहुँचानेवाली दूतियाँ थीं ॥१२॥ कोई राजा हाथमें सुन्दर कमल लेकर जब उसकी डंठल पकड़कर घुमाने लगा तब उसके घूमनेसे भौंरे तो इधर-उधर भाग गए पर उसमें जो पराग भरा हुआ था, उसके फैलनेसे कमलके भीतर चारों ओर एक कुण्डली-सी बन गई। (उसे घुमाकर वह प्रकट करना चाहता था कि विवाह कर लेनेपर मैं भी तुम्हारे हाथमें इसी प्रकार नाचूँगा) ॥१३॥ दूसरा विलासी राजा, थोड़ा मुँह घुमाकर कन्धेसे सरककर भुजबन्धमें उलझी हुई अपनी रत्नोंकी माला ठीक करके गलेमें पहनने लगा। (इससे उसने संकेत किया कि मैं सदा तुम्हें अपने गलेका हार बनाए रक्खूँगा) ॥१४॥ तीसरा राजा भौंहें मटकाकर पैरकी उँगलियाँ मोड़कर, पैरके नखोंकी चमक तिरछी डालते हुए पैरकी उँगलियोंसे सोनेके पाँव-पीढ़ेपर कुछ लिखने लगा था। (इस संकेतसे वह इन्दुमतीको अपने पास बुलाए ले रहा था) ॥१५॥ कोई राजा सिंहासनके एक ओर अपनी बाईं भुजा टेके बैठा था और अपने पास बैठे हुए मित्रसे इस प्रकार बात करने लगा था कि उसका बायाँ कन्धा उठ गया और गलेकी माला भी पीठपर लटक गई। (इससे उसने यह संकेत किया कि मैं सदा

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रः ॥ १७ ॥
कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥ १८ ॥
कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥ १९ ॥
ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक्संनिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥ २० ॥
असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परंतपो नाम यथार्थनामा ॥ २१ ॥
कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ २२ ॥
क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥ २३ ॥
अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ २४ ॥

तुम्हें अपनी बाईं ओर बिठाए रक्खूंगा) ॥१६॥ एक दूसरा युवा ऐसा राजा भी था, जिसके नख मानो प्रियाके नितम्बोंपर चिह्न बनानेके लिये ही बने थे। वह उन नखोंसे केतकीके उन धौले पत्तोंको नोचे डाल रहा था जो किसी विलासी स्त्रीके शृङ्गारके लिये कानके आभूषणके रूपमें कटे हुए थे। (इस संकेतसे उसने प्रकट किया कि हम इसी प्रकार तुम्हारे नितम्बोंपर नख-चिह्न लगावेंगे) ॥ १७ ॥ एक दूसरे राजा थे, जिनकी कमलके समान लाल हथेली पर ध्वजाकी रेखा बनी हुई थी। वे जब अपने हाथमें पासे उछालते थे तब उनकी अँगूठीकी झलक पासोंपर पड़ती जा रही थी। (वे संकेत कर रहे थे कि तुम्हारे साथ विवाह होनेपर हम दिन-रात तुम्हारे साथ पासा खेला करेंगे) ॥ १८ ॥ एक दूसरा राजा बार-बार अपने हाथसे अपने उस मुकुटको सीधा किए डाल रहा था जो पहलेसे ही सीधा था। ऐसा करनेपर उसके हाथोंकी उँगलियोंके बीचका भाग रत्नोंकी किरणोंसे चमक-चमक उठता था। (इनसे वह संकेत करता था कि मैं तुम्हें सदा सिर-आँखोंपर बिठाए रक्खूंगा ॥१९॥ इसी बीच पुरुषोंके समान ढीठ और राजाओंके वंशोंकी कथा जाननेवाली रनिवासकी प्रतिहारी सुनन्दा, सबसे पहले इन्दुमतीको मगधनरेशके आगे ले जाकर बोली–॥२०॥ 'ये राजा बड़े पराक्रमी हैं और अपनी शरणमें आनेवालोंकी सदा रक्षा किया करते हैं। अपनी प्रजाको सुख देकर इन्होंने बड़ा नाम कमाया है। इनका नाम भी परंतप है और ये हैं भी सचमुच परन्तप (शत्रुओंको ताप देनेवाले) ॥२१॥ जैसे तारों, ग्रहों और नक्षत्रोंसे भरी रहनेपर भी रात तभी चाँदनी रात कहलाती है जब चन्द्रमा खिला हुआ हो, वैसे ही यद्यपि संसारमें सहस्रों राजा हैं किन्तु पृथ्वी, केवल इन्हींके रहनेसे 'राजा-वाली' कहलाती है ॥२२॥ इन्होंने एकपर एक यज्ञ करके बार-बार इन्द्रको अपने यहाँ इतना बुला बैठाया कि इन्द्राणीके सिरकी चोटी कल्पवृक्षके फूलोंका शृङ्गार न होनेसे पीले गालोंपर आ झूलने लगी, (क्योंकि पतिके पास न रहनेसे उन्होंने शृङ्गार करना ही छोड़ दिया था) ॥२३॥ यदि इनके साथ

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥ २५ ॥
तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥ २६ ॥
जगाद चैनामयमङ्गनाथो सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥ २७ ॥
अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमाँस्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥ २८ ॥
निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥२९॥
अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥ ३० ॥
ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै ॥ ३१ ॥

तुम विवाह करना चाहो तो अवश्य कर लो क्योंकि जब विवाह करके तुम इनके साथ इनकी राजधानी (पाटलिपुत्रमें) पहुँचोगी तब झरोखोंमें बैठी वहाँकी स्त्रियोंकी आँखोंको तुम्हारी सुन्दरता देखकर बड़ा सुख मिलेगा' ॥ २४ ॥ सुनन्दाकी बात सुनकर इन्दुमतीने तनिक-सी आँख उठाकर राजाको देखा। उसके हाथकी दूबमें गुँथी हुई महुएकी माला कुछ सरक गई और बिना कुछ कहे-सुने सीधा-सा प्रणाम करके उसे अस्वीकार करती हुई वह आगे बढ़ गई ॥ २५ ॥ जैसे वायुसे उठी हुई लहरके सहारे मानसरोवरकी राजहंसिनी एक कमलसे दूसरे कमल-तक जा पहुँचती है, वैसे ही सुनन्दा भी राजकुमारी इन्दुमतीको दूसरे राजाके आगे पहुँचाकर खड़ी हो गई ॥ २६ ॥ और बोली—'ये अंग देशके राजा हैं। इनके यौवनके लिये देवताओंकी स्त्रियाँ भी तरसा करती हैं। हाथियोंकी विद्याके बड़े-बड़े गुणी लोग इनके हाथियोंको आ आकर सिखाते हैं। ये पृथ्वीपर रहते हुए भी इन्द्र ही समझे जाते हैं ॥२७॥ (इन्होंने जिन राजाओंको युद्धमें मार डाला था) उनकी स्त्रियोंने अपने पतियोंके शोकमें मोतियोंके हार तो उतार फेंके थे पर इनके रोनेसे उनके स्तनोंपर गिरती हुई बड़े-बड़े मोतियोंके समान आँसुओंकी बूँदें देखकर ऐसा लगता था मानो इन्होंने शत्रुओंकी स्त्रियोंके गलेसे मोतियोंके हार उतार-उतारकर उन्हें बिना डोरेवाले (आँसुओंके) हार ला पहनाए हों ॥ २८ । यों तो तुम जानती ही हो कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंमें कभी नहीं पटती पर इनके पास दोनों ही मिलकर रहती हैं। इसलिये कल्याणी! तुम सुन्दर भी हो और तुम्हारी वाणी भी मधुर है, तुम इन दोनोंके साथ तीसरी बनकर वहाँ पहुँच सकती हो' ॥२९॥ इन्दुमतीने उस अंग देशके राजापरसे आँखें हटाकर सुनन्दासे कहा—'आगे चलो'। यह बात नहीं थी कि वह राजा सुन्दर नहीं था और न यही बात थी कि इन्दुमतीने उसे ठीकसे देखा न था। पर सबकी अपनी-अपनी रुचि ही तो है (किसीको कोई अच्छा लगता है किसीको कोई) ॥ ३० ॥ वहाँसे आगे बढ़कर प्रतिहारी सुनन्दाने एक दूसरे राजाको ले जा दिखाया जिससे सब शत्रु काँपते थे और जिसका रूप और यौवन पूनोके उठते हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर था। उसे दिखाकर सुनन्दा बोली—॥ ३१ ॥ 'देखो, ये जो लम्बी

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥ ३२ ॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥ ३३ ॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥ ३४ ॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥ ३५ ॥
तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥ ३६ ॥
तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥ ३७ ॥
सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्त्तवीर्यः ॥ ३८ ॥
अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥ ३९ ॥

भुजा, चौड़ी छाती और पतली गोल कमर वाले राजा सूर्यके समान चमक रहे हैं, ये अवन्ती-देशके राजा हैं और ऐसा जान पड़ता है कि विश्वकर्माने अपने शान चढ़ानेके चक्रपर इन्हें बड़े यत्नसे खराद उतारा है ॥ ३२ ॥ जब ये शक्तिशाली राजा शत्रुओंपर चढ़ाई करते हैं तब सेनाके आगे चलनेवाले घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूलसे शत्रुओंके मुकुटोंकी चमक धुंधली पड़ जाती है ॥३३॥ इनका राज-भवन महाकाल मन्दिरमें बैंठे और सिरपर चन्द्रमा धारण करनेवाले शिवके पास ही है । इसलिये अँधेरे पाखमें भी शिवके सिरपर बैठे हुए चन्द्रमाकी चाँदनीसे ये अपनी स्त्रियोंके साथ सदा उजले पाखका ही आनन्द लेते रहते हैं। केलेके खम्भेके समान (चिकनी और ढलवाँ) जाँघवाली इन्दुमती ! क्या तुम्हारे मनमें अवन्तीके उन उद्यानोंमें विहार करनेकी चाह है जिनमें दिन-रात सिप्रा नदीका ठंडा वायु हरहराता रहता है ? ॥३५॥ सुनन्दाकी बात सुनकर भी सुकुमारी इन्दुमतीको वह मित्रोंको प्रसन्न करनेवाला और शत्रुओंको मारनेवाला प्रतापी राजा उसी प्रकार अच्छा नहीं लगा जैसे कुमुदिनीको वह सूर्य नहीं भाता जो कमलको खिलाता और कीचड़को सुखा देता है ॥३६॥ कमलके समान सुन्दरी, बड़ी गुणवती, विधाताकी सुन्दर रचना और सुन्दर दाँतोंवाली इन्दुमतीको वहाँसे अनूप देश (नर्मदा तट-प्रदेश) के राजाके आगे ले जाकर सुनन्दा बोली—॥३७॥ 'बहुत दिनोंकी बात है, एक कार्त्तवीर्य नामके बड़े योगी हो गए हैं । उनमें बड़ी भारी बात यह थी कि जब ये लड़ने जाते थे तब उनके सहस्रों हाथ निकल आते थे । उन्होंने अठारह द्वीपोंमें जाकर यज्ञके खम्भे जा गाड़े थे । वे ऐसे प्रतापी थे कि उनके सामने कोई अपनेको राजा ही नहीं कह सकता था ॥३८॥ उनके समयमें यदि कोई पाप करनेका विचार भी करता था तो वे धनुष्-बाण लेकर उसके सिरपर जा चढ़ते थे । इस ढङ्गसे उस दंडधारीने सब लोगोंके मनसे पाप निकाल बाहर कर डाला था ॥३९॥ जिस रावणने इन्द्रको भी जीत धरा था उसे भी

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥ ४० ॥
तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी ।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥ ४१ ॥
आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥ ४२ ॥
अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥ ४३ ॥
तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥ ४४ ॥
सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥ ४५ ॥
नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥ ४६ ॥
यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥ ४७ ॥

उन्होंने अपने कारागारमें बन्दी कर छोड़ा था। उन्होंने रावणकी भुजाएँ इस प्रकार धनुषकी डोरीसे कसकर जकड़ बाँधी थीं कि वह वेचारा दिनरात बैठा उसाँसें भरता रहता था। जबतक कार्त्तवीर्य उसपर प्रसन्न नहीं हुए तबतक उन्होंने उसे छोड़ा नहीं ॥ ४० ॥ उन्हीं प्रसिद्ध राजाके वंशमें ये उत्पन्न हुए हैं, ये वेदों और बड़े-बूढ़ों (अथवा वेदके पण्डितों) की बड़ी सेवा करते हैं। लक्ष्मीको जो चंचलताका दोष लगाया जाता है उनका वह दोष भी तबसे धुल गया जबसे वह इनके साथ रहने लगीं (क्योंकि लक्ष्मी तो उसी पुरुषको छोड़कर चंचला होकर जाती हैं जो व्यसनी होते हैं। इनमें कोई व्यसन नहीं, इसलिये इन्हें क्यों छोड़कर जाय) ॥ ४१ ॥ ये राजा इतने बलवान् हैं कि अग्निकी सहायता पा लेनेसे, ये परशुरामजीके उस फरसेकी तीखी धार को भी कमलकी पंखड़ीके समान कोमल समझते हैं जिसने युद्धमें क्षत्रियोंका महासंहार कर डाला था ॥४२॥ तुम यदि राजभवनके झरोंखोंसे उस सुन्दर लहरोंवाली नर्मदाका मनोहर दृश्य देखना चाहो जो माहिष्मती (वर्त्तमान मंडला, मध्यप्रदेश) नगरीके चारों ओर तगड़ी-जैसी घूम गई है तो इस महाबाहु राजासे विवाह कर लो' ॥४३॥ जैसे खुले आकाशवाली शरद् ऋतुका मनोहर चन्द्रमा भी कमलिनीको नहीं भाता वैसे ही वह सुन्दर राजा भी इन्दुमतीके मनको नहीं जँचा ॥४४॥ तब रनिवासकी सेविका सुनन्दाने राजकुमारीको मथुराके उस राजा सुषेणके आगे ले जा पहुँचाया जिसकी कीर्ति स्वर्गके देवता भी गाते रहते थे और जिसने अपने शुद्ध चरित्रसे माता और पिता दोनोंके कुलोंको उजागर कर दिया था। उन्हें दिखाकर सुनन्दा बोली—॥४५॥ 'ये राजा बड़ी विधिसे यज्ञ करते हैं और प्रशंसनीय वंशमें उत्पन्न हुए हैं। जैसे ऋषियोंके शान्त आश्रमोंमें सब जीव बैर छोड़कर एक साथ रहते हैं वैसे ही विद्वत्ता और मौन रहना ये परस्पर विरोधी गुण भी इनमें एक साथ रहते हैं ॥ ४६ ॥ चन्द्रमाकी चाँदनीके समान आँखोंको सुख देनेवाला इनका प्रकाश तो घरमें रहता है और सूर्यके समान प्रचण्ड तेज शत्रुओंके उन राज-

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ।। ४८ ।।
त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ।। ४९ ।।
संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
बृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः ।। ५० ।।
अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ।। ५१ ।।
नृपं तमावर्त्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भविश्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ।। ५२ ।।
अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ।। ५३ ।।
असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ।। ५४ ।।
ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।
रिपुश्रियां साञ्जनवाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ।। ५५ ।।

भवनोंपर दिखाई देता है जिनके उजड़ जानेपर उनमें घास जम आई है ।। ४७ ।। जब ये जल-विहार करते हैं और इनकी रानियोंके स्तनोंपर लगा हुआ चन्दन जलमें मिलकर यमुनामें बहने लगता है उस समय मथुरामें भी यमुनाका रंग ऐसा प्रतीत होता है मानो वहींपर गंगाजीकी लहरोंसे उनका संगम आ हुआ हो ।। ४८ ।। जब ये अपने गलेमें वह मणि उठा पहनते हैं, जो उन्हें उस कालिय नागने दी थी जो गरुडके डरसे यमुनाके जलमें जा रहने लगा था, तब उनकी शोभाके आगे कौस्तुभ मणि पहने हुए कृष्णकी शोभा भी फीकी पड़ जाती है ।। ४९ ।। देखो सुन्दरी ! इनके साथ विवाह करके तुम कुबेरके चैत्ररथ नामके उद्यानसे भी बढ़कर सुन्दर वृन्दावनमें कोमल पत्तों और फूलोंकी शय्याओंपर विहार किया करना ।। ५० ।। और वर्षाके दिनोंमें गोवर्धन पर्वतकी सुहावनी गुफाओंमें पानीकी फुहारोंसे भींगी हुई शिलाजीतकी गन्धवाली पत्थरकी पटरियोंपर बैठकर मोरोंका नाच देखा करना' ।। ५१ ।। पानीकी भँवरके समान नाभिवाली और किसी अन्यसे विवाह करनेकी इच्छावाली इन्दुमती उन राजा सुषेणको छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जैसे समुद्रकी ओर बढ़ती हुई नदी बीचमें पड़ते हुए पहाड़को छोड़कर और आगे बढ़ जाती है ।। ५२ ।। वहाँसे पूनोके चन्द्रमाके समान मुखवाली इन्दुमतीको सुनन्दा दासी उस कलिंग देशके राजा हेमाङ्गदके आगे ले गई जो अपनी बाँहमें भुजबन्ध पहने हुए थे और जिन्होंने अपने शत्रुओंको पूरा नष्ट कर डाला था। उन्हें दिखाती हुई सुनन्दा बोली—।।५३।। 'इनको देखती हो ! ये महेन्द्र पर्वतके समान ही शक्तिवाले हैं और महेन्द्र पर्वत तथा समुद्र दोनोंपर इनका अधिकार है। जब ये युद्धके लिये निकलते हैं तब इनके आगे-आगे चलनेवाले मतवाले हाथी ऐसे लगते हैं मानों हाथियोंका वेष बनाकर स्वयं महेन्द्र पर्वत ही उठा चला जा रहा हो ।। ५४ ।। देखती हो न, कैसी सुन्दर इनकी भुजाएँ हैं और धनुषधारियोंमें तो इनकी जोड़का कोई है ही नहीं। इनकी भुजाओंपर जो दो काली-काली रेखाएँ धनुषकी डोरी खींचनेसे पड़ गई हैं, वे ऐसी

यमात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः ।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥ ५६ ॥
अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ ५७ ॥
प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम् ।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥ ५८ ॥
अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य ।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ॥ ५९ ॥
पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६० ॥
विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः ।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥ ६१ ॥
अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥ ६२ ॥
अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥ ६३ ॥

जान पड़ती हैं मानो ये शत्रुओंकी उस राज्य-लक्ष्मीके आनेकी दो पगडंडियाँ हैं जो उन्होंने शत्रुओंसे छीन ली हो और जिसके कजरारे नेत्रोंसे बहे आँसुओंके कारण ये काले पड़ गए हों ॥ ५५ ॥ इनके राजभवनके ठीक नीचे ही समुद्र हिलोरें लेता है। उसकी लहरें राजभवनके झरोखोंसे स्पष्ट दिखाई देती हैं। जब ये अपने राजभवनमें सोते हैं तब वह समुद्र ही नगाड़ेकी ध्वनिसे भी गंभीर अपने गर्जनसे ही इन्हें प्रातः जगाया करता है ॥ ५६ ॥ तुम चाहो तो इनके साथ विवाह करके समुद्रके उन तटोंपर जा विहार करो जहाँ दिनरात ताड़के जंगलोंकी फड़फड़ाहट सुनाई देती रहती है। वहाँ जब तुम्हें पसीना हुआ करेगा तब लौंगके फूलोंकी सुगन्धमें बसा हुआ दूसरे द्वीपोंसे आता हुआ शीतल पवन ही तुम्हारा पसीना पोंछता रहा करेगा' ॥ ५७ ॥ विदर्भराजकी छोटी बहन सुन्दरी इन्दुमती अपनी दासीकी लुभावनी बातें सुनकर भी उस राजाको छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जैसे पुरुषार्थसे लाई हुई सम्पत्ति भाग्यके फेरसे छोड़कर दूसरेके पास चली जाती है ॥ ५८ ॥ तब सुनन्दा उसे देवताके समान मनोहर नागपुरके राजाके पास ले जाकर बोली—'अरी चकोर-जैसे नेत्रवाली ! इधर तो देख ॥ ५९ ॥ ये पांड्य देशके राजा हैं जिनके कंधेपर बड़ा-सा हार लटका हुआ है और जिनके शरीरपर हरिचन्दनका लेप किया हुआ है। इस वेशमें ये उस हिमालयके शिखरके समान सुन्दर लग रहे हैं जो प्रातःकालकी धूपसे लाल हो गया हो और जिसपरसे अनेक पानीके झरने झरझर गिरते जा रहे हों ॥ ६० ॥ जब ये अश्वमेध यज्ञ करके स्नान किया करते हैं तब इनसे वे महाप्रतापी अगस्त्य ऋषि आकर कुशल पूछा करते हैं जिन्होंने विन्ध्याचलको ऊपर बढ़नेसे रोक दिया था और पूरे समुद्रको पीकर फिर मुँहसे निकाल दिया था ॥ ६१ ॥ जब महाप्रतापी रावण इंद्रको जीतने चला, तब उसने इस डरसे इनसे आकर संधि करली थी कि कहीं ऐसा न हो कि मेरे पीठ-पीछे ये मेरे देशको तहस-नहस कर डालें, क्योंकि इन्होंने भी शिवसे बड़ा प्रतापी अस्त्र प्राप्त कर रक्खा है ॥ ६२ ॥ ये बड़े ऊँचे कुलमें उत्पन्न हुए हैं और तुम भी पृथ्वीके समान महान् हो। इनके साथ विधिपूर्वक

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ ६४ ॥
इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥
स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥ ६६ ॥
संचारिणीदीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ ६७ ॥
तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलाऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥ ६८ ॥
तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यवर्त्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥ ६९ ॥
तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥ ७० ॥
इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥ ७१ ॥

पाणिग्रहण करके तुम रत्नोंसे भरी उस दक्षिण देशकी पृथ्वीकी सौत बन जाओ जिसकी तगड़ी, स्वयं रत्नोंसे भरा समुद्र बना हुआ है ॥६३॥ यदि तुम सदा मलय पर्वतकी उन घाटियोंमें विहार करना चाहो, जिनमें पानकी बेलोंसे ढके हुए सुपारीके पेड़ खड़े हैं, इलायचीकी बेलोंसे लिपटे हुए चन्दनके पेड़ लगे हैं और स्थान-स्थानपर ताड़के पत्ते फैले हुए हैं, तो तुम इनसे विवाह कर लो ॥६४॥ और फिर, ये हैं नील कमलके समान साँवले और तुम हो गोरोचन-जैसी गोरी, इसलिये यदि तुम दोनोंका विवाह हो जायगा तो तुम वैसे ही सुन्दर लगोगी जैसे बादलके साथ बिजली' ॥६५॥ सुनन्दाकी बातें इन्दुमतीके मनमें वैसे ही नहीं घर कर सकीं जैसे सूर्यके न दिखाई देनेपर बन्द कमलके भीतर चन्द्रमाकी किरणें नहीं पहुँच पातीं ॥ ६६ ॥ जैसे रातको दीपक लेकर चलते हुए जो-जो राजमार्गके भवन पीछे छूटते चलते हैं वे अँधेरेमें पड़कर धुंधले पड़ते जाते हैं, वैसे ही जिन-जिन राजाओंको छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ती जाती थी उनका मुँह उदास पड़ता जाता था ॥६७॥ जब वह रघुके पुत्र अजके आगे आकर खड़ी हुई तब अजके मनमें भी यह धुकधुकी होने लगी कि यह मुझे भी वरेगी या नहीं। पर उसी समय भुजबन्धके पास उनकी दाईं भुजा फड़क उठी जिससे उनकी शंका तत्काल दूर हो गई ॥६८॥ इन्दुमतीने जब उन सर्वाङ्ग-सुन्दर राजा अजको देखा तब वह वहीं रुक गई और फिर किसी राजाके आगे नहीं जा सकी क्योंकि जब भौरोंका झुण्ड आमके वृक्षपर पहुँच जाता है तब उसे दूसरे वृक्षोंके पास जानेकी चाह नहीं रहती ॥६९॥ सुनन्दा तो बात चलानेका बड़ा ढंग जानती ही थी, इसलिये जब उसने देखा कि चन्द्रमाके समान मुखवाली इन्दुमती अजके रूपपर लट्टू हो गई है तब वह बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बात बनाती हुई बोली—॥७०॥ 'देखो! इक्ष्वाकुके वंशमें, राजाओंमें श्रेष्ठ और सुन्दर लक्षणोंवाले एक ककुत्स्थ नामके राजा हो गए हैं, जिनके कारण उनके पीछे उत्तर कोसलके सभी राजा अपनेको काकुत्स्थ कहते आए हैं ॥७१॥ उन ककुत्स्थ राजाने जब युद्धमें

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥ ७२ ॥
ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥ ७३ ॥
जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥ ७४ ॥
यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥ ७५ ॥
पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥ ७६ ॥
आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥ ७७ ॥
असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥ ७८ ॥
कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ ७९ ॥
ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥ ८० ॥

असुरोंको मारा था तब बैलपर चढ़े हुए वे शिवके समान लगते थे। (और जानती हो उनका बैल कौन था!) स्वयं इन्द्र भगवान् उनके लिये बैल बने हुए थे और उस युद्धमें उन्होंने जिन असुरोंको मार डाला था उनकी स्त्रियोंने पतियोंसे बिछोह होनेके कारण अपने कपोलोंको चीतना ही छोड़ दिया था ॥७२॥ युद्ध समाप्त हो जानेपर जब इन्द्र अपना रूप धारण करके ऐरावतपर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे तब उनके साथ उसपर ककुत्स्थ भी ऐसे सटे बैठे थे कि ऐरावतको बार-बार अंकुश लगनेसे इन्द्रके जो भुजबन्ध ढीले पड़ गए थे, वे ककुत्स्थके भुजबन्धसे रगड़ खाते चल रहे थे ॥७३॥ उन्हीं प्रतापी ककुत्स्थके वंशमें यशस्वी राजा दिलीपने जन्म लिया जो केवल निन्यानवे यज्ञ करके ही इसलिये चुप बैठ गए कि कहीं सौ यज्ञ पूरे करनेसे इन्द्रको कष्ट न होने लगे ॥७४॥ वे प्रतापी राजा ऐसे अच्छे ढंगसे अपना राज चलाते थे और उनका ऐसा दबदबा था कि उपवनोंमें मद पीकर सोई स्त्रियोंके वस्त्रोंको वायु भी नहीं सरका पा सकता था फिर उन्हें हटानेका साहस तो भला करता ही कौन ॥७५॥ उनके पीछे उन्हींके पुत्र रघु राजा हुए, जिन्होंने सब देश जीतकर अपार धन इकट्ठा किया और विश्वजित् यज्ञमें अपना सब कुछ इतना बाँट दिया कि केवल मिट्टीका पात्र भर उनके पास बच रह गया ॥७६॥ उनका यश कहाँ-तक फैला हुआ है उसका कोई ठिकाना थोड़े ही है। पर्वतोंपर, समुद्रके पार, पातालमें, नागोंके देशमें, सब दिशाओंमें और भूत, भविष्य वर्तमान तीनों कालोंमें सब कहीं तो उनका यश फैला हुआ है ॥७७॥ जैसे इन्द्रके पुत्र जयन्त बड़े प्रतापी हुए थे वैसे ही कुमार अज भी उन्हीं प्रतापी रघुके पुत्र हैं और ये भी अपने प्रतापी पिताके समान ही राज्यका सब काम सँभालते रहते हैं ॥७८॥ इनका कुल, रूप, यौवन और नम्रता आदि गुण सब तुम्हारे ही जैसे हैं। तुम इनसे अवश्य विवाह करो जिससे रत्न और सोनेका ठीक-ठीक मेल बैठ जाय' ॥७९॥ जब सुनन्दा सब कह चुकी तब इन्दुमतीने संकोच छोड़कर

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण सगात्रयष्टिं भित्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥ ८१ ॥
यथागतायां परिहासपूर्वं सख्या सखी वेत्रभृदाबभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥ ८२ ॥
सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्त्तमिवानुरागम् ॥ ८३ ॥
तथा स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षः स्थललम्बया सः।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥ ८४ ॥
शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्रपौराः श्रवणकटुनृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥ ८५ ॥
प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥

अपनी हँसती हुई आँखें अजपर ऐसे ले जा गड़ाईं और आँखों-आँखोंमें उन्हें इस प्रकार वर लिया मानो इन्दुमतीकी वह दृष्टि ही स्वयंवरकी माला हो ॥८०॥ लाजके मारे इन्दुमती अपने प्रेमकी बात अजसे कह तो न सकी पर उस प्रेमके कारण उसे रोमांच हो आया और घुँघराले बालोंवाली इन्दुमतीके हृदयका वह प्रेम लाख छिपाए न छिप सका मानो खड़े हुए रोगँटोंके रूपमें वह प्रेम शरीर फोड़कर फूट निकल आया हो ॥८१॥ सुनन्दाने इन्दुमतीकी यह दशा देखकर ठिठोली करते हुए कहा—'आर्ये ! चलिए आगे बढ़िए।' इसपर इन्दुमतीने बड़ी आँखें तरेरकर सुनन्दाकी ओर देखा ॥८२॥ हाथीकी सूँड़के समान ढली हुई जंघाओंवाली इन्दुमतीने सुनन्दाके हाथों रघुके पुत्र अजके गलेमें वह स्वयंवरकी माला उठा पहना दी जिसके डोरेमें लगी हुई रोली साक्षात् अनुरागके समान ही शोभा दे रही थी ॥८३॥ जब अजके गलेमें फूलोंकी मंगल माला पड़कर उनकी चौड़ी छातीपर झूल गई तब उसे देखकर अजने यही समझा मानो इन्दुमतीने मेरे गलेमें अपनी भुजाएँ ही ला डाली हों ॥८४॥ जब वहाँके नगर-वासियोंने देखा कि समान गुणवाले अज और इन्दुमतीका सम्बन्ध हो गया तब वे एक साथ बोल उठे—'यह तो चाँदनी और चन्द्रमाका मेल हुआ है और गंगा, समुद्रमें जा मिली हैं।' दूसरे राजा लोग ज्यों-ज्यों ये बातें सुनते जा रहे थे, त्यों-त्यों अपने मनमें कुढ़ते जा रहे थे ॥८५॥ स्वयंवरके मंडपमें एक ओर तो अजके साथी हँसते हुए खड़े थे और दूसरी ओर उदास मुँहवाले राजा लोग खड़े थे। उस समय वह मंडप प्रातःकालके उस सरोवर-जैसा लगने लगा था जिसमें एक ओर खिले हुए कमल दिखाई दे रहे हों और दूसरी ओर मुँदे कुमुदोंका झुण्ड खड़ा हुआ हो ॥८६॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें इन्दुमती-स्वयंवर नामका
छठा सर्ग पूर्ण हुआ।

॥ सप्तमः सर्गः ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥
सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेषेषु च साम्यसूयाः ॥ २ ॥
सांनिध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥
तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥
ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ७ ॥

सातवाँ सर्ग

स्वयंवर हो चुकनेपर योग्य पतिसे ब्याही हुई अपनी बहन इन्दुमतीको साथ लेकर विदर्भ-नरेश नगरकी ओर चले। अपनी पत्नी इन्दुमतीके साथ जाते हुए अज ऐसे लग रहे थे मानो साक्षात् देवसेनाके साथ स्कन्द चले जा रहे हों ॥ १ ॥ दूसरे राजा लोग भी प्रात:कालके तारोंके समान अपने-अपने उदास मुँह लेकर अपने-अपने डेरोंमें यह कहते हुए लौट गए कि इन्दुमती ही नहीं मिली तब हम लोगोंका यह रूप और यह वेश रहा किस कामका ॥ २ ॥ उस स्वयंवरमें स्वयं इंद्राणी उपस्थित थीं इसलिये वहाँ किसीका भी यह साहस नहीं हुआ कि कुछ गड़बड़ी खड़ी कर सके। यों तो जितने हारे हुए राजा थे वे सभी मन ही मन अजसे कुढ़े बैठे थे किन्तु इन्द्राणीके वहाँ रहनेसे उनका भी क्रोध ठण्डा पड़ गया ॥ ३ ॥ जिस समय अज अपनी पत्नीके साथ नगरके बीचसे राजपथपर चले जा रहे थे, उस समय स्थान-स्थानपर उनपर सुन्दर नये-नये फूल बरसाए जा रहे थे और इन्द्रधनुषके समान रंग-बिरंगे तोरण उनके स्वागतमें सजा रखे किए गए थे। नगरमें इतनी झण्डियाँ लगाई गई थीं कि धूप तक भी रुक गई थी ॥ ४ ॥ उन्हें देखनेके लिये नगरकी सुन्दरियाँ अपना-अपना काम-धाम छोड़-छाड़कर अपने-अपने भवनोंके झरोखोंकी ओर लपक चलीं ॥ ५ ॥ एक सुन्दरी उन्हें देखनेके लिये जब झरोखेकी ओर लपकी तब सहसा उसका जूड़ा खुल पड़ा। उस हड़बड़ीमें उसे अपना जूड़ा बाँधनेकी भी सुध नहीं रही और वह अपने केश हाथमें थामे ही खिड़कीपर जा पहुँचीं। उसके बालोंके ढीले पड़ जानेसे उसमें गुंथे हुए फूल बराबर नीचे गिरते चले जा रहे थे ॥ ६ ॥ एक दूसरी स्त्री अपनी सिंगारिन दासीसे पैरोंमें महावर लगवा रही थी। वह भी अपने पैर बढ़ाती गीले पैरोंसे ही झरोखेकी ओर दौड़ पड़ी जिससे झरोखे तक लाल पैरोंके छापकी पाँत-सी बनती चली गई ॥ ७ ॥ एक तीसरी स्त्री अपनी

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ८ ॥
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ९ ॥
अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ १० ॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ११ ॥
ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ १२ ॥
स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या ।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥ १३ ॥
परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ १४ ॥
रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥ १५ ॥

आँखोंमें आँजन लगा रही थी। दाईं आँखमें तो यह लगा चुकी थी पर बाईं आँखमें आँजन लगाए बिना ही वह सलाई हाथमें थामे झरोखेकी ओर दौड़ पड़ी ॥ ८ ॥ एक और स्त्री झरोखेमें आँख जमाए खड़ी ही थी कि उसका नाड़ा खुल गया पर उसे बाँधनेकी कोई सुध ही नहीं थी। वह अपनी साड़ी हाथसे थामे इस प्रकार खड़ी थी कि उसके हाथके आभूषणोंकी चमक उसकी नाभितक पहुँची जा रही थी ॥ ९ ॥ एक स्त्री बैठी मणियोंकी तगड़ी गूँथ रही थी जिसका एक छोर उसने एक पैरके अँगूठेमें बाँध रखा था। वह अभी आधी ही पिरो पाई थी कि सहसा उठकर अजको देखनेके लिये झरोखेकी ओर लपकी चली गई। फल यह हुआ कि वहाँ पहुँचते-पहुँचते मणि तो सब निकलकर इधर-उधर बिखर फैले, केवल डोरा-भर पाँवमें बँधा रह गया ॥ १० ॥ मदिराकी गन्धसे सुवासित मुखोंवाली वे स्त्रियाँ झरोखोंमें उत्सुकताके साथ चंचल नेत्ररूपी भौंरोंसे झाँकती हुई ऐसी जान पड़ रही थीं मानों झरोखोंमें बहुतसे कमल ला सजाए गए हों और उनपर बहुतसे भौंरे मँडरा रहे हों (क्योंकि उनके सुन्दर मुखोंपर चपल आँखें ऐसी जान पड़ती थीं जैसे कमलपर भौंरे मँडरा रहे हों) ॥ ११ ॥ वे स्त्रियाँ ऐसी एकटक होकर अपने नेत्रोंसे अजका रूप पीए जा रही थीं कि उनका ध्यान किसी और कामकी ओर जा ही नहीं रहा था मानो उनकी सब इद्रियोंकी शक्ति बस एक आँखोंमें ही आ बसी हो ॥ १२ ॥ (स्त्रियाँ आपसमें कहती जा रही थीं) 'यों तो बहुतसे राजाओंने अपने आप आकर इन्दुमतीसे विवाहकी प्रार्थना की थी, पर राजकुमारीने स्वयंवर करके ही अपना विवाह करना उचित समझा और यह ठीक भी किया। जैसे लक्ष्मीने स्वयंवरमें नारायणको वर लिया वैसे ही इन्दुमतीने भी अजको वर लिया है। बताओ तो बिना स्वयंवरके उसे ऐसा योग्य वर मिल कैसे पाता! ॥ १३ ॥ यदि ब्रह्मा यह सुन्दर जोड़ी न मिलाते तो इन दोनोंको सुन्दर बनानेका उनका सारा परिश्रम व्यर्थ ही चला जाता ॥१४॥ (ये दोनों पिछले जन्ममें रति

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः संबन्धिनः सद्म समाससाद ॥ १६ ॥
ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥
महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ १९ ॥
तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥ २० ॥
हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ २१ ॥
आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥ २२ ॥
तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ २३ ॥

और कामदेव ही रहे होंगे) इसीलिये तो सहस्रों राजाओंके बीच इन्दुमतीने इन्हें प्राप्त कर लिया क्योंकि पिछले जन्मके सम्बन्धको (और कोई पहचाने या न पहचाने पर) मन तो भली भाँति पहचान ही लेता है ॥ १५ ॥ नगरकी महिलाओंके मुँहसे इस प्रकारकी बातें सुनते हुए कुमार अज अपने सम्बन्धी भोजके उस राजभवनमें जा पहुँचे जो मंगल सामग्रियोंकी सजावटसे जगमग-जगमग कर रहा था ॥ १६ ॥ वहाँ पहुँचकर वे झटसे हथिनीसे नीचे उतर पड़े और कामरूपके राजाके हाथमें हाथ देकर विदर्भराजके बताए हुए भीतरी चौकमें ऐसे पैठ गए मानो वे वहाँकी स्त्रियोंके मनमें ही जा बैठे हों ॥ १७ ॥ वहाँ वे जब सुन्दर बहुमूल्य सिंहासनपर जाकर बैठ गए तब भोजने उन्हें रेशमी वस्त्रोंके एक जोड़ेके साथ जो (दही, मधु और घी मिला हुआ) मधुपर्क रत्नके साथ अर्घ्य भेंट किया उसे उन्होंने वहाँकी नवेलियोंकी बाँकी चितवनके साथ-साथ स्वीकार कर लिया ॥१८॥ जैसे चन्द्रमाकी नई किरणें समुद्रकी उजली झागवाली लहरोंको खींचकर दूर किनारेतक ले जा पहुँचाती हैं वैसे ही रनिवासके नम्र सेवकोंने अजको भी इन्दुमतीके पास ले जा पहुँचाया ॥१९॥ वहाँ विदर्भराजके अग्निके समान तेजस्वी पुरोहितने घी आदि सामग्रियोंसे हवन करके और उसी अग्निको साक्षी बनाकर वर-वधूका गँठजोड़ा कर दिया ॥ २० ॥ जैसे आमका पेड़ अपनी पत्तियोंके साथ-साथ अशोक लताकी लाल पत्तियों का मेल होनेसे मनोहर लगने लगता है वैसे ही जब अजने अपने हाथसे अपनी बहूका हाथ थामा तब वे भी बहुत सुन्दर लगने लगे ॥२१॥ बहूका हाथ थामनेसे अजकी पहुँची के पास जब रोमांच हो आया और इन्दुमतीकी उँगलियोंसे पसीना छूटने लगा तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो कामदेवने अपने प्रेमका भाव उन दोनोंमें बराबर उठा बाँटा हो ॥२२॥ वे दोनों कनखियोंसे एक दूसरेकी ओर देखते जा रहे थे और आँखें चार होते ही एक दूसरेको देखकर लज्जासे आँखें नीची भी करते जा रहे थे । उनका यह लाजभरा संकोच देखनेवालोंका मन मोहे ले रहा था ॥२३॥ अज और इन्दुमती दोनों जब हवनकी

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ २४ ॥
नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥ २५ ॥
हविः शमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ २६ ॥
तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ २७ ॥
तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ २८ ॥
इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥ २९ ॥
लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन ॥ ३० ॥
स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥ ३१ ॥
भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ३२ ॥

अग्निके फेरे देने लगे उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो दिन और रातका जोड़ा मिलाकर सुमेरु पर्वतकी फेरी लगाए ले रहा हो ॥२४॥ तब बड़े-बड़े नितम्बोंवाली, मत्त चकोरके समान आँखोंवाली, लजीली इन्दुमतीने ब्रह्माके समान पूज्य पुरोहितके कहनेसे अग्निमें धानकी खीलें उठा छोड़ीं ॥२५॥ घी, शमीके पत्ते और धानकी खीलोंकी गन्धसे भरा हुआ पवित्र धुआँ अग्निसे निकलकर जब इन्दुमतीके कपोलतक जा पहुँचा तब ऐसा जान पड़ा मानो इन्दुमतीने नीले कमलका कर्णफूल पहन रक्खा हो ॥२६॥ विवाहकी उस अग्निका धुंआ लगनेसे इन्दुमतीकी आँखोसे आँजन मिला हुआ आँसू बह चला, कानोंके कर्णफूल कुम्हला गए और गाल लाल हो चले ॥२७॥ फेरे हो चुकनेपर सोनेके सिंहासन पर बैठे हुए वर-वधूके ऊपर स्नातकोंने, कुटुम्बियोंने, भोजराजने और पुरोहितने बारी-बारीसे गीले अक्षत छोड़कर बहुत-बहुत आशीर्वाद दिए ॥२८॥ उस भोज-कुलके दीपक, लक्ष्मीवान् राजाने अपनी बहनका विवाह-संस्कार पूरा करके सेवकोंको आज्ञा दी कि जाकर अलग-अलग सब राजाओंका भी आदर-सत्कार करो ॥२९॥ जैसे तालाबके निर्मल जलके भीतर ही घड़ियाल भी रहते हैं वैसे ही दूसरे राजा भी ऊपरसे तो बड़े प्रसन्न दिखाई देते थे पर मनमें बड़े कुढ़े जा रहे थे। वे सब विदर्भराजसे आज्ञा लेकर उनकी दी हुई सामग्रीको भेंटके बहानेसे लौटा-लौटाकर अपने-अपने देशोंको लौट चले ॥३०॥ इन राजाओंने मिलकर पहले ही निश्चय कर लिया था कि जब अज इन्दुमतीको लेकर चले तो उन्हें घेर लिया जाय और उनसे सुन्दरी इन्दुमती छीन ली जाय। इसलिए वे सब मिलकर आगे अजका मार्ग रोककर बीचमें ही ठहर गए ॥३१॥ इधर छोटी बहिनका विवाह करके विदर्भ-राजने भी अपने सामर्थ्यके अनुसार धन देकर रघुके पुत्र अजको बिदा दी और उनके साथ-साथ जाकर कुछ दूरतक उन्हें पहुँचा आए ॥३२॥ कुण्डिनपुरके राजा भोजने तीनों लोकोंमें विख्यात अजके साथ

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोशलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरंगः ॥ ३६ ॥

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ ३७ ॥

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥ ३८ ॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥ ३९ ॥

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥ ४० ॥

मार्गमें तीन रातें बिताईं और फिर वैसे ही लौट आए जैसे अमावस्या होनेपर सूर्यके पाससे चन्द्रमा लौट आता है ॥३३॥ जो राजा अजका मार्ग रोके खड़े थे, उनका कोशलपति रघुने दिग्विजयके समय धन छीन लिया था इसलिये वे पहलेसे ही उनसे जले-भुने बैठे थे । इसीलिये वे यह नहीं सह सके कि रघुका पुत्र हम लोगोंके रहते हुए स्त्रियोंमें रत्न इन्दुमतीको लिए चला जाय ॥३४॥ जब इन्दुमतीको साथ लिए अज चले जा रहे थे तब उन अभिमानी राजाओंने अजको उसी प्रकार रोक लिया जैसे इन्द्रके शत्रु वृत्रासुरने वामनके चरणको उस समय रोक लिया था जब वे बलिकी राज्य-लक्ष्मी लेकर चले थे ॥३५॥ अजने अपने पिताके मंत्रीको तो यह आज्ञा दी कि थोड़ेसे योद्धा साथ लेकर तुम इन्दुमतीकी रक्षा करो और वे स्वयं उस सेनाको रोककर उसी प्रकार खड़े हो गए जैसे बाढ़के दिनोंमें ऊँची तरंगोंवाला शोणनद गङ्गाकी धाराको रोक लेता है ॥३६॥ लड़ाई छिड़ गई । पैदल पैदलोंसे जा भिड़े, रथवाले रथवालोंसे जूझ गए, घुड़सवार घुड़सवारोंसे उलझ पड़े, हाथी-सवार हाथी सवारोंपर टूट पड़े । इस प्रकार वहाँ बराबर जोड़की लड़ाई छिड़ गई ॥३७॥ वहाँ इतनी तुरहियाँ बज रही थीं कि किसीको कुछ सुनाई ही नहीं दे पा रहा था इसलिये धनुषधारी लोग अपना कुल और नाम भी नहीं पुकार रहे थे । पर वे जो बाण चला रहे थे उनपर खुदे हुए अक्षरोंसे ही उनके नामोंका ज्ञान होता चल रहा था ॥ ३८ ॥ युद्ध-क्षेत्रमें घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूलमें रथके पहियोंसे उठी हुई धूल मिलकर और भी घनी हो उठी । हाथियोंके कानोंके डुलानेसे चारों ओर ऐसी धूल फैल गई मानो सूर्यको कपड़ेसे ला ढका गया हो ॥३९॥ वायुके कारण सेनाकी मछलीके आकारवाली जिन झंडियोंके मुँह खुल गये थे उनमें घुसती हुई धूल ऐसी जान पड़ती थीं मानो वर्षाका गँदला पानी पीती हुई सचमुचकी मछलियाँ हों ॥४०॥ धूल

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ ४१ ॥
आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥ ४२ ॥
स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ॥ ४३ ॥
प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान्।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ॥ ४४ ॥
अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः।
संप्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥ ४५ ॥
आधोरणानां गजसंनिपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥
पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ ४७ ॥
तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥ ४८ ॥

इतनी गहरी छा गई थी कि उस युद्ध-क्षेत्रमें पहियोंकी ध्वनि सुनकर ही वे समझ पाते थे कि रथ आ रहा है और अपना-पराया तब समझते थे जब दोनों ओरके सैनिक अपने-अपने राजाओंका नाम ले-लेकर युद्ध करते थे ॥४१॥ आँखोंके आगे अँधेरा छा देनेवाली और युद्ध-भूमिमें फैली हुई धूलके अँधियारेमें, शस्त्रोंसे घायल घोड़ों, हाथियों और योद्धओंके शरीरसे निकला हुआ लहू, प्रातःकालके सूर्यकी लाली-जैसा लगने लगा था ॥४२॥ पृथ्वीपर इतना रक्त बहा, इतना बहा कि नीचेकी धूल नीचे दब गई और जो धूल ऊपर उठ चुकी थी वह वायुके सहारे इधर-उधर फैलकर उस धुँए-जैसी लगने लगी जो अग्निसे उठकर ऊपर फैल चुका हो और नीचे केवल अंगारे भर बचे रह गए हों ॥४३॥ जो योद्धा चोट लगनेसे मूर्च्छित हो गए थे उन्हें उनके सारथी रथपर डालकर लौटा लाए। पर जब उनकी मूर्च्छा दूर हुई तब वे अपने सारथियोंको बहुत फटकारने लगे और जिनकी मारसे वे घायल हुए थे उन्हें जा जाकर उनके रथके झण्डोंसे पहचान-पहचानकर मारने लगे ॥ ४४ ॥ बाण चलानेमें जिन धनुषधारियोंके हाथ सधे हुए थे उनके बाण यद्यपि शत्रुओंके बाणोंसे बीचमें ही दो टूक हो जाते थे फिर भी उनमें इतना वेग होता था कि उनका फल लगा हुआ अगला भाग लक्ष्यपर पहुँच ही जाता था ॥४५॥ जहाँ हाथियोंका युद्ध हो रहा था वहाँ पैने छुरेवाले चक्रोंसे जिन हाथीवानोंके सिर कट जाते थे वे सिर बहुत देरसे पृथ्वीपर गिरते थे, क्योंकि उनके लम्बे-लम्बे बाल बाजोंके नखोंमें उलझनेसे बहुत देरतक ऊपर ही टँगे रह जाते थे ॥४६॥ एक घुड़सवारने जब अपने शत्रु घुड़सवारपर पहले चोट की तो चोट खाते ही वह घोड़ेके कन्धेपर ऐसा झुक गया कि उसमें सिरतक उठा सकनेकी भी शक्ति न रही। जिस घुड़सवारने प्रहार किया था उसने यह देखकर फिर उसपर हाथ नहीं उठाया, उलटे यह मनाने लगा कि वह फिरसे जी उठे (और फिर उससे लड़ा जाय क्योंकि मरेको मारना कायरता है) ॥४७॥ जो कवचधारी योद्धा अपने प्राण हथेलीपर लिए लड़ रहे थे, उन्होंने

शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥ ४९ ॥
उपान्तयोर्निष्कुषितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥ ५० ॥
कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥ ५१ ॥
अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
व्यश्वौ गदाव्याहतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥ ५२ ॥
परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरः प्रार्थितयोर्विवादः ॥ ५३ ॥
व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥ ५४ ॥
परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत्र एव वह्निः ॥ ५५ ॥
रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ॥ ५६ ॥

नंगी तलवारसे जब हाथियोंके दाँतोंपर चोटें कीं तब उनमेंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं । उन चिनगारियोंसे हाथी इतने डर गए कि वे अपनी सूँड़के जलसे उस आगको बुझाने लग गए ॥४८॥ वह युद्धक्षेत्र मृत्युदेवके उस मदिरालय-सा जान पड़ने लगा जिसमें बाणसे कटे हुए सिर ही मानो फल हों, उलटकर गिरे हुए कूँड़ ही मानो प्याले हों और बहता हुआ रक्त ही मानो मदिरा हो ॥ ४९ ॥ एक स्थानपर किसीके बाँहका जो टुकड़ा कटा पड़ा था और जिसे गिद्ध आदि पक्षियोंने नोच रक्खा था, उसे माँसके लोभसे एक सियारिन खींच ले गई, पर ज्योंही उसने मुँह मारा त्योंही बाँहमें बँधे हुए भुजबन्धकी नोकसे उसका तालू छिद गया और उसने उसे वहीं छोड़ दिया ॥ ५० ॥ एक योद्धाका सिर जब शत्रुकी तलवारसे कट गया तब युद्धमें मृत्यु होनेसे वह देवता हो गया और अपने बाएँ एक अप्सरा लिए हुए विमानपर चढ़कर आकाशसे यह देखने लगा कि मेरा धड़ रणभूमिमें किस प्रकार नाच रहा है ॥ ५१ ॥ दो योद्धाओंके सारथी जब मारे जा चुके तब वे अपने आप रथ भी चला रहे थे और लड़ भी रहे थे । पर जब उनके घोड़े भी मारे जा चुके तब वे रथसे उतरकर पैदल ही गदा लेकर लड़ने लगे और जब गदाएँ भी टूट गईं तब वे मल्ल-युद्धपर उतर आए ॥ ५२ ॥ दो वीर जब एक दूसरेके प्रहारसे एक साथ मारे गए तब दोनों देवता होकर जब स्वर्गमें पहुँचे तब वहाँ एक ही अप्सरापर दोनों रीझ गए और वहाँ भी वे आपसमें झगड़ने लगे ॥ ५३ ॥ जैसे समुद्रकी दो लहरें आगे-पीछे झोंका लेनेवाले वायुसे हटती-बढ़ती रहती हैं वैसे ही वे दोनों सेनाएँ भी कभी जीतती थीं और कभी हारती थीं ॥ ५४ ॥ यद्यपि शत्रुओंने अजकी सेनाको मारकर भगा दिया था पर महापराक्रमी अज, शत्रुकी सेनामें बढ़ते ही चले गए क्योंकि वायु धुएँको भले उड़ा दे पर आग तो उसके सहारे घासफूसको पकड़ती ही चली जाती है ॥ ५५ ॥ जैसे प्रलयके समय वराह भगवान् समुद्रके बढ़े हुए जलको चीरते चल रहे थे वैसे ही घोड़ेपर चढ़े तूणीर बाँधे स्वाभिमानी वीर अज अकेले ही शत्रुओंकी सेनाको चीरते चले जा रहे थे ॥ ५६ ॥ वे

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥ ५७ ॥
स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः ।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥ ५८ ॥
सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव ॥ ५९ ॥
सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथैः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥ ६० ॥
प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥ ६१ ॥
ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥
ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे ॥ ६३ ॥
शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः ।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥ ६४ ॥
सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥ ६५ ॥

इतनी फुर्तीसे बाण चला रहे थे कि यही पता नहीं चलता था कि उन्होंने कब अपना हाथ तूणीरपर डाला और कब बाण निकाला, वरन् ऐसा जान पड़ता था कि वे जब कानतक धनुषकी डोरी खींचते थे तब उसीमेंसे शत्रुओंका नाश करनेवाले बाण निकलते चले जा रहे थे ॥ ५७ ॥ जिन राजाओंने क्रोधसे चबा-चबाकर ओठोंको लाल कर लिया था और जो भौंहे तान-तानकर हुंकार करते हुए आगे बढ़ रहे थे उनके सिर काट-काटकर अजने सारी पृथ्वी पाट दी ॥५८॥ जब उन राजाओंने यह घमासान युद्ध देखा तब वे रथ, घोड़े और पैदल लेकर कवचतक काट देनेवाले पैने अस्त्रोंसे पूरा बल लगाकर एक साथ अजपर टूट पड़े ॥ ५९ ॥ इन राजाओंने अजपर इतने अस्त्र बरसाए कि उनका रथ ढक गया पर जैसे कोहरेके दिन प्रभात होनेका ज्ञान धुंधले सूर्यको देखकर होता है वैसे ही अजका पता उनके रथकी पताकाके सिरेको देखकर मिलता जा रहा था ॥६०॥ तब महाराज रघुके पुत्र, कामदेवके समान सुन्दर सावधान अजने प्रियंवदका दिया हुआ वह गन्धर्व अस्त्र राजाओंपर उठा छोड़ा जिससे निद्रा आ जाती है ॥६१॥ अस्त्र छोड़ते ही उन राजाओंकी सेनाके हाथ ऐसे रुक गए कि वे अपने धनुषतक न खींच पाए। उनकी पगड़ियाँ गिरकर कन्धोंपर झूल गईं और सारी सेना झंडियोंके डंडोंके सहारे जा सोई ॥६२॥ उस समय इन्दुमतीके चुम्बनका रस लेनेवाले अपने ओठोंसे शंख फूंकते हुए अज ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपने बाहुबलसे उत्पन्न किए हुए मूर्तिमान् यशको ही पीए डाल रहे हों ॥ ६३ ॥ शंखकी ध्वनिको पहचानकर अजके योद्धा फिर लौट आए। सोते हुए शत्रुओंके बीच अज उन्हें ऐसे लगे मानो मुंदे हुए कमलोंके बीच चन्द्रमा चमक रहा हो। ॥ ६४ ॥ तब उन मूर्च्छित पड़े हुए राजाओंकी ध्वजाओंपर रुधिरसे सने बाणोंकी नोकोंसे यह लिख दिया गया—अरे राजाओं! इस समय राजकुमार अजने तुम लोगोंका यश तो ले ही लिया पर

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥
इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि पश्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ ६७ ॥
तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासवाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥ ६८ ॥
हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥ ६९ ॥
इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञा मुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्त्ता बभूव ॥ ७० ॥
प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत् न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥७१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अजेनेन्दुमतीपाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ॥

दया करके प्राण नहीं लिए ॥६५॥ अजने जब अपने सिरका कूँड़ उतारा तो उनके बाल छितरा गए, उनके माथेपर पसीना आ छाया और धनुषके एक छोरपर बाँह टेककर वे इन्दुमतीके पास आकर बोले - ॥६६॥ 'इन्दुमती ! चलो देखो, युद्धभूमिमें राजा लोग इस प्रकार सोए पड़े हैं कि बालक भी आकर उनके शस्त्र छीन ले जाय। देखो, ये इसी बलपर तुम्हें मेरे हाथोंसे छीनने चले थे ॥६७॥ जब इन्दुमतीको विश्वास हो गया कि शत्रु मारे गए तब उनका मुँह उस दर्पणके समान सुन्दर लगने लगा जिसपर पड़ी हुई साँसकी भाप पोंछ दी गई हो ॥६८॥ अपने पतिका पराक्रम देखकर इन्दुमती प्रसन्न तो हुई पर वह इतनी लजा गई कि उसके मुँहसे उनके अभिनन्दनके लिये शब्द-तक न निकले। पर जैसे नये बादलोंकी बूंदोंसे भींगी हुई पृथ्वी मोरके शब्दोंसे मेघोंका स्वागत करती है वैसे ही उसकी सखियोंने जो अजकी प्रशंसा की वह मानो इन्दुमतीने ही उनका अभिनन्दन किया हो ॥६९॥ इस प्रकार पवित्र अज उन राजाओंके सिरोंपर बायाँ पैर रखकर सुन्दरी इन्दुमतीको लेकर बढ़ चले। उनके रथके घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूलसे इन्दुमतीके केश भर गए थे और वह साक्षात् विजयलक्ष्मी-जैसी जान पड़ने लगी थी ॥७०॥ रघुको यह समाचार पहले ही मिल चुका था इसलिये उन्होंने सुन्दरी पत्नीके साथ आए हुए विजयी अजका बढ़कर स्वागत किया और फिर उन्हें कुटुम्बका भार सौंपकर मोक्षकी साधनामें जा लगे क्योंकि सूर्यवंशी राजाओंका यह नियम ही रहा है कि जब पुत्र कुलका भार सँभालनेके योग्य हो जाता है तब वे घरमें नहीं रहते ॥७१॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अजका विवाह
नामक सातवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ अष्टमः सर्गः ॥

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।
बसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥ १ ॥
दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् ।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥ २ ॥
अनुभूय वशिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥ ३ ॥
स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्ववविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ ४ ॥
रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥ ५ ॥
अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ ६ ॥
सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ ७ ॥
अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ ८ ॥

आठवाँ सर्ग

अभी अजने विवाहका सुन्दर मङ्गल-सूत्र उतारा भी नहीं था कि रघुने अजके हाथोंमें सारी पृथ्वी इस प्रकार सौंप दी मानो वह भी दूसरी इन्दुमती हो ॥१॥ जिस राज्यको पानेके लिए दूसरे राजकुमार खोटे उपायोंका प्रयोग करनेमें भी नहीं चूकते, उसी राज्यको अजने केवल अपने पिताकी आज्ञा मानकर ही स्वीकार किया, भोगकी इच्छासे नहीं ॥२॥ जिस समय अजका राज्याभिषेक हुआ उस समय वशिष्ठजीने उनके ऊपर जो पवित्र जल छिड़का वह पृथ्वीपर भी पड़ा। उसके कारण पृथ्वीसे जो भाप निकली वह मानो यह सूचित करती थी कि उसे भी अजके राजा होनेसे सन्तोष है ॥३॥ अथर्ववेदके जाननेवाले वशिष्ठजीने जब उनका राज्याभिषेक कर दिया तब वे इतने तेजस्वी हो उठे कि उनके सभी शत्रु काँप गए क्योंकि जब क्षात्र तेज के साथ ब्रह्मतेज मिल जाता है तब वह वैसा ही बलशाली हो जाता है जैसे वायुका सहारा पाकर अग्नि ॥४॥ वहाँकी प्रजा ने भी अजके राजा होनेपर यही समझा मानो रघु ही फिरसे युवा हो गये हों क्योंकि अजने केवल रघुकी राज्यलक्ष्मीको ही नहीं पाया था वरन् रघुके सब गुण भी उनमें आ समाए थे ॥५॥ उस समय संसारमें केवल दो ही वस्तुएँ एक दूसरेसे मिलकर सुन्दर जँची, एक तो पिताका भरापूरा राज्य पाकर अज और दूसरे अजकी नम्रता पाकर उनका नया यौवन ॥ ६ ॥ महाबाहु अजने यह समझकर नई पाई हुई पृथ्वीका दयालुताके साथ पालन करना प्रारम्भ किया कि कहीं अधिक कठोरता का व्यवहार करनेसे वह भी उसी प्रकार न घबरा जाय जैसे नई ब्याही हुई बहू कठोर व्यवहारसे घबरा जाती है ॥७॥ वे अपनी सारी प्रजाको बहुत प्यार करते थे। इससे सभी लोग अपने-अपने मनमें यही सोचते थे

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ९ ॥
अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥
गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥
तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ १२ ॥
रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ १३ ॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ १४ ॥
प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥ १५ ॥
यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥ १६ ॥

कि वे हमें ही सबसे अधिक मानते हैं। बात यह थी कि जैसे सैकड़ों नदियोंसे समुद्र सदा एकसा ही व्यवहार करता है वैसे ही वे भी न किसीका बुरा चाहते थे न किसीसे बैर करते थे ॥८॥ वे न तो बहुत कठोर थे और न बड़े कोमल। उन्होंने बीचका मार्ग पकड़ लिया था इसीलिये उन्होंने अपने शत्रु राजाओंको राजगद्दीसे उतारे बिना ही उनको उसी प्रकार झुका दिया जैसे मध्यम गतिसे बहनेवाला वायु वृक्षोंको उखाड़ता तो नहीं पर झुका अवश्य देता है ॥९॥ जब रघुने देखा कि प्रजामें हमारे पुत्र अजका बड़ा आदर है और वह भली-भाँति राज कर रहा है तब उन्हें इतना आत्मज्ञान हो गया कि उन्होंने स्वर्गके उन सुखोंकी चाह भी छोड़ दी जो कभी न कभी नष्ट हो ही जाते हैं ॥१०॥ दिलीपके वंशमें जितने राजा हुए वे बुढ़ौतीमें सब राज-काज अपने गुणवान् पुत्रको सौंपकर नियमसे पेड़की छालका वस्त्र पहननेवाले संन्यासियोंके समान जंगलमें चले जाते थे ॥११॥ इसलिये जब राजा रघु जंगलमें जानेको उद्यत हुए तब अजने मनोहर पगड़ीवाला अपना सिर उनके चरणोंमें नवाकर प्रार्थना की कि आप मुझे छोड़कर न जाइए ॥१२॥ अपने पुत्र अजको रघु बहुत प्यार करते थे, इसलिये अजकी आँखोंमें आँसू देखकर वे रुक तो गए पर जैसे साँप अपनी केंचुली छोड़कर फिर उसे नहीं ग्रहण करता वैसे ही उन्होंने जिस राज्य-लक्ष्मीको एक बार छोड़ दिया उसे फिर स्वीकार नहीं किया ॥१३॥ वे संन्यास लेकर नगरके बाहर ही एक कुटियामें रहने लगे। जिस भूमिपर उनके पुत्र राज्य कर रहे थे वह जितेन्द्रिय रघुको फल-फूल देकर उसी प्रकार सेवा कर रही थी मानो उनकी पतोहू ही हो ॥१४॥ उस समय सूर्य-वंश उस आकाशके समान लग रहा था जिसमें एक ओर चन्द्रमा छिप रहे हों और दूसरी ओर सूर्य निकल रहे हों (क्योंकि एक ओर राजा रघु संन्यास लेकर शान्तिका जीवन बिता रहे थे और दूसरी ओर ऐश्वर्यशाली अज राजा बनकर गद्दीपर बैठे हुए थे) ॥१५॥ संन्यासी बने हुए रघु और राजा बने हुए अजको देखकर लोगोंने यह समझ लिया कि मोक्ष और ऐश्वर्य देनेवाले धर्मोंके दो अंश पृथ्वीपर साथ-साथ चले

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥ १७ ॥
नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ १८ ॥
अनयत्प्रभुशक्तिसंपदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ १९ ॥
अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ २० ॥
पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकाञ्चनः ॥ २१ ॥
न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥ २२ ॥
इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥ २३ ॥
अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परम पदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ २४ ॥
श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ २५ ॥

आए हैं ॥१६॥ एक ओर अज तो नीति जाननेवाले मंत्रियोंके साथ दिग्विजयका विचार करने लगे, दूसरी ओर रघु भी मोक्ष-पद पानेके लिये तत्वदर्शी योगियोंके साथ शास्त्र-चर्चा करने लगे ॥१७॥ इधर युवा राजा अज तो जनताके कामोंकी देख-भाल करनेके लिये न्यायके आसनपर बैठते थे उधर बूढ़े रघु अपने मनको साधनेका अभ्यास करनेके लिये अकेलेमें कुशाके पवित्र आसनपर बैठते थे ॥१८॥ इधर अजने तो अपने प्रभुत्व और अपनी शक्तिसे आस-पासके शत्रु राजाओंको वशमें कर लिया था और उधर रघुने अपने योगबलसे शरीरके भीतर रहनेवाले (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन) पाँचों पवनोंको अपने वशमें कर लिया था ॥१९॥ अजने तो पृथ्वीपर शत्रुओंकी सब चालें नष्टकर डालीं और रघुने ज्ञानकी अग्निसे अपने सारे कर्मोंको राख कर डाला ॥२०॥ एक ओर अज (संधि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव इन) छह नीतियोंका परिणाम समझकर उनका प्रयोग करते जा रहे थे, दूसरी ओर मिट्टी और सोना दोनोंको बराबर समझनेवाले रघुने भी प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंको जीत लिया था ॥२१॥ जैसे दृढ़ प्रतिज्ञावाले अज भी किसी भी कामको उठाकर उसे तबतक नहीं छोड़ते थे जबतक वह पूरा नहीं हो जाता था, वैसे ही स्थिर चित्तवाले रघुने भी तबतक योगक्रिया नहीं छोड़ी जबतक उन्हें परमात्माका दर्शन नहीं हो गया ॥२२॥ इस प्रकार एक ओर अज तो सारे संसारका ऐश्वर्य प्राप्त करनेमें लगे हुये थे और दूसरी ओर रघु मोक्ष प्राप्त करनेमें मन लगाए हुए थे। अजने अपने शत्रुओंका बढ़ना रोककर और रघुने इन्द्रियोंको वशमें करके अपनी-अपनी सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं ॥२३॥ सबको समान समझनेवाले रघुने अजके कहनेसे कुछ वर्ष संसारमें और बिताए। फिर योगबलसे सदा प्रकाशमान, अविनाशी परमात्मामें वे लीन हो गए ॥२४॥ अपने पिताके देहत्यागका समाचार पाकर अग्निहोत्र करनेवाले अज बहुत रोए। उन्होंने अपने पिताके

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥
स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ २७ ॥
क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥ २८ ॥
दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥
ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥ ३० ॥
बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥
स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजः ।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२ ॥
अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ ३३ ॥

शरीरका दाहसंस्कार नहीं किया वरन् योगियोंके साथ उनके शरीरको ले जाकर पृथ्वीमें समाधि दे दी (क्योंकि संन्यासियोंका दाहसंस्कार नहीं किया जाता)[1] ॥२५॥ यद्यपि रघु-जैसे जो महात्मा योगबलसे शरीर त्याग करके मुक्त हो जाते हैं उन्हें अपने पुत्रोंसे पिण्डदानकी आवश्यकता नहीं रहती, फिर भी अज तो यह जानते ही थे कि पिताका संस्कार किस प्रकार करना चाहिए । इसलिये उन्होंने बड़ी भक्तिसे अपने पिताके श्राद्ध आदि सारे संस्कार पूरे किए ॥२६॥ तत्त्वज्ञानी पण्डितोंने जब अजको भली भाँति समझा दिया कि तुम्हारे पिताने मोक्ष पा लिया है तब कहीं उन्हें धीरज हो पाया और उनका शोक कम हो पाया । तब वे धनुष-बाण लेकर सारे संसारपर एकच्छत्र राज्य करने लगे ॥ २७ ॥ पृथ्वी और इन्दुमती दोनों ही अज-जैसे महापराक्रमीको पतिके रूपमें पाकर बड़ी प्रसन्न हुई । बदलेमें पृथ्वीने तो बहुतसे रत्न उत्पन्न किए और इन्दुमतीने वीर पुत्रको जन्म दिया ॥ २८ ॥ ये अजके पुत्र वे ही थे जो दस सौ (असंख्य) किरणोंवाले सूर्यके समान तेजस्वी थे, जिनका यश दसों दिशाओंमें फैला हुआ था, जो उन रामके पिता थे जिन्होंने दस सिरवाले रावणको मारा था, और जिन्हें पंडित लोग दशरथ कहते हैं ॥२९॥ इस प्रकार वेदोंका अध्ययन करके ऋषियोंके ऋणसे, यज्ञ करके देवताओंके ऋणसे और पुत्र उत्पन्न करके अपने पितरोंके ऋणसे मुक्त होकर अज वैसे ही सुशोभित हुए जैसे मण्डलसे छूटकर सूर्य शोभा देता है ॥३०॥ अजने केवल अपने धनसे ही दूसरोंको लाभ नहीं पहुँचाया वरन् अपने गुणोंसे भी लोगोंका उपकार किया, क्योंकि अपने पराक्रमसे तो उन्होंने दीन-दुर्बलोंका डर दूर किया और अपने शास्त्रके ज्ञानसे विद्वानोंका सत्कार किया ॥३१॥ एक दिन अच्छी संतानवाले, प्रजापालक राजा अज अपनी रानी इन्दुमतीके साथ नगरके उपवनमें उसी प्रकार विहार कर रहे थे जैसे देवताओंका पालन करनेवाले इन्द्र अपने नन्दन-वनमें इन्द्राणीके साथ विहार किया करते हैं ॥ ३२ ॥ उसी समय दक्खिनी समुद्रके तटपर गोकर्णमें बसे हुए शंकरको वीणाके साथ गाना सुनानेके लिये नारदजी आकाशमें बढ़े चले जा रहे थे ॥३३॥

---

[1] ज्ञानाग्निदग्ध देहस्य पुनर्दाहो न विद्यते ॥

कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥ ३४ ॥
भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ ३५ ॥
अभिभूय विभूतमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥ ३६ ॥
क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला ।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचंद्रा तमसेव कौमुदी ॥ ३७ ॥
वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥ ३८ ॥
उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः ।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥ ३९ ॥
नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥ ४० ॥
प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ ४१ ॥
पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया ।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥

उनकी वीणाके सिरेपर स्वर्गीय फूलोंसे गुँथी हुई एक माला लटकी हुई थी । कहा जाता है कि उस समय वेगसे चलनेवाले वायुके कारण वह माला खिसककर नीचे ऐसे गिर गई मानो वायुने ही गन्धके लोभसे उसे वहाँसे उतार लिया हो ॥ ३४ ॥ वह माला तो उसपरसे गिर गई पर फूलोंके साथ लगे हुए जो भौंरे अभी-तक नारदजीकी वीणापर मँडराए जा रहे थे उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वायुसे अपमानित होकर वीणा भी काजल मिले हुए आँसू बहा रही हो ॥३५॥ उस स्वर्गीय मालामें इतना अधिक मधु और इतनी अधिक गन्ध थी कि उसके आगे बसन्तके वृक्षों और लताओंका सारा मधु और सुवास लजा जाता था । वही माला अचानक रानी इन्दुमतीके बड़े-बड़े स्तनोंके ठीक बीचमें आ गिरी ॥३६॥ अजकी प्रियतमाने क्षणभरके लिये तो अपने स्तनोंकी सखी उस मालाको देखा पर देखनेके साथ ही उसने व्याकुल होकर ऐसे आँखें मूंद लीं मानो राहुने चन्द्रमाको आ ग्रसा हो ॥३७॥ प्राणहीन होनेसे वह तो गिरी ही साथ ही, अज भी गिर पड़े क्योंकि गिरते हुए तेलकी बूंदोंके साथ क्या दीपककी लौ पृथ्वीपर नहीं गिर पड़ा करती ? ॥३८॥ यह देखते ही उनके सेवकोंने जो घबराकर रोना-चिल्लाना प्रारम्भ किया उससे डरकर तालाबोंमें रहनेवाले पक्षी भी इस प्रकार चिल्ला उठे मानो वे भी उनके दुःखमें दुखी हो उठे हों ॥३९॥ पंखा डुलाने और दूसरे अनेक उपायोंसे किसी किसी प्रकार अजकी मूर्च्छा तो दूर हो गई पर रानी इन्दुमती तो बस ज्योंकी त्यों पड़ी रही क्योंकि ओषध तो तभी काम किया करती है न जब आयु शेष हो ॥४०॥ तब उस अत्यन्त प्यारे राजाने अपनी मृत पत्नीको अपनी गोदमें उठाकर उसी प्रकार लिटा लिया जैसे तार मिलानेके समय वीणा गोदमें रख ली जाती है ॥४१॥ प्राण निकल जानेसे इन्दुमतीके शरीरका रंग पीला पड़ गया था इसलिये उसे गोदीमें लिटाए हुए राजा उस प्रातःकालके चन्द्रमाके समान दिखाई पड़ रहे थे जिसकी गोदमें

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ ४३ ॥
कुसुमान्यपि गात्रसंगमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यता विधेः ॥ ४४ ॥
अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ ४५ ॥
स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥
अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
पवनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥ ४७ ॥
कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ ४८ ॥
ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥ ४९ ॥
दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥ ५० ॥
सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥ ५१ ॥

मृगकी धुँधली छाया हो ॥४२॥ उनका स्वाभाविक धीरज जाता रहा, उनका गला भर आया और वे दाढ़ मारकर रोने लगे, क्योंकि तपनेपर तो लोहा भी नरम हो जाता है फिर देहधारियोंकी तो बात ही क्या है ॥४३॥ (वे रोते हुए कहते जा रहे थे)—'हाय ! जब फूल भी शरीरको छूकर प्राण ले सकते हैं तब तो दैव चाहे जिस भी वस्तुसे किसीको मार डाल सकता है ॥४४॥ या संभवतः कोमल वस्तुको मारनेके लिये दैव कोमल वस्तुका ही प्रयोग किया करता हो, क्योंकि मैंने पहले ही देख लिया है कि नलिनीको नष्ट करनेके लिये पाला ही बहुत हुआ करता है ॥४५॥ और यदि इस मालामें ही कुछ प्राण हरनेकी शक्ति हो तो लो मैं भी इसे छातीपर धरे लेता हूँ, पर वह मुझे क्यों नहीं मार डाल रही है । यह ईश्वरकी इच्छा ही तो है कि कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष बन जाता है ॥४६॥ या यह मेरा दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि विधाताने इस मालाको ऐसी बिजली बनाकर गिराया है जिसने पेड़को तो छोड़ दिया और उसके साथ लिपटी हुई लताको जला डाला ॥४७॥ प्यारी इन्दुमती ! मैंने तुम्हारे प्रति बहुत अपराध किए पर तुमने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया फिर आज एकाएक बिना अपराधके ही तुम मुझे बाततक करने योग्य भी क्यों नहीं समझ रही हो ? ॥४८॥ अरी मधुर हँसी हँसनेवाली ! तुम सचमुच यही समझे बैठी हो कि मैं तुमसे झूठा प्रेम करता रहा हूँ इसीलिये तो मुझसे बिना पूछे तुम सदाके लिये परलोक सिधार गईं ॥४९॥ मेरे ये नीच प्राण जब प्रियाके साथ-साथ एक बार चले गए थे तब ये लौट क्यों आए। जब इनकी करनी ही ऐसी है तब ये भोगें दुःख। मैं क्या कर सकता हूँ ? ॥५०॥ अभी तुम्हारे मुँहपर सम्भोगकी थकावटके पसीनेकी बूँदें भी नहीं सूखीं और तुम चल बसीं। धिक्कार है मनुष्यकी इस नश्वरताको ॥५१॥ मैंने कभी मनमें भी तुम्हारी बुराई नहीं की; फिर

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ ५२ ॥
कुसुमोत्खचिन्तान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्त्तनशङ्कि मे मनः ॥ ५३ ॥
तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥ ५४ ॥
इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥ ५५ ॥
शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ ५६ ॥
नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥ ५७ ॥
इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥ ५८ ॥
कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ ५९ ॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ ६० ॥

तुम मुझे इस प्रकार क्यों छोड़े चली जा रही हो (सच पूछो तो) मैं पृथ्वीका पति तो नाम भरको ही हूँ, मेरा सच्चा प्रेम तो केवल तुमसे ही है ॥५२॥ अरी सुन्दर जाँघोंवाली ! फूलोंसे गुँथी और भौंरोंके समान काली तुम्हारी लटें जब वायुसे हिलती हैं तब मेरे मनमें यही आशा होने लगती है कि तुम अवश्य जी उठोगी ॥५३॥ इसलिये प्रिये ! जैसे रातमें चमकनेवाली बूटियाँ अपने प्रकाशसे हिमालयकी अँधेरी गुफामें भी चाँदनी फैला देती हैं वैसे ही तुम भी फिरसे जागकर मेरा दुःख मिटा डालो ॥५४॥ मौन भौंरोंसे भरे हुए और रातमें मुँदे अकेले कमलके जैसा लगनेवाला तुम्हारा बिखरी अलकोंसे ढका मौन मुख देख देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा है ॥५५॥ देखो, चन्द्रमाको रात्रि फिर मिल जाती है, चकवेको चकवी भी प्रातः मिल ही जाती है इसलिये उन्हें बिछोहका दुःख थोड़ी ही देरतक रहता है पर तुम तो सदाके लिये चली जा रही हो, फिर बताओ मैं विरहकी आगमें जलकर क्यों न भस्म हो जाऊँ ? ॥५६॥ कोमल पल्लवोंका बिछौना भी तुम्हारे जिस शरीरमें चुभता रहा करता था, बताओ सुन्दर जंघावाली ! वही तुम्हारा शरीर चितापर कैसे चढ़ाया जा सकेगा ॥५७॥ क्या तुम नहीं देख रही हो कि तुम्हारी हावभेरी चालके बन्द हो जानेसे तुम्हारी एकान्त सखी यह तगड़ी भी तुम्हें सदाके लिये सोती देखकर तुम्हारे शोकमें मरी-सी दिखाई दे रही है ॥५८॥ तुम्हारी मीठी बोली कोयलोंने ले ली, तुम्हारी धीमी चाल कलहंसिनियोंने ले ली, तुम्हारी चंचल चितवन हरिणियोंको मिल गई और तुम्हारा चुलबुलापन वायुसे हिलती हुई लताओंमें जा पहुँचा ॥५९॥ अपने स्वर्ग जानेकी उतावलीमें यद्यपि मुझे बहलानेके लिये अपने गुण तुम यहीं छोड़े जा रही हो पर तुम्हारे विछोहसे तो मैं इतना अधीर हो उठा हूँ कि इन सबसे मेरे हृदयको किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं मिल पा रहा है ॥६०॥

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसांप्रतम् ॥ ६१ ॥

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥ ६२ ॥

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम्।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥ ६३ ॥

तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ॥ ६४ ॥

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥ ६७ ॥

मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ ६८ ॥

प्रिये ! उस आम और प्रियंगुलताका विवाह करना तुमने ही पक्का किया था। इन दोनोंका विवाह किए बिना तुम्हारा इस प्रकार चला जाना ठीक नहीं है ॥६१॥ देखो, जिस अशोकको तुमने अपने चरणोंकी ठोकर लगाई थी वह जब आगे चलकर फूलेगा तब तुम्हारे केशोंको सजानेवाले उसके फूलोंको मैं जलदानकी अञ्जूलिमें कैसे ले सकूँगा ॥६२॥ सुन्दरी ! तुम्हारे झनझनाते बिछुओंवाले चरणकी ठोकर किसीको भी नहीं मिल पाती पर तुमने बड़ी कृपा करके उस अशोकको ठोकर जा ही लगाई थी। अब उन तुम्हारे चरणोंकी कृपाको स्मरण करके ही यह अशोकका वृक्ष फूलोंके आँसू बरसा बरसाकर तुम्हारे लिए रोए जा रहा है ॥६३॥ अरी मधुरभाषिणी ! अपने श्वासके समान सुगन्धवाले मौलसिरीके फूलोंकी जो सुन्दर माला तुम मेरे साथ बैठी गूँथ रही थीं उसे अधगुँथी ही छोड़कर क्यों पड़ी सो रही हो ॥६४॥ तुम्हारे सुखदुःखकी साथिन ये सखियाँ पास ही खड़ी हैं, शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान प्रसन्न मुखवाला तुम्हारा पुत्र भी यहीं है और तुम्हारा अनन्य प्रेमी मैं भी तुम्हारे पास हूँ, फिर हम लोगोंको छोड़कर चले जानेकी जो तुमने ठान ली है यह तुम्हारी बड़ी कठोरता है ॥ ६५ ॥ आज मेरा धीरज छूट गया, सारा आनन्द जाता रहा, गाना-बजाना सब समाप्त हो गया, ऋतुएँ फीकी पड़ गईं, पहनना-ओढ़ना बेकाम हो गया और शय्या भी सूनी हो गई ॥ ६६ ॥ तुम मेरी पत्नी भी थी, सम्मति देनेवाली मित्र भी थी, एकान्तकी सखी भी थी और गान-विद्या आदि कलाओंकी ललित क्रियाओंमें प्रिय शिष्या भी थी। तुम्हीं वताओ, तुम्हें मुझसे छीनकर निर्दयी मृत्युने मेरा क्या नहीं लूट लिया ॥ ६७ ॥ अरी मदभरे नयनोंवाली ! तुम्हारे जिस मुखने मेरे मुँहसे छूटा हुआ स्वादिष्ट आसव पी रक्खा है, उस मुखसे अब तुम आँसुओंके जलसे मिली हुई

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम्।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥ ६९ ॥
विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥ ७० ॥
अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥ ७१ ॥
प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात्।
न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥ ७२ ॥
अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम्।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥ ७३ ॥
स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः।
परिवाहमिवावलोकयन्स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥ ७४ ॥
अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ ७५ ॥
असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम्।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥ ७६ ॥
मयि तस्य सुवृत्त वर्तते लघुसंदेशपदा सरस्वती।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥ ७७ ॥

गँदली जलाञ्जलिको परलोकमें कैसे पी सकोगी ॥ ६८ ॥ इतना ऐश्वर्य होनेपर भी तुम्हारे बिना अजका सारा सुख मिट्टी हो गया है क्योंकि मुझे और किसी वस्तुसे भी प्रेम नहीं है क्योंकि मेरे तो सब सुखोंका केन्द्र एक तुम्हीं भर थी' ॥६९॥ जब कोसलनरेश अज अपनी प्रियाके लिये इस प्रकार शोक करके रो रहे थे तब उन्हें देखकर वृक्ष भी मानो अपनी शाखाओंसे रस बहा बहाकर रोने लगे थे ॥७०॥ कुटुम्बियोंने अजकी गोदीसे ज्यों-त्यों करके इन्दुमतीका शरीर उतारकर उसी पुष्पमालासे उसका शृङ्गार करके अगर और चन्दनकी लकड़ियोंसे उसका दाह-संस्कार कर दिया ॥७१॥ अपनी पत्नीके वियोगमें राजा अज इतने व्याकुल हो गए थे कि उन्हें जीनेतककी सारी साध जाती रही थी किन्तु वे इन्दुमतीके साथ इसलिये चितापर नहीं चढ़े कि कहीं लोग यह न कहने लगें कि राजा अजने विद्वान् होकर भी अपनी स्त्रीके पीछे प्राण दे दिए ॥ ७२ ॥ जिस इन्दुमतीके केवल गुण भर बचे रह गए थे उस प्रियाके सब क्रिया-कर्म शास्त्र जाननेवाले अजने दस दिन बीत जानेपर उसी उपवनमें बड़े धूम-धामसे पूरे किए ॥७३॥ इन्दुमतीके वियोगमें अज ऐसे उदास रहने लगे जैसे रात बीत जानेपर चन्द्रमा मन्द पड़ जाता है। जब वे नगरमें घुसे तब उन्हें देखकर नगर-भरकी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं मानो अजका शोक इतनी आँखोंसे फूटकर बहा निकला आ रहा हो ॥७४॥ उन दिनों वशिष्ठजी यज्ञ कर रहे थे। उन्होंने आश्रममें ही बैठे-बैठे योगबलसे राजाके शोकका कारण जान लिया और एक शिष्यसे अजके पास सन्देश कहला भेजा। शिष्यने अजसे आकर कहा—॥७५॥ 'वशिष्ठ मुनिका यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है इसलिये आपके दुःखको जानते हुए भी न तो वे आ ही सक रहे हैं और न आपको इस शोकमें धीरज ही बँधा सक रहे हैं ॥७६॥ सच्चरित्र राजा! मैं उनका एक छोटासा सन्देश लाया हूं, उसे आप धीरजके

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ ७८ ॥
चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ ७९ ॥
स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥ ८० ॥
भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥ ८१ ॥
क्रथकैशिकवंशसंभवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ ८२ ॥
तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥ ८३ ॥
उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम् ॥ ८४ ॥
रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥ ८५ ॥

साथ सुनिए और समझिए ॥ ७७ ॥ वे अपने ज्ञानके नेत्रोंसे तीनों लोकोंकी बीती हुई, होती हुई और होनेवाली सभी बातें जानते हैं ॥ ७८ ॥ एक बार तृणबिन्दु नामक ऋषि तप करने लग रहे थे। उनकी तपस्यासे डरकर इन्द्रने उनका तप भंग करनेके लिये हरिणी नामक एक अप्सरा भेज दी ॥ ७९ ॥ जैसे प्रलय कालकी लहर समुद्रके तटको ढाह गिराती है वैसे ही ऋषिका तप डिगानेके लिये वह अप्सरा भी वहाँ जा पहुँची। अप्सराको देखते ही मुनिने क्रोधित होकर उसे शाप दे दिया कि जा, तू संसारमें मनुष्यकी स्त्री हो ॥ ८० ॥ शाप सुनते ही अप्सरा घबरा उठी। वह हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाकर बोली—'भगवन्! दूसरोंके कहनेसे मैंने यह काम किया है, मेरा इसमें कुछ भी दोष नहीं है। मुझे क्षमा कीजिए।' इसपर ऋषिने कहा—'जबतक तुम्हें स्वर्गीय पुष्प नहीं दिखाई पड़ेंगे तबतक तुम्हें पृथ्वीपर रहना ही पड़ेगा' ॥ ८१ ॥ वही अप्सरा क्रथकैशिक (विदर्भ) वंशमें जन्म लेकर तुम्हारी रानी हुई और इतने दिनों बाद जैसे ही उसे स्वर्गीय पुष्प दिखाई पड़े, वैसे ही वह शापसे छूटकर शरीर छोड़कर चली गई ॥ ८२ ॥ इसलिये अब आप उसकी मृत्युका शोक न कीजिए, क्योंकि जो जन्म लिया करता है वह मरता ही है। इसलिये सब शोक छोड़कर सावधान होकर आप पृथ्वीका पालन कीजिए, क्योंकि राजाओंकी सच्ची सहधर्मचारिणी तो पृथ्वी ही है ॥ ८३ ॥ ऐश्वर्य पाकर राजा लोग मतवाले हो जाते हैं, किन्तु जैसे आप सुखके दिनोंमें भी इस अपयशसे बचे रहे और अभिमान छोड़कर आपने अपने आत्मज्ञानका परिचय दिया वैसे ही इस दुःखके समयमें भी धीरज धरकर आप फिर उसी अध्यात्मज्ञानका प्रकाश कीजिए ॥८४॥ रोनेकी तो बात ही क्या, यदि आप प्राण भी दे डालें तब भी इन्दुमती तो आपको मिलनेवाली है नहीं, क्योंकि शरीर छूटनेपर सब प्राणी अपने-अपने कर्मके अनुसार अलग-अलग मार्गसे होकर चले ही जाया करते हैं' ॥८५॥ अब आप सब शोक छोड़कर

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः ।
स्वजनाश्रु किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ ८६ ॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ ८७ ॥
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् ।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ ८८ ॥
स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा ।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥ ८९ ॥
न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि ।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥ ९० ॥
स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥ ९१ ॥
तेनाष्टौ परिगमिता समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥ ९२ ॥
तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥ ९३ ॥

पिण्डदान आदि करके अपनी पत्नीका परलोक सुधारिए क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि जब कुटुम्बी
बहुत रोते-धोते हैं तब उससे प्रेतात्माको बड़ा कष्ट होता है ॥ ८६ ॥ देखिए, विद्वानोंका तो यहाँ
तक कहना है कि जिसने देह धारण की है उसका मरना ही स्वाभाविक है, जीना तो बड़ा भारी
विकार है, इसलिये प्राणी जितने क्षण जी जाय उतनेसे ही उसे सन्तोष कर लेना चाहिए ॥ ८७ ॥
प्रियजनकी मृत्युको मूर्ख लोग वैसे ही कष्टकारक मानते हैं जैसे छातीमें कील आ गड़ी हो, पर
विद्वान् लोग तो यही समझते हैं कि जो मर गया वह सब झंझटोंसे छूट गया । उनकी समझमें
मृत्युसे वैसा ही सुख मिलता है जैसे हृदयमें गड़ी हुई कील निकालने से ॥८८॥ आप ही बताइए
कि जब शरीर और आत्मा भी आपसमें बिछुड़नेवाले माने गए हैं, तब पुत्र, स्त्री आदि बाहरी
सम्बन्धियोंके बिछोहसे विद्वानोंको क्यों दुःख हो ? ॥८९॥ और फिर आप तो जितेन्द्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ
हैं । आप साधारण लोगोंके समान शोक मत कीजिए । यदि पर्वत भी वृक्षकी भाँति आँधीसे हिलने
लगे तो उन दोनोंमें अन्तर ही क्या रह गया' ॥९०॥ विद्वान् शिक्षक गुरु वशिष्ठजीका उपदेश
राजाने स्वीकार कर लिया और उनके शिष्यको इस प्रकार विदा किया मानो अपने शोकभरे हृदयमें
स्थान न दे सकनेसे उनका उपदेश ही लौटा दिया हो ॥९१॥ प्रिय, सत्यभाषी अजने अपने पुत्रके
बचपनका ध्यान करके और प्रियाके चित्रको देख-देखकर तथा स्वप्नमें प्रियासे क्षणभरके समागमका
आनन्द लेकर किसी किसी प्रकार आठ वर्ष काट दिए ॥९२॥ कहा जाता है कि जैसे बड़की जटाएँ
भवन की तलीको छेदकर नीचे घुस जाती हैं वैसे ही शोककी बर्छीने राजाके हृदयको बलपूर्वक आर-पार
बेध दिया था । पर अपनी प्रियाके पीछे प्राण देनेको वे इतने उतावले थे कि उन्होंने प्राण हर
लेनेवाली और वैद्योंसे अच्छी न होनेवाली उस शोककी बर्छीको भी सहायक ही समझा ॥९३॥

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥ ९४ ॥
तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोर्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अजविलापो नाम अष्टमः सर्गः ॥

तब सुशिक्षित कवचधारी कुमार दशरथको शास्त्रके अनुसार प्रजाका पालन् करनेका उपदेश देकर वे रोगी शरीरसे छुटकारा पानेके लिये अनशन करने लगे ।। ९४ ।। थोड़े दिनोंमें ही गंगा और सरयूके संगमपर उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया और तत्काल देवता बनकर पहले शरीरसे भी अधिक सुन्दर शरीरवाली भार्याके साथ नन्दन-बनके विलास-भवनोंमें विहार करने लगे ।।९५।।

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें
अज-विलाप नामका आठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।]

॥ नवमः सर्गः ॥

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥
अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः ॥ २ ॥
उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥
जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥
दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥
समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥
न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ ७ ॥

नवाँ सर्ग

संयमसे अपनी इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले योगियों और प्रजाका पालन करनेवाले राजाओंमें सर्वश्रेष्ठ दशरथने अपने पिताके पीछे उत्तर कोसलका राज्य बड़ी योग्यतासे संभाल लिया ।।१।। क्रौञ्च पहाड़को फाड़ देनेवाले कार्त्तिकेयके समान बलवान् दशरथने अपने पुरखोंसे पाई हुई राजधानी और मण्डलोंका ऐसे अच्छे ढंगसे पालन किया कि सारी प्रजा उन्हें पहलेके सभी राजाओंसे बढ़कर मानने लगी ।।२।। विद्वानोंका कहना है कि संसारमें दो ही तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने कर्त्तव्य-पालन करनेवाले लोगोंको उनके परिश्रमका ठीक-ठीक पुरस्कार दिया है, एक तो हैं इन्द्र, जिन्होंने समयपर वर्षा करके किसानोंका परिश्रम सफल किया, और दूसरे हैं मनुवंशी दशरथ, जिन्होंने सुकर्मियोंको धन देकर उनका पालन-पोषण किया ।।३।। दशरथ, देवताओंके समान तेजस्वी थे और उनका मन भी सब प्रकारसे शान्त था। हाथमें राज्य लेते ही उनका देश धन-धान्यसे भर गया, रोग भी उनके राज्यकी सीमामें पैर न रख सके, फिर शत्रुओंके आक्रमणकी तो संभावना ही कहाँ थी ।।४।। जैसे दसों दिशाओंको जीत लेनेवाले रघुने और उनके पीछे उनके पुत्र अजने पृथ्वीकी शोभा बढ़ाई थी, उसी प्रकार उन्हीं दोनोंके समान शक्तिशाली महापराक्रमी दशरथको पाकर पृथ्वीकी शोभा न बढ़ पाई हो, ऐसी बात नहीं है ।।५।। जैसे यम सबको एक समान समझते हैं वैसे ही वे भी सबसे एक-सा व्यवहार करते थे। जैसे कुबेर धन बरसाते हैं वैसे ही वे भी धन बाँटते थे। जैसे वरुण दुष्टोंको दंड देते हैं वैसे ही वे भी दुष्टोंको दंड देते थे और जैसे सूर्यका बड़ा तेज है वैसे ही उनका भी तेज प्रचण्ड था ।।६।। सांसारिक ऐश्वर्य बटोरनेमें वे ऐसे लगे हुए थे कि आखेटका व्यसन, जूएका खेल, चन्द्रमाकी परछाहीं पड़ी हुई मदिरा और नवयौवना पत्नी, कोई भी उन्हें न लुभा

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि ।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ ८ ॥
उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयो हृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥
अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥ १० ॥
अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसंपदः ॥ ११ ॥
शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरंदरः ।
सशरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥
चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥
निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥
उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥ १५ ॥

सकी ।।७।। वे इतने मनस्वी थे कि इन्द्रतकके आगे वे कभी नहीं गिड़गिड़ाए, हँसीमें भी उन्होंने झूठ नहीं बोला और क्रोधित होनेकी तो बात ही दूर है, उन्होंने अपने शत्रुको भी कोई कठोर वचन नहीं कहा ।।८।। रघुकुलमें श्रेष्ठ उन दशरथ के हाथों न जाने कितने राजा बने और न जाने कितने बिगड़े क्योंकि जो उनका कहा मान लेते थे उन्हें तो वे दया करके छोड़ देते थे पर जो ऐंठकर उनसे टक्कर लेने आगे आते थे उन्हें वे मिटाकर ही छोड़ते थे ।।९।। उन्होंने केवल एक धनुष लेकर और एक रथपर चढ़कर अकेले ही समुद्रतक फैली हुई सारी पृथ्वी जीत ली थी, वेगसे चलने वाले हाथी-घोड़ोंकी उनकी सेना तो केवल जय-जयकार-भर किया करती थी ।।१०।। जिस समय अकेले सुरक्षित रथपर चढ़े कुबेरके समान सम्पत्तिशाली धनुषधारी दशरथ यह पृथ्वी जीतते चलते थे उस समय बादलके समान गरजता हुआ समुद्र ही उनकी विजय-दुंदुभी बजाता रहता था ।।११।। जैसे इन्द्रने अपने सौ दाँत वाले वज्रसे पर्वतोंके पंख काट गिराए थे वैसे ही नये कमलके समान सुन्दर मुखवाले दशरथने अपने बाण बरसानेवाले धनुषसे शत्रुओंको मार बिछाया था ।।१२।। जैसे देवता लोग इन्द्र के चरण छूते हैं वैसे ही सैकड़ों राजाओंने पराक्रमी दशरथके चरणोंपर अपने वे मुकुटवाले सिर ला धरे जिनके मणि दशरथके पैरोंके नखोंकी ललाईसे दमक दमक उठते थे ।।१३।। उन्होंने जिन-जिन देशोंके राजाओंको मार डाला था उनकी रानियाँ अपने पुत्रोंको ले लेकर राजा दशरथके आगे आ गईं और उन देशोंके मंत्रियोंने उन राजपुत्रोंको दशरथके आगे हाथ जोड़कर ला खड़ा किया । शत्रुओंकी उन खुले केशवाली रानियोंके साथ दशरथने बड़ी दयाका व्यवहार किया और उस महासमुद्रके तटसे वे अपनी उस अयोध्या राजधानी लौट आए जो कुबेरकी राजधानी अलकासे किसी प्रकार भी कम नहीं थी ।।१४।। चारों ओर के राजाओंका मंडल उनके हाथ आ गया जिससे वे अग्नि और चन्द्रमाके समान बड़े तेजस्वी लगने लगे । उनका प्रताप

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥ १६ ॥
तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥
प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ १८ ॥
स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥ १९ ॥
क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसा सरयूतटाः ॥ २० ॥
अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसँस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ २१ ॥
अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥ २२ ॥
असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ २३ ॥

इतना बढ़ गया था कि कोई भी दूसरा राजा उनके आगे श्वेत छत्र नहीं लगा सकता था । पर चक्रवर्ती हो जानेपर भी आलस्यको वे अपने पास नहीं फटकने देते थे क्योंकि वे जानते थे कि जहाँ एक भी दोष आया कि लक्ष्मी हमें छोड़कर भागी ॥१५॥ फिर भगवान् विष्णु और दशरथको छोड़कर दूसरा कोई और राजा ही कौन था, जिसके यहाँ, हाथमें कमल धारण करनेवाली पतिव्रता लक्ष्मी स्वयं जा रहतीं ॥१६॥ जैसे पर्वतोंसे निकलनेवाली नदियाँ समुद्रको पा लेती हैं वैसे ही कोसल, मगध और केकय देशके राजाओंकी (कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी नामकी)[1] कन्याओंने शत्रुओंपर बाण बरसाने वाले दशरथजीको पतिके रूपमें पा लिया ॥१७॥ शत्रुओंका नाश करनेवाले दशरथ, अपनी तीनों रानियोंके साथ ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथ्वीपर राज्य करनेके लिये स्वयं इन्द्र ही (प्रभाव, उत्साह और मन्त्र नामकी) अपनी तीनों शक्तियोंके साथ अवतार लिये चले आए हों ॥१८॥ कहा जाता है कि महारथी दशरथने युद्धमें इन्द्रकी सहायता करके और अपने बाणोंसे उनके शत्रुओंका नाश करके देवताओंकी स्त्रियोंका सारा डर ऐसा दूर कर डाला था कि वे सब बैठी सदा दशरथके बाहुबलके गीत गाया करती थीं ॥१९॥ उन्होंने अपने बाहुबलसे चारों ओरका धन ला लाकर इकट्ठा कर लिया था फिर भी उनमें नाम मात्रको भी तामसी भाव नहीं था । उन्हीं राजा दशरथने अपना मुकुट उतारकर अश्वमेध यज्ञ करते समय तमसा और सरयूके किनारे-किनारे सोनेके अनेक यज्ञ-स्तम्भ खड़े कर दिए थे ॥२०॥ जब वे मृगछाला पहनकर, हाथ में दण्ड लेकर, कुशाकी तगड़ी बाँधकर चुपचाप हरिणकी सींग लिए यज्ञकी दीक्षा लेकर बैठे, उस समय भगवान् अष्टमूर्ति महादेव उनके शरीर में आ पैठे जिससे उनकी शोभा और भी अधिक बढ़ गई ॥२१॥ यज्ञ समाप्त हो चुकनेपर जब वे स्नान करके पवित्र हुए तब देवताओंके साथ बैठने-योग्य संयमी राजा दशरथने केवल नमुचि राक्षसके

---

[1] कौसल्या (या कौशल्या) का नाम था अपराजिता, सुमित्राका नाम था गुणवत्ती और कैकेयीका नाम था रूपमालिनी ।

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ २४ ॥
जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः ।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥ २५ ॥
कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥ २६ ॥
नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
अभिययुः सरसो मधुसंभृतां कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिणः ॥ २७ ॥
कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥ २८ ॥
विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः ॥ २९ ॥
सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ ३० ॥
उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयार्पितलज्जया ॥ ३१ ॥

शत्रु तथा जल बरसानेवाले एक इन्द्रके आगे ही अपना ऊँचा मस्तक झुकाया ॥ २२ ॥ अकेले रथपर चढ़कर युद्ध करनेवाले पराक्रमी, धनुर्द्धर और युद्धमें इन्द्रसे भी आगे चलनेवाले दशरथने कई बार सूर्यपर छाई हुई युद्धकी धूल राक्षसोंके रक्तसे सींच-सींचकर दबा डाली ॥ २३ ॥ यम, कुबेर, वरुण और इन्द्रके समान पराक्रमी उन एकच्छत्र राजाका अभिनन्दन करनेके लिये वसन्त ऋतु भी नये-नये फूलोंकी भेंट लेकर वहाँ आ पहुँची ॥ २४ ॥ सूर्य भी उस समय उत्तरकी ओर घूम जाना चाहते थे इसलिये उनके सारथी अरुणने घोड़ोंकी रास उधर ही मोड़ दी। सर्दी दूर करके, प्रातःकालका पाला हटाकर मलय पर्वतको और भी अधिक चमकाते हुए सूर्यने उससे बिदा ली ॥ २५ ॥ पहले फूल खिले, फिर नई कोंपलें फूटीं, फिर भौंरे गूँजने लगे और तब कोयलकी कूक सुनाई पड़ने लगी। इस क्रमसे वसन्तने धीरे-धीरे वनस्थलीमें अपने पैर आगे बढ़ाये ॥ २६ ॥ राजा दशरथकी चतुर नीतिसे उनके पास जो बहुत धन इकट्ठा हो गया था उस धनसे वे अपनी प्रजाका बहुत उपकार करते रहते थे, इसलिये जैसे उनकी लक्ष्मीके आगे बहुतसे मँगते हाथ फैलाया करते थे वैसे ही वसन्तकी शोभासे लदी हुई तालाबकी कमलिनीके आसपास भौंरे और हंस भी मँडराने लगे ॥२७॥ उन दिनों वसन्तमें फूले हुए अशोकके फूलोंको देखकर ही कामोद्दीपन नहीं होता था वरन् कामियोंको मतवाला बनानेवाले जो कोमल कोंपलोंके गुच्छे स्त्रियोंने अपने कानोंपर उठा धरे थे उन्हें देखकर भी मन हाथसे निकला पड़ता था ॥२८॥ वनमें खड़े हुए कुरबकके पेड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो वसंतमें वनश्रीके शरीरपर बेल-बूटे चीतकर उसका शृङ्गार कर दिया गया हो। उन पेड़ोंसे इतना मधु बहा पड़ रहा था कि भौंरे मस्त होकर उन्हींपर गुनगुनाए जा रहे थे ॥२९॥ बकुलके जो वृक्ष सुन्दरी स्त्रियोंके मुखकी मदिराके छींटेसे फूल उठे थे और जिनमें उन्हीं स्त्रियोंके समान गुण भी भरे थे, उन्हें झुण्डमें उड़ते हुए मधुके लोभी भौंरोंने बहुत झकझोर डाला ॥३०॥ वसंतके आनेसे पलाशमें फूट निकली हुई

व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥ ३२ ॥
अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥ ३३ ॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥ ३४ ॥
श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ ३५ ॥
ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ ३६ ॥
शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥ ३७ ॥
उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छबिः ।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयानितया रजनीवधूः ॥ ३८ ॥
अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९ ॥

कलियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो किसी कामिनीने लाज छोड़कर कामके आवेशमें अपने प्रियतमके शरीरपर अनेक नख-क्षत कर डाले हों ॥३१॥ अभी वह ठंड भली प्रकार दूर नहीं हुई थी जिसमें पतियोंके दाँतोंसे घायल स्त्रियोंके ओठ दुखा करते हैं और स्त्रियाँ अपनी कमरकी तगड़ी भी ठण्डी होनेके कारण उतार डाला करती हैं । पर हाँ, सूर्यने कुछ जाड़ा अवश्य कम कर दिया था ॥३२॥ नये बौरे हुए आमके वृक्षोंकी डालियाँ मलयके वायुसे ऐसी झूम उठीं मानो उन्होंने अभिनय-कला सीखनी प्रारम्भ कर दी हो । उन्हें देख देखकर तो रागद्वेषको जीतनेवाले योगियोंतकका मन भी मचला पड़ रहा था ॥३३॥ जिस समय मनहर सुगन्धवाली वनकी लताओंपर बैठकर कोयलने कूक सुनाई तो ऐसा जान पड़ा मानो कहीं कोई मुग्धा नायिका ही कहीं बोल उठी हो ॥३४॥ वनके छोरतक बढ़ी हुई लताएँ ऐसी सजीव-सी जान पड़ती थीं मानो कानोंको सुख देनेवाली भौंरोंकी गुञ्जार ही उनके गीत हों, खिले हुए कोमल फूल ही उनकी हँसीके दाँत हों और वायुसे हिली हुई शाखाओंवाले हाथोंसे ही वे अनेक प्रकारके हाव-भाव दिखा रही हों ॥३५॥ चितवन आदि मधुर हाव भाव करानेको उकसानेवाले और बकुलको भी अपनी गन्धसे हरानेवाले कामदेवके साथी मद्यको स्त्रियाँ अपने पतिके प्रेममें बिना बाधा दिए ही पीए डाल रही थीं ॥३६॥ लोगोंके घरोंके भीतर बनी हुई बावरियोंमें जो कमल खिले हुए थे और वहाँ मधुर शब्द करते हुए जो जल-पक्षी तैर रहे थे उनसे वे बावलियाँ ऐसी सुन्दर जान पड़ती थीं मानों उनमें मुसकराती हुई सुन्दर मुखवाली और ढीली होनेके कारण बजती चलती तगड़ियों (करधनियों)-वाली स्त्रियाँ विहार कर रही हों ॥३७॥ जैसे अपने प्रियतमसे समागम न होनेके कारण खंडिता नायिका सूखती जाती है वैसे ही रात्रि-रूपी नायिका भी वसन्तके आनेसे छोटी होती चली जा रही थी और उसका चन्द्रमावाला मुख भी पीला पड़ता जा रहा था ॥३८॥ पाला दूर हो जानेसे चन्द्रमा निर्मल हो गया । संभोगकी थकावटको दूर करनेवाली उसकी ठंडी किरणोंसे मानो कामदेवके फूलोंके धनुषको और भी अधिक बल

हुतहुताशनदीप्तिवनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४० ॥
अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः ।
न खलु शोभयति स्म वनस्थली न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥ ४१ ॥
अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः ।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥ ४२ ॥
अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥ ४३ ॥
उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥ ४४ ॥
ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥ ४५ ॥
अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥ ४६ ॥
त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥ ४७ ॥

मिल गया हो ॥३९॥ हवनकी अग्निके समान चमकते हुए कनैरके फूल वनलक्ष्मीके कानोंके कर्णफूल-जैसे जान पड़ते थे। अपने प्रियतमोंके हाथोंसे जूड़ोंमें खोंसे हुए वे सुन्दर पंखड़ी और परागवाले फूल स्त्रियोंके केशोंमें बहुत ही फब रहे थे ॥४०॥ तिलकके वृक्षने भी वनस्थलीकी कम शोभा नहीं बढ़ाई। जैसे किसी युवतीके शृंङ्गारके लिये उसका मुँह चीता जाता है वैसे ही उस तिलक वृक्षके फूलोंपर मँडराते हुए काजलकी बुँदियोंके समान सुन्दर भौंरे ऐसे जान पड़ते थे मानो वनस्थलियोंका मुख भी चीत दिया गया हो ॥४१॥ वृक्षोंकी सुन्दरी नायिका नवमल्लिका लता भी वहाँ विद्यमान अपने मकरन्द-रूपी मद्यकी गन्धसे भरे लाल-लाल-पत्तोंके ओठोंपर फूलोंकी मुसकान लेकर देखनेवालोंको पागल बनाए डाल रही थी ॥४२॥ प्रातःकालकी ललाईसे भी अधिक लाल वस्त्रोंने, कानपर रक्खे हुए जौके अंकुरोंने और कोयलकी कूकोंकी सेना लेकर चलनेवाले कामदेवने ऐसा जाल ला बिछाया कि सभी विलासी पुरुष, युवती स्त्रियोंके प्रेममें अपनी सारी सुध-बुध खो बैठे ॥ ४३ ॥ तिलकके फूलोंके जो गुच्छे उजले परागसे भरे बढ़ चुके थे, उनपर मँडराते हुए भौंरोंके झुण्डके कारण वे ऐसे सुन्दर लगने लगे जैसे किसी स्त्रीने अपने सिरपर मोतियोंकी जाली उठा पहनी हो ॥ ४४ ॥ उपवनके फूलोंका जो पराग वायुने उड़ाया और भौंरोंके झुण्ड भी जिसके पीछे-पीछे उड़ चले, वह उड़ता हुआ पराग ऐसा जान पड़ता था मानो वह धनुषधारी कामदेवका झण्डा हो या वसंतश्रीके मुखपर लगानेका शृङ्गार-चूर्ण हो ॥ ४५ ॥ जो स्त्रियाँ वसन्तोत्सवमें नये झूलोंपर सावधान होकर झूल रही थीं, वे भी अपने हाथसे पकड़ी हुई रस्सीको इसलिये ढीला छोड़े दे रही थीं कि हाथ छूटनेपर हमारे प्रियतम हमें थाम ही लेंगे और इस प्रकार हम उनके गलेसे लग ही जायँगी ॥ ४६ ॥ उन दिनों कोयलकी कूक मानो कामदेवका यह आदेश सुना रही हो कि अरी स्त्रियों ! रूठना छोड़ दो, लड़ाई-झगड़ा बन्द कर दो क्योंकि बीता हुआ यौवन फिर कभी हाथ नहीं आता। यह सुन-सुनकर सभी

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसंनिभः ॥ ४८ ॥
परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥ ४९ ॥
मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥ ५० ॥
ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ ५१ ॥
तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः ।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवता सुनयनं नयनन्दितकोसलम् ॥ ५२ ॥
श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
स्थिरतुरंगमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ ५३ ॥
अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम् ।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥ ५४ ॥
तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ ५५ ॥

स्त्रियाँ अपने पतियोंके साथ फिर रमण करनेमें जा जुटीं ॥ ४७ ॥ विष्णुके समान पराक्रमी, वसंत ऋतुके समान प्रसन्न और कामदेवके समान सुन्दर दशरथने भी जब सुन्दरी स्त्रियोंके साथ वसंत ऋतुका भरपूर आनन्द ले लिया तब उनके मनमें आखेट करनेकी इच्छा जाग उठी ॥४८॥ आखेटसे बड़े लाभ भी होते हैं। पहली बात तो यह है कि उससे चलते हुए लक्ष्यको बेधनेका अभ्यास हो जाता है। फिर उससे जीवोंके भय और क्रोध आदि भावोंकी पहचान हो जाती है और परिश्रम करनेसे शरीर भी भली प्रकार गठ जाता है। इसलिये मंत्रियोंसे सम्मति लेकर वे झट आखेटके लिये निकल पड़े ॥४९॥ जब अहेरीका वेष बनाकर, अपने ऊँचे कन्धेपर धनुष टाँगे, तेजस्वी राजा दशरथ घोड़ेपर चढ़कर चले तब उनके घोड़ोंकी टापोंसे इतनी धूल उठी कि आकाशमें चँदोवा-सा आ तना ॥५०॥ उनके केशोंमें वनमाला गुँथी हुई थी, वे वृक्षके पत्तोंके समान गहरे रंगका कवच पहने हुए थे और वेगसे घोड़ेके चलनेके कारण उनके कानोंके कुण्डल भी हिलते जा रहे थे। इस वेषमें चलते-चलते वे उस जंगलमें जा पहुँचे जहाँ रुरु जाति के हरिण बहुत घूमा करते हैं ॥५१॥ कोमल लताओंका रूप धारण करके भौंरोंकी आँखोंसे वनदेवता भी उन सुन्दर नेत्रवाले और कोसलकी प्रजाको सदा सुख पहुँचानेवाले राजा दशरथको देखनेके लिए वहाँ आ पहुँचे ॥५२॥ तब वे उस जंगलमें जा पहुँचे जहाँ पहलेसे ही जाल और शिकारी कुत्तोंके साथ उनके सेवक पहुँच चुके थे। वहाँ न तो अग्निका ही भय था न चोरोंका ही। वहाँकी पृथ्वी भी घोड़ोंके लिये पक्की थी। वहाँ बहुतसे तालाब थे जिनके चारों ओर बहुतसे हरिण, पक्षी और बनैली नील गाएँ घूमा करती थीं ॥५३॥ वहाँ पहुँचकर जब सुन्दर स्वस्थ राजाने अपना वह धनुष उठा चढ़ाया जिसकी टंकार सुनकर सिह भी गरज उठे तब वे उस भादोंके महीनेके समान सुन्दर लग रहे थे जिसमें इन्द्रधनुष निकला हुआ हो और जिसमें सोनेके रंगकी पीली बिजलीकी डोरी बँधी हो ॥५४॥ उन्होंने देखा कि आगे-आगे हरिणोंका एक झुंड चला जा रहा है जिसमें बहुत-सी ऐसी भी हरिणियाँ हैं जो

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्तिः ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥ ५६ ॥
लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥ ५७ ॥
तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ ५८ ॥
उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥ ५९ ॥
तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥ ६० ॥
तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥ ६१ ॥
प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खङ्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥ ६२ ॥

अपने उन छौनोंके कारण रुकती चल रही हैं जो कुशा चबाते-चबाते अपनी माँके स्तनोंसे दूध पीनेके लिये बीच-बीचमें खड़े हो रहते हैं । उस झुण्डके आगे आगे एक गर्वीला काला हरिण भी शानसे बढ़ा चला जा रहा था ॥५५॥ राजाने ज्योंही अपने वेगगामी घोड़ेपर चढ़कर अपने तूणीरमेंसे बाण निकालकर उनका पीछा किया कि वह झुण्ड तितर-बितर हो गया और उनकी घबराई हुई आँखोंसे भरा हुआ वह सारा जंगल ऐसा लगने लगा मानो वायुने नीले कमलोंकी पंखड़ियाँ वहाँ ला बिखेरी हों ॥५६॥ इन्द्रके समान शक्तिशाली, चतुर, धनुषधारी राजा दशरथने देखा कि वे जिस हरिणको मारना चाहते थे उसकी हरिणी बीचमें आ खड़ी हुई है। वे स्वयं भी प्रेमी थे । अपने हरिणके लिये हरिणीका यह प्रेम देखकर उनका हृदय भी दयासे भर आया और उन्होंने कानतक खींचा हुआ भी अपना बाण नीचे उतार लिया ॥५७॥ वे दूसरे हरिणोंपर भी बाण चलाना चाहते थे और उन्होंने बाणकी चुटकी कान-तक खींच भी ली थी पर जब उन्होंने उन हरिणोंकी डरी हुई आँखें देखीं तो उन्हें अपनी युवती प्रियतमाके चंचल नेत्रोंका स्मरण हो आया और उनके हाथ ढीले पड़ गए ॥१८॥ उन्हें छोड़कर दशरथ उधर घूम पड़े जिधर आधे बचे हुए मोथकी घासके मुट्ठे स्थान-स्थानपर बिखरे पड़े थे और पैरकी गीली छापोंकी पाँतको देखकर जान पड़ता था कि तालोंके कीचड़से निकल-निकलकर बनैले सूअरोंका झुण्ड उधरको निकल भागा है ॥५९॥ ज्योंही उन्होंने घोड़ेपर चढ़े हुए अपने शरीरको आगे झुकाकर उन सूअरोंपर बाण चलाए त्योंही वे भी अपने कड़े बाल खड़े करके राजा दशरथपर टूट पड़े किन्तु उन्होंने तत्काल ऐसे कसकर बाण मारे कि सूअरोंको जान ही नहीं पड़ा कि वे बाणोंके साथ उन पेड़ोंमें कब चिपक गए जिनके सहारे वे खड़े थे ॥६०॥ इतनेमें ही उन्होंने देखा कि एक जंगली भैंसा उनकी ओर झपटा चला आ रहा है । उन्होंने उसकी आँखमें ऐसा बाण मारा कि वह भैंसेके शरीरसे इतनी फुर्तीसे पार हो गया कि बाणके पंखमें तनिक-सा भी रक्त नहीं लग पाया और बड़ी बात यह हुई कि बाण तो देरसे गिरा, भैंसा पहले ही धरतीपर जा लोटा ॥६१॥ इतनेमें उन्हें बारहसिंहोंका झुण्ड दिखाई दिया । राजा दशरथने अर्द्धचन्द्र बाणोंसे उनकें सींग काट काटकर उनके सिरका बोझ

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥ ६३ ॥
निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥ ६४ ॥
तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमँस्त ॥ ६५ ॥
चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी ।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितबालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ ६६ ॥
अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सदपि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ ६७ ॥
तस्य कर्कशविहारसंभवं स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ ६८ ॥
इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ ६९ ॥

हलका कर दिया क्योंकि वे सिर उठाकर चलनेवालोंका ही दमन किया करते थे इसलिये उन्होंने ऐंठकर चलनेके साधन सींग ही काट डाले। यद्यपि राजाको उनके प्राणोंसे कोई बैर नहीं था। ॥६२॥ जब सिंह अपनी गुफाओंमेंसे निकल निकलकर उनकी ओर झपटे तब निर्भय राजा दशरथने इतनी शीघ्रतासे उनपर बाण चलाए कि उन सिंहोंके खुले हुए मुँह ही उनके बाणोंके तूणीर बन गए और वे ऐसे जान पड़ने लगे जैसे आँधीसे उखड़े हुए फूले आसनके पेड़की फुनगियाँ हों ॥६३॥ झाड़ियोंमें लेटे हुए सिंहोंको मारनेके लिये ज्योंही उन्होंने आँधीके समान भयंकर शब्द करनेवाली अपने धनुषकी डोरीसे टंकार की त्योंही उसे सुनते ही सिंह भड़क उठे। बात यह थी कि राजा दशरथको उन अत्यन्त शक्तिशाली सिंहोंसे इसी बातकी चिढ़ थी कि वे जीवोंके राजा क्यों कहलाते हैं ॥६४॥ बस; उन्होंने हाथियोंसे बैर रखनेवाले उन सब सिंहोंको एक एक करके मार डाला जिनके नोकीले अगले पंजोंमें अबतक गज-मुक्ताएँ उलझी हुई थीं। इस प्रकार ककुत्स्थ-वंशी राजा दशरथने मानों अपने बाणोंसे उन हाथियोंका ऋण चुका दिया जो युद्धमें उनकी सेनामें काम कर चुके थे ॥६५॥ चामर मृगोंके चारों ओर अपना घोड़ा दौड़ाते हुए भालेकी नोकवाले बाण बरसाकर उन्होंने उन मृगोंकी चँवरवाली पूँछें काट गिराईं। इससे दशरथको ऐसा सन्तोष हुआ मानो सब चँवरधारी राजाओंके चँवर ही उन्होंने छीन धरे हों ॥६६॥ कभी-कभी उनके पाससे सुन्दर चमकीली पूँछोंवाले मोर भी उड़ निकलते थे। पर वे उनपर बाण नहीं चलाते थे क्योंकि उन्हें देखकर दशरथको रंग-बिरंगी मालाओंसे गुँथे हुए और संभोगके कारण खुले हुए अपनी प्रियाके केशोंका स्मरण हो आता था ॥६७॥ कठिन परिश्रमसे उनके मुँहपर जो पसीना छा जाता था उसे वनका वह वायु सुखाता चलता था जो जलके कणोंसे शीतल होकर पत्तों और कलियोंको गिराता चल रहा था ॥६८॥ इस प्रकार अपना सब काम भूले हुए और राज्यका भार मंत्रियोंपर छोड़कर वनमें आए हुए राजा दशरथके मनको आखेटके व्यसनने उसी प्रकार लुभा लिया जैसे कोई स्त्री अपने पतिकी सेवा करके उसे अपने वशमें कर लेती है ॥६९॥ यह आखेटका व्यसन उन्हें ऐसा

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयांबभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥ ७० ॥
उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥ ७१ ॥
अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरंगमेण ॥ ७२ ॥
कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥ ७३ ॥
नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४ ॥
हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णास्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तः शल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥ ७५ ॥
तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयांबभूव ॥ ७६ ॥
तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥ ७७ ॥

लगा कि कभी-कभी उन्हें सारी सारी रात फूल-पत्तोंकी साँथरीपर, रातको चमकनेवाली बूटियोंके प्रकाशके सहारे, बिना किसी सेवकके अकेले ही काटनी पड़ जाती थी ॥७०॥ और प्रातःकाल तब उनकी आँखें खुलती थीं जब नगाड़ोंके समान शब्द करनेवाले हाथियोंके कानोंकी फटफट होने लगती थी। उस समय वनके पक्षी चारणोंके समान जो मङ्गलगीत गाते थे उन्हें सुनकर ही वे मगन हो उठते थे ॥७१॥ एक दिन जंगलमें रुरु मृगका पीछा करते हुए वे अपने साथियोंसे बहुत दूर जा भटके। थकावटके कारण उनका घोड़ा मुँहसे झाग फेंकने लगा, पर उसीपर चढ़े हुए वे तमसा नदीके उस तटपर जा निकले जहाँ बहुतसे तपस्वियोंके आश्रम बने हुए थे ॥७२॥ वहाँ कोई जलमें घड़ा भर रहा था जिसे उन्होंने समझा कि यह कोई हाथी है। उन्होंने झट बाण निकाला और शब्दपर लक्ष्य करके शब्दबेधी बाण चला ही तो दिया ॥७३। हाथीको मारना शास्त्रसे विरुद्ध है इसलिये दशरथने जो किया वह राजाके लिये ठीक नहीं था पर कभी-कभी विद्वान् लोग भी आवेशसे अंधे होकर उलटा काम कर ही बैठते हैं ।:७४॥ सहसा कोई चिल्ला उठा—'हाय पिता !' यह सुनते ही इनका माथा ठनका और ये झट उसे ढूंढने बढ़ चले। आगे बढ़ते ही देखते क्या हैं कि नरकटकी झाड़ियोंमें बाणसे बिंधा हुआ, घड़ेपर झुका हुआ किसी मुनिका पुत्र पड़ा है। उसे देखकर उनको ऐसा कष्ट हुआ मानो इन्हें ही बाण आ लगा हो ॥७५॥ जब श्रेष्ठ-वंशवाले राजा दशरथने घड़ेपर झुके हुए मुनि-पुत्रसे उसका वंश-परिचय पूछा तब उसने लड़खड़ाती वाणीसे बताया कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ (मेरे पिता वैश्य हैं और मेरी माता शूद्रा हैं) ॥७६॥ उसने राजा दशरथसे कहा कि मुझे मेरे अँधे माता-पिताके पास उठा ले चलो। राजा दशरथ उस बाणसे बिंधे मुनि-पुत्रको उनके माता-पिताके पास उठाए लिए चले गए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उनसे सारी कथा कह सुनाई कि भूलसे मैंने आपके एकलौते पुत्रपर किस प्रकार

तौ दंपती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः ।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥ ७८ ॥
दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजंगं प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ ७९ ॥
शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥ ८० ॥
इत्थंगते गतघृणः किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥ ८१ ॥
प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा संपाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः ।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥ ८२ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
मृगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥

बाण चला दिया ॥७७॥ यह सुनते ही वे दोनों तो दाढ़ मार मारकर रो उठे और उन्होंने अपने पुत्रके हत्यारेको आज्ञा दी कि मेरे पुत्रकी छातीमेंसे बाण निकाल लो। बाणका निकलना था कि मुनि-कुमारके प्राण भी साथ ही निकल गए। इसपर बूढ़े तपस्वीने अपने आँसुओंसे अपनी अंजली भरकर राजाको शाप दिया—॥७८॥ 'राजन्! जाओ तुम्हें भी हमारे ही समान बुढ़ापेमें पुत्र-शोकसे प्राण छोड़ने पड़ेंगे।' पैरसे दबनेपर सर्प जैसे विष उगलकर शान्त हो जाता है वैसे ही शाप देकर जब वे बूढ़े मुनि शान्त हो गए तब पहले-पहल अपराध करनेवाले राजा दशरथ उनसे बोले—॥७९॥ 'मुनि! मुझे आजतक पुत्रके मुख-कमलका दर्शन-तक नहीं हुआ है, इसलिये मैं आपके शापको वरदान ही समझता हूँ क्योंकि इसी बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त हो जायगा। जंगलकी लकड़ीकी आग चाहे एक बार पृथ्वीको जला भले ही दे किन्तु वह पृथ्वीको इतनी उपजाऊ तो बना ही देती है कि आगे उसमें बड़ी अच्छी उपज होती है' ॥८०॥ यह कहकर राजाने फिर उनसे कहा—'मैं तो इसी योग्य हूँ कि आप मेरा वध कर डालें। अब बताइए मुझ नीचके लिये आपकी क्या आज्ञा होती है?' यह सुनकर उस मुनिने कहा कि 'हम और हमारी स्त्री अब अपने पुत्रके साथ ही शरीर छोड़ देंगे। इसलिये अब हमारे लिये ईंधन और अग्नि जुटा दो ॥८१॥ राजा दशरथके अनुचर भी तबतक वहाँ आ पहुँचे थे। तत्काल ईंधन और अग्नि जुटा दी गई। जैसे समुद्रके हृदयमें बड़वानल जला करता है वैसे ही, अपने पापसे अधीर हृदयमें मुनिके शापकी ज्वालाकी आग लिए हुए वे (दशरथ, किसी-किसी प्रकार) अपने घर लौट आए ॥८२॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे रघुवंश महाकाव्यमें आखेट-वर्णन
नामक नवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ दशमः सर्गः ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः । किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥१॥
न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् । सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम्॥२॥
अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरं नृपः । प्राङ् मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः॥३॥
ऋष्यश्रृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः। आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ४।
तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम्। अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः॥५॥
ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः । अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्॥६॥
भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः । तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥७॥
श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले । अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥८॥
प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् । दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥९॥
प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् । कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ।१०।
बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः । आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥११॥

दसवाँ सर्ग

अपार धनवाले और इन्द्रके समान तेजस्वी राजा दशरथको पृथ्वीपर राज करते-करते लगभग दस सहस्र शरद् बीत गए ॥१॥ पर तब भी पितरोंके ऋणसे छुटकारा दिलानेवाला और शोकके अँधेरेको दूर करनेवाला वह प्रकाश उन्हें नहीं मिल सका जिसे पुत्र कहते हैं ॥२॥ जैसे समुद्रको रत्न उत्पन्न करनेके लिये मथे जानेतक ठहरना पड़ा था वैसे ही सन्तानके लिये उपाय होने तक राजा दशरथको भी ठहरना ही पड़ा ॥३॥ तब ऋष्यश्रृङ्ग आदि जितेन्द्रिय और यज्ञ करनेवाले सन्त ऋषियोंने सन्तान चाहनेवाले राजा दशरथके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया ॥४॥ ठीक उसी समय रावणके अत्याचारसे घबराकर देवता लोग उसी प्रकार विष्णुकी शरणमें जा पहुँचे जैसे धूपसे व्याकुल पथिक बढ़कर छायावाले वृक्षके नीचे जा पहुँचते हैं ॥५॥ ज्यों ही देवता लोग क्षीर-सागर पर पहुँचे त्यों ही विष्णु भगवान् भी योग - निद्रासे जाग उठे। काममें देर न होना ही उसके पूरे हो जानेका सबसे बड़ा लक्षण है ॥६॥ देवताओंने देखा कि विष्णु भगवान् शेष - शय्यापर लेटे हुए हैं और शेषके फणोंकी मणियोंसे उनका शरीर और भी अधिक चमक पड़ रहा है ॥ ७ ॥ उन्हींके पास कमलपर लक्ष्मी भी बैठी हुई थीं जिनकी कमरमें रेशमी वस्त्र पड़ा हुआ था और जो विष्णु भगवान्के चरण अपनी गोदमें लेकर पलोटे जा रही थीं ॥८॥ जैसे खिले हुए कमलोंसे और कन्या राशिके सूर्यसे शरद् ऋतुके प्रारंभिक दिन बड़े सुहावने लगने लगते हैं वैसे ही खिले हुए कमल-जैसी आँखोंवाले, प्रातःकालकी धूपके समान सुनहले वस्त्र पहने और ध्यानमग्न योगियोंको सरलतासे दर्शन देनेवाले विष्णु भी बड़े सुन्दर लगने लग रहे थे ॥९॥ उनके चौड़े वक्षस्थलपर वह कौस्तुभ मणि चमक रहा था जिसमें श्रृङ्गारके समय लक्ष्मी हाव-भावके साथ अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी चमकसे भृगुके चरणके प्रहारसे बना हुआ श्रीवत्स चिह्न भी चमक उठता है ॥१०॥ आभूषणोंसे सजी हुई और वृक्षकी शाखाओंके समान उनकी बड़ी-बड़ी भुजाओंसे वे ऐसे लगते थे मानो समुद्रसे दूसरा कल्पवृक्ष ही आ निकला हो ॥११॥ असुरोंको मारकर उनकी स्त्रियोंके गालोंसे

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः । हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ।।१२।।
मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा । उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ।।१३।।
योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः । भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ।।१४।।
प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् । अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम ।।१५।।
नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते । अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ।।१६।।
रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते । देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ।।१७।।
अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम्।।१८।।
हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् । दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ।।१९।।
सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः । सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ।।२०।।
सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम्।सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम्।।२१।।
चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः । चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ।।२२।।

मदकी लाली मिटानेवाले उनके (चक्र, गदा आदि) अस्त्र सजीव होकर उनकी जयजयकार कर रहे थे ।।१२।। शेषनागसे स्वाभाविक विरोध छोड़कर इन्द्रके वज्रकी चोटका चिह्न धारण किए हुए गरुड, बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर उनकी सेवामें खड़े हुए थे ।।१३।। योग-निद्रासे उठकर वे अपनी स्वच्छ और पवित्र चितवनसे उन भृगु आदि ऋषियोंको अनुगृहीत किए डाल रहे थे जो उनसे पूछ रहे थे–'भगवन् आप सुखसे तो सोए हैं' ।।१४।। तब देवता लोग दैत्योंके नाश करनेवाले विष्णु भगवान्को प्रणाम करके उन प्रशंसनीय विष्णुकी स्तुति करने लगे जिनतक न तो वाणी ही पहुँच पाती है और न तो मन ही पहुँच पा सकता है । वे बोले—।।१५।। 'विश्वको बनाने, पालन करने और अन्तमें उसका संहार करनेवाले तीनों रूप आप अपनेमें धारण करते हैं । आपको प्रणाम है ।।१ ।। जैसे एक स्वादवाला वर्षाका जल अलग-अलग देशोंमें बरसकर अलग-अलग स्वादवाला हो जाता है वैसे ही आप सब प्रकारके विकारोंसे दूर होते हुए भी (सत्त्व, रज और तम तीनों) गुण लेकर बहुतसे रूप धारण करते रहते हैं ।।१७।। 'भगवन् ! आप कितने बड़े हैं यह तो कोई नहीं माप सका पर आप ही ऐसे हैं जिसने सब लोक माप डाले हैं । आपकी तो स्वयं कभी कोई इच्छा है नहीं पर आप सबकी इच्छाएँ पूरी करते रहते हैं । आपको तो कोई जीत नहीं पा सकता पर आप सबको जीते बैठे हैं । आप तो किसीको दिखाई नहीं देते पर आप ही हैं जिसने यह दिखाई देनेवाला संसार उत्पन्न किया है ।।१८।। भगवन् ! विद्वानोंका कहना है कि आप सबके हृदयमें रहते हुए भी दूर हैं । आपकी कोई इच्छा नहीं, फिर भी आप (नर-नारायणके रूपमें बदरिकाश्रममें) तपस्या किया करते हैं । आप बहुत दयालु हैं पर आपको पुण्य भी कभी नहीं छू पाता । आपको लोग पुराण (पुरातन पुरुष) कहा तो करते हैं पर आप कभी बूढ़े नहीं होते ।।१९।। आप तो सबको जानते हैं पर आपको कोई नहीं जानता । आपने सारी सृष्टि उत्पन्न की है पर आपको किसीने उत्पन्न नहीं किया है । आप सबके स्वामी हैं पर आपका कोई स्वामी नहीं है । आप एक रूप होते हुए भी संसारके सारे रूप धारण किए बैठे हैं ।।२०।। विद्वानोंका कहना है कि सामवेदके सातों प्रकारके गीतोंमें आपके ही गुणोंके गीत हैं । आप ही सातों समुद्रोंके जलमें निवास करते हैं । सातों प्रकारके अग्नि आपके ही मुख हैं और सातों लोकोंके आप ही एक सहारे हैं ।।२१।। आपके ही चारों मुखोंसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फल देनेवाला ज्ञान उत्पन्न हुआ है । सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगोंमें बँटा हुआ समय भी आपने ही उत्पन्न किया है और चार वर्णोंवाला यह संसार भी आपका ही बनाया हुआ है ।।२२।। योगी लोग सदा

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्। ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये॥२३॥
अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः। स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥२४॥
शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः। पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम्॥२५॥
बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः। त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥२६॥
त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम्। गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये॥२७॥
प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव। आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा।२८।
केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः। अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥२९॥
उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः। स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते॥३०॥
अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते। लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥३१॥
महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः। श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥३२॥
इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम्। भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः॥३३॥
तस्मै कुशलसंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः। भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥३४॥

प्राणायाम आदिसे मनको वशमें करके मुक्ति पानेके लिये अपने हृदयोंमें बैठे हुए आपके ही ज्योतिस्वरूपकी खोज किया करते हैं ॥२३॥ भगवन् ! आप अजन्मा कहलाकर भी जन्म लेते हैं, कर्म-रहित होकर भी शत्रुओंका संहार किया करते हैं और योग-निद्रामें सोते हुए भी जागते ही रहते हैं, फिर बताइए, आपका सच्चा भेद कौन जान सकता है ॥२४॥ आप (कृष्ण आदि रूपोंमें) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयोंका भोग करते हैं, (नर-नारायण रूपसे) कठोर तपस्या करते हैं। (राम आदि रूप धारण करके) प्रजाका पालन करते हैं और (बुद्ध आदिका) शान्त रूप धारण करके उदासीन भी बन जाते हैं ॥२५॥ जैसे गंगाकी सभी धाराएँ समुद्रमें ही जा गिरती हैं वैसे ही परमानन्द पानेके जितने मार्ग बताए गए हैं वे अलग-अलग शास्त्रोंमें अलग-अलग रूपसे बताए जानेपर भी सब आप ही तक पहुँचते हैं ॥२६॥ जो योगी लोग सदा आपका ही ध्यान किया करते हैं, जिन्होंने अपने सब कर्म आपको ही समर्पित कर दिए हैं और जो राग-द्वेषसे दूर हैं, उन योगियोंको आप ही जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा देते हैं ॥२७॥ जब पृथ्वी आदिको देखनेसे आपकी महिमा स्पष्ट प्रकट होनेपर भी आपका ठीक-ठीक परिचय नहीं मिल पाता तब भला वेदोंके वर्णनसे और अनुमानसे आपका ज्ञान कैसे हो पा सकता है ॥२८॥ आपके तो स्मरण मात्रसे ही लोग पवित्र हो जाते हैं फिर यदि उन्हें आपका दर्शन हो जाय, वे आपका चरण भी छू सकें और आपकी वाणी भी सुन सकें तब तो उससे उन्हें जितना पुण्य होगा उसका कौन वर्णन कर सकता है ॥२९॥ जैसे समुद्रके रत्न और सूर्यकी किरणें गिनी नहीं जा सकतीं वैसे ही स्तुति करके भी आपके पूरे चरितका वर्णन नहीं हो सकता ॥३०॥ संसारमें प्राप्त करने-योग्य ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो आपके हाथमें न हो फिर भी आप जो जन्म लेते और कर्म करते हैं उसका एक मात्र उद्देश्य यही है कि आप संसारपर अनुग्रह करना चाहते हैं ॥३१॥ आपकी महत्ताकी प्रशंसा करके जो हम चुप हो रहे हैं, इसका यह कारण नहीं है कि हमने आपके सब गुण बखान डाले, वरन् इसका कारण यही है कि हम थक गए हैं और आगे बोलनेकी शक्ति हममें नहीं रह गई है ॥३२॥ जो भगवान् किसी भी इन्द्रियसे प्राप्त नहीं होते उनकी स्तुति करके देवताओंने उन्हें प्रसन्न कर लिया। वह स्तुति भी उनकी झूठी प्रशंसा नहीं थी वरन् सब बातें सच्ची ही थीं ॥३३॥ विष्णु भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उनसे कुशल-मंगल पूछा, जिसके उत्तरमें

अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना । स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ॥३५॥
पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता । बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥३६॥
बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता। निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी॥३७॥
जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ । अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥३८॥
विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् । अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥३९॥
कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा। स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते॥४०॥
स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे। स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा॥४१॥
स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः । अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥४२॥
धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः। दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः।४३॥
सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम्। करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम्।४४।
अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः। मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः॥४५॥
वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि । पुष्पकालोकसंक्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥४६॥

देवताओंने कहा कि आज-कल ऐसे राक्षस उत्पन्न हो उठे हैं जिन्होंने बिना प्रलय काल आए ही सारे संसारकी मर्यादा भंग करके चारों ओर हाहाकार मचा रक्खा है ॥३४॥ यह सुनकर समुद्रसे भी बढ़कर गंभीर ध्वनिमें जब भगवान् उत्तर देने लगे तब क्षीर-सागरके तटपर खड़े हुए पहाड़ोंकी गुफाओंमें उनके शब्द गूँज उठे ॥३५॥ विष्णु भगवान् तो सबसे पुराने कवि हैं इसलिये जब उनके (मुखके भीतर कण्ठ, तालु, दाँत, ओठ आदि) उच्चारणके स्थानोंसे भली भाँति वाणी निकली तब मानो सरस्वतीने अपने जन्म लेनेका फल पा लिया ॥३६॥ उनके दाँतोंकी चमकसे जगमगाती हुई उनकी वाणी मुखसे निकलती हुई ऐसी शोभा देने लगी मानो उनके चरणोंसे निकलकर गंगा ही ऊपरको उठी चली आ रही हों ॥३७॥ विष्णु बोले—'देवताओं ! जैसे संसारके जीवोंके सत्त्व और रजोगुणको उनका तमोगुण दबा लेता है वैसे ही आपके तेज और बलको रावण दबा बैठा है ॥३८॥ मैं यह भी जानता हूँ कि जैसे अनजानमें किए हुए पापसे सज्जनका मन भी घबरा जाता है वैसे ही सारा संसार रावणके अत्याचारसे घबरा उठा है ॥३९॥ इसलिये रावणको मिटा डालनेका काम जैसा इन्द्रका है वैसा ही मेरा भी है। इसके लिये इन्द्रने जो मेरी प्रार्थना की है उसकी मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता हूँ क्योंकि आगकी सहायताके लिये वायुसे कहना नहीं पड़ता, वह तो स्वयं ही आगको उभाड़ा करता है ॥४०॥ शिवको प्रसन्न करनेके लिये रावण अपने नौ सिर काटकर चढ़ा चुका है। अब जान पड़ता है कि उस राक्षसने अपना दसवाँ सिर मेरे चक्रसे काटे जानेके लिये बचा छोड़ा है ॥ ४१ ॥ ब्रह्माने जो उसे वरदान दे दिया है उसीसे मैंने उस दुष्टका दिन-दिन ऊपर चढ़ना उसी प्रकार सहा है जैसे अपने ऊपर चढ़ते हुए साँपको चन्दनका पेड़ सह लेता है ॥ ४२ ॥ जब ब्रह्माजी उसकी तपस्यासे प्रसन्न हुए तब उसने यही वरदान माँगा कि मैं देवताओंके हाथसे न मारा जा सकूँ क्योंकि मनुष्योंको तो वह कुछ समझता ही नहीं है ॥ ४३ ॥ इसलिये मैं राजा दशरथके यहाँ जन्म लेकर अपने तीखे बाणोंसे उसके सिरोंको कमलके समान उतारकर रणभूमिको भेंट चढ़ा दूंगा ॥ ४४ ॥ देखो देवताओं ! आजसे यजमान लोग जो विधिसे दिया हुआ यज्ञका भाग तुम्हें दिया करेंगे उसे अब राक्षस लोग छीनकर नहीं खा सकेंगे, सब आप ही लोगोंको मिलता रहेगा ॥ ४५ ॥ अब आप लोग अपने-अपने विमानों-पर चढ़-चढ़कर निडर होकर आकाशमें

मोक्षध्वे स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान्। शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥४७॥
रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः। अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥४८॥
पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः। अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥४९॥
अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः। पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥५०॥
हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम्। अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥५१॥
प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः। वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥५२॥
अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः। प्रसूतिं चकमेतस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥५३॥
स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम्। द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥५४॥
अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा। अतः संभावितां ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥५५॥
ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः। चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥५६॥
सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि। भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥५७॥
ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसंभवः। सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥५८॥

घूमिए और रावणके पुष्पक विमानको देखकर और उससे डरकर बादलोंमें छिपना छोड़ दीजिए ॥४६॥ रावणने स्वर्गकी जिन स्त्रियोंको अपने यहाँ बन्दी कर रक्खा है उनके जूड़ोंको वह नलकूबरके शापके डरसे हाथ नहीं लगा पाया है। अब उन बन्दी स्त्रियोंके जूड़े आप लोग ही अपने हाथोंसे खोलिएगा' ॥४७॥ जैसे सूखेके दिनोंमें धानके खेतपर बादल जल बरसाकर निकल जाय वैसे ही रावणके डरसे सूखे हुए देवताओंपर अपने मधुर वचन बरसाकर विष्णु भगवान् भी अन्तर्धान हो गए ॥४८॥ जैसे वायुके चलनेपर वनके वृक्ष स्वयं उसके पीछे न जाकर अपने फूलोंकी गन्ध उसके साथ भेज देते हैं वैसे ही जब देवताओंका कार्य करनेके लिये भगवान् विष्णु चले तब इन्द्र आदि देवताओंने भी अपने-अपने अंश उनके साथ भेज दिए ॥४९॥ इधर ज्यों ही राजा दशरथका पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ त्यों ही यज्ञकी अग्निमेंसे एक दिव्य पुरुष आ प्रकट हुआ जिसे देखकर यज्ञ करनेवाले सभी ऋषि बड़े अचरजमें पड़ गए ॥५०॥ उस पुरुषके हाथके सोनेके कटोरेमें जो खीर भरी थी उस खीरमें सारे ब्रह्माण्डको सँभालनेवाले विष्णु भगवान पैठे हुए थे इसलिये वह दिव्य पुरुष भी उस कटोरेको बड़ी कठिनाईसे सँभाल पा रहा था ॥५१॥ जैसे इन्द्रने समुद्रमेंसे निकले हुए अमृतके कलशको पकड़ थामा था वैसे ही राजा दशरथने भी उस दिव्य पुरुषके हाथसे वह खीर ले थामी ॥५२॥ उस दिव्य पुरुषने राजा दशरथके असाधारण गुणोंकी इतनी प्रशंसा की कि विष्णु भगवान्को भी उनके यहाँ जन्म लेनेकी इच्छा जाग उठी ॥५३॥ जैसे सूर्य अपनी नई धूप पृथ्वी और आकाश दोनोंमें बाँट देता है वैसे ही खीरके रूपमें पाए हुए विष्णुके तेजको राजाने कौसल्या और कैकेयीमें बराबर बराबर बाँट दिया ॥५४॥ कौसल्या उनकी बड़ी रानी थी और कैकेयी उनकी प्यारी रानी थी इसलिये वे चाहते थे कि वे दोनों रानियाँ ही अपने-अपने भागोंमेंसे स्वयं कुछ भाग देकर सुमित्राका सम्मान करें ॥५५॥ सब कुछ जाननेवाले राजा दशरथकी उन दोनों रानियोंने अपनी-अपनी खीरका आधा-आधा भाग सुमित्राको निकाल बाँटा ॥५६॥ जैसे हाथीके दोनों कपोलोंसे निकलनेवाली मदकी दोनों धाराओंसे भौंरी बराबर प्रेम करती है वैसे ही सुमित्रा भी अपनी दोनों सौतोंसे बराबर-सा प्रेम करती थीं ॥५७॥ जैसे अमृत नामकी जल बरसानेवाली सूर्यकी किरणें संसारके कल्याणके लिये जल लिए रहती हैं वैसे ही उन तीनों रानियोंने लोकके कल्याणके लिये विष्णुके

सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः । अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव संपदः ॥५९॥
गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः। जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥६०॥
हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता । उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥६१॥
विभ्रत्या कौस्तुभन्यासंस्तनान्तरविलम्बिनम् । पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ।६२।
कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः । ब्रह्मर्षिभिः परंब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥६३॥
ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः। मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः।६४
विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा । उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ।६५।
अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती । पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥६६॥
राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः । नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥६७॥
रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा । रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥६८॥
शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ । सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥६९॥
कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् । जनयित्रीमलंचक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥७०॥
सूतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ । सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥७१॥
निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् । अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥७२॥

अंशसे भरा गर्भ धारण कर लिया ॥५८॥ एक साथ गर्भ धारण करनेवाली रानियाँ गर्भसे पीली पड़नेके कारण अनाजकी उन बालियोंके समान पीली लगने लगी थीं जिनमें दाने पड़ गए हों ॥५९॥ उन्हें यह स्वप्न दिखाई देता था कि 'कमल, तलवार, गदा, शार्ङ्ग धनुष और चक्र लिए हुए कोई बौना-सा पुरुष बराबर हमारी रक्षा किए जा रहा है, ॥६०॥ अपने सोनेके पंखोंसे प्रकाश फैलाता हुआ और अपने वेगके कारण अपने साथ बादलोंको भी खींचकर ले जाता हुआ गरुड आकाशमें हमें उड़ाए लिए जा रहा है ॥६१॥ और वक्षस्थलपर कौस्तुभमणि पहने हुए लक्ष्मी भी हाथमें कमलका पंखा लेकर हमारी सेवा कर रही हैं ॥६२॥ इतना ही नहीं, आकाशगङ्गामें स्नान करके सप्तर्षि भी वेद-पाठ करते हुए हमारी ही उपासना कर रहे हैं' ॥६३॥ जब रानियोंने राजाको अपने ये स्वप्न सुनाए तब वे बड़े प्रसन्न हो उठे और उन्होंने समझ लिया कि अब संसारमें मुझसे बढ़कर कोई भाग्यशाली नहीं है क्योंकि मैं संसारके गुरु विष्णुजीका भी पिता बननेवाला हूँ ॥६४॥ यद्यपि विष्णुका एक ही रूप है फिर भी जैसे निर्मल जलमें चन्द्रमाके बहुतसे प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं वैसे ही वे भी तीनों रानियोंके गर्भोंमें अलग-अलग निवास कर रहे थे ॥६५॥ जैसे पर्वतकी बहुतसी बूटियोंमें रातको अँधेरा दूर करनेवाला प्रकाश आ जाता है वैसे ही राजाकी पटरानी कौशल्याने तमोगुणको दूर करनेवाला पुत्र उत्पन्न किया ॥६६॥ उस बालकका मनोहर शरीर देखकर गुरु वशिष्ठने उनका संसारमें सबसे अधिक मङ्गलकारी नाम 'राम' रख दिया ॥६७। रघुवंशको उजागर करनेवाले उस बालकका इतना तेज था कि सौरी-घरके सब दीपकोंकी ज्योति उसके आगे मन्द पड़ गई ॥६८॥ प्रसवसे दुबली माता कौसल्या, नन्हेंसे रामको लिये हुए पलँगपर लेटी हुई ऐसी सुन्दर जान पड़ती थीं जैसे शरद् ऋतुमें पतली धारवाली गङ्गाके तटपर किसीका चढ़ाया हुआ नीला कमल रक्खा हुआ हो ॥६९॥ कैकेयीने भरतको जन्म दिया। उन्हें पाकर वे ऐसी शोभा दे रही थीं जैसे सम्पत्तिके साथ आदर शोभा देता है ॥७०॥ जैसे अभ्याससे पाई हुई विद्यासे ज्ञान और विनय दोनों मिल जाते हैं वैसे ही सुमित्राके लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामके दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न हुए ॥७१॥ उस समय संसारसे सारे दोष भाग खड़े हुए और चारों

तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः । विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥७३॥
कृशानुरेपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः । रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥७४॥
दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः । मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥७५॥
पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः। आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥७६॥
संतानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी । सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाभवत् ॥७७॥
कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः । आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः॥७८॥
स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा। मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्॥७९॥
परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् । अलमुद्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः ॥८०॥
समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ । तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः॥८१॥
तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन । यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥८२॥
ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च ।मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव॥८३॥
स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः । धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक्॥८४॥
गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः । तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥८५॥

ओर गुण ही गुण आ फैले मानो विष्णु भगवान्के साथ-साथ स्वर्ग भी पृथ्वीपर आ उतरा हो ॥७२॥ दसों दिशाओंमें बिना धूलकी जो स्वच्छ बयार चलने लगी थी वह ऐसी लगती थी मानो रावणसे डरे हुए कुबेर आदि दिक्पालोंने पृथ्वीपर चार रूपोंमें आए हुए भगवान्को पाकर सन्तोषकी साँस ली हो ॥७३॥ रावणसे पीडा पाए हुए अग्निदेवका धुआँ निकल गया और सूर्य भी निर्मल हो गए मानों इन दोनों का ही शोक दूर हो गया हो ॥७४॥ उसी समय रावणके मुकुटके कुछ मणि पृथ्वीपर जा गिरे मानो राक्षसोंकी लक्ष्मीके आँसू ही ढुलक पड़े हों ॥७५॥पुत्रवान् राजा दशरथके यहाँ पुत्र-जन्मके समय नगाडे आदि बाजे पीछे बजे, पहले देवताओंने ही स्वर्गमें बधाईकी दुन्दुभी बजा सुनाई ॥७६॥ और उनके राजभवनपर आकाशसे कल्पवृक्षोंके फूलोंकी जो वर्षा हुई उसीसे उनके माङ्गलिक संस्कारोंका आरंभ हुआ ॥७७॥ जातकर्म आदि संस्कार हो चुकनेपर गायका दूध पी-पीकर जैसे-जैसे राजकुमार बढ़ने लगे वैसे ही वैसे राजा दशरथका आनन्द भी बढ़ने लगा मानो यह आनन्द उन चारों राजकुमारोंका जेठा भाई हो ॥ ७८ ॥ जैसे घी आदि पड़नेसे हवनकी अग्निका स्वाभाविक तेज बढ़ जाता है वैसे ही शिक्षा पानेसे उन चारों राजकुमारोंकी स्वाभाविक नम्रता और भी अधिक बढ़ गई ॥७९॥ जैसे ऋतुएँ नन्दनवनको चमका डालती हैं वैसे ही परस्पर प्रेमसे उन चारों कुमारोंने पवित्र रघुकुलको उजागर कर दिया ॥८०॥ यद्यपि चारोंमें परस्पर बहुत प्रेम था, फिर भी विशेष प्रेमके कारण जैसे राम और लक्ष्मणकी एक जोड़ी हो गई वैसे ही भरत और शत्रुघ्नकी भी जोड़ी हो गई ॥८१॥ जैसे वायु और अग्निका तथा चन्द्रमा और समुद्रका जोड़ा कभी अलग नहीं होता वैसे ही राम और लक्ष्मणका तथा भरत और शत्रुघ्नका साथ कभी नहीं छूटा ॥ ८२ ॥ सारी प्रजाके स्वामी राजकुमारोंने अपने तेज और नम्र व्यवहारसे अपनी प्रजाका मन उसी प्रकार हर लिया जैसे गर्मीके अन्तमें काले बादल लोगोंके मन आकृष्ट कर लेते हैं ॥ ८३ ॥ राजाकी चारों संतानें ऐसी शोभा दे रही थीं मानो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारोंने अवतार

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ।।८६।।

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रामावतारो नाम दशमः सर्गः ।।

आ लिया हो ।।८४।। चारों पितृभक्त राजकुमारोंने राजा दशरथको अपने गुणोंसे उसी प्रकार प्रसन्न कर लिया जैसे चारों समुद्रोंने रत्न देकर चारों दिशाओंके स्वामी राजा दशरथको प्रसन्न कर लिया था ।।८५।। जैसे असुरोंकी तलवारोंकी धार कुंठित करनेवाले अपने चार दाँतोंसे ऐरावत शोभा देता है, जैसे साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायोंसे राजनीति शोभा देती है और जैसे रथके जुएके समान लम्बी-लम्बी अपनी चार भुजाओंसे विष्णु भगवान् शोभा देते हैं वैसे ही राजा दशरथ भी अपने चार सुयोग्य पुत्रोंसे सुशोभित दिखाई देने लगे ।। ८६ ।।

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें
रामावतार नामका दसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

॥ एकदशः सर्गः ॥

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥
कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक्तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥
यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम् ।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥ ३ ॥
तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि वाष्पबिन्दवः ॥ ४ ॥
तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किंचिदुक्षितशिखण्डकावुभौ ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥ ५ ॥
लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः ।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥
मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः ।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ ७ ॥
वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत ।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

एक दिन राजा दशरथके पास विश्वामित्रने आकर कहा कि मेरे यज्ञकी रक्षाके लिये काकपक्ष-धारी रामको मेरे साथ भेज दीजिए। ठीक ही है, जो तेजस्वी होते हैं, उनके लिये यह नहीं विचार किया जाता कि वे छोटे हैं या बड़े ॥ १ ॥ यद्यपि दशरथने राम और लक्ष्मणको बड़ी तपस्यासे पाया था पर वे विद्वानोंके इतने भक्त थे कि उन्होंने तत्काल राम-लक्ष्मणको मुनिके साथ भेज दिया क्योंकि रघुकुलकी सदासे यह रीति रही है कि यदि कोई प्राण भी माँगे तो उसे विमुख नहीं लौटाते ॥ २ ॥ अभी राजा दशरथ उनकी विदाईके लिये सड़क सजानेकी आज्ञा अपने सेवकोंको दे ही रहे थे कि इतनेमें वायुने फूल और बादलोंने जल ला लाकर सड़कोंपर बरसा ही तो दिया ॥ ३ ॥ पिताकी आज्ञा पालन करनेको प्रस्तुत होकर दोनों राजकुमार अपने पिताके चरणोंमें प्रणाम करनेको झुके ही थे कि दशरथकी आँखोंसे उन दोनोंपर टप-टप आँसू टपक पड़े ॥ ४ ॥ और उन आँसुओंसे दोनों राजकुमारोंकी चोटियाँ भीग गईं। जिस समय धनुष् लेकर दोनों राजकुमार विश्वामित्रके पीछे-पीछे चले जा रहे थे उस समय उन्हें देखते हुए पुरवासियोंकी आँखें ऐसी जान पड़ती थीं मानो नेत्रोंकी बंदनवार ला बाँधी गई हो ॥ ५ ॥ विश्वामित्र केवल राम और लक्ष्मणको ही ले जाना चाहते थे। अतः, राजाने उनकी सहायताके लिये अपना आशीर्वाद ही दिया, सेना नहीं, क्योंकि उनका आशीर्वाद ही उनकी रक्षाके लिए पर्याप्त था ॥६॥ माताओंके चरण छूकर दोनों राजकुमार उन तेजस्वी मुनिके पीछे चलते हुए ऐसे शोभित होते थे मानो सूर्यके पीछे-पीछे चैत्र और वैशाख मास चले जा रहे हों ॥ ७ ॥ बचपनके कारण लहरोंके समान चंचल बाँहोंवाले राजकुमारोंका

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥
पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ १० ॥
तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्त्रिणः ।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥ ११ ॥
नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम् ।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥
स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ १३ ॥
तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि ।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥
ज्यानिनादमथ गृह्लती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः ।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निविडा बलाकिनी ॥ १५ ॥
तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥ १६ ॥

चुलबुलापन ऐसा सुन्दर लग रहा था मानो वर्षा ऋतुमें दोनों उद्ध्य और भिद्य नामकी नदियाँ लहराती इठलाती तटोंको ढाती हुई चली जा रही हों ॥८॥ (आजतक उन बालकोंने घरसे बाहर तो पैर रक्खा ही न था, इसलिये) मार्गमें ही विश्वामित्रने उन्हें बला और अतिबला नामकी दोनों विद्याएँ सिखा दीं जिससे ऊबड़-खाबड़ वनके मार्गमें चलते हुए उन्हें थकान नहीं हो रही थी और वैसा ही सुख मिल रहा था जैसे वे मणियोंसे जड़े हुए अपने भवनोंमें अपनी माताके आसपास घूम रहे हों ॥९॥ जो राम और लक्ष्मण सदा दिव्य रथोंपर चढ़कर चलते थे उन्हें तनिक भी थकावट नहीं हुई क्योंकि उनके पिताके मित्र विश्वामित्र उन्हें मार्गमें पुरानी-पुरानी बहुत-सी कथाएँ सुनाते चले जा रहे थे ॥१०॥ सरोवरोंने अपना मीठा जल पिलाकर, पक्षियोंने मधुर गीत सुनाकर, वायुने सुगन्धित पराग फैलाकर और बादलोंने शीतल छाया देकर मार्गमें उन दोनोंकी बड़ी सेवा की ॥११॥ कमलोंसे भरे हुए सरोवर तथा थकावट हरनेवाले वृक्षोंकी छाया देखकर भी आश्रमके तपस्वी उतने प्रसन्न कभी नहीं हुए थे जितने इन दोनों राजकुमारोंको देखकर प्रसन्न हुए ॥१२॥ जिस तपोवनमें शिवने कामदेवको भस्म किया था वहाँ जब सुन्दर शरीरवाले राम धनुष् उठाए हुए पहुँचे तब जान पड़ा मानो वे वहाँ कामदेवकी सुन्दरताके ही प्रतिनिधि बनकर आए हों, उसके कार्योंके नहीं ॥१३॥ वहीं मार्गमें उन्हें वह सुकेनुकी कन्या ताड़का राक्षसी मिली जिसने सारे मार्गको उजाड़ बना दिया था और जिसके शापकी कथा महर्षि विश्वामित्रने पहले ही रामको सुना दी थी। उसे देखते ही उन दोनों भाइयोंने अपने धनुष् पृथ्वीपर टेककर उनपर डोरियाँ चढ़ा लीं ॥१४॥ उनके धनुष्की डोरीकी टंकार सुनते ही, कानोंमें लटकी हुई मनुष्यकी खोपड़ियोंका कुण्डल हिलाती हुई अमावस्याकी रात्रिके समान काली कलूटी ताड़का उनके आगे आकर इस प्रकार खड़ी हो गई मानो बगुलोंकी पाँतोंसे भरी काली बदली हो ॥१५॥ बड़े वेगसे मार्गके वृक्षोंको ढाती हुई, प्रेतोंके वस्त्र पहने हुई, भयंकर रूपसे

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ १७ ॥
यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८ ॥
बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९ ॥
राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २० ॥
नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥ २१ ॥
वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरूपेयिवान् ॥
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥ २२ ॥
आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥ २३ ॥
तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥ २४ ॥

गरजने–वाली तथा श्मशानसे उठे हुए बवंडरके समान आकृतिवाली ताड़का, रामपर आ टूटी ॥१६॥ वृक्षकी शाखाके समान अपनी बाँहें उठाती हुई और कमरमें आँतोंकी तगड़ी (करधन) लपेटे हुई उस ताड़काको देखकर रामने स्त्रीको मारनेकी घृणा और बाण दोनों एक साथ छोड़े ॥१७॥ रामके उस बाणने ताड़काकी पत्थरकी चट्टानके समान कठोर छातीमें जो छेद किया वह मानो राक्षसोंके उस देशमें यमराजके प्रवेश करनेके लिये द्वार खोल दिया जहाँ अभीतक वह जा नहीं पा सक रहा था ॥१८॥ रामके बाणसे जब ताड़काकी छाती फट गई और वह नीचे जा गिरी तब उसके गिरनेसे वह जङ्गल ही नहीं वरन् तीनों लोकोंको जीतनेसे पाई हुई रावणकी राजलक्ष्मी भी काँप उठी ॥१९॥ रामके बाणसे बिंधकर दुर्गन्धभरे रुधिरसे लिपटी हुई ताड़का इस प्रकार सीधे यमलोक चली गई जैसे कामके बाणसे घायल हुई कोई अभिसारिका चन्दनका लेप करके अपने प्रियके घर जा रही हो ॥२०॥ जैसे सूर्य, लकड़ी जलानेका तेज, सूर्यकान्त मणिको दे देता है वैसे ही ताड़काके मरनेसे महर्षि विश्वामित्र इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने रामको राक्षसोंका संहार करनेवाला मंत्र-सहित दिव्य अस्त्र भी दे दिया ॥२१॥ वहाँसे रामचन्द्रजी वामनके उस पवित्र आश्रममें आ पहुँचे जिसके विषयमें विश्वामित्रने पहले ही उन्हें सब बता दिया था। वहाँ अपने पूर्व जन्मके वामनावतारकी लीलाओंका ठीक-ठीक स्मरण न होनेपर भी वे कुछ उत्कंठितसे अवश्य हो गए ॥२२॥ वहाँसे मुनि अपने उस आश्रमपर जा पहुँचे जहाँ शिष्योंने पूजाकी सब सामग्री इकट्ठी कर रक्खी थी, जहाँ वृक्ष भी अपने पत्तोंकी अञ्जलि बाँधे खड़े थे और जहाँ मृग भी बड़ी उत्सुकतासे इन लोगोंको देख रहे थे ॥२३॥ जैसे सूर्य और चन्द्रमा बारी-बारीसे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका अंधेरा दूर करते रहते हैं वैसे ही आश्रममें बारी-बारीसे राम और लक्ष्मण भी यज्ञ करनेवाले ऋषिके विघ्न दूर करते जा रहे थे ॥२४॥ इतनेमें ही यज्ञकी वेदीपर बन्धुजीव (दुपहरिया)-के

वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥ २५ ॥
उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥ २६ ॥
तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥ २७ ॥
सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः संदधे धनुषि वायुदैवतम् ।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पांडुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥ २८ ॥
यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ २९ ॥
इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥ ३० ॥
तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातरावभृथाप्लुतो मुनिः ।
आशिषामनुपदं समस्पृशद्दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥ ३१ ॥
तं न्यमन्त्रयत संभृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥ ३२ ॥
तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥ ३३ ॥

फूलके समान बड़ी-बड़ी रक्तकी बूँदें देखकर ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यज्ञ करना बन्द करके अपने-अपने खैरके स्रुवे नीचे रख दिए ॥२५॥ उसी समय रामने अपने तूणीरसे बाण निकाल कर ऊपर मुँह करके आकाशकी ओर देखा कि गिद्धके पंखोंके समान हिलती हुई ध्वजाओं-वाली राक्षसोंकी सेना आई खड़ी है ॥२६॥ रामने और सबको छोड़कर उन्हीं दो राक्षसोंको बाण मारे जो उस सेनाके सेनानायक थे और जो यज्ञसे घृणा करते थे क्योंकि बड़े-बड़े सर्पोंपर आक्रमण करनेवाला गरुड क्या कभी जलके छोटे-छोटे सँपोलोंपर आक्रमण किया करता है ? ॥२७॥ दिव्य अस्त्र चलानेमें रामका हाथ ऐसा सधा हुआ था कि उन्होंने झट अपने धनुष्पर वायव्य अस्त्र चढ़ाया और पर्वतसे भी बड़े ताड़काके पुत्र मारीचको उस बाणसे उड़ाकर वैसे ही दूर उड़ा फेंका जैसे कोई सूखा पत्ता उड़ा दिया हो ॥२८॥ सुबाहु नामका जो दूसरा राक्षस अपनी मायासे इधर-उधर घूम रहा था उसे भी रामने अपने बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े करके आश्रमके बाहर मार गिराया जिसे पक्षियोंने क्षण भरमें ही बाँट खाया ॥२९॥ जब यज्ञ करनेवाले ऋषियोंने देखा कि थोड़े ही समयमें रामने सब विघ्न दूर कर दिए तब तो उन्होंने राम और लक्ष्मणके पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की और मौन धारण किए विश्वामित्रने विधिके साथ अपना यज्ञ पूरा कर डाला ॥३०॥ यज्ञ पूर्ण होनेपर, स्नान करके महर्षि विश्वामित्रने उन राम और लक्ष्मणको बड़ा आशीर्वाद दिया जिनकी लटें प्रणाम करते समय झूली पड़ रही थीं । ऋषिने कुशासे छिली हुई अपनी हथेली उनके सिरपर रखकर उनपर अपना बड़ा स्नेह जताया ॥३१॥ उन्हीं दिनों राजा जनक भी वह धनुर्यज्ञ ठाने बैठे थे जिसमें उन्होंने मुनियोंको भी निमन्त्रण दिया था । धनुर्यज्ञकी बात सुनकर दोनों राज-कुमारोंको बड़ा कुतूहल हुआ, इसलिये विश्वामित्र उन दोनोंको भी साथ लेकर मिथिलापुरीको चल

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
स्वं वपुः स किल किल्विषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ।। ३४ ।।
राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ।। ३५ ।।
तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ।। ३६ ।।
यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्द्धनः ।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयांबभूव सः ।। ३७ ।।
तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ।। ३८ ।।
अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम् ।। ३९ ।।
ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्भृतः ।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ।। ४० ।।
प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।
चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ।। ४१ ।।

दिए ।।३२।। वे कुछ ही दूर चले होंगे कि साँझ हो चली वे उस आश्रमके सुन्दर वृक्षोंके तले ही टिक गए जहाँ महातपस्वी गौतमकी स्त्री अहल्या थोड़ी देरके लिये इन्द्रकी पत्नी बन गई थीं ।।३३।। रामके चरणोंकी धूल सब पापोंको हरनेवाली थी इसलिये उसके छूते ही पतिके शापसे पत्थर बनी हुई अहल्याको फिर इतने दिनों पीछे वही पहलेवाला सुन्दर शरीर मिल गया ।।३४।। जब राजा जनकको यह समाचार मिला कि विश्वामित्रके साथ राम और लक्ष्मण भी आए हुए हैं तब वे पूजाकी सामग्री लेकर उनकी अगवानीके लिये मिलने चले आए । उस समय विश्वामित्रके साथ वे दोनों जनकको ऐसे लगे मानो धर्मके साथ अर्थ और काम ही वहाँ चले आए हों ।।३५।। वे दोनों राजकुमार ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो दो पुनर्वसु नक्षत्र ही पृथ्वीपर उतरे चले आए हों । जनकपुरके निवासी ऐसे मगन होकर अपनी आँखोंसे उनका रूप पी रहे थे कि बीच-बीचमें पलकोंका गिरना भी उन्हें बड़ा अखर रहा था ।।३६।। जब धनुर्यज्ञकी सब क्रियाएँ समाप्त हो गईं तब ठीक अवसर समझकर विश्वामित्रने जनकसे कहा कि राम भी वह धनुष् देखना चाहते हैं ।।३७।। जब जनकने एक ओर प्रसिद्ध वंशमें उत्पन्न हुए बालक रामका कोमल शरीर देखा और दूसरी ओर अपने उस कठोर धनुष्पर दृष्टि डाली जिसे बड़े-बड़े वीर भी नहीं झुका सके थे, तब उन्हें इस बातका बड़ा पछतावा हुआ कि मैंने अपनी कन्याके विवाहके लिये यह धनुष् तोड़नेका अड़ंगा व्यर्थमें क्यों लगा दिया ।।३८।। वे विश्वामित्रसे बोले—'भगवन् ! जो काम बड़े-बड़े मतवाले हाथी नहीं कर सकते, उसे हाथीके बच्चेसे कराना व्यर्थका खेलवाड़ है । इसलिये मेरा मन तो नहीं चाहता कि इनसे धनुष् उठवाया जाय ।।३९।। इस धनुष्के उठानेमें बड़े-बड़े धनुर्धर राजा अपना-सा मुँह लेकर रह गए और अपनी उन भुजाओंको धिक्कारते हुए चले गए जिनपर धनुष्की डोरीकी फटकारसे बड़े-बड़े घट्टे पड़े हुए थे ।।४०।। यह सुनकर मुनि बोले—'राजन् ! इनकी शक्ति आप मुझसे सुनिए । पर कहनेसे होता क्या है ! जैसे वज्रकी शक्तिकी परीक्षा पहाड़पर होती है वैसे ही इनकी

एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ ४२ ॥
व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ ४३ ॥
तत्प्रसुप्तभजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद्बृषध्वजः ॥ ४४ ॥
आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥ ४५ ॥
भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्त्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥ ४६ ॥
दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ ४७ ॥
मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम्।
संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥ ४८ ॥
प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोशलाधिपतये पुरोधसम्।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥ ४९ ॥

शक्तिकी परीक्षा धनुष्पर ही हो जायगी' ॥४१॥ मुनिके कहनेसे जनकको भी कुछ-कुछ विश्वास होने लगा कि जैसे वीरबहूटीके बराबर नन्हीं-सी चिनगारीमें भी जलानेकी शक्ति छिपी रहती है वैसे ही काकपक्षधारी राममें भी धनुष् उठानेकी शक्ति अवश्य होगी ही ॥४२॥ इसलिये जनकने अपने सेवकोंको उसी प्रकार धनुष लानेकी आज्ञा दे दी जैसे इन्द्र भगवान् बादलोंको अपना धनुष् प्रकट करनेकी आज्ञा दे देते हैं ॥४३॥ वह धनुष् जब ले आया गया तब वह ऐसा जान पड़ता था मानो कोई बड़ा भारी अजगर सोया पड़ा हो। रामने देखते-देखते शङ्करका वह धनुष् थाम उठाया जिसे हाथमें लेकर शङ्करने मृगके रूपमें दौड़नेवाले यज्ञदेवताके ऊपर बाण छोड़े थे ॥४४॥ सभी सभासदोंको तब बड़ा आश्चर्य हुआ जब रामने उस पर्वतके समान भारी धनुष्पर वैसी ही सरलतासे डोरी चढ़ा दी जैसे कामदेव अपने फूलोंके धनुष्पर डोरी चढ़ाया करता है ॥४५॥ रामने धनुषको इतना खींच ताना कि वह वज्रके समान भयङ्कर शब्द करके इस प्रकार कड़कड़ाता हुआ टूट गया, मानो उसने महाक्रोधी परशुरामको सूचना जा दी हो कि क्षत्रियोंने अब फिर सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया है ॥४६॥ राजा जनकने जब देखा कि धनुष् तोड़कर रामने अपना पराक्रम दिखला दिया है तब उन्होंने रामका बड़ा आदर किया और पृथ्वीसे उत्पन्न हुई अपनी कन्या जानकी उसी प्रकार रामके हाथ सौंप दी मानो साक्षात् अपनी लक्ष्मी ही उन्हें दे डाली हो ॥४७॥ सत्य प्रतिज्ञा करनेवाले जनकने विश्वामित्रको ही विवाहका साक्षी अग्नि समझ लिया और तत्काल उन्हींके आगे रामको सीता समर्पित कर दी ॥४८॥ तब महातेजस्वी राजा जनकने अपने पूज्य पुरोहितसे दशरथके पास कहला भेजा कि मेरी पुत्री सीताको स्वीकार करके इस निमि-कुलपर वैसी ही कृपा कीजिए जैसी आप अपने सेवकोंपर किया करते हैं ॥४९॥ उधर दशरथ यह विचार ही रहे थे कि योग्य पतोहू

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥ ५० ॥

तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः ॥ ५१ ॥

आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥ ५२ ॥

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥ ५३ ॥

पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरोजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥ ५४ ॥

ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
सामदानविधिभेदविग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥ ५५ ॥

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम् ।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥ ५६ ॥

एवमात्तरतिरात्मसंभवाँस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः ।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥ ५७ ॥

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥ ५८ ॥

हमारे घरमें आवे कि इतनेमें जनकके पुरोहित भी राजा दशरथकी इच्छा पूरी होनेका समाचार लेकर वह जा ही पहुँचे। ठीक भी है, पुण्यवानोंकी अभिलाषा तो कल्पवृक्षके समान तत्काल फल देनेवाली होती ही है ॥५०॥ इन्द्रके मित्र, जितेन्द्रिय दशरथने पुरोहितका बड़ा सत्कार किया और उनकी बातें सुनकर वे इतनी सेना साथ लेकर चले कि उससे उठी हुई धूलसे सूर्य भी ढक गया ॥५१॥ वे इस ठाठ-बाटसे मिथिला जा पहुँचे मानो उन्होंने उसपर चढ़ाई आ की हो। मिथिलाके बाहरके उपवनको तो उनकी सेनाने रौंद ही डाला। पर इस प्रेमकी चढ़ाईको उस नगरीने उसी प्रकार सहन किया जैसे कोई स्त्री अपने प्रियतमके कठोर संभोगको सहन किया करती है ॥५२॥ वरुण और इन्द्रके समान उन दोनों प्रतापी राजाओंने मिलकर शास्त्रकी विधिसे अपने ऐश्वर्यके अनुकूल अपने पुत्रों और कन्याओंका विवाह कर दिया ॥१३॥ रामका सीतासे और लक्ष्मणका सीताकी छोटी बहन उर्मिलासे विवाह कर दिया गया। भरत और शत्रुघ्नका विवाह जनकके छोटे भाई कुशध्वजकी माण्डवी और श्रुतिकीर्ति नामकी कन्याओंसे कर दिया गया ॥५४॥ वे चारों भाई नई बहुओंके साथ ऐसे सुशोभित हुए मानो राजा दशरथके साम, दान, दण्ड और भेद, इन चारों उपायोंको सिद्धियाँ मिल गई हों ॥५५॥ उन चारों राजकुमारोंको पाकर राजकन्याएँ और राजकन्याओंको पाकर राजकुमार निहाल हो गए। वह वर और बधुओंका मिलन ऐसा हुआ जैसे शब्दके मूल रूपोंमें प्रत्यय आ जुड़े हों ॥५६॥ इस प्रकार दशरथने चारों पुत्रोंका विवाह करके तीन पड़ावतक पहुँचकर वहाँसे जनकको लौटा दिया और स्वयं बड़े प्रसन्न मनसे अयोध्याकी ओर बढ़ चले ॥५७॥ जैसे बढ़ी हुई नदीकी धारा आस-पासकी भूमिको उजाड़ डालती है वैसे ही एक

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः ।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥ ५९ ॥

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥ ६० ॥

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे ।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ६१ ॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वान्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ।
यः ससोम इव धर्मदीधितिः स द्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्त्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥

दिन मार्गमें सेनाके ध्वजारूपी वृक्षोंको झकझोरनेवाले वायुने सारी सेनाको व्याकुल कर दिया ॥५८॥ उससे सूर्यके चारों ओर एक बड़ा भारी मण्डल बन गया और वह ऐसा लगने लगा जैसे गरुडसे मारा हुआ कोई साँप अपने सिरसे गिरी हुई मणिके चारों ओर कुण्डली मारे पड़ा हुआ हो ॥५९॥ जैसे रूखे, मैले बालोंवाली तथा रक्तसे लाल कपड़ोंवाली रजस्वला स्त्री देखनेमें अच्छी नहीं लगती उसी प्रकार उस समय चारों ओरकी वे दिशाएँ भी आँखोंको नहीं सुहा रही थीं जिनमें मटमैले बाजोंके पंख इधर-उधर उड़े जा रहे थे और सन्ध्याके लाल-लाल बादल छाए हुए थे ॥६०॥ जिधर सूर्य था उधर ही सियारिनियाँ भयानक रूपसे रोने लगीं मानो क्षत्रियोंके रक्तसे अपने पिताका तर्पण करनेवाले परशुरामको वे पुकार-पुकारकर बुला रहीं हों ॥६१॥ विरोधी पवनके चलने आदि अपशकुन होते देखकर उसकी शांतिके लिये दशरथने अपने गुरुसे पूछा कि अब क्या करना चाहिए। इसपर गुरु वशिष्ठने कहा-‘चिन्ताकी कोई बात नहीं है। इसका फल अच्छा ही होगा।’ यह सुनकर दशरथके मनमें कुछ ढाढस बँधा ॥६२॥ इसी बीच अचानक एक ऐसा प्रकाशका पुञ्ज सेनाके आगे उठता दिखाई दिया जिसे देखकर सब सैनिकोंकी आँखें चौंधिया गईं। आँखें मलकर देखनेपर वह प्रकाशका पुञ्ज साक्षात् पुरुषके रूपमें दिखाई देने लगा ॥६३॥ उस तेजस्वी पुरुषके शरीरपर ब्राह्मण पिताके अंशका सूचक यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था। और कन्धेपर क्षत्रिय माताका अंश सूचित करनेवाला धनुष लटका हुआ था। इस वेशमें वे ऐसे जान पड़ते थे जैसे सूर्यके साथ चन्द्रमा हो या चन्दनके पेड़से साँप लिपटे हुए हों ॥६४॥ उन्होंने जिस समय क्रोधसे कठोर हृदयवाले और उचित-अनुचितका विचार छोड़ देनेवाले अपने पिताकी आज्ञा मानकर अपनी काँपती हुई माताका सिर काट लिया था उस समय उन्होंने पहले तो दयाको जीत लिया और फिर पृथ्वीको जीत

तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः ॥ ६७ ॥
नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे ।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥ ६८ ॥
अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्त्रकोपदहनार्चिषं ततः संदधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥ ६९ ॥
तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥ ७० ॥
क्षत्त्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः ।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥ ७१ ॥
मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः ।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ॥ ७२ ॥
अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
व्रीडमावहति मे स संप्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ ७३ ॥
बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्त्तिमपहर्त्तुमुद्यतः ॥ ७४ ॥

लिया था ॥६५॥ उनके दाएँ कानपर इक्कीस दानेकी रुद्राक्षकी माला लटक रही थी मानो वह इक्कीस बार क्षत्रियोंके नाश करनेकी गिनती करनेके लिये ही उन्होंने पहन रक्खी हो ॥६६॥ जब दशरथने उन परशुरामको देखा जिन्होंने अपने पिताके मारे जानेपर क्रोधसे क्षत्रियोंको नाश करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी तब दशरथको अपनी दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई क्योंकि उनके पुत्र अभी बच्चे ही थे ॥६७॥ उनके पुत्र और परशुराम दोनोंमें राम नाम था। इसलिये जैसे गलेके हारका मणि आनन्द और सर्पमें रहनेवाला मणि भय देता है, वैसे ही अपने पुत्र और परशुराम दोनोंमें आये हुए रामनामसे उन्हें भय भी हुआ और आनन्द भी ॥६८॥ दशरथ अभी कहते ही रह गए कि आपके सत्कारके लिये 'यह अर्घ्य है, यह अर्घ्य है' किन्तु परशुरामने उधर ध्यान भी न देकर क्षत्रियोंको जलानेवाली अपनी टेढ़ी चितवनसे रामकी ओर तरेरकर देखा ॥६९॥ युद्धके लिये उद्यत और मुट्ठीमें धनुष् पकड़कर उँगलियोंमें बाण चढ़ाते हुए रामसे कहा ॥७०॥ 'मेरे पिताका वध करके क्षत्रियोंने मुझसे शत्रुता मोल ले ली है। उन्हें बहुत बार मारकर मुझे कुछ शान्ति मिली थी। पर जैसे डंडेसे छेड़ देनेपर साँप फुफकार उठता है वैसे ही तुम्हारा पराक्रम सुनकर मेरे शरीरमे भी आग सुलग उठा है ॥७१॥ जनकके जिस धनुषको कोई राजा झुका भी न सका उसे तुमने तोड़ डाला है। यह सुनकर मैंने यही समझा है कि आजतक जो मैं सबसे बढ़कर बलवान् समझा जाता था वह यश मानो आज नष्ट हो गया हो ॥७२॥ पहले संसारमें राम कहनेसे लोग मुझे ही समझते थे पर ज्यों-ज्यों तुम ऊँचे चढ़ते चले जा रहे हो त्यों-त्यों वह अर्थ तुम्हारे नामके साथ लगता चला जा रहा है। यह सब देखकर मैं लाजसे गड़ा जा रहा हूँ ॥७३॥ जिस परशुरामके अस्त्र पहाड़ों से टकरानेपर भी कुण्ठित नहीं होते उसके दो ही शत्रु आजतक समान अपराध करनेवाले हुए हैं, उनमें पहला तो था सहस्राबाहु जो मेरे पितासे काम-

क्षत्त्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम्।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ७९ ॥

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत्।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥ ८० ॥

तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाधिरोपितम्।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥ ८१ ॥
तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥ ८२ ॥

धेनुका बछड़ा छीनकर ले गया था और दूसरे हो तुम, जो मेरी कीर्ति छीननेपर तुले बैठे हो ।।७४।। इसलिये क्षत्रियोंका नाश करनेवाला मेरा पराक्रम तबतक मुझे अच्छा नहीं लगता जबतक मैं तुम्हें न जीत लूँ क्योंकि अग्निका प्रताप तभी सराहनीय होता है जब वह समुद्रमें भी वैसे ही भड़ककर जले जैसे सूखी घासके ढेरमें ।।७५।। तुम्हें यह समझ रखना चाहिए कि शिवके जिस धनुषको तोड़कर तुम ऐंठे फिर रहे हो उसकी कठोरता तो विष्णुने पहले ही हर ली थी। इसलिये उसे तोड़कर तुमने कोई वीरताका काम नहीं किया है, क्योंकि जिस वृक्षकी जड़ें नदीकी प्रचण्ड धाराने पहले ही खोखली कर दी हों उसे वायुके तनिकसे झोंकेमें ही उखड़ गिरनेमें क्या देर लगती है ।।७६।। देखो राम ! युद्ध तो पीछे होगा, पहले तुम मेरे इस धनुषपर डोर चढ़ाकर इसे बाणके साथ खींच तो दो। यदि तुम इतना भी कर दोगे तो मैं समझूँगा कि तुम मेरे ही समान बलवान् हो और मैं इतनेसे ही हार मानकर लौट जाऊँगा ।।७७। और यदि तुम मेरे फरसेकी चमकती हुई धारको देखकर डर गए हो तो अपने उन हाथोंको जोड़कर अभयकी भिक्षा माँगो जिनकी उँगलियोंमें धनुषकी डोरीकी फटकारसे व्यर्थ ही घट्टे पड़ गए हैं' ।।७८।। भयङ्कर वेशधारी परशुरामने जब यह कहा तब रामने हँसते-हँसते इस प्रकार वह धनुष हाथ में ले लिया मानो परशुरामके वचनोंका वही ठीक उत्तर हो ।।७९।। जैसे ही उन्होंने अपने पिछले जन्मवाला वह धनुष हाथ में लिया त्योंही उनकी शोभा और भी बढ़ गई, क्योंकि एक तो नया बादल यों ही सुन्दर लगता है फिर यदि उसमें इन्द्रधनुष भी बन जाय तब तो उसकी शोभा का कहना ही क्या ।।८०।। पराक्रमी रामने उस धनुषका एक छोर पृथ्वीपर टेककर जैसे ही उसपर डोरी चढ़ाई वैसे ही क्षत्रियोंके शत्रु परशुराम उसी अग्निके समान निस्तेज हो गए जिसमें केवल धुआँ भर रह गया हो ।।८१।। आमने-सामने खड़े हुए राम और परशुराममेंसे एकका तेज बढ़ जाने और दूसरेका घट जानेसे

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गव राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसंनिभः ॥ ८३ ॥
न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।
शंस किं गतिमनेन पत्त्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥ ८४ ॥
प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ ८५ ॥
भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम्
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८६ ॥
तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥ ८७ ॥
प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्‌मुखश्च विससर्ज सायकम् ।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥ ८८ ॥
राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥ ८९ ॥
राजसत्त्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥ ९० ॥

वे दोनों ऐसे जान पड़ने लगे जैसे वे सन्ध्या समयके चन्द्रमा और सूर्य हों ॥८२॥ कार्तिकेयके समान तेजस्वी दयालु रामचन्द्रने एक बार निस्तेज परशुरामको और फिर धनुषपर चढ़े हुए अपने अचूक बाणको देखा और बोले ॥८३॥ 'यद्यपि आपने हमारा बड़ा अपमान किया है तथापि आप ब्राह्मण हैं, इसलिये मैं निर्दय होकर आपको मारूँगा नहीं। पर यह बताइए कि अब इस बाणसे मैं आपकी गति रोक दूँ या आपका उन दिव्य लोकोंमें पहुँचना रोक दूँ जो आपने यज्ञ करके जीत लिए हैं' ॥८४॥ यह सुनकर परशुराम बोले—'यह बात नहीं है कि आपको देखते ही मैं पहचान न गया रहा हूँ कि आप ही साक्षात् पुरातन पुरुष हैं, किन्तु मैंने यह जाननेके लिए आपको कष्ट दिया था कि देखूँ आप विष्णुका कितना तेज लेकर पृथ्वीपर उतरे हैं ॥ ८५ ॥ पिताके शत्रुओंका नाश करने वाले और सागर तक फैली हुई पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान देनेवाले मुझ परशुरामके लिये आप परम पुरुषके हाथों हारना भी गौरवकी ही बात है ॥८६॥ इसलिये आप मेरी गति न रोकिए जिससे मैं पवित्र तीर्थोंमें आ-जा सकूँ। मुझे भोगकी तो इच्छा है नहीं इसलिये यदि मुझे स्वर्ग न भी मिले तो कुछ दुःख नहीं होगा' ॥८७॥ रामने परशुरामका कहना मान लिया और पूरब की ओर मुँह करके बाण छोड़ दिया। यद्यपि परशुरामने बहुत पुण्य किए थे किन्तु वह बाण सदाके लिये परशुरामके स्वर्ग जानेका मार्ग रोककर खड़ा हो गया ॥८८॥ तब रामने परशुरामसे क्षमा माँगते हुए उनके चरणोंमें प्रणाम किया; क्योंकि जब कोई पराक्रमी अपने बलसे अपने शत्रुको जीत लेता है तब यदि वह नम्रता भी दिखावे तो उसकी कीर्ति ही बढ़ती है ॥८९॥ परशुराम बोले—'आपने मुझे यह दण्ड देकर मेरा बड़ा भारी उपकार किया है। इससे मेरा बड़ा भारी लाभ तो यह हुआ कि आपने क्षत्रिय मातासे पाए हुए मेरे रजो गुणको दूर करके मुझे पिताका सत्त्वगुण प्रदान कर दिया ॥९०॥ मैं अब जाता हूँ। आप देवताओंका जो कार्य करनेके लिये आए

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥ ९१ ॥

तस्मिन्गते विजयिनं परिरभ्य रामं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ॥ ९२ ॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥ ९३ ॥

॥ इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
सीता-विवाहवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥

हैं वह बिना विघ्नके पूरा हो'। राम और लक्ष्मणसे यह कहकर परशुराम अन्तर्धान हो गए।।९१।। उनके चले जानेपर विजयी रामको दशरथने गलेसे खींच लगाया और वे स्नेहमें भरकर यह समझने लगे कि रामका दूसरा जन्म हुआ है। इस थोड़ी देरके पश्चात् उन्हें ऐसा संतोष मिला जैसे जंगलकी आगसे झुलसे पेड़को वर्षाका जल मिल गया हो ।।९२।। तब शिवके समान राजा दशरथने कुछ रातें तो उस मार्गमें बिताईं जिसमें उनके लिये सुन्दर-सुन्दर डेरे तने हुए थे। फिर वे उस अयोध्या नगरीमें जा पहुँचे जहाँ सीताको देखनेके लिये नगरकी सुन्दर स्त्रियोंकी उत्सुक आँखें झरोखोंमें कमलके समान उलझी दिखाई पड़ रही थीं ।।९३।।

।। महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें सीताजीके विवाहका
वर्णन नामका ग्यारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।।

॥ द्वादशः सर्गः ॥

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् । आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥१॥
तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति । कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥२॥
सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः । प्रत्येकं ह्लादयांचक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥३॥
तस्याभिषेकसंभारं कल्पितं क्रूरनिश्चया । दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥४॥
सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ । उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥५॥
तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः । द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥६॥
पित्रा दत्तां रुदन्रामः प्राङ् महीं प्रत्यपद्यत । पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥७॥
दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले । ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥८॥
स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद्गुरुमलोपयन् । विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥९॥
राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् । शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥१०॥
विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् । रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥११॥

बारहवाँ सर्ग

राजा दशरथने संसारके सब सुख भोग लिए और बूढ़े हो चले। अब उनकी दशा प्रातःकालके उस दीपक जैसी हो चली थी जिसका तेल चुक गया हो और जो बस बुझने ही वाला हो ॥१॥ उनकी कनपटीके पासके बाल पक चले थे मानो बुढ़ापा भी कैकेयीसे शंकित होकर राजाके कानमें फुसफुसाकर कह रहा हो कि अब रामको राज्य सौंप ही देना चाहिए ॥२॥ जैसे पानीकी गूलसे सिंचकर पूरे उद्यानके वृक्ष हरे-भरे हो उठते हैं वैसे ही नगरवासियोंके प्यारे रामके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर अयोध्याके लोग फूले नहीं समाए ॥३॥ पर निठुर कैकेयीने ऐसा चक्र चलाया कि राज्याभिषेकका सारा उत्सव शोकसे तपे हुए राजा दशरथके आँसुओंसे लिप गया ॥४॥ जब राजा दशरथने उस कठोर स्वभाववाली कैकेयीका बहुत मान-मनौवल किया तब उसने वे दो वर माँग लिए जिनके लिये राजा दशरथ पहलेसे ही वचन दे चुके थे। ये दो वर ऐसे ही थे जैसे बर्षासे भीगी हुई पृथ्वीके छेदोंमेंसे दो साँप आ निकले हों ॥५॥ कैकेयीने एक वर तो यह माँगा कि चौदह वर्षके लिये राम वनको चले जायँ और दूसरा यह कि मेरे बेटे भरतको राज्य मिले। पर इस वर माँगनेका एकमात्र फल यही निकला कि कैकेयी विधवा हो गई ॥६॥ रामको जब दशरथ राजगद्दी दे रहे थे उस समय रामने उसे आँखोंमें आँसू भरकर स्वीकार किया था और जब उनसे कहा गया कि वन चले जाओ तब रामने इस आज्ञाको हँसते-हँसते सिर-माथे चढ़ा लिया ॥७॥ यह देखकर लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा कि रामके मुँहका भाव जैसा राज्याभिषेकके रेशमी वस्त्र पहनते समय था ठीक वैसा ही वन जानेके लिये पेड़की छालके वस्त्र पहनते समय भी था ॥८॥ अपने पिताके वचन सत्य करनेके लिये वे सीता और लक्ष्मणके साथ केवल दण्डक-वनमें ही नहीं पैठे वरन् अपने इस सत्य व्यवहारसे उन्होंने सज्जनोंके मनमें भी घर कर लिया ॥९॥ उनके वियोगमें राजा दशरथको बडा दुःख हुआ। उन्हें मुनिका शाप स्मरण हो आया और उन्होंने समझ लिया कि बस प्राण देकर ही मेरी शुद्धि हो पावेगी ॥१०॥ दशरथके शत्रु तो ऐसे अवसरकी ताकमें ही थे। जब उन्होंने देखा कि अयोध्याके राजा स्वर्ग चले गए और राजकुमार भी राज्य छोड़कर वनको चल दिए तब उन्होंने झट अयोध्यापर धावा बोल दिया ॥११॥ यह

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥१२॥
श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः। मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः।१३।
ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः। तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥१४॥
चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः। लक्ष्म्या निमत्रयांचक्रे तमनुच्छिष्टसंपदा ॥१५॥
स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे। परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥१६॥
तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः। ययाचे पादुके पश्चात् कर्तुं राज्याधिदेवते ॥१७॥
स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्राता नैवाविशत्पुरीम्। नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक्।१८।
दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः। मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत्।१९।
रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन्। चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥२०॥
प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम्। कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किंचिदिव श्रमात्२१
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः। प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्॥२२॥
तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः। आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः॥२३॥

देखकर अयोध्याकी अनाथ प्रजाने उन कुल-मन्त्रियोंको भेजकर भरतको उनकी ननिहालसे बुलवा भेजा जिन्होंने अपने आँसू निकलने नहीं दिए थे ॥१२॥ जब भरतको अपने पिताकी मृत्युका सब समाचार मिला तब वे केवल अपनी माँसे ही नहीं वरन् अयोध्याकी राज-लक्ष्मीसे भी बड़े चिढ़ गए ॥१३॥ उन्होंने अपने साथ सेना ली और रामको ढूँढ़ने निकल पड़े। जब मार्गमें आश्रम-वासियोंने उन्हें वे वृक्ष दिखाए जिनके तले राम और लक्ष्मण जाते हुए टिके थे तब उनकी आँखें बरस पड़ीं ॥१४॥ उन दिनों राम चित्रकूट-वनमें रहते थे। वहाँ जाकर भरतने उन्हें दशरथकी मृत्युका समाचार सुनाकर कहा कि आयोध्याकी राजलक्ष्मीको मैंने छुआ भी नहीं है, आप ही उसे चलकर सँभालिए ॥ १५ ॥ क्योंकि जिस राज्यको बड़े भाईने स्वीकार नहीं किया उसे लेना मैं उतना ही बड़ा पाप समझता हूँ, जितना बड़े भाईके अविवाहित रहनेपर छोटे भाईका विवाह कर लेना ॥१६॥ किन्तु राम अपने स्वर्गीय पिताकी आज्ञासे तनिक भी टससे मस नहीं हुए। तब भरतने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे अपनी खड़ाऊँ दे दीजिए जिन्हें मैं आपके स्थानपर रखकर राज्यका काम चलाता रहूँ ॥१७॥ रामने झट अपनी खड़ाऊँ उठा सौंपी। उसे लेकर भरत लौटे तो सही पर अयोध्या नहीं आए। उन्होंने नन्दिग्राममें डेरा डाल दिया और वहींसे अयोध्याके राज्यकी उसी प्रकार रक्षा करने लगे मानो अपने भाईकी धरोहर सँभाले जा रहे हों ॥१८॥ इस प्रकार अपने बड़े भाईमें भक्ति निभाकर और राज्य पदको ठुकराकर भरतने अपनी माताके पापका प्रायश्चित ही कर डाला ॥१९॥ उधर राम भी सीता और लक्ष्मणके साथ कन्द-मूल-फल खाते हुए युवावस्थामें ही वह व्रत करने लगे जो इक्ष्वाकुवंशवाले राजा लोग बुढ़ापेमें किया करते हैं ॥२०॥ एक बार वे थके हुए सीताकी गोदीमें सिर रक्खे एक ऐसे वृक्षके नीचे लेटे हुए थे जिसकी छाया उन्होंने अपने अलौकिक प्रभावसे बाँध दी थी ॥२१॥ इसी बीच इन्द्रका पुत्र जयन्त कौवा बनकर आया और आते ही उसने सीताजीके स्तनोंपर अपने नखोंसे ठूँग क्या मारी मानो वह सीताके स्तनोंपर रामके हाथसे बने हुए नखक्षतोंको प्रकटकर अपनी यह बात बता रहा हो कि मेरा काम ही दूसरोंका दोष ढूंढ़ना है॥२२॥झट सीताने रामको उठा जगाया। तत्काल रामने उसपर सींकका एक ऐसा बाण चला छोड़ा जिससे बचनेके लिये वह कौवा बहुत इधर-उधर चक्कर काटता रहा पर जबतक उसने अपनी एक आँख नहीं दे दी तबतक उसे छुटकारा नहीं मिल पाया ॥२३॥ थोड़े दिनों पीछे ही रामने चित्रकूटका वह आश्रम भी छोड़ दिया जहाँके हरिण उनसे इतने हिलमिल गए थे कि दिन-रात

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः। आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥२४॥
प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः। दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥२५॥
बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता। प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी॥२६॥
अनसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम्। सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥२७॥
संध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः। अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः॥२८॥
स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥२९॥
तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम्। गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ३०
पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः। अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ३१
रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा। अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥३२॥
सा सीतासंनिधावेव तं वव्रे कथितान्वया। अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः॥३३॥
कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे। इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥३४॥
ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता। साभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक्॥३५॥

उन्हें ही देखा करते रहते थे। रामने इस डरसे चित्रकूट छोड़ा कि अयोध्या पास ही है, ऐसा न हो कि भरत फिर यहाँ आ पहुँचे ॥२४॥ जैसे वर्षाके दस नक्षत्रोंमें ठहरता हुआ सूर्य दक्षिणको घूम जाता है वैसे ही अतिथि-सत्कार करनेवाले ऋषियोंके आश्रमोंमें टिकते हुए राम भी दक्षिणकी ओर बढ़ चले ॥२५॥ यद्यपि कैकेयीने रामको राजलक्ष्मीसे हटा दिया था, फिर भी उनके पीछे-पीछे चलनेवाली सीता ऐसी जान पड़ती थी मानो गुणोंके पीछे चलनेवाली साक्षात् लक्ष्मी ही हो ॥२६॥ अत्रि ऋषिके आश्रममें जब वे पहुँचे तब उनकी पत्नी अनसूयाने सीताके शरीरमें ऐसा सुगन्धित अङ्गराग लगाया कि उसकी पवित्र गन्ध पाकर भौंरे भी जंगली फूलोंसे हट-हटकर उधर ही टूट पड़े ।।२७।। जैसे चन्द्रमाका मार्ग राहु रोक लेता है वैसे ही सन्ध्याके समान लाल रंगवाला विराध राक्षस भी रामका मार्ग रोककर खड़ा हो गया ॥२८॥ जैसे कोई खोटा ग्रह सावन और भादोंके महीनोंके बीचसे वर्षाको ले बीतता है वैसे ही उस राक्षसने राम और लक्ष्मणके बीचसे सीताको हर लिया ॥२९॥ पर राम-लक्ष्मणने उसे तत्काल मार डाला और यह सोचकर उसे पृथ्वीमें खोदकर गाड़ दिया कि कहीं इसके शरीरकी दुर्गन्ध इस देशमें न फैल जाय ॥३०॥ जैसे अगस्त्यकी आज्ञासे विन्ध्याचल अपनी मर्यादामें ही रह गया था वैसे ही राम भी मर्यादापूर्वक पञ्चवटीमें जाकर रहने लगे ॥३१॥ जैसे धूपसे घबराकर कोई नागिन चन्दनके पेड़के पास जा पहुँचे वैसे ही कामसे पीड़ित रावणकी छोटी बहन शूर्पणखा भी रामके पास जा पहुँची ॥३२॥ पहले तो उसने अपने कुलका परिचय दिया और फिर सीताके सामने ही रामको कहने लगी कि मैं तुम्हें अपना पति मानती हूँ, क्योंकि स्त्रियाँ जब बहुत अधिक कामासक्त हो जाती हैं तब उन्हें इस बातका ध्यान ही नहीं रहता कि हमें किस समय क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए ॥३३॥ कामासक्त शूर्पणखाकी यह बात सुनकर साँड़केसे ऊँचे कन्धोंवाले राम बोले—'बाले ! मेरा तो विवाह हो चुका है। तुम मेरे छोटे भाईके पास चली जाओ' ॥३४॥ वह झट लक्ष्मणके पास जा पहुँची। लक्ष्मणने उससे कहा—'तू पहले मेरे बड़े भाईके पास विवाहकी इच्छासे जा चुकी है, इसलिए तू मेरी माताके समान हो गई। मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता।' यह सुनकर वह फिर रामके पास पहुँची। राम और लक्ष्मणके पास आते-जाते उसकी दशा उस नदीके समान हो गई जो बारी-बारीसे अपने दोनों तटोंको छूती हुई

संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम्। निवातस्तिमितां वेलाँ चन्द्रोदय इवोदधेः। ३६।
फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम्।मृग्यापरिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम्३७
इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात्।रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत।।३८।।
लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम्। शिवाघोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेति ताम्३९
पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः। वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत्।।४०।।
सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया। अङ्कुशाकारयाङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे।।४१।।
प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम। रामोपक्रममाचख्यौ रक्षः परिभवं नवम्।।४२।।
मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः। रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम्।।४३।।
उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः। निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे।।४४।।
एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः। ते तु यावन्त एवाजौ तावाँश्च ददृशे स तैः।।४५।।
असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम्। न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः।।४६।।
तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः। क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः।।४७।।

बह रही हो ।।३५।। जैसे वायुके रुके रहनेसे शान्त समुद्रका तट चन्द्रमाके निकलनेपर हिलोरें लेने लगता है वैसे ही सीताको हँसते देखकर क्षण भरके लिये सुन्दर रूप धारण करनेवाली वह कुरूपा शूर्पणखा भी एकदम बिगड़ खड़ी हुई ।।३६।। और बोली -- 'अच्छा ! तुम्हें इस हँसीका फल अभी चखाए देती हूँ । तुमने मेरा वैसे ही अपमान किया है जैसे कोई हरिणी किसी बाघिनका अपमान करे । समझी !' ।।३७।। सीता तो यह सुनते ही डरके मारे रामकी ओटमें जा छिपीं और शूर्पणखाने अपने नामके अनुसार (सूपके समान बड़े-बडे नखवाला) अपना भयङ्कर रूप प्रकट कर दिखाया ।।३८।। जब लक्ष्मणने देखा कि अभी तो यह कोयलके समान मधुर बोल रही थी और अब सियारिनके समान हुआँ-हुआँ कर रही है तब उन्होंने समझ लिया कि यह स्त्री बड़ी ही खोटी है ।।३९।। और यह समझते ही वे झट अपनी कुटियामें गए और वहाँसे तलवार लेकर उन्होंने शूर्पणखाके नाक-कान काट उतारे । नाक-कान कट जानेपर तो वह और भी अधिक कुरूप दिखाई देने लगी ।।४०।। नकटी-बूची होकर वह आकाशमें जा उड़ी और अंकुश-जैसी टेढ़े-टेढ़े नखोंवाली और बाँसकेसे भद्दे पोरोंवाली अपनी उँगलियाँ चमका-चमकाकर राम लक्ष्मणको धमकाने लगी ।।४१।। वहाँसे चलकर उसने तत्काल जनस्थानमें पहुँचकर खर आदि राक्षसोंको जा उभाड़ा कि आज पहली बार रामने इस प्रकार राक्षसोंका अपमान किया है ।।४२।। आगे-आगे नकटी-बूची शूर्पणखा और उसके पीछे-पीछे वे सब राक्षस रामसे लड़ने निकल पड़े, पर उस नकटीको आगे करके उन लोगोंने पहले ही अपना सगुन बिगाड़ लिया ।।४३।। रामने दूरसे देखा कि हाथमें अस्त्र उठाए घमण्डी राक्षस आगे बढ़े चले आ रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो गया कि इन्हें तो हम अकेले अपने धनुषसे ही जीत लेंगे । इसलिए उन्होंने सीताकी रक्षाका भार लक्ष्मणको सौंप दिया ।।४४।। राम अकेले थे और राक्षस सहस्रों थे, पर राम इस प्रकार लड़ रहे थे कि वहाँ जितने राक्षस थे उन्हें उतने ही राम दिखाई पड़ रहे थे ।।४५।। जिस प्रकार सदाचारी पुरुष अपने ऊपर नीच पुरुषों-द्वारा लगाया हुआ दूषण या कलङ्क नहीं सह सकते वैसे ही राम भी युद्धमें दूषण राक्षसका आना नहीं सह सके ।।४६।। उन्होंने दूषण, खर और त्रिशिरापर यद्यपि एक-एक करके बारी-बारीसे बाण चलाए तथापि अत्यन्त शीघ्रतासे चलाए जानेके कारण वे बाण ऐसे जान पड़ते थे मानो धनुषसे एक साथ ही छूटे हों ।।४७।। वे बाण उनके शरीरको छेदकर इतने

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः । आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्त्रिभिः ॥४८॥
तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम्। उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किंचन॥४९॥
सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम्। अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ।५०।
राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम्। तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ।५१।
निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः । रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥५२॥
रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ । जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥५३॥
तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् । प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः ॥५४॥
स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम्। आत्मनः सुमहत्कर्मव्रणैरावेद्य संस्थितः ॥५५॥
तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः। पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ।५६॥
वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः । मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥५७॥
स हत्वा बालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते । धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ।५८॥
इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टं भर्तृ चोदिताः । कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥५९॥

वेगसे बाहर निकल गए कि उनमें रक्त भी नहीं लग सका, क्योंकि बाण तो उनकी आयु पीनेके लिए गए थे, उनका रक्त तो पीया पक्षियोंने ॥४८॥ रामने अपने बाणोंसे राक्षसोंकी पूरी सेनाको इस प्रकार काट डाला कि युद्ध-भूमिमें राक्षसोंके धड़ोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था ॥४९॥ बाण बरसानेवाले रामसे लड़कर राक्षसोंकी वह सेना बस गिद्धोंके पंखोंकी छायामें सदाके लिये जा सोई ॥५०॥ और रामके अस्त्रसे मारे हुए उन राक्षसोंकी मृत्युका समाचार रावणके पास पहुँचानेके लिये अकेली सूर्पणखा ही बची रह गई ॥५१॥ बहनका अपमान और खर-दूषण आदि अपने सम्बन्धियोंका वध, रावणको इतना अपमानजनक जान पड़ा मानो रामने उसके दसों सिरोंपर पैर आ रक्खा हो ॥५२॥ तब उसने मारीचको माया-मृग बनाया और राम-लक्ष्मणको धोखा देकर सीताको लङ्का चुरा ले गया । मार्गमें गृध्रराज जटायु उससे लड़ा भी, पर वह कुछ कर न सका ॥५३॥ राम और लक्ष्मण अब सीताको ढूंढने निकल पड़े । उन्होंने मार्गमें जटायुको पड़े देखा जिसके पंख कट गए थे और जिसके प्राण कण्ठ-तक आ गए थे, पर उसने सीताके चुरा ले जानेवाले रावणसे लड़कर अपने मित्र दशरथका ऋण चुका दिया था ॥५४॥ वह राम-लक्ष्मणसे बोला कि सीताको रावण ले गया है । जटायुके घाव ही देखकर यह स्पष्ट था कि वह कितने जी-जानसे रावणसे लड़ा था ॥५५॥ केवल इतना ही कहकर जटायु बेचारा चल बसा । उसके मरनेसे राम-लक्ष्मणको उतना ही शोक हुआ जितना उन्हें अपने पिताके मरनेपर हुआ था । उसका विधिवत् दाह-संस्कार करके उन्होंने उसका श्राद्ध आदि किया ॥५६॥ वहाँसे वे आगे बढ़े तो उन्हें कबन्ध मिला, जो किसी ऋषिके शापसे राक्षस हो गया था । रामने उसकी बाहें काट डालीं जिससे उसका शाप छूट गया और वह फिर देवता हो गया । उसने प्रसन्न होकर उन्हें सुग्रीवका ठिकाना बता दिया । इस सुग्रीवके राज्य और उसकी स्त्रीको उसका बड़ा भाई बाली छीन ले गया था, इसलिये उसने स्त्रीसे बिछुड़े हुए रामसे शीघ्र ही मित्रता कर ली ॥५७॥ पराक्रमी रामने बालीको मारकर उसके सिहासनपर सुग्रीवको वैसे ही बैठा दिया जैसे कौई वैयाकरण, लिट् लुट् आदि लकारोंमें अस् धातुके बदले भू धातुको बैठा देता है ॥५८॥ सुग्रीवने जानकारोंको आज्ञा दी कि जाओ और जाकर सीताकी खोज लगाओ । जैसे विरही रामका मन सीताकी खोजमें इधर-उधर भटकता था वैसे ही वानर भी इधर-उधर घूमकर सीताकी खोज करने लगे ॥५९॥

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः संपातिदर्शनात्। मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥६०॥
दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता। जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः॥६१॥
तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः। प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः॥६२॥
निर्वाप्य प्रियसंदेशैः सीतामक्षवधोद्धतः। स ददाह पुरां लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥६३॥
प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती। हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥६४॥
स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः। अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥६५॥
श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः। महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखा लघुम्॥६६॥
स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः। न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि संबाधवर्त्मभिः ॥६७॥
निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः। स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः॥६८॥
तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः। काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥६९॥
स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि। रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥७०॥
तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः। द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥७१॥

मार्गमें जटायुके भाई सम्पातिसे उनकी भेंट हो गई। उसने बतलाया कि समुद्र पार लङ्काद्वीपका राजा रावण सीताको हर ले गया है। यह सुनकर हनुमानजी उसी प्रकार समुद्र लाँघ गए जैसे निर्मोही पुरुष संसार-सागरको पार कर जाता है ॥६०॥ लङ्कामें पहुँचकर ढूँढ़ते ढाँढ़ते उन्होंने एक स्थानपर देखा कि चारों ओर राक्षसियोंसे घिरी बैठी हुई सीता ऐसी लग रही हैं जैसे विषकी लताओंके बीच संजीवनी बूटी चमक रही हो ॥६१॥ उनके पास जाकर हनुमान्‌ने रामकी अँगूठी उन्हें निकाल दिखाई, जिसका स्वागत सीताने आनन्दके ठण्डे आँसुओंसे किया ॥६२॥ पहले तो हनुमान्‌ने रामचन्द्रजीका प्यार-भरा सन्देश सुनाकर सीताको ढाँढस बँधाया, फिर रावणके पुत्र अक्षको मारकर और थोड़ी देर शत्रुओंके हाथ बन्दी रहकर उन्होंने लङ्कामें आग लगा दी ॥ ६३॥ फिर सीतासे मिलनेकी पहचानके लिये उनसे चूडामणि लेकर वे झट रामके पास लौट आए। वह मणि पाकर रामको ऐसा आनन्द हुआ मानो साक्षात् सीताका हृदय ही स्वयं चला आया हो ॥६४॥ उस मणिको हृदयसे लगाकर वे अपनी सारी सुध-बुध भूलकर मग्न हो गए। उन्हें उस समय ऐसी प्रसन्नता हो रही थी मानो स्तनका स्पर्श छोड़कर स्वयं सीता ही हृदयसे आ लगी हों ॥६५॥ प्रियाका सन्देश सुनकर राम उनसे मिलनेके लिये ऐसे उतावले हो उठे कि इस उत्साहमें उन्हें लङ्काके चारों ओरका चौड़ा और गहरा समुद्र, खाईसे भी चौड़ा जान पड़ने लगा ॥६६॥ वे वानरोंकी जो अपार सेना लेकर शत्रुका संहार करने चले वह इतनी बड़ी थी कि पृथ्वीका कौन कहे आकाशमें भी बड़ी कठिनाईसे चल पा रही थी ॥ ६७ ॥ जब समुद्रके तटपर राम पहुँचे तब रावणका भाई विभीषण उनसे मिलने ऐसे आ पहुँचा मानो राक्षसोंकी राजलक्ष्मीने उसकी बुद्धिमें पैठकर यह समझा दिया हो कि अब रामकी शरणमें आनेपर ही तुम्हारा कल्याण होगा ॥६८॥ रामने भी उससे यह प्रतिज्ञा कर ली कि हम तुम्हें राक्षसोंका राजा बनाकर छोड़ेंगे। ठीक भी है, समयपर काममें लाई हुई कूट-नीति आगे चलकर फल देती ही है ॥ ६९ ॥ रामने वानरोंको लगाकर समुद्रपर जो पत्थरोंका पुल बँधवाया वह ऐसा जान पड़ता था मानो विष्णुको अपने ऊपर सुलानेके लिये स्वयं शेषनाग ही उतरे चले आए हों ॥७०॥ उस पुलसे समुद्र पार करके पीले-पीले वानरोंने लङ्काको चारों ओरसे घेर लिया। उनसे घिरी हुई लङ्का ऐसी जान पड़ने लगी मानो लङ्काके चारों ओर सोनेका एक दूसरा परकोटा बना दिया गया हो ॥७१॥ वहाँ वानरों और राक्षसोंका ऐसा भयङ्कर युद्ध होने लगा

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् । दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥७२॥
पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः । अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतंगजः ॥७३॥
अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम्। सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥७४॥
कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम्। प्राङ् मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता॥
गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः। दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥७६॥
ततोबिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम्। रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥
स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः । लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥७८॥
स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् । मेघस्येव शरत्कालो न किंचित्पर्यशेषयत् ॥७९॥
कुम्भकर्णःकपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः। रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः।८०॥
अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान्। रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः।८१।
इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु । रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥८२॥
निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात्। अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥८३॥

कि राम और रावणकी जय-जयकारोंसे दिशाएँ फटी पड़ रही थीं ॥७२॥ उस युद्धमें वानर पेड़ोंसे मार-मारकर राक्षसोंकी लोहेकी गदाएँ तोड़े डाल रहे थे, पत्थर बरसाकर उनके मुग्दर पीसे डाल रहे थे, अपने नखोंसे ही वे ऐसे भयङ्कर घाव किए डाले रहे थे कि शस्त्रोंसे भी वैसे घाव नहीं हो पा सकते थे और लड़ाकू हाथियोंके सिरोंपर बड़ी-बड़ी चट्टानें पटक-पटककर उनका कचूमर निकाले दे रहे थे ॥७३॥ उसी समय एक राक्षसने मायासे रामका सिर बनाकर सीताके आगे ला पटका जिसे देखते ही सीता जी तो मूर्छित होकर गिर पड़ीं। पर जब त्रिजटाने उन्हें समझाया कि यह सब राक्षसी माया है, तब कहीं सीताकी जानमें जान आई ॥७४॥ यह जानकर उनका शोक तो छूट गया कि मेरे पतिदेव जीवित हैं, पर उन्हें इस बात की बड़ी लज्जा हुई कि पतिके मारे जानेका समाचर सुनकर भी मैं जीवित रह गई, मरी नहीं ॥७५॥ उसी समय मेघनाथने राम और लक्ष्मणको नागपाशमें बाँध लिया, पर तभी गरुडने आकर वह फंदा तुरंत ऐसे काट गिराया कि पाशमें बँधनेका वह छण भरका क्लेश भी उन दोनों भाइयोंको ऐसा जान पड़ा मानों स्वप्नमें हुआ हो ॥७६॥ तब मेघनादने लक्ष्मणकी छातीमें ऐसा शक्ति-बाण खींच मारा कि उसके लगते ही लक्ष्मण ऐसे गिर गए कि उन्हें देखकर रामका हृदय भी शोकसे फटने लगा ॥७७॥ हनुमान तत्काल हिमालयसे संजीवनी बूटी ले आये, जिसके पिलाते ही लक्ष्मणकी सारी पीड़ा जाती रही और फिर उठकर उन्होंने अपने बाणोंसे अनगिनत राक्षसोंको मारकर लङ्काकी स्त्रियोंमें कुहराम मचा दिया ॥ ७८ ॥ जैसे शरद् ऋतुके आनेपर न तो बादलका गर्जन रह जाता है न इन्द्रधनुष ही दिखाई देता है, वैसे ही लक्ष्मण ने मेघनादके गर्जनको और इन्द्रधनुषके समान उसके धनुषको क्षणभरमें नष्ट कर दिया ॥७९॥ उधर सुग्रीवने कुम्भकर्णकी नाक काटकर उसे शूर्पणखाके समान बना दिया और वह रामका मार्ग रोककर उसी प्रकार खड़ा हो गया जैसे टाँकीसे कटी हुई मैंनसिलकी चट्टान आ गिरी हो ॥८०॥ रामके बाणोंसे घायल होकर वह गिरते ही ऐसा मरा मानों रामके बाणोंने उसे यह कहकर गहरी नींदमें ले जा सुलाया हो कि तुमको नींद बड़ी प्यारी है, तुम्हारे भाईने व्यर्थ ही तुम्हें असमयमें जगा दिया ॥८१॥ करोड़ों वानरोंकी सेनाके बीच और भी बहुतसे राक्षस इस प्रकार गिरते जा रहे थे मानो राक्षसोंके रक्तकी नदीमें रणक्षेत्रसे उठी हुई धूल गिरी पड़ रही हो ॥८२॥ जब रावणने

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम् । हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरंदरः ॥८४॥
तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः । देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥८५॥
मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् । यत्रोत्पलदलक्लैब्यमस्त्राण्यापुःसुरद्विषाम् ।८६॥
अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् । रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥८७॥
भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः । ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥८८॥
जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम् । रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत । ८९॥
तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासंगमशंसिनि । निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥९०॥
रावणस्यापि रामास्त्रो भित्त्वा हृदयमाशुगः । विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥९१॥
वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः । अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥९२॥
विक्रमव्यतिहारेण सामान्याभूद्द्वयोरपि । जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥९३॥
कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः । परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥९४॥
अयः शंकुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे । हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥९५॥

यह सब काण्ड सुना तब वह अपने राजभवनसे निकलकर सीधे रण-भूमिमें चला आया। उसने मनमें ठान लिया कि आज संसारमें या तो रावण ही नहीं रहेगा या राम ही नहीं रहेंगे ॥८३॥ रावणको रथपर और रामको पैदल देखकर इन्द्रने अपना वह रथ भेज पहुँचाया, जिसमें पीले रंगके घोड़े जुते हुए थे ॥८४॥ उस रथकी ध्वजा आकाश-गङ्गाकी लहरोंके पवनसे फरफराती चल रही थी। इंद्रके सारथि मातलिका हाथ थामकर राम उसपर जा चढ़े। ८५॥ मातलिने उन्हें इन्द्रका वह कवच भी निकाल पहनाया जिसपर राक्षसोंके अस्त्र ऐसे लगते थे मानो वे अस्त्र न हो कर कमलके फूल हों ॥८६॥ आज बहुत दिनोंपर राम और रावणने एक दूसरेको आमने-सामने पाया, आज ही उन दोनोंको अपनी वीरता दिखानेका अवसर मिला और इस प्रकार तीनों लोकोंमें जो रावणका युद्ध प्रसिद्ध था, वह आज सफल हो गया ॥ ८७ ॥ राक्षसोंके मारे जानेके कारण रावण अकेला रह गया था, फिर भी अपनी बहुतसी बाँहों और बहुतसे मुखोंके कारण वह ऐसा जान पड़ रहा था मानो उसके साथ बहुतसे राक्षस हों ॥८८॥ जिस रावणने इन्द्र आदि लोकपालोंको जीत लिया था, जिसने अपने सिर काट-काटकर शिवजीको चढ़ा दिए थे और जिसने कैलास पर्वतको उँगलियोंपर टाँग उठाया था, उसे देखकर रामने समझ लिया कि वह कुछ कम पराक्रमी नहीं है ॥८९॥ रावणने बड़ा कोध करके रामकी उस दाहिनी भुजामें बाण मारा, जो फड़कती शुभ सूचना दे रही थी कि अब सीताके प्राप्त होनेमें देर नहीं है ॥९०॥ रामने जो बाण छोड़ा वह रावणकी छातीको छेदकर पातालमें जा धँसा मानों पाताल-वासियोंको रावणके मरने की शुभ सूचना देने जा पहुँचा हो ॥९१॥ वे दोनों क्रोध कर करके एक दूसरेको ललकारते हुए और अस्त्रको शस्त्रसे काटते हुए लड़े चले जा रहे थे। उनका क्रोध उसी प्रकार बढ़ता जा रहा था जैसे विजयके लिये शास्त्रार्थ करनेवालोंका क्रोध बढ़ता चलता है ॥९२॥ कभी राम अधिक पराक्रम दिखाते थे और कभी रावण, इसलिये विजयश्री कभी रामके पास जाती थी तो कभी रावणके पास। उसकी दशा वैसी ही हो चली जैसी लड़ते हुए मतवाले हाथियोंके बीचके टीले की हो ॥९३॥ जब राम बाण चलाते या रावणका वार रोकते, तब देवता उनके ऊपर फूल बरसाने लगते और जब रामपर रावण प्रहार करता या उनका वार रोकता, तब असुर उसपर फूल बरसाने लगते। पर रामके अस्त्र रावणके ऊपर बरसते हुए फूलोंको ऊपर ही तितर-बितर कर देते और रावणके बाण रामपर बरसनेवाले फूलोंको आकाशमें ही छितरा देते थे ॥९४॥ रावणने लोहेकी कीलोंसे जड़ी

राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विषाम्। अर्द्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम्॥९६॥
अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः। ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥९७॥
तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम्। वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥९८॥
तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत्। स रावणशिरः पङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥९९॥
बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः। रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥१००॥
मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि। मनो नातिविशश्वास पुनः संधानशङ्किनाम्।१०१।
अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥१०२॥
यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्यमापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम्।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टिमूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥१०३॥
रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां प्रियसुहृदि विभीषणे संगमय्य श्रियं वैरिणः।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः स सौमित्रिणा भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम्१०४

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥

हुई वह शतघ्नी रामपर उठा चलाई जो यमराजके अस्त्र कूटशाल्मलिके समान भयङ्कर थी ॥९५॥ उस समय राक्षसोंको पूरी आशा हो गई कि इस अस्त्रसे तो राम अवश्य ही समाप्त हो जायँगे। पर रामने उस शतघ्नीको रथतक पहुँचनेके पहले ही तिरछी नोकवाले बाणोंसे ऐसी सरलतासे टुकड़े-टुकड़े कर डाला मानो केला छील फेंका हो। यह देखकर तो राक्षसोंकी रही-सही आशा भी जाती रही ॥९६॥ राम कोई साधारण धनुष्धारी थोड़े ही थे। उन्होंने रावणको मारनेके लिये धनुषपर वह ब्रह्मास्त्र उठा चढ़ाया, जो कभी व्यर्थ ही नहीं जाता। वह ऐसा था मानों सीताके शोकरूपी काँटोंको निकालनेकी अचूक ओषधि हो। ॥ ९७ ॥ वह ब्रह्मास्त्र आकाशमें जाते ही दस भागोंमें फट गया और उसमेंसे जो आग निकली वह ऐसी थी मानो फणोंका चमकीला मण्डल लिए हुए साक्षात् शेषनाग ही उतर आए हों ॥९८॥ मन्त्रसे चलाए हुए उस ब्रह्मास्त्रसे रामने रावणके दसों सिर आधे पलमें पृथ्वीपर ऐसे काट गिराए कि रावणको तनिक भी कष्ट नहीं हुआ ॥९९॥ रावणके सिर कटकर गिरते हुए ऐसे अच्छे लगते थे जैसे लहरोंमें प्रातःकालके सूर्यका प्रतिबिम्ब शोभा देता है ॥१००॥ रावणके कटे हुए सिरोंको देखकर भी देवताओंको विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें यही डर लगा हुआ था कि कहीं ये फिर न आ जुड़ें ॥१०१॥ जिस रामपर राज्याभिषेकका जल छिड़का जानेवाला था उन्हींके सिरपर देवताओंने वे फूल ला बरसाए जिनकी सुगन्ध पाकर मदसे भीगी हुई पाँखोंवाले भौंरे दिशाओंके हाथियोंके मद बहानेवाले कपोलोंको छोड़कर रस लेने उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ते हों ॥१०२॥ रामने तब धनुष्की डोरी उतार धरी, क्योंकि उन्होंने देवताओंका काम तो पूरा कर ही दिया था। इन्द्रका सारथि मातलि उनसे आज्ञा लेकर अपना सहस्रों घोड़ोंवाला वह रथ लेकर स्वर्ग लौट गया, जिसकी ध्वजापर अभीतक रावणके नाम खुदे हुए बाणोंके चिह्न बने हुए थे ॥१०३॥ रामने रावणकी राज्यश्री विभीषणको उठा सौंपी और फिर सीताको अग्निमें शुद्ध करके सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मणके साथ अपने बाहुबलसे जीते हुए पुष्पक विमानपर चढ़कर अयोध्याकी ओर लौट चले ॥१०४॥

॥ महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रावण-वध नामका
बारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ त्रयोदशः सर्गः ॥

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं बह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

तेरहवाँ सर्ग

जिसका गुण शब्द है, उस आकाशमें विमानपर चढ़े जाते हुए गुणी तथा राम कहलानेवाले विष्णु भगवान्, समुद्रको देखकर सीताजीसे एकान्तमें बोले—॥१॥ 'सीते ! फेनसे भरे हुए इस समुद्रको तो देखो जिसे मेरे बनाए हुए पुलने मलय पर्वततक दो भागोंमें वैसे ही बाँट दिया है जैसे सुन्दर तारोंसे भरे हुए शरद् ऋतुके खुले आकाशको आकाशगङ्गा दो भागोंमें बाँट देती है ॥२॥ (जानती हो समुद्र कैसे बना है !) जब हमारे पुरखे महाराज सगर अपना अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तब कपिल उनका घोड़ा पाताल लोकमें हाँक ले गए। उस समय सगरके पुत्रोंने घोड़ेकी खोज करनेके लिये जो सारी पृथ्वी खोद डाली थी, उसीसे यह इतना लम्बा-चौड़ा समुद्र बन गया है ।।३।। (यह समुद्र है बड़े कामका।) देखो, इसीमेंसे सूर्यकी किरणें जल खींचती हैं (और पृथ्वीपर बरसाती हैं), इसीमें रत्न बढ़ते हैं, अपने शत्रु बड़वानलको भी यह अपनी गोदमें पालता है और सुखकारी प्रकाशवाला चन्द्रमा भी इसीमेंसे उत्पन्न हुआ है ।.४।। यह अपना रूप भी सदा बदलता रहता है और यह इतना बड़ा है कि दूरतक दसों दिशाओंमें जा फैला है, इसीलिये जैसे विष्णु भगवान्के विषयमें नहीं कहा जा सकता कि वे ऐसे या इतने बड़े हैं वैसे ही इसके विषयमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह ऐसा है या इतना बड़ा है। ५।। जब आदि-पुरुष विष्णु भगवान् तीनों लोकोंका संहार कर चुकते हैं तब यहीं पहुँचकर योगनिद्रामें सोते हैं और इनकी नाभिसे निकले हुए कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा सदा इनके गुण गाया करते हैं ॥६। जैसे शत्रुओंके डरसे राजा लोग किसी धर्मात्मा और तटस्थ राजाकी शरण जा लेते हैं वैसे ही उन सैकड़ों पहाड़ोंने भी इसकी शरण जा ली थी, जिनके पंख इन्द्रने काट डाले थे और जिनका अभिमान इन्द्रने चूर कर दिया था।।७।। सृष्टिके आरम्भमें जब वराह भगवान् पृथ्वीको पातालसे

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धुः ॥ ९ ॥
स सत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥
मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥
वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ १२ ॥
तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत् सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्त्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥
दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥
वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

निकाले ला रहे थे उस समय प्रलयसे बढ़ा हुआ इसका स्वच्छ जल क्षण भर के लिये उनका घूँघट बन गया था ॥८॥ देखो ! दूसरे लोग तो केवल स्त्रियोंका अधरपान किया करते हैं, अपना अधर उन्हें नहीं पिलाते । पर समुद्र इस बातमें भी औरोंसे बढ़कर है, क्योंकि जब नदियाँ ढीठ होकर चुम्बनके लिये अपना मुख इसके सामने बढ़ाती हैं तब यह भी बड़ी चतुराईसे अपना तरङ्ग-रूपी अधर उन्हें पिलाने लगता और उनका अधर भी स्वयं पीने लगता है ॥९॥ यह देखो ये बड़े-बड़े मगरमच्छ अपना मुँह खोलकर मछलियोंको लिए-दिए समुद्रका जल घोंटकर फिर मुँह बन्द करके अपने सिरके छेदोंसे पानीकी जल-धाराएँ छोड़ने लग रहे हैं ॥१०॥ इन मगरमच्छोंके अचानक उठनेसे समुद्रकी फटी हुई फेनको तो देखो जो इनके गलोंपर क्षण भरके लिये लगी हुई ऐसी दिखाई देती है जैसे इनके कानोंपर चँवर टँगे हुए हों ॥११॥ तटपर बड़ी-बड़ी लहरोंके समान पड़े दिखाई देनेवाले ये साँप तटका वायु पीनेके लिये बाहर निकल निकलकर चले आए हैं पर ये पहचानमें तभी आते हैं जब सूर्यकी किरणोंसे इनके मणि चमक उठते हैं ॥१२॥ देखो, लहरोंकी झोंकमें, तुम्हारे अधरोंके समान लाल-लाल मूंगेकी चट्टानसे टकरा जानेसे इन जीवित शंखोंके मुँह छिद गए हैं और उस पीडासे ये बेचारे बड़ी कठिनाईसे इधर-उधर घूम-फिर पा रहे हैं ॥१३॥ वह देखो ! काले-काले बादल, समुद्रका पानी लेने चले आकर समुद्रकी भँवरके साथ-साथ बड़ी तीव्र गतिसे चक्कर काट रहे हैं जिससे यह समुद्र ऐसा जान पड़ रहा है मानो मन्दराचल फिर इसे मथे डाल रहा हो ॥१४॥ देखो ! दूर होनेसे पहिएकी हालके समान बहुत पतला और ताड़ तथा तमाल आदि वृक्षोंके कारण नीला दिखाई देनेवाला समुद्र-तट ऐसा जान पड़ रहा है जैसे चक्रकी धारपर मुर्चा आ जमा हो ॥१५॥ सुलोचने !

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्त्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ।। १७ ।।
कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ।। १८ ।।
क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ।। १९ ।।
असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ।। २० ।।
करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ।। २१ ।।
अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ।। २२ ।।
सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ।। २३ ।।
त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ।। २४ ।।

समुद्रतटका वायु तुम्हारे मुखपर केतकीका पराग फैलाए दे रहा है मानो वह यह ताड़ गया हो कि मैं तुम्हारे अधरोंको बस चूमने ही वाला हूँ और अब अधिक शृङ्गारकी बाट नहीं देखूँगा ।।१६।। यह देखो, हम लोग विमानके तीव्र चलनेके कारण क्षण भरमें ही समुद्रके उस तटपर पहुँच गए जहाँ बालूपर सीपोंके फैल जानेसे मोती बिखरे पड़े हैं और फलोंके भारसे सुपारीके पेड़ झुके खड़े हैं ।।१७।। कदलीके समान जाँघोंवाली मृगनयनी ! पीछेकी ओर तो देखो ! दूर निकल आनेसे यह जंगलोंसे भरी हुई भूमि ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो अभी अचानक समुद्रमेंसे निकल उठी हो ।।१८।। देखो ! यह विमान उधर ही घूम जाता है जिधर मैं चाहता हूँ । कभी तो यह देवताओंके मार्गमें उड़ता चलता है, कभी बादलोंके मार्गमें जा पहुँचता है और कभी पक्षियोंके मार्गमें उड़ने लगता है ।।१९।। ऐरावतकी मदकी गन्धमें बसा हुआ और आकाशगङ्गाकी लहरोंसे ठंढाया हुआ आकाशका वायु तुम्हारे मुखपर दोपहरकी गर्मीसे छायी हुई पसीनेकी बूँदोंको पीता चल रहा है ।।२०।। देखो चण्डी ! जब तुम खेल-खेलमें अपना हाथ विमानसे बाहर निकालकर बादलको छूने चलती हो तब तुम्हारी कलाईके चारों ओर बिजली कौंध जाती है । उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो बादल तुम्हारे हाथमें दूसरा कंगन पहनाए दे रहे हों ।।२१।। नीचे देखो ! रावण आदि राक्षसोंके मारे जानेकी बात सुनकर चीरधारी तपस्वियोंने समझ लिया है कि अब कोई खटका नहीं रह गया और इसलिये अपनी नई नई कुटिया बना-बनाकर, तपोवनमें सुखसे बसने लगे हैं ।।२२।। देखो ! यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें ढूँढते हुए मैंने पृथ्वीपर पड़ा हुआ तुम्हारा बिछुआ देखा था । चुपचाप पड़ा हुआ वह ऐसा लग रहा था मानो वह तुम्हारे चरणोंसे अलग हो जानेके दुःखसे ही चुप हुआ पड़ा हो ।।२३।। देखो भीरु ! जिस मार्गसे रावण तुम्हें ले गया था उस मार्गकी लताएँ कृपा करके मुझे तुम्हारे जानेका मार्ग बताना चाहती थीं, पर बोल न सकनेके कारण उन्होंने अपनी पत्तोंवाली

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वयामे ॥२७॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथंचिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
बिडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥

डालियाँ ही उधर झुका झुकाकर मुझे तुम्हारा ठिकाना बता दिया था ॥२४॥ हरिणियोंने भी जब देखा कि मुझे तुम्हारे जानेके मार्गका ज्ञान नहीं हो रहा है तब वे भी अपनी उठी हुई पलकोंवाली आँखें दक्षिण दिशाकी ओर करके मुझे मार्ग समझाने लगी थीं ॥२५॥ देखो ! यह जो आगे माल्यवान् पर्वतकी ऊँची चोटी दिखाई दे रही है, यहाँ जब बादलोंने नया जल बरसाना आरंभ किया, तब तुम्हारे न रहनेसे मेरी आँखें भी जल बरसाने लगी थीं ॥२६॥ उस समय वर्षाके कारण पोखरोंमेंसे उठी हुई सोंधी गंध, अधखिली मंजरियोंवाले कदम्बके फूल और भौंरोंके मनोहर स्वर तुम्हारे न रहनेसे मुझे बड़े अखरे ॥२७॥ जब बादल गरजने लगते थे और गुफाओंमें उनकी प्रतिध्वनि होने लगती थी तब मुझे वे दिन स्मरण हो आते थे, जब बादलोंके गर्जनसे डरकर तुम मुझसे आ लिपटती थीं। तुम समझ नहीं सकतीं कि माल्यवान् पर्वतपर वे पावसके दिन मैंने न जाने कितने कष्टसे बिताए ॥२८॥ वर्षाके कारण वहाँकी धरतीसे जो भाप निकली, उससे कंदलियोंकी कलियाँ खिलकर वैसी ही लाल-लाल हो उठीं जैसे विवाहके समय हवनका धुआँ लगनेसे तुम्हारी आँखे लाल हो गई थीं। अतः, उन्हें देख-देखकर तुम्हारा स्मरण हो आनेसे मैं बहुत बेचैन हो हो उठता था ॥२९॥ देखो ! बहुत ऊँचेसे देखनेके कारण और बेंतके जंगलोंसे ढके होनेके कारण पम्पा सरोवरका जल तो ठीक-ठीक दिखाई नहीं दे रहा है। फिर भी जलपर तैरते हुए सारस कुछ-कुछ अवश्य दिखाई पड़ जाते हैं ॥३०॥ प्रिये ! यहींपर चकवा-चकवीके जोड़े एक दूसरेसे प्रेमपूर्वक कमलका केसर ला लाकर दिया करते थे। तुमसे इतनी दूर होनेके कारण उन्हें देख-देखकर मैं यही सोचता रहता था कि ये दिन मुझे फिर कब देखनेको मिलेंगे ॥३१॥ तुम्हारे वियोगमें मैं ऐसा पागल हो चला था कि एक दिन स्तनके समान गुच्छोंवाली इस पतली अशोक लताको मैं यही समझकर गले लगाने बढ़ चला था

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥
एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥
अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥
भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ ३७ ॥
एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ ३८ ॥
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ॥
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ ३९ ॥
तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ ४० ॥

कि तुम ही हो । पर जैसे ही मैं उसे गले लगाने चला वैसे ही मेरा यह पागलपन देखकर रोते हुए लक्ष्मणने मुझे रोक दिया ॥३२॥ यह देखो ! विमानके नीचे लटकती हुई सोनेकी किङ्किणियोंका शब्द सुनकर गोदावरी नदीके सारसोंकी पाँतें ऐसी ऊपर उड़ी चली आ रही हैं मानो तुम्हारी अगवानी करने चली आ रही हों ॥३३॥ आज इतने दिनोंपर इस पञ्चवटीको देखकर ,मेरा जी बहुत खिल उठा है । वह देखो ! वहाँके मृग ऊपर सिर उठा-उठाकर विमानको देखे जा रहे हैं । यही तो वह स्थल है जहाँपर तुमने अपनी पतली कमरपर घड़े टेक टेककर आमके वृक्षोंको सींचकर पाला-पोसा था ॥३४॥ मुझे वे दिन स्मरण हो आ रहे हैं जब मैं यहाँ एकान्तमें-बेंतकी झोपड़ीमें तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सोया करता था और गोदावरीका ठंडा वायु मेरे आखेटकी थकावट मिटाया करता था ॥३५॥ यह देखो ! आगे उन तपस्वी अगस्त्य ऋषिका आश्रम है, जिन्होंने केवल भौंहें तानकर ही राजा नहुषको इन्द्रके पदसे नीचे ढकेल दिया था । ये ही जब उदय होते हैं तब वर्षाका सारा गँदला जल स्वच्छ कर दिया करते हैं ॥३६॥ उसी यशस्वी ऋषिकी तीन (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) अग्नियोंसे हवन-सामग्रीकी गन्धसे मिला हुआ वह धुआँ विमानके पासतक उठा चला आ रहा है जिसे सूँघते ही मेरा आत्मा पवित्र हो गया है ॥३७॥ भामिनी ! यह आगे शातकर्णी ऋषिका पञ्चाप्सर नामका क्रीडा-सरोवर है जो चारों ओर काले-काले जङ्गलोंसे घिरा हुआ दूरसे ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानों बादलोंके बीचमें कुछ-कुछ दिखाई देनेवाला चन्द्रमा हो ॥३८॥ पहले ये महर्षि तपस्या करते समय मृगोंके साथ घास चरा करते थे । इनकी ऐसी तपस्या देखकर इन्द्रको यह भय हुआ कि कहीं ये हमारा इन्द्रासन न छीन लें, इसलिये इनका तप डिगानेके लिये इन्द्रने, एक साथ पाँच अप्सराओंका ऐसा जाल इनपर फेंका कि ये बेचारे फँस गए ॥३९॥ यह जो नाच-गाना सुनाई दे रहा है, यह जलके

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः ।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥
अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥
एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥
वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किंचित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते ॥ ४४ ॥
अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥ ४५ ॥
छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥
धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥
एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥

भीतर बने हुए उन्हींके भवनका है। वहींके मृदङ्गकी ध्वनि आकाशमें इस पुष्पक-विमानकी छतरीसे टकराकर गूँज रही है ॥४०॥ यह जो चार अग्नियोंके बीचमें और ऊपर सूर्यकी किरणोंसे पञ्चाग्नि तपते हुए तपस्वी बैठे हैं, इनका नाम तो सुतीक्ष्ण (अर्थात् बड़ा तीखा) है पर ये हैं बड़े सीधे ॥४१॥ इनके तपसे डरकर इन्द्रने इनके पास भी अप्सराएँ भेजी थीं जो मुसकरा-मुसकराकर इनपर तिरछी चितवन चलाती थीं और किसी न किसी बहाने अपनी तगड़ी (कमर) भी उघाड़कर इन्हें दिखा देती थीं, पर उनकी वह सब चटक-मटक इन्हें तनिक भी न लुभा पाई ॥४२॥ देखो ! वे मुझे देखकर रुद्राक्षकी माला बँधी हुई, मृगोंको सहलानेवाली और कुश उखाड़नेवाली अपनी दाहिनी भुजा उठाकर मेरा स्वागत कर रहे हैं ॥४३॥ ये मौन रहते हैं इसलिये केवल सिर हिलाकर ही इन्होंने मेरा प्रणाम स्वीकार किया है। बीचमें विमान आ जानेसे जो इनकी दृष्टि सूर्यसे अलग हो गई थी वह फिर इन्होंने सूर्यमें लगा ली है ॥४४॥ यह आगे शरणागतकी रक्षा करनेवाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋषिका तपोवन है जिन्होंने बहुत दिनोंतक अग्निको समिधासे तृप्त करके अन्तमें अपना पवित्र शरीर भी उसमें हवन कर दिया था ॥४५॥ जैसे सुपुत्र अपने पिताके धर्मका पालन करते हैं वैसे ही अतिथि-सेवाका काम उनके बदले ये आश्रमके वृक्षही किया करते हैं जिनकी छायामें बैठकर पथिक अपनी थकावट भी दूर करते हैं और जिनमें बड़े मीठे-मीठे फल भी लगते हैं ॥४६॥ सुन्दरी ! मस्त साँड़के समान यह चित्रकूट पर्वत मुझे बड़ा सुहावना लग रहा है जिसकी गुफा ही इसका मुख है, इससे निकलने वाली जलकी धाराकी ध्वनि ही साँड़की डकार है, इसकी चोटी ही उसकी सींगे हैं और उसपर छाए हुए बादल ही मानो सींगोंपर लगी हुई कीचड़ है ॥४७॥ यह लो, मन्दाकिनी आ गई। इसका जल कैसा स्वच्छ और धीरे-धीरे बह रहा है। दूर होनेके कारण यह कितनी पतली दिखाई दे रही है। चित्रकूट पर्वतके

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ।। ४९ ।।
अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ।। ५० ।।
अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ।। ५१ ।।
वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ।। ५२ ।।
त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो बिभाति ।। ५३ ।।
क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ।। ५४ ।।
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ।। ५५ ।।
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशाः ।। ५६ ।।

नीचे बहती हुई यह ऐसी जान पड़ती है मानो पृथ्वी-रूपी नायिकाके गलेमें मोतियोंकी माला पड़ी हुई हो ।।४८।। पहाड़की ढालपर जो तमालका वृक्ष दिखाई दे रहा है, यह वही है जिसकी कोंपलके कर्णफूल बनाकर मैं तुम्हारे कानमें पहनाया करता था और जो तुम्हारे जौके अंकुरके समान पीले गालोंपर लटकता हुआ सुन्दर लगा करता था ।।४९।। यह आगे अत्रि मुनिका तपोवन है जहाँके सिंह आदि पशु बिना मारे-पीटे ही ऐसे सीधे हो गए हैं कि किसीसे कुछ बोलते नहीं । यह तपोवन इतना प्रभावशाली है कि यहाँ बिना फूल आए ही वृक्षोंमें फल लग जाते हैं ।।५०।। ऋषियोंके स्नानके लिये अत्रिकी पत्नी अनसूयाजी उन त्रिपथगा (आकाशमें मन्दाकिनी, पृथ्वीपर भागीरथी और पातालमें भोगवती) गङ्गाको यहाँ ले आई हैं जिसमेंसे सप्तर्षिगण स्वर्ण कमल चुना करते हैं और जो शिवके सिरपर मालाके समान सुन्दर लगती है ।।५१।। इस आश्रमके वृक्षोंके नीचे वेदियोंपर तपस्वी लोग वीरासन लगा-लगाकर ध्यान किया करते हैं और यहाँके वृक्ष भी वायु न चलनेके कारण ऐसे स्थिर खड़े हैं मानो वे भी योग साध रहे हों ।।५२।। यह काला-काला वही बड़का पेड़ है जिसकी तुमने मनौती मानी थी । इसमें जो लाल-लाल बड़-पीपलियाँ फली हैं उनसे यह पेड़ ऐसा लग रहा है जैसे नीलमके ढेरमें बहुतसे लाल ला भरे धरे हों । ।।५३।। देखो सुन्दरी ! यमुनाकी साँवली लहरोंसे मिली हुई उजली लहरोंवाली गङ्गा कैसी सुन्दर लग रही है । कहीं तो ये चमकनेवाली इन्द्रनील मणियोंसे गुँथी हुई माला-जैसी लगती हैं, कहीं नीले और श्वेत कमलोंकी मिली हुई माला-जैसी दिखाई पड़ रही हैं, ।।५४।। कहीं साँवले रंगके हंसोंसे मिले हुए उजले रंगके राजहंसोंकी पाँतके समान शोभा दे रही हैं, कहीं श्वेत चन्दनसे चीती हुई पृथ्वीपर बीच-बीचमें काले अगरसे चीती हुई-सी लग रही हैं, ।।५५।। कहीं-कहीं ये वृक्षके नीचे बिखरी उस चाँदनीके समान लगती हैं, जहाँ बीच-बीचमें पत्तोंकी छाया पड़ी हो, कहीं-कहींपर

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥
समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधने विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥ ५८ ॥
पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं बिहाय ।
जटासुबद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥ ५९ ॥
पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्दिष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥
जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ ६१ ॥
यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे संभावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥ ६२ ॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरंगहस्तैरुपगूहतीव ॥ ६३ ॥
विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥
अद्धा श्रियं पालितसंगराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥

जान पड़ती हैं, जिनके बीच-बीचमें नीला आकाश झाँक
शरद् ऋतुके उन उजले बादलोंके समान
रहा हो ॥५६॥ और कहींपर भस्म पुते हुए शिवजीके शरीरके समान दिखाई पड़ रही हैं जिसपर
काले-काले सर्प लिपटे हुए हों ॥५७॥' समुद्रकी इन दो पत्नियों (गङ्गा-यमुना) के सङ्गममें जो
स्नान करके पवित्र हो जाते हैं, वे तत्त्वज्ञानी न होनेपर भी संसारके बन्धनोंमे छूट जाते हैं ॥५८॥
यह आगे वही निषादराज गुहका नगर है जहाँ मैंने मुकुटमणि उतारकर जटा बाँधी थी और
जिसे देखकर सुमन्त यह कहकर रोने लगे थे कि 'अरी कैकेयी ! ले तेरी इच्छा पूरी हो
गई' ॥५९॥ जैसे ऋषि लोग कहते हैं कि अव्यक्त (प्रकृति) से बुद्धि उत्पन्न हुई, वैसे ही यह
सरयू नदी भी उस मानसरोवरसे निकली हैं जिसके कमलोंका पराग यक्षोंकी स्त्रियाँ अपने
स्तनोंपर मला करती हैं ॥६०॥ यह नदी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी राजधानी अयोध्यासे लगी हुई
बहती है। इसके तटपर जहाँ तहाँ यज्ञोंके खम्भे गड़े हुए हैं, जिनमें बाँधकर पशुओंकी बलि दी
जाती थी। अश्वमेध यज्ञ कर लेनेके पश्चात् सूर्यवंशी राजाओंने जो इसमें स्नान किया है, उससे
इसका जल पवित्र हो गया है ॥६१॥ मैं इस नदीका बड़ा आदर करता हूँ क्योंकि यह उत्तर
कोसलके राजाओंकी धाय है। इसीके बालूमें खेल-खेलकर वे सब पलते और इसीका मीठा जल
पीकर पुष्ट होते रहे हैं ॥६२॥ माननीय महाराज दशरथसे बिछुड़ी हुई मेरी माताके ही समान
यह सरयू अपने ठंडे वायुवाले तरंग-रूपी हाथ उठाए ले रही है मानो इतने ऊँचे परसे ही मुझे गले
लगाना चाह रही हो ॥६३॥ देखो ! लाल सन्ध्याके समान जो धूल पृथ्वीसे उठ रही है, उससे
जान पड़ता है कि हनुमान्से मेरे आनेका समाचार सुनकर भरत अपनी सेनाके साथ मेरा स्वागत
करने चले आ रहे हैं ॥६४॥ खर-दूषण आदि राक्षसोंको मारकर जब मैं लौटा था उस समय जैसे

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥
पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ ६७ ॥
एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा ।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥६८॥
तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥६९॥
इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य सभ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते ।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके ॥७०॥
श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥७१॥
दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरःप्रहर्ता ।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥७२॥

लक्ष्मणने तुम्हें मेरे हाथ सुरक्षित रूपसे सौंप दिया था वैसे ही अब मैं अवधि पूरी करके जो लौटा हूँ तो जान पड़ता है कि सज्जन भरत मुझे सुरक्षित राज्यलक्ष्मी उठा सौपेंगे ॥६५॥ चीर पहने, पैदल चलते हुए, हाथमें पूजाकी सामग्री लिए, मन्त्रियोंके साथ भरत मेरे ही पास चले आ रहे हैं । देखो, इनके आगे-आगे वशिष्ठजी चले आ रहे हैं और पीछे-पीछे सेना चली आ रही है ॥६६॥ जैसे किसी युवा पुरुषकी गोदमें कोई सुन्दर स्त्री आ बैठे और वह उससे भोग न करके तलवार की धारपर चलनेके समान कठोर, इन्द्रियोंको वशमें रखनेका व्रत किए रक्खे वैसे ही भरतने भी भोग करनेकी शक्ति रहते हुए भी पिताकी दी हुई राज्यलक्ष्मीको मेरे कारण उसका भोग न करके कठिन असिधारा व्रतका पालन किया है ॥६७॥ राम ऐसा कह ही रहे थे कि रामकी इच्छाको ही विमानका चालक मानकर जब वह विमान आकाशसे नीचे उतर आया तब भरतके पीछे चलनेवाली सारी जनता आँखें फाड़-फाड़कर उन्हें देखने लगी ॥६८॥ सेवामें चतुर सुग्रीवके हाथोंके सहारे स्फटिक मणियोंसे जड़ी हुई सीढ़ीसे रामचन्द्र विमानसे उतर आए और विभीषण आगे-आगे उन्हें मार्ग दिखाते हुए चलने लगे ॥६९॥ विनीत रामने पहले इक्ष्वाकुवंशके गुरु वशिष्ठको प्रणाम किया । फिर अर्घ्य ग्रहण करके आँखोंमें आँसू भरकर उन्होंने भरतको छातीसे लगा लिया और उनका वह मस्तक सूँघा, जिसने रामकी भक्तिके कारण राज्याभिषेकको भी अस्वीकार कर दिया था ॥७०॥ फिर वे उन वृद्ध मन्त्रियोंसे मिले जो मूँछ और दाढ़ी बढ़ जानेसे ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे घने बरोहवाले बड़के वृक्ष हों। रामने प्रेम-भरी आँखोंसे बड़ी मधुर भाषामें उनसे कृपा-पूर्वक सब कुशल-मङ्गल पूछा ॥७१॥ भरतसे सुग्रीवका परिचय देते हुए रामने कहा कि ये वानरों और ऋक्षोंके सेनापति हैं जो बड़े गाढ़े दिनोंमें हमारे काम आए हैं । फिर विभीषणका परिचय देते हुए उन्होंने कहा कि ये पुलस्त्य कुलमें उत्पन्न हुए विभीषण हैं । ये युद्धके समय हमसे आगे बढ़-बढ़कर शत्रुओंपर प्रहार करते थे । यह सुनकर भरतने लक्ष्मणको छोड़कर पहले उन्हीं दोनोंका स्वागत किया ॥७२॥ तब लक्ष्मणसे भरत मिले

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥ ७३ ॥
रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥ ७४ ॥
सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥ ७५ ॥
भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥
तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमयीं भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥
लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥ ७८ ॥
क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ ७९ ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
दण्डकात्प्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

और प्रणामके लिये झुका हुआ लक्ष्मणका सिर उठाकर मेघनादके प्रहारोंसे कठोर बनी हुई उनकी छाती अपनी भुजाओंसे दबाते हुए उन्हें अपनी छातीसे उठा लगाया ॥७३॥ रामके कहनेसे वानरों और ऋक्षोंके सेनापति सब मनुष्योंका वेश बना-बनाकर उन हाथियोंपर जा चढ़े, जिनके मस्तकसे मदकी धारा बह रही थी, इसलिये उनपर चढ़ते समय उन्हें ऐसा आनन्द मिला मानो झरनोंवाले पहाड़ोंपर ही चढ़े चले जा रहे हों ॥७४॥ रामकी आज्ञासे विभीषण और उनके साथी भी रथोंपर जा चढ़े । वे रथ यद्यपि मनुष्योंने बनाए थे फिर भी वे इतने सुन्दर थे कि राक्षसोंकी मायासे बनाए हुए रथ भी उनकी सुन्दरताके आगे पानी भरते थे ॥७५॥ जैसे बुध और बृहस्पतिके साथ विशेष दर्शनीय चन्द्रमा सन्ध्याको बिजलीवाले बादलोंपर जा बैठता है वैसे ही राम भी भरत और लक्ष्मणके साथ पताकाओंसे सजे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पक विमानपर जा चढ़े ॥७६॥ जैसे आदि वराहने प्रलयके जलसे पृथ्वीको उबार उठाया था और जैसे वर्षा बीतनेपर शरद् ऋतु बादलोंसे चाँदनी छीन लेती है वैसे ही रामने भी रावण-रूपी सङ्कटसे जिसे उबार लिया था, उस विमानमें बैठी हुई सीताको भरतने जा प्रणाम किया ॥७७॥ सीताके जिन पवित्र चरणोंने रावणकी प्रणय-प्रार्थनाको दृढतापूर्वक ठुकरा दिया था, उनपर जब भरतने बड़े भाईकी भक्तिके कारण बढ़ी हुई जटावाला अपना सिर रक्खा तो इन दोनोंने आपसमें मिलकर एक दूसरेको पवित्र कर दिया ॥७८॥ आगे-आगे अयोध्याकी जनता चल रही थी और पीछे-पीछे वह पुष्पक विमान धीरे-धीरे चलता जा रहा था जिसपर राम बैठे हुए थे । इस प्रकार आधे कोसतक चलकर उन्होंने अयोध्याके उस सुन्दर उपवनमें जा डेरा जमाया जिसे पहलेसे ही शत्रुघ्नने भली-भाँति सँवार सजाया था ॥७९॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें दण्डकवनसे लौटना
नामका तेरहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ चतुर्दशः सर्गः ॥

भर्तुः प्रणाशारथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥ १ ॥
उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ २ ॥
आनन्दजः शोकलमश्रु वाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥ ३ ॥
ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥ ४ ॥
क्लेशावहा भर्तरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥ ५ ॥
उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्त्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥ ६ ॥
अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ ७ ॥
सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥ ८ ॥

चौदहवाँ सर्ग

उस उपवनमें पहुँचकर राम अपनी उन माताओंसे मिले जो वैसी ही उदास लग रहीं थीं जैसे वृक्षके कट जानेपर उसके सहारे चढ़ी हुई लताएँ मुरझा जाती हैं ॥ १ ॥ पराक्रमी राम और लक्ष्मणने बारी-बारीसे कौसल्या और सुमित्राको जा प्रणाम किया। अपने पुत्रोंको देखते ही दोनों माताओंकी आँखोंमें ऐसे आँसू छलछला आए कि वे भर आँख उन्हें देख तो नहीं सकीं, पर पुत्रोंको प्यारसे पुचकारते समय उन्हें पहचान अवश्य गईं ॥ २ ॥ जैसे गर्मीके दिनोंमें हिमालयका शीतल जल गंगा और सरयूके गर्म जलको ठंढा कर देता है वैसे ही उन दोनों नारियोंकी आँखोंसे बहे हुए आनन्दके ठंढे आँसुओंने शोकके गरम आँसुओंको ठंढा कर दिया ॥३॥ पुत्रोंके शरीरके जिन अंगोंपर राक्षसोंके शस्त्रोंके घाव बने थे उन्हें दोनों माताएँ इस प्रकार सहलाने लगीं मानों घाव अभी हरे ही हों। अपने पुत्रोंकी चोटें देख देखकर वे इतनी व्याकुल हो उठीं कि उन्हें उस समय वीर पुत्रकी माँ कहलाना भी अच्छा न लगा ॥४॥ 'मैं ही पतिको कष्ट देनेवाली कुलक्षण सीता हूँ'—यह कहते हुए सीताने समान भक्तिसे स्वर्गवासी ससुरकी दोनों रानियोंके चरण जा छुए ॥५॥ माताओंने सीताको उठाते हुए बड़ी प्यारी और सच्ची बात कही—'उठो वेटी! तेरे पातिव्रतके प्रभावसे ही तो राम और लक्ष्मण इस बड़े भारी संकटसे पार हो पाए हैं ॥६॥ जिस राज्याभिषेकका आरम्भ माताओंके हर्ष-भरे आँसुओंसे हुआ था, उस अभिषेकको सोनेके घड़ोंमें भरे तीर्थोंसे लाए हुए जलसे रामको नहलाकर बूढ़े मंत्रियोंने पूरा कर दिया ॥७॥ राक्षसों और वानरोंके नायकोंने नदियों, समुद्रों और तालोंसे जो जल ला लाकर दिया वह अभिषेकके समय रामके सिरपर वैसे ही बरस रहा था जैसे विन्ध्याचलकी चोटीपर

तपस्विवेषक्रिययापि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥
समौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥
सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥
प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥ १२ ॥
श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।
प्रासादबातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥
स्फुरत्प्रभामण्डलमानसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥
वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥
कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥

बादलोंका लाया हुआ जल बरसा करता है ॥८॥ जो राम तपस्वीके वेशमें भी बहुत सुन्दर लगते थे वे इस समय राजसी वस्त्र पहनकर और भी सुन्दर लमने लगे ॥९॥ वृद्ध मन्त्रियों, राक्षसों और बानरोंको साथ लेकर रामने अपमी सेनाके साथ उस राजधानी अयोध्यामें पैर जा रक्खे जो चारों ओर बन्दनवारोंसे सजाई गई थी, जहाँके श्वेत भवनोंपरसे धानकी खीलें बरस रही थीं और जहाँके निवासी तुरही आदि बाजोंको सुन-सुनकर बड़े मगन हुए जा रहे थे ॥१०॥ लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों रामपर चँवर डुला रहे थे और भरत हाथमें छत्र लिए हुए थे । इस प्रकार जब राम अपने भाइयोंके साथ अयोध्यामें प्रविष्ट हुए तब चारों भाई ऐसे जान पड़ रहे थे, मानो (साम, दान, दण्ड और भेद) ये चारों उपाय आ इकट्ठे हुए हों ॥११॥ भवनोंके ऊपर वायुसे छितराया हुआ काले अगरका धुआँ ऐसा लग रहा था, मानो वनसे लौटकर रामने अयोध्यापुरीका जूड़ा ही अपने हाथसे खोलकर छितरा दिया हो ॥१२॥ भवनोंके झरोखोंमें हाथ बाँधे दिखाई पड़नेवाली अयोध्याकी महिलाओंने हाथ जोड़ जोड़कर उन सीताको प्रणाम किया जो उस समय पालकीपर बैठी चली जा रही थीं और जिन्हें कौसल्या आदि सासोंने बड़े मनोहर ढंगसे वस्त्र और आभूषणोंसे सजा दिया था ॥१३॥ सीताके शरीरपर अब भी अमिट कान्तिवाला अङ्गराग लगा हुआ था जो उनके शरीरमें अनसूयाने लगा दिया था । उससे अग्निके समान प्रकाशमान उनका शरीर ऐसा दिखाई पड़ रहा था मानो पुरवासियोंको सीताकी शुद्धता दिखलानेके लिये रामने उन्हें फिर अग्निमें ले जा बैठाया हो ॥१४॥ मित्र-प्रेमी रामने सुग्रीव आदि मित्रोंको सब प्रकारकी सामग्रीसे सजे भवनोंमें पहले ले जा ठहराकर तब अपने पिताके पूजाघरमें पैर रक्खा । वहाँ दशरथका अकेला चित्र देखकर रामकी आँखोंमें आँसू आ छलके ॥१५॥ वहाँ अकेली कैकेयी बड़ी उदास बैठी हुई थीं । उन्हें देखकर रामने हाथ जोड़कर कैकेयीसे कहा—'माँ ! तुम्हारी ही पुण्यके प्रतापसे हमारे पिता उस सत्यसे नहीं डिगे जिससे स्वर्ग मिलता है । यदि तुम उनसे वरदान न माँगती तो उन्होंने जो तुम्हें वरदान देनेकी प्रतिज्ञा की थी वह झूठी हो जाती ।' यह सुनकर

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
संकल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ।। १७ ।।
सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ।। १८ ।।
प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् रक्षःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः ।। १९ ।।
तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन ।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ।। २० ।।
पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ।। २१ ।।
सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ।। २२ ।।
तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ।। २३ ।।
स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ।। २४ ।।

कैकेयीके मनमें जो आत्मग्लानि भरी हुई थी (कि राम मेरे लिये न जाने क्या सोचते होंगे और मैं उन्हें कैसे मुँह दिखाऊँगी) वह सब जाती रही ।।१६।। वहाँसे आकर उन्होंने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रोंका भली-भाँति स्वागत सत्कार किया। उन लोगोंको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं वह झट बिना कहे ही मिलता चला जाता है ।।१७।। तब रामने उन अगस्त्य आदि ऋषियोंका बड़ा सत्कार किया जो उन्हें बधाई देने आ पहुँचे थे। फिर उन ऋषियोंसे उन्होंने अपने शत्रु रावणके जन्मसे मृत्यु-तकका वह सारा वृतान्त सुनाया जो उन्हींका गौरव बढ़ानेवाला था ।।१८।। ऋषियोंके चले जानेपर रामने उन राक्षसों और बानर सेनापतियोंको बिदा किया जो अयोध्यामें इतने आनन्दसे रहते रहे कि उन्हें यही नहीं ज्ञात हो पाया कि आधा महीना कब कैसे बीत गया। वे जब चलने लगे तब सीताने स्वयं अपने हाथोंसे उन सबकी पूजा की ।।१९।। रामने उस स्वर्गके फूलके समान पुष्पक विमानको भी कुबेरके पास जानेकी आज्ञा दे दी, जो सदा इच्छा करते ही उनकी सेवाके लिये आ जाता था और जिसे उन्होंने रावणके प्राणके साथ-साथ उससे छीन लिया था ।।२०।। इस प्रकार पिताकी आज्ञासे बनवासकी अवधि बिताकर रामने अपने पिताका राज्य फिरसे सँभाल लिया। जैसा वे धर्म, अर्थ और कामके साथ समान व्यवहार करते थे उसी प्रकार वे अपने भाइयोंके साथ भी समान प्रेमका व्यवहार करते थे ।।२१।। जैसे स्वामिकार्तिकेय अपने छह मुखोंसे छहों कृत्तिकाओंका स्तन पीकर समान रूपसे प्रेम दिखलाते थे, वैसे ही राम भी सभी माताओंसे बराबर स्नेह करते थे ।।२२।। वे निर्लोभ थे इसीलिये उन्होंने प्रजापर कभी कोई कर नहीं लगाया। फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनोंमें प्रजा धनी हो गई। वे कहीं भी बिघ्न आने ही नहीं देते थे, इसलिये सब लोग प्रसन्नतासे अपनी यज्ञ आदि क्रियाएँ करने लगे थे। वे सबको ठीक मार्गपर चलाते थे इसलिये सब उन्हें पिताके समान मानते थे और विपत्ति पड़नेपर वे सबकी सहायता करते थे इसलिये वे प्रजाके पुत्र भी थे ।।२३।। वे ठीक समयपर प्रजाका

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु ।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥ २५ ॥
अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥ २६ ॥
तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥ २७ ॥
सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः संबद्धवैखानसकन्यकानि ।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ २८ ॥
तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥ २९ ॥
ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः ।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ ३० ॥
स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ ३१ ॥
निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥ ३२ ॥

काम देख-भालकर सीताके साथ रमण भी करते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो राज्यलक्ष्मीने ही रामके साथ रमण करनेकी इच्छासे सीताका सुन्दर रूप बना लिया हो ॥२४॥ वे दोनों उसी भवनमें इच्छानुमार विलास करते चलते थे, जिसमें वनवासके समयके चित्र बने हुए थे। उन चित्रोंको देखकर वनवासके दुःखोंका स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था ॥२५॥ धीरे-धीरे सीताके नेत्रोंकी शोभा बढ़ने लगी और उनका मुख पके सरपतके समान पीला पड़ने लगा। गर्भके ये लक्षण देखकर राम बड़े प्रसन्न हो उठे ॥२६॥ जब उन्हें पक्का विश्वास हो गया कि सीता गर्भिणी है तब वे दुबली तथा काली घुण्डीके स्तनों वाली लजीली सीताको एकान्तमें गोदमें बैठाकर पूछने लगे—'बताओ, तुम्हें क्या-क्या चाहिए' ॥२७॥ सीता बोलीं—'मैं गङ्गाके तटके उन तपोवनोंको देखना चाहती हूँ जहाँके हिंसक जन्तु मांस न खाकर नीवार ही खाते हैं, जहाँ मेरी सखियाँ तपस्वियोंकी कन्याएँ रहती हैं और जहाँ चारों ओर कुशकी ही झोपड़ियाँ बनी खड़ी हैं' ॥२८॥ रामने कहा—'अच्छी बात है। हम उस तपोवनमें तुम्हें अवश्य भेज देंगे।' वहाँसे उठकर वे अपने सेवकके साथ सुन्दर अयोध्याकी छटा निहारनेके लिये आकाशसे बातें करनेवाले अपने ऊँचे राजभवनकी छतपर जा चढ़े ॥२९॥ वहाँसे उन्होंने देखा कि राजमार्गकी दुकानें धनधान्यसे भरी हुई हैं, सरयूमें नावें चल रही हैं और अयोध्याके उद्यानोंमें विलासी पुरवासी प्रसन्न होकर विलास कर रहे हैं ॥३०॥ नगरकी यह शोभा देखकर सुन्दर बोलनेवाले; सदाचारी और शेषनागके समान बड़ी-बड़ी बाँहों और जाँघोंवाले शत्रुविजयी रामने अपने भद्र नामके दूतसे पूछा—'कहो भद्र! हमारे विषयमें प्रजा क्या कहती है' ॥३१॥ पहले तो भद्र चुप रहा पर जब राम बार-बार उससे पूछने लगे तब वह बोला 'नरश्रेष्ठ! जनता आपकी सब बातोंकी प्रशंसा करती है, किन्तु आपने राक्षसके घरमें रहनेवाली देवी सीताको फिरसे ग्रहण कर लिया है, उसे लोग अच्छा नहीं समझते' ॥३२॥ अपनी

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनास्य इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥ ३३ ॥
किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत् स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥
निश्चित्य चानन्यनिवृत्तिवाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ ३५ ॥
स संनिपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥
राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥
पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकंस्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥
तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ ३९ ॥
अवैमि चैनामनघेति किंतु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ ४० ॥

पत्नीपर लगाए हुए इस भीषण कलङ्कको सुनकर सीतापति रामका हृदय वैसे ही फट गया जैसे घनकी चोटसे तपाया हुआ लोहा फट जाता है ॥३३॥ वे मनमें सोचने लगे कि अब दो ही उपाय बच रहे हैं। या तो मैं इस बातको सुनी-अनसुनी कर दूँ और टाल जाऊँ या फिर निर्दोष पत्नीको सदाके लिये छोड़ दूँ। उस समय उनका चित्त एक हिंडोला बना हुआ था कि वे निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि इन दोनोंमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं ॥३४॥ पर उस कलङ्कको मिटानेका कोई दूसरा मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। इसलिये उन्होंने निश्चय कर लिया कि सीताको त्याग कर ही यह कलङ्क मिटाना चाहिए, क्योंकि यशस्वियोंको अपना यश अपने शरीरसे भी अधिक प्यारा होता है फिर स्त्री आदि भोगकी वस्तुओंकी तो बात ही क्या है ॥३५॥ उदास मुँहसे रामने अपने भाइयोंको बुलाया तो वे भी उनकी दशा देखकर सन्न रह गए। अपने भाइयोंसे राम बोले —॥३६॥ 'यद्यपि मैं सदाचारी होनेके कारण पवित्र हूँ फिर भी जैसे भाप पड़नेसे स्वच्छ दर्पण भी धुंधला हो जाता है, वैसे ही देखो, सूर्यवंशी राजर्षियोंके कुलमें मेरे कारण कैसा कलङ्क लग रहा है ॥३७॥ जैसे पानीकी लहरोंके ऊपर तेलकी बूँद फैल जाती है वैसे ही इस समय घर-घर मेरी निन्दा फैलती जा रही है। इसलिए जैसे हाथी अपने अलानसे खीझकर उसे उखाड़नेकी चेष्टा करने लगता है वैसे ही मैं भी अपने इस कलङ्कको अब नहीं सह सक रहा हूँ ॥३८॥ इस समय यद्यपि सीताको पुत्र होनेवाला है तो भी अपना कलङ्क मिटानेके लिये मैं सब मोह तोड़कर उसे वैसे ही छोड़ दूँगा जैसे पिताकी आज्ञासे मैंने राज्य छोड़ दिया था ॥३९॥ मैं जानता हूँ कि वह निर्दोष है पर बदनामी तो सत्यसे भी कहीं अधिक बलवती होती है। देखो ! निर्मल चन्द्र-बिम्बके ऊपर पड़ी हुई पृथ्वीकी छायाको लोग चन्द्रमाका कलङ्क कहते हैं, पर झूठ होनेपर भी सारा संसार इसे ही ठीक मानता है ॥४०॥ तुम यह कहोगे कि यदि ऐसा ही था तो राक्षसोंको क्यों

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥
तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥
इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥ ४३ ॥
स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥
प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥ ४५ ॥
स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥
अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरंगैः ।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥
सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियंकरो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ ४८ ॥

मारा । उसका उत्तर यह है कि सीताको छुड़ानेके लिये मैंने जो राक्षसोंको मारा, वह मेरा प्रयत्न सीताको निकाल देनेसे बेकार नहीं कहा जायगा, क्योंकि वह तो मैंने अपनी स्त्रीके हरणका उन राक्षसोंसे बदला लिया है । क्योंकि जब कोई साँप पैरके नीचे दब जाता है तब वह रक्तके लोभसे थोड़े ही डसता है, वह तो बदला लेनेके लिये ही डसा करता है ॥ ४१ ॥ इसलिये यदि तुम लोग इस कलङ्कके बाणको मेरे हृदयसे निकालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो केवल सीताकी दशापर दया करके उसका पक्ष लेकर तुम मेरे इस निश्चयका विरोध मत करो' ॥ ४२ ॥ जब भाइयोंने देखा कि राजा इतनी निठुराईपर तुले बैठे हैं तब भाइयोंमेंसे न तो कोई उनका समर्थन ही कर सका, न विरोध ही ॥४३॥ तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध यशस्वी, अपनी नाकके पक्के रामने जब देखा कि लक्ष्मण उनकी आज्ञा माननेको तत्पर हैं तब वे लक्ष्मणसे कहने लगे— 'लक्ष्मण ! तुम बड़े अच्छे हो ।' यह कहकर वे उन्हें एकान्तमें ले गए और बोले-- ॥४४॥ 'तुम्हारी गर्भिणी भाभी तपोवन देखना चाहती ही हैं इसलिये तुम उन्हें इसी बहाने रथपर ले जाकर वाल्मीकिके आश्रमतक पहुँचाकर छोड़ आओ' ॥४५॥ लक्ष्मणने सुन ही रक्खा था कि पिताकी आज्ञा पाकर परशुरामने अपनी माताको वैसे ही निर्दयताके साथ मार डाला था, जैसे कोई अपने शत्रुको मारे । इसलिये उन्होंने पिताके समान रामकी आज्ञा सिर माथे चढ़ा ली, क्योंकि बड़ोंकी आज्ञापर विचार नहीं किया जाता (उसका पालन किया जाता है) ॥४६॥ सीता यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण हमें तपोवन दिखाने ले जा रहे हैं । लक्ष्मण भी उन्हें ऐसे रथपर चढ़ाकर ले चले जिसे स्वयं सुमन्त हाँक रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे सधे हुए थे कि रथके चलते समय गर्भिणी सीताको तनिक भी हचक नहीं लग पाती थी ॥४७॥ मनोहर प्रदेशोंमें होते हुए रथपर जाती हुई सीता यह सोचकर बड़ी प्रसन्न हुईं कि मेरे प्राणप्रिय सदा मेरे मन की बात पूरी कर दिया करते हैं । वे क्या जानती थीं कि इस समय वे मेरे लिये मनोरथ पूरा करनेवाले कल्प-

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥
सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः ॥ ५० ॥
गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन्।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥
रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार संधामिव सत्यसंधः ॥ ५२ ॥
अथ व्यवस्थापितवाक्कथंचित्सौमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः।
औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार ॥ ५३ ॥
ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥ ५४ ॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥ ५५ ॥
सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥ ५६ ॥

वृक्षके बदले उस असिपत्रके वृक्षके समान कष्टदायक हो गए हैं जिसके पत्ते तलवारके समान पैने होते हैं ॥४८॥ लक्ष्मणने सीतासे मार्गमें कुछ भी नहीं बताया कि आप पर क्या विपत्ति आनेवाली है, पर सीताके दाहिने नेत्रने फड़ककर आगे आनेवाले दुःखकी सूचना दे ही तो दी ॥४९॥ यह असगुन होते ही उनका मुँह उदास हो उठा और वे मन ही मन मनाने लगीं कि भाइयोंके साथ राजा सुखसे रहें, उनपर कोई आँच न आने पावे ॥५०॥ मार्गमें गङ्गा पड़ीं, उनमें जो लहरें उठ रही थीं, वे बड़े भाईकी आज्ञासे पतिव्रता सीताको वनमें छोड़ने के लिये ले जाते हुए लक्ष्मणसे मानो हाथ हिला हिलाकर कहे जा रही थीं कि ऐसा मत करो, ऐसा मत करो ॥५१॥ गङ्गाके तटपर पहुँचकर सारथिने रास खींच ली। सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले लक्ष्मणने सीताको रेतीपर उतार लिया और केवटने जो नाव लाकर लगाई उसपर चढ़कर सीताके साथ वे गङ्गासे भी पार हो गए और अपनी उस प्रतिज्ञासे भी पार हो गए, जो उन्होंने सीताको गङ्गापार छोड़नेके लिये रामसे की थी ॥५२॥ पार पहुँचकर लक्ष्मणने आँसू रोककर, रुँधे हुए गलेसे सीताको राजाकी आज्ञा इस प्रकार सुनाई जैसे कोई भयङ्कर बादल ओले बरसा रहा हो ॥५३॥ जैसे लू लगनेसे लताके फूल झड़ जाते हैं और वह सूखकर पृथ्वीपर जा गिरती है वैसे ही इस अपमानजनक बातको सुनकर सीताके आभूषण भी गिर पड़े और वे भी अपनी माँ पृथ्वीकी गोदमें जा गिरीं ॥५४॥ उस समय पृथ्वीने सीताको मानो इस दुविधाके कारण अपनी गोदमें नहीं समा लिया कि इक्ष्वाकुवंशी सदाचारी पति इस प्रकार सीताको अचानक भला क्यों छोड़ देंगे ॥५५॥ मूर्च्छा आ जानेसे उस समय तो उन्हें दुःख नहीं हुआ पर जब वे मूर्च्छासे जगीं तब उनका हृदय बड़ी व्यथासे भर उठा। लक्ष्मणने प्रयत्न करके जो उनकी मूर्च्छा दूर की, यह बात उन्हें मूर्च्छासे भी अधिक कष्ट देनेवाली जान पड़ी ॥५६॥ वे इतनी साध्वी थीं कि निरपराध पत्नीको निकालनेवाले अपने

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनःपुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥ ५७ ॥
आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥ ५८ ॥
सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
विडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्राता यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥
श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः ।
प्रजानिषेकं मयि वर्त्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥ ६० ॥
वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥ ६१ ॥
कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥ ६२ ॥
उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥
किंवा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥

पतिको उन्होंने कुछ भी बुरा-भला नहीं कहा वरन् बार-बार वे अपने भाग्यको ही कोसने लगीं ॥५७॥ लक्ष्मणने उन्हें बहुत समझाया-बुझाया और वाल्मीकिका आश्रम दिखाकर कहा—'देवि ! मैं पराधीन हूँ । इसलिये स्वामीकी आज्ञासे मैंने आपके साथ जो कठोर व्यवहार किया है उसे आप क्षमा कर दीजिए', यह कहते हुए वह सीताके पैरों पर गिर पड़े ॥५८॥ सीता उन्हें उठाकर बोलीं—'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम बहुत दिनोंतक जियो क्योंकि जैसे इन्द्रके छोटे भाई विष्णु सदा अपने बड़े भाई इन्द्रकी आज्ञा मानते हैं वैसे ही तुम भी अपने बड़े भाईकी आज्ञा मानते रहे हो ॥५९॥ तुम जाकर सभी सासोंसे मेरा प्रणाम कहकर निवेदन करना कि मेरे गर्भमें आपके पुत्रका तेज है । इसलिये आप लोग हृदयसे उसकी कुशल मनाते रहिएगा ॥६०॥ और राजासे जाकर तुम मेरी ओरसे कहना कि आपने अपने सामने ही मुझे अग्निमें शुद्ध पाया था । तब भी इस समय अपजसके डरसे जो आपने मुझे छोड़ दिया है वह क्या उस प्रसिद्ध कुलको शोभा देता है, जिसमें आपने जन्म लिया है ॥६१॥ पर नहीं, आप तो सबकी भलाई करनेवाले हैं । आप अपने मनसे मेरे साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते । यह सब मेरे ही पूर्व जन्मके पापोंका फल है ॥६२॥ जान पड़ता है कुछ समय पहले आप जिस राजलक्ष्मीका तिरस्कार करके मेरे साथ वनमें चले गए थे, वह राजलक्ष्मी मुझसे इतनी रुष्ट हो गई है कि आपके घरमें मेरा प्रतिष्ठा-पूर्वक रहना भी वह नहीं देख सकी ॥६३॥ पिछली बार आपकी कृपासे मैंने वनवासके समय बहुतसी ऐसी तपस्विनियोंको अपने यहाँ आश्रय दिया था जिनके पतियोंको राक्षसोंने सता रक्खा था । अब आप ही बताइए कि आपके रहते हुए मैं कौन मुँह लेकर उन्हीं तपस्विनियोंकी आश्रिता होकर रह पाऊँगी ॥६४॥ यदि मेरे गर्भमें

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥ ६७ ॥

तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥ ६८ ॥

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्या प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥ ६९ ॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे ।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥ ७१ ॥

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा ।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्तासि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥ ७२ ॥

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥ ७३ ॥

आया हुआ आपका वह तेज बाधा न देता जिसकी रक्षा करना आवश्यक है तो मैं आपसे सदाके लिये बिछुड़े हुए अपने प्राण भी छोड़ देती ॥६५॥ पर पुत्र हो जानेपर मैं सूर्यमें दृष्टि बाँधकर ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्ममें भी आप ही मेरे पति हों और आपसे मुझे कभी अलग न होना पड़े ॥६६॥ मनुने कहा है—राजाओंका धर्म वर्णों और आश्रमोंकी रक्षा करना है इसलिये घरसे निकाल देनेपर भी आप यह समझकर मेरी देख-भाल करते रहिएगा कि सीता भी आपकी प्रजा और तपस्विनी हैं' ॥६७॥ यह सुनकर लक्ष्मणने इतना ही कहा—'मैं सब कह दूँगा'। यह कहकर ज्योंही वे वहाँसे चलकर आँखोंसे ओझल हुए कि विपत्तिके भारसे व्याकुल होकर सीता, डरी हुई कुररीके समान दाढ़ मार-मारकर रोने लगीं ॥६८॥ उनका रोना सुनकर मोरोंने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष भी फूलके आँसू गिराने लगे और हरिणियोंने मुँहमें भरी हुई घासका कौर भी गिरा दिया। सारेका सारा जंगल ही सीताके दुःखसे दुखी होकर रो पड़ा ॥६९॥ जिन महाकृपालु वाल्मीकि ऋषिका शोक व्याधके हाथसे मारे हुए क्रौञ्चको देखकर श्लोक बनकर निकल पड़ा था, वे उस समय कुशा उपाड़ने निकले हुए थे। रोनेका शब्द सुनकर वे सीताकी ओर झपटे चले आए। उन्हें देखकर सीताने आँसू पोंछकर चुप-चाप उन्हें प्रणाम किया। ऋषिने गर्भके चिह्न देखकर उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम पुत्रवती हो। आशीर्वाद देकर वे बोले—॥७१॥ 'बेटी! मैंने योगबलसे जान लिया है कि तुम्हारे पतिने झूठे अपजससे डरकर तुम्हें घरसे निकाल दिया है। बेटी! यहाँ भी तुम अपने पिताका ही घर समझो और शोक छोड़ दो ॥७२॥ यद्यपि रामने तीनों लोकोंका काँटा (रावण) दूर कर डाला हैं, वे अपनी प्रतिज्ञाके पक्के हैं और अपने मुँहसे अपनी बड़ाई भी नहीं करते, फिर भी तुम्हारे साथ जो उन्होंने यह भद्दा व्यवहार किया है इसे देखकर मुझे उनपर बड़ा क्रोध आ रहा है ॥७३॥ तुम्हारे यशस्वी श्वसुर मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि समानुकम्प्या ॥ ७४ ॥
तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥
अशून्यतीरां मुनिसंनिवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः संपत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥ ७६ ॥
पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥ ७७ ॥
पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ७८ ॥
अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः ।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥ ७९ ॥
तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥ ८० ॥
ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

जनक भी ज्ञानोपदेश देकर बहुतसे विद्वानों को संसारके बंधनसे छुड़ाते रहते हैं, तुम स्वयं पति
व्रताओंमें सर्वश्रेष्ठ हो और फिर तुममें ऐसा दोष ही कौन-सा है जो मैं तुम्हारे ऊपर कृपा न
करूँ ॥७४॥ देखो, तपस्वियोंके साथ रहते-रहते यहाँके सब जीव बड़े सीधे हो गये हैं। ये किसीसे
कुछ कहते-सुनते नहीं। इसलिये इस आश्रममें तुम निर्भय होकर रहो। तुम्हारी पवित्र संतानके
जातकर्म आदि सब संस्कार मैं यहीं कर दूंगा ॥७५॥ पाप मिटानेवाली जिस तमसाके किनारे
तपस्वी लोग सदा संध्या-पूजा किया करते हैं उसमें स्नान करके तुम उसकी रेतीपर देवताओंको
बलि दिया करना इससे तुम्हारा मन प्रसन्न रहेगा ॥७६॥ यहाँकी मुनि-कन्याएँ तुम्हें सब
ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले फूल, फल और पूजाके योग्य अन्न लाकर रखती रहा करेंगी और
मीठी-मीठी बातोंसे तुम्हारा मन भी बहलाया करती रहेंगी ॥७७॥ जो जलके घड़े तुमसे उठ सकें
उन्हें लेकर तुम आश्रमके पौधोंको प्रेमसे सींचा करना इससे बड़ा लाभ यह होगा कि बच्चा
होनेके पहले ही तुम यह सीख जाओगी कि बच्चोंसे कैसे प्रेम करना चाहिए' ॥७८॥ सीताने
उनकी कृपाको बहुत सराहा और दयालु वाल्मीकिके साथ उनके आश्रममें चली गईं। साँझ
हो जानेके कारण बहुतसे मृग वहाँ वेदी घेरकर बैठे हुए थे और सिंह आदि जन्तु भी चुपचाप
आँखें मूँदे पड़े थे ॥७९॥ जैसे जड़ी-बूटियों और लता-वृक्षोंको अमावास्या आकर चन्द्रमाकी
वह सारहीन अन्तिम कला सौंप देती है जिसका अमृत पितर खींच लेते हैं, वैसे ही ऋषिने
भी शोकसे व्याकुल सीताको आश्रमकी उन तपस्विनियोंके हाथ सौंप दिया जो सीताके वहाँ
आ जानेसे बड़ी प्रसन्न हो उठी थीं ॥८०॥ पूजा हो चुकनेपर उन तपस्विनियोंने सीताके
रहनेके लिये एक पत्तोंकी कुटिया दे दी जिसमें हिंगोटके तेलका दीया जल रहा था और
नीचे मृगचर्म बिछा हुआ था ॥ ८१ ॥ वहाँ सीता प्रतिदिन स्नान करके बड़े नियमसे
रहती थीं, ठीक विधिसे अतिथियोंकी पूजा करती थीं, वृक्षोंकी छालके कपड़े पहनती थीं और

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासंततये बभार ॥ ८२ ॥
अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥
बभूवः रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥
निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥
तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसंघट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥
सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥८७॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

केवल पतिका वंश चलानेकी इच्छासे ही कन्द-मूल खाकर शरीर धारण करती थीं ॥८२॥ सीताने रो-रोकर जो बातें कहीं थीं वे सब अयोध्या पहुँचकर लक्ष्मणने रामसे यह सोचकर कह सुनाई कि देखें राम अब भी पछताते हैं या नहीं ॥८३॥ उन बातोंको सुनकर ओस बरसानेवाले पूसके चन्द्रमाके समान रामकी आँखोंसे टपटप आँसू गिरने लगे, क्योंकि उन्होंने सीताको अपनी इच्छासे नहीं वरन् कलङ्कके डरसे ही छोड़ा था ॥८४॥ वर्णाश्रम-धर्मके रक्षक बुद्धिमान् राम संसारके सुखोंका मोह छोड़कर और शोक रोककर भाइयोंके साथ अपने भरे-पूरे राज्यका शासन करनेमें लग गये ॥८५॥ राजाने कलङ्कके डरसे अपनी रानीको छोड़ दिया इसलिए मानो बिना सौतकी होकर राज्यलक्ष्मी ही उनके हृदयमें सुखसे निवास करने लगी ॥८६॥ रामने सीताको त्यागकर किसी दूसरी स्त्रीसे विवाह नहीं किया वरन् अश्वमेध यज्ञ करते समय उन्होंने सीताकी सोनेकी मूर्तिको ही अपने बाएँ बैठाया था । जब सीताने अपने पतिकी ये बातें सुनीं तब उनके मनमें जो छोड़े जानेकी कसक थी वह पूर्णतः मिट गयी (क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया कि राम अब भी मुझे धर्मपत्नी समझते हैं) ॥८७॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें सीता-परित्याग
नामका चौदहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ पञ्चदशः सर्गः ॥

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् । बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥ १ ॥
लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः । मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥ २ ॥
अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा । त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ ३ ॥
प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् । धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥ ४ ॥
ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः । दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ ५ ॥
आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः । करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥ ६ ॥
यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परंतपः । अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥
अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी । ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ ८ ॥
रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये । पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥ ९ ॥
आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छँस्तपतां वरः । विरराज रथप्रष्ठैर्बालखिल्यैरिवांशुमान् ॥ १० ॥
तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः । रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥ ११ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

सीताको छोड़ देनेपर राजा रामने केवल समुद्रोंसे घिरी हुई पृथ्वीका ही भोग किया किसी दूसरी स्त्रीसे विवाह नहीं किया ॥१॥ इसी बीच एक दिन यमुना-तटपर रहनेवाले कुछ तपस्वी, शरणागतवत्सल रामके पास शरण माँगने आ पहुँचे, क्योंकि लवणासुर राक्षसके उपद्रवोंके कारण उनकी यज्ञ आदि सब क्रियाएँ बन्द हो गई थीं ॥२॥ वे तपस्वी यदि चाहते तो अपने ही तेजसे लवणासुरको भस्म कर डालते, किन्तु उन्होंने ऐसा करना ठीक नहीं समझा क्योंकि जिन लोगोंमें शाप देकर भस्म करनेकी शक्ति होती है वे तपस्यासे बटोरे हुए तेजको ऐसे काममें तभी लगाते हैं, जब कोई दूसरा उनका रक्षक न हो ॥३॥ रामने उनके विघ्न दूर करनेकी प्रतिज्ञा कर ली क्योंकि धर्मकी रक्षाके लिये ही तो वे संसारमें अवतार लिया करते हैं ॥४॥ तब मुनियोंने रामको बताया कि जबतक लवणासुरके हाथमें भाला रहेगा जबतक उसका हारना कठिन है इसलिये उसपर ऐसे समय आक्रमण करना चाहिए, जब उसके हाथमें भाला न हो ॥५॥ रामने उन मुनियोंकी रक्षाका भार शत्रुघ्नको इसलिए उठा सौंपा मानो शत्रुघ्नके हाथों शत्रुका संहार कराकर उनका शत्रुघ्न नाम सच्चा करा देना चाहते हों ॥६॥ जैसे व्याकरणमें कोई अपवादवाला सूत्र व्यापक नियमवाले सूत्रको भी उलट देता है वैसे ही रघुके वंशका बच्चा-बच्चा इतना बलवान् होता था कि वह शत्रुको पछाड़ सकता था ॥७॥ जब शत्रुघ्न निडर होकर रथपर जा चढ़े तब रामने उन्हें आ आशीर्वाद दिया और वे सुगन्धित वनोंकी छटा निहारते हुए चल पड़े ॥८॥ रामकी आज्ञासे शत्रुघ्नके साथ जो सेना गई वह वैसे ही व्यर्थ थी जैसे 'अध्ययन' शब्दमें 'इङ्' धातुके साथ लगा हुआ 'अधि' उपसर्ग (क्योंकि 'इङ्' का ही अर्थ अध्ययन होता है, उसमें अधिसे कोई विशेषता नहीं बढ़ती) । इसी प्रकार लवणासुरको भी शत्रुघ्न अकेले जीत सकते थे, चाहे सेना साथ जाती या न जाती ॥९॥ जैसे रथपर चढ़े हुए सूर्यको बालखिल्य नामके ऋषि लोग मार्ग दिखाते चलते हैं, वैसे ही रथपर चढ़े हुए शत्रुघ्नको भी मुनि लोग आगे-आगे मार्ग दिखाते चले जा रहे थे ॥१०॥ मार्गमें जाते हुए उन्होंने पहली रात तो वाल्मीकिके उस आश्रममें बिताई जहाँके मृग उनके रथकी ध्वनि सुनकर बड़े चावसे उधर देखने लगे थे ॥११॥ शत्रुघ्नके घोड़े भी थक गये

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् । तपः प्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः ।।१२।।
तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती। सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ।।१३।।
संतानश्रवणाद्भ्रातुःसौमित्रिःसौमनस्यवान्। प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ।।१४।
सच प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः । वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः ।।१५।।
धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः। क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जंगमः ।।१६।।
अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः। रुरोध संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ।।१७।।
नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम्। दिष्टचासि त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ।।१८।।
इति संतर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया। प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ।।१९।।
सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः । गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ।।२०।।
विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम्। प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् ।।२१।।
ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः । सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ।।२२।।
तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः । एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ।।२३।।

थे इसलिये रुकना आवश्यक हो गया । तब वाल्मीकिने अपनी तपस्याके प्रभावसे आतिथ्यकी सब सामग्री जुटाकर शत्रुघ्नका बड़ा सत्कार किया ।।१२।। उसी रात उनकी गर्भिणी भाभी सीताने दो तेजस्वी पुत्रोंको उसी प्रकार जन्म दिया जैसे पृथ्वी अपने राजाके लिये धन और सैन्य उत्पन्न करती है ।।१३।। भाईके पुत्र होनेकी बात सुनकर शत्रुघ्नका जी खिल उठा और अगले दिन तड़के ही वे हाथ जोड़कर मुनिसे आज्ञा लेकर रथपर चढ़कर आगे बढ़ चले ।।१४।। जिस समय वे मधूपघ्न नगरमें पहुँचे, उसी समय रावणकी बहन कुम्भीनसीका बेटा लवणासुर बहुतसे पशुओंको मारकर वनसे इस प्रकार लौटा चला आ रहा था, मानो वनने ही उसे यह सब भेंटमें दे डाला हो ।।१५।। उसका रंग धुएँ जैसा काला था, उसकी देहसे चर्बीकी गन्ध निकल रही थी, आगकी लपटोंके समान उसके बिखरे हुए बाल थे और उसके चारों ओर मांस खानेवाले राक्षस ही राक्षस चल रहे थे। इस प्रकार वह उस चिताकी अग्निके समान लग रहा था, जो धुएँसे धुँधली हो, जिसमेंसे चर्बीकी गन्ध निकलती हो, जिसमेंसे लपटें निकल रही हों और जिसके आसपास कुत्ते और गिद्ध आदि मांसभक्षी पशु-पक्षी घूम रहे हों ।।१६।। शत्रुघ्नने देखा कि यही अवसर ठीक है, क्योंकि इस समय इसके हाथमें भाला नहीं है। बस झट उन्होंने लवणासुरको घेर लिया, क्योंकि जो अपने शत्रुके शक्तिहीन होनेपर प्रहार किया करता है, वह अवश्य विजयी होता है ।।१७।। शत्रुघ्नको देखकर लवणासुर गरज उठा—'आज मेरे पास भोजनकी कम सामग्री थी, यह देखकर ब्रह्माने डरकर मेरा भोजन पूरा करनेके लिए तुम्हें ही यहाँ भेज दिया है' ।।१८।। यह कहकर उसने शत्रुघ्नको पछाड़ मारनेके लिये एक बड़ा भारी पेड़ ऐसे धीरेसे उखाड़ लिया जैसे मोथा उखाड़ लिया जाता है ।।१९।। लवणासुरने ज्योंही वह वृक्ष शत्रुघ्नपर फेंका त्योंही उन्होंने उसे बीचमें ही टुकड़े-टुकड़े कर डाला। इस प्रकार वह वृक्ष तो उनके शरीरतक नहीं पहुँच सका, केवल उसके फूलोंका पराग भर उनतक पहुँच पाया ।।२०।। उस वृक्षके टुक-टुक हो जानेपर उस राक्षसने एक ऐसी भयङ्कर शिला उठाकर शत्रुघ्नपर उठा फेंकी मानो वह साक्षात् यमराजका घूँसा ही हो ।।२१।। पर शत्रुघ्नने ऐन्द्र अस्त्र चलाकर उसे रेतेसे भी बारीक चूरा कर डाला ।।२२।। तब अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाए हुए शत्रुघ्नकी ओर झपटता हुआ वह राक्षस ऐसा लगा मानो बवडरसे उठाया हुआ कोई ऐसा पहाड़ चला आ रहा हो जिसकी चोटीपर ताड़का पेड़ खड़ा हो ।।२३।।

काष्र्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन्। आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम्॥२४॥
वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः। तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।२५।
स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः। भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः ॥२६॥
तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः। शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयावनतं शिरः ॥२७॥
उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः। निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥२८॥
या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः। स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता॥२९॥
तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम्। हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥३०॥
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत्। संचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि॥३१॥
स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया। कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥३२॥
साङ्गं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवौ। स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥३३॥
रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः। तद्वियोगव्यथां किंचिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥३४॥
इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः। तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन्द्विसूनवः ॥३५॥
शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते। मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥३६॥
भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात्। मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ।३७

वैष्णव बाण लगते ही वह राक्षस जब पृथ्वीपर गिरा तो उसके गिरनेसे ऐसी भयंकर धमक हुई कि धरती तो काँप उठी, पर आश्रमवासियोंका काँपना दूर हो गया ॥२४॥ मरे हुए शत्रुके ऊपर तो गिद्ध आदि पक्षी टूट पड़े और शत्रुघ्नके ऊपर स्वर्गसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥२५॥ शत्रुघ्न जब लवणासुरको मार चुके तब उन्हें यह बड़ा सन्तोष हुआ कि अब मैं मेघनादको मारनेवाले तेजस्वी लक्ष्मणका सचमुच सगा भाई हूँ ॥२६॥ जब तपस्वियोंका काम पूरा हो गया, तब वे शत्रुघ्नकी बड़ाई करने लगे, पर अपनी प्रशंसा सुनकर शत्रुघ्न शीलके मारे लाजसे गड़ गए ॥२७॥ तब पराक्रमी, संयमी और सुन्दर शत्रुघ्नने यमुनाके किनारे मथुरा नामकी बढ़िया नगरी ला बसाई ॥२८॥ अच्छा राजा पा लेनेसे उस नगरीके लोग ऐसे धनी और सुखी हो गये मानो स्वर्गमें जनसंख्या बढ़ जानेके कारण वहाँके कुछ लोग यहाँ ला बसाए गए हों ॥२९॥ शत्रुघ्नने मथुराके एक ऊँचे भवनपर चढ़कर उस नीले जलवाली यमुनाको देखा जिसमें बहुतसे चकवे चहचहा रहे थे। उस समय यमुना उन्हें ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ी मानो वह सुनहरे फुन्दों-वाली पृथ्वीकी चोटी हो ॥३०॥ इधर मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकिने दशरथ और जनक दोनोंके मित्र होनेके नाते सीताके पुत्रोंके जातकर्म आदि सब संस्कार बड़ी विधिसे पूरे कर डाले ॥३१॥ जेठे लड़के लवके उत्पन्न होते समय सीताकी प्रसव-पीडा गायकी पूँछके बालसे दूर हुई और छोटेके समय कुशसे। इसलिये वाल्मीकिने दोनों बच्चोंके नाम इन्हीं दोनों वस्तुओंके नामपर लव और कुश रख दिया ॥३२॥ जब वे बच्चे बड़े हुए तब ऋषिने उन दोनोंको वेद-वेदाङ्ग भी पढ़ाया और फिर उन्हें अपनी रचना आदि-काव्य रामायणका गाना भी सिखा दिया ॥३३॥ उन दोनों बालकोंने अपनी माताके आगे रामका यश गा-गाकर रामके वियोगकी उनकी सारी व्यथा दूर करके उनका बहुत मन बहलाया ॥३४॥ (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय) इन तीन अग्नियोंके समान तेजस्वी (भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन) तीनों भाइयोंने भी अपनी-अपनी पत्नियोंसे दो-दो पुत्र उत्पन्न किए ॥३५॥ शत्रुघ्न अपने बड़े भाइयोंसे मिलनेको आतुर थे इसलिये उन्होंने शत्रुघाती और सुबाहु नामक दो विद्वान् पुत्रोंको मथुरा और विदिशाका राज्य सौंप दिया ॥३६॥ शत्रुघ्न लौटते समय वाल्मीकिके उस तपोवनमें नहीं गए जहाँके मृग शान्त होकर

वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम्।लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम्।३८।
स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् । रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ।।३९।।
तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः । कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् ।।४०।।
स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न संततिम् । प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात्।।४१।।
अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् । अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ।।४२।।
शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता । रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता ।।४३।।
श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः। न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ।४४।
स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम् । यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया ।।४५।।
आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः । उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ।।४६।।
राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते । तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ।।४७।।
इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् । दिशः पपात पत्त्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ।।४८।।
अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् । ददर्श कंचिदैक्ष्वाकस्यन्तमधोमुखम् ।।४९।।

लव और कुशके गीत सुना करते थे, क्योंकि शत्रुघ्नने यह सोचा कि मेरे जानेपर वाल्मीकिजी अपनी सिद्धियोंके बलसे मेरे सत्कारकी सामग्री जुटाने लगेंगे, जिससे व्यर्थ ही उनकी तपस्याकी शक्ति कम हो जायेगी ।।३७।। वहाँसे चलकर जितेन्द्रिय शत्रुघ्न उस अयोध्यामें जा पहुँचे जहाँकी सड़कें उनके स्वागतमें बड़ी सुन्दरतासे सजाई गई थीं। वे लवणासुरको मारकर लौटे थे इसलिये पुरवासी उन्हें बड़े आदरसे देख रहे थे ।।३८।। राज-सभामें पहुँचकर उन्होंने देखा कि राम बैठे हुए हैं, बहुतसे सभासद् उनकी सेवा कर रहे हैं और सीताको छोड़ देनेपर अब वे एक मात्र पृथ्वीके ही स्वामी रह गए हैं ।।३९।। जैसे इन्द्रने प्रसन्न होकर कालनेमिको मारनेवाले विष्णुका स्वागत किया था वैसे ही लवणासुरको मारनेवाले शत्रुघ्न जब उन्हें प्रणाम करनेको झुके तब रामने भी उनका वैसा ही अभिनन्दन किया ।।४०।। रामके पूछनेपर उन्होंने और सब बातें तो कह सुनाई पर पुत्र होनेकी बात नहीं कही क्योंकि वाल्मीकिने उन्हें कह दिया था कि समय आनेपर हम स्वयं दोनों पुत्र रामको सौंप देंगे, तुम मत कहना ।।४१।। थोड़े दिनों पीछे एक दिन उसी जनपदका रहनेवाला एक ब्राह्मण अपने मरे हुए नवयुवक पुत्रको राजाकी ड्योढ़ीपर गोदसे उतारकर रखते हुए यह कह-कहकर फूटकर रोने लगा ।।४२।। 'अहो पृथ्वी ! तुम दशरथके हाथसे छूटकर रामके हाथमें आकर बड़े कष्टमें पड़ गई हो। तुम्हारी दशा बड़ी शोचनीय हो गई है' ।।४३।। प्रजापालक रामने जब उसके शोककी बात सुनी तब उन्हें बड़ी लज्जा आई क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राज्यमें किसीकी भी अकाल-मृत्यु नहीं होती थी ।।४४।। रामने उस दुखी ब्राह्मणको यह कहकर ढाढस बँधाया कि तुम थोड़ी देर ठहरो मैं अभी तुम्हारा शोक दूर किए देता हूँ। यह कहकर यमराजको जीतनेकी इच्छासे उन्होंने पुष्पक विमानको स्मरण किया ।।४५।। जब वे अस्त्र-शस्त्रसे लैस होकर पुष्पक विमानपर बैठकर चलने लगे तब यह आकाशवाणी सुनाई पड़ी—।।४६।। 'राजन् ! आपकी प्रजामें कुछ (वर्ण-धर्म सम्बन्धी) दोष आ गया है, उसे खोजकर दूर करो, तभी तुम्हारा उद्देश्य पूरा होगा' ।।४७।। इस विश्वास-भरे वचनको सुनकर वेगसे चलनेके कारण काँपती हुई ध्वजावाले पुष्पक विमानपर चढ़कर राम यह देखनेके लिये सब दिशाओंमें चक्कर काटने लगे कि वर्ण-धर्ममें कहाँ दोष आया है ।।४८।। घूमते-घूमते एक स्थानपर राम क्या देखते हैं कि एक पेड़की शाखापर उलटा लटका हुआ एक मनुष्य नीचे

पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः । आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम्॥५०॥
तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् । शीर्षच्छेद्यं परिच्छद्य नियन्ता शस्त्रमाददे॥५१॥
स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् । ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत्।५२।
कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् । तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥५३॥
रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदर्शितात्मना । महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥५४॥
कुम्भयोनिरलंकारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् । ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥५५॥
तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना । पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः॥५६॥
तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः । स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥५७॥
तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः । मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥५८॥
दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः । न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि५९।
उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ । अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥६०॥

जलती हुई आगका धुआँ पी-पीकर तप कर रहा है और धुआँ लगते रहनेसे उसकी आँखें लाल हो गई हैं ॥४९॥ रामने उससे पूछा —'आपका नाम क्या है और आप किस वंशके हैं ?' वह तपस्वी बोला —'मैं देवपद पानेके लिये तप कर रहा हूँ । मेरा नाम शम्बूक है और मैं शूद्र हूँ'॥५०॥ शूद्रोंको तप करनेका अधिकार नहीं है । इसी अनाधिकारका काम करनेसे प्रजामें पाप फैल रहा था । इसलिये रामने निश्चय कर लिया कि इसका वध करना ही होगा । उन्होंने हाथमें शस्त्र उठा लिया ॥५१॥ और उसका सिर उसी प्रकार गले परसे काट उतारा जैसे कमलकी डंडी परसे कमल उतार लिया गया हो । आगकी चिनगारियोंसे झुलसी दाढ़ीवाला उसका सिर ऐसा लग रहा था जैसे पालेसे जली हुई केसरवाला कमलगट्टा हो ॥५२॥ राजासे दण्ड पानेके कारण शूद्रको वह सद्‌गति मिल गई जो वह अपने उस कठोर तपसे कभी न पाता जो वह अपने वर्ण-धर्मका उल्लङ्घन करके चाह रहा था ॥५३॥ जैसे चन्द्रमा शरद् ऋतुसे जा मिलता है वैसे ही रामको मार्गमें अगस्त्य ऋषि मिल गए ॥५४॥ ऋषिने उन्हें वे सुन्दर आभूषण दे डाले, जो उन्हें समुद्रने उस समय दण्डके रूपमें दिए थे, जब उन्होंने समुद्रको पी डाला था ॥५५॥ रामने वे आभूषण लेकर अपनी उन भुजाओंमें बाँध लिए, जो सीताके वन चले जानेसे सीताके कण्ठमें पड़नेसे वंचित हो रहे थे । जब राम अयोध्या लौटे, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके आनेसे पहले ही ब्राह्मणका पुत्र जी उठा था ॥५६॥ पुत्रके जी उठनेपर उस ब्राह्मणने रामकी बड़ी स्तुति की और पहले जो निन्दा की थी, उसे अपनी स्तुतिसे धो डाला, क्योंकि रामने उसके पुत्रको यमराजके हाथोंसे जा छुड़ाया था ॥५७॥ कुछ दिन पीछे रामने अश्वमेध यज्ञके लिये घोड़ा छोड़ दिया । जैसे बादल धानके खेतपर जल बरसाते हैं वैसे ही सुग्रीव-विभीषण आदिने आकर रामके आगे भेंटके धनकी वर्षा कर दी ॥५८॥ यज्ञके लिये रामने तीनों लोकोंके ऋषियोंको आमंत्रित कर रक्खा था, इसलिये वे ऋषि पृथ्वीसे ही नहीं, वरन् सप्तर्षि-मण्डल आदि दिव्य स्थानोंसे भी रामके पास आ गए थे ॥५९॥ सभी लोग नगरके आस-पासके देहातोंमें आ टिके थे जब वे अयोध्याके चारों द्वारोंसे नगरमें पैठे तब चार द्वारोंवाली वह अयोध्या ऐसी जान पड़ने लगी, मानो तत्काल सृष्टि करनेवाले ब्रह्माकी चतुर्मुखी मूर्ति हो ॥६०॥ सीताके त्यागसे रामकी एक यह भी प्रशंसा हुई कि रामने किसी दूसरी स्त्रीसे अपना विवाह न करके यज्ञमें सोनेकी सीता बनाकर अपनी पत्नीके स्थानपर उसे बैठा दिया था ॥६१॥ इस प्रकार वह प्रसिद्ध यज्ञ प्रारम्भ हुआ, जिसमें आवश्यकतासे अधिक तो सामग्री इकट्ठी

श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः। अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जायाहिरण्मयी
विधेरधिकसंभारस्ततः प्रववृते मखः । आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥६२॥
अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः । मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥६३॥
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किंनरस्वनौ। किं तद्येन मनो हर्तुमलंस्यातां न शृण्वताम्।६४।
रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम् । ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ।।६५॥
तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ । हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥६६॥
वयोवेषविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा। जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठिपत्॥६७॥
उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिष्मिये । नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥६८॥
गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः। इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम्॥६९॥
अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् । ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥७०॥
स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ। कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः संपरिग्रहम्॥७१॥
तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि। दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः।७२॥
ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली। ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥७३॥
इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः। शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥७४॥

हुई थी और बिशेषता यह थी कि यज्ञ-क्रियामें विघ्न करनेवाले राक्षस ही उसकी रखवाली कर रहे थे ॥६२॥ तब वाल्मीकिकी आज्ञासे सीताजीके पुत्र लष और कुश उनका बनाया हुआ रामायण गाते हुए इधर-उधर घूमने लगे ॥६३॥ एक तो रामका चरित, उसपर वाल्मीकि उसके रचयिता और फिर किन्नरोंके समान मधुर कण्ठवाले लव और कुश उसके गायक, तब बताइए उसमें रह ही क्या गया था कि लोग सुनकर लट्टू न हो जाते ॥६४॥ रामके कानोंतक भी यह बात जा पहुँची। उन्होंने बालकोंको बुला भेजा और अपने भाइयोंके साथ उन दोनों बालकोंके रूप और गीतकी मधुरताको आश्चर्यके साथ देखा और सुना ॥६५॥ सारी सभा गूँगी होकर उनका गीत सुनती जा रही थी और आँखोंसे आँसू बहाती जा रही थी। उस समय वह सभा प्रातःकालकी उस शान्त वनस्थलीके समाम दिखाई देने लगी थी, जिसमें वृक्षोंसे टपटप ओसकी बूंदें गिरी पड़ रही हों ॥६६॥ लोगोंने एकटक होकर राम और उन दोनों बालकोंका एकदम मिलता-जुलता वह रूप देखा, जिसमें अन्वर इतना ही था कि वे दोनों अभी कुमार थे तथा वनवासियोंके-से वस्त्र पहने हुए थे और राम प्रौढ थे तथा राजसी वस्त्र पहने हुए थे ॥६७॥ जनताको इनके गानेका कौशल देखकर उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना इस बातपर हुआ कि राजाने उन्हें प्रेमसे जो दान दिया था वह भी उन्होंने लौटा दिया ॥६८॥ जब रामने उनसे पूछा कि तुम्हें किसने संगीत सिखाया है और यह किस कबिकी रचमा है, तब उन्होंने वाल्मीकिका नाम बता दिया ॥६९॥ अपने भाइयोंको साथ लेकर वाल्मीकिके पास राम जा पहुँचे। उन्होंने वाल्मीकिके पास जाकर अपनेको छोड़कर शेष सारा राज्य उन्हें भेंट कर दिया ॥७०॥ दयालु ऋषिने रामसे कहा कि ये दोनों गायक कुमार सीताके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं और तुम्हारे पुत्र हैं। अब तुम्हें चाहिए कि सीताको स्वीकार कर लो ॥७१॥ रामने कहा कि आपकी पतोहू सीता हमारे सामने ही अग्निमें शुद्ध हो चुकी हैं, पर रावणकी दुष्टताका विचार करके यहाँकी प्रजाको विश्वास नहीं होता ॥७२॥ इसलिये यदि सीता अपनी शुद्धताका प्रमाण देकर प्रजाको विश्वास दिलावें, तब मैं आपकी आज्ञासे पुत्रोंके साथ उन्हें ग्रहण कर लूँगा ॥७३॥ रामकी ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकिने शिष्योंको भेजकर सीताको इस प्रकार बुलाया मानों वे नियमोंके द्वारा अपनी सिद्धि ही बुला रहे

अन्येद्युरथ काकुत्स्थः संनिपात्य पुरौकसः । कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥७५॥
स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया । ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥७६॥
काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा । अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥७७॥
जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः। तस्थुस्तेऽवाङ्मुखा सर्वे फलिता इव शालयः ॥७८॥
तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः। कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥७९॥
अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः। आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ।८०।
वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे । तथा विश्वंभरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ।८१।
एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः। शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ।८२।
तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषदुषी । समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुंधरा ॥८३॥
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्राणिहितेक्षणाम्। मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ८४
धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः । गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥८५॥
ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥८६॥
युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम् । ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥८७॥
भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम्। आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥८८॥

हों ॥७४॥ दूसरे दिन रामने इस कामके लिये प्रजाको इकट्ठा करके वाल्मीकिको बुला भेजा ॥७५॥ लव, कुश और सीताको साथ लेकर रामके आगे वाल्मीकि आ उपस्थित हुए। पुत्रोंके साथ रामके पास जाती हुई सीता ऐसी लगती थीं, मानो सूर्यके पास स्वर और संस्कारोंके साथ गायत्री चली जा रही हों ॥७६॥ गेरुए वस्त्र पहने और अपनी आँखें नीची किए हुए सीता अपने शान्त शरीरसे ही पवित्र दिखाई दे रही थीं ॥७७॥ उन्हें देखते ही सब लोगोंने उसी प्रकार अपनी आँखें नीची कर लीं जैसे फले हुए धानके कलम झुक जाते हैं क्योंकि उन्हें लज्जा लगी कि हम लोगोंने व्यर्थ ही इस साध्वीपर कलंक लगाया ॥७८॥ आसनपर बैठे हुए वाल्मीकिने सीतासे कहा—'बेटी ! जनताके मनमें तुम्हारे चरित्रके विषयमें जो सन्देह है वह तुम अपने पतिके आगे ही मिटा दो' ॥७९॥ वाल्मीकिके शिष्यने पवित्र जल लाकर सीताको दिया और उसका आचमन करके सीताने यह सत्य वचन कहा ॥८०॥ 'यदि मैंने मन, वचन, कर्म किसी प्रकारसे भी अपना पतिव्रत भङ्ग न किया हो तो धरती माता ! तुम मुझे अपनी गोदमें समा लो' ॥८१॥ पतिव्रता सीताके ऐसा कहते ही घड़घड़ाकर पृथ्वी फट गई और उसमेंसे बिजलीके समान चमकीला एक तेजोमण्डल निकल उठा ॥८२॥ उसमेंसे नागके फणपर रक्खे हुए सिंहासनपर बैठी हुई, समुद्रकी तगड़ी पहने साक्षात् धरती माता आ प्रकट हुईं ॥८३॥ उन्होंने उन सीताको अपनी गोदमें ले लिया, जो रामकी ओर टकटकी बाँधे खड़ी थीं। राम कहते ही रह गए—'हैं हैं ! यह क्या करती हो, यह क्या करती हो ?' पर वे सबके देखते-देखते पातालमें जा समाईं ॥८४॥ रामको पृथ्वीपर इतना क्रोध आया कि पृथ्वीसे सीताको लौटा लेनेके लिये उन्होंने अपना धनुष् तक उठा सँभाला, पर ब्रह्मा तो सब कुछ जानते ही थे, उन्होंने आकर रामको समझाकर उनका क्रोध शान्त किया ॥८५॥ किसी-किसी प्रकार वह यज्ञ समाप्त हुआ और यज्ञ हो जानेपर रामने सब ऋषियोंको छुट्टी भी दे दी। अब वे अपने पुत्रोंसे ही उतना प्रेम करने लगे, जितना सीतासे किया करते थे ॥८६॥ प्रजापालक रामने भरतके मामा युधाजित्के कहनेपर सिन्धु देशका राज्य प्रभावशाली भरतको दे दिया ॥८७॥ भरतने गन्धर्वोंको जीतकर उनके हाथमें केवल वीणा तो रहने दी, किन्तु धनुष् छुड़वा दिया ॥८८॥ उन्होंने तक्ष और पुष्कल नामके योग्य पुत्रोंको,

स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्यास्तदाख्ययोः। अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः ८९
अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसंभवौ। शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥९०॥
इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः। भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥९१॥
उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम्। रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥९२॥
तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः। आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥९३॥
विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत्। भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसंदर्शनार्थिनः ॥९४॥
स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित्। चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥९५॥
तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि। राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥९६॥
स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम्। शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ॥९७॥
उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः। अन्वितः पतिवात्सल्याद्गृहवर्जमयोध्यया ॥९८॥
जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः। कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः ॥९९॥
उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना। चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥१००॥

तक्ष (तक्षशिला) और पुष्कल (पेशावर) राजधानियोंका राजा बना दिया और स्वयं रामके पास लौट आए ॥८९॥ रामकी आज्ञासे लक्ष्मणने अङ्गद और चन्द्रकेतु नामके अपने दोनों पुत्रोंको कारापथका राजा बना दिया ॥९०॥ इस प्रकार पुत्रोंको राज्य देकर उन चारोंने अपनी स्वर्गीया माताओंके श्राद्ध आदि संस्कार पूरे कर दिए ॥९१॥ यह सब हो चुकनेपर एक दिन रामके पास मुनिका वेश बनाकर काल आकर बोला— 'मैं आपसे एकान्तमें कुछ बातें करना चाहता हूँ। जो भी कोई हम लोगोंकी बातचीतके बीचमें आने उसे आप देशनिकाला दे दीजिए' ॥९२॥ रामने कहा — 'अच्छी बात है।' तब उसने अपना सच्चा रूप खोल दिखाया और कहा कि 'ब्रह्माकी आज्ञा है कि अब आप चलकर वैकुण्ठमें रहें' ॥९३॥ यह बात हो ही रही थी कि इसी बीच दुर्वासा कहींसे आ धमके। उन्होंने द्वारपर बैठे हुए लक्ष्मणसे कहा कि अभी जाकर रामसे कहो कि मैं आया हूँ, नहीं तो तुम्हारे कुलको अभी शापसे भस्म कर दूँगा। लक्ष्मण जानते ही थे कि जो इस समय रामके पास जायगा, उसे देश-निकाला दे दिया जायगा फिर भी बातचीतके बीचमें पहुँचकर उन्होंने सूचना दे ही दी ॥९४॥ वहाँसे लौटकर योग जाननेवाले लक्ष्मणने सरयूके किनारे जाकर योग-बलसे शरीर छोड़कर, बड़े भाईकी प्रतिज्ञाकी रक्षा कर ली ॥९५॥ अपने चौथाई अंश लक्ष्मणके स्वर्ग चले जानेपर राम उसी प्रकार ढीले पड़ गए जैसे पृथ्वीपर त्रेता युगमें तीन पैरवाला धर्म ढीला पड़ जाता है ॥९६॥ स्थिर बुद्धिवाले रामने शत्रु-रूपी हाथियोंके लिये अंकुशके समान भयदायक कुशको कुशावतीका राज्य दे दिया और अपने मधुर वचनोंसे सज्जनोंकी आँखोंसे आँसूकी धार बहानेवाले लवको उन्होंने शरावतीका राजा बना दिया ॥९७॥ फिर अग्निहोत्रकी अग्नि आगे करके भाइयोंके साथ वे उत्तरकी ओर चल पड़े। जब अयोध्यावासियोंने यह सुना तो रामके प्रेममें वे सब भी केवल अपने-अपने घर पीछे छोड़कर उनके साथ हो लिए ॥९८॥ रामके मनकी बात जाननेवाले वानर और राक्षस भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े। राम जिस मार्गसे चले जा रहे थे वह सारा मार्ग रामके पीछे-पीछे जानेवाली जनताके आँसुओंसे गीला हो चला ॥९९॥ भक्तोंपर कृपा करनेवाले राम विमानपर चढ़कर स्वर्ग चले गए और सरयूको उन्होंने अपने पीछे आनेवालोंके लिये स्वर्गकी सीढ़ी बना दिया (जो सरयूमें स्नान करता था वह तुरन्त स्वर्ग चला जाता था) ॥१००॥ वहाँ स्नान करनेवालोंकी वैसी ही भीड़ जुट गई जैसी

यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्संमर्दस्तत्र मज्जताम् । अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥१०१॥
स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिषन्नात्ममूर्तिषु । त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥१०२॥
निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणाम् विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथंपवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥१०३॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
'रामस्वर्गारोहणो' नाम पञ्चदशः सर्गः ॥

पार कराते समय गौओंकी भीड़ हो जाती है, इसलिये उस पवित्र तीर्थका नाम ही संसारमें गोप्रतर प्रसिद्ध हो गया ॥१०१॥ उधर देवताओंके अंशधारी रीक्ष और वानरोंने भी अपना-अपना देवरूप धारण कर लिया था, इसलिये स्वर्गमें इतने लोग जा पहुँचे कि सामर्थ्यशाली रामको देवपद प्राप्त करनेवाले अयोध्यावासियोंके रहनेके लिये एक दूसरा स्वर्ग बना देना पड़ा ॥१०२॥ इस प्रकार विष्णु भगवान्‌ने रावणका वध करके देवताओंका सारा कार्य पूरा किया और उत्तरगिरि हिमालयपर हनुमान्‌को तथा दक्षिणगिरि चित्रकूटपर विभीषणको अपने दो कीर्तिस्तम्भोंके रूपमें स्थापित करके तीनों लोकोंको धारण करनेवाले भगवान् अपने विराट् शरीरमें जा लीन हुए ॥ १०३ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें 'रामका स्वर्गारोहण'
नामका पन्द्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ षोडशः सर्गः ॥

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च ।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥
ते सेतुवार्त्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥
चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥
अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः ।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत ॥ ४ ॥
सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः ।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥ ५ ॥
अथानपौढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम् ।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥ ६ ॥
लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ ७ ॥
का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ८ ॥

सोलहवाँ सर्ग

लव आदि सात रघुवंशी वीरोंने अपने सबसे बड़े भाई कुशको अपना मुखिया बना लिया क्योंकि भ्रातृप्रेम तो उनके कुलका धर्म ही था ॥१॥ वे सबके सब पुल बाँधने, कृषिकी रक्षा करने और हाथियोंको इकट्ठा करनेमें कुशल थे । फिर भी जैसे समुद्र अपने तटका उल्लङ्घन नहीं करता वैसे ही उनमेंसे किसीने भी अपने राज्यकी सीमा लाँघकर दूसरे भाईके राज्यकी सीमामें प्रवेश करनेका यत्न नहीं किया ॥२॥ जैसे सामवेदके कुलमें उत्पन्न मतवाले दिग्गजोंका कुल आठ भागोंमें बँट गया था वैसे ही विष्णुके अंशसे उत्पन्न हुए रामका दानी कुल भी आठ भागोंमें जा फैला ॥३॥ एक दिन आधी रातको, जब शयन-गृहका दीप टिमटिमा रहा था और सब लोग सोए पड़े थे, कुशको एक स्त्री दिखाई दी; जिसे पहले कभी उन्होंने नहीं देखा था, पर उसका वेश देखनेसे जान पड़ता था कि उसका पति परदेश चला गया है ॥४॥ अपनी सम्पत्तिसे सज्जनोंका उपकार करनेवाले, इन्द्रके समान तेजस्वी और शत्रुओंको जीतनेवाले कुशके आगे वह स्त्री अचानक हाथ जोड़कर आ खड़ी हुई ॥५॥ जैसे दर्पणमें मुँहका प्रतिबिम्ब पैठ जाता है, वैसे ही द्वार बन्द रहनेपर भी वह स्त्री घरके भीतर आ पहुँची थी । उसे देखकर कुशको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे शय्यापर आधे उठँगकर उससे बोले—॥६॥ 'तुम हमारे इस बन्द कक्षमें घुस तो आई हो, पर तुम्हारे मुखसे यह नहीं प्रकट होता कि तुम योगिनी हो, क्योंकि तुम पालेसे मारी हुई कमलिनीके समान बड़ी उदास दिखाई दे रही हो ॥७॥ बताओ शुभे ! तुम कौन हो । तुम्हारे पतिका क्या नाम है और मेरे पास किसलिए आई हो ? देखो, तुम यह समझ बूझकर मुँह खोलना कि रघु-

तमब्रवीत्सा गुरुणानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
तस्याः पुरः संप्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ।। ९ ।।
वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या ।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ।। १० ।।
विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ।। ११ ।।
निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ।। १२ ।।
आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ।। १३ ।।
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्तादवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ।। १४ ।।
सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ।। १५ ।।
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ।। १६ ।।

वंशियोंका चित्त पराई स्त्रीकी ओर कभी नहीं जाता' ।।८।। उस स्त्रीने उत्तर दिया—'राजन् ! जब भगवान् राम वैकुण्ठ जाने लगे, तब जिस निर्दोष अयोध्यापुरीके निवासियोंको वे अपने साथ लेते चले गये, उसी अनाथ अयोध्यापुरीकी मैं नगरदेवी हूँ ।।९।। पहले अच्छा राज होनेके कारण मैं इतनी ऐश्वर्यशालिनी हो गई थी कि मेरे आगे कुबेरकी अलकापुरी भी फीकी लगती थी, पर आजकल तुम्हारे जैसे प्रतापी राजाके रहते हुए भी मेरी बड़ी बुरी दशा हो गई है ।।१०।। गृहस्वामिनियोंके न रहनेसे कोठे-अटारियोंके टूट जानेके कारण मेरी निवासभूमि अयोध्या ऐसी उदास लगती है जैसे सूर्यास्तके समय वह सन्ध्या, जिसमें वायुके वेगसे इधर-उधर छितराए हुए बादल दिखाई दे रहे हों ।।११।। रातके समय पहले जिन सड़कोंपर चमकते हुए बिछुओंवाली अभिसारिकाएँ चला करती थीं, उन्हींपर आजकल ऐसी सियारिनें घूमती हैं, जिसके मुखसे चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकली पड़ती हैं ।।१२।। नगरकी जिन बावड़ियोंका जल पहले जलक्रीडा करनेवाली सुन्दरियोंके हाथके थपेड़ोंसे मृदङ्गके समान गम्भीर शब्द किया करता था, वह आजकल जङ्गली भैंसोंकी सींगोंकी चोटोंसे कान फोड़े डालता है ।।१३।। अड्डोंके टूट जानेसे यहाँके मोर अब वृक्षोंपर जा जाकर बैठा करते हैं और मृदङ्ग न बजनेके कारण उन्होंने नाचना भी बन्द कर दिया है। अब वे वन जंगली मोरोंके समान लगने लगे हैं, जिनकी पूँछें वनकी आगसे झुलस गई हों ।।१४।। और क्या कहूँ, पहले जिन सीढ़ियोंपर सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल-लाल पैर रखती चलती थीं, उन्हींपर मृग मारनेवाले बाघ अपने रक्तसे सने लाल पैर रखते चलते हैं ।।१५।। जिन चित्रोंमें यह दिखाया गया था कि हाथी कमलके तालमें उतर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें सूँड़से कमलके डंठल तोड़कर दिए दे रही हैं, उन चित्रित हाथियोंके मस्तकोंको सिहोंने सच्चे हाथीका मस्तक समझकर नखोंसे फाड़ डाला है ।।१६।। जिन बहुतसे खंभोंपर स्त्रियोंकी मूर्तियाँ

स्तम्भेषु योषित्प्रतिमास्तनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ १७ ॥
कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥ १८ ॥
आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥ १९ ॥
रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥ २० ॥
बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ २१ ॥
तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते मरमात्ममूर्तिम् ॥ २२ ॥
तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥ २३ ॥
तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृतगभ्यनन्दन् ॥ २४ ॥

बनी हुई थीं उन मूर्तियोंका आजकल सारा रंग उड़ गया है। उन खंभोंको चन्दनका वृक्ष समझकर जो साँप उनसे जा लिपटे थे, उनकी केचुलें छूट-छूटकर उन मूर्तियोंसे सट जानेके कारण वे ऐसी लगती हैं- मानो उन पत्थरकी स्त्रियोंने स्तन ढकनेके लिये कोई कपड़ा डाल लिया हो ॥१७॥ जिन भवनोंपर कभी मोतीकी मालाके समान शुभ्र चाँदनी चमका करती थी, उनपर अब चाँदनी भी नहीं चमकती, क्योंकि बहुत दिनोंसे मरम्मत न होनेके कारण कोठोंके चूनेका रंग काला पड़ गया है और उनपर जहाँ-तहाँ घास जम आई है ॥१८॥ पहले उद्यानकी जिन लताओंको धीरेसे झुकाकर सुन्दरी स्त्रियाँ फूल उतारा करती थीं, उन प्यारी लताओंको जंगली म्लेच्छोंके समान उत्पाती बन्दर झकझोरे डाल रहे हैं ॥१९॥ आजकल अटारियोंके झरोखोंसे न तो रातको दीपकोंकी किरणें झलकती हैं, न दिनमें सुन्दरियोंका मुख दिखाई देता है और न कहींसे अगरका धुँआ ही निकलता है। अब वे सब झरोखे मकड़ियोंके जालोंसे ढक गए हैं ॥२०॥ मुझे यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि अब न तो सरयूके घाटोंपर देवताओंके लिये बलि दी जाती है और न स्त्रियोंके स्नान करनेसे उसमेंसे अंगराग आदिकी गन्ध ही निकल रही है। यहाँतक कि सरयूके तटपर बनी हुई बेंतकी झोपड़ियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं ॥२१॥ इसलिये जैसे तुम्हारे पिता रामने राक्षसोंको मारनेके लिये जो मनुष्य शरीर धारण किया था, उसे छोड़कर परमात्मामें पहुँच गए वैसे ही तुम भी इस नई राजधानी कुशावतीको छोड़कर अपनी कुलपरंपराकी राजधानी अयोध्यामें चलकर आ रहो' ॥२२॥ कुशने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा—'ठीक है ऐसा ही करेंगे।' यह सुनकर अयोध्याकी नगरदेवी भी तुरंत अन्तर्धान हो गई ॥२३॥ राजाने रातकी वह अचरजभरी घटना प्रातःकाल सभामें ब्राह्मणोंसे आ कही। यह सुनकर ब्राह्मणोंने उनकी बड़ी प्रशंसा की कि आप धन्य हैं, जिन्हें कुल-राजधानीने अपनी इच्छासे अपना पति चुन बुलाया है ॥२४॥ उन्होंने कुशावती

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥
सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः ।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जंगमराजधानी ॥ २६ ॥
तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥ २७ ॥
तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुंधरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥ २८ ॥
उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥ २९ ॥
तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरंगमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥ ३० ॥
मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥ ३१ ॥
स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥ ३२ ॥
तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नवालव्यजनीब भूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥ ३३ ॥

तो वेदपाठी ब्राह्मणोंको सौंप दी और जैसे वायुके पीछे-पीछे बादल चलते हैं वैसे ही पीछे चलनेवाली सेनाके साथ शुभ मुहूर्तमें अयोध्याके लिए प्रस्थान कर दिया ॥२५॥ यात्राके समय चलती हुई कुशकी सेना चलती-फिरती राजधानीके ही समान लगती थी, क्योंकि उसका ध्वजाओंवाला भाग लतावाले उपवनों जैसा लग रहा था, बड़े-बड़े हाथी बनावटी पर्वतों-जैसे जान पड़ते थे और रथ ऊँची-ऊँची अटारियों-जैसे लग रहे थे ॥२६॥ जैसे चन्द्रमा उदित होकर समुद्रको तटतक खींच लाता है, वैसे ही श्वेत छत्रधारी कुश भी अपनी सेनाको रघुकुलकी पुरानी राजधानी अयोध्याकी ओर लिवा ले चले ॥२७॥ चलते समय कुशकी सेनाका भार पृथ्वी सँभाल नहीं सकी, इसीलिये उड़ती हुई धूल ऐसी जान पड़ रही थी मानो पृथ्वी विष्णुके दूसरे पद (आकाश)-में जा पहुँची हो ॥२८॥ कुशावती-से चलती हुई या आगेके पड़ावपर पहुँची हुई या मार्गमें चलनेवाली जितनी भी कुशकी सेनाकी टुकड़ियाँ थीं, वे सबकी सब पूरी सेना ही प्रतीत होती थीं ॥२९॥ कुशके हाथियोंके मदजलसे मार्गकी धूल कीचड़ बन गई और कीचड़ भी घोड़ोंकी टापोंसे धूल बन गई ॥३०॥ मार्ग भूल जानेके कारण वह सेना विन्ध्याचलके आस-पास मार्ग ढूँढ़ने लगी और कई भागोंमें बँट गई। उस सेनाने नर्मदाके समान जो गम्भीर गर्जन किया, उससे पर्वतकी गुफाएँ भी गूँज उठीं ॥३१॥ गेरू आदि धातुओंसे जिसके रथके पहिए लाल हो गए थे और जिसकी चलती हुई सेनाके शब्दसे तुरहीके शब्द भी दब गए थे, वह कुश, विन्ध्याचलवासी किरातोंके हाथसे पाई हुई भेंटकी सामग्रियाँ देखते हुए आगे बढ़ चले ॥३२॥ वहाँ पास ही उलटी पश्चिमकी ओर बहनेवाली गङ्गापर हाथियोंका पुल बनाकर जब वे पार उतरने लगे, तब आकाशमें जो चञ्चल पंखोंवाले हंस उड़ते थे, वे कुशपर डुलते हुए चँवरके समान लग रहे थे ॥३३॥ कुशने नावोंके चलनेसे चंचल

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुराऽऽलयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौ लुलितं ववन्दे ॥ ३४ ॥
इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्वितसाध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥ ३५ ॥
आधूयशाखाःकुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान् ।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥ ३६ ॥
अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा ।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥ ३७ ॥
तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात् ।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥ ३८ ॥
ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥ ३९ ॥]
तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं संभावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४० ॥
सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।
पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥ ४१ ॥
वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥ ४२ ॥

जलवाली गङ्गाको जा प्रणाम किया, क्योंकि कपिलके कोपसे जले हुए उनके पूर्वज सगरके पुत्र उसीके जलकी कृपासे तो स्वर्ग पहुँचे थे ॥३४॥ इस प्रकार मार्गमें कुछ दिन बिताकर कुश भी सरयूके किनारे जा पहुँचे, जहाँ पहुँचनेपर उन्हें बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले रघुवंशी राजाओंके गाड़े हुए सैकड़ों यज्ञके खम्भे दिखाई दिए ॥३५॥ अयोध्याके उपवनोंमें फूले हुए वृक्षोंकी डालियोंको हिलाता हुआ तथा सरयूके शीतल जलके स्पर्शसे ठण्डे वायुने आगे बढ़कर थकी हुई सेनाका बड़ा स्वागत किया ॥३६॥ शत्रुविनाशक, प्रजा-हितैषी राजाने फहराती हुई ध्वजावाली अपनी सेनाको नगरके आस-पासके स्थानोंमें ला ठहराया ॥३७॥ जैसे इन्द्रकी आज्ञासे बादल जल बरसाकर गरमीसे तपी हुई पृथ्वीको हरा-भरा कर देते हैं, वैसे ही कुशकी आज्ञासे कारीगरोंने अपने यन्त्रोंकी सहायतासे अयोध्याका कायापलट कर दिया ॥३८॥ फिर व्रत और उपवास करनेवाले वास्तु-विद्याके पण्डितोंसे रघुवीर कुशने अनमोल मूर्तियोंसे भरे घरोंवाली अयोध्याका विधिपूर्वक पूजन कराया और पशुओंका बलिदान भी कराया ॥३९॥ जैसे कामी पुरुष स्त्रीके हृदयमें पैठ जाता है, वैसे ही कुश भी अयोध्याके राजभवनमें जा प्रविष्ट हुए और उन्होंने अपने मन्त्रियों आदिके रहनेके लिये दूसरे बहुतसे भवन दे दिए ॥४०॥ अयोध्याकी हाटोंमें सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ बिकनेको ला सजाई गईं, घुड़सालमें घोड़े मँगा बाँधे गए, हथसारोंके खम्भोंसे हाथी ला बाँधे गए। इस प्रकार वह नगरी ऐसी सुन्दर लगने लगी जैसे गहनोंसे सजी-धजी कोई स्त्री हो ॥४१॥ अयोध्या फिर पहले-जैसी सुन्दर लगने लगी। उसमें निवास करके जानकीके पुत्र कुशको ऐसा सुख मिला कि न तो उन्हें सुन्दर-सुन्दर अप्सराओंसे भरे स्वर्गके स्वामी बननेकी इच्छा रह गई और न असंख्य रत्नोंवाली अलकापुरीको ही

अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेवमिवोपदेष्टुम् ॥ ४३ ॥
अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते ।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥ ४४ ॥
प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥ ४५ ॥
दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥ ४६ ॥
वनेषु सायंतनमल्लिकानां बिजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदःसशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ ४७ ॥
स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ ४८ ॥
यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ ४९ ॥
स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायंतनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ ५० ॥
आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥ ५१ ॥

लेनेकी ॥४२॥ इतनेमें ग्रीष्म ऋतु आ गई, जिसने मानो इन्हें अपनी उस प्रियाका स्मरण आ कराया हो, जिसकी ओढ़नीमें रत्न लगे हों, जिसके गोरे-गोरे स्तनोंपर मोतियोंका हार लटका हो और जो साँससे उड़नेवाले महीन कपड़े पहने हुए हो ॥४३॥ गर्मीमें जो हिम गलने लगा, वह ऐसा लगता था मानो दक्षिण दिशासे सूर्यके लौट आनेकी प्रसन्नतामें उत्तर दिशाने आनन्दके ठंडे आँसुओंके समान पानीकी ठंडी धारा हिमालयसे गिरा बहाई हो ॥४४॥ अत्यन्त सन्तापसे भरे दिन और अत्यन्त छोटी रातें, ये दोनों उन पछताते हुए पति-पत्नीके समान दिखाई देने लगे, जो आपसमें झगड़ा करके एक दूसरेसे रूठे बैठे हों ॥४५॥ गर्मीके कारण घरकी बावड़ियाँ भी सेवार जमी हुई सीढ़ियोंको छोड़कर पीछे हटने लगीं (अर्थात् उनका पानी सूखने लगा), उनमें कमलकी डंडियाँ दिखाई देने लगीं और पानी घटकर कुल स्त्रियोंकी कमर-तक ही रह गया ॥४६॥ वनोंमें चमेली खिलकर अपनी सुगन्ध चारों ओर फैलाने लगी और सन्ध्याको उसके एक-एक फूलपर बैठकर गुनगुनाते हुए भौंरे मानों उसके फूलोंकी गिनती करने लग रहे हों ॥४७॥ स्त्रियोंके गालोंपर प्रियतमके हाथोंसे बने नखक्षतोंपर जब पसीनेकी बूँदें आ फैलती थीं, तब कानपर रक्खे हुए सिरसके फूलोंका केसर उनसे आ सटता था। इसलिये जब वे फूल कान परसे सरकते भी थे तो सहसा पृथ्वीपर नहीं गिर पाते थे ॥४८॥ धनी लोग गर्मीमें ठंडी रहनेवाली उन विशेष प्रकारकी शिलाओंपर सोकर दुपहरी बिताते थे, जो चन्दनसे धुली होती थीं और जिनके चारों ओर जल-धाराएँ छूटती रहती थीं ॥४९॥ वसन्त बीत जानेके कारण जो कामदेव मन्द पड़ गया था, वह स्त्रियोंके उन केशोंमें जा बसा, जो स्नान करनेपर खोल दिए जाते थे और जिन्हें धूपसे सुगन्धित करके उनमें शामको फूलनेवाली चमेलीके सुगन्धित फूल खोंस लिए जाते थे ॥५०॥

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च ।
संबध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥ ५२ ॥
जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविसेषकान्तौ ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥ ५३ ॥
अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ ५४ ॥
स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥ ५५ ॥
सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ ५६ ॥
परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तवालव्यजनां बभासे ॥ ५७ ॥
पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
संध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥
विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ ५९ ॥
एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥ ६० ॥

परागसे भरी कुछ पीली-पीली अर्जुनकी मञ्जरी ऐसी लगती थी मानों कामदेवका शरीर भस्म करनेके पश्चात् शिवके हाथसे तोड़ी हुई कामदेवके धनुषकी डोरी हो ।।५१।। मनोहर गन्धवाली आमकी बौर, पुरानी मदिरा और नये पाटलके फूल लाकर ग्रीष्म ऋतुने कामी पुरुषोंकी सारी कमी पूरी कर दी ।।५२।। उस कठिन ग्रीष्म समयमें उदित होकर दो ही तो प्रजाके बहुत प्यारे हुए एक तो सेवासे प्रसन्न होकर निर्धनता आदि सन्तापोंको दूर करनेवाले राजा कुश और दूसरे शीतल किरणोंसे गर्मीका सारा ताप दूर करनेवाले चन्द्रमा ।।५३।। एक दिन कुशकी इच्छा हुई कि लहरोंके लहरानेसे मतवाले बने हुए हंसोंवाले, तटकी लताओंके फूलोंको बहानेवाले और गर्मीमें सुख देनेवाले सरयूके जलमें अपनी रानियोंके साथ जा बिहार करें ।।५४।। यह निश्चय करके विष्णुके समान प्रभावशाली कुश, सरयूके जलमें विहार करने चल दिए। सरयूके तटपर डेरे डाल दिये गए और मल्लाहोंने जाल डालकर ग्राह आदि सब जीव-जन्तु उसमेंसे निकाल बाहर किए ।।५५।। जब कुशकी रानियाँ सीढ़ियोंसे पानीमें उतरने लगीं, उस समय उनके भुजबन्द एक दूसरेसे रगड़ खाने लगे, पैरके बिछुए बजने लगे और इन शब्दोंको सुन-सुनकर सरयूके सारे हंस मचल उठे ।।५६। जलक्रीडाके समय रानियाँ एक दूसरेपर जलके छींटे उड़ाने लगीं । उन रानियों के स्नानकी शोभा देख-देखकर नावपर बैठे हुए राजा अपने पास चँवर लेकर खड़ी हुई किरातिनसे कहने लगे-।।५७।। 'देखो तो ! मेरे रनिवासकी सैकड़ों रानियोंके स्नान करनेसे और उनके शरीरसे धुले हुए अंगराग मिल जानेसे सरयूकी धारा ऐसी रंग बिरंगी लगने लगी है जैसे बादलोंसे भरी सन्ध्या हो ।।५८।। नावोंके चलनेसे जलमें जो लहरें उठ रही हैं, उन्होंने इन सुन्दरियोंकी आँखोंका आँजन धो डाला है और उसके बदलेमें मदपानके समयकी लाली इनकी आँखोंमें ला भरी है ।।५९।।

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनी वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाःस्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलाँश्छलयन्ति मीनान् ॥ ६१ ॥
आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥ ६२ ॥
आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥ ६३ ॥
तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥ ६४ ॥
संदष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ ६५ ॥
एता करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥ ६६ ॥
उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ ६७ ॥
स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥

भारी नितम्बों और स्तनोंके कारण ये रानियाँ भली-भाँति तो तैर नहीं पातीं फिर भी खेलमें सम्मिलित होनेके कारण ये अपने मोटे-मोटे भुजबन्दोंवाली बाँहोंसे जलमें जैसे-तैसे तैर ही रही हैं ॥६०॥ इन जल-क्रीडा करनेवाली रानियोंके कानोंसे जो सिरसके कर्णफूल खिसककर नदीमें गिरकर तैर रहे हैं, उन्हें सेवार समझकर मछलियाँ उनपर मुँह मारनेको झपट रही हैं ॥६१॥ देखो, जल-क्रीडामें लगी हुई इन रानियोंको यह तक भी सुध नहीं है कि हमारे हार टूट गए हैं और मोती बिखर गए हैं। मोतियोंके समान बूँदेंको ही मोती मान मानकर ये समझ बैठी हैं कि हार टूटा नहीं है ॥६२॥ देखो, सुन्दरी स्त्रियोंके शरीरके अंगोंके समान जो वस्तुएँ संसारमें प्रसिद्ध हैं, वे सब इन सुन्दरियोंके आस-पास आ जुटी हैं। पानीकी भँवरें इनकी गहरी नाभिके समान हैं, लहरें इनकी भौंहोंके समान हैं और चकवा-चकवी इनके स्तनोंके समान हैं ॥६३॥ ये गा-गाकर जो मृदंग बजानेके समान थपकी दे-देकर जल ठोंक रही हैं, उसे सुनकर बैठे हुए मोर अपनी पूँछ उठा उठाकर और बोल बोलकर उनका अभिनन्दन कर रहे हैं ॥६४॥ इन रानियोंने अपने नितम्बोंपर जो श्वेत वस्त्र लपेट रक्खे हैं उनके नीचे तगड़ीके घूँघरू ऐसे दिखाई देते हैं जैसे चाँदनीसे ढके हुए तारे हों। तगड़ीके डोरोंमें जल भर जानेसे इन स्त्रियोंके इधरसे उधर दौड़नेपर भी ये घुँघरू बज नहीं पा रहे हैं ॥६५॥ जब इनकी सखियाँ इनके मुँहपर पानी मारती हैं और ये अहंकारसे अपनी सखियोंपर पानी उछालती हैं, तब इनके सीधे लटके हुए बालोंसे कुंकुम मिली हुई लाल रंगकी बूँदें चूने लगती हैं ॥६६॥ यद्यपि स्नानके कारण बाल खुल जानेसे, मुँहपर और स्तनोंपर बनी हुई चित्रकारीके धुल जानेसे, तथा मोतियोंके कर्णफूल कानसे निकल जानेसे इन स्त्रियोंका वेश बड़ा बेढंगा हो गया है, फिर भी देखो ये कितनी मनोहर लग रही हैं' ॥६७॥ यह कहकर कुश भी पानीमें उतर पड़े और जैसे कमलिनियोंको उखाड़कर कन्धेपर लटकाकर हाथी अपनी हथिनियोंके साथ जल-

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः ।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ ६९ ॥
वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥ ७० ॥
तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेह सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥ ७१ ॥
यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥ ७२ ॥
स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव ।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥ ७३ ॥
जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥ ७४ ॥
ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥ ७५ ॥
कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
नागेन लोल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥ ७६ ॥
ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजंगनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥ ७७ ॥

क्रीडा करने लगता है वैसे ही वे भी उन स्त्रियोंके साथ जल-विहार करने लगे ॥६८॥ उस कान्तिमान् राजाके साथ क्रीडा करती हुई वे रानियाँ पहलेसे भी अधिक सुन्दर लगने लगीं, क्योंकि मोती एक तो यों ही सुन्दर होता है और फिर यदि वह इन्द्र-नीलमणिके साथ गूँथ दिया जाय तब तो कहना ही क्या ॥६९॥ वे स्त्रियाँ जब सोनेकी पिचकारियोंसे रंग छोड़-छोड़कर उन्हें भिगोने लगीं तब वे ऐसे बजने लगे जैसे पर्वतराज हिमालय परसे गेरूका झरना झर रहा हो ॥७०॥ स्त्रियोंके साथ सरयूमें जल-क्रीडा करते समय कुश ऐसे लगते थे, मानो देवराज इन्द्र अप्सराओंके साथ आकाशगङ्गामें जलक्रीडा कर रहे हों ॥७१॥ रामको अगस्त्य ऋषिने जो जैत्र (सदा जितानेवाला) आभूषण दिया था और जो रामने राज्यके साथ ही कुशको दे दिया था, वह जल-क्रीडा करते समय पानीमें गिर पड़ा और किसीको इसका भान भी नहीं हुआ ॥७२॥ रानियोंके साथ इच्छानुसार जल-क्रीडा करके जब कुश बाहर निकले और डेरेमें गए तब कपड़े बदलनेके पहले ही उन्होंने देखा कि भुजापर वह दिव्य आभूषण नहीं है ॥७३॥ बुद्धिमान् राजा कुश, फूल और आभूषण दोनोंको बराबर समझते थे। अतः उन्हें उस आभूषण खोनेका इसलिये दुःख नहीं था कि वह बहुमूल्य था, वरन् इसलिये दुःख हुआ कि वह आभूषण विजय-लक्ष्मी प्राप्त करानेवाला था और पिताका चिह्न था ॥७४॥ तब उन्होंने सब धीवरोंको यह आज्ञा दी कि आभूषण ढूंढ निकालो। बहुत देरतक उन लोगोंने पानी घँघोरा पर उनका सब परिश्रम व्यर्थ गया। वे कुशके पास आकर बोले—॥७५। 'देव ! बहुत परिश्रम करनेपर भी हम लोग जलमें पड़ा हुआ आपका आभूषण नहीं पा सके। जान पड़ता है इस जलमें रहनेवाले कुमुद नामके नागने लोभसे उसे चुरा लिया हैं' ॥७६॥ यह सुनते ही कुशकी आँखें क्रोधसे लाल हो उठीं

तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ॥ ७८ ॥
तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात्सहसोन्ममज्ज ।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजंगराजः ॥ ७९ ॥
विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशांपतिस्तम् ।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसंजहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥ ८० ॥
त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥ ८१ ॥
अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥ ८२ ॥
कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
तदापतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ ८३ ॥
तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ ८४ ॥
इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥ ८५ ॥

और वहीं तटपर खड़े होकर उन्होंने धनुष् ठीक करके उनपर नागोंका नाश करनेवाला गारुडास्त्र उठा चढ़ाया ॥७७॥ उनके धनुष् चढ़ाते ही वहाँका जल, खलबलाता हुआ, अपने तरंग-रूपी हाथ जोड़े हुए, तटको तोड़ता हुआ ऐसे गरज उठा जैसे गड्ढेमें पड़ा हुआ कोई हाथी चिग्घाड़ रहा हो ॥७८॥ उस जलको समुद्रके समान मथा जाता देखकर घड़ियाल आदि जीव घबरा उठे। इतनेमें ही उस जलमेंसे अचानक एक कन्याको आगे किए हुए नागराज कुमुद इस प्रकार उठ निकले मानो लक्ष्मीको साथ लेकर साक्षात् कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥७९॥ कुशने देखा कि कुमुदके हाथमें वही आभूषण है, इसलिये उन्होंने धनुष्परसे गारुडास्त्र उतार लिया, क्योंकि सज्जन लोग उनपर कभी क्रोध नहीं करते, जो नम्र होकर उनके आगे चले आते हैं ॥८०॥ त्रिलोकीनाथ रामके पुत्र तथा शत्रुओंको अंकुशके समान दुःख देनेवाले राजा कुशके आगे मानसे उठा हुआ अपना सिर नवाकर कुमुदने प्रणाम किया क्योंकि वह कुशके बाणकी शक्ति भली-भाँति जानता था। प्रणाम करके वह बोला- ॥८१॥ 'मैं जानता हूँ कि आप राक्षसोंका नाश करनेके लिये मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले विष्णुके ही दूसरे रूप (पुत्र) हैं, इसलिये आप पूजनीय हैं। फिर मैं भला आपसे कैसे बैर मोल ले सकता हूँ ॥८२॥ यह कन्या (मेरी छोटी बहन) गेंद खेल रही थी । इसकी थपकीसे गेंद जब ऊपर उछली तो उसे देखनेके लिये इसने जो ऊपर आँखें उठाईं तो देखा कि आकाशसे गिरते हुए तारेके समान आपका आभूषण नीचे गिरा चला आ रहा है। इसने झट उसे थाम लिया ॥८३॥ आप यह लीजिए और अपनी उस मोटी और घुटनों-तक लम्बी भुजामें फिर बाँध लीजिए, जिसमें धनुष्की डोरीकी फटकारसे घट्ठे पड़ गए हैं और जो पृथ्वीकी रक्षा करती है ॥८४॥ राजन् ! यह मेरी छोटी बहन कुमुद्वती जीवन भर आपकी सेवा करके अपना अपराध मिटाना चाहती है, इसलिये आप इसे अपनी पत्नीके

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥ ८६ ॥
तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते, माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्, गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ॥८७॥
इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं, लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पंचमं तक्षकस्य ।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेयाच्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास॥८८॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥

* * *

रूपमें ग्रहण कर लीजिए ॥८५॥ यह कहकर कुमुदने वह आभूषण कुशको दे दिया। कुश बोले—'आजसे आप मेरे आदरणीय सम्बन्धी हुए'। यह सुनकर कुमुदने अपने कुटुम्बियोंको बुलाया और बड़ी धूमधामसे अपनी कन्या कुशको ब्याह दी ॥८६॥ जब राजा कुशने आगे बढ़कर उस कन्याका ऊनी कंगन बँधा हुआ हाथ पकड़ा, तब तुरही आदि बाजोंकी ध्वनिसे दिशाएँ गूँज उठीं और विचित्र प्रकारके मेघोंने आकर आकाशसे सुगन्धित फूल ला बरसाए ॥८७॥ इस प्रकार नागराज कुमुदने त्रिलोकीनाथ विष्णु (राम)-के सच्चे पुत्र कुशको अपना सम्बन्धी बनाकर गरुडसे डरना छोड़ दिया, क्योंकि अब वह उसके सम्बन्धीके पिताका वाहन मात्र था। कुशने भी नागराज तक्षकके पाँचवें पुत्र कुमुदको सम्बन्धी बना लिया, जिससे सर्प शान्त हो गए और कुश पृथ्वीपर भली-भाँति राज करने लगे ॥८८॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें कुमुद्वतीका विवाह
नामका सोलहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ सप्तदशः सर्गः ॥

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती। पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥१॥
स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः । अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥२॥
तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः । पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥३॥
जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः । अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥४॥
स कुलोचितमिन्द्रस्य सहायकमुपेयिवान् । जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥५॥
तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती । अन्वगात्कुमुदानन्दं शशांकमिव कौमुदी ॥६॥
तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक्। द्वितीयापि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी॥७॥
तदात्मसंभवं राज्ये मन्त्रिवृद्धः समादधुः।स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः॥८॥
ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम्॥९॥
तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः । उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥१०॥
नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः॥११॥
दूर्वायवांकुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्। ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन्॥१२॥
पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः । उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥१३॥

सत्रहवाँ सर्ग

जैसे रातके चौथे पहर (ब्राह्म मुहुर्त), में बुद्धिको नयापन मिल जाता है वैसे ही कुशको कुमुद्वतीसे अतिथि नामका पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १ ॥ जैसे तेजस्वी सूर्य अपने प्रकाशसे उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओंको पवित्र कर देता है, वैसे ही सुशिक्षित, अतिथिने माता और पिता दोनोंके कुलोंको पवित्र कर दिया ॥ २ ॥ पिता कुशने पहले उसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चारों विद्याएँ सिखाईं फिर राजाओंकी कन्याओंसे उनका विवाह करा दिया ॥३॥ अतिथि भी कुशके समान ही कुलीन, शूर और जितेन्द्रिय थे, इसीलिये कुश अपने पुत्रको अपना ही दूसरा रूप समझते थे ॥४॥ अपने कुलकी चलनके अनुसार कुश भी जब एक बार युद्धमें इन्द्रकी सहायता करने गए थे तब वहाँ शक्तिशाली दुर्जय नामके राक्षसको मारकर वे स्वयं भी वीरगतिको प्राप्त हो गए थे ॥५॥ जैसे कुमुदोंको खिलानेवाले चन्द्रमाके अस्त होनेके साथ-साथ चाँदनी भी छिप जाती है, वैसे ही नागराज कुमुदकी बहन कुमुद्वती भी कुशके साथ ही सती हो गईं ॥ ६ ॥ कुशको तो इन्द्रके सिंहासनका आधा भाग मिला और कुमुद्वती जाकर इन्द्राणीके साथ पारिजातमें आधा भाग ले बैठीं ॥७॥ लड़ाईमें जाते समय कुशने जो आज्ञा दी थी, उसके अनुसार मन्त्रियोंने उनके पुत्र अतिथिको राजा बना दिया ॥८॥ मन्त्रियोंने उसके अभिषेकके लिये कारीगरोंसे चार खंभोंका नया मंडप बनवाया ॥९॥ प्रजाने भद्रपीठपर बैठे हुए राजा अतिथिको सोनेके घड़ोंमें भरे हुए तीर्थोंके जलसे नहला दिया ॥१०॥ थाप पड़नेपर मृदंग आदि बाजोंसे जो मीठा और गम्भीर शब्द निकल रहा था, वह सूचना दे रहा था कि राजा अतिथिका सदा कल्याण होगा ॥११॥ दूब, जौके अंकुर, पाकड़की छाल और महुएके फूल दोनोंमें रखकर कुलके बूढ़ोंने जो आरती की, उसे राजा अतिथिने बड़े आदरसे स्वीकार किया ॥१२॥ तब पुरोहितको आगे करके ब्राह्मण आए जिन्होंने विजयी राजाको अथर्ववेदके उन मंत्रोंको पढ़कर नहलाना प्रारम्भ किया जिनसे विजय प्राप्त होती है ॥१३॥ उनके सिरपर गिरती हुई अभिषेकके जलकी धारा ऐसी सुन्दर

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत । सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥१४॥
स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः।प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥१५॥
तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः। ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥१६॥
स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु । यावतैषां समाप्येरन्यज्ञः पर्याप्तदक्षिणाः ॥१७॥
ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् । सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥१८॥
बन्धच्छेदं स बद्धानां बधार्हाणामवध्यताम्। धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥१९॥
क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः। लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥२०॥
ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः। सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥२१॥
तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः । आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥२२॥
तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् । प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥२३॥
चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना । समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥२४॥
आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् । आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥२५॥
नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये । विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥२६॥
स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः। ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥२७॥

लगती थी मानो शिवके ही सिरपर गङ्गाकी धारा ऊपरसे गिर रही हो ॥१४॥ उस समय भाट और चारण जब उनका बिरद बखानने लगे तब ऐसा लगता था मानो बहुतसे चातक मिलकर बादलके गुण गा रहे हों ॥१५॥ मन्त्रोंसे पवित्र हुए जलसे स्नान करते समय उनके शरीरका तेज वैसे ही बढ़ गया जैसे वर्षाके जलसे बिजलीकी चमक बढ़ जाती है ॥१६॥ अभिषेकके पश्चात् उन्होंने यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणोंको इतना धन दिया कि उस धनसे वे स्वयं गहरी दक्षिणा दे-देकर अपना एक-एक यज्ञ कर सकते थे ॥१७॥ ब्राह्मणोंने प्रसन्न होकर उन्हें जो आशीर्वाद दिया उस आशीर्वादको फलीभूत होनेके लिये बहुत दिन देखने पड़े, क्योंकि आशीर्वादके समय तो राजा अतिथि अपने पूर्व जन्मके सत्कर्मोंका ही फल भोग रहे थे, (आशीर्वादका फल तो उस फलके समाप्त होनेपर प्रारम्भ होनेवाला था) ॥१८॥ राज्याभिषेककी प्रसन्नतामें अतिथिने आज्ञा दी कि बन्दियोंको छोड़ दिया जाय, मृत्यु-दण्ड पाए हुए मारे न जायँ, बोझ ढोनेवाले पशुओंके कन्धोंपरसे जुए उतार लिए जायँ और गौओंका दूध बछड़ोंको पीनेके लिये छोड़ दिया जाय ॥१९॥ उनकी आज्ञासे पिंजड़ेके सुग्गे आदि पक्षी भी छोड़ उड़ा दिए गए, जो अपने मनसे इधर-उधर उड़-उड़कर घूमने लगे ॥२०॥ तब वे अपना राजसी सिंगार करानेके लिये हाथी-दाँतके बने उस सिंहासनपर जा बैठे, जो राजभवनमें एक ओर रखा हुआ था और जिसपर बिछावन बिछा हुआ था ॥२१॥ सिंगारियोंने स्वच्छ हाथोंसे, धूपसे सुगन्धित केशवाले राजा अतिथिको सब प्रकारसे सजा-सँवारा ॥२२॥ फूल और मोतियोंकी मालाओंसे गुँथे हुए राजाके सिरपर उन्होंने वह पद्मराग लाल मणि ला बाँधा, जिसकी सुन्दर चमक चारों ओर जा फैली ॥२३॥ तब उन्होंने कस्तूरीमें बसे हुए चन्दनका अंगराग लगाकर गोरोचनसे राजाका मुँह चीता ॥२४॥ आभूषण और माला पहने हुए, हंसकी छापका दुपट्टा ओढ़े हुए राजा अतिथि उस समय ऐसे सुन्दर दिखाई दे रहे थे मानो राजलक्ष्मी-रूपी बहूके दूल्हे बने हुए हों ॥२५॥ सोनेके चौखटेवाले दर्पणमें जब वे अपनी सजावट देखने लगे उस समय उनका प्रतिबिम्ब ऐसा लग रहा था मानो सूर्योदयके समय सुमेरु पर्वतपर कल्पवृक्षका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ॥२६॥ तब वे अपनी उस सभाकी ओर चले, जो किसी भी प्रकार देवताओंकी

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् । चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥२८॥
शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् । श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव केशवम् ॥२९॥
बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः । रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥३०॥
प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् । मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥३१॥
स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् । क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥३२॥
तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा । पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥३३॥
धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः । सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥३४॥
तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः । शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥३५॥
अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः । अनुदध्युरनुध्येयं सानिध्यैः प्रतिमागतैः ॥३६॥
यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता । तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥३७॥
वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः । किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः ॥३८॥
स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् । ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥३९॥
ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः । युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥४०॥

सुधर्मा सभासे कम नहीं थी । उस समय उनके पीछे-पीछे बहुतसे सेवक हाथसे चँवर डुलाते और जय-जयकार करते चल रहे थे ॥२७॥ वहाँ चँदोवा तने हुए अपने पूर्व पुरुषोंके सिंहासन पर वे जब जाकर बैठे, तब उनके पैरके नीचे रक्खा हुआ पीढ़ा प्रणाम करनेवाले राजाओंके सिरकी मणियोंकी रगड़से पूरा घिस गया ॥२८॥ जैसे भृगुके चरणकी चोटसे बने हुए श्रीवत्सके चिह्नवाला विष्णुका वक्षःस्थल कौस्तुभ मणिसे चमक उठा था वैसे ही राजा अतिथिके वहाँ आ बैठनेसे वह सभा-भवन भी जगमगा उठा ॥२९॥ राजा अतिथिको युवराज बननेका अवसर ही नहीं आया, क्योंकि वे कुमार अवस्थाके पश्चात् तुरन्त ही इस प्रकार महाराज हो गये मानो एक कलावाले चन्द्रमामें तुरन्त सोलहों कलाएँ आ भरी हों ॥३०॥ उनका मुख सदा प्रसन्न रहता था और वे सबसे हँसकर बोलते थे, इसलिये उनके सेवक उन्हें साक्षात् विश्वासके समान मानते थे ॥३१॥ इन्द्रके समान ऐश्वर्यशाली राजा अतिथि जब ऐरावतके समान बलवान् हाथीपर चढ़कर अयोध्यामें घूमने निकले, तब कल्पवृक्षके समान ध्वजाओंवाली अयोध्या नगरी स्वर्गके समान लगने लगी ॥३२॥ यद्यपि राज-छत्र केवल अतिथिके सिरपर ही लगा हुआ था, पर उस श्वेत रंगके छत्रने सारे संसारके उस तापको मिटा डाला, जो कुशके वियोगसे उत्पन्न हो गया था ॥३३॥ आगकी लपटें भी धुआँ निकलनेके पीछे ही उठती हैं और किरणें भी सूर्यके उदय होनेके पीछे ही दिखाई देती हैं, पर अतिथिने इन तेजस्वियोंके सारे नियम भी उलट दिये, क्योंकि उनके गुण उनके राजा बननेके साथ ही प्रकट हो गए ॥३४॥ जैसे शरद् ऋतुकी निर्मल रातोंके तारे ध्रुवके चारों ओर घूमा करते हैं, वैसे ही नगरकी स्त्रियोंकी प्रेम-भरी आँखें भी अतिथिपर लट्टू हो गईं ॥३५॥ अयोध्याके बड़े-बड़े मन्दिरोंमें जिन-जिन देवताओंकी पूजा की गई उन्होंने अपनी मूर्तियोंमें पैठ-पैठकर कृपाके योग्य राजा अतिथिपर बड़ी ही कृपा की ॥३६॥ अभी अभिषेकके जलसे भीगी हुई वेदी सूखने भी न पाई थी कि उनका दुस्सह प्रताप समुद्रके तटतक जा पहुँचा ॥३७॥ गुरु वसिष्ठके मन्त्र और धनुर्धर राजाके बाण दोनोंने मिलकर ऐसा कोई कार्य नहीं छोड़ा, जो मिलकर पूरा न कर डाला गया हो ॥३८॥ धर्मात्माओंके मित्र राजा अतिथि सदा आलस्य छोड़कर वादी-प्रतिवादियोंके पेचीदे झगड़े स्वयं निपटाते थे ॥३९॥ जैसे वृक्षको फूला हुआ देखकर

प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः। तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ।।४१।।
यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत्। सोऽभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन्।।४२।।
वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम्। तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः।।४३।।
इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम्। अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद्दृढमूल इव द्रुमः।।४४।।
अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः। अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्याञ्षट् पूर्वमजयद्रिपून्।४५।
प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः। निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ।।४६।।
कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्। अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः।।४७।।
न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः। अदृष्टमभवत्किंचिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः।।४८।।
रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम्। तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः।।४९।।
मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः। स जातु सेव्यमानोपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ।।५०।।
परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः। सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ।।५१।।

यह जान लिया जाता है कि इससे इतने फल मिलेंगे वैसे ही राजा अतिथिका प्रसन्न मुख देखकर ही उनके सेवक जान जाते थे कि हमें इतना धन मिलेगा ।।४०।। कुशके समय जो प्रजा सावनकी नदीके समान भरी-पूरी रहती थी, वह फिर अतिथिके राज्यमें भादोंकी नदीके समान और भी अधिक उतराने लगी ।।४१।। राजा अतिथिने मुँहसे जो भी कह दिया, उसे पूरा कर दिखाया, जिसे जो दे दिया, उससे फिर लिया नहीं। पर हाँ, शत्रुओंको उखाड़कर उन्हें फिर जमाते समय उन्होंने यह नियम तोड़ दिया था, क्योंकि उनसे कर लिया जाता था ।।४२।। यौवन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य, इनमेंसे एक भी वस्तु जिसके पास होती है, वह मतवाला हो जाता है, पर राजा अतिथिके पास ये सभी होनेपर भी उन्हें अभिमान छू तक नहीं गया था ।।४३।। इस प्रकार प्रजा उनसे दिनपर दिन अधिक प्रेम करने लगी और नये राजा होनेपर भी वे गहरी जड़वाले वृक्षके समान अचल हो गए ।।४४।। यह सोचकर कि बाहरी शत्रु तो सदा होते नहीं और होते भी हैं तो दूर रहते हैं, इसलिये उन्होंने शरीरके भीतर सदा रहनेवाले छहों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) शत्रुओंको पहले ही जीत धरा ।।४५।। स्वभावसे चंचल लक्ष्मी भी प्रसन्न मुखवाले अतिथिके पास आकर उसी प्रकार अचल होकर आ बैठी जैसे कसौटीपर बनी हुई सोनेकी लकीर पक्की होकर बैठ जाती है ।। ४६ ।। केवल कूटनीतिसे काम लेना तो कायरता है और मारकाटसे जीतना हिंसक पशुओंका स्वभाव है, इसलिये उन्होंने कूटनीति और मारकाट दोनोंको मिलाकर शत्रुओंको जीता ।।४७।। जैसे खुले आकाशमें सूर्यकी किरणोंके फैल जानेसे कुछ भी छिपा नहीं रह जाता, वैसे ही अतिथिने चारों ओर भेदियोंका ऐसा जाल बिछा दिया कि प्रजाकी कोई बात उनसे छिपी नहीं रह पाई ।। ४८ ।। शास्त्रोंने राजाओंके लिये दिन और रातके जो कर्तव्य निर्धारित किए हैं, उन सबको राजा अतिथि विश्वासके साथ नियमपूर्वक पालते थे ।। ४९ ।। वे मन्त्रियोंके साथ प्रतिदिन राज्यकी बातें करते थे, पर वे बातें इतनी गुप्त रखी जाती थीं कि प्रतिदिन व्यवहारमें आनेपर भी किसीको उनकी भनक तक नहीं मिल पाती थी ।।५०।। उन्होंने अपने कर्मचारियों तथा शत्रुओंका भेद जाननेके लिये ऐसी चतुराईसे उनके पीछे भेदिए लगा रक्खे थे कि वे भेदिए भी आपसमें एक दूसरेको नहीं पहचान पाते थे। उन भेदियोंसे सब समाचार बराबर मिलते रहनेके कारण वे सोते हुए भी मानो सदा जागते रहते थे ।।५१।। यद्यपि वे युद्धमें ही शत्रुओंको घेरते थे

दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासँस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम्। न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः॥५२॥
भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्यया। गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे॥५३॥
अपथेन प्रववृत्ते न जातूपचितोऽपि सः। वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः॥५४॥
कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः। कस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत्॥५५॥
शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः। समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः॥५६॥
न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ। नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥५७॥
हीनान्यनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते। तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः॥५८॥
परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम्। ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा॥५९
कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः। अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते॥६०॥
परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु। आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन्रिपून्॥६१॥
पित्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः सांपरायिकः। तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत॥६२॥

फिर भी उन्होंने राजधानीके चारों ओर बहुतसे और भी बड़े-बड़े दुर्ग बनवा खड़े किए थे, क्योंकि हाथियोंको मारनेवाला सिंह गुफामें हाथियोंके भयसे नहीं सोता वरन् उसका स्वभाव ही वैसा होता है ॥५२॥ वे जो काम करते थे सब कल्याणकारी होते थे। वे कोई काम करनेसे पहले उसपर भली-भाँति विचार भी कर लेते थे। इसलिये उसमें कभी किसी प्रकारकी कोई बाधा नहीं पड़ती थी। जैसे धानका दाना भीतर ही भीतर पक जाता है वैसे ही उनका काम भी गुप्त रूपसे ही आरम्भ होकर पूरा हो जाता था ॥५३॥ ऐश्वर्यशाली होकर भी उन्होंने खोटे मार्गमें पैर नहीं धरा, क्योंकि ज्वारके समय भी जब समुद्र बढ़ता है, तब नदियोंके मार्गसे ही बढ़ता है, दूसरे मार्गोंसे नहीं ॥५४॥ उनमें इतनी शक्ति थी कि प्रजामें यदि किसी कारण असन्तोष भी हो तो उसे क्षण भरमें दूर कर दें, पर उन्होंने कोई ऐसा असन्तोष प्रजामें उत्पन्न ही नहीं होने दिया, जिसे दूर करनेकी आवश्यकता पड़ जाय ॥५५॥ वे बड़े शक्तिमान् थे, इसलिये वे शक्तिशाली राजाओंपर ही चढ़ाई करते थे, दुर्बलोंपर नहीं, क्योंकि वायुकी सहायता मिलनेपर भी वनमें लगी हुई आग कभी पानीको नहीं जलाती ॥५६॥ उन्होंने न तो अर्थ और कामके लिये कभी धर्मको छोड़ा न धर्मसे बँधकर कभी अर्थ और कामको छोड़ा और न अर्थके कारण कामको या कामके कारण अर्थको छोड़ा, वरन् धर्म, अर्थ और काम तीनोंके साथ वे एक-सा व्यवहार करते थे ॥५७॥ यदि नीच मित्र मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ खोट अवश्य करते हैं, यदि धनी मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ बाधा अवश्य डालते हैं, इसलिये इन्होंने ऐसे ही लोगोंको मित्र बनाया जो न नीच ही थे न धनी ही थे ॥५८॥ चढ़ाई करनेसे पहले वे अपने और अपने शत्रुके बल और दोषको भली-भाँति तौल लेते थे और शत्रुपर तभी आक्रमण करते थे, जब शत्रुसे अपना बल अधिक देखते थे, नहीं तो चुप बैठे रहते थे ॥५९॥ उन्होंने इसलिये धन इकठ्ठा किया कि एक तो इससे आदर होता है और दूसरे दीन लोग भी आकर उन्हींका आश्रय लेते हैं, क्योंकि चातक उन्हीं बादलोंका स्वागत करते हैं, जिनमें पानी भरा होता है ॥६०॥ शत्रुओंका उद्योग नष्ट करके वे अपने उद्योगमें जा लगे। उन्होंने शत्रुओंके दोषका लाभ उठाकर उन्हें नष्ट कर डाला और स्वयं अपने दोष दूर कर डाले ॥६१॥ कुशके प्रयत्नसे ही बढ़ी हुई, शस्त्रास्त्र चलाना जाननेवाली और युद्ध करनेमें समर्थ जो उनकी सेना थी, उसे दण्डधर अतिथि अपने शरीरके समान सँभालकर रखते थे ॥६२॥ जैसे सर्पके सिरसे मणि नहीं निकाली जा सकती, वैसे ही शत्रु भी इनके प्रभाव,

सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः। स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम्॥६३॥
वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव। सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु॥६४॥
तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः। यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक्॥६५॥
खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्। दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः॥६६॥
स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः। बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु॥६७॥
इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम्। आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे॥६८॥
कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि। भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी॥६९॥
प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः। रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः॥७०॥
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः। स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी॥७१॥
सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः। उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः॥७२॥
स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन्। तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः॥७३॥

उत्साह और मन्त्र इन तीन शक्तियोंको अपनी ओर नहीं खींच सके। पर जैसे चुम्बक लोहेको अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही उन्होंने शत्रुओंकी उन तीनों शक्तियोंको अपनी ओर खींच लिया ॥६३॥ अतिथिका इतना प्रताप था कि व्यापारी लोग ऐसे बे-रोक-टोक व्यापार करते थे कि नदियाँ उनके लिये बावड़ियों जैसी घरेलू, वन भी उद्यान-जैसे सुखकर और पहाड़ भी अपने भवन-जैसे सुगम हो गए थे ॥६४॥ उन्होंने विघ्नोंसे तपस्वियोंके तपकी रक्षा की, चोरोंसे प्रजाकी सम्पत्तिको बचाया और चारों आश्रमों तथा वर्णोंसे उनके धनके अनुसार छठा भाग पाया ॥६५॥ जिस प्रकार वे पृथ्वीकी रक्षा करते जा रहे थे उसी प्रकार पृथ्वी भी उन्हें ऐश्वर्य देती जा रही थी। खानोंने उन्हें रत्न दिए, खेतोंने अन्न दिया और वनोंने उन्हें हाथी दिए ॥६६॥ कार्त्तिकेयके समान पराक्रमी राजा अतिथि यह भली भाँति जानते थे कि (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) इन छह राजगुणोंको कैसे व्यवहारमें लाना चाहिए तथा छह प्रकारकी सेनाओंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए ॥६७॥ इस प्रकार साम, दान, दण्ड, भेद इन चार उपायोंके साथ राजनीति चलाते हुए उन्होंने मन्त्रियों आदिकी सहायतासे उन उपायोंका पूरा निर्विघ्न फल पा लिया ॥६८॥ वे कपट-युद्ध भी जानते थे, पर युद्धक्षेत्रमें वे धर्मकी लड़ाई ही लड़ते थे, इसलिये वीरोंकी सखी विजयश्री झट उनके पास अभिसारिकाके समान चुपकेसे आ पहुँचती थी ॥६९॥ युद्ध-क्षेत्रमें अतिथिको देखते ही शत्रुओंके छक्के छूट जाते थे और वे प्राण लेकर भाग खड़े होते थे, इसलिये जैसे बिना मदवाले हाथी, मतवाले हाथीसे नहीं लड़ पाते वैसे ही कोई भी उस प्रतापी राजा अतिथिसे लड़नेका साहस ही नहीं करता था ॥७०॥ पूरा बढ़ चुकनेपर चन्द्रमा घटने लगता है और समुद्रकी भी यही दशा होती है, पर अतिथिके साथ बात उलटी थी। वे चन्द्रमा और समुद्रके समान बढ़े तो सही पर उनके समान घटे नहीं ॥७१॥ जैसे बिना पानीके मेघ समुद्रके पास चले जाते हैं और वह उन्हें इतना जल दे देता है कि वे संसार भरको जल बाँटने लगते हैं, वैसे ही जो बहुतसे निर्धन विद्वान् राजा अतिथिके पास आते थे, उन्हें वे इतना धन दे देते थे कि वे विद्वान् स्वयं भी दूसरोंको दान देने लगते थे ॥७२॥ उनके सभी काम प्रशंसाके योग्य होते थे, पर जब कोई उनकी प्रशंसा करता था, तब वे सकुचा जाते थे, पर प्रशंसाकी इच्छा न करनेपर भी उनका यश बढ़ता ही चला जा रहा था ॥७३॥ जैसे निकलते हुए सूर्यके दर्शनसे पाप दूर हो जाते हैं वैसे ही उनके दर्शनसे पाप भाग जाते थे। वे ज्ञानी भी थे, इसलिये

दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः । प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥७४॥
इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेऽशवः । गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥७५॥
पराभिसंधानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् । जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥७६॥
एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना । वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥७७॥
पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः । भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥७८॥
दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् । दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरंदरीमिव ॥७९॥
ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ । यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥८०॥
इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूद्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धि कुबेरस्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥८१॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

वे दूसरोंको तत्त्व-ज्ञान सिखाकर उनके अज्ञानका अँधेरा भी मिटाते चलते थे, इसलिये प्रजाको उन्होंने सब प्रकारसे अपनी मुट्ठीमें कर लिया था ॥७४॥ चन्द्रमाकी किरणें तथा सूर्यकी किरणें कुमुदोंमें कभी नहीं पैठ पातीं, पर अतिथिके गुणोंने शत्रुओंके हृदयमें भी ऐसा घर कर लिया कि शत्रु भी उनके गुणोंका लोहा मानते थे ॥७५॥ अश्वमेधके लिये जब वे दिग्विजय करने निकले, तब इनका काम यद्यपि शत्रुओंको जिस-तिस प्रकार हराना ही था, पर उस समय भी उन्होंने धर्मसे ही काम लिया, कूटनीति अथवा छलसे नहीं ॥७६॥ इस प्रकार शास्त्रोंके अनुसार चलनेसे अतिथिका प्रभाव बहुत बढ़ गया और जैसे देवताओंके देवता इन्द्र हैं वैसे ही वे भी राजाओंके राजा हो गए ॥७७॥ इन्द्र आदि चारों लोकपालों (इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर) के समान पराक्रम होनेके कारण लोग उन्हें पाँचवाँ लोकपाल कहने लगे थे। (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) इन पाँचों तत्त्वोंके समान महान् होनेके कारण लोग उन्हें छठा तत्त्व कहते थे और हिमालय आदि सात कुल-पर्वतोंके समान विशाल होनेके कारण वे आठवें-कुल पर्वत कहलाते थे ॥७८॥ जैसे देवता लोग इन्द्रकी आज्ञा मानते हैं वैसे ही राजा लोग भी अपने छत्र उतार उतारकर उनकी आज्ञा अपने सिर-माथे चढ़ाते थे ॥७९॥ अश्वमेधके समय जिन ब्राह्मणोंने यज्ञ कराया, उनका अतिथिने इतना सत्कार किया कि लोग इन्हें भी दूसरा कुबेर कहने लगे ॥८०॥ इन्द्रने उनके साम्राज्यपर वर्षा की, यमराजने रोगोंका बढ़ना रोका, वरुणने नाव चलानेवालोंके लिये जलके मार्ग खोल दिए और कुबेरने इनका राज-कोश भर दिया। इस प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल मानो इनके प्रतापसे ही डरकर इनकी सेवा किए जा रहे थे ॥८१॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अतिथि-वर्णन
नामका सत्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ अष्टादशः सर्गः ॥

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥
तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन संपत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥
शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥
पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥
तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः ।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः ॥ ५ ॥
नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥ ६ ॥
तस्मै विसृज्योत्तरकोशलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम् ।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध ॥ ७ ॥
तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ ८ ॥

अठारहवाँ सर्ग

शत्रुओंका नाश करनेवाले राजा अतिथिकी एक रानी निषध-राजाकी पुत्री थी । उस रानीसे अतिथिने निषध पर्वतके समान बलवान् पुत्र उत्पन्न किया और उनका नाम भी निषध रख दिया ॥१॥ जैसे समयकी वर्षासे फले हुए अनाजके खेतोंको देखकर संसारके प्राणी प्रसन्न हो उठते-हैं, वैसे ही अत्यन्त प्रतापी युवराज निषधको देखकर राजा अतिथि भी प्रसन्न हो उठे ॥२॥ कुमुद्वतीके पुत्र अतिथिने जब बहुत दिनोंतक सुख भोग लिया तब निषधको राजपाट सौंपकर अपने पुण्योंके बलसे पाए हुए स्वर्गलोकमें सुख भोगने चले गए ॥३॥ कमलके समान नेत्रवाले, समुद्रके समान गम्भीर चित्तवाले और नगरके प्रधान फाटककी अर्गलाके समान बड़ी-बड़ी बाँहोंवाले अद्वितीय वीर निषधने भी सागरतक फैली हुई सारी पृथ्वीका भोग किया ॥४॥ उनके पीछे उनके अग्निके समान तेजस्वी पुत्र नल राजा हुए। उस कमलके समान सुन्दर मुखवाले राजाने शत्रुओंके बलको वैसे ही तोड़ डाला जैसे हाथी नरकटके गट्ठेको तोड़ डालता है ॥५॥ वे इतने यशस्वी थे कि आकाशमें गन्धर्व लोग उनका यश गाया करते थे । उन्हें आकाशके समान साँवला नभ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जो लोगोंको वैसा ही प्यारा लगा जैसे सावनका महीना ॥६॥ धर्मात्मा नलने उस पुत्रको उत्तर कोशलका राज्य सौंप दिया और स्वयं बुढ़ापेके कारण जंगलोंमें जाकर मृगोंके साथ इसलिये रहने लगे कि फिर संसारमें जन्म न लेना पड़े ॥७॥ नभको पुण्डरीक नामका पुत्र हुआ और जैसे हाथियोंमें पुण्डरीक नामका हाथी सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही उस समयके राजाओंमें वे ही सर्वश्रेष्ठ थे । पिताके स्वर्ग चले जानेपर कमल धारण करनेवाली लक्ष्मीने उन्हें ही विष्णु मानकर वर लिया ॥८॥ उन सफल धनुर्धर

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥
अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ १० ॥
पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ॥ ११ ॥
पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥ १२ ॥
वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद्द्विषतामपीष्टः ।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् ॥ १३ ॥
अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास ।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥ १४ ॥
गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः ।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥ १५ ॥
तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम् ।
उच्चैः शिरस्त्वाज्जितपारियात्रंलक्ष्मीः सिषेवे किलपारियात्रम् ॥ १६ ॥
तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीड्यमानः ॥ १७ ॥

पुण्डरीकने प्रजाका कल्याण करनेमें समर्थ और शान्त स्वभाववाले अपने पुत्र क्षेमधन्वाको राज सौंप दिया और स्वयं शान्त होकर जङ्गलमें तपस्या करने चले गये ।।९।। उस क्षेमधन्वाको भी इन्द्रके समान पुत्र हुआ, जो युद्धमें सेनाके आगे-आगे चलता था और जिसका देव शब्दसे आरम्भ होनेवाला और अनीक शब्दसे अन्त होनेवाला देवानीक नाम स्वर्गमें भी प्रसिद्ध हो गया ।।१०।। जैसे इस पितृभक्त पुत्रको पाकर क्षेमधन्वा सुपुत्रवान् हुए, वैसे ही पुत्रको प्यार करनेवाले पिताको पाकर देवानीक भी पितावाले हुए ।।११।। बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले गुणी क्षेमधन्वा अपने ही समान तेजस्वी पुत्रको चारों वर्णोंकी रक्षाका भार सौंपकर स्वर्ग चले गये ।।१२।। उनके जितेन्द्रिय पुत्र देवानीक इतना मधुर बोलते थे कि शत्रु भी उनका वैसा ही आदर करते थे जैसे मित्र क्योंकि मधुर वचनमें ऐसा प्रभाव होता है कि एक बार डराए हुए हरिण-तक भी वशमें हो जाते हैं ।।१३।। देवानीकके पुत्रका नाम अहीनगु था। उनकी बाँहें बड़ी शक्ति-शालिनी थीं। उन्होंने कभी नीच लोगोंका साथ नहीं किया इसलिये व्यसनोंसे दूर रहकर युवावस्थामें ही वे सारी पृथ्वीपर शासन करने लगे ।।१४।। वे बड़े चतुर थे और सबके मनकी बातें जान लेते थे। पिताके पीछे राजा होकर वे सफलताके साथ साम-दान-दण्ड-भेदका प्रयोग करके शीघ्र ही विष्णुके समान चारों दिशाओंके स्वामी हो गए ।।१५।। उस शत्रुविजयी राजाके स्वर्ग चले जानेपर अयोध्याकी राज-लक्ष्मी उनके प्रतापी पुत्र पारियात्रकी सेवा करने लगी, जिन्होंने अपने सिरकी ऊँचाईसे पारियात्र पर्वतको भी नीचा दिखा दिया था ।।१६।। उन्हें शिल नामका बड़ा शीलवान् पुत्र हुआ जिसकी छाती पत्थरकी पाटी-जैसी चौड़ी थी। यद्यपि उन्होंने शत्रुओंको तो बाणोंसे जीत लिया फिर भी स्वयं वे नम्र ही बने रहे ।।१७।। शुद्ध चरित्रवाले पारियात्रने बुद्धिमान् शिलको युवराज

तमात्मसंपन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥ १८ ॥
तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥ १९ ॥
उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः ।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥ २० ॥
ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥ २१ ॥
तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां सत्संभवं शङ्खणमर्णवान्ता ।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥ २२ ॥
तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥
आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वंभरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥ २४ ॥
अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः ।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥ २५ ॥
पिता पितृणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥ २६ ॥

बनानेपर ही सुख भोगना प्रारम्भ किया क्योंकि राजा रहते हुए उन्हें इतने अधिक काम रहते थे कि उन्हें सुख भोगनेके लिए अवसर ही कहाँ मिलता था ॥१८॥ वे अभी भोगोंसे अघाए नहीं थे और सुन्दरी स्त्रियोंका भोग कर ही रहे थे कि उन्हें उस वृद्धावस्थाने आ घेरा जो स्वयं भोगने-योग्य न होनेपर भी सुन्दरियोंसे व्यर्थ ही ईर्ष्या किया करती है ॥१९॥ शिलको उन्नाभ नामके प्रसिद्ध पुत्र हुए, जिनकी नाभि गहरी थी और जो विष्णुके समान पराक्रमी होनेके कारण संसारके सभी राजाओंके मुखिया बन गए ॥२०॥ उनके पीछे उनके पुत्र वज्रनाभ, हीरेकी खानोंका भूषण पहननेवाली पृथ्वीके स्वामी हुए। वे इन्द्रके समान प्रभावशाली थे और युद्धक्षेत्रमें वज्रके समान गरजते थे ॥२१॥ उन्होंने अपने पुण्यके बलसे स्वर्ग प्राप्त किया और उनके पीछे शंखण नामका उनका शत्रुविनाशक पुत्र सारी पृथ्वीका शासक हुआ ॥२२॥ उनके पीछे उनके अश्विनीकुमारके समान सुन्दर और सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र राजा हुए जिन्होंने सब देशोंको जीतकर अपनी सेना और घोड़ोंको समुद्रके तटपर ले जा ठहराया था। इसलिये वृद्धोंने उनका नाम व्युषिताश्व (अर्थात् बहुत दूरतक घोड़ोंको ले जानेवाला) रख दिया था ॥२३॥ उन्होंने काशीके विश्वेश्वरकी अराधना करके विश्वसह नामक पुत्र पाया था, जो संसारमें बड़े प्रिय हुए और जो सारी पृथ्वीपर शासन करते थे ॥२४॥ उस नीतिज्ञ विश्वसहको हिरण्यनाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो साक्षात् विष्णुका अंश था। ऐसे पुत्रको पाकर विश्वसह शत्रुओंके लिए वैसे ही भयंकर हो गए जैसे वायुकी सहायता पाकर वृक्षोंके लिये अग्नि भयंकर हो उठती है ॥२५॥ जब वे पिताके ऋणसे उऋण हो गए तब बहुत सुख भोगकर वृद्धावस्थामें पुत्रको राज्य देकर स्वयं वल्कल पहनकर वनमें चले गए ॥२६॥ उत्तर कोशलके स्वामी और सूर्यकुलके भूषण

कौसल्य इत्युत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीय ॥ २७ ॥
यशोभिराब्रह्मसमं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम ।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥ २८ ॥
तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम् ।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥ २९ ॥
पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्त्ररथेन्द्रकेतोः ।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्त्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ ३० ॥
वंशस्थितिं वंशकरेण तेन संभाव्य भावी स सखा मघोनः ।
उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ ३१ ॥
तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥ ३२ ॥
महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ ३३ ॥
ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसंधिरुर्वीम् ।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसंधे संधिर्ध्रुवः संनमतामरीणाम् ॥ ३४ ॥
सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥ ३५ ॥

उन हिरण्यनाभको कौसल्य नामका पुत्र हुआ, जो सबकी आँखोंको उसी प्रकार आनन्द देनेवाला था मानो दूसरा चन्द्रमा ही हो ॥२७॥ कौसल्यका यश ब्रह्माकी सभा तक प्रसिद्ध हो गया था। वृद्धावस्थामें उन्होंने ब्रह्मिष्ठ नामके अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्रको राज्य दे दिया और स्वयं ब्रह्म-प्राप्तिके लिये वनमें तप करनेके चले गए ॥२८॥ भली सन्तानवाले ब्रह्मिष्ठ भी अपने कुलके शिरोमणि थे। उन्होंने इतनी योग्यतासे शासन किया कि उसके सुन्दर शासनको देखकर प्रजाको भी आनन्दके आँसू आ जाते थे। उनके शासनमें प्रजा बहुत दिनोंतक सुख भोगती रही ॥२९॥ उनके सुपुत्रने उन्हें पुत्रवानोंका शिरोमणि बना दिया। पिताकी सेवा-शुश्रूषा करनेसे वे बड़े योग्य हो गए थे। वे गरुडध्वज विष्णुके समान सुन्दर थे और उन कमललोचनका नाम भी पुत्र ही था ॥३०॥ विषय-वासनाओंसे दूर रहकर इन्द्रके भावी मित्र ब्रह्मिष्ठने अपनी कुल प्रतिष्ठा अपने पुत्र नामवाले पुत्रको सौंप दी और स्वयं त्रिपुष्कर क्षेत्रमें स्नान करके स्वर्ग चले गए ॥३१॥ राजा पुत्रकी पत्नीसे पूसकी पूर्णिमाके दिन पुष्पराग (पुखराज) मणिसे भी अधिक कान्तिमान् पुष्य नामक पुत्र हुआ। उसके जन्म होनेसे प्रजा उसी प्रकार धन-धान्यसे भरपूर हो गई मानो दूसरा पुष्य नक्षत्र ही उग आया हो ॥३२॥ राजा पुत्र बड़े उदार हृदयवाले थे। वे संसारमें फिर जन्म लेना नहीं चाहते थे, इसीलिये उन्होंने पृथ्वीका भार अपने पुत्र पुष्यको सौंप दिया और स्वयं जैमिनी ऋषिके शिष्य होकर उनसे योग सीखकर आवागमनसे मुक्त हो गए ॥३३॥ पुष्यके पीछे उनके ध्रुवके समान निश्चल पुत्र ध्रुवसन्धि राजा हुए, जिनसे डरकर सब शत्रुओंने उनसे सन्धि कर ली। उनका लिखा हुआ सन्धिपत्र बड़ा पक्का होता था, क्योंकि वे अपनी बातके बड़े धनी थे ॥३४॥ उनके नेत्र मृगोंके समान बड़े-बड़े थे और वे पुरुषोंमें सिंहके समान थे।

स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥ ३६ ॥
नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिहेन च काननेन ।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥ ३७ ॥
लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः संभावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥ ३८ ॥
तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ ३९ ॥
कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥ ४० ॥
तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ ४१ ॥
मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥ ४२ ॥
पर्यन्तसंचारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥ ४३ ॥

एक दिन वे जंगलमें आखेट करते हुए मारे गए । उस समयतक द्वितीयाके चन्द्रमाके समान सुन्दर लगनेवाला सुदर्शन नामका उनका पुत्र बालक ही था ॥३५॥ उन स्वर्गगामी राजाके मन्त्रियोंने राजाके न होनेसे प्रजाकी दीन दशा देखकर सर्वसम्मतिसे उनके इकलौते पुत्र सुदर्शनको विधिपूर्वक साकेतका स्वामी बना दिया ॥३६॥ इस बालकसे राजा रघुका कुल वैसे ही शोभा देने लगा जैसे द्वितीयाके चन्द्रमासे आकाश, सिहके बच्चेसे वन और कमलकी कलीसे ताल शोभा देता है ॥३७॥ उस बालक सुदर्शनने जब सिर पर मुकुट धारण किया तभी प्रजाने आँक लिया कि यह पिताके समान ही तेजस्वी होगा, क्योंकि हाथीके बच्चेके समान छोटा दिखाई देने वाला बादल भी पुरवा पवनका सहारा पाकर चारों दिशाओंमें जा फैलता है ॥३८॥ जब वे छह वर्षके छोटेसे राजा हाथीपर चढ़कर राज-मार्गसे निकलते थे, तब हाथीवान् उनके राजसी वस्त्रोंके कोनेको थामे रखता था कि कहीं वे गिर न पड़ें । उस समय भी उन्हें देखकर जनता अपने पिताके समान ही उनका आदर करती थी ॥३९॥ वे छोटे थे, इसलिये जब वे अपने पिताके सिहासनपर बैठते थे तो वह पूरा भरता नहीं था । पर उनके शरीरसे जो सुवर्णके समान तेज निकलता था उससे वह सिहासन भरा-सा ही जान पड़ता था ॥४०॥ उस सिहासनसे उनके पैर लटकते रहते थे, क्योंकि छोटे होनेके कारण वे पाद-पीठतक पहुँच नहीं पाते थे, पर राजा लोग अपने प्रसिद्ध मुकुटोंसे उन महावर लगे पैरोंका वन्दन करते रहते थे ॥४१॥ जैसे छोटा होनेपर भी नीलम मणिका 'महानील' नाम निरर्थक नहीं होता, वैसे ही बालक राजा सुदर्शनका 'महाराज' नाम भी उन्हें बड़ा फबता था ॥४२॥ उनके आस-पास चँवर डुलाए जाते रहते थे और उनके गालोंपर लटें लटकती रहती थीं । इस बालक अवस्थामें भी उन्होंने जो आज्ञाएँ दीं, उन्हें समुद्रके तटवाले लोगोंने भी नहीं टाला फिर पास रहनेवालोंकी तो बात ही क्या ? ॥४३॥ सोनेका पट्टा बँधे हुए अपने ललाटपर वे

निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥ ४४ ॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या विभरांबभूव ॥ ४५ ॥

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥ ४६ ॥

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा ।
संजातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥ ४७ ॥

अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन ।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥ ४८ ॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम् ।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥ ४९ ॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्या ॥ ५० ॥

व्यूह्य स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥ ५१ ॥

स्वयं तिलक लगाते थे और सदा हँसमुख रहते थे, पर संग्राममें शत्रुओंको नष्ट करके उन्होंने शत्रुओंकी स्त्रियोंके मुखपरका तिलक और उनकी मुसकराहट दोनों छीन लीं ॥४४॥ वे सिरसके फूलसे भी अधिक सुकुमार थे, इसलिये यद्यपि उन्हें गहने पहननेमें भी कष्ट होता था फिर भी उनमें आत्मशक्ति इतनी थी कि उन्होंने पृथ्वीके अत्यन्त भारी भारको भी सँभाले रक्खा ॥४५॥ अभी वे पटियापर भली भाँति अक्षर भी लिखना नहीं सीख पाए थे कि विद्वानोंके संसर्गसे वे दण्डनीति और राजनीतिकी सारी बातें जान गए ॥४६॥ बालक राजाके हृदयको अभी छोटा समझकर लक्ष्मी यों तो उनके युवा होनेकी आशा लगाए बैठी थीं, पर बीच-बीचमें छत्रकी छाया बनाकर उनका आलिङ्गन कर ही लेती थी मानो छोटा पति होनेके कारण उनसे खुलकर गले लगनेमें लजा रही हो ॥४७॥ यद्यपि उनकी भुजा जुएके समान मोटी और लम्बी नहीं हुई थी, धनुष्की डोरी खींचनेसे कड़ी भी नहीं हो पाई थी और तलवारकी मूठ भी नहीं छू सकी थी, फिर भी उसने पृथ्वीकी रक्षा भली भाँति कर ही ली ॥४८॥ कुछ ही दिनोंमें केवल उनके शरीरके अंग ही नहीं बढ़े वरन् उनके वे वंश-परम्परावाले गुण भी बढ़ गए जो पहले छोटे ही थे और जो प्रजाको बहुत प्यारे लगते थे ॥४९॥ उन्होंने धर्म, अर्थ और काम फल देनेवाले त्रयी (तीनों वेद), वार्ता (कृषि) और दण्डनीति तीनों विद्याओंको इतनी शीघ्रतासे सीख लिया मानो पूर्व जन्ममें ही वे उन्हें पढ़ चुके रहे हों । साथ ही अपने पिताकी प्रजाको भी उन्होंने अपने वशमें कर लिया था ।५०॥ जब वे धनुर्विद्या सीखते समय अपने शरीरका ऊपरी भाग कुछ आगे बढ़ा देते थे, बाल ऊपर बाँध लेते थे, बाईं जाँघ कुछ झुका लेते थे और बाण चढ़ाकर धनुष्की डोरी कानतक खींचते थे, उस समय वे बड़े ही सुन्दर लगते थे ॥५१॥ तब सुदर्शनके शरीरमें वह जवानी

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं सः प्रपेदे ॥ ५२ ॥
प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥ ५३ ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः ॥

आ गई जो स्त्रियोंकी आँखोंकी मदिरा होती है, शरीरकी स्वाभाविक शोभा होती है और विलासका पहला अड्डा होता है ॥५२॥ दूतियाँ भिन्न-भिन्न राजधानियोंमें जाकर सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियोंका चित्र ले आईं और राजाको संतान होनेकी इच्छासे मन्त्रियोंने चित्रसे बढ़कर सुन्दरी उन राजकुमारियोंका विवाह महाराज सुदर्शनसे करा दिया। विवाह हो जानेपर वे सब राजकुमारियाँ, राजाकी पहली रानियोंकी, पृथ्वीकी और राजलक्ष्मीकी सौतके समान हो गईं ॥ ५३ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें वंशानुक्रम
नामका अठारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ एकोनविंशः सर्गः ॥

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥
तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥
लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥
सोऽधिकारमभितः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ ४ ॥
कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ ५ ॥
इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥
गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥
तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम् ।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥ ८ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

विद्वान् राजा सुदर्शनने बुढ़ापेमें अपने अग्निके समान तेजस्वी पुत्र अग्निवर्णको राजा बना दिया और स्वयं नैमिषारण्यमें जाकर रहने लगे ।।१।। वहाँ वे तीर्थ-जलके आगे घरकी बावड़ियोंको, भूमिपर बिछे हुए कुशके आगे राजसी पलंगको तथा कुटियाके आगे बड़े-बड़े महलोंको भूल गये और फलकी इच्छा छोड़कर तप करने लगे ।।२।। पितासे पाई हुई पृथ्वीका पालन करनेमें अग्निवर्णको कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि उनके पिता शत्रुओंको पहले हरा चुके थे। इसलिये इन्हें तो केवल भोग करनेके लिये ही राज्य मिला था, राज्यके शत्रुओंको मिटानेके लिये नहीं ।।३।। इसका फल यह हुआ कि अग्निवर्ण कामुक हो गए। कुछ दिनोंतक तो वे स्वयं राजकाज देखते रहे, पर फिर मन्त्रियोंपर राज्यका भार डालकर वे जवानीका रस लेने लग गए ।।४।। वह कामी राजा कामिनियोंके साथ उन भवनोंमें दिन-रात पड़ा रहने लगा, जिसमें बराबर मृदंग बजते रहते थे और प्रतिदिन एकसे एक बढ़कर ऐसे उत्सव होते रहते थे कि अगले दिनके उत्सवके धूम-धड़ाकेके आगे पहले दिनका उत्सव फीका पड़ जाता था ।।५।। उसे ऐसा चसका लग गया कि वह क्षण भर भी भोगविलासके बिना नहीं रह सकता था, इसलिये वह सदा रनिवासके भीतर ही रहकर विहार करने लगा। उसके दर्शनके लिये जनता अधीर रहती थी, पर वह कभी उनकी सुध नहीं लेता था ।।६।। यदि कभी मन्त्रियोंके वहुत कहने-सुननेसे वह प्रजाको दर्शन भी देता तो बस इतना ही कि झरोखेसे एक पैर बाहर लटका देता था ।।७।। राजकर्मचारी उनके नखोंकी लालीवाले उस चरणको नमस्कार करके आराधना करते थे, जो प्रभातकी लाल किरणोंसे भरे हुए कमल के समान सुन्दर था ।।८।। यह महाकामी राजा उन बावड़ियोंमें सुंदरी स्त्रियोंके साथ

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ ९ ॥
तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः ।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥ १० ॥
घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥ ११ ॥
सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः ।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥ १२ ॥
अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ १३ ॥
स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ १४ ॥
चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ १५ ॥
तस्य सावरणदृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ १६ ॥

विहार किया करता था, जिनमें ऐसे विलास-घर भी बने हुए थे जहाँ स्त्रियोंके ऊँचे-ऊँचे स्तन जब बावलीके कमलोंसे टकराने लगते थे, तब कमल भी हिलने लगते थे ।।९।। जलमें स्नान करनेसे जब उन स्त्रियोंकी आँखोंका आँजन छूट जाता था और ओठोंपर लगी हुई लाली धुल जाती थी तब उनकी स्वाभाविक सुन्दरता देखकर वह और भी अधिक मोहित हो उठता था ।।१०।। जैसे खिली हुई कमलिनियोंकी गन्धसे भरे सरोवरमें हथिनियोंके साथ हाथी जा पैठता है, वैसे ही अग्निवर्ण भी सुन्दरी स्त्रियोंके साथ मद्यके गन्धमें बसी हुई उस पानशाला या मदिराघरमें जा पहुँचता था ।।११।। जहाँ वे स्त्रियाँ अग्निवर्णका जूठा मदकारी आसव बड़े प्रेमसे पीती रहती थीं। जैसे मौलसिरीका पेड़ स्त्रियोंके मुखका आसव पानेको तरसा करता है वैसे ही उन स्त्रियोंके मुखका आसव पीनेकी इच्छा करनेवाला अग्निवर्ण भी उनके मुँहका आसव पीया करता था ।।१२।। गोदमें बैठाने योग्य दो ही वस्तुएँ हैं---एक तो मनोहर शब्दवाली वीणा और दूसरी मधुर-भाषिणी कामिनी। इन दोनोंने उसकी गोदको सदा भरपूर रक्खा ।।१३।। जब नर्तकियोंके नाचते समय वह स्वयं मृदंग बजाने लगता था, तब उसके गलेकी माला हिल-हिल उठती थी। उस समय वह ऐसा सुन्दर लगता था कि नर्तकियाँ अपनी सारी सुध-बुध खोकर नाचना भी भूल जाती थीं। फल यह होता था कि उन्हें नाचना सिखानेवाले उनके जो गुरु वहाँ बैठे रहते थे, उनके आगे वे अपनी इस बातपर लजा जाती थीं ।।१४।। जब नृत्य समाप्त हो चुकनेपर नाचनेके परिश्रमसे उनके मुखपर पसीनेकी बूँदें छा जाती थीं और राजा अग्निवर्ण प्रेमपूर्वक फूँक मार-मारकर उनका मुख चूमने लगता था, तब वह समझता था कि मैं इन्द्र और कुबेर से भी बढ़कर सुखी और भाग्यवान हूँ, ।।१५।। वह सदा नई-नई भोग की सामग्री चाहता रहता था। जिस वस्तुसे उसका मन भर जाता था, उसे वह छोड़ देता था, इसीलिये स्त्रियाँ संभोगके समय राजासे आधी ही रति करके उठ खड़ी होतीं, पूरी नहीं क्योंकि उन्हें डर था कि यदि

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥
तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ १८ ॥
लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥ १९ ॥
प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥ २० ॥
प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥
स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥
क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ २३ ॥

राजा पूर्ण रूपसे तृप्त हो जायगा तो हमें छोड़ देगा ॥१९॥ कभी-कभी जब वह राजा उन कामिनियोंको धोखा या चकमा दे जाता था तब वे बिगड़कर अपनी लाल-लाल उँगलियाँ चमका-चमकाकर धमकाती थीं, भौंहें तरेरती थीं और राजाको अपनी करधनीसे बाँध देती थीं ॥१७॥ जिस दिन रातको उसे किसी स्त्रीसे संभोग करने जाना होता तो दूतीसे सब बातें बताकर वह पास ही छिपकर जा बैठता। वह स्त्री जब आती और विप्रलब्धा नायिकाके समान दूतीसे विरहकी (इस प्रकार) बातें करने लगतीं (कि पता नहीं वे कब आवेंगे, अभीतक आए क्यों नहीं इत्यादि) तब वह उन बातोंको छिपे-छिपे बड़े प्रेमसे सुना करता था ॥१८॥ जब कभी उसे रानियाँ रोक लेतीं और नर्तकियोंके न मिलनेसे वह विरह-कातर होकर हाथमें तूलिका लेकर किसी नर्तकीका चित्र बनाने लगता, उस समय उस नर्तकीका स्मरण हो जानेसे सात्त्विक भावके कारण उसकी उँगलियोंमें पसीना आ आता और कूँची फिसल पड़ती थी। इस प्रकार वह बड़ी कठिनाईसे चित्र बना पाता था ॥१९॥ यदि राजा किसी रानीसे प्रेम करने लगता तब वह गर्वसे फूली न समाती पर उसकी सौतें जल उठती थीं और कामातुर होकर किसी उत्सवका बहाना करके राजाको अपने यहाँ बुलाकर उसके साथ अपनी तपन बुझाती थीं ॥२०॥ रातमें बाहर किसी स्त्रीसे संभोग करके जब राजा प्रातःकाल घर लौटता था तब रातके भोगवाले सुन्दर वेशमें उसे देखकर उसकी प्रेमिकाएँ खंडिता नायिकाके समान आँसू बहाने लगती थीं पर राजा हाथ जोड़कर उन्हें मना ही लेता था। पर जब रातकी थकावटके कारण वह उनसे भरपूर प्रेम नहीं कर पाता था तब वे फिर व्याकुल हो उठती थीं ॥२१॥ जब स्त्रियाँ देखती कि राजा स्वप्नमें बड़बड़ाते हुए किसी दूसरी स्त्रीकी बड़ाई कर रहा है तब वे कामिनियाँ बिना बोले ही बिस्तरके कोनेपर आँसू गिराती हुई, क्रोधसे कंगन तोड़कर उनसे पीठ फेरकर सो रहती थीं और इस प्रकार उनसे रूठ बैठती थीं ॥२२॥ कभी-कभी दूतियाँ राजाको मार्ग दिखाती हुइ जब उस स्थानपर ले जातीं जहाँ लताओंके बीचमें सम्भोगके लिये फूलोंकी सेज बिछी रहती थी तब उसे यही डर बना रहता कि कहीं ये दासियाँ जाकर रानियोंसे न कह दें, इसलिये दासियोंको फुसलानेके लिये वह उन दासियोंसे

नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥ २४ ॥
चूर्णबभ्रुलुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम् ।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥ २५ ॥
स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥ २६ ॥
चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥ २७ ॥
दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥ २८ ॥
कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥ २९ ॥
प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशक्रशोभिनम् ।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥ ३० ॥
मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः ।
विद्म हे शठ पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥ ३१ ॥

ही सम्भोग करके उन्हें प्रसन्न कर देता था ॥२३॥ कभी-कभी जब वह भूलसे अपनी स्त्रियोंके आगे किसी बाहरी प्रेमिकाका नाम ले लेता तो वे स्त्रियाँ कहने लगतीं कि बड़ा अच्छा हुआ जो आपने अपनी प्रेमिकाका नाम बता दिया । धन्य है उसका भाग्य ! पर क्या करें, हमारा भी तो लोभी मन नहीं मानता । आपको कैसे छोड़ दें ? ॥२४॥ जब वह सोकर उठता तब उसका पलँग फैले हुए केसरके चूर्णसे सुनहरा दिखाई देता, उसपर फूलोंकी मसली हुई मालाएँ, टूटी हुई तगड़ियाँ और जहाँ-तहाँ महावरकी छाप पड़ी रहती थीं, जिसे देखकर प्रकट होता था कि वह कितना विलासी है ॥२५॥ कभी-कभी जब वह स्वयं स्त्रियोंके पैरोंमें महावर लगाने बैठ जाता और उसकी दृष्टि स्त्रियोंके उन नितम्बोंपर पड़ जाती जिनपरसे कपड़ा सरका हुआ रहता था तब उन्हें देखकर वह ऐसा मुग्ध हो जाता कि भलीभाँति महावर भी नहीं लगा पाता था ॥२६॥ सम्भोगके समय जब वह स्त्रियोंके ओठ चूसने लगता तब वे अपने मुँह फेर लेतीं और जब कमरका नाड़ा खोलने लगता तब हाथ थाम लेतीं । इस प्रकार वह जो कुछ करना चाहता, स्त्रियाँ कुछ भी नहीं करने देती थीं, फिर भी उसका काम बढ़ता ही गया ॥२७॥ जब कभी स्त्रियाँ दर्पणके आगे खड़ी होकर दाँत काटने या चूँटने आदि संभोगके चिह्नोंको देखने लगती थीं, तब राजा उनके पीछे चुपकेसे जा खड़ा होता और मुसकरा देता । जब दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब स्त्रियाँ देख लेतीं तब वे झेंपकर मुँह नीचा कर लेती थीं ॥२८॥ जब वह प्रातःकाल पलँगसे उठकर जाने लगता तब स्त्रियोंको इच्छा होती कि बिछुड़नेके पहले राजा एक बार गलेमें बाँहें डालकर चूम तो ले ॥२९॥ वह राजा इन्द्रके वस्त्रोंसे भी सुन्दर अपने राजसी वस्त्रको दर्पणमें देखकर उतना प्रसन्न नहीं होता था जितना संभोगके चिह्नोंको देखकर ॥३०॥ कभी-कभी अपनी रानियोंके पास बैठे-बैठे उसके मनमें किसी प्रियतमाके पास जानेकी इच्छा होती तो वह यह कहकर उठने लगता—'अरे ! मुझे एक मित्रसे मिलने जाना है ।' यह सुनकर रानियाँ ताड़ जातीं और कहने लगतीं कि हम भी भलीभाँति जानती हैं कि तुम

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥ ३२ ॥
संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ॥ ३३ ॥
योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन्।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४ ॥
वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥
अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसन्निधौ ॥ ३६ ॥
अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ ३७ ॥
विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥ ३८ ॥
कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥ ३९ ॥

किस मित्रके यहाँ जा रहे हो और फिर बाल पकड़कर उसे रोक लेतीं ॥३१॥ जब कभी उनके साथ बहुत देरतक संभोग करनेके कारण स्त्रियाँ अलसा जाती थीं तब वे अपने मोटे-मोटे स्तनोंसे राजाकी छातीके चन्दनको पोंछती हुई उसके वक्षःस्थलपर इस प्रकार सो जाती थीं मानो वे संभोगका वह कंठसूत्र नामका आसन साध रही हों जिसमें स्त्रियाँ पतिके ऊपर सोकर अपने स्तनोंसे धीरे-धीरे अपने प्रियतमकी छातीको थपकते हुए कसकर छातीसे लिपट जाती हैं ॥३२॥ रातको वह संभोगकी इच्छासे छिपकर जब बाहर जानेको होता था तब दूतियोंसे समाचार पाकर उसकी स्त्रियाँ उसके आगे आ खड़ी होतीं और यह कहते हुए खींच लातीं कि कहिए चकमा देकर रातको किधर चले ॥३३॥ स्त्रियोंके स्पर्शसे उसे वैसा ही आनन्द मिलता था जैसा चन्द्रमाकी किरणोंसे, अतः वह कुमुदोंके समान रातभर जागरण करता और दिनभर सोया रहता ॥३४॥ उसने गानेवाली स्त्रियोंके ओठोंपर अपने दाँतके और उनकी जाँघोंपर चूंट-चूंटकर नखोंके ऐसे घाव कर दिए थे कि जब वे अपने अधरोंपर बाँसुरी और जाँघपर वीणा रखतीं तब उन्हें बड़ा कष्ट होता और वे टेढ़ी भौंहोंसे राजाकी ओर देखने लगतीं (कि यह सब आपहीकी करतूत है।) उनकी यह भावभंगी देखकर राजा उनपर और भी रीझ उठता ॥३५॥ इतना ही नहीं, जब वह एकान्तमें स्त्रियोंको आंगिक, सात्त्विक और वाचिक तीनों प्रकारका अभिनय सिखाकर अपने मित्रोंके आगे उनका प्रदर्शन करता था तब वह बड़े-बड़े नाट्यशास्त्रियोंके भी कान काटता था ॥३६॥ वर्षा ऋतुमें वह कुटज और अर्जुनकी माला गलेमें डालकर तथा शरीरमें कदम्बके परागका अंगराग लगाकर, मतवाले मोरोंसे भरे हुए क्रीडा-पर्वतोंपर विहार किया करता था ॥३७॥ जब पलँगपर सोई हुई स्त्रियाँ रूठकर पीठ फेरकर सो जातीं तब राजा उन्हें मनाना नहीं चाहता था, वरन् यह चाहता था कि किसी प्रकार बादल गरज उठें जिससे डरकर ये स्वयं मेरी छातीसे आ चिपटें ॥३८॥ कार्तिककी रातोंमें वह राजभवनके ऊपर चँदोवा तनवा देता था

सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम् ।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥
मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जह्लुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥ ४१ ॥
अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशररात्रयो ययुः ॥ ४२ ॥
दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥ ४३ ॥
ताः स्यमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥
तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥
यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥
एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥ ४७ ॥

और सुन्दरियोंके साथ उस चाँदनीका आनन्द लेता था जो संभोगका श्रम दूर करती है और जो बादलोंके न रहनेसे बराबर फैली रहती है ॥३९॥ वह अपने राजभवनके झरोखेसे उस सरयूको देखा करता था जिसके तटपर उजले हंसोंकी पाँते बैठी रहती थीं। वह दृश्य ऐसा दिखाई देता था मानो सरयू उन सुन्दरियोंका अनुकरण कर रही हो जिनके नितम्बोंपर तगड़ी पड़ी हो ॥४०॥ पतली कमरवाली स्त्रियाँ जाड़ेमें ऐसे कपड़े पहनती थीं जो माड़ीके कारण करकराते चलते थे और जिनके नीचे झलकती हुई सोनेकी तगड़ीको बाँधने और खोलनेके लिये लालायित रहनेवाला वह राजा मोहित हो उठता था ॥४१॥ सब प्रकारकी संभोग-क्रीडा करने योग्य हेमन्त ऋतुकी बड़ी-बड़ी रातोंसे वह राज-भवनकी भीतरी कोठियोंमें विहार किया करता था जहाँ उसके साक्षी केवल वे दीप होते थे जो वायुके न आनेसे एकटक होकर सब कुछ देखा करते थे ॥४२॥ मलय पर्वतसे आए हुए दक्षिण पवनसे आमोंमें बौर छाए देखकर प्रेमिकाएँ कामोन्मत्त होकर राजासे रूठना छोड़ देतीं और उनके विरहमें व्याकुल होकर स्वयं उन्हें ढूंढने लगतीं ॥४३॥ उन स्त्रियोंको गोदमें बैठाकर वह उन झूलोंमें झूलने लगता जिन्हें नौकर झुलाया करते थे। राजा एक बार जब झूलेको झटका देता तो वे स्त्रियाँ भयका बहाना करके रस्सी छोड़ देतीं और राजाके गलेमें बाँह डालकर उनसे जा लिपटतीं ॥४४॥ ग्रीष्म ऋतुमें स्तनोंपर चन्दन लगाकर, मोतियोंके आभूषण पहनकर और नितम्बपर मणिकी तगड़ी लटकाकर वे स्त्रियाँ उस राजाके साथ संभोग करके उसे प्रसन्न करती रहती थीं ॥४५॥ उस समय वह आमकी बौर और पाटलका लाल फूल पात्रमें लगाकर आसव पीने लगता था जिससे वसंत बीतनेसे मंद पड़ा हुआ उसका काम फिर जाग उठता था ॥४६॥ इस प्रकार वह कामी राजा राज-काज छोड़कर इन्द्रिय-सुखोंका रस लेता हुआ सब ऋतुएँ बिताने लगा। वह कामक्रीडाके लिये भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका वेश बनाया करता था, इसलिये उसका वेश देखकर ही ज्ञात हो जाता था कि किस समय कौनसी

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥ ४८ ॥
दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥ ४९ ॥
तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥ ५० ॥
व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम् ।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥ ५१ ॥
बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥
स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य संततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥ ५३ ॥
तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधः ॥ ५४ ॥
तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥ ५५ ॥

ऋतु है ॥४७॥ इतना व्यसनमें लीन होनेपर भी दूसरे राजा उसके राज्यपर आक्रमण नहीं करते थे। फिर भी जैसे दक्षके शापसे चन्द्रमाको क्षय रोग हो गया था वैसे ही अधिक भोग-विलास करनेसे उसे भी क्षय रोग हो गया और धीरे-धीरे बढ़ने लगा ॥४८॥ वैद्योंके बार-बार रोकनेपर भी उसने कामको जगानेवाली वस्तुएँ नहीं छोड़ीं क्योंकि जब इन्द्रियाँ एक बार विषयोंमें जा फँसती हैं तब उन्हें रोकना कठिन हो जाता है ॥४९॥ धीरे-धीरे उसका शरीर पीला पड़ने लगा, दुर्बलताके कारण उसने आभूषण पहनना भी छोड़ दिया, वह नौकरोंके कन्धेपर सहारा देकर चलने लगा, उसकी बोली धीमी पड़ गई और यक्ष्मा रोगसे सूखकर वह ठीक विरहियोंके समान दिखाई देने लगा ॥५०॥ राजाके क्षय रोगसे रोगी होनेपर सूर्यकुल ऐसा रह गया जैसे एक कला भर बचा हुआ कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीका चन्द्रमा हो या कीचड़ भर बचा हुआ गर्मीके दिनोंका तालाब हो या तनिक-सी बची हुई दीपककी लौ हो ॥५१॥ जब प्रजा पूछती थी कि राजाको कोई भयानक रोग तो नहीं है, उस समय मन्त्री लोग प्रजाको यह कहकर समझाते थे कि राजा इस समय पुत्रोत्पत्तिके लिये व्रत आदि कर रहे हैं, इसलिये दुर्बल होते जा रहे हैं। इस प्रकार वे लोग राजाके रोगकी बात जनतासे छिपाते जा रहे थे ॥५२॥ अनेक रानियोंके होते हुए भी वह राजा पुत्रका मुँह नहीं देख सका और वैद्य लोग राजाको अच्छा नहीं कर सके। जैसे वायुके आगे दीपकका कुछ भी वश नहीं चलता वैसे ही राजा भी रोगसे नहीं बचाया जा सका ॥५३॥ अन्त्येष्टिकी विधि जाननेवाले पुरोहितसे मिलकर मंत्रियोंने रोग-शान्तिके बहानेसे राजाके शवको राजभवनके उपवनमें ही चुपचाप जलती अग्निमें रख दिया कि कहीं बाहर ले जानेसे यह रोग प्रजामें न फैल जाय ॥५४॥ मन्त्रियोंने शीघ्र ही प्रजाके नेताओंको इकठ्ठा किया और उनकी सम्मतिसे राजाकी उन पटरानीको सिंहासनपर ला बैठाया जिसमें गर्भके शुभ चिह्न

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोकादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ ५६ ॥
तं भावार्थप्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजानामन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हैमसिंहासनस्था राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥५७॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥

॥ इति रघुवंशम् ॥

दिखाई दे रहे थे ॥५५॥ राजाकी ऐसी दुःखद मृत्युसे महारानीकी आँखोंके गरम-गरम आँसुओंसे तपे हुए गर्भपर जब कुल-परम्पराके अनुसार अभिषेकके समय सोनेके घड़ेसे शीतल जल पड़ा तब वह गर्भ शीतल हो गया ॥५६॥ जैसे सावनमें बोए हुए मुट्ठी भर बीजोंको पृथ्वी छिपाए रहती है वैसे ही महारानी भी अपनी उस प्रजाकी भलाईके लिये गर्भ धारण किए हुए थीं जो पुत्र उत्पन्न होनेकी बाट जोह रही थी । इस प्रकार जिसका कहना कोई टाल नहीं सकता था वह गर्भवती महारानी बूढ़े मन्त्रियोंकी सम्मतिके अनुसार राजकाज चलाने लगीं ॥५७॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अग्निवर्णका शृङ्गार
नामका उन्नीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

॥ रघुवंश महाकाव्य पूर्ण हुआ ॥

॥ कुमारसम्भवम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

❀ कुमारसम्भवम् ❀

॥ प्रथमः सर्गः ॥

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ २ ॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ ३ ॥
यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥
आमेखलं संचरतां घनानां छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥ ५ ॥

पहला सर्ग

भारतके उत्तरमें देवताके समान पूजनीय (या देवताओं ही देवताओंसे भरा हुआ) हिमालय नामका बड़ा भारी पहाड़ है जो पूर्व और पश्चिमके समुद्रोंतक फैला हुआ ऐसा लगता है मानो वह पृथ्वीको नापने-तौलनेका मापदंड हो ॥१॥ राजा पृथुके कहनेसे सब पर्वतोंने मिलकर इसे बछड़ा बनाया और दुहनेमें चतुर मेरु पर्वतको ग्वाला बनाकर पृथ्वी-रूपी गौसे सब चमकीले रत्न और जड़ी-बूटियाँ दूह निकालीं ॥२॥ अनगिनत रत्न उत्पन्न करनेवाले इस हिमालयकी शोभा हिमके कारण कुछ कम नहीं हुई क्योंकि जहाँ बहुतसे गुण हों वहाँ यदि एक-आध अवगुण आ भी जाय तो उसका वैसे ही पता नहीं पड़ता जैसे चन्द्रमाकी किरणोंमें उसका कलंक छिप जाता है ॥३॥ हिमालयकी कुछ चोटियोंपर गेरु आदि धातुओंकी अनेक रंग-बिरंगी चट्टानें हैं इसलिये कभी-कभी उन चट्टानोंके पास पहुँचे हुए बादलोंके टुकड़े उनके रंगकी छाया पड़नेसे सन्ध्याके बादलों-जैसे रंग-बिरंगे दिखाई पड़ने लगते हैं । उन्हें देखकर सन्ध्या होनेसे पहले ही वहाँकी अप्सराओंको यह भ्रम हो जाता है कि सन्ध्या हो गई और इस हड़बड़ीमें वे सायंकालके नाच-गानेके लिये अपना शृङ्गार करना प्रारम्भ कर देती हैं ॥४॥ इसकी कुछ चोटियाँ इतनी ऊँची उठी हुई हैं कि मेघ भी उनके बीचतक ही पहुँचकर रह जाते हैं, उनके ऊपरका आधा भाग मेघोंके ऊपर निकला रहता है । इसलिये निचले भागमें छायाका आनन्द लेनेवाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षासे घबरा उठते हैं; तब वे बादलोंके ऊपर उठी हुई उन चोटियोंपर जा रहते हैं जहाँ उस समय भी धूप बनी रहती

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ ६ ॥
न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥ ७ ॥
यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥ ८ ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥
वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १० ॥
उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥ ११ ॥
दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव ॥ १२ ॥
लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥ १३ ॥

है ॥५॥ यहाँके सिंह जब हाथियोंको मारकर चले जाते हैं तब रक्तसे लाल रँगे हुए उनके पञ्जोंकी पड़ी हुई छाप तो हिमकी धारासे धुल जाती है पर सिंहोंके नखोंसे गिरी हुई गजमुक्ताओंको देखकर ही वहाँके किरात जान लेते हैं कि सिंह किधरसे होकर गए हैं ॥६॥ इस पर्वतपर उत्पन्न होनेवाले जिन भोज-पत्रोंपर लिखे हुए अक्षर हाथीकी सूँडपर बनी हुई लाल बूँदकियों-जैसे दिखाई पड़ते हैं उन्हें विद्याधारियाँ अपने प्रेम-पत्र लिखनेके काममें लाया करती हैं ॥७॥ इस पहाड़पर ऐसे छेदवाले बाँस बहुतायतसे होते हैं जो वायु भर जानेपर ऐसे बजने लगते हैं मानों ऊँचे स्वरसे गानेवाले किन्नरोंके गीतोंके साथ ये संगत कर रहे हों ॥८॥ जब यहाँके हाथी अपनी कनपटी खुजलानेके लिये देवदारुके पेड़ोंसे माथा रगड़ते हैं तब उनसे ऐसा सुगन्धित दूध बह निकलता है कि उनकी महकसे इस पर्वतकी सभी चोटियाँ एक साथ गमक उठती हैं ॥९॥ यहाँकी गुफाओंमें रातको चमकनेवाली जड़ी-बूटियाँ भी बहुत होती हैं। इसलिये यहाँके किरात लोग जब अपनी-अपनी प्रियतमाओंके साथ उन गुफाओंमें विहार करने आते हैं तब वे चमकीली जड़ी-बूटियाँ ही उनकी काम-क्रीडाके समय बिना तेलके दीपक बन जाती हैं ॥१०॥ वहाँकी किंनरियाँ जब जमे हुए हिमके मार्गोंपर चलने लगती हैं तब उनकी उँगलियाँ और एड़ियाँ ऐंठ जाती हैं, पर वे करें क्या ! अपने भारी नितम्बों और स्तनोंके बोझके मारे वे बेचारी झपटकर चल नहीं पातीं और चाहते हुए भी वे अपनी स्वाभाविक मन्द गतिको छोड़ नहीं पातीं ॥११॥ हिमालयकी लम्बी गुफाओंमें दिनमें भी अँधेरा छाया रहता है मानो अँधेरा भी दिनसे डरनेवाले उल्लूके समान इसकी गहरी गुफाओंमें दिनमें जा छिपता है और हिमालय भी उसे अपनी गोदमें शरण दे देता है क्योंकि जो महान् होते हैं वे अपनी शरणमें आए हुए नीच लोगोंसे भी वैसा ही अपनापन बनाए रहते हैं जैसा सज्जनोंके साथ ॥१२॥ जिन हरिणियोंकी पूँछोंके चँवर बनते हैं वे चमरी हरिणियाँ जब यहाँ चन्द्रमाकी किरणोंके समान अपनी धौली पूँछें इधर-उधर घुमाती चलती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वे इस पर्वतराजपर पूँछके चँवर डुलाकर इसका गिरिराज नाम सच्चा किए डाल रही हों ॥१३॥ जब यहाँकी गुफाओंमें

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥ १४ ॥
भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥ १५ ॥
सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥ १६ ॥
यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥ १७ ॥
स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥ १८ ॥
कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद्भूधरराजपत्न्याः ॥ १९ ॥
असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसख्यम् ।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम् ॥ २० ॥
अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी ।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ॥ २१ ॥

किनरियाँ अपने प्रियतमोंके साथ काम-क्रीडा किया करती हैं उस समय जब वे शरीरपरसे वस्त्र हट जानेके कारण लजाने लगती हैं तब बादल उन गुफाओंके द्वारोंपर आकर ओट करके अँधेरा कर देते हैं ।।१४।। गंगाके झरनोंकी फुहारोंसे लदा हुआ, बार-बार देवदारुके वृक्षको कँपाता हुआ और किरातोंकी पेटीमें बँधे हुए मोरपंखोंको फरफराता हुआ यहाँका शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन उन किरातोंकी थकान मिटाता चलता है जो मृगोंकी खोजमें हिमालयपर इधर-उधर घूमते रहते हैं ।।१५।। इसकी ऊँची चोटियोंपरके तालाबोंमें मिलनेवाले कमलोंको जब स्वयं सप्तर्षिगण पूजाके लिये अपने सप्तर्षिमण्डलसे आ आकर तोड़ ले जाया करते हैं तब उनके चुननेसे जो कमल बच रहते हैं उन्हें नीचे उदय होनेवाला सूर्य अपनी किरणें ऊँची करके खिला दिया करता है ।।१६।। यज्ञमें काम आनेवाली सामग्रियोंको उत्पन्न करनेके कारण और पृथ्वीको सँभाले रखनेकी शक्ति होनेके कारण इस हिमालयको स्वयं ब्रह्माने उन पर्वतोंका स्वामी बना दिया है जिन्हें यज्ञमें भाग पानेका अधिकार मिला हुआ है ।।१७।। सुमेरु पर्वतके राजाके मित्र और मर्यादा जाननेवाले हिमालय (के राजा)-ने अपना वंश चलानेके लिये मेना नामकी उस कन्यासे शास्त्रके अनुसार विवाह किया जो पितरोंके मनसे उत्पन्न हुई थी, जिसका मुनि लोग भी आदर करते हैं और जो हिमालयके राजाके समान ही ऊँचे कुल और शीलवाली थी ।।१८।। विवाह हो जानेपर हिमालयके राजा और मेना दोनोंने मनचाहा भोग-विलास किया और कुछ दिनोंमें पर्वतराजकी वह सुन्दर और युवती पत्नी मेना गर्भवती हो गई ।।१९।। मेनाके उस गर्भसे मैनाक नामका वह प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने नाग-कन्याके साथ विवाह किया, समुद्रके साथ मित्रता की और पर्वतोंके पंख काटनेवाले इन्द्रके रुष्ट हो जानेपर भी उनके वज्रकी चोट अपने शरीरपर नहीं लगने दी ।।२०।। मैनाकके जन्मके कुछ ही दिनों पीछे ऐसा हुआ कि महादेवकी पहली पत्नी और दक्षकी कन्या परम साध्वी सतीने अपने पितासे अपमानित होनेके कारण योग-बलसे अपना शरीर छोड़ दिया और दूसरा जन्म लेनेके लिये वे मेनाकी कोखमें आ बसीं ।।२१।। और जैसे ठीक-ठीक काममें लाई जानेके कारण कभी असफल

सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन संपत् ॥ २२ ॥
प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि।
शरीरिणां स्थावरजंगमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥ २३ ॥
तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥ २४ ॥
दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥ २५ ॥
तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव।
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥ २६ ॥
महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ २७ ॥
प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥ २८ ॥
मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥ २९ ॥
तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ ३० ॥

न होनेवाली नीति उत्साहका सहारा पाकर बड़ी सम्पत्ति उत्पन्न करती है, उसी प्रकार हिमालयने भी उस पतिव्रता मेनाके द्वारा उस कल्याणीको जन्म दिया ॥२२॥ उसके जन्मके दिन आकाश खुला हुआ था, पवनमें धूलका नाम भी नहीं था, आकाशसे शंख बजनेके साथ-साथ फूल बरसे पड़ रहे थे और चर-अचर सभी उनके जन्मसे प्रसन्न हो उठे थे ॥२३॥ जैसे नये मेघके गरजनेपर विदूर पर्वतके रत्नोंमें अंकुर फूट आते हैं और उनके प्रकाशसे विदूर पर्वतकी भूमि चमक उठती है वैसे ही तेजोमण्डलसे भरे मुखवाली उस कन्याको गोदमें पाकर मेना भी खिल उठीं ॥२४॥ धीरे-धीरे पार्वती भी चन्द्रकलाके समान दिन-दिन बढ़ने लगीं और जैसे चाँदनीके बढ़नेके साथ-साथ चन्द्रमाकी और सभी कलाएँ भी बढ़ने लगती हैं वैसे ही ज्यों-ज्यों पार्वती बढ़ने लगीं त्यों-त्यों उनके सुन्दर अंग भी सुडौल होकर बढ़ने लगे ॥२५॥ पर्वतसे उत्पन्न होनेके कारण पिताने और कुटुम्बियोंने सबकी दुलारी उस कन्याको पार्वती कहकर पुकारना आरम्भ कर दिया। पीछे जब पार्वतीको उनकी माताने उमा [उ = हे (वत्से) मा = (तप मत करो)] कहकर तपस्या करनेसे रोका था तबसे उनका नाम ‘उमा’ पड़ गया ॥२६॥ जैसे भौंरोंकी पाँतें वसन्तके ढेरों फूल छोड़कर आमकी मञ्जरियोंपर ही जा मँडराती हैं वैसे ही अनेक सन्तानोंके होते हुए भी हिमवानकी आँखें पार्वतीपर ही अटकी रहती थीं ॥२७॥ जैसे अत्यन्त प्रकाशमान् लौको पाकर दीपक, मन्दाकिनीको पाकर स्वर्गका मार्ग और व्याकरणसे शुद्ध वाणी पाकर विद्वान् लोग पवित्र और सुन्दर लगने लगते हैं वैसे ही पार्वतीको पाकर हिमवान् भी पवित्र और सुन्दर हो गए ॥२८॥ पार्वती अपनी सखियोंके साथ कभी तो गंगाके बलुए तटपर वेदियाँ बनाती थीं, कभी गेंद खेलती थीं और कभी गुड्डे बना-बनाकर सजाती थीं। इस प्रकार खेल-कूदमें ही उनका पूरा बचपन बीत गया ॥२९॥ जब

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥ ३१ ॥
उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ ३२ ॥
अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥ ३३ ॥
सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥ ३४ ॥
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ॥ ३५ ॥
नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥ ३६ ॥
एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः।
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥ ३७ ॥

अत्यन्त तीव्र बुद्धिवाली पार्वतीने पढ़ना प्रारम्भ किया तब पूर्व जन्मकी सभी विद्याएँ उन्हें उसी प्रकार अपने आप स्मरण हो आईं जैसे शरद् ऋतुके आ जानेपर गंगामें हंस आ जाते हैं या जैसे अपने आप चमकनेवाली जड़ी-बूटियोंमें रातको चमक आ जाती है ॥३०॥ इस प्रकार धीरे-धीरे उनका बचपन बीत गया और उनके शरीरमें वह यौवन फूट पड़ा जो शरीरकी लताका स्वाभाविक सिंगार है, जो मदिराके बिना ही मनको मतवाला बना देता है और जो कामदेवका बिना फूलोंवाला बाण है ॥३१॥ जैसे कूँचीसे ठीक-ठीक रंग भरनेपर चित्र खिल उठता है और सूर्यकी किरणोंका परस पाकर कमलका फूल हँस उठता है वैसे ही पार्वतीका शरीर भी नया यौवन पाकर बहुत खिल उठा ॥३२॥ जब वे चलती थीं तब उनके स्वाभाविक लाल और कोमल पैरोंके उठे हुए अँगूठोंके नखोंसे निकलनेवाली चमकको देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे पैर ललाई उगल रहे हों और जब वे अपने इन चरणोंको उठा-उठाकर रखती चलती थीं तब तो ऐसा जान पड़ता था मानो वे पग-पगपर स्थल कमल उगलती चल रही हों ॥३३॥ यौवनके भारसे झुकी हुई जब वे हाव-भावसे चलती थीं उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो उनके बिछुओंसे निकलनेवाली मधुर ध्वनि सीखनेको ललचे हुए राजहंसोंने अपनी हाव-भरी चाल उन्हें पहले ही बदलेमें सिखा दी हो ॥३४॥ उनके समूचे शरीरको सुन्दर बनानेके लिये ब्रह्माने सुन्दरताकी जितनी सामग्रियाँ इकट्ठी की थीं वे सब तो उनकी चढ़ाव-उतारवाली, गोल और ठीक मोटाईवाली जाँघोंके बनानेमें ही समाप्त हो गईं। इसलिये शेष अंगोंको बनानेके लिये सुन्दरताकी और सामग्रियाँ फिर जुटानेमें ब्रह्माको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा ॥३५॥ पार्वतीकी उन दोनों मोटी जाँघोंकी उपमा दो ही वस्तुओंसे दी जा सकती थी—एक तो हाथीके सूँड़से और दूसरे केलेके खंभेसे। पर हाथीकी सूँड़ कड़ी होती है और केलेका खंभा बड़ा ठण्डा होता है इसलिये पार्वतीकी बड़ी-बड़ी जाँघोंके जोड़की कोई भी ठीक वस्तु मिल न पा सकीं ॥३६॥ अत्यन्त सुन्दर अंगोंवाली उन पार्वतीके नितम्ब कितने सुंदर रहे होंगे यह तो इसी बातसे आँका जा सकता है कि विवाह करनेपर स्वयं शिवने उन नितम्बोंको अपनी उस गोदमें लिए रक्खा जहाँतक पहुँचनेकी कोई और स्त्री साध भी नहीं कर सकती ॥३७॥ नये यौवनके आनेके कारण नाड़ेके ऊपर गहरी नाभितक पहुँची हुई

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥ ३८ ॥
मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ३९ ॥
अन्योन्मुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥ ४० ॥
शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥ ४१ ॥
कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥ ४२॥
चन्द्रं गता पद्मगुणान्नभुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ ४३ ॥
पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ ४४ ॥
स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥ ४५ ॥

बालोंकी जो नई पतली रेखा बन गई थी उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो नाड़ेके ऊपर बँधी हुई उनकी तगड़ीके बीचोबीच जड़ा हुआ नीलम चमक उठा हो ॥३८॥ उस पतली कमरवाली और नये यौवनवालीके पेटपर जो तीन सिकुड़नकी रेखाएँ पड़ी हुई थी उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवको ऊपर स्तन आदि अंगोंतक चढ़ा ले जानेके लिए नये यौवनने सीढ़ी बना खड़ी की हो ॥३९॥ उन कमलके समान आँखोंवाली पार्वतीके, साँवली घुंडियोंवाले गोरे-गोरे दोनों स्तन बढ़कर आपसमें इतने सट गए थे कि उनके बीचमें इतना भी स्थान नहीं रह गया कि कमलकी नालका एक सूत भी उसमें समा सके ॥४०॥ मेरी समझमें पार्वतीकी भुजाएँ सिरसके फूलसे भी अधिक कोमल थीं, इसीलिये तो फूलोंके अस्त्रवाले कामदेवने शिवसे हार जानेपर उनके गलेमें इन्हीं भुजाओंका फन्दा बनाकर डाल दिया था ॥४१॥ पार्वतीका गोल-मटोल गला और उसपरसे उनके ऊँचे स्तनोंपर लटका हुआ गोल मोतियोंका हार, दोनों एक दूसरेकी शोभा बढ़ाए जा रहे थे (पार्वतीके कण्ठकी शोभा हार बढ़ा रहा था और उस हारकी शोभा उनका कण्ठ बढ़ा रहा था) ॥४२॥ (जबतक वे उत्पन्न नहीं हुई थीं तबतक) चंचल शोभावाली लक्ष्मी बड़ी दुविधामें पड़ी रहती थीं क्योंकि रातको जब वे चन्द्रमामें पहुँचती थीं तब उन्हें कमलका आनन्द नहीं मिल पाता था और जब दिनमें वे कमलमें आ बसती थीं तब रातके चन्द्रमाका आनन्द उन्हें नहीं मिल पाता था। पर जबसे वे (चन्द्रमा और कमल दोनोंके गुणवाले) पार्वतीजीके मुखमें आ बसीं तबसे उन्हें (चन्द्रमा और कमल) दोनोंका आनन्द एक साथ मिलने लगा था ॥४३॥ उनके लाल-लाल ओठोंपर फैली हुई उनकी मुस्कराहटका उजलापन ऐसा सुन्दर लगता था जैसे लाल कोंपलमें कोई उजला फूल ला रक्खा गया हो या स्वच्छ मूँगेके बीचमें मोती ला जड़ा गया हो ॥४४॥ वे मधुर वाणीवाली पार्वती जब बोलने लगती थीं तब मानो अमृतकी धारा फूट निकलती हो। उनकी मीठी बोलीके आगे कोयलकी कूक कानोंको ऐसी कड़वी लगती थी जैसे किसी अनाड़ीने अनमिली वीणाके बेसुरे तार आ छेड़े हों ॥४५॥ उन बड़ी-बड़ी आँखोंवाली

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ।। ४६ ।।
तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ।। ४७ ।।
लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ।। ४८ ।।
सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ।। ४९ ।।
तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ।। ५० ।।
गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ।। ५१ ।।
अयाचितारं नहि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ।। ५२ ।।
यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ।। ५३ ।।

पार्वतीकी चितवन, आँधीसे हिलते हुए नीले कमलोंके समान इतनी चंचल थी कि उसे देखकर यही पता नहीं चल पाता था कि यह कला उन्होंने हरिणियोंसे सीखी थी या हरिणियोंने उनसे ।।४६।। उनकी लम्बी और मनोहर भौंहें ऐसी लगती थीं जैसे किसीने उन्हें तूलिका लेकर बनाया हो। वे भौंहें इतनी सुन्दर थीं कि कामदेव भी अपने धनुष्की सुन्दरताका जो घमंड लिए फिरते थे वह इन भौंहोंके आगे चूर-चूर हो गया ।।४७।। उनके बाल इतने सुन्दर थे कि यदि पशु-पक्षियोंमें भी मनुष्यके समान लज्जा हुआ करती तो अपने बालोंपर इतरानेवाली चौंरी हरिणियाँ भी उनके बाल देखकर अपने चँवरोंपर इठलाना भूल जातीं ।।४८।। पार्वतीको देखकर ऐसा जान पड़ता था कि संसारको बनानेवाले ब्रह्माने इस पृथ्वीपरकी सारी सुन्दरता एक साथ देखनेके लिये सुन्दर अङ्गोंकी उपमामें आनेवाली सब वस्तुओंको जतनसे बटोरकर उन्हें सब अङ्गोंपर यथास्थान सजाकर सुन्दरताकी मूर्ति पार्वतीको गढ़ बनाया था ।।४९।। अपने मनसे इधर-उधर घूमनेवाले नारद एक दिन घूमते-घामते जब हिमालयके यहाँ पहुँचे तो देखते क्या हैं कि हिमालयके पास उनकी कन्या भी बैठी हुई हैं। उन्हें देखते ही नारदने यह भविष्यवाणी कर दी कि यह कन्या अपने प्रेमसे शिवके आधे शरीरकी स्वामिनी और उनकी अकेली पत्नी बनकर रहेगी ।।५०।। यद्यपि पार्वती सयानी होती चली जा रही थीं पर नारदकी बातसे हिमालय इतने निश्चिन्त हो गये कि उन्होंने दूसरा वर खोजनेकी चिन्ता ही छोड़ दी क्योंकि जैसे मन्त्रसे दी हुई हवनकी सामग्री, अग्निको छोड़कर और कोई नहीं ले सकता वैसे ही महादेवको छोड़कर पार्वतीको और ग्रहण ही कौन कर सकता था? ।।५१।। पर हिमालयने सोचा कि जबतक स्वयं महादेव ही कन्या माँगने नहीं आते तबतक अपने-आप उन्हें कन्या देने जाना ठीक नहीं जँचता। इसीलिये जहाँ सज्जन लोगोंको निरादरका डर होता है वहाँ वे अपने काममें किसी बिचवईको साथ ले लिया करते हैं ।।५२।। इधर जबसे सतीने अपने पिता दक्षके हाथों महादेवका अपमान होनेपर क्रोध करके यज्ञकी अग्निसे अपना शरीर जला छोड़ा था तभीसे महादेवने भी सब भोग-विलास छोड़ दिए थे और दूसरा विवाह नहीं किया था ।।५३।। इतना ही नहीं,

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु ।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगंधि किंचित्क्वणत्किंनरमध्युवास ॥ ५४ ॥
गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधाना ।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥ ५५ ॥
तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथंचिद्गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥ ५६ ॥
तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥ ५७ ॥
अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ॥ ५८ ॥
प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ ५९ ॥
अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥ ६० ॥

॥ इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
उमोत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्गः ॥

अपनी इन्द्रियोंको जीतनेवाले और खाल ओढ़नेवाले भगवान् शङ्कर भी कस्तूरीकी गन्धमें बसी हुई हिमालयकी एक ऐसी सुन्दर चोटीपर जाकर तप करने लगे जहाँके देवदारुके वृक्षोंको गंगाकी धारा बराबर सींचती रहती थीं और जहाँ गन्धर्व दिन-रात गाते रहते थे ॥५४॥ उनके पास ही सिरपर नमेरुके कोमल फूलोंकी माला बाँधे, शरीरपर भोजपत्र लपेटे और मैनसिलके रङ्गसे अपना शरीर रँगे हुए उनके प्रमथ आदि गण शिलाजीतसे पुती हुई चट्टानोंपर बैठे पहरा देते रहते थे ॥५५॥ उनके पास ही उनका गर्वीला नन्दी साँड़ भी रहता था जो गरजते हुए सिंहकी दहाड़को न सह सकनेके कारण जब अपने खुरोंसे हिमकी चट्टानोंको खूँदता हुआ डकरा उठता था तब नीलगाएँ घबराकर उसे देखती रह जाती थीं कि यह सिंह-जैसा गरजनेवाला दूसरा कौन आ पहुँचा ॥५६॥ उसी चोटीपर सब तपस्याओंका स्वयं फल देनेवाले शिवने अपनी ही दूसरी मूर्ति अग्निको समिधासे जगाकर न जाने किस फलकी इच्छासे तप करना प्रारंभ कर दिया था ॥५७॥ जिन महादेवको स्वर्गके देवता पूजते हैं, उनकी पूजाके लिये हिमालय के राजा अपनी पुत्रीके साथ महादेवकी सेवामें बहुमूल्य पूजाकी सामग्री लेकर जा पहुँचे। पहले इन्होंने स्वयं उनकी पूजा की और फिर अपनी कन्याको आज्ञा दी कि अपनी सखियोंके साथ जाकर शिवकी पूजा करो ॥५८॥ यद्यपि पार्वतीके वहाँ रहनेसे शिवजीके तपमें बाधा पड़ सकती थी, फिर भी उन्होंने पार्वतीकी सेवा स्वीकार कर ली, क्योंकि सच्चा धीर महात्मा उन्हें ही समझना चाहिए जिनका मन विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंके बीच रहकर भी तिलभर न डिगे ॥५९॥ सुन्दर बालोंवाली पार्वती वहाँ रहकर नियमसे प्रति-दिन पूजाके लिये फूल चुनकर बड़े अच्छे ढंगसे वेदी धो-पोंछकर और नित्यकर्मके लिये जल और कुश लाकर बिना थकावट माने उनकी सेवा किया करतीं क्योंकि महादेवके माथेपर बैठे हुए चन्द्रमाकी ठण्डी किरणें पार्वतीकी थकान सदा मिटाती रहती थीं ॥६०॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव नामके महाकाव्यमें उमाका जन्म
नामका पहला सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः। तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः ॥१॥
तेषामाविरभूद्ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम्। सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव ॥२॥
अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्। वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ॥३॥
नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने। गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥४॥
यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया। अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥५॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्। प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥६॥
स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया। प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥७॥
स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य ते। यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥८॥
जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः। जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥९॥
आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना। आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे १०।
द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः। व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ११।

दूसरा सर्ग

उन्हीं दिनों तारक नामके राक्षसने देवताओंको इतना सता मारा था कि वे सब (घबराकर) इन्द्रको आगे करके ब्रह्माके पास जा पहुँचे ॥ १ ॥ उन उदास मुँहवाले देवताओं के सामने ब्रह्मा उसी प्रकार आ प्रकटे जैसे तालाबमें सोए कमलोंके आगे प्रातःकालका सूर्य आ उगता है ॥ २॥ ब्रह्माको सामने देखते ही वे सब देवता उन चार मुँहोंवाले और सारे जगत्को बनानेवाले ब्रह्माको प्रणाम करके बड़े भेद-भरे शब्दोंमें यह स्तुति करने लगे—॥३॥ 'भगवन्! संसार रचनेसे पहले एक ही रूपमें रहनेवाले और संसार रचते समय, सत्त्व, रज, और तम तीन गुण उत्पन्न करके ब्रह्मा; विष्णु और महेश नामसे तीन रूपके बन जानेवाले आपको प्रणाम है ॥४॥ ब्रह्मन्! आपने सबसे पहले जल उत्पन्न करके उसमें ऐसा बीज बो दिया जो कभी अकारथ नहीं जाता और जिसमें एक ओर ये पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चलने वाले जीव और दूसरी ओर वृक्ष, पहाड़ आदि न चलनेवाला जगत् उत्पन्न हो उठा। इसीलिये आपको ही सब लोग संसारका उत्पन्न करनेवाला बताते हैं ॥ ५ ॥ आप ही रूद्र, विष्णु और हिरण्यगर्भ, इन तीन रूपोंसे अपनी शक्ति प्रकट करके संसारका नाश, पालन और उत्पादन करते रहते हैं ॥ ६ ॥ आप जब स्त्री और पुरुषकी सृष्टि करने चलते हैं, उस समय आपके ही स्त्री और पुरुष दो रूप बन जाते हैं। आपके ही दोनों रूप सारे संसारके माता-पिता कहे जाते हैं ॥७॥ आपने समयकी जो माप बना रक्खी है उसके अनुसार जो दिन और रात होते हैं, उनमें जब आप सोए रहते हैं तब संसारका महाप्रलय हुआ रहता है और जब आप जागते हैं तब संसारकी सृष्टि होती है ॥८॥ संसारको तो आपने उत्पन्न किया है पर आपको किसीने उत्पन्न नहीं किया। आप तो संसारका अन्त कर सकते हैं पर आपका कोई अन्त नहीं कर सकता। आपने तो संसारका प्रारम्भ किया है पर आपका कभी प्रारम्भ नहीं हुआ। आप तो संसारके स्वामी हैं पर आपका कोई स्वामी नहीं है ॥९॥ आप, अपनेमें ही अपनेको जानते हैं और अपने आप अपनेको उत्पन्न करते हैं और जब अपना काम पूरा कर चुकते हैं तब अपनेको अपनेमें ही लीन कर लेते हैं ॥१०॥ आप तरल भी हैं ठोस भी, मोटे भी हैं पतले भी, छोटे भी हैं बड़े भी, आप दिखाई भी देते हैं और नहीं भी दिखाई देते। इस प्रकार जितनी भी सिद्धियाँ हैं वे सब आपके हाथमें हैं। आप जैसा चाहें वैसा

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्। कर्मयज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्।।१२।
त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्। तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ।।१३।।
त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता। परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि।।१४।।
त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः। वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्।।१५।।
इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयंगमाः। प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः।।१६।।
पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता। प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी।।१७।।
स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्य वः। युगपद्युगबाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः।।१८।।
किमिदं द्युतिमात्मीयां न बिभ्रति यथा पुरा। हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः १९।
प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम्। वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिता श्रीव लक्ष्यते ।।२०।।
किंचायमरिदुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः। मात्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः ।।२१।।
कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम्। अपविद्धगदो बाहुर्भग्नशाख इव द्रुमः ।।२२।।
यमोऽपि विलिखन्भूमिं दंडेनास्तमितत्विषा। कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम् २३।
अमी च कथमादित्याः प्रतापक्षतिशीतलाः। चित्रन्यस्ता इव गताः प्रकामालोकनीयताम्।२४।।

बन सकते हैं ।। ११ ।। आपने ही वेदकी वह वाणी उत्पन्न की है जिसका प्रारम्भ ॐकारसे होता है, जिसका उच्चारण उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों स्वरोंसे होता है और जिसके मन्त्रोंसे यज्ञ करके लोग स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं ।। १२ ।। आपको ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिये मनुष्यको उकसानेवाली मूल प्रकृति कहते हैं और आप ही उस प्रकृतिका दर्शन करनेवाले उदासीन पुरुष भी माने जाते हैं ।।१३।। आप पितरोंके भी पिता, देवताओंके भी देवता, अच्छोंसे भी अच्छे और सृष्टि करनेवाले प्रजापतियोंकी भी सृष्टि करनेवाले हैं ।। १४ ।। आप ही सदा हवनकी सामग्री भी हैं और आप ही हवन करनेवाले भी हैं। आप ही भोगकी वस्तुएँ भी हैं और आप ही भोग करनेवाले भी हैं। आप ही जाननेके योग्य हैं और आप ही जाननेवाले भी हैं। आप ही ध्यान करनेवाले हैं और आप ही वह सर्वश्रेष्ठ हैं जिनका ही ध्यान किया जाना चाहिए' ।।१५।। देवताओंसे सच्ची और मनभावनी स्तुति सुनकर दयालु ब्रह्मा जिस समय देवताओंसे बोलने लगे ।।१६।। उस समय सबसे पुराने कवि ब्रह्माके मुँहोंसे निकली हुई वाणीने अपना चार (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) रूपोंवाला होना सच्चा कर दिया ।।१७।। ब्रह्मा बोले—एक साथ मिलकर आए हुए, अपनी शक्तिसे अपने-अपने अधिकारोंकी रक्षा करनेवाले और बड़ी-बड़ी बाँहोंवाले शक्तिशाली देवताओं ! मैं आप लोगोंका स्वागत करता हूँ ।।१८।। पर यह तो बताइए कि आप लोगोंके मुँहकी पहलेवाली कान्ति कहाँ उड़ गई ? आप लोग कुहरेसे ढके हुए धुंधले तारेके समान इतने उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं ।।१९।। वृत्रको मारनेवाला और इन्द्रधनुषके समान चमकीला आपका वज्र भी आज अपनी चमक खोकर कुण्ठितसा क्यों दिखाई दे रहा है ।।२०।। शत्रुओंका नाश करनेवाला यह वरुणदेवके हाथका फन्दा भी बँधे हुए साँपके समान इतना दीन क्यों दिखाई दे रहा है ? ।।२१।। कुबेरका यह बाहु भी गदाके बिना ऐसा क्यों लग रहा है जैसे कटी हुई शाखावाला वृक्षका ठूंठ हो ? यह बता रहा है कि किसी बड़े तगड़े शत्रुसे हार जानेका काँटा इनके हृदयमें कसके जा रहा है ।।२२।। अपने निस्तेज दण्डसे पृथ्वीको कुरेदते हुए यमराज ऐसे क्यों लग रहें हैं मानो उनका करारा दण्ड भी बुझी हुई लूक-जैसा बेकाम हो गया है ? ।।२३।। यह बारह आदित्य भी अपना तेज गँवाकर ठंडे पड़े हुए, ऐसे चित्र लिखे-से और मंदे क्यों दिखाई

पर्याकुलत्वान्मरुतां वेगभङ्गोऽनुमीयते । अम्भसामोघसंरोधः प्रतीपगमनादिव ॥२५॥
आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः । रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः ॥२६॥
लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः । अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥२७॥
तद्ब्रूत वत्साः किमितः प्रार्थयध्वं समागताः । मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता २८।
ततो मन्दानिलोद्धूतकमलाकरशोभिना । गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥२९॥
स द्विनेत्रं हरेश्चक्षुः सहस्रनयनाधिकम् । वाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम् ॥३०॥
एवं यदात्थ भगवन्नामृष्टं नः परैः पदम् । प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि प्रभो ॥३१॥
भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः । उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३२॥
पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम् । दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥३३॥
सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते । नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम् ॥३४॥
व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात् । न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकम् ।३५।
पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसंभारतत्पराः । उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥३६॥

दे रहे हैं कि कोई भी जबतक चाहे उन्हें आँख गड़ाकर देखता रह जाय ? ॥२४॥ जैसे ऊँचेकी ओर बहनेवाले जलका बहाव धीमा पड़ जाता है वैसे ही उनचासों पवन ऐसे क्यों दिखाई पड़ रहे हैं जैसे वे भी घबराहटसे ढीले पड़ गए हों ? ॥२५॥ खुली जटाओंमें लटकती और हारके दुःखसे झुकी हुई चन्द्रकलाओंवाले ग्यारह रुद्रोंके माथे भी बता रहे हैं कि उनकी हुंकार करने तककी शक्ति जाती रही है ॥२६॥ जैसे व्याकरण आदि शास्त्रोंमें अपवादवाला नियम किसी व्यापक नियमको व्यर्थ कर देता है वैसे ही क्या आप लोग भी किसी पराक्रमी शत्रुसे अपना-अपना अधिकार छिनवा बैठे हैं ? ॥२७॥ देवताओं ! मुझे बताइए कि आप लोग मेरे पास इकट्ठे होकर क्या कहनेके लिये आए हैं, क्योंकि हमारा काम तो केवल संसारकी सृष्टि करना भर है, उसकी रक्षा करना तो आप ही लोगोंके हाथमें है' ॥२८॥ ब्रह्माकी यह बात सुनकर इन्द्रने अपने सहस्र नेत्रोंको इस प्रकार चलाकर बृहस्पतिको बोलनेके लिये संकेत किया जैसे मन्द पवनके चलनेपर कमलका वन हिल उठता है ॥२९॥ जिनके दो नेत्रोंमें ही इन्द्रके सहस्र नेत्रोंसे भी बढ़कर देखनेकी शक्ति थी वे बृहस्पतिजी, हाथ जोड़कर ब्रह्मासे कहने लगे—॥३०॥ 'ब्रह्मन् ! आप जो कुछ कह रहे हैं सब सत्य है ! हम लोगोंके सब स्थान शत्रुओंने अपने हाथमें कर लिए हैं। आप तो सबके घट-घटमें रमे हुए हैं, भला आपसे कोई बात छिपी थोड़े ही रहती है ॥३१॥ भगवन् ! आपका वरदान पाकर तारक नामका राक्षस ठीक वैसे ही सिर उठाता चला जा रहा है जैसे संसारका नाश करनेके लिए पुच्छल (धूमकेतु) तारा आ निकला हो ॥३२॥ प्रचंड किरणोंवाला सूर्य भी उससे इतना डरता है कि उसके नगरपर वह केवल उतनी ही किरणें फैलाता है जिनसे तालावके कमल-भर खिल उठें ॥३३॥ चन्द्रमा वहाँ पूरे महीने भर अपनी पूरी कलाएँ लेकर चमका करता है और केवल उस एक कलाको बस छोड़ देता है जिसे शिवने अपने मस्तकका मणि बना लिया है ॥३४॥ पवन भी उसके पास ताड़के पंखेके वायुसे अधिक वेगसे नहीं बहता क्योंकि उसे डर है कि कहीं वेगसे बहनेपर तारकासुरकी फुलवारीके फूल न झड़ जायं और उसे चोरका दण्ड भोगना पड़े ॥३५॥ छहों ऋतुएँ अपने समयका विचार छोड़कर एक साथ फुलवारीकी मालिनोंके समान एक दूसरी ऋतुके फूलोंको बिना छोड़े हुए अपने-अपने ऋतुके फूल उपजाकर तारकासुरकी सेवा करती रहती है ॥३६॥ समुद्र भी उसके पास भेंटके योग्य रत्न भेजनेके लिये

तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः । कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते ।।३७।।
ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं वासुकिप्रमुखा निशि । स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजंगाः पर्युपासते ।।३८।।
तत्कृतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दूतहारितैः । अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः ।।३९।।
इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् । शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ।।४०।।
तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः । अभिज्ञाश्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः ।।४१।।
वीज्यते स हि संसुप्तः श्वाससाधारणानिलैः । चामरैः सुरबन्दीनां बाष्पसीकरवर्षिभिः ।।४२।।
उत्पाट्य मेरुशृङ्गाणि क्षुण्णानि हरितां खुरैः । आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेश्मसु ।४३।
मन्दाकिन्याः पयःशेषं दिग्वारणमदाविलम् । हेमाम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्यो धाम सांप्रतम् ।४४।
भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते । खिलीभूते विमानानां तदापातभयात्पथि ।।४५।।
यज्वभिः संभृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः । जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः ।।४६।।
उच्चैरुच्चैःश्रवास्तेन हयरत्नमहारि च । देहबद्धमिवेन्द्रस्य चिरकालार्जितं यशः ।।४७।।
तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः । वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातिके ।।४८।।
जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा । हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम् ।४९।।
तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु । अभ्यस्यन्ति तटाघातं निर्जितैरावता गजाः ।।५०।।

तबतक जलके भीतर रुका बैठा रहता है जबतक वे रत्न ठीक-ठीक बढ़ न जायँ ।।३७।। चमकते हुए मणिके फणवाले वासुकि आदि बड़े-बड़े साँप रातको अपने मणियोंके न बुझनेवाले दीप ले-लेकर उसकी सेवा किया करते हैं ।।३८।। इन्द्र भी उसकी कृपा पानेके लिये बार-बार अपने दूतोंके हाथ कल्पवृक्षके सुन्दर रत्न उसके पास भेजकर उसे प्रसन्न रक्खा करते हैं ।।३९।। इतनी सेवा करनेपर भी वह असुर तीनों भुवनोंको पीड़ा देता ही चला जा रहा है क्योंकि लातके देवता बातसे नहीं मानते ।।४०।। नन्दन वनके जिन वृक्षोंके कोमल पत्तोंको देवताओंकी स्त्रियाँ बड़ी कोमलताके साथ अपने कनफूल बनानेके लिये तोड़ा करती थीं उन्हींको वह राक्षस बड़ी निर्दयतासे काट-काटकर गिराए डाल रहा है ।।४१।। जब वह सोया करता है तब देवताओंकी बन्दी स्त्रियाँ गरम-गरम उसाँसें लेती और आँसू बहाती हुई उसपर चँवर डुलाया करती हैं ।।४२।। सूर्यके घोड़ोंकी टापोंसे उखड़ी हुई मेरुकी चोटियोंको उखाड़-उखाड़कर उसने अपने घरमें लेजा-लेजाकर खेलके पहाड़ बना डाले हैं ।।४३।। मन्दाकिनीके सोनकमल उखाड़-उखाड़कर उसने अपने घरकी बावलियोंमें लेजा लगाए हैं और इसीलिये मन्दाकिनीमें आज-कल केवल दिग्गजोंके मदसे गँदला जल भर दिखाई दिया करता है ।।४४ ।। पहले देवता लोग विमानोंपर चढ़-चढ़कर इस लोकसे उस लोकमें घूमते-फिरते थे, पर अब उसके आक्रमणके डरसे आकाशमें उनका निकलना ही दूभर हो गया है ।।४५।। वह ऐसा भारी छलिया है कि जब यज्ञमें यजमान हम लोगोंको आहुति देता है तब वह हम लोगोंके देखते-देखते अग्निके मुँहसे हमारा भाग छीन ले जाता है ।।४६।। उसने उच्चैःश्रवा नामका वह सुन्दर घोड़ा भी छीन लिया है जो बहुत दिनोंसे इकट्ठे किए हुए इन्द्रके यशके समान ही महान् था ।।४७।। जैसे सन्निपातमें बड़ी-बड़ी औषधियाँ भी काम नहीं कर पातीं उसी प्रकार हम भी उस दुष्टको मारनेके लिये जितने उपाय करते जाते हैं वे सब व्यर्थ होते जा रहे हैं ।।४८।। विष्णुके जिस चक्रपर हम लोग जीतकी आस लगाए बैठे थे, वह भी जब उसके गलेपर जा टकराता है तब उसमेंसे निकली हुई चिनगारियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो उस राक्षसके गलेमें सोनेका हुमेल ला पहनाया गया हो ।।४९।। आज ऐरावतको भी हरा देनेवाले उसके

तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये। कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ।।५१।।
गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित्। प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यां बन्दीमिव जयश्रियम् ।।५२।।
वचस्यवसिते तस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः। गर्जितानन्तरां वृष्टिं सौभाग्येन जिगाय सा ।।५३।।
संपत्स्यते वःकामोऽयं कालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम्। न त्वस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गव्यापारमात्मना५४
इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्। विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ।।५५।।
वृत्तं तेनेदमेव प्राङ्मया चास्मै प्रतिश्रुतम्। वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः ।।५६।।
संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः। अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ।।५७।।
स हि देवः परंज्योतिस्तमःपारे व्यवस्थितम्। परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्नं मया न च विष्णुना ।।५८।।
उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः। शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लौहवत् ।।५९।।
उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम्। सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ।।६०।।
तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः। मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ।।६१।।
इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे। मनस्याहितकर्त्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः ।।६२।।

हाथी पुष्करावर्त्तक आदि बादलोंसे टक्कर ले-लेकर अपना टीले ढाहनेका खेलवाड़ किया करते हैं ।।५०।। इसलिये प्रभो ! जिस प्रकार मोक्ष पानेकी इच्छा करनेवाले लोग जन्म-मरणसे छूटनेके लिये कर्मके बन्धन काटनेवाले उपाय खोजा करते हैं वैसे ही हम लोग भी उस राक्षसको नष्ट करनेके लिये एक ऐसा सेनापति उत्पन्न करना चाहते हैं–।।५१।। जिसे देवताओंकी सेनाका रक्षक बनाकर और उसे सेनाके आगे करके भगवान् इन्द्र शत्रुओंके हाथमें बन्दीके समान पड़ी हुई विजय-श्रीको फिर लौटा लावें' ।।५२।। उनके कह चुकनेपर ऐसी मधुर वाणी ब्रह्मा बोले जो मेघके गर्जनके पीछे होनेवाली वर्षाके समान बड़ी भली लगती थी ।।५३।। वे बोले—'आप लोगोंकी इच्छा तो पूरी हो ही जायगी पर आप लोगोंको थोड़े दिन और बाट जोहनी पड़ेगी क्योंकि तारकासुरको मारनेके लिये मैं स्वयं अवतार नहीं ले सकता ।।'१४।। उस राक्षसको वरदान भी मैंने ही दिया है इसलिये अपने हाथसे उसे मार डालना मुझे ठीक नहीं लगता क्योंकि अपने हाथसे लगाए हुए विषके पेड़को भी अपने ही हाथसे काटना ठीक नहीं होता ।।५५।। उस समय उसने मुझसे जो वरदान माँगा था वह यदि मैं उसे न देता तो उसकी तपस्यासे सारा संसार जल उठता ।।५६।। महादेवके वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रके अतिरिक्त उस युद्ध-भूमिमें लड़नेवाले प्रसिद्ध लड़ाके तारकासुरका नाश कोई दूसरा नहीं कर सकता ।।५७।। क्योंकि शंकर भगवान् तो अन्धकारके पार रहनेवाले ऐसे परम तेज हैं जिन्हें अविद्या छू नहीं पाती। इसलिये हम और विष्णु भी उनकी महिमाकी थाह अबतक नहीं लगा पाए हैं ।। ५८ ।। अब आप लोग कोई ऐसा जतन कीजिए कि जैसे चुम्बकसे लोहा खिचा चला आता है वैसे ही समाधि लगाए हुए शंकरका मन भी पार्वतीके रूपकी ओर खिच आय ।। ५९ ।। हमारे और शिवके वीर्यको धारण करना कोई हँसी-ठट्ठा नहीं है। शिवके वीर्यको केवल पार्वती ही धारण कर सकती हैं और हमारे वीर्यको जलका रूप धारण करनेवाली शिवकी मूर्ति ही धारण कर सकती है ।। ६० ।। उन्हीं पार्वतीसे शंकरका जो पुत्र होगा वही आप लोगोंका सेनापति बनकर अपने पराक्रमसे देवताओंकी बन्दी स्त्रियोंको छुड़ाकर उनके उलझे हुए बाल सुलझा सकेगा' ।।६१।। संसारको उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा इतना कहकर आँखसे ओझल हो गए और देवता लोग भी आगेकी बात सोच-विचारकर स्वर्गलोकको चले गए ।। ६२ ।। इन्द्रने इन्द्रलोकमें पहुँचकर भली भाँति सोच-विचारकर अपने कामके

तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत्पाकशासनः । मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥६३॥
अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं । रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे ।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः । शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥६४॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

* * *

लिये वेगसे दौड़नेवाले मनमें कामदेवको स्मरण किया ॥६३॥ स्मरण करते ही रतिके कंगनकी छाप पड़े हुए गलेमें सुन्दर स्त्रीकी भौहोंके समान दिखाई देनेवाला सुन्दर धनुष् कंधेपर लटकाए और अपने साथी वसन्तके हाथमें आमके बौरका बाण थमाता हुआ कामदेव हाथ जोड़कर इन्द्रके आगे आ खड़ा हुआ ॥६४॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें ब्रह्मासे भेंट
नामका दूसरा सर्ग पूर्ण हुआ ॥

* * *

॥ तृतीयः सर्गः ॥

तस्मिन्मघोनस्त्रिदशान्विहाय सहस्रमक्ष्णां युगपत्पपात ।
प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥ १ ॥
स वासवेनासनसंनिकृष्टमितो निषीदेति विसृष्टभूमिः ।
भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम् ॥ २ ॥
आज्ञापय ज्ञातविशेष पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति ।
अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते ॥ ३ ॥
केनाभ्यसूयापदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः ।
यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ती ॥ ४ ॥
असम्मतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः ।
बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥ ५ ॥
अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते ।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः ॥ ६ ॥
कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥ ७ ॥

तीसरा सर्ग

कामदेवके आते ही इंद्रकी सहस्रों आँखें देवताओंपरसे हटकर एक साथ आदरके साथ कामदेवकी ओर घूम गईं क्योंकि प्राय: ऐसा होता है कि स्वामीको अपने सेवकोंसे जब जैसा काम निकालना होता है उसीके अनुसार वे उनका आदर भी किया करते हैं ॥१॥ इन्द्रने कामदेवसे कहा—'आओ आओ यहाँ हमारे पास आकर बैठो ।' यह कहकर उसे अपने पास ही बुला बैठाया । उसने भी सिर झुकाकर इन्द्रकी कृपा स्वीकार कर ली और उनसे गुप-चुप बातचीत करने लगा ॥२॥ वह बोला—'सबके गुणोंको पहचाननेवाले स्वामी ! आप आज्ञा दीजिए कि तीनों लोकोंमें ऐसा कौन-सा काम आ पड़ा है जो आप मुझसे कराना चाहते हैं क्योंकि मुझे स्मरण करके आपने जो कृपा की है उसे मैं आपकी आज्ञाका पालन करके और भी बढ़ा देना चाहता हूँ ॥३॥ कहिए तो ऐसा कौन पुरुष उत्पन्न हो गया है जिसने बहुत बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करके आपके मनमें ईर्ष्या जगा दी है । आप मुझे उसका नाम भर बतला दीजिए फिर तो मैं जाकर अपने इस बाण चढ़े हुए धनुष्से बातकी बातमें उसे जीते लाता हूँ ॥४॥ बताइए तो ऐसा कौन पुरुष है जो आपका शत्रु बनकर संसारके कष्टोंसे घबराकर मोक्षकी ओर चल पड़ा है । मैं उसे अभी उन सुन्दरियोंके नेत्रोंमें बहुत दिनोंके लिये ला फँसाए देता हूँ जो बाँकी चितवन चलानेमें बड़ी चतुर हैं ॥५॥ आपका वह शत्रु यदि शुक्राचार्यसे भी नीतिशास्त्र पढ़कर आया होगा तो भी अत्यन्त भोगकी इच्छाको ऐसा दूत बनाकर मैं उसके पास भेजे देता हूँ जो उसके धर्म और अर्थ दोनों वैसेही मिटा बहावे जैसे बरसातमें बढ़ी हुई नदीका बहाव दोनों तटोंको बहा ले जाता है ॥६॥ या ऐसी कौन सुन्दरी और हठीली पतिव्रता आपके चञ्चल मनमें आ बैठी है । मैं अभी उस सुन्दरीपर ऐसा बाण निकाल चलाता हूँ कि वह सब लाज-शील छोड़कर आपके गलेसे आ लगे ॥७॥ हे कामी ! ऐसी कौन-सी

कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधूतः ।
तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम् ॥ ८ ॥
प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
विभेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताऽधराभ्यः ॥ ९ ॥
तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥ १० ॥
अथोरुदेशादवतार्य पादमाक्रान्तिसंभावितपादपीठम् ।
संकल्पितार्थे विवृतात्मशक्तिमाखण्डलः काममिदं बभाषे ॥ ११ ॥
सर्वं सखे त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममास्त्रे कुलिशं भवांश्च ।
वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥ १२ ॥
अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये ।
व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः ॥ १३ ॥
आशंसता बाणगतिं वृषाङ्के कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।
निबोध यज्ञांशभुजामिदानीमुच्चैर्द्विषामीप्सितमेतदेव ॥ १४ ॥
अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः ।
स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्माङ्गभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा ॥ १५ ॥

स्त्री है जो आपका संभोग न पानेपर क्रोध करके आपसे इतनी रूठी बैठी है कि पैरोंपर गिरकर मनानेपर भी अभी तक मान नहीं रही है। मैं उसके मनमें ऐसा पछतावा उत्पन्न किए देता हूँ कि वह अपने आप आपके पास आकर लाल कोंपलोंके ठण्डे बिछौनेपर आ लेटे ॥८॥ हे वीर ! आप चिन्ता छोड़कर अपने वज्रको भी विश्राम कर लेने दें। मुझे बताइए तो सही कि ऐसा कौन दैत्य है जो मेरे बाणोंकी मारसे ऐसा शक्तिहीन हो जाना चाहता है कि क्रोधसे काँपते हुए ओठोंवाली नारी तक उसे डरा मारें ॥९॥ आपकी कृपा हो तो मैं केवल वसन्तको ही अपने साथ लेकर अपने फूलके बाणोंसे ही पिनाक धारण करनेवाले स्वयं महादेवजी तकके छक्के छुड़ा दूँ, फिर और दूसरे धनुर्धारियोंकी तो गिनती ही क्या ॥१०॥ यह बात सुनकर तो इन्द्रको कुछ ढाढस हो चला और उन्होंने अपने पैर खोलकर पाँव-पीढ़ेपर रक्खे और जिस कामदेवने उनके सोचे हुए काममें अपने आप इतना उत्साह दिखाया था उनसे बोले—॥११॥ देखो मित्र ! तुमही हो जो सब कुछ कर सकते हो क्योंकि तुम और वज्र, ये ही दो तो मेरे अस्त्र हैं। पर इनमेंसे वज्रकी धार तो शत्रुओंकी तपस्याने उतार दी है। अब तुम्हीं एक ऐसे बच रहे हो जो बेरोक-टोक सब ओर जा भी सकते हो और हमारा काम भी कर ला सकते हो ॥१२॥ मैं तुम्हारी शक्ति भली-भाँति जानता हूँ, इसलिये मैं तुम्हें अपने-जैसाही मानकर यह बड़ा काम सौंपना चाहता हूँ। जानते हो ? प्रलय होनेपर अपने सोनेके लिये भगवान्ने शेषको ही अपनी शय्या क्यों बनाया था ? क्योंकि वे देख चुके थे कि शेषनाग जब पृथ्वीको धारण कर सकते हैं तब मेरा बोझ भी सह लेंगे ॥१३॥ अभी-अभी तुमने कहा है कि हम अपने बाणोंसे शंकरजीको भी वशमें कर सकते हैं। इसलिये एक प्रकारसे तुमने हमारा काम करनेका बीड़ा उठा ही लिया है। इसलिये समझ लो कि बलवान् शत्रुसे सताए हुए और डरे हुए देवता तुमसे यही काम करानेकी ठाने हुए हैं ॥१४॥ देवता लोग चाहते हैं कि शत्रुको जीतनेके लिये शिवजीके वीर्यसे हमारा सेनापति उत्पन्न हो। इसलिये मन्त्रके बलसे ब्रह्ममें ध्यान लगाए हुए महादेवकी समाधि कोई तुड़वा सकता है तो तुम्हीं अपने एक बाणसे तोड़ सकते हो ॥ १५ ॥ अब तुम ऐसा जतन करो कि समाधिमें बैठे हुए महादेवके

तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व ।
योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥ १६ ॥
गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम् ।
अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं मया मत्प्रणिधिः स वर्गः ॥ १७ ॥
तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥ १८ ॥
अस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृती त्वम् ।
अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥ १९ ॥
सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥ २० ॥
मधुश्च ते मन्मथ साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥ २१ ॥
तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे ।
ऐरावतास्फालनकर्कशेन हस्तेन पस्पर्श तदङ्गमिन्द्रः ॥ २२ ॥
स माधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च शासङ्कमनुप्रयातः ।
अङ्गव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम ॥ २३ ॥

प्रेम उत्पन्न हो जाय, क्योंकि ब्रह्माने स्वयं यह बात
मनमें हिमवानकी कन्या पार्वतीके लियें जो शिवका वीर्य धारण कर सकती हैं ॥१६॥
बताई है कि स्त्रियोंमें कोई है तो वे ही एक ऐसी हैं कि पार्वती पहाड़के राजा अपने
गुप्तचरका काम करनेवाली अपनी अप्सराओंके मुँहसे हमने सुना है सेवा कर रही हैं ॥१७॥ इसलिये
पिताकी आज्ञासे हिमालय पहाड़पर तप करते हुए महादेवकी क्योंकि इस कामके लिये बस एक कोई कारण भर
तुम जाकर देवताओंका इतना काम कर डालो जलकी आवश्यकता पड़ती है वैसे ही यह काम भी
चाहिए था। जैसे बीजको अंकुर बनानेके लिये अब देवताओंकी जीत हो सकती है तो
तुम्हारी सहायताके भरोसे ही अटका हुआ था ॥१८॥ क्योंकि संसारमें यश तो ऐसा
तुम्हारे ही बाणोंसे हो सकती है। तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो और फिर
ही असाधारण काम करनेसे ही मिला करता है जिसे कोई दूसरा कर न सके ॥१९॥ दूसरे यह कार्य तीनों ही
एक तो सब देवता लोग तुमसे इस कामके लिये भीख माँग रहे हैं, तुम्हारा धनुष् काम तो आवेगा
लोकवालोंका है और तीसरी बात यह है कि यद्यपि इस काममें यह इच्छा जग उठी
पर इससे किसीकी हिंसा नहीं होगी। आज तुम्हें देखकर तो सबके मनमें देखो कामदेव! हमने तुम्हारी
है कि तुम्हारी-जैसी ही शक्ति हमें भी मिल जाय ॥२०॥ वह तो तुम्हारा साथी है ही।
सहायताके लिये वसन्तका नाम इसलिये नहीं लिखा कि आगकी सहायता करो। वह
क्योंकि भला पवनको कहीं यह थोड़े ही कहा जाता है कि तुम जाकर कहे ॥२१॥ यह सुनकर
तो अपने आप ही आगको भड़काया करता है चाहे कोई कहे या न माला लेकर सिरपर चढ़ा ले
कामदेवने कहा—'जैसी आज्ञा'। और जैसे कोई उपहारमें दी हुई जब वह चलने लगा तब इन्द्रने उसकी
वैसे ही कामदेवने इन्द्रकी आज्ञा सिर माथे चढ़ा ली। जो ऐरावतको अंकुश लगाते-लगाते कड़ा
पीठपर अपना वह हाथ फेरकर उसे उत्साहित किया तब भी मैं देवताओंका
पड़ गया था ॥२२॥ उसने निश्चय कर लिया कि मुझे प्राण भी देना पड़े उधर चल दिया जिधर शिव बैठे
यह काम अवश्य करूँगा। फिर वह वसन्तको साथ लेकर

तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपः समाधेः प्रतिकूलवर्ती ।
संकल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे ॥ २४ ॥
कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य ।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज ॥ २५ ॥
असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां संपर्कमासिञ्जितनूपुरेण ॥ २६ ॥
सद्यः प्रवालोद्‌गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे ।
निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥ २७ ॥
वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्‌मुखी विस्वसृजः प्रवृत्तिः ॥ २८ ॥
बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥ २९ ॥
लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ॥ ३० ॥
मृगाः प्रियालद्रुममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः ।
मदोद्धताः प्रत्यनिलाः विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥ ३१ ॥

तपस्या कर रहे थे । इनके पीछे-पीछे बेचारी रति भी मनमें बड़ी डरती चली जा रही थी कि आज न जाने क्या हो जाय ॥२३॥ उस वनमें पहुँचकर मुनियोंके तपकी समाधिको डिगानेवाला और कामदेवका सहायक बननेका घमण्ड करनेवाला वसन्त अपना पूरा रूप खोलकर चारों ओर जा छाया ॥२४॥ वसन्तके छाते ही असमयमें ही सूर्य भी दक्षिणायनसे उत्तरायणकी ओर चले आए । उस समय दक्षिणसे बहता हुआ मलय पवन ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने पति सूर्यके चले जानेपर दक्षिण दिशा दुखी होकर अपने मुँहसे लम्बी-लम्बी उसाँसें छोड़ रही हो ॥२५॥ अशोकका वृक्ष भी तत्काल नीचेसे ऊपरतक फूल-पत्तोंसे लद गया और छन-छनाते बिछुओंवाली सुन्दरियोंके चरणोंके प्रहारकी बाट भी उसने नहीं देखी ॥२६॥ सुन्दर वसन्त नई कोंपलोंके पंख लगाकर आमकी मंजरियोंके बाण तैयार कर दिए । उनपर उसने जो भौंरे बैठाए वे ऐसे लगते थे मानो उन बाणोंपर कामदेवके नामके अक्षर लिखे हुए हों ॥२७॥ वहाँ फूले हुए कर्णिकार देखनेमें तो सुन्दर थे पर गन्ध न होनेके कारण मनको भाते न थे । ब्रह्माकी कुछ ऐसी बान ही पड़ गई है कि वे किसी भी वस्तुमें पूरे गुण भरते ही नहीं ॥२८॥ वसन्तके आते ही दूजके चन्द्रमाके समान टेढ़े, अत्यन्त-लाल-लाल अधखिले टेसूके फूल वनभूमिमें फैले हुए ऐसे लग रहे थे मानो वसन्तने वनस्थलियोंके साथ विहार करके उनपर अपने नखोंके चिह्न बना दिए हों ॥२९॥ वहाँ उड़ते हुए भौंरे खिले हुए तिलकके फूल और प्रातःकालके सूर्यकी लालीसे चमकनेवाली कोंपलें ऐसी लगती थीं मानो वसन्तकी शोभा-रूपी स्त्रीने भौंरे-रूपी आँजनसे अपना मुँह चीतकर, अपने माथेपर तिलकके फूलका तिलक लगाकर प्रातःकालके सूर्यकी कोमल लालीसे चमकनेवाले आमकी कोपलोंसे अपने ओठ रँग लिए हों ॥३०॥ आँखोंमें प्रियालके फूलोंके परागके उड़-उड़कर पड़नेसे जो मतवाले हिरण भली-भाँति देख नहीं पा रहे थे वे पवनसे झड़े हुए सूखे पत्तोंसे मर्मर करतीं हुई वनकी भूमिपर इधर-उधर दौड़ते फिर रहे थे ॥३१॥ आमकी मञ्जरियाँ खा लेनेसे जिस कोकिलाका कंठ मीठा हो गया

चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥ ३२ ॥
हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥ ३३ ॥
तपस्विनः स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम् ।
प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथंचिदीशा मनसां बभूवुः ॥ ३४ ॥
तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने ।
काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥ ३५ ॥
मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥ ३६ ॥
ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥ ३७ ॥
गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे ॥ ३८ ॥
पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ ३९ ॥
श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥ ४० ॥

था वह जब मीठे स्वरसे कूक उठता था तब उसे सुन-सुनकर रूठी हुई स्त्रियाँ अपना सारा रूठना भूल जाती थीं ॥३२॥ जाड़ेके बीतने और गर्मीके आ जाने से कोमल ओठों और सुन्दर गोरे मुखोंवाली किन्नरियोंके मुखपर चीती हुई चित्रकारीपर पसीना आने लगा ॥३३॥ महादेवके साथ उस वनमें रहनेवाले तपस्वी लोगोंने असमयमें वसन्त आया हुआ देखकर अपना मन विकारोंसे हटाकर बड़ी कठिनाईसे रोके रक्खा ॥३४॥ फिर जब अपने फूलके धनुष्पर बाण चढ़ाकर रतिको साथ लेकर कामदेव आया तब चर और अचरोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई संभोगकी इच्छा उनमें दिखाई देने लगी ॥३५॥ भौंरा अपनी प्यारी भौंरीके साथ एकही फूलकी कटोरीमें मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपनी उस हरिणीको सींगसे खुजलाने लगा जो उसके स्पर्शका सुख लेती हुई आँखें मूँदे बैठी थी ॥३६॥ हथिनी बड़े प्रेमसे कमलके परागमें बसा हुआ सुगन्धित जल अपनी सूँड़में लेकर अपने हाथीको पिलाने लगी और चकवा भी आधी कुतरी हुई कमलकी नाल लेकर चकवीको ले जाकर भेंट करने लगा ॥३७॥ किन्नर लोग गीतोंके बीचमें ही अपनी-अपनी प्रियाओंके वे मुख चूमने लगे जिनपर थकावटके कारण पसीना आ छाया था, जिनपर चीती हुई चित्रकारी लिप गई थी और जिनके नेत्र फूलोंकी मदिरासे मतवाले होनेके कारण लुभावने लग रहे थे ॥३८॥ वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियोंको फैला-फैलाकर उन लताओंसे लिपटने लगे जिनके बड़े-बड़े फूलोंके गुच्छोंके रूपमें मानों उनके स्तन लटक रहे हों और पत्तोंके रूपमें जिनके सुन्दर ओठ हिल रहे थे ॥३९॥ इसी बीच अप्सराओंने अपना नाच-गाना आरम्भ कर दिया पर महादेव थे कि टससे मस न हुए और अपने ध्यानमें ही मग्न ज्योंके त्यों बैठे रहे क्योंकि जो लोग अपना मन वशमें किए रहते हैं उनकी समाधि क्या किसीके छुड़ाए छूट पा सकती है ॥४०॥ उस समय नन्दी अपने बाएँ हाथपर सोनेका डंडा टिकाए हुए लतामंडपके

लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः ।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत् ॥ ४१ ॥
निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥ ४२ ॥
दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे ।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥ ४३ ॥
स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥ ४४ ॥
पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥ ४५ ॥
भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥ ४६ ॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥ ४७ ॥
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥ ४८ ॥
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥ ४९ ॥

द्वारपर बैठा मुँहपर उँगली रखकर सब गणोंको संकेतसे मना कर रहा था कि तुम लोग नटखटपन छोड़कर चुप होकर बैठो ॥४१॥ उनकी आज्ञा पाते ही वृक्षोंने हिलना बन्द कर दिया, भौरोंने गूंजना बन्द कर दिया, सब जीव-जन्तु चुप हो गए और पशु भी जहाँके तहाँ खड़े के खड़े रह गए, यहाँ-तक कि सारा वन उस एक ही संकेतमें ऐसा लगने लगा मानो चित्रमें खिंचा हुआ हो ॥४२॥ जैसे यात्रा करनेके समय लोग सामनेके शुक्रकी दृष्टि बचाते हैं वैसे ही कामदेव भी नन्दीकी आँखें बचाकर नमेरुकी शाखाओंसे घिरे हुए उस स्थानमें जा ही घुसा जहाँ महादेव समाधि लगाए बैठे थे ॥४३॥ थोड़ी ही देरमें मृत्युके मुँहमें पहुँचनेवाला वह कामदेव देखता क्या है कि देवदारके पेड़की जड़में पत्थरकी पाटियोंसे बनी हुई चौकीपर बाघम्बर बिछा हुआ है, और उसपर महादेव समाधि लगाए बैठे हुए हैं, ॥४४॥ उन्होंने वीरासन लगा कर अपना धड़ सीधा और अचल कर लिया है, अपने दोनों कन्धे झुकाकर अपनी गोदमें कमलके समान दोनों हथेलियोंको ऊपर किए हुए हैं, ॥४५॥ साँपोंसे उनकी जटा बँधी हुई है, दाहिने कानपर दुहरी रुद्राक्षकी माला टँगी है, गलेकी नीली चमकसे और भी अधिक साँवली दिखाई पड़ने वाली मृगछाला उनके शरीरपर गाँठ मारकर कसी हुई है, ॥४६॥ भौंहें तानकर कुछ-कुछ प्रकाश देनेवाली, निश्चल, उग्र तारोंवाली और अपनी किरणें नीचे डालनेवाली आँखोंसे नाकके अगले भागपर दृष्टि जमाए हुए हैं ॥४७॥ और शरीरके भीतर चलनेवाले सब पवनोंको रोककर वे ऐसे अचल हुए बैठे हैं जैसे न बरसनेवाला बादल हो, बिना लहरोंवाला निश्चल ताल हो या पवन-रहित स्थानमें खड़ी लौ-वाला दीपक हो ॥४८॥ उस समय उनके सिर और नेत्रोंसे जो तेज निकल पड़ रहा था उसके आगे कमलके तन्तुसे भी अधिक कोमल बाल-चन्द्रमाकी शोभा भी कुछ नहीं थी ॥४९॥ वहाँ

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्तिं हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ ५० ॥
स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥ ५१ ॥
निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥ ५२ ॥
अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ ५३ ॥
आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥ ५४ ॥
स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥ ५५ ॥
सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥ ५६ ॥
तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंस ॥ ५७ ॥

समाधिमें बैठे हुए शंकर अपने उस अविनाशी आत्माकी ज्योतिको अपने भीतर देख रहे थे जिसे ज्ञानी लोग अपनी नवीं इन्द्रियोंके द्वार रोककर मनको समाधिसे वशमें करके हृदयमें रखकर जान पाते हैं ॥५०॥ तीन नेत्रोंवाले शंकरका जो रूप बुद्धि और मनसे भी परे था उसी रूपको इतने पाससे देखकर कामदेवके हाथ डरके मारे ऐसे ढीले पड़ गए कि वह यह भी न जान सका कि मेरे हाथसे धनुष्-बाण छूटकर गिर कब गए ॥५१॥ डरके मारे कामदेवकी शक्ति तो नष्ट हो गई थी पर मालिनी और विजया नामकी बन-देवियोंके साथ अत्यन्त सुन्दरी पार्वतीका मनोहर रूप देखकर मानो उसकी सोई हुई शक्ति फिर जाग उठी ॥५२॥ उस समय पार्वतीके शरीरपर लाल मणिको लज्जित करनेवाले अशोकके पत्तोंके, सोनेकी चमकको घटानेवाली कर्णिकारके फूलोंके और मोतियोंकी मालाके समान उजले सिन्धुवारके वासन्ती फूलोंके आभूषण सजे हुए थे ॥५३॥ स्तनोंके बोझसे झुके हुए शरीरपर प्रातःकालके सूर्यके समान लाल कपड़े पहने हुए वे ऐसी लग रही थीं जैसे फूलोंके गुच्छेके भारसे झुकी हुई नई लाल-लाल कोपलोंवाली चलती-फिरती लता हो ॥५४॥ उनकी कमरमें पड़ी हुई केसरके फूलोंकी तगड़ी (करधनी) जब-जब नितम्बसे नीचे खिसक आती थी तब-तब वे उसे अपने हाथसे थामकर ऊपर सरका लेती थीं। वह तगड़ी ऐसी लगती थी मानो कहाँ क्या पहनना चाहिए इस बातको जाननेवाले कामदेवने अपने हाथसे उनकी कमरमें अपने धनुषकी दूसरी डोरी ही ला पहना दी हो ॥५५॥ कामदेवने देखा कि उनकी सुगन्धित साँसपर ललचे हुए भौंरे जब उनके लाल-लाल ओठोंके पास आते हैं तब-तब वे घबराहटसे आँखें नचाती हुई छोटे-छोटे कमलोंसे मार मारकर उन्हें भगा देती हैं ॥५६॥ कामदेवने जब रतिको भी लजानेवाली, अधिक सुघर अंगोंवाली पार्वतीको देखा तब उसके मनमें जितेन्द्रिय महादेवको वशमें करनेकी आशा फिर हरी हो उठी ॥५७॥ इसी बीच पार्वती भी

भविष्यतः पत्युरुमा च शंभोः समाससाद प्रतिहारभूमिम् ।
योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम ॥ ५८ ॥
ततो भुजंगाधिपतेः फणाग्रैरधः कथंचिद्धृतभूमिभागः ।
शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कबन्धं निबिडं बिभेद ॥ ५९ ॥
तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम् ।
प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥ ६० ॥
तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभङ्गभिन्नः ॥ ६१ ॥
उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥ ६२ ॥
अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन ।
न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥ ६३ ॥
कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः ।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥ ६४ ॥
अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण ।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् ॥ ६५ ॥
प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥ ६६ ॥

अपने भावी पति शंकरके आश्रमके द्वारपर आ ही पहुँची। ठीक उसी समय महादेवने भी परमात्माकी परम ज्योतिका दर्शन करके अपनी समाधि तोड़ दी ॥५८॥ आँखें खोलकर उन्होंने धीरे-धीरे साँस लेना प्रारम्भ कर दिया और अपनी कठोर पलथी भी खोल दी। इसीलिये उनका वह शरीर जो समाधिके समय बहुत हल्का हो गया था अब इतना भारी हो गया कि उनके बैठनेकी भूमिको शेष भगवान् बड़ी कठिनाईसे अपने फणोंपर सँभाल पा रहे थे ॥५९॥ उनकी समाधि खुली देखकर नन्दीने जाकर उन्हें प्रणाम करके कहा कि आपकी सेवाके लिये पार्वती आई हुई हैं। महादेवने अपनी भौंहोंसे उन्हें बुलानेका संकेत किया और पार्वतीको नन्दी भीतर ले आए ॥६०॥ पहले पार्वतीकी दोनों सखियोंने शंकरको प्रणाम किया और फिर अपने हाथसे चुने हुए, पत्तोंके टुकड़े मिले हुए वासन्ती फूलोंका ढेर उनके पैरोंपर उठा चढ़ाया ॥६१॥ पार्वतीने भी शिवको प्रणाम करनेके लिये ज्योंही अपना सिर झुकाया त्योंही उनके काले-काले बालोंमें गुँथे हुए कर्णिकारके फूल और कानपर धरे हुए पत्ते पृथ्वीपर गिर पड़े ॥६२॥ प्रणाम करती हुई पार्वतीको भगवान् शंकरने यह सत्य आशीर्वाद दिया कि तुम्हें ऐसा पति मिले जो किसी भी स्त्रीको न मिल सका हो। ठीक ही है, ऐसे ऐश्वर्यशालियोंकी वाणी कभी झूठी थोड़े ही होती है ॥६३॥ जैसे कोई पतंगा आगमें कूदनेको उतावला हो वैसे ही कामदेवने भी सोचा कि बस बाण छोड़नेका यही ठीक अवसर है। फिर क्या था, वह पार्वतीके आगे बैठे हुए शिवपर ताक-ताककर धनुषकी डोरी खींचने ही तो लगा ॥६४॥ उधर पार्वतीने प्रणाम करके समाधिसे जगे हुए शंकरके गलेमें धूपमें सुखाए हुए मंदाकिनीके कमलके बीजोंकी माला अपने लाल-लाल हाथोंसे उठा पहनाई ॥६५॥ शिवने भक्तपर प्रेम

हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ ६७ ॥
विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ६८ ॥
अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य ।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥ ६९ ॥
स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्त्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥ ७० ॥
तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥ ७१ ॥
क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥ ७२ ॥
तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहुर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥ ७३ ॥
तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ॥ ७४ ॥

करनेके नाते पार्वतीकी वह माला पहनी ही थी कि कामदेवने भी सम्मोहन नामका अचूक बाण अपने धनुषपर निकाल चढ़ाया ॥६६॥ जैसे चन्द्रमाके निकलनेपर समुद्रमें ज्वार आ जाता है वैसे ही पार्वतीको देखकर महादेवके हृदयमें भी कुछ हलचल-सी होने लगी और वे पार्वतीके बिम्बके समान लाल-लाल ओठोंपर अपनी ललचाई आँखें डालने लगे ॥६७॥ और इधर पार्वती भी फले हुए नये कदंबके समान पुलकित अंगोंसे प्रेम जतलाती हुई, लजीली आँखोंसे अपना अत्यन्त सुन्दर कुछ मुख तिरछा करके वहीं खड़ी रह गईं ॥६८॥ पर महादेव तत्काल सँभल गए । संयमी होनेके कारण उन्होंने तत्काल इन्द्रियोंकी चंचलताको बलपूर्वक रोक लिया और यह देखनेके लिये चारों ओर दृष्टि दौड़ाई कि मेरे मनमें यह विकार लाया कौन ॥६९॥ शंकर देखते क्या हैं कि अपना धनुष् खींचकर गोल किए हुए, दाहिनी आँखकी कोरतक मुट्ठी बाँधे हुए कंधा झुकाकर बायाँ पैर समेटे कामदेव मुझपर बाण चलाने ही वाला है ॥७०॥ अपने तपमें बाधा डालनेवाले उस कामदेवपर महादेव इतने क्रुद्ध हो उठे कि उनकी चढ़ी हुई भौंहोंके बीचवाला नेत्र देखा नहीं जा रहा था । झट उनका वह तीसरा नेत्र खुल पड़ा और उसमेंसे सहसा जलती हुई आगकी लपटें भी निकलीं ॥७१॥ यह देखते ही एक साथ सब देवता आकाशमें चिल्ला उठे —'हैं, हैं रोकिए रोकिए अपने क्रोधको प्रभो !' पर इतनी देरमें तो महादेवकी आँखोंसे निकलनेवाली उस आगने कामदेवको जलाकर राख ही कर डाला ॥७२॥ अपने सिरपर आई हुई इस भारी विपत्तिको देखकर कामदेवकी स्त्री तो मूर्छित होकर गिर पड़ी, उसकी इन्द्रियाँ स्तब्ध हो गईं और ऐसा जान पड़ा मानो भगवान्ने कृपा करके उतनी देरके लिये पतिकी मृत्युका ज्ञान हरकर उसे दुःखसे बचाए रक्खा ॥७३॥ जैसे बिजली किसी पेड़पर गिरकर उसे तोड़ डालती है उसी प्रकार अपनी तपस्यामें बाधा डालनेवाले कामदेवको जलाकर शिवने निश्चय किया कि स्त्रियोंका साथ छोड़ ही देना चाहिए । इसलिये तपस्वी महादेव तत्काल अपने भूतों-प्रेतोंको साथ लेकर अन्तर्धान हो गए ॥७४॥ यह

शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित् ॥ ७५ ॥
सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥ ७६ ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
मदनदहनो नाम तृतीयः सर्गः ॥

देखकर पार्वतीको इस बातकी बड़ी लज्जा हुई कि आज सखियोंके आगे मेरे ऊँचे सिरवाले पिताका मनोरथ और मेरी सुन्दरता दोनों अकारथ हो गईं और वे बड़े उदास मनसे किसी-किसी प्रकार घर लौट चलीं ॥७५॥ तत्काल हिमवान् भी वहाँ आ पहुँचे और जैसे ऐरावत अपने दाँतोंपर कमलिनीको उठा ले वैसे ही महादेवके क्रोधसे डरकर आँखें बन्द करके जाती हुई अपनी दुखी कन्याको हिमालयने गोदमें उठा लिया और वेगसे सीधा शरीर किए हुए जिधरसे आए थे उधर ही लौट गए ॥७६॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव नामके महाकाव्यमें मदन-दहन
नामका तीसरा सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिता।
विधिना प्रतिपादयिष्यता नववैधव्यमसह्यवेदनम् ॥ १ ॥
अवधानपरे चकार सा प्रलयान्तोन्मिषिते विलोचने।
न विवेद तयोरतृप्तयोः प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम् ॥ २ ॥
अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥ ३ ॥
अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ॥ ४ ॥
उपमानमभूद्विलासिनां करणं यत्तव कान्तिमत्तया।
तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः ॥ ५ ॥
क्व नु मां त्वदधीनजीवितां विनिकीर्य क्षणभिन्नसौहृदः।
नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जलसंघात इवासि विद्रुतः ॥ ६ ॥
कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥ ७ ॥
स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम्।
च्युतकेशरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताडनानि वा ॥ ८ ॥

चौथा सर्ग

महादेवके अन्तर्धान हो जाने और पार्वतीके चले जानेपर अकेली काठके समान मूर्च्छित पड़ी हुई कामदेवकी पतिव्रता पत्नी रतिको ब्रह्माने नये विधवापनका दुःख सहनेके लिये फिर जगा उठाया ॥१॥ मूर्च्छा हटते ही वह चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी, पर वह जान ही नहीं पाई कि जिसे सदा अपने आगे देखते रहनेपर भी मेरी आँखें अघाती नहीं थीं वही प्यारा सदाके लिये कब आँखोंसे ओझल हो गया ॥२॥ 'प्राणनाथ! क्या तुम जीते हो?' यह कहती हुई वह ज्योंही उठ खड़ी हुई त्योंही देखती क्या है कि महादेवके क्रोधसे जली हुई पुरुषके आकारकी एक राखकी ढेर सामने पृथ्वीपर पड़ी हुई है ॥३॥ उस राखकी ढेरको देखते ही रति बेहाल हो उठी और धरतीपर धूलमें लोट-लोटकर, बाल बिखेरकर ऐसी बिलख-बिलखकर रोने लगी मानो समूची वनभूमि ही उसके साथ-साथ रोने लग रही हो ॥४॥ वह रो-रोकर कहती जा रही थी—'प्यारे! आजतक तुम्हारे जिस सुन्दर शरीरसे विलासियोंके शरीरकी तुलना की जाती थी उसे इस दशामें देखकर भी मेरी छाती फट नहीं गई है। सचमुच स्त्रियोंका हृदय बड़ा कठोर होता है ॥५॥ जैसे पानीका बहाव बाँधको तोड़कर जलमें बहनेवाली कमलिनीको वहीं छोड़कर झटसे आगे निकल बहता है वैसे ही तुम्हारे हाथमें अपने प्राण सौंपनेवाली मुझ अभागिनसे नाता तोड़कर तुम इतनी शीघ्रतासे रूठकर कहाँ चल दिए? ॥६॥ प्यारे! न तो तुमने ही कभी मेरी अनचाही बात अनसुनी की और न मैंने ही कभी तुम्हारी बात टाली। फिर बिना बातके ही मुझ बिलखती हुईको तुम क्यों नहीं दर्शन दे रहे हो? ॥७॥ कामदेव! पहले कभी एक बार जब भूलसे तुमने अपनी किसी दूसरी प्यारीका नाम मेरे सामने ले डाला था और उसपर मैंने जो तुम्हें अपनी तगड़ीसे बाँध

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ ९ ॥
परलोकनवप्रवासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव ।
विधिना जन एष वञ्चितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् ॥ १० ॥
रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः ।
वसतिं प्रिय कामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः ॥ ११ ॥
नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे ।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥ १२ ॥
अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः ।
बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनङ्ग मोक्ष्यति ॥ १३ ॥
हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः ।
वद संप्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥ १४ ॥
अलिपंक्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।
विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम् ॥ १५ ॥
प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।
रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥ १६ ॥

बिठाया था, क्या वही स्मरण करके तो तुम मुझसे नहीं रूठ बैठे हो ? या जब मैंने अपने कानमें पहने हुए कमलसे तुम्हें पीटा था उस समय उसका पराग पड़ जानेसे जो तुम्हारी आँखें दुखने लगी थीं, क्या उसीको स्मरण करके तो तुम मुझसे नहीं रूठ गए हो ? ।।८।। तुम जो मुझसे यह मीठी-मीठी बात बनाया करते थे कि तुम मेरे हृदयमें सदा रहती हो वह सब मेरी समझमें झूठ थीं, क्योंकि यदि वह बात केवल मेरा मन रखने भरको न होती तो तुम्हारे राख हो जानेपर तुम्हारी यह रति भला कैसे जीती बची रह जाती ? ।।९।। तुम अभी-अभी स्वर्गको गए हो, पर ठहरो, मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे वहीं चली आ रही हूँ। ब्रह्माने मुझे मूर्च्छित करके मेरे साथ बड़ा धोखा किया नहीं तो मैं भी उसी समय तुम्हारे साथ चल देती, क्योंकि तुम मेरा ही नहीं, सारे संसारका सुख अपने साथ लिए चले गए हो ।।१०।। बताओ प्यारे ! अब वर्षाके दिनोंमें रातकी घनी अँधियारीसे भरे डरावने नगरके मार्गमें बिजलीकी कड़कड़ाहटसे डर उठनेवाली कामिनियोंको उनके प्यारोंके घर तुम्हारे बिना भला कौन पहुँचा पावेगा ? ।।११।। अपने लाल-लाल नेत्र घुमाती हुई और एक-एक शब्दपर रुक-रुककर बोलती हुई प्रमदाओंका मदिरा पीना अब तुम्हारे न रहनेपर भला किस कामका होगा ? ।।१२।। देखो, अनंग ! तुम चन्द्रमाके बड़े प्यारे मित्र थे । जब उसे ज्ञात होगा कि तुम्हारा शरीर केवल कहानी भर रह गया है तब वह अकारथ उगा हुआ चन्द्रमा शुक्ल पक्षमें भी बड़ी कठिनाईसे अपना दुबलापन छोड़ पावेगा ? ।।१३।। सुन्दर, हरे और लाल रंगमें बँधा हुआ और कोयलकी मीठी कूकसे गूँजता हुआ आमका नया बौर, बताओ अब किसका बाण बना करेगा?।१४।। जिन भौरोंकी पाँतोंकी तुम अनेक बार अपने धनुष्की डोरी बना चुके हो उनकी दुखभरी गुंजार अब ऐसी जान पड़ती है मानो वे भी मुझ दुःखमें बिलखती हुईके साथ-साथ रोने लग रही हों ।।१५।। देखो काम ! तुम अपना यह राखका शरीर छोड़कर पहले जैसा सुन्दर शरीर धारण करके स्वभावसे ही मधुर बोलनेमें चतुर इस कोयलको आज्ञा दे दो कि यह अपनी मधुर कूकसे प्रेमियोंको मिलनेका

शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगूढानि सवेपथूनि च ।
सुरतानि च तानि ते रहः स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥ १७ ॥
रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम् ।
ध्रियते कुमुमप्रसाधनं तव तच्चारु वपुर्न दृश्यते ॥ १८ ॥
विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
तमिमं कुरु दक्षिणेतरं चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥ १९ ॥
अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयणी भवामि ते ।
चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय यावन्न विलोभ्यसे दिवि ॥ २० ॥
मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे ।
वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण त्वामनुयामि यद्यपि ॥ २१ ॥
क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया ।
सममेव गतोऽस्यतर्कितां गतिमङ्गेन च जीवितेन च ॥ २२ ॥
ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः ।
मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितं च तत् ॥ २३ ॥
क्व नु ते हृदयङ्गमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः ।
न खलूग्ररुषा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम् ॥ २४ ॥
अथ तैः परिदेविताक्षरैर्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः ।
रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः ॥ २५ ॥

स्थान बताना आरंभ कर दे ।।१६।। देखो कामदेव ! मुझ रूठी हुईको मनानेके लिये जो तुम मेरे पैरों पड़कर काँपते हुए मुझे मनाकर और गले लगाकर मेरे साथ जो अनेक प्रकारसे संभोग किया करते थे, उन सबका स्मरण कर-करके मेरा जी फटा जा रहा है ।।१७।। काम-क्रीडाओंमें चतुर ! तुमने अपने हाथोंसे मेरा जो वासन्ती सिंगार किया था वह तो अब भी ज्यों का त्यों बना हुआ है पर तुम्हारा सुन्दर शरीर अब कहीं देखनेको नहीं मिल रहा है । ।।१८।। अभी थोड़ी देर पहले तो तुम मेरे पैरोंमें महावर लगाने बैठे थे और केवल दाहिने पाँवमें ही लगा पाए थे कि इसी बीच कठोर हृदय वाले देवताओंने तुम्हें अपने कामके लिये बुला भेजा था । अब आकर मेरे इस बाएँ पैरोंमें भी महावर क्यों नहीं लगा देते ।।१९।। प्यारे ! जबतक स्वर्गकी चतुर अप्सराएँ तुम्हें अपने रूपसे लुभावें-लुभावें उससे पहले ही मैं आगमें जलकर तुम्हारी गोदमें पहुँची जाती हूँ ।।२०।। प्यारे रमण ! यह तो निश्चय है कि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आ रही हूँ, फिर भी मुझपर यह कलंकका टीका तो सदाके लिये लग ही गया कि कामदेवके न रहनेपर भी रति उतनी देर तक जीती रह गई ।।२१।। मुझे इसी बातकी कसक है कि तुम अपना शरीर और प्राण दोनों एक साथ लेकर स्वर्ग चले गए, अब मेरी समझमें ही नहीं आ रहा है कि तुम्हारे परलोक चले जानेपर मैं तुम्हारे शरीरका अंतिम सिंगार करूँ तो कैसे करूँ ? ।।२२।। तुम्हारा वह गोदमें धनुष् रखकर बाण सीधा करना, वसन्तके साथ हँस-हँसकर बातें करना और बीच बीचमें मेरी ओर कनखियों देखते चलना मुझे भुलाए नहीं भूलपा रहा है ।।२३।। अब कहाँ गया वह तुम्हारे लिये फूलोंका धनुष् बनानेवाला प्यारा मित्र वसन्त ! कहीं वह भी तो महादेवके तीखे क्रोधकी आगमें अपने मित्रके साथ-साथ भस्म नहीं हो गया ? ।।२४।। यह सुनते ही बिलखती हुई वियोगिनी रतिको ढाढस बँधानेके लिये वसन्त वहाँ आ ही तो खड़ा हुआ । वह ऐसा दुखी जान पड़ रहा था मानो रतिके विलापके वचनोंके बाणोंने उसका

तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसंबाधमुरो जघान च ।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥ २६ ॥
इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः पश्य वसन्त किं स्थितम् ।
तदिदं कणशो विकीर्यते पवनैर्भस्म कपोतकर्बुरम् ॥ २७ ॥
अयि संप्रति देहि दर्शनं स्मर पर्युत्सुक एष माधवः ।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥ २८ ॥
अमुना ननु पार्श्ववर्तिना जगदाज्ञां ससुरासुरं तव ।
विसतन्तुगुणस्य कारितं धनुषः पेलवपुष्पपत्रिणः ॥ २९ ॥
गत एव न ते निवर्त्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम् ॥ ३० ॥
विधिना कृतमर्द्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता ।
अनपायिनि संश्रयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी ॥ ३१ ॥
तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
विधुरां ज्वलनातिसर्जनान्ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ॥ ३२ ॥
शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥ ३३ ॥

हृदय आरपार बींध डाला हो ॥२५॥ वसन्तको देखतेही वह और भी फूट-फूटकर और छाती पीट-पीटकर रोने लगी क्योंकि दुःखमें अपने स्वजनोंको देखते ही दुःख उसी प्रकार उमड़ पड़ता है जैसे रुकी वस्तुको बाहर निकलनेके लिये कोई बड़ा भारी द्वार मिल जाय ॥२६॥ वह रोती हुई वसन्तसे बोली क्यों वसन्त ! बताओ तो, तुम्हारे रहते तुम्हारे मित्रकी यह दशा हो कैसे गई ? वह देखो ! तुम्हारा मित्र राख बना पड़ा है। और देखो ! कबूतरके पंखके समान उसकी भूरी राखको यह पवन इधर-उधर बिखेरे डाल रहा है ॥२७॥ कामदेव ! तुम्हारा मित्र वसन्त तुम्हें देखनेके लिये कितना उतावला है, आकर इसे तो दर्शन दे दो क्योंकि पुरुष अपनी स्त्रीसे प्रेम करनेमें भले ही ढिलाई कर दे पर अपने प्रेमी मित्रोंमें तो उसका प्रेम अटल होता है ॥२८॥ तुम्हारे इस साथी कामदेव के ही कारण तो ये सब देवता और राक्षस तुम्हारे कमलके तन्तुसे बनाई हुई डोरीवाले फूलोंके बाणवाले धनुष्का लोहा मानते थे ॥ २९ ॥ देखो वसन्त ! तुम्हारा मित्र तो पवनके झोंकेसे बुझे हुए दीपकके समान जाकर लौट नहीं आ रहा है। अब तो अत्यन्त दुःखकी मारी हुई मैं ही उस बुझे हुए दीपककी धूंधूआती हुई बत्ती भर बची रह गई हूँ ॥३०॥ वसन्त ! क्या तुम समझते हो कि ब्रह्माने मुझे जीता छोड़कर मेरे आधे अंग कामदेवका वध करके केवल आधा ही वध किया है ? नहीं। उसने तो मुझे भी मार डाला है, क्योंकि तुम्हीं बताओ कि भला हाथीकी टक्करसे वृक्षके टूट जानेपर उसके सहारे चढ़ी हुई लता क्या कभी बची रह पाती है ? ॥३१॥ अब तुम बन्धु होनेके नाते मेरे लिये इतना भर कर दो कि मेरा दाह करके मुझे भी मेरे पतिके पास पहुँचा दो ॥३२॥ देखो ! चाँदनी चन्द्रमाके साथ चली जाती है; बिजली बादलके साथ ही छिप जाती है, इसलिये पतिके साथ जाना तो जड़ोंमें भी पाया जाता है फिर मैं चेतन होकर अपने पतिके पास क्यों न चली जाऊँ ? ॥३३॥ अब मैं अपने सामने पड़े हुए प्यारेकी

अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना ।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ।। ३४ ।।
कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य गतस्त्वमावयोः ।
कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्चिताम् ।। ३५ ।।
तदनु ज्वलनं मदर्पितं त्वरयेर्दक्षिणवातवीजनैः ।
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना ।। ३६ ।।
इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरेक इव नौ ।
अविभज्य परत्र तं मया सहितः पास्यति ते स बान्धवः ।। ३७ ।।

परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः ।
निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा ।। ३८ ।।

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती ।
शफरीं ह्रदशोषविक्लवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत् ।। ३९ ।।
कुसुमायुधपत्नि दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद्भविष्यति ।
शृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिषि ।। ४० ।।
अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ।। ४१ ।।

शरीरकी सुन्दर भस्मसे अपने स्तनोंका श्रृंङ्गार करके चिताकी आगमें कूदकर उसी प्रकार लोट रहूँगी जैसे कोई नई-नई लाल कोंपलोंसे सजी हुई सेजपर जा सोवे ।।३४।। वसन्त ! तुमने बहुत बार हम लोगोंको फूलके बिछौने बनानेमें सहायता दी है। अब मैं तुमसे हाथ जोड़कर पैरों पड़कर भीख माँगती हूँ कि तुम मेरे लिए भी शीघ्र ही चिता रचा डालो ।।३५।। और फिर शीघ्रतासे दक्षिण पवनका पंखा झलकर उसमें ऐसी बड़ी-बड़ी लपटें भी उठा जगाओ जिसमें मैं अत्यन्त शीघ्र जलकर राख हो जाऊँ, क्योंकि तुम जानते ही हो कि मेरा प्यारा कामदेव भी मेरे बिना एक क्षण नहीं रह सकता ।।३६।। और जब मैं जल जाऊँ तब तुम हम दोनोंके लिये एक साथ जलसे तर्पण करना जिससे परलोकमें गया हुआ तुम्हारा मित्र मेरे ही साथ-साथ जल पी सके ।।३७।। वसन्त ! जब तुम कामदेवका श्राद्ध करना तब उनके लिये पत्तोंवाली आमकी मंजरी अवश्य दे देना क्योंकि तुम्हारे मित्रको आमकी मञ्जरी बहुत प्यारी थी' ।।३८।। जैसे अचानक बरसनेवाली वर्षाकी पहली बूँदें सूखते हुए तालाबकी व्याकुल मछलियोंको जिला देती हैं वैसे ही अचानक सुनाई पड़नेवाली आकाशवाणीने भी प्राण छोड़नेको उतारू रतिपर यह कृपाकी वाणी बरसा दी– ।। ३९ ।। अरी कामदेवकी पत्नी ! तुम घबराओ मत, तुम्हारा पति थोड़े दिनोंमें तुम्हें मिल जायेगा। यह महादेवकी आँखकी ज्वालामें पतंग बनकर कैसे जला, वह सुन लो ।।४०।। ब्रह्माने सृष्टि करते समय जब सरस्वतीको उत्पन्न किया था उस समय कामदेवने उनके मनमें ऐसा पाप भर दिया कि वे सरस्वतीके रूपपर मोहित हो गए और उससे संभोग करनेकी इच्छा करने लगे। पर इतनेमें ही वे कामदेवकी काली करतूत ताड़ गए और उन्होंने अपने मनको रोककर कामदेवको शाप दिया कि जाओ, तुम शिवके तीसरे नेत्रकी अग्निसे जलकर राख बन जाओगे। उसीका यह सब फल है ।। ४१ ।। पर जब धर्मने ब्रह्मासे सृष्टिकी रक्षाके

परिणेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः।
उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ॥ ४२ ॥
इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम्।
अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः ॥ ४३ ॥
तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः।
रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥ ४४ ॥
इत्थं रते किमपि भूतमदृश्यरूपं मन्दीचकार मरणव्यवसायबुद्धिम्।
तत्प्रत्ययाच्च कुसुमायुधबन्धुरेनामाश्वासयत्सुचरितार्थपदैर्वचोभिः ॥ ४५ ॥
अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांबभूव।
शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिक्षयधूसरा प्रदोषम् ॥ ४६ ॥

॥ इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
रतिविलापो नाम चतुर्थः सर्गः ॥

लिये कामदेवको जिलानेकी प्रार्थना की तब ब्रह्माने कहा कि जब पार्वतीकी तपस्यासे प्रसन्न होकर महादेव उनके साथ विवाह कर लेंगे तब कामदेवको अपना सहायक समझकर उसे पहले जैसा शरीर दे देंगे और तभी हमारा शाप भी छूट जायगा। सत्य है, जैसे बादलोंमें बिजली और जल दोनों साथ-साथ रहते हैं वैसे ही संयमी लोगोंके मनमें क्रोध और क्षमा दोनों इकट्ठे ही रहते हैं ॥४२-४३॥ इसलिये सुन्दरी! अपने प्यारेसे मिलनेके लिये तुम अपने शरीरकी रक्षा किए रहो। देखो! जो नदियाँ गर्मीमें सूर्यकी किरणोंको अपना जल पिलाकर छिछली हो जाती हैं उन्हीं नदियोंमें वर्षा आनेपर फिर बाढ़ आ जाती है' ॥४४॥ इस प्रकार आकाशवाणी सुनकर रतिने अपने प्राण देनेका विचार छोड़ दिया और उस आकाशवाणीपर विश्वास करके कामदेवके मित्र वसन्तने भी उसे समझा-बुझाकर बहुत ढाढस बँधाया ॥४५॥ आकाशवाणी और वसन्तके धीरज बँधानेपर शोकसे दुबली रति भी कामदेवके शाप बीतनेकी अवधिकी उसी प्रकार बाट जोहने लगी जैसे दिनमें दिखाई देनेवाले निस्तेज चन्द्रमाकी किरणें भी साँझ होनेकी बाट जोहती रहती हैं ॥ ४६ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव नामके महाकाव्यमें रति-विलाप
नामका चौथा सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ १ ॥
इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥ २ ॥
निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥ ३ ॥
मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥ ४ ॥
इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ ५ ॥
कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ ६ ॥
अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरीशिखरं शिखण्डिमत् ॥ ७ ॥

पाँचवाँ सर्ग

महादेवने देखते-देखते कामदेवको भस्म कर डाला यह देखकर पार्वतीकी सारी आशाएँ धूलमें मिल गईं और वे जी भरकर अपनी सुन्दरताको कोसने लगीं, क्योंकि जो सुन्दरता अपने प्यारेको न रिझा सके उसका होना न होना दोनों बराबर है ॥१॥ बस उन्होंने ठान लिया कि जिसे मैं अपने रूपसे नहीं रिझा सकी उसे अब सच्चे मनसे तपस्या करके पा लूंगी। बात भी ठीक है, क्योंकि ऐसा निराला प्रेम और ऐसा निराला पति कहीं बिना तपस्याके मिला करता है ? ॥२॥ जब उनकी माँ मेनाने सुना कि हमारी पुत्री शिवपर रीझकर उनके लिये तप करनेपर तुली बैठी है तब पार्वतीको गलेसे लगाकर उन्हें इतनी कड़ी तपस्या करनेसे बरजती हुई वे बोलीं—॥३॥ देखो बेटी ! तुम्हारे यहाँ तो घर-घरमें ही इतने बड़े-बड़े देवता बसे पड़े हैं कि तुम जो चाहो उनसे माँग ले सकती हो। फिर तपस्या करना कोई हँसी-खेल थोड़े ही है ! बताओ, कहाँ तो (कठोर) तपस्या और कहाँ तुम्हारा यह कोमल शरीर। देखो ! शिरीषके फूलपर भौंरे भले ही आकर बैठ जायँ पर यदि कोई पक्षी उसपर आकर बैठने लगे तब तो वह नन्हाँ-सा फूल झड़ ही जायगा' ॥४॥ पर सब कुछ समझानेपर भी वे अपनी पुत्रीकी टेक नहीं टाल पाईं क्योंकि अपनी बातके धनी लोगोंका मन और नीचे गिरते हुए पानीका वेग भला किसके टाले टाला जा सकता है ॥५॥ हिमालय (के राजा) तो पार्वतीके मनकी बात जानते ही थे। इसी बीच एक दिन पार्वतीने अपनी प्यारी सखीसे कहलाकर अपने पितासे पुछवाया कि क्या मैं तबतकके लिये वनमें जाकर तपस्या कर सकती हूँ जबतक शिव मुझपर प्रसन्न न हों जायँ ॥६॥ जब हिमवान्ने समझ लिया कि पार्वती अपनी सच्ची टेकसे डिगेंगी नहीं तब उन्होंने पार्वतीको तप करनेकी आज्ञा दे ही दी। अपने पूज्य पितासे आज्ञा पाकर वे हिमालयकी उस चोटीपर तप करने जा पहुँचो जहाँ बहुतसे मोर रहा करते थे (पर इतनी ऊँचाईपर मोर नहीं रह सकते। इतने बड़े महाकविने

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ ८ ॥
यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥ ९ ॥
प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रशनागुणास्पदम् ॥ १० ॥
विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥ ११ ॥
महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥ १२ ॥
पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्ठितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥ १३ ॥
अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥ १४ ॥
अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥ १५ ॥

कैसे लिख दिया ?) और पीछे उन्हींके नामपर जिसका नाम गौरीशिखर पड़ गया ॥ ७ ॥ अपनी टेककी पक्की पार्वतीने अपना वह हार उतार फेंका जिसके सदा हिलते रहनेसे उनकी छातीपरका हरिचन्दन उसमें पुँछ-पुँछकर लगा रहा करता था। उसके स्थानपर उन्होंने प्रातःकालके सूर्यके समान लाल-लाल वल्कल उठा लपेटा ।।८।। जटा रख लेनेपर उनका मुख वैसा ही प्यारा लगने लगा जैसा पहले सजी हुई वेणियोंसे लगता था क्योंकि केवल भौंरोंसे घिरा होने पर ही कमल अच्छा नहीं लगता वरन् सेवारसे लिपटा होनेपर भी वैसा ही सजीला लगता है ।।९।। उन्होंने तपस्याके लिये अपनी कमरमें जो मूँजकी तिहरी तगड़ी बाँध ली थी वह उनके कोमल शरीरपर इतनी चुभती थी कि उससे घड़ी-घड़ी वे काँप-काँप उठती थीं और जिसे पहले पहल पहननेसे उनकी सारी कमर लाल पड़ गई थी ।।१०।। कहाँ तो वे अपने हाथोंसे ओठ रँगा करती थीं और स्तनोंके अंगरागसे लाल रँगी हुई गेंद खेला करती थीं, कहाँ उन कोमल हाथोंमें उन्होंने रुद्राक्षकी माला उठा थामी और कुशाके अंकुर उखाड़नेसे अपने उन्हीं हाथोंकी उँगलियोंमें उन्होंने घाव कर लिए ।।११।। अपने पिताके घरपर ठाट-बाटसे सजे हुए पलँगपर करवटें लेते समय जो पार्वती अपने बालोंसे झड़े हुए फूलोंके दबनेसे ही सी-सी कर उठती थीं वे ही अपने हाथोंका तकिया बनाकर बिना बिछी हुई भूमिपर ही बैठो-बैठी सो लिया करती थीं ।।१२।। तपके समय वे ऐसीं शांत हो गई थीं मानो तप करनेके समय-तकके लिये उन्होंने अपना हाव-भाव तो कोमल लताओंको और अपनी चंचल चितवन हरिणियोंको धरोहर बनाकर सौंप डाली हो ।।१३।। आलस छोड़कर उन्होंने वहाँके जिन छोटे-छोटे पौधोंको अपने स्तनोंके-जैसे घड़ोंके जलसे सींच-सींचकर पाला था उन्हें वे पुत्रोंके समान इतना प्यार करती थीं कि पीछे जब स्वामिकार्तिकेयका जन्म भी हो गया तब भी उनका वात्सल्य प्रेम इन पौधोंपर वैसा ही बना रहा, कम नहीं हुआ ।।१४।। यहाँके जिन हरिणोंको उन्होंने अपने हाथसे तिन्नीके दाने खिला खिलाकर पाला-पोसा था वे इतने परच गए थे कि कभी-कभी वे मन-बहलावके लिये अपनी सखियों के आगे उन्हें लाकर उन हरिणोंके नेत्रोंसे अपने नेत्र मापा करती थीं ।।१५।।

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥ १६ ॥
विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि ।
नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥ १७ ॥
यदा फलं पूर्वतपः समाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम् ।
तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥ १८ ॥
क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ १९ ॥
शुचौ चतुर्णां; ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥ २० ॥
तथातितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ॥ २१ ॥
अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः ।
बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥ २२ ॥

यद्यपि पार्वती की अवस्था छोटी ही थी फिर भी वे जब स्नान करके, हवन करके, वल्कलकी ओढ़नी ओढ़कर बैठी पाठ-पूजा किया करती थीं तब उन्हें देखनेके लिये दूर-दूरसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनके पास आते जाया करते थे क्योंकि जो धर्मका जीवन बितानेमें बढ़े-चढ़े होते हैं उनके लिये यह नहीं देखा जाया करता कि ये छोटे हैं या बड़े ।।१६।। उस तपोवनमें रहनेवाले सब पशु-पक्षियोंने अपना पिछला आपसका सारा बैर छोड़ दिया, वहाँके वृक्ष इतने फल-फूलसे लद गए थे कि आए हुए अतिथि जो भी चाहते थे वही उन्हें मिल जाता था और वहाँ नई पर्णकुटीमें सदा हवनकी अग्नि जलती ही रहा करती थी। इन सब बातोंसे वह तपोवन बड़ा पवित्र हो गया था ।।१७।। पार्वतीने जब देखा कि इन प्रारम्भिक नियमोंसे काम नहीं सध रहा है तब उन्होंने अपने शरीरकी कोमलताका ध्यान छोड़कर बड़ी कठोर तपस्या आरम्भ कर दी ।।१८।। जो पार्वती पहले गेंद खेलने में भी थक जाया करती थीं उन्होंने ही जब मुनियोंका कठोर बाना ले लिया तब ऐसा जान पड़ने लगा मानो उनका शरीर सोनेके कमलों से बना है, जो कमलसे बने होनेके कारण स्वभावसे कोमल भी था पर साथ ही साथ सोनेका बना होनेसे ऐसा पक्का भी था कि तपस्यासे कुँभला न सके ।।१९।। पतली कमरवाली हँसमुख पार्वती, गरमीके दिनोंमें तो अपने चारों ओर आग जलाकर उसीके बीच खड़ी रहने लगीं और चकाचौंध करनेवाले सूर्यके प्रकाशको भी जीतकर वे सूर्यकी ओर एकटक होकर देखती रहने लगीं ।।२०।। इस प्रकार तप करते रहनेपर भी उनका मुख सूर्यकी किरणोंसे तपकर तनिक भी कुम्हलाया नहीं वरन् कमलके समान और भी खिल उठा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि उनकी बड़ी-बड़ी आँखोंकी कोरोंमें धीरे-धीरे कुछ साँवलापन झलकने लगा ।।२१।। फिर बर्षाके दिनोंमें वे एक तो बिना माँगे अपने आप बरसा हुआ जल पीकर और दूसरे अमृतसे भरी चन्द्रमाकी किरणें ही पीकर रह जाया करतीं। बस यह समझ लीजिये कि उन दिनों पार्वतीका खाना-पीना वही था जो वृक्षोंका हुआ करता है ।।२२।। वर्षा होनेपर

निकामतप्ता विविधेन वह्निना नभश्चरेणेन्धनसंभृतेन सा ।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् ॥ २३ ॥
स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ २४ ॥
शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥ २५ ॥
निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥ २६ ॥
मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदां सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् ॥ २७ ॥
स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥ २८ ॥
मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम् ।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥ २९ ॥
अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥ ३० ॥

उधर तो गर्मीसे तपी हुई पृथ्वीसे भी भाप उठ निकली और इधर ईंधनकी आग तथा सूर्यकी गर्मीसे तपे हुए पार्वतीके शरीरसे भी भाप उठ निकली ॥२३॥ उनके सिरपर जो वर्षाका जल पड़ता वह पलभर तो उनकी पलकों पर में टिकता फिर वहाँसे ढुलककर उनके ओठोंपर जा पड़ता, वहाँसे उनके कठोर स्तनोंपर गिरकर बूँद-बूँद बनकर छितरा जाता और उनके पेटपर बनी हुई सिकुड़नोंमें होता हुआ वह बड़ी देरमें नाभितक पहुँच पाता था ॥२४॥ जिन दिनों घनघोर वर्षाके साथ-साथ रात-रातभर आँधियाँ चला करतीं उन दिनों भी ये खुले मैदानमें पत्थरकी पटियापर ही लेटी पड़ी रहा करतीं और अपनी बिजलीकी आँखें मिलका-मिलका कर अधेरी रातें इस प्रकार उन्हें (पार्वतीका) देखा करतीं मानों वे उनके कठोर तपकी साक्षी हों ॥२५॥ पूसकी जिन रातोंमें वहाँका सरसराता हुआ पवन चारों ओर हिम ही हिम बिखेरता चलता था, उन दिनों वे सारी रात जलमें ही बैठी बिता देतीं और उनके सामने ही चकवे और चकबीका जोड़ा एक दूसरेसे बिछुड़ा हुआ चिल्लाया करता उन्हें वे बराबर ढाढस बँधाया करतीं ॥२६॥ उन जाड़ेकी रातोंमें भी जब जलके ऊपर केवल पार्वतीका मुँह भर दिखाई पड़ता था, जाड़ेसे उनके ओठ काँपते रहते थे और उनकी साँससे कमलकी गन्धके समान जो सुगन्ध निकल रही थी उसकी गमक चारों ओर फैलती ज़ाती थी तब जलमें खड़ी हुई वे ऐसी लगती थीं मानो पालेसे मारे हुए कमलोंके जल जानेपर उनके मुखके कमलने ही उस तालाबको कमलवाला बनाए रक्खा हो ॥२७॥ अपने आप झड़कर गिरे हुए पत्ते खाकर रहना ही तपकी पराकाष्ठा समझी जाती है पर पार्वतीने वैसे पत्ते खाने भी छोड़ दिए, इसीलिये, मधुर भाषिणी पार्वतीको पण्डित लोग पीछे चलकर ‘पत्ते न खानेवाली’ (अपर्णा) भी कहने लगे ॥ २८ ॥ कमलिनीके समान अपने कोमल अङ्गोंको इस प्रकारकी तपस्यासे रात-दिन सुखाकर पार्वतीने कठोर शरीरवाले सभी तपस्वियोंको लजा दिया ॥ २९ ॥ इसी बीच एक दिन ब्रह्मचर्यके तेजसे चमकता हुआ सा हिरन की छाल ओढ़े और पलाशका दंड हाथमें लिए, गठीले शरीर वाला और चतुराईके साथ

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥ ३१ ॥
विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम्।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ॥ ३२ ॥
अपि [illegible] सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ ३३ ॥
अपि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम्।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा ॥ ३४ ॥
अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयापहारिषु।
य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥ ३५ ॥
यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ ३६ ॥
विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥ ३७ ॥
अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोर्निविषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥ ३८ ॥

बोलनेवाला एक जटाधारी ब्रह्मचारी उस तपोवनमें आ पहुँचा जो ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् ब्रह्मचर्याश्रमसे ही उठा चला आया हो ॥ ३० ॥ अतिथि का सत्कार करनेवाली पार्वतीने बड़े आदर से आगे बढ़कर उसकी पूजा की, क्योंकि जिन्होंने अपने मनको भली प्रकार साध लिया है वे यदि अपनी बराबरकी अवस्थावाले तेजस्वी पुरुषसे भी मिलते हैं तो बड़े आदरसे ही मिलते हैं ॥३१॥ उस ब्रह्मचारी ने भेंट-पूजा लेकर और पलभर अपनी थकावट मिटाकर पार्वतीकी ओर एकटक देखते हुए बिना रुके बोलना प्रारम्भ कर दिया ॥३२॥—'कहिए देवीजी ! आपको इस तपोवनमें हवनके लिए समिधा, कुशा और स्नान करने योग्य जल तो मिल जाता है न ! आप अपने शरीरकी शक्तिके अनुसार ही तप कर रही हैं न ! क्योंकि देखिए ! धर्मके काम साधनेके लिये पहला काम है शरीरकी रक्षा किए रखना ॥३३॥ हाँ, आपके हाथसे सींची हुई इन लताओंमें कोमल लाल-लाल पत्तियोंवाली वे कोंपलें तो फूट आई होंगी जो आपके उन ओठोंसे होड़ करती होंगी जो बहुत दिनोंसे आलतेसे न रँगे जानेपर भी लाल हैं ॥३४॥ और कमलनयनी ! आपके हाथसे प्रेमसे कुशा छीन-छीनकर खानेवाले इन हरिणोंमें तो आपका मन बहला रहता है न, जिनकी आँखें आपकी आँखोंके समान ही चञ्चल हैं ॥३५॥ पार्वती ! यह ठीक ही कहा जाता है कि सुन्दरता पापकी ओर कभी नहीं झुकती, क्योंकि सुन्दरी ! आपका ही रहन-सहन देखें तो वह इतना सच्चा है कि बड़े-बड़े तपस्वी भी उससे सीख ले सकते हैं ॥३६॥ यों तो सप्तऋषियोंके हाथसे चढ़ाए हुए पूजाके फूल और आकाशसे उतरी हुई गंगाकी धाराएँ हिमालयपर ही गिरती हैं, पर इन सबसे भी हिमालय उतना पवित्र नहीं हुआ जितना आपके पवित्र रहन-सहनसे हुआ है ॥३७॥ देवि ! आपके इस आचरणसे ही मैं समझ रहा हूँ कि धर्म, अर्थ और काम, इन तीनोंमें धर्म ही सबसे बढ़कर है क्योंकि आप अर्थ और कामसे अपने मनको हटाकर अकेले धर्मका ही पल्ला थामे उसकी सेवा किए जा रही हैं

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि ।
यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ ३९ ॥
अतोऽत्र किंचिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥
कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥ ४१ ॥
भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी ।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि ॥ ४२ ॥
अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे ।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥ ४३ ॥
किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्द्धकशोभि वल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥ ४४ ॥
दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ ४५ ॥
निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥ ४६ ॥

॥३८॥ सुन्दरी ! कहा जाता है कि पहली ही भेंटमें सज्जन लोगोंकी मित्रता पक्की हो जाया करती है; इसलिये आपने जो मेरा इतना सत्कार किया है उसीसे यह सिद्ध है कि आप मुझे कोई पराया नहीं समझतीं ॥३९॥ तपस्विनी ! यदि उसी अपनेपनके नाते मैं ब्राह्मण होनेकी ढिठाई करके आपसे कुछ ऐसी-वैसी बातें पूछ बैठूँ तो आप बुरा न मानिएगा और यदि कोई छिपाने की बात न हो तो आप कृपा करके उत्तर भी दे दीजिएगा ॥४०॥ तो मैं यही पूछना चाहता हूँ कि ब्रह्माके वंशमें तो आपका जन्म, शरीर भी आपका ऐसा सुन्दर मानो तीनों लोकोंकी सारी सुन्दरता ब्रह्माने आपमें ही ला भरी हो, धनका सुख इतना कि कुछ पूछना ही नहीं और जवानी भी अभी फूट ही रही है; फिर बताइए कि आपको तप करनेकी आवश्यकता क्या आ पड़ी ? ॥४१॥ हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने बैरीसे बदला लेनेके लिए भी मानिनी स्त्रियाँ कठोर तपस्या कर बैठती हैं, पर जहाँतक मैं समझता हूँ कि ऐसी भी कोई बात आपके साथ नहीं होगी ॥४२॥ क्योंकि सुन्दर भौहोंवाली ! आपका रूप ही ऐसा है कि न तो आपपर कोई क्रोध ही कर सकता न आपका निरादर, क्योंकि पिताके घरमें तो आपका निरादर करनेवाला कोई है ही नहीं, और यह भी नहीं हो सकता कि कोई शत्रु बाहरसे आकर आपका अपमान करे, क्योंकि ऐसा कौन माईका लाल जन्मा है जो साँपकी मणि लेनेके लिए उसपर हाथ जा डालेगा ॥४३॥ इसलिये गौरी ! आप यह तो बताइए कि इस चढ़ती जवानीमें आपने सुन्दर गहने छोड़कर ये बुढ़ियोंवाले वल्कल क्यों उठा पहने हैं। बताइए, भला चढ़ती हुई रातकी सजावट खिले हुए चन्द्रमा और तारोंसे होती है या सबेरेके सूर्यकी लालीसे ? ॥४४॥ और यदि आप स्वर्ग पानेकी इच्छासे तप कर रही हों तब तो आपका यह सारा परिश्रम ही अकारथ है क्योंकि सब देवता उतनेमें ही तो बस पड़े है जितनी दूरमें आपके पिता हिमावान्‌का राज्य है। और यदि आप अपने योग्य पति पानेके लिये तपस्या करती हों तब भी तपस्या व्यर्थ है क्योंकि मणि किसीको खोजने नहीं जाता, उल्टे मणिको ही लोग खोजते फिरा करते

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥ ४७ ॥
मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकरप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥ ४८ ॥
अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ॥ ४९ ॥
कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः ।
तदर्द्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥ ५० ॥
इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम् ।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत ॥ ५१ ॥
सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो तव चेत्कुतूहलम् ।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपःसाधनमेतया वपुः ॥ ५२ ॥
इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥ ५३ ॥

हैं ॥४५॥ आपने जो अभी लम्बी साँस ली है इससे मैं समझ रहा हूँ कि आप योग्य पति पानेके लिये ही तपस्या कर रही हैं, पर मेरे जीमें बड़ा भारी सन्देह उठ खड़ा हुआ है कि भला आप जिसे चाहती हों वह आपको न मिले, यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि मुझे तो संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं दिखाई पड़ता है जिसके पीछे आपको दौड़ना पड़े ॥४६॥ यह सचमुच बड़े अचरजकी बात है कि जिस युवकको आप चाहती हों वह ऐसा हठीला है कि बहुत दिनोंसे कर्णफूलसे सूनें आपके गालोंपर लटकी हुई इन धानके बालोंके समान पीली जटाओंको देखकर भी न पिघल उठा हो ॥४७॥ ऐसा कौन जीता-जागता पुरुष होगा जिसका जी तपस्यासे अत्यन्त सूखे हुए आपके इस शरीरको देखकर रो न पड़े जिसके अंग-अंग आभूषण न पहननेसे सूर्यकी किरणोंसे झुलस गए हैं और जो दिनके चन्द्रमाकी लेखाके समान कान्तिहीन दिखाई पड़ने लगा है ॥४८॥ मैं समझता हूँ कि आप जिसे प्यार करती हैं वह अपनी सुन्दरताका झूठा घमण्ड लिए फिरता है नहीं तो उसे अबतक यहाँ आकर अपने मुँहको आपकी इन कँटीली भौंहोंवाले सुन्दर नैनोंका लक्ष्य बना ही डालना चाहिए था ॥४९॥ अच्छा, यह तो बताइए गौरी ! कि आप यह तपस्या कब-तक करती रहेंगी ? देखिए, मैंने भी ब्रह्मचर्यकी अवस्थामें जो बहुतेरी तपस्या इकट्ठी कर रक्खी है उसका आधा भाग आप ले लीजिए और आपकी जो भी साधें हों, सब उनसे पूरी कर लीजिए पर कमसे कम इतना भर बता दीजिए कि वह है कौन' ॥५०॥ उस ब्राह्मणने सारी बातें इस ढंगसे कहीं मानो पार्वतीके हृदय में पैठकर सारी बातें जान ली हों। उन्हें सुनकर पार्वती ऐसी लजा गईं कि वे अपने मुंहसे कुछ भी कह नहीं पाईं इसलिये उन्होंने अपने पास बैठी हुई अपनी सखीको ही अपने बिना काजलवाले नेत्रोंसे बतानेको संकेत कर दिया ॥५१॥ तब पार्वतीकी सखी उस ब्रह्मचारीसे बोली—साधो ! यदि आप सुनना ही चाहते हों तो मैं ही बताए देती हूँ कि जैसे कोई धूप बचानेके लिये कमलका छाता लगा ले वैसे ही इन्होंने अपना कोमल शरीर इस कठोर तपस्यामें क्यों लगा दिया ॥५२॥ महेन्द्र आदि बड़े-बड़े चारों दिग्पालों (इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर)-को छोड़कर ये मानिनी उन महादेवसे विवाह करनेपर तुली हुई हैं जो अब कामदेवके भस्म हो

अथ हुंकारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥ ५४ ॥
तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि ॥ ५५ ॥
उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम् ।
अनेकशः किंनरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत् ॥ ५६ ॥
त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥ ५७ ॥
यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥ ५८ ॥
यदा च तस्याभिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥ ५९ ॥
द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ।
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ॥ ६० ॥
न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् ॥ ६१ ॥

जानेपर केवल रूप दिखाकर नहीं रिझाए जा सकते ॥५३॥ उस समय कामदेवने शिवके ऊपर जो बाण चलाया था वह उस समय तो उनकी हुंकार सुनकर ही लौट गया पर उस जलकर राख बने हुए कामदेवका वह बाण मेरी सखीके हृदयमें लगकर बड़ा भारी घाव कर गया है ॥५४॥ तभीसे यह बेचारी अपने पिताके घर इतनी प्रेमकी पीडासे व्याकुल हुई पड़ी रहती थीं कि माथेपर पुते हुए चन्दनसे बाल भर जानेपर भी और जमे हुए हिमकी पाटियोंपर लेटे रहनेपर भी इन्हें चैन नहीं मिलती थी ॥५५॥ जब ये महादेवके गीत गाने लगती थीं तब इनकी संगीतकी सखियाँ वनवासिनी किन्नरी राज-कुमारियाँ भी इनके रुँधे हुए गलेसे निकले हुए शब्दोंको सुन-सुनकर बहुत बार रो देती थीं ॥५६॥ रातके पहले ही पहरमें क्षण भरके लिये आँख लगी नहीं कि बिना बातके ये चौंककर बरबराती हुई जाग उठती थीं 'हे नीलकंठ ! तुम कहाँ जा रहे हो ?' और उसी सपनेके धोखेमें ये अपने हाथ ऐसे फैलाती थीं मानो शिवके गलेमें हाथ डालकर उन्हें रोके दे रही हों ॥५७॥ इस प्रकार नींदमें उठकर ये अपने हाथसे बनाए हुए शंकरके चित्रको ही सच्चे शंकर समझकर उन्हें यह कह-कहकर उलाहना देने लगती थीं कि आपके लिये पंडित लोग तो कहते हैं कि आप घट-घटकी बातें जानते हैं फिर आप मेरे जीकी जलन क्यों नहीं जान पाते रहे हैं जो इतने सच्चे मनसे प्यार करती हैं ॥५८॥ जब उन संसारके स्वामी शिवको पानेका इन्हें कोई दूसरा उपाय न सूझा तो ये अपने पिताकी आज्ञा लेकर हम लोगोंके साथ तप करनेके लिये यहाँ तपोवनमें चलीं आईं ॥५९॥ हमारी सखीको यहाँ तपस्या करते हुए इतने दिन हो गए कि इनके हाथके रोपे हुए जिन वृक्षोंने इनके तपको खड़े-खड़े देखा है वे भी फल गए पर महादेवको पानेकी जो इनकी साध थी उसमें अभी अंकुर तक भी नहीं फूट पाये ॥ ६० ॥ तपस्याने इन्हें ऐसा सुखा दिया है कि इन्हें देखकर हमारी सखियोंकी आँखे भी डबडबा आती हैं। इतनेपर भी जिस दुर्लभ वरको पानेके लिये ये इतनी साँसत भोग जा रही हैं वह देखें कब हमारी सखीपर

अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया ।
अपीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः ॥ ६२ ॥
अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम् ।
कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥ ६३ ॥
यथा श्रुतं वेदविदां वर त्वया जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः ।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ ६४ ॥
अथाह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे ।
अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं तवानुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे ॥ ६५ ॥
अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः ।
करेण शंभोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥ ६६ ॥
त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितविन्दुवर्षि च ॥ ६७ ॥
चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते ।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥ ६८ ॥
अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवक्षः सुलभं तवापि यत् ।
स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति ॥ ६९ ॥

उसी प्रकार तरस खाकर कृपा बरसाता है जैसे जुती हुई होनेपर भी पानी न बरसनेसे सखी हुई धरतीपर इन्द्र पानी ला बरसाते हैं' ॥ ६१ ॥ इस प्रकार पार्वतीके मनकी बात जाननेवाली सखीने तपस्या करनेका ठीक-ठीक कारण उन्हें कह सुनाया। यह सुनकर उस ब्रह्मचारी और सुन्दर पुरुषने अपने मुखपर प्रसन्नताकी एक भी रेखा नहीं पड़ने दी और उलटे पार्वतीसे पूछने लगा— 'ये जो कुछ कह रही हैं वह क्या सत्य है, या ये हँसी कर रही हैं?' ॥ ६२ ॥ बहुत देरतक तो पार्वती लाजके कारण कुछ भी नहीं बोलीं पर उन्होंने अपनी अँगुलियोंको समेटकर स्फटिककी माला हाथमें पहन ली और बड़े नपे-तुले अक्षरोंमें वे किसी-किसी प्रकार बोलीं ॥ ६३ ॥ 'वेदके परम पंडित! आपने जैसा सुना है मेरे मनमें वैसा ही ऊँचा पद पानेकी साध जाग उठी है और यह तप भी मैं उन्हींको पानेके लिये कर रही हूँ, क्योंकि मनुष्यकी साध कहाँ-तक पहुँचती है इसका कोई ठिकाना तो है ही नहीं' ॥ ६४ ॥ पार्वतीकी बात सुनकर ब्रह्मचारी बोला— 'आहो! जिसने पहले ही आपका प्यार ठुकरा दिया, उसे पानेकी साध क्या अभी तक आपके मनमें बनी हुई है? जब मैं उन भोंडे वेशवाले शिवपर विचार करता हूँ तब मेरा मन तो नहीं करता कि आपको इसके लिये हाँ करूँ ॥६५॥ पार्वती जी! आप भी किस बेतुकेके प्रेममें जा फँसी? बताइए, पाणिग्रहणके समय विवाहके मंगल-सूत्रसे सजा हुआ आपका यह हाथ साँप लिपटे हुए शंकरके हाथको कैसे छू पावेगा? ॥ ६६ ॥ आप स्वयं सोचिए कि कहाँ तो हंस छपी हुई चूँदरी ओढ़े हुए आप और कहाँ रक्तकी बूँद टपकाती हुई महादेवके कन्धेपर पड़ी हुई हाथीकी खाल! भला ये दोनों बातें कहाँ मेल खा सकती हैं? ॥ ६७ ॥ आप अभी-तक फूल बिछे हुए चौकमें चलती आई हैं। अब बताइए आप अपने महावरसे रँगे पैरोंको उस श्मशानकी भूमिमें कैसे रख पावेंगी जहाँ इधर-उधर भूत-प्रेतोंके बाल बिखरे पड़े होंगे। यह तो आपका शत्रु भी आपके लिये नहीं चाहेगा ॥ ६८ ॥ और बताइए, यदि शिव आपको मिल भी जायँ तो भी इससे

इयं च तेऽन्या पुरतो बिडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥ ७० ॥
द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ ७१ ॥
वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ ७२ ॥
निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥ ७३ ॥
इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥ ७४ ॥
उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥ ७५ ॥
विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥ ७६ ॥
अकिञ्चनः सन्प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥ ७७ ॥

बढ़कर भद्दी और क्या बात होगी कि आपके जिन स्तनोंपर हरिचन्दन पुता हुआ है उनपर चिताकी भस्म ला लाकर पोती जाया करे ॥ ६९ ॥ और सबसे बड़ी हँसीकी बात तो तब होगी जब आप हाथी छोड़कर उनके बूढ़े बैलपर चढ़कर अपनी ससुरालको चलेंगी और नगरके भलेमानुस सब आपको देख देखकर तालियाँ बजा-बजाकर हँसी उड़ावेंगे ॥ ७० ॥ मैं तो समझता हूँ कि शिवको पानेके फेरमें दोके भाग फूट गए, एक तो चन्द्रमाकी कलाके, जो उनके माथेपर है और दूसरे आपके, जो संसारके नेत्रोंको खिलानेवाली हैं ॥ ७१ ॥ और फिर तीन तो उनके आँख, जन्मका उनके कोई ठिकाना नहीं, और उनके सदा नंगे रहनेसे ही आप समझ सकती होंगी कि उनके घरमें क्या धरा होगा। इसलिये मृगके छौनेकी आँख-जैसी आखों वाली पार्वती ! वरमें जो गुण खोजे जाते हैं उनमेंसे एक भी तो महादेवमें नहीं है [न रूप है, न कुल है और न धन है] ॥ ७२ ॥ इसलिये आप अपने मनसे यह भोडी इच्छा निकाल ही फेंकिए। कहाँ तो महादेव और कहाँ सुन्दर लक्षणोंवाली आप। देखिए, शूली देनेके लिये श्मशानमें जो खंभा गड़ा रहता है उससे जिस प्रकार सज्जन लोग यज्ञके खंभेका काम नहीं लेते हैं वैसे ही इन महादेवको पति बनाना भी आपको शोभा नहीं देता' ॥७३॥ उस ब्राह्मणकी ऐसी उलटी-सीधी बातें सुनकर पार्वतीके ओठ क्रोधसे काँप उठे, उनकी आँखें लाल हो उठीं, और उन्होंने भौंहें तानकर उस ब्रह्मचारीकी ओर आँखें तरेरकर देखा ॥७४॥ और कह उठीं— 'तब आप महादेवजीको भली प्रकार जानते ही नहीं जो मुझसे इस प्रकार कह रहें हैं। जो खोटे लोग होते हैं वे उन महात्माओंके अनोखे कामोंको बुरा बताते ही हैं जिन्हें पहचाननेकी उनमें योग्यता नहीं होती ॥ ७५ ॥ लोग जो गन्ध आदि मंगल वस्तु काममें लाते हैं उसका कारण यही है कि या तो वे अमंगल दूर करने के लिये ऐसा करते हैं या फिर अपनी तड़क-भड़क दिखलानेके लिये पर जो तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले हैं और जिनके मनमें कोई इच्छा ही नहीं रहती; वे शंकर इन वस्तुओंको लेकर करेंगे ही क्या ? ॥ ७६ ॥ पासमें कुछ न होते हुए भी सारी

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ ७८ ॥
तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्म रजोविशुद्धये ।
तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥ ७९ ॥
असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा ।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली ॥ ८० ॥
विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥ ८१ ॥
अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ ८२ ॥
निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥ ८३ ॥
इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः ॥ ८४ ॥

सम्पत्तियाँ उन्हींसे उत्पन्न होती हैं, श्मशानमें रहते हुए भी वे तीनों लोकोंके स्वामी हैं और डरावने दिखाई देनेपर भी वे सबका कल्याण करनेवाले कहे जाते हैं, इसलिये उनका सच्चा रूप संसारमें कोई ठीक-ठीक समझ ही नहीं पाया है ।।७७।। संसारमें जितने रूप दिखाई देते हैं वे सब उन्हींके तो हैं इसलिये उनका शरीर गहनोंसे चमकता हो या साँपोंसे लिपटा हुआ हो; हाथी की खाल लटकाए हुए हो या वस्त्र ओढ़े हुए हो, गलेमें खोपड़ियोंकी माला पहने हुए हो या माथेपर चन्द्रमा सजाये हुए हो, उसपर यह विचार नहीं किया जाता कि वह कैसा है कैसा नहीं ।।७८।। उनके शरीरसे लगकर चिताकी राख भी पवित्र हो जाती है इसीलिए तो जब वे तांडव नृत्य करने लगते हैं तब उनके शरीरसे झड़ी हुई भस्मको देवता लोग बड़ी श्रद्धासे अपने माथे चढ़ाते हैं ।।७९।। जिन्हें आप दरिद्र बताते हैं वे जब अपने बैलपर चढ़कर चलने लगते हैं तब मतवाले ऐरावतपर चढ़नेवाला इन्द्र भी आकर उनके पैरोंपर मस्तक नवाया करता है और कल्पवृक्षके फलोंके परागसे उनके पैरोंकी उँगलियाँ रँगा करता है ।।८०।। आपने अपने दुष्ट स्वभावसे कहते-कहते कमसे कम एक बात तो उनके लिये ठीक कह दी कि जो ब्रह्म-तकको उत्पन्न करनेवाला बताया जाता है उस ईश्वरके जन्म और कुल्को कोई जान ही कैसे सकता है ।।८१।। इसलिये, अब यह झगड़ा जाने दीजिए। आपने उन्हें जैसा सुना है, वे वैसे ही सही पर मेरा मन तो उन्हींमें रमा पड़ा है । जब किसीका मन किसीपर लग जाता है तब वह किसीके कहने-सुननेपर ध्यान थोड़े ही देता है' ।।८२।। इतनेमें उन्होंने देखा कि ब्रह्मचारी कुछ और बोलना चाहता है । यह देखकर वे अपनी सखीसे बोलीं—'देखो सखी ! इन ब्रह्मचारीके ओठ फड़क रहे हैं । ये फिर कुछ कहना चाहते हैं । इनसे कह दो कि अब एक बात भी न बोलें क्योंकि जो बड़ोंकी निन्दा करता है केवल वही पापी नहीं होता वरन् जो सुनता है उसे भी पाप लगता है ।।८३।। या फिर मैं ही यहाँसे उठकर चली जाती हूँ ।' यह कहकर वे उठीं । इस हड़बड़ीमें उनके स्तनपर पड़ा हुआ वल्कल फट गया और ज्यों ही उन्होंने चलनेको पैर बढ़ाया त्यों ही

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥ ८५ ॥
अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ ८६ ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
तपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः ॥

महादेवजीने अपना सच्चा रूप धारण करके मुसकराते हुए उनका हाथ थाम लिया ॥८४॥ महादेवको देखते ही पार्वतीके शरीरमें कँपकँपी छूट गई। वे पसीने-पसीने हो गईं और आगे चलनेको उठाए हुए अपने पैरको उन्होंने जहाँका तहाँ रोक लिया। जैसे धाराके बीचमें पहाड़ पड़ जानेसे न तो नदी आगे बढ़ पाती है न पीछे हट पाती है वैसे ही हिमालय की कन्या भी न तो आगे ही बढ़ पाईं न खड़ी ही रह पाईं ॥८५॥ शिव बोले--'कोमल शरीरवाली! आजसे तुम मुझे तपसे मोल लिया हुआ अपना दास समझो।' इतना सुनना भर था कि तपस्यासे पार्वतीको जितना कष्ट हुआ था वह सबका सब जाता रहा क्योंकि जब काम पूरा हो जाता है तब उसके लिए किया हुआ कष्ट फिर खटकता नहीं ॥८६॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें
तपका फल नामक पाँचवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ षष्ठः सर्गः ॥

अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम्। दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति।।१।।
तया व्याहृतसंदेशा सा बभौ निभृता प्रिये। चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी।।२।।
स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्। ऋषीञ्ज्योतिर्मयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः।।३।।
ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः। सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः।।४।।
आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्किरवीचिषु। व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु।।५।।
मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः। रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः।।६।।
अधः प्रस्थापिताश्वेन समावर्जितकेतुना। सहस्ररश्मिना साक्षात्सप्रमाणमुदीक्षिताः।।७।।
आसक्तबाहुलतया सार्धमुद्धृतया भुवा। महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः प्रलयापदि।।८।।
सर्गशेषप्रणयनाद्विश्वयोनेरनन्तरम्। पुरातनाः पुराविद्भिर्धातार इति कीर्तिताः।।९।।
प्राक्तनानां विशुद्धानां परिपाकमुपेयुषाम्। तपसामुपभुञ्जानाः फलान्यपि तपस्विनः।।१०।।
तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादार्पितेक्षणा। साक्षादिव तपः सिद्धिर्बभासे बह्वरुन्धती।।११।।

छठा सर्ग

तब पार्वतीने, घट-घटमें रमनेवाले शंकरको अपनी सखीके मुँहसे धीरेसे कहलाया कि मेरा विवाह करने या न करनेवाले मेरे पिता हिमालय हैं, इसलिये यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हों तो पहले उनसे जाकर पूछ लीजिए ।।१।। प्रेममें पगी हुई पार्वती अपनी सखीके मुँहसे महादेवको यह सन्देश कहलाती हुई वैसी ही सुशोभित हुई जैसे कोयलकी बोलीमें वसन्तके पास अपना सन्देश भेजती हुई आमकी डाल शोभा देती है ।।२।। महादेवने कहा—'अच्छी बात है' और उन्होंने बहुत भारी मनसे पार्वतीको किसी प्रकार घर जानेकी आज्ञा दी । पार्वतीके चले जानेपर उन्होंने तेजसे जगमगानेवाले सप्त ऋषियोंको झटसे मनमें स्मरण किया ।।३।। स्मरण करते ही अपने तेजोमंडलोंसे उजाला फैलाते हुए अरुन्धतीको साथ लेकर तत्काल शंकरके आगे वे सातों तपस्वी (मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ) आ खड़े हुए ।।४।। वे उस आकाश-गंगामें स्नान किए चले आ रहे थे जो अपने तीरपर गिरे हुए कल्पवृक्षके फूल अपनी लहरोंपर उछालती रहती है और जिसके जलमें दिग्गजोंके मदकी सुगन्ध आया करती है ।।५।। उनके कन्धोंपर मोतीके यज्ञोपवीत लटके हुए थे, पीठपर सोनेके वल्कल पड़े हुए थे, हाथोंमें रत्नोंकी मालाएँ थीं और जो इस वेशमें ऐसे जान पड़ते थे मानों कल्पवृक्ष ही संन्यास लिए आ पहुँचे हों ।।६।। उनके तलेसे जाता हुआ सूर्य सदा अपने घोड़े नीचे रोककर और झंडी उतारकर बड़ी नम्रतासे उन्हें ऊपर आँख उठाकर प्रणाम किया करता है ।।७।। प्रलयके समय वराह भगवान्के जबड़ोंसे उबारी हुई पृथ्वीके साथ अपना हाथ-रूपी लता लगाए रखनेके कारण पृथ्वीके साथ ही जो उनके जबड़ोंमें विश्राम किया करते हैं उनके लिये लोग कहते हैं कि ब्रह्माके सृष्टि कर चुकनेपर इन्हीं ऋषियोंने ही सृष्टि की थी और इसीलिये उन्हें इतिहास जाननेवाले पुराने लोग विधाता कहा करते हैं ॥ ८-९ ॥ वे अपने पूर्व जन्मकी तपस्या और पुण्योंका फल भोगते रहनेपर भी अभीतक तपस्या करते चले जाते हैं ।। १० ॥ उनके बीच, अपने पति वशिष्ठके चरणोंकी ओर निहारती हुई सती अरुन्धती ऐसी लगती थीं मानो साक्षात् तपकी सिद्धि ही आई खड़ी हों ।। ११ ॥ शंकरने अरुन्धतीको

तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः। स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥१२॥
तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दारार्थमादरः। क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥१३॥
धर्मेणापि पदं शर्वे कारिते पार्वतीं प्रति। पूर्वापराधभीतस्य कामस्योच्छ्वसितं मनः ॥१४॥
अथ ते मुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम् । इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः ॥१५॥
यद्ब्रह्म सम्यगाम्नातं यदग्नौ विधिनाहुतम्। यच्च तप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमद्य नः ॥१६॥
यदध्यक्षेण जगतां वप्रमारोपितास्त्वया । मनोरथस्याविषयं मनोविषयमात्मनः ॥१७॥
यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत्कृतिनां वरः । किं पुनर्ब्रह्मयोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते ॥१८॥
सत्यमर्काच्च सोमाच्च परमध्यास्महे पदम्। अद्यतूच्चैस्तरं ताभ्यां स्मरणानुग्रहात्तव ॥१९॥
त्वत्संभावितमात्मानं बहुमन्यामहे वयम् । प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः ॥२०॥
या नः प्रीतिर्विरूपाक्ष त्वदनुध्यानसंभवा। सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥२१॥
साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा। प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्तसे ॥२२॥
किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत्। अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥२३॥
अथवा सुमहत्येषा प्रार्थना देव तिष्ठतु। चिन्तितोपस्थितांस्तावच्छाधि नः करवाम किम्॥२४॥

और ऋषियोंको बिना स्त्री-पुरुषके भेद-भाव किए समान आदरसे देखा क्योंकि सज्जन लोगोंसे व्यवहार करते समय यह नहीं देखा जाता कि यह पुरुष है या स्त्री, वरन् यही विचार किया जाता है कि इनका चरित्र कैसा है ॥ १२ ॥ शिवने जब अरुन्धतीको देखा तब उनके मनमें यह बात और भी पक्की जम गई कि बिना पतिव्रता पत्नीसे विवाह किए धार्मिक क्रियाएँ पूरी नहीं हो पा सकतीं ॥ १३ ॥ शंकरके मनमें पार्वतीसे विवाह करनेकी इच्छा देखकर उस कामदेवके मनमें भी कुछ-कुछ ढाढ़स होने लगा जो अभी-तक अपने एक बारके किए हुए अपराधसे डरा बैठा था ।।१४।। तब वेद-वेदाङ्गको जाननेवाले और प्रेमसे पुलकित शरीरवाले सप्तऋषियोंने शंकरका पूजन करके उनसे कहा कि 'भली प्रकार वेद पढ़नेका, विधिपूर्वक हवन करनेका और तप करनेका जो कुछ भी फल हो सकता है वह सब आज हमें मिल गया ॥१५-१६॥ क्योंकि आपके जिस मनतक किसीकी भी इच्छाएं नहीं पहुँच पा सकतीं उसी मनसे आप संसारके स्वामीने हम लोगोंको स्मरण किया है ॥१७॥ यों तो आप ही जिसके मनमें जा बसते हैं वही सबसे बड़ा पुण्यात्मा है, पर जो आपके चित्तमें आ बसता हो उसका तो फिर कहना ही क्या ॥१८। यद्यपि हम लोग सूर्य और चन्द्रमा दोनोंसे यों ही ऊपर रहते हैं पर आज आपने स्मरण करके हमें उनसे और भी ऊँचा चढ़ा दिया है ॥१९॥ आपसे यह आदर पाकर हम अपने मनमें फूले नहीं समा रहे हैं क्योंकि अपने गुणोंपर लोगोंको तभी सच्चा विश्वास हो पाता है जब सज्जन लोग उसके गुणोंका आदर करें ॥२०॥ देव शिव ! आपने हमें जो स्मरण किया है उससे हमारे मनमें आपके लिये जो प्रेम उत्पन्न हुआ है उसे हम अपने मुँहसे आपके आगे क्या कहें, क्योंकि आप तो स्वयं ही घट-घटको जाननेवाले हैं ॥२१॥ देव ! यद्यपि हम आपको अपनी आँखोंके आगे खड़ा देख रहे हैं फिर भी हम आपका भेद ठीक-ठीक जान नहीं पा रहे हैं इसलिये आप कृपा करके अपना स्वरूप तो दिखा बताइए क्योंकि हमारी बुद्धि तो आप-तक पहुँच नहीं पाती ।।२२।। यह बताइए कि आपकी जो मूर्ति हम देख रहे हैं, यह क्या वही है जिससे आप सृष्टि उत्पन्न करते हैं, या वह है जिससे पालन करते हैं या वह है जिससे आप संसारका संहार करते हैं ।।२३।। पर देव ! यह तो बड़ी लम्बी कथा है । इसे अभी रहने दीजिए और पहले यह बताइए कि आपने हमें इस समय किस कामके लिये स्मरण

अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दशनांशुभिः । उपचिन्वन्प्रभां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः ॥२५॥
विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित्प्रवृत्तयः । ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः ॥२६॥
सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः । अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः ॥२७॥
अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने । उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् ॥२८॥
तामस्मदर्थे युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः । विक्रियायै न कल्पन्ते संबन्धाः सदनुष्ठिताः ॥२९॥
उन्नतेन स्थितिमता धुरमुद्वहता भुवः । तेन योजितसंबन्धं वित्त मामप्यवञ्चितम् ॥३०॥
एवं वाच्यः स कन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते । भवत्प्रणीतमाचारमामनन्ति हि साधवः ॥३१॥
आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति । प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरंध्रीणां प्रगल्भता ॥३२॥
तत्प्रयातौषधीप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् । महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः ॥३३॥
तस्मिन्संयमिनामाद्ये जाते परिणयोन्मुखे । जहुः परिग्रहव्रीडां प्राजापत्यास्तपस्विनः ॥३४॥
ततः परममित्युक्त्वा प्रतस्थे मुनिमण्डलम् । भगवानपि संप्राप्तः प्रथमोद्दिष्टमास्पदम् ॥३५॥
ते चाकाशमसिश्याममुत्पत्य परमर्षयः । आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥३६॥
अलकामतिवाह्येव वसतिं वसुसंपदाम् । स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशितम् ॥३७॥

किया है । कहिए, हमें क्या करना होगा' ॥२४॥ अपनी मन्द हँसीके कारण चमकते हुए दाँतोंकी दमकसे सिरपर बैठे हुए बाल चन्द्रमाकी मन्दी चमकको बढ़ाते हुए महादेव उन सप्तऋषियोंसे बोले–॥२५॥ 'मुनियों ! आप लोग तो जानते ही हैं कि हम अपने लिये तो कुछ किया नहीं करते और हमारी आठों मूर्तियाँ—(पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और होता) इस बातके साक्षी भी हैं ॥२६॥ प्यासे चातक जैसे बादलोंसे जलकी बूँदें माँगते हैं वैसे ही शत्रुओंसे सताए हुए देवता लोग भी मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं ॥२७॥ इसलिए पुत्र उत्पन्न करने की इच्छासे मैं पार्वतीको उसी प्रकार लाना चाहता हूँ जैसे अग्नि उत्पन्न करनेके लिये यजमान अरणि (रगड़कर आग उपजानेवाली लकड़ी) लाता है ॥२८॥ तो आप लोग मेरी ओरसे जाकर हिमालयराजसे पार्वतीको माँग लीजिए क्योंकि सज्जन लोग बीचमें पड़कर जो सम्बन्ध करा देते हैं उसमें फिर किसी प्रकारकी झंझट नहीं होती ॥२९॥ फिर ऐसी ऊँची प्रतिष्ठावाले और पृथ्वीको धारण करनेवाले हिमालयके राजासे सम्बन्ध करके मैं भी अपनेको धन्य समझूँगा ॥३०॥ आप लोगोंको यह तो समझाना नहीं है कि कन्याको माँगनेके लिए क्या-क्या कहिएगा क्योंकि इस प्रकारके शिष्टाचारकी जो बातें दूसरे पण्डित लोग काममें ला रहे हैं वे सब आप ही लोगोंने तो बनाई हैं ॥३१॥ हाँ, आर्या अरुन्धती भी इस काममें सहायता कर सकती है क्योंकि इन बातोंमें प्रायः स्त्रियाँ अधिक चतुर होती हैं ॥३२॥ इसलिये अब आप लोग हिमालयके ओषधिप्रस्थ नगरमें जाकर काम बना लाइए और वहाँसे लौटकर महाकोशी नदीके झरनेपर आकर आपलोग मुझसे मिल लीजिएगा ॥३३॥ जब सप्त ऋषियोंने देखा कि संयमियोंमें श्रेष्ठ महादेव ही विवाहके लिये इतने उतावले हैं तब उन लोगोंके मनमें जो विवाहकी बातोंसे झिझक हुआ करती थी वह सब जाती रही ॥३४॥ तब ऋषि लोग ॐ कहकर चल दिए और भगवान् शंकर भी वहाँ जा पहुँचे जहाँ उन्होंने ऋषियोंसे मिलनेको कहा था ॥३५॥ मनके समान वेगसे चलनेवाले वे परम ऋषि लोग कृपाणके समान नीले आकाशमें उड़ते हुए ओषधिप्रस्थ नगर जा पहुँचे ॥३६॥ वह नगर ऐसा भरापूरा था मानो उसने धन-सम्पत्तिसे भरी हुई अलकाको भी नीचा दिखा दिया हो और मानो स्वर्गका सारा बढ़ा हुआ धन निकालकर इसी में ला भरा गया हो ॥३७॥ उस नगरमें चारों ओर गङ्गाकी धाराएँ बह रही थीं

गङ्गास्रोतःपरिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि। बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम्॥३८॥
जितसिंहभया नागा यत्राश्वा बिलयोनयः। यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः॥३९॥
शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते तत्र वेश्मनाम्। अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः॥४०॥
यत्रकल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः । गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता ॥४१॥
यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु। ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम्॥४२॥
यत्रौषधीप्रकाशेन नक्तं दर्शितसंचराः। अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः॥४३॥
यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमायुधात्। रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः॥४४॥
भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललिताङ्गुलितर्जनैः। यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणामाप्रसादार्थिनः प्रियाः ४५
संतानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराध्वगम्। यस्य चोपवनं बाह्यं गन्धवद्गन्धमादनम्॥४६॥
अथ ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम्। स्वर्गाभिसंधिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे ॥४७॥
ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः। अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः ॥४८॥
गगनादवतीर्णा सा यथावृद्धपुरस्सरा। तोयान्तर्भास्करालीव रेजे मुनिपरम्परा ॥४९॥

चमकनेवाली जड़ी-बूटियाँ वहाँ उजाला किए डाल रही थीं और मणियोंके ऊँचे-ऊँचे परकोटोंमें छिपे रहनेपर भी वह नगर बड़ा सुन्दर लग रहा था ॥३८॥ वहाँके हाथी ऐसे लगते थे कि सिंहको भी पावें तो पछाड़ दें और घोड़े तो सभी विल (उच्चैःश्रवा) जातिके ही थे। वहाँके नागरिक भी या तो यक्ष थे या किंनर और स्त्रियाँ तो सबकी सब वनदेवियाँ ही थीं ॥३९॥ उस नगरके घरोंपर दिन-रात बादल छाए रहते थे और जब कभी उन घरोंमें मृदंग बजने लगता था तब लोगोंको पहले यही भ्रम होने लगता था कि यह बादलोंकी गरजकी गूँज हैं पर फिर उनकी तालसे वे समझ जाते थे कि ये बादल नहीं गरज रहे हैं वरन् मृदंग बज रहे हैं ॥४०॥ कल्पवृक्षकी चंचल शाखाएँ ही उस नगरीकी झंडियाँ थीं और यद्यपि उन्हें किसी नागरिकने बनाया नहीं था फिर भी वे ऐसी लग रही थीं मानों घरोंपर डंडे खड़े करके झंडियाँ ला बाँधी गई हों ॥४१॥ स्फटिकके भवनोंमें सजे हुए मदिरालयपर रातको जब तारोंकी परछाई पड़ती थी तब ऐसा जान पड़ता था मानो किसीने ढेरों फूल ला बिखेरे हों ॥४२॥ बरसातके दिनोंमें रातको चमकनेवाली जड़ी-बूटियाँ ऐसा प्रकाश देती थीं कि वहाँकी अभिसारिकाओंको बरसातकी घनीं अँधियारीमें भी अँधेरा नहीं लगता था ॥४३॥ वहाँ के लोग सदा जवान बने रहते थे, कामदेवको छोड़कर और कोई किसीको मारता नहीं था और संभोगकी थकावटसे जो नींद आती थी वही वहाँकी मूर्च्छा थी ॥४४॥ यों तो वहाँ कोई किसीको डाँटता-डपटता नहीं था पर हाँ, वहाँकी स्त्रियाँ अपनी भौहें चढ़ा-चढ़ाकर, ओठ कँपा-कँपाकर और सुन्दर उँगलियाँ चमका-चमकाकर अपने प्रेमियोंको तबतक अवश्य डाँटती थी जब-तक वे प्रेमी आगे के लिये कान न पकड़ लेते ॥४५॥ गन्धमादन नामका सुगन्धित पर्वत ही उस नगरके बाहरका उपवन था जिसके कल्प-वृक्षोंकी छायामें विद्याधर लोग चलते-चलते थक जानेपर नींद आ लेते थे ॥४६॥ हिमालयकी उस राजधानीको देखकर इन दिव्य मुनियोंने सोचा कि स्वर्गके लिये इतनी तपस्या करके हम लोग ठगे ही रह गए ॥४७॥ चित्रमें बनी हुई आगकी निश्चल लपटोंके समान अपनी जटाएँ लिए-दिए जब वे बड़े वेगसे हिमालय राजके भवन-पर उतरे तब हिमालयके द्वार-रक्षक ऊपर मुँह उठा-उठाकर उन्हें अचरजके साथ देखने लगे ॥४८॥ आकाशसे एक-एक करके उतरते हुए वे मुनि ऐसे शोभा देते थे जैसे लहराते हुए जलमें पड़ी हुई सूर्यकी बहुत-सी परछाइयाँ पड़ रहीं हों ॥४९॥ उन्हें देखकर हाथ में अर्घ्य-पात्र लेकर दूरसे ही उनकी

तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः । नमयन्सारगुरुभिः पादन्यासैर्वसुंधराम्॥५०॥
धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः।प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति॥५१॥
विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः।स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः॥५२॥
तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः । इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः ॥५३॥
अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् । अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥५४॥
मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम् । भूमेर्दिवमिवारूढं मन्ये भवदनुग्रहात् ॥५५॥
अद्यप्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये । यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते॥५६॥
अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः।मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः ॥५७॥
जङ्गमं प्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणाङ्कितम् । विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः ॥५८॥
भवत्संभावनोत्थाय परितोषाय मूर्च्छते।अपि व्याप्तदिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति मे॥५९॥
न केवलं दरीसंस्थं भास्वतां दर्शनेन वः । अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परं तमः ॥६०॥
कर्तव्यं वो न पश्यामि स्याच्चेत्किं नोपपद्यते। मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह॥६१॥
तथापि तावत्कस्मिंश्चिदाज्ञां मे दातुमर्हथ। विनियोगप्रसादा हि किङ्कराः प्रभविष्णुषु॥६२॥

पूजा करनेके लिये जब हिमालयके राजा अपने ठोस बोझीले पैर बढ़ाते हुए चले तब उसके पैरोंकी धमकसे पृथ्वी भी पग-पगपर झुकती चलने लगी ॥५०॥ मुनियोंने देखते ही पहचान लिया कि यह गेरु आदि धातुओंकी लाल चट्टानोंकेसे ओठोंवाला, देवदारुके बड़े-बड़े वृक्षोंकी-सी भुजाओंवाला और स्वभावसे ही पत्थरकी शिलाओं जैसी चौड़ी और पक्की छातीवाला हिमालयका राजा ही है ॥५१॥ हिमालय राजने बड़ी विधिके साथ उन ऋषियोंकी पूजा की और उन सत्कर्म करनेवाले ऋषियोंको मार्ग दिखाता हुआ उन्हें अपने साथ रनिवासमें लिवा ले गया ॥५२॥ हिमालय राजने इन ऋषियोंको बेंतके आसनोंपर ले जा बैठाया और फिर हाथ जोड़कर उनसे कहा-॥५३॥ 'आपका इस प्रकार अचानक आना मुझे ऐसा लग रहा है जैसे बिना बादलोंके वर्षा हो गई हो या बिना फूल आए ही फल आ लगे हों ॥५४॥ मैं अपनेको आज ऐसा समझ रहा हूँ मानो मुझ मूर्खको ज्ञान मिल गया हो, मैं लोहेसे सोना बन गया हूँ और पृथ्वीपर रहते हुए भी स्वर्गमें जा चढ़ा हूँ ॥'५५॥ मैं आजसे अपनेको ऐसा बड़ा भारी तीर्थ समझने लगा हूँ जहाँ आते ही लोग शुद्ध हो जायँ, क्योंकि सज्जन लोग जहाँ आकर बस जाएँ वही तो तीर्थ हो जाता है ॥५६॥ ब्रह्मऋषियों ! मैं अपनेको दो प्रकारसे पवित्र मानता हूँ, एक तो सिरपर गंगाकी धारा गिरनेसे, दूसरे आप लोगोंके चरणकी धोवन पा लेनेसे ॥५७॥ मुनियो ! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप लोगोंने मेरे चल और अचल दोनों शरीरोंपर अलग-अलग कृपा की है क्योंकि मेरे चल शरीरको तो आपने अपना दास बना लिया है और मेरे अचल शरीरपर आपने अपने पवित्र चरण आ धरे हैं ॥५८॥ आप लोगोंने यहाँ आकर जो कृपा की है उससे मुझे इतनी प्रसन्नता हो रही है कि दूर-दूरतक फैले हुए अपने इन बड़े अङ्गोंमें भी मैं फूला नहीं समा रहा हूँ ॥५९॥ आप-जैसे तेजस्वियोंके दर्शनसे केवल मेरी गुफाओंका ही अँधेरा नहीं मिटा वरन् मेरे हृदयके अज्ञानका सारा अँधेरा भी जाता रहा ॥६०॥ मेरी समझमें आप किसी कामसे तो यहाँ आए नहीं होंगे क्योंकि आपमें तो स्वयं इतनी शक्ति है कि किसी भी कामको बातकी बातमें पूरा कर लें । इसलिये मैं तो यही समझता हूँ कि केवल मुझे पवित्र करनेके लिए ही आप लोगोंने यहाँ आनेका कष्ट किया है ॥६१॥ पर जब आप

एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्। ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥६३॥
इत्यूचिवाँस्तमेवार्थं गुहामुखविसर्पिणा। द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः ॥६४॥
अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु। ऋषयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूधरम् ॥६५॥
उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि। मनसः शिखराणां च सदृशी ते समुन्नतिः ॥६६॥
स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते। चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः।६७।
गामधास्यत्कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः। आरसातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा न चेत् ॥६८॥
अच्छिन्नामलसंतानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः। पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तयः सरितश्च ते।६९।
यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिनः। प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया ॥७०॥
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा हरेः। त्रिविक्रमोद्यतस्यासीत्स तु स्वाभाविकस्तव।७१॥
यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया। उच्चैर्हिरण्मयं शृङ्गं सुमेरोर्वितथीकृतम् ॥७२॥
काठिन्यं स्थावरे काये भवता सर्वमर्पितम्। इदं तु ते भक्तिनम्रं सतामाराधनं वपुः ॥७३॥

आ ही गए हैं तब मेरे लिये कोई सेवा तो बताइए। स्वामीको तभी प्रसन्न समझना चाहिए जब वे सेवकसे कुछ काम करनेको कहें ॥ ६२ ॥ यहाँ आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं आपके आगे खड़ा ही हूँ, ये मेरी स्त्रियाँ है और यह मेरे घर-भरकी प्यारी कन्या है। इनमेंसे जिससे भी आपका काम बने उसे आज्ञा दीजिए, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि जितनी बाहरी वस्तुएँ हैं वे तो आपकी सेवाके लिये तुच्छ हैं, इसलिये उनका तो नाम लेते हुए भी मुझे हिचक हो रही है' ॥६३॥ हिमालय राजके कह चुकनेपर गुफाओंमेंसे जो गूँज निकली वह ऐसी जान पड़ती थी मानो हिमालय राजने अपनी बात फिरसे दुहरा सुनाई हो ॥६४॥ तब ऋषियोंने महादेवका संदेश हिमालय राजसे कहनेके लिये अपनेमेंसे उन अंगिरा ऋषिको उकसाया जो बातचीत करनेमें बड़े चतुर थे। इसपर अंगिरा ऋषिने हिमालयसे कहा—॥६५॥ 'देखो हिमालय राज ! जो कुछ आपने कहा है वह और उससे अधिक भी जो कुछ कहा जाय, सब आपको शोभा देता है। क्योंकि आपका मन वैसा ही ऊँचा है जैसी आपकी चोटियाँ ॥६६॥ आपको जो सब अचल पदार्थोंका विष्णु कहा जाता है, वह ठीक ही है, क्योंकि चर और अचर सब आपकी गोदसे ही सहारा पाते हैं, जितने रत्न हैं वे सब आपकी ही गोदमें होते हैं और आपकी ही गोदसे निकली हुई नदियोंसे आर्यावर्त्त जी रहा है ॥६७॥ यदि आप पातालके नीचेतक पृथ्वीको अपने बोझसे न दबाए रहें तो बताइए शेषनाग अपने कमलकी नालके समान कोमल फणोंपर पृथ्वीको कैसे सँभाल पाते ॥६८॥ जैसे आपके यहाँसे निकली हुई, निरन्तर बहती हुई और समुद्रकी लहरोंसे भी टक्कर लेनेवाली निर्मल नदियाँ अपनी पवित्रतासे सारे संसारको पवित्र करती हैं वैसे ही आपकी कीर्ति भी सब लोकोंको बराबर पवित्र किया करती है ॥६९॥ जैसे विष्णुके चरणोंसे निकलनेके कारण गंगा अपनेको बहुत बड़ा मानती हैं वैसे ही आपके शिखरसे निकलकर बहनेमें भी वे अपनी बड़ाई ही समझती हैं ॥७०॥ भगवान् विष्णुकी महिमा संसारमें तब फैली जब उन्होंने ऊपर, नीचे और तिरछे पैर रखकर वामन अवतार धारण करके तीनों लोकोंको नाप डाला, पर आपकी महिमा तो पहलेसे ही तीनों लोकोंमें फैली हुई है ॥७१॥ यज्ञका भाग पानेवाले देवताओंमें स्थान पाकर आपने सुमेरु पर्वतकी सुनहरी और ऊँची चोटियोंको भी नीचा दिखा दिया ॥७२॥ आपने अपनी सारी कठोरता अपने अचल शरीरमें ला भरी है। आपका यह चल शरीर भक्तिसे ऐसा झुका हुआ है कि सज्जन लोग आ-आकर इसीकी पूजा किया करते हैं ॥ ७३ ॥ इसलिये हम

तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैव तत् । श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः ।।७४।।
अणिमादि गुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् । शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्द्धचन्द्रं बिभर्ति यः ।।७५।।
कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि ।।७६
योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेवाभ्यन्तरवर्तिनम् । अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ।।७७।।
स ते दुहितरं साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम् । वृणुते वरदः शंभुरस्मत्संक्रामितैः पदैः ।।७८।
तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि।अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता।७९।।
यावन्त्येतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च। मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगतः पिता ।८०।
प्रणम्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम्। चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः ।८१।
उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्। वरः शंभुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः।।८२।।
अस्तोतुः स्तूयमानस्य वन्द्यस्यानन्यवन्दिनः । सुतासंबन्धविधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः ।।८३।
एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।।८४।।
शैलः संपूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत । प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ।।८५।।

आपको आनेका कारण बताते हैं और वह काम ऐसा है जिसमें आपकी ही भलाई है और यह भली बात आपको समझानेके बहाने हम लोगोंको भी थोड़ी-सी बड़ाई मिल जायगी ।।७४।। आप तो जानते ही होंगे कि अणिमा आदि आठों सिद्धियोंके जो स्वामी हैं, जिन्हें छोड़कर दूसरा कोई ईश्वर कहला नहीं सकता, जिनके माथेपर आधा चन्द्रमा बसा हुआ है, जो अपने पृथ्वी-जल आदि उन आठों शरीरसे पृथ्वीको जिलाए रहते हैं, जो एक दूसरेकी शक्ति बढ़ानेवाली और संसारको इस प्रकार ठीकसे चलानेवाले हैं जैसे मार्गमें रथको घोड़े ही लीकमें बाँधे रहते हैं, जिन्हें योगी लोग अपने शरीरके भीतर बैठा हुआ पाते हैं और जिनके लिये विद्वानोंका कहना है कि वे जन्म-मरणके बन्धनोंसे बाहर ही हैं, उन्हीं संसार भरके कामोंको देखनेवाले और वर देनेवाले शंकरने हम लोगोंके मुँहसे संदेशा भेजकर स्वयं अपने लिये आपकी पुत्री पार्वती माँगी है ।। ७५–७८ ।। इसलिये आप शिवसे अपनी पुत्रीका वैसे ही अटूट सम्बन्ध कर दीजिए जैसे वाणीका अर्थसे हो गया है, क्योंकि अच्छे पतिसे कन्याका विवाह हो जाय तो पिताकी सारी चिन्ता मिट जाती है ।। ७९ ।। आप यह समझ लीजिए कि महादेवजी संसारके पिता हैं इसलिये पार्वती भी संसारके चर और अचर सब प्राणियोंकी माता बन जायँगी और फिर इतनी पूजनीया हो जायँगी कि देवता लोग महादेवको प्रणाम करके अपने सिरपर धरे हुए मणियोंकी किरणोंसे पार्वतीके ही चरण रँगा करेंगे ।। ८ – १ ।। और संयोग तो देखिए कि उमा हों बहू, आप हों कन्या-दान करनेवाले, हम हों विवाहके लिये कहनेवाले और महादेवजी हों वर, बताइए आपके कुलके लिये इससे बढ़कर और कौन-सी प्रतिष्ठाकी बात होगी ।। ८२ ।। और फिर, उनसे अपनी पुत्रीका विवाह करके आप उन महादेवके भी बड़े बन जाइए जो स्वयं किसीकी स्तुति नहीं करते पर संसार जिनकी स्तुति करता है और जो स्वयं किसीकी वन्दना नहीं करते पर संसार जिनकी वन्दना करता है' ।। ८३ ।। देवर्षि लोग जिस समय यह कह रहे थे उस समय पार्वती अपने पिताके पास नीचा मुँह किए खिलौनेके कमलके पत्ते बैठी गिन रही थीं ।। ८४ ।। यद्यपि हिमालय राज स्वयं तो इससे सहमत थे फिर भी उन्होंने इसका उत्तर पानेके लिये मेनाकी ओर देखा क्योंकि जब कभी कन्याके सम्बन्धकी कोई बात होती है तो गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियोंसे सम्मत्ति लिया ही करते हैं ।। ८५ ।। मेनाने भी अपने पतिकी

मेने मेनापि तत्सर्वं पत्युः कार्यमभीप्सितम्। भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥८६॥
इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य सः। आददे वचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतां सुताम् ॥८७
एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता। अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥८८॥
एतावदुक्त्वा तनयामृषीनाह महीधरः। इयं नमति वः सर्वांस्त्रिलोचनवधूरिति ॥८९॥
ईप्सितार्थक्रियोदारं तेऽभिनन्द्य गिरेर्वचः। आशीर्भिरेधयामासुः पुरःपाकाभिरम्बिकाम् ॥९०
तां प्रणामादरस्रस्तजाम्बूनदवतंसकाम्। अङ्कमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥९१॥
तन्मातरं चाश्रुमुखीं दुहितृस्नेहविक्लवाम्। वरस्यानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद्गुणैः ॥९२।
वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना। ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥९३॥
ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्राप्य च शूलिनम्। सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥९४
पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥९५॥

॥ इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
उमाप्रदानो नाम षष्ठः सर्गः ॥

हाँ में हाँ मिलाकर सब बातें मान लीं क्योंकि जो सती स्त्रियाँ हुआ करती हैं वे किसी भी बातमें पतिसे बाहर नहीं होतीं ॥ ८६ ॥ ऋषियोंसे 'हाँ' कह चुकनेपर हिमालय राजने सुन्दर मांगलिक वस्त्रोंसे सजी हुई अपनी कन्याको पास बुलाकर कहा—'यहाँ आओ वत्से ! देखो, घट-घटमें रहनेवाले शिवने मुझसे तुम्हें माँगा है और वह भिक्षा लेनेके लिये ये सप्तऋषि लोग आए हुए हैं। सचमुच आज मुझे गृहस्थ होनेका सच्चा फल मिल गया है कि ऐसे माँगनेवाले मेरे द्वारपर पधारे हैं' ॥ ८७–८८ ॥ अपनी पुत्रीसे इतना कहकर वे ऋषियोंसे बोले 'यह महादेवकी पत्नी आपको प्रणाम करती है' ॥ ८९ ॥ अपना काम पूरा हुआ देखकर सप्तऋषियोंने हिमालय राजकी बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने अम्बिकाको ऐसे आशीर्वाद दिए जो तत्काल फल देनेवाले थे ॥ ९० ॥ ऋषियोंको प्रणाम करनेके लिये पार्वती ज्योंही लजाती हुई झुकीं कि उनके कानोंसे सोनेका कुण्डल खिसक गया और अरुन्धतीने उन्हें झट उठाकर अपनी गोदमें बैठा लिया ॥ ९१ ॥ मेना अपनी पुत्रीके स्नेहमें इतनी अधीर हो गईं कि उनकी आँखें डबडबा आईं पर अरुन्धतीने उन्हें अनोखे वरके गुण सुना सुनाकर बड़ा धीरज बँधाया ॥ ९२ ॥ विवाहकी तिथि पूछे जानेपर सप्तऋषियोंने बताया कि तीन दिन पीछे विवाह करना ठीक होगा। यह कहकर वे सब ऋषि वहाँसे विदा हो गए ॥ ९३ ॥ हिमालयसे विदा होकर उन्होंने महादेवको जा बताया कि सब ठीक हो गया है और फिर उनसे आज्ञा लेकर वे आकाशमें उड़ गए ॥ ९४ ॥ पार्वतीसे मिलनेके लिये महादेव इतने उतावले हो उठे कि तीन दिन भी उन्होंने बड़ी बड़ी कठिनाईसे काटे। बताइए जब महादेवजी-जैसोंकी प्रेममें यह दशा हो जाती हो तब भला दूसरे लोग अपने मनको कैसे सँभाल पा सकते हैं ॥ ९५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव नामके महाकाव्यमें पार्वतीकी
मँगनी नामका छठा सर्ग पूर्ण हुआ।

॥ सप्तमः सर्गः ॥

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।
समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥ १ ॥
वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरन्ध्रिवर्गम् ।
आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥ २ ॥
संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम् ।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे ॥ ३ ॥
एकैव सत्यामपि पुत्रपङ्क्तौ चिरस्य दृष्टेव मृतोत्थितेव ।
आसन्नपाणिग्रहणेति पित्रोरुमा विशेषोच्छ्वसितं बभूव ॥ ४ ॥
अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
संबन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥ ५ ॥
मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥ ६ ॥
सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रबालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।
निर्नाभि कौशेयमुपात्तबाणमभ्यङ्गनेपथ्यमलञ्चकार ॥ ७ ॥

सातवाँ सर्ग

तीन दिन पीछे हिमवान्‌ने लग्नसे सातवें घर (सौभाग्य) के विचारसे शुक्ल पक्षकी शुभ तिथि (पूर्णिमा) को अपने भाई-बन्धुओंको बुलाकर शंकरके साथ अपनी युवा पुत्रीका विवाह कर दिया ॥ १ ॥ वहाँके सब लोग हिमावान्‌से ऐसा प्रेम करते थे कि उस नगरके घर-घरमें सब स्त्रियाँ बड़ी धूमधामके साथ विवाहका उत्सव मनाए जा रही थीं । घर और बाहर सब लोग ऐसे हिल मिलकर काम किए जा रहे थे मानों सब एक ही कुलके लोग हों ॥ २ ॥ बड़ी-बड़ी सड़कोंपर कल्प-वृक्षके फूल बिछे हुए थे, दोनों ओर रेशमी झंडियाँ पाँतोंमें टँगी हुई थीं और द्वार-द्वार-पर सोनेके बन्दनवार बँधे हुए थे । इन सबकी चमकसे जगमगाता हुआ वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् स्वर्ग ही वहाँ उतरा चला आया हो ॥ ३ ॥ यद्यपि हिमालयके बहुतसे पुत्र थे फिर भी उस समय हिमालय और मेना दोनोंको पार्वती ऐसी प्राणसे बढ़कर प्यारी लग रही थीं मानों बहुत दिनोंपर मिली हों या अभी जी कर उठी हों क्योंकि विवाह हो जानेपर तो वे अभी वहाँसे चली ही जानेवाली थीं ॥ ४ ॥ सब कुटुम्बियोंने पार्वतीको बारी-बारीसे अपनी-अपनी गोदीमें बैठाकर आशीर्वाद दिया और एक-से-एक बढ़कर गहने भेंट किए । ऐसा जान पड़ता था मानों हिमालयके सब कुटुम्बियोंका स्नेह पार्वतीमें ही आ समाया हो ॥ ५ ॥ सूर्य निकलनेके तीन मुहूर्त पीछे उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रमें कुटुम्बकी सुहागिन और पुत्रवती स्त्रियाँ पार्वतीका सिंगार करने लगीं ॥ ६ ॥ पहले दूबके अंकुरों और सरसोंके दानोंसे उनका सिंगार किया गया फिर उन्हें नाभितक ऊँची रेशमी साड़ी पहनाकर उसमें एक बाण खोंस दिया गया । इस प्रकार तेल चढ़ाकर सिंगार करनेकी सारी सजावट पूरी कर दी गई ॥ ७ ॥ इस नये विवाहका

बभौ च संपर्कमुपेत्य बाला नवेव दीक्षाविधिसायकेन ।
करेण भानोर्बहुलावसाने संधुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा ॥ ८ ॥
तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥ ९ ॥
विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे ।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयांबभूवुः ॥ १० ॥
सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्‍गमनीयवस्त्रा ।
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥ ११ ॥
तस्मात्प्रदेशाच्च वितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन ।
पतिव्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम् ॥ १२ ॥
तां प्राङ्‍मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरोनिषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥ १३ ॥
धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम् ।
पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना ॥ १४ ॥
विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥ १५ ॥

बाण कमरमें खोंसकर पार्वती ऐसे चमक उठी जैसे शुक्ल पक्षमें सूर्यकी किरण पाकर चन्द्रमा चमक उठता है ॥७॥ तब सुहागिनी स्त्रियोंने उनके शरीरपर मले हुए तेलको लोधके चूरेसे सुखाया और कुछ-कुछ गीला सुगन्धित लेप लेकर उनका सारा शरीर रँग दिया । तब स्नान करनेका कपड़ा पहनाकर वे उन्हें चौकोर स्नानघरमें लिवा ले गईं ॥९॥ उस स्नानघरमें नीलमणिकी जो सुन्दर चौकी बिछी हुई थी और जिसके चारों ओर रंग-बिरंगी मोतियोंकी मालाएँ सजी हुई थीं उस चौकीपर उन स्त्रियोंने उमाको ले जा बैठाया और गाते-बजाते हुए सोनेके घड़ोंके जलसे पार्वतीको नहला दिया ॥ १० ॥ मंगल स्नान करनेसे पार्वतीका शरीर और भी खिल उठा और जब उन्होंने विवाहके वस्त्र उठा पहने उस समय तो वे ऐसी लगने लगीं मानो गरजते हुए बादलोंके जलसे धुली हुई और काँसके फूलोंसे भरी हुई धरती शोभा दे रही हो ॥११॥ यों नहला-धुलाकर वे सुहागिनी पतिव्रताएँ पार्वतीको सहारा देकर उस एकान्त भवनमें ले गईं जहाँ मणियोंके खंभोंपर तने हुए चँदोवेके बीचमें बनी हुई मंगल-वेदी पर सजा हुआ आसन बिछा हुआ था ॥ १२ ॥ वहाँ उन्होंने पार्वतीको पूरबकी ओर मुँह करके ले जा बैठाया । सिंगारकी सब वस्तुएँ पास होनेपर भी वे सब पार्वतीकी स्वाभाविक शोभापर ही इतनी लट्टू हो गईं कि कुछ देरतक तो वे सुधबुध भूलकर उन्हींकी ओर एकटक निहारती रह गईं ॥१३॥ फिर, किसीने तो अगर चन्दनके धुएँसे उनके बाल सुखाकर बालोंमें फूल गूँथे और फिर दूबमें पिरोई हुई पीले महुएके फूलोंकी माला उनके जूड़ेमें उठा लपेटी ॥ १४ ॥ किसीने उजले अगरसे बनाया हुआ अंगराग उनके शरीरपर उठा मला और फिर अत्यन्त लाल गोरोचनसे उनका शरीर चीत दिया । उस समय पार्वती इतनी सुन्दर लग रहीं थी कि उनके रूपके आगे उजली धारावाली उन गङ्गाकी शोभा भी फीकी पड़ गई जिनके तीर-परकी बालूपर चकवे बैठे हों ॥ १५ ॥ भौंरोसे घिरा हुआ कमल और

लग्नद्विरेफं परिभूय पद्मं समेघलेखं शशिनश्च बिम्बम् ।
तदाननश्रीरलकैः प्रसिद्धैश्चिच्छेद सादृश्यकथाप्रसङ्गम् ॥ १६ ॥
कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥ १७ ॥
रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः ।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः ॥ १८ ॥
पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥ १९ ॥
तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य ।
न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम् ॥२०॥
सा संभवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्विहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥ २१ ॥
आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥ २२ ॥
अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च ।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय्य ॥ २३ ॥

बादलके टुकड़ोंमें लिपटा हुआ चन्द्रमा, कोई भी ऐसा न दिखाई दिया जो उनके गुँथी हुई चोटी वाले मुखकी सुन्दरताके आगे ठहर सके ॥१६॥ उनके कानोंपर लटकते हुए जौके अंकुर और लोधसे पुते तथा गोरोचन लगे हुए गोरे-गोरे गाल इतने सुन्दर लगने लगे कि सबकी आँखें बरबस उनकी ओर खिचीं चली जाती थी ॥१७॥ सुडौल अंगोंवाली पार्वतीका जो निचला ओठ ऊपरके ओठसे एक रेखासे अलग हो गया था, जिसपर लगी हुई चिकनाईने उसपर और भी लाली चढ़ाकर उसे सुन्दर बना दिया गया था और जिसकी सुन्दरता बस फलने ही वाली थी वह ओठ जब फड़कने लगता था उस समयकी उसकी शोभा कही नहीं जा सकती ॥१८॥ पार्वतीके चरणोंमें जब सखी महावर लगा चुकी तब उसने ठिठोली करते हुए आशीर्वाद दिया कि भगवान् करे तुम इन पैरोंसे अपने पतिके सिरकी चंद्रकलाको जा छूओ। इसपर पार्वती मुँहसे तो कुछ नहीं बोलीं पर एक माला उठाकर उसकी पीठपर उन्होंने तड़ाकसे जड़ ही दी ॥१९॥ सिंगार करनेवाली स्त्रीने पार्वतीको नीले कमल-जैसी बड़ी बड़ी और काली काली आँखोंमें जो काजल लगाया वह इसलिये नहीं कि आँजनसे उनकी आँखोंकी कुछ शोभा बढ़ेगी वरन् इसीलिये कि वह भी मंगल सिंगारका एक चलन था ॥२०॥ जैसे फूल जानेपर लताएँ स्वयं भी खिल उठती हैं या जैसे तारे निकलनेपर रात जगमगाने लगती है या जैसे रंगबिरंगे पक्षियोंके आ जानेसे नदी सुहावनी लगने लगती है, वैसे ही मणियों, मोतियों और सोनेके गहने पहना दिए जानेपर पार्वतीकी स्वाभाविक सुन्दरता और भी निखर उठी ॥२१॥ अपने इस सजीले रूपको दर्पणमें देखकर पार्वती भी ठक रह गईं और महादेवसे मिलनेके लिये बहुत ही मचल उठीं क्योंकि स्त्रियोंका सिंगार तभी सफल होता है जब पति भी उसे देख ले ॥२२॥ इतनेमें पार्वतीकी माता मेना वहाँ चली आईं और उन्होंने उमाका वह मुखड़ा ऊपर उठा देखा जिसके दोनों ओर कानोंमें सुन्दर कर्णफूल झूल रहे थे। उस रूपको देखकर वे भी आनन्दसे इतनी बेसुध हो गईं कि उन्होंने किसी-किसी प्रकार अपनी दो उँगलियोंसे

उमास्तनोद्भेदमनु प्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव ।
तमेव मेना दुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥ २४ ॥
बबन्ध चास्राकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसंनिवेशम् ।
धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमुर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम् ॥ २५ ॥
क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा ।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥ २६ ॥
तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता ।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ॥ २७ ॥
अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा ।
तया तु तस्यार्द्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि ॥ २८ ॥
इच्छाविभूत्योरनुरूपमद्रिस्तस्याः कृती कृत्यमशेषयित्वा ।
सभ्यः सभायां सुहृदास्थितायां तस्थौ वृषाङ्कागमनप्रतीक्षः ॥ २९ ॥
तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम् ।
प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥ ३० ॥
तद्गौरवान्मङ्गलमण्डनश्रीः सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण ।
स एव वेषः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं तस्य विभोः प्रपेदे ॥ ३१ ॥
बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः ।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूलभावः ॥ ३२ ॥

गीली हरताल और मंगल-सूचक मैनसिल लेकर अपनी पुत्रीके माथेपर विवाहका तिलक उठा लगाया । उस समय ऐसा जान पड़ा मानो मेनाने यह तिलक लगाकर, पार्वतीके मनमें जो जवानी आनेके समयसे ही शंकरको पानेकी साध बराबर बढ़ रही थी वह पूरी कर दी ॥२३-२४॥ आनन्दके मारे मेनाकी आँखोंमें आँसू भर आए, इसलिये ठीक-ठीक देख न सकनेके कारण उन्होंने पार्वतीके हाथमें जहाँ कँगना बाँधना था वहाँ न बाँधकर कहीं और उठा बाँधा । पर उनकी धायने अपनी उँगलियोंसे उनके कंगनको ठीक स्थानपर खिसका सजाया ॥२५॥ नई साड़ी पहने हुए और हाथमें नया दर्पण लिए हुए वे ऐसी लगने लगीं मानो वे क्षीरसमुद्रकी, उतराते हुए फेनवाली कोई लहर हों ॥२६॥ विवाहके सब रीति-ढंग जाननेवाली मेनाने अपने कुलका यश बढ़ानेवाली पार्वतीसे सब कुलके देवताओंको प्रणाम करवाया और फिर सब सखियोंके पैर छुआए ॥२७॥ लाजसे सकुचाती हुई पार्वतीको सब सखियोंने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे पति सदा तुम्हें तन-मनसे प्यार किया करें । पर पार्वतीने तो भगवान् शंकरके आधे शरीरमें जो बसकर अपमी सखियोंके सारे ही आशीर्वाद छोटे कर दिए ॥२८॥ हिमालयने भी बड़े उत्साहसे जी खोलकर पार्वतीके विवाहके समयके प्रारम्भिक काम निपटा दिए और फिर सभामें बैठकर भगवान् शंकरके आनेकी बाट जोहने लगे । उसी समय कैलास पर्वतपर भी सप्तमाताओंने आकर श्रृंगारकी वे सब सामग्रियाँ महादेवके आगे ला रक्खी जो उनके पहले विवाहमें काम आई थीं ॥२९-३०॥ शंकरने माताओंका आदर करनेके लिये वे मङ्गल श्रृङ्गारकी सामग्रियाँ छू भर दीं, पहनी नहीं, क्योंकि उन्होंने अपनी शक्तिसे झट अपने वेशको ही विवाहके योग्य बना लिया था ॥३१॥ उनके शरीरपर पुती हुई चिताकी भस्म उजला अंगराग बन गई, कपालही सुन्दर मुकुट बन गया और हाथीका चर्म ही ऐसा रेशमी वस्त्र बन

शङ्खान्तरद्योति विलोचनं यदन्तर्निविष्टामलपिङ्गतारम् ।
सांनिध्यपक्षे हरितालमय्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः ॥ ३३ ॥
यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम् ।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः ॥ ३४ ॥
दिवापि निष्ठ्यूतमरीचिभासा बाल्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन ।
चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणेः किं ग्रहणं हरस्य ॥ ३५ ॥
इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता ।
आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं ददर्श ॥ ३६ ॥
स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम् ।
तद्भक्तिसंक्षिप्तबृहत्प्रमाणमारुह्य कैलासमिव प्रतस्थे ॥ ३७ ॥
तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः ।
मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरीक्षम् ॥ ३८ ॥
तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे ।
बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतह्रदेव ॥ ३९ ॥
ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मङ्गलतूर्यघोषः ।
विमानशृङ्गाण्यवगाहमानः शशंस सेवावसरं सुरेभ्यः ॥ ४० ॥

गया जिसके आँचलोंपर गोरोचनसे हंसके जोड़े छपे हुए थे ॥३२॥ उनके माथेमें पीली पुतलीवाला जो चमकता हुआ नेत्र था वही हरतालका सुन्दर तिलक बन गया ॥३३॥ उनके शरीरके बहुतसे अंगोंमें जो साँप लिपटे हुए थे वे भी उन-उन अंगोंके आभूषण बन गए पर उनके फणोंपर जो मणि थे वे ज्योंके त्यों चमकते रह गए ॥३४॥ उनके सिरपर सदा रहनेवाला जो चन्द्रमा दिनमें भी अपनी किरणें चमकाता रहता था और जिसके छोटे होनेके कारण उसमेंका कलंक भी दिखाई नहीं देता था वह चन्द्रमा तो उनका चूड़ामणि बन ही चुका था इसलिये वे दूसरा चूड़ामणि लेकर करते ही क्या ॥३५॥ अपनी शक्तिसे संसारके सभी सिंगार बनानेवाले और सदा अनोखा ही काम करनेवाले महादेवने अपने पास बैठे हुए गणसे खड्ग मँगवाकर उसीमें अपना मुँह उठा देखा ॥३६॥ फिर नन्दीके हाथका सहारा लेकर वे अपने उस लम्बे-चौड़े डील-डौलवाले बैलकी पीठपर जा चढ़े जिसपर सिंहकी खाल बिछी हुई थी और जो ऐसा दिखाई पड़ता था मानो शंकरमें भक्ति रखनेके कारण कैलासने ही अपने बड़े आकारको छोटा बना लिया हो ॥३७॥ अपने तेजोमंडलकी चमकसे गोरे-गोरे मुखवाली सुन्दर माताएँ जब अपने-अपने रथोंपर बैठकर पीछे-पीछे चलने लगीं तब रथोंके चलनेके झटकेसे उनके कर्णफूल भी हिलने लग रहे थे। उस समय उनके मुँह आकाशमें ऐसे लग रहे थे मानो किसी तालाबमें बहुतसे कमल खिले हुए हों ॥३८॥ सोनेके समान चमकनेवाली उन माताओंके पीछे-पीछे उजले खप्परोंसे देह सजाए आती हुई भद्रकालीजी ऐसी लग रही थीं मानों बगुलोंसे भरी और दूर तक चमकती हुई बिजलीवाली नीले बादलोंकी घटा उठी चली आ रही हो ॥३९॥ महादेवके आगे-आगे चलनेवाले गणोंने जो मङ्गल तुरही बजाई उसकी ध्वनिसे देवताओंके विमानोंकी छतरियोंमें गूँजकर यह सूचना दे दी कि अब सबको अपने-अपने काममें जुट जाना चाहिए ॥४०॥ झट

उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे ॥ ४१ ॥
मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।
समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे ॥ ४२ ॥
तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् ।
जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्द्धयन्तौ हविषेव वह्निम् ॥ ४३ ॥
एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ ४४ ॥
तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः ।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥ ४५ ॥
कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन ।
आलोकमात्रेण सुरानशेषान्सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४६ ॥
तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तान्स्मितपूर्वमाह ।
विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ॥ ४७ ॥
विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमानत्रिपुरावदानः ।
अध्वानमध्वान्तविकारलङ्घ्यस्ततार ताराधिपखण्डधारी ॥ ४८ ॥
खे खेलगामी तमुवाह बाहः सशब्दचामीकरकिंकिणीकः ।
तटाभिघातादिव लग्नपङ्के धुन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणे ॥ ४९ ॥

सूर्यने विश्वकर्माके हाथका बनाया हुआ नया छत्र लेकर शिवपर उठा लगाया। उस समय शिवके सिरके पास छत्रसे लटकता हुआ कपड़ा ऐसा जान पड़ता था मानो गंगाकी धारा ही बरसी पड़ रही हो ॥४१॥ गंगा और यमुना भी अपना नदीका रूप छोड़कर महादेवपर जो चँवर डुलाने लगीं वे ऐसे लगते थे मानो हंस उड़े जा रहे हों ॥४२॥ जैसे आगमें घी डालनेसे उसकी लपट बढ़ जाती है वैसे ही ब्रह्मा और विष्णुने आकर उनकी जयजयकार करके उनकी महिमा और भी बढ़ा दी ॥ ४३ ॥ सच्ची बात तो यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही मूर्तिके तीन रूप हो गये हैं जो आपस में बराबर एक दूसरेसे छोटे-बड़े होते ही रहते हैं। कभी विष्णुसे शिव बढ़ जाते हैं, कभी ब्रह्मा इन दोनोंसे बढ़ जाते हैं और कभी ये दोनों ही ब्रह्मासे बढ़ जाते हैं ॥ ४४ ॥ वहाँ अपना राजसी ठाट छोड़कर और विनीत वेश बनाकर इन्द्र आदि लोक-पाल जब उनके दर्शन करनेको आए और नन्दीने संकेतसे इन लोगोंको महादेवके दर्शन कराए तब इन सब लोगोंने हाथ जोड़कर शिवको प्रणाम किया ॥४५॥ शिवने ब्रह्माकी ओर सिर हिलाकर, विष्णुसे कुशल-मंगल पूछकर, इन्द्रकी ओर मुसकराकर और जितने देवता थे उन सबको केवल देखकर जो जैसा बड़ा-छोटा था वैसे ही उन सबका आदर किया ॥४६॥ फिर जब सप्त ऋषियोंने 'जय' कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया, तब शिव उनसे बोले कि इस बड़े भारी विवाहके काममें पुरोहितका काम मैंने पहले ही आपके लिये निश्चय कर छोड़ा है ॥४७॥ सब विकारोंसे परे रहनेवाले महादेव जब चलने लगे उस समय उनसे आगे-आगे विस्वावसु आदि प्रसिद्ध गंधर्व गवैये, त्रिपुरासुरपर उनके विजय पानेके गीत गाते चल रहे थे ॥४८॥ बड़ी मीठी चालसे चलनेवाला और अपने गलेमें लटकी हुई सोनेकी

स प्रापदप्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रगुप्तं नगरं मुहूर्तात् ।
पुरोविलग्नैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णसूत्रैरिव कृष्यमाणः ॥ ५० ॥
तस्योपकण्ठे घननीलकण्ठः कुतूहलादुन्मुखपौरदृष्टः ।
स्वबाणचिह्नादवतीर्य मार्गादासन्नभूपृष्ठमियाय देवः ॥ ५१ ॥
तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥ ५२ ॥
वर्गावुभौ देवमहीधराणां द्वारे पुरस्योद्घटितापिधाने ।
समीयतुर्दूरविसर्पिघोषौ भिन्नैकसेतू पयसामिवौघौ ॥ ५३ ॥
ह्रीमानभूद्भूमिधरो हरेण त्रैलोक्यवन्द्येन कृतप्रणामः ।
पूर्वं महिम्ना स हि तस्य दूरमावर्जितं नात्मशिरो विवेद ॥ ५४ ॥
स प्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य ।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ॥ ५५ ॥
तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५६ ॥
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ५७ ॥

छोटी-छोटी घंटियोंको टनटनाता हुआ वह बैल उन बादलोंको अपने सींगोंसे बार-बार झुंकारता हुआ चला जा रहा था जो उसके सींगोंमें इस प्रकार आ लगे थे मानो नदीके तीर परके टीले ढाते समयकी कीचड़ आ लगी हो ॥ ४९ ॥ किसीसे भी कभी न हारनेवाला वह बैल हिमालयके औषधिप्रस्थ नामवाले नगरमें इस प्रकार क्षण भरमें जा पहुँचा मानो आगे पड़ती हुई शिवकी चितवनकी सोनेकी डोरियाँ ही उसे वहाँतक खींचे ले गई हों ॥ ५० ॥ उसी नगरके पास बादलोंके समान नीले कण्ठवाले महादेव उस आकाशसे पृथ्वीपर जा उतरे जिसमें उन्होंने त्रिपुरासुरको मारते समय बहुतसे बाण चलाकर बहुतसे चिह्न बना दिए थे। वे जब उतर रहे थे तब वहाँके निवासी बड़े चावसे ऊपर मुँह उठा उठाकर उन्हें देखे जा रहे थे ॥ ५१ ॥ महादेवके आनेसे पर्वतराज हिमालय बड़े प्रसन्न हो उठे और अपने उन धनी कुटुम्बियोंको हाथीपर चढ़ा-चढ़ाकर शिवकी अगवानीके लिये ले चले जो उसी प्रकार सुसज्जित थे जैसे हिमालयकी ढालपर फूलोंसे लदे हुए वृक्ष ॥ ५२ ॥ इन दोनों ही दलोंका हल्ला बहुत दूरतक सुनाई पड़ रहा था और वे जब हिमालयकी राजधानीके खुले फाटकोंवाले द्वारपर आकर मिले तो ऐसे लगने लगे मानो बाँध टूट जानेपर जलकी दो धाराएँ ही आपसमें आ मिली हों ॥ ५३ ॥ शंकरने जब पहले हिमालयराजको प्रणाम किया तो वह लाजसे गड़ गया, पर उसे यह नहीं पता चला कि उनके प्रणाम करनेसे पहले ही उनकी महिमासे उसका सिर झुक चुका था ॥५४॥ इस सुन्दर सम्बन्धसें हिमालयराज बड़े ही प्रसन्न थे। आगे-आगे चलकर वे अपने जामाताको मणियों और बेलबूटोंसे सजे हुए उस मार्गसे ले गए जहाँ इतने फूल बिछे पड़े थे कि उन फूलोंमें पैर धँस-धँस जा रहे थे ॥ ५॥ उसी समय महादेवके दर्शनके लिये चावसे भरी हुई नगरकी सब सुन्दरियाँ अपना-अपना सब काम-धाम छोड़कर अपने भवनोंकी छतोंपर आ खड़ी हुईं ॥५६॥ एक स्त्री ज्यों ही खिड़कीकी ओर हड़बड़ीमें भागी कि उसके

प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ५८ ॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ५९ ॥
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ६० ॥
अर्द्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ ६१ ॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ६२ ॥
तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे ।
प्रासादश्रृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥ ६३ ॥
तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ ६४ ॥
स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापि तप्तम् ।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम् ॥ ६५ ॥

जूड़ेमें बँधी हुई फूलकी माला खुल गई और वह उसे अपने हाथसे पकड़े हुए ही लपक चली, उसे बाँधनेकी सुध न रही ।।५७।। एक स्त्री अपने पैरमें महावर लगवा रही थी कि उसे अधूरा छोड़कर ही वह झटपट खिड़कीके पासतक अपने महावर लगे पैरोंकी छाप छापती हुई दौड़ गई ।।५८।। एक स्त्री अपनी दाईं आँखमें तो काजल लगा चुकी थी पर बाईं आँखमें बिना लगाए हाथमें सलाई लिए हुए ही खिड़कीकी ओर लपक पड़ी ।।५९।। एक स्त्री ज्योंही खिड़कीकी जालियोंमें जाकर झाँकने लगी कि उसकी कमरका नाड़ा खुल गया और बिना बाँधे ही उसे हाथ से पकड़े जो खड़ी हुई तो उसके हाथके कंगनके रत्नकी चमकसे उसकी नाभि चमक उठी ।।६०।। एक स्त्री जब डोरेमें मणि पिरो रही थी तभी शंकरकी बारातका हल्ला सुनकर जब वह हड़बड़ाकर उठी और खिड़कीकी ओर दौड़ी तब खिड़की तक पहुँचते-पहुँचते मणियोंके दाने तो सब बिखर गए, बस पैरके अँगूठेमें बँधा हुआ डोरा भर ज्योंका त्यों फँसा बच रहा ।।६१।। उन चावभरे-नैन-वालियों के आसवसे महकते और चंचल नेत्रवाले मुख खिड़कियोंमें झाँकते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों खिड़कियोंकी जालियोंमें भौंरोंसे भरे कमल ला टाँगे गए हों ।।६२।। इतने में ही उन चूनेसे पुते हुए उजले भवनोंके कँगूरोंको अपने सिरके चन्द्रमाकी चाँदनीसे और भी अधिक चमकाते हुए महादेवने ध्वजाओं और पताकाओंसे सजे हुए वहाँके राजमार्गमें प्रवेश किया ।।६३।। नगरकी सारी स्त्रियाँ अपनी सब सुधबुध भूलकर इस प्रकार एकटक देखती हुई उन्हें अपने नेत्रोंसे पीए चली जा रहीं थीं मानो उनकी सब इन्द्रियाँ आँखोंमें ही आ समाई हों ।।६४।। वे कहने लगीं—'ऐसे वरके लिये सुकुमार पार्वतीका तप करना ठीक ही था क्योंकि ये तो ऐसे सुन्दर हैं कि जो स्त्री इनकी दासी भी हो जाय वही धन्य हो जाय फिर जो इनकी गोदमें सेजपर जा लेटे उसका तो कहना ही क्या है ।।६५।। सुन्दरतामें एक दूसरेसे बढ़े-चढ़े हुए इस जोड़ेका यदि

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥ ६६ ॥
न नूनमारूढरुषा शरीरमनेन दग्धं कुसुमायुधस्य ।
व्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये संन्यस्तदेहः स्वयमेव कामः ॥ ६७ ॥
अनेन संबन्धमुपेत्य दिष्टया मनोरथप्रार्थितमीश्वरेण ।
मूर्द्धानमालि क्षितिधारणोच्चमुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ॥ ६८ ॥
इत्योषधिप्रस्थविलासिनीनां शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखास्त्रिनेत्रः ।
केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद ॥ ६९ ॥
तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः ।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥ ७० ॥
तमन्वगिन्द्रप्रमुखाश्च देवाः सप्तर्षिपूर्वाः परमर्षयश्च ।
गणाश्च गिर्यालयमभ्यगच्छन्प्रशस्तमारम्भमिवोत्तमार्थाः ॥ ७१ ॥
तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥ ७२ ॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः ।
वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ ७३ ॥
तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुः कुमुदः कुमार्या ।
प्रसन्नचेतः सलिलः शिवोऽभूत्संसृज्यमानः शरदेव लोकः ॥ ७४ ॥

विवाह न होता तो हम यही समझते कि ब्रह्माने इन दोनोंका रूप गढ़नेमें जो परिश्रम किया वह सब अकारथ ही था ॥६६॥ अब हमारी समझमें आ रहा है कि कामदेवको इन्होंने क्रोध करके भस्म नहीं किया वरन् कामदेव स्वयं ही इनकी सुन्दरता देखकर टीसके मारे जल मरा ॥६७॥ देखो सखी ! पर्वतेश्वर हिमालय सचमुच बड़े भाग्यवान् हैं। एक तो पृथ्वीको धारण किए रहनेसे यों ही उनका सिर ऊँचा था, उसपर अपने मनचाहे वर भगवान् शंकरसे सम्बन्ध करके उनका सिर और भी ऊँचा हो जायेगा' ॥६८॥ ओषधिप्रस्थकी स्त्रियोंकी ऐसी मीठी मीठी बातें सुनते हुए हिमालय राजके उस घरमें महादेव जा पहुँचे जहाँ इतनी भीड़ थी कि कुमारियोंने आचार दिखलानेके लिये जो खीलें बिखेरी थीं वे भी वहाँके लोगोंके भुजबंधोंकी रगड़से ऊपर ही ऊपर पिसकर चूर-चूर हो गईं ॥६९॥ वहाँ पहुँचनेपर विष्णुने हाथका सहारा देकर महादेवको इस प्रकार बैलसे उतार लिया मानो शरद्के उजले बादलसे सूर्यको उतार खड़ा किया गया हो। वहाँ से वे हिमालयराजके भवनकी उस भीतरकी कोठरीमें जा पहुँचे जहाँ ब्रह्मा पहलेसे ही जमे बैठे हुए थे ॥७०॥ उनके पीछे-पीछे इन्द्र आदि देवता, सप्तर्षियोंके साथ सब महर्षि और महादेवके सभी गण हिमालयराजके घरमें उसी प्रकार जा बैठे जैसे किसी कामके ठीक-ठीक प्रारम्भ हो जानेपर उसके पीछे और भी बहुतसे बड़े-बड़े काम सधते चले जाते हैं ॥७१॥ वहाँ आसनपर महादेवको बैठाकर हिमालयने रत्न, अर्घ्य, मधु, दही और नये वस्त्र, जो कुछ लाकर दिए वे सब उन्होंने मंत्रोंके साथ (स्नेहसे) ले लिए ॥७२॥ रेशमी वस्त्र पहने हुए महादेवको रनिवासके सेवक उसी प्रकार पार्वतीके पास ले गए जैसे फेनवाले समुद्रको चन्द्रमाकी किरणें तटतक ले जा पहुँचाती हैं ॥ ७३ ॥ जैसे शरद्के आनेपर लोग प्रसन्न हो उठते हैं वैसे ही अत्यन्त चकमते हुए चन्द्रमाके समान मुखवाली पार्वतीको देखकर शंकरके नेत्ररूपी कुमुद भी खिल उठे

तयोः समापत्तिषु कातराणि किंचिद्व्यवस्थापितसंहृतानि ।
ह्रीयन्त्रणां तत्क्षणमन्वभूवन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ ७५ ॥

तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः ।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥ ७६ ॥

रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत् ।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य ॥ ७७ ॥

प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम् ।
सांनिध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥ ७८ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ ७९ ॥

तौ दंपती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ ।
स कारयामास वधू पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम् ॥ ८० ॥

सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ ८१ ॥

तदीषदार्द्रारुणगण्डलेखमुच्छ्वासिकालाञ्जनरागमक्ष्णोः ।
वधूमुखं क्लान्तयवावतंसमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ ८२ ॥

और उनका मन भी जलके समान निर्मल हो उठा ॥७४॥ पार्वती और शंकरके नेत्र थोड़ी देरके लिये मिल मिलकर फिर हट-हट जाते थे और इस प्रकार एक दूसरेको चाह-भरी चितवनसे देख-देखकर उनके हृदयमें फिर बड़ी लज्जा भी आ जाती थी कि हमें देखकर दूसरे लोग क्या कहते होंगे ॥७५॥ तब हिमालय राजके पुरोहितने पार्वतीका हाथ आगे बढ़ाकर शंकरके हाथपर उठा रक्खा। पार्वतीका वह लाल-लाल उँगलियोंवाला हाथ ऐसा लगता था मानों महादेवके डरसे छिपे हुए कामदेवके अंकुर पहले-पहल आ फूट निकले हों ॥ ७६ ॥ हाथ पकड़ते ही पार्वतीको जो रोमांच हो आया और महादेवकी उँगलियोंसे पसीना छूटने लगा तो ऐसा जान पड़ा मानो उन दोनोंका हाथ मिलाकर कामदेवने दोनोंको एक साथ अपने वशमें कर लिया हो ॥ ७७ ॥ जो पार्वती और शंकर संसार भरमें विवाहके समय स्मरण किए जानेपर बहू और बरोंकी शोभा बढ़ाते रहते हैं उन्हीं पार्वती और शंकरका जब स्वयं ही विवाह हो रहा हो तब तो उनकी शोभाका कहना ही क्या है ॥ ७८ ॥ ईंधनसे जगाई हुई अग्निका फेरा देते समय पार्वती और शंकर इस प्रकार शोभित हुए मानों रात और दिन दोनों मिलकर सुमेरु पर्वतका फेरा लगा रहे हों ॥७९॥ एक दूसरेको छूते चलनेके कारण पार्वती और शंकर आँखें मूंदकर मन ही मन आनन्द लेते हुए अग्निका फेरा लगा रहे थे। जब तीन बार जलती हुई अग्निके फेरे हो रहे थे तब पुरोहित भी अग्निमें धानकी खीलों का हवन करते चल रहे थे ॥८०॥ पार्वतीने पुरोहितके कहनेसे खीलके होमसे उठे हुए सुगन्धित धुएँको अपने हाथकी अंजलीसे उठा सूंघा जो उनके गालोंके पास पहुँचकर क्षणभरके लिये उनके कानोंका कर्णफूल बन जाता था ॥८१॥ उस हवनके गरम धुएँसे पार्वतीके गाल कुछ लाल हो चले, मुँहपर पसीनेकी बूँदें आ छाई, आँखोंका काला आँजन इधर-उधर फैल गया कानोंपर धरे हुए जौ भी मुरझे पड़ गए ॥८२॥ तब पुरोहितने पार्वतीसे कहा 'वत्से !

वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी ।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ।। ८३ ।।

आलोचनान्तं श्रवणे वितत्य पीतं गुरोस्तद्वचनं भवान्या ।
निदाघकालोल्वणतापयेव माहेन्द्रमम्भः प्रथमं पृथिव्या ।। ८४ ।।

ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ।। ८५ ।।

इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ ।
प्रणेमतुस्तौ पितरौ प्रजानां पद्मासनस्थाय पितामहाय ।। ८६ ।।

वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति ।
वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव ।। ८७ ।।

क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ ।
जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ।। ८८ ।।

पत्रान्तलग्नैर्जलबिन्दुजालैराकृष्टमुक्ताफलजालशोभम् ।
तयोरुपर्यायतनालदंडमाधत्त लक्ष्मीः कमलातपत्रम् ।। ८९ ।।

द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव ।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ।। ९० ।।

तौ सन्धिसु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ।। ९१ ।।

यह अग्नि तुम्हारे विवाहका साक्षी है। आजसे तुम सब प्रकारकी शंका छोड़कर सदा शिवजीके साथ धर्मके काम करती रहना' ।।८३।। आँखोंतक अपने कान फैलाकर पार्वतीने पुरोहितकी बात वैसे ही आदरसे सुनी जैसे गर्मीसे तपी हुई पृथ्वी, वर्षाकी पहली बूँदें ग्रहण किया करती है ।।८४।। जब शंकरने कहा कि 'ध्रुवकी ओर देखो' तब पार्वतीने ऊपर मुँह उठाकर बहुत लजाते हुए किसी-किसी प्रकार इतना भर कहा—'जी हाँ, देख लिया' ।।८५।। इस प्रकार जब कर्मकाण्ड जाननेवाले पुरोहितने संसारके माता-पिता पार्वती और शंकरका सारा विवाह-कर्म पूरा करा दिया तब कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माको दोनोंने प्रणाम किया ।।८६।। ब्रह्माने बहूको तो यह आशीर्वाद दिया कि 'कल्याणी ! तुम वीरपुत्रकी माता बनो' किन्तु वाणीके स्वामी होते हुए भी उनकी यह समझमें नहीं आ पाया कि सब इच्छाओंसे परे रहनेवाले शंकरको हम क्या आशीर्वाद दें ।।८७।। वहाँसे महादेव और पार्वती, फूलोंसे सजे हुए चौकमें ले जाए जाकर सोनेके आसनपर बैठा दिए गए। तब उनके ऊपर लौकिक विधिसे लोगोंने गीले और पीले अक्षत उठा छिड़के ।।८८।। उस समय स्वयं लक्ष्मी तो पत्तोंके कोरोंपर लटकती हुई और मोतीके समान चमकती हुई जलकी बूंदोंसे भरे हुए लम्बी डंठलवाले कमलका छत्र उनके ऊपर लगाकर आ खड़ी हुईं ।।८९।। और सरस्वती भी संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंमें शिव और पार्वतीकी प्रशंसा करने लगीं। संस्कृतमें तो उन्होंने प्रशंसनीय वरकी और सरलतासे समझमें आनेवाली प्राकृत भाषामें उन्होंने वधूकी प्रशंसाकी ।।९०।। तब पार्वती और शंकरने शृङ्गार आदि रसोंवाला और सुन्दर हाव-भावसे भरा और पाँचों संधियोंमें अलग-अलग भाषा-शैलियोंसे सजा हुआ थोड़ी देर-तक अप्सराओंका नाटक देखा ।।९१।।

देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धाञ्जलयो निपत्य ।
शापावसाने प्रतिपन्नमूर्त्तेर्ययाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम् ।। ९२ ।।
तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम् ।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ।। ९३ ।।
अथ विबुधगणाँस्तानिन्दुमौलिर्विसृज्य क्षितिधरपतिकन्यामाददानः करेण ।
कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात् ।। ९४ ।।
नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः ।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित् प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम् ।। ९५ ।।

।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
उमापरिणयो नाम सप्तमः सर्गः ।।

* * *

नाटक समाप्त हो चुकनेपर इन्द्र आदि देवता, विवाहित शंकरके पास आए और अपने किरीट बाँधे हुए सिरपर हाथ जोड़कर यह प्रार्थना की कि आपका विवाह हो जानेसे आपका दिया हुआ शाप भी समाप्त हो गया, इसलिये आप आज्ञा दें तो कामदेव फिरसे जी उठे और आपकी सेवा करें ।।९२।। प्रसन्न मनवाले शंकरने कहा—'अच्छी बात है, कामदेवसे जा कहो कि वह जितने चाहे उतने जी भरकर हमपर अपने बाण चलावे ।' ठीक ही है, जो चतुर सेवक यह जानते हैं कि स्वामीसे कौनसी बात कब कहनी चाहिए, वे स्वामीसे जो प्रार्थना करते हैं वह अवश्य पूरी होती ही है ।।९३।। तब शंकरने इन्द्र आदि सब देवताओंको तो बिदा किया और पार्वतीका हाथ अपने हाथमें लेकर उस विनोद-भवन जा पहुँचे जहाँ पहलेसे सेज भी बिछी हुई थी, फूलोंकी मालाएँ भी सजी हुई थीं और एक ओर सोनेका कलश भी भरा धरा था ।।९४।। नया विवाह होनेसे लजीली, महादेवके हाथोंसे आँचल खींचे जानेपर अपना मुँह छिपानेवाली और सखियोंकी चुटकियोंका ज्यों-त्यों उत्तर देनेवाली पार्वतीके आगे आकर जब प्रमथ आदि गण अनेक प्रकारके मुँह बनाने लग रहे थे, तब पार्वती भी मन ही मन हँसने लग रही थीं ।।९५।।

।। महाकवि श्रीकालिदासके रचे कुमारसंभव महाकाव्यमें पार्वतीका
विवाह-वर्णन नामका सातवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।।

* * *

॥ अष्टमः सर्गः ॥

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपुः ॥ १ ॥
व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥ २ ॥
कैतवेन शयिते कुतूहलात्पार्वती प्रतिमुखं निपातितम्।
चक्षुरुन्मिषति सस्मितं प्रिये विद्युताहतमिव न्यमीलयत् ॥ ३ ॥
नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥ ४ ॥
एवमालि निगृहीतसाध्वसं शंकरो रहसि सेव्यतामिति।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥ ५ ॥
अप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्।
वीक्षितेन परिवीक्ष्य पार्वती मूर्धकम्पमथमुत्तरं ददौ ॥ ६ ॥
शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुध्य नयने हृतांशुका।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

विवाह हो जानेपर पार्वती मनसे तो यही चाहती थीं कि शिवसे दूर न रहूँ पर साथ ही कुछ झिझक भी बनी हुई थी। महादेव तो उनके इस प्रेम और झिझकसे भरे सुन्दर शरीरको ही देख-देखकर उनपर लट्टू हुए जा रहे थे ॥१॥ वे इतनी लजाती थीं कि शिव उनसे कुछ पूछते भी थे तो वे बोलती न थीं, यदि वे इनका आँचल थामने लगते तो उठकर भागने लगती थीं और साथ सोते समय भी वे दूसरी ओर मुँह फेरकर ही सोती थीं, फिर भी शिवको इन बातोंमें भी कम आनन्द नहीं मिलता था ॥२॥ जब कभी सोनेका बहाना करके शिव आँख मूँदकर लेट जाते तब पार्वती उनकी ओर घूमकर टकटकी बाँधें देखती रहा करतीं। इतनेमें ही शिव मुस्कराकर आँखें खोल देते और वे चट इस फुर्तीसे अपनी आँखें मीच लेतीं मानो बिजलीकी चकाचौंधसे आँखें मिच गई हों ॥३॥ जब शंकर अपने हाथ उनकी नाभिकी ओर बढ़ाते तब पार्वती काँपती हुई उनका हाथ थाम लेतीं, पर न जाने कैसे उनकी साड़ीकी गाँठ ढीली पड़कर अपने आप खुल जाती ॥४॥ पार्वतीकी सखियाँ उन्हें सिखाया करतीं कि देखो सखी ! तुम डरना मत और जैसे-जैसे हम सिखाती हैं वैसे ही वैसे अकेलेमें शंकरके पास रहना। पर शिवके सामने पहुँचते ही वे इतनी घबरा जातीं कि सखियोंकी सारी सीख उनके ध्यानसे उतर जाती ॥५॥ जब कभी बात-बातमें शिव ऊट-पटाँग बातें छेड़कर उनसे उत्तर माँगते तो वे अपने मुँहसे तो कुछ न कहतीं, बस अपनी आँखें ऊपर उठाकर और सिर घुमाकर यह जता देतीं कि मैं आपकी सारी बातें मानती हूँ ॥६॥ जब कभी अकेलेमें शिव उनके कपड़े खींचकर उन्हें उघाड़ देते तो वे अपनी दोनों हथेलियोंसे शिवके दोनों नेत्र बन्द कर लेतीं जिससे वे देख न पावें, पर शिव भी ऐसे गुरु थे कि झट अपना तीसरा नेत्र खोलकर देखने लगते और वे हार मानकर बैठ जातीं ॥७॥ महादेव जब उन्हें चूमना चाहते तो वे अपना ओठ ही न बढ़ातीं और जब

चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम् ।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम् ॥ ८ ॥
यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्रणपदं नखस्य यत् ।
यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत् ॥ ९ ॥
रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यतं सा प्रभातसमये सखीजनम् ।
नाकरोदपकुतूहलं ह्रिया शंसितुं तु हृदयेन तत्वरे ॥ १० ॥
दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
प्रेक्ष्य बिम्बमुपबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥ ११ ॥
नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत् ।
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥ १२ ॥
वासराणि कतिचित्कथञ्चन स्थाणुना रतमकारि चानया ।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥ १३ ॥
सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्राथितं मुखमनेन नाहरत् ।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा ॥ १४ ॥
भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यभाक्क्षणवियोगकातरम् ।
कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तयोः प्रेमगूढमितरेतराश्रयम् ॥ १५ ॥

वे उन्हें कसकर छातीसे लगाना चाहते तो वे अपने हाथ - तक म उठातीं । इस प्रकार बाधाओंके साथ अधूरा रस पाकर भी शिवने वधूके साथ जो सम्भोग किया उसमें उन्हें आनन्द ही मिला ॥८॥ धीरे - धीरे पार्वतीकी झिझक भी मिटने लगी और इसलिये जब कभी महादेव उन्हें चूमते समय काटते नहीं थे, चूमते हुए घाव नहीं करते थे और बहुत धीरे - धीरे सम्भोग करते थे तो ये आनाकानी नहीं करती थीं । पर जहाँ वे इससे आगे बढ़ते कि वे घबरा उठतीं ॥९॥ पार्वती इतनी लजीली थीं कि जब उनकी सखियाँ उनसे रातकी बातें पूछने लगतीं तो वे चाहते हुए भी लज्जाके मारे उनसे बता नहीं पाती थीं ॥१०॥ जब वे हाथमें दर्पण लेकर उसमें अपने शरीरपर बने हुए संभोगके चिह्न बैठी देखतीं और उस समय कहीं पीछेसे चुपचाप शिव पहुँच जाते तो उनकी परछाहीं दर्पणमें पड़ते ही वे ऐसी लजा जातीं कि झेंपके मारे क्या-क्या नहीं करने लगती थीं ॥११॥ मेनाको यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि महादेव हमारी कन्याके यौवनका पूरा उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि जब माता यह देख लेती है कि मेरी कन्याका पति कन्याको प्यार करता है तब उसका जी हल्का हो जाता है ॥१२॥ कुछ दिनोंतक तो महादेव ज्यों-त्यों करके पार्वतीसे संभोग करते रहे पर धीरे-धीरे जब पार्वतीको भी संभोगका रस मिलने लगा तब उनकी भी झिझक धीरे-धीरे जाती रही ॥१३॥ और इसलिये जब महादेव उन्हें कसकर छातीसे लगाते तो वे भी उन्हें दोनों हाथोंसे कस लेतीं, जब वे चूमनेको मुँह बढ़ाते तो वे अपना मुँह हटाती नहीं थीं और जब शंकर उनकी तगड़ी पकड़कर खींचते तो ये आधे मनसे ही उनका हाथ रोकतीं ॥१४॥ थोड़े ही दिनोंमें दोनोंकी चाल-ढालसे वह जान पड़ने लगा कि अब ये बहुत घुल-मिल गये हैं क्योंकि दोनों ही एक दूसरेकी बड़ाई करते अघाते नहीं थे और क्षण भरके लिये भी एक दूसरेसे अलग हुए कि बस तड़पने लगते ॥१५॥ जैसे समुद्रके पास जाकर और मिलकर गंगा वहाँसे लौटनेका नाम-तक नहीं

तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम् ।
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक् ॥ १६ ॥
शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया ।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥ १७ ॥
दष्टमुक्तधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा ।
शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ॥ १८ ॥
चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शंकरोऽपि नयनं ललाटजम् ।
उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने ॥ १९ ॥
एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः ॥ २० ॥
सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखखेदितम् ।
तत्र तत्र विजहार संपतन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता ॥ २१ ॥
मेरुमेत्य मरुदाशुगोक्षकः पार्वतीस्तनपुरस्कृतान्कृती ।
हेमपल्लवविभङ्गसंस्तरानन्वभूत्सुरतमर्दनक्षमान् ॥ २२ ॥
पद्मनाभचरणाङ्किताश्मसु प्राप्तवत्स्वमृतविप्रुषो नवाः ।
मन्दरस्य कटकेषु चावसत्पार्वतीवदनपद्मषट्पदः ॥ २३ ॥

लेतीं और समुद्र भी उन्हींके मुखका जल ले-लेकर बराबर उनसे प्रेम किया करता है वैसे ही पार्वती भी जैसे-जैसे अपने प्रियतमका मन बहलातीं वैसे-वैसे महादेव भी उनके मनकी ही बातें पूरी किया करते थे ।।१६।। पार्वतीने शंकरसे अकेलेमें जो काम-कलाकी शिक्षा ली थी उस कलाके अनुसार उन्होंने महादेवके साथ नई नवेलियोंकी चटक-मटकसे भरा जो संभोग किया वही मानो कला सीखनेकी गुरुदक्षिणा थी ।।१७।। जब कभी पार्वतीका ओठ महादेव काट लेते तो वे पीडासे अपने हाथ झटकने लगतीं और फिर तत्काल महादेवके सिरपर बसे हुए चन्द्रमापर ज्यों ही ओठ रखतीं त्यों ही उन्हें ऐसी ठंढक मिलती कि उनकी सब पीडा जाती रहती ।।१८।। इसी प्रकार चुम्बन लेते समय जब पार्वतीके केशोंका चूर्ण झड़कर शिवके तीसरे नेत्रमें पड़ता तो वह नेत्र दुखने लगता। तब खिले हुए कमलकी गंधवाले पार्वतीके मुँहकी फूंक पानेके लिये वे अपना नेत्र उठाकर उनके मुँहतक पहुँचा देते ।।१९।। इस प्रकार जवानीका रस लेकर महादेवने कामदेवपर बड़ी कृपा की और हिमालयराजके घरपर उमाके साथ रहते हुए उन्होंने एक महीना बिता दिया ।।२०।। तब इतने दिन रहने पर उन्होंने हिमालयसे जानेकी आज्ञा माँगी। कन्याको अपनेसे अलग करनेमें हिमालयराजको दुःख तो बहुत हुआ पर उसने बिदा दे ही दी। वहाँसे चलकर बेरोक-टोक चलनेवाले अपने नन्दीपर चढ़कर वे जहाँ-तहाँ घूम-घूमकर मस्तीसे विहार करने लगे ।।२१।। पवनके समान वेगसे चलनेवाले उस बैलपर चढ़कर और आगे पार्बतीका स्तन पकड़े हुए बैठाकर वे मेरु पर्वतपर जा पहुँचे और वहाँ सुनहरे पत्तोंसे बिछी हुई शय्यापर उन्होंने एक रात संभोग किया ।।२२।। पार्वतीके मुख-कमलका रस लेनेवाले महादेव वहाँसे चलकर मन्दराचलके उस ढालपर जा पहुँचे जहाँकी चट्टानोंपर विष्णुके चरणोंकी छाप और समुद्र-मंथनके समय उड़े हुए अमृतकी बूंदोंके नये-नये छींटे पड़े हुए थे ।।२३।। वहाँसे चलकर वे कुबेरकी राजधानी कैलासपर जा पहुँचे जहाँ

रावणध्वनितभीतया तया कण्ठसक्तदृढबाहुबन्धनः ।
एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः ।। २४ ।।
तस्य जातु मलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियाक्लमम् ।
आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः ।। २५ ।।
हेमतामरसताडितप्रिया तत्कराम्बुविनिमीलितेक्षणा ।
सा व्यगाहत तरङ्गिणीमुमा मीनपङ्क्तिपुनरुक्तमेखला ।। २६ ।।
तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन् ।
नन्दने चिरमयुग्मलोचनः सस्पृहं सुरवधूभिरीक्षितः ।। २७ ।।
इत्यभौममनुभूय शंकरः पार्थिवं च दयितासखः सुखम् ।
लोहितायति कदाचिदातपे गन्धमादनवनं व्यगाहत ।। २८ ।।
तत्र काञ्चनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यमवलोक्य भास्करम् ।
दक्षिणेतरभुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहधर्मचारिणीम् ।। २९ ।।
पद्मकान्तिमरुणत्रिभागयोः संक्रमय्य तव नेत्रयोरिव ।
संक्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्पतिः ।। ३० ।।
सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ।। ३१ ।।

रावणकी ललकार सुनकर पार्वती ऐसी डर गईं कि अपनी कोमल भुजाएँ शिवके गलेमें डालकर उनसे लिपट गईं। वहाँ रहकर शंकरने उजली चाँदनीका भरपूर आनन्द लूटा ।।२४।। वहाँसे घूमते-घामते वे मलय पर्वतपर जा पहुँचे जहाँ चन्दनकी कोमल शाखाओंको हिलानेवाला और लौंगके फूलोंकी केसर उड़ानेवाला दक्षिणका वायु संभोगसे थकी हुई पार्वतीकी थकावट उसी प्रकार दूर किए डाल रहा था जैसे कोई मीठी-मीठी बातें करके किसी थके हुएका मन बहला रहा हो ।।२५।। कभी पार्वती उस आकाश-गंगामें जाकर जल-विहार करने लगतीं जहाँ उनकी कमरके चारों ओर खेलनेवाली मछलियाँ ऐसी लगती थीं मानो उन्होंने दूसरी करधनी उठा पहनी हो। वहाँ वे सोनेके कमल तोड़-तोड़कर उनसे महादेवको थपथपाया करती और महादेव भी ऐसा पानी उछालते कि उनकी आँखें बन्द्र हो हो जातीं ।।२६।। वहाँसे नन्दनवन पहुँचकर महादेव परिजातके उन फूलोंसे बहुत दिनों तक पार्वतीका शृङ्गार करते रहे जिनसे इन्द्राणीके केश सजाए जाते थे। वहाँकी अप्सराएँ भी महादेवकी इस कलाको बड़े चावसे बैठी निहारा करतीं ।। २७ ।। इस प्रकार अपनी प्राणप्यारीके साथ सांसारिक और स्वर्गीय दोनों प्रकारके सुख भोगते हुए वे एक दिन गन्ध-मादन पर्वतपर जा पहुँचे। उस समय साँझ हो चली थी और सूर्य लाल-लाल दिखाई पड़ रहे थे ।।२८।। वहाँ पहुँचकर वे सोनेकी एक चट्टानपर जा बैठे। उस समय सूर्यका तेज इतना कम हो चला था कि उसकी ओर टकटकी लगाकर भी देखा जा सकता था। उसे देखकर अपनी बाईं भुजाके सहारे बैठी हुई अपनी धर्मपत्नीसे महादेव बोले—।।२९।। 'देखो प्यारी! इस समय सूर्य ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो यह तुम्हारी तिहाई लाल आँखोंके समान सुन्दर कमलोंकी शोभाको लजाकर उसी प्रकार दिनको समेटे ले रहा है जैसे प्रलयके समय ब्रह्मा सारे संसारको समेट लेते हैं ।।३०।। देखो! ज्यों-ज्यों दिन ढलता जा रहा है, त्यों-त्यों सूर्यकी किरणें हिमालयके झरनोंकी फुहारोंसे हटती

दष्टतामरसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः ।
निघ्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तरमनल्पतां गतम् ॥ ३२ ॥
स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सल्लकीविटपभङ्गवासितम् ।
आविभातचरणाय गृह्णते वारि वारिरुहबद्धषट्पदम् ॥ ३३ ॥
पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता ।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥ ३४ ॥
उत्तरन्ति विनिकीर्य पल्वलं गाढपङ्कमतिवाहितातपाः ।
दंष्ट्रिणो वनवराहयूथपा दष्टभङ्गुरबिसाङ्कुरा इव ॥ ३५ ॥
एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम् ।
हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिबतीव बर्हिणः ॥ ३६ ॥
पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः ।
खं हृतातपजलं विवस्वता भाति किञ्चिदिव शेषवत्सरः ॥ ३७ ॥
आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः ।
आश्रमाः प्रविशदग्रधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः ॥ ३८ ॥
बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम् ।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥ ३९ ॥

जा रही हैं और उनके हटते ही उन फुहारोंमें बने हुए इन्द्र-धनुष भी छिपते जा रहे हैं ॥३१॥ फूले हुए कमलोंकी केसर चोंचमें उठाकर ये चकवी-चकवे एक दूसरेके कंठसे अलग होकर चिल्लाने लगे हैं और तालाबका छोटासा पाट भी इनके लिये बहुत बड़ा हो गया है ॥३२॥ सलईके वृक्षोंके टूटनेसे जहाँ गन्ध फैल गई है और जहाँ हाथी दिनमें रहा करते थे उन स्थानोंको अगले दिन तकके लिये छोड़-छोड़कर ये हाथी उस तालाबकी ओर बढ़े चले जा रहे हैं जिनके कमलोंमें भौंरे बन्द पड़े हैं ॥३३॥ देखो मिठबोली ! पश्चिममें लटके हुए सूर्यने अपनी परछाईंसे तालके जलमें बड़ा सुनहरा पुल-सा बना डाला है ॥३४॥ देखो ! तालावोंको मथकर उनके गाढ़े कीचड़में लोट-लोटकर दिनभरकी गर्मी बितानेवाले ये जो बड़े-बड़े दाँतवाले लम्बे-चौड़े जंगली सूअर निकले चले आ रहे हैं, इनके दाँत ऐसे दिखाई दे रहे हैं मानो इनके जबड़ोंमें आए हुए कमलोंकी डंठलें अटकी हुई हों ॥३५॥ सामने पेड़की शाखापर बैठे हुए मोरकी पूँछमें बसी हुई गोल-गोल और सोनेके पानीके समान सुनहरी चन्द्रिकाओंको देखनेसे ऐसा लगता है मानो यह मोर बैठा हुआ साँझकी सब धूप पीए डाल रहा हो और उसीसे दिन ढलता जा रहा हो ॥३६॥ देखो ! सूर्यने आकाशसे धूपका सारा पानी खींच लिया है इसलिये आकाश उस तालाबके समान दिखाई दे रहा है जिसमें पूर्वकी ओर अँधेरा बढ़ जानेसे यह जान पड़ता है कि उधर कीचड़ बचा रह गया है और पश्चिममें कुछ-कुछ उजाला रहनेसे ऐसा लग रहा है कि उधर अभी थोड़ा-थोड़ा पानी बचा रह गया है ॥३७॥ पर्ण-कुटियोंके आँगनमें आते हुए हिरणोंसे, सींचे हुए जड़वाले हरे-भरे पौधोंसे, लौटकर आती हुई सुन्दर दुधारू गौओंसे और हवनकी जलती हुई अग्निसे ये आश्रम कैसे सुहावने लग रहे हैं ॥३८॥ देखो ! ये कमल इस समय मुँद चले, फिर भी पल भरके लिये अपना मुँह थोड़ा-सा इसलिये खुला रक्खे हुए हैं कि जो भौंरे बाहर रह गए हों उन्हें हम प्रेमसे भीतर बुला बसा लें ॥३९॥ सुन्दरी ! बहुत दूरपर सूर्यकी

दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना ।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥ ४० ॥
सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयङ्गमस्वनैः ।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥ ४१ ॥
सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः ।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ ॥ ४२ ॥
खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः ।
तत्प्रकाशयति यावदुद्‌गतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम् ॥ ४३ ॥
संध्ययाप्यनुगतं रवेर्वपुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम् ।
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥ ४४ ॥
रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥ ४५ ॥
सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सांध्यमातपम् ॥ ४६ ॥
अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
ब्रह्म गूढमभिसंध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥ ४७ ॥

हल्की-सी झलक दिखाई पड़नेसे पश्चिम दिशा उस कन्याके समान लग रही है जिसने अपने माथेपर केसरसे भरे बन्धुजीवके फूलका तिलक लगा रक्खा हो ॥४०॥ किरणोंकी गर्मी पी जानेवाले और सहस्रोंके झुण्डमें रहनेवाले बालखिल्य आदि ऋषि इस समय सूर्यके रथके घोड़ोंको भला लगनेवाला सामवेद गा-गाकर उस सूर्यकी स्तुति कर रहे हैं जिन्होंने इस समय अपना तेज अग्निको सौंप दिया है ॥४१॥ दिनको समुद्रमें डूबोकर और अपने उन घोड़ोंको लिये हुए सूर्य अस्ताचलकी ओर जा रहे हैं जिनके सिर नीचेकी ओर उतरनेके कारण झुके हुए हैं; जिनके कानोंकी चौरियाँ रह-रहकर आँखोंपर झूली पड़ रही हैं और जिनके केसर (कंधेके बाल, अयाल) कन्धोंपर रक्खे हुए जूएसे लग-लगकर छितरा गए हैं ॥४२॥ सूर्यके छिपते ही सारा आकाश सोया हुआ सा जान पड़ने लगा है। देखो ! तेजस्वियोंकी कुछ बात ही ऐसी होती है कि जहाँ वे निकलते हैं वहीं उजाला हो जाता है और जहाँ वे छिपते हैं वहाँ अँधेरा छा जाता है ॥४३॥ देखो ! पूजनीय सूर्य जब अस्ताचलको चले तब संध्या भी उनके पीछे-पीछे लगी चल दी, क्योंकि तड़के उदयके समय जो (संध्या) सूर्यके आगे-आगे रही वह सूर्यकी विपत्तिके समय उनका साथ भला कैसे छोड़ दे सकती है ॥४४॥ देखो घुँघराले बालोंवाली ! ये सामने लाल, पीले और भूरे बादलोंके फैले हुए टुकड़े ऐसे लग रहे हैं मानों सन्ध्याने उन्हें यह समझकर तूलिकासे रँग दिया हो कि तुम उन्हें देखोगी ॥४५॥ हिमालयके सिंहोंके लाल-लाल केसरोंको, नये-नये पत्तोंसे लदे हुए वृक्षोंको और रंगीन धातुवाली हिमालयकी चोटियोंको देखनेसे ऐसा जान पड़ रहा है मानो अस्त होते हुए सूर्यने अपनी लाल धूप इन सबको उठा बाँटी हो ॥४६॥ देखो पार्वती! सब क्रिया जाननेवाले ये तपस्वी, पवित्र जलसे सूर्यको सन्ध्या समय अर्घ्य देकर बड़ी श्रद्धाके साथ अपनी आत्म-शुद्धिके लिये रहस्य-भरे गायत्री मंत्रका जप कर रहे हैं ॥४७॥ देखो मिठबोली !

तन्मुहूर्त्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ॥ ४८ ॥
निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा ।
शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥ ४९ ॥
ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुतस्थिवान्विधिम् ।
पार्वतीमवचनामसूयया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम् ॥ ५० ॥
मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने संध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया ।
किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ॥ ५१ ॥
निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्झिता ।
सेयमस्तमुदयं च सेवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम् ॥ ५२ ॥
तामिमां तिमिरवृद्धिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम् ।
एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव ॥ ५३ ॥
सान्ध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तलेखमपरा बिभर्ति दिक् ।
सांपरायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम् ॥ ५४ ॥
यामिनीदिवससन्धिसम्भवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा ।
एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते ॥ ५५ ॥
नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः ।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि ॥ ५६ ॥

अब साँझ हो चली है, इसलिये तुम भी मुझे थोड़ी देरको छुट्टी दे दो तो मैं भी सन्ध्या कर डालूं ।
उतनी देरतक मनबहलाव करनेमें चतुर तुम्हारी सखियाँ तुम्हारा मन बहलाती रहेंगी' ॥४८॥
यह सुनकर पार्वतीने महादेवकी बात अनसुनी-सी करके अपना ओठ बिचका दिया और पास
बैठी हुई विजयासे उन्होंने इधर-उधरकी बेसिर-पैरकी बातें छेड़ दीं ॥ ४९ ॥ मन्त्रोंके साथ अपनी
सन्ध्या पूरी करके महादेव फिर उन पार्वतीके पास आ पहुँचे जो चुप्पी साधकर मुँह फुलाए रूठी
बैठी थीं । महादेव उनसे मुस्कराते हुए कहने लगे ॥५०॥ 'बिना बातके क्रोध करनेवाली भामिनी !
देखो, क्रोध छोड़ो । मैं सन्ध्या करने ही तो गया था । सदा तुम्हारे ही साथ धर्मका काम करने-
वाले मुझको क्या तुम चकवेके जैसा सच्चा प्रेमी नहीं समझती ? ॥५१॥ देखो सुन्दरी ! ब्रह्माने
जब पितरोंको रचा था उस समय उन्होंने अपनी एक छोटी सी मूर्ति बना छोड़ी थी । वह मूर्ति
सूर्योदय और सूर्यास्तके समय सन्ध्याके रूपमें पूजी जाती है । इसलिये रूठनेवाली ! मैं भी
सन्ध्याका इतना आदर किया करता हूँ ॥५२॥ देखो पार्वती ! एक ओरसे बढ़ते हुए अन्धकारसे
घिरी हुई सन्ध्या इस समय ऐसी जान पड़ रही है मानो बहते हुए गेरूकी धाराके किनारे तमालके
पेड़ आ छाए हों ॥५३॥ और दूसरी ओर अस्त होनेसे बचे हुए सन्ध्या के प्रकाशकी लाल रेखा
पश्चिममें ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो युद्ध-भूमिमें टेढ़ा चलाया हुआ किसीका लहूभरा करवाल
हो ॥५४॥ देखो बड़ी-बड़ी आखोंवाली ! सूर्यास्त हो जानेसे रात और दिनका मेल करनेवाली
साँझका सब प्रकाश सुमेरू पर्वतके बीचमें आ जानेसे जाता रहा और अब यह घोर अँधेरा मनमाने
ढंगसे चारों ओर फैलता चला जा रहा है ॥५५॥ अँधेरा फैल जानेसे न तो इस समय ऊपर कुछ
दिखाई दे रहा है न आस-पास, न आगे-पीछे । इस रातके समय सारा संसार इस

शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत् ।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हृतान्तरम् ॥ ५७ ॥
नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये ।
पुण्डरीकमुखि पूर्वदिङ्मुखं केतकैरिव रजोभिराहतम् ॥ ५८ ॥
मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका ।
त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्ठतः ॥ ५९ ॥
रुद्धनिर्गमनमादिनक्षयात्पूर्वदृष्टतनु चन्द्रिकास्मितम् ।
एतदुद्गिरति चन्द्रमण्डलं दिग्रहस्यमिव रात्रिनोदितम् ॥ ६० ॥
पश्य पक्वफलिनीफलत्विषा बिम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा ।
विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनं विडम्बयते ॥ ६१ ॥
शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव ।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसंपुटैः कराः ॥ ६२ ॥
अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ ६३ ॥
पश्य पार्वति नवेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम् ।
लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः ॥ ६४ ॥

प्रकार अँधेरेसे आ घिरा है जैसे गर्भकी झिल्लीमें लिपटा हुआ बालक पड़ा हो ॥५६॥ इस अँधेरेमें, उजले और मैले, खड़े और चलते, सीधे और टेढ़े सब एक हो गए हैं। भाड़में जाय ऐसे दुष्टोंका राज, जहाँ भले-बुरे एक घाट उतारे जाते हों ॥५७॥ देखो कमलके समान मुखवाली! पूर्व दिशाका अगला भाग कुछ-कुछ ऐसा उजला दिखाई पड़ रहा है मानो केतकीके फूलका पराग उधर आ फैला हो। इससे यह निश्चय जान पड़ रहा है कि रातका अँधेरा दूर करनेके लिये चन्द्रमा निकले चले आ रहे हैं ॥५८॥ यद्यपि अभी चन्द्रोदय नहीं हुआ है फिर भी आकाशमें तारे निकल आए हैं इसलिये इस समय मन्दराचलके पीछे छिपे हुए चन्द्रमा इस तारोंवाली रातमें ठीक ऐसे लगते हैं जैसे मैं तुम्हारे पीछे आकर तुम लोगोंकी बात उस समय सुना करता हूँ जब तुम अपनी सखियोंके साथ बैठकर बातें करती होती हो ॥५९॥ जो चन्द्रमा दिनभर दिखाई नहीं देता था, वह इस समय निकला हुआ ऐसा लगता है मानों रातके कहनेसे यह चाँदनीके रूपमें मुसकराता हुआ पूर्व दिशाके सब भेद खोले दे रहा हो ॥६०॥ देखो पार्वती! यह उदय होता हुआ चन्द्रमा इस समय ऐसा लाल-लाल दिखाई पड़ रहा है जैसे प्रियंगुका फल हो। इस समय आकाशमें चन्द्रमा और तालाबके पानीमें पड़ी हुई चन्द्रमाकी परछाईं दोनों ऐसे लगते हैं मानो रात होनेसे चकवी-चकवेका जोड़ा दूर-दूर जा पड़ा हो ॥६१॥ चन्द्रमाकी निखरती हुई नई किरणें नये और कोमल जौके अँकुवोंके समान कोमल सी जान पड़ रही हैं। तुम चाहो तो अपने कन-फूल बनानेके लिये अपने नखोंकी कोरसे उन्हें तोड़ ले सकती हो ॥६२॥ इस समय कमल मुँद गए हैं और चाँदनी फैल जानेसे अँधेरा मिट गया है, इसलिये इस समय चन्द्रमा ऐसा लग रहा है मानो वह अपनी किरणरूपी नायिकाके मुँहपर फैले हुए अँधेरे-रूपी बालोंको हटाकर उसका मुँह चूमे ले रहा हो और रात भी उस चुम्बनका रस लेनेके लिये अपने कमल-रूपी नेत्र मूँदे बैठी हो ॥६३॥ देखो पार्वती! उठे हुए चन्द्रमाकी किरणोंसे घना अँधेरा मिट जानेपर आकाश ऐसा जान पड़ रहा है मानो हाथियोंकी जल-क्रीडासे गँदला किया हुआ मानसरोवर निर्मल हो चला हो ॥६४॥ अब चन्द्रमाका मण्डल

रक्तभावमपहाय चन्द्रमा जात एष परिशुद्धमण्डलः ।
विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥ ६५ ॥
उन्नतेषु शशिनः प्रभा स्थिता निम्नसंश्रयपरं निशातमः ।
नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गतिः ॥ ६६ ॥
चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिर्गिरिः ।
मेखलातरुषु निद्रितानमून्बोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥ ६७ ॥
कल्पवृक्षशिखरेषु संप्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि ।
हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्नुमागतकुतूहलः शशी ॥ ६८ ॥
उन्नतावनतभाववत्तया चन्द्रिका सतिमिरा गिरेरियम् ।
भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तहस्तिनः ॥ ६९ ॥
एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं वोढुमक्षममिव प्रभारसम् ।
मुक्तषट्पदविरावमञ्जसा भिद्यते कुमुदमानिबन्धनात् ॥ ७० ॥
पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम् ।
मारुते चलति चण्डिके बलाद्व्यज्यते विपरिवृत्तमंशुकम् ॥ ७१ ॥
शक्यमङ्गुलिभिरुत्थितैरधः शाखिना पतितपुष्पपेशलैः ।
पत्रजर्जरशशिप्रभालवैरेभिरुत्कचयितुं तवालकान् ॥ ७२ ॥

ललाई छोड़कर धीरे-धीरे उजला होने लगा है। ठीक भी है, क्योंकि जो निर्मल स्वभाववाले होते हैं उनमें यदि समयके फेरसे कभी कोई दोष आ भी जाता है तो वह बहुत दिनोंतक नहीं टिक पाता ॥६५॥ पर्वतोंकी चोटियोंपर तो चाँदनी फैल चुका है पर घाटियों और खड्ढोंमें अभी अँधेरा बना हुआ है। सचमुच ब्रह्माने गुण और दोपकी कुछ चाल ही ऐसी बनाई है कि गुण तो ऊँचेपर चढ़ा रहता है और दोष नीचे की ओर ढला चला जाता है ॥६६॥ चन्द्रमाकी किरणें पड़नेके कारण इस पर्वतके चन्द्रकान्त मणिकी चट्टानोंसे जलकी बूँदे टपकी पड़ रही हैं, इसलिये पर्वतकी ढालपर वृक्षोंकी छायामें सोए हुए मोर, इन बूँदोंको वर्षाकी बूँदे समझकर बिना वर्षा आए ही जाग खड़े हुए हैं ॥ ६७॥ देखो सुन्दरी ! इस समय कल्पवृक्षकी फुनगियोंपर चमकती हुई किरणोंको देखकर ऐसा जान पड़ रहा है मानो चन्द्रमा अपनी किरणोंके डोरोंसे कल्पवृक्षोंमें चन्द्रहार बनाने आ पहुँचा हो ॥६८॥ पहाड़के ऊँचे-नीचे होनेसे कहीं तो चाँदनी पड़ रही है और कहीं अँधेरा है। जिससे यह ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो किसी मतवाले हाथीपर अनेक प्रकारकी चित्रकारी कर दी गई हो ॥६९॥ यह जो भौंरोंकी गूँजसे भरा हुआ कुमुद खिला पड़ रहा है, बह ऐसा लगता है मानो इसने जो साँस ले-लेकर भरपेट चाँदनी पी ली थी उसे पचा न सकनेके कारण इसका पेट फट गया हो और यह कराह रहा हो ॥७०॥ देखो चण्डिके ! कल्पवृक्षमें लटके हुए कपड़ों और चन्द्रमाकी निर्मल किरणोंके एकसे होनेके कारण उनमें धोखा हो जाता है, पर वायुके चलनेपर जब कपड़े हिलने लगते हैं तब अपने आप पता चल जाता है कि यह कपड़ा ही है ॥७१॥ पत्तोंके बीचसे छनकर धरतीपर पड़नेवाली चाँदनी ऐसी सुन्दर और सुहावनी दिखाई दे रही है जैसे पेड़ोंसे झड़े हुए फूल हों, इसलिये तुम चाहो तो फूलोंके समान दिखाई पड़नेवाले इन चाँदनीके फूलोंसे ही तुम्हारे केश गूँथ दिए जायँ ॥७२॥ जैसे नई-नई बहू पहली बार संभोगके

एष चारुमुखि योग्यतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः ॥ ७३ ॥
पाकभिन्नशरकाण्डगौरयोरुल्लसत्प्रकृतिजप्रसादयोः।
रोहतीव तव गण्डलेखयोश्चन्द्रबिम्बनिहिताक्षिण चन्द्रिका ॥ ७४ ॥
लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥ ७५ ॥
आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः।
अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि मदः करिष्यति ॥ ७६ ॥
मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम्।
इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥ ७७ ॥
पार्वतीं तदुपयोगसम्भवां विक्रियामपि सतां मनोहराम्।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ॥ ७८ ॥
तत्क्षणं विपरिवर्तितह्रियोर्नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः।
सा बभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च ॥ ७९ ॥
घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दु मदकारणस्मितम्।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥ ८० ॥
तां विलम्बितपनीयमेखलामुद्वहञ्जघनभारदुर्वहाम्।
ध्यानसंभृतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः ॥ ८१ ॥

डरसे काँपती हुई अपने पतिके पास जाती है वैसे ही सुन्दरी ! ये टिमटिमाती हुई तरैयें भी काँपती हुई चन्द्रमाके पास चली जा रही हैं ।।७३।। देखो सुन्दरी ! तुम जो चन्द्रमाकी ओर टकटकी लगाए देख रही हो तो पके हुए सरकंडेके समान गोरे-गोरे और स्वाभाविक प्रसन्नतासे खिले हुए तुम्हारे गाल ऐसे लग रहे हैं मानो उनपर चाँदनी चढ़ी चली आ रही हो ।।७४।। लो, तुम्हें यहाँ बैठी देखकर लाल सूर्यकान्तमणिके प्यालेमें कल्पवृक्षकी मदिरा लिए हुए गन्धमादनकी वनदेवी अपने आप तुम्हारी आवभगत करने आ पहुँची हैं ।।७५।। तुम्हारी मतवाली आँखें भी स्वभावसे ही लाल हैं इसलिये मदिरा पीनेसे भी तुमपर कोई विशेष प्रभाव तो पड़ेगा नहीं ।।७६।। और फिर सखियोंका आग्रह टालना भी नहीं चाहिए, इसलिये लो, यह कामको उकसानेवाली मदिरा पी ही डालो। यह लुभावनी बात कहकर शंकरने बड़ी उदारतासे वह मदिरा पार्वतीको उठा पिलाई ।।७७।। जैसे वसन्तमें ब्रह्माकी कृपासे आमका पेड़ अधिक सुगन्धित होकर सहकार बन जाता है वैसे ही मदिरा पीनेसे पार्वतीका रूप कुछ ऐसा हो गया कि उनकी स्वाभाविक सुन्दरता और भी बढ़ गई ।।७८।। मदिरा पीनेसे सुन्दर मुखवाली पार्वती ऐसी मदमें चूर होकर शंकरकी गोदमें जा गिरीं कि उनकी लाज जाती रही, उनका काम बढ़ गया और उसी दशामें वे शयनागारमें ले जा पहुँचाई गईं ।।७९।। पार्वतीकी आँखें चंचलतासे नाचे जा रही थीं, मदके कारण मुँहसे सीधी बोली नहीं निकल पा रही थी, मुँहपर पसीनेकी बूँद झलकी पड़ रही थीं और बिना बातके ही वे हँस-हँस पड़ रही थीं। पार्वतीके उस मुखको भगवान् शंकर बिना चूमे ही बहुत देरतक अपनी आँखसे उनकी सुन्दरता पीते रहे ।।८०।। सोनेकी करधनी लटकाकर अपने भारी नितम्बोंके बोझसे धीरे-धीरे चलनेवाली पार्वतीको भगवान् शिव, मणिशिलाके

तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम् ।
अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥ ८२ ॥
क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ॥ ८३ ॥
केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु ।
तेन तत्प्रतिगृहीतवक्षसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम् ॥ ८४ ॥
स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम् ।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमङ्गलः ॥ ८५ ॥
तौ क्षणं शिथिलितोपगूहनौ दम्पती चलितमानसोर्मयः ।
पद्मभेदपिशुनाः सिषेविरे गन्धमादनवनान्तमारुताः ॥ ८६ ॥
ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः ।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥ ८७ ॥
स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधरम् ।
आकुलालकमरंस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम् ॥ ८८ ॥
तेन भिन्नविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम् ।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम् ॥ ८९ ॥

बने हुए उस सुनसान घरमें जा पहुँचे जहाँ सुखकी सभी सामग्रियाँ उनके सोचने भरसे उत्पन्न हो गई थीं ॥८१॥ जैसे रोहिणीके पति चन्द्रमा उजले बादलोंमें विश्राम करते-से जान पड़ते हैं वैसे ही उस शयनागारमें हंसके समान उजली चादरवाले और गंगातीरके समान मनोहर दिखाई देनेवाले पलँगपर भगवान् शंकर अपनी प्रियतमाके साथ जा लेटे ॥८२॥ दोनों एक दूसरेको हरानेपर तुले हुए थे, इसलिये उमा और शंकरने ऐसा संभोग किया कि दोनोंके केश छितरा गए, चन्दन पुँछ गया, नख-चिह्न भी इधरके उधर हो गए और पार्वतीकी करधनी भी टूट गई फिर जी पार्वतीके साथ संभोग करके शंकरका जी नहीं भरा ॥८३॥ पर रातके पिछले पहरमें जब तारे छिपने जा रहे थे तब केवल अपनी प्रियतमापर दया करके शंकरने उमाके हाथोंमें बँधे-बँधे ही सोनेके लिये अपनी आँखें मूँद ली ॥८४॥ और जब सुनहरे कमल खिलने लगे और वीणा-धारी गन्धर्व अलाप भरते हुए शंकरका मंगल-गान करने लगे, उस उषः-कालमें देवताओंके पूज्य शिवजी भी जाग उठे ॥८५॥ उस समय गन्धमादन वनका जो पवन मानसरोवरमें लहरियाँ उठाता हुआ मन्द-मन्द बह रहा था और जिसे छू जाने भरसे ही मानो कमल खिलते जा रहे थे, उस वायुका उन दोनोंने थोड़ी देर-तक अलग होकर आनन्द लिया ॥८६॥ वायुके झोंकेसे कपड़ा हट जानेसे पार्वतीकी नंगी जाँघोंपर जो नखोंके चिह्नोंकी पाँत दिखाई दे रही थी उसे एकटक होकर शिव देखते जा रहे थे और जब अपने उघड़े हुए कपड़ेको पार्वती ठीक करने चलीं तब शिवने झट उनका हाथ थाम लिया ॥८७॥ रातभर जागनेसे पार्वतीकी आँखें लाल हो चली थीं, ओठोंपर शिवके दाँतोंके घाव भरे पड़े थे, सँवारे हुए केश इधर-उधर छितरा गए थे और उनका तिलक भी पुँछ गया था। अपनी प्रियतमाका ऐसा सलोना मुख देखकर प्रेमी शंकर बड़े मगन हो उठे ॥८८॥ जिस पलँगपर वे सोए थे उसकी चादरमें सलवटें पड़ गई थीं, बिना डोरीवाली टूटी करधनी उसपर सिमटी

स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः ।
दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात् ॥ ९० ॥
समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शंभोः शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव ।
न तु सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥ ९१ ॥

॥ इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
उमासुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥

* * *

हुई पड़ी थी और उसपर कहीं-कहीं पाँवके महावरकी छाप भी जहाँ-तहाँ पड़ी हुई थी। वह पलँग महादेवको ऐसा प्यारा हो गया कि दिन निकल आनेपर भी उन्होंने पलँग छोड़नेका नाम न लिया ॥८९॥ सुख बढ़ानेवाले प्रियतमाके ओठोंका रस दिन-रात पीनेकी इच्छा करनेवाले शिवकी यह दशा हो गई कि यदि कोई उनके दर्शनको भी आता तो विजयासे सूचना पानेपर भी वे दर्शन देनेतकको बाहर न निकलते ॥९०॥ भगवान् शंकरने बराबर दिनरात पार्वतीके साथ संभोग करते हुए सैंकड़ों वर्ष ऐसे बिता दिए मानो केवल एक ही रात बीती हो। पर भगवान् शंकरका जी इतने संभोगसे भी उसी प्रकार नहीं भरा जैसे समुद्रके जलमें रहनेपर भी बडवानलकी प्यास कभी नहीं बुझ पाती ॥९१॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें शंकर-पार्वतीकी
काम-क्रीडाका वर्णन नामका आठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

* * *

।। नवमः सर्गः ।।

तथाविषेऽनङ्गरसप्रसङ्गे मुखारविन्दे मधुपः प्रियायाः ।
संभोगवेश्म प्रविशन्तमन्तर्ददर्श पारावतमेकमीशः ।। १ ।।
सुकान्तकान्तामणितानुकारं कूजन्तमाघूर्णितरक्तनेत्रम् ।
प्रस्फारितोन्नम्रविनम्रकण्ठं मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम् ।। २ ।।
विश्रृङ्खलं पक्षतियुग्ममीषद्दधानमानन्दगतिं मदेन ।
शुभ्रांशुवर्णं जटिलाग्रपादमितस्ततो मण्डलकैश्चरन्तम् ।। ३ ।।
रतिद्वितीयेन मनोभवेन ह्रदात्सुधायाः प्रविगाह्यमानात् ।
तं वीक्ष्य फेनस्य चयं नवोत्थमिवाभ्यनन्दत्क्षणमिन्दुमौलिः ।। ४ ।।
तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवश्छद्मविहंगमग्निम् ।
विचिन्तयन्संविविदे स देवो भ्रूभङ्गभीमश्च रुषा बभूव ।। ५ ।।
स्वरूपमास्थाय ततो हुताशस्त्रसन्वलत्कम्पकृताञ्जलिः सन् ।
प्रवेपमानो नितरां स्मराारिमिदं वचो व्यक्तमथाध्युवाच ।। ६ ।।
असि त्वमेको जगतामधीशः स्वर्गौकसां त्वं विपदो निहंसि ।
ततः सुरेन्द्रप्रमुखाः प्रभो त्वामुपासते दैत्यवरैर्विधूताः ।। ७ ।।
त्वया प्रियाप्रेमवशंवदेन शतं व्यतीये सुरतादृतूनाम् ।
रहःस्थितेन त्वदवीक्षणार्तो दैन्यं परं प्राप सुरैः सुरेन्द्रः ।। ८ ।।

नवाँ सर्ग

जिन दिनों पार्वतीके मुख-कमलपर भौंरेके समान लट्टू होकर शिव निरन्तर संभोग किए जा रहे थे उन्हीं दिनों एक बार शिव देखते क्या हैं कि जिस घरमें वे संभोग कर रहे थे उसीमें एक कबूतर भी कहींसे घुसा चला आया है ।।१।। यह कबूतर वैसे ही मीठे स्वरमें गुटर-गूँ किए जा रहा था जैसे संभोगके समय सुन्दरियाँ किया करती हैं । उसकी लाल-लाल आँखें इधर-उधर नाचे जा रही थीं । कभी तो वह अपना कंठ ऊँचे उठा लेता, कभी नीचे झुका लेता और रह-रहकर अपनी पूँछ सिकोड़े लेता चला जा रहा था ।।२।। चन्द्रमाके समान उजले रंगवाला वह कबूतर अपने पंजे समेटे हुए दोनों पंख खोले मस्ती से इधर-उधर उड़ता हुआ चक्कर काटे जा रहा था ।। ३ ।। उस कबूतरको देखकर तो शिव बड़े प्रसन्न हो उठे क्योंकि वह उन्हें ऐसा दिखाई दे रहा था मानो वह उस अमृत कुण्डकी नई फेनका पिंड हो जिसमें रतिके साथ कामदेवने डुबकी लगा-लगाकर नहाया हो ।। ४ ।। पर जब भगवान् शंकरने उसका रंग-ढंग कुछ देवताओंका-सा देखा तो उनका माथा ठनका और ध्यान लगाते ही वे ताड़ गए कि हो न हो अग्नि ही यह कपट वेश बनाकर यहाँ चला आया है । यह देखते ही क्रोधसे उनकी टेढ़ी भौहें बहुत डरावनी बनकर तन गईं ।। ५ ।। शिवका यह रूप देखकर तो अग्निने अपना सच्चा रूप बनाकर, दोनों काँपते हुए हाथ जोड़कर, डरसे अत्यन्त थरथराते हुए, सब बातें सच्ची-सच्ची कह सुनाईं–।। ६ ।। 'भगवन् ! संसारके आपही तो एक स्वामी हैं । आप ही स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंकी विपत्तियोंको मिटानेवाले हैं । प्रभो ! इसीलिये इन्द्र आदि देवता जब जब दैत्योंसे हारते हैं तब तब वे आपकी ही शरणमें आते हैं ।।७।। आपने अपनी प्रियाके प्रेममें सौ वर्ष तो संभोगमें ही बिता डाले और आप यहाँ ऐसे अकेलेमें आकर रहने लगे कि आपका दर्शन न पानेसे इन्द्र और दूसरे देवता लोग

त्वदीयसेवावसरप्रतीक्षैरभ्यर्थितः शक्रमुखैः सुरैस्त्वाम् ।
उपागतोऽन्वेष्टुमहं विहंगरूपेण विद्वन्समयोचितेन ॥ ९ ॥
इति प्रभो चेतसि संप्रधार्य तन्नोऽपराधं भगवन्क्षमस्व ।
पराभिभूता वद किं क्षमन्ते कालातिपातं शरणार्थिनोऽमी ॥ १० ॥
प्रभो प्रसीदाशु सृजात्मपुत्रं यं प्राप्य सेनान्यमसौ सुरेन्द्रः ।
स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभुतामवाप्य जगत्त्रयं पाति तव प्रसादात् ॥ ११ ॥
स शंकरस्तामिति जातवेदोविज्ञापनामर्थवतीं निशम्य ।
अभूत्प्रसन्नः परितोषयन्ति गीर्भिर्गिरीशा रुचिराभिरीशम् ॥ १२ ॥
प्रसन्नचेता मदनान्तकारः स तारकारेर्जयिनो भवाय ।
शक्रस्य सेनाधिपतेर्जयाय व्यचिन्तयच्चेतसि भावि किंचित् ॥ १३ ॥
युगान्तकालाग्निमिवाविषह्यं परिच्युतं मन्मथरङ्गभङ्गात् ।
रतान्तरेतः स हिरण्यरेतस्यथोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात् ॥ १४ ॥
अथोष्णबाष्पानिलदूषितान्तर्विशुद्धमादर्शमिवात्मदेहम् ।
बभार भूम्ना सहसा पुरारिरेतःपरिक्षेपकुवर्णमग्निः ॥ १५ ॥
त्वं सर्वभक्षो भव भीमकर्मा कुष्ठाभिभूतोऽनलधूमगर्भः ।
इत्थं शशापाद्रिसुता हुताशं रुष्टा रतानन्दसुखस्य भङ्गात् ॥ १६ ॥
दक्षस्य शापेन शशी क्षयीव प्लुष्टो हिमेनेव सरोजकोशः ।
वह्न्विरूपं वपुरुग्ररेतश्चयेन वह्निः किल निर्जगाम ॥ १७ ॥

सब बड़े घबरा उठे थे ॥८॥ भगवन् ! वे सभी इन्द्र आदि देवता अब आपके दर्शनके लिये बैठे आपकी बाट जोह रहे हैं। उन्हींके कहनेसे मैं आपको ढूँढते हुए इधर आ निकला था। मैंने पक्षीका रूप यही जानकर बना लिया कि इस समय आप संभोग कर रहे होंगे ॥९॥ इसलिये प्रभो ! मेरा अपराध आप क्षमा कीजिए। आप ही सोच देखिए कि शत्रुओंसे हारकर और अपमानित होकर आपकी शरणमें आए हुए देवता लोग भला कितने दिनोंतक मन मारे बैठे रह सकते थे ॥१०॥ इसलिये प्रभो ! आप प्रसन्न होकर शीघ्र ही अपने वीर्यसे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न कीजिए जिसे सेनापति बनाकर इन्द्र भगवान् फिरसे स्वर्ग-लोकके स्वामी बनकर आपकी कृपासे तीनों लोकोंका पालन करें' ॥११॥ अग्निकी सच्ची-सच्ची बात सुनकर शंकरका क्रोध ठंढा पड़ गया, क्योंकि जिन्हें बात करनेका ढंग आता है वे अपनी बातोंसे अपने स्वामियोंको रिझा ही लिया करते हैं ॥१२॥ तब कामदेवको जलानेवाले हँसमुख शंकरने ऐसा पुत्र उत्पन्न करनेका विचार किया जो तारक राक्षसको जीत सके और सेनापति बनकर इन्द्रको जिता सके ॥ १३ ॥ अपने वीर्यको ऊपर खींच रख सकनेवाले शंकरका जो अचूक वीर्य प्रलयकी आगके समान किसीसे सहा न जा सकनेवाला था वह संभोगके अंतमें निकलनेपर शंकरने अग्निको दे दिया ॥ १४ ॥ उसे लेते ही अग्निका उजला शरीर एकदम ऐसा धुँधला पड़ गया जैसे मुँहकी भापसे दर्पण धुँधला पड़ जाता है ॥ १५ ॥ उधर संभोगके सुखमें इस प्रकार बाधा पड़ जानेसे पार्वती भी आग-बगूला हो उठीं और उन्होंने आव देखा न ताब अग्निको शाप दे दिया—'जाओ, तुम आजसे पवित्र-अपवित्र सब वस्तुएँ खाया करोगे और संसारकी वस्तुओंको जलानेका भयानक काम किया करोगे, कोढ़ी हो जाओगे और सदा धुएँसे भरे रहोगे' ॥१६॥ महादेवका वीर्य लेनेसे अग्निका रूप ऐसा बिगड़ गया जैसे दक्षके शापसे

स पावकालोकरुषा विलक्षां स्मरत्रपास्मेरविनम्रवक्त्राम् ।
विनोदयामास गिरीन्द्रपुत्रीं शृङ्गारगर्भैर्मधुरैर्वचोभिः ॥ १८ ॥
हरो विकीर्णं घनघर्मतोयैर्नेत्राञ्जनाङ्कं हृदयप्रियायाः ।
द्वितीयकौपीनचलाञ्चलेनाहरन्मुखेन्दोरकलङ्किनोऽस्याः ॥ १९ ॥
मन्देन स्विन्नाङ्गुलिना करेण कम्पेन तस्या वदनारविन्दात् ।
परामृशन्घर्मजलं जहार हरः सहेलं व्यजनानिलेन ॥ २० ॥
रतिश्लथं तत्कबरीकलापमंसावसक्तं विगलत्प्रसूनम् ।
स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या स्रजा बबन्धामृतमूर्तिमौलिः ॥ २१ ॥
कपोलपाल्यां मृगनाभिचित्रपत्रावलीमिन्दुमुखः सुमुख्याः ।
स्मरस्य सिद्धस्य जगद्विमोहमन्त्राक्षरश्रेणिमिवोल्लिलेख ॥ २२ ॥
रथस्य कर्णावभि तन्मुखस्य ताटङ्कचक्रद्वितयं न्यधात्सः ।
जगज्जिगीषुर्विषमेषुरेष ध्रुवं यमारोहति पुष्पचापः ॥ २३ ॥
तस्याः स कण्ठे पिहितस्तनाग्रां न्यधत्त मुक्ताफलहारवल्लीम् ।
या प्राप मेरुद्वितयस्यमूर्ध्नि स्थितस्य गाङ्गौघयुगस्य लक्ष्मीम् ॥ २४ ॥
नखव्रणश्रेणिवरे बबन्ध नितम्बबिम्बे रशनाकलापम् ।
चलस्वचेतोमृगबन्धनाय मनोभुवः पाशमिव स्मरारिः ॥ २५ ॥

क्षय रोगवाले चन्द्रमाका रूप, या पालेसे मारे हुए कमलके कोशका रूप । वही रूप लेकर अग्नि वहाँसे बाहर निकल चले ।।१७।। अग्निने संभोगके समय ही अचानक उन्हें देख लिया था इसीलिये पार्वती क्रोधके मारे आपेसे बाहर हो गई थीं । काम और लाजके मारे अपनी झेंप मुस्कराहटमें छिपाती हुई और नीचा मुँह किए बिगड़ी बैठी हुई पार्वतीको प्रेम-भरे मीठे वचनोंसे शंकर भगवान् मनाने-बहलाने लगे ।।१८।। पसीनेकी घनी बूँदोंके कारण पार्वतीकी आँखोंका आँजन उनके मुँहपर इधर-उधर आ फैला था । शंकरकी प्राणप्रियाके मुखचन्द्रपर वे आँजनके चिह्न ऐसे लग रहे थे मानो वे चंद्रमाके कलंक हों । महादेवने झट वह फैला हुआ आँजन अपने कन्धेके कौपीनके आंचलसे पोंछ डाला ।।१९।। अपनी गीली उँगलियोंवाले हाथोंको पंखेके समान झलकर शिवने धीरे-धीरे पार्वतीके मुख-कमलका सारा पसीना सुखा डाला ।।२०।। संभोगके समय जूड़ा खुल जानेसे पार्वतीके बाल छितरा गए थे और जूड़ेमें लगे हुए सब फूल भी निकल बिखरे थे । उस जूड़ेको महादेवने फिरसे पारिजातके फूलोंकी मालासे बाँध सँवारा ।।२१।। चंद्रके समान मुखवाले शंकरने सुंदर मुखवाली पार्वतीके जो गाल कस्तूरीके लेपसे चीत दिए उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ा मानो वह चित्रकारी भी सिद्ध कामदेवके हाथोंसे लिखे हुए वे मंत्र हों जिनसे वह संसारको वशमें कर लिया करता है ।।२२।। शंकरने पार्वतीके दोनों कानोंमें जो दो गोल कनफूल ला पहनाए उनसे उनका मुख ऐसा सुन्दर लगने लगा मानो यह कामदेवका ऐसा रथ हो जिसपर बैठकर वह तीनों लोकोंको जीतने निकला हो और ये दोनों कनफूल उस रथके दोनों पहिए हों ।।२३।। शंकरने पार्वतीके गलेमें जो मोतियोंका हार ला पहनाया वह उनके स्तनोंकी घुंडियोंको छूकर छातीपर लटका हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो दो सुमेरु पर्वतोंकी चोटियोंसे गंगाकी दो धाराएँ गिरी पड़ रही हों ।।२४।। शंकरने पार्वतीके उन नितम्बोंपर करधनी उठा पहनाई जिनपर उनके हाथोंसे बने हुए नखोंके चिह्न चमक रहे थे । वह करधनी ऐसी लगती थी मानो कामदेवने अपने चञ्चल चित्त-रूपी मृगको बाँधनेके लिये फन्दा लगा दिया

भालेक्षणाग्नौ स्वयमञ्जनं स भङ्क्त्वा दृशोः साधु निवेश्य तस्याः ।
नवोत्पलाक्ष्याः पुलकोपगूढे कण्ठे विनीलेऽङ्गुलिमुज्जघर्ष ॥ २६ ॥
अलक्तकं पादसरोरुहाग्रे सरोरुहाक्ष्याः किल संनिवेश्य ।
स्वमौलिगङ्गासलिलेन हस्तारुणत्वमक्षालयदिन्दुचूडः ॥ २७ ॥
भस्मानुलिप्ते वपुषि स्वकीये सहेलमादर्शतलं विमृज्य ।
नेपथ्यलक्ष्म्याः परिभावनार्थमदर्शयज्जीवितवल्लभां सः ॥ २८ ॥
प्रियेण दत्ते मणिदर्पणे सा संभोगचिह्नं स्ववपुर्विभाव्य ।
त्रपावती तत्र घनानुरागं रोमाञ्चदम्भेन बहिर्बभार ॥ २९ ॥
नेपथ्यलक्ष्मीं दयितोपक्लृप्तां सस्मेरमादर्शतले विलोक्य ।
अमँस्त सौभाग्यवतीषु धुर्यामात्मानमुद्धूतविलक्षभावा ॥ ३० ॥
अन्तः प्रविश्यावसरेऽथ तत्र स्निग्धे वयस्ये विजया जया च ।
सुसंपदोपाचरतां कलानामङ्के स्थितां तां शशिखण्डमौलेः ॥ ३१ ॥
व्यधुर्बहिर्मङ्गलगानमुच्चैर्वैतालिकाश्चित्रचरित्रचारु ।
जगुश्च गन्धर्वगणाः सशङ्खस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः ॥ ३२ ॥
ततः स्वसेवावसरे सुराणां गणाँस्तदालोकनतत्पराणाम् ।
द्वारि प्रविश्य प्रणतोऽथ नन्दी निवेदयामास कृताञ्जलिः सन् ॥ ३३ ॥
महेश्वरो मानसराजहंसीं करे दधानस्तनयां हिमाद्रेः ।
संभोगलीलालयतः सहेलं हरो बहिस्तानभि निर्जगाम ॥ ३४ ॥

हो ।।२५।। उन्होंने अपने ललाटमें जलनेवाले नेत्रसे स्वयं आँजन पाकर नये कमल-जैसी आँखोंवाली पार्वतीके नयनोंमें काजल लगा दिया और फिर उँगलीमें लगा हुआ आँजन पोंछनेके लिये वह उँगली अपने नीले कंठमें उठा रगड़ी ।।२६।। तब उन कमलनयनी पार्वतीके चरणकमलके पंजोंमें शंकरने महावर लगाकर अपने सिरपर बहती हुई गंगाकी धारामें अपने हाथका रंग धो डाला ।।२७।।यह सब करके बड़े मगन होकर उन्होंने अपने भस्म लगे हुए शरीरपर दर्पण रगड़कर पोंछा और फिर अपनी प्राण-प्यारीको सिंगारकी सजावट दिखानेके लिये वह दर्पण उनके आगे उठा बढ़ाया ।।२८।। शंकरके हाथसे दिखाए हुए उस दर्पणमें अपने शरीरपर बने हुए संभोगके चिह्न देखनेसे उन्हें लाजके मारे जो रोमांच हो आया उसीसे उन्होंने जतला दिया कि मैं शंकरसे कितना प्रेम करती हूँ ।।२९।। अपने प्यारे पतिके हाथसे किए हुए सिंगारकी शोभा जव उन्होंने दर्पणमें देखी तो वे मुस्करा उठीं और सब क्रोध छोड़कर ऐसी प्रसन्न हो उठीं कि वे अपनेको संसारकी सब सौभाग्यवती स्त्रियोंमें सबसे बढ़कर समझने लगीं ।३०।। जब जया और विजया नामकी सखियोंने देखा कि अब ठीक अवसर है, तब वे झट भीतर जा पहुँची और शंकरकी गोदमें बैठी हुई पार्वतीका शृंगार करनेमें जा जुटीं ।।३१।। उसी समय शंकरको प्रसन्न करनेके लिये चारणोंने उनके सुन्दर चरित्रके मनोहर मंगल गीत गाने प्रारम्भ कर दिए और गन्धर्व लोग भी शंख बजा-बजाकर अलापने लगे ।।३२।। महादेवकी सेवा करनेका ठीक अवसर जानकर नन्दी भी भीतर जा पहुँचे और उन्होंने शंकरसे निवेदन किया कि देवता लोग आपके दर्शनके लिये बाहर आए खड़े हैं ।।३३।। यह सुनकर अपनी प्राण-प्यारीके हाथमें हाथ डाले भगवान् शंकर देवताओंसे मिलनेके लिये उस सम्भोग-घरसे बाहर निकले चले आए ।।३४।। आते ही

क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः प्रणेमुः शिरोनिबद्धाञ्जलयो महेशम् ।
प्रालेयशैलाधिपतेस्तनूजां देवीं च लोकत्रयमातरं ते ॥ ३५ ॥
यथागतं तान्विबुधान्विसृज्य प्रसाद्य मानक्रियया प्रतस्थे ।
स नन्दिना दत्तभुजोऽधिरुह्य वृषं वृषाङ्कः सह शैलपुत्र्या ॥ ३६ ॥
मनोतिवेगेन ककुद्मता स प्रतिष्ठमानो गगनाध्वनोऽन्तः ।
वैमानिकैः साञ्जलिभिर्ववन्दे विहारहेलागतिभिर्गिरीशः ॥ ३७ ॥
स्ववर्वाहिनीवारिविहारचारी रतान्तनारीश्रमशान्तिकारी ।
तौ पारिजातप्रसवप्रसङ्गो मरुत्सिषेवे गिरिजागिरीशौ ॥ ३८ ॥
पिनाकिनापि स्फटिकाचलेन्द्रः कैलासनामा कलिताम्बरांशः ।
धृतार्द्धसोमोऽद्भुतभोगिभोगो विभूतिधारी स्व इव प्रपेदे ॥ ३९ ॥
विलोक्य यत्र स्फटिकस्य भित्तौ सिद्धाङ्गनाः स्वं प्रतिबिम्बमारात् ।
भ्रान्त्या परस्या विमुखीभवन्ति प्रियेषु मानग्रहिला नमत्सु ॥ ४० ॥
सुबिम्बितस्य स्फटिकांशुगुप्तेश्चन्द्रस्य चिह्नप्रकरः करोति ।
गौर्यार्पितस्येव रसेन यत्र कस्तूरिकायाः शकलस्य लीलाम् ॥ ४१ ॥

इन्द्र आदि देवताओंने धीरे-धीरे बारी-बारीसे शिवको तथा तीनों लोकोंकी माता पार्वतीको हाथ जोड़कर और सिर नवाकर प्रणाम किया ॥३५॥ शंकरने सब देवताओंका सम्मान करके उन्हें प्रसन्न किया और विदा कर दिया। तब नन्दीके हाथके सहारे पार्वतीके साथ बैलपर चढ़कर वे स्वयं वहाँसे चल पड़े ॥ ३६ ॥ मनसे भी अधिक वेगसे चलनेवाले उस बैलपर चढ़कर जब वे आकाश-मार्गको चले जा रहे थे तब जो देवता लोग अपने-अपने विमानोंपर चढ़-चढ़कर आकाशमें घूम रहे थे उन सबने शिवको हाथ जोड़ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ३७ ॥ उस समय आकाश-गंगाके जलकी फुहारोंसे शीतल, पारिजातके फूलोंमें बसे हुए और संभोगसे थकी हुई नारीकी थकावट मिटानेवाले पवनने आकर शंकर और पार्वतीकी बहुत सेवा की ॥ ३८ ॥ यों चलते-चलते भगवान् शंकर स्फटिकके बने हुए पर्वतोंमें श्रेष्ठ कैलासपर जा पहुँचे। यह पहाड़ देखनेमें शंकरके समान ही लगता था क्योंकि अपने बड़प्पनसे शंकर सारे आकाशमें व्याप्त हैं और कैलासके भी चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है, इसलिये दोनों ही आकाशसे सजे हुए हैं। सोम कहलानेवाले भगवान् शंकर इस पर्वतपर रहते हैं और सोम कहलानेवाला चन्द्रमा महादेवके माथेपर रहता है। इसीलिये दोनों ही सोमको धारण करनेवाले हैं। इस पर्वतपर भोगी या कामी तो आकर अनूठा संभोग किया करते हैं और महादेवपर भोगी (साँप) अनूठे ढंगसे लिपटे रहते हैं। इसलिये दोनों ही अनूठे भोगीवाले हैं। इस पर्वतपर बहुत विभूति (रत्नमणि) आदि पाई जाती है और महादेवके शरीरपर विभूति (भस्म) है, इसलिये दोनों ही विभूतिवाले भी हैं ॥ ३९ ॥ जब सिद्धोंकी स्त्रियाँ अपने पतियोंके साथ कैलास पर्वतकी स्फटिककी दीवारोंके पास पहुँचकर अपनी परछाईं देखतीं हैं तो उन्हें यह धोखा हो जाता है कि हमारे पति किसी दूसरी स्त्रीको तो साथ नहीं लिए हुए हैं। फल यह होता है कि अपने पतियोंके मनाते रहनेपर भी वे रूठीकी रूठी ही रहती हैं ॥४०॥ जब उस स्फटिकके से कैलासपर चन्द्रमाकी सुन्दर परछाहीं पड़ती है तब चन्द्रमाके कलंककी छाया तो दिखाई पड़ती है पर चन्द्रमाकी चाँदनी उसीमें मिल जाती है। वह कलंककी छाया ऐसी लगती है मानो पार्वतीने कस्तूरी पीसकर और उसकी पिंडी बनाकर वहाँ ला छापी हो ॥४१॥ इसी

यदीयभित्तौ प्रतिबिम्बिताङ्गमात्मानमालोक्य रुषा करीन्द्राः ।
मत्तान्यकुम्भिभ्रमतोऽतिभीमदन्ताभिघातव्यसनं वहन्ति ॥ ४२ ॥
निशासु यत्र प्रतिबिम्बितानि ताराकुलानि स्फटिकालयेषु ।
दृष्ट्वा रतान्तच्युततारहारमुक्ताभ्रमं बिभ्रति सिद्धवध्वः ॥ ४३ ॥
नभश्चरीमण्डनदर्पणश्रीः सुधानिधिर्मूर्द्धनि यस्य तिष्ठन् ।
अनर्घ्यचूडामणितामुपैति शैलाधिनाथस्य शिवालयस्य ॥ ४४ ॥
समीयिवांसो रहसि स्मरार्ता रिरंसवो यत्र सुराः प्रियाभिः ।
एकाकिनोऽपि प्रतिबिम्बभाजो विभान्ति भूयोभिरिवान्विताः स्वैः ॥४५॥
देवोऽपि गौर्या सह चन्द्रमौलिर्यदृच्छया स्फाटिकशैलशृङ्गे ।
शृङ्गारचेष्टाभिरनारताभिर्मनोहराभिर्व्यहरच्चिराय ॥ ४६ ॥
देवस्य तस्य स्मरसूदनस्य हस्तं समालिङ्ग्य सुविभ्रमश्रीः ।
सा नन्दिना वेत्रभृतोपदिष्टमार्गा पुरोगेण कलं चचाल ॥ ४७ ॥
चलच्छिखाग्रो विकटाङ्गभङ्गः सुदन्तुरः शुक्लसुतीक्ष्णतुण्डः ।
भ्रुवोपदिष्टः स तु शंकरेण तस्या विनोदाय ननर्त भृङ्गी ॥ ४८ ॥
कण्ठस्थलीलोलकपालमाला दंष्ट्राकरालाननमभ्यनृत्यत् ।
प्रीतेन तेन प्रभुणा नियुक्ता काली कलत्रस्य मुदे प्रियस्य ॥ ४९ ॥
भयङ्करौ तौ विकटं नदन्तौ विलोक्य बाला भयविह्वलाङ्गी ।
सरागमुत्सङ्गमनङ्गशत्रोर्गाढं प्रसह्य स्वयमालिलिङ्ग ॥ ५० ॥

पर्वतकी भीतोंपर अपने अङ्गोंकी छाया देखकर मतवाले हाथी उन्हें दूसरे मतवाले हाथी समझकर क्रोधमें भरकर अपने दाँतोंसे उनपर करारी टक्करें मारने लगते हैं ॥४२॥ यहाँके स्फटिकके बने हुए भवनोंपर जब तारोंकी परछाहीं पड़ती है तब सिद्धोंकी स्त्रियोंको यह धोखा होने लगता है कि ये कहीं संभोगके समय छूटकर गिरे हुए मोतियोंके दाने तो नहीं हैं ॥४३॥ अप्सराओंके दर्पणके समान सुन्दर लगनेवाला चन्द्रमा जब इस कैलासकी चोटीपर आ पहुँचता है तब यह उस हिमालयका अनमोल चूड़ामणि-सा लगने लगता है जिसपर शिव निवास किया करते हैं ॥४४॥ कामसे पीडित देवता लोग अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर जब यहाँ एकान्तमें बिहार करने आते हैं तब स्वयं अकेले होनेपर भी अनेक परछाइयाँ पड़नेके कारण उन्हें ऐसा जान पड़ता है मानो हमारे बहुतसे रूप हो गए हों ॥४५॥ उसी सुन्दर कैलासकी स्फटिककी चोटीपर शंकरने भी पार्वतीके साथ बहुत दिनोंतक लगातार जी भरकर अनेक प्रकारकी काम-क्रीडाएँ कीं ॥४६॥ अपनी रसीली चटक-मटकसे जी लुभानेवाली पार्वती भी शंकरके हाथमें हाथ लिए हुए उन पथोंपर घूमा करती थीं जहाँ हाथमें बेंतका डण्डा लिए हुए नन्दी उन्हें आगे-आगे मार्ग बताता चलता था ॥४७॥ शंकरकी भौंहोंका संकेत पाकर बड़े-बड़े दाँतोंवाले, लहराती हुई चोटीवाले, टेढ़े-मेढ़े अंगोंवाले और उजले बेढंगे मुँहवाले भृंगीने पार्वतीका मन बहलानेके लिये बड़ा नाच दिखलाया ॥४८॥ हँसमुख दिखाई पड़नेवाले शंकरकी आज्ञा पाकर हिलती हुई खोपड़ियोंकी माला कण्ठमें पहननेवाली कालिकाने भी अपने डरावने दाँतोंवाला मुँह बना-बनाकर अपने स्वामीकी प्यारीका मन बहलानेके लिये बहुत नाच दिखलाया ॥४९॥ इस प्रकार विकट रूपसे भयंकर शब्द करते हुए भृङ्गी और कालीको देखते ही पार्वतीकी इस घबराहटमें उनके उठे हुए और मोटे-मोटे

उत्तुङ्गपीनस्तनपिण्डपीडं ससंभ्रमं तत्परिरम्भमीशः ।
प्रपद्य सद्यः पुलकोपगूढः स्मरेण रूढप्रमदो ममाद ॥ ५१ ॥
इति गिरितनुजाविलासलीलाविविधविभङ्गिभिरेषतोषितः सन्।
अमृतकरशिरोमणिर्गिरीन्द्रे कृतवसतिर्वशिभिर्गणैर्ननन्द ॥ ५२ ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
कैलासगमनो नाम नवमः सर्गः ॥

स्तन अपनी छातीपर लगते ही शंकर मगन हो उठे और उनके मनमें इतना काम उत्पन्न हो गया कि वे प्रेममें मतवाले हो उठे ॥५१॥ इस प्रकार पार्वतीकी अनेक हाव-भाव-भरी लीलाओं और अनेक प्रकारके संभोगसे सन्तुष्ट होकर भगवान् शंकर अपने साथ कैलासपर रहनेवाले गणोंके साथ बड़े प्रसन्न होकर रहने लगे ॥५२॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें कैलास-गमन
नामका नवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ दशमः सर्गः ॥

आससाद सुनासीरं सदसि त्रिदशैः सह । एष त्र्यम्बकं तीव्रं वहन्वह्निर्महन्महः ॥१॥
सहस्रेण दृशामीशः कुत्सिताङ्गं च सादरम् । दुर्दर्शनं ददर्शाग्निं धूम्रधूमितमण्डलम् ॥२॥
दृष्ट्वा तथाविधं वह्निमिन्द्रः क्षुब्धेन चेतसा । व्यचिन्तयच्चिरं किञ्चित्कन्दर्पद्वेषिरोषजम् ॥३॥
स विलक्ष्यमुखैर्देवैर्वीक्ष्यमाणः क्षणं क्षणम् । उपाविशत्सुरेन्द्रेणादिष्टं सादरमासनम् ॥४॥
हव्यवाह त्वयासादि दुर्दशेयं दशा कुतः । इति पृष्टः सुरेन्द्रेण स निःश्वस्य वचोऽवदत् ॥५॥
अनतिक्रमणीयात्ते शासनात्सुरनायक । पारावतं वपुः प्राप्य वेपमानोऽतिसाध्वसात् ॥६॥
अभिगौरि रतासक्तं जगामाहं महेश्वरम् । कालस्येव स्मराराते: स्वं रूपमहमासदम् ॥७॥
दृष्ट्वा छद्मविहङ्गं मां सुज्ञो विज्ञाय जम्भभित् । ज्वलद्भालानले होतुं कोपतो माममन्यत ॥८॥
वचोभिर्मधुरैः सार्थैर्विनम्रेण मया स्तुतः । प्रीतिमानभवद्देवः स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ॥९॥
शरण्यः सकलत्राता मामत्रायत शंकरः । क्रोधाग्नेर्ज्वलतो ग्रासात्त्रासतो दुर्निवारतः ॥१०॥
परिहृत्य परीरम्भरभसं दुहितुर्गिरेः । कामकेलिरसोत्सेकाद्व्रीडया विरराम सः ॥११॥
रङ्गभङ्गच्युतं रेतस्तदामोघं सुदुर्वहम् । त्रिजगद्दाहकं सद्यो मद्विग्रहमधि न्यधात् ॥१२॥
दुर्विषह्येण तेनाहं तेजसा दहनात्मना । निर्दग्धमात्मनो देहं दुर्वहं वोढुमक्षमः ॥१३॥

दसवाँ सर्ग

शंकरके उस खौलते हुए वीर्यको लेकर अग्निदेव उस सभामें जा पहुँचे, जहाँ देवताओंके साथ इन्द्र बैठे हुए थे ॥१॥ इन्द्रने अपनी सहस्रों आँखोंसे उन अग्निदेवकी ओर बड़े आदरके साथ देखा जिनके सब अंग बेढंगे, भद्दे और धुएँसे काले पड़ गए थे ॥२॥ अग्निका यह रूप देखकर तो इन्द्र बड़े दुखी हो उठे और थोड़ी देर सोचते ही वे समझ कि शंकरके क्रोधसे ही अग्निदेवकी यह दशा हुई है ॥३॥ जिन अग्निदेवकी ओर सब देवता बड़े दुखी होकर बराबर देख रहे थे उन्हें इन्द्रने संकेतसे एक आसनपर बुलाकर बैठा दिया ॥४॥ और उन्होंने अग्निदेवसे पूछा—'कहिए ! आपकी यह दुर्दशा हो कैसे गई ?' तब लम्बी साँस लेकर अग्निदेव कहने लगे—॥५॥ 'देवेन्द्र ! आपकी अटल आज्ञासे मैं कबूतर बनकर बहुत डरता-डरता जब महादेवके पास पहुँचा तब वे पार्वतीके साथ संभोग कर रहे थे। मुझे पहचानते ही जब वे क्रोधके मारे महाकालके समान भयंकर हो गए, तब मैंने कबूतरका रूप छोड़कर डरके मारे अपना सच्चा रूप खोल दिखाया ॥६-७॥ इन्द्रदेव ! मुझे पक्षीके कपट वेषमें देखकर सब कुछ जाननेवाले शंकरको क्रोध तो ऐसा आया था कि वे मुझे अपने ललाटकी जलती हुई आगमें ही झोंक देते ॥८॥ पर जब मैंने बहुत गिड़गिड़ाकर बड़े अर्थ-भरे मीठे शब्दोंमें उनकी बहुत स्तुति की तब वे पिघल गए, क्योंकि अपनी प्रशंसा भला किसे नहीं अच्छी लगती यह तो आप जानते ही हैं कि शंकरकी शरण में जो पहुँच जाता है उसकी और सारे जगत्की तो वे रक्षा करते ही हैं। इसलिये उनके क्रोधकी जिस जलती हुई आगसे कोई बच नहीं पा सकता उसकी मैं आहुति बनते-बनते बच गया ॥१०॥ उन्होंने झट पार्वतीके कसकर बँधे हुए हाथोंसे अपनेको छुड़ा लिया और लज्जाके कारण, सम्भोगके सुखकी इच्छा छोड़कर वे हट गए ॥११॥ संभोगके बीचमें ही रंग में भंग होनेसे उनका जो तीनों लोकोंको जलानेवाला और किसीसे भी सह्य न जा सकनेवाला अचूक वीर्य निकला, वह उन्होंने मेरे शरीरमें उठा डाला ॥१२॥ अब उस असह्य जलते हुए तेजसे मैं इतना जला जा रहा हूँ कि मुझे अपना शरीर सँभाल पाना भी दूभर हो रहा है

रौद्रेण वह्यमानस्य महसातिमहीयसा । मम प्राणपरित्राणप्रगुणो भव वासव ॥१४॥
इति श्रुत्वा वचो वह्नेः परितापोपशान्तये। हेतुं विचिन्तयामास मनसा विबुधेश्वरः॥१५॥
तेजोदग्धानि गात्राणि पाणिनास्य परामृशन्। किंचित्कृपीटयोनिं तं दिवस्पतिरभाषत॥१६॥
प्रीतः स्वाहास्वधाहन्तकारैः प्रीणयसे स्वयम्। देवान्पितॄन्मनुष्यांस्त्वमेकस्तेषां मुखं यतः।१७॥
त्वयि जुह्वति होतारो हवींषि ध्वस्तकल्मषाः। भुञ्जन्ति स्वर्गमेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हि कारणम्१८
हवींषि मन्त्रपूतानि हुताश त्वयि जुह्वतः। तपस्विनस्तपः सिद्धिं यान्ति त्वं तपसां प्रभुः॥१९॥
निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिवर्षति। ततोऽन्नानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता॥२०॥
अन्तश्चरोऽसि भूतानां तानि त्वत्तो भवन्ति च। ततो जीवितभूतस्त्वं जगतः प्राणदोऽसि च।२१॥
जगतः सकलस्यास्य त्वमेकोऽस्युपकारकृत्। कार्योपपादने तत्र त्वत्तोऽन्यः कः प्रगल्भते॥२२॥
अमीषां सुरसंघानां त्वमेकोऽर्थसमर्थने । विपत्तिरपि संश्लाघ्योपकारव्रतिनोऽनल ॥२३॥
देवी भागीरथी पूर्वं भक्त्यास्माभिः प्रतोषिता। निमज्जतस्तवोदीर्णं तापं निर्वापयिष्यति।२४॥
गङ्गां तद्गच्छ मा कार्षीर्विलम्बं हव्यवाहन। कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये क्षिप्रकारिता॥२५॥
शंभोरम्भोमयी मूर्तिः सैव देवी सुरापगा। त्वत्तः स्मरद्विषो बीजं दुर्धरं धारयिष्यति॥२६॥

जला जा रहा है इसलिये
॥१३॥ इन्द्रदेव ! महादेवके इस अत्यन्त प्रचंड तेजसे मेरा सारा शरीर
अब जैसे भी हो वैसे मेरे प्राण बचानेका यश ले लीजिए' ॥१४॥ अग्निदेवकी ये बातें सुनकर देव-
राज इन्द्र अपने मनमें कोई ऐसा उपाय सोचने लगे जिससे अग्निकी जलन मिट जा सके ॥१५॥
महादेवके तेजसे जलते हुए अग्निके अंगोंपर हाथ फेरते हुए इन्द्र बोले —॥१६॥ 'देखो अग्निदेव !
जब हवन करनेवाले होता लोग स्वाहा, स्वधा और वषट् कहकर हवन करते हैं उस समय तुम
प्रसन्न होकर देवों, पितरों और मनुष्योंको प्रसन्न करते हो, क्योंकि तुम्हारे ही मुखसे तो सबको
अपना-अपना भाग मिलता है ॥१७॥ होता लोग तुममें हवन करके पापसे छूटकर स्वर्गलोकमें
सुख जा भोगते हैं । वे केवल एक तुम्हारे ही सहारे तो स्वर्गतक पहुँच पाते हैं ॥१८॥ देखो अग्नि-
देव ! यज्ञ करनेवाले तपस्वी लोग मन्त्र पढ़कर जो तुम्हें आहुति देते हैं, उससे वे अपनी तपस्याका
पूरा फल पा जाते हैं क्योंकि तपके देवता भी तो तुम्हीं हो ॥१९॥ उधर सूर्यके लिये जो आहुति
दी जाती है उसे जब तुम धरोहरकी भाँति लेकर फिर वह उन्हें दे देते हो तब सूर्य उसे बादल
बनाकर धरतीपर बरसा देते हैं, जिससे अन्न पैदा होता है और फिर उसी अन्नसे संसारके प्राणियोंका
पेट पलता है। इस प्रकार सारे संसारके पिता भी तुम्हीं तो हो ॥२०॥ देखो अग्निदेव ! सब
प्राणियोंके भीतर भी तुम्हीं तुम रहते हो और वे सब तुम्हींसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये संसारको
जीवन और प्राण देनेवाला कोई है तो तुम्हीं हो ॥२१॥ इस समूचे संसारका भला करनेवाला कोई
है तो एक तुम्हीं तो हो, इसलिये ऐसी साँसतका काम तुम्हें छोड़कर और कौन सहन ही कर सकता
है? ॥२२॥ अग्निदेव ! तुम्हीं तो एक ऐसे हो जो देवताओंका काम साध सकते हो। देखो ! दूसरोंकी
भलाई करनेका जो बीड़ा उठा लेते हैं और उसके कारण वे जो कष्ट सहते हैं वह भी बड़े गौरव
और बड़ाईकी बात होती है ॥२३॥ देखो ! हम लोगोंने पहलेसे ही बहुत हाथ-पैर जोड़कर गंगाको
प्रसन्न कर लिया है। बस, ज्योंही तुम उनकी धारामें स्नान करोगे त्योंही वे इस घोर जलनको
शान्त कर देंगी ॥२४॥ इसलिये अग्निदेव ! तुम झटपट गंगाके पास चले जाओ, देर न करो। जिस
कामको पूरा करनेकी बात जीमें ठान ली जाय उसे पूरा करनेमें देर नहीं करनी चाहिए ॥२५॥
देखो ! गंगा तो शंकरकी ही जलवाली मूर्ति हैं। वे उनके तेजस्वी वीर्यको तुमसे लेकर अवश्य
अपनेमें रख लेंगी' ॥२६॥ इतना कहकर इन्द्र जब चुप हो गये तब अग्निदेव उनसे विदा होकर

इत्युदीर्य शुनासीरो विरराम स चानलः।तद्विसृष्टस्तमापृच्छ्य प्रतस्थेस्वर्धुनीमभि ॥२७॥
हिरण्यरेतसा तेन देवी स्वर्गतरङ्गिणी। तीर्णाध्वना प्रपेदे सा निःशेषक्लेशनाशिनी॥२८॥
स्वर्गारोहणनिःश्रेणिमोक्षमार्गाधिदेवता। उदारदुरितोद्गारहारिणी दुर्गतारिणी ॥२९॥
महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी। सगरान्वयनिर्वाणकारिणी धर्मधारिणी ॥३०॥
विष्णुपादोदकोद्भूता ब्रह्मलोकादुपागता।त्रिभिः स्रोतोभिरश्रान्तं पुनाना भुवनत्रयम्॥३१॥
जातवेदसमायान्तमूर्मिहस्तैः समुत्थितैः। आजुहावार्थसिद्धचै तं सुप्रसादधरेव सा ॥३२॥
संमिलद्भिर्मरालैः साकलंकूजद्भिरुन्मदैः।ददे श्रेयांसि दुःखानि निहन्मीतितमभ्यधात्॥३३॥
कल्लोलैरुद्गतैरर्वाचीनं तटमभिद्रुतैः। प्रीतेव तमभीयाय स्वर्धुनी जातवेदसम् ॥३४॥
अथाभ्युपेतस्तापार्तो निममज्जानलः किल।विपदा परिभूताः किं व्यवस्यन्ति विलम्बितुम् ३५।
गङ्गावारिणि कल्याणकारिणि श्रमहारिणि। स मग्नो निर्वृतिं प्राप पुण्यभारिणि तारिणि।३६।
तत्र माहेश्वरं धाम संचक्राम हविर्भुजः। गङ्गायामुत्तरंगायामन्तस्तापविपद्धृति ॥३७॥
कृशानुरेतसो रेतस्यादृते सरिता तया। निश्चक्राम ततः सौख्यं हव्यवाहो वहन्बहु ॥३८॥
सुधासारैरिवाम्भोभिरभिषिक्तो हुताशनः। यथागतं जगामाथ परां निर्वृतिमादधत्॥३९॥
सा सुदुर्विषहं गङ्गा धाम कामजितो महत्।आदधाना परीतापमवाप व्योमवाहिनी॥४०॥
बहिरार्तायुगान्ताग्नेस्तप्तानीव शिखाशतैः।हित्वोष्णानि जलान्यस्या निर्जग्मुर्जलजन्तवः ४१

गंगाकी ओर चल दिए ॥२७॥ और चलकर उस गंगाके तीरपर जा पहुँचे जो सब दुःख मिटा डालती हैं, सीढ़ी बनकर भक्तोंको स्वर्ग पहुँचा देती हैं, मोक्ष दे डालती हैं, बड़े-बड़े पाप हर लेती हैं, कठिनाइयाँ दूर कर देती हैं, शंकरके जटा-जूटमें बसी रहती हैं, सगरके पुत्रोंको भी तारनेवाली हैं, धर्मकी रक्षा करनेवाली हैं, विष्णुके चरणसे जलके रूपमें निकलकर ब्रह्मलोकसे आई हैं और अपनी तीव्र धाराओंसे तीनों लोकोंको सदा पवित्र करती रहती हैं ॥२८-३१॥ वहाँ गंगाकी जो लहरें उठ रही थीं वे ऐसी लगती थीं मानो दूरसे आते हुए अग्निदेवको देखकर वे प्रसन्न मनसे अपनी लहरोंके हाथोंसे उनका काम साधनेके लिये उन्हें दूरसे ही बुलाए ले रही हों ॥३२॥ वहाँ बहुतसे राजहंस एक साथ मिलकर मतवाले बने हुए जो कलकल शब्द कर रहे थे वे ऐसे लग रहे थे मानो अग्निसे गंगा कह रही हों कि मैं सबका भला किया करती हूँ और दुःख हर लिया करती हूँ ॥३३॥ गंगाकी ऊँची उठती और हर-हर करके आगे बढ़ती हुई जो तरंगें ढलुवे तटपर बढ़ती चली आ रही थीं वे ऐसी लगती थीं मानो गंगा कुछ आगे बढ़कर अग्निदेवका स्वागत करने चली आ रही हों ॥३४॥ तापसे जलते हुए अग्निदेवने वहाँ पहुँचकर झट गंगामें जा डुबकी मारी। सच है विपदाके मारे लोगोंको कहीं कुछ देर रुककर सोचनेकी सुध थोड़े ही रहती है ॥३५॥ सबका कल्याण करनेवाली, थकावट दूर करनेवाली, परम पवित्र तथा सबको तारनेवाली गंगाके जलमें डुबकी लगाकर अग्निदेवको बड़ी शान्ति मिली ॥३६॥ अपनी ज्वालासे दहकता हुआ शंकरका वीर्य अग्निकी देहसे निकलकर ऊँची तरंगोंवाली गंगामें जा पहुँचा ॥३७॥ जब गंगाने बड़े आदरसे शंकरका वीर्य ले लिया तब अग्निदेव बहुत प्रसन्न होकर जलसे बाहर निकल आए ॥३८॥ और अमृतकी धाराके समान गंगाजलसे अत्यन्त शीतल होकर तथा अत्यन्त सुख पाकर वे जहाँसे आए थे वहीं लौट गए ॥३९॥ शंकरके असह्य वीर्यको पाकर आकाशमें बहनेवाली गंगा भी एकदम उबल उठीं ॥४०॥ जैसे प्रलयकी आगकी सैकड़ों लपटोंसे तपे हुए गरम जलको छोड़कर जलके सारे जीव पानीसे बाहर

तेजसा तेन रौद्रेण तप्तानि सलिलान्यपि। समुदश्चन्ति चण्डानि दुर्धराणि बभार सा॥४२॥
जगच्चक्षुषि चण्डांशौ किंचिदभ्युदयोन्मुखे। जग्मुः षट् कृत्तिका माघे मासि स्नातुं सुरापगाम्॥४३॥
शुभ्रैरभ्रंकषैरूर्मिशतैः स्वर्गनिवासिनाम्। कथयन्तीमिवालोकावगाहाचमनादिकम्॥४४॥
सुस्नातानां मुनीन्द्राणां बलिकर्मोचितैरलम्। बहिः पुष्पोत्करैः कीर्णतीरां दूर्वाक्षतान्वितैः॥४५॥
ब्रह्मध्यानपरैर्योगपरैर्ब्रह्मासनस्थितैः। योगनिद्रागतैर्योगपट्टबन्धैरुपाश्रिताम्॥४६॥
पादाङ्गुष्ठाग्रभूमिस्थैः सूर्यसंबद्धदृष्टिभिः। ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपसेविताम्॥४७॥
अथ दिव्यां नदीं देवीमभ्यनन्दन्विलोक्य ताः। कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी॥४८॥
चन्द्रचूडामणिर्देवो यामुद्वहति मूर्द्धनि। यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्दधुस्ता मुदा हृदि॥४९॥
दिव्यां विष्णुपदीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम्। निर्धूतकल्मषां मूर्ध्ना सुप्रह्वास्ता ववन्दिरे॥५०॥
सौभाग्यैः खलु सुप्रापां मोक्षप्रतिभुवं सतीम्। भक्त्यात्र तुष्टुवुस्तां ताः श्रद्दधाना दिवो धुनीम्॥५१॥
मुक्तिस्त्रीसङ्गदूत्यज्ञैस्तत्र ता विमलैर्जलैः। प्रक्षालितमलाः सस्नुः सुस्नातास्तपसान्विताः॥५२॥
स्नात्वा तत्र सुलभ्यायां भाग्यैः परिपचेलिमैः। चरितार्थं स्वमात्मानं बहु ता मेनिरे मुदा॥५३॥
कृशानुरेतसो रेतस्तासामभिकलेवरम्। अमोघं संचचाराथ सद्यो गङ्गावगाहनात्॥५४॥

निकल आते हैं वैसे ही गंगाके तपते हुए जलको छोड़कर सब जीव भी घबराकर बाहर निकल भागे॥४१॥ रुद्रके उस प्रचंड तेजसे अत्यन्त तपकर वह भयंकर जल उबलकर ऐसा गरम हो गया कि छुआ-तक नहीं जा रहा था, फिर भी गंगाने उसे लिये ही रक्खा॥४२॥ एक दिन माघके महीनेमें जब संसारके नेत्र-रूप प्रचंड किरणोंवाले सूर्य थोड़े-थोड़े निकल ही रहे थे कि उसी समय छओं कृत्तिकाएँ नहानेके लिये गंगाके तीरपर आ पहुँची॥४३॥ उस समय गंगाकी उजली और आकाश चूमनेवाली सैकड़ों तरंगे उछल-उछलकर मानो यह बताए दे रही थीं कि स्वर्गमें रहनेवाले देवता लोग यहीं आकर दर्शन, स्नान और आचमन किया करते हैं॥४४॥ वहाँ तीरपर फूल, दूब, अक्षत आदि वे सब पूजाकी सामग्रियाँ बिखरी पड़ी थीं जो मुनियोंने भली प्रकार स्नान-पूजा करके वहाँ ला चढ़ाई थीं॥४५॥ जिस (गंगा) नदीके तीरपर कुशके आसनोंपर पद्मासन बाँधकर ब्रह्मका ध्यान करते हुए और समाधि लगाए हुए ऋषि लोग कमरसे घुटनोंतक कपड़े ओढ़े सदा बैठे रहते थे॥४६॥ और पाँवके अँगूठोंपर खड़े होकर सूर्यको ओर आँख जमाए हुए ब्रह्मर्षि परम ब्रह्मका ध्यान करते थे,॥४७॥ उस दिव्य नदीको उन छओं कृत्तिकाओंने आ प्रणाम किया क्योंकि भला ऐसी अमृतकी धारावाली गंगाको देखकर कौन नहीं मुग्ध हो जायगा॥४८॥ स्वयं भगवान् शंकर, जिन गंगाको मस्तकपर धारण किए रहते हैं और जिनका दर्शन करनेसे ही बहुत पुण्य होता है उन गंगाको देखकर छहों कृत्तिकाएँ मनमें इतनी प्रसन्न हुईं कि उनके मनमें गंगाके लिये बड़ी भारी श्रद्धा जाग उठी॥४९॥ उन कृत्तिकाओंने, मुक्ति देनेवाली, विष्णुके चरणोंसे निकलनेवाली और पापोंका नाश करनेवाली गंगाकी बड़ी भक्तिसे वन्दना की॥५०॥ जिन गंगाका बड़े सौभाग्यसे दर्शन होता है और जो साक्षात् मुक्ति ही हैं उन गंगाकी स्तुति कृत्तिकाओंने बड़ी भक्ति के साथ की॥५१॥ और तब उन तपस्विनी कृत्तिकाओंने जी भरकर मल-मलकर गंगाके उस निर्मल जलमें स्नान किया जो ऐसा लगता था मानो मुक्तिके पास ही पहुँचाए दे रहा हो॥५२॥ जिन गंगामें पिछले जन्मके पुण्यवान लोग ही स्नान कर पाते हैं उन गंगामें बड़े आनन्दके साथ स्नान करके उन कृत्तिकाओंने बड़ा अपना भाग्य सराहा॥५३॥ जब वे कृत्तिकाएँ गंगामें स्नान कर रही थीं उसी समय शंकरका अचूक वीर्य गंगासे निकलकर उन कृत्तिकाओंके शरीरमें जा पैठा॥५४॥ तब शिवके

रौद्रं सुदुर्धरं धाम दधाना दहनात्मकम्। परितापमवापुस्ता मग्ना इव विषाम्बुधौ ।।५५।।
अक्षमा दुर्वहं वोढुमम्बुनो बहिरातुराः।अग्निं ज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ।।५६।।
अमोघं शांभवं बीजं सद्यो नद्योज्झितं महत्। तासामभ्युदरं दीप्तं स्थितं गर्भत्वमागमत् ।।५७।।
सुज्ञा विज्ञाय ता गर्भीभूतं तद्वोढुमक्षमाः। विषादमदधुः सद्यो गाढं भर्तृभिया ह्रिया।।५८।।
अकामकरणं जातमकाण्डे भाविनोऽर्थतः।संभूयान्योन्यमात्मानं शुश्रुवुस्तास्तदाविलम्।।५९।।
ततः शारवणे सार्धं भयेन व्रीडया च ताः।तद्गर्भजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्ययुः।।६०।।
ताभिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं भासमानं तद्विक्षिप्तं क्षणमभिनभोगर्भमभ्युज्जिहानैः ।
स्वैस्तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानैर्वक्त्रैः षड्भिः स्मरहरगुरुस्पर्धयेवाजनीव ।।६१।।

।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
कुमारोत्पत्तिर्नाम दशमः सर्गः ।।

उस अत्यन्त असह्य अग्निके समान वीर्यके आ जानेसे वे ऐसी तप्त हो उठीं मानो विषके समुद्रमें ही जा डूबी हों ।।५५।। निदान उस असह्य तेजको बहुत देर-तक न सह सकनेके कारण वे भीतर ही भीतर जलती हुई उस तेजको लिए दिए जलसे बाहर आ निकलीं ।।५६।। शंकरका वह भभकता हुआ अचूक वीर्य गंगा से छूटकर उन कृतिकाओंके पेटमें पहुँचकर गर्भ बन गया ।।५७।। जब उन कृत्तिकाओंने देखा कि वह तेज तो गर्भ बन गया है और हमसे सँभाले नहीं सँभल पा रहा है तब वे बुद्धिमती कृत्तिकाएँ अपने-अपने पतियोंके डर और लाजके मारे बड़ी व्याकुल हो उठीं ।।५८।। फिर भी उस होनहार अनिच्छित और अनवसर-प्राप्त गर्भकी उन छहों कृत्तिकाओंने परस्पर मिलकर बड़ी रक्षा की ।।५९।। और तब लज्जा और भयके कारण वे एक सरपतकी झाड़ीमें अपने-अपने गर्भ छोड़कर अपने-अपने घर लौट गईं ।।६०।। कृतिकाओंने उस सरपतकी झाड़ीमें चन्द्रमाकी किरणोंके समान जो कोमल और तेजस्वी गर्भ छोड़ेथे वे देखते-देखते इतने अधिक तेजस्वी बन गए कि उनका तेज उदय होते हुए सैकड़ों सूर्योंसे भी ऐसी होड़ करने लगा मानो अपने छहों मुखोंसे वे चार मुखवाले ब्रह्माको भी चुनौती दिए डाल रहे हों ।।६१।।

।। महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें
कुमारके जन्मका वर्णन नामका दसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।।

।। एकादशः सर्गः ।।

अभ्यर्थ्यमाना विबुधैः समग्रैः प्रह्वैः सुरेन्द्रप्रमुखैरुपेत्य ।
तं पाययामास सुधातिपूर्णं सुरापगा स्वं स्तनमाशु मूर्त्ता ।। १ ।।
पिबन्स तस्याः स्तनयोः सुधौघं क्षणं क्षणं साधु समेधमानः ।
प्रापाकृतिं कामपि षड्भिरेत्य निषेव्यमाणः खलु कृत्तिकाभिः ।। २ ।।
भागीरथीपावककृत्तिकानामानन्दबाष्पाकुललोचनानाम् ।
तं नन्दनं दिव्यमुपात्तुमासीत्परस्परं प्रौढतरो विवादः ।। ३ ।।
अत्रान्तरे पर्वतराजपुत्र्या समं शिवः स्वैरविहारहेतोः ।
नभो विमानेन विगाहमानो मनोतिवेगेन जगाम तत्र ।। ४ ।।
निसर्गवात्सल्यवशाद्विवृद्धचेतःप्रमोदौ गलदश्रुनेत्रौ ।
अपश्यतां तं गिरिजागिरीशौ षडाननं षड्दिनजातमात्रम् ।। ५ ।।
अथाह देवी शशिखण्डमौलिं कोऽयं शिशुर्दिव्यवपुः पुरस्तात् ।
कस्याथवा धन्यतमस्य पुंसो मातास्य का भाग्यवतीषु धुर्या ।। ६ ।।
स्वर्गापगासावनलोऽयमेताः षट्कृत्तिकाः किं कलहायमानाः ।
पुत्रो ममायं न तवायमित्थं मिथ्येति वैलक्ष्यमुदाहरन्ति ।। ७ ।।
एतेषु कस्येदमपत्यमीशाखिलत्रिलोकीतिलकायमानम् ।
अन्यस्य कस्याप्यथ देवदैत्यगन्धर्वसिद्धोरगराक्षसेषु ।। ८ ।।

ग्यारहवाँ सर्ग

इन्द्र आदि सब देवताओंने जब गङ्गाके पास आकर बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की तब वे स्त्रीका रूप धारण करके अपना अमृतसे भरा स्तन उस बालकको पिलाने लगीं ।।१।। वह छह मुखोंवाला बालक अमृतकी धारा पी-पीकर पल-पलमें बड़े वेगसे बढ़ने लगा और जब छहों कृत्तिकाएँ भी आकर उसकी देखभाल करने लगीं तब तो उसका रूप-रंग कुछ अनोखे ही ढंगसे सुहावना हो उठा ।।२।। उस दिव्य रूपवाले बालकको देखकर, गंगा, अग्निदेव और छहों कृत्तिकाएँ सब आँखोंमें प्रेमके आँसू भर-भरकर उस बालकको अपना-अपना पुत्र बनानेके लिये आपसमें झगड़ने लगीं ।।३।। इसी बीच शिव भी पार्वतीके साथ यों ही घूमते-घामते मनके समान वेगसे चलनेवाले विमानपर बढ़े हुए आकाशमें उड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे ।।४।। छह दिनोंके उस छह मुँहवाले बालकको देखते ही शिव और पार्वतीकी आँखें स्वाभाविक पुत्र-प्रेमकी प्रसन्नताके मारे छलछला उठीं ।।५।। और शंकरसे पार्वती पूछने लगीं कि 'यह सामने दिव्य शरीरवाला बालक कौन है ? किस बड़भागीका पुत्र है ? और कौन सबसे बड़भागी स्त्री इसकी माता है ? ।।६।। ये अग्निदेव, गङ्गा और छहों कृत्तिकाएँ सब आपसमें यह कह-कहकर क्यों झगड़ा कर रही हैं कि यह मेरा पुत्र है, तुम्हारा नहीं । ये इस प्रकारकी बेतुकी और झूठी-झूठी बातें क्यों बके जा रही हैं ।।७।। ईश ! यह तीनों लोकोंके तिलकके समान सबका सिरमौर सुन्दर बालक इन तीनोंमेंसे सचमुच किसका पुत्र है ? या यह इनके अतिरिक्त किसी और ही देव, दैत्य, गन्धर्व, सिद्ध, नाग या राक्षसका पुत्र है' ।।८।। अपनी प्राणप्यारी

श्रुत्वेति वाक्यं हृदयप्रियायाः कौतूहलिन्या विमलस्मितश्रीः ।
सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतं वचोऽवोचत चन्द्रचूडः ॥ ९ ॥
जगत्त्रयीनन्दन एष वीरः प्रवीरमातुस्तव नन्दनोऽस्ति ।
कल्याणि कल्याणकरः सुराणां त्वत्तोऽपरस्याः कथमेष सर्गः ॥ १० ॥
देवि त्वमेवास्य निदानमास्से सर्गे जगन्मङ्गलगानहेतोः ।
सत्यं त्वमेवेति विचारयस्व रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ॥ ११ ॥
अतः शृणुष्वावहितेन वृत्तं बीजं यदग्नौ निहितं मया तत् ।
संक्रान्तमन्तस्त्रिदशापगायां ततोऽवगाहे सति कृत्तिकासु ॥ १२ ॥
गर्भत्वमाप्तं तदमोघमेतत्ताभिः शरस्तम्बमधि न्यधायि ।
बभूव तत्रायमभूतपूर्वो महोत्सवोऽशेषचराचरस्य ॥ १३ ॥
अशेषविश्वप्रियदर्शनेन धुर्या त्वमेतेन सुपुत्रिणीनाम् ।
अलं विलम्ब्याचलराजपुत्रि स्वपुत्रमुत्सङ्गतले निधेहि ॥ १४ ॥
अथेति वादिन्यमृतांशुमौलौ शैलेन्द्रपुत्री रभसेन सद्यः ।
सान्द्रप्रमोदेन सुपीनगात्री धात्री समस्तस्य चराचरस्य ॥ १५ ॥
किरीटबद्धाञ्जलिभिर्नभःस्थैर्नमस्कृता सत्वरनाकिलोकैः ।
विमानतोऽवातरदात्मजं तं ग्रहीतुमुत्कण्ठितमानसाभूत् ॥ १६ ॥
स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन्कृताञ्जलीनानमतोऽपि भूयः ।
हित्वोत्सुका तं सुतमाससाद पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात् ॥ १७ ॥

पार्वतीकी यह चावभरी बात सुनकर निर्मल कान्ति फैलानेवाली मुस्कराहटके साथ शंकरने बड़ी प्यारी बात कही–॥९। 'तीनों लोकोंमें आनन्द देनेवाला यह बालक, तुम वीर माताका ही वीर पुत्र है। कल्याणी ! तुम्हें छोडकर देवताओंका कल्याण करनेवाला ऐसा पुत्र भला और कौन दूसरा उत्पन्न कर सकता है ॥१०॥ देवी ! संसार भरके मंगलके कामोंमें जिस बालककी कीर्ति गाई जाया करेगी वह तुम्हारा ही यह पुत्र है। तुम्हीं ठीक-ठीक विचार देखो कि रत्न तो रत्नाकरसे ही निकल पा सकता है न ! ॥११॥ देखो पार्वती ! सावधान होकर इस बालकके उत्पन्न होनेकी कथा सुन लो। देखो ! मैंने अपना जो अचूक वीर्य अग्निमें रख दिया था, उसे अग्निने गंगामें जा छोड़ा। वह फिर इन स्नान करती हुई छहों कृत्तिकाओंके पेटमें पहुँचकर गर्भ जा बना और तब उस गर्भको कृत्तिकाओंने सरपतकी झाड़ीमें ले जा डाला। उसी गर्भसे चर और अचर प्राणियोंको हर्ष देनेवाला यह अनोखा बालक है ॥१२-१३॥ देखो पार्वती ! सारे संसारके प्यारे इस बालककी माता होनेसे सब पुत्रवती स्त्रियोंमें तुम्हीं अपनेको श्रेष्ठ समझो। अब देर न करो और अपने पुत्रको गोदमें उठा लो' ॥१४॥ शंकरकी यह बात सुनकर सारे संसारकी माता पार्वती हर्षसे फूली न समाईं और झट विमानसे उतरकर उस पुत्र-रत्नको गोदमें लेनेके लिये अधीर हो उठीं। उस समय आकाशमें इन्द्र आदि देवता लोग अपने मुकुटोंपर हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करने लगे ॥१५-१६॥ गंगा, अग्निदेव और कृत्तिकाएँ भी सभी बार-बार झुक-झुककर उन्हें प्रणाम कर रही थीं पर पार्वतीका ध्यान उधर गया ही नहीं और उन्होंने बड़े चावसे उस पुत्रको अपनी गोदमें उठा लिया। भला कौन ऐसी माता होगी जो अपने पुत्रके प्रेममें सुध-बुध न खो बैठती हो ॥१७॥ आँखोंमें आनन्दके आँसू छलक आनेसे वे थोड़ी देरतक तो अपने

प्रमोदबाष्पाकुललोचना सा न तं ददर्श क्षणमग्रतोऽपि ।
परिस्पृशन्ती करकुड्मलेन सुखान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम् ॥ १८ ॥
सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः शिशुर्गलद्बाष्पतरंगितायाः ।
विवृद्धवात्सल्यरसोत्तराया देव्या दशोर्गोचरतां जगाम ॥ १९ ॥
तमीक्षमाणा क्षणमीक्षणानां सहस्रमाप्तुं विनिमेषमैच्छत् ।
सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं क्षणं तृप्यति कस्य चेतः ॥ २० ॥
बिनम्रदेवासुरपृष्ठगाभ्यामादाय तं पाणिसरोरुहाभ्याम् ।
नवोदयं पार्वणचन्द्रचारुं गौरी स्वमुत्सङ्गतलं निनाय ॥ २१ ॥
स्वमङ्कमारोप्य सुधानिधानमिवात्मनो नन्दनमिन्दुवक्त्रा ।
तमेकमेषा जगदेकवीरं बभूव पूज्या धुरि पुत्रिणीनाम् ॥ २२ ॥
निसर्गवात्सल्यसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा ।
तमेकपुत्रं जगदेकमाताभ्युत्सङ्गिनं प्रस्रविणी बभूव ॥ २३ ॥
अशेषलोकत्रयमातुरस्याः षाण्मातुरः स्तन्यसुधामधासीत् ।
सुरस्रवन्त्याः किल कृत्तिकाभिर्मुहुर्मुहुः सस्पृहमीक्ष्यमाणः ॥ २४ ॥
सुखाश्रुपूर्णेन मृगाङ्कमौलेः कलत्रमेकेन मुखाम्बुजेन ।
तस्यैकनालोद्गतपञ्चपद्मलक्ष्मीं क्रमात्षड्वदनीं चुचुम्बे ॥ २५ ॥
हैमी फलं हेमगिरेर्लतेव विकस्वरं नाकनदीव पद्मम् ।
पूर्वेव दिङ्नूतनमिन्दुमाभात्तं पार्वती नन्दनमादधाना ॥ २६ ॥

पुत्रको देख ही न पाईं और कलीके समान अपने कोमल हाथसे ही पुत्रको सहलाने भरसे ही वे
अनोखा सुख लेती रहीं ।।१८।। उन्हें वह मनोहर बालक तब दिखाई दिया जब उनकी आँखें अचरज
और आनन्दसे खिली जा रही थीं, जी उमड़ा पड़ रहा था, आँसू बहे जा रहे थे और वात्सल्य-
भाव रोम-रोमसे छलका पड़ रहा था ।।१९।। उस बच्चेकी ओर एकटक देखती हुई पार्वती मनमें
सोचे जा रही थीं कि यदि इस समय मुझे एक सहस्र आँखें मिल पातीं तो कितना अच्छा होता । भला
पुत्रके दर्शनसे किसका जी भर पाता है ।।२०।। प्रणाम करनेके लिए झुके हुए देवताओं और दैत्योंकी
पीठपर अपने जो हाथ रखकर वे आशीष दिया करती थीं उन्हीं हाथोंसे पार्वतीने पूनोंके चन्द्रमाके
समान अपने सुन्दर पुत्रको अपनी गोदमें ले बिठाया ।।२१।। चन्द्रमाके समान मुखवाली पार्वतीने
संसारमें सबसे श्रेष्ठ अपने उस अनोखे वीर पुत्रको गोदमें जिस समय इस प्रकार उठा लिया मानो
अमृतका कलश ही गोदमें उठा रक्खा हो उस समय वे पुत्रवतियोंमें सबसे श्रेष्ठ पूजनीया हो
उठीं ।।२२।। संसारकी माता पार्वतीने जब उस अनोखे पुत्रको गोदमें उठा लिया तब वात्सल्य
रसकी स्वाभाविक धारा उनके रोम-रोमसे फूट पड़ी, हर्षके अमृतकी बाढ़ आ गई और
उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली ।।२३।। जब कार्तिकेय सब लोगोंकी माता पार्वतीके
स्तनोंका अमृत पीने लगे तब गंगा और कृत्तिकाएँ बड़े डाहसे उनकी ओर बार-बार देखे जा रही
थीं ।।२४।। शंकरकी प्यारी पार्वतीने हर्षके आँसू बहाते हुए अपने कमलके समान एक मुखसे उस
पुत्रके उन छहों मुखोंको चूम लिया जो ऐसे लगते थे मानो कमलकी एक डंठलमें पाँच सुन्दर कमल
निकल आये हों और उन पाँचोंके बीचमें उन कमलोंकी ही शोभा छठा कमल बनी निकली चली
आई हो ।।२५।। गोदमें सुन्दर पुत्र लिए हुए पार्वती ऐसी सुन्दर लग रही थीं मानो सोनेके सुमेरु

प्रीतात्मना सा प्रयतेन दत्तहस्तावलम्बा शशिशेखरेण ।
कुमारमुत्सङ्गतले दधाना विमानमभ्रंलिहमारुरोह ॥ २७ ॥
महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररूढरोमोद्गमो भूधरनन्दनायाः ।
अङ्कादुपादत्त तदङ्कतः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजवत्सलत्वात् ॥ २८ ॥
दधानया नेत्रसुधैकसत्रं पुत्रं पवित्रं सुतया तयाद्रेः ।
संश्लिष्यमाणः शशिखण्डधारी विमानवेगेन गृहाञ्जगाम ॥ २९ ॥
अधिष्ठितः स्फाटिकशैलशृङ्गे तुङ्गे निजं धाम निकामरम्यम् ।
महोत्सवाय प्रमथप्रमुख्यान्पृन्थून्गणाञ्शंभुरथादिदेश ॥ ३० ॥
पृथुप्रमोदः प्रगुणो गणानां गणः समग्रो वृषवाहनस्य ।
गिरीन्द्रपुत्र्यास्तनयस्य जन्मन्यथोत्सवं संववृते विधातुम् ॥ ३१ ॥
स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि संतानशाखिप्रसवाञ्चितानि ।
उच्चिक्षिपुः काञ्चनतोरणानि गणा वराणि स्फटिकालयेषु ॥ ३२ ॥
दिक्षु प्रसर्पंस्तदधीश्वराणामथामराणामिव मध्यलोके ।
महोत्सवं शंसितुमाहतोऽन्यैर्दध्वान धीरः पटहः पटीयान् ॥ ३३ ॥
महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्वविद्याधरसुन्दरीणाम् ।
संभावितानां गिरिराजपुत्र्या गृहेऽभवन्मङ्गलगीतकानि ॥ ३४ ॥
सुमङ्गलोपायनपात्रहस्तास्तं मातरो मातृवदभ्युपेताः ।
विधाय दूर्वाक्षतकानि मूर्ध्नि निन्युः स्वमङ्कं गिरिजातनूजम् ॥ ३५ ॥

पर्वतपर उत्पन्न होनेवाली सुनहली लतामें फल निकल आया हो या आकाशगंगामें कमल खिल उठा हो या पूर्व दिशामें चन्द्रमा निकल आया हो ॥२६॥ पुत्रको गोदमें लिए हुए ही बड़े सुखी मनसे शंकरके हाथका सहारा लेकर आकाश चूमनेवाले ऊँचे विमानपर पार्वती जा चढ़ीं ॥२७॥ वे दोनों पुत्र-प्रेममें इतने मगन हो चले थे कि कभी तो पार्वतीकी गोदसे शंकर उस पुत्रको ले लेते थे और कभी उनकी गोदसे उसे पार्वती ले लेती थीं। इस प्रकार पुत्र-प्रेममें भरे हुए दोनों उसे खेलाए जा रहे थे ॥२८॥ आँखोंको अमृतके समान सुख देनेवाले इस परम पवित्र पुत्रको गोदमें लिए और अपनी छातीसे लिपटी हुई पार्वतीको साथ लेकर भगवान् शंकर वेगसे चलनेवाले विमानपर चढ़कर झट घर (कैलास) लौट आए ॥२९॥ स्फटिकके बने हुए उस कैलासके ऊँचे शिखरपर अपने सुन्दर भवनमें बैठकर शंकर अपने मुख्य मुख्य प्रमथ आदि गणोंको आज्ञा दी कि जाओ, जाकर पुत्र उत्पन्न होनेका बहुत उत्सव मनाओ ॥३०॥ बड़े आनन्द और चावसे सभी गुणवान् गण लोग पार्वती और शंकरके पुत्रजन्मके उपलक्ष्यमें महोत्सव मनानेमें जा जुटे ॥३१॥ कुछ गण तो स्फटिकमें चमकती हुई किरणोंके पड़नेसे रंग बिरंगे दिखाई देनेवाले कपड़ोंसे और कल्पवृक्षके फूलों और पत्तोंसे बनाए हुए सुनहरे सुन्दर बन्दनवारोंसे अपने-अपने स्फटिकके भवन सजाने लगे ॥३२॥ और कुछ गणोंने जो नगाड़े बजाए, उनकी गम्भीर ध्वनि जब दसों दिशाओंमें जा फैली तब धरतीसे उठी हुई उसकी धमक मानो यह बताने लगी की दिक्पालों और देवताओंके लोकके समान ही यहाँ भी पुत्रोत्सव मनाया जा रहा है ॥३३॥ इस महोत्सवके उपलक्ष्यमें गन्धर्वों और विद्याधरोंकी सुन्दरियोंने घर आकर बधैया गाई और पार्वतीने भी बड़े मनसे उन सबकी बड़ी आवभगत की ॥३४॥ ब्राह्मी आदि माताएँ भी बधावेकी सामग्री लेकर बालकके पास चली आईं और उसके सिरपर दूब और अक्षत छिड़ककर

ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन ।
सुसन्धिबन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ॥ ३६ ॥
वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुराशा विधूमो हुतभुग्दिदीपे ।
जलान्यभूवन्विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः ॥ ३७ ॥
गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रणेदुः ।
दिवौकसां व्योम्नि विमानसंघा विमुच्य पुष्पप्रचयान्प्रसस्रुः ॥ ३८ ॥
इत्थं महेशाद्रिसुतासुतस्य जन्मोत्सवे संमदयांचकार ।
चराचरं विश्वमशेषमेतत्परं चकम्पे किल तारकश्रीः ॥ ३९ ॥
ततः कुमारः स मुदां निदानैः स बाललीलाचरितैर्विचित्रैः ।
गिरीशगौर्योर्हृदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः ॥ ४० ॥
महेश्वरः शैलसुता च हर्षात्सतर्षमेकेन मुखेन गाढम् ।
अजातदन्तानि मुखानि सूनोर्मनोहराणि क्रमतश्चुचुम्ब ॥ ४१ ॥
क्वचित्स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः ।
बालः स लीलाचलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः ॥ ४२ ॥
अहेतुहासच्छुरिताननेन्दुर्गृहाङ्गणक्रीडनधूलिधूम्रः ।
मुहुर्वदन्किञ्चिदलक्षितार्थं मुदं तयोरङ्कगतस्ततान ॥ ४३ ॥
गृह्णन्विषाणे हरवाहनस्य स्पृशन्नुमाकेसरिणं सलीलम् ।
स भृङ्गिणः सूक्ष्मतरं शिखाग्रं कर्षन्बभूव प्रमदाय पित्रोः ॥ ४४ ॥

सब उसे अपनी-अपनी गोदीमें उठाए फिरने लगीं ॥३५॥ वहाँ अंक्य, आलिङ्ग्य और ऊर्ध्वंक नामकी अनेक प्रकारकी तुरहियाँ मीठी-मीठी बज उठीं और भाव तथा रस-भरे अच्छे-अच्छे छन्दोंमें बँधे हुए गीत गाती हुई अप्सराएँ, बड़े हाव-भावसे नाचने लगीं ॥३६॥ सुख देनेवाला पवन बहने लगा, दिशाएँ खिल उठीं, धुआँ मिट जानेसे आग चमक उठी और जल निर्मल हो गया, यहाँ-तक कि उस उत्सवमें आकाश भी तत्काल खुल गया ॥३७॥ शंखकी गम्भीर ध्वनिके साथ-साथ घर-घरके छोटे-छोटे नगाड़े भी बज उठे। देवता लोग भी आकाशमें आ आकर विमानोंसे फूल ला-ला बरसाते और चले जाते ॥३८॥ इस प्रकार शंकर और पार्वतीके पुत्रके जन्मोत्सवसे संसारके जहाँ सभी चर और अचर प्राणी हर्षसे फूल उठे वहीं तारक राक्षसकी राज-लक्ष्मी (भयसे) काँप उठी ॥३९॥ धीरे-धीरे वह बालक अपनी मनोहर और अनोखी बाल-लीलाओंसे शंकर और पार्वनीको आनन्द देने लगा ॥४०॥ वे हर्षसे मतवाले होकर अपने पुत्रके पोपले और मनोहर मुखोंको बार-बार बड़े भावसे उठा उठाकर चूमा करते थे ॥४१॥ कहीं लड़खड़ाता हुआ और कहीं सीधे चलता हुआ, कहीं काँपता-सा और कहीं तना हुआ-सा वह बालक अपनी खिलवाड़-भरी चालोंसे उनका जी लुभाने लगा ॥४२॥ अपने माता-पिताकी गोदमें बैठा हुआ वह बालक, अनेक प्रकारसे उनका जी लुभाया करता था। कभी तो उसका मुखचन्द्र बिना किसी बातके ही हँसीसे चमक उठता था, कभी घरके आँगनमें खेलते उसका शरीर धूलसे भर जाता था और कभी वह बार-बार तोतली बोली बोल-बोलकर अपने माता-पिताको रिझाया करता था। कभी-कभी तो वह शंकरके बैलके सींग जा पकड़ता, कभी पार्वतीके सिंहके केसर जा सहलाता और कभी भृङ्गीकी चोटीके महीन बाल जा खींचने लगता। उसके यह सब करतब देख-देखकर उसके माता-पिता हर्षसे

एको नव द्वौ दश पञ्च सप्तेत्यजीगणन्नात्ममुखं प्रसार्य ।
महेशकण्ठोरगदन्तपङ्क्ति तदङ्कगः शैशवमौग्ध्यमैशिः ॥ ४५ ॥
कपर्दिकण्ठान्तकपालदाम्नोऽङ्गुलि प्रवेश्याननकोटरेषु ।
दन्तानुपात्तुं रभसो बभूव मुक्ताफलभ्रान्तिकरः कुमारः ॥ ४६ ॥
शंभोः शिरोऽन्तः सरितस्तरंगान्विगाह्य गाढं शिशिराम्नसेन ।
स जातजाड्यं निजपाणिपद्ममतापयद्भालविलोचनाग्नौ ॥ ४७ ॥
किंचित्कलं भङ्गुरकंधरस्य नमज्जटाजूटधरस्य शंभोः ।
प्रलम्बमानं किल कौतुकेन चिरं चुचुम्बे मुकुटेन्दुखण्डम् ॥ ४८ ॥
इत्थं शिशोः शैशवकेलिवृत्तैर्मनोभिरामैर्गिरिजागिरीशौ ।
मनोविनोदैकरसप्रसक्तौ दिवानिशं नाविदतां कदाचित् ॥ ४९ ॥
इति बहुविधं बालक्रीडाविचित्रविचेष्टितं ललितललितं सान्द्रानन्दं मनोहरमाचरन् ।
अलभत परां बुद्धिं षष्ठे दिने नवयौवनं स किल सकलं शास्त्रं शस्त्रं विवेद विभुर्यथा ॥५०॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारबाललीलावर्णनं नामैकादशः सर्गः ॥

फूले न समाते ॥४३-४४॥ कभी-कभी वह अपने मुँह खोलकर शंकरकी गोदमें बैठके बाल-सुलभ भोलेपनके साथ शिवके कण्ठमें पड़े हुए साँपोंके मुख फाड़ फाड़कर उनके दाँतोंको एक, नौ, दो, दस, पाँच, सात कहकर गिनने लग जाता था ॥४५॥ कभी वह शंकरके कण्ठमें पड़े मुण्डमालके मुखोंमें उँगली डाल-डालकर उनके दाँतोंको मोती समझकर निकालने लगता था ॥४६॥ कभी वह शंकरके सिरपर बहती रहनेवाली गंगाकी लहरोंमें अपना हाथ डाल देता पर जब बहुत ठंड लगनेसे उसके हाथ सुन्न हो जाते तब वह अपना कमल-सा कोमल हाथ शिवके माथेपर जलते हुए तीसरे नेत्रके आगे ले जा सेंकता ॥४७॥ जब वह देखता कि शिवका कन्धा तनिक नीचा हो रहा है और उनके जटा-जूट झुके पड़ रहे हैं तब वह जटाके साथ लटकनेवाले उनके सिरपरके चन्द्रमाको ही बड़ी देर-तक चूमता रहता ॥४८॥ इस प्रकार पुत्रकी मनोहर और खिलवाड़से भरी बाल-लीलाओंका आनन्द लेते हुए शंकर और पार्वती इतने मगन हो जाया करते कि उन्हें यह-तक सुध न रह जाती कि कब दिन चढ़ा और कब रात आई ॥४९॥ यों अनेक प्रकारकी मन-लुभावनी और बड़ी सुहावनी बाल-लीलाएँ करते हुए वह बालक छठे दिन बड़ा बुद्धिमान् और जवान हो गया और छह ही दिनोंमें उसे सब शास्त्र और शस्त्र-विद्याएँ भली प्रकार आ गईं ॥५०॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें
कुमारकी बाललीलावर्णन नामक ग्यारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ द्वादशः सर्गः ॥

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशेषैः क्रूरासुरोपप्लवदुःखितात्मा ।
पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्रीव तृष्णातुरितः पयोदम् ॥ १ ॥

दृप्तारिसंत्रासखिलीकृतात्स कथंचिदम्भोदविहारमार्गात् ।
अवाततारा भिर्गिरिं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः ॥ २ ॥

संक्रन्दनः स्यन्दनतोऽवतीर्य मेघात्मनो मातलिदत्तहस्तः ।
पिनाकिनोऽथालयमुच्चचाल शुचौ पिपासाकुलितो यथाम्भः ॥ ३ ॥

इतस्ततोऽथ प्रतिबिम्बभाजं विलोकमानः स्फटिकाद्रिभूमौ ।
आत्मानमप्येकमनेकधा स व्रजन्विभोरास्पदमाससाद ॥ ४ ॥

विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधतातिचण्डम् ।
स नन्दिनाधिष्ठितमध्यतिष्ठत्सौधाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रोः ॥ ५ ॥

ततः स कक्षाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः ।
प्रतोषयामास सुगौरवेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य ॥ ६ ॥

भ्रूसंज्ञयानेन कृताभ्यनुज्ञः सुरेश्वरं तं जगदीश्वरेण ।
प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य ॥ ७ ॥

स चण्डिभृङ्गिप्रमुखैर्गरिष्ठैर्गणैरनेकैर्विविधस्वरूपैः ।
अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिवमालुलोके ॥ ८ ॥

बारहवाँ सर्ग

जैसे प्यास लगनेपर पपीहा बादलकी शरणमें जा पहुँचता है, वैसे ही अत्याचारी तारकके उपद्रवोंसे दुखी इन्द्र भी, सब देवताओंको साथ लेकर शंकरके पास जा पहुँचे ॥१॥ उस घमण्डी शत्रु तारकका ऐसा आतंक छाया हुआ था कि देवता लोग किसी भी मार्गसे नहीं आ-जा सकते थे। इसलिये इन्द्र भी बादलोंके बीचमें छिपते-छिपाते किसी-किसी प्रकार उस कैलासपर जा उतरे जो शंकर और पार्वतीके चरण पड़नेसे पवित्र हो गया था ॥२॥ वहाँ मातलिके हाथका सहारा लेकर इन्द्र भी बादलके रथसे नीचे आ उतरे और शंकरके भवनकी ओर उसी प्रकार लपक चले जैसे गर्मीसे प्यासा मनुष्य पानीकी ओर दौड़े ॥३॥ स्फटिकसे बने हुए कैलासमें चारों ओर अपनी बहुतसी परछाइयाँ देखते हुए वे शंकरके भवनपर जा ही पहुँचे ॥४॥ शंकरके भवनकी उस देहलीपर पहुँचकर इन्द्र रुक गए जहाँ रंग-बिरंगे मणियोंकी पच्चीकारी की हुई थी और एक बड़ा-सा सोनेका डंडा हाथमें लिए नन्दी बैठे पहरा दे रहे थे ॥५॥ अपना सोनेका डंडा एक कोनेमें रखकर नन्दीने चटसे आगे बढ़कर आवभगत करके इन्द्रका स्वागत किया और स्वयं महादेवको उनके आनेकी सूचना भीतर जा दी ॥६॥ शङ्करने भौंहोंसे ही उन्हें भीतर लानेका संकेत कर दिया और उनकी आज्ञा पाकर नन्दीने आगे-आगे मार्ग दिखाते हुए इन्द्र और देवताओंको शंकरके पास ले जा पहुँचाया ॥७॥ इन्द्रने देखा कि वहाँ रतन-जड़े सभा-मण्डपमें चण्डी, भृङ्गी आदि अनेक रूप-रंगवाले बहुतसे बड़े-बड़े गणोंसे घिरे शिव बैठे हुए हैं ॥८॥ साँपोंसे लिपटा हुआ शिवके सिरका

कपर्दमुद्बद्धमहीनमूर्धरत्नांशुभिर्भासुरमुल्लसद्भिः ।
दधानमुच्चैस्तरमिद्धधातोः सुशेरुशृङ्गस्य समत्वमाप्तम् ॥ ९ ॥

बिभ्राणमुत्तुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटं भजन्तीम् ।
गौरीं तदुत्सङ्गजुषं हसन्तीमिव स्वफेनैः शरदभ्रशुभ्रैः ॥ १० ॥

गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः स्वैर्बहूभवन्तं शिरसा सुधांशुम् ।
चलन्मरीचिप्रचयैस्तुषारगौरैर्हिमद्योतितमुद्वहन्तम् ॥ ११ ॥

भालस्थले लोचनमेधमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम् ।
युगान्तकालोचितहव्यवाहं मीनध्वजप्लोषणमादधानम् ॥ १२ ॥

महार्हरत्नाञ्चितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात् ।
कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं कुण्डलयोश्छलेन ॥ १३ ॥

स्वबद्धया कण्ठिकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः ।
नीलस्यकण्ठस्यपरिस्फुरन्त्याकान्त्या महत्यासुविराजमानम्॥ १४ ॥

कालार्दितानां त्रिदशासुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम् ।
महन्महेभाजिनमुद्गताभ्रप्रालेयशैलश्रियमुद्वहन्तम् ॥ १५ ॥

पाणिस्थितब्रह्मकपालपात्रं वैकुण्ठभाजापि निषेव्यमाणम् ।
नरास्थिखण्डाभरणं रणान्तमूलं त्रिशूलं कलयन्तमुच्चैः ॥ १६ ॥

पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्वसन्तीम् ।
उद्गीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्लवलब्धसंज्ञाम् ॥ १७ ॥

जटा-जूट वासुकि आदि बड़े-बड़े साँपोंके फनोंके मणियोंकी किरणोंसे चमकता हुआ सुमेरु पर्वतकी चोटीके समान दिखाई पड़ रहा था ॥९॥ शिवके जटा-जूटके अगले भागमें बसी हुई ऊँची-ऊँची तरङ्गोंवाली गंगा भी शरत्के बादलोंके समान उजली फेन उछाल-उछालकर मानो शंकरकी गोदमें बैठी पार्वतीकी खिल्ली उड़ाए जा रही हों कि देखो, मैं तो शिवके सिरपर चढ़ी बैठी हूँ ॥१०॥ शिवके सिरके चन्द्रमाकी हिम-जैसी उजली किरणोंकी परछाईं गंगाकी तरंगोंमें बहुत रूपोंमें नाचती हुई ऐसी जान पड़ती थी मानो उस एक चन्द्रमाके बहुतसे चन्द्रमा बन गए हों ॥११॥ उनके माथेपर कामदेवको जलानेवाला प्रलयकी अग्निके समान वह तीसरा नेत्र भी चमक रहा था जिसके बढ़ते हुए तेजके आगे प्रलयके सूर्य और चन्द्ररूपी नेत्र भी झँप जाते हैं ॥१२॥ उनके कानोंमें किरणोंके घेरेसे घिरे हुए अनमोल रत्नोंसे जड़े दो कुण्डल ऐसे लटक रहे थे मानो इनके बहाने सूर्य और चन्द्र ही शंकरके दोनों कानोंपर उनकी सेवा कर रहे हों ।.१३॥ उनका नीला कंठ ठीक वैसा ही चमक रहा था जैसा कभी-कभी खिलवाड़में नीलमका हार पहन लेनेपर पार्वतीका गला चमक उठता है ॥१४॥ मरे हुए देव-दानवोंकी चिताओंकी भस्म पुते हुए अपने उजले अंगपर हाथीकी खाल ओढ़े हुए वे ऐसे दिखाई दे रहे थे मानो बादलोंसे घिरा हुआ विशाल हिमालय हो ॥१५॥ उनके एक हाथमें ब्रह्म-कपालका पात्र था, गलेमें मरे हुओंकी हड्डियोंके टुकड़ोंके गहने थे और दूसरे हाथमें युद्ध समाप्त कर डालनेवाला ऊपर उठा हुआ त्रिशूल था । इस ऊटपटाँग वेषमें होनेपर भी बैकुण्ठवासी विष्णु उनकी सेवा किए जा रहे थे ॥१६॥ उनके गलेमें ब्रह्म-कपालोंकी एक पुरानी माला पड़ी थी जो सिरपर बसे हुए चन्द्रमासे बरसी हुई अमृतकी बूँदें पी-पीकर जीवित-सी हो-होकर वेद गाए जा रही थीं ॥१७॥ सोनेकी

सलीलमङ्कस्थितया गिरीन्द्रपुत्र्या नवाष्टापदवल्लिभासा ।
विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याचिररोचिषेव ॥ १८ ॥
दृप्तान्धकप्राणहरं पिनाकं महासुरस्त्रीविधवात्वहेतुम् ।
करेण गृह्णन्तमगृह्यमन्यैः पुरा स्मरप्लोषणकेलिकारम् ॥ १९ ॥
भद्रासनं काञ्चनपादपीठं महार्हमाणिक्यविभङ्गिचित्रम् ।
अधिष्ठितं चन्द्रमरीचिगौरैरुद्वीज्यमानं चमरैर्गणाभ्याम् ॥ २० ॥
शस्त्रास्त्रविद्याभ्यसनैकसक्ते सविस्मयैरेत्य गणैः सुदृष्टे ।
नीराज्यमाने स्फटिकाचलेन सानन्दनिर्दिष्टदृशं कुमारे ॥ २१ ॥
तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य ।
आसीत्क्षणं क्षोभपरो नु कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि ॥ २२ ॥
विकस्वराम्भोजवनश्रिया तं दृशा सहस्रेण निरीक्षमाणः ।
रोमालिभिः स्वर्गपतिर्बभासे पुष्पोत्कराकीर्ण इवाम्रशाखी ॥ २३ ॥
दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेशमभूत्कृतार्थोऽतितरां महेन्द्रः ।
सर्वाङ्गजातं तदथो विरूपमिव प्रियाकोपकरं विवेद ॥ २४ ॥
ततः कुमारं कनकाद्रिसारं पुरंदरः प्रेत्य धृतास्त्रशस्त्रम् ।
महेश्वरोपान्तिकवर्तमानं शत्रोर्जयाशां मनसा बबन्ध ॥ २५ ॥
श्रीनीलकण्ठ द्युपतिः पुरोऽस्ति त्वयि प्रणामावसरं प्रतीच्छन् ।
सहस्रनेत्रेऽत्र भव त्रिनेत्र दृष्ट्या प्रसादप्रगुणो महेश ॥ २६ ॥

नई लताके समान सुन्दर पार्वतीको अपनी गोदमें बैठाए हुए वे ऐसे दिखाई पड़ रहे थे मानो चमकती हुई बिजलीसे भरा कोई शरत्का बादल हो ॥१८॥ उनके हाथमें वह पिनाक धनुष् था जिसने अन्धक नामके मतवाले दैत्यके प्राण ले डाले थे, बड़े-बड़े दानवोंको मारकर उनकी स्त्रियोंको विधवा बना दिया था, कामदेवको जलाकर राख कर दिया था और जिसे दूसरा कोई उठा तक नहीं सकता था ॥१९॥ वे ऐसे अनमोल मोती और मणियोंकी सजावटसे रंग-बिरंगे दिखाई देनेवाले उस सिंहासनपर बैठे हुए थे जिसके नीचे सोनेका पैर-पीढ़ा रक्खा हुआ था और दोनों ओरसे दो गण उनपर चन्द्रकी किरणोंके समान उजले चँवर डुला रहे थे ॥२०॥ वे बैठे हुए बड़े चावसे उन कुमार कार्त्तिकेय की शस्त्र-विद्या और अस्त्र-विद्याका अभ्यास देख रहे थे, जिन्हें शंकरके गण भी बड़े आश्चर्यसे देख रहे थे और वह स्फटिकका पर्वत भी जिसकी आरती उतारे जा रहा था ॥२१॥ ऐसे शंकरको देखकर थोड़ी देरके लिये इन्द्रका मन भी ललच उठा क्योंकि अचानक इतनी सुख-सम्पत्ति इकट्ठी देखकर भला किसका मन नहीं ललच उठेगा ॥२२॥ खिले हुए कमलोंके समान अपने सुन्दर सहस्रों नेत्रोंसे शंकरको देखते हुए इन्द्र, उस आमके पेड़के समान सुन्दर लगने लगे जो नीचेसे ऊपरतक मञ्जरियोंसे लदा हुआ हो ॥२३॥ अपनी सहस्रों आँखोंसे शंकरको देखकर इन्द्रने अपना बड़ा भाग्य सराहा पर इससे उनके शरीर भरमें जो रोमाञ्च हो आया उसे देखकर उन्हें यह डर हुआ कि कहीं इन्द्राणी यह न समझ बैठे कि किसी दूसरी सुन्दरीको देखनेसे रोमांच हो आया है और इसीपर वह सौतिया डाह करके कहीं रूठ न बैठें ॥२४॥ इसके पश्चात् जब उन्होंने शंकरके पास बैठे हुए, सुमेरुके समान बलवाले और अस्त्र-शस्त्र-धारी कुमारको देखा तो उनके मनमें आशा होने लगी कि अब हम शत्रुको अवश्य जीत लेंगे ॥२५॥ इतनेमें अपना सोनेका डंडा

इति प्रबद्धाञ्जलिरेत्य नन्दी निधाय कक्षामभि हेमवेत्रम् ।
प्रसादपात्रं पुरतो भविष्णुरथ स्मराराातिमुवाच वाचम् ॥ २७ ॥
पुरा सुरेन्द्रं सुरसङ्घसेव्यं त्रिलोकसेव्यस्त्रिपुरासुरारिः ।
प्रीत्या सुधासारनिधारिणेव ततोऽनुजग्राह विलोकनेन ॥ २८ ॥
किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेणानमितेन मूर्ध्ना ।
स्वर्गैकवन्द्यो जगदेकवन्द्यं तं देवदेवं प्रणनाम देवः ॥ २९ ॥
अनेकलोकैकनमस्क्रियार्हं महेश्वरं तं त्रिदशेश्वरः सः ।
भक्त्या नमस्कृत्य कृतार्थतायाः पात्रं पवित्रं परमं बभूव ॥ ३० ॥
सुभक्तिभाजामधिपादपीठं प्रान्तक्षितिं नम्रतरैः शिरोभिः ।
ततः प्रणेमुः पुरतो गणानां गणाः सुराणां क्रमतः पुरारिम् ॥ ३१ ॥
गणोपनीते प्रभुणोपदिष्टः शुभासने हेममये पुरस्तात् ।
प्रापोपविश्य प्रमुदं सुरेन्द्रः प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य ॥ ३२ ॥
क्रमेण चान्येऽपि विलोकनेन संभाविताः सस्मितमीश्वरेण ।
उपाविशँस्तोषविशेषमाप्ता दृग्गोचरे तस्य सुराः समग्राः ॥ ३३ ॥
अथाह देवो बलवैरिमुख्यान्गीर्वाणवर्गान्करुणार्द्रचेताः ।
कृताञ्जलीकानसुराभिभूतान्ध्वस्तश्रियः श्रान्तमुखानवेक्ष्य ॥ ३४ ॥
अहो बतानन्तपराक्रमाणां दिवौकसो वीरवरायुधानाम् ।
हिमोदबिन्दुग्लपितस्य किं वः पद्मस्य दैन्यं दधते मुखानि ॥ ३५ ॥

एक कोनेमें रखकर, आगे बढ़कर और हाथ जोड़कर, शंकरकी कृपा पानेकी इच्छासे नन्दीने शंकरसे जा कहा कि 'नीलकंठ ! देवताओंके स्वामी इन्द्रदेव आपको प्रणाम करनेकी बाट जोहते हुए यहाँ खड़े हैं, इसलिये कृपा करके इनकी ओर भी अपनी दृष्टि घुमा लीजिएगा' ॥२६-२७॥ यह सुनकर त्रिपुरोंका नाश करनेवाले, संसारके पूजनीय शंकरने देवताओंके पूजनीय इन्द्रको अमृतकी धारा बरसाती हुई-सी दृष्टिसे देखकर अनुगृहीत कर दिया ॥२८॥ स्वर्गमें जिनकी सब पूजा किया करते हैं, वे देवराज इन्द्र, जब सारे संसारके एक साथ पूजनीय और देवताओंके देवता महादेवको प्रणाम करनेके लिये झुके तो उनके मस्तकके किरीटकी नोकसे पारिजातके बहुतसे फल नीचे झड़ बिखरे ॥२९॥ सब लोकोंके एक मात्र पूजनीय शंकरको भक्तिके साथ प्रणाम करके स्वर्गके स्वामी इन्द्रने अपनेको परम पवित्र और बहुत धन्य समझा ॥३०॥ दूसरे देवताओंने भी प्रमथ आदि गणोंके देखते-देखते बड़ी भक्तिसे शंकरके पैर रखनेके पीढ़ेके पास धरतीपर माथा टेककर बारी-बारीसे उन्हें आ प्रणाम किया ॥३१॥ यह सब हो चुकनेपर शंकरकी आज्ञासे एक गण जाकर एक आसन उठा लाया जिसपर बैठकर इन्द्रको बड़ा आनन्द मिला क्योंकि शंकरका प्रसाद पाकर भला कौन अपनेको धन्य नहीं मानेगा ॥३२॥ सब देवताओंकी ओर बारी-बारीसे मुसकान-भरी दृष्टिसे देखकर शंकरने जब उन सबका भी सम्मान किया तब वे सब भी बड़े प्रसन्न होकर उनकी आँखोंके सामने ही जा बैठे ॥३३॥ इन्द्र आदि जो देवता हाथ जोड़े आगे बैठे हुए थे और 'दैत्योंसे हार जानेके कारण जिनके मुँह उदास और मुरझाएसे दिखाई पड़ रहे थे उनकी ओर देखकर करुणासे पिघले हुए हृदयवाले शिव बोले ॥३४॥ 'कहो देवताओं ! इतने बड़े-बड़े वीर होकर, एकसे एक बढ़कर अस्त्र-शस्त्रोंसे सजे होनेपर

स्वर्गौकसः स्वर्गपरिच्युताः किं स्वपुण्यराशौ सुमहत्तमेऽपि।
चिह्नं चिरोढं न तु यूयमेते निजाधिपत्यस्य परित्यजध्वम् ॥ ३६ ॥
दिवौकसो देवगृहं विहाय मनुष्यसाधारणतामवाप्ताः।
यूयं कुतः कारणतश्चरध्वं महीतले मानभृतो महान्तः ॥ ३७ ॥
अनन्यसाधारणसिद्धमुच्चैस्तद्दैवतं धाम निकामरम्यम्।
कस्मादकस्मान्निरगाद्भवद्भ्यश्चिरार्जितं पुण्यमिवापचारात् ॥ ३८ ॥
दिवौकसो वो हृदयस्य कस्मात्तथाविधं धैर्यमहार्यमार्याः।
अगादगाधस्य जलाशयस्य ग्रीष्मातितापादिवशादिवाम्भः ॥ ३९ ॥
सुराः सुराधीशपुरःसराणां समीयुषां वः सममातुराणाम्।
तद्ब्रूत लोकत्रयजित्वरार्तिक महासुरात्तारकतो विरुद्धम् ॥ ४० ॥
पराभवं तस्य महासुरस्य निषेद्धुमेकोऽहमलं भविष्णुः।
दावानलप्लोषविपत्तिमन्यो महाम्बुदार्त्कि हरते वनानाम् ॥ ४१ ॥
इतीरिते मन्मथमर्दनेन सुराः सुरेन्द्रप्रमुखा मुखेषु।
सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेषु दधुः श्रियं सत्वरमाश्वसन्तः ॥ ४२ ॥
ततो गिरीशस्य गिरां विरामे जगाद लब्धावसरः सुरेन्द्रः।
भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ॥ ४३ ॥
ज्ञानप्रदीपेन तमोपहेनाविनश्वरेणास्खलितप्रभेण।
भूतं भवद्भावि च यच्च किंचित्सर्वज्ञ सर्वं तव गोचरं तत् ॥ ४४ ॥

और स्वर्गमें रहकर भी आप लोगोंके मुख पाला मारे हुए कमलोंके समान उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं ? ।।३५।। बताओ देवताओं ! इतने बड़े-बड़े पुण्य करनेपर भी आप लोग स्वर्गसे निकल कैसे आए ? देखिए, आप लोग इतने दिनोंसे जो छत्र-चँवर आदि राज-चिह्न साथ रखते चले आ रहे थे उन्हें आप लोग कभी मत छोड़िए ।।३६।। आप लोग इतने मनस्वी, महिमाशाली और स्वर्ग-निवासी होकर भी स्वर्ग छोड़कर साधारण मनुष्यके समान पृथ्वी-तलपर इधर-उधर क्यों मारे-मारे फिर रहे हैं ? ।।३७।। जैसे पाप करनेसे बहुत दिनोंसे इकट्ठा किया हुआ पुण्य भी हाथसे निकल जाता है, वैसे ही बड़ी-बड़ी सिद्धियोंसे भरा हुआ बड़ा सुन्दर स्वर्ग भी आप लोगोंके हाथसे अचानक कैसे निकल गया ? ।।३८।। बताओ देवताओं ! जैसे बहुत गर्मी पड़नेसे गहरा तालाब भी सूख जाता है, वैसे ही आप लोगोंके हृदयमें रहनेवाला वह बड़ा भारी अटल धीरज कहाँ चला गया ? ।।३९।। आज व्याकुल होकर एक साथ आए हुए इन्द्र आदि देवताओं । आप लोग यह तो बताइए कि आप लोगोंने तीनों लोकोंको जीतनेवाले दैत्यराज तारकसे तो कहीं झगड़ा मोल नहीं ले लिया है ? ।।४०।। देखिए, उस महा-दैत्यने आप लोगोंका जो अपमान किया है उसका बदला केवल मैं ही ले सकता हूँ क्योंकि जंगलोंमें लगी हुई आग, बादलोंकी बड़ी घटाको छोड़कर भला और कौन बुझा पा सकता है' ।।४१।। शंकरके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि सभी देवताओंकी आँखोंमें अत्यन्त आनन्दके आँसू छलछला आए और जब उन्हें यह ढाढस दे दिया गया कि अब आप लोगोंकी प्राण-रक्षा अवश्य हो जायगी तब वे सबके सब तत्काल खिल उठे ।।४२।। भगवान् शंकरके कह चुकनेपर ठीक अवसर जानकर इन्द्रने कहना आरम्भ किया, क्योंकि अवसरपर कही हुई बातका ठीक फल अवश्य मिलता ही है— ।।४३।। 'प्रभो ! आप घट-घटको जाननेवाले और अज्ञान मिटानेवाले हैं, आपका कभी नाश

दुर्वारदोरुद्यमदुःसहेन यत्तारकेणामरघस्मरेण।
तदीशतमाप्तवता निरस्ता वयं दिवोऽमी वद किं न वेत्सि ॥ ४५ ॥
विधेरमोघं स वरप्रसादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः।
सुरानशेषानहकप्रमुख्यान्दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय ॥ ४६ ॥
स्तुत्या पुरास्माभिरुपासितेन पितामहेनेति निरूपितं नः।
सेनापतिः संयति दैत्यमेतं पुरः स्मरारातिसुतो निहन्ति ॥ ४७ ॥
अहो ततोऽनन्तरमद्ययावत्सुदुःसहां तस्य पराभवार्तिम्।
विषेहिरे हन्त हृदन्तशल्यमाज्ञानिवेशं त्रिदिवौकसोऽमी ॥ ४८ ॥
निदाघधामक्लमविक्लवानां नवीनमम्भोदमिवौषधीनाम्।
सुनन्दनं नन्दनमात्मनो नः सेनान्यमेतं स्वयमादिश त्वम् ॥ ४९ ॥
त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयैकशल्यं समूलमुत्खाय महासुरं तम्।
अस्माकमेषां पुरतो भवन्सन्दुःखापहारं युधि यो विधत्ते ॥ ५० ॥
महाहवे नाथ तवास्य सूनोः शस्त्रैः शितैः कृत्तशिरोधराणाम्।
महासुराणां रमणीविलापैर्दिशो दशैता मुखरीभवन्तु ॥ ५१ ॥
महारणक्षोणिपशूपहारीकृतेऽसुरे तत्र तवात्मजेन।
बन्दिस्थितानां सुदृशां करोतु वेणीप्रमोक्षं सुरलोक एषः ॥ ५२ ॥
इत्थं सुरेन्द्रे वदति स्मरारिः सुरारिदुश्चेष्टितजातरोषः।
कृतानुकम्पस्त्रिदशेषु तेषु भूयोऽपि भूताधिपतिर्बभाषे ॥ ५३ ॥

नहीं होता और कभी न बुझ सकनेवाले ज्ञानके प्रकाशसे आप संसारके भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों कालोंकी सब बातें जान जाते हैं ॥४४॥ इसलिये नाथ ! यह तो आप जानते ही होंगे कि अपने कठोर बाहुबलके पराक्रमसे मतवाला होकर, देवताओंको पीडा देनेवाले तारक असुरने स्वर्गका स्वामी बनकर हम सबको स्वर्गसे निकाल भगाया है ॥४५॥ व तारक असुर ब्रह्मासे अचूक वरदान पाकर अपनी भुजाओंके बलसे तुरंत तीन लोकोंको जीत लेना चाहता है और मुझे तथा दूसरे बड़े-बड़े देवताओंको भी तिनकेके बराबर तुच्छ समझता है ॥४६॥ भगवन् ! हम लोगोंने पहले जब ब्रह्माकी स्तुति की थी तब उन्होंने प्रसन्न होकर हमें बताया था कि जब शंकरका पुत्र देवताओंका सेनापति बनकर उनसे लड़ेगा तभी वह दैत्य मारा जा सकेगा ॥ ४७ ॥ तबसे आजतक सब देवता लोग तारक असुरके हाथसे हारनेकी कसक और हाथमें चुभे हुए गाँसके समान कसकनेवाली उसकी आज्ञाका अपमान सहते चले आ रहे हैं ॥ ४८ ॥ इसलिये भगवन् ! जैसे गर्मीके सूर्यकी तपनसे जले हुए लता-वृक्षोंको नये बादल हरा कर देते हैं वैसे ही अपने इस आनन्द-दायक पुत्रको हमारे सेनापति बननेकी आज्ञा देकर आप भी हमें जिला लीजिए ॥४९॥ तीनों लोकोंके हृदयमें काँटेके समान चुभनेवाले इस महादैत्यको जब आपके ये पुत्र युद्धमें आगे बढ़कर मार डालेंगे तभी हमारा दुःख मिट पावेगा ॥५०॥ नाथ ! ऐसा कीजिए कि जब इस महासंग्राममें आपके पुत्रके नुकीले बाणोंसे महादैत्योंके सिर कट-कटकर गिरें तब उन दैत्योंकी स्त्रियोंके विलापसे दसों दिशाएँ गूँज उठें ॥५१॥ और जब आपके पुत्र उस महासमर-भूमिमें उन दैत्योंको सियार आदि जन्तुओंकी भेंट चढ़ावें तब स्वर्गमें बन्दी बनी हुई अपनी सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंकी उलझी हुई एकलड़ीवाली चोटियोंको ये देवता लोग जा जाकर खोल डालें ॥५२॥

अहो अहो देवगणाः सुरेन्द्रमुख्याः शृणुध्वं वचनं ममैतत् ।
विचेष्टते शंकर एष देवकार्याय सज्जो भवतां सुताद्यैः ॥ ५४ ॥
पुरा मयाकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रतिग्रहोऽयं नियतात्मनापि ।
तत्रैष हेतुः खलु तद्भवेन वीरेण यद्वध्यत एव शत्रुः ॥ ५५ ॥
अत्रोपपन्नं तदमी नियुज्य कुमारमेनं पृतनापतित्वे ।
निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेष भुनक्तु भूयोऽपि सुरैः सहेन्द्रः ॥ ५६ ॥
इत्युदीर्य भगवाँस्तमात्मजं घोरसंगरमहोत्सवोत्सुकम् ।
नन्दनं हि जहि देवविद्विषं संयतीति निजगाद शंकरः ॥ ५७ ॥
शासनं पशुपतेः स कुमारः स्वीचकार शिरसावनतेन ।
सर्वथैव पितृभक्तिरतानामेष एव परमः खलु धर्मः ॥ ५८ ॥
असुरयुद्धविधौ विबुधेश्वरे पशुपतौ वदतीति तमात्मजम् ।
गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरसूः ॥ ५९ ॥
सुरपरिवृढः प्रौढं वीरं कुमारमुमापतेर्बलवदमरारातिस्त्रीणां दृगञ्जनभञ्जनम् ।
जगदभयदं सद्यः प्राप्य प्रमोदपरोऽभवद्ध्रुवमभिमते पूर्णे को वा मुदा न हि माद्यति ॥६०॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
कुमारसैनापत्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥

* * *

इस प्रकार इन्द्रके मुँहसे तारकका अत्याचार सुनकर भूतपति शंकर क्रोधसे लाल हो उठे और उन देवताओंपर कृपा करते हुए वे फिर बोले ॥५३॥ 'इन्द्र आदि देवताओं ! आप लोग ध्यानसे मेरी बातें सुनिए । अब मैं शंकर अपने पुत्रको लेकर देवताओंका काम करनेके लिये तैयार हो गया हूँ ॥५४॥ देवो ! समाधिमें लगे होनेपर भी मैंने पार्वतीके साथ इसीलिये विवाह किया था कि इनका पुत्र तारकको मार डाले ॥५५॥ इसलिये आपका काम करनेवाले इस कुमारको सेनापति बनाकर आप शत्रुका नाश कीजिए और इन्द्रके साथ फिर स्वर्गका आनन्द लीजिए' ॥५६॥ इतना कहकर शंकरने उस घोर संग्रामको एक महोत्सव मानकर उसके लिये अपने पुत्रसे कहा 'देखो पुत्र ! तुम जाकर देवताओंके शत्रु तारक असुरको युद्धभूमिमें मार आओ' ॥५७॥ कुमार कार्त्तिकेयने सिर झुकाकर शंकरकी आज्ञा स्वीकार कर ली क्योंकि पिताके भक्त पुत्रोंका यही सच्चा धर्म है कि पिताकी आज्ञा मान लें ॥५८॥ सब देवताओंके स्वामी शिव जब अपने पुत्रको दैत्योंसे युद्ध करनेकी बात समझाने लगे तब पार्वतीकी छाती दूनी हो गई क्योंकि ऐसी भला कौन वीर माता होगी जो अपने पुत्रकी वीरताकी बातसे प्रसन्न न हो ॥५९॥ बलवान् दैत्योंकी स्त्रियोंको रुलाकर उनके आँसुओंसे उनकी आँखोंका आँजन मिटानेवाले तथा संसारको अभय दान देनेवाले पराक्रमी कुमार कार्तिकेयको पाकर इन्द्र आनन्दसे खिल उठे क्योंकि संसारमें ऐसा कौन है जो अपनी इच्छा पूरी हो जानेपर आनन्दसे पागल न हो उठता हो ॥६०॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे कुमारसंभव महाकाव्यमें 'कुमारके सेनापति
होनेका वर्णन' नामका बारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

* * *

॥ त्रयोदशः सर्गः ॥

प्रस्थानकालोचितचारुवेषः स स्वर्गिवर्गैरनुगम्यमानः ।
ततः कुमारः शिरसा नतेन त्रैलोक्यभर्तुः प्रणनाम पादौ ॥ १ ॥

जहीन्द्रशत्रुं समरेऽमरेशपदं स्थिरत्वं नय वीर वत्स ।
इत्याशिषा तं प्रणमन्तमीशो मूर्द्धन्युपाघ्नाय मुदाभ्यनन्दत् ॥ २ ॥

प्रह्वीभवन्नम्रतरेण मूर्ध्ना नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः ।
तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद्वीरवराभिषेकः ॥ ३ ॥

तमङ्कमारोप्य सुता हिमाद्रेराश्लिष्य गाढं सुतवत्सला सा ।
शिरस्युपाघ्राय जगाद शत्रुं जित्वा कृतार्थीकुरु वीरसूं माम् ॥ ४ ॥

उद्दामदैत्येशविपत्तिहेतुः श्रद्धालुचेताः समरोत्सवस्य ।
आपृच्छ्य भक्त्या गिरिजागिरीशौ ततः प्रतस्थेऽभि दिवं कुमारः ॥ ५ ॥

देवं महेशं गिरिजां च देवीं ततः प्रणम्य त्रिदिवौकसोऽपि ।
प्रदक्षिणीकृत्य च नाकनाथपूर्वाः समस्तास्तमथानुजग्मुः ॥ ६ ॥

अथ व्रजद्भिस्त्रिदशैरशेषैः स्फुरत्प्रभाभासुरमण्डलैस्तैः ।
नभो बभासे परितो विकीर्णं दिवापि नक्षत्रगणैरिवोग्रैः ॥ ७ ॥

रराज तेषां व्रजतां सुराणां मध्ये कुमारोऽधिककान्तिकान्तः ।
नक्षत्रताराग्रहमण्डलानामिव त्रियामारमणो नभोऽन्ते ॥ ८ ॥

तेरहवाँ सर्ग

लड़ाईका बाना पहनकर और सब देवताओंके आगे होकर कुमारने चलते समय तीनों लोकोंके स्वामी शिवके चरणोंमें आ प्रणाम किया ॥ १ ॥ प्रणाम करते हुए पुत्रको उठाकर और उसका सिर सूँघकर शिवने यही आशीर्वाद देते हुए कुमारको उत्साहित किया कि 'वीर पुत्र ! जाओ युद्धमें इन्द्रके शत्रुको मारो और इन्द्रको उनके पदपर फिरसे भली भाँति ले जा बैठाओ ॥२॥ जिस समय कुमार अपने पिताके दोनों चरणोंमें झुककर माथा टेके हुए प्रणाम कर रहे थे उस समय शिवकी आँखोंसे बरसे हुए प्रेमके आँसुओंके जलसे ही मानो सेनापति पदके लिये कुमारका अभिषेक हो गया ॥३॥ अपने पुत्रका लाड़-प्यार करनेवाली पार्वतीने कुमारको गोदमें लेकर कसकर अपने हृदयसे लगा लिया और उसका माथा सूँघकर आशीर्वाद दिया—'पुत्र ! लड़ाईमें शत्रुको जीतकर यह बात सच्ची कर दो कि मैं वीरकी माता हूँ' ॥४॥ तब उस बलवान दैत्यराजको मारने और संग्रामरूपी उत्सव मनानेको उतावले बने हुए कुमार बड़ी भक्तिसे अपने माता-पितासे आज्ञा लेकर स्वर्गकी ओर चल पड़े ॥५॥ इन्द्र आदि सब देवता भी शंकर और पार्वतीको प्रणाम करके और उनकी प्रदक्षिणा करके कुमारके पीछे-पीछे चल पड़ें ॥६॥ तब चारों ओर फैली हुई कान्तिवाले उन सब देवताओंके एक साथ चलनेसे आकाश ऐसा जान पड़ने लगा मानो दिनमें चमकनेवाले बड़े-बड़े तारे चारों ओर आ निकले हों ॥७॥ आकाशमें चलते हुए देवताओंके बीचमें अपनी अत्यन्त चमकसे सुन्दर दिखाई पड़नेवाले कुमार कार्त्तिकेय ऐसे सुन्दर लगते थे मानो नक्षत्र और तारोंके बीच चन्द्रमा चले जा रहें हों ॥८॥ कुमारके पीछे-पीछे इन्द्र आदि देवता थोड़ी

गिरीशगौरीतनयेन सार्धं पुलोमपुत्रीदयिताद्वयस्ते ।
उत्तीर्य नक्षत्रपथं मुहूर्तात्प्रपेदिरे लोकमथात्मनीनम् ॥ ९ ॥
ते स्वर्गलोकं चिरकालदृष्टं महासुरत्रासवशंवदत्वात् ।
सद्यः प्रवेष्टुं न विषेहिरे तत्क्षणं व्यलम्बन्त सुराः समग्राः ॥ १० ॥
पुरो भव त्वं न पुरो भवामि नाहं पुरोगोऽस्मि पुरःसरस्त्वम् ।
इत्थं सुरास्तत्क्षणमेव भीताः स्वर्गं प्रवेष्टुं कलहं वितेनुः ॥ ११ ॥
सुरालयालोकनकौतुकेन मुदा शुचिस्मेरविलोचनास्ते ।
दधुः कुमारस्य मुखारविन्दे दृष्टिं द्विषत्साध्वसकातरान्ताम् ॥ १२ ॥
सहेलहासच्छुरिताननेन्दुस्ततः कुमारः पुरतो भविष्णुः ।
स तारकापातमपेक्षमाणो रणप्रवीरो हि सुरानवोचत् ॥ १३ ॥
भीत्यालमद्य त्रिदिवौकसोऽमी स्वर्गं भवन्तः प्रविशन्तु सद्यः ।
अत्रैव मे दृक्पथमेतु शत्रुर्महासुरो वः खलु दृष्टपूर्वः ॥ १४ ॥
स्वर्लोकलक्ष्मीकचकर्षणाय दोर्मण्डलं वल्गति यस्य चण्डम् ।
इहैव तच्छोणितपानकेलिमह्नाय कुर्वन्तु शरा ममैते ॥ १५ ॥
शक्तिर्ममासावहतप्रचारा प्रभावसारा सुमहःप्रसारा ।
स्वर्लोकलक्ष्म्या विपदावहारेः शिरो हरन्ती दिशतान्मुदं वः ॥ १६ ॥
इत्यन्धकारातिसुतस्य दैत्यवधाय युद्धोत्सुकमानसस्य ।
सर्वं शुचिस्मेरमुखारविन्दं गीर्वाणवृन्दं वचसा ननन्द ॥ १७ ॥

ही देरमें आकाश पार करके स्वर्गलोक जा पहुंचे ।।९।। दैत्यराज तारकके डरसे देवता लोग स्वर्गमें तो जा नहीं पा रहे थे इसलिये वे झिझकके कारण एकदम तो भीतर नहीं जा सके, थोड़ी देर बाहर ही ठिठके रहे ।।१०।। उस समय वे सब डरे हुए देवता आपसमें एक दूसरेको ढकेलते हुए यह झगड़ा करने लगे—'तुम चलो आगे। मैं आगे नहीं चलूंगा। मैं क्यों आगे चलूं ? तुम्हींको आगे-आगे चलना चाहिए' ।।११।। उस समय स्वर्गको सामने देखकर मगन हो उठनेवाले उन देवताओंकी आँखें आनन्दसे खिल उठीं पर शत्रुके डरसे उनकी आँखें कातर होकर कुमारके मुख-कमलकी ओर जा घूमीं ।।१२।। उस समय कुमारका मुख-चन्द्र खिलवाड-भरी हँसीसे खिल उठा और तारकके धावेकी बाढ जोहते हुए रणवीर कुमार कार्तिकेयने आगे होकर देवताओंसे कहा—।।१३।। 'देवों ! अब डरनेकी कोई बात नहीं है। आप लोग निडर होकर स्वर्गमें घुस चलिए। मैं चाहता हूँ कि अपने जिस घोर शत्रु तारकको आप लोग देख चुके हैं वह यहीं मेरे आगे आ जाय ।।१४।। मैं तो चाहता हूँ कि जिस तारक असुरकी भुजाएँ, बलपूर्वक लक्ष्मीके बाल पकड़कर उन्हें दुर्दशा करते हुए खींचनेके लिये मचली रहती हैं, उसका लहू पीनेका आनन्द मेरे बाणोंको झटसे यहींपर मिल जाय ।।१५।। और यह चमचमाती, अत्यन्त तेजस्विनी, प्रतापशालिनी और स्वर्गलोककी राजलक्ष्मीका कष्ट दूर करनेवाली मेरी शक्ति यहींपर शत्रुका सिर काटकर आप लोगोंको आनन्द दे दे' ।।१६।। दैत्योंका नाश करनेकी इच्छासे लड़ाई करनेपर उतारू होनेवाले उन कुमारकी ये बातें सुनकर देवताओंके सुन्दर मुख-कमल खिल गए और वे सभी प्रसन्न हो उठे ।।१७।। अत्यन्त आनन्दके कारण

सान्द्रप्रमोदात्पुलकोपगूढः सर्वाङ्गसंफुल्लसहस्रनेत्रः ।
तस्योत्तरीयेण निजाम्बरेण निरुञ्छनं चारु चकार शक्रः ॥ १८ ॥

घनप्रमोदाश्रुतरंगिताक्षैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रचुरप्रसादैः ।
अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं षट्सु शिरःसु चित्रम् ॥ १९ ॥

तं साधु साध्वित्यभितः प्रशस्य मुदा कुमारं त्रिपुरासुरारेः ।
आनन्दयन्वीर जयेति वाचा गन्धर्वविद्याधरसिद्धसंघाः ॥ २० ॥

दिव्यर्षयः शत्रुविजेष्यमाणं तमभ्यनन्दन्किल नारदाद्याः ।
निरुञ्छनं चक्रुरथोत्तरीयैश्चामीकरीयैर्निजवल्कलैश्च ॥ २१ ॥

ततः सुराः शक्तिधरस्य तस्यावष्टम्भतः साध्वसमुत्सृजन्तः ।
उत्सेहिरे स्वर्गमनन्तशक्तेर्गन्तुं वनं यूथपतेरिवेभाः ॥ २२ ॥

अथाभिपृष्ठं गिरिजासुतस्य पुरंदरारातिवधं चिकीर्षोः ।
सुरा निरीयुस्त्रिपुरं दिधक्षोरिव स्मरारेः प्रमथाः समन्तात् ॥ २३ ॥

सुराङ्गनानां जलकेलिभाजां प्रक्षालितैः संततमङ्गरागैः ।
प्रपेदिरे पिञ्जरवारिपूरां स्वर्गौकसः स्वर्गधुनीं पुरस्तात् ॥ २४ ॥

दिग्दन्तिनां वारिविहारभाजां कराहतैर्भीमतरैस्तरंगैः ।
आप्लावयन्तीं मुहुरालवालश्रेणीं तरूणां निजतीरजानाम् ॥ २५ ॥

इन्द्र भी इतने पुलकित हो उठे कि उनके शरीरकी सभी आँखें खिल उठीं । तब इन्द्र और कुमारने आपसमें एक दूसरेके उत्तरीय वस्त्र बदलकर अपनी मित्रता पक्की कर ली ॥१८॥ देवताओंमें सबसे बूढ़े ब्रह्माकी आँखें भी अत्यधिक आनन्दसे बहते हुए आँसुओंकी लहरोंसे छल-छला चलीं, उनके चारों मुख प्रसन्नतासे खिल उठे और उन्होंने अपने चारों मुखोंसे कुमारके छहों मुखोंका बड़े विचित्र ढंगसे चुम्बन कर लिया ॥१९॥ उस समय गन्धर्व, विद्याधर और सिद्धोंने कुमारको 'साधु साधु' कहकर बड़े आनन्दके साथ उनकी बड़ाई करते हुए यह कहकर उन्हें आनंदित किया —'वीर ! तुम्हारी जय हो' ॥२०॥ देवर्षि नारद आदिने भी शत्रुको जीतनेवाले कुमारकी बड़ी प्रशंसा की और उनके सुनहले उत्तरीय आदि वस्त्रोंसे अपने वल्कल बदलकर उनसे भाईपनका नाता जोड़ लिया ॥२१॥ हाथमें शक्ति लिए हुए कुमारका इस प्रकार सहारा पाकर देवता लोग निडर हो गए और वे उसी उत्साहसे स्वर्गमें जा पैठे जैसे किसी शक्तिशाली बड़े हाथीका सहारा पाकर छोटे हाथी भी जंगलमें जा घुसते हैं ॥२२॥ जैसे त्रिपुरासुरको जलानेके लिये जाते समय शंकरके पीछे-पीछे उनके प्रमथ आदि गण चले थे वैसे ही तारकको मारनेकी इच्छा करनेवाले कुमारके पीछे-पीछे देवता लोग भी स्वर्गमें घुस पड़े ॥२३॥ पहले पहल उन्हें वह आकाशगंगा दिखाई दी जिसका जल, जल-विहार करनेवाली अप्सराओंके धुले हुए अङ्गोंसे छुटे हुए अङ्गरागसे रँग जाया करता है, जिसके जलमें विहार करते समय दिक्पालोंके हाथी, लहरोंपर अपनी सूँड़ पटका करते हैं, जिसकी लहरोंके जलसे तीरपर खड़े हुए पेड़ोंके थाँवले सदा सिंचे रहते हैं, जहाँ खेल खेलनेके लिये आई हुई देवकन्याओंके हाथोंकी बनी हुई सुनहरे बालूकी वे ऊँची-ऊँची वेदिकाएँ दूर-दूरतक बनी हुई हैं जो उन्होंने बीच-बीचमें मणि डाल-डालकर अपने खेलके लिये बना रक्खी हैं, जहाँ सुगन्धके लोभी भौंरे सदा गुनगुनाते

लीलारसाभिः सुरकन्यकाभिर्हिरण्मयीभिः सिकताभिरुच्चैः ।
माणिक्यगर्भाभिरुपाहिताभिः प्रकीर्णतीरां वरवेदिकाभिः ॥ २६ ॥
सौरभ्यलुब्धभ्रमरोपगीतैर्हिरण्यहंसावलिकेलिलोलैः ।
चामीकरीयैः कमलैर्विनिद्रैश्च्युतैः परागैः परिपिङ्गतोयाम् ॥ २७ ॥
कुतूहलाद्द्रष्टुमुपागताभिस्तीरस्थिताभिः सुरसुन्दरीभिः ।
अभ्यूर्मिराजिप्रतिबिम्बिताभिर्मुदं दिशन्तीं व्रजतां जनानाम् ॥ २८ ॥
ननन्द सद्यश्चिरकालदृष्टां विलोक्य शक्रः सुरदीर्घिकां ताम् ।
अदर्शयत्सादरमद्रिपुत्रीमहेशपुत्राय ततः पुरोगः ॥ २९ ॥
स कार्तिकेयः पुरतः परीतः सुरैः समस्तैः सुरनिम्नगां ताम् ।
अपूर्वदृष्टामवलोकमानः सविस्मयः स्मेरविलोचनोऽभूत् ॥ ३० ॥
उपेत्य तां तत्र किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिर्भक्तिपरः कुमारः ।
गीर्वाणवृन्दैः प्रणुतां प्रणुत्य नम्रेण मूर्ध्ना मुदितो ववन्दे ॥ ३१ ॥
प्रनर्तितस्मेरसरोजराजिः पुरः परीरम्भमिलन्महोर्मिः ।
कपोलपालिश्रमवारिहारि भेजे गुहं तं सरितः समीरः ॥ ३२ ॥
ततो व्रजन्नन्दननामधेयं लीलावनं जम्भजितः पुरस्तात् ।
विभिन्नभग्नोद्धृतशालसंघं प्रेक्षांचकार स्मरशत्रुसूनुः ॥ ३३ ॥
सुरद्विषोपप्लुतमेवमेतद्वनं बलस्य द्विषतो गतश्रि ।
इत्थं विचिन्त्यारुणलोचनोऽभूद्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखः स कोपात् ॥ ३४ ॥
निर्लूनलीलोपवनामपश्यद् दुःसंचरीभूतविमानमार्गाम् ।
विध्वस्तसौधप्रचयां कुमारो विश्वैकसाराममरावतीं सः ॥ ३५ ॥

रहते और सुनहरे हंस किल्लोलें करते रहते हैं, जहाँ ऐसे सोनेके कमल खिले रहते हैं जिनके गिरे हुए परागसे वहाँका जल भी पीला हो उठता है, जहाँ देवताओंकी सुन्दरियाँ मन-बहलावके लिये आ-आकर तटपर बैठी रहती हैं और तरङ्गोंमें पड़ती हुई जिनकी परछाईं उधरसे आने-जानेवाले पथिकोंका जी भी लुभाती रहती हैं ॥२४-२८॥ इतने दिनोंपर उस देव-नदीको देखकर इन्द्र तुरन्त प्रसन्न हो उठे और आगे बढ़कर उन्होंने आदरके साथ कुमारको भी वह बुला दिखलाई ॥२९॥ सब देवताओंसे घिरे हुए कार्तिकेयको इस नई नदीको सामने देखकर बड़ा अचरज हुआ और प्रसन्नतासे उनकी आँखें खिल उठीं ॥ ०॥ सब देवता जिस नदीकी स्तुति किया करते रहते हैं, उस मंदाकिनीके तटपर जाकर कुमार कार्तिकेयने सिर झुकाकर अपने किरीटके सिरेपर हाथ जोड़कर बड़ी भक्तिसे प्रसन्न होकर उन्हें प्रणाम किया और उनकी वन्दना की ॥३१॥ उस समय, खिले हुएं कमलोंको नचानेवाले, तरंगोंसे गले मिलकर चलनेवाले और गालोंके पसीनेको सुखानेवाले मंदाकिनीके मन्द पवनने वहाँ आए हुए कुमारकी बड़ी सेवा की ॥३२॥ वहाँसे चलकर कार्तिकेयने इन्द्रके विलासके उस नन्दन उपवनको देखा जहाँके सब सालके पेड़ या तो तोड़ डाले गए थे या जड़से ही उखाड़ डाले गए थे ॥३३॥ कार्तिकेयने समझ लिया कि तारकासुरके अत्याचारसे ही इन्द्रके इस सुन्दर वनकी यह दुर्दशा हुई है। यह सोचते ही क्रोधके मारे उनका मुँह तमतमा उठा, भौंहें तन गई और आँखें लाल हो उठीं ॥३४॥ वहाँसे और आगे बढ़कर कुमारने विश्वकी सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावतीको देखा जिसके लीला-उपवन तहस-नहस कर डाले गए थे, ऊँचे-ऊँचे भवन गिरा डाले गए

गतश्रियं वैरिवराभिभूतां दशां सुदीनामभितो दधानाम् ।
नारीमवीरामिव तामवेक्ष्य स बाढमन्तः करुणापरोऽभूत् ॥ ३६ ॥
दुश्चेष्टिते देवरिपौ सरोषस्तस्याविषण्णः समराय चोत्कः ।
तथाविधां तां स विवेश पश्यन्सुरैः सुराधीश्वरराजधानीम् ॥ ३७ ॥
दैतेयदन्त्यावलिदन्तघातैः क्षुण्णान्तरा स्फाटिकहर्म्यपङ्क्तीः ।
महाहिनिर्मोकपिनद्धजालाः स वीक्ष्य तस्यां विषसाद सद्यः ॥ ३८ ॥
उत्कीर्णचामीकरपङ्कजानां दिग्दन्तिदानद्रवदूधितानाम् ।
हिरण्यहंसव्रजवर्जितानां विदीर्णवैदूर्यमहाशिलानाम् ॥ ३९ ॥
आविर्भवद्बालतृणाञ्चितानां तदीयलीलागृहदीर्घिकाणाम् ।
स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजातां विषादवैलक्ष्यभरं बभार ॥ ४० ॥
तद्दन्तिदन्तक्षतहेमभित्ति सुतन्तुजालाकुलरत्नजालाम् ।
निन्ये सुरेन्द्रेण पुरोगतेन स वैजयन्ताभिधमात्मसौधम् ॥ ४१ ॥
निर्दिष्टवर्त्मा विबुधेश्वरेण सुरैः समग्रैरनुगम्यमानः ।
स प्राविशत्तं विविधाश्मरश्मिच्छिन्नेन सोपानपथेन सौधम् ॥ ४२ ॥
निसर्गकल्पद्रुमतोरणं तं स पारिजातप्रसवस्रगाढ्यम् ।
दिव्यैः कृतस्वस्त्ययनं मुनीन्द्रैरन्तःप्रविष्टप्रमदं प्रपेदे ॥ ४३ ॥
पादौ महर्षेः किल कश्यपस्य कुलादिवृद्धस्य सुरासुराणाम् ।
प्रदक्षिणीकृत्य कृताञ्जलिः सन्षड्भिः शिरोभिः स नतैर्ववन्दे ॥ ४४ ॥

थे और सब ओर ऐसा उजाड़ हो गया था कि उधर विमानपर चढ़कर जानेको भी किसीका जी नहीं करता था ॥३५॥ तारकके हाथों उजाड़ी हुई उस नष्ट-भ्रष्ट और सुनसान नगरीको देखकर कार्तिकेयको उसी प्रकार बड़ी दया आई जैसे किसी नपुंसककी स्त्रीको देखकर दया आती है ॥३६॥ अमरावतीकी वह दुर्दशा देखते ही कुमार उस दुराचारी दैत्यपर बड़े क्रुद्ध हो उठे और युद्धके लिए बड़े उतावलेसे होकर वे देवताओंकी राजधानीमें घुस पड़े ॥३७॥ वहाँके स्फटिकके बने हुए बड़े-बड़े भवन दैत्योंके हाथियोंके दाँतोंकी टक्करोंसे तड़क गए थे और जहाँ तहाँ बड़े-बड़े साँपोंकी केंचुलियाँ छुटी पड़ी थीं। यह सब देखकर कुमारको बड़ा दुःख हुआ ॥३८॥ उन्होंने देखा कि देवताओंके विलास-घरोंमें बनी हुई बावड़ियोंमेंसे सोनेके कमल उखाड़ डाले गए थे, दिग्गजोंके मदसे उनका जल गँदला हो गया था, सुनहरे हंस वहाँसे उड़ गए थे, पन्नोंकी बनी-बड़ी पटिएँ भी टूट-फूट गई थीं और चारों ओर छोटी-छोटी घास उग आई थी। शत्रुओंके हाथों वहाँकी यह दुर्दशा देखकर उनका मन बड़ा भारी हो उठा ॥३९-४०॥ तब कुमारको इन्द्र अपने उस वैजयन्त नामके भवनमें ले गए जहाँकी सुनहरी दिवारें दैत्योंके हाथियोंके दाँतोंकी टक्करोंसे फट गई थीं और जहाँ मकड़ियोंने जाले तान दिए थे ॥४१॥ वहाँ आगे-आगे इन्द्र चल रहे थे और पीछे-पीछे सब देवता चले आ रहे थे। इस प्रकार रत्नोंकी चमकसे सुहावनी लगनेवाली सीढ़ियोंपर चढ़कर कुमार उस भवनमें जा पहुँचे ॥४२॥ और सब देवता भी उस सुन्दर भवनमें जा पहुँचे जहाँ कल्पवृक्ष ही स्वयं बन्दनवार बना हुआ था, जहाँ ढेरके ढेर पारिजातके फूल विखरे पड़े थे, जहाँ देवर्षियोंने स्वस्ति-वाचन किया था और जहाँ एकसे एक बढ़कर सुन्दरी अप्सराएँ रहती थीं ॥४३॥ वहाँपर देव-दानव वंशके सबसे बड़े-बूढ़े महर्षि कश्यपके चरणोंकी प्रदक्षिणा करके कुमारने अपने छहों सिरोंसे

स देवमातुर्जगदेकवन्द्यौ पादौ तथैव प्रणनाम कामम् ।
मुनेः कलत्रस्य च तस्य भक्त्या प्रह्वीभवञ्शैलसुतातनूजः ॥ ४५ ॥
स कश्यपः सा जननी सुराणां तमेधयामासतुराशिषा द्वौ ।
तया यथा नैकजगज्जिगीषुं जेता मृधे तारकमुग्रवीर्यम् ॥ ४६ ॥
स्वदर्शनार्थं समुपेयुषीणां सुदेवतानामदितिश्रितानाम् ।
पादौ ववन्दे पतिदेवतास्तमाशीर्वचोभिः पुनरभ्यनन्दन् ॥ ४७ ॥
पुलोमपुत्रीं विबुधाधिभर्तुस्ततः शचीं नाम कलत्रमेषः ।
नमश्चकार स्मरशत्रुसूनुस्तमाशिषा सा समुपाचरच्च ॥ ४८ ॥
अथादितीन्द्रप्रमदाः समेतास्ता मातरः सप्त घनप्रमोदाः ।
उपेत्य भक्त्या नमते महेशपुत्राय तस्मै ददुराशिषः प्राक् ॥ ४९ ॥
समेत्य सर्वेऽपि मुदं दधाना महेन्द्रमुख्यास्त्रिदिवौकसोऽथ ।
आनन्दकल्लोलितमानसं तं समभ्यषिञ्चन्पृतनाधिपत्ये ॥ ५० ॥
सकलविबुधलोकः स्रस्तनिःशेषशोकः कृतरिपुविजयाशः प्राप्तयुद्धावकाशः ।
अजनि हरसुतेनानन्तवीर्येण तेनाखिलविबुधचमूनां प्राप्य लक्ष्मीमनूनाम् ॥ ५१ ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारसैनापत्याभिषेको नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

उन्हें जा प्रणाम किया ॥४४॥ कुमारने बड़ी भक्तिसे कश्यपकी पत्नी और देवोंकी आदि माता अदितिके उन चरणोंको भी भली भाँति प्रणाम किया जिन्हें सारा संसार पूजता है ॥४५॥ तब कश्यप और देव-माता अदितिने कुमारको यह आशीर्वाद देकर उनका साहस बढ़ाया कि तीनों लोकोंके जीतनेवाले इस शक्तिशाली तारक असुरको तुम युद्धमें अवश्य हराओगे ॥४६॥ वहाँ अदितिके यहाँ और जो देवाङ्गनाएँ रहती थीं वे भी कुमारको देखनेके लिये आ पहुँची । कुमारने उन सबको जा प्रणाम किया और उन सब पतिव्रता स्त्रियोंने भी कुमारको आशीर्वाद देकर उनका बड़ा मान बढ़ाया ॥४७॥ तब कुमारने इन्द्रकी पत्नी शचीको जा प्रणाम किया और उन्होंने भी आशीष देकर इनका मान बढ़ाया ॥४८॥ तब कुमारने कश्यपकी उन सातों पत्नियोंके पास जाकर बड़ी भक्तिसे प्रणाम किया जो बड़े आनन्दसे भरी वहीं इकट्ठी बैठी हुई थीं । उन्होंने तो प्रणाम करनेसे पहले ही कुमारको विजय पानेका आशीर्वाद दे डाला ॥४९॥ उसी समय इन्द्र आदि सभी देवताओंने आनन्दके साथ इकट्ठे होकर हँसमुख कुमार कार्तिकेयको अपना सेनापति बना दिया ॥५०॥ इस प्रकार जब अनन्त शक्तिशाली कुमार कार्तिकेय, देवताओंकी समूची सेनाके सेनापति हो गए तब देवताओंको विश्वास हो गया कि अब हम लोग युद्धमें शत्रुओंको अवश्य जीत लेंगे और यह समझकर उनका सब शोक भी जाता रहा ॥५१॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें सेनापतिका
अभिषेक नामका तेरहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ चतुर्दशः सर्गः ॥

रणोत्सुकेनान्धकशत्रुसूनुना समं प्रयुक्तैस्त्रिदशैर्जिगीषुणा ।
महासुरं तारकसंज्ञकं द्विषं प्रसह्य हन्तुं समनह्यत द्रुतम् ॥ १ ॥
स दुर्निवारं मनसोऽतिवेगिनं जयश्रियः सन्नयनं सुदुःसहम् ।
विजित्वरं नाम तदा महारथं धनुर्धरः शक्तिधरोऽध्यरोहयत् ॥ २ ॥
सुरालयश्रीविपदां निवारणं सुरारिसंपत्परितापकारणम् ।
केनापि दध्रेऽस्य विरोधिदारणं सुचारुचामीकरघर्मवारणम् ॥ ३ ॥
शरच्चरच्चन्द्रमरीचिपाण्डुरैः स वीज्यमानो वरचारुचामरैः ।
पुरःसरैः किन्नरसिद्धचारणै रणेच्छुरस्तूयत वाग्भिरुल्वणैः ॥ ४ ॥
प्रयाणकालोचितचारुवेषभृद्वज्रं वहन्पर्वतपक्षदारणम् ।
ऐरावतं स्फाटिकशैलसोदरं ततोऽधिरुह्य द्युपतिस्तमन्वगात् ॥ ५ ॥
तमन्वगच्छद्गिरिशृङ्गसोदरं मदोद्धतं मेषमधिष्ठितः शिखी ।
विरोधिविद्वेषरुषाधिकं ज्वलन्महोमहीयस्तरमायुधं दधत् ॥ ६ ॥
अथेन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहं विषाणविध्वस्तमहापयोधरम् ।
अधिष्ठितः कासरमुद्धरं मुदा वैवस्वतो दण्डधरस्तमन्वगात् ॥ ७ ॥
मदोद्धतं प्रेतमथाधिरूढवाँस्तमन्धकद्वेषितनजमन्वगात् ।
महासुरद्वेषविशेषभीषणः सुरोषणश्चण्डरणाय नैर्ऋतः ॥ ८ ॥

चौदहवाँ सर्ग

विजयकी उत्सुकतासे लड़नेके लिये उतारू कुमार कार्त्तिकेयके कहनेसे सब देवता मिलकर बल-पूर्वक तारकको मार डालनेके लिये अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र बाँधने लगे ॥१॥ तब धनुषधारी शक्तिशाली कुमार अपने 'विजित्वर' नामके उस बड़े भारी रथपर जा चढ़े जो मनसे भी अधिक वेगसे चलता था, जो किसीके रोके रुकता नहीं था और जिसपर चढ़कर लड़नेसे सदा विजय ही विजय मिलती है ॥२॥ उसी समय किसीने उनपर सोनेका वह शत्रु-नाशक छत्र भी ला लगाया जो स्वर्गकी लक्ष्मीको सुख देनेवाला और दैत्योंकी संपत्ति उजाड़ देनेवाला था ॥३॥ कुमारके दोनों ओर शरद्के चन्द्रमाकी किरणोंके समाम उजले सुन्दर चँवर ढुल रहे थे और उनके आगे बड़े-बड़े अखाड़िए किन्नर, सिद्ध और चारण उन युद्ध-प्रेमी कुमारकी बड़ाईके गीत गाते चल रहे थे ॥४॥ युद्धका ठाट सजाकर और पर्वतोंके पंख काटनेवाला वज्र लेकर इन्द्र भी स्फटिकके पर्वतके समान उजले और ऊँचे ऐरावत हाथीपर चढ़कर उनके पीछे-पीछे हो लिए ॥५॥ क्रोधके मारे शत्रुपर और भी अधिक जलते हुए अग्निदेव भी, पर्वतकी चोटीके समान ऊँचे और बिगड़ैल मेंढ़ेपर चढ़कर और बड़ा भयंकर दहलाता हुआ अस्त्र हाथमें लेकर कुमारके पीछे-पीछे चल दिए ॥६॥ हाथमें दंड लेकर यमराज भी अपने नीलमके पहाड़-जैसे ऊँचे और कलूटे उस भैंसेपर चढ़कर कुमारके पीछे चल दिए जो अपने सींगोंसे बादलोंकी छाती चीरता चल रहा था ॥७॥ नैर्ऋत्य दिशाका स्वामी निर्ऋति राक्षस भी तारकसे चिढ़कर बड़ा भयानक हो गया था और शत्रुसे लड़नेके लिये मतवाले प्रेतपर चढ़कर कुमारके पीछे चल दिया ॥८॥ अपना

नवोद्यदम्भोधरघोरदर्शने युद्धाय रूढो मकरे महत्तरे।
दुर्वारपाशो वरुणोरणोल्बणस्तमन्वियाय त्रिपुरान्तकात्मजम् ॥ ९ ॥
दिगम्बराधिक्रमणोल्बणं क्षणान्मृगं महीयांसमरुद्धविक्रमम्।
अधिष्ठितः संगरकेलिलालसो मरुन्महेशात्मजमन्वगाद्द्रुतम् ॥ १० ॥
विरोधिनां शोणितपारणैषिणीं गदामनूनां नरवाहनो वहन्।
महाहवाम्भोधिविगाहनोद्धतं यियासुमन्वागमदीशनन्दनम् ॥ ११ ॥
महाहिनिर्बद्धजटाकलापिनो ज्वलत्त्रिशूलप्रबलायुधा युधे।
रुद्रास्तुषाराद्रिसखं महावृषं ततोऽधिरूढास्तमयुः पिनाकिनः ॥ १२ ॥
अन्येऽपि संनह्य महारणोत्सवश्रद्धालवः स्वर्गिगणास्तमन्वयुः।
स्ववाहनानि प्रबलान्यधिष्ठिताः प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजश्रियः ॥ १३ ॥
उद्दण्डहेमध्वजषण्डसंकुलाश्चञ्चद्विचित्रातपवारणोज्ज्वलाः।
चलद्घनस्यन्दनघोषभीषणाः करीन्द्रघण्टारवचण्डचीत्कृताः ॥ १४ ॥
स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैरुद्द्योतिताशावलयाम्बरान्तराः।
दिवौकसां सोऽनुवहन्महाचमूः पिनाकपाणेस्तनयस्ततो ययौ ॥ १५ ॥
कोलाहलेनोच्चलतां दिवौकसां महाचमूनां गुरुभिर्ध्वजव्रजैः।
घनैर्निरुच्छ्वासमभूदनन्तरं दिङ्मण्डलं व्योमतलं महीतलम् ॥ १६ ॥
सुरारिलक्ष्मीपरिकम्पहेतवो दिक्चक्रवालप्रतिनादमेदुराः।
नभोन्तकुक्षिंभरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेनिरे ॥ १७ ॥

अचूक पाश लिए हुए बड़े बलवान् वरुणदेव भी अपने उस बड़े भारी घड़ियालपर बैठकर युद्धके लिये कुमारके पीछे चल दिए जो उठी हुई घटाके समान एकदम काला था ।।९।। लड़ाईकी इच्छासे पवनदेव भी क्षण भरमें अपने उस पराक्रमी हरिणपर बैठकर कुमारके पीछे चल दिए जो पृथ्वी और आकाशमें सब कहीं बिना रुके चौकड़ी भरता उड़ता चलता था ।।१०।। जो गदा शत्रुओंका लहू पीकर ही युद्धका व्रत तोड़ती थी, वह भारी गदा लेकर कुबेर भी उस पालकीपर चढ़कर कुमारके पीछे चले जिसे मनुष्य ढो रहे थे। ।।११।। अपने-अपने हाथोंमें पिनाक धनुष् और जलते हुए त्रिशूल लेकर तथा अपने जटा-जूटोंको बड़े-बड़े साँपोंसे कसकर हिमालयके समान उजले बैलोंपर चढ़ चढ़कर ग्यारहों रुद्र कुमार के पीछे-पीछे हो लिए ।।१२।। महायुद्धके इस उत्सवमें रुचि रखनेवाले दूसरे देवता भी अपने-अपने तगड़े वाहनोंपर चढ़-चढ़कर आनन्दसे हँस-हँसकर अपना मुख-कमल खिलाते हुए कार्तिकेयके साथ चल पड़े ।।१३।। इस प्रकार सब ठाठोंसे सजी हुई, अनगिनत सोनेके डंडे ऊपर उठाकर चलती हुई, चमचमाते हुए रङ्ग-बिरंगे छत्र चमकाती हुई, झुण्डके झुण्ड चलनेवाले रथोंकी घनघनाहटसे भयंकर लगती हुई, मतवाले हाथियोंके घंटोंकी टन-टन और उनकी चिग्घाड़ोंसे कान फाड़ती हुई और अनेक प्रकारके झिलमिलाते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी चमकसे चारों दिशाओं और आकाशको चमकाती हुई उस देवताओंकी महासेनाको लिए हुए वीर कुमार वहाँसे चल पड़े ।।१४-१५।। उछलते-कूदते चलनेवाले देवताओंके हल्ले और उस बड़ी भारी सेनाकी ऊँची-ऊँची और बड़ी-बड़ी ध्वजाओंसे, दसों दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी सब एकसे दिखाई पड़ने लगे ।।१६।। चारों ओर उनके नगाड़ोंकी घोर ध्वनिकी गूँज सुनकर तो दैत्योंकी राज-लक्ष्मी थर्रा

प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः ।
नभश्चभूधूलिकुलैरिवाकुलं ररास गाढं पटहप्रतिस्वनैः ॥ १८ ॥

क्षुण्णं रथैर्वाजिभिराहतं खुरैः करीन्द्रकर्णैः परितः प्रसारितम् ।
धूतं ध्वजैः काञ्चनशैलजं रजो वातैर्हृतं व्योम समारुहत्क्रमात् ॥ १९ ॥

खातं खुरै रथ्यतुरङ्गपुङ्गवैरुपत्यकाहाटकमेदिनीरजः ।
गतं दिगन्तान्मुखरैः समीरणैः सुविभ्रमं भूरि बभार भूयसा ॥ २० ॥

अधस्तथोर्ध्वं पुरतोऽथ पृष्ठतोऽभितोऽपि चामीकररेणुरुच्चकैः ।
चमूषु सर्पन्मरुदाहृतोऽहरन्नवीनसूर्यस्य च कान्तिवैभवम् ॥ २१ ॥

बलोद्धतं काञ्चनभूमिजं रजो बभौ दिगन्तेषु नभःस्थले स्थितम् ।
अकालसन्ध्याघनरागपिङ्गलं घनं घनानामिव वृन्दमुद्यतम् ॥ २२ ॥

हेमावनीषु प्रतिबिम्बमात्मनो मुहुर्विलोक्याभिमुखं महागजाः ।
रसातलोत्तीर्णगजभ्रमात्क्रुधा दन्तप्रकाण्डप्रहृतानि तेनिरे ॥ २३ ॥

सुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः कलं चलद्भिः सुरसैन्यसिन्धुरैः ।
शुद्धासु चामीकरशैलभूमिषु नादृश्यत स्वं प्रतिबिम्बमग्रतः ॥ २४ ॥

इति क्रमेणामरराजवाहिनी महाहवाम्भोधिविलासलालसा ।
अवातरत्काञ्चनशैलतो द्रुतं कोलाहलाक्रान्तविधूतकन्दरा ॥ २५ ॥

उठीं ॥१७॥ सेनाके चलनेसे उड़ी हुई धूलसे भरा हुआ आकाश ऐसा लगता था मानो मथनेके समयके समुद्रके गर्जनसे भी अधिक डरावनी ध्वनिवाले और दैत्योंकी स्त्रियोंके गर्भ गिरानेवाले नगाड़ोंकी धमक सुनकर आकाश रो उठा हो ॥१८॥ वहाँ सुमेरु पर्वतकी धूल इस ढंगसे आकाशमें चढ़ पहुँची कि पहले तो रथोंने वहाँकी मिट्टी उखाड़ी फिर घोड़ोंने अपने सुमोंसे खूँद-खूँद-कर उसे महीन किया, तब हाथियोंने अपने कान फड़-फड़ा कर उसे चारों ओर फैलाया, फिर लहराती हुई झंडियोंने उस धूलको और भी इधर-उधर बिखेर दिया और तब वायु उसे आकाशमें उड़ा ले गया ॥१९॥ इतना ही नहीं, सुमेरुकी तलहटीसे उठी हुई वह सुनहरी धूल रथ खींचनेवाले बढ़िया घोड़ोंके सुमोंसे पिसकर, हरहराते हुए पवनके सहारे सभी दिशाओंमें फैलकर चमक उठी ॥२०॥ पवनके सहारेसे सेनाके ऊपर-नीचे, आगे-पीछे और चारों ओर फैली हुई वह सुनहली धूल ऐसी सुन्दर थी कि निकलते हुए सूर्यकी सुनहरी धूप भी उसके आगे पानी भरे ॥२१॥ सेनाके चलनेसे उड़ी हुई सुनहरी धूल सभी दिशाओं और आकाशमें भरकर ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ने लगी मानो संध्या हुए बिना ही सुनहरे बादलोंके झुण्डके झुण्ड उमड़कर आकाशमें आ छाए हों ॥२२॥ सेनाके साथ चलते हुए हाथियोंने वहाँकी सुनहरी धरतीमें अपनी परछाई देखी तो वे समझे कि ये पातालसे निकले हुए बड़े-बड़े हाथी हैं और इसीलिये बहुत बिगड़कर वे उन परछाहीइयोंपर ही अपने बड़े-बड़े दाँतोंसे टक्कर मारने लगे ॥२३॥ बढ़िया सिन्दूरके चूरेसे रँगे हुए और धीरे-धीरे चलनेवाले उन देवताओंकी सेनाके हाथियोंकी सुमेरु गिरिकी चमकदार सोनेकी धरतीपर भी अपनी परछाहीं ठीक-ठीक नहीं दिखाई पड़ रही थी, क्योंकि दोनोंका ही रँग एक-सा था ॥२४॥ इस प्रकार युद्धके समुद्रमें तैरनेको उतारू देवराजकी सेना अपने हल्लेसे गुफाओंको गुजाती हुई सुमेरु पर्वतसे बड़े वेगसे नीचे उतरी ॥२५॥ देवताओंकी इस

महाचमूस्यन्दनचण्डचीत्कृतैर्विलोलघण्टेभपतेश्च बृंहितैः ।
सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः सिंहा महत्स्वप्नसुखं न तत्यजुः ॥ २६ ॥
गम्भीरभेरिध्वनितैर्भयंकरैर्महागुहान्तप्रतिनादमेदुरैः ।
महारथानां गुरुनेमिनिःस्वनैरनाकुलैस्तैर्मृगराजताऽजनि ॥ २७ ॥
समुत्थितेन त्रिदिवौकसां महाचमूरवेणाद्रितटान्तदारिणा ।
प्रपेदिरे केसरिणोऽधिकं मदं स्ववीर्यलक्ष्मीमृगराजतावशात् ॥ २८ ॥
भिया सुरानीकविमर्दजन्मना बिदुद्रुवुर्दूरतरं द्रुतं मृगाः ।
गुहागृहान्ताद्बहिरेत्य हेलया तस्थुर्विशङ्कं नितरां मृगाधिपाः ॥ २९ ॥
विलोकिताः कौतुकिनाऽमरावतीजनेन जुष्टप्रमदेन दूरतः ।
सुराचलप्रान्तभुवः प्रपेदिरे सुविस्तृतायाः प्रसरं सुसैनिकाः ॥ ३० ॥
पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥ ३१ ॥
महास्वनः सैन्यविमर्दसंभवः कर्णान्तकूलंकषतामुपेयिवान् ।
पयोनिधेः क्षुब्धतरस्य वर्धनो बभूव भूम्ना भुवनोदरम्भरिः ॥ ३२ ॥
महागजानां गुरुबृंहितैस्ततैः सुहेषितैर्घोरतरैश्च वाजिनाम् ।
घनै रथानां गुरुचण्डचीत्कृतैस्तिरोहितोऽभूत्पटहस्य निःस्वनः ॥ ३३ ॥

बड़ी भारी सेनाके रथोंकी घोर घरघराहट और बजते हुए घंटों और बड़े-बड़े हाथियोंकी चिग्घाड़ोंकी इतनी ध्वनि होते हुए भी सुमेरु पर्वतकी लंबी-लंबी गुफाओंमें सोनेवाले सिंहोंने अपनी नींदके सपनोंका सुख नहीं छोड़ा, वे सोए ही पड़े रहे ॥२६॥ गूफाओंमें गूंजते हुए नगाड़ोंकी गंभीर और भयंकर ध्वनि और बड़े-बड़े रथोंके पहियोंकी घड़घड़ाहट गुफाओंसे टकराकर दूनी होकर गूंज रही थी, फिर भी वहांके सिंह ज्योंके त्यों बैठे रहे और इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि हम ऐसे वैसे नहीं वरन् सचमुच मृगोंके राजा हैं ॥२७॥ सुमेरुकी चोटियोंको फोड़नेवाली उस देवोंकी महासेनाके चलनेसे जो हल्ला हो रहा था, उसे सुन-सुनकर वे सब सिंह और भी मतवाले हो उठे जो अपनी शक्तिके बलपर सब पशुओंके राजा बने हुए थे ॥२८॥ वहां जितने हरिण थे वे सब तो इस डरसे चौकड़ी भर-भरकर दूर भाग गए कि कहीं देवताओंकी सेना हमें मार न डाले, पर जितने सिंह थे, वे अपनी गुफाओंके बाहर निडर होकर मस्तीके साथ निकल-निकलकर आ बड़े हुए ॥२९॥ जब वे सैनिक उस ऊँचे सुमेरु पर्वतकी तलहटीमें उतरे, उस समय अमरावतीमें रहनेवाले सब स्त्री-पुरुष बड़े चावसे उन्हें देखने जा रहे थे ॥३०॥ सुमेरु पर्वतकी पीली, नीली, लाल और उजली चट्टानोंसे उड़ी हुई धूलसे भरा हुआ आकाश ऐसा लगने लगा मानो बिना परिश्रमके ही वह अनेक रत्नोंसे भरा गन्धर्वपुर बन गया हो ॥३१॥ कानोंके परदे फाड़नेवाला देवसेनाका वह उमड़ा हुआ घोर कोलाहल हड़हड़ाते हुए समुद्रके कोलाहलसे भी अधिक बढ़कर सारे ब्रह्माण्डमें गूंजने लगा ॥३२॥ यहांतक कि मतवाले हाथियोंकी भारी चिग्घाड़, चारों ओर घोड़ोंकी हिनहिनाहट और चलते हुए रथोंकी घोर घरघराहटमें वह गम्भीर और कान फाड़नेवाली नगाड़ोंकी ध्वनि भी एकदम दब गई ॥३३॥ और क्षण-भरमें ही देवसेनाके चलनेसे उड़ी हुई वह धूल धीरे-धीरे दैत्योंकी

महासुराणामबरोधयोषितां कचाक्षिपक्ष्मस्तनमण्डलेषु च ।
ध्वजेषु नागेषु रथेषु वाजिषु क्षणेन तस्थौ सुरसैन्यजं रजः ॥ ३४ ॥
घनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्चमूरजोभिर्निचितं नभःस्थलम् ।
अयायि हंसैरभिमानसं घनभ्रमेण सानन्दमनर्ति केकिभिः ॥ ३५ ॥
सान्द्रैः सुरानीकरजोभिरम्बरे नवाम्बुदानीकनिभैरभिश्रिते ।
चकाशिरे स्वर्णमया महाध्वजाः परिस्फुरन्तस्तडितं गणा इव ॥ ३६ ॥
विलोक्य धूलीपटलैर्भृशं भृतं द्यावापृथिव्योरलमन्तरं महत् ।
किमूर्ध्वतोऽधः किमधस्त ऊर्ध्वतो रजोऽभ्युपैतीति जनैरतर्क्यत ॥ ३७ ॥
नोर्ध्वं न चाधो न पुरो न पृष्ठतो न पार्श्वतोऽभूत्खलु चक्षुषोर्गतिः ।
सूच्यग्रभेद्यैः पृतनारजश्चयैराच्छादिता प्राणिगणस्य सर्वतः ॥ ३८ ॥
दिगन्तदन्त्याबलिदानहारिभिर्विमानरन्ध्रप्रतिदानमेदुरैः ।
अनेकवाद्यध्वनितैरनारतैर्जगर्ज गाढं गुरुभिर्नभस्तलम् ॥ ३९ ॥
भुवं विगाह्य प्रययौ महाचमूः क्वचिन्न मान्ती महतीं दिवं खलु ।
सुसंकलायामपि तत्र निर्भरात्कि कान्दिशीकत्वमवाप नाकुला ॥ ४० ॥
उद्दामदानद्विपवृन्दबृंहितैर्नितान्तमुत्तुङ्गतुरङ्गहेषितैः ।
चलद्घनस्पन्दननेमिनिःस्वनैरभून्निरुच्छ्वासमिवाकुलं जगत् ॥ ४१ ॥

स्त्रियोंके बालों, उनकी आँखों, अलकों और उनके स्तनोंपर बैठती हुई फिर उनकी पताकाओं, हाथियों, रथों और घोड़ोंपर जा जमने लगी ।।३४।। जब सेनाकी घनी धूल सूर्यको ढककर आकाशमें जा छाई तब हंस समझे कि ये बादल हैं और बरसात जानकर वे तो मानसरोवरकी ओर उड़ चले और मोर मस्तीसे नाच उठे ।।३५।। सेनाके चलनेसे उड़ी हुई घनी धूल तो आकाशमें नये बादलोंकी पाँतों-जैसी दिखाई देने लगी और सुनहरी पताकाएं, चमकती हुई बिजलीकी लहरों-जैसी चमकने लगीं ।।३६।। आकाश और पृथ्वीके ठीक बीचों बीच छाई हुई उस धूलको देखकर लोग इसी उलझनमें पड़े सोचते रह गए कि यह धूल, ऊपरसे नीचे उतर रही है या नीचेसे ऊपरको चढ़ रही है ।।३७।। सेनाके चलनेसे उठी हुई धूल चारो ओर ऐसी छा गई थी कि सूईकी नोकके बराबर स्थान भी छूटा नहीं रह गया था इसलिये सबकी आँखोंके आगे ऐसा अँधेरा आ छाया कि किसीको भी नीचे ऊपर, आगे-पीछे, इधर-उधर कहीं कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा था ।।३८।। सेनामें ऐसे बहुतसे बाजे निरंतर बज रहे थे जिनकी घोर ध्वनि सुनकर मतवाले हाथियोंका मद भी सूख जाता था और जिनकी ध्वनि विमानोंकी छतरियोंमें टकराकर और भी दूनी गूँज उठती थी। उन्हें सुन-सुनकर ऐसा लगता था मानो आकाश ही घनघोर गरज रहा हो ।।३९।। देवताओंकी यह महासेना पहले तो धरतीमें जा भरी पर वहाँ न समा सकनेके कारण आकाशमें जा पहुँची और जब वहाँ भी न समा सकी तब मानो वह यह समझकर घबरा उठी कि अब यहाँसे कहाँ चला जाय ।।४०।। ऊँचे-ऊँचे मतवाले हाथियोंकी चिग्घाड़ोंसे, अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे घोड़ोंकी हिनहिनाहटोंसे और चलनेवाले रथोंकी घड़-घड़ाहटोंसे सब ऐसे घबरा उठे मानो सबकी साँस घुटी जा रही हो ।।४१।। बड़े-बड़े हाथियोंकी घोर चिग्घाड़, उनके हिलते हुए युद्धके घंटोंकी टन-टनटनाहट और

महागजानां गुरुभिस्तु गर्जितैर्विलोलघण्टारणितै रणोल्बणैः।
वीरप्रणादैः प्रमदप्रमेदुरैर्वाचालतामादधिरेतरां दिशः ॥ ४२ ॥
दन्तीन्द्रदानद्रववारिवीचिभिः सद्योऽपि नद्यो बहुधा पुपूरिरे।
धारारजोभिस्तुरङ्गैःक्षतैर्भृतायाः पङ्कतामेत्य रथैःस्थलीकृताः ॥ ४३ ॥
निम्नाः प्रदेशाः स्थलतामुपागमन्निम्नत्वमुच्चैरपि सर्वतश्च ते।
तुरंगमाणां व्रजतां खुरैः क्षता रथैर्गजेन्द्रैः परितः समीकृताः ॥ ४४ ॥
नभोदिगन्तप्रतिघोषभीषणैर्महामहीभृत्तटदारणोल्बणैः।
पयोधिनिर्धूननकेलिभिर्जगद्बभूव भेरीध्वनितैः समाकुलम् ॥ ४५ ॥
इतस्ततो वातविधूतचञ्चलैर्नीरन्ध्रिताशागमनैर्ध्वजांशुकैः।
लक्षैः क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीकुलैरमज्जि धूली-जलधौ नभोगते ॥४६॥
घण्टारवै रौद्रतरैर्निरन्तरं विसृत्वरैर्गर्जरवैः सुभैरवैः।
मत्तद्विपानां प्रथयांबभूविरे न वाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः ॥ ४७ ॥
करालवाचालमुखाश्चमूस्वनैर्ध्वस्ताम्बरा वीक्ष्य दिशो रजस्वलाः।
तिरोबभूवे गहनैर्दिनेश्वरो रजोन्धकारैः परितः कुतोऽप्यसौ ॥ ४८ ॥
आक्रान्तपूर्वा रभसेन सैनिकैर्दिगङ्गना व्योमरजोभिर्दूषिता।
भेरीरवाणां प्रतिशब्दितैर्घनैर्जगर्ज गाढं घनमत्सरादिव ॥ ४९ ॥
गुरुसमीरसमीरित भूधरा इव गजा गगनं विजगाहिरे।
गुरुतरा इव वारिधरा रथा भुवमितीह विवर्त्त इवाभवत् ॥ ५० ॥

मतवाले वीरोंकी ललकारकी चिल्लपों चारों ओर फैली हुई ऐसी लगती थी मानों दसों दिशाएँ ही कोलाहल मचाए डाल रही हों ॥४२॥ बड़े-बड़े हाथियोंका इतना मद वहाँ बहा कि सूखी हुई नदियोंमें तुरन्त बाढ़ आ गई और फिर घोड़ोंके सुमोंकी खूँदसे उठी हुई धूल भर जानेसे उन नदियोंमें कीचड़ ही कीचड़ हो गया और फिर रथोंके पहियोंसे दबकर वहीं फिर ज्योंकी त्यों धरती निकल आई ॥४३॥ चलते हुए घोड़ोंके सुमोंसे रौंदी जानेपर और रथों तथा हाथियोंके चलनेसे दब जानेपर गड्ढे तो टीले हो गए और टीले गड्ढे हो गए ॥४४॥ बड़े-बड़े पहाड़ोंको फाड़ डालनेवाली और समुद्रमें हलचलमचा देनेवाली वह नगाड़ेकी ध्वनि जब उठकर आकाश और दिशाओंमें जा गूँजी तो उसकी औरभी भयानक ध्वनि सुनकर सारा संसार घबरा उठा ॥४५॥ उस सेनाकी टन-टनाती हुई घुंघरुओंवाली वे लाखों झंडियाँ जो सारे आकाशमें छाकर सब मार्ग रोके हुए वायुके झोंकोंसे फरफरा रहीं थी, उस सेनाके चलनेसे उड़ी हुई धूलके समुद्रमें जा डूबीं ॥४६॥ मतवाले हाथियोंकी गूँजती हुई चिग्घाड़ और पल-पलमें भयंकर होकर बढ़ती हुई घण्टोंकी ध्वनिके आगे सेनाके नगाड़ोंकी ढमढम सुनाई ही नहीं पड़ रही थी ॥४७॥ जैसे किसी हल्ला मचानेवाली नंगी रजस्वलाको देखकर सज्जन लोग आड़ कर लेते हैं वैसे ही सेनाके होहल्लसे घोर कोलाहल करती हुई और आकाश-रूपी वस्त्रको फाड़कर रजसे भरी हुई दिशा-रूपी नायिकाको देखकर फैले हुए धूलके घने अँधेरेकी ओट करके सूर्यने अपनेको छिपा लिया ॥४८॥ वहाँ जो नगाड़े बज रहे थे उनकी धमक ऐसी लग रही थी मानो आकाश-रूपी नायक, धूलसे भरी हुई अपनी दिशारूपी रजस्वला नायिकापर सैनिकोंका इतना बड़ा धावा देखकर घोर ईर्ष्यासे अचानक गरज उठा हो ॥४९॥ बड़े-बड़े हाथी आकाशमें इस प्रकार इधर-उधर घूम रहे थे जैसे किसी बड़ी भारी आँधीसे पहाड़की चट्टानें ऊपर उड़ी जा रही हों और भूमिपर रथ इस प्रकार चल रहे थे मानो बड़े-बड़े बादल उतरकर चल रहे हों।

बलमदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाले निरवधय इवाम्भोराशयो घोरघोषाः ।
गुरुतरपरिमज्जद्भूभृतो देवसेना ववृधुरपि सुपूर्णा व्योमभूम्यन्तराले ॥ ५१ ॥

॥ इति महाकवि श्रीकालिदासकृतो कुमारसम्भवे महाकाव्ये
देवसेनाप्रयाणं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

इस युद्धमें ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वीके पहाड़ तो आकाशमें उड़ने लगे हों और आकाशमें चलनेवाले बादल पृथ्वीपर उतरकर चलने लगे हों ॥५०॥ घोर कोलाहल मचाती हुई बड़े-बड़े राजाओंसे भरी वह देवसेना भली प्रकार चारों ओर भरी होनेपर भी इस प्रकार और भी अधिक बढ़ चली मानो बलवान् असुरोंके इस महाप्रलयके समय घोर रूपसे गरजता हुआ महासागर उमड़ा चला जा रहा हो ॥५१॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें
देवसेनाका प्रस्थान नामक चौदहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ पञ्चदशः सर्गः ॥

सेनापतिं नन्दनमन्धकद्विषो युधे पुरस्कृत्य बलस्य शात्रवः ।
सैन्यैरुपैतीति सुरद्विषां पुरोऽभूत्किंवदन्ती हृदयप्रकम्पिनी ॥ १ ॥
चमूप्रभुं मन्मथमर्दनात्मजं विजित्वरीभिर्विजयश्रियाश्रितम् ।
श्रुत्वा सुराणां पृतनाभिरागतं चित्ते चिरं चुक्षुभिरे महासुराः ॥ २ ॥
समेत्य दैत्याधिपतेः पुरे स्थिताः किरीटबद्धाञ्जलयः प्रणम्य ते ।
न्यवेदयन्मन्मथशत्रुसूनुना युयुत्सुना जम्भजितं सहागतम् ॥ ३ ॥
दासीकृताशेषजगत्त्रयं न मां जिगाय युद्धे कतिशः शचीपतिः ।
गिरीशपुत्रस्य बलेन साम्प्रतं ध्रुवं विजेतेति स काकुतोऽहसत् ॥ ४ ॥
ततः क्रुधा विस्फुरिताधराधरः स तारको दर्पितदोर्बलोद्धतान् ।
युधे त्रिलोकीजयकेलिलालसः सेनापतीन्सन्नहनार्थमादिशत् ॥ ५ ॥
महाचमूनामधिपाः समन्ततः सन्नह्य सद्यः सुतरामुदायुधाः ।
तस्थुर्विनम्रक्षितिपालसंकुले तदङ्गनद्वारवरप्रकोष्ठके ॥ ६ ॥
स द्वारपालेन पुरः प्रदर्शितान्कृतानतीन्बाहुवरानधिष्ठितान् ।
महाहवाम्भोधिविधूननोद्धतान्ददर्श राजा पृतनाधिपान्बहून् ॥ ७ ॥
बली बलारातिबलातिशातनं दिग्दन्तिनादद्रवनाशनस्वनम् ।
महीधराम्भोधिमवारितक्रमं ययौ रथं घोरमथाधिरुह्य सः ॥ ८ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

उधर जब दैत्योंके नगरमें यह हल्ला मचा कि शंकरके पुत्र कार्त्तिकेयको सेनापति बनाकर और देवताओंकी सेना साथ लेकर दैत्योंके शत्रु इन्द्र यहाँ युद्ध करनेके लिये बढ़े चले आ रहे हैं तब दैत्योंमें बड़ी खलबली मच गई ॥१॥ और जब उन्होंने जान लिया कि जयलक्ष्मीके साथ देवताओंकी सेना लेकर विजयी कार्त्तिकेय सचसुच सेनापति बनकर आए हैं तब तो दैत्योंके नगरके रहनेवाले बहुत देरतक ऐसे घबराए बैठे रहे मानो उन्हें काठ मार गया हो ॥२॥ दैत्योंके राजा तारककी नगरीमें रहनेवाले सब दैत्य मिलकर तारकके पास पहुँचकर उनके आगे सिर झुकाकर प्रणाम करके कहने लगे कि युद्ध करनेको उतारू कुमारको साथ लेकर इन्द्र आ पहुँचे हैं ॥३॥ यह सुनकर तारकने बड़े तानेके साथ हँसते हुए कहा—'पिछले कई युद्धोंमें जो इन्द्र मुझ त्रैलोक्य-विजयीको नहीं जीत पा सका वह अब जब कुमारके भरोसे लड़ने चला है तब भला क्या जीतेगा' ॥४॥ यह कहते ही तीनों लोकोंको खेल ही खेलमें जीतनेकी शक्ति रखनेवाले तारकके ओठ काँपने लगे और उसने अपने उन अखाड़िये सेनापतिको युद्धके लिये सजनेकी आज्ञा दे दी जिन्हें अपने बाहुबलपर बड़ा घमंड था ॥५॥ तब अस्त्र-शस्त्र बाँधकर बड़े-बड़े दैत्य सेनापति तुरंत तारकके उस भारी फाटकवाले आँगनमें आ खड़े हुए जहाँ बहुतसे आज्ञाकारी राजा पहलेसे ही पूँछ दबाए आए खड़े थे ॥६॥ वहाँ द्वारपर पहुँचकर जो जो वीर आकर प्रणाम करते जाते थे उन बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले वीरोंको द्वारपाल भी तारकासुरके सामने ले जा खड़ा करता जाता था। दैत्यराजने देखा कि वे अनगिनत सेनापति, महायुद्धका हलचल मचानेमें सब एकसे एक बढ़कर हैं ॥७॥ तब वह बलवान् दैत्य भी स्वयं उस भयंकर रथपर चढ़कर चल पड़ा जो अकेला ही इन्द्रकी सेनाको तहस-नहस कर सकता था, जिसकी घरघराहट सुनकर दिग्गजोंका चिग्घाड़ना और मद बहाना बन्द हो जाता था

युगक्षयक्षुब्धपयोधिनिःस्वनाश्चलत्पताकाकुलवारितातपाः ।
धरारजोग्रस्तदिगन्तभास्कराः पतिं प्रयान्तं पृतनास्तमन्वयुः ॥ ९ ॥
चमूरजः प्राप दिगन्तदन्तिनां महासुरस्याभिमुखं प्रसर्पिणः ।
दन्तप्रकाण्डेषु सितेषु शुभ्रतां कुम्भेषु दानाम्बुघनेषु पङ्कताम् ॥ १० ॥
महीभृतां कन्दरदारणोल्बणैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्घनैः ।
उद्वेलिताश्चुक्षुभिरे महार्णवा नभःस्रवन्ती सहसाभ्यवर्धत ॥ ११ ॥
सुरारिनाथस्य महाचमूस्वनैर्विगाह्यमाना तुमुलैः सुरापगा ।
अभ्युच्छ्रितैरूर्मिशतैश्च वारिजैरक्षालयन्नाकनिकेतनावलीम् ॥ १२ ॥
अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विषः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तव ॥ १३ ॥
आगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणीकुपक्षिणांघोरतरापरम्परा।
दधौ पदं व्योम्नि सुरारिवाहिनीरुपर्युपर्येत्यनिवारितातपा ॥ १४ ॥
मुहुर्विभग्नातपवारणध्वजश्चलद्धराधूलिकलाकुलेक्षणः ।
धूताश्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्षणोऽभूत्प्रसभं प्रभञ्जनः ॥ १५ ॥
सद्योविभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसोमुखैर्विषाग्निविकिरन्तउच्चकैः।
पुरः पथोऽतीत्य महाभुजङ्गमा भयङ्कराकारभृतो भृशं ययुः ॥ १६ ॥

और जो पर्वत तथा समुद्रमें कहीं भी बेरोक-टोक चला जा सकता था ॥८॥ पृथ्वीसे उड़ी हुई धूलसे सब दिशाओं और आकाशको ढकती हुई दैत्योंकी वह सेना भी अपने सेनापति तारकासुरके पीछे-पीछे चल पड़ी, जो प्रलय कालके हरहराते हुए समुद्रके समान बड़ा हल्ला मचाए डाल रही थी और जिसमें इतनी पताकाएँ फहरा रही थीं कि उनसे धूपतक रुक गई थी ॥९॥ जब देवताओंसे लड़नेके लिये महादैत्य तारककी सेना चली तब उसके चलनेसे उड़ी हुई धूल दिग्गजोंके उजले दाँतोंपर पड़कर उजली हो उठती थी और जब मद बहते हुए उनके गालोंपर पड़ती थी तब कीचड़ बन जाती थी ॥१०॥ उसकी सेनाके नगाड़ोंकी जो गम्भीर ध्वनि पहाड़ोंकी कन्दराओंको फोड़ सकती थी उसे सुनकर समुद्र भी हिलोरें लेकर अपने तटसे ऊपर उठ आया और आकाशगंगामें भी अचानक बाढ़ आ गई ॥११॥ दैत्यराजकी बड़ी भारी सेनाका भयंकर हल्ला जो आकाशगंगामें गूँजा तो सुन्दर कमलोंसे भरी सैकड़ों लहरोंके ज्वारने स्वर्गके सारे भवन धो डाले ॥१२॥ जब वह दैत्यराज लड़नेके लिये चला तब उसके आगे ऐसे बुरे-बुरे असगुन होने लगे जिनसे जान पड़ने लगा कि वह दैत्य किसी भारी विपत्तिके समुद्रमें डूबनेवाला है ॥ १३ ॥ उसी समय दैत्योंका मांस पानेकी टोहमें बहुतसे गिद्ध, कौवे आदि भयंकर जीव-जन्तु पाँतें बाँध-बाँधकर दैत्योंकी सेनाके ऊपर ठीक इस प्रकार मँडराने लगे कि उनकी छाया भी नीचे नहीं पड़ती थी ॥ १४ ॥ आकाशमें बार-बार ऐसी आँधियाँ उठने लगीं कि छत्र-चँवर, पताकाएँ, सब टूट-फूट चलीं, धूल उड़-उड़कर सबकी आँखोंमें आ भरी और घोड़े, हाथी रथ सबको उन आँधियोंने झकझोर डाला ॥ १५ ॥ तुरन्त पारे हुए काजलसे टूटकर गिरे हुए टुकड़ेके समान काले और विष-भरी आगकी ऊँची-ऊँची लपटें उगलने-वाले बड़े भयंकर डील-डौलवाले साँप, सेनाका मार्ग काट-काटकर सामनेसे निकलने लगे ॥ १६ ॥ और बैरके कारण ही

मिलन्महाभीमभुजङ्गभीषणं प्रभुर्दिनानां परिवेषमादधौ ।
महासुरस्य द्विषतोऽतिमत्सरादिवान्तमासूचयितुं भयङ्करः ॥ १७ ॥
त्विषामधीशस्य पुरोऽधिमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाशिरे ।
सुरारिराजस्य रणान्तशोणितं प्रसह्य पातुं द्रुतमुत्सुका इव ॥ १८ ॥
दिवापि तारस्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽथ वाहिनीः ।
विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनं सुरद्विषः ॥ १९ ॥
ज्वलद्भिरुच्चैरभितः प्रभाभरैरुद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम् ।
रवेण रौद्रेण हृदन्तदारणं पपात वज्रं नभसो निरम्बुदात् ॥ २० ॥
ज्वलद्भिरङ्गारचयैर्नभस्तलं ववर्ष गाढं सह शोणितास्थिभिः ।
धूमं ज्वलन्त्यो व्यसृजन्मुखै रजो दधुर्दिशो रासभकण्ठधूसरम् ॥ २१ ॥
निर्घातघोषो गिरिशृङ्गशातनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरम्भरिः ।
बभूव भूम्ना श्रुतिभित्तिभेदनः प्रकोपिकालार्जितगर्जितर्जनः ॥ २२ ॥
स्खलन्महेभं प्रपतत्तुरङ्गमं परस्पराश्लिष्टजनं समन्ततः ।
प्रक्षुभ्यदम्भोधिविभिन्नभूधराद्बलं द्विषोऽभूदवनिप्रकम्पात् ॥ २३ ॥
ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः ।
श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः ॥ २४ ॥
अपीति पश्यन्परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसन्ततिम् ।
दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः ॥ २५ ॥
अरिष्टमाशङ्क्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि बुधैर्महासुरः ।
पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम् ॥ २६ ॥

मानो सूर्यने भयंकर साँपोंकी कुण्डलीके समान बड़ा-सा मंडल चारों ओर डाल लिया था जो बता रहा था कि देवताओंके शत्रु तारक असुरके दिन पूरे हो चले हैं ।।१७।। युद्धमें तारक असुरका लहू पीनेकी उतावलीमें सियारिनियाँ सूर्य-मण्डलके चारों ओर आ-आकर बड़े डरावने स्वरमें रोने लगीं ।।१८।। दिनमें निकले हुए तारे उस सेनाके चारों ओर बड़े वेगसे टूट-टूटकर गिरने लगे और लोगोंको विश्वास हो गया कि ये सब उपद्रव तारकके नाशके लिये ही हो रहे हैं ।।१९।। अपनी घोर और भयंकर तड़पसे हृदय फाड़ देनेवाली और अपनी जलती हुई चमकसे सारी दिशाओं और आकाशको चमका देनेवाली बिजली भी बिना बादलके ही आकाशसे टूट-टूटकर गिरी जा रही थी ।।२०।। आकाशसे धधकते हुए अंगारों, लहू और हड्डियोंकी घनघोर वर्षा होने लगी थी और दसों दिशाएँ गधेके गलेके रंग-जैसा भूरा-भूरा धुआँ उगले जा रही थीं ।।२१।। चारों ओर आकाशमें और दसों दिशाओंमें ऐसा भयंकर हल्ला हो रहा था जो क्रोधमें भरे हुए कालकी गरजके समान कानोंके पर्दे फाड़े डाल रहा था और जिसकी गूँजसे पहाड़की चोटियाँ भी फटी पड़ रही थीं ।।२२।। इतनेमें ही ऐसा प्रचंड भूडोल आया कि समुद्र हिलोरें लेने लगा, पहाड़ोंमें दरारें पड़ गईं, तारकके सैनिक एक दूसरेसे चिपट गए, बड़े-बड़े हाथी लड़खड़ा उठे और घोड़े जहाँ तहाँ पटपट गिरने लगे ।।२३।। सूर्यकी ओर देखते हुए मुँह उठाकर एक साथ बहुतसे कुत्ते रोते और बुरे ढंगसे भूँकते हुए तारकके सामने आ निकले ।।२४।। इस प्रकारके बुरे-बुरे डरावने असगुन देखकर भी दुर्भाग्यके मारे उस दैत्यने क्रोधसे लड़ाईमें जानेसे मुँह नहीं मोड़ा ।।२५।। ऐसे बड़े, डरावने और बुरे असगुन देखकर विद्वानोंने उस महादैत्यको बहुत रोकना चाहा पर वह किसकी सुननेवाला था, वह आगे

क्षितौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयचामीकरघर्मवारणम् ।
रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकल्पितं हाटकभाजनं महत् ॥ २७ ॥

विजानता भाविशिरोनिकृन्तनं प्रज्ञेन शोकादिव तस्य मौलिना ।
मुहुर्गलद्भिस्तरलैरलन्तरामरोदि मुक्ताफलबाष्पबिन्दुभिः ॥ २८ ॥

निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभिर्ग्रहीतुकामैरिव तं मुहुर्मुहुः ।
अपाति गृध्रैरभितो मौलिमाकुलैर्भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः ॥ २९ ॥

सद्यो निकृत्ताञ्जनसोदरद्युतिं फलामणिप्रज्वलदंशुमंडलम् ।
निर्यद्विषोल्कानलगर्भफूत्कृतं ध्वजे जनस्तस्य महाहिमैक्षत ॥ ३० ॥

रथाश्वकेशावलिकर्णचामरं ददाह बाणासनबाणबाणधीन् ।
अकाण्डतश्चण्डतरो हुताशनस्तस्यातनुस्यन्दनधुर्यगोचरः ॥ ३१ ॥

इत्याद्यरिष्टैरशुभोपदेशिभिर्विहन्यमानोऽप्यसुरः पुनः पुनः ।
यदा मदान्धो न गतान्न्यवर्तताम्बरात्तदाभून्मरुतां सरस्वती ॥ ३२ ॥

मदान्ध मा गा भुजदण्डचण्डिमावलेपतो मन्मथहन्तृसूनुना ।
सुरैः सनाथेन पुरन्दरादिभिः समं समन्तात्समरं विजित्वरैः ॥ ३३ ॥

गुहोऽसुरैः षड्‌दिन जातमात्रको निदाघधामेव निशातमोभरैः ।
विषह्यते नाभिमुखो हि संगरे कुतस्त्वया तस्य समं विरोधिता ॥ ३४ ॥

अभ्रंलिहैः शृङ्गशतैः समन्ततो दिक्चक्रवालैः स्थगितस्य भूभृतः ।
क्रौञ्चस्य रन्ध्रं विशिखेन निर्ममे येनाहवस्तस्य सह त्वया कुतः ॥ ३५ ॥

बढ़ता ही चला गया। जो लोग हठसे अन्धे हो जाते हैं उन्हें बड़े-बूढ़ोंका उपदेश कभी अच्छा नहीं लगता ॥२६॥ इतनेमें ही उलटे बहते हुए वायुका ऐसा झोंका आया कि सुनहरा राजछत्र भी भूमिपर औंधा जा गिरा और ऐसा लगने लगा मानो उसकी मृत्युने अपना व्रत तोड़नेके समय भोजन करनेके लिये यह सोनेका थाल सामने ला रक्खा हो ॥२७॥ तारकके किरीटके टूट-टूटकर गिरते हुए मोती ऐसे लग रहे थे मानो तारकका सिर कटनेकी बात पहलेसे जाननेवाला वह समझदार मुकुट अपने मोतीके आँसू बार-बार बरसाकर रोने लग रहा हो ॥२८॥ उनके सिरपर मँडराते हुए गिद्धोंको उसके सेवक बराबर भगाए डाल रहे थे पर वे गिद्ध थे कि व्याकुलताके साथ सिरपर ही गिर-गिरकर मानो यह बता रहे हों कि अब तुम्हारे दिन पूरे हो चले हैं ॥२९॥ इतनेमें लोगोंने देखा कि उसके झंडेपर तुरन्त पारे हुए काजलके समाम काला, अपने फणके मणिकी किरणोंके प्रकाशसे चमकते हुए फनोंवाला और भयानक विष-भरी आगकी फुंकार छोड़नेवाला एक बड़ा भारी साँप आ लिपटा है ॥३०॥ इतनेमें अचानक उसके रथके धुरेसे आगकी ऐसी भारी लपट उठी कि रथके घोड़ोंके बाल, कान और चौरियाँ झुलस गईं और तारकके धनुष्, बाण और तूणीर भी जल उठे ॥३१॥ बार-बार ऐसे बुरे-बुरे असगुन होनेपर भी जब वह घमंडमें चूर दैत्य न लौटा, तब आकाशसे यह देववाणी सुनाई दी ॥३२॥—'अरे घमंडमें चूर दैत्य ! तू अपने भुजदंडोंपर घमंड करके उन कार्त्तिकेयसे युद्ध करने मत जा, जिनके साथ इन्द्र और विजयी देवता बढ़े चले आ रहे हैं ॥३३॥ अरे मतवाले दैत्य ! छह दिनके बालक कुमारके आगे युद्धमें दैत्योंकी वही दुर्दशा होगी जो सूर्यके आगे रातके अँधेरेकी होती है। भला तू उनसे क्या लड़ पावेगा ! ॥३४॥ देख तारक ! जिस क्रौंच पर्वतकी सैकड़ों चोटियाँ आकाश चूमती हैं और जो दसों

लब्ध्वा धनुर्वेदमनङ्गविद्विषस्त्रिसप्तकृत्वः समरे महीभुजाम् ।
कृत्वाभिषेकं रुधिराम्बुभिर्घनैः स्वक्रोधवह्निं शमयांबभूव यः ।। ३६ ।।
न जामदग्न्यः क्षयकालरात्रिकृत्स क्षत्रियाणां समराय वल्गति ।
येन त्रिलोकीसुभटेन तेन कुतोऽवकाशः सह विग्रहग्रहे ।। ३७ ।।
त्यजाशु गर्वं मदमूढ मा स्म गाः स्मरारिसूनोर्वरशक्तिगोचरम् ।
तमेव नूनं शरणं व्रजाधुना जगत्सुवीरं स चिराय जीव तत् ।। ३८ ।।
श्रुत्वेति वाचं वियतो गरीयसीं क्रोधादहंकारपरो महासुरः ।
प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयोऽपि सन्नकम्पतोच्चैर्दिवमभ्यधाच्च सः ।। ३९ ।।
किं ब्रूथ रे व्योमचरा महासुराः स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्त्तिनः ।
मदीयबाणव्रणवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता ।। ४० ।।
कटुस्वरैः प्रालपथाम्बरस्थिताः शिशोर्बलात्षड्दिनजातकस्य किम् ।
श्वानः प्रमत्ता इव कार्त्तिके निशि स्वैरं वनान्ते मृगधूर्त्तका इव ।।४१।।
सङ्गेन वो गर्भतपस्विनः शिशुर्वराक एषोऽन्तमवाप्स्यति ध्रुवम् ।
अतस्करस्तस्करसङ्गतो यथा तद्वो निहन्मि प्रथमं ततोऽप्यमुम् ।। ४२ ।।
इतीरयत्युग्रतरं महासुरे महाकृपाणं कलयत्यलं क्रुधा ।
परस्परोत्पीडितजानवो भयान्नभश्चरा दूरतरं विदुद्रुवुः ।। ४३ ।।
ततोऽवलेपाद्विकटं विहस्य स व्यधत्त कोशादसिमुत्तमं बहिः ।
रथं द्रुतं प्रापय वासवान्तिकं नन्वित्यवोचन्निजसारथिं रथी ।। ४४ ।।

दिशाओंमें फैला हुआ है उसे भी जिसने बाणोंसे छेद डाला उनके साथ तू भला क्या लड़ पावेगा ? ।।३५।। जिन परशुरामने शंकरसे धनुर्विद्या सीखकर इक्कीस बार युद्धमें राजाओंके गढ़े रक्तमें स्नान करके अपना क्रोध ठंडा किया है ऐसे क्षत्रियोंके नाशकी कालरात्रि बुलानेवाले परशुराम भी जिनसे लड़नेमें घबराते हैं, उन त्रिभुवन-प्रसिद्ध महायोद्धासे लड़नेका तुममें कहाँ दम है ।।३६-३७।। अरे घमंडसे अन्धे दैत्य ! तू अपना घमंड छोड़कर कुछ ऐसा उपाय कर कि जिससे तू कुमारकी शक्तिके आगे न आ पड़े। इस समय तेरे प्राण बच पावेंगे तो उन्हींकी शरणमें जानेसे ही बचे रह पा सकेंगे' ।।३८।। अपने क्रोधसे तीनों लोकोंको कँपादेनेवाला वह घमंडी दैत्य भी ऐसी आकाशवाणी सुनकर एक बार तो स्वयं काँप उठा पर फिर सँभलकर आकाशकी ओर मुँह करके गरजकर बोला--।।३९।। 'अरे कार्तिकेयकी बड़ाई करनेवाले आकाशमें घूमनेवाले देवताओं ! क्या आज तुम्हें मेरे बाणोंके घावोंकी पीड़ा भूल गई जो इस प्रकार बक-बक किए जा रहे हो ।।४०।। अरे देवताओ ! कार्त्तिकके महीनेमें जैसे पागल कुत्ते भूंका करते हैं और रातको वनमें सियार-लोमड़ी आदि धूर्त पशु बोला करते हैं वैसे ही तुम लोग भी आकाशमें चढ़ चढ़कर उस छह दिनके बच्चे कुमारके बलकी क्या रिरिया-रिरियाकर झूठी शान बघारे जा रहे हो ।।४१।। अरे देवताओ ! तुम लोगोंके साथ पड़नेसे यह बेचारा तपस्वी बालक कार्तिकेय भी तुम लोगोंके साथ वैसे ही मारा जायगा वैसे चोरका साथ देनेवालेको भी दंड भोगना पड़ जाता है' ।।४२।। यह कहकर उस महासुरने जो अपना भारी और बड़ा भयावना कृपाण उठाया तो आकाशमें खड़े हुए सब देवता एक दूसरेको ठेलते ढकेलते हुए भाग खड़े हुए ।।४३।। तब बड़े घमंडसे विकट हँसी हँसकर उसने म्यानसे अपना करवाल बाहर निकाल लिया और अपने सारथीसे कहा कि रथ बढ़ाकर झटपट इन्द्रके सामने बढ़ा पहुँचाओ ।।४४।। मनसे भी अधिक

मनोतिवेगेन रथेन सारथिप्रणोदितेन प्रचलन्महासुरः ।
ततः प्रपेदे सुरसैन्यसागरं भयङ्कराकारमपारमग्रतः ॥ ४५ ॥

पुरः सुराणां पृतनां प्रथीयसीं विलोक्य वीरः पुलकं प्रमोदजम् ।
बभार भूम्नाथ स बाहुदण्डयोः प्रचण्डयोः सङ्गरकेलिकौतुकी ॥ ४६ ॥

ततो महेन्द्रस्य चराश्चमूचरा रणान्तलीलारभसेन भूयसा ।
पुरः प्रचेलुर्मनसोऽतिवेगिनी युयुत्सुभिः किं समरे विलम्ब्यते ॥ ४७ ॥

पुरःस्थितं देवरिपोश्चमूचरा बलद्विषः सैन्यसमुद्रमभ्ययुः ।
भुजं समुत्क्षिप्य परेभ्य आत्मनोऽभिधानमुच्चैरभितो न्यवेदयन् ॥ ४८ ॥

पुरोगतं दैत्यचमूमहार्णवं दृष्ट्वा परं चुक्षुभिरे महासुराः ।
पुरारिसूनोर्नयनैककोणके ममुर्भटास्तस्य रणेऽवहेलया ॥ ४९ ॥

द्विषद्बलत्रासविभीषिताश्चमूर्दिवौकसामन्धकशत्रुनन्दनः ।
अपश्यदुद्दिश्य महारणोत्सवं प्रसादपीयूषधरेण चक्षुषा ॥ ५० ॥

उत्साहिताः शक्तिधरस्य दर्शनान्मृधे महेन्द्रप्रमुखा मखाशनाः ।
अहं मृधे जेतुमरीनरीरमन्न कस्य वीर्याय वरस्य संगतिः ॥ ५१ ॥

परस्परं वज्रधरस्य सैनिका द्विषोऽपि योद्धुं स्वकरोद्धृतायुधाः ।
वैतालिकश्रावितसारविक्रमाभिधानमीयुर्विजयैषिणौ रणे ॥ ५२ ॥

वेगसे चलनेवाले जिस रथको सारथी बढ़ाए लिए चला जा रहा था उसपर बैठा हुआ वह महादैत्य देवताओंकी उस सेनाके आगे जा पहुँचा जो अथाह समुद्रके समान भयंकर दिखाई दे रही थी ॥४५॥ देवताओंकी बड़ी भारी सेना सामने देखकर उस युद्धके लिये उतावले वीरके भारी भुजदंडोंके रोएँ खड़े हो गए और उसके हृदयमें युद्धका उत्साह उमड़ उठा ॥४६॥ तब इन्द्रके बड़े-बड़े रणबाँकुरे और युद्धके लिये ललचाए हुए सैनिक, मनसे भी अधिक वेगसे दैत्योंकी सेनापर टूट पड़े। सच है, जो लड़ाईके प्यासे होते हैं वे अवसर आनेपर आगा-पीछा थोड़े ही देखते हैं ? ॥४७॥ और फिर दैत्य-सेनाके सैनिक भी आगे खड़ी हुई इन्द्रकी सेनाके समुद्रपर टूट पड़े आज चारों ओर भुजाएँ उठा-उठाकर ललकार-ललकारकर अपना-अपना नाम शत्रुओंको सुनाने लगे ॥४८॥ अपने आगे समुद्रके समान हिलोरें लेती हुई उस दैंत्यसेनाको देखकर तो बड़े-बड़े देवताओंके भी छक्के छूट गए, पर उस सारी दैत्य-सेनाको एक कनखीसे देखकर ही निडर कार्तिकेयने समझ लिया कि इस सेनामें कुछ नहीं धरा है ॥४९॥ दैत्योंकी सेनाके डरसे घबराई हुई देवसेनाकी ओर अपने आनन्दके अमृतसे धुले हुए नेत्रोंसे देखकर कुमारने संकेत किया कि 'डरो मत, युद्ध किए जाओ'। जब देवताओंने रणमें शक्तिशाली कार्तिकेयका दर्शन किया तब उनका उत्साह बढ़ चला और इन्द्र आदि सभी देवता यह कह-कहकर प्रसन्नतासे उछलने लगे कि 'मैं शत्रुओंको युद्धमें जीत लूंगा।' ठीक है, भले लोगोंका संग करनेसे किसका बल नहीं बढ़ जाता ॥५०-५१॥ अपने-अपने शस्त्र उठा-उठाकर देवताओं और दैत्योंके सैनिक अपने-अपने चारणोंके गाए हुए अपने नामवाले पराक्रमके गीत सुनते हुए विजयकी इच्छासे समरमें जा जुटे ॥५२॥ जैसे प्रलय करनेके लिये अपनी मर्यादा तोड़कर चारों ओर फैले हुए और सारे

सङ्ग्रामं प्रलयाय संनिपततो बेलामतिक्रामतो
वृन्दारासुरसैन्यसागरयुगस्याशेषदिग्व्यापिनः ।
कालातिथ्यभुजो बभूव बहलः कोलाहलः क्षोभणः
शैलोत्तालतटीविघट्टनपटुर्ब्रह्माण्डकुक्षिभरिः ॥ ५३ ॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
सुरासुरसैन्यसंघट्टो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥

संसारको डुबोते बहाते कालका भोजन बनाते हुए दो समुद्र एक दूसरेसे टकराते हुए बढ़ चले हों वैसे ही ताड़के वृक्षोंवाले पहाड़की तलहटीको फाड़ देनेवाला यह देवताओं और दैत्योंकी सेनाओंके समुद्रोंका भारी कोलाहल, यमको न्योता देता हुआ सारे ब्रह्माण्डमें भर गया ॥५३॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें देवता
और दैत्योंकी लड़ाई नामका पन्द्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ षोडशः सर्गः ॥

अथान्योन्यं विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैर्भयंकरैः। युद्धमासीत्सुनासीरसुरारिबलयोर्महत् ॥१॥
पत्तिः पत्तिमभीयाय रणाय रथिनं रथी।तुरंगस्थं तुरगस्थो दन्तिस्थं दन्तिनि स्थितः ॥२॥
युद्धाय धावतां घोरं वीराणामितरेतरम्।वैतालिकाः कुलाधीशा नामान्यलमुदाहरन् ॥३॥
पठतां वन्दिवृन्दानां प्रवीरा विक्रमावलीम्।क्षणं विलम्ब्य चित्तानि ददुर्युद्धोत्सुकाः पुरः ॥४॥
संग्रामानन्दवर्धिष्णौ विग्रहे पुलकाञ्चिते।आसीत्कवचविच्छेदो वीराणां मिलतां मिथः ॥५॥
निर्दयं खड्गभिन्नेभ्यः कवचेभ्यः समुत्थितैः।आसन्व्योमदिशस्तूलैः पलितैरिव पाण्डुराः ॥६॥
खड्गा रुधिरसंलिप्ताश्चण्डाशुकरभासुराः।इतस्ततोऽपि वीराणां विद्युतां वैभवं दधुः ॥७॥
विसृजन्तो मुखैर्ज्वालाभीमा इव भुजंगमाः। विसृष्टाः सुभटै रुष्टैर्व्योमव्यानशिरे शराः ॥८॥
बाढं वपूंषि निर्भिद्य धन्विनां निघ्नतां मिथः।अशोणितमुखा भूमिं प्राविशन्दूरमाशुगाः ॥९॥
निर्भिद्य दन्तिनः पूर्वं पातयामासुराशुगाः। पेतुः प्रवरयोधानां प्रीतानामाहवोत्सवे ॥१०॥
ज्वलदग्निमुखैर्बाणैर्नीरन्ध्रैरितरेतरम्। उच्चैर्वैमानिका व्योम्नि कीर्णे दूरमपासरन् ॥११॥
विभिन्नं धन्विनां बाणैर्व्यथार्तमिव विह्वलम्। ररास विरसं व्योम श्येनप्रतिरवच्छलात् ॥१२॥

सोलहवाँ सर्ग

इन्द्र और तारककी सेनाएँ एक दूसरीपर भयङ्कर अस्त्र-शस्त्र बरसा-बरसाकर घोर युद्ध करने लगीं ॥१॥ पैदलसे पैदल जा भिड़े, रथवालोंसे रथवाले जा उलझे, घुड़सवारोंसे घुड़सवार जा जूझे और हाथीसवार हाथीसवारोंपर टूट पड़े ॥२॥ जो सैनिक निडर होकर बैरियोंपर चोट पर चोट किए जा रहे थे उन्हें लड़नेको उभाड़नेके लिये दोनों ओरके चारण लोग उन वीरोंको, कुलके उजागर बता-बताकर उनकी बड़ाई करते जा रहे थे ॥३॥ पर वे वीर तो स्वयं ऐसे जी-जानसे लड़ रहे थे कि चारणोंके मुँहसे अपने पराक्रमके गीत सुननेका उन्हें अवकाश ही कहाँ था, इसलिये जब वे कभी बीचमें क्षणभरको रुक जाते थे तभी चारणोंके गीत उनके कानोंमें पड़ पाते थे ॥४॥ उन्हें लड़ाईमें ऐसा आनन्द आ रहा था कि उनके रोएँ-रोएँ उत्साहसे फरफरा उठे थे और जब वे आपसमें गुत्थम गुत्था हो जाते तो उनके कवचोंके टाँके-तक खुल जाते थे ॥५॥ वहाँ सैनिक लोग इतने कस-कसकर करवाल चला रहे थे कि कवचोंके टूटनेसे उनके नीचे बँधी हुई रुई भी आकाश और दिशाओंमें उड़-उड़कर ऐसी फैल गई कि सब दिशाएँ बूढ़ेके बालों-जैसी धौली हो गईं ॥६॥ जहाँ-तहाँ सूर्यकी किरणें पड़नेसे लहूसे रँगे करवाल तो बिजलीके समान चमक-चमक उठते थे ॥७॥ क्रोधसे भर-भरकर वीरोंने जो आग उगलते हुए भयंकर साँपोंके समान विषैले बाण छोड़े उनसे सारा आकाश छा गया ॥८॥ वे एक दूसरेपर दूरसे जो बाण चला रहे थे वे दूसरी ओरसे धनुर्धारियोंके शरीरोंको ऐसी फुर्तीसे बेधते हुए पार निकल-निकलकर पृथ्वीमें जा धँसते थे कि उनमें लहूतक नहीं लग पाता था ॥९॥ उस युद्धके उत्सवमें जो बड़े-बड़े योद्धा जी खोलकर लड़ रहे थे वे हाथियोंपर ऐसे करारे बाण चला रहे थे कि हाथियोंके सिर तो पहले कटकर गिर जाते थे, बाण पीछे गिरते थे ॥१०॥ जब जलती हुई लपटोंवाले बाणोंकी घनी पाँतें सारे आकाशमें भर गईं तब विमानोंपर चढ़े हुए देवता वहाँसे दूर हट गए कि कहीं हम भी न इनकी चपेटमें आ जायँ ॥११॥ धनुर्धारी सैनिकोंने इतने बाण छोड़े कि आकाशकी छाती चलनी हो गई और इसीलिये वह भी पीड़ासे व्याकुल होकर बाज पक्षीके डरावने शब्दोंमें रोने लगा ॥१२॥ लड़ाकू

चापैराकर्णमाकृष्टैर्विमुक्ता दूरमाशुगाः। अधावन्रुधिरास्वादलुब्धा इव रणैषिणाम्॥१३॥
गृहीताः पाणिभिर्वीरैर्विकोशाः खड्गराजयः। कान्तिजालच्छलादाजौ व्यहसन्संमदादिव १४॥
खड्गाः शोणितसंदिग्धा नृत्यन्तो वीरपाणिषु। रजोघने रणेऽनन्ते विद्युतां वैभवं दधुः॥१५॥
कुन्ताश्चकाशिरे चण्डमुल्लसन्तो रणार्थिनाम्। जिह्वाभोगा यमस्येव लेलिहाना रणाङ्गणे।१६।
प्रज्वलत्कान्तिचक्राणि चक्राणि वरचक्रिणाम्। चण्डांशुमण्डलश्रीणि रणव्योमनि बभ्रमुः॥१७॥
केचिद्वीरैः प्रणादैश्च वीराणामभ्युपेयुषाम्। निपेतुः क्षोभतो वाहादपरे मुमुहुर्मदात् ॥१८॥
कश्चिदभ्यागते वीरे जिघांसौ मुदमादधौ। परावृत्य गते क्षुब्धे विषसादाहवप्रियः॥१९॥
बहुभिः सह युद्ध्वा वा परिभ्रम्य रणोल्बणाः। उद्दिश्य तानुपेयुः केऽपि ये पूर्ववृता रणे॥२०॥
अभितोऽभ्यागतान्योद्धुं वीरान्रणमदोद्धतान्। प्रत्यनन्दन्भुजादण्डरोमोद्गमभृतो भटाः।२१॥
शस्त्रभिन्नेभकुम्भेभ्यो मौक्तिकानि च्युतान्यधः। अध्याहवक्षेत्रमुप्तकीर्तिबीजाङ्कुरश्रियम्।२२।
वीराणां विषमैर्घोषैर्विद्रुता वारणा रणे। शास्यमाना अपि त्रासाद्भेजुर्धूताङ्कुशा दिशः॥२३॥
रणे बाणगणैर्भिन्ना भ्रमन्तो भिन्नयोधिनः। निममज्जुर्मिलद्रक्तनिम्नगासु महागजाः॥२४॥
अपारेऽसृक्सरित्पूरे रथेषूच्चैस्तरेष्वपि। रथिनोऽभिरिपुं क्रुद्धा हुंकृतैर्व्यसृजञ्शरान्॥२५॥

योद्धाओंने अपने कानोंतक खींच-खींचकर जो बाण छोड़े वे ऐसे जान पड़ते थे मानो रुधिर पीनेके लोभसे ही उतनी दूरतक दौड़े चले जा रहे हों ॥१३॥ संग्राममें वीरोंके हाथोंके नंगे करवाल मतवाले हो-होकर मानो अपनी धारकी चमकके रूपमें ही हँस रहे थे ॥१४॥ वीरोंके हाथोंमें नाचनेवाले लहूसे लथपथ करवाल, धूलसे पटे हुए उस दूरतक फैले हुए युद्ध-क्षेत्रमें बिजलीके समान चमक उठते थे ॥१५॥ युद्धमें लड़नेवालोंके चमकते हुए भयंकर भाले यमराजकी लपलपाती जीभ जैसे दिखाई दे रहे थे ॥१६॥ चकाचौंध करनेवाली चमकसे घिरे हुए और प्रचंड सूर्य-मण्डलके समान चमकवाले चक्रधारी वीरोंके चक्र, उस युद्ध-रूपी आकाशमें चारों ओर घूमते हुए चक्कर लगा रहे थे ॥१७॥ जब कोई वीर सामने आकर गरजकर ललकार उठता था तब बहुतसे योद्धा उस ललकारको सुनकर ही घोड़ोंसे नीचे गिर पड़ते थे और बहुतसे तो हदसके मारे ही मूर्च्छित हो-होकर गिर पड़ते थे ॥१८॥ कोई कोई वीर ऐसे भी थे कि जब कोई उन्हें मारनेके लिये सामने आता तब वे प्रसन्न हो उठते थे कि चलो इसीसे दो-दो हाथ हो जायँ, पर जब वह घबराकर लौट जाता था तब उन्हें इस बातका बड़ा दुःख होता कि हाय ! लड़ न पाए ॥१९॥ कुछ ऐसे भी रण-बाँकुरे थे जो बहुतोंके साथ लड़-भिड़कर और इधर-उधर घूम-घामकर उन वीरोंके पास जा पहुँचते थे, जिनसे लड़नेके लिये वे पहलेसे ही सोचे बैठे थे ॥२०॥ जब सच्चे योद्धाओंने देखा कि युद्धके लिये मतवाले और लड़नेके लिये फरफराती बाँहोंवाले वीर चारों ओर आए खड़े हैं तब वे बड़े प्रसन्न हुए कि अब जी भरकर लड़ा तो जायगा ॥२१॥ शस्त्रोंसे कटे हुए हाथियोंके मस्तकोंसे झड़े हुए मोती वहाँ बिखरे हुए ऐसे शोभा दे रहे थे जैसे रणके खेतमें बोए हुए यशके अंकुर फूट निकले हों ॥२२॥ रणमें वीरोंकी भयानक ललकारोंसे भागे हुए हाथी, हाथीवानोंके अंकुश खा-खाकर भी जिधर-तिधर भाग खड़े होते थे ॥२३॥ जिन हाथियोंके हाथीवान् युद्धमें शत्रुओंके बाणोंसे मार डाले गए थे, वे हाथी मनमाने ढंगसे घूमते हुए लहूकी नदीमें नहाकर लाल हो उठे ॥२४॥ बड़े ऊँचे रथोंपर चढ़े हुए सैनिक, लहूकी नदीकी अपार धारामें डूबते रहनेपर भी क्रुद्ध हो-होकर ललकारते हुए शत्रुके ऊपर

खड्गनिर्लूनमूर्द्धानो व्यापतन्तोऽपि वाजिनः। प्रथमं पातयामासुरसिना दारितानरीन्॥२६॥
वीराणां शस्त्रभिन्नानि शिरांसि निपतन्त्यपि। अधावन्दन्तदष्टोष्ठभीमान्यभिरिपुं क्रुधा॥२७॥
शिरांसि वरयोधानामर्द्धचन्द्रहृतान्यलम्। आददाना भृशं पादैः श्येना व्यानशिरे नभः॥२८॥
क्रोधादभ्यापतद्दन्तिदन्तारूढाः पदातयः। अश्वारोहा गजारोहप्राणान्प्रासैरपाहरन्॥२९॥
शस्त्रछिन्नगजारोहा विभ्रमन्त इतस्ततः। युगान्तवातचलिताः शैला इव गजा बभुः॥३०॥
मिलितेषु मिथो योद्धुं दन्तिषु प्रसभं भटाः। अगृह्णन्युध्यमानाश्च शस्त्रैः प्राणान्परस्परम्॥३१॥
रुषा मिथो मिलद्दन्तिदन्तसंघर्षजोऽनलः। योधाञ्शस्त्रहृतप्राणानदहत्सहसारिभिः॥३२॥
आक्षिप्ता अपि दन्तीन्द्रैः कोपनैः पत्तयः परम्। तदसूनहरन्खड्गघातैः स्वस्य पुरः प्रभोः॥३३॥
उत्क्षिप्य करिभिर्दूरान्मुक्तानां योधिनां दिवि। प्रापि जीवात्मभिर्दिव्या गतिर्वा विग्रहैर्मही॥३४।
खड्गैर्धवलधारालैर्निहत्य करिणां करान्। तैर्भुवापि समं विद्धान्संतोषं न भटा ययुः॥३५॥
आक्षिप्याभिदिवं नीताः पत्तयः करिभिः करैः। दिव्याङ्गनाभिरादातुं रक्ताभिर्द्रुतमीषिरे॥३६॥
धन्विनस्तुरगारूढा गजारोहाञ्शरैः क्षतान्। प्रत्यैच्छन्मूर्च्छितान्भूयो योद्धुमाश्वसतश्चिरम् ३७
क्रुद्धस्य दन्तिनः पत्तिर्जिघृक्षोरसिना करम्। निर्भिद्य दन्तमुसलावारुरोह जिघृक्षया॥३८॥

बाण छोड़े चले जा रहे थे ॥२५॥ बहुतसे ऐसे भी वीर थे जो शत्रुके करवालसे सिर कट जानेपर जब वे अपने घोड़ोंसे नीचे गिरते थे तो गिरते-गिरते भी अपने करवालसे शत्रुका सिर काट लिया करते थे ॥२६॥ शस्त्रोंसे कटकर गिरे हुए वीरोंके सिर क्रोधसे दाँत पीसते हुए शत्रुकी ओर देख रहे थे ॥२७॥ अधचन्दे बाणोंने जो सिर काट दिए थे और जिन्हें बाज अपने पंजोंमें उड़ा ले गए थे उन बड़े-बड़े वीरोंके सिरोंसे सारा आकाश भर उठा ॥२८॥ पैदल और घुड़सवार सैनिकोंने क्रोधसे पागल होकर सामने पड़नेवाले हाथियोंके दाँतोंपर चढ़-चढ़कर हाथी-सवार सैनिकोंको भालोंसे छेद डाला ॥२९॥ हाथी-सवारोंके मार डाले जानेपर उनके मनमाने घूमनेवाले हाथी ऐसे लग रहे थे जैसे प्रलयकी आँधीसे पहाड़ इधर-उधर उड़े चले जा रहे हों ॥३०॥ जब दो हाथी लड़नेके लिये भिड़ते थे तब उनपर बैठे हुए योद्धा आपसमें लड़कर बलपूर्वक एक दूसरेको मार डालते थे ॥३१॥ क्रोधसे परस्पर टक्करें लेनेवाले हाथियोंके दाँतोंकी चोटसे ऐसी चिनगारियाँ उठती थीं कि शत्रुके शस्त्रोंसे मारे हुए सैनिक अचानक जल उठते थे ॥३२॥ पैदल सैनिक ऐसे लड़ रहे थे कि यदि उन्हें अत्यन्त क्रुद्ध हाथी अपनी सूँड़में उठाकर उछाल भी देते थे तो वे अपने स्वामीके देखते-देखते उसकी सूँड़ अपने करवालसे काट डालते थे ॥३३॥ जिन वीरोंको हाथियोंने उठाकर ऊपर उछाल दिया था, उनके प्राण तो स्वर्गमें जाकर दिव्य गति पा गए, केवल उनके शरीर भर पृथ्वीपर आ गिरे ॥३४॥ यद्यपि योद्धा लोग उजली धारवाले अपने करवालोंसे हाथियोंकी सूँड़ ऐसे झटकेसे काटे डाल रहे थे कि उनके करवाल पृथ्वीमें आ धँसते थे, फिर भी उनका जी नहीं भर रहा था ॥३५॥ जिन वीरोंने हाथियोंकी सूँड़ोंसे उछाले जानेपर वीर गति पाई थी, उन स्वर्गमें पहुँचे हुए सैनिकोंको झटपट प्रेमसे अपना प्रेमी बनानेके लिये देवाङ्गनाएँ उतावली हो उठती थीं ॥३६॥ जब कोई घुड़सवार धनुर्धारी सैनिक अपने बाणोंसे किसी हाथी-सवारको बाण मारकर मूछित कर देता था तब वह बहुत देरतक इस बाटमें खड़ा रह जाता था कि फिर वह चेत उठे तो उससे युद्ध करें, क्योंकि जो मूछित हो जाता था उसे वे नहीं मारते थे ॥३७॥ एक बिगड़ैल हाथी एक पैदल सैनिकको अपनी सूँड़मे लपेटना ही चाहता था कि इतनेमें उसने पहले ही करवालका एक हाथ जमा-

खड्गेन मूलतो हत्वा दन्तिनो रदनद्वयम्।प्रातिपक्ष्ये प्रविष्टोऽपि पदातिर्निरगाद्द्रुतम्।।३९।।
करेण करिणा वीरः सुगृहीतोऽपि कोपिना।असिनासूञ्जहाराशु तस्यैव स्वयमक्षतः।।४०।।
तुरंगी तुरगारूढं प्रासेनाहत्य वक्षसि । पततस्तस्य नाज्ञासीत्प्रासघातं स्वके हृदि ।।४१।।
द्विषा प्रासहृतप्राणो वाजिपृष्ठदृढासनः।हस्तोद्धृतमहाप्रासो भुवि जीवन्निवाभ्रमत्।।४२।।
तुरंगसादिनं शस्त्रहृतप्राणं गतं भुवि । अबद्धोऽपि महावाजी न साश्रुनयनोऽत्यजत्।।४३।।
भल्लेन शितधारेण भिन्नोऽपि रिपुणाश्वगः।नामूर्च्छत्कोपतो हन्तुमियेष प्रपतन्नपि ।।४४।।
मिथः प्रासाहतौ वाजिच्युतौ भूमिगतौ रुषा।शस्त्र्या युयुधतुः कौचित्केशाकेशि भुजाभुजि ।४५
रथिनो रथिभिर्बाणैर्हृतप्राणा दृढासनाः । क्षतकार्मुकसंधानाः सप्राणा इव मेनिरे ।।४६।।
न रथी रथिनं भूयः प्राहरच्छस्त्रमूर्च्छितम्।प्रत्याश्वसन्तमन्विच्छन्नातिष्ठद्युधि लोभतः।।४७।।
अन्योन्यं रथिनौ कौचिद्गतप्राणौ दिवं गतौ।एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ।।४८।।
मिथोऽर्द्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुषा।खेचरौ भुवि नृत्यन्तौ स्वकबन्धावपश्यताम्।।४९।।

रणाङ्गणे शोणितपङ्कपिच्छिले कथं कथञ्चिन्ननृतुर्धृतायुधाः ।
नदत्सु तूर्येषु परेतयोषितां गणेषु गायत्सु कबन्धराजयः ।।५०।।

कर उसकी सूँड़ ही काट डाली और फिर उसके दाँत उखाड़नेके लिये उसके लम्बे-लम्बे दाँतोंपर चढ़ बैठा ।।३८।। एक दूसरा पैदल सैनिक, शत्रुकी सेनामें घुसकर अपने करवालसे एक हाथीके दोनों दाँत जड़तक काटकर झट अपनी सेनामें लौट आया ।।३९।। क्रोधमें भरे हुए हाथीकी सूँड़में कसकर लिपट जानेपर भी एक वीर अपनी तलवारसे हाथीको मारकर जीता-जागता निकल आया ।।४०।। एक घुड़सवार दूसरेकी छातीमें भाला मारकर ऐसा प्रसन्न हुआ कि जब उस घोड़ेसे गिरते हुए सैनिकने उलटकर उसपर भाला चलाया तो उसे यह भी जान न पड़ा कि मुझे भी चोट लगी है ।।४१।। मारनेके लिये हाथमें भारी भाला उठाकर घोड़ेकी पीठपर जमकर बैठा हुआ एक सैनिक शत्रुके भालेसे मारे जानेपर भी ऐसा लग रहा था मानो वह अभी जीता-जागता ही हो ।।४२।। शस्त्रकी चोटसे जो घुड़सवार पृथ्वीपर मरा पड़ा था, उसका बड़ासा घोड़ा डबडबाई आँखोंसे अपने स्वामीको देखता हुआ वहीं खड़ा रहा, हटा नहीं ।।४३।। शत्रुके तीखे भालेका घाव खाकर एक घुड़सवार लड़खड़ाता हुआ भी क्रोधके मारे मूर्छित नहीं हुआ और चाहता था कि शत्रु मिले तो उसे अभी मार डालूं ।।४४।। दो घुड़सवार आपसमें एक दूसरेके भालेकी चोट खाकर भूमिमें गिरे हुए भी क्रोधके मारे एक दूसरेके बाल पकड़-पकड़कर गुत्थमगुत्था होकर छुरीसे ही लड़े जा रहे थे ।।४५।। एक रथवाले योद्धाको दूसरे रथवालेने मार भी डाला, फिर भी वह अपना टूटा हुआ धनुष खींचे हुए मरा हुआ ही रथपर ऐसा जमा बैठा था, मानो अभी जीता जागता हो ।।४६।। एक रथसवार सैनिक दूसरे रथीको शस्त्रसे मूर्च्छित करके उसपर वार न करके यह बाट जोहने लगा कि यह सचेत हो तो इससे लड़ा जाय ।।४७।। दो रथसवार और श्रेष्ठ शस्त्रधारी योद्धा एक दूसरेको मारकर जब स्वर्गमें पहुँचे तब वे दोनों वहाँ एक अप्सराके लिये ही आपसमें लड़ाई करने लगे ।।४८।। अर्धचन्द्र बाणोंसे एक दूसरेका सिर काटकर दो रथी स्वर्गमें पहुँचकर वहाँसे अपने उन धड़ोंका खेल देखते रहे जो बहुत देरतक हाथमें तलवार लिए युद्ध-भूमिमें नाच रहे थे ।।४९।। उस युद्ध-क्षेत्रमें जहाँ-तहाँ नगाड़े बज रहे थे और भूत-प्रेतों की स्त्रियाँ गीत गाए जा रही थीं । वहाँ युद्धभूमिमें लहूके कीचड़से इतनी फिसलन हो गई थी कि बाण लिए हुए वीरोंके

इति सुररिपुर्वृत्ते युद्धे सुरासुरसैन्ययो रुधिरसरितां मज्जद्दन्तिध्वजेषु तटेष्वलम् ।
अरुणनयनः क्रोधाद्भीमभ्रमद्भ्रुकुटीमुखः सपदि ककुभामीशानभ्यागमत्स युयुत्सया ।।५१।।

।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
सुरासुरसैन्यसंग्रामवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ।।

धड़ बड़ी कठिनाईसे नाच पा रहे थे ।।५०।। इस प्रकार जब देव-दानवोंका युद्ध आरम्भ हो गया और लहूकी नदीके तीरपर ही वे डूबने लगे तब वह देवताओंका शत्रु तारक क्रोधके मारे भौंहें नचाकर और लाल-लाल आँखें करके युद्ध करनेके लिए तुरन्त इन्द्र आदि दिक्पालोंके सामने आ डटा ।।५१।।

।। महाकवि श्रीकालिदासके रचे कुमारसंभव महाकाव्यमें 'देवताओं और दैत्योंकी
सेनाओंके युद्धका वर्णन' नामका सोलहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।।

॥ सप्तदशः सर्गः ॥

दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दैत्यपतिं पुरस्तात्संग्रामकेलिकुतुकेन घनप्रमोदम् ।
योद्धुं मदेन मिमिलुः ककुभामधीशा बाणान्धकारितदिगम्बरगर्भमेत्य ॥ १ ॥
देवद्विषां परिवृढो विकटं विहस्य बाणावलीभिरमरान्विकटान्ववर्ष ।
शैलानिव प्रवरवारिधरो गरिष्ठानद्भिः पराभिरथ गाढमनारताभिः ॥ २ ॥
जम्भद्विषत्प्रभृतिदिक्पतिचापमुक्ता बाणाः शिता दनुजनायकबाणसङ्घान् ।
अह्नाय तार्क्ष्यनिवहा इव नागपूगान्सद्यो विचिच्छिदुरलं कणशो रणान्ते ॥ ३ ॥
तान्प्रज्वलत्फलमुखैर्विषमैः सुरारिनामाङ्कितैः पिहितदिग्गगनान्तरालैः ।
आच्छादितस्तृणचयानिव हव्यवाहश्चिच्छेद सोऽपि सुरसैन्यशराञ्शरौघैः ॥ ४ ॥
दैत्येश्वरो ज्वलितरोषविशेषभीमः सद्यो मुमोच युधि यान्विशिखान्सहेलः ।
ते प्रापुरुद्भटभुजंगमभीमभावं गाढं बबन्धुरपि ताँस्त्रिदशेन्द्रमुख्यान् ॥ ५ ॥
ते नागपाशविशिखैरसुरेण बद्धाः श्वासानिलाकुलमुखा विमुखा रणस्य ।
दिङ्नायका बलरिपुप्रमुखाः स्मरारिसूनोः समीपमगमन्विपदन्तहेतोः ॥ ६ ॥
दृष्टिप्रपातवशतोऽपि पुरारिसूनोस्ते नागपाशघनबन्धविपत्तिदुःखात् ।
इन्द्रादयो मुमुचिरे स्वयमस्य देवाः सेवां व्यधुर्निकटमेत्य महाजिगीषोः ॥ ७ ॥
उद्दीप्तकोपदहनोऽथ सुरेन्द्रशत्रुरह्नाय सारथिमवोचत चण्डबाहुः ।
बद्धा मया सुरपतिप्रमुखाः प्रसह्य बालस्य धूर्जटिसुतस्य निरीक्षणेन ॥ ८ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

जिस दैत्यराजके रोम-रोम लड़ाईके चावसे फरफराए जा रहे थे और जिसने धुआँधार बाण बरसा-बरसाकर धरती-आकाश सबमें अँधेरा कर दिया था, उसे आते हुए देखकर सब दिक्पाल रणमें मतवाले होकर एक साथ उससे लोहा लेनेके लिये आ जुटे ॥१॥ जैसे सावन-भादोंकी घनी घटाएँ लगातार जल बरसा-बरसाकर बड़े-बड़े पहाड़ोंको नीचेसे ऊपरतक भिगो देती हैं वैसे ही वह देवताओंका शत्रु तारक भी बड़ी डरावनी हँसी हँसता हुआ देवताओंपर भयंकर रूपसे धुआँधार बाण बरसाने लगा ॥२॥ उस रण-क्षेत्रमें इन्द्र आदि दिक्पाल, जो भी तीखे-तीखे बाण छोड़ते जा रहे थे उन्हें चुन-चुनकर दैत्यराजके बाण वैसी ही फुर्तीसे काटते चले जा रहे थे जैसे बहुतसे गरुड मिलकर साँपोंके झुण्डको काटते चले जा रहे हों ॥३॥ देवताओंने उसपर जो बाणोंकी झड़ी लगाई उसे उसने अपने नाम खुदे हुए, आगके समान जलते हुए तीखे फलवाले और सब दिशाओं और आकाशको पाट देनेवाले बाणोंसे उसी प्रकार तहस-नहस कर डाला जैसे अपने ऊपर छाए हुए घास-फूसको धधकती हुई आग जलाकर राख कर डालती है ॥४॥ क्रोधसे लाल उस भयंकर दैत्यराजने उस युद्धको कुछ भी न समझते हुए जो बाण छोड़े वे तुरंत साँपोंकी भाँति भयंकर बनकर इन्द्र आदि देवताओंके गलोंमें कस-कसकर जा लिपटे ॥५॥ उस दैत्यके बाणोंकी फाँसी गलेमें पड़ जानेपर सब देवताओंकी साँसें ऐसी घुटने लगीं कि वे लड़ना-भिड़ना छोड़-छोड़कर इस विपदासे छुटकारा पानेके लिये कार्तिकेयके पास दौड़ पहुँचे ॥६॥ कार्तिकेयने उनकी ओर आँख भर देख ही दिया कि इन्द्र आदि देवताओंके गलेमें कसे हुए वे नाग-फाँसके फन्दे अपने आप छूट गिरे और तब वे सब देवता उन कार्त्तिकेयके पास जा-जाकर उनकी बड़ाई करने लगे जो दैत्योंको जीतनेके लिये कमर ही कसे बैठे थे ॥७॥ जब उस बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले तारकने यह सब देखा तब वह क्रोधसे

मुक्ता बभूवुरधुना तदिमान्विहाय कर्तास्म्यमुं समरभूमिपशूपहारम् ।
तत्स्यन्दनं सपदि वाहय शंभुसूनुं द्रष्टास्मि दर्पितभुजाबलमाहवाय ॥ ९ ॥
तत्स्यन्दनः सपदि सारथिसम्प्रणुन्नः प्रक्षुब्धवारिधरघोरगभीरघोषः ।
चण्डश्चचाल दलिताखिलशत्रुसैन्यमांसास्थिशोणितविपङ्कविलुप्तचक्रः ॥१०॥
दृष्ट्वा रथं प्रलयवातचलन्दिरीन्द्रकल्पं दलद्बलविरावविशेषरौद्रम् ।
अभ्यागतं सुररिपोः सुरराजसैन्यं क्षोभं जगाम परमं भयवेपमानम् ॥११॥
प्रक्षुभ्यमाणमवलोक्य दिगीशसैन्यं शंभोः सुतं कलहकेलिकुतूहलोत्कम् ।
उद्दामदोः कलितकार्मुकदण्डचण्डः प्रोवाच वाचमुपगम्य स कार्त्तिकेयम् ॥१२॥
रे शंभुतापसशिशो बत मुञ्च मुञ्च दोर्दर्पमत्र विरम त्रिदिवेन्द्रकार्यात् ।
शस्त्रैः किमत्र भवतोऽनुचितैरतीव बालत्वकोमलभुजातुलभारभूतैः ॥१३॥
एवं त्वमेव तनयोऽसि गिरीशगौर्योः किं यासि कालविषयं विषमैः शरैर्मे ।
संग्रामतोऽपसर जीव पितुर्जनन्यास्तूर्णं प्रविश्य वरमङ्कतलं विधेहि ॥१४॥
सम्यक्स्वयं किल विमृश्य गिरीशपुत्र जम्भद्विषोऽस्य जहिहि प्रतिपक्षमाशु ।
एष स्वयं पयसि मज्जति दुर्विगाढे पाषाणनौरिव निमज्जयते पुरा त्वाम् ॥१५॥

जल उठा और उसने तुरन्त अपने सारथीको आज्ञा दी कि मैंने जिन इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवताओंको फँदेमें बाँध लिया था, वे सब कार्त्तिकेयके देखने भरसे छुटकारा पा गए हैं इसलिये इन सब देवताओंको छोड़कर मैं पहले इसीको गिद्ध-सियार आदिकी भेंट करता हूँ। तो तुम झटपट रथ बढ़ाकर उस शंकरके पुत्रके ही पास मुझे ले चल पहुँचाओ जिससे मैं भी तो देखूँ कि मुझसे लड़नेके लिये वह अपनी किन भुजाओंके बलपर इतना ऐंठा पड़ रहा है ॥८-९॥ तत्काल सारथीने इस वेगसे रथ चलाया कि वह रथ प्रलयके उमड़े हुए बादलोंके समान धड़धड़ाता हुआ भयंकर वेगसे बढ़ चला। वहाँ इतने शत्रु सैनिक कट-कटकर गिरे पड़े थे कि उनके मांस, हड्डी और लहूके कीचड़में उस रथके पहिए ऐसे धँसे कि दिखाई तक न दिए ॥१०॥ वह रथ चलता हुआ ऐसा लगता था मानो प्रलयकी आँधीमें हिमालय उड़ा चला जा रहा हो। उसके नीचे देवताओंकी सेनाके जो सैनिक पिसे जा रहे थे उनके हाहाकारसे वह और भी भयंकर हो उठा था और जब वह रथ देवताओंके एकदम पास आ गया तब तो उसे देखकर देवताओंकी सेनाके प्राण ही सूख गए ॥११॥ देवताओंकी उस घबराई हुई सेनाको देखते हुए और अपनी बड़ी भारी भुजाओंमें धनुषका डंडा पकड़े हुए तारक झट उस कार्त्तिकेयके पास जा पहुँचा जो ऐसे लगते थे मानो लड़नेके लिये अधीर हुए खड़े हों। वहाँ पहुँचकर तारकने कार्त्तिकेयसे कहा— ॥१२॥ 'अरे तपस्वी शंकरके पुत्र! तुम अपनी भुजाओंके बलपर इतना मत ऐंठो और छोड़ो इन देवताओंका साथ। बताओ, कहाँ तो तुम्हारी ये छोटी-छोटी बचकानी कोमल भुजाएँ और कहाँ ये भारी-भारी शस्त्र जो तुम्हारे हाथमें जँच नहीं रहे हैं ॥१३॥ तुम पार्वती और शंकरके इकलौते पुत्र होकर मेरे तीखे बाणोंसे बिधकर क्यों कालके गलेमें चले जाना चाहते हो? जाओ, यहाँसे भागकर अपने प्राण बचाओ और झटसे अपने माता-पिताकी गोदमें जा दुबको ॥१४॥ देखो कार्त्तिकेय! तुम स्वयं अपना भला-बुरा सोचकर इन्द्रका साथ छोड़कर अलग हो जाओ क्योंकि जब मैं इसपर बाण बरसाऊँगा, तब पत्थरकी बनी नावके समान यह तो अपने आप गहरे जलमें डूबेगा ही, साथ ही तुम्हें भी ले जा डुबोवेगा' ॥१५॥ तारकी ऐसी बातें सुनकर कार्त्तिकेयके

इत्थं निशम्य वचनं युधि तारकस्य कम्पाधरो विकचकोकनदारुणाक्षः ।
क्षोभात्त्रिलोचनसुतो धनुरीक्षमाणः प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम् ॥१६॥
दैत्याधिराज भवता यदवादि गर्वात्तत्सर्वमप्युचितमेव तवैव किं तु ।
द्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुबलं वरिष्ठं शस्त्रं गृहाण कुरु कार्मुकमाततज्यम् ॥१७॥
इत्युक्तवन्तमवदत्त्रिपुरारिपुत्रं दैत्यः क्रुधौष्ठमधरं किल निर्विभिद्य ।
युद्धार्थमुद्भटभुजाबलदर्पितोऽसि बाणान्सहस्व मम सादितशत्रुपृष्ठान् ॥१८॥
दुःप्रेक्षणीयमरिभिर्धनुराततज्यं सद्यो विधाय विषमान्विशिखान्न्यधत्त ।
स क्रोधभीमभुजगेन्द्रनिभं स्वचापं चण्डं प्रपञ्चयति जैत्रशरैः कुमारे ॥१९॥
कर्णान्तमेत्य दितिजेन विकृष्यमाणं कोदण्डमेतदभितः सुषुवे शरौघान् ।
व्योमाङ्गणे लिपिकरान्किरणप्ररोहैः सान्द्रैरशेषककुभां पलितं करिष्णून् ॥२०॥
बाणैः सुरारिधनुषः प्रसृतैरनन्तैर्निर्घोषभीषितभटो लसदंशुजालैः ।
अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईशसूनुः कृतोऽपि विषयं न जगाम दृष्टेः ॥२१॥
देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढमाकर्णकृष्टमभितो धनुराततज्यम् ।
बाणानसूत निशितान्युधि यान्सुजैत्राँस्तैः सायका बिभिदिरे सहसा सुरारेः ॥२२॥
रेजे सुरारिशरदुर्दिनके निरस्ते सद्यस्तरां निखिलखेचरखेदहेतौ ।
देवः प्रभाप्रभुरिव स्मरशत्रुसूनुः प्रद्योतनः सुघनदुर्धरधामधामा ॥२३॥

ओठ क्रोधसे काँपने लगे और खिले हुए लाल कमलके समान उनकी भयानक लाल-लाल आँखें क्रोधसे नाच उठीं । बड़े क्रोधसे अपने धनुष्की ओर देखते हुए अपने बलको समझकर उन्होंने तारकको मुँहतोड़ उत्तर देते हुए कहा—॥१६॥ 'अरे दैत्यराज ! घमंडमें चूर होकर तुमने जो कुछ कहा है वह तुम्हें कहना ही चाहिए था, पर आज मुझे भी तुम्हारी इन बड़ी-बड़ी भुजाओंके बलकी थाह लेनेका मन कर आया है । इसलिये उठाओ अपने शस्त्र और चढ़ाओ अपने धनुष्पर डोरी' ॥१७॥ यह सुनकर तारकने क्रुद्ध होकर कार्त्तिकेयपर दाँत पीसकर और दाँतोंसे ओंठ चबाते हुए कहा—'यदि तुम्हें युद्धके लिये अपनी इन प्रचण्ड भुजाओंका घमण्ड है तो आओ और शत्रुओंकी पीठको चलनी बना देनेवाले मेरे बाणोंकी चोट चखो' ॥१८॥ जैसे साँप क्रोधसे पागल हो जाता है वैसे ही क्रुद्ध होकर कुमार अपने धनुष्पर अपना जीतनेवाला भयङ्कर बाण चढ़ा ही रहे थे इतनेमें तारकने भी वह बाण उठा चढ़ाया जिसकी ओर देखनेतकसे शत्रु घबरा उठते थे ॥१९॥ अपनी चमकसे आकाशको जगमगा देनेवाले और सब दिशाओंको चमका देनेवाले बाण अपने धनुष्पर चढ़ा-चढ़ाकर और धनुष्को कानतक खींच-खींचकर तान-तानकर तारक बाण छोड़ने लगा ॥२०॥ उसके धनुष्से छूटे हुए चमचमाते हुए अनगिनत बाणोंकी भयंकर सनसनाहट देखकर तो सबके सब सैनिक काँप उठे, सब देवआओंकी आँखोंके आगे अँधेरा छा गया और स्वयं कार्त्तिकेयको भी थोड़ी देरतक कुछ न दिखाई दिया ॥२१॥ तब कार्त्तिकेयने भी पूरे बलके साथ धनुष्की डोरी कानतक खींचकर अपने तीखे और जीतनेवाले बाण बरसा-बरसाकर तारकके बाणोंके धुर्रे उड़ा दिए ॥२२॥ सब देवताओंको दुःख देनेवाली तारकके बाणोंकी घटा फट जानेपर शंकरके पुत्र कार्त्तिकेय अपने घने और अपार तेजके कारण सूर्यके समान चमकते हुए शोभा देने लगे ॥२३॥ युद्धमें कार्त्तिकेयका ऐसा प्रबल प्रताप बढ़ता हुआ देखकर छलविद्यासे

तत्राथ दुःसहतरं समरे तरस्वी धामाधिकं दधति धीरतरं कुमारे ।
मायामयं समरमाशु महासुरेन्द्रो मायाप्रचारचतुरो रचयाञ्चकार ॥२४॥
अह्नाय कोपकलुषो विकटं विहस्य व्यर्थां समर्थ्य वरशस्त्रयुधं कुमारे ।
जिष्णुर्जगद्विजयदुर्ललितः सहेलं वायव्यमस्त्रमसुरो धनुषि न्यधत्त ॥२५॥
संधानमात्रमपि यस्य युगान्तकालभूतभ्रमं परुषभीषणघोरघोषः ।
उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताम्बराशः प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत्समीरः ॥२६॥
कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि धूतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम् ।
उड्डीयमानकलहंसकुलोपमानि मेघाभधूलिमलिने नभसि प्रसस्रुः ॥२७॥
विध्वस्य तेन सुरसैन्यमहापताका नीता नभस्थलमलं नवमल्लिकाभाः ।
स्वर्गापगाजलमहौघसहस्रलीलां व्यातेनिरे दिवि सिताम्बरकैतवेन ॥२८॥
धूतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां सद्यः शतानि विधुराणि दलत्कुथानि ।
पेतुः क्षितौ कुपितवासववज्रलून-पक्षस्य भूधरकुलस्य तुलां वहन्ति ॥२९॥
तास्ताः खरेण मरुता रथराजयोऽपि दोधूयमाननिपतिष्णुतुरंगमाश्च ।
विस्रस्तसारथिकुलप्रवराः समन्ताद्व्यावृत्य पेतुरवनौ सुरवाहिनीनाम् ॥३०॥
हित्वायुधानि सुरसैन्यतुरङ्गवाहा वातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमध्ये ।
शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्व्यां स्वीयेषु वाहनवरेषु पतत्सु सत्सु ॥३१॥

युद्ध करनेमें चतुर और बलवान् तारकने तुरन्त मायाका युद्ध छेड़ दिया ॥२४॥ जो विजयी तारक सारे संसारको मुट्ठीमें किए बैठा था उसने जब यह समझ लिया कि और कोई अस्त्र लेकर कुमारके साथ लड़कर मैं नहीं जीत पाऊँगा तब उसने बड़े क्रोधके साथ किसीको कुछ न समझते हुए अन्धड़ चलानेवाला वायव्य नामका बाण अपने धनुष्पर उठा चढ़ाया ॥२५॥ उस बाणके धनुष्पर चढ़ाते ही ऐसे वेगसे भयंकर घड़घड़ाती हुई आँधी चलने लगी कि लोग समझने लगे बस प्रलय आ गया । उसकी धूलसे सब आकाश और दिशाएँ भर गईं और प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्य भी उसमें जा छिपे ॥२६॥ देवताओंके सैनिकोंके कुन्दनके फूलके समान उजले छत्रोंको भी उस भयंकर अन्धड़ने झकझोर कर उड़ा दिया । वे धूलसे भरे हुए आकाशमें ऐसे दिखाई देने लगे मानो बादल छाए हुए आकाशमें राजहंस उड़े चले जा रहे हों ॥२७॥ उस अन्धड़ने देवताओंकी सेनाकी सब ध्वजाओं और पताकाओंको नये खिले हुए चमेलीके फूलके समान तोड़-फोड़कर आकाशमें ऐसा उड़ा दिया कि आकाशमें उड़ती हुई वे उजले वस्त्रकी पताकाएँ ऐसी दिखाई दीं मानो उस अन्धड़ने आकाश-गंगाकी उछलती हुई सहस्रों लहरियाँ आकाशमें ला फैलाई हों ॥२८॥ इस भयंकर अँधडके झोंकेमें पड़ी हुई देवसेनाके बहुतसे बड़े-बड़े हाथी अपनी झूलें मसलते हुए देखते-देखते लड़खड़ाकर गिरते हुए दिखाई पड़ते थे मानो इन्द्रके वज्रसे पंख कट जानेपर बहुतसे पहाड़ पृथ्वीपर लुढ़कते चले जा रहे हों ॥२९॥ उस प्रचण्ड अन्धड़की लपेटमें आकर देवसेनाके रथोंके अनगिनत घोड़े लड़-खड़ाकर गिर गए, सारथी भी इधर-उधर जा गिरे और उनके रथ भी उस युद्ध-भूमिमें इधर-उधर उलट गिरे ॥३०। उस भयंकर अन्धड़की झकोरें खाकर देव-सेनाके घुड़सवार इतने घबरा उठे कि वे अपने अस्त्र-शस्त्र वहीं देवसेनापर ही फेंकनै लगे और बिना किसी शस्त्रसे चोट खाए ही अपने उन घोड़ोंकी पीठसे गिरने लगे जो अन्धड़की झोंकमें लुढ़कते चले जा रहे थे ॥३१॥ उस वायव्य अस्त्रसे देवसेनाके पैदल

तेनाहतास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि स्रस्तायुधाः सुविधुराः परुषं रसन्तः ।
वात्याविवर्तदलवद्भ्रममेत्य दूरं निःपेतुरम्बरतलाद्वसुधातलेऽस्मिन् ॥३२॥

इत्थं विलोक्य सुरसैन्यमथो अशेषं दैत्येश्वरेण विधुरीकृतमस्त्रयोगात् ।
स्वर्लोकनाथकमलाकुशलैकहेतुर्दिव्यं प्रभावमतनोदतनुः स देवः ॥३३॥

तेनोज्झितं सकलमेव सुरेन्द्रसैन्यं स्वास्थ्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम् ।
दृष्ट्वासृजद्दहनदैवतमस्त्रमिद्धमुद्दीप्तकोपदहनः सहसा सुरारिः ॥३४॥

वर्षातिकालजलदद्युतयो नभोन्ते गाढान्धकारितदिशो घनधूमसंघाः ।
सद्यः प्रसस्रुरसितोत्पलदामभासो दृग्गोचरत्वमखिलं न हि सन्नयन्तः ॥३५॥

दिक्चक्रवालगिलनैर्मलिनैस्तमोभिर्लिप्तं नभः स्थलमलं घनवृन्दसान्द्रैः ।
धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा गन्तुं सरः सपदि मानसमीषुरुच्चैः ॥३६॥

जज्वाल वह्निरतुलः सुरसैनिकेषु कल्पान्तकालदहनप्रतिमः समन्तात् ।
आशामुखानि विमलान्यखिलानि कीलाजालैरलं कपिलयन्सकलं नभोऽपि ॥३७॥

उज्जागरस्य दहनस्य निरर्गलस्य ज्वालावलीभिरतुलाभिरनारताभिः ।
कीर्णं पयोदनिवहैरिव धूमसंघैर्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिवोच्चैः ॥३८॥

गाढाद्भयाद्वियति विद्रुतखेचरेण दीप्तेन तेन दहनेन सुदुःसहेन ।
दन्दह्यमानमखिलं सुरराजसैन्यमत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप ॥३९॥

सैनिक भी इतने घबरा उठे कि सब अपने-अपने शस्त्र डालकर व्याकुल होकर रोने-चिल्लाने लगे और बवण्डरकी भाँति घुमनी खाते हुए दूरतक आकाशमें उड़-उड़कर धरतीपर आ गिरने लगे ॥३२॥ दैत्यराज तारकने जो वायव्य अस्त्र चलाया था उससे देवसेनाको इस प्रकार तहस-नहस होते देखकर स्वर्गकी राजलक्ष्मीकी नाव चतुराईसे खेनेवाले कार्त्तिकेयने अपना अनोखा और बड़ा भारी करतब दिखाना आरम्भ कर दिया ॥३३॥ उन्होंने कुछ ऐसा जादू फेरा कि देवसेनापर छाया हुआ अन्धड़ दूर हो गया और सारी सेना हरी-भरी और नई-सी होकर फिर लड़ने खड़ी हो गई। यह देखकर तो तारकके शरीरमें आग-सी लग गई और इस बार उसने अपना सधा हुआ आग बरसानेवाला अग्निबाण चढ़ा चलाया ॥३४॥ उसके चलाते ही बरसातके काले-काले बादलोंके समान और नीले कमलोंके झुण्डके समान काला काला घना धुआँ चारों ओर ऐसा आ छाया कि कहीं कुछ सुझाई ही नहीं पड़ता था ॥३५॥ जब उस घने बादलोंके समान काले-काले धुएँसे सारा आकाश भर गया तब राजहंसोंको यह भ्रम हुआ कि बरसात आ गई और वे प्रसन्न होकर मानसरोवरकी ओर चलनेकी तैयारी करने लगे ॥३६॥ इतनेमें ही देवसेनाके भीतर प्रलय कालकी आगके समान ऐसी भयानक ज्वाला भड़क उठी कि उसकी लपटोंसे स्वच्छ आकाश और दिशाएँ भी पीली पड़ चली ॥३७॥ बिना रुके हुए धधक-धधककर जलती हुई आगकी बड़ी-बड़ी लगातार उठती हुई लपटोंसे ऊपर फैले हुए काले-काले धुएँसे भरा हुआ आकाश ऐसा दिखाई पड़ने लगा मानो वह ऊँचे-ऊँचे बादलों और बिजलियोंसे भरा हुआ हो ॥३८॥ सब लोग आकाशमें फैली हुई इस धधकती आगकी झारमें झुलसकर इधर-उधर भागने लगे और बार-बार झुलसी हुई सारी देवसेना बहुत घबराकर फिर कार्त्तिकेयके पास जा पहुँची ॥३९॥ उस भयंकर आगसे झुलसी हुई

इत्यग्निना घनतरेण ततोऽभिभूतं तद्देवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य ।
सस्मेरवक्त्रकमलोऽन्धकशत्रुसूनुर्बाणासनेन समधत्त स वारुणास्त्रम् ॥४०॥
घोरान्धकारनिकरप्रतिमो युगान्तकालानलप्रबलधूमनिभो नभोन्ते ।
गर्जारवैर्विघटयन्नवनीधराणां शृङ्गाणि मेघनिवहो घनमुज्जगाम ॥४१॥
विद्युल्लता वियति वारिदवृन्दमध्ये गम्भीरभीषणरवैः कपिशीकृताशा ।
घोरा युगान्तचलितस्य भयंकराऽथ कालस्य लोलरसनेव चमच्चकार ॥४२॥
कादम्बिनी विरुरुचे विषकण्ठिकाभिरुत्तालकालरजनीजलदावलीभिः ।
व्योम्न्युच्चकैरचिररुक्परिदीपिताशा वृष्टिच्छदा विषमघोषविभीषणा च ॥४३॥
व्योम्नस्तलं पिदधतां ककुभां मुखानि गर्जारवैरविरतैस्तुदतां मनांसि ।
अम्भोभृतामतितरामनणीयसीभिर्धारावलीभिरभितो ववृषे समूहैः ॥४४॥
घोरान्धकारपटलैः पिहिताम्बराणां गम्भीरगर्जनरवैर्व्यथितासुराणाम् ।
वृष्ट्या तया जलमुचां वरुणास्त्रजानां विश्वोदरंभरिरपि प्रशशाम वह्निः ॥४५॥
दैत्योऽपि रोषकलुषो निशितैः क्षुरप्रैराकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः स भीमैः ।
तद्भीतिविद्रुतसमस्तसुरेन्द्रसैन्यो गाढं जघान मकरध्वजशत्रुसूनुम् ॥४६॥
देवोऽपि दैत्यविशिखप्रकरं सचापं बाणैश्चकर्त कणशो रणकेलिकारी ।
योगीव योगविधिशुष्कमना यमाद्यैः सांसारिक विषयसंघममोघवीर्यम् ॥४७॥

सारी देवसेनाको देखकर कार्त्तिकेयने हँसते हुए अपने धनुषपर वह वारुणास्त्र उठा चढ़ाया जिससे पानी बरसने लगता था ॥४०॥ उसके चलाते ही भयंकर अँधेरा करती हुई प्रलयकी आगसे उठे हुए धुएँके समान ऐसी काली-काली घटाएँ आकाशमें उमड़ आईं जिनकी गरजसे पहाड़ोंकी चोटियों तकमें दरारें पड़ गईं ॥४१॥ इन बादलोंमेंसे बड़ी भयानक घड़घड़ाहटके साथ ऐसी भयंकर बिजली तड़पी और उसकी चमकसे सब दिशाएँ ऐसी पीली पड़ गईं मानो प्रलय कालमें कालकी लपलपाती हुई भयंकर जीभ हो ॥४२॥ अपनी बिजलीकी चमकसे सब दिशाओंमें चकाचौंध कर देनेवाली और भयंकर गर्जनसे भरी भयंकर प्रलयके बादलोंके समान अत्यन्त काली और जलसे भरी हुई घटाएँ ऊपर आकाशमें इस प्रकार अँधेरा करके घिर आईं कि आँखोंके आगे कुछ भी दिखाई दे नहीं पा रहा था ॥४३॥ आकाशमें छाई हुई लगातार गरज-गरजकर लोगोंका जी कँपाती हुई वे घटाएँ चारों ओर मूसलाधार पानी बरसाने लगीं ॥४४॥ कार्त्तिकेयके चलाए हुए वारुणास्त्रसे अँधेरा गुप्प करके आकाशको छिपा देनेवाला और अपनी कड़कसे दैत्योंको कँपा देनेवाले जो बादल आ छाए थे उनकी वर्षासे संसारमें फैली हुई सारी आग तत्काल बुझ गई ॥४५॥ तब तारकने भी क्रोधसे लाल होकर कानतक खींच खींचकर पैने और चमचमाते हुए छुरोंवाले भयंकर बाण बरसा-बरसाकर देवसेनाको डराकर तितर-बितर कर दिया और कार्त्तिकेयपर भी बड़ा गहरा प्रहार किया ॥४६॥ कार्त्तिकेयने भी तारकके धनुष और बाण एक एक करके खेल-खेलमें ही इस प्रकार काट गिराए जैसे योगी लोग यम, नियम आदि साधकर अपने मनकी सब सांसारिक इच्छाएँ मिटा डालते हैं ॥४७॥ यह देखकर दैत्यराज तारकका क्रोध और भी भड़क उठा। अपनी तनी हुई भौंहोंके कारण और भी भयंकर दिखाई देनेवाला वह दैत्य रथ छोड़कर हाथमें लपलपाती हुई भयंकर तलवार

भ्रूभङ्गभीषणमुखोऽसुरचक्रवर्ती संदीप्तकोपदहनोऽथ रथं विहाय ।
क्रीडत्करालकरवालकरोऽसुरेन्द्रस्तं प्रत्यधावदभितस्त्रिपुरारिसूनुम् ॥४८॥

अभ्यापतन्तमसुराधिपमीशपुत्रो दुर्वारबाहुविभवं सुरसैनिकैस्तम् ।
दृष्ट्वा युगान्तदहनप्रतिमां मुमोच शक्तिं प्रमोदविकसद्वदनारविन्दः ॥४९॥

उद्द्योतिताम्बरदिगन्तरमंशुजालैः शक्तिः पपात हृदि तस्य महासुरस्य ।
हर्षाश्रुभिः सह समस्तदिगीश्वराणां शोकोष्णबाष्पसलिलैः सह दानवानाम् ॥५०॥

शक्त्या हृतासुमसुरेश्वरमापतन्तं कल्पान्तवातहतभिन्नमिवाद्रिशृङ्गम् ।
दृष्ट्वा प्ररूढपुलकाञ्चितचारुदेहा देवाः प्रमोदमगमंस्त्रिदशेन्द्रमुख्याः ॥५१॥

यत्रापतत्स दनुजाधिपतिः परासुः संवर्तकालनिपतच्छिखरीन्द्रतुल्यः ।
तत्रादधात्फणिपतिर्धरणीं फणाभिस्तद्भूरिभारविधुराभिरधो व्रजन्तीम् ॥५२॥

स्वर्गापगासलिलसीकरिणी समन्तात्सौरभ्यलुब्धमधुपावलिसेव्यमाना ।
कल्पद्रुमप्रसववृष्टिरभून्नभस्तः शंभोः सुतस्य शिरसि त्रिदशारिशत्रोः ॥५३॥

पुलकभरविभिन्नवारबाणा भुजविभवं बहु तारकस्य शत्रोः ।
सकलसुरगणा महेन्द्रमुख्याः प्रमदमुखच्छविसंपदोऽभ्यनन्दन् ॥५४॥

लेकर कार्तिकेयपर टूट पड़ा ॥४८॥ जब कार्तिकेयने देखा कि ऐसे भयंकर रूपवाला तारक मुझपर झपटा आ रहा है और देवताओंके सैनिकोंके हराए नहीं हार रहा है तब उन्होंने हँसकर अपना प्रलयकी अग्निके समान भयंकर भाला उसपर फेंक मारा ॥४९॥ अपनी चमकसे सब दिशाओंको चमकाती हुई वह शक्ति ठीक तारकके हृदयमें ऐसी जाकर लगी कि उसके लगते ही देवताओंकी आँखोंसे हर्षके आँसू और दैत्योंकी आँखोंसे शोकके आँसू साथ-साथ बह चले ॥५०॥ उस भालेकी चोटसे मरकर गिरा हुआ तारक ऐसा जान पड़ता था मानो प्रलयकी आँधीसे टूटकर गिरी हुई पहाड़की चोटी हो । ज्यों ही इन्द्र आदि देवताओंने उस तारक दैत्यको गिरा हुआ देखा कि वे सब हर्षसे उछल पड़े और उनके रोम-रोम फरफरा उठे ॥५१॥ जब वह दैत्यराज तारक प्रलय कालकी आँधीसे टूटकर गिरे हुए पहाड़के समान मरकर गिरा तब उसके भारी बोझसे चँपकर जो पृथ्वी नीचेको धँसी तो नागराज वासुकिने उसे अपने फणोंपर किसी-किसी प्रकार उठा संभाला ॥५२॥ उस समय कार्तिकेयके सिरपर आकाशगंगाके जलकी फुहारोंसे भरे और गन्धके लोभी भौंरोंसे घिरे हुए कल्पतरुके फूल आकाशसे बरसने लगे ॥५३॥ आनन्दके मारे देवताओंकी बाछें खिल उठीं और वे हर्षसे इतने फूल उठे कि उनकी छातियोंपर कसे हुए कवच भी तड़ातड़ टूट गए । इस प्रकार आनन्दमें झूमते हुए इन्द्र आदि सब देवता पास आकर तारकको मारनेवाले कुमारकी भुजाओंके बलकी बड़ाई करने लगे ॥५४॥ इस प्रकार विजयी कार्त्तिकेयने जब तीनों

इति विषमशरारेः सूनुना जिष्णुनाजौ त्रिभुवनवरशल्ये प्रोद्धृते दानवेन्द्रे ।
बलरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य व्यजयत सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः ॥५५॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
'तारकासुरवधो' नाम सप्तदशः सर्गः ॥

॥ इति कुमारसंभवम् ॥

लोकोंके हृदयमें काँटेके समान कसकने वाले उस तारक राक्षसको मार डाला तब इन्द्र फिर स्वर्गके स्वामी बन गए और उन्हें अपनेमें सर्वश्रेष्ठ समझकर सब देवता लोग अपने-अपने मुकुटके मणियों-सहित अपने सिर उसके चरणोंमें रख रखकर उन्हें प्रणाम करने लगे ॥५५॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें 'तारक
राक्षसका वध' नामका सत्रहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ कुमारसंभव सम्पूर्ण हुआ ॥

❀ मेघदूतम् ❀

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

मेघदूतम्

॥ पूर्वमेघः ॥

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥
तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥२॥
तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोरन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति-चेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥३॥
प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

पूर्वमेघ

[अलकापुरीमें कुबेरके यहाँ हेममाली नामका एक यक्ष प्रतिदिन मानसरोवरसे स्वर्णकमल लानेके कामपर लगाया गया था, पर वह कामी दिन-रात अपनी स्त्रीके पीछे ही पागल रहता था। अपनी स्त्रीके बिछोहमें व्याकुल उस यक्षने एक बार अपने काममें ऐसी ढिलाई कर दी कि बस कुबेरने झल्लाकर उसे यह कहकर देश-निकाला दे दिया कि अब एक वर्षतक तू अपनी पत्नीसे नहीं मिलने पावेगा। इस शापसे उसका सारा राग-रंग जाता रहा और शापके दिन काटनेके लिये उसने रामगिरि (चित्रकूट)-के उन आश्रमोंमें डेरा जा डाला जहाँके कुँडों, तालावों और बावड़ियोंका जल जानकीके स्नानसे पवित्र हो गया था और जहाँ घनी छायावाले बहुतसे वृक्ष जहाँ-तहाँ लहलहा रहे थे ॥१॥ अपनी पत्नीके बिना जो एक क्षण नहीं रह पाता था, वह यक्ष अपनी पत्नीसे बिछुड़नेपर सूखकर काँटा हो गया। उसके हाथके सोनेके कंगन भी ढीले होकर निकल गिरे और यों ही रोते-कलपते उसने कुछ महीने उस पहाड़ीपर जैसे-तैसे काट दिए। पर असाढ़के पहले ही दिन वह देखता क्या है कि सामने बादलोंसे लिपटी हुई पहाड़ीकी चोटी ऐसी लग रही है मानो कोई हाथी (पहाड़) अपने माथेकी टक्करसे मिट्टीके टीले (बादलों) को ढहानेका खेल कर रहा हो ॥२॥ मनमें प्रेम उकसानेवाले उन बादलोंको देखकर महाराज कुबेरका वह सेवक अपने आँसू ज्यों-त्यों रोके बहुत देरतक खड़ा सोचता ही रह गया, क्योंकि बादलोंको देखकर जब सुखी लोगों-तकका मन डोल जाता है तब उस बिछोहीका तो कहना ही क्या, जो दूर देशमें पड़ा हुआ अपनी प्यारीके गले लगनेके लिये दिन-रात तड़पे जा रहा हो ॥३॥ बादलको देखते ही उसे ध्यान आया कि असाढ़ बीतते ही जब सावन आ जायगा तब तो मेरी कोमल प्रिया अपनेको सँभाल नहीं पावेगी। इसलिये उसने सोचा कि अपनी प्यारीको ढाढ़स बँधानेके लिये और उसके प्राण बचानेके लिये क्यों न इन बादलोंके हाथ ही अपना कुशल-समाचार भेज दूँ। यह ध्यान आते ही तो वह आनन्दसे मगन हो

धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥५॥
जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥
संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥
त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ।
कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥
तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीमव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥९॥

उठा। उसने झट वहाँ खिले हुए कुटज (इन्द्रजव) के फूल उतारकर पहले तो मेघकी पूजा की और फिर कुशल-मंगल पूछकर उसका स्वागत करने लगा ॥४॥ भला बताइए, कहाँ तो धुएँ, अग्नि, जल और वायुके मेलसे बना हुआ बादल और कहाँ संदेसेकी वे बातें, जिन्हें बड़े चतुर लोग ही ले जा पहुँचा सक पाते हैं। पर यक्ष को तो अपने तन-मनकी सुध थी ही नहीं, फिर भला उसका ध्यान यहाँतक कैसे पहुँच पाता ! इसीलिये वह यक्ष अपना सँदेसा भेजनेके लिये उस बादलके आगे ही गिड़गिड़ाने लगा। सच भी है, प्रेमियोंको यह जाननेकी सुध ही कहाँ रह पाती है कि कौन जड़ (बेजान) है और कौन चेतन (जानदार) ॥५॥ बादलकी बड़ाई करते हुए यक्ष कहने लगा—'देखो मेघ ! संसारमें पुष्कर और आवर्त्तक नामक बादलोंके जो दो प्रसिद्ध और ऊँचे कुल हैं, उन्हींमें तुमने जन्म लिया है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम इन्द्रके दूत हो और जैसा चाहो वैसा अपना रूप भी बना सकते हो, इसीलिये अपनी प्यारीसे इतनी दूर लाकर पटका हुआ मैं अभागा तुम्हारे ही आगे हाथ पसार रहा हूँ, क्योंकि गुणीके आगे हाथ फैला-कर रीते हाथों लौट आना अच्छा है, पर नीचसे इच्छा पूरी करा लेना अच्छा नहीं ॥६॥ अकेले तुम्हीं तो ऐसे हो जो संसारके तपे हुए प्राणियोंको ठंडक देते हो, इसलिये मेघ ! कुबेरके क्रोधसे निकाले हुए और अपनी प्यारीसे दूर पटके हुए मुझ बिछोहीका संदेसा भी तुम्हीं मेरी प्यारीके पास ले जा पहुँचाओ। देखो ! यह संदेसा लेकर तुम्हें बड़े ठाठ-बाटसे रहनेवाले यक्षोंकी उस अलका नामकी बस्तीको जाना होगा, जहाँके भवनोंमें, बस्तीके बाहरवाले उद्यानमें बनी हुई शिवकी मूर्तिके सिरपर जड़ी हुई चन्द्रिकासे सदा उजाला हुआ रहा करता है ॥७॥ जब तुम वायुपर पैर रखते हुए ऊपर चढ़ोगे तब परदेशियोंकी स्त्रियाँ अपनी अलकें ऊपर उठा-उठाकर बड़े भरोसेसे ढाढ़स पाकर तुम्हारी ओर एकटक देखेंगी, क्योंकि मुझ-जैसे पराधीनको छोड़कर और कौन ऐसा निर्दयी होगा जो तुम्हें उमड़ा हुआ देखकर भी बिछोहमें तड़पनेवाली अपनी पत्नीको मिलनेको उतावला न हो उठे ॥८॥ देखो मेघ ! ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ तुम्हारी पहुँच न हो सकती हो इसलिये तुम अपनी उस पतिव्रता भाभीको अवश्य ही पा जाओगे जो वहाँ बैठी मेरे लौटनेके दिन गिन रही होगी। क्योंकि देखो, प्रेमियोंका फूल-जैसा कोमल हृदय तो बस मिलनेकी आशापर ही केवल टँगा रहता है। इसलिये स्त्रियोंके जो हृदय, अपने प्रेमियोंसे बिछुड़नेपर एक क्षण नहीं टिके रह सकते, वे इसी आशाके सहारे तो उन स्त्रियोंको जिलाए रखते हैं ॥९॥ देखो ! (सगुन भी सब अच्छे

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥१०॥
कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥११॥
आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं वन्द्यैः पुसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
कालेकाले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्॥१२॥
मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य।१३
अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिर्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्
रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥१५॥

ही अच्छे हो रहे हैं । तुम्हारा साथी वायु धीरे-धीरे तुम्हें आगे बढ़ाए दे रहा है । इधर अपनी
आनका पक्का यह चातक भी बाईं ओर अपनी मीठी बोली बोले जा रहा है । अभी थोड़ी ही देरमें
तुम्हारा यह आँखोंको सुहानेवाला रूप देखकर बगुलियाँ भी समझ लेंगी कि हमारे गर्भ धारण
करनेका समय आ गया है इसलिये वे पाँत बाँध बाँधकर अपने पंखोंसे तुम्हें पंखा झलनेके लिये
अवश्य ही आकाशमें उड़-उड़कर अभी आ पहुँचनेवाली होंगी ॥१०॥ तुम्हारे जिस गर्जनसे कुकुरमुत्ते
फूट निकलते हैं और धरती उपजाऊ हो उठती है, वही कानोंको भला लगनेवाला तुम्हारा गरजना
सुनकर, मानसरोवर जानेको उतावले राजहंस भी अपनी चोंचोंमें कमलकी अगली डंठल लिए कैलास
पर्वततक तुम्हारे साथ-साथ आकाशमें उड़ते चले जायँगे ॥११॥ देखो मेघ ! जिस पहाड़पर तुम
लिपटे बैठे हो, इसकी ढालोंपर भगवान् रामके उन पैरोंकी छाप जहाँ-तहाँ पड़ी है, जिन्हें सारा
संसार पूजा करता है, और जब-जब तुम इससे मिलने आया करते हो, तब-तब यह भी बहुत
दिनोंपर मिलनेके कारण तुम्हारे ही साथ अपने गरम-गरम आँसू बहाकर अपना प्रेम प्रकट किया
करता है इसलिये पहले अपने इस प्यारे मित्र पहाड़की चोटीसे जी-भर गले मिल लो तब इससे
बिदा लेना॥१२॥ अच्छा, पहले, मैं तुम्हें वह मार्ग समझाए देता हूँ जिधरसे जानेमें तुम्हें कोई
कष्ट नहीं हो पायेगा । मार्ग समझा चुकनेपर ही मैं अपना प्यारा संदेसा भी तुम्हें बता दूंगा ।
देखो ! मार्गमें चढ़ते हुए जब कभी थकने लगो, तब मार्गमें पड़ती हुई पर्वतकी चोटियोंपर
थोड़ा-थोड़ा सुस्ताते जाना और जब-जब तुम पानीकी कमीसे दुबले पड़ने लगो तब-तब बीचमें
पड़े हुए झरनोंका हल्का-हलका जल पीते जाना ॥१३॥ जब तुम लहलही बेंतोंसे लदी हुई इस
पहाड़ीसे ऊपर उड़ते हुए चढ़ोगे तब तुम्हारा उड़ना देखकर सिद्धोंकी भोली-भाली स्त्रियाँ आँखें
फाड़-फाड़कर तुम्हारी ओर देखती हुई यही सोचने लगेंगी कि कहीं पहाड़की चोटीको ही तो
पवन नहीं उड़ाए लिए चला जा रहा है ? इस प्रकार ठाटसे उड़ते हुए तुम दिग्गजोंकी मोटी
सूँड़ोंकी फटकारोंको धकेलते हुए उत्तरकी ओर घूम जाना ॥१४॥ देखो ! वह सामने बाँबीके
ऊपर उठा हुआ इन्द्रधनुषका एक ऐसा सुन्दर टुकड़ा दिखाई पड़ रहा है मानो बहुतसे रत्नोंकी
चमक एक साथ वहाँ लाकर इकट्ठी कर धरी गई हो । इस इन्द्र-धनुषसे सजा हुआ तुम्हारा
साँवला शरीर ऐसा सुन्दर लगने लगा है जैसे मोरमुकुट पहने हुए ग्वालेका वेश बनाए हुए
श्रीकृष्ण ही आ खड़े हुए हों ॥१५॥ देखो ! खेतीका होना न होना भी सब तुम्हारे ही भरोसे तो

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं किंचित्पश्चाद्व्रजलघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥१६॥
त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥
छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैस्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥१८॥
अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूटस्तुङ्गेन त्वां जलद शिरसा वक्ष्यति श्लाघ्यमानः।
आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्निं सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥१९॥
स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥२०॥
तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टिर्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥२१॥

है, इसलिये किसानोंकी वे भोली-भाली स्त्रियाँ भी तुम्हें बड़े प्रेम और आदरसे देखेंगी, जिन्हें भौंहें चलाकर रिझानेकी कला नहीं आती। वहाँ तुम माल देशके उन खेतोंपर जा बरसना जहाँ अभी जोते जानेके कारण धरतीसे सोंधी-सोंधी सुगन्ध निकल रही होगी। वहाँसे थोड़ा पच्छिमकी ओर घूमकर फिर झटपट उत्तरकी ओर बढ़ जाना ॥१६॥ जब तुम मूसलाधार पानी बरसाकर आम्रकूट पहाड़के जंगलोंकी आग बुझाने लगोगे तब वह तुम्हारा बड़ा उपकार मानकर और तुम्हें थका हुआ समझकर, बड़े-प्रेमसे तुम्हें मित्र बनाकर अपनी चोटीपर आदरके साथ ठहरावेगा, क्योंकि जब दरिद्र लोग भी आए हुए मित्रके उपकारका ध्यान करके उसका सत्कार करनेमें नहीं चूकते तब आम्रकूट-जैसे ऊँचोंका तो कहना ही क्या ॥१७॥ देखो पके हुए फलोंसे लदे आमके वृक्षोंसे घिरा हुआ आम्रकूट पर्वत पीला पीला-सा हो गया होगा। उसकी चोटीपर जब तुम कोमल बालोंके जूड़ेके समान साँवला रंग लेकर चढ़ोगे, तब वह पर्वत, देवताओंके दम्पतियोंको दूरसे ऐसा दिखाई देगा मानो वह पृथ्वीका उठा हुआ ऐसा स्तन हो, जिसके बीचमें काला गोला हो और चारों ओर पीला हो ॥१८॥ देखो मेघ! जब तुम थककर आम्रकूट पर्वतपर पहुँचो और वह प्रशंसनीय आम्रकूट पर्वत अपनी ऊँची चोटीपर तुम्हें बड़े आदरसे ठहरावे तब तुम भी जल बरसाकर उसके जंगलोंमें लगी हुई गर्मीके दिनोंकी आग बुझा देना क्योंकि यदि सच्चे मनसे बड़े लोगोंपर उपकार किया जाय तो वे अपने साथ भलाई करनेवालेका आदर करनेमें देर नहीं लगाते ॥१९॥ उस आम्रकूटके जिन घने कुञ्जोंमें जंगली स्त्रियाँ बराबर घूमा ही करती हैं, वहाँ तुम थोड़ी ही देर ठहरकर डग बढ़ाकर चल देना, क्योंकि जल बरसा चुकनेपर तुम्हारी देहका भारीपन भी दूर हो जायगा और तुम्हारी चाल भी बढ़ जायगी। वहाँसे आगे चलनेपर तुम्हें विन्ध्याचलके ऊबड़-खाबड़ पठारपर बहुत-सी धाराओंमें फैली हुई रेवा (नर्मदा) नदी मिलेगी, जो तुम्हें ऊपरसे ऐसी दिखाई देगी मानो किसीने बड़ेसे हाथीका शरीर भभूतसे उठा चीता हो ॥२०॥ देखो! वहाँ जब जल बरसा चुको, तब जंगली हाथियोंके सुगन्धित मदमें बसा हुआ और जामुनकी कुञ्जोंमें बहता हुआ रेवाका जल पीकर ही आगे बढ़ना क्योंकि जल पीकर जब तुम भारी हो जाओगे तब वायु तुम्हें इधर-उधर नहीं झुला सकेगा। देखो! जिसके हाथ रीते होते हैं उसको सभी दुरदुराते हैं, और जो भरा-पूरा होता है, उसका सभी आदर किया करते हैं ॥२१॥ देखो! जिस समय तुम जल बरसाते चले जा रहे होगे उस समय

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढैराविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वाऽरण्येष्वधिकसुरभिगन्धमाघ्रायचोर्व्याः सारङ्गास्ते जललवमुचःसूचयिष्यन्तिमार्गम्
अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः।
त्वामासाद्यस्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि।
उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।
शुक्लापाङ्गैःसजलनयनैःस्वागतीकृत्यकेकाःप्रत्युद्यातःकथमपिभवान्गन्तुमाशुव्यवस्येत् २४।
पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैर्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताःसंपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः।।२५।
तेषां दिक्षुप्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यःफलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा ।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात् सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि।।२६।।
नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोस्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिवप्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणामुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि २७।
विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्चन्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्।२८।

अध-पके हरे-पीले कदम्बके फूलोंपर मँडराते हुए भौंरे, दलदलोंमें नई फूली हुई कन्दली (झाड़ीदार घास) की पत्तियाँ चरते हुए हरिण और जंगली धरतीका तीखा गन्ध सूँघते हुए हाथी, तुम्हें मार्ग बताते चलेंगे ।।२२।। ऊपर ही ऊपर बूँदे घूँटते हुए चातकोंको देखनेवाले और पाँत बाँधकर उड़ती हुई बगुलियोंको एक-एक करके गिननेवाले जिन सिद्धोंकी प्यारी स्त्रियाँ तुम्हारा गर्जन सुनकर झटसे घबराकर उनके गले लग जायँगी, वे सिद्ध लोग तुम्हारा बड़ा भला मनावेंगे ।।२३।। मित्र ! यह तो मैं जानता ही हूँ कि तुम मेरे कामके लिये बिना रुके झटपट जाना चाहोगे फिर भी मैं समझता हूँ कि कुटजके फूलोंसे लदे हुए उन सुगन्धित पहाड़ोंपर तुम ठहरते ही जाना जहाँके मोर, अपने नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरकर अपनी कूकसे तुम्हारा स्वागत कर रहे होंगे । पर मुझे आशा है कि तुम जैसे भी होगा वहाँसे झटपट चल दोगे ।।२४।। देखो मेघ ! जब तुम दशार्ण देशके पास पहुँचोगे तब खिले हुए केवड़ोंके कारण वहाँके फूले हुए उपवनोंकी बाड़ें तुम्हें उजली दिखाई देंगी, गाँवके सब मन्दिर भी कौओं आदि पक्षियोंके घोसलोंसे भरे मिलेंगे, वहाँके जंगल भी पकी हुई काली जामुनोंसे लदे मिलेंगे और कुछ हंस भी वहाँ थोड़े दिनोंके लिये आ बसे रहे होंगे ।।२५।। दशार्ण देशकी विदिशा (भेलसा) नामकी प्रसिद्ध राजधानीमें पहुँचते ही तुम्हें विलासकी सारी सामग्री धरी मिल जायगी क्योंकि जब तुम वहाँकी सुहावनी, मनभावनी और नाचती हुई लहरोंवाली वेत्रवती (बेतवा) नदीके तीरपर गर्जन करके उसका मीठा जल पीने लगोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा मानो तुम किसी कँटीली भौंहोंवाली कामिनीके ओठोंका रस पी रहे हो ।।२६।। वहाँ पहुँचकर तुम 'नीच' नामकी पहाड़ीपर अपनी थकावट मिटानेके लिये उतर जाना । वहाँपर फूले हुए कदंबके वृक्षोंको देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करनेके कारण उनके रोम-रोम फरफरा उठे हों । उसी पहाड़ीके गुफाघरोंमेंसे उन सुगंधित पदार्थोंकी भी गंध गमक रही होगी जो वेश्याओंके साथ रति करतेके समय वहाँके छैले काममें लाया करते हैं । इससे तुम्हें यह ज्ञात हो जायगा कि वहाँके नागरिक लोग खुल्लम-खुल्ला यौवनका रस लेते ही रहते हैं ।।२७।। वहाँ अपनी थकावट मिटाकर, तुम जंगली नदियोंके तीरोंपर उपवनमें खिली हुई जूहीकी कलियोंको अपने जलकी फुहारोंसे सींचते

वक्रःपन्थायदपिभवतःप्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखोमास्मभूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानांलोलापाङ्गैर्यदिनरमसेलोचनैर्वञ्चितोऽसि॥२९॥
वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाःपथिभवरसाभ्यन्तरःसन्निपत्यस्त्रीणामाद्यंप्रणयवचनंविभ्रमोहिप्रियेषु॥३०॥
वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यंतेसुभगविरहावस्थयाव्यञ्जयन्तीकार्श्यंयेनत्यजतिविधिनासत्वयैवोपपाद्यः॥३१॥
प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्पूर्वोद्दिष्टामनुसरपुरींश्रीविशालाम्विशालाम्।
स्वल्पीभूतेसुचरितफलेस्वर्गिणांगांगतानांशेषैःपुण्यैर्हृतमिवदिवःकान्तिमत्खण्डमेकम्॥३२॥
दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्रस्त्रीणांहरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलःशिप्रावातःप्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥३३॥
हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशःशङ्खशुक्तीःशष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वायस्यांविपणिरचितान्विद्रुमाणांचभङ्गान्संलक्ष्यन्तेसलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः।

हुए और वहाँकी फूल उतारनेवाली उन मालिनोंके मुँहपर छाया करके थोड़ीसी जान-पहचान बढ़ाते हुए आगे बढ़ जाना, जिनके कानोंमें लटके हुए कमलकी पंखड़ियोंके कनफूल उनके गालोंपर बहते हुए पसीनेसे लग-लगकर मैले हो गए होंगे ॥२८॥ उत्तरकी ओर जानेमें यद्यपि उज्जयिनीवाला मार्ग कुछ टेढ़ा तो पड़ेगा पर तुम उस नगरके राजभवनोंको देखना कभी न भूलना। तुम्हारी बिजलीकी चमकसे डरकर वहाँकी स्त्रियाँ जो चंचल चितवन चलावेंगी उनपर यदि तुम न रीझे, तो समझ लो कि तुम्हारा जन्म अकारथ ही गया ॥२९॥ उज्जयिनीकी ओर जाते हुए तुम उतरकर उस निर्विन्ध्या नदीका भी रस ले लेना जिसकी उछलती हुई लहरोंपर पक्षियोंकी चहचहाती हुई पातें ही करधनी सी दिखाई देंगी और जो इस सुन्दर ढंगसे रुक रुककर बह रही होगी कि उसमें पड़ी हुई भँवर तुम्हें उसकी नाभि जैसी दिखाई देगी, क्योंकि स्त्रियाँ तो चटक-मटक दिखाकर ही अपने प्रेमियोंको अपना प्रेम जताया करती हैं ॥३०॥ देखो ! निर्विन्ध्या नदीकी धारा तुम्हारे बिछोहमें चोटीके समान पतली हो गई होगी और तीरके वृक्षोंके पीले पत्तोंके झड़-झड़कर गिरनेसे उसका रंग भी पीला पड़ गया होगा। इस प्रकार बड़भागी मेघ ! अपनी वियोगकी दशा दिखाकर वह यही बता रही होगी कि मैं तुम्हारे वियोगमें सूखी चली जा रही हूँ। देखो, तुम ऐसा उपाय करना कि उस बेचारीका दुबलापन दूर हो जाय (जल बरसाकर उसे भर देना) ॥३१॥ अवन्ति देश (मालवा)-में पहुँचकर तुम धन-धान्यसे भरी हुई उस विशाला (उज्जयिनी) नगरीकी ओर चले जाना जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ और जहाँ गाँवके बड़े-बूढ़े लोग, महाराजा उदयनकी कथा भली प्रकार जानते-बूझते हैं। वह नगरी ऐसी लगती है मानो स्वर्गमें अपने पुण्यके बदले स्वर्गका कोई चमकीला भाग अपने साथ धरतीपर उतार लाए हों ॥३२॥ उन नगरीमें, मतवाले सारसोंकी मीठी बोलीको दूर-दूरतक फैलाता हुआ, तड़के खिले हुए कमलोंकी गन्धमें बसा हुआ और शरीरको सुहानेवाला शिप्राका वायु, स्त्रियोंके संभोगकी थकावट उसी प्रकार दूर कर रहा होगा जैसे चतुर प्रेमी, मीठी-मीठी बातें बताकर, फुलेल सुँघाकर और पंखा झलकर संभोगसे थकी हुई अपनी प्यारीकी थकावट दूर कर देता है ॥३३॥ उज्जयिनीकी हाटोंमें तुम्हें कहीं तो करोड़ों मोतियोंकी ऐसी मालाएँ सजी दिखाई देंगी जिनके बीच-बीचमें बड़े-बड़े रत्न गुँथे हुए होंगे, कहीं करोड़ों शंख और सीपियाँ रक्खी मिलेंगी और कहीं नई घासके

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पादित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ३५
जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैर्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा लक्ष्मीं पश्येल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३६॥
भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्यास्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३७॥
अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयामामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्।३८।
पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दूनामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ३९
पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥४०॥

समान नीले और चमकीले नीलम बिछे दिखाई देंगे। उन्हें देखकर यही जान पड़ेगा कि जितने रत्न थे वे तो सब यहाँ निकाल ला रक्खे गए हैं और समुद्रमें केवल पानी ही पानी बचा छोड़ दिया गया है ॥३४॥ वहाँके जानकार लोग, यह कथा सुना-सुनाकर बाहरसे आए हुए अपने संबन्धियोंका मन बहला रहे होंगे कि यहाँपर वत्स देशके राजा उदयनने उज्ययिनीके महाराज प्रद्योतकी प्यारी कन्या वासवदत्ताको हरा था, यहीं उनका बनाया हुआ ताड़के पेड़ोंका सुनहरा उपवन था और यहींपर मदमें भरा हुआ नलगिरि नामका हाथी, खूँटा उपाड़कर इधर-उधर पागल हुआ घूमता फिरा करता था ॥३५॥ अगरकी धूपका जो धुआँ वहाँकी स्त्रियोंके बालोंको सुगंधित करके झरोंखोंसे निकलता होगा उससे तुम्हारा शरीर बढ़ेगा ही और तुम्हें अपना समझकर जब वहाँके पालतू मोर भी नाच-नाचकर तुम्हारा सत्कार करने लगें तब तुम फूलोंके गन्धसे महकते हुए वहाँके उन भवनोंकी सजावट देखकर अपनी थकावट दूर कर लेना जिनमें सुन्दरियोंके चरणोंमें लगी हुई महावरसे उनके लाल पैरोंकी छाप बनी होगी ॥३६॥ वहाँसे तुम तीनों लोकोंके स्वामी और चंडीके पति महाकालके पवित्र मन्दिरकी ओर बढ़ जाना। वहाँ तुम्हें भी अपने स्वामी शिवके कंठके समान ही नीला देखकर शिवके गण तुम्हें बड़े आदरसे निहारेंगे। वहाँ देखोगे कि जल-विहार करनेवाली युवतियोंके स्नान करनेसे महकता हुआ और कमलके गंधमें बसी हुई गंधवती नदीकी ओरसे आनेवाला पवन, उस मन्दिरके उपवनको बार-बार हिलाए झुलाए डाल रहा होगा ॥३७॥ देखो मेघ ! यदि तुम महाकालके मंदिरमें साँझ होनेसे कुछ पहले ही पहुँच जाओ तो वहाँ तबतक ठहरे रहना जबतक सूर्य भली प्रकार आँखोंसे ओझल न हो जाय। वहाँ जब महादेवकी साँझकी सुहावनी आरती होने लगे तब तुम भी अपने गर्जनका नगाड़ा बजाने लगना। इससे तुम्हें अपने मंद गंभीर गर्जनका पूरा-पूरा फल मिल जायगा ॥३८॥ सन्ध्याके नाचमें पैरोंपर थिरकती हुई जिन वेश्याओंकी करधनीके घुँघरू बड़े मीठे स्वरमें बज रहे होंगे और कंगनके नगोंकी चमकसे दमकते हुए डंडोंवाले चँवर ढुलाते-ढुलाते जिनके हाथ थक चले होंगे, उन वेश्याओंके नख-क्षतोंपर जब तुम्हारी ठंडी-ठंडी फुहारें पड़ेंगी तब वे बड़े प्रेमसे अपनी भौंरोंकी पाँतोके समान बड़ी-बड़ी चितवनोंसे तुम्हें देखेंगी ॥३९॥ साँझकी पूजा हो चुकनेपर जब महाकाल ताण्डव नृत्य करने लगें, तब तुम साँझकी ललाई लेकर उन वृक्षोंपर जा छाना जो उनकी ऊँची उठी हुई बाँहोंके समान वहाँ खड़े होंगे। ऐसा करनेसे हाथीकी खाल ओढ़नेकी शिवके मतकी

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवास्ताः ४१
तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४२॥
तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खंडितानां शान्ति नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्त्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः।४३।
गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥
तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥४५॥
त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्॥४६॥

इच्छा भी पूरी हो जायेगी और यह देखकर पहले तो पार्वती डर जायँगी कि यह हाथीकी खाल आ कहाँसे गई, पर फिर तुम्हें पहचानकर उनका डर दूर हो जायगा और वे एकटक होकर शिवमें तुम्हारी यह भक्ति देखती रह जायँगी ॥४०॥ वहाँपर जो स्त्रियाँ अपने प्यारोंसे मिलनेके लिए घनी अँधेरी रातमें निकली होंगी, उन्हें जब सड़कोंपर अँधेरेके मारे कुछ भी न सूझता होगा, तब तुम कसौटीमें सोनेके समान दमकनेवाली अपनी बिजली चमकाकर उन्हें ठीक-ठीक मार्ग दिखा देना, पर देखो ! तुम गरजने-बरसने मत लगना नहीं तो वे सब घबरा उठेंगी ।४१।। बहुत देरतक चमकते-चमकते थकी हुई अपनी प्यारी बिजलीको लेकर तुम किसी ऐसे मकानके छज्जेपर रात जा बिताना जिसमें बहुत से कबूतर सोए पड़े हों और फिर दिन निकलते ही वहाँसे चल देना, क्योंकि जो अपने मित्रोंका काम करनेका बीड़ा उठाता है, वह अलसेट नहीं किया करता ।।४२।। देखो ! उस समय बहुतसे प्रेमी लोग अपनी उन प्यारियोंके आँसू बैठे पोंछ रहे होंगे जिन्हें रातको अकेली छोड़कर वे कहीं दूसरी ठौरपर जा रमे होंगे। इसलिये उस समय तुम सूर्यको भी मत ढक देना क्योंकि वे भी उस समय अपनी प्यारी कमलिनीके मुख-कमलपर पड़ी हुई ओसकी बूँदें पोंछनेके लिये आ पहुँचे होंगे। उस समय तुम उनके हाथ (किरणें) न रोक बैठना, नहीं तो वे बुरा मान जायँगे ।।४३।। देखो मेघ ! तुम्हारे सहज सलोने शरीरकी परछाहीं गंभीरा नदीके उस जलमें अवश्य पड़ी दिखाई देगी, जो चित्त-जैसा निर्मल है। उसमें किलोलें करती हुई कुमुदके समान उजली मछलियोंको देखकर तुम यही समझना कि वह नदी ही तुम्हारी ओर अपनी प्रेम-भरी चंचल चितवनें चला रही है। उस समय अपनी रुखाईसे कहीं तुम उसके प्रेमका निरादर न कर बैठना ।।४४।। जब तुम गंभीरा नदीका जल पी लोगे और उसका जल कुछ कम होनेसे उसके दोनों तट नीचेतक दिखाई देने लगेंगे तब वहाँ जलमें झुकी हुई बेंतकी लताओंको देखनेसे जान पड़ेगा मानो गंभीरा नदी अपने तटरूपी नितम्बोंपरसे अपने जलके वस्त्र खिसक जानेपर लज्जासे अपनी बेंतकी लताओंके हाथोंसे ही अपने जलका वस्त्र थामे हुए हो। यह सब देखकर भैया मेघ ! उसपर झुके हुए तुम वहाँसे जा न पाओगे, क्योंकि जवानीका रस ले चुकनेवाला ऐसा कौन रँगीला होगा जो कामिनीकी खुले हुए जघन (पेडू) को देखकर उसका रस लिए बिना ही वहाँसे चल दे ।।४५।। वहाँसे चलकर जब तुम देवगिरि पहाड़की ओर बढ़ोगे तब वहाँ धीरे-धीरे बहता हुआ वह शीतल पवन

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनामत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥४७॥
ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४८॥
आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्
त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टीरेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥
तामुत्तीर्य व्रजपरिचितभ्रूलताविभ्रमाणां पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५१॥
ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्व्रजेथाः ।
राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥५२॥

भी तुम्हारी सेवा किया करता चलेगा जिसमें तुम्हारे बरसाए हुए जलसे आनन्दकी साँस लेती हुई धरतीकी गंध भरी होगी जिसे चिग्घाड़ते हुए हाथी अपनी सूँड़ोंसे पी रहे होंगे और जिसके चलनेसे वनके गूलर भी पकने लग गए होंगे ॥४६॥ उसी देवगिरि पर्वतपर स्कन्द भगवान् भी सदा निवास किया करते हैं। इसलिये वहाँ पहुँचकर तुम फूल बरसानेवाले बादल बनकर उनपर आकाश-गंगाके जलसे भींगे हुए फूल बरसाकर उन्हें स्नान करा देना। देखो! स्कन्द भगवान्‌को तुम ऐसा-वैसा देवता मत समझ बैठना। इन्द्रकी सेनाओंको बचानेके लिये शिवने सूर्यसे भी बढ़कर जलता हुआ अपना जो तेज अग्निमें डालकर इकट्ठा किया था, उसी तेजसे तो स्कन्दका जन्म हुआ है ॥४७॥ वहाँ पहुँचते ही तुम अपनी गरजसे पर्वतकी गुफाओंको गुँजा देना जिसे सुनकर स्वामी कार्त्तिकेयका वह मोर नाच उठेगा जिसके नेत्रोंके कोने सदा शिवके सिरपर धरे हुए चन्द्रमाकी चमकसे दमकते रहते हैं। उस मोरके झड़े हुए उन पंखोंसे चमकीली किरणें निकल रही होंगी, जिन्हें पुत्रपर प्रेम दिखानेके लिये पार्वती अपने उन कानोंपर सजा लेती हैं, जिनपर वे कमलकी पंखड़ियाँ सजाया करती थीं ॥४८॥ स्कन्दकी पूजा करके जब तुम आगे बढ़ोगे तब हाथोंमें वीणा लिए हुए वे सिद्ध लोग अपनी स्त्रियोंके साथ तुम्हें घूमते मिलेंगे जो अपनी वीणा भीगकर बिगड़ जानेके डरसे तुमसे दूर ही दूर रहना चाहेंगे। तब तुम कुछ दूर जाकर उस चर्मण्वती (चंबल) नदीका आदर करनेके लिये नीचे उतर जाना जो राजा रन्तिदेवके गवालंभ यज्ञ करनेकी कीर्ति बनकर धरतीपर बही चली जा रही है ॥४९॥ देखो मेघ! जब तुम विष्णुका साँवला रूप चुराकर चर्मण्वतीका जल पीनेके लिये झुकोगे, उस समय आकाशमें विचरनेवाले सिद्ध, गन्धर्व आदिको दूरसे पतली दिखाई देनेवाली उस नदीकी चौड़ी धाराके बीच तुम ऐसे दिखाई दोगे मानो पृथ्वीके गलेमें पड़े हुए एकलड़े हारके बीच बड़ी मोटी-सी इन्द्रनीलमणि ला पोही गई हो ॥५०॥ चर्मण्वती नदी पार करके तुम दशपुरकी ओर बढ़ जाना अपना रूप दिखाकर वहाँकी उन रमणियोंको जा रिझाना, जिनकी काली-काली कँटीली भौंहें ऐसी जान पड़ेंगी मानो उन्होंने कुन्दके फूलोंपर मँडरानेवाले भौंरोंकी सारी चमक चुरा धरी हो ॥५१॥ वहाँसे चलकर ब्रह्मावर्त्त (सरस्वती और दृषद्वतीके बीच) देशपर छाया करते हुए तुम उस कुरुक्षेत्रपर जा पहुँचना जो कौरवों और पाण्डवोंकी घरेलू लड़ाईके कारण आजतक बदनाम है और जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने शत्रु राजाओंके मुखोंपर उसी प्रकार अनगिनत बाण बरसाए थे जैसे कमलोंपर तुम अपनी जलधारा

हित्वाहालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां बन्धुप्रीत्यासमरविमुखो लाङ्गलीयाः सिषेवे।
कृत्वातासामभिगममपां सौम्यसारस्वतीनामन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ।।५३।।
तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रूकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ।।५४।।
तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा।।५५।।
आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्।।५६।।
तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रैरापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ।।५७।।
ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभंगाय तस्मिन् मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः।।५८।
तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः।।५९।।

बरसाया करते हो ।।५२।। देखो ! कौरव और पाण्डव दोनोंपर एक-सा प्रेम करनेवाले जो बलराम, महाभारतके युद्धमें किसीकी ओरसे भी नहीं लड़े, वे अपनी प्यारी रेवतीके नेत्रोंकी छाया पड़ी हुई प्यारी मदिरा छोड़कर जिस सरस्वती नदीका जल पीया करते थे, वही जल यदि तुम भी पी डालोगे तो बाहरसे काले होनेपर भी तुम्हारा मन उजला हो जायेगा ।।५३।। कुरुक्षेत्रसे चलकर तुम कनखल जा पहुँचना। वहाँ तुम्हें हिमालयकी घाटियोंसे उतरी हुई वे गंगा मिलेंगी जिन्होंने सीढ़ी बनकर सगरके पुत्रोंको स्वर्ग ले जा पहुँचाया और जिनकी उजली फेन ऐसी लगती है मानो वे इस फेनकी हँसीसे खिल्ली उड़ाती हुई उन पार्वतीजीका निरादर कर रही हों जो सौतिया-डाहसे गंगापर भौहें तरेर रही हों, और अपनी लहरोंके हाथ चन्द्रमापर टेककर शिवके केश पकड़कर पार्वतीको बता रही हों कि तुमसे बढ़कर शिव मेरी मुट्ठीमें हैं ।।५४।। यदि वहाँ पहुँचकर तुम दिग्गजोंके समान अपना पिछला भाग ऊपर उठाकर और आगेका भाग झुकाकर, गंगाका स्फटिकके समान उजला जल तिरछे होकर पीना चाहोगे, तो गंगाकी धारामें पड़ी तुम्हारी चलती हुई छाया ऐसी सुन्दर लगेगी मानो प्रयाग पहुँचनेके पहले ही गंगासे यमुना आ मिली हों ।।५५।। वहाँसे चलकर जब तुम हिमालयकी उस हिमसे ढकी चोटीपर बैठकर थकावट जा मिटाओगे जहाँसे गंगा निकली हैं और जिसकी शिलाएँ कस्तूरी हरिणोंके सदा बैठनेसे मह-मह महकती रहती हैं, तब उस चोटीपर बैठे हुए तुम वैसे ही दिखलाई दोगे जैसे महादेवके उजले साँड़के सींगोंपर मिट्टीके टीलोंपर टक्कर मारनेसे कीचड़ आ जमा हो ।।५६।। देखो मेघ ! अंधड़ चलनेपर देवदारके वृक्षोंके आपसमें रगड़नेसे जब जंगलमें आग लग जाय और उसके उड़ते हुए अंगारे, सुरागायके लंबे-लंबे रोएँ जलाने लगें, तब तुम धुआँधार पानी बरसाकर उसे बुझा देना क्योंकि भले लोगोंके पास जो कुछ भी होता है वह दीन-दुखियोंका दुःख मिटानेके लिये ही तो होता है ।।५७।। देखो ! हिमालयपर जब शरभ (आठ पैरोंवाला जीव जो सिंहको भी मार डालता है) तुम्हारे दूर होनेपर भी तुमपर बिगड़कर उछलनेके लिये मचलें और अपने हाथ-पैर तुड़वानेके लिये तुमपर सींग चलानेको झपटें, तब तुम उनके ऊपर धुआँधार ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर देना, क्योंकि जो बेकामका काम करने चलते हैं, उन्हें ऐसे ही ठीक करना चाहिए ।।५८।। वहीं हिमालयकी एक शिलापर तुम्हें शिवके पैरकी वह छाप भी मिलेगी

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात् संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥६०॥
प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य ताँस्तान्विशेषान् हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः।६१।
गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः।६२
उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्रीमंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥६३॥
हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ६४
तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे धर्मलब्धस्य न स्यात् क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भीषयेस्ताः।६५।

जिसकी सिद्ध लोग बराबर पूजा किया करते हैं। तुम भी भक्ति-भावसे झुककर उसकी प्रदक्षिणा कर लेना क्योंकि श्रद्धा-भरे लोगोंका पाप उसके दर्शनसे ही धुल जाता है और वे शरीर त्याग देनेपर सदाके लिये शिवके गण हो जाते हैं ॥५९॥ देखो मेघ! वहाँके पोले बासोंमें जब वायु भरनेसे उनमेंसे मीठे-मीठे स्वर निकलने लगते हैं और किन्नरोंकी स्त्रियाँ भी उनसे स्वर मिलाकर त्रिपुर-विजयका गीत गाने लगती हैं तब यदि तुम भी गरजकर पहाड़की खोहोंको गुँजाकर मृदंगके समान गड़गड़ा उठोगे तो शिवके संगीतके सारे अंग पूरे हो जायँगे ॥६०॥ हिमालयके आस-पास जितने सुहावने स्थान हैं, उन सबको देखते हुए तुम उस क्रौञ्च रंध्रको होते हुए उत्तरकी ओर निकल जाना जिसमेंसे होकर हंस भी मानसरोवरकी ओर जाया करते हैं और जिसे परशुरामने अपने बाणसे छेदकर अपना नाम अमर कर लिया है। उस सँकरे मार्गमें तुम वैसे ही लम्बे और तिरछे होकर जाना जैसे बलिको छलनेके समय विष्णुका साँवला चरण लम्बा और तिरछा हो गया था ॥६१॥ वहाँसे ऊपर उठकर तुम उस कैलास पर्वतपर जा पहुँचोगे जिसकी चोटियोंके जोड़-जोड़ रावणके बाहुओंने हिला डाले थे; जिसमें देवताओंकी स्त्रियाँ अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी कुमुद-जैसी उजली चोटियाँ आकाशमें इस प्रकार फैली हुई हैं मानो वह दिन-दिन इकट्ठा किया हुआ शिवका अट्टहास हो ॥६२॥ देखो मेघ! तुम तो हो चिकने घुटे हुए आँजनके समान काले, और कैलास है तुरंत काटे हुए हाथी-दाँतके समान उजला, इसलिये जब तुम कैलासके ऊपर पहुँचोगे उस समय तुम मेरी समझमें बलरामके कंधोंपर पड़े हुए चटकीले (नीले) वस्त्रके समान ऐसे मनोहर लगोगे कि आँखें एकटक तुम्हें ही देखती रह जायँ ॥६३॥ उस कैलासपर जब पार्वती अपने पति उन महादेवके हाथमें हाथ डाले टहल रही होंगी जिन्होंने पार्वतीके डरके मारे अपने साँपोंके कड़े हाथसे उतार दिए होंगे और वे मणि-शिखरोंपर चढ़ रही होंगी तब तुम बरसना मत, वरन् आगे बढ़कर सीढ़ीके समान बन खड़े होना जिससे उन्हें ऊपर चढ़नेमें सुविधा हो ॥६४॥ देखो मित्र! उस पर्वतपरकी बहुत-सी अप्सराएँ अपने नग-जड़े कंगनोंकी नोक तुम्हारे शरीरमें चुभो-चुभोकर तुम्हारे शरीरसे जल-धाराएँ निकाल-निकालकर तुम्हें फुहारेका घर बना डालेंगी। उस समय यदि वे अपने गर्म शरीरको तुमसे ठंडक मिलते रहनेके कारण तुम्हें न छोड़ें तो तुम उन खिलाड़ी देवांगनाओंसे छुटकारा पानेके लिये कान फाड़नेवाला अपना गर्जन सुनाकर झट

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातैर्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६६॥
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्६७।

॥ इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ मेघदूते काव्ये पूर्वमेघः समाप्तः ॥

उन्हें डरा देना ॥६५॥ देखो ! वहाँ पहुँचकर पहले तो तुम उस मानसरोवरका जल जा पीना जिसमें सुनहरे कमल खिले रहते हैं। तब ऐरावतके मुँहपर थोड़ी देर कपड़े-सा छाकर उनका मन जा बहलाना और फिर कल्पद्रुमके कोमल पत्तोंको महीन कपड़ेकी भाँति जा हिलाना। ऐसे-ऐसे बहुतसे खेल करते हुए तुम कैलास पर्वतपर जी भरकर चक्कर जा लगाना ॥६६॥ उसी कैलास पर्वतकी गोदमें अलकापुरी वैसे ही बसी हुई है जैसे अपने प्यारेकी गोदमें कोई कामिनी बैठी हुई हो और वहाँसे निकली हुई गंगाकी धारा ऐसी लगती है मानो उस कामिनीके शरीरपरसे सरकी हुई उसकी साड़ी हो। यह नहीं हो सकता कि ऐसी अलकाको देखकर तुम पहचान न पाओ। ऊँची-ऊँची अटारियोंवाली उस अलकापर वर्षाके दिनोंमें बरसते हुए बादल ऐसे छाए रहते हैं जैसे कामिनियोंके सिरपर मोती गुँथे हुए जूड़े ॥६७॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए मेघदूत काव्यमें पूर्वमेघ पूर्ण हुआ ॥

॥ उत्तरमेघः ॥

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ १ ॥

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ २ ॥

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः ।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥ ३ ॥

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ ४ ॥

उत्तरमेघ

देखो मेघ ! अलकापुरीके ऊँचे-ऊँचे भवन सब बातोंमें तुम्हारे जैसे ही हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनोंमें भी एकसे एक बढ़कर चटकीली नारियाँ हैं। यदि तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो उन भवनोंमें भी रंग-बिरंगे चित्र लटके हुए हैं। यदि तुम मृदु-गम्भीर गर्जन कर सकते हो तो वहाँ भी संगीतके साथ मृदंग बजते हैं, यदि तुम्हारे भीतर नीला जल है तो उनकी धरती भी नीलमसे जड़ी हुई है और यदि तुम ऊँचे चढ़े बैठे हो तो उनकी अटारियाँ भी आकाश चूमे ले रही हैं ॥१॥ देखो ! वहाँकी कुलवधुएँ हाथोंमें कमलके आभूषण पहना करती हैं, अपनी चोटियोंमें नये खिले हुए कुन्दनके फूल गूँथा करती हैं, अपने मुँहको लोधके फूलोंका पराग मलकर गोरा किया करती हैं, अपने जूड़ेमें नये कुरबकके फूल खोंसा करती हैं, अपने कानोंपर सिरसके फूल टाँगे रखती हैं और वर्षामें फूल उठनेवाले कदंबके फूलोंसे अपनी माँग सँवारा करती हैं ॥२॥ वहाँपर सदा फूलनेवाले ऐसे बहुतसे वृक्ष मिलेंगें, जिनपर मतवाले भौंरे गुनगुनाते रहते होंगे। वहाँके बारहमासी कमलों और कमलिनियोंको हंसोंकी पाँतें बराबर घेरे रहती हैं। वहाँ सदा चमकीले पंखोंवाले पालतू मोर ऊँचा सिर किए रात-दिन बोलते रहते हैं और वहाँकी रातें सदा चाँदनी बनी रहनेसे बड़ी उजली और मनभावनी लगा करती हैं ॥३॥ वहाँ रहनेवाले यक्षोंकी आँखोंमें आँसू भी केवल आनन्दके ही आते हैं। प्यारेके दूर होनेपर उसके विरहकी जलनको छोड़कर और किसी प्रकारकी जलन वहाँ नहीं होती। प्रेममें रूठनेको छोड़कर और कभी किसीका किसीसे वहाँ बिछोह नहीं होता और जवानीकी अवस्थाको छोड़कर दूसरी कोई अबस्था ही वहाँ नहीं होती ॥४॥ वहाँके यक्ष अपनी

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ५ ॥
मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहा छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥ ६ ॥
नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ ७ ॥
नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ ८ ॥
यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ ९ ॥

अलबेली नवेलियोंको साथ ले लेकर स्फटिककी बनी अपनी उन अटारियोंपर जा बैठते हैं जिनकी गचोंपर पड़ी हुई तारोंकी छाया ऐसी जान पड़ती है मानो फूल ला टाँके गए हों। वहाँ बैठकर वे लोग कामदेवको उभारनेवाला वह मधु पी रहें होंगे जो उन बाजोंके मन्द-मन्द बजनेपर कल्पवृक्षसे रिस निकलता है जो तुम्हारे गंभीर गर्जनके समान ही गूँजा करते हैं ॥५॥ वहाँकी कन्याएँ इतनी सुन्दर हैं कि देवता भी उन्हें पानेके लिये तरसते रहते हैं। वे कन्याएँ, मंदाकिनीके जलकी फुहारसे ठंढाए हुए पवनमें, तटपर खड़े हुए कल्पवृक्षोंकी छायामें अपनी तपन मिटाती हुई, अपनी मुट्ठियोंमें रत्न ले लेकर उनको सुनहरे बालूमें डाल डालकर छिपाने और ढूंढ़नेका खेल खेला करती हैं ॥६॥ वहाँके प्रेमी लोग संभोगके लिये अपने चंचल हाथोंसे अपनी प्यारियोंको कमरकी गाँठें खोलकर जब उनकी ढीली साड़ियोंको हटाने लगते हैं तब वे लाजसे इतनी सकुचा जाती हैं कि वे और कुछ न पाकर मुट्ठीमें गुलाल भरकर ही जगमगाते हुए रत्न-दीपोंपर उठा फेंकने लगती हैं, पर उनका वह गुलाल फेंकना सब अकारथ ही जाता है ॥७॥ देखो मेघ ! तुम्हारे जैसे बहुतसे बादल वायुके झोंकेके साथ वहाँके सत-खंडे भवनोंके ऊपरी खंडोंमें घुसकर भीतपर टँगे हुए चित्रोंको पहले तो अपने जलकणोंसे भिगोकर मिटा दिया करते हैं और फिर, वे धुएँका रूप बनानेमें चतुर बादल, डरके मारे झटसे झरोखोंकी जालियोंमेंसे छितरा-छितराकर निकल भागते हैं ॥ ८ ॥ वहाँ आधी रातके समय, खुली चाँदनीमें, झालरोंमें लटके हुए चन्द्रकान्त मणियोंसे टपकता हुआ जल उन स्त्रियोंकी थकावट दूर करता रहता है जिनके शरीर प्रियतमकी भुजाओंमें कसे रहनेसे ढीले पड़ जाते रहते हैं ॥ ९। वहाँ अथाह

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किंनरैर्यत्र सार्धम् ।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ १० ॥
गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ ११ ॥
वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ १२ ॥
पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात्
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥ १३ ॥
मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र लाक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।
सभ्रूभंगप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥ १४ ॥

संपत्तिवाले कामी लोग, अप्सराओंके साथ बातें करते हुए और ऊँचे स्वरमें मीठे गलोंसे कुबेरका यश गानेवाले किन्नरोंके साथ बैठे हुए वैभ्राज नामके बाहरी उपवनमें रात-दिन विहार करते रहते हैं ॥१०॥ वहाँकी कामिनी स्त्रियाँ जब रातको अपने प्रेमियोंके पास जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाकर जाने लगती हैं, तब उनकी चोटियोंमें गुँथे हुए कल्पवृक्षके फूल और पत्ते खिसक-खिसककर निकले पड़ते हैं, कानोंपर धरे हुए सोनेके कमल गिर-गिर जाते हैं और हारों से टूटे हुए मोती भी इधर-उधर बिखर जाते हैं। दिन निकलनेपर इन वस्तुओंको मार्गमें बिखरा हुआ देखकर ही लोग समझ लेते हैं कि वे कामिनी स्त्रियाँ किधर-किधरसे होकर अपने प्रेमियोंके पास पहुँची हैं ॥११॥ वहाँ रंग-बिरंगे वस्त्र, नेत्रोंमें बाँकापन बढ़ानेवाली मदिरा, कोमल पत्ते और फूल, ढंग-ढंगके आभूषण और पैरोंमें लगानेका महावर आदि स्त्रियोंके सिंगारकी जितनी वस्तुएँ हैं सब अकेले कल्पवृक्षसे ही मिल जाया करती हैं ।।१२॥ पत्तेके समान साँवले वहाँके घोड़े अपने रंग और अपनी चालमें सूर्यके घोड़ोंको भी कुछ नहीं समझते। पहाड़-जैसे ऊँचे-ऊँचे डील-डौलवाले वहाँके हाथी वैसे ही मद बरसाते हैं जैसे तुम पानी बरसाते हो और वहाँके लड़ाके अपने सब आभूषण छोड़कर बस उन घावोंके चिन्होंको ही अपना आभूषण समझते हैं जो घाव उन्होंने रावणसे लड़ते हुए उसकी चन्द्रहास नामकी करवालसे खाए थे ॥१३॥ वहींपर कुबेरके मित्र शिव भी रहा करते हैं इसलिये डरके मारे कामदेव अपना भौंरोंकी डोरीवाला धनुष वहाँ नहीं चढ़ाता वरन् वहाँकी छबीली चतुर स्त्रियाँ जो अपने प्रेमियोंकी ओर बाँकी चितवन चलाती हैं उसीसे कामदेव अपना धनुष्का काम निकाल लिया करता है ॥१४॥ वहीं कुबेरके भवनसे उत्तरकी ओर इन्द्रधनुषके समान सुन्दर गोल

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ १५ ॥
वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥ १६ ॥
तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ १७ ॥
रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥ १८ ॥
तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ १९ ॥

फाटकवाला हमारा घर तुम्हें दूरसे ही दिखाई पड़ जायेगा। उसीके पास मेरी स्त्रीने जो पुत्रके समान एक छोटा-सा कल्पवृक्ष पाल रक्खा है वह फूलोंके गुच्छोंसे इतना झुक गया होगा कि नीचे खड़े-खड़े ही वे गुच्छे हाथसे तोड़े जा सकते हैं ।।१५।। भीतर घरमें जानेपर तुम्हें एक बावड़ी मिलेगी जिसकी सीढ़ियोंपर पन्ना जड़ा हुआ है और जिसमें चिकने नीलमकीसी डण्ठलवाले बहुतसे सुनहरे कमल खिले होंगे। उसके जलमें बसे हुए हंस इतने सुखी हैं कि मानसरोवरके इतने पास होते हुए भी और तुम्हें देखकर भी वे वहाँ नहीं जाना चाहेंगे ।।१६।। उस बावड़ीके तीरपर एक बनावटी पहाड़ है जिसकी चोटी नीलमकी बनी है और जो चारों ओरसे सोनेके केलोंसे घिरा होनेके कारण देखते ही बनता है। देखो मित्र ! यह पर्वत मेरी घरवालीको बड़ा प्यारा है इसलिये जब मैं तुम्हें बिजलीके साथ देखता हूँ तब मेरा मन अकेला होनेसे उदास हो उठता है और वह पहाड़ मेरी आँखोंके आगे नाचने लगता है ।।१७।। उस बनावटी पर्वतपर कुरबक (लाल कर-सरैया) के वृक्षोंसे घिरे हुए माधवी-मंडपके पास ही एक तो चंचल पत्तोंवाला लाल अशोकका वृक्ष खड़ा है और दूसरा मौलसिरीका पेड़ है। जैसे मैं तुम्हारी सखी (अपनी पत्नी) के पैरकी ठोकर खानेके लिये तरसा पड़ रहा हूँ वैसे ही वह अशोक भी फूल उठने के बहाने मेरी पत्नीके बाएँ पैरकी ठोकर खानेके लिये तरस रहा होगा और दूसरा मौलसिरीका पेड़ भी उसके मुँहसे निकले हुए मदिराके छींटे पानेके लिये बरस रहा होगा ।।१८।। उन दोनों वृक्षके बीच नये बाँसके समान चमकीले मणियों से बनी एक चौकी है, जिसपर लगी स्फटिककी एक चौकोर पटियापर जड़ी हुई एक सोनेकी छतपर तुम्हारा मित्र वह मोर नित्य साँझको आ बैठा करता है जिसे मेरी स्त्री अपने घुँघरूदार कड़ेवाले हाथोंसे

एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ।। २० ।।
गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः ।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ।। २१ ।।
तन्वी श्यामा[1] शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ।। २२ ।।
तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ।। २३ ।।
नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ।। २४ ।।

तालियाँ बजा बजाकर नचाया करती है ।।१९।। देखो साधु ! यदि तुम मेरे बताए हुए ये चिह्न भली भाँति स्मरण रक्खोगे और मेरे द्वारपर शंख और पद्मके चित्र बने देख लोगे तब तुम मेरा घर अवश्य पहचान जाओगे । मेरे बिना वह भवन बड़ा सूना-सूना और उदास-सा दिखाई देगा क्योंकि सूर्यके छिप जानेपर तो कमल उदास हो ही जाता है ।।२०।। देखो ! यदि तुम्हें मेरे घरमें झटपट पैठना ही हो तो चटसे हाथीके बच्चे-जैसे छोटे बनकर घरमें खेलके लिए बनाई हुई पहाड़ीकी सुहावनी चोटीपर जा बैठना और अपनी बिजलीकी आँखें जुगनुओंके समान थोड़ी-थोड़ी-सी मिलका मिलकाकर मेरे घरके भीतर झाँक लेना ।।२१।। वहाँ जो दुबली-पतली सब ऋतुओंमें सुख देनेवाली, नन्हें-नन्हें दाँतोंवाली, पके हुए बिबाफलके समान लाल लाल ओठोंवाली, पतली कमरवाली, डरी हुई हरिणीके समान आँखोंवाली, गहरी नाभिवाली, नितम्बोंके बोझसे धीरे-धीरे चलनेवाली और स्तनके भारसे कुछ आगेको झुकी हुई युवती तुम्हें दिखाई दे वही मेरी पत्नी होगी । उसकी सुन्दरता देखकर यही जान पड़ेगा मानो ब्रह्माकी सबसे बढ़िया कारीगरी कोई है तो वही है ।।२२।। अपने साथीसे बिछुड़ी हुई चकवीके समान अकेली रहनेवाली और कम बोलनेवाली उस सुन्दरीको देखकर ही तुम समझ लोगे कि वह मेरा दूसरा प्राण ही है । विरहके कठोर दिन बड़ी ललकसे बिताते-बिताते उसका रूप इतना बदल गया होगा कि उसे देखकर तुम्हें यह भी धोखा हो सकता है कि यह कोई बाला है या पालेसे मारी हुई कोई कमलिनी है ।।२३।। देखो मेघ ! मेरे बिछोहमें रोते-रोते मेरी प्यारीकी आँखें सूज गई होंगी, गर्म साँसोंसे

---

[1] श्यामा : शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी, ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ।।

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥ २५ ॥
उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छानां विस्मरन्ती ॥ २६ ॥
शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ २७ ॥
सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥ २८ ॥
स्निग्धाः सख्यः कथमपि दिवा तां न मोक्ष्यन्ति तन्वी-
मेकप्रख्या भवति हि जगत्यङ्गनानां प्रवृत्तिः।
स त्वं रात्रौ जलद शयनासन्नवातायनस्थः
कान्तां सुप्ते सति परिजने वीतनिद्रामुपेयाः ॥ २९ ॥

उसके ओठोंका रंग फीका पड़ गया होगा, चिन्ताके कारण गालोंपर हाथ धरनेसे और बालोंके मुँहपर आ जानेसे उसका अधूरा दिखाई देनेवाला मुँह मेघसे ढके हुए चन्द्रमाके समान धुंधला और उदास दिखाई दे रहा होगा ॥२४॥ देखो मेघ! या तो वह तुम्हें वहाँ देवताओंको पूजा चढ़ाती मिलेगी या अपनी कल्पनासे मेरे इस विरहसे दुबले शरीरका चित्र बनाती मिलेगी या पिंजड़ेमें बैठी हुई मिठबोली मैनासे यह पूछती मिलेगी कि 'मैना! तुम अपने जिस पतिकी प्यारी हो, उसे भी कभी स्मरण करती हो?' ॥२५॥ या भैया! वह मैले कपड़े पहने हुए, गोदमें वीणा लिए, ऊँचे स्वरसे मेरे नामवाले गीत गाती मिलेगी। उस समय वह अपनी आँखोंके आँसुओंसे भीगी हुई वीणाको तो जैसे-तैसे पोंछ लेगी पर मेरा स्मरण आ जानेसे वह ऐसी बेसुध हो उठेगी कि अपने सधे हुए स्वरोंके उतार-चढ़ावको भी वह बारबार भूले जा रही होगी ॥२६॥ या यह भी हो सकता है कि मेरे विरहके दिनसे ही वह देहलीपर जो फूल नित्य रखती चलती है उन्हें धरतीपर फैलाकर गिनती जा रही हो कि अब विरहके कितने महीने बच गए हैं। या फिर वह मेरे साथ किए हुए संभोगके आनन्दका ही मन ही मन रस लेती हुई बैठी हो, क्योंकि अपने प्यारोंके बिछोहमें स्त्रियाँ प्रायः ऐसी ही बातोंमें अपने दिन काटा करती हैं ॥२७॥ देखो मित्र! तुम्हारी सखी (मेरी पत्नी)-के इन कामोंमें लगे रहनेके कारण दिनमें तो उसे मेरा बिछोह कुछ नहीं खलता होगा पर मुझे डर है कि रातके लिये कुछ काम न होनेसे उसकी रातें बड़े कष्टसे कटती होंगी। इसलिये मेरा संदेश सुनाकर उसे सुख देनेके लिये तुम आधी रातको मेरे भवनके झरोखोंपर बैठकर उसे जा देखना क्योंकि उस समय वह तुम्हें धरतीपर ही उनींदी-सी पड़ी मिलेगी ॥२८॥ देखो!

अन्वेष्टव्यामवनिशयने सन्निकीर्णैकपार्श्वां
तत्पर्यङ्कप्रगलितनवैश्छिन्नहारैरिवास्रैः ।
भूयो भूयः कठिनविषमां सादयन्तीं कपोला-
दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण ॥ ३० ॥
आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ ३१ ॥
पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥ ३२ ॥
निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥ ३३ ॥

उसकी प्यारी सखियाँ, उस कोमल देहवालीको दिनमें कभी अकेली नहीं छोड़ेंगी, क्योंकि संसारमें सभी स्त्रियाँ अपनी सखियोंके दुःखमें कभी उनका साथ नहीं छोड़तीं। इसलिये तुम उसके पलँगके पासवाली खिड़कीपर बैठकर थोड़ी देर परखते रहना और जब वे सखियाँ पड़कर सो रहें तब तुम रात चढ़नेपर मेरी जागती हुई प्यारीके पास जा पहुँचना ॥२९॥ वहाँ तुम मेरी प्यारीको ढूँढ़ ही लोगे जो वहीं कहीं धरतीपर एक करवट लिए पड़ी होगी, उसके आस-पास मोतियोंके हारके टूटे हुए टुकड़ोंके समान आँसू बिखरे पड़े होंगे और वह अपने बढ़े हुए नखोंवाले हाथसे अपनी इकहरी चोटीके उन रूखे और उलझे हुए बालोंको अपने गालोंपरसे बार-बार हटाए डाल रही होगी जो अब शापके बीतनेपर ही सुलझाए जा सकेंगे ॥३०॥ देखो ! जो मेरी प्यारी, मेरे साथ जी भरकर संभोग करके पूरी रात क्षण भरके समान बिता देती थी वही आज बिछोहकी चिन्तासे सूखी हुई और सूने पलँगपर एक करवट लेटी हुई पूरबके क्षितिजपर पहुँचे हुए एक कला भर बचे हुए चन्द्रमाके समान दुबली होकर अपनी रातें गर्म आँसू बहा-बहाकर बिता रही होगी ॥३१॥ खिड़कीकी जालियोंमेंसे छनकर चन्द्रमाकी जो किरणें वहाँ आ रही होंगी उन्हें वह समझती होगी कि पहले सुखके दिनोंमें वे जैसी अमृतके समान ठण्डी थीं वैसी ही अब भी होंगी और यही समझकर जब वह उन किरणोंकी ओर मुँह करके और फिर विरहके कारण जब वे किरणें उसे जलाने लगेंगी तब वह अपनी आँसू-भरी आँखें झट पलकोंसे ढक लेगी। उस समय मेरी प्यारी ऐसी दिखाई देगी जैसे बदलीके दिन धरतीपर खिलनेवाली कोई अधखिली कमलिनी पड़ी हो ॥३२॥ मेरे विरहमें वह आजकल कोरे जलसे ही नहाती होगी इसलिये उसके रूखे और बिना सँवारे हुए बाल, उसके गालोंपर लटककर उसके पतले ओठोंको तपानेवाली साँसोंसे हिलते जा रहे होंगे। वह बारबार यह सोचकर अपनी आँखोंमें नींद बुला रही होगी कि किसी प्रकार स्वप्नमें ही प्यारेसे संभोग हो जाय, पर आँखोंसे लगातार बहते हुए आँसू, उसकी आँखें भी नहीं लगने देते होंगे ॥३३॥ बिछुड़नेके दिनसे ही उसने अपने जूड़ेकी माला खोलकर जो वह इकहरी

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ।। ३४ ।।
सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम् ।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।। ३५ ।।
जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ।। ३६ ।।
रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ।। ३७ ।।
वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ।। ३८ ।।

चोटी बाँध ली थी जिसे छूनेमें भी उसे पीड़ा होती है और जिसे शाप बीतनेपर मैं ही सुखसे खोलकर बाँधूगा, उसी उलझी और बिखरी हुई रूखी चोटीको वह अपने बढ़े हुए नखोंवाले हाथोंसे अपने भरे हुए गालोंपरसे बार-बार हटाए डाल रही होगी ।।३४।। जब तुम देखोगे कि वह बेचारी बार-बार दुःखसे पछाड़ खा-खाकर पलँगके पास पड़ी हुई, किसी-किसी प्रकार अपने बिना आभूषणोंवाले कोमल शरीरको सँभाले हुए है तब तुम भी उसकी दशापर अपने नये जलके आँसू बहाए बिना न रह सकोगे क्योंकि दूसरोंका दुःख देखकर कौन ऐसा कोमल हृदयवाला है जो पसीज न उठे ।।३५।। मैं जानता हूँ कि तुम्हारी सखी (मेरी पत्नी) मुझे जी भरकर प्यार करती है इसलिये मैं सोचता हूँ कि वह इस पहले पहलके बिछोहसे बहुत दुबली हो गई होगी। यह न समझो कि ऐसी पतिव्रता स्त्रीका पति होनेके सौभाग्यसे मैं इतना बढ़-बढ़कर बोल रहा हूँ, वरन् भैया ! मैंने जो कुछ कहा है वह सब स्वयं तुम्हारी ही आँखोंके सामने आ जायगा ।।३६।। जब तुम उसके पास पहुँचोगे तब उस मृगनयनीकी वह बाईं आँख फड़क उठेगी जिसपर बाल फैले हुए होंगे, जो आँजन न लगनेसे रूखी हो गई होगी और जो बहुत दिनोंसे मदिरा न पीनेके कारण भौंहे चलाना भी भूल गई होगी। उस समय फड़कती हुई वह बाँईं आँख उस नीले कमल-जैसी सुन्दर दिखाई देगी जो मछलियोंके इधर-उधर आने-जानेसे काँप उठा करता है ।।३७।। तुम्हारे पहुँचते ही, नये केलेके खंभेके समान, उसकी वह गोरी-गोरी बाँईं जाँघ भी फड़क उठेगी जिसे मैं संभोग कर चुकनेपर अपने हाथसे पलोटा करता था। उस जाँघपर न तो तुम्हें मेरे हाथके नखचिह्न ही बने मिलेंगे और न दुर्भाग्यवश उसपर वह मोतियोंकी करधनी ही पड़ी मिलेगी जिसे वह बहुत दिनोंसे पहनती चली आ रही थी ।।३८।। देखो मेघ ! तुम्हारे पहुँचनेपर यदि उसे कुछ

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व ।
माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचि-
त्सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ ३९ ॥
तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥ ४० ॥
भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ ४१ ॥
इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठाच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम् ।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः ॥ ४२ ॥
तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ ४३ ॥

नींद आने लगे तो तुम उसके पीछे चुपचाप एक पहर ठहरे रहना जिससे यदि मेरी प्यारी कहीं स्वप्नमें मुझसे कसकर लिपटी हुई हो तो मेरे कंठमें पड़ी हुई उसकी भुजाएँ अचानक नींद टूटनेसे छूट न पड़ें ॥३९॥ एक पहर ठहरनेपर भी वह आँखें न खोले तो तुम अपने जलकी फुहारोंसे ठण्डा किया हुआ वायु चलाकर मालतीके नये फूलोंके समान कोमल मेरी उस प्यारीको जगा उठाना। आँखें खोलनेपर जब वह झरोखेसे तुम्हारी ओर एकटक होकर देखे तो तुम अपनी बिजलीको छिपाकर अपने धीमे गर्जनके शब्दोंमें उस मानिनीसे बात छेड़ देना ॥४०॥ उससे कहना—'देखो सौभाग्यवती ! मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि मैं तुम्हारे पतिका प्रिय मित्र मेघ, तुम्हारे पास उनका संदेश लेकर आया हुआ हूँ। मैं अपने धीमे और मीठे गर्जनसे उन थके हुए बटोहियोंके मनमें भी घर लौटनेकी हड़बड़ी मचा देता हूँ जो अपनी स्त्रियोंकी उलझी हुई इकहरी चोटियाँ सुलझानेके लिये उतावले हुए रहते हैं' ॥४१॥ यह सुनकर मेरी प्यारी तुम्हारी ओर मुँह करके बड़े चावसे, बड़े खिले हुए जीसे और बड़े आदरसे कान लगाकर तुम्हारा सब संदेश इसी प्रकार सुनेगी जिस प्रकार सीताने हनुमान्‌की बातें सुनी थीं क्योंकि भैया ! मित्रके मुँहसे पतिका संदेश पाकर स्त्रियोंको अपने प्रियके मिलनके सुखसे कुछ कम सुख थोड़े ही मिलता है ॥४२॥ देखो आयुष्मन् ! तुम मेरे कहनेसे दूसरेकी भलाई करनेका पुण्य लेनेके लिये उससे जाकर कहना—'देखो अबले ! तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी इस समय रामगिरिके आश्रममें बहुत कुशलसे है और तुम्हारी कुशल जानना चाहता है क्योंकि देखो ! जिन लोगोंपर अचानक विपत्ति आ पड़ी हो, उनसे पहले-पहल

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ ४४ ॥

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
सोऽतिक्रांतः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ४५ ॥

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हंतैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥ ४६ ॥

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ ४७ ॥

[धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पञ्चबाणः क्षिणोति ।
घर्मान्तेऽस्मिन्विगणय कथं वासराणि व्रजेयु-
र्दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्यातपानि] ॥ ४८ ॥

यही पूछना ठीक होता है' ॥४३॥ उससे कहना—'दूर बैठे हुए तुम्हारे प्यारे साथीका मार्ग तो बैरी ब्रह्मा रोके बैठा है, इसलिये वह तुमसे मिल भले ही न सके, फिर भी वह अपने दुबलेपन, तपन, लगातार बहते हुए आँसू, मिलनेका चाव और अपनी गर्म उसाँसोंको देख-देखकर ही मनमें समझ लेता है कि तुम भी वैसे ही बिछोहमें दुबली हुई जा रही होगी, विरहसे तप रही होगी, आँखोंसे झर-झर आँसू बहा रही होगी, मिलनेको उतावली होगी और दिन-रात लम्बी-लम्बी गर्म उसाँसें भर रही होगी ॥४४॥ देखो अबले ! तुम्हारे प्यारेको जब तुमसे कोई ऐसी भी बात कहनी होती थी जो तुम्हारी सखियोंके आगे ऊँचे स्वरसे भी कही जा सकती थी तब भी वह तुम्हारा मुँह छूनेके लोभसे वह बात भी तुम्हारे कानमें ही कहनेको तुला रहता था। अब तुम अपने उस प्यारेकी न तो बातचीत ही सुन सकती हो और न उसे आँख-भर देख ही सकती हो, इसलिये उसने बड़े चावसे मेरे मुँहसे यह कहला भेजा है ॥४५॥ कि—'प्यारी ! मैं यहाँ बैठा, प्रियंगुकी लतामें तुम्हारा शरीर, डरी हुई हरिणीकी आँखोंमें तुम्हारी चितवन, चन्द्रमामें तुम्हारा मुख, मोरोंके पंखोंमें तुम्हारे बाल और नदीकी छोटी-छोटी लहरियोंमें तुम्हारी कटीली भौंहें बैठा देखा करता हूँ। तो भी चण्डी ! मुझे दुःख है कि इनमेंसे कोई एक भी पूरे ढंगसे तुम्हारी बराबरी नहीं कर पाता ॥४६॥ जब मैं पत्थरकी पटियापर गेरूसे तुम्हारी रूठी हुई मूर्तिके चित्रमें यह बनाने चलता हूँ कि तुम्हें मनानेके लिये मैं तुम्हारे पैरों पड़ा हूँ तब आँसू ऐसे उमड़े पड़ते हैं कि उसे भर आँख देखने भी नहीं देते। निर्दयी कालको चित्रमें भी हमारा तुम्हारा मिलना नहीं सुहाता ॥४७॥ [देखो बाले ! एक तो मैं योंही

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ ४९ ॥
भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ ५० ॥
संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ ५१ ॥
नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि ! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ५२ ॥
शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ५३ ॥

तुम्हारे उस मुखसे दूर रहनेके कारण सूखा जा रहा हूँ जिसमेंसे ऐसी सोंधी गंध आती है जैसे पानी पड़नेपर धरतीमेंसे आती है, उसपर यह पाँच बाणोंवाला कामदेव मुझे और भी सताए डाल रहा है। अब तुम्हीं सोच लो कि गर्मीके बीतनेपर जब चारों ओर उमड़ी हुई घने बादलोंकी घटा सूर्यपर आ छाएगी तब बताओ मैं किसके सहारे अपने दिन काट पाऊँगा ॥४८॥] जब कभी में स्वप्नमें तुम्हें देखकर कसकर छातीसे लगानेके लिये अपने हाथ ऊपर फैलाता हूँ, तब वनके देवता भी मेरी दशापर तरस खाकर अपने मोतीके समान बड़े-बड़े आँसू वृक्षोंके कोमल पत्तोंपर बहुधा आ ढुलकाते हैं ॥४९॥ देखो गुणवती ! देवदारके कोमल पत्तोंको अपने झोंकोंसे तत्काल तोड़कर और उसके रसकी गंध लेकर हिमालयके जो पवन दक्षिणकी ओर चले आ रहे हैं उन्हें मैं यही समझकर अपने हृदयसे लगाए ले रहा हूँ कि ये उधरसे तुम्हारा शरीर छूकर आ रहे होंगे ॥५०॥ देखो चंचल नैनोंवाली ! मैं मनसे यही मनाया करता हूँ कि किसी प्रकार रातके लंबे-लंबे तीन पहर क्षण भरके समान छोटे हो जायँ और दिनकी तपन भी किसी प्रकार सदाके लिये जाती रहे। पर मेरी यह दुर्लभ प्रार्थना सदा बेकार ही हो जाती है। उसपर इस तिल-तिल जलानेवाली बिछोहकी जलनसे तो मेरा जी और भी बैठा जा रहा है ॥५१॥ पर कल्याणी ! बहुत कुछ सोच विचारकर मैं अपने मनको अपनेसे ही ढाढ़स बँधा लेता हूँ, इसलिये तुम भी अपने जीमें बहुत दुखी मत होना। देखो ! दुःख या सुख किसीपर सदा नहीं रहा करते। ये तो पहिएकी हालके समान कभी नीचे कभी ऊपर यों ही आया-जाया करते हैं ॥५२॥ देखो ! अगली देवउठनी एकादशीको जब शेषनागकी

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥ ५४ ॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ ५५ ॥

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः ।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥ ५६ ॥

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीत्सितार्थक्रियैव ॥ ५७ ॥

शय्यासे विष्णु उठेंगे उसी दिन मेरा शाप भी बीत जायगा । इसलिये इन बचे हुए चार महीनोंको भी तुम किसी-किसी प्रकार आँख मूँदकर काट डालो । फिर तो हम दोनों, बिछोहके दिनोंमें सोची हुई अपने मनकी सब साधें शरद्की सुहावनी चाँदनी रातमें पूरी कर ही डालेंगे ॥५३॥ देखो अबले ! तुम्हारे प्यारेने यह भी कहलाया है कि एक बार जब तुम मेरे गलेसे लगी हुई मेरे पलँगपर सो रही थीं, उस समय तुम अचानक चिल्लाकर रोती हुई जाग पड़ी थीं और जब मैंने बार-बार तुमसे रोनेका कारण पूछा तब तुमने मीठी मुसकानके साथ उत्तर दिया था कि छली ! मैंने स्वप्नमें देखा कि तुम किसी दूसरी स्त्रीके साथ रमण कर रहे हो, इसीलिये मैं रो पड़ी थी ॥५४॥ अजी काली काली कजरारी आँखोंवाली ! बस इसी पहचानसे तुम समझ लेना कि मैं कुशलसे हूँ । लोगोंके बहकानेसे तुम मेरे प्रेममें संदेह न कर बैठना । न जाने लोग यह क्यों कहा करते हैं कि विरहमें प्रेम कम हो जाता है । सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई वस्तुएँ नहीं मिल पातीं तब उन्हें पानेके लिये और भी अधिक प्यास बढ़ जाती है और ढेरों प्रेम आ इकट्ठा होता है' ॥५५॥ देखो मेघ ! पहली बारके बिछोहसे दुखी अपनी भाभीको इस प्रकार ढाढ़स बँधाकर उससे कुशल समाचार पाकर और पहचान लेकर तुम मेरे पास जल्दी ही उस कैलास पर्वतसे लौट आना जिसकी चोटियाँ महादेवके साँड़ने उखाड़ दी हैं और फिर यहाँ प्रातःकाल खिले हुए कुन्दके फूलके समान चू पड़नेवाले मेरे प्राणोंकी आ रक्षा करना ॥५६॥ क्यों भैया ! तुमने मेरा यह प्यारा काम करनेकी ठान ली है या नहीं ! इस पूछनेसे यह न समझ बैठना कि मैं तुमसे हुँकारी भरवानेपर ही तुम्हें इस कामके योग्य समझूँगा । तुम्हें मैं जानता हूँ कि जब पपीहे तुमसे जल माँगते हैं, तब बिना उत्तर दिये ही तुम उन्हें जल दे देते हो । सज्जनोंकी रीति ही यह है कि जब कोई उनसे कुछ माँगे तो वे मुँहसे कुछ न कहकर, काम पूरा करके ही उसका उत्तर दे डालते हैं ॥५७॥ देखो मेघ ! मैंने जो तुमसे काम बताया है वह तुमसे

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ।
इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ ५८ ॥
[तस्मादद्रेर्निगदितमथो शीघ्रमेत्यालकायां
यक्षागारं विगलितनिभं दृष्टिचिह्नैर्विदित्वा ।
मत्संविष्टं प्रणयमधुरं गुह्यकेन प्रयत्नात्
तद्गेहिन्या सकलमवदत्कामरूपी पयोदः ॥ ५९ ॥

इत्याख्याते सुरपतिसखः शैलकुल्यापुरीषु
स्थित्वा स्थित्वा धनपतिपुरीं वासरैः कैश्चिदाप ।
मत्वागारं कनकरुचिरं लक्षणैः पूर्वमुक्तैः
तस्योत्संगे क्षितितलगतां तां च दीनां ददश ॥६०॥
तं संदेशं जलधरवरो दिव्यवाचाऽऽचचक्षे
प्राणाँस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः ।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमना सापि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ ६१ ॥
श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः ।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दंपती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ ६२ ॥

कराना बड़ी ढिठाई होगी, पर चाहे मित्रताके नाते, चाहे मुझ बिछोहीपर तरस खाकर तुम पहले मेरा प्यारा काम कर देना और फिर अपना बरसाती रूप लेकर जहाँ मन चाहे वहाँ घूमते-फिरना। मैं यही मनाता हूँ कि प्यारी बिजलीसे एक क्षणके लिये भी तुम्हारा वैसा वियोग न हो, जैसा मैं भोग रहा हूँ' ॥५८॥ [यक्षकी ये बातें सुनकर मनचाहा रूप धारण करनेवाला वह बादल, रामगिरिसे चलकर अलका जा पहुँचा और बताए हुए चिह्नोंको देखकर उसने यक्षका वह भवन पहचान लिया जिसकी सारी शोभा फीकी पड़ गई थी। वहाँ उसने यक्षकी प्यारीसे वह प्यार-भरा मधुर सन्देश जा सुनाया, जिसे यक्षने बड़े जतनसे भेजा था ॥५९॥ यह सुनकर बादल वहाँसे चल दिया और कभी पहाड़ियोंपर, कभी नदियोंके पास और कभी नगरोंमें ठहरता हुआ थोड़े ही दिनोंमें कुबेरकी राजधानी अलकामें जा पहुँचा। वहाँ अपने मित्रके बताए चिह्नोंसे उसने वियोगी यक्षका वह सोनेके समान चमकता हुआ भवन पहचान लिया जहाँ उसने देखा कि यक्षकी स्त्री बेचारी उस भवनमें धरतीपर लेटी पड़ी है ॥६०॥ वहाँ पहुँचकर सबका भला करनेवाले उस भले मेघने दैवी शब्दोंमें यक्षकी स्त्रीके प्राण बचानेके लिये सारा सन्देश कह सुनाया। यक्षकी स्त्री भी, अपने प्यारेका कुशल-समाचार पाकर फूली न समाई। सच है, अच्छे लोगोंसे कोई काम करनेको कहा जाय तो वह अवश्य पूरा होता ही है ॥६१॥ जब कुबेरने यह बात सुनी कि बादलने यक्षकी स्त्रीको ऐसा संदेश दिया है तब उनके मनमें भी बड़ी दया उमड़ आई, उनका क्रोध उतर गया और उन्होंने अपना शाप लौटाकर उन दोनों पति-पत्नीको फिर मिला दिया। इस मिलनसे

इत्थंभूतं सुरचितपदं मेघदूताभिधानं
कामक्रीडाविरहितजने विप्रयुक्ते विनोदः ।
मेघस्यास्मिन्नतिनिपुणता बुद्धिभावः कवीनां
नत्वार्यायाश्चरणकमलं कालिदासश्चकार ॥ ६३ ॥]

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ मेघदूते काव्ये उत्तरमेघः समाप्तः ॥

* * *

उनका सारा दुःख जाता रहा और वे फिर बड़े प्रसन्न हो उठे। कुबेरने उन दोनोंके लिये सुख लूटनेका ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें फिर कभी दुःख मिला ही नहीं ॥६२॥ कवि कालिदासने आर्या देवी कालीके चरण-कमलोंमें प्रणाम करके सुन्दरतासे सजाए हुए शब्दोंमें यह ऊपर कही हुई मेघदूत नामकी कविता रची है। यह कविता वियोगके समय उन लोगोंका भी मन बहलावेगी जिन्हें विलास मिला ही नहीं, साथ ही इसमें मेघकी अत्यन्त चतुराईका और कवियोंकी कल्पनाका परिचय भी मिल जायगा ॥६३॥]

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए मेघदूत काव्यमें उत्तरमेघ पूर्ण हुआ ॥

* * *

❀ ऋतुसंहारम् ❀

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

❀ ऋतुसंहारम् ❀

॥ प्रथमः सर्गः ॥

ग्रीष्मवर्णनम्

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षमवारिसञ्चयः ।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥ १ ॥
निशाः शशाङ्कक्षतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम् ।
मणिप्रकाराः सरसं च चन्दनं शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम् ॥ २ ॥
सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु ।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥ ३ ॥
नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः ।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥ ४ ॥
नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितैर्नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः ।
पदे पदे हंसरुतानुकारिभिर्जनस्य चित्तं क्रियते समन्मथम् ॥ ५ ॥
पयोधराश्चन्दनपङ्कचर्चितास्तुषारगौरार्पितहारशेखराः ।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम् ॥ ६ ॥

पहला सर्ग

गर्मीका वर्णन

लो प्रिये ! गरमीके दिन आ गए हैं, धूप बड़ी कड़ी हो गई है और चन्द्रमा बड़ा सुहावना लगने लगा है। कोई चाहे तो आजकल दिन-रात गहरे जलमें स्नान किया जा सकता है। इन दिनों साँझ बड़ी लुभावनी होती है और कामदेव तो एक-दम ठंडा पड़ गया है ॥१॥ देखो प्यारी ! आजकल तो लोग यही चाहते हैं कि चारों ओर खिले हुए चन्द्रमाकी चाँदनी छिटकी हुई हो, रंग-बिरंगे फव्वारोंके तले हम लोग बैठे हुए हों, ढंग-ढंगके रत्न इधर-उधर बिखरे पड़े हों और सुगन्धित चन्दन चारों ओर छिड़का हुआ हो ॥२॥ और, प्रेमियोंको भी इन दिनों मन बहलानेके लिये कामको उभारनेवाली ऐसी-ऐसी वस्तुएँ चाहिएँ जैसे सुन्दर सुगन्धित जल, धुले हुए भवनका तल, प्यारीके मुँहकी भापसे उफनती हुई मदिरा और सुन्दर वीणाके साथ गाए हुए गीत ॥३॥ इन दिनों सब प्रेमिकाएँ गर्मीसे सताए हुए अपने प्रेमियोंकी तपन मिटानेके लिये उन्हें अपने उन नितम्बोंपर बुला लिटाती हैं जिनपर रेशमी वस्त्र और करधनी पड़ी होती है, अपने उन चन्दन पुते हुए ठंडे स्तनोंसे उठा लिपटाती हैं जिनपर हार और दूसरे गहने पड़े होते हैं और अपने उन जूड़ोंकी गन्ध ला सुँघाती हैं जो उन्होंने स्नानके समय सुगन्धित फुलेलोंमें बसा लिए थे ॥४॥ आजकल स्त्रियोके उन महावरसे रँगे पैरोंको देखकर लोगोंका जी मचल उठता है जिनमें हंसोंकी बोलीके समान रुनझुन करनेवाले पायल (पाज़ेब, पैंजनी) बजा करते हैं ॥५॥ इन दिनों स्त्रियोंके हिमके

समुद्गतस्वेदचिताङ्गसंधयो विमुच्य वासांसि गुरूणि साम्प्रतम् ।
स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः ॥ ७ ॥
सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः ।
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः ॥ ८ ॥
सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः ।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥ ९ ॥
असह्यवातोद्धतरेणुमण्डला प्रचण्डसूर्यातपतापिता मही ।
न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः प्रियावियोगानलदग्धमानसैः ॥ १० ॥
मृगाः प्रचण्डातपतापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्कतालवः ।
वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसन्निभं नभः ॥ ११ ॥
सविभ्रमैः सस्मितजिह्मवीक्षितैर्विलासवत्यो मनसि प्रवासिनाम् ।
अनङ्गसंदीपनमाशु कुर्वते यथा प्रदोषाः शशिचारुभूषणाः ॥ १२ ॥
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः ।
अवाङ्मुखो जिह्मगतिः श्वसन्मुहुः फणी मयूरस्य तले निषीदति ॥ १३ ॥
तृषा महत्या हतविक्रमोद्यमः श्वसन्मुहुर्दूरविदारिताननः ।
न हन्त्यदूरेऽपि गजान्मृगेश्वरो विलोलजिह्वश्चलिताग्रकेसरः ॥ १४ ॥

समान उजले और अनूठे हारोंसे सजे हुए चन्दन-पुते स्तन देखकर और सुनहरी करधनीसे बँधे हुए नितम्ब देखकर भला किसका मन नहीं ललच उठेगा ॥६॥ ऊँचे-ऊँचे स्तनोंवाली जिन युवतियोंके अंगोंके जोड़-जोड़से गर्मीके मारे पसीना छूटा करता है वे सब इस गर्मीमें अपने मोटे-मोटे वस्त्र उतारकर महीन कपड़े पहनने लगी हैं ॥७॥ आजकल लोग कामदेवको उसी प्रकार जगाया करते हैं जैसे कोई स्त्री, अपने सोए हुए प्रेमीको चन्दनमें बसे हुए ठंडे जलसे भींगे हुए पंखोंकी ठंडी बयार झलकर या मोतियोंके हारोंकी लटकती हुई झालरोंसे सजे हुए अपने गोल-गोल स्तन प्रेमीकी छातीपर रखकर वा वीणाके साथ अपने मीठे गलेसे गीत गा-गाकर जगाया करती है ॥८॥ रातके समय उजले भवनमें सुखसे सोई हुई युवतीका मुख निहारनेको उतावला रहनेवाला चन्द्रमा जब बहुत देरतक उनका मुँह देख चुकता है तब लाजके मारे वह रातके पिछले पहरमें उदास हो जाता है ॥९॥ परदेसमें गए हुए जिन प्रेमियोंका हृदय अपनी प्रेमिकाओंके बिछोहकी तपनसे झुलस गया है, वे आँधीके झोंकोंसे उठी हुई धूलके बवंडरोंवाली और कड़ी धूपकी लपटोंसे तपी हुई धरतीकी ओर जब देखते हैं तब उनसे देखा नहीं जाता ॥१०॥ जलते हुए सूर्यकी किरणोंसे झुलसे हुए जिन जंगली पशुओंकी जीभ प्याससे बहुत सूख गई है वे धोखेमें उन जंगलोंकी ओर दौड़े चले जा रहे हैं जहाँके आँजनके समान नीले आकाशको ही वे पानी समझ बैठते हैं ॥११॥ चमकते हुए चन्द्रमावाली साँझके समान जो सुन्दरियाँ चन्द्रमा जैसे उजले चन्द्रहार आदि आभूषणोंसे सजी हुई बड़ी प्यारी लग रही हैं वे बड़ी चटक-मटक और मुसकराहटके साथ अपनी चितवन चलाकर परदेसियोंके मनमें झटसे कामदेव जगा देती हैं ॥१२॥ देखो ! धूपसे एकदम तपा हुआ और पैंड़ेकी गर्म धूलसे झुलसा हुआ यह सर्प अपना मुँह नीचे छिपाकर बार-बार फुफकारता हुआ आकर मोरकी छायामें कुंडल मारे आया बैठा है पर गर्मीके मारे मोर भी उसे कुछ नहीं कह रहा है ॥१३॥ देखो ! हाथियोंके पास होनेपर

विशुष्ककण्ठोद्गतसीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिताः ।
प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोऽपि बिभ्यति ॥१५॥
हुताग्निकल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः कलापिनः क्लान्तशरीरचेतसः ।
न भोगिनं घ्नन्ति समीपवर्तिनं कलापचक्रेषु निवेशिताननम् ॥१६॥
सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं सरः खनन्नायतपोतृमण्डलैः ।
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं वराहयूथो विशतीव भूतलम् ॥१७॥
विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना सपङ्कतोयात्सरसोऽभितापितः ।
उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः फणातपत्रस्य तले निषीदति ॥१८॥
समुद्धृताशेषमृणालजालकं विपन्नमीनं द्रुतभीतसारसम् ।
परस्परोत्पीडनसंहतैर्गजैः कृतं सरः सान्द्रविमर्दकर्दमम् ॥१९॥
रविप्रभोद्भिन्नशिरोमणिप्रभो विलोलजिह्वाद्वयलीढमारुतः ।
विषाग्निसूर्यातपतापितः फणी न हन्ति मण्डूककुलं तृषाकुलः ॥२०॥
सफेनलालावृतवक्त्रसंपुटं विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुखम् ।
तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरादवेक्षमाणं महिषीकुलं जलम् ॥२१॥
पटुतरदवदाहोच्छुष्कसस्यप्ररोहाः परुषपवनवेगोत्क्षिप्तसंशुष्कपर्णाः ।
दिनकरपरितापक्षीणतोयाः समन्ताद्विदधति भयमुच्चैर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः ॥२२॥

भी यह सिंह उन्हें मार नहीं रहा है क्योंकि गर्मी इतनी पड़ रही है कि बहुत प्यासके मारे इसका सब साहस ठंडा पड़ गया है, अपना पूरा मुँह खोलकर यह बार-बार हाँफे जा रहा है, अपनी जीभसे अपने ओठ चाटे जा रहा है और हाँफनेसे इसके कंधेके बाल हिलते जा रहे हैं ॥१४॥ जो हाथी, धूप और प्याससे बेचैन होकर अपने सूखे मुँहसे झाग फेंकते हुए पानीकी खोजमें इधर-उधर घूम रहे हैं, उन्हें इस समय सिंहसे भी डर नहीं लग रहा है ॥१५॥ हवनकी अग्निके समान जलते हुए सूर्यकी किरणोंसे जिन मोरोंके शरीर और मन दोनों सुस्त पड़ गए हैं, वे अपने पास कुंडल मारकर बैठे हुए साँपोंको भी नहीं मार रहे हैं वरन् उलटे धूपसे अपना मुँह बचानेके लिये अपना गला उनकी पूँछकी कुंडलमें डाले चुप-चाप बैठे हुए हैं ॥१६॥ धूपसे एकदम झुलसा हुआ यह जंगली सूअरोंका झुंड अपने लंबे-लंबे थूथनोंसे नागरमोथेसे भरे हुए बिना कीचड़वाले गड्ढेको खोदता हुआ ऐसा लग रहा है मानो वह धरतीमें ही घुसा चला जा रहा हो ॥१७॥ धूपसे तपे हुए मेंढक, गँदले जलवाले पोखरेसे बाहर निकल निकलकर प्यासे साँपोंके फनकी छतरीके नीचे ही आ-आकर बैठ रहे हैं ॥१८॥ यह देखो, यहाँपर हाथियोंने इकट्ठे होकर आपसमें लड़-भिड़कर इस तालके सब कमल उखाड़ डाले, मछलियोंको रौंद डाला और सब सारसोंको डरा डराकर भगा दिया है ॥१९॥ जिस प्यासे साँपका मणि सूर्यकी चमकसे और भी चमक उठा है वह अपनी लपलपाती हुई दोनों जीभोंसे पवन पीए जा रहा है और धूपकी तपन तथा अपने विषकी झारसे जलनेके कारण मेढकोंको नहीं मार रहा है ॥२०॥ जुगाली करनेसे जिन भैंसोंके मुँहसे झाग निकली पड़ रही है और लार बह रही है वे अपना मुंह खोल खोलकर अपनी लाल-लाल जीभें बाहर निकाले हुए प्यासके मारे ऊपर मुँह उठाए पहाड़की गुफासे निकल निकलकर जलकी ओर लपकी चली जा रही हैं ॥२१॥ आजकल वन तो और भी डरावने लगने लगे हैं, क्योंकि जंगलकी आगकी बड़ी-बड़ी लपटोंसे सब वृक्षोंकी टहनियाँ झुलस गई हैं, अंधड़में पड़कर सूखे हुए पत्ते ऊपर उड़े चले जा रहे हैं और सूर्यकी तपनसे

श्वसिति विहगवर्गःशीर्णपर्णद्रुमस्थः कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम्।
भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छञ्शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात्॥२३॥
विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम्।
तटविटपलताग्रालिङ्गनव्याकुलेन दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन ॥२४॥
ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु स्फुटति पटुनिनादैः शुष्कवंशस्थलीषु।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः॥२५॥
बहुतर इव जातःशाल्मलीनां वनेषु स्फुरति कनकगौरः कोटरेषु द्रुमाणाम्।
परिणतदलशाखानुत्पतन्प्रांशुवृक्षान्भ्रमति पवनधूतः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते ॥२६॥
गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहा सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षाद्विपुलपुलिनदेशां निम्नगां संविशन्ति ॥२७॥
कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः।
व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन॥२८॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे ग्रीष्मवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥

चारों ओरका जल सूख गया है ॥२२॥ जिन वृक्षोंके पत्ते झड़ गए हैं उनपर बैठी हुई सभी चिड़िएँ हाँफ रही हैं, उदास बंदरोंके झुंड पहाड़की गुफाओंमें घुसे चले जा रहे हैं, नील गायोंके रेवड़ चारों ओर पानीकी खोजमें घूम रहे हैं और आठ पैरोंवाले शरभोंका झुंड एक कुएँसे गटागट पानी पीए जा रहा है ॥२३॥ पूरे खिले हुए नये कुसुम्भीके फूलके समान और स्वच्छ सिन्दूरके समान लाल-लाल चमकनेवाली, आँधीसे और भी धधक उठनेवाली और तीरपर खड़े हुए वृक्षों और लताओंकी फुनगियोंको चूमती चलनेवाली जंगलकी आगसे जहाँ-तहाँ धरती जल गई है ॥२४॥ वनके बाड़ेसे उठती हुई और वायुसे और भी भड़की हुई अग्निकी लपट, पहाड़की घाटियोंमें फैलती हुई सभी पशुओंको जलाए डाल रही है, सूखे बाँसोंमें चटचटा रही है और क्षण भरमें आगे बढ़कर घासकी ढेर पकड़े ले रही है ॥२५॥ पवनसे भड़काई हुई और सेमरके वृक्षोंकी कुंजोंमें फैली हुई आग, वृक्षोंके खोखलोंमें अपना सुनहला पीला प्रकाश चमकाती और उन ऊँचे वृक्षोंपर उछलती हुई वनमें चारों ओर घूम रही है जिनकी डालियोंके पत्ते बहुत गर्मी पड़नेसे पक-पककर झड़ते चले जा रहे हैं ॥२६॥ आगसे घबराए और झुलसे हुए हाथी, नील गाय और सिंह, आज मित्र बनकर साथ-साथ इकट्ठे होकर घासके जंगलसे निकल-निकलकर झपटे हुए नदीके चौड़े और बलुए तीरपर आ आकर विश्राम कर रहे हैं ॥२७॥ जिस गर्मीकी ऋतुमें कमलोंसे भरे हुए और खिले हुए गुलाबकी गंधमें बसे हुए जलमें स्नान करना बहुत सुहाता है और जिन दिनों चन्द्रमाकी चाँदनी और मोतीके हार बहुत सुख देते हैं, वह ऋतु आपकी ऐसी बीते कि रातको आप अपने घरकी छतपर लेटे हों, सुन्दरियाँ आपको घेरे बैठी हों और मनोहर संगीत छिड़ा हुआ हो ॥२८॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार नामके महाकाव्यमें
गर्मीका वर्णन नामका पहला सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

प्रावृड्वर्णनम्

ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः ।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥ १ ॥
नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसंनिभैः ।
क्वचित्सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः समाचितं व्योम घनैः समन्ततः ॥ २ ॥
तृषाकुलैश्चातकपक्षिणां कुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः ।
प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः ॥ ३ ॥
बलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम् ।
सुतीक्ष्णधारापतनोग्रसायकैस्तुदन्ति चेतः प्रसभं प्रवासिनाम् ॥ ४ ॥
प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥ ५ ॥
सदा मनोज्ञं स्वनदुत्सवोत्सुकं विकीर्णविस्तीर्णकलापिशोभितम् ।
ससंभ्रमालिङ्गनचुम्बनाकुलं प्रवृत्तनृत्यं कुलमद्य बर्हिणाम् ॥ ६ ॥
निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
स्त्रियः सुदुष्टा इव जातिविभ्रमाः प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥ ७ ॥

दूसरा सर्ग

वर्षाका वर्णन

देखो प्यारी ! जलकी फुहारोंसे भरे हुए बादलोंके मतवाले हाथीपर चढ़ा हुआ, चमकती हुई बिजलियोंकी झंडियोंको फहराता हुआ और बादलोंकी गरजके नगाड़े बजाता हुआ यह कामियों का प्यारा पावस राजाओंका-सा ठाट-बाट बनाए यहाँ पहुँचा है ॥१॥ कहीं तो अत्यन्त नीले कमलकी पंखड़ी-जैसे नीले, कहीं गर्भिणीके स्तनोंके समान पीले और कहीं घुटे हुए आँजनकी पिंडीके समान काले-काले बादल आकाशमें इधर-उधर आ छाए हैं ॥२॥ देखो ! जिन बादलोंसे पपीहे पिउ-पिउ करके पानी माँग रहे हैं ऐसे, पानीके भारसे नीचे झुके हुए, धुआँधार पानी बरसानेवाले और कानोंको भली लगनेवाली गड़गड़ाहट करते हुए, बादल धीरे-धीरे घिरे चले जा रहे हैं ॥३॥ मृदंगके समान गड़गड़ाते हुए और बिजलीकी डोरीवाला इन्द्रधनुष चढ़ाए हुए ये बादल अपनी तीखी धारोंके पैने बाण बरसा-बरसाकर परदेसमें पहुँचे हुए लोगोंका मन कसमसाए डाल रहे हैं ॥४॥ छितराए हुए वैदूर्यमणि (नीलम)-के समान दिखाई देनेवाली, घासके कोमल अँकुवोंसे भरी हुई, ऊपर निकले हुए कन्दलीके पत्तोंसे लदी हुई और बीरबहूटियोंसे छाई यह धरती उस नायिका-जैसी दिखाई दे रही है जो उजले रत्नको छोड़कर अन्य सभी रंगोंके रत्नोंवाले आभूषणोंसे सजी हुई हो ॥५॥ देखो ! सदा मीठी बोली बोलनेवाले, गरजते हुए बादलोंकी शोभापर रीझकर मगन हो उठनेवाले और अपने पंख खोलकर फैलानेसे सुहावने लगनेवाले ये मोरोंके झुंड के झुंड, झटपट अपनी प्यारी मोरनियोंको गले लगाते और चूमते हुए आज नाच उठे हैं ॥६॥ जैसे कुलटा स्त्रियाँ प्रेममें अन्धी होकर बिना सोचे-विचारे अपनेको खो बैठती हैं, वैसे ही ये नदियाँ भी अपने

तृणोत्करैरुद्गतकोमलाङ्कुरैश्चितानि नीलैर्हरिणीमुखक्षतैः ।
वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषितान्युद्गतपल्लवैर्द्रुमैः ॥ ८ ॥
विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननैर्मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः ।
समाचिता सैकतिनी वनस्थली समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः ॥ ९ ॥
अभीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनता पयोमुचा घनान्धकारीकृतशर्वरीष्वपि ।
तडित्प्रभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः ॥१०॥
पयोधरैर्भीमगभीरनिस्वनैस्तडिद्भिरुद्वेजितचेतसो भृशम् ।
कृतापराधानपि योषितः प्रियान्परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम् ॥११॥
विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः ।
निरस्तमाल्याभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रमदाः प्रवासिनाम् ॥१२॥
विपाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद्वक्रगतिप्रसर्पितम् ।
ससाध्वसैर्भेककुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम् ॥१३॥
विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।
पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥१४॥
वनद्विपानां नववारिदस्वनैर्मदान्वितानां ध्वनतां मुहुर्मुहुः ।
कपोलदेशा विमलोत्पलप्रभाः सभृङ्गयूथैर्मदवारिभिश्चिताः ॥१५॥
सितोत्पलाभाम्बुदचुम्बितोपलाः समाचिताः प्रस्रवणैः समन्ततः ।
प्रवृत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ॥१६॥

मटमैले पानीकी बाढ़से जहाँ-तहाँ अपने किनारेके वृक्षोंको ढहाती हुई वेगसे समुद्रकी ओर दौड़ी जा रही हैं ॥७॥ हरिणियोंके मुँहसे चबाई हुई हरी-हरी घासों और नई कोपलोंवाले वृक्षोंसे छाए हुए विन्ध्याचलके जंगल भला किसका मन नहीं लुभा लेते ॥८॥ कमलके समान सुहावनी और चंचल आँखोंके कारण सुन्दर मुखवाले इन डरे हुए हरिणोंसे भरा हुआ रेतीला जंगल बरबस हृदयको खींचे ले रहा है ॥९॥ देखो ! लुक-छिपकर अपने प्यारेके पास प्रेमसे जानेवाली कामिनियाँ, गरजते हुए बादलोंसे घिरी हुई इस घनी अँधेरी रातमें भी बिजलीकी चमकसे आगेका मार्ग देखती हुई बढ़ी चली जा रही हैं ॥१०॥ बादलोंकी घोर कड़क और बिजलीकी तड़पनसे चौंकी हुई स्त्रियाँ सोते समय अपने दोषी प्रेमियोंसे भी जा लिपटती हैं ॥११॥ परदेसमें गए हुए लोगोंकी स्त्रियाँ अपने बिंबाफल-जैसे लाल और नई कोंपलों-जैसे कोमल होठोंपर अपनी कमल-जैसी आँखोंसे आँसू बरसाती हुई अपनी माला, आभूषण, तेल, फुलेल, उबटन आदि सब कुछ छोड़कर अपने गालोंपर हाथ धरे बैठी हैं ॥१२॥ छोटे-छोटे कीड़ों, धूल और घासको बहाता हुआ जो मटमैला बरसाती पानी, साँपके समान टेढ़ा-मेढ़ा घूमता हुआ, ढालसे बहा आ रहा है उसे देख-देखकर और उसे साँप समझकर बेचारे मेंढक डरे जा रहे हैं ॥१३॥ कानोंको सुहानेवाली मीठी तानें लेकर गूँजते हुए भौंरे, उस कमलको तो छोड़-छोड़कर चले जा रहे हैं जिसके पत्ते और फूल झड़ गए हैं और हड़बड़ीमें भूलसे, नाचते हुए मोरोंके खुले पंखोंको ही नये कमल समझकर उन्हींपर जा टूटे पड़े हैं ॥१४। नये-नये बादलोंके गरजनेसे जब बनैले हाथी मस्त हो जाते हैं और उनके माथेसे बहते हुए मदपर भौंरे आ लिपटते हैं, तब उन हाथियोंके माथे स्वच्छ नीले कमल-जैसे दिखाई देने लगते हैं ॥१५॥ धौले कमलके समान उजले बादल जिन पहाड़ी चट्टानोंको

कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयँस्तत्कुसुमाधिवासितः।
ससीकराम्भोधरसङ्गशीतलः समीरणः कं न करोति सोत्सुकम् ॥१७॥
शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः।
स्तनैः सहारैर्वदनैः ससीधुभिः स्त्रियो रतिं संजनयन्ति कामिनाम् ॥१८॥
वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति व्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥१९॥
तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः।
स्त्रियश्च काञ्चीमणिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम् ॥२०॥
मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य।
कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकाँश्च ॥२१॥
कालागुरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्ग्यः पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः।
श्रुत्वा ध्वनिं जलमुचां त्वरितं प्रदोषे शय्यागृहं गुरुगृहात्प्रविशन्ति नार्यः ॥२२॥
कुवलयदलनीलैरुन्नतैस्तोयनम्रैर्मृदुपवनविधूतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः।
अपहृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम् ॥२३॥
मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः ॥२४॥

झूमते चल रहे हैं और जिनपर मोर नाच रहे हैं उन चट्टानोंपररो बहनेवाले सैकड़ों झरनोंको देखकर प्रेमियोंके मनमें हलचल मच जाती है ॥१६॥ कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और केतकीसे भरे हुए जंगलको कँपाता हुआ, उन वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धमें बसा हुआ और चन्द्रमाकी किरणों तथा बादलोंसे ठंडा होकर बहनेवाला बायु किसे मस्त नहीं कर देता ॥१७॥ आजकल स्त्रियाँ, अपने भारी-भारी नितम्बोंपर केश लटकाकर, अपने कानोंमें सुगन्धित फूलोंके कनफूल पहनकर, छातीपर माला डालकर और मदिरा पीकर अपने प्रेमियोंके मनमें प्रेम उकसाए दे रही हैं ॥१८॥ बरसातमें नदियाँ बह रही हैं, बादल बरस रहे हैं, मस्त हाथी चिग्घाड़ रहे हैं, जंगल हरे-भरे हुए जा रहे हैं, अपने प्यारोंसे बिछुड़ी हुई स्त्रियाँ रो-कलप रही हैं, मोर नाच रहे हैं और बन्दर चुप मारकर गुफाओंमें जा छिपे हैं ॥१९॥ इन्द्रधनुष और बिजलीसे सजी तथा पानीके भारसे झुकी हुई काली-काली घटाएँ और करधनी तथा रत्न-जड़े कुण्डलोंसे सजी हुई स्त्रियाँ, दोनों ही परदेसमें बैठे हुए लोगोंका मन एक साथ हरे ले रही हैं ॥२०॥ इन दिनों नई केसर, केतकी और कदम्बके नये फूलोंकी मालाएँ गूँथकर स्त्रियाँ अपने जूड़ोंमें बाँधे ले रही हैं और ककुभ (अर्जुन)-के फूलोंके मनचाहे ढंगसे बनाए हुए कर्णफूल अपने कानोंमें पहने ले रही हैं ॥२१॥ जिन स्त्रियोंके अंगोंपर अगर-मिला चन्दन लगा हुआ है, जिनके बाल फूलोंके गुच्छोंसे महक रहे हैं, वे बादलोंकी गड़गड़ाहट सुनकर झट अपने घरके बड़े-बूढ़ोंके पाससे उठकर सही साँझको ही अपने शयनघरमें जा घुस रही हैं ॥२२॥ कमलके पत्तोंके समान साँवले, पानीके भारसे झुक जानेके कारण बहुत थोड़ी ऊँचाईपर ही छाए हुए और धीमे-धीमे पवनके सहारे धीरे-धीरे चलनेवाले जिन बादलोंमें इन्द्रधनुष निकल आया है उन्होंने परदेसमें गए हुए लोगोंकी उन स्त्रियोंकी सब सुध-बुध हर ली है जो अपने प्यारोंके बिछोहमें व्याकुल हुई बैठी हैं ॥२३॥ वनमें चारों ओर खिले हुए कदम्बके फूल ऐसे लग रहे हैं मानो वर्षाके नये जलसे गर्मी दूर हो जानेपर सारा जंगल ही मगन हो उठा हो। पवनसे झूमती

शिरसि बकुलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च ।
विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ॥२५॥
दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः ।
नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजीं ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः ॥२६॥
नवजलकणसङ्गाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम् ।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्प्रोषितानां मनांसि ॥२७॥
जलभरनमितानामाश्रयोऽस्माकमुच्चैरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनम्राः ।
अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम् ॥२८॥
बहुगुणरमणीयः कामिनीचित्तहारी तरुविटपलतानां बान्धवो निर्विकारः ।
जलदसमय एष प्राणिनां प्राणभूतो दिशतु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि ॥२९॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे प्रावृड्वर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥

हुई शाखाओंको देखकर ऐसा लगता है मानो पूराका पूरा जंगल ही अपने हाथ मटका-मटकाकर नाच रहा हो, और केतकीकी उजली कलियोंको देखकर ऐसा लगता है मानो सारा जंगल खिलखिलाकर हँस रहा हो ॥२४॥ जैसे कोई प्रेमी अपनी प्यारीके लिये ढंग-ढंगके फूलोंके आभूषण बनावे वैसे ही वर्षा-काल भी ऐसा लगता है मानो वह अपनी प्रेमिकाके लिये जूहीकी नई-नई कलियों तथा मालती और मौलसिरीके फूलोंकी माला गूँथे डाल रहा हो और उनके कानोंके लिये खिले हुए नये कदम्बके फूलोंके कर्णफूल बना रहा हो ॥२५॥ इन दिनों स्त्रियाँ, अपने बड़े-बड़े गोल-गोल उठे हुए सुन्दर स्तनोंपर मोतीकी मालाएँ पहनती हैं, अपने भारी-भारी गोल-गोल नितम्बोंपर महीन उजली रेशमी साड़ी पहनती हैं और जब उनके पेटपर दिखाई पड़नेवाली सुन्दर तिहरी सिकुड़नोंपर वर्षाकी नई फुहार पड़ने लगती है तो वहाँके नन्हें-नन्हें रोएँ खड़े हो जाते हैं ॥२६॥ वर्षाके नये जलकी फुहारोंसे ठंडा बना हुआ पवन, फूलोंके बोझसे झुके हुए पेड़ोंको नचा डाल रहा है, केतकीके फूलोंका पराग लेकर चारों ओर मनभावनी सुगंध फैलाए दे रहा है और परदेश गए हुए प्रेमियोंके मन चुराए ले रहा है ॥२७॥ ये पानीके बोझसे झुके हुए बादल, गरमीकी आगकी लपटोंसे झुलसे हुए विन्ध्याचलकी तपनको अपने ठंडे जलकी फुहारोंसे मानो यह समझकर बुझाए दे रहे हैं कि जब हम पानीके बोझसे लदकर आते हैं तब यही तो हमें सहारा दिया करता है ॥२८॥ अपने बहुतसे सुन्दर गुणोंसे सुहावनी लगनेवाली, स्त्रियोंका जी खिलानेवाली, पेड़ोंकी टहनियों और बेलोंकी सच्ची सखी तथा जीवोंका प्राण बनी हुई यह वर्षा ऋतु आपके मनकी सब साधें पूरी करे ॥२९॥

॥ महाकवि कालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें वर्षाका वर्णन
नामका दूसरा सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ तृतीयः सर्गः ॥

शरद्वर्णनम्

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥ १ ॥
काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि ।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥ २ ॥
चञ्चन्मनोज्ञशफरीरसनाकलापाः पर्यन्तसंस्थितसिताण्डजपङ्क्तिहाराः ।
नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ॥ ३ ॥
व्योम क्वचिद्रजतशङ्खमृणालगौरैस्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।
संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदै राजेव चामरशतैरुपवीज्यमानः ॥ ४ ॥
भिन्नाञ्जनप्रचयकान्ति नभो मनोज्ञं बन्धूकपुष्परजसाऽरुणिता च भूमिः ।
वप्राश्च पक्वकलमावृतभूमिभागाः प्रोत्कण्ठयन्ति न मनो भुवि कस्य यूनः ॥ ५ ॥
मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः ।
मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेकश्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः ॥ ६ ॥
तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती मेघावरोधपरिमुक्तशशाङ्कवक्त्रा ।
ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥ ७ ॥

तीसरा सर्ग

शरत्का वर्णन

लो, फूले हुए काँसकी साड़ी पहने, मस्त हंसोंकी बोलीके से झनझनाते हुए सुहावने पायल पहने, पके हुए धानके मनोहर शरीरवाली और खिले हुए कमलके सुन्दर मुखवाली शरद् ऋतु, नई ब्याही हुई रूपवती बहूके समान अब आ पहुँची है ॥१॥ काँसकी झाड़ियोंने धरतीको, चन्द्रमाने रातोंको, हंसोंने नदियोंके जलको, कमलोंने तालोंको, फूलोंके बोझसे झुके हुए छतिवनके वृक्षोंने जंगलको और मालतीके फूलोंने फुलवारियोंको बड़ा उजला बना डाला है ॥२॥ इस ऋतुमें नदियाँ भी उसी प्रकार धीरे-धीरे बही जा रही हैं जैसे करधनी और माला पहने हुए बड़े-बड़े नितम्बोंवाली कामिनियाँ चली जा रही हों क्योंकि उछलती हुई सुन्दर मछलियाँ ही उन नदियोंकी करधनी हैं, तीरपर बैठी हुई उजली चिड़ियोंकी पाँति ही उनकी मालाएँ हैं और ऊँचे-ऊँचे रेतीले टीले उनके गोल नितम्ब हैं ॥३॥ चाँदी, शंख और कमलके समान उजले जो सहस्रों बादल पानी बरसनेसे हलके होकर, पवनके सहारे इधर-उधर घूम रहे हैं; उनसे भरा हुआ आकाश कहीं-कहीं ऐसा लगने लग रहा है मानो किसी राजापर सैकड़ों चँवर ढुलाए जा रहे हों ॥४॥ घुटे हुए आँजनकी पिंडी-जैसा नीला सुन्दर आकाश, दुपहरियाके फूलोंसे लाल बनी हुई धरती और पके हुए धानसे लदे हुए सुन्दर खेत, इस संसारमें किस युवकका मन डाँवाँडोल नहीं कर देते ॥५॥ जिसकी शाखाओंकी सुन्दर फुनगियोंको धीमा-धीमा पवन झुलाए डाल रहा है, जिसपर बहुतसे फूल खिले हुए हैं, जिसकी पत्तियाँ बड़ी कोमल हैं और जिसमेंसे बहते हुए मधुकी धारको मस्त भौंरे धीरे-धीरे चूसे चले जा रहे हैं, ऐसा कोविदार (कचनार)-का वृक्ष भला किसका हृदय टूक-टूक नहीं किए डालता ॥६॥ बादल हटे हुए चन्द्रमाके मुँहवाली, तारोंके सुहावने गहनोंवाली और चाँदनीकी उजली साड़ीवाली आजकलकी रातें भी अलबेली छोरीके समान दिन-दिन बढ़ती चली जा रही हैं

कारण्डवाननविघट्टितवीचिमालाः कादम्बसारसकुलाकुलतीरदेशाः ।
कुर्वन्ति हंसविरुतैः परितो जनस्य प्रीतिं सरोरुहरजोरुणितास्तटिन्यः ॥ ८ ॥
नेत्रोत्सवो हृदयहारिमरीचिमालः प्रह्लादकः शिशिरसीकरवारिवर्षी ।
पत्युर्वियोगविषदग्धशरक्षतानां चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमङ्गनानाम् ॥ ९ ॥
आकम्पयन्फलभरानतशालिजालान्यानर्तयँस्तरुवरान्कुसुमावनम्रान् ।
उत्फुल्लपङ्कजवनां नलिनीं विधुन्वन्यूनां मनश्चलयति प्रसभं नभस्वान् ॥१०॥
सोन्मादहंसमिथुनैरुपशोभितानि स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलभूषितानि ।
मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमालान्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि ॥११॥
नष्टं धनुर्बलभिदो जलदोदरेषु सौदामिनी स्फुरति नाद्य वियत्पताका ।
धुन्वन्ति पक्षपवनैर्न नभो बलाकाः पश्यन्ति नोन्नतमुखा गगनं मयूराः ॥१२॥
नृत्यप्रयोगरहिताञ्छिखिनो विहाय हंसानुपैति मदनो मधुरप्रगीतान् ।
मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः ॥१३॥
शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि ।
पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥१४॥
कह्लारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वँस्तत्संगमादधिकशीतलतामुपेतः ।
उत्कण्ठयत्यतितरां पवनः प्रभाते पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमानः ॥१५॥

॥७॥ जिन नदियोंका जल कमलके परागसे लाल हो गया है, जिनपर हंस कूज रहे हैं, जिनकी लहरें जल-पक्षियोंकी चोंचोंसे टकराती जा रही हैं, और जिनके तीरपर कदम्ब (हंस) और सारस पक्षियोंके झुंड घूम रहें हैं, वे नदियाँ लोगोंको बड़ी सुहावनी लगने लगी हैं ॥८॥ सबकी आँखोंको भला लगनेवाले जिस चन्द्रमाकी किरणें मनको बरबस अपनी ओर खींचे लेती हैं, वही सुहावना और ठण्डी फुहारें बरसानेवाला चन्द्रमा, उन स्त्रियोंके अंग बहुत भूने डाल रहा है जो अपने पतियोंके बिछोहके विष-बुझे बाणोंसे घायल हुई घरोंमें पड़ी-पड़ी कलप रही हैं ॥९॥ अन्न भरी हुई बालियोंसे झुके धानके पौधोंको कँपाता हुआ, फूलोंसे लदे हुए सुन्दर वृक्षोंको नचाता हुआ और खिले हुए कमलोंसे भरे तालोंकी कमलिनियोंको झुलाता हुआ शीतल वायु सब युवकोंका मन झकझोरे डाल रहा है ॥१०॥ जिन तालोंके तीरपर मस्त हंसोंके जोड़े घूम रहे हैं, जिनमें स्वच्छ खिले हुए उजले और नीले कमल शोभा दे रहे हैं और जिनमें प्रातःकालके धीमे-धीमे पवमसे लहरें उठ रही हैं, वे ताल, अचानक हृदयको मस्त बनाए डाल रहे हैं ॥११॥ आजकल न तो बादलोंमें इन्द्रधनुष रह गए हैं, न बगले ही अपने पंख हिला-हिलाकर आकाशको पंखा झल रहे हैं और न मोरोंके झुंड ही मुँह उठाकर आकाशकी ओर देख रहे हैं ॥१२॥ जिन मोरोंने नाचना छोड़ दिया है उन्हें छोड़कर अब कामदेव उन हंसोंके पास जा पहुँचा है जो बड़ी मीठी बोलीमें रुनझुन-रुनझुन कर रहे हैं। फूलोंकी सुन्दरता भी कदम्व, कुटज, अर्जुन, सर्ज और अशोकके वृक्षोंको छोड़कर छतिवनके पेड़पर जा बसी है ॥१३॥ जिन उपवनोंमें शेफालिकाके फूलोंकी मनभावनी सुगन्ध फैली हुई है, जिनमें निश्चिन्त बैठी हुई चिड़ियोंकी चहचहाहट चारों ओर गुँज रही है, जिनमें कमल-जैसी आँखोंवाली हरिणियाँ जहाँ-तहाँ बैठी पगुरा रही हैं, उन्हें देख-देखकर लोगोंके मन हाथसे निकल निकल जाते हैं ॥१४॥ प्रातःकाल पत्तोंपर पड़ी हुई ओसकी बूँदें छितराता हुआ और कोकाबेल, कमल तथा कुमुदसे छू छूकर ठंढक

संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि ।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥१६॥
हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः ।
नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि भ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः ॥१७॥
श्यामा लताःकुसुमभारनतप्रवालाःस्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम् ।
दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्ति कङ्केलिपुष्परुचिरा नवमालती च ॥१८॥
केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः ।
कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ॥१९॥
हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः ।
पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यः प्रहृष्टमनसोऽद्य विभूषयन्ति ॥२०॥
स्फुटकुमुदचितानां राजहंसाश्रितानां मरकतमणिभासा वारिणा भूषितानाम् ।
श्रियमतिशयरूपां व्योमतोयाशयानां वहति विगतमेघं चन्द्रतारावकीर्णम् ॥२१॥
शरदि कुमुदसङ्गाद्वायवो वान्ति शीता विगतजलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञाः ।
विगतकलुषमम्भः श्यानपङ्का धरित्री विमलकिरणचन्द्रं व्योम ताराविचित्रम् ॥२२॥
करकमलमनोज्ञाः कान्तसंसक्तहस्ता वदनविजितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तरुण्यः ।
रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेश्म प्रबलमदनहेतोस्त्यक्तसंगीतरागाः ॥२३॥

लेता हुआ धीमे-धीमे बहनेवाला पवन किसे नहीं मस्त बना देता ? ॥१५॥ जहाँके खेतोंमें भरपूर धानके पौधे लहलहा रहे हों, जहाँ घासके मैदानमें बहुतसी गौएँ चर रही हों, जहाँ बहुतसे सारसों और हंसोंके जोड़े अपनी मीठी बोली बोल रहे हों, बस ऐसे ही स्थान लोगोंको आजकल बड़े अच्छे लगते हैं ॥१६॥ इन दिनों हंसोंने सुन्दरियोंकी मनभावनी चालको, कमलिनियोंने उनके चन्द्रमुखकी चमकको, नीले कमलोंने उनकी मदभरी आँखोंको और छोटी लहरियोंने उनकी भौंहोंकी बाँकी मटकको हरा दिया है ॥१७॥ जिन हरी बेलोंकी टहनियाँ फूलोंके बोझसे झुकी पड़ी हैं, उनकी सुन्दरतासे स्त्रियोंकी गहनोंसे सजी हुई बाँहोंकी सुन्दरता छीन ली है और कंकेलि (चाँदनी) तथा नई मालतीके सुन्दर फूलोंने दाँतोंकी चमकसे खिल उठनेवाली स्त्रियोंकी मुसकराहटकी चमकको लजा दिया है ॥१८॥ स्त्रियाँ अपनी घनी घुंघराली काली लटोंमें नये मालतीके फूल गूँथे ले रही हैं और अपने जिन कानोंमें वे सोनेके बढ़िया बाले पहना करती थीं, उनमें उन्होंने अनेक प्रकारके नीले कमल लटका पहने हैं ॥१९॥ आजकल स्त्रियाँ बड़ी उमंगसे अपने स्तनोंपर मोतियोंके हार पहनती और चन्दन पोतती हैं, अपने भारी-भारी नितम्बोंपर करधनी बाँधती हैं और अपने कमल-जैसे कोमल सुन्दर पैरोंमें छम-छम बजनेवाले पायल पहनती हैं ॥२०॥ खिले हुए चन्द्रमा और छिटके हुए तारोंसे भरा हुआ आजकलका खुला आकाश उन तालोंके समान दिखाई पड़ रहा है जिनमें पन्नेके समान चमकता हुआ जल भरा हुआ हो, जिनमें एक-एक राजहंस बैठा हुआ हो और जिनमें यहाँ-वहाँ बहुतसे कुमुद खिले हुए हों ॥२१॥ आजकल कमलोंको छूता हुआ शीतल पवन बह रहा है, बादलोंके उड़ जानेसे चारों ओर सब सुहावना ही सुहावना दिखाई दे रहा है, पानीका गँदलापन दूर हो गया है, धरतीपरका सारा कीचड़ सूख गया है और आकाशमें स्वच्छ किरणोंवाला चन्द्रमा और तारे निकल आए हैं ॥२२॥ चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर मुखवाली युवतियाँ अपना सब गाना-बजाना छोड़कर अत्यन्त कामातुर होकर अपने सुन्दर

सुरतरसविलासाः सत्सखीभिः समेता असमशरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम्।
अनुपममुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान् ॥२४॥
दिवसकरमयूखैर्बाध्यमानं प्रभाते वरयुवतिमुखाभं पङ्कजं जृम्भतेऽद्य।
कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रबिम्बे हसितमिव वधूनां प्रोषितेषु प्रियेषु ॥२५॥
असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु क्वणितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु।
अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः ॥२६॥
स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशाङ्कलक्ष्मीं काम्यं च हंसवचनं मणिनूपुरेषु।
बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्रीः ॥२७॥
विकचकमलवस्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना।
कुमुदरुचिरकान्तिः कामिनीवोन्मदेयं प्रतिदिशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्र्याम् ॥२८॥
॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे शरद्वर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥

* * *

कमल-जैसे हाथ अपने प्रेमीके हाथोंमें डालकर उन घरोंमें चली जा रही हैं जिनमें सुगन्धित फूलोंकी सेज बिछी हुई है ॥२३॥ शरद्में संभोगका रस लेनेवाली और अनूठे प्रकारसे मुँह रंगनेवाली युवतियाँ जब अपनी सखियोंके साथ बैठती हैं तब आपसमें एक दूसरीको सब बातें बता डालती हैं कि रातमें कैसे-कैसे आनन्द लूटा गया ॥२४॥ प्रातःकाल जब सूर्य अपने करों (किरणों)-से कमलको जगाता है तब वह कमल सुन्दरी युवतीके मुखके समान खिल उठता है और जैसे प्रियके परदेस चले जानेपर स्त्रियोंकी मुसकराहट चली जाती है वैसे ही चन्द्रमाके छिप जानेपर कोई भी सकुचा जाती है ॥२५॥ जब परदेसमें गए हुए लोग नीले कमलोंमें अपनी प्रियतमाकी काली आँखोंकी सुन्दरता देखते हैं, मस्त हंसोंकी ध्वनिमें उनकी सुनहरी करधनीकी रुनझुन सुनते हैं और बन्धुजीवके फूलोंमें उनके निचले ओठोंकी चमकती हुई सुन्दरताकी चमक पाते हैं, तब तो वे बेचारे सब सुध-बुध भूलकर रोने ही रह जाते हैं ॥२६॥ शरत्की सुन्दर शोभा कहीं तो चन्द्रमाकी चमकको छोड़कर स्त्रियोंके मुँहपर आ चढ़ी है, कहीं हंसोंकी मीठी बोली छोड़कर नवेलियोंके रतन-जड़े बिछुओंमें जा पहुँची है और कहीं बन्धूक फूलोंकी लालीको छोड़कर उनके निचले ओठोंमें जा समाई है ॥२७॥ भगवान् करें, यह कामिनीके समान खिले हुए उजले कमलके मुखवाली, फूले हुए नील कमलकी आँखोंवाली, कोईके समान सुन्दर शरीरवाली और फूले हुए काँसकी साड़ी पहननेवाली मस्त शरद् ऋतु आप लोगोंके मनमें नई-नई उमंगे भरती चले ॥२८॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे ऋतुसंहार काव्यमें शरत्का वर्णन
नामका तीसरा सर्ग पूर्ण हुआ ॥

* * *

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

हेमन्तवर्णनम्

नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः ।
विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥ १ ॥
मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषारकुन्देन्दुनिभैश्च हारैः ।
विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नालंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥ २ ॥
न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं वलयाङ्गदानि ।
नितम्बबिम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु ॥ ३ ॥
काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बान् ।
न नूपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभाञ्जि ॥ ४ ॥
गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥ ५ ॥
रतिश्रमक्षामविपाण्डुवक्त्राः संप्राप्तहर्षाभ्युदयास्तरुण्यः ।
हसन्ति नोच्चैर्दशनाग्रभिन्नान्प्रपीड्यमानानधरानवेक्ष्य ॥ ६ ॥
पीनस्तनोरःस्थलभागशोभामासाद्य तत्पीडनजातखेदः ।
तृणाग्रलग्नैस्तुहिनैः पतद्भिराक्रन्दतीवोषसि शीतकालः ॥ ७ ॥

चौथा सर्ग

हेमन्त वर्णन

देखो ! पाला बिछाती हुई यह हेमन्त ऋतु आ पहुँची है; जिसमें गेहूँ, जो आदिके नये-नये अंकुरोंके निकल आनेसे चारों ओर हराभरा दिखाई देने लगा है, लोधके पेड़ फूलोंसे लद गए हैं; धान पक चला है और कमल दिखाई नहीं देते ॥१॥ इन दिनों अलबेली स्त्रियाँ अपने बड़े-बड़े गोल-गोल स्तनोंपर हिम, कोंई और चन्द्रमाके समान उजले और कुंकुमके रंगमें रँगे हुए मनोहर हार नहीं पहनती हैं ॥२॥ आजकल न तो ये कामिनियाँ अपनी दोनों बाँहोंपर कंगन और भुजबंध ही पहनती हैं, न अपने गोल-गोल नितंबोंपर नये रेशमी वस्त्र ही लपेटती हैं और न अपने मोटे-मोटे स्तनोंपर महीन कपड़े ही बाँधती हैं ॥३॥ न वे अपने नितम्बोंपर सोने और रत्नोंसे जड़ी हुई करधनी पहनती हैं और न कमलकी शोभाको भी घटानेवाले अपने सुन्दर पैरोंमें हंसके समान रुनझुन करनेवाले पायल ही डालती हैं ॥४॥ आजकल अपने पतिसे संभोगकी तैयारीमें युवतियाँ, अपने शरीरपर चन्दन मलती हैं, अपने कमल-जैसे मुँहपर अनेक प्रकारके बेल-बूटे चीतती हैं और कालागुरुकी धूप देकर अपने केश सुगन्धित करती हैं ॥५॥ संभोगकी थकानसे नीले और मुरझाए हुए मुखोंबाली युवतियाँ, हँसनेकी बातपर भी यह समझकर मुँह खोलकर नहीं हँसती कि कहीं प्यारेके पैने दाँतोंसे काटे हुए ओठ दुखने न लगें ॥६॥ प्रातःकाल घासपर फैली हुई ओसकी बूँदोंको देखकर ऐसा लगता है मानो युवतियोंके मोटे-मोटे स्तनोंको उनकी छातियोंपर देखकर सुख पानेवाला हेमन्त, उन स्तनोंको प्रेमियोंके हाथोंसे मले हुए देखकर दुखी होकर आँसू बहाने लग रहा हो ॥७॥ गाँवके बाहर जिन खेतोंमें भरपूर धान लहलहा रहा है, हरिणियोंके झुंडके

प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायूथविभूषितानि ।
मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः ॥ ८ ॥
प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि सोन्मादकादम्बविभूषितानि ।
प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम् ॥ ९ ॥
मार्गं समीक्ष्यातिनिरस्तनीरं प्रवासखिन्नं पतिमुद्वहन्त्यः ।
अवेक्ष्यमाणा हरिणेक्षणाक्ष्यः प्रबोधयन्तीव मनोरथानि ॥१०॥
पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः ।
प्रिये प्रियंङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव ॥११॥
पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निःश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः ।
परस्पराङ्गव्यतिषङ्गशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः ॥१२॥
दन्तच्छदैः सव्रणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिलेखैः ।
संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम् ॥१३॥
काचिद्विभूषयति दर्पणसक्तहस्ता बालातपेषु वनिता वदनारविन्दम् ।
दन्तच्छदं प्रियतमेन निपीतसारं दन्ताग्रभिन्नमवकृष्य निरीक्षते च ॥१४॥
अन्या प्रकामसुरतश्रमखिन्नदेहा रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा ।
स्रस्तांसदेशलुलिताकुलकेशपाशा निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकराभितप्ता ॥१५॥
निर्माल्यदाम परिभुक्तमनोज्ञगन्धं मूर्ध्नोऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ताः ।
पीनोन्नतस्तनभरानतगात्रयष्टयः कुर्वन्ति केशरचनामपरास्तरुण्यः ॥१६॥

झुंड चौकड़ियाँ भर रहे हैं और सारस कूक रहे हैं, उन खेतोंको देखते ही मन हाथसे निकल जाता है ॥८॥ जिन तालोंमें खिले हुए नीले कमल फैले हुए हैं, मस्त कलहंस इधर-उधर तैर रहे हैं और ठंडा निर्मल जल भरा हुआ है, उन्हें देखकर लोगोंका जी खिल खिल उठता है ॥९॥ जिनके पति परदेस चले गये हैं, वे मृगनयनी स्त्रियाँ जब सूखे हुए मार्गको देखती हैं तब परदेसमें पड़े हुए अपने दुखी पतियोंके आनेकी बाट जोहती हुई यह सोचने लगती हैं कि जब हमारे पति आवेंगे तब हम यों मिलेंगी, यों बातें करेंगी और यों रूठेंगी ॥१०॥ देखो प्यारी ! पालेसे भरे ठंडे वायुसे हिलती हुई यह पकी हुई प्रियंगुकी लता वैसी ही पीली पड़ गई है जैसे अपने पतिसे अलग होनेपर युवती पीली पड़ जाती है ॥११॥ फूलोंके गन्धकी भीनी और मीठी सुगन्धवाले मुँहसे अपने मुँह लगाकर और एक दूसरेकी साँसोंसे सुगन्धित अंगोंसे अंग मिलाकर सब स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे लिपट लिपटकर सम्भोग करते हुए सो रहे हैं ॥१२॥ इस समय प्यारोंने अपनी नवयुवतियोंके ओठोंपर जो दाँतोंसे घाव कर दिए हैं और उनके स्तनोंपर अपने नखोंसे चिह्न बना दिए हैं इससे जान पड़ रहा है कि उनके प्यारे उनका जी-जानसे संभोग कर रहे हैं ॥१३॥ देखो, एक स्त्री, हाथमें दर्पण लिए हुए प्रातःकालकी धूपमें बैठी अपने कमल-जैसे मुँहका सिंगार किए डाल रही है और अपने जिन ओठोंका प्यारेने रस पी लिया है और जिनपर प्यारेके दाँतोंके घाव बने हुए हैं, उन ओठोंको खींच-खींचकर देखे जा रही है ॥१४॥ अत्यन्त सम्भोगसे थक जानेके कारण एक दूसरी स्त्रीकी कमल-जैसी आँखें रातभर जागनेसे लाल हो गई हैं, उसके कंधे झूल गए हैं, उसके बाल इधर-उधर बिखर गए हैं और वह प्रातःकालके सूर्यकी कोमल किरणोंमें धूप खाती हुई वहीं सो गई है ॥१५॥ मोटे और ऊँचे स्तनोंके कारण जिन लम्बे, काले और घने केशोंवाली स्त्रियोंके शरीर

अन्या प्रियेण परिभुक्तमवेक्ष्य गात्रं हर्षान्विता विरचिताधरचारुशोभा ।
कूर्पासकं परिदधाति नखक्षताङ्गी व्यालम्बिनीललितालककुञ्चिताक्षी ।।१७।।
अन्याश्चिरं सुरतकेलिपरिश्रमेण खेदं गताः प्रशिथिलीकृतगात्रयष्टयः ।
संहृष्यमाणपुलकोरुपयोधरान्ता अभ्यञ्जनं विदधति प्रमदाः सुशोभाः ।।१८।।
बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी परिणतबहुशालिव्याकुलग्रामसीमा ।
विनिपतिततुषारःक्रौञ्चनादोपगीतःप्रदिशतु हिमयुक्तः काल एषः सुखं वः ।।१९।।

।। इति महाकविकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे हेमन्तवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ।।

झुक गए हैं, वे अपने सिरसे वह मुरझाई हुई माला उतारे दे रही हैं जिसकी मधुर सुगन्धका आनंद रातमें ले चुकनेपर वे सबेरे फिरसे केश सँवारे डाल रही हैं ॥१६॥ नखोंके घावोंसे भरे अंगोंवाली और लटकती हुई सुन्दर अलकोंसे ढकी आँखोंवाली एक दूसरी स्त्री, अपने प्यारेसे उपभोग किए हुए शरीरको देख-देखकर बड़ी मगन होती हुई अपने अधरोंको फिर पहलेकी नाईं सुन्दर बनाकर अपनी चोली पहनने लगी है ॥ १७ ॥ इसी प्रकार बहुत देरतक संभोग करते-करते जो युवतियाँ थक गई हैं, जिनके कोमल और लचकीले शरीर ढीले पड़ गए हैं और जिनकी जांघों और स्तनोंपर रोमाञ्च हो आया है, वे युवतियाँ बैठी अपने शरीरपर तेल मलवा रही हैं ॥ १८ ॥ भगवान् करे यह हेमन्त ऋतु आपको बहुत सुख दे जो अनेक गुणोंसे मनको मुग्ध करनेवाली है, स्त्रियोंका चित्त लुभानेवाली है, जिसमें गाँवोंके आस-पास पके हुए धानोंके खेत लहलहाते हैं, चारों ओर पाला पड़ता है और सारस बोलते हैं ॥ १९ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें हेमन्त वर्णन
नामका चौथा सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

शिशिरवर्णनम्

प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षितिं क्वचित्स्थितक्रौञ्चनिनादराजितम् ।
प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु ॥ १ ॥
निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः ।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥ २ ॥
न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला जनस्य चित्तं रमयन्ति सांप्रतम् ॥ ३ ॥
तुषारसंघातनिपातशीतलाः शशाङ्कभाभिः शिशिरीकृताः पुनः ।
विपाण्डुतारागणचारुभूषणा जनस्य सेव्या न भवन्ति रात्रयः ॥ ४ ॥
गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः ।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥ ५ ॥
कृतापराधान्बहुशोऽभितर्जितान्सवेपथून्साध्वसलुप्तचेतसः ।
निरीक्ष्य भर्तॄन्सुरताभिलाषिणः स्त्रियोऽपराधान्समदा विसस्मरुः ॥ ६ ॥
प्रकामकामैर्युवभिः सुनिर्दयं निशासु दीर्घास्वभिरामिताश्चिरम् ।
भ्रमन्ति मन्दं श्रमखेदितोरवः क्षपावसाने नवयौवनाः स्त्रियः ॥ ७ ॥

पाँचवाँ सर्ग

शिशिरका वर्णन

अरी सुन्दर जाँघोंवाली ! सुनो जिस ऋतुमें धान और ईखके खेत लहलहा उठते हैं, जिसमें कभी-कभी सारसकी बोली भी गूँज जाती है और काम भी बहुत बढ़ जाता है, वह स्त्रियोंकी प्यारी शिशिर ऋतु अब आ पहुँची है ॥१॥ आजकल लोग अपने घरोंके भीतर खिड़कियाँ बन्द करके, आग तापकर, धूप खाकर, मोटे-मोटे कपड़े पहनकर और युवती स्त्रियोंसे लिपटकर अपने दिन बिताते हैं ॥२॥ इन दिनों न किसीको चन्द्रमाकी किरणोंसे ठंढाया हुआ चन्दन ही अच्छा लगता, न शरत्‌के चन्द्रमाके समान निर्मल छतें ही सुहातीं और न घनी ओससे ठंढा बना हुआ वायु ही मनको भाता ॥३॥ इन दिनों घने पालेसे कड़कड़ाते जाड़ोंवाली, चन्द्रमाकी किरणोंसे और भी ठंडी बनी हुई तथा पीले-पीले तारोंवाली रातोंमें कोई भी घरसे बाहर नहीं निकलता ॥४॥ फूलोंके आसव पीनेसे जिनका कमल-जैसा मुँह सुगन्धित हो उठा है वे स्त्रियाँ अब पान घुलाकर, फुलेल लगाकर और मालाएँ पहनकर, काले अगरके धुएँसे महकनेवाले अपने शयन-घरोंमें बड़े चावसे चली जा रही हैं ॥५॥ मदमाती स्त्रियोंने अपने जिन पतियोंको अपराध करनेपर डाँटा-फटकारा था, वे जब काँपते हुए और डरसे घबराए हुए उनके पास संभोग करनेके लिये आते हैं तब उन्हें देखते ही वे स्त्रियाँ उनका सब अपराध भूलकर उनसे संभोग करने लगती हैं ॥६॥ जिन नवयुवतियोंने युवकोंके साथ आजकलकी लम्बी रातोंमें बहुत देरतक जी भरकर और कसकर संभोगका आनन्द लूटा है, वे स्त्रियाँ, रातके परिश्रमसे दुखती हुई जाँघोंके कारण प्रातःकाल बड़े धीरे-धीरे चल पा रही हैं ॥७॥

मनोज्ञकूर्पासकपीडितस्तनाः सरागकौशेयकभूषितोरवः ।
निवेशितान्तः कुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागमं स्त्रियः ॥ ८ ॥
पयोधरैः कुंकुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः ।
विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः ॥ ९ ॥
सुगन्धिनिःश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम् ।
निशासु हृष्टा सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ॥१०॥
अपगतमदरागा योषिदेका प्रभाते कृतनिविडकुचाग्रा पत्युरालिङ्गनेन ।
प्रियतमपरिभुक्तं वीक्षमाणा स्वदेहं व्रजति शयनवासाद्वासमन्यं हसन्ती ॥११॥
अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं गलितकुसुममालं कुञ्चिताग्रं वहन्ती ।
त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभाम् ॥१२॥
कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिषक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः ।
उषसि वदनबिम्बैरंससंसक्तकेशैः श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिता योषितोऽद्य ॥१३॥
पृथुजघनभरार्ताः किञ्चिदानम्रमध्याः स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः ।
सुरतसमयवेषं नैशमाशु प्रहाय दधति दिवसयोग्यं वेशमन्यास्तरुण्यः ॥१४॥
नखपदचितभागान्वीक्षमाणाः स्तनान्तानधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः ।
अभिमतरतवेष नन्दयन्त्यस्तरुण्यः सवितुरुदयकाले भूषयन्त्याननानि ॥१५॥

सुन्दर चोलियोंसे अपने स्तन कसे हुए, जाँघोंपर रेशमी साड़ियाँ लपेटे हुए और कानोंमें फूल गूंथे हुए स्त्रियाँ ऐसी लग रही हैं मानो वे जाड़ेके स्वागतका उत्सव मनानेके लिये सिंगार किए डाल रही हों ॥८॥ इन दिनों प्रेमी लोग, केसरसे रँगे हुए लाल स्तनोंवाली और सुखसे लूटी जा सकनेवाली जवानीकी गर्मीसे भरी हुई कामिनियोंको कस कसकर छातीसे लिपटाए हुए जाड़ा भगाकर सोते हैं ॥९॥ इन दिनों स्त्रियाँ बड़े हर्षसे अपने प्रेमियोंके साथ रातको वह रुचिकर, बढ़िया, मद बहानेवाली और काम-वासना जगानेवाली मदिरा पीती हैं, जिसमें पड़े हुए कमल, उन कामिनियोंकी सुगंधित साँससे बराबर हिलते रहते हैं ॥१०॥ देखो ! प्रातःकाल होनेपर एक स्त्री अपने प्रियतमके द्वारा उपभोग किए हुए अपने शरीरको देखती हुई अपने शयन-घरसे दूसरे घरमें बढ़ी चली जा रही है । इस समय इसके मुखपर मदकी लाली भी नहीं रह गई है और पतिकी छातीसे लगे रहनेके कारण उसके स्तनोंकी घुण्डियाँ भी कड़ी हो गई हैं ॥११॥ एक दूसरी भारी नितम्बवाली, गहरी नाभिवाली, लचकदार कमरवाली और मनभावनी सुन्दरतावाली स्त्री, अगरके धुएँमें बसी हुई अपनी बिना मालावाली घनी घुंघराली लटें हाथमें थामे प्रातःकाल पलँग छोड़कर उठ रही है ॥१२॥ इन दिनों प्रातःकालके समय स्त्रियोंके, सुन्दर लाल-लाल ओठोंवाले, लाल कोरोंसे सजी हुई बड़ी-बड़ी आँखोंवाले, कन्धोंपर फैले हुए बालोंवाले और सुनहले कमलके समान चमाचम चमकनेवाले गोल-गोल मुखोंको देखकर ऐसा लगता है मानो घर-घरमें लक्ष्मी ही लक्ष्मी आई बसी हुई हों ॥१३॥ अपने मोटे नितम्बोंके बोझसे दुखी, अपने स्तनोंके बोझसे झुकी हुई कमरवाली और थकानके कारण बहुत धीरे-धीरे चलनेवाली बहुत-सी स्त्रियाँ रातके संभोगवाले वस्त्र उतार उतारकर दिनमें पहननेके कपड़े पहने ले रही हैं ॥१४॥ अपने प्यारेके नखोंके घावोंसे भरी अपनी छाती देखती हुई, प्यारेके दाँतोंसे काटे हुए अपने कोंपलोंके समान कोमल अधरोंको छूती हुई और इस

प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः प्रबलसुरतकेलिर्जातकन्दर्पदर्पः ।
प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुः शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम् ॥१६॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासविरचिते ऋतुसंहारकाव्ये शिशिरवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥

प्रकार अपने मनचाहे संभोगके वेशपर खिलखिलाती हुई स्त्रियाँ प्रातःकाल अपने मुँह सजाए ले रही हैं ॥१५॥ जिस शिशिर ऋतुमें मिठाइयाँ बहुतायतसे मिलती हैं, स्वाद लगनेवाले चावल और ईख चारों ओर फैले सुहाते हैं, लोग बहुत जमकर संभोग करते हैं, कामदेव भी पूरे वेगसे बढ़ जाता है और प्यारोंके बिना अकेले दिन काटनेवाले लोग मन मसोसकर रह जाते हैं, वह शिशिर ऋतु आप लोगोंका भला करे ॥१६॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें शिशिर ऋतुका
वर्णन नामका पाँचवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ षष्ठः सर्गः ॥

वसन्तवर्णनम्

प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः ।
मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥ १ ॥

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥ २ ॥

ईषत्तुषारैः कृतशीतहर्म्यः सुवासितं चारुशिरश्च चम्पकैः ।
कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः ॥ ३ ॥

वापीजलानां मणिमेखलानां शशाङ्कभासां प्रमदाजनानाम् ।
चूतद्रुमाणां कुसुमान्वितानां ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः ॥ ४ ॥

कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम् ।
तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥ ५ ॥

कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्ति प्रमदाजनानाम् ॥ ६ ॥

स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्राः भुजेषु सङ्गं वलयाङ्गदानि ।
प्रयान्त्यनङ्गातुरमानसानां नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्च्यः ॥ ७ ॥

छठा सर्ग

वसन्तका वर्णन

लो प्यारी ! फूले हुए आमकी मञ्जरियोंके पैने बाण लेकर और अपने धनुष्पर भौंरोंकी पाँतोंकी डोरी चढ़ाकर यह वीर वसन्त संभोग करनेवाले रसिकोंको बेधने आ पहुँचे हैं ॥१॥ देखो प्यारी ! वसन्तके आते ही सब वृक्ष फूलोंसे लद गए हैं, जलमें कमल खिल गए हैं, स्त्रियाँ मतवाली हो चली हैं, वायुमें सुगन्ध आने लगी है, साँझें सुहावनी हो चली हैं और दिन लुभावने हो गए हैं। सचमुच सुन्दर वसन्तमें सब कुछ सुहावना ही सुहावना लगने लगता है ॥२॥ वसन्तमें घरोंकी छतोंपर ठंढी ओस छा गई है, चम्पेके फूलोंसे सबके जूड़े महकने लगे हैं और स्त्रियाँ भी अपने स्तनोंपर मनोहर फूलोंकी मालाएँ पहनने लगी हैं ॥३॥ वसन्तके आनेसे बावड़ियोंका जल, मणियोंसे जड़ी करधनियाँ, चाँदनी, स्त्रियाँ और मञ्जरीसे लदी आमोंकी डालें सबकी सब और भी सुहावनी लगने लगी हैं ॥४॥ कामिनियोंने अपने गोल-गोल नितम्बोंपर कुसुमके लाल फूलोंसे रँगी रेशमी साड़ी उठा पहनी है और स्तनोंपर केशरमें रँगी हुई महीन कपड़ेकी चोली पहन ली है ॥५॥ स्त्रियोंके कानोंमें लटके हुए सजीले कनैरके फूल बडे सुहावने दिखाई पड़ रहे हैं और उनकी चंचल, काली, घुँघराली लटोंमें अशोकके फूल और नव-मल्लिकाकी खिली हुई कलियाँ बड़ी सुहावनी लगने लगी हैं ॥६॥ अपने प्रेमीसे संभोग करनेको उतावली नारियोंने अपने स्तनोंपर धौले चन्दनसे भींगे हुए मोतीके हार उठा पहने हैं, हाथोंमें भुजबन्ध और कंगन डाल लिए हैं और

सपत्रलेखेषु विलासिनीनां वक्त्रेषु हेमाम्बुरुहोपमेषु ।
रत्नान्तरे मौक्तिकसङ्गरम्यः स्वेदागमो विस्तरतामुपैति ॥ ८ ॥

उच्छ्वासयन्त्यः श्लथबन्धनानि गात्राणि कंदर्पसमाकुलानि ।
समीपवर्तिष्वधुना प्रियेषु समुत्सुका एव भवन्ति नार्यः ॥ ९ ॥

तनूनि पाण्डूनि मदालसानि मुहुर्मुहुर्जृम्भणतत्पराणि ।
अङ्गान्यनङ्गः प्रमदाजनस्य करोति लावण्यससंभ्रमाणि ॥१०॥

छायां जनः समभिवाञ्छति पादपानां नक्तं तथेच्छति पुनः किरणं सुधांशोः ।
हर्म्यं प्रयाति शयितुं सुखशीतलं च कान्तां च गाढमुपगूहति शीतलत्वात् ॥११॥

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु ।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनङ्गो बहुधा स्थितोऽद्य ॥१२॥

अङ्गानि निद्रालसविभ्रमाणि वाक्यानि किंचिन्मदिरालसानि ।
भ्रूक्षेपजिह्मानि च वीक्षितानि चकार कामः प्रमदाजनानाम् ॥१३॥

प्रियङ्गुकालीयककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः ।
आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभियुक्तम् ॥१४॥

गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि ।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः ॥१५॥

अपने नितम्बोंपर करधनी बाँध ली है ॥७॥ सुनहरे कमलके समान सुहावने और बेलबूटोंसे चीते हुए स्त्रियोंके मुखोंपर फैली हुई पसीनेकी बूँदें ऐसी दिखाई पड़ती हैं मानो अनेक प्रकारके रत्नोंके बीच बहुतसे मोती ला जड़े गए हों ॥८॥ कामवासनासे पीड़ित स्त्रियाँ अपने प्रेमियोंके सामने अंग उघाड़ती हुई उन्हें ललचा भी रही हैं और अपनी अधीरता भी दिखा रही हैं ॥९॥ इन विनों स्त्रियोंमें इतनी कामवासना भर आती है कि उनके अंग दुबले, पतले और पीले पड़ जाते हैं, वे मदसे अलसाई-सी हो जाती हैं, बार-बार जँभाइयाँ लेती हैं और उनके सारे शरीरमें कुछ अनोखा ही रसीलापन आ जाता है ॥१०॥ इन दिनों लोग दिनमें तो वृक्षोंकी शीतल छायामें रहना चाहते हैं, रातमें चन्द्रमाकी किरणोंका आनन्द लेना चाहते हैं, सोनेके लिये सुहावनी ठंडी कोठीमें पहुँच जाते हैं और थोड़ी-थोड़ी ठंड पड़नेके कारण अपनी प्यारियोंको कसकर छातीसे लिपटाए रहते हैं ॥११॥ इन दिनों कामदेव भी स्त्रियोंकी मदमाती आँखोंमें चञ्चलता, उनके गालोंमें पीलापन, स्तनोंमें कठोरता, कमरमें गहरापन और नितम्बोंमें मोटापा बनकर आ बैठता है ॥१२॥ कामसे स्त्रियाँ अलसा जाती हैं, मदसे उनका चलमा-बोलना भी कठिन हो जाता है और टेढ़ी भौंहोंसे उनकी चितवन बड़ी कँटीली जान पड़ने लगती है ॥१३॥ मदसे अलसाई हुई रसीली स्त्रियाँ प्रियङ्गु, कालीयक और केसरके घोलमें कस्तूरी मिलाकर अपने गोरे-गोरे स्तनोंपर चन्दनका लेप कर रही हैं ॥१४॥ इन दिनों कामदेवके मदमें अलसाई हुई स्त्रियाँ अपने मोटे वस्त्र उतार-उतारकर महावरसे रँगे और कालागुरुके धुँएसे सुगन्धित महीन कपड़े पहनने लगीं हैं ॥१५॥ देखो ! यह नर कोयल

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः।
कूजद्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु ॥१६॥

ताम्रप्रवालस्तबकावनम्राश्चूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः।
कुर्वन्ति कामं पवनावधूताः पर्युत्सुकं मानसमङ्गनानाम् ॥१७॥

आमूलतो विद्रुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम् ॥१८॥

मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवालाः।
कुर्वन्ति कामिमनसां सहसोत्सुकत्वं बालातिमुक्तलतिकाः समवेक्ष्यमाणाः ॥१९॥

कान्तामुखद्युतिजुषामचिरोद्गतानां शोभां परां कुरबकद्रुममञ्जरीणाम्।
दृष्ट्वा प्रिये सहृदयस्य भवेन्न कस्य कंदर्पबाणपतनव्यथितं हि चेतः ॥२०॥

आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुताऽवधूतैः सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः।
सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः ॥२१॥

किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न भिन्नं किं कर्णिकारकुसुमैर्न कृतं नु दग्धम्।
यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभिर्यूनां मनः सुवदनानिहितं निहन्ति ॥२२॥

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः।
लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥२३॥

आमकी मञ्जरियोंके रसमें मद-मस्त होकर अपनी प्यारीको बड़े प्रेमसे प्रसन्न होकर चूमे जा रहा है। कमलपर बैठकर गुनगुनाता हुआ यह भौंरा भी अपनी प्यारीका मनचाहा काम किए डाल रहा है ॥१६॥ लाल-लाल कोंपलोंके गुच्छोंसे झुके हुए और सुन्दर मञ्जरियोंसे लदी हुई शाखाओंवाले आमके पेड़ जब पवनके झोंकेमें हिलने लगते हैं तब उन्हें देख-देखकर स्त्रियोंके मन भी उछलने लगते हैं ॥१७॥ अशोकके जिन वृक्षोंमें कोंपलें फूट निकली हैं और जिनमें मूँगे-जैसे लाल-लाल फूल नीचेसे ऊपरतक खिल आए हैं, उन अशोकके वृक्षोंको देखते ही नवयुवतियोंके हृदयमें शोक होने लगता है ॥१८॥ जिन छोटी-छोटी अतिमुक्त लताओंके फूलोंको मतवाले भौंरे चूसे जा रहे हैं और जिनके नये कोमल पत्ते मन्द-मन्द पवनमें झूल रहे हैं, उन्हें देख-देखकर कामिनियोंका मन अचानक डाँवाँडोल हो जाता है ॥१९॥ देखो प्यारी ! अभी खिले हुए और स्त्रियोंके मुखके समान सुन्दर लगनेवाले कुरबकके फूलोंकी अनोखी शोभा देखकर किस रसिकका मन कामदेवके बाणसे घायल नहीं हो जाता ? ॥२०॥ वसन्तके दिनोंमें पवनके झोंकेसे हिलती हुई जिन पलासके वृक्षोंकी फूली हुई शाखाएँ जलती हुई आगकी लपटोंके समान दिखाई देती हैं, उन पलासके जंगलोंसे ढकी हुई पृथ्वी ऐसी लग रही है मानो लाल साड़ी पहने हुए कोई नई दुलहिन आई बैठी हो ॥२१॥ अपनी प्यारियोंके मुखड़ोंपर रीझे हुए प्रेमियोंके हृदयको सुग्गेकी ठोरके समान लाल टेसूके फूलोंने ही क्या कुछ कम टूक-टूक कर रक्खा था या कनैरके फूलोंने ही क्या कुछ कम जला रक्खा था कि यह नर कोयल भी अपनी मीठी कूक सुना-सुनाकर उन्हें और मार डालनेको उतारू हो बैठा है ॥२२॥ मगन होकर मीठे स्वरमें कूकनेवाले नर कोयलोंने और मस्तीसे गूँजते हुए भौंरोंने सती स्त्रियोंके लाज और मर्यादा-भरे हृदयोंको भी थोड़ी देरके लिये झकझोर डाला है ॥२३॥

आकम्पयन्कुसुमिताः सहकारशाखा विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु ।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते ॥२४॥
कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातैरुद्द्योतितान्युपवनानि मनोहराणि ।
चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥२५॥
आलम्बिहेमरसनाः स्तनसक्तहाराः कंदर्पदर्पशिथिलीकृतगात्रयष्टयः ।
मासे मधौ मधुरकोकिलभृङ्गनादैर्नार्यो हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम् ॥२६॥
नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्तान्हृष्टान्यपुष्टनिनादकुलसानुदेशान् ।
शैलेयजालपरिणद्धशिलातलान्तान्दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः ॥२७॥
नेत्रे निमीलयति रोदितियाति शोकं घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः ।
कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्तिर्दृष्ट्वाऽध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान् ॥२८॥
समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः ।
इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां तुदति कुमुममासो मन्मथोद्दीपनाय ॥२९॥
रुचिरकनककान्तीन्मुञ्चतः पुष्पराशीन्मृदुपवनविधूतान्पुष्पिताँश्चूतवृक्षान् ।
अभिमुखमभिवीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मार्गे मदनशरनिघातैर्मोहमेति प्रवासी ॥३०॥
परभूतकलगीतैर्ह्लादिभिः सद्वचांसि स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।
करकिसलयकान्ति पल्लवैर्विद्रुमाभैरुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ॥३१॥

वसन्तमें पाला तो पड़ता ही नहीं है, इसलिये आजकल मञ्जरियोंसे लदी आमकी डालोंको हिलानेवाला और कोयलके संदेशोंको चारों ओर फैलानेवाला सुन्दर वसन्ती पवन लोगोंका मन हरता हुआ बह रहा है ॥२४॥ कामिनियोंकी मस्तानी हँसीके समान उजले कुन्दके फूलोंसे चमकते हुए मनोहर उपवन जब मोह-मायासे दूर रहनेवाले मुनियोंतकका मन हरे ले रहे हैं तब नवयुवकोंके प्रेमी हृदयकी तो बात ही क्या है ? ॥२५॥ चैतमें जब नर कोयलकी कूक सुनाई देने लगती है, भौंरे गूंजने लगते हैं, उस समय कमरमें सोनेकी करधनी बाँधे, स्तनोंपर मोतीके हार लटकाए और कामकी उत्तेजनासे ढीले शरीरवाली स्त्रियाँ बलपूर्वक लोगोंका मन अपनी ओर खींचे लेती हैं ॥२६॥ जिन पर्वतोंकी चोटियोंके ओर-छोरपर सुन्दर फूलोंके पेड़ खड़े हैं, जिनपर कोयलोंकी कूक और भौंरोंकी गूंज सुनाई दे रही है और जिनपर इधर-उधर चट्टानें फैली पड़ी हुई हैं, उन पथरीले पहाड़ोंको देख-देखकर सबको बड़ा आनन्द मिलता है ॥२७॥ अपनी स्त्रियोंसे दूर रहनेके कारण जिनका जी बेचैन हो रहा है, वे यात्री जब मञ्जरियोंसे लदे हुए आमके पेड़ोंको देखते हैं तब अपनी आँखें बन्द करके रोते हैं, पछताते हैं, अपनी नाक बन्द कर लेते हैं कि कहीं मञ्जरियोंकी भीनी-भीनी महक नाकमें पहुँचकर स्त्रीकी याद न दिला दे और फूट-फूटकर रोने लगते हैं ॥२८॥ कोयल और मदमाते भौंरोंके स्वरोंसे गूंजनेवाले बौरे हुए आमके पेड़ोंसे भरा हुआ यह वसन्त मनोहर कनैरके फूलोंवाले अपने पैने बाणोंसे मानिनी स्त्रियोंके मन इसलिये बींधे डाल रहा है कि उनमें प्रेम जग जाय ॥२९॥ परदेसमें पड़ा हुआ यात्री एक तो यों ही बिछोहसे दुबला-पतला हुआ रहता है तिसपर जब वह मन्द-मन्द बहनेवाले पवनके झोंकेसे हिलते हुए और सुन्दर सुनहले बौर गिरानेवाले, बौरे हुए आमके वृक्षोंको अपने सामने मार्गमें देखता है तब तो वह कामदेवके बाणोंकी चोट खाकर मूर्छित ही होकर गिर पड़ता है ॥३०॥ इस समय जी हुलसानेवाले कोकिलके गीत सुना सुनाकर यह वसन्त सभी सुन्दरियोंकी रसभरी बातोंकी खिल्ली

कनककमलकान्तैराननैः पाण्डुगण्डैरुपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः ।
मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्मुनीन्द्रान्स्तनभरनतनार्यः कामयन्ति प्रशान्तान् ॥३२॥

मधुसुरभि मुखाब्जं लोचने लोध्रताम्रे नवकुरबकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः ।
गुरुतरकुचयुग्मं श्रोणिबिम्बं तथैव न भवति किमिदानीं योषितां मन्मथाय ॥३३॥
आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां वातैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः ।
उत्कूजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गीतनादैः ॥३४॥
रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः पुँस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः ।
मत्तालियूथविरुतं निशि सीधुपानं सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥३५॥

रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः ।
चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृङ्गारदीक्षागुरुः
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मङ्गलम् ॥३६ ॥

मलयपवनविद्धः कोकिलालापरम्यः
सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्धप्रबन्धः ।
विविधमधुपयूथैर्वेष्ट्यमानः समन्ता-
द्भवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय ॥३७॥

उड़ा रहा है। अपने कुन्दके फूलोंकी चमक दिखाकर यह वसन्त स्त्रियोंकी मुसकानपर चमक उठनेवाले दाँतोंकी दमककी हँसी उड़ा रहा है और मूंगे-जैसी लाल-लाल कोमल पत्तोंकी ललाई दिखाकर कामिनियोंकी कोंपलों-जैसी कोमल और लाल हथेलियोंको लजा रहा है ॥३१॥ स्तनोंके बोझसे झुकी हुई स्त्रियाँ अपने स्वर्ण कमलके समान सुनहरे गालोंवाले मुँहसे, गीले चन्दनसे पुते और मोतियोंके हार पड़े हुए स्तनसे और मतवाली चंचलता-भरी चितवनसे, शान्त चित्तवाले तपस्वियोंका मन भी डिगाए डाल रही हैं ॥३२॥ आसवसे महकता हुआ स्त्रियोंका कमलके समान मुख, लोध-जैसी उनकी लाल-लाल आँखें, नए कुरबकके फूलोंसे सजे हुए उनके सुन्दर जूड़े, उनके बड़े-बड़े गोल-गोल स्तन और वैसे ही बड़े-बड़े गोल-गोल नितम्ब क्या लोगोंके मनमें कामदेवको नहीं जगा रहे हैं ? ॥३३॥ बौरे हुए आमके पेड़ोंमें बसे हुए पवनसे मदमस्त कोकिलकी कूकसे और भौंरोंकी मनभावनी गुंजारोंसे तो बड़ी-बड़ी मनस्विनी स्त्रियोंतकके मन भी डिग जाते हैं ॥३४॥ लुभावनी साँझें, छिटकी हुई चाँदनी, कोयलकी कूक, सुगन्धित पवन, मतवाले भौंरोंकी गुंजार और रातमें आसव पीना, ये सब कामदेवको जगाए रखनेवाले रसायन ही तो हैं ॥३५॥ अमृत-भरे अधरोंके समान लाल अशोकसे मतवाले भौंरोंकी गूँजसे दाँतोंकी चमकती हुई पाँतों-जैसे उजले कुन्दके हारोंसे भली-भाँति खिले हुए कमलके समान मुखोंसे और आमके बौरोंकी सुगन्धमें बसे हुए मन्द-मन्द पवनसे यह शृंगारकी शिक्षा देनेवाला और कामका मित्र वसन्त आप लोगोंको सदा प्रसन्न रक्खे ॥३६॥ मलयके वायुवाला, कोकिलकी कूकसे जी लुभानेवाला, सदा सुगन्धित मधु बरसानेवाला और चारों ओर भौरोंसे घिरा हुआ वसन्त आपको सुखी और प्रसन्न रक्खे ॥३७॥ आमके बौर ही जिनके बाण हैं, टेसू के फूल ही धनुष् हैं, भौंरोंकी पाँत ही डोरी है,

आम्री मञ्जुलमञ्जरी वरशरः सत्किशुकं यद्धनु-
र्ज्या यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम्।
मत्तेभो मलयानिलः परभृता यद्बन्दिनो लोकजि-
त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥३८॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासविरचिते ऋतुसंहारकाव्ये वसन्तवर्णनं नाम षष्ठः सर्ग

मलयाचलसे आया हुआ पवन ही मतवाला हाथी है, कोयल ही गायक है और शरीर न रहते भी जो सारे संसारको जीते बैठा है, वह कामदेव अपने साथी वसन्तके साथ आप कल्याण करें ॥३८॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें वसन्त-वर्णन
नामका छठा सर्ग पूर्ण हुआ ॥

॥ ऋतुसंहार काव्य पूर्ण हुआ ॥

द्वितीयं खण्डम्

(दूसरा खण्ड)

महाकविश्रीकालिदासस्य नाटकानि

[महाकवि श्रीकालिदासके नाटक]

* * *

॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ॥

(नाटकम्)

[नाटककी कथा इतिहास-प्रसिद्ध होती है, उसका नायक उदात्त, धीर गंभीर, प्रतापी, उत्साही राजा, राजर्षि, देवता या दिव्यादिव्य पुरुष होता है, उसके चार या पाँच कार्य-सहायक होते हैं । नाटकमें पाँचसे दस अंकतक होते हैं । पाँचसे अधिक अंकोंवाले नाटकको महानाटक कहते हैं । नाटककी रचना गौकी पूँछकी तरह हो, अर्थात् अंक उत्तरोत्तर छोटे होते चलते हैं । निर्वहण या अन्त अद्भुत ढंगसे होता है । यह कथा महाभारतसे ली गई है किन्तु उसके इतिवृत्तका नाटकीय संविधानक कालिदासने अपने कौशलसे बनाया है ।]

पात्र-परिचयः

पुरुषाः—

सूत्रधारः—**नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता** (नाटकका प्रबन्धकर्त्ता)
दुष्यन्तः—**हस्तिनापुरस्य सम्राट्** (हस्तिनापुरका सम्राट्)
भद्रसेनः—**सेनापतिः ।**
माढव्यः—**विदूषकः ।**
सर्वदमनः—**दुष्यन्तस्य पुत्रः [भरतः]** (दुष्यन्तका पुत्र भरत)
सोमरातः—**राज्ञः धर्मगुरुः ।** (राजाका धर्मगुरु)
रैवतकः—**दौवारिकः ।** (द्वारपाल)
करभकः— **राजसेवकः ।** (राजसेवक)
पार्वतायनः—**कञ्चुकी ।** (रनिवासका सेवक)
वैतालिकौ—**राजचारणौ ।** (दो चारण)
वैखानसः, शार्ङ्गरवः, — **कण्व ऋषेरन्तेवासिनः ।**
शारद्वतः, हारीतः, गौतमः — (कण्व ऋषिके आश्रमवासी)
श्यामलः—**दुष्यन्तस्य श्यालः, प्रधान राजपुरुषः ।** (दुष्यन्तका साला, कोतवाल)
धीवरः—**मत्स्यग्राही ।** (मछुहारा)
सूचकः, जानुकः—**राजपुरुषौ ।** (सिपाही)
मातलिः—**इन्द्रस्य सारथिः ।** (इन्द्रका सारथी)
मारीचः—(**कश्यपः**) **प्रजापतिः ।** (मरीचिके पुत्र प्रजापति कश्यप)
दुर्वासा—**ऋषिः ।**

स्त्रियः—

नटी— **सूत्रधारस्य पत्नी ।** (सूत्रधारकी पत्नी)
शकुन्तला—**कण्वस्य पालिता कन्या ।** (कण्वकी पालिता कन्या)
अनसूया, प्रियंवदा—**शकुन्तलायाः सख्यौ ।** (शकुन्तलाकी सखियाँ)
गौतमी—**एका तपस्विनी ।** (तपस्विनी)
चतुरिका— — राजसेविकाएँ
परभृतिका—
मधुकरिका— — (मालिनें)
प्रतिहारी, यवनी—**परिचारिके ।** (सेविकाएँ)
सानुमती—**एका अप्सरा ।** (अप्सरा)
अदितिः—**कश्यपस्य पत्नी ।** (कश्यपकी पत्नी)

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

❀ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ❀

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये ! यदि नेपथ्यविधानमवसितम् इतस्तावदागम्यताम्।

(प्रविश्य)

नटी—अज्जउत्त इअं म्हि। आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठिअदुत्ति।
[आर्यपुत्र इयमस्मि। आज्ञापयतु आर्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति।]

प्रथम अङ्क

शिवजी उस जलके रूपमें हमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जिसे ब्रह्माने सबसे पहले बनाया; उस अग्निके रूपमें दिखाई देते हैं जो मंत्र-विधिके साथ दी हुई हवन-सामग्री ग्रहण करती है; उस होताके रूपमें दिखाई देते हैं जिसे यज्ञ करनेका काम मिला हुआ है; उन चन्द्र और सूर्यके रूपमें दिखाई देते हैं जो दिन और रातका समय निश्चित करते हैं; उस आकाशके रूपमें दिखाई देते हैं जिसका गुण शब्द है और जो संसार भरमें रमा हुआ है; उस पृथ्वीके रूपमें दिखाई देते हैं जो सब बीजोंको उत्पन्न करनेवाली बताई जाती है और उस वायुके रूपमें दिखाई देते हैं जिसके कारण सब जीव जी रहे हैं। जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायुके आठ प्रत्यक्ष रूपोंमें जो भगवान् शिव सबको दिखाई देते हैं वे आप लोगोंका कल्याण करें ॥१॥

(मंगलाचरण हो चुकने पर)

सूत्रधार—अब इतना बहुत हो गया। (नेपथ्यकी ओर देखकर) आर्ये ! यदि सजाव-शृंगार पूरा हो चुका हो तो इधर चली आओ।

(प्रवेश करके)

नटी—आ गई आर्यपुत्र ! आज्ञा कीजिए आज कौन-सा नाटक खेला जाय।

सूत्रधारः—आर्ये ! इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत् । अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः ।

नटी—सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्य ण किं वि परिहाबइस्सदि । [सुविहितप्रयोगताऽऽर्यस्य न किमपि परिहापयिष्यते ।]

सूत्रधारः—(सस्मितम्) आर्ये ! कथयामि ते भूतार्थम्—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ २ ॥

नटी—(सविनयम्) अज्ज एवं एदम् । अणन्तरकरणिज्जं दाव अज्जो आणवेदु । [आर्य एवमेतत् । अनन्तरकरणीयं तावदार्य आज्ञापयतु ।]

सूत्रधारः—आर्ये किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रमोदहेतोर्गीतात्करणीयमस्ति ।

नटी—अध कदमं उण उदुं अधिकरिअ गाइस्सम् । [अथ कतमं पुनऋतुं अधिकृत्य गास्यामि ।]

सूत्रधारः—आर्ये ! नन्विममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम् । सम्प्रति हि—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥ ३ ॥

सूत्रधार—आर्ये ! रस और भावका चमत्कार दिखानेवाले कलाकारोंके आश्रयदाता महाराज विक्रमादित्यकी इस सभाको आज विशेष रूपसे बड़े-बड़े विद्वानोंने सुशोभित किया है इसलिये इन्हें कालिदासका नया रचा हुआ अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक ही दिखाना चाहिए । तो जाकर सब पात्रोंको ठीक-ठाक कर डालो !

नटी—आपने तो पहलेसे ही सबको ऐसा अच्छा सिखाकर पक्का कर दिया है कि कोई उँगली नहीं उठा सकता ।

सूत्रधार—(मुस्कराकर) आर्ये ! सच्ची बात तो यह है कि 'जबतक विद्वान् लोग ही न मान लें कि नाटक बढ़िया है तबतक मैं नाटकको सफल नही समझता क्योंकि पात्रोंको चाहे जितने भी अच्छे ढंगसे सिखा दिया जाय फिर भी मनको पूरा सन्तोष नहीं हो पाता ॥ २ ॥

नटी—(विनयके साथ) जी हाँ, यह तो ठीक है आर्ये ! तो आप जो आज्ञा दें वही अब किया जाय ।

सूत्रधार—आर्ये ! इस सभाके सदस्योंके कानोंको आनन्द देनेवाला कोई बढ़िया गीत छेड़नेसे बढ़कर और क्या होगा ।

नटी—तो किस ऋतुपर गीत छेड़ा जाय ।

सूत्रधार—ग्रीष्म ऋतु अभी-अभी आई है और बड़ी सुहावनी भी लग रही है । इसलिये इस समय ग्रीष्म ऋतु पर ही कोई गीत छेड़ सुनाओ । देखो—

इन दिनों नहानेमें जल बड़ा सुहाता है, पाटलमें बसा हुआ वनका पवन भी बड़ा अच्छा लगता है, वृक्षोंकी घनी छायामें नींद भी अच्छी आती है और आजकलकी सन्ध्या तो इतनी सुहावनी होती है कि कुछ पूछो मत ॥३॥

नटी—तह । [तथा] (इति गायति)

ईसीसिचुंबिआइं भमरेहिं सुउमारदरकेसरसिहाइं ।
ओवंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥ ४ ॥
[ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकेसरशिखानि ।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥]

सूत्रधारः—आर्ये ! साधु गीतम् । अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः । तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः ।

नटी—णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउन्दलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदत्ति । [नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति ।]

सूत्रधारः—आर्ये ! सम्यगनुबोधितोऽस्मि । ननु अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मया । कुतः—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
(कर्णं दत्वा)
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा ॥ ५ ॥

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ इति प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च ।)

नटी—जी अच्छा । (गाती है)

जिन शिरीष-सुमनोंके कोमल केसर-दलकी मधुर शिखाएँ ।
चूम-चूमकर रसमय भौंरे फिर-फिर बैठ-बैठ उड़ जाएँ ।
दया-भावसे उनको चुनकर सहृदयतासे लेकर सत्वर ।
कर्णफूल रचकर कानोंमें पहन रहीं उनको प्रमदाएँ ॥४॥

सूत्रधार—वाह आर्ये वाह ! बहुत बढ़िया गाया । देखो ! तुम्हारे रागसे लोग ऐसे बेसुध हो उठे हैं कि सारी रंगशाला चित्र-लिखी-सी जान पड़ने लगी है । तो अब कौन-सा नाटक दिखाकर इनका मन बहलाया जायगा ।

नटी—आपने ही तो अभी-अभी कहा था न कि अभिज्ञानशाकुन्तल नामका नया नाटक खेला जाय ।

सूत्रधार—ओह, ठीक स्मरण दिलाया आर्ये ! मैं तो भूल ही गया था, क्योंकि—तुम्हारे गीतके मनोहर रागने मेरे मनको बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया—

(कान लगाकर सुनते हुए)

जैसे यह वेगसे दौड़ता हुआ हरिण, राजा दुष्यन्तको यहाँ-तक खींचे ले आया है ॥ ५ ॥

(दोनोंका प्रस्थान)

(प्रस्तावना पूर्ण हुई)

(सारथिके साथ रथपर बैठे हुए धनुष्-बाण-धारी राजा दुष्यन्त, मृगका पीछा करते हुए प्रवेश करते हैं ।)

सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन् !

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥ ६ ॥

राजा—सूत ! दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः । अयं पुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ७ ॥

(सविस्मयम्)—तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः ।

सूतः—आयुष्मन् ! उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः । तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः संवृत्तः । संप्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति ।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् ! (रथवेगं निरूप्य) आयुष्मन् ! पश्य पश्य—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः ।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥८॥

सारथि—(राजा और मृगको देखकर) आयुष्मन् !

इस काले मृगपर आँखें जमाए और धनुष्की डोरी चढ़ाए हुए तो आप ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं मानो मृगके पीछे दौड़ते हुए साक्षात् महादेव ही हों ॥ ६ ॥

राजा—सूत ! यह हरिण तो हमें बहुत दूर खींच लाया है । और अब भी यह—

बार-बार पीछे मुड़कर इस रथको एकटक देखते हुए सुन्दर लगनेवाला यह हरिण बाण लगनेके डरसे अपने पिछले आधे शरीरको सिकोड़कर आगेके भागसे मिलाता हुआ कैसा चौकड़ी भरता चला जा रहा है । थकावटके कारण इसके खुले हुए मुँहसे आधी चबाई हुई कुशा मार्गमें ही गिरती चली जा रही है और देखो ! यह इतनी लम्बी कुलाचें भर रहा है कि इसके पाँव भी धरतीपर नहीं पड़ रहे हैं । ऐसा लगता है मानो यह आकाशमें उड़ा चला जा रहा हो ॥ ७ ॥

(आश्चर्यके साथ) अरे ! हम ठीक इसके पीछे-पीछे लगे चले आ रहे हैं फिर भी हरिण आँखसे ओझल कैसे हो गया ।

सारथि—आयुष्मन् ! ऊँची-नीची भूमिके कारण मैंने रास खींचकर रथका वेग कम कर दिया था, इसीलिये मृग बहुत दूर निकल गया है । पर आगे समथल है, अब आप उसे हाथमें आया ही समझिए ।

राजा—तो करो रास ढीली ।

सारथि—जैसी आयुष्मान्‌की आज्ञा । (रथका वेग देखकर) देखिए आयुष्मान्—

रास ढीलते ही अपने आगेका शरीर फैलाकर और माथेकी चौंरी सीधी खड़ी करके ये घोड़े इतने वेगसे सरपट दौड़ रहे हैं कि इनकी टापोंसे उठी हुई धूल भी इन्हें नहीं छू पा रही है । ऐसा जान पड़ता है मानों ये हरिणकी दौड़से ही होड़ कर रहे हों ॥ ८ ॥

राजा—(सहर्षम्) नूनमतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिनः। तथा हि—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥ ९ ॥

सूत! पश्यैनं व्यापाद्यमानम्। (इति शरसंधानं नाटयति)।

(नेपथ्ये)

भो भो राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

सूतः—(आकर्ण्यावलोक्य च) आयुष्मन्! अस्य खलु ते बाणपातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।

राजा—(ससंभ्रमम्) तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः।

सूतः—तथा। (इति रथं स्थापयति)।

(ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः)

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तुलराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितश्चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥ १० ॥

राजा—(प्रसन्न होकर) सचमुच इन घोड़ोंने तो सूर्य और इन्द्रके घोड़ोंको भी दौड़में पछाड़ डाला है क्योंकि—जो वस्तु दूरसे पतली दिखाई देती थी वह तुरन्त मोटी हो ही जा रही है, जो बीचसे कटी जान पड़ती थी वह झट ऐसी जान पड़ने लगी है मानो उसे किसीने जोड़ दिया हो और जो स्वभावतः टेढ़ी वस्तुएँ हैं वे आँखको सीधी-सी दिखाई देने लगी हैं। रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न तो मुझसे दूर ही पा रही है न समीप ही ॥ ९ ॥

सारथी! लो, देखो, अभी मारे डालता हूँ हरिणको। (बाण चढ़ानेका अभिनय करता है।)

(नेपथ्यमें)

हैं! हैं! राजन्! यह आश्रमका मृग है। इसे मत मारना। मत मारना।

सारथि—(सुनकर और देखकर) आयुष्मन्! जिस काले हरिणपर आप अभी बाण चला रहे हैं उसके बीचमें तो कई तपस्वी आए खड़े हैं।

राजा—(घबराकर) तो रोको घोड़ोंको।

सारथि—अच्छी बात है (रथ खड़ा कर लेता है।)

(दो शिष्यों के साथ वैखानसका प्रवेश।)

वैखानस—(हाथ उठाकर) राजन्! यह आश्रमका मृग है। इसे नहीं मारना होगा! नहीं मारना होगा!

इसपर कभी बाण न चलाइएगा। आपका बाण इसके कोमल शरीरके लिये वैसा ही भयंकर है जैसे रूईके गट्ठेके लिये अग्नि। बताइए, कहाँ तो बेचारे हरिणोंके कोमल प्राण और कहाँ वज्रके समान कठोर आपके नोकीले बाण ॥१०॥

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम् ।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ ११ ॥

राजा—एष प्रतिसंहृतः (इति यथोक्तं करोति ।)

वैखानसः—सदृशमेतत्पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः ।

जन्म यस्य पुरोवंशे युक्तरूपमिदं तव ।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥ १२ ॥

इतरौ—(हस्तमुद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्त्तिनं पुत्रमाप्नुहि ।

राजा—(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतम् ।

वैखानसः—राजन् ! समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम् । एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते । न चेदन्यकार्यातिपातः तत्प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः । अपि च—

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य ।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥ १३ ॥

राजा—अपि संनिहितोऽत्र कुलपतिः ।

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य देवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।

इसलिये यह जो आपने तानकर बाण चढ़ा रक्खा है इसे उतार लीजिए क्योंकि आपके शस्त्र तो पीडितोंकी रक्षाके लिये हैं निरपराधोंको मारनेके लिये नहीं ॥११॥

राजा—लीजिए, उतारे लेता हूँ (बाण उतारता है ।)

वैखानस—आप जैसे पुरुवंशके दीपकको यही शोभा देता है ।

जिसने पुरुवंशमें जन्म लिया हो उसे यही करना ही चाहिए । भगवान् करे आपको ऐसे ही गुणोंवाला चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ॥१२॥

दोनों शिष्य—(हाथ उठाकर) हाँ ! निश्चय ही चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ।

राजा—(प्रणाम करके) आपका आशीर्वाद सिरमाथे ।

वैखानस—राजन् ! हम लोग तो समिधा लेने निकले हैं । यह सामने मालिनी नदीके तीर-पर कुलपति कण्वका आश्रम है । यदि आपके काम-काजमें कोई अड़चन न होती हो तो चलकर अतिथि-सत्कार ग्रहण कर लीजिएगा । और फिर—

वहाँ जब आप देखेंगे कि ऋषि लोग निर्विघ्न होकर सब अपनी-अपनी क्रियाएँ किए जा रहे हैं तब आप जान भी जायेंगे कि धनुष् की डोरीकी फटकारसे बने घट्ठोंवाली आपकी भुजा कहाँ-कहाँ तक पहुँचकर रक्षा किए डाल रही है ॥१३॥

राजा—क्या कुलपति जी हैं यहाँ ?

वैखानस—अभी थोड़ी देर पहले ही अपनी पुत्री शकुन्तलाको अतिथि-सत्कारका काम सौंपकर उसके खोटे ग्रहोंकी शान्तिके लिये सोमतीर्थ चले गए हैं ।

राजा—भवतु, तामेव द्रक्ष्यामि । सा खलु विदितभक्ति मां महर्षेः करिष्यति ।

वैखानसः—साधयामस्तावत् । (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः ।)

राजा—सूत ! तूर्णं चोदयाश्वान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति भूयो रथवेगं निरूपयति ।)

राजा—(समन्तादवलोक्य) सूत ! अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथाऽयमाश्रमाभोगस्तपोवनस्येति ।

सूतः—कथमिव ।

राजा—किं न पश्यति भवान् । इह हि—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥१४॥

अपि च

कुल्याम्भोभिः प्रसृतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन ।
एते चार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्भांकुरायाँ
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥१५॥

सूतः—सर्वमुपपन्नम् ।

राजा—अच्छी बात है । मैं उन्हींसे मिले लेता हूँ । वे ही महर्षिको बता देंगी कि मेरी उनमें कितनी भक्ति है ।

वैखानस—तो हम लोग चलते हैं । (शिष्योंके साथ प्रस्थान)

राजा—सारथी ! घोड़े बढ़ाओ । चलें, पवित्र आश्रमके दर्शनसे आत्मा पवित्र कर लें ।

सारथि—जैसी आयुष्मानकी आज्ञा । (फिर रथको वेगसे दौड़ाता है ।)

राजा—(चारों ओर देखकर) देखो सारथी ! बिना बताए ही जान पड़ने लगा है कि हम आश्रमके तपोवन में पहुँच गए हैं ।

सारथी—जी, कैसे ?

राजा—देख नहीं रहे हो ? यहाँ—

कहीं तो वृक्षोंके तले सुग्गोंके घोसलोंसे गिरे हुए तिन्नीके दाने बिखरे पड़े हैं, कहीं इधर-उधर पड़े हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि इनपर हिंगोटके फल कूटे गए हैं, कहीं निडर खड़े हुए मृग इस विश्वाससे रथका शब्द सुन रहे हैं कि आश्रममें कोई हमें छेड़ेगा नहीं और कहीं नदी-तालाबोंपर आने-जानेकी बटियाओंमें मुनियोंके वल्कलोंके छोरोंसे टपकते हुए जलकी रेखाएँ बनी हुई हैं ॥ १४ ॥

और देखो ! वायुके कारण लहरें लेनेवाली पानीकी गूलोंसे यहाँके वृक्षोंकी जड़ें धुल गई हैं, घीके धुएँसे नई चमकीली कोंपलोंका रंग धुँधला पड़ गया है और जहाँ-जहाँ उपवनसे कुशा उपाड़ ली गई है, वहाँ मृग-छौने निडर होकर धीरे-धीरे चरते चले जा रहे हैं ॥१५॥

सारथी—जी हाँ, यह सब तो अवश्य है ।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा) तपोवननिवासिनामुपरोधो माभूत्। एतावत्येव रथं स्थापय यावदवतरामि।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः अवतरत्वायुष्मान्।

राजा—(अवतीर्य) सूत विनितवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावद् गृह्यताम्। (इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति।) सूत ! यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सूतः—तथा (इति निष्क्रान्तः।)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम् यावत्प्रविशामि।

(प्रविश्य निमित्त सूचयन्)

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१६॥

(नेपथ्ये) इदो इदो सहीओ। [इत इतः सख्यौ]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये ? दक्षिणेन वृक्षावाटिकामालाप इव श्रूयते। यावदत्र गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अये ! एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। (निपुणं निरूप्य) अहो मधुरमासां दर्शनम्-

---

राजा—(कुछ आगे बढ़कर) हम लोगोंके आजानेसे कहीं तपोवन-निवासियोंको कष्ट न हो, इसलिये रथ यहीं रोक लो। मैं उतरा जाता हूँ।

सारथी—लीजिए, मैंने रास खींच ली है। आयुष्मान् उत्तर जायँ।

राजा—(उतरकर) देखो सारथी ! आश्रममें सीधे-सादे वेशसे ही जाना चाहिए। इसलिये तबतक ये सब यहीं रक्खे रहो। (अपने आभूषण और धनुष् उतारकर सारथीको देते हुए) और देखो सारथी ! जबतक हम उधरसे आश्रम-वासियोंसे मिलकर लौटते हैं तबतक तुम भी घोड़ोंको ठंडा कर रक्खो।

सारथी—जी, अच्छा। (प्रस्थान)

राजा—(घूमकर और देखकर) यही तो आश्रमका द्वार जान पड़ता है। इधर से ही भीतर चला चलता हूँ।

(प्रवेश करके अच्छे शकुन देखकर)

इस शान्त तपोवनकी भूमिमें मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़की पड़ रही है। यहाँ भला क्या मिलने-जुलनेवाला है। पर हाँ, जो होनी होती है (वह तो कहीं भी होकर रहती है) उसके द्वार भी सब कहीं होते हैं ॥१६॥

(नेपथ्यमें) अरी सखियो ! इधर आओ, इधर।

राजा—(सुनकर) अरे ! फुलवारीकी दाहिनी ओर किसीकी बातचीत-जैसी सुनाई पड़ रही है। तो इधर ही चला चलता हूँ। (घूमकर और देखकर) आ हा ! ये तपस्वियोंकी कन्याएँ अपने-अपने मेलके घड़े ले-लेकर छोटे-छोटे पौधोंको सींचनेके लिये इधर ही बढ़ी चली आ रही हैं। (ध्यानसे देखकर) ओ हो ! ये तो बड़ी ही सुन्दर हैं—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ १७॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि। (इति विलोकयन्स्थितः।)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला।)

शकुन्तला--इदो इदो सहीओ। [इत इतः सख्यौ]

अनसूया---हला सउन्दले! तुवत्तो वि तादकण्णस्स अस्समरुक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि, जेण णोमालिआकुसुमपेलवा तुमं वि एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता। [हला शकुन्तले! त्वत्तोपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि येन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषामालवालपूरणे नियुक्ता।]

शकुन्तला---ण केवलं तादणिओओ एव्व। अत्थि मे सोदरसिणेहो वि एदेसु। [न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।]

(इति वृक्षसेचनं रूपयति।)

राजा --कथमियं सा कण्वदुहिता। असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् कण्वः य इमामाश्रमधर्मे नियुंक्ते।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति॥ १८॥

भवतु। पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि। (इति तथा करोति।)

रनिवासकी रानियोंमें भी जो सुंदरता कठिनाईसे देखनेको मिलती है वह यदि इन आश्रमवासिनी कन्याओंको मिली है तो यही समझना चाहिए कि जंगलकी लताओंने अपने गुणोंसे उद्यानकी लताओंको भी लजा दिया है ॥१७॥

अच्छा, इनके आनेतक मैं यहीं ओटमें खड़ा हो रहता हूँ। (देखता हुआ खड़ा रहता है।)

(अपनी सखियोंके साथ पौधोंको सींचती हुई शकुन्तलाका प्रवेश।)

शकुन्तला---अरी सखियो! इधर आओ, इधर।

अनसूया---अरी शकुन्तला! मैं तो समझती हूँ कि पिता कण्व इन आश्रमके पौधोंको तुझसे अधिक प्यार करते हैं, नहीं तो भला चमेलीकी कली-जैसे कोमल अंगवाली तुझको वे थाँवले भरनेका काम क्यों सौंप जाते।

शकुन्तला—मैं केवल पिताजीकी आज्ञासे ही इन्हें नहीं सींच रही हूँ, मैं स्वयं भी इन्हें अपने सगे-जैसा प्यार करती हूँ।

(पौधोंमें पानी देनेका नाटच करती है।)

राजा—क्या यही कण्व ऋषिकी कन्या है! पूज्य कण्वकी यह बात सचमुच ठीक नहीं लगती कि इसे भी उन्होंने आश्रमके काममें जोत लगाया है। जो ऋषि इसके सहज सुंदर शरीरको तपस्याके लिये साधना चाह रहे हैं वे सचमुच नीले कमलकी पंखड़ीकी धारसे शमीका पेड़ काटनेपर उतारू हुए बैठे हैं ॥ १८ ॥

अच्छा, तबतक निश्चिन्त होकर वृक्षोंकी ओटसे इसे आँखभर देख तो लेता ही हूँ।

(ऐसा ही करता है।)

शकुन्तला—**सहि अणसूए! अदिपिणद्धेण बक्कलेण पिअंवदाए णिअन्तिदह्मि। सिढिलेहि दाव णं।** [सखि अनसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि। शिथिलय तावदेतत् ।]

अनसूया—**तह।** [तथा] (इति शिथिलयति ।)

प्रियंवदा –(सहासम्) **एत्थ पओहरबित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणं उवालह। मं किं उवालंभेसि।** [अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व । मां किमुपालभसे ।]

राजा—**काममनुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलंकारश्रियं न पुष्यति कुलः—**

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ १९ ॥

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) **एसो वादेरिदपल्लवांगुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ। जाव णं संभावेमि।** [एष वातेरितपल्लवांगुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं संभावयामि ।] (इति परिक्रामति ।)

प्रियंवदा—**हला सउन्दले! एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि।** [हला शकुन्तले ! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यात्स्ववयोपगतया लतासमाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति ।]

शकुन्तला—**अदो क्खु पिअंवदासि तुमं** [अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम् ।]

राजा—**प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा। अस्याः खलु—**

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥ २० ॥

शकुन्तला—सखी अससूया ! इस प्रियंवदाने यह वल्कल ऐसा कसकर बाँध दिया है कि मैं हिलडुल तक नहीं पा रही हूँ। आकर इसे ढीला तो कर दे।

अनसूया—अच्छा (ढीला करती है।)

प्रियंवदा—(हँसते हुए) मुझे क्या उलाहना दिए दे रही हो। अपनी उस चढ़ती जवानीको क्यों नहीं उलाहन देती जो तुम्हारी छाती इतना उभारे चली जा रही है।

राजा—यद्यपि इसका कोमल शरीर वल्कलके योग्य नहीं है, फिर भी इसके शरीरपर वे अलंकारोंके समान ही सुशोभित हो रहे हैं, क्योंकि जैसे सेवारसे घिरा होनेपर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमामें पड़ा हुआ कलंक भी उसकी शोभा ही बढ़ाता है वैसे ही यह सुन्दरी भी वल्कल पहने हुए बड़ी सलोनी दिखाई पड़ रही है। सच्ची बात तो यह है कि सुन्दर शरीरपर भला क्या नहीं शोभा देने लगता ॥ १९ ॥

शकुन्तला—(सामने देखकर) देखो, यह केसरका वृक्ष पवनके झोकोंसे हिलती हुई पत्तियोंकी उँगलियोंसे मुझे बुलाए ले रहा है। चलूं, इसका भी मन रख लूं। (उधर घूमती है।)

प्रियंवदा—अरी शकुन्तला ! क्षणभर वहीं खड़ी तो रह जा। जब तू पेड़से लगकर खड़ी होती है तब यह केसरका वृक्ष ऐसा लगता है जैसे कोई लता लिपटी हुई हो।

शकुन्तला—इन्हीं सब बातोंसे तो तेरा नाम प्रियंवदा पड़ा है।

राजा—प्रियंवदाने शकुन्तलासे बड़ी प्यारी पर सच्ची ही बात तो कही है, सचमुच—

अनसूया--**हला सउन्दले ! इअ सअंवरवहू बालसहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणित्ति णोमालिआ । णं विसुमरिदासि ।** [हला शकुन्तले ! इयं स्वयंवरवधूः बालसहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका एनां विस्मृतासि ।]

शकुन्तला—**तदा अताणं वि विसुमरिस्सं ।** (लतामुपेत्यावलोक्य च) **हला ! रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स बइअरो संवुत्तो । णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी बद्ध फलदाए उवभोअक्खमो सहआरो ।** [तदा आत्मानमपि विस्मरिष्यामि । हला, रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः । नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः ।] (इति पश्यन्ती तिष्ठति ।)

प्रियंवदा—(सस्मितम्) **अणसूए ! जाणासि किं णिमित्तं सउन्दला वणजोसिणं अदिमेत्तं पेक्खदित्ति ?** [अनसूये ! जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं प्रेक्षत इति ?]

अनसूया—**ण क्खु विभावेमि । कहेहि ।** [न खलु विभावयामि । कथय ।]

प्रियंवदा—**जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअंत्ति ।** [यथा वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन संगता अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति ।

शकुन्तला—**एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो ।** [एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः]

(इति कलशमावर्जयति ।)

इसके लाल-लाल ओठ लताकी कोंपलों-जैसे लगते हैं, दोनों भुजाएँ कोमल-शाखाओं-जैसी जान पड़ती हैं और इसके अंगोंमें खिला पड़ता हुआ मया यौवन लुभावने फूलके समान दिखाई दे रहा है ॥ २० ॥

अनसूया—शकुन्तला, यह वही नई चमेली है न, जिसने आमके वृक्षसे स्वयंवर कर लिया है और जिसका नाम तूने वनज्योत्स्ना (वनकी चाँदनी) रख छोड़ा है । इसे तो तू भूले ही चली जा रही थी ।

शकुन्तला—वाह ! इसे भूलूँगी तब तो मैं अपनेको भी भूल जाऊँगी, (लताके पास जाकर और देखकर) सखी, सचमुच इस लता और वृक्षका मेल बड़े अच्छे दिनोंमें हुआ है । इधर यह वनज्योत्स्ना खिले हुए फूल लेकर नवयौवना हुई खड़ी है, उधर फलसे लदी हुई शाखाओंवाला आमका वृक्ष भी उभारपर आया हुआ है । (उसे देखती हुई खड़ी रह जाती है ।)

प्रियंवदा—(मुस्कराकर) अनसूया ! जामती हो यह शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्योत्स्नाको क्यों देख रही है ?

अनसूया—नहीं सखी ! मैं तो नहीं जानती, तू ही बता डाल ।

प्रियंवदा—देख यह सोच रही है कि जैसे यह वनज्योत्स्ना अगने योग्य वृक्षसे जा लिपटी है वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर मिल जाय ।

शकुन्तला—यह तो तू अपने मनकी बात कहे डाल रही है ।

[घड़ेका जल पेड़की जड़में छोड़ती है ।]

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्। अथवा कृतं संदेहेन।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ २१ ॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) अम्मो! सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमलिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ। [अम्मो! सलिलसेकसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते।] (इति भ्रमरबाधां रूपयति।)

राजा—(सस्पृहम्)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥ २२ ॥

शकुन्तला—ण एसो दुट्ठो विरमदि। अण्णदो गमिस्सं (पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदो वि आअच्छदि। हला परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण महुअरेण अहिहूअमाणं। [न एष दुष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति। हला परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेण अभिभूयमानाम्।]

उभे—(सस्मितम्) का वअं परित्तादुं। दुस्सन्दं एव्व अक्कन्द। राअरक्खिदव्वाइं तवोवणाइं णाम। [के आवां परित्रातुम्। दुष्यन्तमेवाक्रन्द। राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम।]

राजा—यह ऋषिकी कन्या कहीं दूसरे वर्णकी स्त्रीसे तो नहीं उत्पन्न हुई है। पर सन्देह किया ही क्यों जाय। क्योंकि—

जब मेरा भी शुद्ध मन इसपर रीझ उठा है तब यह निश्चय है कि इसका क्षत्रियसे विवाह हो सकता है। क्योंकि सज्जनोंके मनमें जिस बातपर शंका हो वहाँ जो कुछ उनका मन कहे वही ठीक मान लेना चाहिए ॥२१॥

फिर भी मैं इसे ठीक-ठीक जाननेका प्रयत्न करता हूँ।

शकुन्तला—(घबराकर) अरे रे, जल पड़नेसे घबराकर उड़ा हुआ यह भौंरा चमेलीको छोड़कर बार-बार मेरे ही मुँहपर आ आकर मँडराने लगा है। (भौंरेसे पीडित होनेका नाट्य करती है।)

राजा—(ललचता हुआ।) अरे भौंरे! तू सचमुच बड़ा भाग्यवान् है। इधर हम तो सच्ची बातकी खोजमें ही लुट गए, उधर इसकी चञ्चल चितवनसे लिपटा हुआ तू इस काँपती हुई बालाको बार-बार छूए चला जा रहा है, उसके कानोंके पास जा जाकर ऐसे धीरे-धीरे गुनगुनाए जा रहा है मानो कोई बड़े भेदकी बात उसे सुनाना चाहता हो और बार-बार उसके हाथोंसे झटके जानेपर भी तू उसके रस-भरे अधरोंका रस पीता ही चला जा रहा है ॥२२॥

शकुन्तला—अरे, यह दुष्ट मानता ही नहीं है। चलूँ, कहीं और हट चलूँ। (दूसरे स्थान पर जाकर और दृष्टि फेरकर।) अरे, क्या यहाँ भी आ पहुँचा? अब क्या करूँ? अरी सखियो! बचाओ, बचाओ इस दुष्ट भौंरे से! इसने तो मुझे बड़ा तंग कर डाला है।

दोनों—(मुसकराकर।) हम कौन होती है बचानेवाली! राजा दुष्यन्तको ही क्यों नहीं पुकार बुलाती हो! अरी! तपोवनकी रक्षा करना तो राजाका काम है न।

राजा—**अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतव्यं न भेतव्यम्** —(इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) **राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् । भवतु, एवं तावदभिधास्ये ।**

शकुन्तला —(पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) **कहं इदोवि मं अणुसरदि ।** [कथमितोऽपि मामनुसरति]

राजा—(सत्वरमुपसृत्य) **आः ।**

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यकासु ॥२३॥

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः ।)

अनसूया—**अज्ज ण क्खु किंवि अच्चाहिदं । इअं णो पिअसही दुट महुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा ।** [आर्य ! न खलु किमप्यत्याहितम् । इयं नौ प्रियसखी दुष्टमधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता ।] (इति शकुन्तलां दर्शयति ।)

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) **अपि तपो वर्द्धते ।**

(शकुन्तला साध्वसावनतमुखी तिष्ठति)

अनसूया—**दाणिं अदिहिविसेसलाहेण । हला सउन्दले ! गच्छ उडअं फलमिस्सं अग्घं उवहर, इदं पादोदअं भविस्सदि ।** [इदानीमतिथिविशेषलाभेन । हला शकुन्तले ! गच्छोटजं फलमिश्रमर्घ्यमुपहर । इदं पादोदकं भविष्यति ।

राजा—**भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।**

राजा—अपना परिचय देनेका यह अच्छा अवसर है । डरो मत ! डरो मत ! (आधी बात कहकर फिर मन ही मन) किन्तु इससे तो ये समझ जायँगी कि मैं राजा हूँ । अच्छा तो मैं फिर यों कहता हूँ ।

शकुन्तला—(थोड़ी दूर जाकर खड़ी होकर फिर दृष्टि फेरती है ।) क्या करूँ, यह तो यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा है ।

राजा—(झटसे प्रकट होकर) ओह ! जबतक दुष्टोंको दंड देनेवाला पुरुवंशी दुष्यन्त पृथ्वीपर राज्य कर रहा है तबतक कौन ऐसा है जो भोली-भाली ऋषि-कन्याओंसे छेड़छाड़ कर सके ॥ २३ ॥

(राजाको देखकर सभी सकपका जाती हैं ।)

अनसूया—आर्य ! ऐसी कोई बड़ी भारी विपत्तिकी बात नहीं है । हमारी इस प्यारी सखीको भौंरेने तङ्ग कर रक्खा था, इसीसे यह कुछ घबरा-सी गई है । (शकुन्तलाकी ओर संकेत करती है ।)

राजा—(शकुन्तलाके सामने जाकर) आपकी तपस्या तो ठीक चल रही है न ?

(शकुन्तला नीचा मुँह करके चुप रह जाती है ।)

अनसूया—जी हाँ, आप-जैसे अनूठे अतिथिके आ जानेसे तपस्या ठीक ही चलती समझिए । अच्छा, सखी शकुन्तला ! जा कुटीसे कुछ फल-फूलके साथ अर्घ्य तो ले आ । चरण धोनेका जल तो यहीं हो जायगा ।

राजा—आपकी तो मीठी-मीठी बातोंसे ही मेरा अतिथि-सत्कार पूरा हो गया ।

प्रियंवदा—**तेण हि इमस्सिं दाव पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो।** [तेन ह्यस्यां तावत् प्रच्छायशीतलाया सप्तपर्ण वेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः ।]

राजा—**नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः।**

अनसूया- **हला सउन्दले ! उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं। ता एहि एत्थ उवविसम्ह।** [हला शकुन्तले ! उचितं नः पर्युपासनमतिथीनाम् । तदेहि अत्रोपविशामः ।]

(इति सर्वे उपविशन्ति)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **किं णु क्खु इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअम्हि संवुत्ता।** [किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता ।]

राजा—(सर्वा विलोक्य) **अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्।**

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) **अणसूए ! को णु क्खु एसो चउरगम्भीरकिदी महुरं पिअं आलवन्दो पहाववन्दो विअ लक्खीअदी।** [अनसूये ! को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते ।]

अनसूया—**सहि ! मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं।** (प्रकाशम्) **अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि कदमो अज्जेण राएसिणो वंसो अलंकरीअदि। कदमो वा बिरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो। किं णिमित्तं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमणपरिस्समस्स अत्त पदं उवणीदो।** [सखि ममाप्यस्ति कौतूहलम् । पृच्छामि तावदेनम् । आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलंक्रियते, कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कुतो देशः किंनिमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः ।]

प्रियंवदा—तो आर्य ! चलिए घनी छायावाले छतिवनके तले जो शीतल चौतरा है, वहीं क्षणभर बैठकर अपनी थकान मिटा लीजिए।

राजा—आप सब भी तो काम करते-करते थक गई होंगी।

अनसूया—शकुन्तला ! अतिथिकी बात तो रखनी ही होगी। आओ, चलो वहीं चलकर बैठ लिया जाय। (सभी बैठ जाती हैं।)

शकुन्तला—(मन ही मन) इन्हें देखकर मेरे मनमें न जाने क्यों ऐसी धुक-धुकी हुई जा रही है जैसी तपोवनके निवासियोंके मनमें कभी नहीं होनी चाहिए।

राजा—(सबको देखकर) आप सभी एक-सी रूपवाली और एक-सी अवस्थावाली हैं। आप सबका यह आपसका प्रेम मुझे बड़ा प्यारा लगता है।

प्रियंवदा—(धीरेसे) अनसूया, ये चतुर और गम्भीर दिखाई देनेवाले तथा प्रिय औ मधुर बोलनेवाले कोई बड़े भारी पुरुष जान पड़ते हैं।

अनसूया—(प्रियंवदासे धीरेसे) सखी, मुझे भी यही जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा है। चलो इन्हींसे पूछ देखा जाय। (प्रकट) आर्य ! आपकी मीठी मीठी बातोंसे जो हमें आपमें विश्वा उत्पन्न हो गया है वह हमें आपसे यह पूछनेको उकसाए दे रहा है कि आर्यने किस राजवंशक सुशोभित किया है, किस देशकी प्रजाको अपने विरहसे व्याकुल छोड़कर आर्य यहाँ पधारे हैं औ ऐसा कौन-सा काम आ पड़ा है जिसने आपके इस सुकुमार शरीरको इस तपोवनतक लानेका कष् दिया है।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **हिअअ मा उत्तम्म । एसा तुए चिन्तिदाइँ अणसूया मन्तेदि ।** [हृदय मा उत्ताम्य । एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते ।]

राजा —(आत्मगतम्) **कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि कथं वा आत्मापहारं करोमि । भवतु एवं तावदेनां वक्ष्ये** – (प्रकाशम्) **भवति, यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः । सोऽहमाश्रमिणामविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः ।**

अनसूया—**सणाहा दाणिं धम्मआरिणो ।** [सनाथा इदानीं धर्मचारिणः ।]

(शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति)

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा जनान्तिकम्) **हला सउन्दले ! जइ एत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे ।** [हला शकुन्तले ! यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत् ।]

शकुन्तला—**तदो किं भवे ।** [ततः किं भवेत् ।]

सख्यौ—**इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि ।** [इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति ।]

शकुन्तला—**तुम्हे अवेधं । किं वि हिअए करिअ मन्तेध । ण वो वअणं सुणिस्सं ।** [युवामपेतम् । किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे । न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि ।]

राजा—**वयमपि तावद्भवत्योः सखीगतं किञ्चित् पृच्छामः ।**

सख्यौ—**अज्ज ! अणुग्गहो विअ इअं अब्भत्थणा ।** [आर्य ! अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना ।]

राजा—**भगवान्कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः । इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत् ।**

शकुन्तला—(मन ही मन) अरे हृदय ! बहुत उतावले मत बनो ! तुम्हारे ही मनकी बात तो अनसूया पूछे ले रही है ।

राजा—(मन ही मन) अब अपना क्या तो परिचय दूँ और कैसे अपनेको छिपाऊँ ? अच्छा मैं इनसे यही कहे देता हूँ । (प्रकट) भद्रे ! पुरुवंशी राजाने मुझे ही अपने राज्यकी धार्मिक क्रियाओंकी देख-भालका काम सौंप रक्खा है । इसलिये मैं यही देखने आया हूँ कि आश्रममें रहनेवाले तपस्वियोंके कार्यमें कोई विघ्न तो नहीं पड़ता ।

अनसूया—आर्य ! धर्म-क्रिया करनेवाले लोगोंपर आपने बड़ी कृपा की है ।

(शकुन्तला प्रेम और लज्जाका नाट्य करती है)

दोनों—(शकुन्तला और दुष्यन्तके मनकी बात ताड़कर धीरेसे) शकुन्तला ! यदि आज पिताजी घर होते—

शकुन्तला—तो क्या होता !

दोनों—इस अनूठे अतिथिको अपने जीवनका सर्वस्व देकर इन्हें निहाल कर देते ।

शकुन्तला—चलो हटो, तुम लोग न जाने क्या-क्या मनमें ले लेकर बोला करती हो । अब मैं तुम्हारी बातें सुनूंगी ही नहीं ।

राजा—(अनसूया और प्रियंवदासे) हम भी आपकी सखीके विषयमें कुछ पूछना चाहते हैं ।

दोनों—पूछिए आर्य, यह तो आपकी कृपा ही है ।

राजा—हमने तो सुन रक्खा था कि महर्षि कण्व जन्मसे ही ब्रह्मचारी हैं, फिर आपकी ये सखी उनकी कन्या कैसे हो गईं ?

अनसूया—सुणादु अज्जो। अत्थि को वि कोसिओत्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी। [श्रृणोत्वार्यः। अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः।]

राजा—अस्ति श्रूयते।

अनसूया—तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ। उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादिहि तादकण्णो से पिदा। [तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ। उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तातकण्वोऽस्याः पिता।]

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम्। आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

अनसूया—सुणादु अज्जो। गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किंवि जादसङ्केहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकालिणी। [श्रृणोत्वार्यः। गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नाम अप्सरा प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी।]

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्।

अनसूया—तदो वसन्तोदारसमए से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ—[ततो वसन्तोदारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य—] (इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति।)

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव। सर्वथा अप्सरःसंभवैषा।

अनसूया—अह इं। [अथ किम्।]

राजा—उपपद्यते—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ २४॥

अनसूया—मैं बताती हूँ आर्य! कौशिक गोत्रके एक बड़े प्रतापी राजर्षि हो गए हैं न!

राजा—हाँ, हाँ हैं, मैंने सुन रक्खा है।

अनसूया—तो बस यही समझिए कि हमारी सखी उन्हींकी कन्या हैं। इसकी माता जब इसे छोड़कर चल दीं तो कण्व ऋषिने ही इसे पाल-पोसकर बड़ा किया है। इसीलिये वे इसके पिता कहलाते हैं।

राजा—छोड़कर चल देनेकी बात सुनकर तो मेरी उत्कंठा और भी बढ़ गई है। मैं इसकी पूरी कथा सुनना चाहता हूँ।

अनसूया—हाँ सुनिए आर्य! बहुत दिनोंकी बात है। गौतमी (गोदावरी)-के तटपर बैठे हुए वे राजर्षि एक बार घोर तपस्या कर रहे थे। ऐसा कहा जाता है कि उनके तपसे कुढ़कर देवताओंने उनका तप डिगानेके लिये मेनका नामकी अप्सरा भेज दी।

राजा—हाँ, यह तो है ही। औरोंकी तपस्या देखकर देवता लोग तो कुढ़ा ही करते हैं।

अनसूया—तो वसन्तके आरम्भमें उसका मदभरा यौवन देखकर……(आधा कहकर ही लजा जाती है।)

राजा—बस-बस, आगे मैं सब समझ गया। तो ये अप्सराकी कन्या हैं।

अनसूया—जी हाँ।

राजा—ठीक है, ठीक है। नहीं तो भला मनुष्योंमें भला ऐसा रूप कहाँ मिल पाता है? चञ्चल चमकवाली बिजली पृथ्वीतलसे थोड़े ही निकला करती है॥ २४॥

(शकुन्तला अधोमुखी तिष्ठति ।)

राजा—(आत्मगतम्) हन्त । लब्धावकाशो मे मनोरथः । किन्तु सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधीभावकातरं मे मनः ।

प्रियंवदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा) पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो । [पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः ।]

(शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति ।)

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या । अस्ति नः सच्चरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम् ।

प्रियंवदा—अलं विआरिअ । अणिअन्तणाणुओओ तवस्सिअणो णाम । [अलं विचार्य । अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम ।]

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि—

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥२५॥

प्रियंवदा—अज्ज ! धम्माचरणे वि परवसो अअं जणो । गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो । [आर्य ! धर्माचरणेऽपि परवशोऽयं जनः । गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः ।]

(शकुन्तला सिर झुका लेती है ।)

राजा—(मन ही मन) चलो, मेरे मनोरथको कुछ तो सहारा मिला । पर इसकी सखी प्रियंवदाने हँसी हँसीमें कुछ इसके वर मिलनेकी भी बात कही थी । इसीसे मेरा मन अभी बड़ी दुविधामें ही पड़ा हुआ है ।

प्रियंवदा—(मुसकराकर पहले शकुन्तलाकी ओर और फिर राजाकी ओर देखकर ।) क्या आर्य कुछ और भी पूछना चाहते हैं ?

(शकुन्तला सखीको ऊँगलीसे बरजती है ।)

राजा—आपने हमारे मनकी बात ठीक ताड़ ली है । इनकी मनभावनी कथा सुननेके लोभसे हम कुछ और पूछना चाहते हैं ।

प्रियंवदा—तो संकोच न कीजिए ! तपस्वियोंसे तो आप बिना झिझकके कुछ भी पूछ सकते हैं ।

राजा—आपकी सखीके सम्बन्धमें हम यह जानना चाहते हैं कि इन्होंने कामदेवकी गतिको रोकनेवाला यह जो तपस्वियोंका-सा बाना बना रक्खा है यह विवाह होनेतक ही रहेगा अथवा ये अपना सारा जीवन, मदभरी आँखोंके कारण प्यारी लगनेवाली हरिणियोंके बीचमें रहकर यों ही बिता डालेंगी ॥ २५ ॥

प्रियंवदा—आर्य ! धर्मका भी कोई काम ये अपने मनसे तो कर नहीं सकती । फिर भी पिताजीका संकल्प तो यही है कि यदि इसके योग्य कोई वर मिल जाय तो विवाह कर दिया जाय ।

राजा—(आत्मगतम्) **न दुरवापेयं खलु प्रार्थना ।**

भाव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः ।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥२६॥

शकुन्तला—(सरोषमिव) **अणसूए ! गमिस्सं अहं ।** [अनसूये । गमिष्याम्यहम् ।]

अनसूया—**किं णिमित्तं ।** [किं निमित्तम् ।]

शकुन्तला—**इमं असंबद्धप्पलाविणि पिअंवदं अज्जाए गोदमीए णिवेदइस्सं ।** [इमामसंबद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।]

अनसूया—**सहि ! ण जुत्तं अस्समवासिणो अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छन्ददो गमणं ।** [सखि ! न युक्तमकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम् ।]

(शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्रस्थितैव ।)

राजा—(स्वगतम्) **आः, कथं गच्छति ।** (ग्रहीतुमिच्छन्निग्रह्यात्मानम्)

अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः ।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥२७॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरुध्य) **हला ! ण दे जुत्तं गन्तुं ।** हला ! न ते युक्तं गन्तुम् ।]

शकुन्तला—(सभ्रूभङ्गम्) **किं णिमित्तं ।** [किं निमित्तम्]

प्रियंवदा—**रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे । एहि जाव अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि ।** [वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे । एहि तावत् आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि ।]

(इति बलादेनां निवर्तयति ।)

राजा—(मन ही मन) इस सङ्कल्पका पूरा होना तो कठिन नहीं जान पड़ता । हृदय ! तू आशा न छोड़ । जो दुविधा थी वह तो जाती रही क्योंकि जिसे तू अग्नि समझकर छूनेसे डरता था वह तो छूनेके योग्य रत्न निकल आया ॥२६॥

शकुन्तला—(खीझकर) देख अनसूया ! अब मैं चली जा रही हूँ ।

अनसूया—क्यों ! क्यों !

शकुन्तला—इस अटपट बकनेवाली प्रियंवदाकी सारी बातें जाकर आर्या गौतमीसे कहे आती हूँ ।

अनसूया—सखी ! ऐसे बड़े अतिथिका सत्कार किए बिना उन्हें छोड़कर ऐंठते चले जाना ठीक नहीं है ।

(शकुन्तला बिना उत्तर दिए चलनेको प्रस्तुत होती है ।)

राजा—(मन ही मन) अरे, जाती क्यों हो ? (उसे रोकनेको उठते हैं फिर अपनेको रोक लेते हैं ।)-इस मुनि-कन्याके पीछे जाते-जाते लाजके कारण ही मैं सहसा रुक गया हूँ और यद्यपि मैं अपने स्थानसे हिला-तक नहीं, फिर भी मुझे ऐसा लग रहा है मानो मैं कुछ दूर चलकर लौट आया होऊँ ॥२७॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलाको रोककर) सखी ! तुम्हारा इस प्रकार चल देना ठीक नहीं है ।

शकुन्तला—(भौंह चढ़ाकर) क्यों ?

प्रियंवदा—क्योंकि तुम अभी दो पौधे और सींचनेका काम मुझे हार चुकी हो । अपना ॠण चुका लेना तब जाना । (बलपूर्वक इसे रोकती है ।)

राजा—भद्रे ! वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये । तथा ह्यस्याः—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः ।
बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥ २८ ॥

तदहमेनामनृणां करोमि । (इत्यंगुलीयं दातुमिच्छति ।)

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः ।)

राजा—अलमस्मानन्यथा संभाव्य । राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ ।

प्रियंवदा—तेण हि णारिहदि एदं अंगुलीअअं अंगुलिविओअं । अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा । (किंचिद्विहस्य) हला सउन्दले ! मोइदासि अणुअम्पिणा अज्जेण अहवा महाराएण । गच्छ दाणिं । [तेन हि नार्हत्येतदंगुलीमकमंगुलिवियोगम् । आर्यस्य वचनेनानृणा इदानीमेषा । हला शकुन्तले ! मोचितास्यनुकम्पिना आर्येण अथवा महाराजेन । गच्छेदानीम् ।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) जइ अतणो पहविस्सं । (प्रकाशम्) का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुंधिदव्वस्स वा । [यद्यात्मनः प्रभविष्यामि । का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा ।]

राजा—(शकुन्तला विलोक्य आत्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान्प्रति स्यात् । अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना । कुतः ।

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥ २९ ॥

राजा—भद्रे, पौधोंको सींचनेसे ही तो आपकी सखी थकी हुई दिखाई पड़ रही हैं। क्योंकि—घड़े उठाते-उठाते इनके कंधे ढीले पड़ गए हैं, हथेलियाँ लाल हो गई हैं, इनके बार-बार उठते हुए स्तन बता रहे हैं कि थकानसे इनकी साँस फूल गई हैं, कानोंमें पहने हुए सिरसके फूल भी नहीं हिल रहे हैं क्योंकि पसीनेकी बूँदोंसे उनकी पंखड़ियाँ गालोंपर आ चिपकी हैं और जूड़ेके खुल जानेसे ये अपनी बिखरी हुई लटें एक हाथसे किसी-किसी प्रकार सँभाल पा रही हैं ॥२८॥

इसलिये लीजिए इनका ऋण मैं ही चुकाए देता हूँ।

(अपनी अँगूठी देना चाहता है। दुष्यन्तका नाम अँगूठीपर पढ़कर
दोनों एक दूसरीकी ओर देखने लगती हैं।)

राजा—मुझे आप कोई और न समझ बैठिएगा। यह अँगूठी मुझे राजासे पुरस्कारमें मिली है। मुझे आप लोग राज-पुरुष ही समझिए।

प्रियंवदा—तब तो इस अँगूठीको आपकी उँगलीसे अलग करना ठीक नहीं है। आपके कहने भर से ही इसका ऋण चुकता हो गया। (कुछ मुसकराकर) शकुन्तला ! इनकी या यों कहो कि महाराजकी कृपासे तुम ऋणसे मुक्त हो गई हो। अब जा सकती हो।

शकुन्तला—(मन ही मन) अपना मन हाथमें हो तब तो जाऊँ। (प्रकट) मुझे जाने देने या रोक रखनेवाली तुम होती कौन हो ?

राजा—(शकुन्तलाको देखकर आपही आप) कहीं यह भी तो हमपर वैसे ही नहीं रीझ गई है जैसे हम इसपर रीझे हैं ? या फिर जान पड़ता है कि हमारे मनोरथोंके फलनेके दिन आ गए। क्योंकि—यद्यपि यह स्वयं मुझसे बातचीत नहीं करतीं फिर भी जब मैं बोलने लगता हूँ तब यह कान लगाकर मेरी बातें सुनने लगती है और यद्यपि मेरे सामने यह मुँह करके नहीं बैठती फिर भी इसकी आँखें मुझपर ही टँगी रहती हैं ॥ २९ ॥

(नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः संनिहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत । प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः ।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपनिषक्तजलार्द्रवल्कलेषु ।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥ ३० ॥

अपि च—

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः ।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्न सारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥ ३१ ॥

(सर्वाः कर्णं दत्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः ।)

राजा—(आत्मगतम्) अहो धिक् । सैनिका अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति । भवतु । प्रतिगमिष्यामस्तावत् ।

सख्यो—अज्ज ! इमिणा आरण्णअवुत्तन्तेण पज्जाउल म्ह । अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स । [आर्य ! अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्मः । अनुजानीहि न उटजगमनाय ।]

राजा—(ससंभ्रमम्) गच्छन्तु भवत्यः । वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे ।

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति ।)

सख्यौ—अज्ज ! असंभवाविदअदिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खणणिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं । [आर्य ! असंभावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्यं विज्ञापयितुम् ।]

(नेपथ्यमें)

अरे तपस्वियो ! आकर झटपट तपोवनके प्राणियोंको बचाओ । आखेटका प्रेमी राजा दुष्यन्त पास ही आ पहुँचा है । उसके घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई और साँझकी ललाईके समान लाल-लाल धूल टिड्डी-दलके समान उड़कर आश्रमके उन वृक्षोंपर फैली पड़ रही है जिनकी शाखाओंपर गीले वल्कलके वस्त्र सूखनेके लिये फैलाए हुए हैं ॥ ३० ॥

और देखो—राजाके रथसे डरा हुआ यह जंगली हाथी हमारी तपस्याके लिये साक्षात् विघ्न बना हुआ हरिणोंके झुण्डको तितर-बितर करता हुआ तपोवनमें घुसा चला आ रहा है। इसने अपनी करारी टक्करसे एक वृक्ष उखाड़ लिया है जिसमें उसका एक दाँत अब भी फँसा हुआ है और टूटी हुई लताएं फन्देके समान उसके पैरोंमें उलझी हुई हैं ॥ ३१ ॥

(सब कुमारियाँ सुनकर कुछ घबरा जाती हैं)

राजा—(मन ही मन) अरे, धिक्कार है इन सैनिकोंको । जान पड़ता है हमें ढूँढनेके फेरमें ये तपोवनको रौंदे डाल रहे हैं । अब हमें उधर चलना ही चाहिए ।

दोनों—आर्य ! इस जंगली हाथीकी बात सुनकर हम लोग बहुत डर गई हैं । हमें कुटीमें जानेकी आज्ञा दीजिए ।

राजा—(शीघ्रतासे) आप लोग चलें । मैं भी प्रयत्न करता हूँ कि तपोवनमें कोई विघ्न न हो ।

दोनों—(सब उठती हैं ।) आर्य ! हम लोगोंने आपका कुछ भी सत्कार नहीं किया इसलिये आर्यसे यह प्रार्थना करते हुए बड़ा संकोच हो रहा है कि हमें फिर दर्शन दें ।

राजा—मा मैवम् । दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि ।

(शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता ।)

राजा—मन्दोत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति यावदनुयात्रिकान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम् । मम हि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः ।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥ ३२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

राजा—नहीं नहीं ऐसा न कहिए । आप लोगोंको देख लिया इसीसे हमारा सत्कार हो गया ।

(शकुन्तला राजाको देखती हुई कुशा चुभने और एक शाखामें साड़ीका छोर फँसनेका बहाना करके थोड़ा रुकती है और फिर सखियोंके साथ चल देती है ।)

राजा—नगरमें जानेका तो सारा हुलास ठंडा पड़ गया है । इसलिये आश्रमके पास ही सैनिकोंके साथ डेरा डाले लेता हूँ । जान पड़ता है शकुन्तलाके इस प्रेम-व्यवहारसे मैं छुटकारा न पा सकूँगा । क्योंकि—जैसे पवनके सामने झण्डा ले चलनेपर उसकी रेशमी झण्डी पीछेको फहराती चलती है वैसे ही ज्यों-ज्यों मेरा शरीर आगे बढ़ता चलता है त्यों-त्यों मेरा चञ्चल मन पीछेको दौड़ता चल रहा है ॥ ३२ ॥

(सबका प्रस्थान)

॥ पहला अंक पूर्ण ॥

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः)

विदूषकः—(निःश्वस्य) भो ! दिट्ठं एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो म्हि । अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलोत्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिंडीअदि अडवीदो अडवी । पत्तसंकरकसाआइं कडुआइँ गिरिणईजलाइं पीअन्ति, अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो अण्हीअदि तुरगाणुधावणकंडिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि । तदो महंते एव्व पच्चूसे दासीएपुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहणकोलाहलेण पडिबोधिदो म्हि । एत्तएण दाणिं वि पीडा ण णिक्कमदि । तदो गण्डस्स उवरि पिण्डआ संवुत्तो । हिओ किल अम्हेसु ओहीणेसु ततहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा । संपदं णअरगमणस्स मणं कहं वि ण करेदि । अज्ज वि से तं एव्व चिंतअंतस्स अक्खीसु पभादं आसि । का गदी । जाव णं किदाचारपरिक्कमं पेक्खामि । (इति परिक्रम्यावलोक्य च) एसो बाणासणहत्थाहिँ जवणीहिँ वणपुप्फमालाधारिणीहिँ पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो । होदु । अंगभंगविअलो विअ भविअ चिट्ठिस्सं । जइ एव्वं वि णाम विस्समं लहेअं । [भो दृष्टम् । मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि । अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरल पादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्डयतेऽटवीतोऽटवी । पत्रसंकरकषायाणि कटूनी गिरिनदीजलानि पीयन्ते । अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते । तुरगानुधावनकण्डितसंधे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति । ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि । इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति । ततो गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः । ह्यः किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य

दूसरा अङ्क

(उदास मनसे विदूषकका प्रवेश ।)

विदूषक—(लम्बी साँसें भरता हुआ) बस बस समझ लिया । इस अहेरी राजाकी मित्रतासे तो जी भिन्ना उठा है ! भरी दुपहरीमें भी एक वनसे दूसरे वनमें भटकते हुए उन जंगली प्रदेशोंमें होकर चलना पड़ता है जहाँ गर्मीके कारण पेड़ोंमें छाँह तक नहीं रह गई है और दिन-रात यही हल्ला कान फोड़े डालता है—यह मृग आया, वह सूअर निकला, यह रहा सिंह । फिर सड़े हुए पत्तोंसे मिले हुए जलवाली नदियोंका कसैला और कड़ुवा पानी पीना पड़ता है और अबेर-सबेर लोहेकी सीकोंपर भुना हुआ माँस खानेको मिलता है । घोड़ेके पीछे दौड़ते-दौड़ते शरीरके जोड़-जोड़ ऐसे ढीले पड़ गए हैं कि रातमें आँख भी ठीक नहीं लग पाती । तिसपर ये दासी-पुत्र चिड़ीमार तड़के-तड़के चलो वनको, चलो वनको—चिल्ला-चिल्लाकर ऐसा हल्ला मचाते हैं कि आई-अवाई नींद उचट जाती है । अभी यह विपत्ति टली नहीं थी कि उधर फोड़ेके ऊपर फुन्सीके समान दूसरी विपत्ति आ धमकी है । सुनते हैं कि हम लोगोंका साथ छूट जानेपर मृगका पीछा करते-करते राजा वहाँ तपस्वियोंके उस आश्रममें जा पहुँचे जहाँ मेरे दुर्भाग्यसे उन्हें कोई मुनि-कन्या शकुन्तला नामकी दिखाई

तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता। सांप्रतं नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति। अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः प्रभातमासीत्। का गतिः। यावत्तं कृताचारपरिक्रमं पश्यामि। एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः। भवतु। अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि। यद्येवमपि नाम विश्रामं लभेय।] (इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा।)

राजा—

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते॥ १॥

(स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते। तथा हि—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति॥२॥

विदूषकः—(तथास्थित एव) **भो वअस्स! ण मे हत्थपाआ पसरन्ति। ता वाआमत्तएण जई करीयसि। जेदु जेदु भवं** [भो वयस्य! न मे हस्तपादाः प्रसरन्ति। तद् वाचा मात्रेण जयीक्रियते। जयतु-जयतु भवान्।

दे गई। बस अब किसी भी प्रकार उनका मन नगर लौटनेको कर ही नहीं रहा है। आज भी रातभर उसी की चिन्तामें जागते हुए उनकी आँखोंने सबेरा कर दिया। क्या करूँ? चलूं, वे नित्य-कर्म कर चुके हों तो उनसे दो-दो बातें हो जायें (घूमकर और देखकर) अरे, यह लो? मेरे मित्र तो स्वयं ही इधर लपके चले आ रहे हैं जिनके साथ हाथमें धनुष लिए और गलेमें जंगली फूलों की माला डाले बहुत सी यवनी सेविकाएँ भी चली आ रही हैं। अच्छी बात है, मैं भी लुंज-पुंज सा बनकर खड़ा हुआ जाता हूँ। कौन जाने इसी बहाने थोड़ा विश्राम मिल जाय। (लाठी के सहारे टिककर खड़ा हो जाता है।)

(जैसा ऊपर कहा गया है, वैसी सेविकाओंके साथ राजाका प्रवेश।)

राजा—यद्यपि प्यारीका मिलना है तो बड़ा कठिन पर उसकी चाल-ढालसे मनको सहारा बहुत मिल रहा है। हम दोनोंका मिलन भले ही न हो पावे पर इतना तो सन्तोष है कि मिलनेका चाव दोनों ओर एक-सा ही है॥ १॥

(मुसकराकर) जो प्रेमी अपनी प्रियतमाके मनको अपने मनसे परखता है वह इसी प्रकार धोखा खाया करता है। और देखो—

जब वह अपनी आँखें घुमाती थी तब मैं यहीं समझता था कि उसने मुझपर ही प्यार-भरी चितवन डाली है। नितम्बोंके भारी होनेके कारण जब वह धीरे-धीरे चलती थी तब मैं समझता था कि वह मुझे अपनी चटक-मटक भरी चाल दिखा रही है। जब उसकी सखियोंने उसे जानेसे रोका तब अपनी सखियोंपर जो वह लाल-पीली हुई तब मैं समझा कि यह सब मेरे ही प्रेमके लिये हो रहा है। आह! कामीको सब बातें अपने ही मनकी दिखाई पड़ती हैं॥ २॥

विदूषक—(उसी मुद्रामें खड़ा हुआ) हाथ-पैर तो मेरे खुला नहीं रहे हैं; इसलिये मैं केवल मुँहसे ही आपकी जय-जयकार किये दे रहा हूँ। आपकी जय हो।

राजा—**कुतोऽयं गात्रोपघातः।**

विदूषकः—**कुदो किल, सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि।** [कुतः किल, स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि।]

राजा—**न खल्ववगच्छामि।**

विदूषकः—**भो वअस्स। जं वेदसो कुज्जलीलं विडंबेदि तं किं अत्तणो पहावेण उदणईवेअस्स।** [भो वयस्य ! यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदीवेगस्य।]

राजा—**नदीवेगस्तत्र कारणम्।**

विदूषकः—**मम वि भवं।** [ममापि भवान्।

राजा—**कथमिव।**

विदूषकः—**एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्वं। जं सच्चं पच्चहं सावदसमुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिबंधाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवुत्तो। ता पसादइस्सं विसज्जिदुं मं एक्काहं वि दाव विस्समिदुं।** [एवं राजकार्याण्युज्झित्वा तादृशे आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः संशोभितसंधिबंधानां मम गात्राणामेनीशोऽस्मि संवृत्तः। तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम्।]

राजा—(स्वगतम्) **अयं चैवमाह। ममापि कण्वसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः। कुतः—**

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥ ३॥

राजा—यह तुम्हारा अंग-भंग कैसे हो गया !

विदूषक—कैसे क्या ? आँखोंमें उँगली कोंचकर पूछ रहे हो कि आँसू कहाँसे आए ?

राजा—नहीं, नहीं, मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाया।

विदूषक—अच्छा मित्र, यह तो बताइए कि नदीमें जो बेंतकी लता कुबड़ी बनी खड़ी रहती है वह अपने मनसे वैसी रहती है या नदीके वेगके कारण ?

राजा—नदीके वेगके कारण।

विदूषक—तो मेरे अंग-भंगके कारण भी कोई हैं तो आप ही हैं।

राजा—कैसे ?

विदूषक—आप तो सारे राज्य-कार्यको तिलांजलि देकर यहाँके इस बीहड़ प्रदेशमें जंगलियोंके समान चकरडंड लगा रहे हैं। यहाँ जंगली पशुओंका पीछा करते-करते मेरे अंगोंके सारे जोड़-जोड़ ऐसे टूट गए हैं कि हिला तक नहीं जा रहा है। इसलिये अब आप कृपा करके कमसे कम मुझे तो एक दिन विश्राम करनेकी आज्ञा दे ही दीजिए।

राजा—(मन ही मन) इधर यह भी कह रहा है, उधर कण्वकी कन्याका ध्यान बने रहनेसे मेरा मन भी आखेटसे ऊब-सा चला है। क्योंकि जिन हरिणियोंने शकुन्तलाके साथ रहकर उसे भोली चितवन सिखाई है उन्हें मारनेके लिये यह बाण चढ़ाया हुआ धनुष मुझसे खींचते ही नहीं बनता॥ ३॥

विदूषकः—(राज्ञो मुखं विलोक्य) अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मन्तेदि । अरण्णे मए रुदिअं आसि । [अत्रभवान्किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते । अरण्ये मया रुदितमासीत् ।]

राजा—(सस्मितम्) किमन्यत् अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि ।

विदूषकः—चिरं जीअ । [चिरं जीव ।] (इति गन्तुमिच्छति ।)

राजा—वयस्य ! तिष्ठ । सावशेषं मे वचः ।

विदूषकः —आणवेदु भवं । [आज्ञापयतु भवान् ।]

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम् ।

विदूषकः—किं मोदअखण्डिआए । तेण हि अअं सुगहीदो खणो । [किं मोदकखण्डिकायाम् । तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः ।]

राजा—यत्र वक्ष्यामि । कः कोऽत्र भोः ।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—(प्रणम्य) आणवेदु भट्टा । [आज्ञापयतु भर्ता ।]

राजा—रैवतक ! सेनापतिस्तावदाहूयताम् ।

दौवारिकः—तह । (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य) एसो अण्णावअणुक्कण्ठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि । उपसप्पदु अज्जो । [तथा । एष आज्ञावचनात्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति । उपसर्पत्वार्यः ।]

सेनापतिः—(राजानमवलोक्य स्वगतम्) दृष्टदोषाऽपि स्वामिनि मृगया केवलं गुण एव संवृत्ता । तथा हि देवः—

विदूषक—(राजाका मुँह देखकर) आप तो न जाने क्या मन ही मन बड़बड़ा रहे हैं । मैं इतना सब कहकर क्या जंगलमें ही रोता रहा ?

राजा—(मुसकराकर) नहीं, नहीं, मैं भी यही सोच रहा था कि मित्रकी बात कभी नहीं टालनी चाहिए । इसीलिये मैं चुप हो गया था ।

विदूषक—जीते रहिए, जीते रहिए । (जाना चाहता है ।)

राजा—ठहरो, ठहरो मित्र, अभी मेरी बात पूरी कहाँ हो पाई है ?

विदूषक—अच्छा तो वह भी कह डालिए, महाराज !

राजा—देखो, विश्राम कर चुको तो आकर एक काममें भी सहायता आ देना जिसके लिये तुम्हें कहीं आना-जाना नहीं पड़ेगा ।

विदूषक—क्या लड्डू खाने हैं ? उसके लिये इससे बढ़कर और कौन-सा अच्छा अवसर होगा ।

राजा—ठहरो, बताए देता हूँ । अरे, कोई है ?

(प्रवेश करके)

दौवारिक—(प्रणाम करके ।) आज्ञा कीजिए स्वामी !

राजा—अरे रैवतक ! जाकर सेनापतिको तो बुला लाओ ।

दौवारिक—जी, अच्छा । (बाहर जाकर सेनापतिको साथ लिए लौट आता है ।) देखिए, यह सामने कुछ कहनेके लिये इधर दृष्टि किए हुए स्वामी बैठे हुए हैं । आगे बढ़ चलिये आर्य !

सेनापति—(राजाको देखकर, मन ही मन) लोग आखेटकी इतनी बुराई करते हैं पर स्वामीको तो इससे बड़ा लाभ हुआ दिखाई दे रहा है । क्योंकि—

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥ ४ ॥

(उपेत्य) जयतु जयतु स्वामी गृहीतश्वापदमरण्यम् । किमद्याप्यवस्थीयते ।

राजा – मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन ।

सेनापतिः —(जनान्तिकम्) सखे ! स्थिरप्रतिबन्धो भव । अहं तावत्स्वामिनश्चित्तमनुवर्तिष्ये । (प्रकाशम्) प्रलपत्वेष वैधेयः । ननु प्रभुरेव निदर्शनम् ।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥ ५ ॥

विदूषकः—अवेहि रे उत्साहहेतुअ अत्तभवं पकिदिं आपण्णो । तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि । [अपेहि रे उत्साहहेतुक ! अत्रभवान्प्रकृतिमापन्नः । त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि ।]

राजा—भद्र सेनापते ! आश्रमसंनिकृष्टे स्थिताः स्मः । अतस्ते वाचो नाभिनन्दामि । अद्य तावत्—

पहाड़ोंमें घूमनेवाले हाथीके समान इनके बलवान् शरीरके आगेका भाग निरन्तर धनुष्की डोरी खींचनेसे ऐसा कड़ा हो गया है कि उसपर न तो धूपका ही प्रभाव पड़ता है और न पसीना ही छूटता है । बहुत दौड़-धूपसे यद्यपि ये दुबले पड़ गए हैं पर पुट्ठोंके पक्के होनेके कारण इनका दुबलापन दिखाई नहीं पड़ता ॥ ४ ॥

(पास जाकर) स्वामीकी जय हो । हमने आखेटके पशुओंको वनमें घेर लिया है । अब बिलम्ब किसलिये है !

राजा—इस आखेटके निन्दक माढव्यने तो मेरा सारा उत्साह ठण्ढा कर दिया है ।

सेनापति –(अलग विदूषकसे) अच्छा मित्र, तुम भी डटकर विरोध करके देख लो और मैं भी देखो स्वामीके मनको कैसे पलटे देता हूँ । (प्रकट) इस मूर्खको बकने दीजिए महाराज ! स्वामी स्वयं ही देख रहे हैं कि—

आखेटसे चर्बी घट जाती है, तोंद छट जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है, पशुओंके मुँहपर जो भय और क्रोध दिखाई देता है उसका ज्ञान हो जाता है और चलते हुए लक्ष्योंपर बाण चलानेमें हाथ सध जाते हैं जो धनुर्धारियोंके लिये बड़े गौरवकी बात है । लोग झूठ-मूठ ही आखेटको बुरा बताते हैं, नहीं तो इतना अच्छा मन-बहलाव और मिल कहाँ सकता है ॥ ५ ॥

विदूषक—अरे चल-चल उत्साह दिखानेवाले ! महाराज अब फिरसे मनुष्य बन गए हैं । तुझे तो एक दिन इसी प्रकार इस वनसे उस वनमें घूम-घूमकर आखेट करते हुए कभी न कभी मनुष्यकी नाकके लोभी किसी बूढ़े भालूके मुँहमें पड़ना ही है ।

राजा—भद्र सेनापति ! देखो, हम लोग तपोवनके पास ठहरे हुए हैं । इसलिये तुम्हारी बात इस समय मुझे जँच नहीं रही है । आज तो—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ ६ ॥

सेनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते ।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः । यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः पश्य—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥ ७ ॥

सेनापतिः—यथाज्ञापयति स्वामी ।

विदूषकः—धंसदु दे उच्छाहवुत्तन्तो । [ध्वंसतां ते उत्साहवृत्तान्तः ।]

(निष्क्रान्तः सेनापतिः ।)

राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेषम् । रैवतक ! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु ।

परिजनः—जं देवो आणवेदि । [यद्देव आज्ञापयति] ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं संपदं एदस्सिं पादवच्छाआए विरइदलदा-

---

भैंसोंको छोड़ दो कि वे अपनी सींगोंसे पानीको हलोड़ते हुए तालोंमें तैरें, हरिणोंके झुण्ड पेड़ोंकी घनी छायामें घेरा बनाकर बैठे जुगाली करें, बड़े-बड़े सूअर निडर होकर छिछले तालोंमें नागरमोथेकी जड़ें खोदें और मेरे धनुष्की ढीली डोरी भी कुछ देर विश्राम कर ले ॥ ६ ॥

सेनापति—जैसी महाराजकी इच्छा ।

राजा—तो जिन हँकवोंको आगे भेज दिया है उन्हें लौटा बुलाओ और सैनिकोंको समझा दो कि कोई ऐसा काम न कर बैठें जिससे तपोवनके काममें बाधा पड़े । देखो—

सूर्यकान्तमणि यों तो छूनेमें ठण्डा लगता है पर जब सूर्य उसपर अपना प्रकाश डालता है तब वह भी आग उगलने लगता है । उसी प्रकार ऋषि लोग यद्यपि होते तो बड़े शान्त हैं पर उनका तेज भी इतना प्रचंड होता है कि यदि कोई उन्हें कष्ट दे तो उसे जलाकर भस्म भी कर डालते हैं ॥ ७ ॥

सेनापति—जैसी स्वामीकी आज्ञा ।

विदूषक—नाश हो तुम्हारी उत्साहकी बातोंका ।

(सेनापति चला जाता है)

राजा—(अपने सेवकोंकी ओर देखकर) अब तुम लोग भी अपने आखेटके कपड़े उतार डालो । और रैवतक ! जाओ, तुम भी अपना काम देखो ।

सेवक—जैसी देवकी आज्ञा ।

[सब चले जाते हैं ।]

विदूषक—चलो अच्छा किया जो सब मक्खियाँ उड़ा दीं आपने । अब चलिए, वृक्षोंकी

विदाणदंसणी आसणे णिमीददु भवं जाव अहं वि सुहासीणो होमि। [कृतं भवता निर्मक्षिकम्। सांप्रतमेतस्यां पादपच्छायायां विरचितलतावितानदर्शनीयायामासने निषीदतु भवान् यावदहमपि सुखासीनो भवामि।)

राजा—गच्छाग्रतः।

विदूषकः—इदु भवं। (एतु भवान्।)

(इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ।)

राजा—माढव्य ! अनवाप्तचक्षुः फलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।

विदूषकः णं भवं अग्गदो मे वट्टदि। [ननु भवानग्रतो मे वर्तते।]

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मानं पश्यति। अहं तु तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि।

विदूषकः—(स्वगतम्) होदु। से अवसरं ण दाइस्सं। (प्रकाशम्) भो वअस्स। ते तावस-कण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि। [भवतु। अस्यावसरं न दास्ये। भो वयस्य ! ते तापसकन्यकाऽभ्यर्थनीया दृश्यते।]

राजा—सखे ! न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ८ ॥

विदूषकः—(विहस्य) जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उब्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअं अब्भत्थणा [यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।]

घनी छायावाले लता-मण्डपके नीचे सुन्दर आसनपर आप भी चलकर जम बैठिए और मैं भी थोड़ा सुस्ता लेता हूँ।

राजा—अच्छा चलो आगे-आगे।

विदूषक—आप भी आइए। (दोनों घूमकर बैठते हैं।)

राजा—माढव्य ! यदि तुमने देखनेके योग्य वस्तुएँ नहीं देखीं तो आँख होनेसे तुम्हें लाभ क्या हुआ।

विदूषक—आप तो मेरी आँखोंके आगे रहते ही हैं न !

राजा—अपने लोगोंको तो सभी सुन्दर जँचते हैं, पर इस समय तो मैं शकुन्तलाकी बात कह रहा हूँ जो इस आश्रमकी शोभा है।

विदूषक—(आप ही आप) अच्छा, मैं इस बातको यहीं पलटे देता हूँ (प्रकट) क्यों मित्र जान पड़ता है उस तपस्वीकी कन्याके फेरमें जा फँसे हैं।

राजा—देखो मित्र ! पुरुवंशियोंका मन कुपंथकी ओर बढ़ता ही नहीं है—सुना है, उसकी माँ कोई अप्सरा थी। वह जब इसे वनमें छोड़कर चली गई तब कण्व मुनि इसे वहाँसे उठा लाए। यह ठीक वैसा ही हुआ मानो नवमल्लिकाका फूल अपनी डालीसे चूकर मदार (आखेके पेड़) पर आ टपका हो ॥ ८ ॥

विदूषक—(हँसकर) जैसे कोई मीठा छुहारा खाते-खाते ऊबकर इमलीपर जा टूटे वैसे ही आप भी रनिवासकी एक-से-एक बढ़कर सुन्दरियोंको भूलाकर इसपर लट्टू हो बैठे हैं।

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः ।

विदूषकः—तं क्खु रमणिज्जं जं भवदो विम्हअं उप्पादेदि । [तत्खलु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति ।

राजा—वयस्य ! किं बहुना—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ ९ ॥

विदूषकः—जइ एव्वं पच्चादेसो दाणिं रूववदीणां । [यद्येवम् प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम् ।]

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैरनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ १० ॥

विदूषकः—तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं । मा कस्सवि तवस्सिणो इंगुदीतेल्लमिस्सचिक्कणसीस्सस्स आरण्णअस्स हत्थे पडिस्सदि । [तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान् । मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति ।]

राजा—परवती खलु तत्रभवती । न च संनिहितोऽत्र गुरुजनः ।

विदूषकः—अत्तभवन्तं अन्तरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ । [अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः ।]

राजा—तुमने अभी उसे देखा नहीं है न, इसीलिये यह सब कह रहे हो ।

विदूषक—तो ठीक है । जब आप भी उसे देखकर सुध-बुध भूले बैठे हैं तब वह सचमुच रूपवती होगी ।

राजा—मित्र ! और तो क्या कहूँ । तुम बस यही समझ लो कि—ब्रह्माने जब उसे बनाया होगा तब पहले उसका चित्र बनाकर या मनमें संसारकी सभी सुन्दरियोंके रूपोंको इकट्ठा करके उनमें प्राण डाले होंगे । क्योंकि ब्रह्माकी कुशलता और शकुन्तलाकी सुन्दरता दोनोंपर बार-बार विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि यह कोई निराले ही ढंगकी सुन्दरी उन्होंने गढ़ खड़ी की है ॥९॥

विदूषक—ऐसी बात है तब तो इसने सभी सुन्दरियोंको पछाड़ मारा ।

राजा—मेरी समझमें तो उसका रूप वैसा ही पवित्र है जैसे बिना सूँघा हुआ फूल, नखोंसे अछूते पत्ते, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु और बिना भोगा हुआ पुण्योंका फल । पर यह नहीं समझमें आता कि इस रूपको भोगनेके लिये ब्रह्माने चुन किसे रक्खा है ॥१०॥

विदूषक—ओ हो ! तब आप चटपट इसे हथिया लीजिए क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वह हिंगोटके तेलसे चिकनी खोपड़ीवाले किसी तपस्वीके हाथमें जा पड़े ।

राजा—अरे ! यह कोई उसके हाथकी बात थोड़े ही है और फिर उसके पिता भी तो यहाँ नहीं हैं ।

विदूषक—अच्छा, यह तो बताइए कि वह आपकी ओर देख किस भावसे देख रही थी ।

राजा—वयस्य । निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः । तथापि तु—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥ ११ ॥

विदूषकः—(विहस्य) णं क्खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अंकं समारोहदि । [न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति ।]

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या । तथा हि—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ १२ ॥

विदूषकः—तेण हि गहीदपाहेओ होहि । किदं तुए उववणं तवोवणं ति पेक्खामि । [तेन हि गृहीतपाथेयो भव । कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि ।]

राजा—सखे ! तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि । चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः ।

विदूषकः—को अवरो अवदेसो तुह रण्णो । णीवारच्छट्ठभाअं अह्माणं उवहरन्तु त्ति । [कोऽपरोऽपदेशस्तव राज्ञः । नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति ।]

राजा—मित्र ! ऋषियोंकी कन्याएँ स्वभावसे ही बड़ी भोली-भाली होती हैं । फिर भी जब मैं उसकी ओर मुँह करता था तब वह आँखें चुरा लेती थी और किसी न किसी बहाने मुसकरा भी देती थी । वह शीलसे इतनी दबी हुई थी कि अपने प्रेमको न तो वह छिपा ही पा रही थी और न खुल कर प्रकट ही कर पा रही थी ॥ ११ ॥

विदूषक—(हँसकर) तो क्या समझते हो कि वह आपको देखते ही आपकी गोदमें आ बैठती ।

राजा—अरे सुनो तो । जब वह जाने लगी उस समय शिष्टताकी रक्षा करते हुए भी उसने अपना प्रेम जता ही दिया । क्योंकि—कुछ दूर चलनेपर वह सुन्दरी सहसा यह कह कर रुक गई—अरे, मेरे पाँवमें दाभका काँटा चुभ गया है । और यद्यपि उसका वल्कल कहीं उलझा नहीं था फिर भी धीरे-धीरे वल्कल सुलझानेका बहाना करके वह मेरी ओर देखती हुई कुछ देर खड़ी रह ही गई ॥१२॥

विदूषक—तब आप ऐसा कीजिए कि अपना सारा साज-समाज यहीं मँगवा धरिए, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि आप इस तपोवनको एकदम प्रमोदवन बनाए बिना न छोड़ेंगे ।

राजा—देखो मित्र ! कुछ ऋषि मुझे पहचान भी गए हैं । अब सोच-विचारकर कोई ऐसा उपाय बताओ कि कमसे कम एक बार तो किसी बहाने आश्रममें हो आऊँ ।

विदूषक—आप जैसे राजाओंके लिये कोई बहाना ढूँढनेकी क्या आवश्यकता है ? जाकर कहिए कि आप लोग राज-करके रूपमें हमें तिन्नीका छठा भाग दे डालिए ।

राजा—मूर्ख ! अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति यद्रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम् । पश्य—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥ १३ ॥

(नेपथ्ये)

हन्त सिद्धार्थौ स्वः ।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम् ।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—जेदु जेदु भट्टा । एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा । [जयतु जयतु भर्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतिहारभूमिमुपस्थितौ ।]

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

दौवारिकः—एसो पवेसेमि । (इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य) इदो इदो भवन्तो । [एष प्रवेशयामि । इत इतो भवन्तौ ।]

(उभौ राजानं विलोकयतः ।)

प्रथमः—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुषः अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि । कुतः—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥ १४ ॥

राजा—तू तो एकदम मूर्ख है । अरे, इन ऋषियोंकी रक्षाके बदले तो हमें ऐसा अनूठा कर मिलता है कि उसके आगे रत्नोंका ढेर भी तुच्छ है । देख—चारों वर्णोंसे राजाओंको जो कर मिलता है उसका फल तो नष्ट हो जाता है पर ये वनवासी ऋषि लोग अपने तपका जो छठा भाग हमें देते रहते हैं वह कभी नष्ट नहीं होता ॥ १३ ॥

(नेपथ्यमें)

अहा, हम लोगोंके सब काम बन गए ।

राजा—(कान लगाकर) अरे, यह गम्भीर और शान्त स्वर तो ऋषियोंका-सा जान पड़ रहा है ।

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—महाराजकी जय हो । दो ऋषिकुमार द्वारपर पधारे हैं ।

राजा—उन्हें तुरन्त यहाँ ले आओ ।

द्वारपाल—अभी लाया । (प्रस्थान और ऋषिकुमारोंको साथ लेकर फिर प्रवेश ।) इधरसे आइए भगवन्, इधरसे ।

(दोनों ऋषिकुमार राजाको देखते हैं ।)

पहला—अहा ! ये इतने तेजस्वी हैं कि इन्हें देखकर हमारे मनको बड़ा सहारा मिला जा रहा है । क्यों न हो !—ये राजा भी तो ऋषियोंके समान ही रहते हैं । जैसे ऋषि लोग आश्रममें

द्वितीयः—**गौतम ! अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः ?**

प्रथमः—**अथ किम् ।**

द्वितीयः—**तेन हि—**

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीमेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यैरस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

उभौ—(उपगम्य) **विजयस्व राजन् ।**

राजा—(आसनादुत्थाय) **अभिवादये भवन्तौ ।**

उभौ—**स्वस्ति भवते ।** (इति फलान्युपहरतः ।)

राजा—(सप्रणामं परिगृह्य) **आज्ञापयितुमिच्छामि ।**

उभौ—**विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थः । तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते ।**

राजा—**किमाज्ञापयन्ति ।**

उभौ—**तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति । तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति ।**

राजा—**अनुगृहीतोऽस्मि ।**

विदूषकः—(अपवार्य) **एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा ।** [एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना ।]

रहते हैं वैसे ही ये भी अपना नगर छोड़कर सबको सुख देनेवाले इस आश्रममें आ टिके हैं। अपनी प्रजाकी रक्षा करके ये भी नित्य तपस्या ही करते हैं और चारण-चारणियाँ, इन जितेन्द्रिय राजर्षिके जो गीत गाती हैं वे गीत प्रायः स्वर्गतक सुनाई पड़ते हैं ॥ १४ ॥

दूसरा—गौतम ! क्या इन्द्रके मित्र राजा दुष्यन्त ये ही हैं ?

पहला—हाँ, ये ही हैं।

दूसरा—इसीलिये हमें यह देखकर तनिक भी आश्चर्य नहीं होता कि नीले समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वीपर ये नगरके फाटककी अर्गलाके समान अपनी लम्बी भुजाओंसे अकेले शासन करते हैं, और दैत्योंसे बैर बाँधनेवाली, देवताओंकी स्त्रियाँ इन्हींके चढ़े हुए धनुष और इन्द्रके वज्रपर अपने विजयकी आशा बाँधे रखती हैं ॥ १५ ॥

दोनों—(पास जाकर) राजन्, आपकी जय हो।

राजा—(आसनसे उठकर) आप लोगोंको प्रणाम करता हूँ।

दोनों—आपका कल्याण हो। (फल भेंट करते हैं।)

राजा—(प्रणाम करके फल लेकर) आज्ञा कीजिए।

दोनों—सब आश्रमवासी जान गए हैं कि आप यहाँ ठहरे हुए हैं। इसलिये उनकी एक प्रार्थना है।

राजा—क्या आज्ञा है उनकी।

दोनों—उन्होंने कहलाया है कि आदरणीय महर्षि कण्वके न रहनेके कारण राक्षस लोग हमारे यज्ञमें बड़ा विघ्न डाले दे रहे हैं। इसलिये आप अपने सारथीके साथ यहाँ कुछ रातें बिताकर इस आश्रमको सनाथ किए रक्खें।

राजा—बड़ी कृपा है उनकी।

विदूषक—(अलग) यही तो आप चाहते भी थे।

राजा—(स्मितं कृत्वा) रैवतक! मद्वचनादुच्यतां सारथिः सबाणासनं रथमुपस्थापयैति।

दौवारिकः—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।]

(इति निष्क्रान्तः)

उभौ—(सहर्षम्)—

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥ १६ ॥

राजा—(सप्रणामम्) गच्छतां पुरो भवन्तौ। अहमप्यनुपदमागत एव।

उभौ—विजयस्व। (इति निष्क्रान्तौ)

राजा—माढव्य। अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम्।

विदूषकः—पढमं सपरीवाहं आसि, दाणिं रक्खसवुत्तन्तेण बिन्दू वि णावसेसिदो [प्रथमं सपरीवाहमासीत्। इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः।]

राजा—मा भैषीः। ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे।

विदूषकः—एस रक्खसादो रक्खिदो म्हि। (एष राक्षसाद्रक्षितोऽस्मि।)

(प्रविश्य)

दौवारिकः—सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि। एस उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो। [सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते एष पुनर्नगराद्देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः।]

राजा—(सादरम्) किमम्बाभिः प्रेषितः।

दौवारिकः—अह इं। (अथ किम्।)

राजा—(मुस्कराकर) रैवतक! सारथीसे कहना कि रथके साथ धनुष्-बाण लेता आवे।

द्वारपाल—जो आज्ञा महाराजकी। (प्रथान)

दोनों—(प्रसन्न होकर) राजन्! आप वही तो कर रहे हैं जो आपके पूर्वज लोग करते चले आये हैं। आश्रमकी रक्षा करना तो आपका धर्म ही है क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि शरणमें आए हुओंको अभयदान देनेमें पुरुवंशी कभी पीछे नहीं हटते ॥ १६ ॥

राजा—आप लोग चलिए। मैं भी पीछे पीछे आ ही रहा हूँ।

दोनों—आपकी विजय हो। (प्रस्थान)

राजा—माढव्य! शकुन्तलाको देखनेकी कुछ इच्छा है?

विदूषक—पहले तो इच्छाकी बाढ़ आ गई थी, पर जबसे राक्षसोंका नाम सुना है तबसे तो बूँद भर भी नहीं बची रह पाई है।

राजा—डरो मत। तुम्हें हम अपने साथ रक्खेंगे।

विदूषक—हाँ, तब तो राक्षसोंसे प्राण बचे रहेंगे।

द्वारपाल—(प्रवेश करके) महाराज! रथ तैयार है और आपकी विजय-यात्राके लिये चलनेकी प्रतीक्षा कर रहा है। और हाँ, राजमाताकी आज्ञा लेकर नगरसे करभक भी आया है।

राजा—(आदरके साथ) क्या माताजीने भेजा है?

द्वारपाल—जी हाँ।

राजा—**ननु प्रवेश्यताम् ।**

दौवारिकः—**तह ।** (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य) **एसो भट्टा । उवसप्प ।** [तथा । एष भर्ता । उपसर्प ।]

करभकः—**जेदु भट्टा । देवी आणवेदि—आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्तपारणे मे उववासो भविस्सदि । तहिं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वा त्ति ।** [जयतु भर्ता । देव्याज्ञापयति—आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं संभावितव्येति]

राजा—**इतस्तपस्विकार्यम् इतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमणीयम् । किमत्र प्रतिविधेयम् ।**

विदूषकः **तिशङ्कू विअ अन्तराले चिट्ठ ।** [त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ ।]

राजा—**सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि—**

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्द्वैधीभवति मे मनः ।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥१७॥

(विचिन्त्य) **सखे ! त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।**

विदूषकः—**ण क्खु मं रक्खोभीरुअं गणेसि ।** [न खलु मां रक्षोभीरुकं गणयसि ।]

राजा—(सस्मितम्) **कथमेतद्भवति संभाव्यते ।**

विदूषकः—**जह राआणुएण गन्तव्वं तह गच्छामि ।** [यथा राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि ।]

राजा—तो उसे यहीं लेते आओ ।

द्वारपाल—जो आज्ञा । (प्रस्थान । करभकको साथ लेकर फिर प्रवेश) महाराज ये बैठे हैं । आगे बढ़ जाओ ।

करभक—महाराजकी विजय हो । माताजीने कहलाया है कि आजसे चौथे दिन मेरे व्रतका पारण होगा । उस अवसरपर चिरञ्जीवी भी अवश्य उपस्थित रहें ।

राजा—इधर तो ऋषियोंका काम, उधर बड़ोंकी आज्ञा । दोनों ही नहीं टाले जा सकते । क्या करूँ ?

विदूषक—त्रिशंकुके समान बीचमें जा लटको ।

राजा—मैं तो सचमुच बड़ी उलझनमें पड़ गया हूँ । क्या बताऊँ ? दोनों कार्य दो अलग-अलग स्थानोंमें पड़ रहे हैं । इसलिये इस समय दुविधामें पड़े हुए मेरे मनकी वही दशा हुई जा रही है जो पहाड़से रुकी हुई नदीकी धाराकी होती है ॥१७॥

(सोचकर) मित्र ! देखो ! माताजी तुम्हें भी पुत्रके ही समान मानती हैं । इसलिये तुम चले जाओ और माताजीसे कह देना कि मैं ऋषियोंकी रक्षामें लगा हुआ हूँ । और वहाँ जो कुछ मेरे करनेका काम हो सब तुम्हीं कर डालना ।

विदूषक—यह न समझिए कि मैं राक्षसोंसे डरता हूँ ।

राजा—(मुसकराकर) भला तुम्हारे विषयमें क्या कभी ऐसा सोचा जा सकता है ?

विदूषक—तो मैं वैसे ही ठाट-बाटसे जाऊँगा जैसे राजाका छोटा भाई जाता है ।

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकांस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि ।

विदूषकः—(सगर्वम्) तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो । [तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः ।]

राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं बटुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत् । भवतु । एनमेवं वक्ष्ये—(विदूषकं हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम्) वयस्य ! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि । न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः । पश्य—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः ।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥ १८ ॥

विदूषकः—अह इं । [अथ किम् ।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

राजा—ठीक है, ऐसे ही जाना । जहाँतक हो तपोवनसे सब बखेड़ा दूर ही रखना चाहिए । इसलिये सेनाको भी तुम्हारे ही साथ भेजे देता हूँ ।

विदूषक—(गर्वके साथ) तब तो इस समय मैं पक्का युवराज ही बना दिया गया हूँ !

राजा—(मन ही मन) वह ब्राह्मण बड़ा ही खटपटी है । कहीं रनिवासमें जाकर यह मेरी पोल न खोल डाले । अच्छा, इसे यों समझाता हूँ—(विदूषकका हाथ पकड़कर । प्रकट) मित्र, मैं ऋषियोंका बड़ा आदर करता हूँ इसीलिये उनके आश्रममें जाया करता हूँ । और उस ऋषिकन्याके लिये तो मेरे मनमें तनिक भी प्रेम नहीं है । क्योंकि—कहाँ तो हम, और कहाँ प्रेमकी बातोंसे एकदम अनजान, मृगछौनोंके साथ पली हुई वह कन्या । मित्र, हमने हँसीमें जो इतनी बातें तुमसे कह दी हैं उन्हें तुम सत्य न समझ बैठना ॥ १८ ॥

विदूषक—नहीं, नहीं । ठीक है ।

(सब चले जाते हैं ।)

॥ दूसरा अङ्क पूर्ण ॥

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः ।)

शिष्यः —अहो महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः प्रविष्टमात्रे एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति ।

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥ १ ॥

यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपनयामि (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) प्रियंवदे ! कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते । (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि । आतपलङ्घनाब्दलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः शरीरनिर्वापणायेति । तर्हि त्वरितं गम्यताम् । सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् । अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

(विष्कम्भकः ।)

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा ।)

राजा —(सचिन्तं निःश्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥ २ ॥

तीसरा अङ्क

(हाथमें कुशा लिए कण्वके शिष्यका प्रवेश ।)

शिष्य—महाराज दुष्यन्तका प्रताप तो देखिए कि जबसे वे इस आश्रममें पधारे हैं तभीसे हमारे सब काम बेरोक-टोक हुए चले जा रहे हैं—बाण चढ़ानेकी तो बात ही दूर, केवल अपने धनुष्की टंकारसे ही वे विघ्नोंको दूर भगा डालते हैं ॥ १ ॥ तो चलूं, ऋत्विजोंके लिये वेदीपर बिछानेकी कुशा ले जा पहुँचा आऊँ । (घूमकर आकाशकी ओर देखते हुए ।) अरी प्रियंवदा; ये डंठलवाले कमलके पत्ते और खस मिला हुआ लेप किसके लिये लिए चली जा रही हो । (सुननेका नाटच करते हुए) क्या कहा कि शकुन्तला लू लग जानेसे बड़ी बेचैन हो उठी है, उसके शरीरको ठंडक पहुँचानेके लिये ही यह सब ले जा रही हूँ ! तो तुरन्त चली जाओ क्योंकि वह तो भगवान् कुलपति कण्वके प्राणके ही समान है । मैं भी तबतक उसके लिये गौतमीके हाथ यज्ञका शान्ति-जल भेजे दे रहा हूँ । (प्रस्थान)

(विष्कम्भक]

(कामसे पीडित अवस्थामें राजा दुष्यन्तका प्रवेश ।)

राजा—(उसाँसें भरकर) मैं तपस्वियोंकी शक्तिको भली भाँति जानता हूँ, इसलिये मैं उसे हरकर तो ले नहीं जा सकता और साथ-साथ यह भी जानता हूँ कि विवाह करना न करना भी उस कुमारीके हाथकी बात नहीं है इसलिये वह स्वयं भी मेरे साथ नहीं चल सकती । फिर भी न जाने क्या बात है कि मैं अपना मन उसपरसे हटा नहीं पा सक रहा हूँ ॥ २ ॥

(मदनबाधां निरूप्य) भगवन्कुसुमायुध ! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः । कुतः—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ॥ ३ ॥

अथवा—

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे ।
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥ ४ ॥

(सखेदं परिक्रम्य) क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि । (निःश्वस्य) किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् । यावदेनामन्विष्यामि । (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद्गच्छामि (परिक्रम्य संस्पर्शं रूपयित्वा) अहो प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः ।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥ ५ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन्बेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम् । तथा (अधो विलोक्य)

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपंक्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥ ६ ॥

(काम-पीडाका नाट्य करते हुए)—अजी फूलोंके धनुष-बाण धारण करनेवाले कामदेव ! तुम और चन्द्रमा दोनोंने उन सब बेचारे कामियोंको बड़ा धोखा दे डाला है जो तुमपर विश्वास किए बैठे थे। क्योंकि—तुम फूलोंके बाण लिए रहते हो और चन्द्रमा ठण्डी किरणें बरसाता रहता है ये दोनों बातें मुझ-जैसे विरहियोंको तो झूठी ही जान पड़ती हैं, क्योंकि उधर चन्द्रमा तो अपनी ठण्डी किरणोंसे आग बरसाए डाल रहा है और तुम भी अपने फूलोंके बाणोंमें वज्रकी-सी कठोरता भरे बैठे हो ॥ ३ ॥

पर हाँ यदि तुम उस बड़ी-बड़ी मदभरी, आँखोंवाली शकुन्तलाके कारण ही मेरा जी बार-बार दुखाए जा रहे हो तब तो कोई बात नहीं, तुम ठीक ही कर रहे हो ॥ ४ ॥

(दुखी होकर घूमता हुआ) यज्ञ-पूर्ण हो जानेपर जब ऋषि लोग मुझे बिदा कर देंगे तब मैं अपने ये दुखी प्राण लेकर कहाँ मन बहला पाऊँगा ? (ठण्डी साँस भरकर) प्रियाका दर्शन छोड़कर अब और दूसरा सहारा ही क्या रह गया है ? चलूँ चलकर उसीको ढूँढ़ता हूँ। (सूर्यको देखकर) ऐसी भरी दुपहरीमें तो शकुन्तला अपनी सखियोंके साथ मालिनीके तटपर बने लतामण्डपोंमें ही जाकर प्रायः बैठा करती है। तो वहीं चला चलता हूँ। (घूमकर और वायुका स्पर्श होनेका अभिनय करता हुआ) वाह, यहाँ कैसा अच्छा पवन बह रहा है—कमलमें बसा हुआ और मालिनीकी लहरोंकी फुहारोंसे लदा हुआ यह पवन, कामसे तपे हुए अंगोंको बड़ी ठंडक दिए डाल रहा है ॥ ५ ॥

(घूमकर और देखकर) शकुन्तला तो बेंतोंसे घिरे हुए इस लतामण्डपमें ही कहीं बैठी होनी चाहिए। क्योंकि (नीचे देखकर) इस कुंजके द्वारकी पीली रेतीमें भारी नितंबवाली सखियोंके पैरोंकी नई पड़ी हुई छाप दिखाई दे रही है जो एड़ीकी ओर गहरी और आगेकी ओर उठी हुई हैं ॥ ६ ॥

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि। (परिक्रम्य तथा कृत्वा। सहर्षम्) अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सुकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते। भवतु। श्रोष्याम्यासां विस्रम्भकथितानि। (इति विलोकयन् स्थित:।)

(तत: प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला।)

सख्यौ—(उपवीज्य सस्नेहम्) हला सउन्दले ! अवि सुहेदि दे णलिणीपत्तवादो ? [हला शकुन्तले ! अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवात: ?]

शकुन्तला—किं वीअअन्ति मं सहीओ। [किं वीजयतो मां सख्यौ।]

(सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयत:।)

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते। (सवितर्कम्) तत्किमयमातपदोष: स्यात् उत यथा मे मनसि वर्तते। (साभिलाषं निर्वर्ण्य) अथवा कृतं संदेहेन।

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं
प्रियाया: साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्ताप: कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥७॥

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए ! तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउन्दला। किं णु क्खु से तण्णिमित्तो अअं आतङ्को भवे। [अनसूये ! तस्य राजर्षे: प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं नु खलु तस्यास्तन्निमित्तोऽयमातंको भवेत्।]

अच्छा ! इन वृक्षोंकी ओटसे ही झांके लेता हूँ। (घूमकर और प्रसन्न होकर) वाह वाह ! मेरी तो आँखें ठण्ढी हो गईं ! मेरी प्यारी यहीं पर सुन्दर फूलोंके बिछोनेवाली पत्थरकी पटियापर लेटी पड़ी है और दोनों सखियाँ इसकी सेवामें लगी हुई हैं। अच्छा ! सुनूं तो सही कि आपसमें ये बातें क्या कर रही हैं। (खड़ा होकर सुनता है।)

(जैसा ऊपर कहा गया है उस दशामें शकुन्तलाके साथ सखियाँ दिखाई देती हैं।)

सखियाँ—(बड़े प्यारसे पंखा झलती हुईं) क्यों सखी शकुन्तला ! कमलके पत्ते झलनेसे कुछ ठण्ड़क मिल रही है ?

शकुन्तला—ऐ ! सखियो ! क्या तुम मुझे पंखा झल रही हो ?

(सखियाँ दुखी होनेका अभिनय करती हुई एक दूसरी की ओर देखती हैं।)

राजा—शकुन्तला तो बड़ी बेचैन दिखाई पड़ रही है। (सोचकर) इसे क्या लू लग गई है ? या कहीं ऐसा तो नहीं है कि जो दशा मेरे मनकी हुई जा रही है वही इसके मनकी भी हो। (ललचाई आँखोंसे देखता हुआ) पर सन्देह किया ही क्यों जाय। क्योंकि—

इसके स्तनोंपर तो खसका लेप लगाया हुआ है और एक हाथमें कमलकी नालका ढीला कंगन सा बांधा गया है। पर इतना बेचैन होनेपर भी इसका शरीर कुछ कम सुन्दर नहीं लग रहा है। यद्यपि लू लगने और प्रेममें पड़नेपर बेचैनी तो एक-सी होती है किन्तु लू लग जानेपर युवतियोंमें इतनी सुन्दरता नहीं बच रह जाती है ॥ ७ ॥

प्रियंवदा—(अलग) अनसूया ! जबसे शकुन्तलाकी उस राजर्षिसे चार आँखें हुई हैं तभीसे यह उनपर लट्टू हो बैठी है। कौन जाने उन्हींके कारण यह बेचैनी हो रही हो।

अनसूया—**सहि ! मम वि ईदिसी आसंका हिअअस्स । होदु । पुच्छिस्सं दाव णं ।** (प्रकाशम्) **सहि पुच्छिदव्वासि किं पि । बलवं क्खु दे संदावो ।** [सखि ममापिदृश्याशङ्का हृदयस्य । भवतु । प्रक्ष्यामि तावदेनाम् । सखि प्रष्टव्याऽसि किमपि । बलवान्खलु ते संतापः ।]

शकुन्तला—(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय) **हला ! किं वत्तुकामासि ?** [हला ! किं वक्तुकामासि ?]

अनसूया—**हला सउन्दले ! अणब्भन्तरा क्खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तन्तस्स । किदु जादिसी इदिहासणिबन्धेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि । कहेहि किं णिमित्तं संदावो । विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारम्भो पडिआरस्स ।** [हला शकुन्तले ! अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य । किंतु यादृशी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं ते पश्यामि । कथय किं निमित्तं ते संतापः । विकारं खलु परमार्थतः अज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य ।]

राजा—**अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः । न हि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम् ।**

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **बलवं क्खु मे अहिणिवेसो । दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कणोमि णिवेदिदुं ।** [बलवान्खलु मेऽभिनिवेशः । इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम् ।]

प्रियंवदा—**सहि सउन्दले ! सुट्ठु एसा भणादि किं अत्तणो आतंकं उवेक्खसि । अणुदिअहं क्खु परिहीयसि अंगेहिं केवलं लावण्णमई छाया तुमं ण मुंचदि ।** [सखि शकुन्तले ! सुष्ठु एषा भणति । किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे । अनुदिवस खलु परिहीयसेऽङ्गैः । केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति ।]

अनसूया—हाँ सखी ! मैं भी कुछ ऐसा ही सोचती हूँ । अच्छा ! इसीसे पूछ देखती हूँ । (प्रकट) सखी, मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ क्योंकि देखो, तुम्हारी बेचैनी बहुत बढ़ चली है ।

शकुन्तला—(बिछौनेपर आधी उठँग कर) क्या पूछना चाहती हो सखी ?

अनुसूया—शकुन्तला ! हम लोग प्रेम-वेमकी तो बातें कुछ जानती नहीं, फिर भी कथा-कहानियोंमें जो हमने प्रेमियोंकी बातें सुनी हैं, ठीक वैसी ही कुछ तुम्हारी भी दशा दिखाई पड़ रही है । तो बताओ, तुम इतनी बेचैन हुई पड़ी हो तो किसके लिये हो क्योंकि जबतक रोगका निदान न हो पावे तबतक उसका उपाय कैसे किया जा सकता है ?

राजा—मैं जो कारण समझे बैठा था वही अनसूया भी सोच रही है । तो मैंने जो कुछ सोचा था वह केवल मेरे ही मनकी बात नहीं थी ।

शकुन्तला—(मन ही मन) सचमुच मेरा प्रेम इतना अधिक आगे बढ़ चुका है कि मुझसे एकाएक कुछ कहते नहीं बन पा रहा है ।

प्रियंवदा—हां सखी शकुन्तला ! अनसूया ठीक ही तो कह रही है । तुम क्यों अपना रोग बढ़ाए चली जा रही हो । दिन पर दिन तुम इतनी कुम्हलाई चली जा रही हो कि तुम्हारे शरीरपर सुन्दरताकी बस झलक भर बची रह गई है ।

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा। तथा हि—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥ ८ ॥

शकुन्तला—सहि ! कस्स वा अण्णस्स कहइस्सं। आआसइत्तिआ दाणिं वो भविस्सं। [सखि ! कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि। आयासयित्रीदानीं वां भविष्यामि।]

उभे—अदो एव्व क्खु णिब्बन्धो। सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि। [अत एव खलु निर्बन्धः। स्निग्धजनसंविभक्त हि दुखः सह्यवेदनं भवति।]

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्णमत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥९॥

शकुन्तला—सहि ! जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवणरक्खिदा राएसी तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता [सखि ! यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थाऽस्मि संवृत्ता।]

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम्।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥१०॥

राजा—प्रियंवदा सच कहती है। क्योंकि—इसके गाल बैठ गए हैं, मुँह सूख गया है, स्तनोंकी कठोरता जाती रही है, कमर और भी पतली हो चली है, कंधे झुक गए हैं और सारी देह पीली पड़ गई है। वायुके परससे मुरझाई हुई पत्तियोंवाली माधवी लताके समान यह सुन्दर तो लग रही है पर इसपर दया भी आ रही है ॥ ८ ॥

शकुन्तला—बताओ, तुमसे न कहूँगी तो और किससे कहूँगी ? सखी ! अब तुम दोनोंको मेरे लिये कुछ थोड़ा-सा कष्ट करना ही पड़ेगा।

दोनों—इसीलिये तो हम तुमसे इतना आग्रह किए डाल रही हैं। देखो, अपने स्नेहियोंसे दुःख बाँट लेनेपर वह कम ही हो जाता है।

राजा—दुख-सुखमें साथ देनेवाली अपनी इन सखियोंके पूछनेपर तो यह बाला अवश्य ही अपने मनकी बात खोल बता देगी। यद्यपि शकुन्तलाने उस समय बड़े प्यारसे बार-बार मेरी ओर ललचाई आँखोंसे देखा था फिर भी मेरे जीमें बड़ी धुकधुकी मची जा रही है कि देखें यह अपनी बेचैनीका क्या कारण बताती है ॥ ९ ॥

शकुन्तला—सखी, आश्रमकी रक्षा करनेवाले वे राजर्षि जबसे मेरी आँखोंमें आ समाए हैं तभीसे उन्हींके प्रेममें मेरी यह दशा हुई जा रही है।

राजा—(हर्षसे) यही सुननेको तो मैं तरस रहा था। जो कामदेव मुझे पीड़ा दिए डाल रहा था, उसीने मुझे वैसे ही जिला लिया जैसे गर्मीका दिन पहले तो जीवोंको व्याकुल कर डालता है पर दिन ढल जानेपर वही सबका जी हरा भी कर देता है ॥ १० ॥

शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं। ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि। अण्णहा अवस्सं सिञ्चध मे तिलोदअं। [तद्यदि वामनुमतम् तदा तथा वर्तेथाम् यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथा अवश्यं सिञ्चत मे तिलोदकम्।]

राजा—संशयच्छेदि वचनम्।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! दूरगअमन्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स। जस्सि बद्धभावा ऐसा सो ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्तं से अहिलासो अहिणन्दिदुं। [अनसूये! दूरगतमन्मथा अक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन् बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम् तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्]

अनसूया—तह जह भणसि। [तथा यथा भणसि।]

प्रियंवदा—(प्रकाशम्) सहि! दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो। साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ को दाणिं सहआरं अन्तरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि। [सखि! दिष्टयाऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते।]

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखमानुवर्तेते।

अनसूया—को उण उवाओ भवे जेण अविलम्बिअं णिहुअं अ सहीए मनोरहं संपादेम्ह। [कः पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं संपादयावः।]

प्रियंवदा—णिहुअं त्ति चिन्तणिज्जं भवे। सिग्घं त्ति सुअरं। [निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रमिति सुकरम्।]

अनसूया—कहं विअ। [कथमिव।]

शकुन्तला—यदि तुम दोनों ठीक समझो तो कोई ऐसा उपाय सोच निकालो कि उन राजर्षिकी मुझपर कृपा हो जाय। यह नहीं हो पाया तो मुझे तिलाञ्जलि देनेके लिये तैयार हो जाओ।

राजा—(मन ही मन) बस, यह सुनकर अब मेरा सारा सन्देह जाता रहा।

प्रियंवदा—(अनसूयासे अलग) सखी, इसकी प्रेम-व्यथा इतनी अधिक बढ़ गई है कि कोई न कोई उपाय शीघ्र ढूँढ निकालना ही होगा। सचमुच, इस बातकी तो सराहना करनी ही पड़ेगी कि शकुन्तलाने भी प्रेम किया तो पुरुवंशके भूषण दुष्यन्तसे ही किया।

अनसूया—हाँ, यह बात तो है।

प्रियंवदा—(प्रकट) सखी, तू बड़ी सौभाग्यशालिनी है कि तू ऐसे योग्य पुरुषसे प्रेम कर बैठी है। बता तो, भला सागरको छोड़कर महानदी और जायगी कहाँ? आमके वृक्षको छोड़कर नये पत्तोंवाली माधवी भला और किसके सहारे चढ़ेगी?

राजा—यदि विशाखाके दोनों नक्षत्र चन्द्रकलाके पीछे-पीछे चलें तो आश्चर्य ही क्या?

अनसूया—तो कोई ऐसा उपाय निकाल बताओ कि इसकी इच्छा भी तुरन्त पूरी हो जाय और कोई जान भी न पावे।

प्रियंवदा—तुरन्त वाला उपाय तो हो सकता है, पर बात छिपी रह जाय इसीके लिये थोड़ा सोचना पड़ेगा।

अनसूया—क्यों?

प्रियंवदा—णं सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइं पआअरकिसो लक्खीअदि। [ननु स राजर्षिरेतस्यां स्निग्धदृष्टचा सूचिताभिलाष एतान्दिवसान्। प्रजागरकृशो लक्ष्यते।]

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथा हि—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धना
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥ ११॥

प्रियंवदा—(विचिन्त्य) हला! मअणलेहो से करीअदु। इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पावइस्सं। [हला! मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देवप्रसादस्यापदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।]

अनसूया—रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि। [रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति।]

शकुन्तला—को णिओओ विकप्पीअदि। [को नियोगो विकल्प्यते।]

प्रियंवदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिन्तेहि दाव ललिअपदबंधणं। [तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम्।]

शकुन्तला—हला! चिन्तेमि अहं। अवहीरणभीरुअं पुणो वेवइ मे हिअअं। [हला! चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम्।]

प्रियंवदा—सच्ची बात यही है कि राजर्षि भी शकुन्तलासे उतना ही प्रेम करते हैं। तभी तो दिन-रात जागते रहनेसे इधर वे कुछ दुबलेसे दिखाई पड़ने लगे हैं।

राजा—मेरी दशा सचमुच ऐसी ही हो चली है। मैं इतना दुबला हो गया हूँ कि सिरके तले लगी हुई भुजापर बँधा हुआ और रात-रात भर मेरी आँखोंकी कोरोंसे छन-छनकर गिरे हुए गरम आँसुओंसे मैले रत्नोंवाला यह सोनेका भुजबन्ध इतना ढीला पड़ गया है कि बार-बार ऊपर सरकाते चलनेपर भी यह गट्टेपर खिसक उतरता है यहाँतक कि धनुषकी डोरीकी फटकारसे पड़े हुए घट्टोंतकपर भी नहीं ठहर पाता॥ ११॥

प्रियंवदा—(सोचकर) सखी! ऐसा किया जाय कि इससे एक प्रेम-पत्र लिखवा लिया जाय और उसे फूलोंमें छिपाकर देवताका प्रसाद कहकर उन्हें दे आया जाय।

अनसूया—हाँऽऽ, यह उपाय तो मुझे भी बड़ा सुन्दर जँचा, पर शकुन्तलासे भी पूछ लिया जाय।

शकुन्तला—तुम्हारी बातमें भला मैं क्या मीन-मेख निकाल सकती हूँ।

प्रियंवदा—तब अपनी दशाका वर्णन करते हुए एक सुन्दरी-सी कविता बना डालो।

शकुन्तला—कविता तो मैं बना लूंगी। पर मेरा हृदय यही सोच-सोचकर काँपे जा रहा है कि कहीं वे अस्वीकार न कर बैठें।

राजा—(सहर्षम्)

अयं स तिष्ठति संगमोत्सुको विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम् ।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥ १२ ॥

सख्यौ—अत्तगुणावमाणिणि ! को दाणिं सरीरणिव्वावत्तिअं सारदिअं जोसिणिं पडन्तेण वारेदि । [आत्मगुणावमानिनि ! क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ।]

शकुन्तला—(सस्मितम्) णिओइआ दाणि म्हि । [नियाजितेदानीमस्मि ।]
(इत्युपविष्टा चिन्तयति ।)

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि । यतः—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥ १३ ॥

शकुन्तला—हला ! चिन्तिदं मए गीदवत्थु । ण क्खु सण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि । [हला ! चिन्तितं मया गीतवस्तु । न खलु संनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि ।]

प्रियंवदा—इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि । [एतस्मिञ्छुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु ।]

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) हला ! सुणुद दाणिं संगदत्थं ण वेति । [हला ! शृणुतमिदानीं संगतार्थं न वेति ।]

उभे—अवहिदे म्ह । [अवहिते स्वः ।]

राजा—(हर्षसे) तुम जिससे निरादरकी आशंका किए जा रही हो वह तो स्वयं तुमसे मिलनेको उतावला हुआ खड़ा है । जो लक्ष्मी पानेके फेरमें पड़ा हो उसे लक्ष्मी भले ही न मिले पर जिसे स्वयं लक्ष्मी चाहे वह लक्ष्मीको न मिले, यह कैसे हो सकता है ॥ १२ ॥

दोनों—अपनेको इतना बुरा समझनेवाली ! भला बता तो ऐसा कौन मूर्ख होगा जो शरीरको शान्ति देनेवाली शरत्‌की चाँदनीको रोकनेके लिये सिरपर कपड़ा तान बैठे ।

शकुन्तला—(मुसकराकर) अच्छा, जो कहती हो वही किए डालती हूँ । (यह कहकर बैठी हुई सोचती है ।)

राजा—(मन ही मन) प्यारीको आँखभर देखनेका यह अच्छा अवसर मिला है, क्योंकि—लताके समान चढ़ी हुई एक भौंहवाला और हर्षसे पुलकित गालोंवाला इस गीत बनानेवालीका मुखड़ा ही बताए डाल रहा है कि यह मुझे कितना प्यार करती है ॥ १३ ॥

शकुन्तला—सखी ! गीत तो मैंने सोच लिया है पर लिखनेकी सामग्री तो यहाँ कुछ भी नहीं है ।

प्रियंवदा—सुग्गेकी छातीके समान कोमल इस कमलिनीके पत्तेपर अपने नखोंसे ही क्यों नहीं लिख डालती ?

शकुन्तला—[ऐसा ही करती हुई] सुनो सखी ! यह ठीक भी बन पाया है या नहीं ।

दोनों—हाँ, कहो, हम सुन रही हैं ।

शकुन्तला—(वाचयति)—

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।
णिग्घिण ! तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइँ अंगाइँ ॥ १४ ॥
[तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रिमपि ।
निर्घृण ! तपसि बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥]

राजा—(सहसोपसृत्य)

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥ १५ ॥

सख्यौ—(सहर्षम्) **साअदं अविलम्बिणो मणोरहस्स ।** [स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य ।]

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति ।)

राजा—**अलमलमायासेन ।**

संदष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि ।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥ १६ ॥

अनसूया—**इदो सिलातलेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो ।** [इतः सिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्यः ।]

(राजोपविशति । शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति)

प्रियंवदा—**दुवेणं णु वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो । सहीसिणेहो मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि ।** [द्वयोर्नंनु युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः । सखीस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति ।]

शकुन्तला—(बाँचती है ।)—

रे निर्दय ! मैं नहीं जानती, तेरे मनकी माया ॥
पर तेरे ही प्रेम-पाशमें पड़कर यह फल पाया ।
कामदेव दिन-रात तपाता मेरी कोमल काया ॥१४॥

राजा—(शीघ्रतासे आगे बढ़कर ।) सुन्दरी ! तुम्हें तो कामदेव सताता भर है पर यहाँ तो वह निरन्तर जलाए ही डाल रहा है क्योंकि दिन निकलनेपर कुमुदिनी उतनी नहीं कुम्हलाती जितना चन्द्रमा कुम्हला जाता है ॥ १५ ॥

सखियाँ—(हर्षसे) स्वागत है आपका ! हम लोग आपके दर्शनकी बात अभी सोच ही रही थीं कि आप स्वयं ही आ गए ।

(शकुन्तला उठना ही चाहती है ।)

राजा—बस बस, कष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं । विरहके अत्यन्त तापसे फूलके बिछौनेपर तुमने जो इधर-उधर करवटें ली थीं उसके कारण फूलोंकी पङ्खुड़ियाँ तुम्हारे शरीरमें पसीनेसे चिपट गई हैं । तुमने कमलकी नालके जो आभूषण पहन रक्खे हैं वे भी मुरझा गए हैं । इससे जान पड़ता है कि तुम्हारा शरीर अभी बहुत विकल है और तुम इस योग्य नहीं हो पाई हो कि उठकर आदर-सत्कार कर सको ॥ १६ ॥

अनसूया—(राजासे) मित्र ! आप भी इसी पत्थरकी पाटीके एक कोनेको सुशोभित कीजिए ।

(राजा बैठ जाते हैं । शकुन्तला सकुचा जाती है ।)

प्रियंवदा—यद्यपि यह बात तो प्रत्यक्ष है कि आप दोनों एक दूसरेसे प्रेम करते हैं, फिर भी अपनी सखीके प्रेमके नाते मैं आपसे कुछ कहना चाहती हूँ ।

राजा—भद्रे ! नैतत्परिहार्यम् । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।

प्रियंवदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो । [आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष युष्माकं धर्मः ।]

राजा—नास्मात्परम् ।

प्रियंवदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थन्तरं भअवता मअणेण आरोविदा । ता अरहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं । [तेन हीयं नो प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता । तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम् ।]

राजा—भद्रे ! साधारणोऽयं प्रणवः सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला—(प्रियंवदामवलोक्य) हला ! किं अन्तेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण । [हला ! किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन ।]

राजा—सुन्दरि !

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसंनिहिते हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥ १७ ॥

अनसूया—वअस्स ! बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति । जह णो पिअसही बन्धुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वत्तेहि । [वयस्य ! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते । यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय ।]

राजा—भद्रे ! किं बहुना ।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥ १८ ॥

राजा—भद्रे ! अपने मनकी बात कह डालिए । क्योंकि मनमें आई हुई बात यदि मनमें ही रह जाने दी जाती है तो पीछे बड़ा पछतावा होता है ।

प्रियंवदा—राजा होनेके कारण आपका यह धर्म हो जाता है कि अपने राज्यमें रहनेवाले लोगोंका कष्ट दूर करें ।

राजा—मैं कहाँ इससे हटता हूँ ।

प्रियंवदा—तो भगवान् कामदेवने आपके ही कारण हमारी सखीकी यह दशा कर डाली है । अब आप ही कृपा करें तो उसके प्राण बचें ।

राजा—भद्रे ! यह तो आपकी बड़ी कृपा है क्योंकि मेरी भी तो यहाँ यही दशा हो चली है ।

शकुन्तला—(प्रियंवदाको देखकर) सखी ! ये राजर्षि तो रनिवासकी रानियोंके विरहमें व्याकुल हो रहे होंगे, इन्हें इस फेरमें क्यों डाले दे रही हो ।

राजा—सुन्दरी ! मेरा हृदय तुम्हें छोड़कर और किसीको प्यार नहीं करता । फिर भी मदभरी चितवनवाली हृदयेश्वरी ! यदि तुम इसका विश्वास नहीं करती तो मैं यही समझूंगा कि कामदेवके बाणोंसे एक बार घायल हुएको अब तुम भी दुबारा घायल किए डाल रही हो ॥ १७ ॥

अनसूया—वयस्य ! सुनते हैं कि राजाओंके बहुतसी रानियाँ होती हैं । तो हमारी प्यारी सखीके लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कर दीजिएगा कि हम सगे-साथियोंको फिर पछताना न पड़ जाय ।

राजा—भद्रे ! और तो मैं क्या कह सकता हूँ । बस इतना ही कह देता हूँ कि रनिवासमें इतनी रानियोंके होते हुए भी मेरे कुलमें दो ही बड़ी समझी जायँगी—एक तो सागरसे घिरी हुई पृथ्वी और दूसरी तुम्हारी सखी शकुन्तला ॥ १८ ॥

उभे—**णिव्वुदे म्ह ।** [निर्वृते स्वः ।]

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्) **अणसूए ! जह एसो इदो दिण्णदिट्ठी उस्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि । एहि । संजोएम णं ।** [अनसूये ! यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति । एहि । संयोजयाव एनम् ।] (इत्युभे प्रस्थिते ।)

शकुन्तला—**हला ! असरण म्हि । अण्णदरा वो आअच्छदु ।** [हला ! अशरणाऽस्मि । अन्यतरा युवयोरागच्छतु ।]

उभे—**पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टइ ।** [पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते ।]

(इति निष्क्रान्ते ।)

शकुन्तला—**कहं गदाओ एव्व ।** [कथं गते एव ।]

राजा—**अलमावेगेन । नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते ।**

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवाता-
न्संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः ।
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥ १९ ॥

शकुन्तला—**ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं ।** [न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये ।]

(इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति ।)

राजा—**सुन्दरि ! अनिर्वाणो दिवसः इयं च ते शरीरावस्था ।**

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधपेलवैरङ्गैः ॥ २० ॥

दोनों—अब हमें सन्तोष है ।

प्रियंवदा—(बाहर देखकर) अनसूया ! देख, वह मृगछौना इधर देखता हुआ अपनी माँको ढूँढ रहा है । चल, इसे इसकी माँके पास पहुँचा आवें । (चलनेको उद्यत)

शकुन्तला—अरी सखियों ! मुझे किसके सहारे छोड़े जा रही हो ! दोनोंमें से एक तो ठहरी रहो।

दोनों—सारी पृथ्वीको सहारा देनेवाले तो तेरे पास बैठे ही हैं ।

(प्रस्थान ।)

शकुन्तला—अरे ! क्या चली गईं ?

राजा—घबराती क्यों हो ? तुम्हारी सेवा करनेवाला यह सेवक तो यहाँ बैठा ही है : हाथीकी सूँड़के समान ढलवाँ जाँघोंवाली ! इस समय जो तुम्हें सुहाता हो, मैं वही करनेको तत्पर हूँ । कहो तो इन थकावट दूर करनेवाले ठंडे कमलिनीके पत्तोंसे पंखा झलूँ या कहो तो तुम्हारे लाल कमलों-जैसे दोनों चरण अपनी गोदमें रखकर धीरे-धीरे बैठा पलोटूँ ॥ १९ ॥

शकुन्तला—पूज्य लोगोंसे सेवा कराकर मैं अपने सिर पाप नहीं लूँगी ।

(उठकर जाना चाहती है ।)

राजा—सुन्दरी ! अभी दिन भी नहीं ढला है और इधर तुम्हारे शरीरकी भी यह दशा बनी हुई है । इस दुपहरीमें फूलोंका बिस्तर छोड़कर और कमलके पत्तोंसे स्तन ढककर, विरहमें तपे हुए अपने दुर्बल अंग लेकर तुम कहाँ जाओगी ? ॥ २० ॥

(इति बलादेनां निवर्तयति)

शकुन्तला—**पोरव ! रक्ख अविणअं। मअणसंतत्तावि ण सु अत्तणो पहवामि।** [पौरव ! रक्षाविनयम् । मदन संतप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।]

राजा—**भीरु ! अलं गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभावान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। पश्य—**

गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥ २१ ॥

शकुन्तला—**मुञ्च दाव मं। भूओ वि सहिजणं अणुमाणइस्सं।** [मुञ्च तावन्माम् । भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये ।]

राजा—**भवतु मोक्ष्यामि।**

शकुन्तला—**कदा।** [कदा]

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥२२॥

(इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन।)

(नेपथ्ये)

चक्कवाकबहुए ! आमन्तेहि सहअरं। उवट्ठिआ रअणी [चक्रवाकवधुके आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी ।]

(शकुन्तलाका हाथ पकड़कर उसे रोक लेता है।)

शकुन्तला—पौरव ! कुछ तो शीलका ध्यान रखिए। प्रेमसे व्याकुल होनेपर भी मैं अपने मनसे कुछ नहीं कर सकती।

राजा—अरी डरपोक ! गुरुजनोंसे तो डरनेकी कोई बात है नहीं। पूज्य कुलपति धर्मको भली भाँति जानते हैं। यदि वे सब बातें जान भी लेंगे तब भी इसे बुरा नहीं कहेंगे। देखो—सुना जाता है कि जिन बहुतसे राजर्षियोंकी कन्याओंने अपना-अपना गान्धर्व विवाह किया है उनके पिताओंने उनका सदा समर्थन ही किया ॥ २१ ॥

शकुन्तला—अच्छा, अभी तो मुझे छोड़ दीजिए। मैं कमसे कम अपनी सखियोंसे तो पूछ लूं।

राजा—अच्छा, छोड़ दूंगा।

शकुन्तला—कब !

राजा—जैसे नये कोमल फूलका रस भौंरा बड़े चावसे पीता है वैसे ही जब मुझ प्यासेको तुम्हारे कोमल अधरोंका रस पीनेको मिल जायगा तब छोड़ दूंगा ॥ २२ ॥

(ऐसा कहकर उसका मुंह ऊपर उठाना चाहता है। शकुन्तला रोकनेका अभिनय करती है।)

(नेपथ्यमें)

अरी चकवी ! अब अपने प्यारेसे झट बिदा ले। रात आ पहुँची है।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) पोरव ! असंसअं मम सरीरवुत्तन्तोवलम्भस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि ता विडवन्तरिदो होहि । [पौरव ! असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति तद्विटपान्तरितो भव ।]

राजा—तथा । (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति ।)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च ।)

सख्यौ—इदो इदो अज्जा गोदमी । [इत इत आर्या गौतमी ।]

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य) जादे ! अवि लहुसंदावाइँ दे अंगाइँ । [जाते ! अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि ।]

शकुन्तला—अज्जे ! अत्थि मे विसेसो । [आर्ये ! अस्ति मे विशेषः ।]

गौतमी—इमिणा दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे शरीरं भविस्सदि । (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वच्छे ! परिणदो दिअहो । एहि । उडजं एव्व गच्छम्ह । [अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति । वत्से, परिणतो दिवसः । एहि । उटजमेव गच्छामः ।] (इति प्रस्थिताः ।)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ ! पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुञ्चसि । साणुसअविहडिदस्स कहं दे संपदं संदावो । (पदान्तरे स्थित्वा प्रकाशम्) लदावलअ ! संदावहारअ ! आमन्तेमि तुवं भूओ वि परिभोअस्स ! [हृदय ! प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि । सानुशयविघटितस्य कथं ते सांप्रतं संतापः । लतावलय ! संतापहारक ! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय ।] (इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः ।)

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य सनिःश्वासम्) अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः । मया हि—

शकुन्तला—(सिटपटाकर) पौरव ! जान पड़ता है मेरे शरीरकी दशा जाननेके लिये आर्या गौतमी यहीं चली आ रही हैं । इसलिये आप झटपट इस वृक्षकी ओटमें आ छिपिए ।

राजा—अच्छा । (छिप जाता है ।)

(हाथमें एक पात्र लिए हुए दोनों सखियोंके साथ गौतमीका प्रवेश ।)

सखियाँ – इधर आइए आर्या गौतमी, इधर ।

गौतमी—(शकुन्तलाके पास जाकर ।) वत्से ! तुम्हारे शरीरका ताप कुछ कम हुआ ?

शकुन्तला—हाँ, आर्ये ! अब तो कुछ ठीक है ।

गौतमी—लो, इस कुशाके जलसे तुम तत्काल अच्छी हो जाओगी । (शकुन्तलाके सिरपर जल छिड़कती है ।) वत्से ! दिन ढल गया है । आओ चलो, कुटीमें उठ चला जाय । (जाती है ।)

शकुन्तला—(मन ही मन) अरे हृदय ! जब तुम्हारा प्यारा अपने आप तुम्हारे पास आ पहुँचा था तब तो तुम डरपोक बने रहे । अब बिछुड़ जानेपर पछताते हुए क्यों इतना रो-कलप रहे हो । (कुछ पग चलती है, फिर खड़ी होकर, प्रकटमें) मेरा सन्ताप हरनेवाले लताकुंज ! विहारके लिये मैं तुम्हें फिर निमन्त्रण दे जाती हूँ । (भारी मनसे शकुन्तलाका प्रस्थान ।)

राजा—(पहलेके स्थानपर पहुँच कर, आह भरकर) आह ! मनकी साधें पूरी होनेमें

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥ २३ ॥

क्व न खलु संप्रति गच्छामि । अथवा इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि । (सर्वतोऽवलोक्य)

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥ २४ ॥

(आकाशे)

राजन् !

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥ २५ ॥

राजा—अयमयमागच्छामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

कितनी बाधाएँ आ कूदती हैं । क्योंकि—सुन्दर पलकोंवाली शकुन्तलाके उस मुखको उठाकर मैं चूम भी नहीं पाया जिसके ओठको वह बार-बार अपनी उँगलियोंसे ढके जा रही थी, जो बार-बार नहीं-नहीं कहते हुए भी बड़ा प्यारा लग रहा था और जिसे वह बार-बार अपने कंधेकी ओर मोड़े चली जा रही थी ॥ २३ ॥

अब जाऊँ तो कहाँ जाऊँ ? अच्छा इसी लता-कुंजमें थोड़ी देर ठहरा जाता हूँ जहाँ मेरी प्यारी इतनी देर तक रहकर चली गई है । (चारों ओर देखकर) इस पटियापर उसके शरीरसे मसला हुआ यह फूलोंका बिछावन भी पड़ा है । कमलिनीके पत्तेपर नखोंसे लिखा हुआ और मुरझाया हुआ यह प्रेम-पत्र भी रक्खा हुआ है । उसके हाथोंसे सूखकर गिरे हुए ये कमलनालके आभूषण भी बिखरे पड़े हैं । इसलिये अपने नेत्रोंको उलझानेवाली इतनी वस्तुओंके होते हुए मैं इस बेंतोंसे घिरे हुए सूने लता-मण्डपको इतनी शीघ्र छोड़कर कहीं भी जा नहीं पा रहा हूँ ॥ २४ ॥

(आकाशमें)

राजन्—सायंकालका यज्ञ-कर्म आरम्भ होते ही जलती हुई अग्निवाली वेदियोंके चारों ओर साँझके बादलोंके समान काले-काले और लाल-लाल डरावने राक्षस इधर-उधर फेरी देने लगे हैं ॥ २५ ॥

राजा—मैं अभी आ पहुँचता हूँ । (प्रस्थान ।)

॥ तीसरा अङ्क पूर्ण ॥

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ ।)

अनसूया—**पिअंवदे ! जइ वि गन्धव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअं तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्जं ।** [प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति मे हृदयं तथाप्येतावच्चिन्तनीयम् ।]

प्रियंवदा—**कहं विअ ।** [कथमिव ।]

अनसूया—**अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागदो इदोगदं वुत्तन्तं सुमरदि वा ण वेत्ति ।** [अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति ।]

प्रियंवदा—**वीसद्धा होहि । ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति । तादो दाणिं इमं वुत्तान्तं सुणिअ ण जाणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति ।** [विस्रब्धा भव । न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति । तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति ।]

अनसूया—**जह अहं देक्खामि तह तस्स अणुमदं भवे ।** [यथाऽहं पश्यामि तथा तस्यानुमत भवेत् ।]

प्रियंवदा—**कहं विअ ।** [कथमिव ।]

चौथा अङ्क

(फूल बीननेका अभिनय करती हुई दोनों सखियोंका प्रवेश)

अनसूया—प्रियंवदा ! इस बातसे तो जीको बड़ा संतोष हुआ कि शकुन्तलाका गान्धर्व विवाह हो गया और उसे योग्य पति भी मिल गया, पर सबसे बड़ी एक यही चिन्ता है ।

प्रियंवदा—क्या ?

अनसूया—यही कि आज यज्ञ पूर्ण हो चुकनेपर जब ऋषियोंसे बिदा लेकर ये राजा अपने नगरके रनिवासमें जा पहुँचेंगे तब यहाँकी सुध उन्हें रह भी पावेगी या नहीं ।

प्रियंवदा—इसकी क्या चिन्ता किए डाल रही हो ? ऐसी अच्छी चाल-ढालके लोग कपटी नहीं हुआ करते । पर ये सब बातें सुनकर पिताजी न जाने क्या करेंगे ?

अनसूया—मैं जहाँतक समझती हूँ, वे इसका समर्थन ही करेंगे ।

प्रियंवदा—क्यों ?

अनसूया--**गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जेत्ति अअं दाव पढमो संकप्पो । तं जई देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो ।** [गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः ।]

प्रियंवदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य) **सहि ! अवइदाइँ बलिकम्मपज्जत्ताइँ कुसुमाइँ ।** [सखि ! अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि ।]

अनसूया--**णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ ।** [ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया ।]

प्रियंवदा—**जुज्जदि ।** [युज्यते ।] (इति तदेव कर्मारभते ।)

(नेपथ्ये)

अयमहं भोः ।

अनसूया—(कर्णं दत्वा) **सहि ! अदिधीणं विअ णिवेदिदं ।** [सखि ! अतिथिनामिव निवेदितम् ।]

प्रियंवदा--**णं उडजसंणिहिदा सउन्दला ।** (आत्मगतम्) **अज्ज उणहिअएण असंणिहिदा ।** [ननूटज संनिहिता शकुन्तला । अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता ।]

अनसूया—**होदु । अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं ।** [भवतु । अलमेतावद्भिः कुसुमैः ।]

(इति प्रस्थिते)

(नेपथ्ये)

आः अतिथि परिभाविनि !

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥ १ ॥

अनसूया--क्यों क्या ? उनका तो संकल्प ही था कि कोई योग्य वर मिल जायगा तो इसका विवाह कर देंगे और जब दैवने ही वह काम पूरा कर दिया है तब तो बिना परिश्रमके ही उनकी बात बन गई ।

प्रियंवदा—(फूलोंकी पिटारी देखकर) सखी, बलि-कर्मके लिये इतने फूल तो बहुत होंगे न !

अनसूया--क्यों ? अभी शकुन्तलाके सौभाग्य-देवताकी भी तो पूजा करनी है ।

प्रियंवदा—हाँ, हाँ, ठीक कहती हो । (फूल बीनने लग जाती है ।)

(नेपथ्यमें)

अरे ! मैं आया हुआ हूँ ।

अनसूया—(कान लगाकर) यह तो किसी अतिथिकी बोली जान पड़ती है ।

प्रियंवदा--शकुन्तला तो कुटीमें है ही । (मन ही मन) पर आज वह कुछ अनमनी-सी हो रही है ।

अनसूया—चलो, इतने फूलोंसे काम हो जायगा ।

(प्रस्थान)

(नेपथ्यमें)

अरी ओ, अतिथिका अपमान करनेवाली । जिसके ध्यानमें इतनी मग्न होकर तू मुझ जैसे तपस्वीके आनेकी भी सुध नहीं ले रही है वह बहुत स्मरण दिलानेपर भी तुझे उसी प्रकार भूल जायगा जैसे पागल मनुष्य अपनी सारी पिछली बातें भूल जाया करता है ॥ १ ॥

प्रियंवदा—**हद्धी हद्धी । अप्पिअं एव्व संवुत्तं । कस्सिं पि पूआरुहे अबरद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला ।** (पुरोऽवलोक्य) **ण हि जस्सिं कस्सिं पि । एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी तह सविअ वेअबलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो । को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि ।** [हा धिक् हा धिक् । अप्रियमेव संवृत्तम् । कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला । न खलु यस्मिन्-कस्मिन्नपि । एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिस्तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः । कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति ।]

अनसूया—**गच्छ पादेसु पणमिय णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उपकप्पेमि ।** [गच्छ, पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनम् । यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि ।]

प्रियंवदा—**तह ।** [तथा] (इति निष्क्रान्ता ।)

अनसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) **अव्वो आवेअक्खलिदाए गईए पब्भट्टं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं ।** [अहो आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम् ।] (इति पुष्पोच्चयनं रूपयति ।)

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—**सहि ! पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि । किं वि उण साणुक्कोसो किदो ।** [सखि ! प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति । किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः ।]

अनसूया—(सस्मितम्) **तस्सिं बहु एदं पि । कहेहि ।** [तस्मिन्बह्वेतदपि । कथय ।]

प्रियंवदा—**जदा णिवत्तिदं ण इच्छदि तथा विण्णाविदो मए । भअवं पढम त्ति पेक्खिअ अविण्णादतबप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वो त्ति ।** [यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया । भगवन् प्रथम इति प्रेक्ष्य अविज्ञाततपः प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति ।]

प्रियंवदा—हाय हाय ! यह तो बड़ा बुरा हुआ । जान पड़ता है कि अपने बेसुधपनमें शकुन्तला किसी पूजनीय महात्माका अपमान कर बैठी है । (सामने देखकर) और वह भी किसी ऐसे-वैसेका नहीं ! ये तो तनिकसी बातपर बिगड़ खड़े होनेवाले महर्षि दुर्वासा ही हैं जो शाप देकर क्रोधसे काँपते हुए पैरोंसे वेगसे लौटे चले जा रहे हैं । भला आगको छोड़कर जलानेका काम और दूसरा कौन करेगा ?

अनसूया—जा, उनके पैरों पड़कर किसी प्रकार उन्हें लौटा ला । तबतक मैं अर्घ्यका जल लिए आती है ।

प्रियंवदा—अच्छी बात है । (प्रस्थान)

अनसूया—(दो एक पग चलकर ठोकर खा जाती है ।) हाय हाय ! झपटकर चलनेसे ऐसी ठोकर लग गई कि हाथसे फूलकी पिटारी ही छूट पड़ी । (फूल बीनने का अभिनय करती है ।)

प्रियंवदा—(प्रवेश करके) सखी, वे तो बड़े टेढ़े व्यक्ति हैं । वे क्या किसीकी सुनकर देते हैं ? फिर भी किसी-किसी प्रकार मैंने उन्हें थोड़ा बहुत मना ही लिया ।

अनसूया—(मुसकराकर) इतना भी क्या कम है । कहो क्या किया ?

प्रियंवदा—जब वे किसी प्रकार भी लौटनेको तैयार न हुए तब मैंने प्रार्थना की कि भगवन् ! एक तो आपकी बेटी शकुन्तलाका यह पहला-पहला अपराध है, फिर वह आपके तपका प्रभाव भी नहीं पहचानती थी इसलिये कमसे कम इसे बार तो उसे क्षमा कर ही दीजिए ।

अनसूया—तदो तदो। [ततस्ततः]

प्रियंवदा—ततो ण मे वअणं अण्णहाभविदुं अरिहदि किदु अहिण्णणाभरणदंसणेण साबो णिवत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो सअं अन्तरिहिदो। [ततो न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन्स्वयमन्तर्हितः।]

अनसूया—सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअकिअं अंगुलीअअं सुमरणीअं त्ति सअं पिणद्धं। तस्सिं साहीणोबाआ सउन्दला भविस्सदि। [शक्यमिदानीमाश्वसितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्। तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।]

प्रियंवदा—सहि ! एहि, देवकज्जं दाव से णिव्वत्तेम्ह। [सखि ! एहि, देवकार्यं तावदस्या निर्वर्तयावः।] (इति परिक्रामतः।)

प्रियंवदा—(विलोक्य) अणसूए ! पेक्ख दाव। वामहत्थोवहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही। भत्तुगदाए चिंताए अत्ताणं पि ण एसा विभावेदि किं उण आअन्तुअं। [अनसूये ! पश्य तावत्। बामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तयाऽऽत्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम्।]

अनसूया—पिअंवदे ! दुवेणं एव्व णं णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही। [प्रियंवदे ! द्वयोरेव ननु नो मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।]

प्रियंवदा—को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिञ्चेदि। [को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति।]

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

॥ विष्कम्भकः ॥

अनसूया—तब ?

प्रियंवदा—तब वे इतना ही कहकर अन्तर्धान हो गए कि मेरा वचन तो झूठा हो नहीं सकता। हाँ, इतना हो सकता है कि यदि यह कन्या अपने प्रेमीको कोई पहचानका आभूषण दिखला दे तो मेरा शाप छूट जायगा।

अनसूया—चलो, कुछ तो जी हलका हुआ क्योंकि उस राजर्षिने चलते समय अपने नामवाली जो अँगूठी अपने हाथसे उठा पहनाई वह अँगूठी ही शकुन्तलाके शाप छूटनेका सहज उपाय है।

प्रियंवदा—चलो सखी ! तबतक देव-पूजनका काम पूरा कर डाला जाय। (घूमती है।)

प्रियंवदा—(देखकर) देखो तो, बाएँ हाथपर गाल रक्खे प्यारी सखी कैसी चित्र-लिखी सी दिखाई दे रही है। पतिकी चिन्तामें जब यह अपनी ही सुध-बुध खोए बैठी है, तब अतिथिकी उसे क्या सुध हो सकती है ?

अनसूया—प्रियंवदा ! देखो, यह बात हमारे तुम्हारे कानतक ही रह जानी चाहिए क्योंकि शकुन्तला है बड़े कोमल स्वभावकी। उसकी रक्षा तो करनी ही होगी।

प्रियंवदा—हाँ हाँ, यह तो है ही। नवमल्लिकाकी लहलहाती लताको भला कौन खौलते हुए पानीसे सींचेगा।

(प्रस्थान।)

॥ विष्कम्भक ॥

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः ।)

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन कण्वेन । प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त प्रभातम् । तथा हि—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरःसरः एकतोऽर्कः ।
तेजो द्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥२॥

अपि च—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥३॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनसूया—जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स वि जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं । [यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्यापि जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् ।]

शिष्यः—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

अनसूया—पडिबुद्धा वि किं करिस्सं । ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरन्ति । कामो दाणिं सकामो होदु जेण असच्चसंधे जणे अणण्णहिअआ सही पदं कारिदा । अहवा दुव्वाससो कोवो एसो विआरेदि । अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मन्तिअ

(सोकर उठे हुए एक शिष्यका प्रवेश ।)

शिष्य—बाहरसे अभी लौटे हुए पूज्य कण्वने मुझे यह देखनेको कहा है कि अभी रात कितनी रह गई है । इसलिये चलूं बाहर चलकर देखूं । (इधर-उधर घूमकर और आकाशकी ओर देखकर ।) अरे, यह तो दिन निकल आया । क्योंकि—एक ओर औषधियोंके पति चन्द्रमा अस्ताचलको चले जा रहे हैं और दूसरी ओर अपने सारथि अरुणको आगे किए हुए सूर्य निकले चले आ रहे हैं । इन दो तेजस्वियोंके एक साथ उदय और अन्तको देखकर संसारको यही शिक्षा मिलती है कि दुःखके पीछे सुख और सुखके पीछे दुःख लगा ही रहता है ॥ २ ॥

और भी देखो—चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर अब कुमुदिनी आँखोंको नहीं भाती । उसकी शोभा केवल कल्पनामें ही रह गई है । सचमुच जिन स्त्रियोंके पति परदेश चले जाते हैं वे वियोगका दुःख कैसे सह पाती होंगी ॥ ३ ॥

(परदेको झटकेसे हटाकर अनसूया आती है ।)

अनसूया—(आप ही आप) यद्यपि मैं प्रेमकी बातें कुछ भी नहीं जानती फिर भी इतना तो अवश्य ही कह सकती हूँ कि उस राजाने शकुन्तलाके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया ।

शिष्य—चलूँ, गुरुजीसे चलकर बता दूँ कि हवनका समय हो गया है । (प्रस्थान)

अनसूया—मैं जाग तो गई हूँ, पर क्या बताऊँ, यहाँ अपने नित्यके कामके लिये भी हाथ-पैर नहीं उठ रहे हैं । अब कामदेवका जी तो भर ही गया होगा कि मेरी सच्ची सखी उस झूठेका इतना विश्वास कर बैठी । या कौन जाने दुर्वासाके शापका ही फल हो, नहीं तो वैसी मीठी-मीठी बातें

एत्तिअस्स कालस्स लेहमत्तं पि ण विसज्जेदि ता इदो अहिण्णाणं अंगुलीअअं से विसज्जेम। दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु। णं सहीगामी दोसो त्ति व्ववसिदा वि ण पारेमि पवासपडिणिउत्तस्स तादकण्णस्स दुस्सन्तपरिणीदं आवण्णसत्तं सउन्दलं णिवेदिदुं। इत्थंगए अम्हेहिं किं करणिज्जं। [प्रतिबुद्धाऽपि किं करिष्ये। न मे उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपादं प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसंधे जने अनन्यहृदया सखी पदं कारिता। अथवा दुर्वाससः कोप एव विकारयति। अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति। तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः। दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्। ननु सखीगामी दोष इति व्यवसिताऽपि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकण्वस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम्।]

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—(सहर्षम्) सही! तुवर तुवर सउन्दलाए पत्थाणकोदुअं णिव्वत्तिदुं। [सखि! त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम्।]

अनसूया—सहि! कहं एदं। [सखि! कथमेतत्।]

प्रियंवदा—सुणाहि। दाणिं सुहसइनपुच्छिआ सउन्दलासआसं गदम्हि। [शृणु। इदानीं सुखशयनपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गताऽस्मि।]

अनसूया—तदो तदो। [ततस्ततः।]

प्रियंवदा—तदो जाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकण्णेण एव्वं अहिणन्दिदं—दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पावए एव्व आहुदी पडिदा। वच्छे! सुसिस्स परिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जा संवुत्ता। अज्ज एव्व इसिरक्खिदं

करनेवाला वह राजर्षि इतने दिन बीत जानेपर भी क्या एक पत्र-तक न लिख भेजता? अब उसे सुध दिलानेके लिये उसके पास अँगूठी भेजनी ही पड़ेगी। पर कठोर जीवन बितानेवाले इन तपस्वियोंमेंसे किससे अँगूठी पहुँचानेको कहा जाय। बाहरसे लौटे हुए तात कण्वसे मैं सखीके अपराधकी बात तो कह सकती हूँ पर उनसे यह नहीं कह पाऊँगी कि शकुन्तलाका राजा दुष्यन्तसे विवाह हो गया है और उसे गर्भ भी है। बात इतनी आगे बढ़ जानेपर अब क्या किया जाय।

(आकर)

प्रियंवदा—(हर्षसे) अरी सखी! चल झपटकर। शकुन्तलाकी विदाईका प्रबन्ध करना होगा।

अनसूया—अरे! यह सब कैसे हो गया?

प्रियंवदा—तो सुन! मैं अभी शकुन्तलाके पास पूछने गई थी कि तू रातको सुखसे सोई या नहीं!

अनसूया—तब-तब?

प्रियंवदा—तबतक तात कण्व आ पहुँचे और लाजमें गड़ी शकुन्तलाको गलेसे लगाकर यह आनन्दकी बात बोले—वत्से! आज आँखोंमें धुआँ भर जानेपर भी सौभाग्यसे यजमानकी आहुति ठीक अग्निके बीचमें ही पड़ी। इसलिये जैसे योग्य शिष्यको विद्या देनेसे मनमें दुःख नहीं

तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमि त्ति । [ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकण्वेनैवमभिनन्दितम्—दिष्टया धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से ! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति ।]

अनसूया—अह केण सूइदो तादकण्णस्स वुत्तन्तो । [अथ केन सूचितस्तातकण्वस्य वृत्तान्तः ।]

प्रियंवदा—अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआए । [अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या ।]

अनसूया—(सविस्मयम्) कहं विअ । [कथमिव ।]

प्रियंवदा—(संस्कृतमाश्रित्य)

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥ ४ ॥

अनसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य) सहि ! पिअं मे । किंदु अज्ज एव्व सउन्दला णीअदि त्ति उक्कंठासाहारणं परितोसं अणुहोमि । [सखि ! प्रियं मे । किं त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि ।]

प्रियंवदा—सहि वअं दाव उक्कंठं विणोदइस्सामो । सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु । [सखि ! आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः । सा तपस्विनी निर्वृत्ता भवतु ।]

अनसूया—तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णरिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्वं कालन्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ । ता इमं हत्थसंणिहिदं करेहि जाव अहं पि से मअलोअणं तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसलआणि त्ति मंगलसमालम्भणाणि विरएमि । [तेन

होता वैसे ही तुझे भी योग्य पतिके हाथमें देते हुए मुझे भी दुःख नहीं है । मैं आज ही तुझे ऋषियोंके साथ तेरे पतिके पास भेजे दे रहा हूँ ।

अनसूया—और तात कण्वको यह बताया किसने !

प्रियंवदा—जैसे ही तात कण्व यज्ञशालामें पहुँचे वैसे ही छन्दमें बँधी यह आकाशवाणी सुनाई दी—

अनसूया—(आश्चर्यसे ।) क्या ?

प्रियंवदा—(संस्कृतमें बोलती है ।)

जैसे शमी-वृक्षके भीतर होता है पावकका वास ।
वैसे ब्रह्मन् ! इस कन्यामें जग-हित पौरव-तेज-निवास ॥ ४ ॥

अनसूया—(प्रियंवदासे गले लगकर ।) सखी ! मैं तो फूली नहीं समा रही हूँ पर इस हर्षमें दुःखकी बात बस इतनी ही है कि शकुन्तला आज ही चली जा रही है ।

प्रियंवदा—चलो, हम लोग तो जैसे-तैसे अपना मन समझा लेंगी, पर वह बेचारी तो किसी प्रकार सुखी रहे ।

अनसूया—वह जो आमकी डालीपर नारियल लटक रहा है न; उसमें मैंने बहुत दिनोंतक सुगन्धित रह सकनेवाली बकुलकी माला आजके ही लिये रख छोड़ी है । जा, उसे उतार तो ले

ह्येतस्मिश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका। तदिमां हस्तसन्निहितां कुरु यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृतिकां दूर्वाकिसलयानीति मंगलसमालम्भनानि विरचयामि।

प्रियंवदा—**तह करीअदु**। [तथा क्रियताम्।]

(अनसूया निष्क्रान्ता। प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति।)

(नेपथ्ये)

गौतमी ! आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय।

प्रियंवदा—(कर्णं दत्वा) **अणसूए ! तुवर तुवर ! एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दाबीअन्ति**। [अनसूये ! त्वरस्व त्वरस्व, एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दापयन्ते।]

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता।)

अनसूया—**सहि ! एहि गच्छम्ह**। [सखि ! एहि गच्छावः] (इति परिक्रामतः।)

प्रियंवदा—(विलोक्य) **एसा सुज्जोदए एव्व सिहामज्जिअदा पडिट्ठिदणीवारहत्थाहिं सोत्थिवाअणिआहिं तावसीहिं अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ। उवसप्पम्ह णं।** [एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिष्ठितनिवारहस्ताभिः। स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। उपसर्पाव एनाम्।] (इत्युपसर्पतः)

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापाराऽऽसनस्था शकुन्तला।)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) **जादे ! भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेईसद्दं लहेहि**। [जाते ! भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व।]

द्वितीया—**वच्छे ! वीरप्पसविणी होहि**। [वत्से ! वीरप्रसविनी भव।]

आ तबतक मैं गोरोचन, तीर्थकी मिट्टी और कोमल दूबके अंकुवे आदि सारी मंगल-सामग्रियाँ जुटाए लाती हूँ।

प्रियंवदा—अच्छा जाओ, यही कर डालो।

(अनसूया जाती है। प्रियंवदा माला उतारनेका नाटच करती है।)

(नेपथ्यमें)

गौतमी ! शार्ङ्गरव आदिसे कह दो कि शकुन्तलाको पहुँचा आनेके लिये तैयार हो जायँ।

प्रियंवदा—(कान लगाकर) अरी अनसूया ! चल चल, हस्तिनापुर जानेवाले ऋषियोंकी बुलाहट हो रही है।

(हाथमें सामग्री लिए हुए अनसूयाका प्रवेश।)

अनसूया—आओ सखी, चला जाय। (दोनों घूमती हैं।)

प्रियंवदा—(देखकर) यह लो। शकुन्तला तो दिन निकले ही नहा-धोकर तैयार हुई बैठी है और ये सब तपस्विनियाँ भी हाथमें तिन्नीके दाने लेकर उसे आशीर्वाद दिए जा रही हैं ! चलो, हम भी वहीं चली चलें। (आगे बढ़ती हैं।)

(जैसा ऊपर कहा गया है उस रूपमें शकुन्तला दिखाई देती है।)

पहली तपस्विनी—(शकुन्तलासे) वत्से ! तुम पतिसे आदर पानेवाली पटरानी बनो।

दूसरी तपस्विनी—वत्से ! तुम वीर पुत्रकी माता बनो।

तृतीया—वच्छे ! भत्तुणो बहुमदा होहि । [वत्से ! भर्तुर्बहुमता भव]

(इत्याशिषो दत्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ता ।)

सख्यौ—(उपसृत्य) सही ! सुहमज्जणं दे होदु । [सखि ! सुखमज्जनं ते भवतु ।]

शकुन्तला—साअदं मे सहीणं । इदो णिसीदह । [स्वागतं मे सख्योः । इतो निषीदतम् ।]

उभे—(मङ्गलपात्राण्यादाय उपविश्य) हला ! सज्जा होहि, जाव दे मङ्गलसमालम्भणं विरएम । [हला ! सज्जा भव, यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः ।]

शकुन्तला—इदं पि बहु मन्तव्वं दुल्लहं दाणिं मे सहीमण्डणं भविस्सदि त्ति। इदमपि बहु मन्तव्यं दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यतीति।] (इति बाष्पं विसृजति ।)

उभे—सहि ! उइअं ण दे मङ्गलकाले रोइदं । [सखि ! उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम् ।] (इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः ।)

प्रियंवदा—आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिँ पसाहणेहिँ विप्पआरीअदि। [आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते ।]

(प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ ।)

उभौ—इदमलंकरणम् । अलंक्रियतामत्रभवती ।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः ।)

गौतमी—वच्छ णारअ ! कुदो एदं । [वत्स नारद ! कुत एतत् ।]

प्रथमः—तातकण्वप्रभावात् ।

तीसरी तपस्विनी—वत्से ! तू पतिकी प्यारी हो ।

(यह आशीर्वाद देकर गौतमीको छोड़कर और सब चली जाती हैं ।)

दोनों सखियाँ - (शकुन्तलाके पास जाकर) सखी ! तुम्हारा यह नहाना-धोना फले-फूले ।

शकुन्तला—आओ सखियो ! स्वागत करती हूँ । आओ यहाँ बैठो ।

दोनों -(मंगल-पात्र लिए हुए बैठती हैं ।) अच्छा सखी ! तैयार हो जाओ । अब हम तुम्हारा मंगल-शृङ्गार करेंगी ।

शकुन्तला—यह तो वड़े सौभाग्यकी बात है, क्योंकि सखियोंके हाथका सिंगार अब मुझे भला कहाँ मिल पावेगा ? (सिसकने लगती है ।)

दोनों—देखो सखी ! ऐसे शुभ अवसरपर रोया नहीं जाता । (आँसू पोंछकर उसे सजानेका नाट्य करती हैं ।)

प्रियंवदा—सखी ! तुम्हारे रूपके लिये तो और अच्छे-अच्छे आभूषण होने चाहिए थे । आश्रमसे जुटाई हुई इन सिंगारकी सामग्रियोंसे तो तुम अच्छी नहीं लगती हो ।

[हाथोंमें उपहार लिए हुए दो ऋषि-कुमारोंका प्रवेश ।]

दोनों ऋषिकुमार—यह लीजिए आभूषण, देवीको इनसे सजाइए ।

[देखकर सब चकित होती हैं ।]

गौतमी—क्यों वत्स नारद ! यह सब तुम कहाँसे पा गए !

पहला—पिता कण्वके प्रभावसे ।

गौतमी—**किं माणसी सिद्धी ।** [किं मानसी सिद्धिः ।]

द्वितीयः —**न खलु । श्रूयताम् । तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति । तत इदानीं--**

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥ ५ ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) **हला ! इमाए अब्भुववत्तीए सूइया दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छित्ति ।** [हला ! अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति ।]

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति ।)

प्रथमः -- **गौतम ! एह्येहि अभिषेकोत्तीर्णाय कण्वाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः ।**

द्वितीयः - **तथा ।**

(इति निष्क्रान्तौ)

सख्यौ —**अए ! अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो । चित्तकम्मपरिअएण अङ्गेसु दे आहरणविणिओअं करेम्ह ।** [अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः । चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः ।]

शकुन्तला—**जाणे वो णेउणं ।** [जाने वां नैपुणम्]

(उभे नाट्येनालङ्कुरुतः ।)

गौतमी—क्या उनके तपके बलसे ?

दूसरा—नहीं जी ! सुनिए तो सही । पूज्य कण्वने हमें आज्ञा दी थी कि शकुन्तलाके लिये लता-वृक्षोंसे फूल-पत्ते ले आओ । इसपर—

किसी वृक्षने शुभ्र मांगलिक वस्त्र दे दिए, किसीने पैरमें लगानेकी महावर दे दी और वनदेवियोंने तो कोंपलोंसे होड़ करके वृक्षोंमेंसे कलाईतक अपने हाथ निकाल निकालकर बहुतसे आभूषण दे डाले हैं ॥ ५ ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलाको देखकर) सखी ! ये लक्षण बता रहे हैं कि पतिके घरमें तुम राजलक्ष्मी बनकर सुख भोगोगी ।

[शकुन्तला लजानेका नाटय करती है ।]

पहला—चलो, गौतम ! गुरुजी भी स्नान करके आ गए होंगे । इन पेड़-पौधोंने जो वस्तुएँ दी हैं इसका समाचार उन्हें भी चलकर सुना आवें ।

दूसरा—चलो ।

[दोनोंका प्रस्थान]

दोनों सखियाँ—सखी ! हमने तो कभी आभूषण पहने नहीं हैं, पर चित्रोंमें जैसा देखा और सीखा है उसी ढंगसे तुम्हारे शरीरपर भी आभूषण सजाए देती हैं ।

शकुन्तला—तुम दोनोंकी चतुरता तो भली-भाँति मैं जानती हूँ न !

[दोनों आभूषण पहनानेका नाटय करती हैं ।]

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः कण्वः ।)

कण्वः—[प्रथमः श्लोकः]

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ६ ॥

(इति परिक्रामति)

सख्यौ—**हला सउन्दले ! अवसिदमण्डणासि परिधेहि संपदं खोमजुअलं ।** [हला शकुन्तले ! अवसितमण्डनासि । परिधत्स्व सांप्रतं क्षौमयुगलम् ।]

(शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते)

गौतमी—**जादे ! एसो दे आणन्दपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजन्तो विअ गुरू उवट्ठिदो । आआरं दाव पडिवज्जस्स ।** [जाते ! एष ते आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजनाय इव गुरुरुपस्थितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।]

शकुन्तला—(सव्रीडम्) **ताद ! वन्दामि ।** [तात ! वन्दे ।]

कण्वः—**वत्से !**

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥ ७ ॥

गौतमी—**भअवं वरो क्खु एसो, ण आसिसा ।** [भगवन् वरः खल्वेषः । नाशिषः ।]

[स्नान करके लौटे हुए कण्वका प्रवेश ।]

कण्व—आज शकुन्तला चली जायगी, यह सोचते ही जी बैठा जा रहा है । आँसू रोकनेसे गला इतना रुँध गया है कि मुँहसे शब्द नहीं निकल रहे हैं । इसी चिन्तामें मेरी आँखें भी धुंधली पड़ गई हैं । जब मुझ-जैसे वनवासीको इतनी व्यथा हुई जा रही है तब उन बेचारे गृहस्थोंको तो कितना कष्ट होता होगा जो पहले-पहल अपनी कन्या विदा करते होंगे ॥ ६ ॥

[घूमते हैं ।]

सखियाँ—ले शकुन्तला ! तेरा सिंगार तो पूरा हो गया । ले, यह रेशमी वस्त्रोंका जोड़ा भी पहन ले ।

[शकुन्तला उठकर पहनती है ।]

गौतमी—वत्से ! तात कण्व इधर ही चले आ रहे हैं । आनन्दके आँसुओंसे छलकती हुई उनकी आँखें देखकर जान पड़ता है मानो वे अपनी आँखोंसे ही तुझे गले लगाए ले रहे हों । उन्हें प्रणाम तो कर ले ।

शकुन्तला—(लजाती हुई) प्रणाम करती हूँ पिताजी !

कण्व—वत्से ! जैसे ययाति अपनी पत्नी शर्मिष्ठाका आदर करते थे वैसे ही तेरे पति भी तेरा आदर करें और शर्मिष्ठाके पुत्र पूरुके समान ही तुझे भी चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ॥ ७ ॥

गौतमी—भगवन् ! यह तो आपने वरदान दिया है, आशीर्वाद नहीं ।

कण्वः—वत्से ! इतः सद्योहुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

कण्वः - (ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते ।)

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठस्वेदानीम् । (सदृष्टिक्षेपम्) **क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः ।**

(प्रविश्य)

शिष्यः—**भगवन् ! इमे स्मः ।**

कण्वः—**भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।**

शार्ङ्गरवः—**इत इतो भवती ।**

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

कण्वः—[द्वितीयः श्लोकः] **भो भोः संनिहितदेवतास्तपोवनतरवः ।**

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ९ ॥

(कोकिलरवं सूचयित्वा)

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥ १० ॥

कण्व—वत्से ! चल, जिस अग्निमें अभी तत्काल आहुति पड़ी है, चलकर उसकी प्रदक्षिणा कर ले ।

[सब प्रदक्षिणा करते हैं ।]

कण्व—(ऋग्वेदके छन्दमें आशीर्वाद देते हैं ।)

बिछी कुशासे यथास्थान वेदीपर समिधासे जलती ।
हव्य गन्धकी गन्धभरी कर दें पवित्र ये अग्नि तुझे ॥ ८ ॥

अब चल । (इधर-उधर देखकर) अरे ! वे सब शार्ङ्गरव आदि कहाँ हैं ?

शिष्य—(प्रवेश करके) भगवन् ! ये रहे हम लोग ।

कण्व—जाओ ! अपनी बहनको जाकर पहुँचा आओ ।

शार्ङ्गरव—इधरसे आओ देवी, इधरसे ।

[सब घूमते हैं]

कण्व—वन-देवताओंसे भरे हुए तपोवनके वृक्षो !—जो शकुन्तला पहले तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषण पहननेका प्रेम होनेपर भी, तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे कोमल पत्तोंको हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी नई कलियोंको देख-देखकर फूली नहीं समाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पतिके घर चली जा रही है। तुम सब इसे प्रेमसे बिदा तो कर दो ॥ ९ ॥

(कोयलकी कूककी ओर संकेत करके) शकुन्तलाके वनके साथी वृक्षोंने कोयलके शब्दमें उसे जानेकी आज्ञा दे दी है ॥ १० ॥

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥ ११ ॥

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी—**जादे ! णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहिं । पणम भअवदीणं ।** [जाते ! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः । प्रणत भगवतीः ।]

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य जनान्तिकम्) **हला पिअंवदे ! णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खेण मे चलणो पुरदो पवट्टदि ।** [हला प्रियंवदे ! नन्वार्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तते ।]

प्रियंवदा—**ण केवलं तवोवणविरहकादरा सही एव्व तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ । पेक्ख**— [न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते । पश्य—]

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअंति अस्सू विअ लदाओ ॥ १२ ॥

[उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥]

शकुन्तला—(स्मृत्वा) **ताद ! लदाबहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमन्तइस्सं ।** [तात ! लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये ।]

[आकाशमें]

कल्याणमय हो इस शकुन्तलाकी यात्रा । इसके मार्गमें बीच-बीचमें नीली कमलिनियोंसे भरे हुए ताल हों, नियमसे थोड़ी-थोड़ी दूरीपर लगे हुए, धूपसे बचानेवाली घनी छाँहवाले वृक्ष हों, धूलमें कमलके परागकी कोमलता हो और मार्ग-भर सुख देनेवाला पवन बहता चले ॥ ११ ॥

[सब आश्चर्यसे सुनते हैं ।]

गौतमी—वत्से ! जो वन-देवियाँ तुझे सगे-सम्बन्धियोंके समान प्यारी हैं वे तुझे आशीर्वाद दे रही हैं । इन्हें प्रणाम तो कर ले ।

शकुन्तला—(प्रणाम करती हुई घूमकर, अलग प्रियंवदासे) सखी प्रियंवदा ! यद्यपि इस समय मुझे आर्यपुत्रके दर्शनकी बड़ी उतावली हो रही है; फिर भी आश्रमको छोड़ते हुए मेरे पैर ही नहीं बढ़ पा रहे हैं ।

प्रियंवदा—तपोवनके विरहसे केवल तुम्हीं दुखी नहीं हो । ज्यों-ज्यों तुम्हारी विदाईकी घड़ी पास आती जा रही है त्यों-त्यों तपोवन भी उदास दिखाई पड़ता जा रहा है । देखो—हरिणियाँ चबाई हुई कुशके कौर उगले दे रही हैं, मोरोंने नाचना बन्द कर दिया है और लताओंसे पीले-पीले पत्ते इस प्रकार झड़े पड़ रहे हैं मानो उनके आँसू टपक रहे हों ॥ १२ ॥

शकुन्तला—(स्मरण करके ।) तात ! मैं अपनी बहन वन-ज्योत्स्ना लतासे भी मिल लेना चाहती हूँ ।

कण्वः – अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम् । इयं तावद्दक्षिणेन ।

शकुन्तला—(उपेत्य लतामालिङ्ग्य) वणजोसिणि ! चूदसंगता वि मं पच्चालिंग इदोगदाहिँ साहावाहाहिँ । अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी दे क्खु भविस्सं । [वनज्योत्स्ने ! चूतसंगताऽपि मां प्रत्यालिङ्ग इतोगताभिः शाखाबाहुभिः । अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि ।]

कण्वः—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम् ।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः ॥ १३ ॥

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व ।

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) हला ! एसा दुवेणं वो हत्थे णिक्खेओ । [हला ! एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः ।]

सख्यौ—अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो । [अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः ।] (इति बाष्पं विसृजतः ।)

कण्वः—अनसूये ! अलं रुदित्वा । ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्त्तव्या शकुन्तला ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

शकुन्तला—ताद ! एसा उडजपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा महवहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह । [तात ! एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽनघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ ।]

कण्व—मैं जानता हूँ कि तू उसे सगी बहन-जैसा प्यार करती है। यह रही वह, दाहिनी ओर।

शकुन्तला—(लताके पास जाकर और उससे लिपटकर।) प्यारी वनज्योत्सना ! आमके वृक्षसे लिपटी होनेपर भी अपनी इधर फैली हुई शाखाकी बाहोंसे तू मुझसे भेंट तो ले क्योंकि आजसे तो मैं तुझसे बहुत दूर जा पड़ूँगी।

कण्व—मैंने तेरे लिये जैसा पतिका संकल्प किया था, तूने अपने पुण्य-प्रभावसे वैसा ही पति पा लिया और इस वन-ज्योत्स्नाको भी आमका ठीक सहारा मिल गया है। अब मैं तुम दोनोंकी चिन्तासे छूट गया हूँ॥ १३॥

इधरसे चली आ।

शकुन्तला—(सखियोंसे) सखियो ! इस वन-ज्योत्स्नाको मैं तुम्हीं दोनोंके हाथ सौंपे जा रही हूँ।

दोनों—और हम लोगोंको किसके हाथ सौंपे जा रही हो ? (रोने लगती हैं।)

कण्व—रोओ मत अनसूया ! उलटा तुम्हें तो चाहिए कि शकुन्तलाको ही और धीरज बँधाओ।

[सब घूमते हैं।]

शकुन्तला—तात ! गर्भके भारसे आश्रममें चारों ओर अलसाती चलनेवाली इस हरिणीको जब सुखसे बच्चा हो जाय तब किसीके हाथ यह प्यारा समाचार मेरे पास अवश्य भिजवा दीजिएगा।

कण्वः—नेदं विस्मरिष्यामः ।

शकुन्तला—(गतिभङ्गं रूपयित्वा) को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ । [को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते ।] (इति परावर्तते ।]

कण्वः—वत्से !

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥ १४ ॥

शकुन्तला—वच्छ ! किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि । अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व । दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि । णिवत्तेहि दाव । [वत्स ! किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि । अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव । इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति । निवर्तस्व तावत् ।] (इति रुदती प्रस्थिता ।]

कण्वः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥ १५ ॥

शार्ङ्गरव—भगवन् ! ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते । तदिद सरस्तीरम् । अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि ।

कण्वः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः ।

कण्व—ठीक है, यह नहीं भूलेंगे ।

शकुन्तला—(चलनेमें रुकावटका अनुभव करती हुई-सी ।) अरे ! मेरा आँचल कौन पकड़े खींचे जा रहा है ? [पीछे घूमकर देखती है ।]

कण्व—वत्से ! कुशाके काँटेसे छिदे हुए जिसके मुँहको अच्छा करनेके लिये तू उसपर हिंगोटका तेल लगाया करती थी वही तेरे हाथके दिए हुए मुठ्ठी भर साँवेके दानोंसे पला हुआ तेरा पुत्रके समान प्यारा हरिण तेरा मार्ग रोके खड़ा है ।। १४ ॥

शकुन्तला—वत्स ! मुझ साथ छोड़कर जानेवालीके पीछे-पीछे तू कहाँ चला आ रहा है ? तेरी माँ जब तुझे जन्म देकर चल बसी थी तब मैंने ही तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया था । अब मेरे पीछे पिताजी तेरी देख भाल किया करेंगे । जा, लौट जा । [रोती हुई आगे बढ़ती है ।]

कण्व—वत्से ! धीरज धरकर अपने आँसू पोंछ डाल । इन आँसुओंके कारण तेरी उठी हुई बरौनियोंवाली आँखें ठीकसे देख नहीं पा रहीं हैं । इसीलिये यहाँकी उबड़-खाबड़ धरतीपर तेरे पैर उलटे-सीधे पड़ते जा रहे हैं ॥ १५ ॥

शार्ङ्गरव—भगवन् ! सुना है कि प्रियजनोंको विदा देते समय जलाशयतक पहुँचाकर लौट जाना चाहिए । अब सरोवरका तट आ गया है इसलिये जो कुछ सन्देश कहलाना हो वह यहीं बताकर आप लोग आश्रमको लौट जायँ ।

कण्व—तो चलो इस बरगद की छायामें थोड़ा बैठ लिया जाय ।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिताः ।)

कण्वः—(आत्मगतम्) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः संदेष्टव्यम्। (इति चिन्तयति ।)

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) हला पेक्ख ! णलिणीपत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडदि दुक्करं अहं करेमित्ति तक्केमि । [हला पश्य ! नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति दुष्करमहं करोमीति तर्कयामि ।]

अनसूया—सही ! मा एव्वं मन्तेहि ।

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं ।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥ १६ ॥

[सखि ! मैवं मन्त्रयस्व ।

एषाऽपि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम् ।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥]

कण्वः—शार्ङ्गरव ! इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः ।

शार्ङ्गरव—आज्ञापयतु भवान् ।

कण्वः—[तृतीयः श्लोकः]

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥ १७ ॥

[सब घूमकर बैठ जाते हैं ।]

कण्व—(अपने ही आप) माननीय राजा दुष्यन्तके पास कौन-सा सन्देश भेजना ठीक होगा । (सोचते हैं ।)

शकुन्तला—(सखीसे अलग) सखी ! देख तो । कमलिनीके पत्तेकी ओटमें छिपे हुए अपने चकवेको न देख सकनेसे यह चकवी कैसी घबराकर चिल्लाए जा रही है । इसलिये मैं जिस कामसे जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिखाई देता ।

अनसूया—ऐसा नहीं सोचना चाहिए सखी ! जानती हो, यह चकवी विरहकी लंबी-लंबी रातें पतिके बिना अकेली ही काट देती है, क्योंकि विरहके समय भी इसे यह आशा बनी रहती है कि प्रातःकाल तो मिलन हो ही जायगा ॥ १६ ॥

कण्व—शार्ङ्गरव ! शकुन्तलाको दुष्यन्तके हाथ सौंपते हुए मेरी ओरसे कहना—

शार्ङ्गरव—जी, आज्ञा हो ।

कण्व—कहना कि—राजन् ! कहाँ तो हम लोग सीधे-सीधे संयमी तपस्वी लोग और कहाँ आप ऊँचे घरानेके राजा । फिर भी आपने अपने आप इस कन्यासे विवाह कर लिया है । इन सब बातोंका ध्यान करके आप कमसे कम इतना अवश्य कीजिएगा कि दूसरी रानियोंके समान शकुन्तलाका भी आदर हो । इससे बढ़कर इसे जो सौभाग्य मिले वह तो इसके भाग्यकी बात है । उसके लिये हम कन्याके बान्धव लोग भला क्या कह सकते हैं ॥ १७ ॥

शार्ङ्गरवः—**गृहीतः संदेशः ।**

कण्वः—**वत्से ! त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि । वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।**

शार्ङ्गरवः—**न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।**

कण्वः—**सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य**—[चतुर्थः श्लोकः]

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥ १८ ॥

कथं वा गौतमी मन्यते ।

गौतमी—**एतिओ बहूजणस्य उवदेसो । जादे ! एदं क्खु सव्वं ओधारेहि ।** [एतावान्वधूजनस्योपदेशः । जाते ! एतत्खलु सर्वमवधारय ।]

कण्वः—**वत्से ! परिष्वजस्व मां सखीजनञ्च ।**

शकुन्तला—**ताद ! इदो एव्व किं पिअंवदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति ।** [तात ! इत एव किं प्रियंवदानसूये सख्यौ निवर्तिष्येते ।]

कण्वः—**वत्से ! इमे अपि प्रदेये । न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम् । त्वया सह गौतमी यास्यति ।**

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) **कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलअतरुन्मूलिआ चंदणलदा विअ देसंतरे जीविअं धारइस्सं ।** [कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि ।]

शार्ङ्गरव—जी, ठीक है, संदेश समझ गया ।

कण्व—वत्से ! आओ ! तुम्हें कुछ सीख देनी है । देखो, वनमें रहते हुए भी सांसारिक व्यवहार हम लोग भली भाँति जानते हैं ।

शार्ङ्गरव—जी हाँ, ऐसी कौन-सी बात है जो विद्वान् लोग न जानते हों ।

कण्व—देखो ! यहाँसे पतिके घर पहुँचकर घरके सब बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करना । अपनी सौतोंसे सखियों-जैसा प्रेम रखना । पति निरादर भी करें तो क्रोध करके उनसे झगड़ा मत कर बैठना । दास-दासियोंको बड़े प्यारसे रखना और अपने सौभाग्यपर बहुत ऐंठना मत । जो स्त्रियाँ घरमें इस प्रकार चला करती हैं वे ही सच्ची गृहिणियाँ होती हैं और जो इसका उलटा करती हैं वे खोटी स्त्रियाँ तो अपने कुलकी नागिन होती हैं ॥ १८ ॥

क्यों गौतमी ! ठीक है न !

गौतमी—कुलवधुओंके लिये इससे बढ़कर और क्या उपदेश होगा ! वत्से ! ये सब बातें गाँठ बाँध लो ।

कण्व—आओ वत्से ! मुझसे और अपनी सखियोंसे गले तो मिल लो ।

शकुन्तला—तात ! क्या प्रियंवदा आदि सखियाँ यहाँसे लौट जायँगी ?

कण्व—वत्से ! इनका भी तो विवाह करना है न ! इसलिये इनका वहाँ जाना ठीक नहीं है । तेरे साथ गौतमी तो जा ही रही हैं ।

शकुन्तला—(पितासे गले लगकर) पिताजीकी गोदसे अलग होकर मलय पर्वतसे उखाड़े हुए चन्दनके पौधेके समान मैं परदेशमें पहुँचकर कैसे जी पाऊँगी ?

कण्वः— **वत्से ! किमेवं कातरासि ।**

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥१९॥

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति ।)

कण्वः– **यदिच्छामि ते तदस्तु ।**

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) **हला ! दुवे वि मं समं एव्व परिस्सजह ।** [हला द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम् ।]

सख्यौ—(तथा कृत्वा) **सहि ! जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे तदो से इमं अत्तणामहेअअंकिअं अंगुलीअअं दंसेहि ।** [सखि ! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्तस्येदमात्मनामधेयाङ्कितमंगुलीयकं दर्शय ।]

शकुन्तला—**इमिणा संदेहेण वो आकम्पिदम्हि ।** [अनेन संदेहेन वामाकम्पितास्मि ।]

सख्यौ—**मा भाआहि । सिणेहो पावसङ्की ।** [मा भैषी । स्नेहः पापशङ्की ।]

शार्ङ्गरवः– **युगान्तरमारूढः सविता । त्वरतामत्रभवती !**

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) **ताद ! कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं ।** [तात ! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ।]

कण्वः—**श्रूयताम्**—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥

कण्व—वत्से ! इतनी क्यों अधीर हुई जा रही हो । जब तुम ऊँचे कुलवाली पतिकी पटरानी होकर उनके घरके कामोंमें दिन-रात फँसी रहोगी और, जैसे पूर्व दिशासे सूर्य उत्पन्न होता है वैसे ही जब पवित्र पुत्र उत्पन्न कर लोगी, तब तुम मुझसे बिछुड़नेका सारा दुख भूल जाओगी ॥१९॥

[शकुन्तला पिताके पैरों पड़ती है ।]

कण्व—तुम्हारे लिये मैं जो-जो चाहता हूँ वह सब तुम्हें मिल जाय ।

शकुन्तला—(सखियोंके पास जाकर) सखियो ! आओ, तुम दोनों एक साथ मेरे गले आ मिलो ।

सखियाँ—(गले लगकर) सखी, देखो ! यदि वे राजा तुम्हें पहचाननेमें कहीं भूल कर बैठें तो यह उनके नामवाली अँगूठी तुम उन्हें दिखला देना ।

शकुन्तला—तुम्हारी इस सन्देह-भरी बातने मेरे जीमें बड़ा खटका डाल दिया है ।

सखियाँ—नहीं नहीं, डरनेकी क्या बात है । प्रेममें तो खटका हुआ ही करता है ।

शार्ङ्गरव—देवी ! दिन बहुत चढ़ आया है । अब शीघ्रता करनी चाहिए ।

शकुन्तला—(आश्रमकी ओर मुँह करके) तात ! अब आश्रमके फिर कब दर्शन हो सकेंगे ?

कण्व—सुनो ! बहुत दिनोंतक इस पृथ्वीकी सौत बनकर और अपने अद्वितीय वीर पुत्रको

गौतमी—**जादे ! परिहीअदि गमणवेला । णिवत्तेहि पिदरं । अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मन्तइस्सदि । णिवत्तदु भवं ।** [जाते ! परिहीयते गमनवेला । निवर्तय पितरम् । अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते । निवर्ततां भवान्]

कण्वः—**वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।**

शकुन्तला—(भूयः पितरमाश्लिष्य) **तवच्चलणपीडिदं तादसरीरं ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कंठिदुम् ।** [तपश्चरणपीडितं तातशरीरं तन्माऽतिमात्रं मम कृते उत्कण्ठितुम् ।]

कण्वः—(सनिःश्वासम्)—

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥ २१ ॥

गच्छ ! शिवास्ते पन्थानः सन्तु ।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च ।)

सख्यौ—(शकुन्तलां विलोक्य) **हद्धी हद्धी, अंतहिदा सउन्दला वणराईए ।** [हा धिक् हा धिक् अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या ।]

कण्वः—(सनिःश्वासम्) **अनसूये ! गतवती वां सहधर्मचारिणी । निगृह्य शोकमनुयच्छत मां प्रस्थितम् ।**

उभे—**ताद ! सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसावो ।** [तात ! शकुन्तला विरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशाव:]

राज्य और कुटुम्बका भार सौंपकर जब तुम अपने पतिके साथ आओगी तब आकर इस शान्त आश्रममें सुखसे रहने लगना ॥२०॥

गौतमी—वत्से ! विदाकी घड़ी बीती जा रही है । जाने दो पिताजीको (कण्वसे) आप अब लौट जायँ नहीं तो यह बहुत देरतक यों ही कुछ-न-कुछ कहती ही रहेगी ।

कण्व—वत्से ! अब जाओ । हमारी तपस्याके कामोंमें देर हो रही है ।

शकुन्तला—(पितासे फिर भेंट करके) आप तो तपके कारण बहुत दुबले हो गए हैं इसलिये आप मेरी बहुत अधिक चिन्ता न कीजिएगा ।

कण्व—(लम्बी साँस लेकर) वत्से ! तुमने बलिके लिये जो तिन्नीके धान छींटे थे उनके अंकुर जबतक कुटीके द्वारपर दिखाई देते रहेंगे तबतक मेरा शोक कैसे कम होगा ॥ २१ ॥

जाओ ! तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो ।

(साथियोंके साथ शकुन्तला जाती है ।)

दोनों सखियाँ—(शकुन्तलाको देखकर) हाय, हाय । शकुन्तला तो वृक्षोंकी ओटमें ओझल हो गई ।

कण्व—(लम्बी साँस लेकर ।) अनसूया ! देख तेरी सखी तो अब चली गई । अब यह रोना-धोना छोड़ और मेरे साथ लौट चल ।

दोनों—हाय, शकुन्तलाके बिना सूने आश्रमकी हम कैसे जा पावेंगी ।

कण्वः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी । (सविमर्शं परिक्रम्य) हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम् । कुतः—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

* * *

कण्व—प्रेममें ऐसा हुआ ही करता है । (कुछ विचारते हुए घूमकर) ओह ! शकुन्तलाको उसके पतिके घर भेजकर अब जाकर मेरे मनको छुट्टी मिल पाई है । क्योंकि—कन्या तो सचमुच पराई सम्पत्ति ही होती है । आज उसे पनिके घर भेजकर मेरा मन वैसे ही निश्चिन्त हो गया है जैसे किसीकी धरोहर लौटानेपर होता है ॥ २२ ॥

[सब जाते हैं ।]

॥ चौथा अंक पूर्ण ॥

* * *

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च)

विदूषकः---(कर्णं दत्त्वा) **भो वअस्स ! संगीतसालंतरे अवधाणं देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअ करोदित्ति।** [भो वयस्य ! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।]

राजा --**तूष्णीं भव यावदाकर्णयामि।**

(आकाशे गीयते।)

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विह्मरिओ सि णं कहं ॥ १ ॥

[अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूदमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥]

राजा --**अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।**

विदूषकः --**किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो** (किं तावद्गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः।)

राजा --(स्मितं कृत्वा) **सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माढव्य! मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका--निपुणमुपालब्धोऽस्मीति।**

पाँचवाँ अङ्क

(राजा आसनपर बैठे हैं और पास ही विदूषक भी बैठा हुआ है।)

विदूषक---(कान लगाकर) सुनो वयस्य ! संगीत-शालाकी ओर कान लगाकर तो सुनो। बड़े लय-तालके साथ अत्यन्त मीठे स्वरोंमें किसीका गीत सुनाई दे रहा है। जान पड़ता है महारानी हंसपदिका ही स्वर साध रही हैं।

राजा---अच्छा, चुप हो रहो तभी तो सुनूं।

[नेपथ्यमें गीत]

नये नये मधुके लोभी ओ मधुकर !
एक बार ही नव रसालकी मधुर मंजरी चूम गए तुम।
क्यों निवास कर कमल-कोशमें मुझे भूलकर घूम गए तुम ॥
नये नये मधुके लोभी ओ मधुकर ॥ १ ॥

राजा---वाह, गीतमें कैसी प्रेमकी धारा बह रही है ?

विदूषक---पर इस गीतमें जो चोट की गई है, वह भी कुछ समझ पाए हो ?

राजा---(मुसकराते हुए) हाँ, हाँ मैं सब समझता हूँ। इस रानीसे मैं पहले कभी प्रेम कर चुका हूँ, पर इधर आजकल तो जो देवी वसुमतीसे मैं प्रेम करने लगा हूँ उसीपर ये छींटे कसे जा रहे हैं। मित्र माढव्य ! मेरी ओरसे हंसपदिकासे जाकर कहना कि तुमने बड़ी मीठी चुटकी ली है।

विदूषकः—**जं भवं आणवेदि । (उत्थाय) भो वअस्स ! गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहंडए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो ।** [यद्भवानाज्ञापयति । भो वयस्य ! गृहीतस्य तथा परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः ।]

राजा—**गच्छ । नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम् ।**

विदूषकः—**का गई ।** [का गतिः ।] (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि । अथवा--

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ २ ॥

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति ।)

(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—**अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि ।**

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः ।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥ ३ ॥

भोः कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम् । अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः । कुतः ।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा । (खड़ा होकर) पर वयस्य ! जैसे अप्सराओंके हाथोंमें पड़कर बड़े-बड़े विरागी ऋषि नहीं छूट पाते हैं वैसे ही जब अपनी दासियोंसे मेरी चोटी पकड़वाकर वे मुझे धुनने लगेंगी तब तो उनसे छुटकारा पाना मेरे लिये भी कठिन हो जायगा ।

राजा—जाओ तो सही, चतुराईके साथ सन्देश देना ।

विदूषक—क्या चारा है ? आप कह रहे हैं तो झख मारकर जाना ही पड़ेगा । (चला जाता है ।)

राजा—(मन ही मन) मेरे सभी सगे-प्यारे मेरे पास ही हैं फिर भी इस गीतको सुनकर न जाने क्यों मैं इतना अनमना-सा हो उठा हूँ या—

सुन्दर वस्तुएँ देखकर और मीठे शब्द सुनकर जब सुखी लोग तक भी उदास हो उठते हैं तब यही समझना चाहिए कि उनके मनमें पिछले जन्मके प्रेमियोंके जो संस्कार बैठे हुए हैं वे ही अपने आप जाग उठे हैं ॥ २ ॥ (यह सोचकर व्याकुल हो उठता है ।)

(कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—आह, मेरी भी क्या दशा हो चली है ।—जिस बेंतकी छड़ीको कभी मैं रनिवासके द्वारपालका नियम समझकर हाथमें लिए रहा करता था वही अब इस बुढ़ापेमें यह मुझ लड़खड़ाते पैरोंवालेका सहारा बन चली है ॥ ३ ॥

यह तो ठीक है कि महाराजको धर्म-कार्य करना ही चाहिए । पर महाराज तो अभी-अभी न्यायासनसे उठकर गए हैं । अब उन्हें फिरसे कष्ट देनेके लिये जो ये कण्वके शिष्य आ धमके हैं, इनकी सूचना पहुँचानेको मेरा तो जी नहीं करता । पर प्रजाके शासनमें विश्राम कहाँ धरा है ?

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिं दिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ ४ ॥

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम् ।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥ ५ ॥

(उपगम्य) जयतु जयतु देवः । एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः कण्वसंदेशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्तः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम् ।

राजा—(सादरम्) किं कण्वसंदेशहारिणः ।

कञ्चुकी—अथ किम् ।

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः । अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति । अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(उत्थाय) वेत्रवति ! अग्निशरणमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । [इत इतो देवः ।]

क्योंकि—सूर्य एक ही बार अपने घोड़े जोतकर अबतक चलाए चला जा रहा है, पवन भी रात-दिन बहता ही रहता है और शेषनाग भी इस पृथ्वीके भारको अपने ऊपर सदा धारण ही किए रहते हैं। ठीक यही दशा उपजका छठा अंश लेनेवाले राजाकी भी है ॥ ४ ॥

इसलिये चलता हूँ मैं भी अपना कर्तव्य पालन किए डालता हूँ। (इधर-उधर देखकर) ये महाराज—अपनी सन्तान-जैसी प्रजाका काम करके, थक जानेपर यहाँ एकान्तमें उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जैसे दिनकी धूपसे तपा हुआ गजराज हाथियोंके झुण्डको चरनेके लिये छोड़कर स्वयं ठंडे स्थानमें विश्राम जा करता है ॥ ५ ॥

(पास जाकर) महाराजकी जय हो। हिमालयकी तराईमें रहनेवाले कुछ तपस्वी लोग कण्वका सन्देश लेकर स्त्रियोंके साथ आए हुए हैं। अब जैसा देव ठीक समझें।

राजा—(आदरसे) क्या महर्षि कण्वका सन्देश लेकर आए हैं ?

कञ्चुकी—जी हाँ !

राजा—तो कुल-पुरोहित सोमरातजीको कहला दो कि वे वैदिक रीतिसे इन आश्रमवासियोंका सत्कार करके इन्हें अपने ही साथ लिवा लावें। मैं भी तबतक उधर ही चलकर उनकी बाट देखता हूँ जहाँ ऋषियोंसे भेंट की जाती है।

कञ्चुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा। (प्रस्थान)

राजा—(उठकर) वेत्रवती ! चलो हमें यज्ञशाला-तक तो पहुँचा दो।

प्रतीहारी—इधरसे आइए महाराज, इधरसे।

राजा—(परिक्रामति । अधिकारखेदं निरूप्य) सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी संपद्यते जन्तुः राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव ।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥ ६ ॥

(नेपथ्ये)

वैतालिकौ—**विजयतां देवः**

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥ ७ ॥

द्वितीयः—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥ ८ ॥

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः । (इति परिक्रामति ।)

राजा—(घूमता है । राजकाजकी झंझट बताते हुए) अपने मनकी साध पूरी हो जानेपर और सब जीवोंको तो सुख मिलता है पर हम लोगोंकी जब राजा बननेकी इच्छा पूरी हो जाती है तब कष्ट ही कष्ट हाथ लगता है । राजा बनकर बड़ी प्रतिष्ठा पा लेनेसे मनकी उमंग तो पूरी हो जाती है पर जब राज्यका पालन करना पड़ता है तब छठीका दूध याद आ जाता है । इसलिये राज्य उस छतरीके समान है जिसकी मूठ अपने हाथमें ले लेनेसे थकावट ही अधिक होती है, सुख कम मिलता है ॥ ६ ॥

(नेपथ्यमें)

दो वैतालिक—महाराजकी जय हो ।

पहला—अपने सुखकी इच्छा छोड़कर आप प्रजाकी भलाई में ही लगे रहते हैं । या यों कहना चाहिए कि इस प्रकार आप अपना धर्म ही पाल रहे हैं, क्योंकि वृक्ष अपने सिरपर तो कड़ी धूप सहता रहता है, पर अपने तले बैठे हुए जीवोंको छाया ही दिया करता है ॥ ७ ॥

दूसरा—दुष्टोंको आप अपने राजदण्डसे ठीक रखते चलते हैं और सबके आपसी झगड़े निपटाकर आप प्रजाकी रक्षा करते चलते हैं । प्रजामें जो धनी लोग हैं उनके तो बहुतसे सगे सम्बन्धी हो सकते हैं पर साधारण प्रजाके तो माँ-बाप-भाई सब कुछ आप ही हैं ॥ ८ ॥

राजा—मेरा उदास मन इनकी बातें सुनकर फिर हरा हो उठा है ।

(घूमते हैं)

प्रतिहारी—**एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो। आरोहदु देवो।** [एस अभिनवसंमार्जनसश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। आरोहतु देवः।]

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति) **वेत्रबति? किमुद्दिश्य भगवता कण्वेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः।**

किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः॥ ९॥

प्रतिहारी—**सुचरिदणंदिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि।** [सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागत. इति तर्कयामि।]

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः। पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च।)

कञ्चुकी—**इत इतो भवन्तः।**

शार्ङ्गरवः—**शारद्वत!**

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव॥ १०॥

प्रतीहारी—यह रही झाड़-बुहारकर स्वच्छ की हुई यज्ञशालाकी बैंठक जहाँ पास ही हवनके लिये घी-दूध देनेवाली गौ भी बँधी है। इसीमें चढ़ चलें महाराज।

राजा—(चढ़कर परिचारकोंके कन्धोंके सहारे खड़ा होता है।) वेत्रवती! भगवान् कण्वने भला ऋषियोंको मेरे पास किस लिये भेजा होगा? कहीं उपद्रवी राक्षस बहुत प्रकारकी तपस्या करनेवाले इन ऋषियोंके तपमें बाधा तो नहीं डाल रहें हैं! या कहीं कोई तपोवनके प्राणियोंको तो नहीं सता बैंठा है! या कहीं मेरे पापोंके कारण तपोवनकी लताओं और वृक्षोंका फलना-फूलना तो नहीं रुक गया है! मेरे मनमें न जाने कितनी ऐसी बुरी-बुरी आशंकाएँ उठ खड़ी हुई हैं कि कुछ ठीक-ठीक समझ न पानेसे मेरे जीमें बड़ी खलबली मच उठी है॥ ९॥

प्रतीहारी—देव! मैं तो समझती हूँ कि ये ऋषि लोग महाराजके अच्छे कामोंसे प्रसन्न होकर बधाई देने आए होंगे।

(शकुन्तलाको आगे किए हुए गौतमीके साथ ऋषियोंका प्रवेश। आगे-आगे कञ्चुकी और पुरोहित।)

कञ्चुकी—इधरसे आइए आप लोग, इधरसे।

शार्ङ्गरव—शारद्वत! यह मैं मानता हूँ कि ये राजा इतने धर्मात्मा हैं कि कभी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते और इनके राज्यमें जो नीच-से-नीच वर्णके लोग भी हैं, वे भी कभी कोई अधर्मका काम नहीं करते, पर इतने लोगोंसे भरे हुए भवनको देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ आगकी लपटें उठ रहीं हो। मेरा अकेलेमें रमनेवाला मन तो ऐसा करता है कि यहाँसे तत्काल भाग खड़ा हुआ जाय॥ १०॥

शारद्वतः—स्थाने भवान्पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृतः । अहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥११॥

शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) अम्महे ! किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि । [अहो ! किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति ।]

गौतमी—जादे पडिहदं अमङ्गलं ! सुहाइँ दे भत्तुकुलदेवदाओ विवरन्दु । [जाते ! प्रतिहतममङ्गलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवताः वितरन्तु ।] (इति परिक्रामति ।)

पुरोहितः—(राजानं निर्दिश्य) भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति । पश्यतैनम् ।

शार्ङ्गरवः—भो महाब्राह्मण ! काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः । कुतः ।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ १२ ॥

प्रतिहारी—देव ! पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति । जाणामि विसद्धकज्जा इसीओ । [देव प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते । जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः ।]

राजा—(शकुन्तलां दृष्ट्वा) अथात्रभवती—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥ १३ ॥

शारद्वत—नगरमें आनेपर ऐसा ही लगा करता है । मैं भी सांसारिक भोगोंमें पड़े हुए यहाँके लोगोंको वैसा ही हीन समझता हूँ जैसे नहाया हुआ व्यक्ति तेल लगाए हुएको, पवित्र व्यक्ति अपवित्रको, जागता हुआ व्यक्ति सोते हुएको समझता है ॥ ११ ॥

शकुन्तला—(बुरा शकुन बताकर) हैं ! यह मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़कने लगी ?

गौतमी—तेरे असगुन दूर हों, पुत्री ! तेरे पति-कुलके देवता सब भला ही करें । (घूमती है)

पुरोहित—(राजाको दिखलाकर) तपस्वियो ! देखिए, वर्णाश्रमका पालन करनेवाले महाराज पहलेसे ही आसन छोड़कर खड़े हुए आप लोगोंके आनेकी बाट देख रहे हैं । इन्हें देखिए तो ।

शार्ङ्गरव—देखो राजपुरोहित ! यह माना कि ये प्रशंसाके योग्य हैं पर हम इसे कोई नई बात नहीं समझते । क्योंकि फल लगनेपर पेड़ झुकते ही हैं, नये जलसे भरे हुए बादल नीचे झुक ही जाते हैं और सज्जन लोग धन पाकर नम्र होते ही हैं । यह तो परोपकारियोंका स्वभाव ही होता है, इसमें नई बात क्या है ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—महाराज ! ऋषि लोग प्रसन्न दिखाई पड रहे हैं । इसलिये मैं समझती हूँ कि ये लोग किसी अच्छे कामसे ही आए होंगे ।

राजा—(शकुन्तलाको देखकर) ये कौन देवी हैं । —इन तपस्वियोंके बीचमें पीले पत्तोंमें नई कोंपलके समान दिखाई देनेवाली यह कौन हो सकती है जिसके घूंघटके कारण उसकी सुन्दरता ठीक-ठीक खुल नहीं पा रही है ॥ १३ ॥

प्रतिहारी – देव ! कुतूहलगब्भोपहिदो ण मे तक्को पसरदि । णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीआदि । [देव कुतूहलगर्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति । ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते ।]

राजा—भवतु । अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् ।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा आत्मगतम्) हिअअ ! किं एव्वं वेवसि । अज्जउत्तस्स भावं ओहारिअ धीरं दाव होहि । [हृदय ! किमेवं वेपसे । आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद्भव ।]

पुरोहितः—(पुरो गत्वा) एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः । कश्चिदेषामुपाध्याय-संदेशः । तं देवः श्रोतुमर्हति ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

ऋषयः—(हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन् ।

राजा—सर्वानभिवादये ।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व ।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः ।

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि ।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ॥ १४ ॥

राजा—अर्थवान्खलु मे राजशब्दः । अथ भगवाँल्लोकानुग्रहाय कुशली कण्वः ।

ऋषयः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामयप्रश्न-पूर्वकमिदमाह ।

प्रतीहारी—महाराज ! मैं भी यही जाननेको उतावली हो रही हूँ पर ठीक ठीक समझ नहीं पा रही हूँ । फिर भी लगता है कि यह है बड़ी ही सुन्दर ।

राजा—हुआ करे । पराई स्त्रीपर आँख नहीं डालनी चाहिए ।

शकुन्तला—(हृदयपर हाथ रखकर मन ही मन) इस प्रकार काँपे क्यों जा रहे हो, मेरे हृदय ! आर्यपुत्रके प्रेमका ध्यान करके धीरज तो धरो ।

पुरोहित—(आगे बढ़कर) महाराज ! इन तपस्वियोंका ठीक विधिसे आदर-सत्कार हो चुका है । ये अपने गुरुजीका कोई सन्देश लाए हैं, उसे देव सुन लें ।

राजा—हाँ, हाँ, कहें आप लोग, मैं सुन रहा हूँ ।

ऋषि लोग—(हाथ उठाकर) महाराजकी जय हो ।

राजा—मैं आप लोगोंको प्रणाम करता हूँ ।

ऋषि लोग—आपका मनोरथ पूरा हो ।

राजा—कहिए, ऋषियोंकी तपस्यामें कोई विघ्न तो नहीं डाल रहा है ?

ऋषि लोग—जहाँ आप-जैसे राजा पृथ्वीकी रक्षा कर रहे हों वहाँ सज्जनोंके धर्म-कार्योंमें क्या किसीको विघ्न डालनेका साहस हो सकता है ? सूर्यकी चमकके सामने भला कहीं अँधेरा टिक पाया करता है ॥ १४ ॥

राजा—आज मेरा राजा कहलाना सफल हो गया । अच्छा, यह तो बताइए कि संसारका कल्याण करनेवाले भगवान् कण्व तो कुशलसे हैं न !

ऋषि लोग—कुशलता तो ऐसे सिद्ध पुरुषोंके हाथमें ही बसी रहती है । उन्होंने आपका कुशल पूछते हुए यह कहलाया है—

प्रतिहारी—**एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो। आरोहदु देवो।** [एस अभिनवसंमार्जनसश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। आरोहतु देवः।]

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति) **वेत्रवति ? किमुद्दिश्य भगवता कण्वेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः।**

किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥ ९ ॥

प्रतिहारी—**सुचरिदणंदिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि।** [सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागत. इति तर्कयामि।]

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः। पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च।)

कञ्चुकी—**इत इतो भवन्तः।**

शार्ङ्गरवः—**शारद्वत !**

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥ १० ॥

प्रतीहारी—यह रही झाड़-बुहारकर स्वच्छ की हुई यज्ञशालाकी बैंठक जहाँ पास ही हवनके लिये घी-दूध देनेवाली गौ भी बँधी है। इसीमें चढ़ चलें महाराज।

राजा—(चढ़कर परिचारकोंके कन्धोंके सहारे खड़ा होता है।) वेत्रवती ! भगवान् कण्वने भला ऋषियोंको मेरे पास किस लिये भेजा होगा ? कहीं उपद्रवी राक्षस बहुत प्रकारकी तपस्या करनेवाले इन ऋषियोंके तपमें बाधा तो नहीं डाल रहें हैं ! या कहीं कोई तपोवनके प्राणियोंको तो नहीं सता बैठा है ! या कहीं मेरे पापोंके कारण तपोवनकी लताओं और वृक्षोंका फलना-फूलना तो नहीं रुक गया है ! मेरे मनमें न जाने कितनी ऐसी बुरी-बुरी आशंकाएँ उठ खड़ी हुई हैं कि कुछ ठीक-ठीक समझ न पानेसे मेरे जीमें बड़ी खलबली मच उठी है ॥ ९ ॥

प्रतीहारी—देव ! मैं तो समझती हूँ कि ये ऋषि लोग महाराजके अच्छे कामोंसे प्रसन्न होकर बधाई देने आए होंगे।

(शकुन्तलाको आगे किए हुए गौतमीके साथ ऋषियोंका प्रवेश। आगे-आगे कञ्चुकी और पुरोहित।)

कञ्चुकी—इधरसे आइए आप लोग, इधरसे।

शार्ङ्गरव—शारद्वत ! यह मैं मानता हूँ कि ये राजा इतने धर्मात्मा हैं कि कभी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते और इनके राज्यमें जो नीच-से-नीच वर्णके लोग भी हैं, वे भी कभी कोई अधर्मका काम नहीं करते, पर इतने लोगोंसे भरे हुए भवनको देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ आगकी लपटें उठ रहीं हो। मेरा अकेलेमें रमनेवाला मन तो ऐसा करता है कि यहाँसे तत्काल भाग खड़ा हुआ जाय ॥ १० ॥

राजा—**किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ।**

शकुन्तला—(सविषादम् । आत्मगतम्) **हिअअ ! संपदं दे आसङ्का ।** [हृदय ! सांप्रतं ते आशङ्का ।]

शाङ्र्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ।

राजा—**कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ।**

शाङ्र्गरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ।। १८ ।।

राजा—**विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि ।**

गौतमी—**जादे ! मुहुत्तअं मा लज्ज । अवणइस्सं दाव दे ओउण्ठणं । तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि ।** [जाते मुहुर्तं मा लज्जस्व । अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम् । ततस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यति ।] (इति यथोक्तं करोति ।)

राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ।।१९।।

(इति विचारयन्स्थितः ।)

प्रतिहारी—(स्वगतम्) **अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो । ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि ।** [अहो धर्मावेक्षिता भर्तुः । ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति ।]

राजा—क्या इस देवीसे कभी पहले मेरा विवाह हो चुका है ?

शकुन्तला—(दुखी होकर, मन ही मन) हृदय ! तुम्हें जो खटका हो रहा था वह आगे आया जा रहा है ।

शाङ्र्गरव—यह बताइए कि आपको अपने किएपर पछतावा हो रहा है, या आप अपने कर्तव्यसे भाग रहे हैं या जान-बूझकर अपने किए हुएको भुला देना चाह रहे हैं ?

राजा—आपने यह कहाँकी बेसिर-पैरकी बातें छेड़ दी हैं ?

शाङ्र्गरव—(क्रोधसे) जो ऐश्वर्यसे मतवाले हो जाया-करते हैं वे ऐसे ही खोटे काम किया करते हैं ।। १८ ।।

राजा—मुझे तो आप लोगोंने बड़े फेरमें डाल दिया है ।

गौतमी—वत्से ! थोड़ी देरके लिये लाज-संकोच छोड़ दो । आओ, मैं तुम्हारा घूंघट उठाए देती हूँ, तब तुम्हारे पति तुम्हें पहचान लेंगे । (घूंघट हटा देती है ।)

राजा—(शकुन्तलाको ध्यानसे देखकर मन ही मन) मैं ठीक-ठीक निश्चय ही नहीं कर पा रहा हूँ कि यह जो अत्यन्त सुन्दरी यहाँ अपने आप आ पहुँची है, इसके साथ मैंने पहले कभी विवाह किया भी है या नहीं । और इसीलिये, जैसे प्रातःकालकी ओस पड़े हुए कुन्दके फूलपर भौंरा न तो बैठता ही है न उसे छोड़कर ही जाता है, वैसे ही मैं भी, न तो इसे ग्रहण ही कर पा रहा हूँ न छोड़ ही पा रहा हूँ ।। १९ ।।

(राजा सोचता रह जाता है ।)

प्रतीहारी—(मन ही मन) हमारे महाराज धर्मका कितना ध्यान रखते हैं । नहीं तो, अपने आप आए हुए ऐसे रूपको पाकर भला कौन इतना आगा-पीछा सोचेगा !

शार्ङ्गरवः--भो राजन् ! किमिति जोषमास्यते ।

राजा --भोस्तपोधनाः चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि । तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये ।

शकुन्तला—(अपवार्यं) अज्जस्स परिणए एव्व संदेहो । कुदो दाणिं मे दूरादिरोहिणी आसा । [आर्यस्य परिणय एव संदेहः । कुत इदानीं में दूराधिरोहिण्याशा ।]

शार्ङ्गरवः—मा तावत्—

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥ २० ॥

शारद्वतः—शार्ङ्गरव ! विरम त्वमिदानीम् । शकुन्तले ! वक्तव्यमुक्तमस्माभिः । सोऽयमत्र भवानेवमाह । दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् ।

शकुन्तला—(अपवार्य) इमं अवत्थन्तरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण । अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं । (प्रकाशम्) अज्जउत्त ! (इत्यर्धोक्ते) संसइदे दाणिं ण एसो समुदाआरो । पोरव ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसेहिँ अक्खरेहिँ पच्चाचक्खिदुं । [इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन । आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत् । आर्यपुत्र ! संशयित इदानीं नैषु समुदाचारः पौरव ! न युक्तं नाम ते तथा पुराऽऽश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् ।]

शार्ङ्गरव -- क्यों महाराज ! आप चुप क्यों हो गए ?

राजा -- तपस्वियो ! बार-बार स्मरण करनेपर भी इस देवीके साथ विवाह करनेकी बात मुझे स्मरण ही नहीं हो पा रही है, तब बताइए कि इस गर्भवतीके स्पष्ट लक्षणोंवाली देवीको स्वीकार करके दूसरेसे गर्भ धारण करानेवाली स्त्रीका पति कहलानेका अपजस मैं कैसे ले सकता हूँ ?

शकुन्तला --(अलग) आर्यपुत्रको जब विवाहमें ही सन्देह हो रहा है तब मैंने जो और भी बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रक्खी थीं उनका तो फिर ठिकाना ही कहाँ रह जाता है ।

शार्ङ्गरव—हाँ-हाँ, मत करो स्वीकार । तुमको ऋषिका अपमान करना ही चाहिए क्योंकि उन्होंने तुम्हारे साथ यह भलमनसाहत की है न, कि उनकी जिस कन्याको तुमने छलसे दूषित कर दिया है उसे वे तुम्हें योग्य पात्र समझकर उसी प्रकार सौंप रहे हैं जैसे कोई अपनी चोरी गई हुई वस्तु मिलनेपर फिर चोरको ही लौटा दे ॥ २० ॥

शारद्वत—अच्छा शार्ङ्गरव ! अब तुम चुप हो जाओ । (शकुन्तलासे) देखो शकुन्तला ! हमें जो कुछ कहना था, कह चुके । इधर राजा भी ऐसी बातें कर रहे हैं । अब तुम्हीं इन्हें विश्वास दिलाओ ।

शकुन्तला—(मन ही मन) जब बात यहाँतक बढ़ चुकी है तब मैं उस प्रेमकी सुध दिलाकर ही क्या करूँगी । अब तो मुझे अपने भाग्यको कोसना भर ही रह गया है । (प्रकट) आर्यपुत्र ! (आधा कहकर रुक जाती है ।) पर जब इन्हें विवाहमें ही सन्देह हो रहा है तब इस प्रकार सम्बोधन करना भी ठीक नहीं है । पौरव ! मुझ भोली-भालीको आश्रममें अपनी मीठी-मीठी बातोंके जालमें फांसकर अब इस प्रकार मेरा निरादर करना आपको शोभा नहीं देता ।

राजा--(कर्णौ पिधाय) **शान्तं पापम् ।**

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।
कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥ २१ ॥

शकुन्तला--**होदु ! जइ परमत्थतो परपरिग्गहसङ्किणा तुए एव्वं वत्तु पउत्तं ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसंकं अवणइस्सं ।** [भवतु ! यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयैवं वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशंकामपनेष्यामि ।]

राजा—**उदारः कल्पः ।**

शकुन्तला--(मुद्रास्थानं परामृश्य ।) **हद्धी हद्धी अंगुलीअअसुण्णा मे अंगुली ।** [हा धिक् हा धिक् अंगुलीयकशून्या मेऽगुलिः ।] (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते ।)

गौतमी—**णूणं दे सक्कावदारब्भन्तरे सचीतित्थसलिलं वन्दमाणाए पब्भट्टं अंगुलीअअं ।** [नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमंगुलीयकम् ।]

राजा--(सस्मितम्) **इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते ।**

शकुन्तला—**एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं । अवरं दे कहिस्सं ।** [तत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम् । अपरं ते कथयिष्यामि ।]

राजा—**श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम् ।**

शकुन्तला—**णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे संणिहिदं आसि ।** [नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत् ।]

राजा--(कान मूंदकर) शिव ! शिव ! ऐसी बुरी बात मुँहसे न निकालो । अपने स्वच्छ जलको गँदला करनेके लिये तीरपर खड़े वृक्षको ढाहने और तटको बहा ले जानेवाली नदीके समान आप अपना भी कुल क्यों कलंकित करना चाहती हो और मुझे भी क्यों विनाशकी ओर ले जाना चाहती हो ॥ २१ ॥

शकुन्तला--अच्छा, यदि आप सचमुच मुझे पराई स्त्री समझे बैठे हैं तो आपका सन्देह दूर करनेके लिये यह पहचान दिखाती हूँ ।

राजा—हाँ, ठीक है । दिखाइए ।

शकुन्तला—(उँगली टटोलकर) हाय हाय, मेरी उँगलीसे अँगूठी कहाँ निकल गई ?
(रुआँसी-सी होकर गौतमीकी ओर देखती है ।)

गौतमी—जान पड़ता है शक्रावतारमें शचीतीर्थके जलको प्रणाम करते समय तुम्हारी अँगूठी निकल गई होगी ।

राजा—(मुसकराकर) इसीको कहते हैं स्त्रियोंकी तुरत-बुद्धि ।

शकुन्तला—यहाँ भी मेरे दुर्भाग्यने मेरा पीछा न छोड़ा । अच्छा, मैं दूसरी बात भी बताती हूँ ।

राजा—अच्छा, अब सुनानेपर उतर आई हो ?

शकुन्तला—आपको स्मरण होगा कि एक दिन आप नवमालिकाके कुञ्जमें अपने हाथमें पानीसे भरा कमलके पत्तेका दोना लिए हुए थे ।

राजा—श्रृणुमस्तावत् ।

शकुन्तला– तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापङ्गो णाम मिअपोदओ उवट्ठिओ । तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उअएण । ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो । पच्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिलेणेण किदो पणओ । तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि । सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि । दुवेवि एत्थ आरण्णआत्ति । [तत्क्षणं स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः । त्वया अयं तावत्प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन । न पुनस्ते अपरिचयाद्धस्ताभ्यासमुपगतः । पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः । तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि । सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति । द्वावप्यत्रारण्यकाविति ।]

राजा-एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः ।

गौतमी —महाभाअ ! ण अरुहसि एव्वं मन्तिदुं । तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स । [महाभाग ! नार्हस्येवं मन्त्रयितुम् । तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य ।]

राजा —तापसवृद्धे ।

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ।।२२।।

शकुन्तला—(सरोषम्) अणज्ज ! अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि । को दाणिं अण्णो धम्मकंचुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि । [अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे । क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ।]

राजा—कहती चलिए ! मैं सब सुन रहा हूँ ।

शकुन्तला—इतनेमें ही वहाँ मेरा पुत्रके समान पाला हुआ दीर्घापांग नामका मृग-छौना भी आ पहुँचा । आपने उसपर दया करके कहा—पहले इसे जल पी लेने दो । यह कह कर आप उसे जल पिलाने लगे । पर परिचित न होनेके कारण वह आपके पास गया तक नहीं । तब मैंने आपके हाथसे दोना ले लिया और वह मेरे हाथसे गटागट जल पीने लगा । उस समय आपने हँसकर कहा था कि अपने सगे-सम्बन्धियोंको सभी पहचानते हैं । तुम दोनों ही वनवासी हो न !

राजा—अपना काम साधनेवाली स्त्रियोंकी ऐसी झूठी और मीठी-मीठी बातोंमें कामी लोग ही फँसते हैं । समझीं !

गौतमी—महाभाग ! आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिए । तपोवनमें पली हुई कन्या भला छल-बलकी बातें क्या जाने !

राजा—बूढ़ी तपस्विनीजी ! जो मानवी स्त्रियाँ नहीं हैं वे भी बिना सिखाए-पढ़ाए बड़ी चतुर हो जाती हैं फिर इन समझवाली स्त्रियोंका तो पूछना ही क्या । जानती हो ! जबतक कोयलियोंके बच्चे उड़ना नहीं सीख जाते तबतक वे दूसरे पक्षियोंसे ही उनका पालन कराती रहती है ।। २२ ।।

शकुन्तला – (क्रोधसे) अनार्य तुम सबके हृदयको अपने ही हृदयके समान खोटा समझते हो ! तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूससे ढँके हुए अंधे कुएँके समान धर्मका ढोंग रचकर ऐसा खोटा काम कर सके ।

राजा—(आत्मगतम्) संदिग्धबुद्धि मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते । तथा ह्यनया—

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद्भ्रुवो कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥२३॥

(प्रकाशम्) —भद्रे ! प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्षये ।

शकुन्तला—सुट्ठु दाव अत्त सच्छन्दचारिणी किदम्हि जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएणमुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा । (सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृताऽस्मि याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता । [इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति ।]

शार्ङ्गरवः—इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति ।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ २४ ॥

राजा—अयि भोः ! किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्संवृतदोषाक्षरेण क्षिणुथ ।

शार्ङ्गरवः—(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम् ।

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसंधानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥ २५ ॥

राजा—भोः सत्यवादिन् ! अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम् । किं पुनरिमामतिसंधाय लभ्यते ।

राजा—(मन ही मन) इसके क्रोधमें तो सचाई दिखाई पड़ रही है, इसलिये मेरा मन और भी सन्देह में पड़ता जा रहा है । ठीक स्मरण न आनेसे अकेलेमें किए हुए प्रेमको जो मैंने इतनी कठोरतासे अस्वीकार कर दिया है, उसपर लाल-लाल आँखें करके अत्यन्त क्रोधसे शकुन्तलाने जो भौंहे चढ़ा ली हैं उन्होंने इस समय कामदेवके धनुषको भी दो टूक कर डाला है ॥ २३ ॥ (प्रकट) भद्रे ! दुष्यन्तके स्वभावको सारा संसार जानता है । पर ऐसी बात तो आजतक नहीं सुनी गई ।

शकुन्तला—तुमने ठीक ही किया जो मुझे कुचाली स्त्री बना डाला, क्योंकि ऊँचे कुलके धोखेमें आकर ऐसे नीचके हाथमें जा पड़ी जिसके मुँहमें मधु और हृदयमें विष भरा हुआ है । (आँचलसे मुँह ढँककर रोने लगती है ।)

शार्ङ्गरव—बिना सोचे-समझे जो काम किया जाता है उसमें ऐसा ही दुःख मिला करता है । इसलिये गुप्त प्रेम बहुत सोच-विचारकर करना चाहिए क्योंकि बिना जाने-बूझे स्वभाववालेके साथ जो मित्रता की जाती है वह एक न एक दिन शत्रुता बनकर रहती ही है ॥ २४ ॥

राजा—सुनिए तो ! इस देवीकी बातका विश्वास करके आप उलटी-सीधी बातें कह-कहकर हमपर दोष क्यों लगाए जा रहे हैं ?

शार्ङ्गरव—(अपने साथियोंसे क्रोधसे) आपने सुनी इनकी उलटी बातें ! जिसने जन्मसे लेकर अबतक छलका नाम भी न सुना हो, उसकी बातें झूठ समझी जायँ और जिन्होंने दूसरोंको धोखा देनेकी चालें विद्याके समान सीखी हों, वे सत्यवादी समझे जायँ ॥ २५ ॥

राजा—अच्छा सत्यवादीजी ! मान लीजिए हम ऐसे ही हैं । पर यह तो बताइए कि इसे छलकर हमें मिल क्या जायगा ?

शार्ङ्गरवः—विनिपातः ।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयम् ।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव ! किमुत्तरेण । अनुष्ठितो गुरोः संदेशः । प्रतिनिवर्तामहे वयम् । (राजानं प्रति)—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥

गौतमि ! गच्छाग्रतः ।

(इति प्रस्थिताः)

शकुन्तला—कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्धम्हि । तुम्हे वि मं परिच्चअह । [कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि । यूयमपि मां परित्यजथ ।] (इत्यनुप्रतिष्ठते ।)

गौतमी—(स्थित्वा) वच्छ सङ्गरव अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउन्दला । पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु । [वत्स शार्ङ्गरव ! अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ।]

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य) किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ।

(शकुन्तला भीता वेपते ।)

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले ।

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया ।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥ २७ ॥

तिष्ठ । साधयामो वयम् ।

शार्ङ्गरव—पतन, विनाश ।

राजा—मैं नहीं मानता कि पुरुवंशीको पतनकी ओर जाना चाहिए ।

शारद्वत—शार्ङ्गरव ! इस कहा-सुनीसे लाभ क्या है ? गुरुजीका सन्देश हम इन्हें दे ही चुके । चलो, अब लौट चला जाय । (राजासे) राजन् ! यह आपकी पत्नी है । इसे चाहे रखिए, चाहे निकालिए । क्योंकि पतिका तो अपनी स्त्रियोंपर पूरा अधिकार होता ही है ॥ २६ ॥

चलो गौतमी, चलो आगे-आगे । (चलते हैं ।)

शकुन्तला—इस धूर्त्तने तो मुझे छला ही है; अब क्या आप लोग भी मुझे छोड़कर चले जा रहे हैं ? (उनके पीछे-पीछे जाती है ।)

गौतमी—(खड़ी होकर) वत्स शार्ङ्गरव ! यह शकुन्तला रोती हुई हम लोगोंके पीछे-पीछे चली आ रही है । बताओ, अब ऐसे निर्दयीसे ठुकराई हुई मेरी बच्ची भला कहाँ जाय ?

शार्ङ्गरव—(क्रोधसे लौटकर) क्योंरी दुष्टे ! क्या तू अपनी मनमानी करना चाहती है ।

(शकुन्तला भयसे काँप उठती है ।)

शार्ङ्गरव—सुन शकुन्तला ! यदि राजाकी बात सत्य है, तो तुझ जैसी कुल-कलंकिनीका पिताके घर भी कोई काम नहीं है और यदि तू अपनेको पवित्र समझती है तो तुझे दासी बनकर भी अपने पतिके घरमें ही रहना चाहिए ॥ २७ ॥

बस यहीं रह; हम जाते हैं ।

राजा—भोस्तपस्विन् ! किमत्रभवतीं विप्रलभसे ।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ।। २८ ।।

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः ।

राजा—भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि ।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ।। २९ ।।

पुरोहितः—(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियताम् ।

राजा—अनुशास्तु मां भवान् ।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु । कुत इदमुच्यत इति चेत् । त्वं साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति । स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि । विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव ।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते ।

पुरोहितः—वत्से ! अनुगच्छ माम् ।

शकुन्तला—भअवदि वसुहे ! देहि मे विवरं । [भगवति वसुधे ! देहि मे विवरम्]
(इति रुदती प्रस्थिता । निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च ।)

राजा—तपस्वी ! आप इसे क्यों झूठ-मूठ धोखेमें डाले दे रहे हैं—क्योंकि जैसे चन्द्रमा केवल कुमुदोंको और सूर्य केवल कमलोंको ही खिलाता है वैसे ही जितेन्द्रिय लोग भी पराई स्त्रीको छूने तककी इच्छा नहीं करते ।। २८ ।।

शार्ङ्गरव—जब तुम अपनी दूसरी रानियोंके पास आकर अपनी पिछली बात भूल सकते हो तब तुम्हें अधर्मसे क्या डर है ।

राजा—(पुरोहितसे) अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि ऐसी दुविधामें मैं क्या करूँ क्योंकि या तो मैं भूल गया हूँ या ये झूठ कह रही हैं । अब मैं अपनी पत्नीको छोड़नेका पाप करूँ या पराई स्त्रीको छूनेका पाप सिरपर लूँ ।। २९ ।।

पुरोहित—(सोचकर) जब ऐसी दुविधा है तो आप एक काम कीजिए ।

राजा—हाँ, हाँ, बतलाइए ।

पुरोहित—पुत्र उत्पन्न होनेके समयतक ये मेरे घरपर रहें । आप पूछें क्यों ? तो इसलिये कि आपको ऋषियोंने पहले ही आशीर्वाद दे दिया है कि आपके चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा । यदि कण्व मुनिके नातीमें चक्रवर्तीके लक्षण मिल जायँ तब तो इन्हें आदरके साथ रनिवासमें रख लीजिएगा और यदि लक्षण न मिलें तो इन्हें इनके पिताके पास भेज दिया जायगा ।

राजा—जैसा गुरुजी ठीक समझें ।

पुरोहित—वत्से ! आओ मेरे साथ चली आओ ।

शकुन्तला—भगवती वसुन्धरे ! तू फट जा और मुझे गोदमें ले ले । (रोती हुई शकुन्तला पुरोहित और ऋषियोंके पीछे पीछे चली जाती है ।)

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति ।)

(नेपथ्ये) आश्चर्यम् आश्चर्यम् ।

राजा—(आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात् ।

(प्रविश्य)

पुरोहितः—(सविस्मयम्) देव ! अद्भुतं खलु संवृत्तम् ।

राजा—किमिव ।

पुरोहितः—देव ! परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता ।

राजा—किं च ।

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥ ३० ॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति ।)

राजा—भगवन् ! प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव । किं वृथा तर्केणान्विष्यते । विश्राम्यतु भवान् ।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—वेत्रवति ! पर्याकुलोऽस्मि । शयनभूमिमार्गमादेशय ।

प्रतिहारी—इदो इदो देवो । [इत इतो देवः] (इति प्रस्थिता ।)

(शापके कारण भूला हुआ राजा शकुन्तलाके सम्बन्धमें विचार करता है ।)

(नेपथ्यमें) आश्चर्य है ! आश्चर्य है !

राजा—(सुनते हुए) अरे, क्या हुआ !

(पुरोहितका प्रवेश ।)

पुरोहित—(आश्चर्यसे) महाराज, बड़े आश्चर्यकी बात हो गई है ।

राजा—क्या हुआ ?

पुरोहित—महाराज ! कण्वके शिष्योंके चले जानेपर वह ऋषिकन्या, ज्यों ही अपने भाग्यको कोसती हुई बाँहें पसार कर रोने लगी—

राजा—तब क्या हुआ ?

पुरोहित—त्यों ही स्त्रीके जैसी एक ज्योति आई और अप्सरातीर्थकी ओर उसे अपनी गोदमें उठाए लिए चली गई ॥ ३० ॥

(सब आश्चर्य प्रकट करते हैं ।)

राजा—हमने तो उसे पहले ही छोड़ दिया है फिर उसपर व्यर्थ सोचने-विचारनेसे क्या लाभ ? अब आप भी जाकर विश्राम करें ।

पुरोहित—(देखकर) महाराजकी जय हो । (जाता है ।)

राजा—वेत्रवती ! मैं कुछ अनमना-सा हो चला हूँ । मुझे शयनघरमें तो पहुँचा दो ।

प्रतीहारी—इधरसे आइए महाराज, इधरसे । (चलती है ।)

राजा—कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ।। ३१ ।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

राजा—यद्यपि विवाहकी सुध न होनेसे मैंने उसका अत्यन्त तिरस्कार तो कर दिया है फिर भी मेरा अत्यन्त कसकता हुआ हृदय न जाने क्यों रह-रहकर उसकी बातोंमें विश्वास करनेको मचले चला जा रहा है ।। ३१ ।।

(सब चले जाते हैं ।)

पाँचवाँ अंक पूर्ण ।

⁂

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाबद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च ।)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अले कुम्भीलआ ! कहेहि कहिं तुए एशे मणिबन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए। [अरे कुम्भीरक ! कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमंगुलीयकं समासादितम् ।]

पुरुषः—(भीतिनाटितकेन) पशीदन्तु भावमिश्शे । हगे ण ईदिशकम्मकाली । [प्रसीदन्तु भावमिश्राः । अहं नेदृशकर्मचारी ।]

प्रथमः—किं शोहणे बम्हणोत्ति कलिअ रज्ञा पडिग्गहे दिण्णे । [किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः ।]

पुरुषः—सुणुध दाणिं । हगे शक्कावदालब्भन्तरालवाशी धीवले । [शृणुतेदानीम् । अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः ।]

द्वितीयः—पाडच्चल ! किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा । [पाटच्चर ! किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ।]

श्यालः—सूअअ ! कहेदु शव्वं अणुक्कमेण । मा णं अन्तरा पडिबंधह । [सूचक ! कथयतु सर्वमनुक्रमेण । मैनमन्तरा प्रतिबन्धय ।]

उभौ—ज आवुत्तो आणवेदि । कहेहि । [यदावुत आज्ञापयति । कथय ।]

पुरुषः—अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबन्धणोवाएहिं कुडुम्बभलणं कलेमि । [अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि ।]

श्यालः—(विहस्य) विसुद्धो दाणिं आजीवो । [विशुद्ध इदानीमाजीवः ।]

छठा अङ्क

(राजाका साला नगर-रक्षक और उसके पीछे-पीछे दो रखवाले
एक पुरुषको बाँधे हुए प्रवेश करते हैं ।)

दोनों—(बन्दीको पीटते हुए) बोल रे चोर ! यह राजाके नामवाली जड़ाऊ अँगूठी तुझे हाथ कहाँसे लगी ?

पुरुष—(डरनेका नाट्य करता हुआ) दया करो महाराज ! मैं ऐसा काम कभी किया ही नहीं करता ।

पहला—तो क्या तुझे कोई सुपात्र ब्राह्मण समझकर राजाने यह दानमें दे डाली है ?

पुरुष—सुनिए तो सही ! मैं शक्रावतार गाँवके पास रहनेवाला एक मछुआ हूँ ।

दूसरा—अरे चोर ! हमने क्या तेरी जाति पूछी थी ?

श्याल—सूचक ! इसे सब बातें ठीकसे कह तो लेने दो, बीचमें मत टोको ।

दोनों—जैसी आपकी आज्ञा । हाँ, बता रे !

पुरुष—मैं जाल, कँटिया और बंसी डालकर मछली फँसाया करता हूँ और उसीसे अपने बाल-बच्चोंका पेट पालता हूँ ।

श्याल—(हँसकर) बड़ा अच्छा काम ले रक्खा है ।

पुरुष—भट्टा ! मा एव्वं भण ।

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए ।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकंपामिदु एव्व शोत्तिए ॥ १ ॥

[भर्तः ! मैवम् भण ।

सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥]

श्यालः—तदो तदो [ततस्ततः ।]

पुरुषः—एक्कश्शिं दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे । जाव तश्श उदलब्भन्तले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअन्ते गहीदे भावमिश्शेहिं । मालेहि वा मुञ्चेहि वा । अअं शे आअमवुत्तन्ते । [एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयार्थं दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः । मारयत वा मुञ्चत वा । अयमस्यागमवृत्तान्तः ।]

श्यालः—जाणुअ ! विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्व णिस्संसअं । अंगुलीअअदंसणं शे विमरिसिदव्वं । राअउलं एव्व गच्छामो । [जानुक ! विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम् । अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम् । राजकुलमेव गच्छामः । ।

रक्षिणौ—तह । गच्छ अले गण्डभेदअ । [तथा । गच्छ अरे गण्डभेदक ।]

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

श्यालः—सूअअ ! इमं गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिबालह जाव इमं अंगुलीअअं जहागमणं भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि । [सूचक ! इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथाऽऽगमनं भर्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रयामि ।]

पुरुष—ऐसा न कहिए, स्वामी !—जिस जातिको भगवान्‌ने जो बुरा-भला काम सौंप दिया है, वह छोड़ा थोड़े ही जाता है। देखिए पशुओंको मारना है तो बड़ा बुरा काम, पर बड़े-बड़े दयावान् और वेद जाननेवाले ब्राह्मण भी यज्ञके लिये पशुओंको मारते ही हैं ॥ १ ॥

श्याल—अच्छा, अच्छा, आगे बता क्या हुआ ?

पुरुष—एक दिन ज्योंही मैं एक रोहू मछली काट रहा था त्योंही उसमें यह जड़ाऊ चमकीली अँगूठी दिखाई पड़ गई। उसे बेचनेके लिये लाकर मैं दिखला ही रहा था कि आपने मुझे बाँध लिया। बस इतनी ही इस अँगूठीके मिलनेकी कथा है। अब चाहे आप मुझे मारिए, चाहे छोड़िए।

श्याल—जानुक ! इसमें तो सन्देह नहीं कि यह गोह खानेवाला मछुआ ही है क्योंकि इसके शरीरसे भी कच्चे माँसकी दुर्गन्ध आ रही है। यह अँगूठी मिलनेकी बात बता रहा है उसकी चलकर ठीक ठीक जाँच कर लेनी चाहिए। इसलिये चलो, राजाके पास पहुँच चला जाय।

दोनों—बहुत अच्छा। चल रे गँठकटे ! चल।

(सब घूमते हैं।)

श्याल—सूचक! जबतक मैं महाराजको अँगूठी मिलनेका समाचार सुनाकर और उनकी आज्ञा लेकर लौट न आऊँ तबतक तुम दोनों नगरके फाटकपर सँभालकर इसकी चौकसी करते रहना।

उभौ—पविशदु आवुत्ते शामिपशादश्श । [प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय ।]

(इति निष्क्रान्तः श्यालः ।)

प्रथमः—जाणुअ ! चिलाअदि क्खु आवुत्ते । [जानुक ! चिरायते खल्वावुत्तः ।]

द्वितीयः—णं अवशलोवशप्पणीआ लाआणो । [नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः ।]

प्रथमः—जाणुअ ! फुल्लन्ति मे हत्था इमश्श वहस्स शुमणा पिणद्धुम् । [जानुक ! प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधस्य सुमनसः पिनद्धुम् ।] (इति पुरुषं निर्दिशति ।)

पुरुषः—ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भविदुं । [नार्हति भावोऽकारणमारणो भवितुम् ।]

द्वितीयः—(विलोक्य) एशे अम्हाणं शामी पत्तहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देक्खीअदि । गिद्धबली भविश्शशि, शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि । [एष नौ स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते । गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि ।]

(प्रविश्य)

श्यालः—सूअअ ! मुञ्जेदु ऐसो जालोअजीवी । उववण्णो क्खु अंगुलीअअस्स आअमो । [सूचक ! मुच्यतामेष जालोपजीवी । उपपन्नः खल्वङ्गुलीयकस्यागमः ।]

सूचकः जह आवुत्ते भणादि । [यथाऽऽवुत्तो भणति ।]

द्वितीयः—एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते । [एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः ।]

(इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति ।)

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भट्टा ! अह कीलिशे मे आजीवे । [भर्तः ! अथ कीदृशो मे आजीवः ।]

दोनों—हाँ, हाँ, जाइए आइए, स्वामीकी कृपा पाइए ।

(श्याल जाता है ।)

पहला—जानुक ! बड़ी देर लगा दी उन्होंने तो ।

दूसरा—अरे भाई ! राजाके पास अवसर देखकर ही तो जाया जाता है ।

पहला—जानुक ! इसे मारनेके लिये लाल फूलोंकी माला पहनानेको मेरे हाथ बड़े खुजला रहे हैं । (मछुएकी ओर संकेत करता है ।)

पुरुष—भाई, बिना बातके मुझे क्यों मार डालनेपर उतारू हो रहे हो ?

दूसरा—(देखकर) वह देखो ! हमारे स्वामी हाथमें राजाका आज्ञा-पत्र लिए चले आ रहे हैं । अब या तो तू गिद्धोंका भोजन बनेगा या कुत्तोंसे नोचा जायगा ।

(श्यालका प्रवेश)

श्याल—सूचक ! छोड़ दो इस मछुएको । अँगूठी मिलनेका ठीक विवरण मिल गया

सूचक—जैसी स्वामीकी आज्ञा ।

दूसरा—अरे, यह तो यमराजके घर गया-गवाया लौट आया ।

(उसका बन्धन खोलता है ।)

पुरुष—(श्यालको प्रणाम करके) कहिए स्वामी ! मेरा काम कैसा निकला ?

श्यालः—**एसो भट्टिणा अंगुली अअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो।** [एष भर्त्राङ्गुऽलीयकमूल्यसंमितः प्रसादोऽपि दापितः ।] (इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति ।)

पुरुषः—(सप्रणामं प्रतिगृह्य) **भट्टा ! अणुग्गहीदम्हि ।** [भर्तः ! अनुगृहीतोऽस्मि ।]

सूचकः—**एशे णाम अनुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कन्धे पडिट्ठाविदे।** [एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्यं हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः ।]

जानुकः—**आवुत्त ! पलिदोशं कहेहि तेण अंगुलअएण भट्ठिणो शम्मदेण होदव्वं।** [आवुत्त ! परितोषं कथय तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम् ।]

श्यालः—**ण तस्सि महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति तक्केमि। तस्स दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअं पकिदिगंभीरो वि पज्जुस्सुअणअणो आसि।** [न तस्मिन्महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि । तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत् ।]

सूचकः—**शेविदं णाम आवुत्तेण।** [सेवितं नामावुत्तेन ।]

जानुकः—**णं भणाहि इमश्श कए मच्छिआभत्तुणोत्ति।** [ननु भण अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति ।] (इति पुरुषमसूयया पश्यति ।)

पुरुषः—**भट्टालक ! इदो अद्धं तुम्हाणं शुभणोमुल्लं होदु।** [भट्टारक ! इतोऽर्धंयुष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु ।]

जानुकः—**एत्तके जुज्जई।** [एतावद्युज्यते ।]

श्यालः—**धीवर ! महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो। कादम्बरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोण्डिआपणं एव्व गच्छामो।** [धीवर ! महत्तरस्त्वं

श्याल—ले ! महाराजने इस अँगूठीके मोलके बराबर धन भी तुझे प्रसादमें दिया है।

(मछुएको धन देता है।)

पुरुष—(हाथ जोड़कर धन लेता है।) बड़ी दया है आपकी, स्वामी !

सूचक—हां, सचमुच दया तो इसीका नाम है कि तुझे शूलीसे उतारकर हाथीकी पीठपर ले जा बैठाया।

जानुक—स्वामी ! इसे प्रसाद नहीं, पारितोषिक कहिए। क्योंकि जान पड़ता है कि वह अँगूठी स्वामीको बड़ी अच्छी जँची है।

श्याल—महाराजने इस अँगूठीके रत्नोंके कारण उसका आदर नहीं किया वरन् उसे देखते ही उन्हें अपने किसी प्यारेका स्मरण हो आया। क्योंकि यद्यपि स्वामी स्वभावसे ही बड़े गम्भीर हैं फिर भी अँगूठीको देखकर वे थोड़ी देरके लिये कुछ अनमने-से हो गए थे।

सूचक—तब तो सचमुच आपने राजाका बड़ा उपकार कर डाला।

जानुक—यों कहो कि इस मछुएने राजाका उपकार किया है। (मछुएको ईर्ष्याकी दृष्टिसे देखता है।)

मछुआ—स्वामी ! इसमेंसे आधा आप अपने पान-फूलके लिये ले लीजिए।

जानुक—यह तो इनका पद ही है।

श्याल—मछुए ! आजसे तुम हमारे बड़े प्यारे मित्र हो गए। चलो, हम-तुम चलें और

प्रियवयस्यक इदानीं मे संवृत्तः कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते । तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः ।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमति नामाप्सराः ।)

सानुमती—णिव्वट्टिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति । संपदं इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चक्खीकरिस्सं । मेणआसंबंधेण सरीरभूदा मे सउन्दला । ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्वम्हि । (समन्तादवलोक्य) किं णु क्खु उदूच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राअउलं दीसइ । अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं । किं दु सहीए आदरो मए माणइदव्व होदु । इमाणं एव्वं उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं । [निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति । सांप्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि । मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि । किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते । अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम् । किं तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः । भवतु अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणी प्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये ।] (इति नाट्येनावतीर्य स्थिता ।)

(ततः प्रविशति चूतांकुरमवलोकयन्ती चेटी । अपरा च पृष्ठतस्तस्याः ।)

प्रथमा—

आतम्महरिअपण्डुर जीविदसव्वं वसन्तमासस्स ।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदुमङ्गल तुमं पसाएमि ॥ २ ॥

मदिराके आगे अपनी मित्रता पक्की कर लें । चलो, कलवरियामें चल चला जाय । (सब जाते हैं ।)

॥ प्रवेशक ॥

(आकाशमें विमानपर चढ़ी हुई सानुमती अप्सराका प्रवेश ।)

सानुमती—साधुजनोंके स्नानके समय अप्सरातीर्थकी देख-भाल करनेकी जो आज मेरी बारी थी वह काम तो मैं कर चुकी । चलूं, अब चलकर अपनी आंखोंसे उस राजर्षिकी दशा तो देखती चलूं क्योंकि मेनकाकी कन्या होनेके नाते तो शकुन्तला मेरी भी कन्या ही हुई न ! उसी मेनकाने अपनी कन्याके लिये कुछ उपाय करनेको मुझे बहुत पहलेसे ही कह रक्खा है । (चारों ओर देखकर) अरे ! वसन्तके उत्सवका दिन आ पहुँचा और यहां राज-भवनमें एकदम सन्नाटा ! यद्यपि दिव्य दृष्टिसे मैं सब कुछ जान सकती हूँ, फिर भी अपनी सखीकी बात तो रखनी ही होगी । अच्छा, तिरस्करिणी विद्यासे अपनेको छिपाकर इन मालिनियोंके साथ-साथ चल फिरकर यहांका सारा समाचार लिए लेती हूँ ।

(विमानसे उतरनेका नाटच करके नीचे खड़ी हो जाती है ।)

(आमके पेड़की बौर देखती हुई एक परिचारिका आती है । उसके पीछे दूसरी परिचारिका है ।)

पहली—अरे वसन्त ऋतुके जीवन-सर्वस्व ! वसन्तके मंगल-स्वरूप ! अरे लाल, हरे, पीले रंगवाले बौर ! आज पहले-पहल तुम्हारा दर्शन हो रहा है । तुम हमपर प्रसन्न हो जाओ जिससे हम लोगोंका वसन्त सुखसे बीते ॥ २ ॥

[आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्वं वसन्तमासस्य ।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि ॥]

द्वितीया—**परहुदिए ! किं एआइणी मन्तेसि ।** [परभृतिके ! किमेकाकिनी मन्त्रयसे ।]

प्रथमा—**महुअरिए ! चूदकलिअं देक्खिअ उम्मत्तिआ परहुदिआ होदि ।** [मधुकरिके ! चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति ।]

द्वितीया—(सहर्षं त्वरयोपगम्य) **कहं उवट्ठिदो महुमासो ।** [कथमुपस्थितो मधुमासः ।]

प्रथमा—**महुअरिए ! तव दाणिं कालो एसो मदबिब्भमगीदाणं ।** (मधुकरिके ! तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम् ।)

द्वितीया—**सहि ! अवलम्ब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि ।** [सखि ! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि ।]

प्रथमा—**जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स ।** [यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य ।]

द्वितीया—**अकहिदे वि एवं संपज्जइ जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधाट्ठिदं सरीरं ।** (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति) **अए ! अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बंधणभंगसुरभी होदि ।** [अकथितेऽप्येतत्संपद्यते यत एकमेव नौ जीवितम् द्विधा स्थितं शरीरम् । अये ! अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति ।] (इति कपोतहस्तकं कृत्वा)—

तुमं सि मए चूदंकुर दिण्णो कामस्य गहीदधणुअस्स ।
पहिअजणजुवइलक्खो पंचब्भहिओ सरो होही ॥ ३ ॥

[त्वमसि मया चूतांकुर ! दत्तः कामाय गृहीतधनुषे ।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव ॥]

(इति चूताङ्कुरं क्षिपति ।)

दूसरी—अरी परभृतिका (कोयल) ! तू अकेले-अकेले क्या कूके जा रही है ?

पहली—मधुकरिका (भौंरी) ! आमकी बौर देखकर परभृतिका [कोयली] तो मतवाली हो ही जाती है ।

दूसरी—(उल्लाससे भरी हुई शीघ्रतासे पास जाती है) क्या वसन्त आ गया ?

पहली—अरी मधुकरिका [भौंरी] ! तेरे भी तो मस्तीके गीत गानेके ये ही दिन हैं ।

दूसरी—सखी ! मुझे थोड़ा-सा सहारा दे दे तो पंजोंके बल खड़ी होकर पूजाके लिये आमकी बौर उतार लूं ।

पहली—यदि पूजनका आधा फल मुझे भी मिलनेवाला हो तो ला सहारा दे दूं ।

दूसरी—वह तो बिना कहे ही मिल जाता क्योंकि हम तुम तो दो शरीर और एक प्राण हैं । (सखीके सहारेसे आमका बौर उतारती है ।) वाह ! यद्यपि अभी बौर खिल नहीं पाया है फिर भी डालसे तोड़ते ही कैसी सुगन्ध फूटी पड़ रही है । (अञ्जली बांधकर)

अरी आमकी मञ्जरी ! मैं तुझे धनुर्धारी कामदेवके लिये भेंट करती हूँ । परदेसमें गए हुए लोगोंकी युवती स्त्रियोंको काम-पीडा देनेके लिये तुम कामदेवके पाँचों बाणोंमें सबसे अधिक पैनी बन जाओ ॥ ३ ॥

(आमकी मंजरी डाल देती है ।)

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः)

कंचुकी - मा तावत् अनात्मज्ञे ! देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे ।

उभे -(भीते) पसीददु अज्जो । अग्गहीदत्थाओ वअं । [प्रसीदत्वार्यः । अगृहीतार्थे आवाम् ।]

कंचुकी —न किल श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च । तथा हि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥ ४ ॥

सानुमती—णत्थि संदहो। महाप्पहाओ राएसी। [नास्ति संदेहः । महाप्रभावो राजर्षिः ।]

प्रथमा—अज्ज ! कति दिअहाइँ अम्हण मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं एत्थ अ णो पमदवणस्स पालणकम्म समप्पिदं । ता आअंतुअदाए अस्सुदपुब्बो अम्हेहिँ एसो वुत्तंतो । [आर्य ! कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः अत्र च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम् । तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्तः ।]

कंचुकी—भवतु । न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम् ।

उभे—अज्ज ! कोदूहलं णो । जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो । [आर्य कौतूहलं नौ । यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वार्यः किं निमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः ।]

(परदा झटककर क्रोधित कञ्चुकीका प्रवेश)

कंचुकी—(क्रोधित होकर) हैं, हैं ! यह क्या कर रही हो नासमझ छोकरियों ! जब राजाने इस वर्ष वसन्तोत्सव रोक दिया है तब तुम लोग आमकी मञ्जरी क्यों तोड़े ले रही हो ?

दोनों—(डरी हुई-सी) क्षमा कीजिए आर्य ! हमें इसका ज्ञान नहीं था ।

कंचुकी—क्या तुम लोगोंने नहीं सुना कि वसन्तमें फूलने-फलनेवाले वृक्षोंने और उनपर बसेरा लेनेवाले पक्षियोंने भी महाराजकी आज्ञा मान ली है । देखो—आमके बौर बहुत पहले फूट आए थे, पर उनमें पराग अभी-तक नहीं आ पाया है । कुरबकका फूल खिलना ही चाहता था, पर अभी ज्यों-का-त्यों बँधा पड़ा है । जाड़ा बीत जानेपर भी कोयल की कूक उसके गलेतक आकर ही रुक गई है । कामदेव भी अपने तूणीरसे बाण निकालता तो है पर डरकर फिर उसीमें रख लेता है, छोड़ नहीं पाता ॥ ४ ॥

सानुमती—इसमें क्या सन्देह है ! राजर्षिका बड़ा भारी प्रताप है ।

पहली—आर्य ! नगर-रक्षक मित्रावसुने हम लोगोंको अभी थोड़े दिन पहले ही महाराजकी सेवामें प्रमद-वनकी रखवाली करनेको भेजा है । इसलिये नई होनेके कारण हम लोगोंको इस बातका कोई ज्ञान ही नहीं था ।

कंचुकी—अच्छा, अब फिर कभी ऐसा काम न कर बैठना ।

दोनों—आर्य ! हम भी एक बात जानना चाहती हैं । यदि बतानेमें कोई अड़चन न हो तो कृपाकर बतला दीजिए कि महाराजने वसन्तोत्सव क्यों रोक दिया है ।

सानुमती—उस्सवप्पिआ क्खु मणुस्सा । गुरुणा कारणेण होदव्वं । [उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः । गुरुणा कारणेन भवितव्यम् ।]

कंचुकी—बहुलीभूतमेतत्किं न कथ्यते । किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम् ।

उभे—सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अंगुलीअअदस्सणं [श्रुतं राष्ट्रियमुखाद्यावदंगुलीयकदर्शनम् ।]

कंचुकी—तेन ह्यल्पं कथयितव्यम् । यदैव खलु स्वांगुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति । तदा प्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः । तथा हि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥ ५ ॥

सानुमती—पिअं मे । [प्रियं मे ।]

कंचुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः ।

उभे—जुज्जइ । [युज्यते ।]

(नेपथ्ये) एदु एदु भवं [एतु एतु भवान् ।]

कंचुकी—(कर्णं दत्वा) अये ! इत एवाभिवर्तते देवः । स्वकर्मानुष्ठीयताम् ।

सानुमती—मनुष्योंको तो मेले-उत्सवोंका बड़ा चाव होता है, इसलिये उत्सव रोक देनेका कोई बहुत बड़ा कारण हुआ होगा ।

कञ्चुकी—अच्छा, यह बात जब चारों ओर फैल गई है तब मैं भी क्यों न बता डालूँ । क्या शकुन्तलाके छोड़े जानेकी बात तुम लोगोंके कानमें नहीं पड़ी है ?

दोनों—हाँ, राजाको अँगूठी मिलने-तककी बात तो नगर-रक्षकके मुँहसे हम सुन चुकी हैं ।

कञ्चुकी—तब तो थोड़ा ही सुनाना रह गया है । उस अँगूठीको देखते ही महाराजको स्मरण हो उठा कि मैंने शकुन्तलासे एकान्तमें विवाह किया था और भूलसे उसका निरादर कर दिया । तभीसे उन्हें बड़ा पछतावा हो रहा है और उनके मनको न तो अब कोई सुंदर वस्तु ही भाती है और न वे पहलेके समान मंत्रियोंके ही साथ नित्य बैठते हैं । पलँगपर करवटें बदलते हुए वे पूरी रातें जाग-जागकर बिता डालते हैं । जब रनिवासकी रानियाँ उनसे हठ करके इस उदासीका कारण पूछने लगती हैं तब झोंकमें उनके मुँहसे शकुन्तलाका नाम निकल जाता है और वे बड़ी देरतक लजाए रह जाते हैं ॥ ५ ॥

सानुमती—यही तो मैं सुनना चाहती थी ।

कञ्चुकी—बस, इसी दुःखके कारण वसन्तोत्सव रोक दिया गया है ।

दोनों—तब तो ठीक ही है ।

(नेपथ्यमें) आइए महाराज, आइए ।

कञ्चुकी—(कान लगाकर) अरे ! महाराज तो इधर ही चले आ रहे हैं । अब जाओ, तुम लोग जाकर अपना-अपना काम देखो ।

उभे—तह। [तथा।] (इति निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च।)

कंचुकी—(राजानमवलोक्य) अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः। तथा हि--

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रताम्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥ ६ ॥

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्दला किलम्मदि त्ति। [स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।]

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥ ७ ॥

सानुमती—णं ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि। [नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि]

विदूषकः—(अपवार्य) लंघिदो एसो भूओ वि सउन्दलावाहिणा। ण आणे कहं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति ! [लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति।]

दोनों--बहुत अच्छा। (दोनों जाती हैं।)

(विदूषक और प्रतीहारीके साथ पछताते हुए राजा आते हैं।)

कञ्चुकी—(राजाको देखकर) अहा ! जो सुन्दर होते हैं वे सभी दशाओंमें अच्छे ही लगते हैं। देखो, उदास होते हुए भी महाराज कैसे अच्छे लग रहे हैं। क्योंकि—केवल बाएँ हाथपरके सोनेके एक कड़ेको छोड़कर उन्होंने शोभा बढ़ानेवाले सभी गहने उतार डाले हैं, उनकी उसाँसोंसे नीचेका ओठ भी लाल हो गया है और चिन्ताके कारण रातभर जागनेसे उनकी आँखें भी अलसा गई हैं। पर इस प्रकार दुखी होनेपर भी वे उसी प्रकार दुबले नहीं लगते जैसे खरादकर काटा हुआ वह महामणि (हीरा), जो छोटा हो जानेपर भी अपनी चमकके कारण छोटा नहीं लगता ॥ ६ ॥

सानुमती—(राजाको देखकर) यद्यपि शकुन्तलाको छोड़कर इन्होंने उसका बड़ा भारी अपमान किया है तिसपर भी शकुन्तलाका इनके लिये तड़पना ठीक ही जँचता है।

राजा—(चिन्तामें घूमता हुआ) उस समय जब वह मृगके समान आँखोंवाली मेरी प्यारी शकुन्तला बार-बार मुझे समझा रही थी तब तो मेरी आँखें खुली नहीं, अब केवल पछतावेका दुःख सहनेके लिये मेरा यह अभागा हृदय जाग उठा है ॥ ७ ॥

सानुमती—क्या करें; बेचारी शकुन्तलाके भाग्य ही ऐसे हैं ?

विदूषक—(अलग) ओह ! शकुन्तलाके रोगने इन्हें फिर आ घेरा है। न जाने यह रोग कैसे मिट पावेगा ?

कंचुकी – (उपगम्य) जयतु जयतु देवः । महाराज ! प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः ।

राजा—वेत्रवति ! मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि । चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । [यद्देव आज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता ।)

राजा—वातायन ! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु ।

कंचुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं। संपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्ससि । [कृतं भवता निर्मक्षिकम् । सांप्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन्प्रमदवनोद्देशे आत्मानं रमयिष्यसि ।]

राजा—वयस्य ! यदुच्यते रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति तदव्यभिचारि वचः कुतः ।

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः ।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥ ८ ॥

विदूषकः—चिट्ठ दाव । इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पबाणं णासइस्सं । [तिष्ठ तावत् । अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि ।] (इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूतांकुरं पातयितुमिच्छति ।)

राजा – (सस्मितम्) भवतु, दृष्टं ब्रह्मवर्चसम् । सखे ! क्वोपविष्टः प्रियायाः किंचिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टं विलोभयामि ।

कञ्चुकी—(पास जाकर) महाराजकी जय हो । प्रमद-वनकी भूमि झाड़-बुहारकर ठीक कर दी गई है । अब आप जबतक चाहें तबतक उस मनबहलावकी भूमिमें चलकर विश्राम कर सकते हैं ।

राजा—प्रतीहारी ! जाकर मेरी ओरसे अमात्य आर्य पिशुनसे कह आओ कि आज मैं देरसे उठा हूँ, इसलिये न्याय कार्य के लिये सभा-भवनमें नहीं पहुँच पाऊँगा । प्रजाका जो कुछ भी काम हो वह आप लिखकर मेरे पास भिजवा दीजिएगा । समझी ।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा । (जाती है ।)

राजा—जाओ वातायन ! तुम भी जाकर अपना काम देखो ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा (जाता है ।)

विदूषक—अच्छा किया सब मक्खियाँ फुरंसे उड़ा दीं । अब आप उस प्रमदवनमें चलकर मन बहलाइए जहाँ न तो जाड़ेकी ठंढक ही है न गर्मीकी तपन ही ।

राजा—वयस्य ! किसीने बहुत ठीक कहा है कि विपत्ति सदा अवसरकी ताकमें रहा करती है । देखो—अभी मेरे मनसे शकुन्तलाको भुला देनेवाला मोह उतरा भी नहीं था कि मुझे मारनेके लिये अपने धनुषपर आमके बौरका यह नया बाण चढ़ाकर कामदेव भी आ धमका ॥ ८ ॥

विदूषक—अच्छा रुकिए । मैं अभी अपने डंडेसे कामके बाणको तोड़े डालता हूँ न । (अपना डंडा उठाकर बौर झाड़ने चलता है ।)

राजा—(हँसते हुए) अच्छा-अच्छा, रहने दो । देख लिया तुम्हारा ब्रह्मतेज । अब चलो मित्र, कोई ऐसा स्थान बताओ जहाँ बैठकर प्रियासे कुछ-कुछ मिलती-जुलती लताओंको देखकर अपनी आँखें ठण्ढी की जा सकें ।

विदूषकः—**णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा माहवीमण्डवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं। तहिं मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति।** [नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता संदिष्टा माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये। तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति।]

राजा—**ईदृशं हृदयविनोदनस्थानम्। तत्तमेव मार्गमादेशय।**

विदूषकः—**इदो इदो भव।** [इत इतो भवान्।]

(उभौ परिक्रामतः। सानुमत्यनुगच्छति।)

विदूषकः—**एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमण्डवो उवआररमणिज्जदाए णिस्संसअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि। ता पविसिअ णिसीददु भवं।** [एष मणिशिलापट्टकसनाथा माधवीमण्डप उपचाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नो प्रतीच्छति। तत्प्रविश्य निषीदतु भवान्।]

(उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ)

सानुमती—**लदासस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं। तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं** [लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत्सख्याः प्रतिकृतिम्। ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि।] (इति तथा कृत्वा स्थिता।)

राजा—**सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित्संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्।**

विदूषक—पर आपने तो अभी रनिवासकी दासी चतुरिकाको कहा है न, कि हम माधवीमंडपमें जाकर जी बहलाते हैं और तुम हमारे हाथका खींचा हुआ शकुन्तलाका चित्र वहीं लेती आना।

राजा—हाँ, वह स्थान तो है मनबहलावका। तो चलो उधर ही लिवाते लिए चलो।

विदूषक—तो इधरसे आइए महाराज, इधर से।

(दोनों मुड़ते हैं, सानुमती पीछे हो लेती है।)

विदूषक—देखिए! फूलोंसे सजी हुई मणिशिलाकी सुन्दर चौकी बिछाकर यह माधवीकी कुंज मानो आपका स्वागत करनेकी बाट ही देख रही है। इसलिए चलिए वहीं चलकर जा बैठा जाय।

(दोनों प्रवेश करके बैठते हैं।)

सानुमती—अच्छा, तबतक मैं लताकी ओटसे देखती हूँ कि मेरी सखीका चित्र कैसा बना है। क्योंकि तभी तो मैं जाकर उससे बता सकूँगी कि तुम्हारे पति तुमपर कितने प्रकारसे प्रेम दिखा रहे हैं। (वैसा ही करती है।)

राजा—वयस्य! अब शकुन्तलाकी सारी बातें स्मरण होती जा रही हैं और तुमसे तो मैं सब बता ही चुका हूँ। जब मैंने शकुन्तलाको यहाँसे लौटाया था उस समय न तो तुम वहाँ थे ही और न तुमने वे सब बातें ही स्मरण दिलाईं। जान पड़ता है मेरे ही समान तुम भी भूल गए थे।

विदूषकः—ण विसुमरामि। किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं। मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्व गहीदं। अहवा भविदव्व दा क्खु बलवदी। [न विस्मरामि। किंतु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती।]

सानुमती—एव्वं णेदं। [एवं नु एतत्।]

राजा—(ध्यात्वा) सखे ! त्रायस्व माम्।

विदूषकः—भो, किं एदं। अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होन्ति। णं पवादे वि णिक्कम्पा गिरिओ। [भोः, किमेतत्। अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदाऽपि सत्पुरुषाः शोकवक्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः]

राजा—वयस्य ! निराकरणविक्लवायाः प्रियाया समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि। सा हि—

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्॥ ९॥

सानुमती—अम्महे। ईदिसी स्वकज्जपरदा। इमस्स संदावेण अहं रमामि। [अहो ! ईदृशी स्वकार्यपरता। अस्य संतापेनाहं रमे।]

विदूषकः—भो, अत्थि मे तक्को केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णीदे त्ति। [भोः अस्ति मे तर्कः केनापि तत्रभवती आकाशचारिणा नीतेति।]

विदूषक—भूला तो नहीं था। पर सब कुछ कह चुकनेपर आपने अंतमें जब यह कह डाला कि ये सब बातें तो मैंने हँसीमें कही थीं तब मेरी मट्टीकी पिंडीवाली खोपड़ी भी वही सच समझ बैठी। या फिर यों कहिए कि जो होनेवाला होता है वह होकर ही रहता है।

सानुमती—यही बात है।

राजा—(सोचकर) अब तो किसी प्रकार बचाओ मुझे मित्र !

विदूषक—अरे यह आप क्या कर रहे हैं ? यह आपको शोभा नहीं देता। सज्जन लोग कभी ऐसे अधीर नहीं हुआ करते। देखिए, आँधीसे पहाड़ नहीं हिला करते।

राजा—मित्र ! जिस समय मैंने अपनी प्यारीको यहाँसे लौटाया उस समय उसकी जो दशा थी उसे स्मरण करके ही मैं आपेमें नहीं रह पाता। क्योंकि, उस समय वह—जब यहाँसे लौटा दी गई और अपने साथियोंके पीछे चलने लगी तब गुरुके समान पूज्य गुरु-शिष्योंने उसे डाँटकर कहा कि तुमको यहीं रहना होगा। बस, वह खड़ी की खड़ी रह गई। उस समय आँखोंमें आँसू भरकर मुझ निष्ठुरकी ओर उसने जो देखा था वह मुझे ऐसी पीडा दे रहा है जैसे किसीने विष-बुझे शस्त्रसे मेरे शरीरमें घाव कर दिया हो॥ ९॥

सानुमती—अच्छा ! अपने किएपर इतना पछतावा ! इनका दुःख देखकर मेरे जीको बड़ा भारी सन्तोष मिल रहा है।

विदूषक—महाराज ! मुझे ऐसा लगता है कि देवी शकुन्तलाको कोई स्वर्गीय दूत उठा ले गया।

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहेत। मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि। तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते।

सानुमती—संमोहो क्खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो। [संमोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः।]

विदूषकः—जइ एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए। [यद्येवम् अस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या।]

राजा—कथमिव।

विदूषकः—ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअं दुहिदरं चिरं देक्खिदुं पारेन्ति। [न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः।]

राजा—वयस्य।

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम्।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथानामतटप्रपाताः ॥ १० ॥

विदूषकः—मा एव्वं। अंगुलीअअं एव्व णिदंसणं अवस्संभावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदि त्ति। [मैवम्। नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति।]

राजा—(अंगुलीयकं विलोक्य) अये ! इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम्।

तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥ ११ ॥

राजा—अरे, उस पतिव्रताको भला कौन दूसरा छू सकेगा। पर सुना है कि उसकी माँ मेनका है। मुझे यही डर है कि कहीं उसकी सखियाँ ही उसे न उठा ले गई हों !

सानुमती—इस समय राजाको जो इतनी बातें स्मरण हो आ रही हैं उन्हें सुनकर मुझे इतना अचरज नहीं हो रहा है जितना इस बातपर कि उस समय वे भूल कैसे गए थे।

विदूषक—यदि उसकी सखियाँ उठा ले गई होंगी तब तो उसे थोड़े ही दिनोंमें पाया समझिए।

राजा—कैसे ?

विदूषक—पतिसे बिछुड़ी हुई अपनी कन्याके दुःखको माता-पिता अधिक दिनों-तक नहीं देख सकते।

राजा—मित्र ! मैं ठीक-ठीक समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि शकुन्तलाका वह मिलाप सपना था, या जादू था, या भ्रम था, या किसी ऐसे पुण्यका फल था जिसका भोग पूरा हो चला था। सचमुच इन बातोंने मेरी सारी आशाओंको खड़े पहाड़से गिराकर चूर-चूर कर डाला है ॥ १० ॥

विदूषक—ऐसा न कहिए। यह अँगूठी ही बताए दे रही है कि उससे भेंट अवश्य होगी।

राजा—(अँगूठी देखकर) हाय ! इसपर भी मुझे बड़ा तरस आता है कि इतने सुन्दर स्थानपर पहुँचकर भी यह निकलकर कैसे गिर पड़ी। अरी अँगूठी ! तेरी इस दशासे ही ज्ञान हो जाता है कि मेरे ही समान तेरे पुण्योंका भी भोग पूरा हो चला था। नहीं तो शकुन्तलाके लाल नखोंवाली उँगलियोंसे भला तू निकल क्यों गिरती ॥ ११ ॥

सानुमती—जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोअणिज्जं भवे। [यद्यन्यहस्तगतं भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत् ।

विदूषकः—भो ! इअं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदिए हत्थाब्भासं पाविदा। [भो ! इयं नाममुद्रा केनोद्धातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याशं प्रापिता ।]

सानुमती—मम वि कोदूहलेण अआरिदो एसो । [ममापि कौतूहलेनाकारितः एषः ।]

राजा—श्रूयताम् ! स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह—कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति ।

विदूषकः—तदो तदो । [ततस्ततः ।]

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम् ।
तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥ १२ ॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम् ।

सानुमती—रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो । [रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः ।]

विदूषकः—अध कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भन्तले आसि। [अथ कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत् ।]

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्तादगङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम् ।

विदूषकः—जुज्जइ । [युज्यते ।]

सानुमती—हाँ, यदि यह किसी दूसरेके हाथ लग गई होती तब तो सचमुच इसपर दया आती ।

विदूषक—अच्छा, यह तो बताइए कि आपकी यह अँगूठी देवी शकुन्तलाके पास पहुँच कैसे गई ?

सानुमती—इनके मनमें भी यह जाननेका वैसा ही चाव है जैसा मेरे मनमें है ।

राजा—अच्छा सुनो । जब मैं वनसे अपनी राजधानीको लौट रहा था उस समय प्यारीने आँखोंमें आँसू भर कर पूछा था—अब कितनों दिनोंमें सुध लीजिएगा ।

विदूषक—तब-तब ।

राजा—तब उसकी उँगलीमें यह अँगूठी पहनाते हुए मैंने कहा था · प्यारी ! इस अँगूठीपर लिखे हुए मेरे नामके अक्षरोंको प्रतिदिन गिनती रहना ! जब सभी अक्षर गिन चुकोगी तब रनिवासका कोई न कोई सेवक तुम्हें बुलानेके लिये यहाँ आ ही पहुँचेगा ॥ १२ ॥

पर मैं ऐसा कठोर-हृदय निकला कि मुझसे इतना तक करते न बन पड़ा ।

सानुमती—बात तो बड़ी अच्छी थी पर दैवने सब चौपट कर दिया ।

विदूषक—पर जिस रोहू मछलीको उस मछुएने चीरा था उसके पेटमें यह अँगूठी कहाँसे जा पहुँची ?

राजा—जब शकुन्तला हाथ जोड़कर शचीतीर्थको प्रणाम कर रही थी तभी वह अँगूठी उँगलीसे निकलकर गंगाकी धारामें जा गिरी ।

विदूषक—अच्छाऽऽ ?, यह बात है ?

सानुमती—**अदो एव्व तवस्सिणीए सउन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए संदेहो आसि। अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि। कहं विअ एदं।** [अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत्। अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत्।]

राजा—**उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम्।**

विदूषकः—(आत्मगतम्) **गहीदो णेण पंथा उम्मत्तआणम्।** [गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्।]

राजा—

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया॥ १३॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) **अहं क्खु बुभुक्खाए खादिदव्वत्ति।** [अहं खलु बुभूक्षया खादितव्य इति।]

राजा—**अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन।**

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

चतुरिका—**इअं चित्तगदा भट्टिणी।** [इयं चित्रगता भट्टिनी।]

(इति चित्रफलक दर्शयति।)

विदूषकः—**साहु वअस्स। महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पवेसो। खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु।** [साधु वयस्य! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।

सानुमती—जान पड़ता है इसीलिये इन राजर्षिने अधर्मके डरसे बेचारी शकुन्तलाके साथ विवाह होनेकी बातोंमें संदेह किया था। नहीं तो भला ऐसे प्रेममें क्या किसी पहचानकी आवश्यकता पड़ती है?

राजा—मैं अभी इस अँगूठीको डाँटता हूँ न।

विदूषक—(आप ही आप) अरे, ये तो अब पागल हो चले हैं।

राजा—बता री अँगूठी! उन सुन्दर उँगलियोंको छोड़कर तू जलमें क्यों कूदने गई! पर अँगूठीमें तो जीव था नहीं इसलिये उसने गुणकी परख न की हो तो ठीक है, पर मनुष्य होकर मैंने उसका निरादर कैसे कर डाला॥ १३॥

विदूषक—(आप ही आप) यदि थोड़ी देर और इनकी यही दशा रही तब तो मेरी भूख मुझे ही खा डालेगी।

राजा—प्यारी! तुम्हें बिना कारण छोड़ देनेकी जलनसे मैं बहुत जला जा रहा हूँ। मुझे अपना दर्शन देकर दया करके जिला तो लो।

(परदा उठाकर चित्रफलक लिए हुए प्रवेश करके)

चतुरिका—यह रहा देवीका चित्र। (चित्रफलक दिखाती है।)

विदूषक—वाह, मित्र! वाह! इसके तो अंग-अंग आपने ऐसे सुन्दर बना दिए हैं कि इसके मनके भावतक ठीक-ठीक आ उतरे हैं। मेरी आँखें तो इस चित्रमें बने हुए ऊँचे-नीचे स्थलोंमें जैसे ठोकरें खाती चली जा रही हैं।

सानुमती—अम्मो एसा राएसिणो णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति। [अहो एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।]

राजा—

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥ १४॥

सानुमती – सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ। [सदृशमेतत्पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च।]

विदूषकः – भो दाणिं तिण्णिओ तत्तहोदीओ दीसन्ति। सव्वाओ अ दंसणीआओ। कदमा एत्थ तत्तहोदी सउन्दला। [भोः इदानीं तिस्रस्तत्र भवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला।]

सानुमती – अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिठ्ठी अअं जणो। [अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः।]

राजा —त्वं तावत्कतमां तर्कयसि।

विदूषकः—तक्केमि जा एसा सिढिलकेसबन्धणुव्वन्तकुसुमेण केसन्तेण उब्भिण्णस्सेअबिन्दुणा वअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला। इदराओ सहीओ त्ति। [तर्कयामि यैषा शिथिलकेशबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति।]

राजा —निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्॥ १५॥

सानुमती—अरे! राजर्षि तो बड़े चतुर चित्रकार हैं। चित्र तो ऐसा जान पड़ता है मानो सखी शकुन्तला सामने ही आई खड़ी हो।

राजा—यद्यपि मैंने इस चित्रके सब दोष दूर कर डाले हैं फिर भी इन रेखाओंमें देवीकी बहुत थोड़ी-सी ही सुन्दरता उभर पाई है॥ १४॥

सानुमती – पछतावे और नम्रतासे भरे इस प्रेमीको ऐसा ही कहना शोभा देता है।

विदूषक—क्यों! इस चित्रमें तो तीन-तीन देवियाँ दिखाई पड़ रही हैं और तीनों एकसे एक बढ़कर चटकीली हैं। बताओ तो, इसमें देवी शकुन्तला कौन-सी है?

सानुमती— इस असूझेको सुन्दरताकी तनिक-सी भी परख नहीं है।

राजा —अच्छा, तुम इनमेंसे किसको शकुन्तला समझ रहे हो?

विदूषक — मैं तो समझता हूँ कि पानीके छिड़कावसे जो यह आमका पेड़ चमक रहा है उसीसे सटकर कुछ थकी हुई-सी जो खड़ी दिखाई देती है वही शकुन्तला है, जिसके ढीले जूड़ोंसे फूल गिरे पड़ रहे हैं, मुँहपर पसीनेकी बूँदे झलकी पड़ रही हैं और दोनों कन्धे झुके हुए हैं। इसके साथवाली ये दोनों इसकी सखियाँ होंगी।

राजा—तुम तो सचमुच बड़े चतुर हो। इसमें मेरे प्रेमके चिह्न भी बने हुए हैं। चित्रकी कोरोंपर मेरी पसीजी हुई उँगलियोंके काले धब्बे पड़ गए हैं और मेरी आँखोंसे जो आँसू टपका,

चतुरिके ! अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम् । गच्छ । वर्तिकां तावदानय ।

चतुरिका—अज्ज माढव्व ! अवलंब चित्तफलअं जाव आअच्छामि । [आर्य माढव्य ! अवलम्बस्व चित्रफलकं यावदागच्छामि ।]

राजा—अहमेवैतदवलम्बे । (इति यथोक्तं करोति ।)

(निष्क्रान्ता चेटी ।)

राजा—(निःश्वस्य) अहं हि—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥ १६ ॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिअ मिअतिण्हिअं संकंतो । (प्रकाशम्) भो अवरं किं एत्थ लिहिदव्वं । [एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः । भोः अपरं किमत्र लिखितव्यम्]

सानुमती—जो जो पदेसो सहीए मे अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे । [यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालिखितुकामो भवेत् ।]

राजा—श्रूयताम्—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ १७ ॥

उससे शकुन्तलाके गाल परका रंग उभर आया है ॥ १५ ॥ अरी चतुरिका ! अभी इस विनोद-स्थानका चित्र पूरा नहीं बन पाया है । जा, चित्र बनानेकी कूँचियाँ तो लेती आ ।

चतुरिका—आर्य माढव्य ! इस चित्रपटको थोड़ा थामे तो रहिए, मैं अभी आई जाती हूँ ।

राजा—ला, मैं इसे थामे लेता हूँ । (चित्र-फलक ले लेता है ।)

(चेटी जाती है ।)

राजा—(उसाँस भरकर) मित्र ! मेरी दशा तो देखो कि जब वह स्वयं मेरे पास आई थी तब तो मैंने उसे निरादर करके लौटा दिया और अब उसके चित्रपर मैं इतना प्रेम दिखाने चला हूँ । यह तो ऐसा ही है जैसे कोई भरी भराई नदी छोड़कर मृगतृष्णाकी ओर जा लपके ॥ १६ ॥

विदूषक—(आप ही आप) यहाँ महाराज तो नदी छोड़कर मृगतृष्णाके पीछे दौड़े पड़ रहे हैं । (प्रकट) कहो मित्र ! अब इस चित्रमें और क्या बनाना रह गया है ?

सानुमती—मैं सोचती हूँ कि राजा इस चित्रमें अब वे स्थान बनावेंगे जो मेरी सखीको बहुत प्यारे थे ।

राजा—सुनो ! अभी मालिनी नदी बनानी है जिसकी रेतीमें हंसके जोड़े बैठे हों । उसके दोनों ओर हिमालयकी वह तलहटी दिखानी है जहाँ हरिण बैठे हुए हों । मैं एक ऐसा पेड़ भी खींच देना चाहता हूँ जिसपर वल्कलके वस्त्र टँग हुए हों और जिनके नीचे एक हरिणी काले हरिण-को सींगसे रगड़कर अपनी बाईं आँख खुजला रही हो ॥ १७ ॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) जह अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लम्बकुच्चाणं तावसाणं कदम्बेहिँ। [यथाऽहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः।]

राजा – वयस्य ! अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्रविस्मृतमस्माभिः।

विदूषकः—किं विअ। [किमिव।]

सानुमती—वणवासस्स सोउमारस्स अ जं सरिसं भविस्सदि। [वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत्सदृशं भविष्यति।]

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ १८ ॥

विदूषकः—भो ! किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ। (सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा) आ एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलंघं दि महुअरो। [भोः ! किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आः एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः।]

राजा ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषक—भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। [भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति।]

राजा—युज्यते। अपि भोः कुसुमलताप्रियातिथे ! किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि।

विदूषक—(आप ही आप) मैं तो समझता हूँ कि इन्हें इस चित्रको लम्बी लम्बी दाढ़ीवाले तपस्वियोंसे भर डालना चाहिए।

राजा—वयस्य ! और अभी तो मैं शकुन्तलाको जो आभूषण पहनाना चाहता था वे ही बनाना भूल गया हूँ।

विदूषक— वे कौन-कौनसे ?

सानुमती—वे ही जो उस जैसी सुकुमारी वनबासिनी कुमारियाँ पहना करती हैं।

राजा—वयस्य, अभी तो मैं वह सिरसका फूल भी नहीं बना पाया जिसकी डंठल उसने कानोंपर धर रक्खी थी और जिसका पराग उसके गालोंपर आ फैला था। और अभी तो उसके स्तनोंके बीच चन्द्रमाकी किरणके समान पतले कमलके तन्तुओंकी माला भी नहीं बना पाया हूँ ॥ १८ ॥

विदूषक—क्यों मित्र ! देवी अपनी कमलकी पंखड़ीके समान कोमल और लाल हथेलियोंसे अपना मुँह ढके बहुत डरी हुई-सी खड़ी क्यों दिखाई दे रही हैं ? (ध्यानसे देखकर) अरे ! देखिए, यह फलोंके रसका चोर नीच भौंरा देवीके मुँहपर मँडराए जा रहा है।

राजा—भगाओ तो इस ढीठको।

विदूषक—दुष्टोंको दंड देना तो आपका काम है, इसलिये भगाना हो तो अब आप ही इसे भगाइए।

राजा—अच्छी बात है ! ओ रे फूल और लताओंके प्यारे अतिथि ! तू क्यों इसके मुँहपर

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता ।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

सानुमती—अज्ज वि अभिजादं क्खु एसो वारिदो । [अद्याप्यभिजातं खल्वेष वारितः ।]

विदूषकः—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी । [प्रतिषिऽद्धापि वामैषा जातिः ।]

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि । श्रूयतां तर्हि संप्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

विदूषकः—एव्वं तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि । (प्रहस्य आत्मगतम्) एसो दाव उम्मत्तो । अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो । (प्रकाशम्) भो चित्तं क्खु एदं । [एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति । एष तावदुन्मत्तः । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः । भोः चित्रं खल्वेतत् ।]

राजा—कथं चित्रम् ?

सानुमती अहं पि दाणिं अवगदत्था । किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो । [अहमपीदानीमवगतार्था । किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः ।]

राजा—वयस्य ! किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥ २१ ॥

(इति वाष्पं विहरति)

मँडरानेका कष्ट किए डाल रहा है । तेरे प्रेमकी प्यासी भौंरी तो तेरी ओर आँख लगाए उस फूलपर बैठी तेरे बिना मकरन्द नहीं पी सक रही है ॥ १९ ॥

सानुमती—इस अवस्थामें भी ये कितनी कोमलतासे भौंरेको चले जानेके लिये कह रहे हैं ।

विदूषक—लातके देवता बातसे थोड़े ही मानते हैं ।

राजा—क्यों रे ! तू मेरा कहना नहीं मान रहा है ? तो ले सुन—मेरी प्यारीका जो ओठ अछूते नन्हें पौधेकी कोमल कोपलोंके समान लाल है और जिसे मैंने रतिके समय भी बहुत बचा-बचाकर पीया था उसे यदि तैने छुआ तो तुझे कमलके कोशमें डालकर बन्दी करा रक्खूँगा ॥२०॥

विदूषक—क्या तू ऐसे कठोर दण्ड देनेवालेसे भी नहीं डरता ? (हँसकर आप ही आप) ओ हो, ये तो पागल हो ही गए हैं । इनके साथ रहनेसे मैं भी कुछ-कुछ वैसा ही हो चला हूँ । (प्रकट) अरे महाराज ! यह तो चित्र है ।

राजा—ऐं ! क्या चित्र है ?

सानुमती—स्वयं मैं ही जब अभी समझ पाई कि यह चित्र है, तब भला उसका तो पूछना ही क्या जिसने शकुन्तलामें तल्लीन होकर चित्र बनाया है ।

राजा—यह तुमने क्या दुष्कर्म कर डाला मित्र ! मैं तो बड़ा मगन होकर सामने खड़ी हुई शकुन्तलाके दर्शनका आनन्द ले रहा था । पर तुमने स्मरण दिलाकर मेरी प्यारीको चित्र ही बना डाला ॥ २१ ॥

(ऐसा कहकर आँसू बहाने लगता है ।)

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो । [पूर्वापरविरोध्यपूर्वं एष विरहमार्गः ।]

राजा—वयस्य ! कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ २२ ॥

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए । [सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः ।]

(प्रविश्य)

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा । वट्टिआकरंडअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि । [जयतु जयतु भर्ता । वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थिताऽस्मि ।]

राजा—किं च ।

चतुरिका – सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो । [स मे हस्तावन्तरान्तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः ।]

विदूषकः—दिट्ठिआ तुमं मुक्का । [दिष्टया त्वं मुक्ता ।]

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता । [यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा ।]

राजा –वयस्य ! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च । भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु ।

सानुमती –विरहका मार्ग सचमुच कुछ निराला ही होता है, जिसमें पहले कुछ होता है, पीछे कुछ और ही होने लगता है ।

राजा –वयस्य ! जानते हो, इस समय मेरे हृदयपर कैसी बीत रही है ? नींद न लगनेके कारण न तो मैं उससे स्वप्नमें ही मिल पाता और न सदा बहते रहनेवाले ये आँसू उसे चित्रमें ही देखने देते ॥ २२ ॥

सानुमती –शकुन्तलाको दुतकार कर तुमने हमलोगोंके मनमें जो कसक भर दी थी वह आज तुमने सब धो डाली ।

(प्रवेश करके)

चतुरिका—जय हो, महाराजकी जय हो । चित्र-सामग्रीका डब्बा लिए हुए मैं इधर ही चली आ रही थी कि—

राजा – तो क्या हुआ ?

चतुरिका—बीचमें ही तरलिकाके साथ आती हुई महारानी वसुमतीने यह कहकर मुझसे बलपूर्वक यह डब्बा छीन लिया कि मैं स्वयं इसे आर्यपुत्रके पास पहुँचाए आती हूँ ।

विदूषक –तू अपना बड़ा भाग समझ कि उनके हाथसे बिना पिटे ही बची निकल आई ।

चतुरिका –उधर तरलिका वृक्षकी डालीमें उलझी हुई महारानीकी ओढ़नी छुड़ानेमें लगी, इधर मैं धीरेसे यहाँ खिसक आई ।

राजा—जान पड़ता है महारानी बड़ा मुँह फुलाए इधर ही चली आ रही हैं, इसलिये अब इस चित्रको कहीं और ले जा छिपाओ ।

विदूषकः—**अत्ताणं त्ति भणाहि।** (चित्रफलकमादायोत्थाय च) **जइ भवं अंतेउरकालकूडादो मुंचीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि।** [आत्मानमिति भण। यदि भवानन्तःपुरकालकूटान्मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय।] (इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः।)

सानुमती—**अण्णसंकंतहिअओवि पढमसंभावणं अवेक्खदि। अदिसिढिलसोहदो दाणिं एसो।** [अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते। अतिशिथिलसौहार्द इदानीमेषः।]

(प्रविश्य पत्रहस्ता)

प्रतीहारी—**जेदु जेदु देवो।** [जयतु जयतु देवः।]

राजा—**वेत्रवति ! न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी।**

प्रतीहारी—**अह इं। पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता।** [अथ किम्। पत्रहस्ता मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता।]

राजा—**कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।**

प्रतीहारी—**देव ! अमच्चो विण्णवेदि—अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवक्खिदं तं देवो पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु त्ति।** [देव अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति।]

राजा—**इतः पत्रिकां दर्शय।**

(प्रतीहार्युपनयति।)

विदूषक—यह क्यों नहीं कहते कि हमें ही ले जा छिपाओ ? (चित्रपट लेकर उठकर) अच्छा, जब आपको रनिवासके चंगुलसे छुटकारा मिल जाय तब मेघप्रतिच्छन्द भवनमें मुझे पुकार बुलाइएगा। (झपटकर निकल जाता है।)

सानुमती—इन्होंने दूसरेको हृदय दे डाला है सही, पर ये अपनी पहली रानीके प्रेमको भी ठेस नहीं लगने देना चाहते। पर सच्ची बात तो यह है कि रानीके लिये राजाके मनमें कुछ भी प्रेम बचा नहीं रह पाया है।

(हाथमें पत्र लिए हुए प्रतीहारीका प्रवेश)

प्रतीहारी—जय हो, महाराजकी जय हो।

राजा—वेत्रवती ! तुम्हें बीचमें महारानी तो नहीं मिली थीं ?

प्रतीहारी—जी हाँ, मिली थीं। पर मेरे हाथमें यह पत्र देखकर अभी उलटे पाँवों लौट गई हैं।

राजा—वे समय-कुसमय पहचानती हैं इसलिये मेरे काममें बाधा नहीं बनना चाहती होंगी।

प्रतीहारी—महाराज ! अमात्यने कहलाया है कि आजका सारा दिन तो कई विभागोंके रुपये-पैसेका जोड़ लगानेमें ही बीत गया। इसलिये प्रजाका केवल एक ही काम मैं देख पाया हूँ। उसे पत्रमें पढ़कर ही देव समझ लें।

राजा—लाओ, पत्र इधर दो।

(प्रतीहारी पत्र ले जाकर देती है।)

राजा—(अनुवाच्य) कथम् । समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः । अनपत्यश्च किल तपस्वी । राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम् । कष्टं खल्वनपत्यता । वेत्रवति ! बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् । विचीयतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात् ।

प्रतिहारी—देव ! दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि । [देव ! इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते ।]

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति । गच्छ । एवममात्यं ब्रूहि ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । [यद्देव आज्ञापयति ।] (इति प्रस्थिता ।)

राजा—एहि तावत् ।

प्रतीहारी—इअम्हि । [इयमस्मि ।]

राजा—किमनेन संततिरस्ति नास्तीति ।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥ २३ ॥

प्रतीहारी—एव्वं णाम घोसइदव्वं । (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) काले पवुट्ठं विअ अहिणंदिदं देवस्स सासणम् । [एवं नाम घोषयितव्यम् । काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम् ।]

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एवं भोः संततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति । ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः ।

राजा—(बाँचकर) अरे ! क्या नाव डूबनेसे समुद्रके व्यापारी धनमित्रकी मृत्यु हो गई । बेचारेके कोई सन्तान भी नहीं थी । और प्रधान मंत्री लिखते हैं कि उसका सब धन राज-कोषमें आ जाना चाहिए । निःसन्तान होना भी कितना कष्टदायक होता है । अच्छा वेत्रवती ! सेठके पास कोई कमी तो थी नहीं इसलिये उनके बहुतसी सेठानियाँ होंगी । जाकर पता तो लगाओ कि उनमेंसे कोई गर्भवती भी है ?

प्रतीहारी—हाँ देव ! सुना जाता है कि अयोध्यावाले सेठकी जो कन्या उनसे ब्याही थी उसने अभी थोड़े दिन हुए पुंसवन संस्कार कराया है ।

राजा—तब जाकर अमात्यसे कह देना कि वह गर्भका बालक ही सेठके सारे धनका स्वामी होगा ।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा । (यह कहकर चली जाती है ।)

राजा—अच्छा, इधर तो सुनो !

प्रतीहारी—जी, आई ।

राजा—किसीके सन्तान होने या न होनेसे क्या ? जाकर डौंडी पिटवा दो कि पापियोंको छोड़कर हमारी प्रजाके जितने लोग हैं उनके जो जो कुटुम्बी न रहें उनका कुटुम्बी दुष्यन्त समझा जाय ॥ २३ ॥

प्रतीहारी—जी, यही डौंडी पिटवा दी जायगी । (लौटकर) महाराजकी यह आज्ञा सुनकर प्रजा वैसे ही मगन हो उठी है जैसे समयपर पानी बरसनेसे खेती लहलहा उठती है ।

राजा—(लम्बी साँस लेकर) इसी प्रकार निपूतोंका कुल धन उनके न रहनेपर दूसरोंके हाथ चला जाया करता है । मेरे पीछे पुरुवंशकी राज्य-लक्ष्मीकी भी यही दशा होनेवाली है ।

प्रतीहारी—**पडिहृदं अमंगलम्** । [प्रतिहतममङ्गलम् ।]

राजा—**धिङ्मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम् ।**

सानुमती—**असंसअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिंदिदो णेण अप्पा ।** [असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा ।]

राजा—**संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा ।**
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥ २४ ॥

सानुमती—**अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददी भविस्सदि ।** [अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्ततिर्भविष्यति ।]

चतुरिका—(जनान्तिकम्) **अए इमिणा सत्थवाहवुत्तन्तेण दिउणुव्वेओ भट्टा । णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छन्दादो अज्जं माढव्वं गेण्हिअ आअच्छेहि ।** [अपि अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता । एनमाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्यं माढव्यं गृहीत्वागच्छ ।]

प्रतीहारी—**सुट्ठु भणासि ।** [सुष्ठु भणसि ।] (इति निष्क्रान्ता ।)

राजा—**अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः । कुतः ।**

अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति ।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥ २५ ॥

(इति मोहमुपगतः)

चतुरिका—(ससंभ्रममवलोक्य) **समस्ससदु समस्ससदु भट्टा ।** [समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता ।]

प्रतीहारी—भगवान् ऐसे बुरे दिन न दिखावें ।

राजा—घर आई लक्ष्मीका निरादर करनेवाले मुझ अभागेको धिक्कार है ।

सानुमती—इसमें सन्देह नहीं कि राजाने शकुन्तलावाली बातपर ही अपने को धिक्कारा है।

राजा—जैसे समयपर बोई हुई पृथ्वी फल देती है वैसे ही मुझसे गर्भ धारण करके जो मेरे कुलको चलानेवाली धर्म-पत्नी थीं उसे ही मैंने निरादरके साथ छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सानुमती—तुम्हारी सन्तान तुम्हारा वंश चलानेवाली होगी ।

चतुरिका—(अलग) अरी प्रतीहारी ! यह सेठवाली बात सुनकर तो राजाका दुःख दूना बढ़ गया है । इसलिये इनका मन बहलानेको आर्य माढव्यको मेघप्रतिच्छन्दभवनसे बुला तो ले आ ।

प्रतीहारी—यह ठीक कहती हो । (जाती है ।)

राजा—दुष्यन्तके पितर भी बेचारे बड़े संदेहमें पड़ गए होंगे, क्योंकि—वे विकल होकर सोच रहे होंगे कि दुष्यन्तके पीछे कौन हमारा वैदिक विधिसे तर्पण करेगा और इसी सोच में वे मेरे हाथसे तर्पण किए हुए जलके कुछ भागसे तो अपने आँसू धोते होंगे और जो बच रहता होगा बस उतना ही पी पाते होंगे ॥ २५ ॥

(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं ।)

चतुरिका—(घबराहटके साथ देखकर) धीरज धरिए महाराज ! धीरज धरिए ।

सानुमती--हद्धी हद्धी। सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अंधआरदोसं अणुहोदि। अहं दाणिं एव्व णिव्वदं करेमि। अहवा सुदं मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महेंदजणणीए मुहादो -जण्णभावोस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्सन्ति जइ अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणन्दिस्सदि त्ति। ता ण जुत्तं एदं कालं पडिपालिदुं। जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं समस्सासेमि। [हा धिक्। हा धिक्। सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति। अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि। अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखात्–यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाऽचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताऽभिनन्दिष्यतीति। तन्न युक्तं कालं प्रतिपालयितुम्। यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि।] (इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता।)

(नेपथ्ये) अब्बम्हण्णम्। [अब्रह्मण्यम्]

राजा—(प्रत्यागतः कर्णं दत्वा) अये माधव्यस्येवार्तस्वरः। कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—(ससंभ्रमम्) परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सम्। [परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम्।]

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः।

प्रतीहारी—अदिट्ठरूवेण केण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्गभूमिं आरोविदो। [अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः।]

राजा—(उत्थाय) मा तावत्। ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः।

सानुमती—हाय हाय ! जैसे दीपक होते हुए भी बीचमें ओट पड़ जानेसे अँधेरा हो जाता है वैसे ही इस राजाको मोह हो भी गया है। मैं तो अभी इसकी चिन्ता मिटा डालती पर इन्द्रकी माता अदितिने शकुन्तलाको समझाते हुए कहा था कि यज्ञमें भाग पानेको उत्सुक देवता ही तुम्हारा और दुष्यन्तका मिलन करावेंगे। तो अब देर नहीं करनी चाहिए। चलूं, शकुन्तलाको ये सब बातें सुना आऊँ तो उसे बड़ा धीरज हो जाय।

(झटकेसे ऊपर उड़ जाती है।)

(नेपथ्यमें) अरे मार डाला ब्राह्मणको, मार डाला।

राजा—(सजग होकर कान लगाकर) अरे ! यह तो माधव्यका-सा रोना सुनाई पड़ रहा है। अरे ! कोई है ?

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—(घबराहटके स्वरमें) महाराज ! आपके मित्र बड़े संकटमें पड़ गए हैं। बचाइए चलकर उन्हें।

राजा—माधव्यको किसने सता रक्खा है ?

प्रतीहारी—किसी छिपे भूत-प्रेतने उन्हें पकड़कर मेघ-प्रतिच्छन्द-भवनके मुंडेरेपर ले जा टाँगा है।

राजा—(उठकर) यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरे घरमें भी भूत-प्रेत अड्डा जमाने

अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥ २६ ॥

(नेपथ्ये)

भो वअस्स ! अविहा अविहा । [भो वयस्य ! अविहा अविहा ।]

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन्) सखे ! न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

(नेपथ्ये)

(पुनस्तदेव पठित्वा) कहं ण भाइस्सं । एस मं को वि पच्चवणदसिरोहरं इक्खुं विअ तिण्णभंगं करेदि । [कथं न भेष्यामि । एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति]

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) धनुस्तावत् ।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

यवनी—भट्टा एदं हत्थावावसहिदं सरासणं । [भर्तः एतद्धस्तावाप सहितं शरासनम् ।]

(राजा सशरं धनुरादत्ते ।)

(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥ २७ ॥

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति । तिष्ठ कुणपाशन ! त्वमिदानीं न भविष्यसि । (शार्ङ्गमारोप्य) वेत्रवति ! सोपानमार्गमादेशय ।

लगे हैं ? पर यह हो भी सकता है—क्योंकि जब मनुष्य यही नहीं जानता कि वह स्वयं भूलसे नित्य कितने पाप कर बैठता है तब यह कैसे जाना जा सकता है कि प्रजामें कौन किस समय क्या कर रहा है ॥ २६ ॥

(नेपथ्यमें)

दुहाई है मित्र, दुहाई !

राजा—(वेगसे घूमता हुआ) डरो मत मित्र, डरो मत ।

(नेपथ्यमें)

हाय, हाय ! डरूं क्यों नहीं ! यहाँ कोई मेरे गलेको ईखके समान मरोड़कर तीन टुकड़े किए डाल रहा है ।

राजा—(चारों ओर देखता हुआ) अरे, धनुष् तो ले आओ ।

(हाथमें धनुष् लिए हुए प्रवेश करके)

यवनी—महाराज ! यह लीजिए धनुष् और हथरखा ।

(राजा धनुष-बाण ले लेते हैं ।)

(नेपथ्यमें)

तेरे कंठके गरम रुधिरका प्यासा मैं तेरा उसी प्रकार वध किए डालता हूँ जैसे तड़पते हुए
पशुको सिंह मार डालता है । अब आवें न पीडितोंके रक्षक धनुर्धारी दुष्यन्त तुझे बचाने ॥ २७ ॥

राजा—क्या तू मुझे भी चुनौती दिए डाल रहा है ? तो ठहर सड़ा माँस खानेवाले पिशाच ! मैं अभी तुझे मारे डालता हूँ । (धनुष् चढ़ाकर) वेत्रवती ! चल तो आगे-आगे सीढ़ीपर ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः ।]

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति)

राजा—(समन्ताद्विलोक्य) शून्यं खल्विदम् ।

(नेपथ्ये)

अविहा अविहा । अहं अत्त भवन्तं पेक्खामि । तुमं मं ण पेक्खसि । बिडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो। [अविहा अविहा। अहमत्रभवन्तं पश्यामि । त्वं मां न पश्यसि । बिडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः ।]

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित ! मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । एष तमिषुं संदधे ।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ २८ ॥

(इत्यस्त्रं संधत्ते)

(ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः ।)

मातलिः—

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥ २९ ॥

राजा—(संसभ्रममस्त्रमुपसंहरद्) अये मातलिः । स्वागतं महेन्द्रसारथे !

(प्रविश्य)

विदूषकः—अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि । [अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते ।]

प्रतीहारी—इधरसे आइए देव, इधरसे ।

(सबका वेगसे प्रस्थान)

राजा—(चारों ओर देखकर) यहाँ तो कहीं कोई नहीं दिखाई दे रहा है ।

(नेपथ्यमें)

हाय ! हाय ! मैं आपको देख रहा हूँ, पर आप मुझे नहीं देख रहे हैं । मैं तो बिल्लीके पंजोंमें पड़े हुए चूहेके समान अपने प्राणोंसे हाथ धोए बैठा हूँ ।

राजा—अच्छा रे छल-विद्याके घमंडी ! अब मेरा बाण ही तुझे देख लेगा । देख ! मैं यह बाण चढ़ाता हूँ और जैसे पनियल दूधमेंसे हंस दूध-दूध पी जाता है और पानी-पानी छोड़ देता है वैसे ही यह भी तुझ मारे जानेवालेको मार डालेगा और इस बचाए जानेवाले ब्राह्मणको बचा लेगा ॥ २८ ॥

(बाण चढ़ाता है)

(विदूषकको छोड़कर मातलिका प्रवेश)

मातलि - इन्द्रने राक्षसोंके मारनेका काम आपको सौंपा है । अब आप चलकर उस राक्षसोंपर ही अपने बाण चलाइए क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रोंपर बाण नहीं, अपनी कृपा बरसाया करते हैं ॥ २९ ॥

राजा—(बाण उतारता हुआ) कौन ? मातलि ! आओ, आओ, स्वागत है इन्द्रके सारथि !

विदूषक—(प्रवेश करके) अरे ! जो मुझे बलि-पशुके समान अभी मारे डाल रहा था उसका यहाँ स्वागत किया जा रहा है ।

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन् ! श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः ।

राजा—अस्ति । श्रुतपूर्वं मया नारदात् ।

मातलिः—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्यस्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ ३० ॥

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् ।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया । अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम् ।

मातलिः—तदपि कथ्यते । किंचिन्निमित्तादपि मनःसंतापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः । पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि । कुतः ।

ज्वलित चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते ।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ॥ ३१ ॥

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ! अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा । तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि—

मातलि—(मुसकराकर) आयुष्मन् ! इन्द्रने मुझे जिस कामसे आपके पास भेजा है वह पहले सुन लीजिए ।

राजा—हाँ हाँ कहिए, मैं सुन रहा हूँ ।

मातलि—कालनेमिके वंशवाले दानवोंका एक ऐसा दल उठ खड़ा हुआ है जो हराए नहीं हार पा रहा है ।

राजा—हाँ, नारद मुनिने बहुत दिन हुए मुझसे बताया था ।

मातलि—आपके मित्र इन्द्र उन्हें जीत नहीं पा रहे हैं । अब यही समझा गया है कि आप ही रणक्षेत्र में उन दानवोंको पछाड़ सकते हैं क्योंकि रातके जिस अँधेरेको सूर्य नहीं दूर कर सकता उसे चन्द्रमा ही हर पाता है ॥ ३० ॥

अब आप यह धनुष्-बाण लिए-दिए इसी इन्द्रके रथपर चढ़े विजयके लिये चले चलिए ।

राजा—भगवान् इन्द्रने यह सम्मान देकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया है । पर यह तो बताइए कि आपने माधव्यके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया ।

मातलि—वह भी बताता हूँ । मैंने आकर देखा कि आपका मन न जाने क्यों बड़ा दुखी हो रहा है । इसलिये आपका क्रोध जगानेके लिये मैंने यही ठीक समझा । क्योंकि आग तभी जगती है जब इंधनको हिला-डुला दिया जाय और साँप भी अपना फन उठाकर तभी फुफकारता है जब उसे कोई छेड़ दे । इसी प्रकार मनुष्यको भी जबतक कोई उकसाकर भड़का न दे तबतक वह अपना तेज नहीं दिखला पाता ॥ ३१ ॥

राजा—(विदूषकसे) वयस्य ! इन्द्र भगवान्की आज्ञा तो टाली नहीं जा सकती । इसलिये अमात्य पिशुनको यह सब समाचार सुना देना और मेरी ओरसे उनसे कह देना कि—जबतक

त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः ।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥ ३२ ॥

इति ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । [यद्भवानाज्ञापयति] (इति निष्क्रान्तः ।)

मातलिः—आयुष्मान् ! रथमारोहतु ।

(राजा रथाधिरोहणं नाटयति ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति षष्ठोऽङ्कः ॥

मेरा धनुष् उधर दूसरे काममें फँसा हुआ है तब-तक अपनी बुद्धिसे ही प्रजाका पालन करें ॥३२॥

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा । (जाता है ।)

मातलि—चलें, आयुष्मान् रथपर चढ़ जायें ।

(राजा रथपर चढ़नेका नाट्य करते हैं ।)

(सबका प्रस्थान)

॥ छठा अंक पूर्ण ॥

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च ।)

राजा—मातले ! अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन् ! उभयमप्यपरितोषं समर्थये ।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥ १ ॥

राजा—मातले ! मा मैवम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥ २ ॥

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति । पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥ ३ ॥

सातवाँ अङ्क

(आकाशमें रथपर चढ़े हुए राजा दुष्यन्त और मातलि आते हैं ।)

राजा—मातलि ! यद्यपि मैंने तो भगवान् इन्द्रकी आज्ञामात्रका पालन किया था, पर जैसी धूम-धामसे उन्होंने मेरा स्वागत-सत्कार किया उसके सामने तो मेरी सेवा कुछ भी नहीं थी ।

मातलि—(मुसकराकर) आयुष्मन् ! मैं तो समझता हूँ कि आप दोनोंका ही मन एक दूसरेका आदर करके भर नहीं पाया । राजन् ! इन्द्रका इतना बड़ा काम करके भी आप जो अपनी सेवाको तुच्छ समझे जा रहे हैं, उसका कारण यही है कि आप भगवान् इन्द्रको ही बड़प्पन देना चाहते हैं । और वे भी आपकी वीरतासे इतने अचरजमें भर गए हैं कि आपका इतना सम्मान करके भी वे समझ रहे हैं कि जैसा होना चाहिए था वैसा आपका ठीक-ठीक आदर हो नहीं पाया ॥ १ ॥

राजा—नहीं मातलि ! यह बात नहीं है ! वहाँसे चलते समय मेरा जो सत्कार हुआ है उतने सम्मानकी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता । उन्होंने देवताओंके सामने ही मुझे अपने आधे सिंहासनपर बुला बिठाया और अपनी छातीपर शोभा देती हुई हरिचन्दन लगी वह मन्दारकी माला भी अपने गलेसे उतारकर मुसकराते हुए मेरे गलेमें उठा पहनाई जिसे पानेके लिये जयन्त भी ललचाई आँखोंसे बैठा देख रहा था ॥ २ ॥

मातलि—मुझे बताइए ऐसा कौनसा सम्मान है जो देवराज इन्द्रके हाथ आप नहीं पा सकते । देखिए—सदा सुखका जीवन बितानेवाले इन्द्रके लिये दो ही तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने राक्षस-रूपी काँटे स्वर्गसे उखाड़ फेंके हैं—एक तो नृसिंह भगवान् थे जिन्होंने अपने नखोंसे देवताओंके शत्रु हिरण्यकशिपुका पेट चीर फेंका था और दूसरे आप हैं जिन्होंने इस बार अपने चिकने-चिकने पोरवाले बाणोंसे शत्रुओंको मार भगाया है ॥ ३ ॥

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥ ४ ॥

मातलिः—सदृशमेवैतत्। (स्तोकमन्तरमतीत्य) इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांऽशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥ ५ ॥

राजा—मातले! असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतमस्मिन्मरुतां पथि वर्तामहे।

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥ ६ ॥

राजा—मातले! अतः खलु सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीर्णौ स्वः।

मातलिः—कथमवगम्यते।

राजा—यह सब तो भगवान् इन्द्रकी ही महिमाका फल है। यदि सेवक कोई बहुत बड़ा काम करके चला आवे तो यही समझना चाहिए कि स्वामीने वह काम सौंपकर उसे जो बड़ा भारी सम्मान दे दिया था उसीका वह फल है। यदि सूर्य अपने आगे-आगे अरुणको न ले चले तो भला अरुणमें इतनी शक्ति कहाँ कि वह अँधेरा मिटा सके ॥ ४ ॥

मातलि—ऐसी बातें कहना आपका बड़प्पन ही है। (थोड़ी दूर चलकर) आयुष्मन्! इधर स्वर्गमें फैली हुई अपनी कीर्त्तिका प्रताप तो देखिए।—देवता लोग कल्पवृक्षके कपड़ोंपर उन रंगोंसे आपके पराक्रमके गीत बना-बनाकर लिखते जा रहे हैं जो अप्सराओंके सिंगारसे बचे रह गए हैं ॥ ५ ॥

राजा—मातलि! मैं जब आया था तब तो राक्षसोंसे युद्ध करनेके ध्यानमें इतना मग्न था कि उस बार स्वर्गका मार्ग भली भाँति देख ही नहीं पाया था। अच्छा, यह तो बताओ कि हम लोग इस समय पवनके किस तलमें चल रहे हैं?

मातलि—यह वही तल है जिसे लोगोंके कथनानुसार वामन भगवान्ने अपने दूसरे पगसे मापकर पवित्र कर दिया है। यहाँ परिवह नामका वह पवन बहा करता है जिसमें आकाश-गंगा बहा करती हैं और जो अपनी वायु-धाराओंसे नक्षत्रोंको ठीक-ठीक चलाया करता है ॥ ६ ॥

राजा—मातलि! यही कारण है कि मेरी भीतरी और बाहरी सब इन्द्रियोंके साथ-साथ मेरा अन्तरात्मा भी प्रसन्न हो उठा है। (रथके पहियोंको देखते हुए) अब हम आकाशके उस भागपर उतर आए हैं जिसमें बादल चला करते हैं।

मातलि—यह आपने कैसे जाना?

राजा—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरुचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः ॥ ७ ॥

मातलिः–क्षणादायुष्मान्स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते।

राजा—(अधोऽवलोक्य) मातले! वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि--

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥ ८ ॥

मातलिः—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो उदाररमणीया पृथिवी।

राजा—मातले! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिष्यन्दी सांध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते।

मातलिः—आयुष्मन्! एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतस्तपःससिद्धिक्षेत्रम् पश्य–

स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥ ९ ॥

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि। श्रेयांसि प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

राजा—जल-कणोंसे भींगा हुआ आपके रथका धुरा ही यह बतलाए दे रहा है कि हम जल-भरे मेघोंके ऊपरसे चले जा रहे हैं क्योंकि बिजलीकी चमकसे घोड़े भी चौंक चौंक उठ रहे हैं और रथके पहियोंके अरोंके बीचमेंसे निकल-निकलकर चातक भी इधर-उधर उड़ते फिर रहे हैं ॥ ७ ॥

मातलि—आयुष्मन्, बस क्षण भरमें ही आप अपने राज्यकी भूमिपर उतर पहुंचे जाते हैं।

राजा—(नीचे देखकर) मातलि! वेगसे उतरनेके कारण नीचेका मनुष्यलोक कितना विचित्र दिखाई पड़ रहा है। क्योंकि—देखो! जान पड़ता है मानो धरती पहाड़ोंकी ऊँची चोटियोंसे नीचे उतर रही हो, पत्तोंमें छिपी हुई वृक्षोंकी शाखाएँ भी अब स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं, दूरसे पतली दिखाई देनेवाली नदियाँ भी चौड़ी होती जा रही हैं और यह पृथ्वी इस प्रकार हमारी ओर उठी चली आ रही है मानो कोई इसे ऊपरको उछाले दे रहा हो ॥ ८ ॥

मातलि—ठीक देखा आपने। (आदरसे देखकर) वाह! धरती कैसी सुहावनी दिखाई पड़ रही है!

राजा—मातलि! बताओ तो, यह पूर्व और पश्चिमके समुद्रोंतक फैला हुआ, सुनहरी धारा बहानेवाला और सन्ध्याके मेघोंकी भीतके समान लम्बा-चौड़ा कौन-सा पहाड़ दिखाई दे रहा है?

मातलि—आयुष्मन्! यह तो हेमकूट नामका वह पहाड़ है जिसमें किन्नर लोग रहा करते हैं और जहाँ तपस्या करनेवालोंको बातकी बातमें सिद्धि मिल जाया करती है। देखिए, यहाँ देवताओं और दानवोंके पिता स्वयम्भू मरीचिके पुत्र प्रजापति कश्यप अपनी पत्नीके साथ बैठे तपस्या कर रहे हैं ॥ ९ ॥

राजा—तब तो हाथमें आया-अघाया सौभाग्य छोड़ना नहीं चाहिए। मैं चाहता हूँ कि भगवान् कश्यपकी प्रदक्षिणा कर लूं तब जाऊँ।

मातलिः—**प्रथमः कल्पः ।**

(नाट्येनावतीर्णौ)

राजा—(सविस्मयम्)

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥ १० ॥

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः ।

राजा—**मातले ! कतरस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः ।**

मातलिः—(हस्तेन दर्शयन्)—

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः ।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥ ११ ॥

राजा—**नमोऽस्मै कष्टतपसे ।**

मातलिः—(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) **महाराज एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः ।**

राजा—**स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि ।**

मातलिः—(रथं स्थापयित्वा) **अवतरत्वायुष्मान् ।**

मातलि—यह तो आपने ठीक सोचा ।

(दोनों उतरनेका नाटच करते हैं ।)

राजा—(आश्चर्यसे) अरे ! तुम्हारा रथ कब नीचे उतर आया यह तो जान ही नहीं पड़ा क्योंकि पृथ्वीसे छूनेके कारण न तो इसके पहियोंकी घरघराहट ही सुनाई दी, न धूल ही उड़ी और न तुमने रास ही खींची ॥ १० ॥

मातलि—आयुष्मान्‌के और इन्द्रके रथमें बस यही तो अन्तर है ।

राजा—मातलि ! मरीचिके पुत्र कश्यपका आश्रम किधर है ?

मातलि—(हाथसे दिखलाते हुए) वह रहा कश्यप ऋषिका आश्रम, जहाँ वे ऐसी तपस्या कर रहे हैं कि उनके आधे शरीरतक तो दीमकोंने बाँबी उठा ली है, छातीपर साँपकी केंचुलियाँ छूटी पड़ी हैं, गलेमें सूखी हुई बेलें उलझी पड़ी हैं, कन्धोंतक लटकी हुई जटाओंमें चिड़ियोंने घोंसले बना लिए है और सूखे पेड़के ठूंठके समान अचल होकर वे सूर्यपर आँखें जमाए बैठे हैं ॥ ११ ॥

राजा—ऐसी कठोर तपस्या करनेवाले महात्माको मैं प्रणाम करता हूँ ।

मातलि—(रास खींचकर और रथ रोककर) महाराज ! हम लोग प्रजापति कश्यपके आश्रममें पहुँच गए हैं । यह देखिए, यह सुन्दर मन्दारके वृक्षोंकी पाँत अदितिने स्वयं अपने हाथसे लगाई है ।

राजा—यहाँ तो स्वर्गसे भी बढ़कर शान्ति फैली हुई है । जान पड़ता है मानो मैं अमृतकुण्डमें आ पड़ा होऊँ ।

मातलि—(रथ रोककर) उतरें आयुष्मान् !

राजा—(अवतीर्य) मातले ! भवान्कथमिदानीम् ।

मातलिः—संयन्त्रितो मया रथः । वयमप्यवतरामः । (तथा कृत्वा) इत आयुष्मन् । (परिक्रम्य) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः ।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि ।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्‌क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥

मातलिः—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना । (परिक्रम्य आकाशे) अये वृद्धशाकल्य ! किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः । किं ब्रवीषि । दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति ।

राजा—(कर्णं दत्वा) अये प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः ।

मातलिः—(राजानमवलोक्य) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्रगुरुवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि ।

राजा—यथा भवान्मन्यते । (इति स्थितः ।)

मातलिः—आयुष्मन् ! साधयाम्यहम् । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(उतरकर) मातलि ! अब आप क्या करेंगे ?

मातलि—मैंने भली भाँति रथको रोक लिया है । मैं भी आपके साथ ही उतरा जा रहा हूँ । (उतरकर) इधरसे आइए आयुष्मन् ! (घूमते हुए) आइए, यहाँ ऋषियोंकी तपोभूमि आ देखिए ।

राजा—सचमुचमुझे तो यह देखकर बड़ा अचरज हो रहा है कि यहाँ ये तपस्वी लोग उन वस्तुओंके बीच बैठकर तपस्या कर रहे हैं जिन्हें पानेके लिये दूसरे ऋषि लोग तप साधा करते हैं । यहाँपर ये लोग कल्पवृक्षोंके वनका वायु पी-पीकर जीते हैं, सुनहरे कमलके परागसे सुवासित जलमें स्नान करके पूजा-पाठ करते हैं, रत्न-शिलाओंपर बैठकर समाधि लगाते हैं और अप्सराओंके बीच बैठकर तपस्या साधते हैं ॥ १२ ॥

मातलि—ऐसे महापुरुषोंकी इच्छाएँ भी तो वैसी ही बड़ी होती हैं । (घूमकर आकाशमें) कहिए वृद्ध शाकल्यजी ! इस समय महात्मा कश्यप क्या कर रहे हैं ? क्या कहा कि दाक्षायणीने पातिव्रत धर्मके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया था उसका उत्तर वे उन्हें और ऋषिपत्नियोंको बैठे सुना रहे हैं ?

राजा—(कान लगाकर) अरे, यह तो ऐसा कथा-प्रसंग छिड़ गया है कि अब इसके समाप्त होनेतक रुकना ही होगा ।

मातलि—(राजाको देखकर) जबतक मैं इन्द्रके पिता महर्षि कश्यपको आपके आनेकी सूचना देनेका कोई अवसर ढूँढ निकालूँ, तबतक आप इस अशोकके वृक्षके नीचे ही चलकर बैठे रहिएगा ।

राजा—जैसा आप ठीक समझें । (बैठता है ।)

मातलि—अच्छा तो मैं जा रहा हूँ आयुष्मन् ! (चला जाता है ।)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा)—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥१३॥

(नेपथ्ये)

मा क्खु चावलं करेहि। कहं गदो जेव अत्तणो पकिदिं। [मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्।]

राजा—(कर्णं दत्वा) अभूमिरियमविनयस्य। को नु खल्वेष निषिध्यते। (शब्दानुसारेणावलोक्य सविस्मयम्) अये! को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्वो बालः।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥ १४ ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां सह बालः।)

बालः—जिम्भ सिंघ दन्ताइँ दे गणइस्सं। [जृम्भस्व सिंह दन्तांस्ते गणयिष्ये]

प्रथमा—अविणीद! किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि। हन्त बड्ढइ दे संरम्भो। ठाणे क्खु इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहेओ सि। [अविनीत! किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि। हन्त, वर्धते तव संरम्भः। स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि।]

राजा—किं न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः। नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

राजा—(अच्छा शकुन देखकर) अपने मनोरथ पूरे होनेकी तो मुझे कोई आशा ही नहीं है फिर तुम व्यर्थ ही क्यों फड़क रही हो मेरी भुजा! सच है, जो आई हुई लक्ष्मीको ठुकरा देता है उसे पीछे ऐसे ही रोना-झींकना पड़ता है ॥ १३ ॥

(नेपथ्यमें)

बस, नटखटपन बन्द कर। क्यों! तू फिर अपने स्वभावपर उतर आया?

राजा—(कान लगाकर) अरे, यहाँ तो नटखटपन होना ही नहीं चाहिए फिर यहाँ कौन किसे डाँटे दे रहा है? (जिधरसे बोली सुनाई देती है उधर देखकर आश्चर्यसे) अरे, यह कौन पराक्रमी बालक है जिसके पीछे-पीछे दो तपस्विनियाँ चली आ रही हैं और जो—अपने खेलनेके लिये सिंहिनीके स्तनोंसे आधा दूध पिए हुए सिंहिनीके उस बच्चेको बलपूर्वक घसीटे लिए चला आ रहा है जिसके केसर इस खींचा-तानीमे बहुत छितरा गए हैं ॥ १४ ॥

(ऊपर कही हुई दशामें तपस्विनियोंके साथ बालकका प्रवेश)

बालक—खोल ले (रे) छिंघ (सिंह) अपना मुँह! मैं तेले (तेरे) दाँत गिनूंगा।

पहली—अरे नटखट! जिन पशुओंको हम लोगोंने अपनी सन्तानके समान पाल रक्खा है उन्हें तू क्यों इतना सताया करता है? क्या कहें, तेरा नटखटपन दिन-दिन बढ़ता ही चला जा रहा है। ऋषियोंने तेरा नाम ठीक ही सर्वदमन रख छोड़ा है।

राजा—इस बालकपर मेरे मनमें वैसा ही प्रेम उमड़ पड़ रहा है मानो यह मेरा अपना ही पुत्र हो। पर जान पड़ता है कि पुत्र न होनेके कारण ही मेरे मनमें यह वात्सल्य प्रेम उमड़ा पड़ रहा है।

द्वितीया—एषा क्खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तअं ण मुंचेसि । [एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयिष्यति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि ।]

बालः—(सस्मितम्) अम्हहे ! बलिअं क्खु भीदो म्हि । [अहो ! बलीयः खलु भीतोऽस्मि ।] (इत्यधरं दर्शयति ।)

राजा— महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ॥ १५ ॥

प्रथमा—वच्छ ! एदं बालमिइन्दअं मुंच । अवरं दे कीलणअं दाइस्सं । [वत्स ! एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च । अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि ।]

बालः—कहिं । देहि णं । [कुत्र । देह्येतत् ।] (इति हस्तं प्रसारयति ।)

राजा—कथम् । चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते । तथा ह्यस्य—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालप्रथिताङ्गुलिः करः ।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥ १६ ॥

द्वितीया—सुव्वदे । ण सक्को एसो वाआमत्तेण विरमयिदुं । गच्छ तुमं । ममकेरए उडए मक्कण्डेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठदि । तं से उवहर । [सुव्रते ! न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम् । गच्छ त्वम् । मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति । तमस्योपहर ।]

प्रथमा—तह । [तथा] (इति निष्क्रान्ता ।)

दूसरी—इसके बच्चेको तू नहीं छोड़ेगा तो यह सिंहिनी तेरे ऊपर झपट पड़ेगी ।

बालक—(मुसकराते हुए) अले (अरे) मैं तो बला (बड़ा) दल (डर) गया हूँ । (ओठ निकालकर मुँह बनाता है ।)

राजा—यह बालक तो मुझे किसी बड़े तेजस्वीका पुत्र जान पड़ता है और उस चिनगारीके रूपमें रहनेवाली अग्निके समान दिखाई पड़ रहा है जो भड़क उठनेके लिये बस इंधनकी बाट देख रही हो ॥ १५ ॥

पहली—वत्स ! इस सिंहके बच्चेको तू छोड़ दे । मैं तुझे और खिलौना लाए देती हूँ ।

बालक—कहाँ है ! लाओ, दो ।

(हाथ फैलाता है)

राजा—अरे, इसके हाथमें तो चक्रवर्तियोंकेसे लक्षण दिखाई दे रहे हैं । क्योंकि—खिलौनेके लोभसे फैलाया हुआ यह जालके समान मिली हुई उँगलियों-वाला इसका हाथ उस अकेले कमलके जैसा दिखाई दे रहा है जो प्रातःकालकी लालीसे चमक उठा हो और जिसकी पंखड़ियाँ अभी पूरी खुल भी न पाई हों ॥ १६ ॥

दूसरी—सुव्रता ! इसे बातोंसे नहीं फुसलाया जा सकता । तू जा, मेरी कुटीमें जो ऋषि-कुमार मार्कंडेयका रँगा हुआ मिट्टीका मोर रक्खा है, उसे उठाती ला ।

पहली—अच्छा । (जाती है)

बालः—इमिणा एव्व दाव कीलिस्सं। [अनेनैव तावत्क्रीडिष्यामि] (इति तापसीं विलोक्य हसति।)

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्ती धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ १७ ॥

तापसी—होदु ण मं अअं गणेदि। (पार्श्वमवलोकयति) को एत्थ इसिकुमाराणं। (राजानमवलोक्य) भद्दमुह ! एहि दाव। मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिम्भलीलाए बाहीअमाणं बालमिइन्दअं। [भवतु। न मामयं गणयति। कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम्। भद्रमुख ! एहि तावत्। मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्।]

राजा—(उपगम्य। सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्र !

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥ १८ ॥

तापसी—भद्दमुह ! ण क्खु अअं इसिकुमारओ। [भद्रमुख ! न खल्वयमृषिकुमारः।]

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवं तर्किणः। (यथाऽभ्यर्थितमनुतिष्ठन्बालस्पर्शमुपलभ्य, आत्मगतम्)

अनेन कस्यापि कुलांकुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्ररूढः ॥ १९ ॥

बालक—ओल (और) तबतक मैं इछीछे (इसीसे) खेलता हूँ। (यह कहकर तपस्विनीको देखकर हँस देता है।)

राजा—मुझे तो यह नटखट बालक न जाने क्यों बड़ा प्यारा लगने लगा है। वह भाग्यवान् धन्य है जिसकी गोदमें बैठकर यह स्वभावसे हँसमुख, कलीके समान कुछ-कुछ झलकते हुए दाँतोंवाला और तुतला-तुतला कर बातें करनेवाला बालक अपने अंगकी धूल उसके अंगमें लगाता होगा ॥ १७ ॥

तपस्विनी—अरे ! यह तो मेरी बात सुनता ही नहीं। (इधर-उधर देखकर) अरे कोई ऋषिकुमार यहाँ है ? (राजाको देखकर) भद्र ! तनिक आप ही आकर इस बालकके हाथसे इस सिंहके बच्चेको छुड़ा दीजिए। इसने इसे ऐसा कसकर जकड़ रक्खा है कि मेरे हाथसे तो छुड़ाए नहीं छूटता।

राजा—(पास जाकर मुसकराहटके साथ) अरे, ए महर्षिकुमार ! तुम यहाँ आश्रमके नियमोंसे उलटा काम क्यों किए डाल रहे हो ? ये बेचारे जीव जो जन्मसे ही सीधे-सादे रहकर सुखी जीवन बिता रहे हैं, उन्हें तुम वैसे ही क्यों सताए डाल रहे हो जैसे काले सर्पका बच्चा चन्दनके पेड़को सताया करता है ॥ १८ ॥

तपस्विनी—भद्र ! यह ऋषिकुमार नहीं है।

राजा—इसके रूप और कामोंसे ही जान पड़ रहा है कि यह ऋषिकुमार नहीं है। पर यहाँ तपोवनमें देखकर मैंने ऋषिकुमार ही समझ लिया था। (जी भरकर बालकके शरीरपर हाथ फेरकर आप-ही-आप) न जाने यह बालक किस वंशका है। इसे एक बार ही छू लेनेसे जब मेरे शरीरको इतना सुख मिल रहा है तब उस भाग्यवान्को कितना आनन्द मिलता होगा जिसका यह सगा पुत्र होगा ॥ १९ ॥

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) अच्छरिअं । अच्छरिअं । [आश्चर्यम् । आश्चर्यम् ।]

राजा—आर्ये किमिव ।

तापसी—इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हाविदम्हि । अपरिइदस वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति । [अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मापिताऽस्मि । अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति ।]

राजा —(बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयमथ कोऽस्य व्यपदेशः ।

तापसी – पुरुवंसो । [पुरुवंशः ।]

राजा—(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम । अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते । अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति मे निवासम् ।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥ २० ॥

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः ।

तापसी—जह भद्दमुहो भणादि । अच्छरासंबन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो पसूदा । [यथा भद्रमुखो भणति । अप्सरः संबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता]

राजा—(अपवार्य) हन्त द्वितीयमिदमाशाजननम् । (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ।

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीतिदुं चिन्तिस्सदि । [कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति ।]

तपस्विनी—(दोनोंको देखकर) आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

राजा—आश्चर्यकी क्या बात है, आर्ये !

तपस्विनी—तुम्हारा और इस बालकका एक-दम मिलता-जुलता रूप देखकर मैं तो बड़े अचरजमें भर गई हूँ और देखिए कि अनजान होते हुए भी इसने आपका कहना नहीं टाला ।

राजा—(बच्चेको दुलारते हुए तपस्विनीसे) अच्छा, यह तो बताइए कि यह ऋषिकुमार नहीं है तो फिर किस वंशका है ?

तपस्विनी—पुरुवंशका ।

राजा—(मन ही मन) अरे, क्या यह मेरे ही वंशका है ? तभी ये तपस्विनीजी मुझे इससे मिलता-जुलता बता रही हैं ।

पर पुरुवंशियोंकी तो यह बँधी हुई रीति है कि वे—युवावस्थामें पृथ्वीकी रक्षाके लिये विलासकी सामग्रियोंसे भरे भवनोंमें रहना चाहते हैं और बुढ़ापेमें अपनी पतिव्रता स्त्रीको साथ लेकर वृक्षके नीचे कुटिया बनाकर रहने लगते हैं ॥ २० ॥

(प्रकट) पर अपनी शक्तिसे तो कोई मनुष्य यहाँ पहुँच नहीं पा सकता ।

तपस्विनी—आप ठीक कह रहे हैं । इसकी माँ अप्सराकी कन्या है । इसलिये उसने यहाँ मरीचिके आश्रममें ही इसे जन्म दिया है ।

राजा—(अपने आप) अरे ! यह तो मेरी आशाकी दूसरी सीढ़ी मिल गई । (प्रकट) अच्छा यह तो बताइए कि वे देवी किन राजर्षिकी पत्नी हैं ?

तपस्विनी—जिसने अपनी धर्म-पत्नीको छोड़ दिया हो, भला ऐसे पापीका भी कोई अपने मुँहसे नाम लिया करता है ।

राजा—(स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

तापसी—सव्वदमण ! सउन्तलावण्णं पेक्ख। [सर्वदमन ! शकुन्त-लावण्यं प्रेक्षस्व।]

बालः—(सदृष्टिक्षेपम्) कहिं वा मे अज्जू। [कुत्र वा मम माता]

उभे—णामसारिस्सेण वंचिदो माउवच्छलो। [नाम सादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः।]

द्वितीया—वच्छ ! इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्खत्ति भणिदो सि। [वत्स ! अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि।]

राजा—(आत्मगतम्) किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते।

बालः—अज्जुए ! रोअदि मे एसो भद्दमोरओ। [मातः ! रोचते म एष भद्रमयूरः।] (इति क्रीडनकमादत्ते।)

प्रथमा—(विलोक्य सोद्वेगम्) अम्हहे ! रक्खाकरण्डअं से मणिबन्धे ण दीसदि। [अहो ! रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते।]

राजा—अलमलमावेगेन। नन्विदमस्य सिंहशावविमर्दात्परिभ्रष्टम्। (इत्यादातुमिच्छति।)

उभे—मा क्खु एदं अवलम्बिअ। कहं गहीदं णेण। [मा खल्विदमवलम्बय। कथम् गृहीतमनेन।] (इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः।)

राजा—(आप ही आप) यह कथा तो पूरी-पूरी मुझपर ही लागू हो रही है ! अच्छा, माता-पिताका ही नाम पूछ देखूँ। किन्तु पराई स्त्रीके विषयमें कुछ पूछना भलमनसाहत नहीं है।

(हाथमें मिट्टीका मोर लिए हुए तपस्विनी आती है।)

तपस्विनी—सर्वदमन ! शकुन्त-लावण्य (इस पक्षीकी सुन्दरता) तो देख !

बालक—(शकुन्तला-वर्ण = शकुन्तलाका रूप समझकर चारों ओर देखता हुआ) कहाँ है मेरी माँ ?

दोनों—अपनी माँका इसे ऐसा मोह है कि उसके नामके अक्षर सुनने भरसे ही इसे धोखा हो गया।

दूसरी—वत्स ! मैं तो यह कह रही थी कि तुम इस मिट्टीके मोरकी सुन्दरता देखो !

राजा—(आप ही आप) तो क्या इसकी माँका नाम शकुन्तला है ? पर संसारमें एक-जैसे बहुतोंके नाम होते हैं। कहीं यह नाम भी मेरे दुःखको और बढ़ानेके लिये मृग-तृष्णाके समान ही न आ गया हो।

बालक—माँ ! यह मोल (मोर) तो बला (बड़ा) अच्छा है। (खिलौना लेता है।)

पहली—(देखकर घबराहटके साथ) अरे, इसके पहुँचेपर बँधा हुआ रक्षाका गंडा नहीं दिखाई दे रहा है।

राजा—घबराइए मत ! सिंहके बच्चेसे खींचा-तानी करते समय वह यहीं निकल गिरा था।

(उठाना चाहता है।)

दोनों—हैं हैं ! छूइएगा मत ! अरे; इन्होंने तो उसे उठा भी लिया ! (आश्चर्यसे छातीपर हाथ रखकर एक दूसरीकी ओर देखती हैं।)

राजा—**किमर्थं प्रतिनिषिद्धाः स्मः ।**

प्रथमा—**सुणादु महाराओ । एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा । एदं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि ।** [शृणोतु महाराजः । एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता । एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति ।]

राजा—**अथ गृह्णाति ।**

प्रथमा—**तदो तं सप्पो भविअ डंसइ ।** [ततस्तं सर्पो भूत्वा दंशति ।]

राजा—**भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ।**

उभे—**अणेअसो ।** [अनेकशः ।]

राजा—(सहर्षम् । आत्मगतम्) **कथमिव संपूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ।**

(इति बालं परिष्वजते ।)

द्वितीया—**सुव्वदे ! एहि । इमं वुत्तन्तं णिअमव्वावुदाए सउन्दलाए णिवेदेम्ह ।** [सुव्रते ! एहि । इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः ।]

(इति निष्क्रान्ते ।)

बालः—**मुंच मं । जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं ।** [मुञ्च मां, यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि ।]

राजा—**पुत्रक ! मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि ।**

बालः—**मम क्खु तादो दुस्सन्दो, ण तुमं ।** [मम खलु तातो दुष्यन्तः, न त्वम् ।]

राजा—(सस्मितम्) **एष विवाद एव प्रत्याययति ।**

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला ।)

राजा—क्यों क्यों ? आप लोगोंने उठानेसे मुझे रोका क्यों ?

पहली—सुनिए महाराज । जब इसका जात-कर्म संस्कार हो रहा था उस समय कश्यपजीने अपराजिता नामक यह जड़ीका गंडा इसके हाथमें बाँधकर कहा था कि यदि यह धरतीपर गिर पड़े तो इसे, इसके माता-पिताको और इसको छोड़कर दूसरा कोई न उठावे ।

राजा—और यदि दूसरा कोई उठा ले तो ?

पहली—तो यह साँप बनकर तत्काल उसे डस लेगा ।

राजा—आप लोगोंने कभी इसका ऐसा करतब देखा है ?

दोनों—बहुत बार देखा है ।

राजा—(हर्षके साथ, आप ही आप) तब मैं अपने मनोरथ पूरे होनेपर क्यों न फूला समाऊँ ।

(बालकको छातीसे लगाता है ।)

दूसरी—अरी सुव्रते ! आओ, यह समाचार उस तपस्विनी शकुन्तलाको तो सुना आवें ।

(दोनों चली जाती हैं ।)

बालक—छोलो छोलो [छोड़ो छोड़ो] । हम अपनी माँते [के] पास दायँगे [जायँगे] ।

राजा—वत्स ! चलो मेरे ही साथ चलकर अपनी माताको आनन्द देना ।

बालक—मेले [मेरे] पिता तुम नहीं, दुश्यन्त [दुष्यन्त] हैं ।

राजा—(मुसकराकर) यह विरोध ही मेरे विश्वासको पक्का किए दे रहा है ।

(अपने बालोंको एक लटमें बाँधते हुए शकुन्तला आती है ।)

शकुन्तला—विआरआले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु। अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं। [विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु। अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा संभाव्यत एतत्।

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये सेयमत्रभवती शकुन्तला। यैषा—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ २१॥

शकुन्तला—(पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा) ण क्खु अज्जउत्तो विअ। तदो को एसो दाणिं किदरक्खामंगलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि। [न खल्वार्यपुत्र इव। ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति।]

बालः—(मातरमुपेत्य) अज्जुए! एसो कोवि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिंगदि। [मातः! एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति।]

राजा—प्रिये! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वयाऽप्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ समस्सस समस्सस। परिच्चत्तमच्छरेण अणुअंपिअ म्हि देव्वेण। अज्जउत्तो क्खु एसो। [हृदय समाश्वसिहि। समाश्वसिहि। परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पिताऽस्मि दैवेन। आर्यपुत्रः खल्वेषः।]

शकुन्तला—यह सुनकर भी मुझे अपने भाग्यपर भरोसा नहीं हुआ कि सर्वदमनके हाथसे गिरी हुई रक्षाकी जड़ी उनके छूनेपर साँप नहीं बनी। या फिर सानुमतीने जो बताया है, कौन जाने वही ठीक हो।

राजा—(शकुन्तलाको देखकर) अरे! ये ही तो वे देवी शकुन्तला हैं, जिनके शरीरपर मैले कपड़ोंका जोड़ा पड़ा हुआ है, तप करते-करते जिनका मुँह सूख गया है, जिनके बाल एक लटमें उलझे पड़े हैं, और जो शुद्ध मनसे मुझ-जैसे निर्दयीके वियोगमें इतने दिनोंसे तप करती चली आ रही हैं॥ २१॥

शकुन्तला—(पछतावेसे पीले पड़े हुए राजाको देखकर) ये तो आर्यपुत्र-जैसे नहीं जान पड़ते। तब ये कौन हैं जो रक्षा बँधे हुए मेरे पुत्रको अपने शरीरसे लगा-लगाकर मैला किए डाल रहे हैं?

बालक—(माताके पास आकर) देखो माँ, ये कोई पुलुछ (पुरुष) मुदे (मुझे) बेता (बेटा) कहकल (कहकर) गले लगा लहे (रहे) हैं।

राजा—प्रिये! मैंने जो तुम्हारे साथ निठुराई की थी उसका यही ठीक दंड है कि तुम अभीतक मुझे पहचान नहीं पा रही हो।

शकुन्तला—(आप ही आप) धीरज धरो, मेरे हृदय! धीरज धरो, आज दैवने पिछला सब बैर छोड़कर मेरी सुन ली है। सचमुच ये ही तो हैं आर्यपुत्र।

राजा—प्रिये ।

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि ।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम् ॥२२॥

शकुन्तला—जेदु जेदु अज्ज उत्तो···। [जयतु जयत्वार्यपुत्र···] इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति ।)

राजा—सुन्दरि !

बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया ।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥२३॥

बालः—अज्जुए । को एसो । [मातः ! क एषः ।]

शकुन्तला—वच्छ ! दे भाअहेआइं पुच्छेहि । [वत्स ! ते भागधेयानि पृच्छ ।]

राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)—

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो । णूणं मे सुअरिअप्पडिबंधअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणाममुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो । [उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः ।]

राजा—प्रिये ! आज मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरी स्मृतिपर पड़ा हुआ मोहका परदा टूट गया और तुम सुन्दरी आज मुझे वैसे ही मिल गई जैसे चन्द्र-ग्रहण बीत चुकनेपर चन्द्रमासे रोहिणी आ मिलती हैं ॥ २२ ॥

शकुन्तला—जय हो आर्यपुत्र, जय······(इतना आधा ही कहनेपर गला भर आनेसे रुक जाती है ।)

राजा—सुन्दरी ! तुमने अपने रुँधे हुए गलेसे जो 'जय' शब्द कहा उसीसे मेरी जीत हो गई । क्योंकि आज आँखें तुम्हारे उस मुखको फिरसे देख पाई हैं जिसके ओठ, रँगे न जानेके कारण पीले पड़ गए हैं ॥२३ ॥

बालक—क्यों माँ ! ये कौन हैं ?

शकुन्तला—अपने भाग्यसे पूछ बेटा !

राजा—(शकुन्तलाके पैरोंपर गिरकर) सुन्दरी ! मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था उसकी सारी कसक तुम अपने मनसे निकाल डालो, क्योंकि उस समय न जाने कहाँसे मेरे मनमें वह अज्ञानका अँधेरा आ छाया था । सचमुच जो तमोगुणी लोग होते हैं वे अच्छे कामोंमें भी बड़ी भूलकर बैठते हैं, क्योंकि अन्धेके गलेमें कोई माला भी पहनावे तो भी वह उसे साँप ही समझकर झटकेसे उतार फेंकता है ॥ २४ ॥

शकुन्तला—उठिए आर्यपुत्र ! उन दिनों कोई पिछले ही जन्मका पाप-फल रहा होगा कि इतने दयालु आर्यपुत्र भी मुझपर इतने कठोर हो गए थे।

(राजोत्तिष्ठति)

शकुन्तला—अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो। [अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्यं जनः।]

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति।)

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा) अज्जउत्त ! एदं दे अंगुलीअअं। [आर्यपुत्र ! इदं तेऽङ्गुलीयकम्।]

राजा—अस्मादंगुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरुपलब्धा।

शकुन्तला—विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि। [विषमं कृतमनेन यत्तदाऽऽर्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत्।]

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लताकुसुमम्।

शकुन्तला—ण से विस्ससामि। अज्जउत्तो एव्व णं धारेदु। [नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु।]

(ततः प्रविशति मातलिः)

मातलिः दिष्टया धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

(राजा उठते हैं।)

शकुन्तला—पर यह तो बताइए कि आर्यपुत्रको इस दुखियाका स्मरण कैसे हो आया ?

राजा—पहले मैं अपने जीकी गाँस निकाल डालूँ तब कहूँ। सुन्दरी ! तुम्हारी आँखोंके आँसुओंकी जो बूँदें उस दिन गालोंपरसे ढुलकर अधरोंको चोट पहुँचाए डाल रहीं थीं और जिनका मैंने उस दिन अनजाने निरादर कर दिया था वे आज भी तुम्हारी टेढ़ी बरौनियोंमें उलझी दिखाई दे रही हैं। उन्हें जबतक मैं अपने हाथसे पोंछ न लूँगा तबतक मनको शान्ति नहीं मिलेगी ॥ २५ ॥

(अपने हाथसे शकुन्तलाके आँसू पोंछते हैं।)

शकुन्तला—(दुष्यन्तके हाथमें उनके नामवाली अँगूठी देखकर) आर्यपुत्र ! यही तो आपकी वह अँगूठी है।

राजा—इसी अँगूठीके मिल जानेपर तो मुझे सारी बातें स्मरण हो पाईं।

शकुन्तला—इसने सचमुच बड़ा खोटा काम किया था कि जब मैं आर्यपुत्रको यह दिखाकर विश्वास दिलाने चली ठीक उसी समय यह न जाने कहाँ चली गई।

राजा—(अँगूठी उतारकर शकुन्तलाको देते हुए।) अच्छा, तो जैसे लतामें फूल लगनेसे यह जान लिया जाता है कि लताका वसन्तसे मिलन हो गया, वैसे ही तुम भी मुझसे मिलनेकी पहचानके लिये यह अँगूठी पहन लो।

शकुन्तला—(हाथ उठाती हुई) नहीं, नहीं अब मैं इसका विश्वास नहीं करती। आर्यपुत्र ही इसे पहने रहें।

(मातलि आता है।)

मातलि—धर्मपत्नीसे मिलने और पुत्रका मुँह देखनेकी आयुष्मानको बधाई है।

राजा—अभूतसंपादितस्वादुफलो मे मनोरथः। मातले! न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात्।

मावलिः—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम्। एत्वायुष्मान्! भगवान्मारीचस्ते दर्शनं वितरति।

राजा—शकुन्तले! अवलम्ब्यतां पुत्रः। त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि।

शकुन्तला—हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गंतुं। [जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।]

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकाले। एह्येहि। (सर्वे परिक्रामन्ति।)

(ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः।)

मारीचः—(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि !

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी दुष्यन्त इत्याभिहितो भुवनस्य भर्ता।
चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्म जातं तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ॥ २६ ॥

अदितिः—संभावणीआणुभावा से आकिदी। [संभावनीयानुभावाऽस्याकृतिः।]

मातलिः—आयुष्मन्! एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः। तावुपसर्प।

राजा—मातले एतौ—

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ॥ २७ ॥

राजा—मेरे मनोरथका तो सचमुच बड़ा मीठा फल हुआ है मातलि! पर इन्द्र भगवान् तो यह बात जानते नहीं होंगे।

मातलि—(हँसकर) भला देवताओंसे भी क्या कोई बात छिपी रहती है? आइए आयुष्मन्! भगवान् कश्यप आपको दर्शन देना चाहते हैं।

राजा—शकुन्तला! बालककी उँगली थाम लो! मैं तुम्हें ही साथ लेकर भगवान्के दर्शनके लिये चलना चाहता हूँ।

शकुन्तला—बड़ोंके पास आर्यपुत्रके साथ जानेमें मुझे बड़ी लाज लग रही है।

राजा—हर्षके अवसरपर तो साथ ही चला जाता है। आओ, आओ! (सब घूमते हैं)

(अदितिके साथ आसनपर बैठे हुए कश्यप दिखाई देते हैं।)

मारीच (कश्यप)—(राजाको देखकर) दाक्षायणी! ये ही संसारका पालन करनेवाले राजा दुष्यन्त हैं जो तुम्हारे पुत्र इन्द्रकी लड़ाईमें सबसे आगे रहते हैं और जिनके धनुषने ही इतना काम कर डाला है कि इन्द्रका तीखी धारवाला वज्र भी उनका आभूषण-भर बना बैठा रह गया ॥२६॥

अदिति—इनके तो डील-डौलसे ही इनके पराक्रमका ज्ञान हो रहा है।

मातलि—आयुष्मन्! देखो! ये ही हैं देवताओंके माता-पिता, जो आपकी ओर वैसे ही प्यारसे देख रहे हैं, जैसे माता-पिता अपसे बच्चोंकी ओर देखा करते हैं। जाओ, उनके पास तक बढ़ जाओ।

राजा—मातलि! क्या वे ही वे स्त्री-पुरुष हैं जो ब्रह्मासे एक पीढ़ी पीछे दक्ष और मरीचिसे उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें ऋषि लोग बारहों आदित्योंके माता-पिता मानते हैं, यज्ञमें भाग लेनेवाले इन्द्रने

मातलिः—अथ किम् ।

राजा—(उपगम्य) उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति ।

मारीचः—वत्स ! चिरंजीव । पृथिवीं पालय ।

अदितिः—वच्छ ! अप्पडिरहो होहि । [वत्स अप्रतिरथो भव ।

शकुन्तला—दारअसहिदा वो पादवन्दणं करेमि । [दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि ।]

मारीचः—वत्से !

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः ।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥ २८ ॥

अदितिः—जादे ! भत्तुणो अभिमदा होहि ! अवस्सं दीहाऊ वच्छओ उहअकुलणन्दणो होदु । उववविस । [जाते ! भर्तुरभिमता भव । अवश्यं दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु । उपविशत ।]

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति ।)

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन्)—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥ २९ ॥

राजा—भगवन् ! प्रागभिप्रेतसिद्धिः पश्चाद्दर्शनम् । अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः । कुतः-

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥ ३० ॥

जिनसे जन्म लिया है और अपनेमेंसे अपने आप उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा भी संसारका कल्याण करनेके लिये जिनकी गोदमें जन्म लिया करते हैं ॥ २७ ॥

मातलि—हाँ, हाँ वे ही हैं ये ।

राजा—(पास पहुँचकर) सदा इन्द्रकी आज्ञा माननेवाला यह दुष्यन्त आप दोनोंको प्रणाम करता है ।

मारीच—बहुत दिनोंतक जीओ वत्स ! और पृथ्वीका पालन किया करो ।

अदिति—वत्स ! तुम इतने बलवान् होओ कि कोई शत्रु तुम्हारे आगे न टिक सके ।

शकुन्तला—मैं अपने पुत्रके साथ आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ ।

मारीच—वत्से ! तुम्हारा पति इन्द्रके समान और तुम्हारा पुत्र जयन्तके समान है । इसलिये यही समझमें नहीं आता कि तुम्हें आशीर्वाद क्या दूँ । फिर भी यही आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इन्द्राणीके समान तेजस्वी बनो ॥ २८ ॥

अदिति—बेटी ! अपने पतिका आदर पाओ और तुम्हारा बेटा चिरंजीवी होकर दोनों कुलोंको सुख दे । आओ, बैठ जाओ ।

(सब प्रजापतिके चारों ओर बैठ जाते हैं ।)

मारीच—(अलग-अलग सबको संकेत करते हुए) आज सौभाग्यसे यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक और तुम ये तीनों ऐसे इकट्ठे मिल गए हो जैसे श्रद्धा, धन और क्रिया तीनों एक साथ मिल जायँ ॥ २९ ॥

राजा—भगवन् ! आपकी कृपा तो सचमुच अनोखी है जिसमें दर्शनसे पहले ही मनचाहा फल मिल जाय क्योंकि—कार्य और कारणका तो यही क्रम है कि पहले फूल लगता है तब फल

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति।

राजा—भगवन्! इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम्। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः॥ ३१॥

मारीचः—वत्स! अलमात्मापराधशङ्कया। संमोहोऽपि त्वय्युपपन्नः। श्रूयताम्।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः।

राजा—(सोच्छ्वासम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

शकुन्तला—(स्वगतम्) दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो। ण हु सत्तं अत्ताणं सुमिरेमि अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो। अदो

आता है, पहले बादल उठते हैं तब वर्षा होती है, पर आपके यहाँ तो सारे सुख आपकी कृपाके आगे-आगे चलते जा रहे हैं॥ ३०॥

मातलि—जो स्वयं भाग्य बनानेवाले हैं उनकी कृपा ऐसी ही हुआ करती है।

राजा—भगवन्! आपकी इस आज्ञाकारिणी कन्यासे मैंने गान्धर्व विधिसे विवाह कर लिया था। फिर कुछ दिनों पीछे जब इनके सगे सम्बन्धी लोग इन्हें मेरे पास ले आए तब मेरी स्मृतिको न जाने क्या हो गया था कि मैं इन्हें एकदम भूल गया और मैंने इनको लौटा दिया। ऐसा करके मैंने आपके गोत्रवाले कण्वजीका बड़ा भारी अपमान कर डाला। फिर जब मैंने अँगूठी देखी तब मुझे स्मरण हुआ कि मैंने तो कण्वजीकी कन्यासे विवाह किया था। ये सब बातें मुझे बड़ी विचित्र सी जान पड़ रही हैं। मुझे अपनी यह भूल ठीक वैसी ही लग रही है जैसे आँखके सामनेसे चले जाते हुए हाथीको देखकर मनमें यह सन्देह हो कि यह हाथी है या नहीं और फिर उसके निकल जानेपर उसके पैरोंकी छाप देखकर यह विश्वास किया जाय कि हाँ, यह सचमुच हाथी ही था॥ ३१॥

मारीच—वत्स! तुम अपने अपराधकी बात अपने मनसे एकदम निकाल डालो क्योंकि इस प्रकार की भूल तुमसे हो ही नहीं सकती। सुनो, मैं बताता हूँ जो हुआ है।

राजा—जी, सुन रहा हूँ।

मारीच—जब मेनका बिलखती हुई शकुन्तलाको लेकर, अप्सरातीर्थसे उतरकर यहाँ दाक्षायणीके पास आई तभी मैंने ध्यानसे जान लिया था कि दुर्वासाके शापसे ही तुमने अपनी इस तपस्विनी धर्मपत्नीको छोड़ दिया है और वह शाप तबतकके लिये है जबतक तुम अँगूठी न देख लो।

राजा—(सन्तोषकी साँस लेकर) चलो, दोषसे छुटकारा तो मिला।

शकुन्तला—(मन ही मन) यह बड़े भाग्यकी बात है कि आर्यपुत्रने मुझे बिना कारण नहीं छोड़ा था। पर यह तो स्मरण ही नहीं आ रहा है कि मुझे शाप मिला कब? या यह

सहीहिं संदिट्ठम्हि भत्तुणो अंगुलीअअं दंसइदव्वं त्ति । [दिष्टयाऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्र; । न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि । अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः । अतः सखीभ्यां संदिष्टाऽस्मि भर्तुरंगुलीयकं दर्शयितव्यमिति ।

मारीचः—वत्से ! विदितार्थाऽसि । तदिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः । पश्य—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥ ३२ ॥

राजा—यथाऽऽह भगवान् !

मारीचः—वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः ।

राजा—भगवन् ! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा (इति बालं हस्तेन गृह्णाति ।)

मारीचः—तथा भाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान् । पश्य,

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥ ३३ ॥

भी हो सकता है कि मुझे शाप मिला हो और अपने विरहकी धुनमें पड़े रहनेके कारण मुझे उसका ज्ञान ही न हुआ हो । अब मेरी समझमें आ रहा है कि चलते समय मेरी सखियोंने यह क्यों कहा था कि पतिको अँगूठी अवश्य दिखला देना ।

मारीच—वत्से ? तुम ठीक समझी हो । अब तुम अपने पतिपर क्रोध न करना । देखो ! जैसे, दर्पणपर धूल पड़ी रहनेसे उसमें ठीक छाया नहीं दिखाई देती और वही जब पोंछ दिया जाता है तब छाया बड़ी सरलतासे दिखाई पड़ने लगती है वैसे ही शापके कारण स्मृति धुँधली पड़ जानेसे उन्होंने तुम्हें छोड़ दिया था पर अब शाप छूट जानेसे उन्होंने तुम्हें भली भाँति पहचान लिया है ॥ ३२ ॥

राजा—भगवान् ठीक कहते हैं ।

मारीच—वत्स ! शकुन्तलाके जिस पुत्रके संस्कार हमने ठीक विधिसे कर दिए हैं उसे तुमने अपनाया या नहीं ?

राजा—यही बालक तो हमारा वंश चलानेवाला है ।

(यह कहकर बालकको गोदमें उठा लेते हैं ।)

मारीच—यह तुम्हारा वंश तो चलावेगा ही, साथ ही चक्रवर्ती राजा भी होगा । देखो ! यह बालक अपने दृढ़ और सीधे चलनेवाले रथपर चढ़कर समुद्र पार करके सातों द्वीपों-वाली पृथ्वीको इस प्रकार अकेला जीत लेगा कि संसारका कोई वीर इसके सामने टिक न सकेगा । यहाँ इसने सब जीवोंको तंग कर रक्खा था, इसीलिये इसका नाम सर्वदमन पड़ गया था । पर आगे चलकर यह सारे संसारका भरण-पोषण करेगा इसलिये इसका नाम भरत होगा ॥ ३३ ॥

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे ।

अदितिः—भअवं ! इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु । दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिट्ठदि । [भगवन् ! अनया दुहितृमनोरथसंपत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम् । दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति ।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) मणोरहो क्खु मे भणिदो भअवदीए । [मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या ।]

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः ।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः ।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः प्रष्टव्यः । कः कोऽत्र भोः ।

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन् ! अयमस्मि ।

मारीचः—गालव ! इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तो स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतति ।

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान् । (इति निष्क्रान्तः ।)

मारीचः—वत्स ! त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व ।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान् ।

राजा—जिसके संस्कार आपने किए हों उससे तो हमें ऐसी आशा है ही ।

अदिति—भगवन् ! इस कन्याके मनोरथ पूरे होनेकी सारी बात कण्वजीको भी कहला भेजनी चाहिए क्योंकि इसे प्यार करनेवाली इसकी माँ मेनकाने यहाँ रखकर हम लोगोंकी बड़ी सेवा की है ।

शकुन्तला—(मनमें) देवीने तो मेरे ही मनकी बात कह दी है ।

मारीच—तपके प्रभावसे कण्व ऋषि तो सब कुछ जानते हैं ।

राजा—इसीलिये उन्होंने मुझपर क्रोध नहीं किया ।

मारीच—फिर भी यह प्यारी बात उनके पास कहला ही भेजनी चाहिए । अरे कोई है ?

(एक शिष्य आता है ।)

शिष्य—मैं हूँ भगवन् !

मारीच—गालव ! अभी आकाश-मार्गसे जाकर मेरी ओरसे कण्वजीको यह प्यारा समाचार सुना आना कि शाप छूटनेपर दुष्यन्तने सब स्मरण करके शकुन्तला और उसके पुत्रको ग्रहण कर लिया है ।

शिष्य—जैसी भगवान्की आज्ञा । (चला जाता है ।)

मारीच—वत्स ! तुम भी अब अपने पुत्र और पत्नीको साथ लेकर अपने मित्र इन्द्रके रथपर चढ़कर अपनी राजधानीको लौट जाओ ।

राजा—जैसी भगवान्की आज्ञा ।

मारीचः—अपि च ।

भवतु तव बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः ।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन् यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये ।

मारीचः—वत्स ! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति ? यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु ।

(भरतवाक्यम्)

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ ३५ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति सप्तमोऽङ्कः ॥

॥ सम्पूर्णमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ॥

* * *

मारीच—और सुनो ! तुम्हारी प्रजाके लिये इन्द्र सदा भरपूर वर्षा किया करें और तुम भी सैकड़ों गण-तन्त्रोंपर राज्य करते हुए बहुत यज्ञ करके इन्द्रको प्रसन्न करते रहो। इस प्रकार एक दूसरेके लिये ऐसे अच्छे-अच्छे काम करते रहो कि दोनों लोक सुखी रहें ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन् ! मैं भरसक अच्छे ही काम करनेका जतन करूँगा ।

मारीच—वत्स ! और कुछ तुम्हारी इच्छा हो तो कह डालो ।

राजा—इससे बढ़कर भी क्या और कोई बात हो सकती है ? फिर भी यदि आप मुझपर कुछ और कृपा करना ही चाहते हैं तो ऐसा कीजिए कि—

(भरतवाक्य) राजा सदा अपनी प्रजाकी भलाईमें लगे रहें, बड़े-बड़े विद्वान् कवियोंकी वाणीका सब कहीं आदर हो और अपनेसे उत्पन्न होनेवाले तथा चारों ओर अपनी शक्ति फैलानेवाले महादेवजी ऐसी कृपा करें कि मुझे अब फिर कभी जन्म न लेना पड़े ॥ ३५ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

॥ सातवाँ अङ्क पूर्ण ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ अभिज्ञान-शाकुन्तल नामका नाटक संपूर्ण हुआ ॥

* * *

॥ विक्रमोर्वशीयम् ॥

[त्रोटकम्]

[त्रोटक उपरूपकमें पाँच, सात, आठ या नौ अंक होते हैं, देवता या मनुष्य पात्र होते हैं। प्रधान रस शृंगार होता है और प्रत्येक अंकमें विदूषककी प्रमुखता रहती है। शेष लक्षण नाटकके समान होते हैं।]

पात्र-परिचयः

पुरुषाः—

सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता। (नाटकका प्रबन्धक)

पारिपार्श्वकः—सूत्रधारस्य सहचरः। (सूत्रधारका साथी)

पुरूरवस्—प्रतिष्ठानदेशस्य राजा, नाटकस्य नायकः। (प्रतिष्ठान देशका राजा, नाटकका नायक)

माणवकः—विदूषकः।

आयुस्—पुरूरवसः पुत्रः। (पुरूरवाका पुत्र)

नारदः—देवर्षिः।

चित्ररथः—गन्धर्वेश्वरः। (गंधर्वोंका राजा)

लातव्य—राजपरिचारकः। (राजाका सेवक, कंचुकी)

पल्लवः
गालवश्च } भरतमुनेः शिष्यौ। (भरतमुनिके दो शिष्य)

स्त्रियः—

उर्वशी—एका अप्सरा। नाटकस्य नायिका। (एक अप्सरा, नाटककी नायिका)

चित्रलेखा—द्वितीया अप्सरा। उर्वश्याः सखी। (दूसरी अप्सरा, उर्वशीकी सखी)

सहजन्या,
रम्भा,
मेनका } अप्सरसः। (अप्सराएँ)

देवी—राज्ञी, काशिराजस्य कन्या। (रानी, काशिराजकी पुत्री)

निपुणिका—राज्ञ्याः परिचारिका। (रानीकी दासी)

तापसी—तपस्विनी।

परिजनः—राज्ञ्याः परिचारिकाः। (रानीकी सेविकाएँ)

यवनी—राज्ञः परिचारिका। (राजा की सेविका)

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

❁ विक्रमोर्वशीयम् ❁

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) मारिष ! इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्वकः—भाव ! अयमस्मि ।

सूत्रधारः—मारिष ! परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा । अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन विक्रमोर्वशीयनामधेयेन त्रोटकेनोपस्थास्ये । तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्ववहितैर्भवितव्यमिति ।

पारिपार्श्वकः—यथाज्ञापयति भावः । (इति निष्क्रान्तः ।)

प्रथम अङ्क

वेदान्ती लोग जिन्हें ऐसा अकेला पुरुष बताते हैं जो पृथ्वी और आकाशमें रमा हुआ होनेपर भी सबसे अलग बना रहता है, जिनका ईश्वर नाम ऐसा सटीक और सच्चा है कि और किसीको भी इस नामसे नहीं पुकारा जा सकता और मोक्ष पानेकी इच्छा करनेवाले लोग जिन्हें प्राणायाम साधकर अपने हृदयके भीतर खोजा करते हैं, वे सच्ची भक्तिसे मिलनेवाले शिव आप सब लोगोंका कल्याण करें ॥ १ ॥

(नान्दी हो चुकनेपर)

सूत्रधार—अच्छा, अब इतना बहुत है । (नेपथ्यकी ओर देखकर) अरे भाई मारिष ! इधर तो आओ ।

(पारिपार्श्वक आता है ।)

पारिपार्श्वक—लीजिए, आ गया, आर्य !

सूत्रधार—देखो मारिष ! यह सभा पुराने कवियोंके तो बहुतसे नाटक देख चुकी है । आज मैं इन्हें श्रीकालिदासका बनाया हुआ विक्रमोर्वशीय नामका एक नया त्रोटक दिखलाना चाहता हूँ । इसलिये सब अभिनेताओंको जाकर समझा दो कि बड़ी सावधानीसे अपनी-अपनी भूमिकाका निर्वाह करें ।

पारिपार्श्वक—जैसी आपकी आज्ञा । (चला जाता है ।)

सूत्रधारः—यावदिदानीमार्यविदग्धमिश्रान्विज्ञापयामि । (प्रणिपत्य)

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् ।
शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥२॥

(नेपथ्ये)

अज्जा ! परित्ताअध परित्ताअध जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गई अत्थि ।
[आर्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वं यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति ।]

सूत्रधारः—(कर्णं दत्वा) अये किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तरमार्त्तानां कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते ।

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।
आकाशे सुरगणसेविते समन्तात्किं नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥ ३ ॥

(विचिन्त्य) भवतु । ज्ञातम् ।

ऊरुद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना ।
बन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोयम् ॥ ४ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

॥ प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशन्त्यप्सरसः ।)

अप्सरसः—अज्ज परित्ताअध परित्ताअध, जो सुरपक्खवादी जस्स वा अंबरअले गई अत्थि । [आर्याः परित्रायध्वं परित्रायध्वम्, यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति ।]

सूत्रधार—तबतक मैं अपने विद्वान् दर्शकोंसे कुछ निवेदन कर लूं । (सिर झुकाकर) सज्जनों ! आप लोगोंसे प्रार्थना है कि हम नम्र सेवकोंपर कृपा करके या इस नाटकके नायकका आदर करके आप लोग कालिदासकी इस रचनाको सावधान होकर सुनें ॥ २ ॥

(नेपथ्यमें)

आर्यों ! बचाओ ! बचाओ !! जो भी कोई देवताओंका हित चाहनेवाला हो और जो आकाशमें भी आ-जा सकता हो, वह आकर हमें बचा ले ।

सूत्रधार—(सुनकर) अरे ! यह क्या ? मेरी प्रार्थना समाप्त होते ही आकाशमें यह कैसा कुररीके रोने-जैसा शब्द सुनाई देने लगा—(सोचकर) क्या यह फूलोंका रस पीकर मतवाले बने हुए भौंरोंका गुंजार है ? या कहीं कोयलकी मस्तानी कूक तो नहीं है ? या कहीं आकाशमें देवताओंके साथ आई हुई अप्सराएँ तो मीठी तान नहीं छेड़े हुए हैं ? ॥ ३ ॥

(सोचकर) अच्छा, समझ गया । नरके मित्र नारायणकी जाँघसे जो उर्वशी नामकी अप्सरा उत्पन्न हुई थी उसे कुबेरकी सेवा करके लौटते समय राक्षस बीचसे ही पकड़ ले गए हैं, उसीपर ये अप्सराएँ इतनी रो-चिल्ला रही हैं ॥ ४ ॥

(चला जाता है ।)

॥ प्रस्तावना ॥

(अप्सराएँ प्रवेश करती हैं ।)

अप्सराएँ—आर्यो ! बचाओ, बचाओ ! जो भी कोई देवताओंका हित चाहनेवाला हो और जो आकाशमें भी आ-जा सकता हो, वह आकर हमें बचा ले ।

(ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण राजा पुरूरवा रथेन सूतश्च ।)

राजा—अलमाक्रन्दितेन । सूर्योपस्थाननिवृत्तं पुरूरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति ।

रम्भा—असुरावलेवादो । [असुरावलेपात् ।]

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम् ।

रम्भा—सुणादु महाराओ । जा तवोविसेससंकिदस्स सुउमारं पहरणं महेंदस्स पच्चादेसो रूवगव्विदाए सिरिगोरिए अलंकारो सग्गस्स, सा णो पिअसही उव्वसी कुबेरभवणादो णिअत्तमाणा केणावि दाणवेण चित्तलेहादुदीआ अद्धपथं ज्जेव बंदिग्गाहं गिहीदा । [श्रृणोतु महाराजः । याः तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूपगर्विताया: श्रीगौर्याः अलंकारः सर्गस्य सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेरभवनान्निवर्तमाना केनापि दानवेन चित्रलेखा द्वितीया अर्धपथ एव बन्दिग्राहं गृहीता ।]

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्मः ।

अप्सरसः—ईसाणीए दिसाए । [ऐशान्या दिशा ।]

राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः । यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय ।

अप्सरसः—सरिसं एदं सोमवंससंभवस्स । [सदृशमेतत्सोमवंशसंभवस्य ।]

राजा—क्व पुनर्मां भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति ।

अप्सरसः—एदस्सिं हेमकूडसिहरे । [एतस्मिन्हेमकूटशिखरे ।]

राजा—सूत ! ऐशानीं दिशं प्रति चोदयाश्वानाशुगमनाय ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति यथोक्तं करोति ।)

(रथपर चढ़े हुए राजा पुरूरवा और सारथीका प्रवेश)

राजा—बस, बस, रोओ मत ! मैं पुरूरवा हूँ और अभी भगवान् सूर्यकी उपासना करके लौट रहा हूँ । आप लोग मेरे पास आकर बताइए कि आप लोगोंको किससे बचाना होगा ।

रम्भा - राक्षसोंके अत्याचारसे ।

राजा—राक्षसोंने आप लोगोंपर क्या अत्याचार किया है ?

रम्भा—सुनिए महाराज ! किसीकी बड़ी तपस्यासे डरकर उसका तप डिगानेके लिये जिसे अपना सुकुमार शस्त्र बनाकर इन्द्र भेजते हैं, जिसके सुन्दर रूपके आगे अत्यन्त रूपवाली लक्ष्मी भी पानी भरती हैं और जो स्वर्गकी शोभा बनी हुई है, वही हमारी प्यारी सखी उर्वशी जब कुबेरके भवनसे लौट रही थी तब बीचमें ही कोई राक्षस उसे और चित्रलेखाको पकड़ ले गया ।

राजा—क्या आप लोग बता सकती हैं कि वह दुष्ट दैत्य गया किस ओर है ?

सहजन्या—ईशान (पूर्व-उत्तरके कोने)-की ओर ।

राजा—तो आप लोग चिन्ता न कीजिए । मैं आपकी प्यारी सखीको अभी लौटा लानेका जतन करता हूँ ।

रम्भा—आप चन्द्रवंशी हैं, आप सब कुछ कर सकते हैं ।

राजा—आप लोग कहाँ मेरी बाट देखेंगी ?

अप्सराएँ—इसी हेमकूटकी चोटीपर ।

राजा—सारथि ! ईशान (उत्तर-पूर्वकी) ओर रास मोड़कर घोड़ोंको हाँको तो वेगसे ।

सारथि—जैसी आपकी आज्ञा (वैसा ही करता है ।)

राजा—(रथवेगं रूपयित्वा ।) साधु साधु । अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम् किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः । मम—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना—
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम् ।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥ ५ ॥

(निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च ।)

सहजन्या—हला ! गदो राएसी । ता अम्हे वि जधासंदिट्ठं पदेसं गच्छम्ह । [हला ! गतो राजर्षिः । तद्वयमपि यथासंदिष्टं प्रदेशं गच्छामः ।]

मेनका—सहि एव्वं करेम्ह [सखि ! एवं कुर्मः ।]

(इति हेमकूटशिखरे नाट्येनाधिरोहन्ति ।)

रम्भा—अवि णाम सो राएसी उद्धरदि णो हिअअसल्लम् । [अपि नाम स राजर्षिरुद्धरति नो हृदयशल्यम् ।]

मेनका—सहि ! मा दे संसओ भोदु । [सखी ! मा ते संशयो भवतु ।]

रम्भा—णं दुज्जआ दाणवा । [ननु दुर्जया दानवाः ।]

मेनका—उवट्ठिदसंपराओ महिंदो वि मज्झमलोआदो सबहुमाणं आणाविअ तं एव्व विबुधविजआअ सेणामुहे णिओजेदि । [उपस्थितसंपरायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात्सबहुमानमानाय्य तमेव विबुधविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते ।]

राजा—(रथकी चाल देखकर) वाह ! वाह ! जब चलते ही रथ इतने वेगसे दौड़ने लग रहा है तब तो मैं गरुड़को भी पछाड़ सकता हूँ, फिर इन्द्रके शत्रु राक्षस तो हैं किस गिनतीमें । मेरा रथ इतने तीव्र वेगसे दौड़ रहा है कि उसकी रगड़से घने बादल भी पिस-पिसकर धूल-जैसे बने चले जा रहे हैं । इसके पहिए भी इतने वेगसे घूम रहे हैं मानो पहियोंके अरोंके बीचमें और भी बहुतसे अरे बनते चले जा रहे हों । घोड़ोंके सिरोंपर चौंरियाँ ऐसी खड़ी हो गई हैं कि जान पड़ता है मानो ये चित्रमें खिची हुई हों और वेगसे चलनेके कारण जो पवन उठ रहा है उसकी झोंकसे झंडीका कपड़ा, ध्वजाके डंडे और अपने बाहरी छोरके बीचमें सीधा जा फैला है, तनिक भी हिलता-डुलता नहीं ॥ ५ ॥

(राजा तथा सारथि निकल जाते हैं ।)

सहजन्या—सखियो ! राजर्षि तो चले गए । चलो, हम लोग भी उधर चली चलें जहाँ उनसे मिलनेके लिये अभी कह चुकी हैं ।

मेनका—चलो सखी ! चलो !

(सब हेमकूट पर्वतपर चढ़नेका नाट्य करती हैं ।)

रम्भा—क्या वे राजर्षि सचमुच हम लोगोंके मनकी कसक दूर कर सकेंगे ?

मेनका—इनमें सन्देह न करो सखी !

रम्भा—पर उन दैत्योंको कोई जीत थोड़े ही सकता है ।

मेनका—जानती हो, जब देवताओंको विजयके लिये युद्ध करना होता है उस समय इन्द्र भी इन्हींको तो मध्यलोकसे बड़े सम्मानके साथ बुलाकर अपना सेनापति बनाते हैं । समझी ?

रम्भा—सव्वहा विअई भोदु । [सर्वथा विजयी भवतु ।]

मेनका—[क्षणमात्रं स्थित्वा] हला समस्ससध समस्ससध । एस उल्लसिदहरिणकेदणो तस्स राएसिणो सोमदत्तो रहो दीसदि । ण एसो अकिदत्थो पडिणिउत्तिस्सदि त्ति तक्केमि । [सख्यः समाश्वसित समाश्वसित । एष उल्लसितहरिणकेतनस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते । नैषोऽकृतार्थः प्रतिनिवर्तिष्यति इति तर्कयामि ।]

(निमित्तं सूचयित्वावलोकन्त्यः स्थिताः ।)

(ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूतश्च ।)

(भयनिमीलिताक्षी चित्रलेखा दक्षिणहस्तावलम्बिका उर्वशी च ।)

चित्रलेखा—सहि समस्सस समस्सस । [सखि समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।]

राजा—सुन्दरि ! समाश्वसिहि ।

गतं भयं भीरु सुरारिसंभवं त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः ।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ॥ ६ ॥

चित्रलेखा—अम्महे ! कहं उस्ससिदमेत्तसंभाविदजीविदा अज्ज वि एसा सण्णां ण पडिवज्जदि । [अहो कथमुच्छ्वसितमात्रसंभावितजीविता अद्याप्येषा संज्ञां न प्रतिपद्यते ।]

राजा—बलवदत्र भवती परित्रस्ता । तथाहि ।

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः ।
मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः ॥ ७ ॥

रम्भा—अच्छा, मैं तो मनाती हूँ कि सब प्रकार उनकी जीत हो ।

मेनका—(थोड़ी देर ठहरकर) सखियो ! चुप हो जाओ, धीरज रक्खो ! वह देखो, राजर्षिके सोमदत्त रथकी वह झंडी फहराती दिखाई दे रही है जिसपर हरिण बना हुआ है । मैं समझती हूँ कि काम पूरा किए बिना वे नहीं लौटे होंगे ।

(सब सखियाँ उतावली होकर उधर देखती हैं ।)

(रथपर बैठे हुए राजा और सारथिका प्रवेश ।)

(उसी रथपर चित्रलेखाके दाहिने हाथपर सहारा देकर डरसे आँखें बन्द किए पड़ी उर्वशी दिखाई देती है ।)

चित्रलेखा—धीरज धरो सखी ! धीरज धरो ।

राजा—सुन्दरी ! धीरज धरो । अब राक्षसोंका कोई डर नहीं रहा, क्योंकि इन्द्रका बल तो तीनों लोकोंकी रक्षा कर सकता है, इसलिये तुम अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसी प्रकार खोल दो जैसे प्रातःकाल होनेपर कमलिनी अपना फूल खोल देती है ॥ ६ ॥

चित्रलेखा—यह बड़े अचरजकी बात है कि जिसकी चलती हुई साँस ही देखकर विश्वास हो पाता है कि यह जी रही है वह अभीतक अपनी आँखें नहीं खोल पा रही है ।

राजा—भद्रे ! तुम्हारी सखी बहुत ही डर गई है, क्योंकि इसके बड़े-बड़े स्तनोंके बीचमें जो मन्दारकी माला पड़ी हुई है उसके बराबर हिलनेसे ही यह जान पड़ रहा है कि इसका हृदय डरके मारे अभीतक बहुत धड़क रहा है ॥ ७ ॥

चित्रलेखा—(सकरुणम्) हला उव्वसि ! पज्जवत्थावेहि अत्ताणम् । अणच्छरा विअ पडिभासि । [सखि उर्वशि ! पर्यवस्थापयात्मानम् । अनप्सरेव प्रतिभासि ।]

राजा—मुञ्चति न तावदस्या भयकम्पः कुसुमकोमलं हृदयम् ।
सिचयान्तेन कथंचित्स्तनमध्योच्छ्वासिना कथितः ॥ ८ ॥

(उर्वशी प्रत्यागच्छति ।)

राजा—(सहर्षम्) चित्रलेखे ! दिष्टया वर्धसे । प्रकृतिमापन्ना ते प्रियसखी । पश्य ।

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गारोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥ ९ ॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि ! वीसद्धा भव । आवण्णाणुकम्पिणा महाराएण पडिहदा क्खु दे तिदसपरिपन्थिणो हदासा दाणवा । [सखि उर्वशि ! विश्रब्धा भव । आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहताः खलु ते त्रिदशपरिपन्थिनो हताशदानवाः ।]

उर्वशी—(चक्षुषी उन्मील्य ।) किं पहावदंसिणा महिंदेण अब्भुववण्णम्हि । [किं प्रभावदर्शिना महेन्द्रेणाभ्युपपन्नास्मि ।]

चित्रलेखा—ण महिंदेण । महिंदसरिसाणुभावेण राएसिणा पुरूरवसेण । [न महेन्द्रेण । महेन्द्रसदृशानुभावेन राजर्षिणा पुरूरवसा ।]

उर्वशी—(राजानमवलोक्य । आत्मगतम् ।) उवकिदं क्खु दाणवेंदसंरंभेण । [उपकृतं खलु दानवेन्द्रसंरम्भेण ।]

राजा—(उर्वशीं विलोक्य । आत्मगतम् ।) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्य-

चित्रलेखा—(दुखी होकर) सखी उर्वशी ! धीरज धरो । यह सब करके तुम अप्सरा-जैसी नहीं जान पड़ती ।

राजा—इनके स्तनोंके ऊपर हिलनेवाले वस्त्रसे ही जान पड़ रहा है कि डरसे जो धड़कन हुई थी वह अभीतक इनके फूल-जैसे कोमल हृदयको छोड़ नहीं पा रही है ॥ ८ ॥

(उर्वशी आँखें खोलती है ।)

राजा—(प्रसन्न होकर) बधाई है चित्रलेखाजी ! आपकी सखीने आँखें खोल दी हैं । देखो—मूर्च्छा दूर होनेपर आपकी सखी ऐसी लगती हैं जैसे चन्द्रमाके निकल जानेपर अँधेरेसे छूटी हुई रात हो, या रातके समय बिना धुएँवाली अग्निकी लपट हो, या गंगाकी वह धारा हो जो कगारके गिरनेसे गँदली होकर फिर स्वच्छ हो गई हो ॥ ९ ॥

चित्रलेखा—सखी उर्वशी ! विश्वास करो, दुखियोंपर कृपा करनेवाले महाराजने देवताओंके शत्रु सब दुष्ट राक्षसोंको मार भगाया है ।

उर्वशी—(आँखें खोलकर) क्या बलशाली इन्द्रने मुझे बचाया है ?

चित्रलेखा—महेन्द्रने नहीं, इन्द्रके ही समान वीर राजर्षिने ।

उर्वशी—(राजाको देखकर मनमें) तो राक्षसोंके उपद्रवने उपकार ही किया है ।

राजा—(उर्वशीको देखकर मन ही मन) नारायण ऋषिको लुभानेके लिये जो अप्सराएँ गई थीं, उन्होंने जब ऋषिकी जंघासे उत्पन्न होनेवाली इस उर्वशीके रूपको देखा तो वे सब काँप

स्तदूरुसंभवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति । अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिरित्यवैमि । कुतः ।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ १० ॥

उर्वशी—हला चित्तलेहे ! सहीअणो कहिं क्खु भवे । [सखि चित्रलेखे ! सखीजनः कुत्र खलु भवेत् ।]

चित्रलेखा—सहि ! अभअप्पदाई महाराओ जाणादि । [सखि ! अभयप्रदायी महाराजो जानाति ।]

राजा—(उर्वशीं विलोक्य) महति विषादे वर्तते सखीजनः । पश्यतु भवती ।

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः पथि स्थिता सुंदरि यस्य नेत्रयोः ।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्सखीजनस्ते किमुदार्द्रसौहृदः ॥ ११ ॥

उर्वशी (आत्मगतम् ।) अमिअं क्खु दे वअणम् । अहवा चन्दादो अमिअं त्ति किं अच्चरिअम् । (प्रकाशम्) अदो एव्व मे पेक्खिदुं तुवरदि हिअअम् । [अमृतं खलु ते वचनम् । अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम् । अत एव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम् ।]

राजा—(हस्तेन दर्शयन् ।)

एताः सुतनु मुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः ।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम् ॥ १२ ॥

(उर्वशी साभिलाषं पश्यति ।)

गईं । यह ठीक ही था, क्योंकि ऐसा सुन्दर रूप कोई तपस्वी तो उत्पन्न कर नहीं सकता । इसे बनानेके लिये या तो चाँदनी देनेवाले चन्द्रमा ही स्वयं ब्रह्मा बने होंगे या शृङ्गार रसके देवता कामदेवने ही स्वयं इसे बनाया होगा, या फिर बसन्तने ही इसकी रचना की होगी । नहीं तो बताइए, भला वेद पढ़-पढ़कर पथराए हुए और भोग-विलाससे दूर रहनेवाले वे बूढ़े ऋषि (ब्रह्मा) ऐसा सुन्दर रूप कैसे गढ़ सकते थे ॥ १० ॥

उर्वशी—सखी चित्रलेखा ! हमारी सब सखियाँ कहाँ होंगी ?

चित्रलेखा—हमें बचानेवाले महाराज ही जानते होंगे ।

(उर्वशीको देखकर)

राजा—आपकी सखियाँ बड़ी ही दुखी दिखाई दे रही हैं । देखिए, यदि आपको कोई एक बार भी दैवयोगसे देख ले तो वह भी आपके वियोगसे विकल हो उठेगा, फिर, आपके प्रेममें पगी हुई सखियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ११ ॥

उर्वशी—(मन ही मन) आपके वचन तो अमृत हैं । पर चन्द्रमासे यदि अमृत बरसे तो आश्चर्य ही क्या । (प्रकट) इसीलिये तो मेरा हृदय उन्हें देखनेके लिये इतनी उतावली कर रहा है ।

राजा—(हाथसे दिखाता हुआ) वह देखिए, आपकी सखियाँ हेमकूटपर बैठी हुई आपकी ओर वैसी ही उत्सुकतासे देख रही हैं जैसी उत्सुकतासे लोग ग्रहणसे छूटे हुए चन्द्रमाको देखा करते हैं ॥ १२ ॥

(उर्वशी राजाको चाहके साथ देखती है ।)

चित्रलेखा—हला ! किं पेक्खसि । [सखि ! किं प्रेक्षसे ।]

उर्वशी—णं समदुक्खगदो पिवीअदि लोअणेहिं । [ननु समदुःखगतः पीयते लोचनाभ्याम् ।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अइ को । [अयि कः ।]

उर्वशी—णं पणइअणो । [ननु प्रणयिजनः ।]

रम्भा—(सहर्षमवलोक्य) हला ! चित्तलेहादुदीअं पिअसहीं उव्वसीं गेण्हिअ विसाहासहिदो विअ भअवं सोमो समुवट्ठिदो राएसी । [सखि ! चित्रलेखाद्वितीयां प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखासहित इव भगवान्सोमः समुपस्थितो राजर्षिः ।]

मेनका—(निर्वर्ण्य) हला ! दुवे वि णो एत्थ प्पिआ उवणदा । इअं पच्चाणीदा पिअसही । अअं च अपरिक्खदसरीरो राएसी दीसदि । [सखि ! द्वे अपि नोऽत्र प्रिये उपनते । इयं प्रत्यानीता प्रियसखी । अयं चापरिक्षतशरीरो राजर्षिः ।]

सहजन्या—सहि जुत्तं भणासि दुज्जओ दाणओ त्ति । [सखि ! युक्तं भणसि दुर्जयो दानव इति ।]

राजा—सूत ! इदं तच्छैलशिखरम् । अवतारय रथम् ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति तथा करोति ।)

(उर्वशी रथावतारक्षोभं नाटयन्ती सत्रासं राजानमवलम्बते ।)

राजा—(स्वगतम्) हन्त सफलो मे विषमावतारः ।

यदिदं रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया ।
स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥ १३ ॥

चित्रलेखा—इतने ध्यानसे क्या देख रही हो सखी ?

उर्वशी—जो अपने दुःखमें काम आवें उन्हें आँखोंसे पीए डाल रही हूँ ।

चित्रलेखा—(हँसकर) अरी किन्हें ?

उर्वशी—अपने प्रियजनको ।

रम्भा—(हर्षसे देखकर) चित्रलेखा और प्यारी सखी उर्वशीको साथ लेकर यह राजर्षि उसी प्रकार इधर चले आ रहे हैं जैसे विशाखाके दो तारोंके साथ चन्द्रमा चले आ रहे हों ।

मेनका—(विचारकर) सखी, ये दोनों बातें अच्छी ही हुई कि हमारी सखी भी लौटकर आ गई और राजाको भी किसी प्रकारकी चोट-चपेट नहीं आई ।

सहजन्या—यह तो तुम ठीक कह रही हो सखी ! नहीं तो भला इन राक्षसोंको क्या कोई कभी जीत पा सकता है ?

राजा—सारथी ! यही है वह पर्वतकी चोटी । रथ यहीं उतार लो ।

सारथी—जैसी आयुष्मान्की आज्ञा । (रथ उतारता है ।)

(रथके उतरनेके झटकेका नाटच करती हुई उर्वशी, राजाके शरीरसे जा लगती है ।)

राजा—(मन ही मन) इस ऊबड़-खाबड़ भूमिपर रथका उतरना मेरे लिये अच्छा ही हुआ, क्योंकि रथके हिलने-डुलनेसे इस बड़ी-बड़ी आँखोंवाली सुन्दरीके शरीरसे मेरे शरीरके बार-बार छूनेपर शरीरमें जो रोमांच हो आया है वह ऐसा जान पड़ता है मानो प्रेमके अंकुर फूट आए हों ॥ १३ ॥

उर्वशी—हला ! किं वि परदो ओसर । [सखि ! किमपि परतोऽपसर ।]

चित्रलेखा—णाहं सक्केमि । [नाहं शक्नोमि ।]

रम्भा—एत्थ पिअआरिणं संभावेम्ह राएसिं । [अत्र प्रियकारिणं संभावयामो राजर्षिम् ।

(सर्वा उपसर्पन्ति ।)

राजा—सूत ! उपश्लेषय रथम् ।

यावत्पुनरियं सुभ्रूरुत्सुकाभिः समुत्सुका ।
सखीभिर्याति संपर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी ॥ १४ ॥

(सूतो रथं स्थापयति ।)

अप्सरसः—दिट्ठिआ महाराओ विजएण वड्ढदि । [दिष्टचा महाराजो विजयेन वर्धते ।]

राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन ।

उर्वशी—(चित्रलेखादत्तहस्तावलम्बा रथादवतीर्य) हला ! अधिअं परिस्सजह । ण क्खु मे आसी आसासो जहा पुणो वि सहीअणं पेक्खिस्सं त्ति । [सख्यः अधिकं परिष्वजथ । न खलु मे आसीदाश्वासो यथा पुनरपि सखीजनं प्रेक्षिष्य इति ।]

(सख्यः परिष्वजन्ते ।)

मेनका—(साशंसम्) सव्वहा कप्पसदं महाराओ पुहविं पालअन्तो होदु । [सर्वथा कल्पशतं महाराजः पृथिवीं पालयन्भवतु ।]

सूतः—आयुष्मन् पूर्वस्यां दिशि महता रथवेगेनोपदर्शितः शब्दः ।

अयं च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः ।
अधिरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः ॥ १५ ॥

उर्वशी—सखी ! थोड़ा उधरको हट जाओ ।

चित्रलेखा—मुझसे तो नहीं हटा जाता ।

रम्भा—चलो, अपना भला करनेवाले इन राजर्षिका हम लोग आगे बढ़कर स्वागत तो कर लें ।

(सब आगे बढ़ती हैं ।)

राजा—सारथी ! रथको इनके पास-तक तो बढ़ा ले चलो, जिससे ये अधीर सुन्दरी अपनी घबराई हुई सखियोंसे उसी प्रकार मिल लें जैसे लताओंसे वसन्तकी शोभा जा मिलती है ॥ १४ ॥

(सारथी रथ खड़ा कर लेता है ।)

अप्सराएँ—इस विजयपर महाराजको बधाई है ।

राजा—आप सबको भी अपनी प्यारी सखीसे मिलनेकी बधाई है ।

उर्वशी—(चित्रलेखाके हाथके सहारे उतरकर) सखियो ! मुझसे कसकर गले मिल लो । मैं तो तुम सबसे मिलनेकी आशा ही छोड़ बैठी थी ।

(सखियाँ गले मिलती हैं ।)

मेनका—(प्रशंसा करते हुए) महाराज सैकड़ों कल्पोंतक पृथ्वीका पालन करते रहें ।

सारथी—महाराज ! पूर्वकी ओरसे किसी वेगसे आते हुए रथकी घड़घड़ाहट सुनाई दे रही है । देखिए, तपे हुए सोनेका भुजबन्ध पहने कोई इसी पर्वतके शिखरपर आकाशसे उसी प्रकार उतरा चला आ रहा है जैसे कोई बिजलीवाला बादल हो ॥ १५ ॥

अप्सरसः—(पश्यन्त्यः) अम्मो चित्तरहो । [अहो चित्ररथः ।]

(ततःप्रविशति चित्ररथः ।)

चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम् ।) दिष्टचा महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः । (रथादवतीर्य ।) स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्तौ स्पृशतः ।)

चित्ररथः—वयस्य ! केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः । स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति । महत्खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य ।

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते ।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥ १६ ॥

राजा—सखे ! मैवम् ।

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ।
वसुधाधरकंदराविसर्पी प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥ १७ ॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः ।

राजा—सखे ! नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् । अतस्त्वमेवात्रभवतीं प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

अप्सराएँ—(देखती हुई) अरे ! ये तो चित्ररथ हैं ।

(चित्ररथका प्रवेश)

चित्ररथ—(राजाको देखकर आदरसे) इन्द्रका उपकार करनेकी शक्ति रखनेवाले महाराज ! आपको बधाई है ।

राजा—अरे आप ! गन्धर्वराज ! (रथसे उतरकर) प्रिय मित्रका स्वागत करता हूँ !

(दोनों आपसमें हाथ मिलाते हैं ।)

चित्ररथ—वयस्य ! नारदने अभी-अभी इन्द्रको बताया है कि उर्वशीको केशी हर ले गया है । यह सुनकर इन्द्रने गन्धर्वोंकी सेनाको आज्ञा दी कि जाकर उसे छुड़ा लाओ । इसी बीच हमने मार्गमें देखा कि चारण लोग आपकी विजयके गीत गाते चले आ रहे हैं । बस वह सुनकर हमलोग इधर चले आए । अब आप उर्वशीको लेकर स्वयं हमारे साथ भगवान् इन्द्रसे चलकर मिल लीजिए । आपने सचमुच इन्द्रका बड़ा भारी उपकार किया है । देखिए—जैसे पहले तपस्वी नारायणने इन्हें उत्पन्न करके इन्द्रको सौंप दिया था वैसे ही अब दैत्योंके हाथसे छुड़ाकर आप मित्रके नाते इन्द्रको भेंट कर दीजिए ।

राजा—नहीं नहीं ऐसा न कहो ! यह सब इन्द्र भगवान्के ही पराक्रमका तो फल है कि उनके मित्र अपने शत्रुओंको उसी प्रकार मार भगाते हैं जैसे पर्वतकी गुफासे टकरा-कर गूँजती हुई सिंहकी दहाड़ हाथियोंको डरा भगाती है ॥ १७ ॥

चित्ररथ—ठीक है । जो पराक्रमी होते हैं उन्हें विनय ही शोभा देता है ।

राजा—मित्र ! इस समय तो मैं भगवान् इन्द्रका दर्शन कर नहीं सकूँगा, इसलिये आपही इस समय इन्हें स्वामीके पास पहुँचा आइए ।

चित्ररथः—**यथा भवान्मन्यते । इत इतो भवत्यः ।**

(सर्वाः प्रस्थिताः ।)

उर्वशी—(जनान्तिकम् ।) **हला चित्तलेहे ! उवआरिणं राएसिं ण सक्कणोमि आमन्तेदुम् । ता तुमं एव्व मे मुहं होहि ।** [सखि चित्रलेखे ! उपकारिणं राजर्षिं न शक्नोम्यामन्त्रयितुम् । तत्त्वमेव मे मुखं भव ।]

चित्रलेखा—(राजानमुपेत्य ।) **महाराअ ! उव्वसी विण्णवेदि—महाराएणा अब्भणुण्णादा इच्छामि पिअसहिं विअ महाराअस्स कित्तिं सुरलोअं णेदुं ।** [महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति—महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं सुरलोकं नेतुम् ।]

राजा—**गम्यतां पुनर्दर्शनाय ।**

(सर्वाः सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति ।)

उर्वशी—(उत्पतनभङ्गं रूपयित्वा ।) **अम्मो ! लदाविडवे एसा एआवली वैआअन्तिआ मे लग्गा ।** (सव्याजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती ।) **सहि चित्तलेहे ! मोआवेहि दाव णं ।** [अहो लताविटप एषैकावली वैजयन्तिका मे लग्ना । सखि चित्रलेखे । मोचय तावदेनाम् ।]

चित्रलेखा—(विलोक्य विहस्य च ।) **आं दिढं क्खु लग्गा सा । असक्का मोआविदुँ ।** [आम् दृढं खलु लग्ना सा । अशक्यं मोचयितुम् ।]

उर्वशी—**अलं पडिहासेन । मोआवेहि दाव णं ।** [अलं परिहासेन । मोचय तावदेनाम् ।]

चित्रलेखा—**आं दुम्मोआ विअ मे पडिहादि । तहा वि मोआकस्सं दाव ।** [आम् दुर्मोच्येव मे प्रतिभाति । तथापि मोचयिष्ये तावत् ।]

उर्वशी—(स्मितं कृत्वा) **पिअसहि ! सुमिरेहि क्खु एदं अत्तणो वअणम् ।** [प्रियसखि ! स्मरस्व खल्वेतदात्मनो वचनम् ।]

चित्ररथ—जैसी आपकी इच्छा । इधरसे आइए देवियो ! इधरसे ।

(सब चली जाती हैं ।)

उर्वशी—(अलग) सखी चित्रलेखा ! अपने ऊपर इतना उपकार करनेवाले राजर्षिसे चलते हुए विदा लेनेमें मुझे तो बड़ी लाज लग रही है, इसलिये तुम्हीं मेरी ओरसे विदा माँग लो ।

चित्रलेखा—(राजाके पास पहुँचकर) महाराज ! उर्वशी कह रही है कि यदि महाराजकी आज्ञा हो तो महाराजकी कीर्तिको अपनी सखी बनाकर मैं इन्द्रलोकमें लेती जाऊँ ।

राजा—जाइए, पर फिर दर्शन अवश्य दीजिएगा ।

(सब अप्सराएँ गन्धर्वके साथ आकाशमें उड़नेका नाट्य करती हैं ।)

उर्वशी—(उड़नेमें बाधा पड़नेका नाट्य करती हुई ।) अरे लो ! लताकी शाखामें मेरी इकहरी वैजयन्तीकी माला ही जा फँसी ! (घूमकर राजाको देखती है ।) सखी चित्रलेखा ! इसे छुड़ाओ तो आकर ।

चित्रलेखा—(देखकर हँसते हुए) हाँ, यह तो बड़ी बुरी जा फँसी है । यह क्या छुड़ाए छूटनेवाली है ?

उर्वशी—अच्छा ठिठोली रहने दो, पहले छुड़ाओ तो इसे ।

चित्रलेखा अरे ! यह छूटती तो दिखाई नहीं देती, फिर भी देखती हूँ छुड़ाकर ।

उर्वशी—(हँसती हुई) प्यारी सखी ! देख, अपने ये शब्द स्मरण रखना, भूलना मत ।

राजा—(स्वगतम्)

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या ।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा ॥ १८ ॥

(चित्रलेखा मोचयति । उर्वशी राजानमालोकयन्ती सनिःश्वासं सखीजनमुत्पतन्तं पश्यति ।)

सूतः—आयुष्मन् !

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान्प्रक्षिप्य दैत्याँल्लवणाम्बुराशौ ।
वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥ १९ ॥

राजा—तेन ह्युपश्लेषय रथम् । यावदारोहामि ।

(सूतस्तथा करोति । राजा नाट्येन रथमारोहति ।)

उर्वशी—(सस्पृहं राजानमवलोकयन्ती) अवि णाम पुणो वि उअआरिणं एदं पेक्खिस्स ।
[अपि नाम पुनरप्युपकारिणमेनं प्रेक्षिष्ये ।]

(इति सगन्धर्वा सह सखीभिर्निष्क्रान्ता ।)

राजा—(उर्वशीवर्त्मोन्मुखः ।) अहो दुर्लभाभिलाषी मदनः ।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यमुत्पतन्ती ।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥ २० ॥

(इति निष्क्रान्तौ ।)

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

राजा—(मन ही मन) अरी लता । तुमने इसे रोककर मुझपर बड़ी ही कृपा की है कि इधरको आधा मुँह फेरकर देखती हुई इस बड़े-बड़े नेत्रवालीको मैंने इसी बहाने आँख भर देख तो लिया ॥ १८ ॥

(चित्रलेखा माला छुड़ा देती है । उर्वशी राजाको देखकर लम्बी साँसें लेकर ऊपर उड़ती हुई सखियोंको देखती है ।)

सूत—आयुष्मान् ! शत्रु राक्षसोंको खारे समुद्रमें झोंककर आपका वायव्य बाण आपके तूणीरमें उसी प्रकार आ पैठा है जैसे कोई साँप अपने बिलमें आ पैठे ॥ १९ ॥

राजा—रथको थोड़ा पास तो बढ़ा लाओ जिससे मैं चढ़ पा सकूँ ।

(सारथी रथको पास ले आता है और राजा रथपर चढ़नेका नाटय करता है ।)

उर्वशी—(बड़ी चाहके साथ राजाको देखती हुई) क्या मैं अपने ऊपर उपकार करनेवाले इन राजर्षिको फिर कभी देख पाऊँगी ?

(गन्धर्व और सखियोंके साथ उर्वशी चली जाती है ।)

राजा—(जिधर उर्वशी गई उधरको देखते हुए) ओह ! कामदेव भी उसीकी ओर खींच ले जाता है जिसका मिलना बड़ा कठिन होता है—यह अप्सरा आकाशमें उड़कर जाती हुई मेरे मनको शरीरसे उसी प्रकार बलपूर्वक खींचे लिए चली जा रही हैं, जैसे कोई राज-हंसी टूटे हुए कमलकी डंठलसे उसका तंतु खींचे लिए चली जा रही हो ॥ २० ॥

(चले जाते हैं ।)

॥ पहला अंक पूर्ण ॥

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विदूषकः ।)

विदूषकः—ह्वी ही भो णिमन्तणिओ परमण्णेण विअ राअरहस्सेण फुट्टमाणो ण सक्कणोमि जणाइण्णे अइण्णप्पेण अत्तणो जीहं धारिदुम् । ता जाव सो राआ घम्मासणगदो इदो आअच्छइ दाव इमस्सिं विरलजणसंवादे देवच्छन्दअप्पासादे आरुहिअ चिठ्ठिस्सम् । (परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्यां मुखं पिधाय स्थितः ।) [ही ही भोः निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेनात्मनो जिह्वां धारयितुम् । तद्यावत्स राजा धर्मासनगत इव आयाति तावदेतस्मिन्विरलजनसंपाते देवच्छन्दकप्रसाद आरुह्य स्थास्ये ।]

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तम्हि देवीए कासिराअदुहिदाए जधा—हञ्जे णिउणिए ! जदो पहुदि भअअदो सुज्जस्स उअत्थाणं कदुअ पडिणिउत्तो महाराओ तदो पहुदि सुण्णहिअओ विअ लक्खीअदि । ता तुमं वि दाव अज्जमाणवआदो जाणाहि से उक्कण्ठकालणं त्ति । ता कहं सो बम्हबंधु अदिसंघादव्वो । अहवा तणग्गलग्गं विअ अवस्साअसलिलं ण तस्सिं राअरहस्सं चिरं चिठ्ठदि त्ति तक्केमि । ता जाव णं अण्णेसामि । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) अम्मो आलेक्खवाणरो विअ किंपि मन्तअन्तो णिहुदो अज्जमाणअवो चिठ्ठदि । ता जाव णं उवसप्पामि । (उपसृत्य ।) अज्ज ! वन्दामि । [आज्ञप्तास्मि देव्या काशिराजदुहित्रा यथा—हञ्जे निपुणिके ! यतः प्रभृति भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कृत्वा प्रतिनिवृत्तो महाराजस्ततः प्रभृति शून्य हृदय इव लक्ष्यते । तत्त्वमपि तावदार्यमाणवकाज्जानीह्यस्योत्कण्ठाकारणमिति । तत्कथं स

द्वितीय अङ्क

(विदूषक प्रवेश)

विदूषक—हिः हिः हिः हिः ! जैसे न्योता जीमनेवाले पेटू ब्राह्मणका पेट फटा पड़ता है, वैसे ही राजाके प्रेमकी बात कहनेको मेरा भी जी ऐसा फटा पड़ रहा है कि मैं अपनी जीभको इतने लोगोंके बीच बोलनेसे रोक नहीं पा रहा हूँ । तो जबतक मेरे माननीय मित्र महाराज, राजसभासे लौटें तबतक मैं इस देवच्छन्दक नामके भवनमें ही चलकर बैठता हूँ जहाँ लोगोंकी पहुँच भी बहुत कम हो पाती है । (हाथसे मुख बन्द कर बैठता है ।)

(इतनेमें चेटी आती है ।)

चेटी—काशी-नरेशकी कन्याने मुझे आज्ञा दी है कि—निपुणिका ! भगवान् सूर्यकी उपासना करके जबसे महाराज लौटे हैं तभीसे वे कुछ अनमनेसे दिखाई दे रहे हैं । इसलिये तू जाकर उनके प्यारे मित्र माणवकसे उनकी सारी उदासीका कारण पूछ तो आ । अब मैं उस ओछे बाम्हनको कैसे फोड़ूँ ? पर मैं समझती हूँ कि जैसे घासपर पड़ी ओसकी बूँद बहुत देर-तक नहीं ठहर पाती वैसे ही उसके पेटमें राजाकी गुप्त बातें बहुत देरतक नहीं पच सकेंगी ।

ब्रह्मबन्धुरतिसंधातव्यः। अथवा तृणाग्रलग्नमिवावश्यायसलिलं न तस्मिन्राजरहस्यं चिरं तिष्ठतीति तर्कयामि। तद्यावदेनमन्वेषयामि। अहो आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति। तद्यावदेनमुपसर्पामि। आर्य वन्दे।]

विदूषकः—**सत्थि भोदीए। (** आत्मगतम् **) एदं दुट्ठचेडिअं पेक्खिअ तं राअरहस्सं हिअअं भिन्दिअ णिक्कमदि विअ (** किंचिन्मुखं संवृत्य। प्रकाशम्। **) भोदि णिउणिए! संगीदवावारं उज्झिअ कहिं पत्थिदासि।** [स्वस्ति भवत्यै। एतां दुष्टचेटिकां प्रेक्ष्य तद्राजरहस्यं हृदयं भित्त्वा निष्क्रामतीव। भवति निपुणिके! संगीतव्यापारमुज्झित्वा कुत्र प्रस्थितासि।]

चेटी—**देवीए वअणेण अज्जं एव्व पेक्खिदुम्।** [देव्या वचनेनार्यमेव प्रेक्षितुम्।]

विदूषकः—**किं तत्तभोदी आणवेदि।** [किं तत्रभवत्याज्ञापयति।]

चेटी—**देवी भणादि जधा—अज्जस्स मम उअरि अदक्खिण्णं। ण मं अणुइदवेअणं दुक्खिदं अवलोअदि त्ति।** [देवी भणति यथा—आर्यस्य ममोपरि अदाक्षिण्यम्। न मामनुचितवेदनां दुःखितामवलोकयतीति।]

विदूषकः—**णिउणिए! किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए पडिऊलं किंवि समाचरिदम्।** [निपुणिके! किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम्।]

चेटी—**जं णिमित्तं उण भट्टा उक्कंठिदो ताए इत्थिआए णामेण भट्टिणा देवी आलविदा।** [यन्निमित्तं पुनर्भर्ता उत्कण्ठितः तस्याः स्त्रिया नाम्ना भर्त्रा देवी आलपिता।]

विदूषकः—(स्वगतम्) **कह सअं एव्व तत्तभोदा वअस्सेण रहस्सभेदो किदो। किं दाणिं अहं बम्हणो जीहं रक्खिदुं समत्थोम्हि। (** प्रकाशम्। **) किं तत्तभोदा उव्वसीं णामधेएण आमंदिदा।** [कथं स्वयमेव तत्रभवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः। किमिदानीमहं ब्राह्मणो जिह्वां रक्षितुं समर्थोस्मि। किं तत्र भवता उर्वशीनामधेयेनामन्त्रिता।]

इसीलिये चलती हूँ, उसे खोज देखती हूँ (घूमकर और देखकर) अरे, आर्य माणवक तो यहाँ चित्रमें बने हुए वन्दरके समान कुछ सोचते हुए-से चुपचाप बैठे हुए हैं। तो चलूँ इनके पास। (पास जाकर) आर्य! प्रणाम करती हूँ।

विदूषक—कल्याण हो आपका। (मन ही मन) इस दुष्ट दासीको देखकर तो राजाके प्रेमकी गुप्त बातें जैसे हृदय फोड़कर निकलना चाह रही हैं। (प्रकट) कहो निपुणिका! तुम अपना गाना-बजाना छोड़कर कहाँ इधर निकली चली आ रही हो?

चेटी—देवीकी आज्ञासे आपके ही दर्शनके लिये तो आ रही थी।

विदूषक—कहो कहो, महारानीने क्या कहलाया है?

चेटी—देवीने कहलाया है कि आजकल आप हमपर कृपा नहीं कर रहे हैं और अकारण इतनी बड़ी चिन्तामें जलती हुईको देखनेतक नहीं आते।

विदूषक—निपुणिका! क्या इधर महाराज देवीके मनके विरुद्ध कोई काम कर बैठे हैं?

चेटी—हाँ! आजकल महाराज जिसे प्यार करते हैं, उसीका नाम लेकर उन्होंने देवीको पुकार दिया।

विदूषक—(मनमें) अरे! तो क्या स्वयं महाराजने ही सब भंडा फोड़ दिया। तब मैं ब्राह्मण होकर अपनी जीभ कैसे बांधे रख सकता हूँ। (प्रकट) क्या महाराजने उर्वशी कहकर पुकारा था!

चेटी —अज्ज ! का सा उव्वसी ? [आर्य ! का सा उर्वशी ?]

विदूषकः—अत्थि उव्वसि त्ति अच्छरा। ताए दंसणेण उम्मादिदो ण केवलं तं आआसेदि मं वि बम्हणं असिदव्वविमुहं दिढं पीडेदि। [अस्त्युर्वशीत्यप्सराः। तस्या दर्शनेनोन्मादितो न केवलं तामायासयति मामपि ब्राह्मणमशितव्यविमुखं दृढं पीडयति।]

चेटी—(स्वगतम्।) उव्वादिदो मए भेओ भट्टिणो रहस्सदुग्गस्स। ता गदुअ देवीए एदं णिवेदेमी। [उत्पादितो मया भेदो भर्तु रहस्यदुर्गस्य। तद्गत्वा देव्यै एतन्निवेदयामि।] (इति प्रस्थिता।)

विदूषकः—णिउणिए ! विण्णावेहि मम वअणेण कासिराअदुहिदरम्-परिस्सन्तम्हि इमाए मिअतिण्हिआए वअस्सं णिअत्तावेदुम्। जइ भोदीए मुहकमलं पेक्खिस्सदि तदो णिअत्तिस्सदि त्ति। [निपुणिके ! विज्ञापय मम वचनेन काशिराजदुहितरम्—परिश्रान्तोऽस्म्येतस्या मृगतृष्णिकाया वयस्यं निवर्तयितुम्। यदि भवत्या मुखकमलं प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यत् इति।]

चेटी—-जं अज्जो आणवेदि। [यदार्य आज्ञापयति] (इति निष्क्रान्ता।)

(नेपथ्ये वैतालिकः।) जयतु जयतु देवः।

आ लोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः।
तिष्ठत्येकः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः॥ १॥

विदूषकः—(कर्णं दत्वा) एसो उण पिअवअस्सो धम्मासणसमुत्थिदो इदो एव आअच्छदि। ता जाव पासपडिवत्ती होमि। (इति निष्क्रान्तः।) [एष पुनः प्रियवयस्यो धर्मासनसमुत्थित इत एवागच्छति। तद्यावत्पार्श्वपरिवर्ती भवामि।]

॥ प्रवेशकः ॥

निपुणिका— क्यों आर्य ! यह उर्वशी है कौन ?

विदूषक—अरे यह उर्वशी एक अप्सरा है। उसे देखकर महाराज ऐसी सुध-बुध खो बैठे हैं कि उन्होंने केवल देवीका ही जी नहीं दुखा रक्खा है वरन् भोजन-पानी छोड़े हुए इस ब्राह्मणको भी साँसत दे रक्खी है।

निपुणिका—(मनमें) स्वामीके भेदका दुर्ग तो मैंने फोड़ लिया। तो मैं जाकर देवीको यही सब बताए देती हूँ। (चल देती है।)

विदूषक —सुनो सुनो निपुणिका ! देखो मेरी ओरसे काशिराजकी पुत्रीसे कहना कि मैं तो अपने मित्रको इस मृगतृष्णासे बचानेकी बात समझाते-समझाते थक गया। हाँ, यदि वे आपका मुख-कमल देख लें तो उनका मन उर्वशीसे अवश्य फिर जायगा। समझी !

निपुणिका—जैसी आर्यकी आज्ञा। (चली जाती है।)

(नेपथ्यमें वैतालिक।) महाराजकी जय हो ! जय हो !

हम समझते हैं कि आप और सूर्य दोनों अपना नित्यका काम ठीक एक जैसा ही करते रहते हैं, क्योंकि सूर्य भी संसारका अँधेरा मिटाते हैं और आप भी अपनी प्रजाका कष्ट दूर करते हैं। नक्षत्रोंके अकेले राजा सूर्य भी जिस प्रकार अपने कामसे छुट्टी पाकर आकाशमें विश्राम लेते हैं वैसे ही आप भी अपने राज-काजसे छुट्टी पाकर तीसरे पहर विश्राम जा करते हैं॥ १॥

विदूषक —(सुनते हुए) लो, न्यायासनसे उठे हुए मेरे प्रिय मित्र इधर ही बढ़े चले आ रहे हैं। तो चलूँ, मैं भी उनकी सेवाके लिये जा पहुँचूँ। (निकल जाता है।)

॥ प्रवेशक पूर्ण हुआ॥

(ततः प्रविशत्युत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च ।)

राजा—

आ दर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम् ।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥ २ ॥

विदूषकः—सपीडा क्खु जादा तत्तभोदी कासिराअदुहिदा । [सपीडा खलु जाता तत्रभवती काशिराजदुहिता ।]

राजा- (निरीक्ष्य) अपि रक्ष्यते भवता रहस्यविक्षेपः ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) हद्धी हद्धी वंचिदोम्हि दुट्ठ दासीए णिउणिआए । अण्णधा कधं एव्वं पुच्छदि वअस्सो । [हा धिक् हा धिक् वञ्चितोऽस्मि दुष्ट दास्या निपुणिकया । अन्यथा कथमेवं पृच्छति वयस्यः ।]

राजा—किं भवांस्तूष्णीमास्ते ।

विदूषकः—भो ! एव्वं मए जीहा संजन्तिदा जेण भवदो वि णत्थि पदिवअणम् । [भोः एवं मया जिह्वा संयन्त्रिता येन भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम् ।]

राजा—युक्तम् । अथ केनेदानीमात्मानं विनोदयामि ।

विदूषकः—भो महाणसं गच्छम्ह । [भो महानसं गच्छावः ।]

राजा—किं तत्र ।

विदूषकः—तहि पंजविहस्स अब्भवहारस्स उवणदसंभारस्स जोअणां पेक्खमाणेहि सक्कं उक्कंठां विणोदेदुम् । [तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठां विनोदयितुम् ।]

(अनमनेसे राजा आते हैं, साथमें विदूषक भी है ।)

राजा—मेरे जिस हृदयमें कामदेवने अपने बाण मारकर उस स्वर्गलोककी सुन्दरीके आनेके लिये द्वार बना दिया था, उसमें वह केवल देखने भरसे ही आ समाई है ॥ २ ॥

विदूषक—(मन ही मन) सचमुच काशी-नरेशकी पुत्रीके तो भाग फूट गए ।

राजा—(देखकर) कहो, तुमने मेरी बात किसीको बताई तो नहीं ।

विषदूक—(मन ही मन) हाय हाय ! उस दुष्ट दासी निपुणिकाने तो मुझे बड़ा धोखा दिया, नहीं तो मित्र मुझसे इस प्रकार क्यों पूछते ?

राजा—क्यों चुप क्यों हो गए ?

विदूषक -देखिए, मैंने अपनी जीभको ऐसा बांध लिया है कि आपकी बातका भी एकाएक उत्तर नहीं निकल पाया ।

राजा—ठीक है । पर यह तो बताओ कि यह अपना मन मैं कैसे बहलाऊँ ?

विदूषक—चलिए रसोई-घरमें चला जाय !

राजा—वहाँ क्या धरा है ।

विदूषक—वहाँ पांच ढङ्गके पकवानोंकी सामग्री देखने भरसे ही हम लोगोंकी सारी उदासी जाती रहेगी ।

राजा—(सस्मितम्) तत्रेप्सितसंनिधानाद्भवान् रंस्यते । मया खलु दुर्लभप्रार्थनाः कथमात्मा विनोदयितव्यः ।

विदूषकः—णं भवं वि तत्तभोदिए उव्वसीए दंसणपहं गदो । [ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वश्या दर्शनपथं गतः ।]

राजा – ततः किम् ।

विदूषकः—ण क्खु दे दुल्लह त्ति तक्केमि । [न खलु ते दुर्लभेति तर्कयामि ।]

राजा – पक्षपातोऽपि तस्यां सद्रूपस्यालौकिक एव ।

विदूषकः—एव्वं मन्तअन्तेण मे वड्ढिदं कोदूहलम् । किं तत्तभोदी उव्वसी अद्दुदीआ रूवेण अहं वि विरूवदाए । [एवं मन्त्रयता मम वर्धितं कौतूहलम् । किं तत्रभवत्युर्वश्यद्वितीया रूपेण अहमिव विरूपतया ।]

राजा माणवक ! प्रत्यवयवमशक्यवर्णनां तामवेहि । तेन हि समासतः श्रूयताम् ।

विदूषकः—भो ! अवहिदो म्हि । [भोः ! अवहितोऽस्मि ।]

राजा —

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ ३ ॥

विदूषकः – अदो दाव तुए दिव्वरसाहिलासिणा चादअव्वदं गहीदम् । ता दाव तुमं कहिं पत्थिदो । [अतस्तावत्त्वया दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रतं गृहीतम् । तत्तावत्त्वं कुत्र प्रस्थितः ।]

राजा—(हँसकर) जी हाँ, वहाँ आपको तो अपने मन बहलानेकी सारी सामग्री मिल जायगी, पर बड़ी कठिनाईसे हाथ लगनेवाली वस्तुके लिये तड़पनेवाले मुझ जैसेको वहाँ मन-बहलावके लिये क्या हाथ लगेगा ?

विदूषक—पर आपको भी तो उर्वशीने देखा होगा न ?

राजा—उससे क्या ?

विदूषक—तब तो मैं समझता हूँ कि उसका मिलना कठिन नहीं होगा ।

राजा—अरे ! वह इतनी अधिक सुन्दरी है कि उसे बड़ी सुन्दरी कहना भी एक अनोखीसी ही बात लगती है ।

विदूषक—आपकी इन बातोंसे तो मेरा कुतूहल और भी अधिक बढ़ चला है । क्या सुन्दरतामें उर्वशी उतनी ही बढ़ी-चढ़ी है जितना मैं कुरूपतामें हूँ ?

राजा – मित्र माणवक ! बस यह समझ लो कि उसके अंग-अंगका वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता, इसलिये थोड़ेमें ही जो बताता हूँ वही सुन लो ।

विदूषक – हाँ ! मैं सुन रहा हूँ बड़े ध्यानसे ।

राजा —उसका शरीर आभूषणोंका भी आभूषण है, शृङ्गारकी सामग्रियोंका भी शृङ्गार है और उपमाकी वस्तुओंकी भी उपमा उससे दी जा सकती है ॥ ३ ॥

विदूषक –हूँऽऽ ! इसीलिये आप उस स्वर्गीय जलके प्यासे चातक बन बैठे हैं ? अच्छा, आप अभी जा किधर रहे हैं ?

राजा—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति। तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु।

विदूषकः—(आत्मगतम्) का गदी। (प्रकाशम्) इदो इदो भवं। (का गतिः। इत इतो भवान्।]

(इति परिक्रामतः।)

विदूषकः—एसो पमदवणपरिसरो। आणमिअ पच्चुवगदो भवं आअन्तुओ दक्खिणमारुदेण। (एष प्रमदवनपरिसरः। आनम्य प्रत्युपगतो भगवानागन्तुको दक्षिणमारुतेन।)

राजा—(विलोक्य) उपपन्नं विशेषणमस्य वायोः। अयं हि।

निषिञ्चन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात्कामीव प्रतिभाति मे॥ ४॥

विदूषकः—सरिसो एव्व से अहिणिवेसो। (इति परिक्रामन्।) एदं पमदवणम्। पविसदु भवं। [सदृश एवास्याभिनिवेशः। एतत्प्रमदवनम्। प्रविशतु भवान्।]

राजा—वयस्य ! प्रविशाग्रतः।

(उभौ प्रवेशं नाटयतः।)

राजा—(त्रासं रूपयित्वा।) वयस्य ! साधु मनसा समर्थित आपत्प्रतीकारः किल ममोद्यानप्रवेशः तच्चान्यथैवोपपन्नम्।

विविक्षोर्यदिदं नूनमुद्यानं तापशान्तये।
स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं महत॥ ५॥

विदूषकः—कहं विअ। [कथमिव।]

राजा—प्रेमी लोग एकान्त छोड़कर और जा ही कहाँ सकते हैं ? चलो, मुझे प्रमदवनकी ओर लिवाते ले चलो।

विदूषक—(मन ही मन) क्या चारा है ? (जहाँ कहिए लिवाता ले चलूं।) (प्रकट) इधरसे आइए महाराज इधरसे।

(दोनों घूमते हैं।)

विदूषक—लीजिए पहुँच गए हम प्रमदवनके पास। आपके आते ही उद्यानकी ओरसे बहता आता हुआ दक्खिनी पवन बड़ी नम्रतासे आपकी अगवानी कर रहा है।

राजा—(देखकर) इस वायुका दक्षिण कहलाना ठीक ही है क्योंकि माधवी-लताको सींचता हुआ और कुन्दलताको नचाता हुआ, यह पवन मुझे ऐसा जान पड़ रहा है मानो यह कोई कामी हो जो सबसे प्रेम करता और सबको एक साथ प्रसन्न किए रखता चलता है॥ ४॥

विदूषक—हाँ, यह भी आपके ही समान प्रेम करता चल रहा है। (घूमता हुआ) लीजिए, यह आ गया प्रमदवन ! चलिए, भीतर चले चलिए।

राजा – चलो वयस्य ! आगे-आगे तुम्हीं चलो। (दोनों प्रवेश करनेका नाट्य करते हैं।)

राजा—(डरनेका नाटच करते हुए) वयस्य ! मैं तो यहाँ उद्यानमें यह अच्छी बात सोचकर आया था कि यहाँ जी हलका हो जायगा पर यहाँ तो उलटा ही हो रहा है। अपने मनकी पीडा मिटानेके लिये इस उद्यानमें मेरा आना वैसा ही हुआ, जैसे बहावके साथ तैरनेवालेको अचानक चढ़ावकी ओर तैरना पड़ जाय॥५॥

विदूषक—यह कैसे ?

राजा—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।
किमुत मलयवातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैः उपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ॥ ६ ॥

विदूषकः—अलं परिदेबिदेण । अइरेण दे इट्ठसंपादणेण अणंगो एव्व दे सहाओ भविस्सदि । [अलं परिदेवितेन । अचिरेण तवेष्टसम्पादनेनानङ्ग एव ते सहायो भविष्यति ।]

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम् ।

(इति परिक्रामतः ।)

विदूषकः—पेक्खदु भवं वसंतावदार सूअअं अहिरामत्तणं पमदवणस्स । [प्रेक्षतां भवान्वसन्तावतारसूचकमभिरामत्वं प्रमदवनस्य ।]

राजा—ननु प्रतिपादपमेवावलोकयामि । अत्र हि—

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता ॥ ७ ॥

विदूषकः—भो एसो क्खु मणिसिलापट्टअसणाहो अदिमुत्तलदामंडवो भमरसंघट्टपडिदेहिं कुसुमेहिं सअं विअ किदोवआरो भवंतं पडिच्छदि । ताअणुगेण्हिअदु दाव एसो । [भोः एष मणिशिलापट्टकसनाथोऽतिमुक्तलतामण्डपो भ्रमरसङ्घट्टपतितैः कुसुमैः स्वयमिव कृतोपचारो भवन्तं प्रतीच्छति । तदनुगृह्यतां तावदेषः ।]

राजा—बड़ी कठिनाईसे हाथ आनेवाली वस्तुके लिये जो मेरा मन मचला पड़ रहा है, इसे एक तो कामदेवने पहले ही बींधकर चलनीं बना रक्खा था उसपर यहाँ देख रहे हैं कि उद्यानके उन आमके पेड़ोंमें कोंपलें भी फूट आई हैं जिनके पीले पत्ते मलय-पवनने झाड़कर गिरा दिए हैं। तब बताओ हमारे मनको शान्ति मिले भी तो कहाँसे मिले ? ॥ ६ ॥

विदूषक—चिन्ता न कीजिए। आपकी प्रियतमासे आपको शीघ्र ही मिलाकर यही कामदेव आपका सहायक बन जायगा।

राजा—ब्राह्मणका आशीर्वाद सिरमाथे। (दोनों घूमते हैं।)

विदूषक—इस प्रमदवनकी शोभाको तो देखिए जो बताए दे रही है कि वसन्त आ पहुँचा है।

राजा—मैं एक-एक पेड़को देख रहा हूँ। यह है कुरबकका फूल, जिसका सिरा स्त्रीके नखके समान लाल है और जिसके दोनों छोर साँवले रंगके हैं। अपनी ललाईसे सुन्दर लगनेवाला यह लाल अशोकका फूल ऐसा लगता है कि बस अब खिलने ही वाला हो। आमके पेड़में कुछ-कुछ दिखाई देनेवाले परागके कारण पीला-सा लगनेवाला नया बौर फूटने लगा है। मित्र ! इस प्रकार यह वसन्तकी शोभा ऐसी लगती है मानो वह अपने बचपन और जवानीके बीचमें आई खड़ी हो ॥ ७ ॥

विदूषक—देखिए, यहाँ अतिमुक्त लताके मंडपके नीचे रतनजड़ी पत्थरकी चौकीपर जो फूल भौंरोंके उड़नेसे गिर-गिरकर बिखरे पड़े हैं, वे ऐसे लगते हैं मानो सारी सजावट करके यह मंडप बड़े आदरसे आपका स्वागत कर रहा हो। तो चलिए इसका भी मन रख लीजिए।

राजा—यथा भवते रोचते ।

(परिक्रम्योपविशतः ।)

विदूषकः दाणिं इह सुहासीणो भवं ललिदलदाविलोहीअमाणणअणो उव्वसीगदं उक्कंठं विणोदेदु । [इदानीमिह सुखासीनो भवांल्ललितलताविलोभ्यमाननयन उर्वशीगतामुत्कण्ठां विनोदयतु ।]

राजा—(निःश्वस्य)

मम कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु ।
चक्षुर्बध्नाति धृतिं तद्रूपालोकदुर्ललितम् ॥ ८ ॥

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।

विदूषकः—(विहस्य) भो अहल्लाकामुअस्य महिंदस्स वेज्जो सचिवो उव्वसीपज्जुच्छुअस्स अ भवदो अहं दुवेवि एत्थ उम्मत्तआ । [भोः अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्यः सचिवः उर्वशीपर्युत्सुकस्य च भवतोऽह द्वावप्यत्रोन्मत्तौ ।]

राजा—मा मैवम् । अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी । तदुपायश्चिन्त्यताम् ।

विदूषकः—एसो चिंतेमि । मा उण परिदेविदेण मम समाधिं भिंधि । [एष चिन्तयामि । मा पुनः परिदेवितेन मम समाधिं भिन्धि ।] (इति चिन्तां नाटयति ।)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा । स्वगतम् ।)

न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम् ।
अभिमुखीष्विवकाङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥ ९ ॥

राजा—जैसा तुम्हें अच्छा लगे ।

(दोनों घूमकर बैठते हैं ।)

विदूषक—अब आप यहाँ सुखसे बैठकर सुन्दर लताओंमें अपने नयन उलझाकर उर्वशीकी चिन्ता ही मिटा डालिए ।

राजा—(साँस भरकर) उसकी सुन्दरताने तो मेरी आँखोंपर कुछ ऐसा जादू सा फेरा है कि उन्हें इस उपवनकी फूली हुई लताएँ और कोमल पौधे आँखोंपर चढ़ते ही नहीं हैं ॥ ८ ॥

इसलिये कोई ऐसा उपाय सोचो कि मेरे मनकी साध पूरी हो सके ।

विदूषक—(हँसकर) देखिए, जैसे अहल्याको पानेकी इच्छा करनेवाले इन्द्रकी सहायता करते समय चन्द्रमाकी बुद्धि मारी गई थी, वैसे ही प्रेममें पड़े हुए आपका सहायक होकर मैं भी अपनी सारी बुद्धि खो बैठा हूँ ।

राजा—ऐसा न कहो । जो अधिक स्नेह करता है वही तो ठीक उपाय सुझा सकता है । इसलिये कोई न कोई उपाय सोच ही निकालो ।

विदूषक—अच्छा मैं सोचने तो बैठता हूँ पर आप बीचमें ही रोना-कलपना मचाकर मेरा ध्यान न उचाट दीजिएगा । (सोचनेका नाटच करता है ।)

राजा—(अच्छे शकुनकी सूचना देता हुआ मन ही मन) पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली उस सुन्दरीके मिलनेकी कोई आशा तो नहीं है पर न जाने क्यों कामदेव मुझे बड़े अच्छे सगुन दिखा रहा है । मेरा मन अचानक ऐसा खिल उठा है, मानो मेरा काम बस बनने ही वाला हो ॥ ९ ॥

(इति जाताशस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा च ।)

चित्रलेखा—हला ! कहिं दाणिं अणिदिट्ठकालणं गच्छीअदि । [हला ! क्वेदानी-मनिर्दिष्टकारणं गम्यते ।]

उर्वशी—(मदनवेदनामभिनीय सलज्जम्) सहि ! तदा हेमऊडसिहारे लदाविडवेण खणविग्घिदआआसगमणं मं ओहसिअ किं दाणिं पुच्छसि कहिं गच्छीअदि त्ति । [सखि ! तदा हेमकूटशिखरे लताविटपेन क्षणविघ्नताकाशगमनां मामुपहस्य किमिदानीं पृच्छसि क्व गम्यते इति ।]

चित्रलेखा—किं णु क्खु तस्स राएसिणो पुरूरवस्स सआसं पत्थिदासि । [किं न खलु तस्य राजर्षेः पुरूरवसः सकाशं प्रस्थितासि ।]

उर्वशी—अह इं । अअं मे अवहत्थिदलज्जो ववसाओ । [अथ किम् । अयं मेऽपहस्तितलज्जो व्यवसायः ।]

चित्रलेखा—को उण सहीए तहिं पुढमं पेसिदो । [कः पुनः सख्या तत्र पुरतः प्रेषितः ।]

उर्वशी—णं हिअअं । [ननु हृदयम् ।]

चित्रलेखा—तधा वि सअं एव्व साहु संपधारिअदु दाव । [तथापि स्वयमेव साधु सम्प्रधार्यतां तावत् ।]

उर्वशी—सहि मअणो क्खु मं णिओएदि । किं एत्थ संपधारीअदि । [सखि मदनः खलु नियोजयति । किमत्र सम्प्रधार्यते ।]

चित्रलेखा—अदोवरं णत्थि मे वअणम् । [अतः परं नास्ति मे वचनम् ।]

उर्वशी—तेण हि आदिसीअदु मग्गो जेण तहिं गच्छन्तीणं अंतराओ ण भवे । [तेन ह्यादिश्यतां मार्गो येन तत्र गच्छन्त्योरन्तरायो न भवेत् ।]

(बड़ी आशा लगाकर बैठता है ।)

(विमानपर चढ़ी हुई उर्वशी और चित्रलेखा दिखाई देती हैं ।)

चित्रलेखा—क्यों सखी ! बिना सोचे-समझे किधर बढ़ी चली जा रही हो ?

उर्वशी—(काम-पीडाका नाट्य करती हुई लज्जाके साथ) सखी ! जब हेमकूट पर्वतकी चोटीपर, लताकी शाखामें मेरी माला जा उलझी थी और मेरा उड़ना थोड़ी देरके लिये रुक गया था, उस समय मुझसे ठिठोली करके भी अब तुम पूछ रही हो कि मैं कहाँ जा रही हूँ ?

चित्रलेखा—तो क्या तुम राजर्षि पुरूरवाके पास जा रही हो ?

उर्वशी—और क्या ? आज मैंने सब लाज छोड़कर यही जीमें ठान लिया है ।

चित्रलेखा—तो वहाँ तुमने किसके द्वारा पहले संदेश भेजा है ?

उर्वशी—क्यों ? अपने हृदयके द्वारा ।

चित्रलेखा—फिर भी इसका भला-बुरा भली प्रकार सोच-विचार लो ।

उर्वशी—सखी ! मुझे तो कामदेवने ही इस झंझटमें ला झोंका है, फिर इसमें सोच-विचार करना ही क्या है ?

चित्रलेखा—तुमने तो ऐसी बात कह दी कि मेरा मुँह ही बन्द हो गया ।

उर्वशी—तो अब मुझे ऐसा उपाय बता दो कि मैं वहाँ बेरोकटोक पहुँच जाऊँ ।

चित्रलेखा—सहि ! विस्सद्धा होहि। णं भअवदा देवगुरुणा अवराइदं णाम सिहाबंधणविज्जं उवदिसंतेण तिदसपडिवक्खस्स अलंघाणिज्जा कदम्ह। [सखि विश्रब्धा भव। ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः।]

उर्वशी—(सलज्जम्) अहो विसुमरिदं मे हिअअं। [अहो ! विस्मृतं मे हृदयम्।]

(उभे भ्रमणं रूपयतः।)

चित्रलेखा—सहि ! पेक्ख पेक्ख। एदं भअवदीए भाईरहीए जमुणासंगमविसेसपावणेसु सलिलेसु अत्ताणअं ओलोअंतस्स विअ पइट्ठाणस्स सिहाभरणभूदं तस्स राएसिणो भवणं उवट्ठिदम्ह। [सखि ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतद्भगवत्याः भागीरथ्याः यमुनासङ्गमविशेषपावनेषु सलिलेष्वात्मानमवलोकयत इव प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतं तस्य राजर्षेर्भवनमुपस्थिते स्वः।]

उर्वशी—(सस्पृहमवलोक्य) णं वत्तव्वं ठाणंतरगदो सग्गो त्ति। (विमृश्य) सहि ! कहिं णु क्खु सो आवण्णाणुकंपी भवे। [ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति। सखि ! क्व नु खलु स आपन्नानुकम्पी भवेत्।

चित्रलेखा—हला ! एदस्सिं णंदणवणेक्कदेसे विअ पमदवणे ओदरिअ जाणिस्सामो। [हला एतस्मिन्नन्दनवनैकदेश इव प्रमदवने अवतीर्य ज्ञास्यावः।]

(उभे अवतरतः)

चित्रलेखा—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्) सहि ! एसो क्खु पढमोदिदो विअ चंदो कोमुदिं विअ तुमं पडिच्छदि। [सखि ! एष खलु प्रथमोदित इव चन्द्रः कौमुदीमिव त्वां प्रतीच्छति।]

उर्वशी—(विलोक्य) हला ! दाणिं पढमदंसणादो सविसेसं पिअदंसणो महाराओ पडिहादि। [हला ! इदानीं प्रथमदर्शनात्सविशेषः प्रियदर्शनो महाराजः प्रतिभाति।]

चित्रलेखा—चिन्ता न करो सखी ! देवगुरु बृहस्पतिने अपराजिता नामकी, चोटी बांधनेकी विद्या सिखाते समय हमें ऐसी शक्ति दे दी है कि देवोंके शत्रु भी हम लोगोंका बाल बाँका नहीं कर सकते।

उर्वशी—(लजाती हुई) अरी ! यह बात तो मेरे ध्यानसे ही उतर गई थी।

(दोनों घूमती हैं।)

चित्रलेखा—अरी, देख देख सखी ! हमलोग राजर्षिके उस भवनपर जा पहुँची हैं जिसकी जोड़का दूसरा कोई भवन प्रतिष्ठानपुरीमें है ही नहीं और जो ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो गंगा यमुना के संगमके कारण और भी अधिक पवित्र बने हुए जलमें अपना मुँह देख रहा हो।

उर्वशी—(चावसे देखती हुई) यह क्यों नहीं कहती कि स्वर्ग ही यहाँ उतरा चला आया है। (विचारकर) अच्छा सखी ! दुखियोंपर दया करनेवाले वे राजा इस समय कहाँ होंगे भला ?

चित्रलेखा—चलो सखी ! नन्दनवनके समान सुहावने इस प्रमदवनमें उतरकर उनकी खोज कर ली जाय। (दोनों उतरती हैं।)

चित्रलेखा—(राजाको देखकर प्रसन्नतासे) सखी ! जैसे नया-नया निकला हुआ चन्द्रमा चाँदनीके आनेकी बाट देखा करता है, वैसे ही ये भी यहाँ बैठे हुए तेरे आनेकी बाट देख रहे हैं।

उर्वशी—(देखकर) सखी ! आज तो महाराज उस पहलेवाले दिनसे भी अधिक सुन्दर जँच रहे हैं।

चित्रलेखा—जुज्जदि। ता एहि उवसप्पम्ह। [युज्यते। तदेहि उपसर्पावः।]

उर्वशी—ण दाव उवसप्पिस्सं। तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पासगदा से भविअ सुणिस्सं दाव पासवत्तिण वअस्सेण सह विअणे किं मंतअंतो चिट्ठदि त्ति। [न तावदुपसर्पिष्ये। तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्वंगतास्य भूत्वा श्रोष्यामि तावत् पार्श्ववर्तिना वयस्येन सह विजने किं मन्त्रयमाणस्तिष्ठतीति।]

चित्रलेखा—जं दे रोअदि। [यत्ते रोचते।]

(उभे यथोक्तमनुतिष्ठतः)

विदूषकः—भो चिंतिदो मए दुल्लहप्पणइणीसमाअमोवाओ। [भोः चिंतितो मया दुर्लभ प्रणयिनीसमागमोपायः।]

(राजा तूष्णीमास्ते।)

उर्वशी—(सेर्ष्यम्) का णु क्खु धण्णा इत्थिआ जा इमिणा पत्थिअमाणा अत्ताणअं किदत्थेइ। [का नु खलु धन्या स्त्री या अनेन प्रार्थ्यमानात्मानं कृतार्थयति।]

चित्रलेखा—किं उण माणुस्सअं विडंबीअदि। [किं पुनर्मानुष्यं विडम्ब्यते।]

उर्वशी—सहि! भीआमि सहसापभावादो विण्णादुं। [सखि! विभेमि सहसा प्रभावाद्विज्ञातुम्।]

विदूषकः—भो णं भणामि चिंतिदो मए उवाओ त्ति। [भोः ननु भणामि चिन्तितो मया उपाय इति।]

राजा—तेन हि कथ्यताम्।

विदूषकः—सिविणसमाअमआरिणिं णिद्दं सेवदु भवं। अहवा तत्तभोदीए उव्वसीए पडिकिदि चित्तफलए आलिहिअ ओलोअंतो चिट्ठदु। [स्वप्नसमागमकारिणीं निद्रां सेवतां भवान्। अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृति चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।]

चित्रलेखा—ठीक कहती हो! तो आओ, चलें उनके पास।

उर्वशी—नहीं नहीं, मैं अभी उनके पास नहीं जाऊँगी। मैं तो मायाकी ओढ़नीमें छिपी हुई इनके पास खड़ी होकर सुनती हूँ कि ये अपने पास बैठे हुए मित्रसे अकेलेमें क्या बातें कर रहे हैं।

चित्रलेखा—जो तुम ठीक समझो।

(दोनों वैसा ही करती हैं।)

विदूषक—सुनिए! अपनी जिस प्यारीका मिलन आप कठिन समझे बैठे हैं, उससे मिलनेका मैंने बढ़िया उपाय सोच निकाला है।

(राजा चुप रह जाते हैं।)

उर्वशी—(डाहसे) ऐसी और कौन-सी बड़भागी सुन्दरी निकल आई, जो इनकी चहेती बनकर अपना भाग सराहती होगी।

चित्रलेखा—तुम फिर क्या मानुषी स्त्रियों-जैसी बातें करने लगी हो?

उर्वशी—सखी! मैं अपनी दैवी शक्तिसे सब बातें एक साथ जान लेनेमें थोड़ा डरती हूँ।

विदूषक—अरे सुनिए! मैं कह रहा हूँ कि मैंने उपाय सोच निकाला है।

राजा—तो फिर बताओ न!

विदूषक—या तो आप ऐसी गहरी नींदमें जाकर सो रहिए कि सपनेमें उससे भेंट हो जाय या फिर चित्र-फलकपर ही उर्वशीका चित्र बनाकर उन्हें एकटक बैठे निहारा कीजिए।

उर्वशी—(सहर्षमात्मगतम्) **हीणसत्त हिअअ। समस्सस समस्सस।** [हीनसत्व हृदय समाश्वसिहि समाश्वसिहि।]

राजा—**उभयमप्यनुपपन्नम्। पश्य।**

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति॥ १०॥

चित्रलेखा—**सुदं तुए वअणं।** [श्रुतं त्वया वचनम्।]

उर्वशी—**सहि सुदं। ण उण पज्जत्तं हिअअस्स।** [सखि श्रुतं। न पुनः पर्याप्तं हृदयस्य।]

विदूषकः—**एत्तिओ एव्व मे मइविहओ।** [एतावानेव मे मतिविभवः।]

राजा—(निःश्वस्य)

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम्।
अलब्धफलनीरसं मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथं भवतु पञ्चबाणः कृती॥ ११॥

चित्रलेखा—**सहि! सुदं तुए।** [सखि! श्रुतं त्वया।]

उर्वशी—**हद्धी हद्धी। मं एव्वं अवगच्छदि।** (सखीमवलोक्य) **सहि! असमत्थम्हि अग्गदो भविअ से पडिवअणस्स। ता पहावणिम्मिदेण भुज्जवत्तेण संपादिदउत्तरा होदु इच्छामि।** [हा धिक् हा धिक्। मामेवमवगच्छति। सखि! असमर्थास्म्यग्रतो भूत्वास्य

उर्वशी—(हर्षसे मन ही मन) अरे पापी हृदय! धीरज धर, धीरज धर।

राजा—दोनों ही बातें नहीं हो सकतीं। देखो! कामदेव तो दिन-रात मेरे हृदयको अपने बाणोंसे बेधता रहता है। इसलिये ऐसी नींद भला मुझे कहाँ आ पावेगी कि प्यारीसे भेंट हो जाय, और फिर चित्र भी नहीं बन पा सकता क्योंकि बीचमें आँखें डबडबा आनेसे वह भी अधूरा ही रह जायगा॥ १०॥

चित्रलेखा—अब तो तुमने सब सुन लिया न!

उर्वशी—हाँ सखी, सुन तो लिया, पर अभीतक मेरे जीको पूरा-पूरा भरोसा नहीं हो पा रहा है।

विदूषक—मेरी बुद्धिकी पहुँच तो यहीं तक थी।

राजा—(लम्बी साँस लेकर) मैं समझता हूँ कि या तो वह मेरे मनकी इस बेकलीको जानती ही न होगी या फिर उसे अपने अप्सरा होनेका ऐसा घमंड है कि वह जान-बूझकर मेरे प्रेमको ठुकराए दे रही है। जान पड़ता है मेरे मनमें उस सुन्दरीसे मिलनेकी जो चाह है, उसे चूरचूर कर देने और मेरे जीवनको बेकाम बना देनेपर ही कामदेवका जी भरेगा॥ ११॥

चित्रलेखा—तुमने सुना सखी!

उर्वशी—हाय, हाय! ये मुझे ऐसा नीच समझे ले रहे हैं। (सखीको देखकर) सखी! इनके आगे पहुँचकर तो मुझसे उत्तर देते बनेगा नहीं, इसलिये मैं अपनी दैवी शक्तिसे एक भोज-

प्रतिवचनस्य । तत्प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण संपादितोत्तरां भवितुमिच्छामि ।]

चित्रलेखा—**हला ! अणुमदं मे ।** [हला ! अनुमतं मे ।]

(उर्वशी नाटचेन ससंभ्रममभिलिख्यान्तरा क्षिपति ।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा ससंभ्रमम्) **अविहा अविहा । भो ! किं णु क्खु एदं भुअंगणिम्मोअं मं खादिदुं णिवडिदो ।** [अविधा अविधा । भोः किंनु खलु एतत् भुगङ्गनिर्मोकः किं मां खादितुं निपतितः ।]

राजा—(विभाव्य विहस्य च ।) **वयस्य ! नायं भुजङ्गनिर्मोकः भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः ।**

विदूषकः—**णं अदिट्ठाए उव्वसीए भवदो परिदेविदं सुणिअ समाणाणुराअसूअआइँ अक्खराइँ विसज्जिआइँ होन्ति ।** [ननु अदृष्टयोर्वश्या भवतः परिदेवितं श्रुत्वा समानानुरागसूचकान्यक्षराणि विसृष्टानि स्युः ।]

राजा—**नास्त्यगतिर्मनोरथानाम् ।** (गृहीत्वानुवाच्य च सहर्षम्) **सखे ! प्रसन्नस्ते तर्कः ।**

विदूषकः—**ही ही भो ! किं बह्मणवअणाणि अण्णधा होन्ति । दाणि पसीददु भवं । जं एत्थ लिहिदं तं सुणिदुं इच्छामि ।** [ही ही भोः । किं ब्राह्मणवचनान्यन्यथा भवन्ति । तदिदानीं प्रसीदतु भवान् । यदत्र लिखितं तच्छ्रोतुमिच्छामि ।]

उर्वशी—**साहु । अज्ज णाअरिओसि ।** [साधु । आर्य नागरिकोऽसि ।]

राजा—**वयस्य ! श्रूयताम् ।**

विदूषकः—**अवहिदो म्हि ।** [अवहितोऽस्मि ।]

पत्र उत्पन्न करके उसीपर उत्तर लिख देना चाहती हूँ ।

चित्रलेखा—हाँ सखी ! मैं भी यही ठीक समझती हूँ ।

(उर्वशी बड़े हाव-भावसे भोजपत्रपर लिखनेका नाटच करती है
और उसे फिर राजाके आगे फेंक देती है ।)

विदूषक—(देखकर घबराता हुआ) हाय ! मुझे निगलनेके लिये यह साँपकी केंचुली कहाँसे आ टपकी ?

राजा—(देखकर और हँसकर) मित्र ! यह साँपकी केंचुली नहीं है, यह तो लिखा हुआ भोजपत्र है ।

विदूषक—मैं समझता हूँ कि उर्वशीने ही छिपे-छिपे तुम्हारा रोना-धोना सुनकर अपना प्रेम जतानेके लिये यह पत्र लिखकर यहाँ डाल दिया होगा ।

राजा—मनकी दौड़ भी कितनी दूरतक पहुँचती है । (पत्रको उठाकर और पढ़कर) हाँ मित्र ! बात तो तुम्हारी ही ठीक निकली ।

विदूषक—हः हः ! ब्राह्मणकी बात भी क्या कभी झूठी होती है ? अब आप खिल उठिए । अच्छा, मैं भी तो सुनूँ, इसमें क्या लिखा है ।

उर्वशी—धन्य है, तुम सचमुच बड़े अच्छे नागरिक हो ।

राजा—सुनो मित्र !

विदूषक—हाँ, सुन रहा हूँ ।

राजा—श्रूयताम् । (वाचयति)

सामिअ संभाविआ जह अहं तुए अमुणिआ
तह अणुरत्तस्स जइ णाम तुह उवरि ।
किं मे ललिअपारिजाअसणिज्जयम्मि होन्ति
णंदणवणवादा वि अच्चुण्हआ सरीरए ॥ १२ ॥

[स्वामिन्संभाविता यथाहं त्वयाऽज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि ।
किं मे ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाता अप्यत्युष्णकाः शरीरके ।]

उर्वशी—किं णु क्खु संपदं भणिस्सदि । [किं नु खलु साम्प्रतं भणिष्यति ।]

चित्रलेखा—णं भणिदं एव्व मिलाणकमलणालाअमाणेहिं अंगेहिं । [ननु भणितमेव म्लानकमलनालायमानैरङ्गैः ।]

विदूषकः—दिट्ठिआ मए बुभुक्खिदेण सोत्थिवाअणं विअ उवलद्धं भवदा उक्कंठिदेण समासासणं । [दिष्टचा मया बुभुक्षितेन स्वस्तिवायनमिवोपलब्धं भवतोत्कण्ठितेन समाश्वासनम् ।]

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते ।

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः ।
उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायाः तस्याः समागतमिवाननमाननेत ॥ १३ ॥

उर्वशी—एत्थ णो समविभाआ पीदी । [अत्रावयोः समविभागा प्रीतिः ।]

राजा—सुनो ! (बाँचता है ।)

स्वामि ! आप क्या जानें मन यह रोता कैसी साँसत सहते ।
इतना प्रेम बढ़ाया फिर भी मान रहे क्यों जैसा कहते ॥
मुझे बताओ पारिजातकी कोमल शय्यापर जब सोती ।
नन्दनवनकी शीत बयारें अनल-सदृश क्यों दाहक होती ॥

[महाराज ! आप मेरे मनकी बात क्या जानें । यदि आप मुझसे इतना प्रेम करनेपर भी मुझे वैसी ही समझते हैं जैसी आप अभी बता रहे थे, तब यह तो बताइए कि जब मैं कोमल पारिजातके फूलोंकी सेजपर जाकर लेटती हूँ तब नन्दनवनका शीतल पवन मेरे शरीरको जलाने क्यों लगता है ॥ १२]

उर्वशी—देखें, इसपर ये क्या कहते हैं !

चित्रलेखा—उनके मुरझाए हुए कमल-नालके समान अंगोंने ही सब कुछ कह डाला है ।

विदूषक—यह बड़े भाग्यकी बात है कि आपकी बेकली मिटानेको वैसा ही सहारा मिल गया जैसे भूख लगनेपर मुझे कहीं न कहींसे भोग लगाया हुआ बायना मिल जाता है ।

राजा—इसे केवल सहारा बताते हो ? मैं तो जब उस मद-भरे नयनोंवालीके मनकी बातें, इन सुन्दर अर्थोंसे भरे हुए और उनके मनमें भी मेरे मनके ही जैसा प्रेम जतलानेवाले प्रेम-पत्रको पढ़ता हूँ तब मुझे ऐसा लगता है मानो हम दोनों आमने-सामने खड़े होकर एक दूसरेसे बातें कर रहे हों ॥ १३ ॥

उर्वशी—हम दोनोंका प्रेम अब जाकर बराबर-बराबर बैठा है ।

राजा—वयस्य ! अंगुलिस्वेदेन दूष्येरन्नक्षराणि धार्यतामयं मम प्रियायाः स्वहस्तः ।

विदूषकः—(गृहीत्वा) किं दाणिं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरहाणं कुसुमं दंसिअ फले विसंवददि । [किमिदानीं तत्रभवत्युर्वशी भवतो मनोरथानां कुसुमं दर्शयित्वा फले विसंवदति ।]

उर्वशी - सहि ! जाव उवगमणकादरं हिअअं पज्जवत्थावेमि दाव तुमं से अत्ताणं दंसिअ जं मे खमं तं भणाहि । [सखि ! यावदुपगमनकातरं हृदयं पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्यात्मानं दर्शयित्वा यन्मम क्षमं तद्भण ।]

चित्रलेखा—तह । [तथा] (तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपेत्य) जेदु जेदु महाराओ । [जयतु जयतु महाराजः ।]

राजा—(दृष्ट्वा सहर्षं) स्वागतं भवत्यै । (पार्श्वमवलोक्य) भद्रे !

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिता तया ।
सङ्गमे दृष्टपूर्वेव यमुना गङ्गया विना ॥ १४ ॥

चित्रलेखा—णं पढमं मेहराई दीसदि पच्छा विज्जुलदा । [ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता ।]

विदूषकः—(अपवार्य) कहं ण एसा उव्वसी । ताए तत्तहोदीए अहिमदा सहअरी । [कथं नैषोर्वशी । तस्यास्तत्रभवत्या अभिमता सहचरी ।]

राजा—एतदासनमास्यताम् ।

चित्रलेखा—उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि । [उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति ।]

राजा—मित्र ! मेरी प्रियाकी यह प्रेम-पाती तुम्हीं लिए रहो, कहीं मेरी उँगलियोंके पसीनेसे इसके अक्षर मिट न जायँ ।

विदूषक—(पत्र लेकर) जिन उर्वशीने यह पत्र भेजकर आपके मनोरथोंमें फूल लगा दिए हैं, वे क्या आपकी समझमें फल देनेमें अलसेट करेंगी ?

उर्वशी—सखी ! अभी तो मेरा हृदय उनके पास जानेमें बड़ा झिझक रहा है । इसलिये जबतक मैं अपना जी सँभालूँ तबतक तुम इनके पास जाकर मेरी ओरसे जो कुछ कहना ठीक समझो, कह डालो ।

चित्रलेखा—अच्छा । (मायाकी ओढ़नी हटाकर और राजाके पास पहुँचकर ।) महाराजकी जय हो ।

राजा—(देखकर प्रसन्नतासे) आइए आइए ! स्वागत है आपका । (इधर-उधर देखकर) क्यों भद्रे ! जैसे प्रयागका संगम देखनेवालेको गंगाके बिना अकेली यमुना नहीं भातीं वैसे ही अपनी सखीके बिना तुम भी मुझे नहीं भा रही हो ॥ १४ ॥

चित्रलेखा—पर महाराज ! पहले तो बदली दिखाई देती है न, बिजली पीछे चमकती है ।

विदूषक—(अलग) अरे ! तो क्या ये उनकी प्यारी सखी हैं, उर्वशी नहीं हैं ।

राजा—आइए, इस आसनपर आ बैठिए ।

चित्रलेखा—उर्वशीने महाराजको सिर नवाकर प्रणाम करते हुए कहलाया है—

राजा—**किमाज्ञापयति।**

चित्रलेखा—**तस्सि सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि। सा अहं संपदं तुह दंसणसमुत्थेण मअणेण बलिअं बाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणुकंपणीअत्ति।** [तस्मिन्सुरारिसम्भवे दुर्जाते महाराज एव मम शरणमासीत्। साहं साम्प्रतं तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलवद्बाध्यमाना भूयोऽपि महाराजस्यानुकम्पनीया भवामि इति।]

राजा—**अयि भद्रमुखि !**

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां तां
आर्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—(उर्वशीमुपेत्य) **सहि ! एहि। तुवत्तोवि णिद्दअदरं मअणं पेक्खिअ पिअअमस्स दे दूदिम्हि संवुत्ता।** [सखि ! एहि। त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता।]

उर्वशी—(तिरस्करिणीमपनीय) **अम्महे ! लहुअं तुए अणवेक्खिदं उज्झिदम्हि।** [अहो ! लघु त्वयानवेक्षितमुज्झितास्मि।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) **सहि ! इदो मुहुत्तादो जाणिस्सं का कं उज्झिस्सदि। आआरं दाव पडिवज्ज** [सखि ! इतो मुहूर्तादेव ज्ञास्यामि का कामुज्झिष्यतीति। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व।]

उर्वशी—(ससाध्वसं राजानमुपेत्य प्रणम्य च सव्रीडम्) **जेदु जेदु महाराओ।** [जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—हाँ, क्या आज्ञा दी है ?

चित्रलेखा—यही कि उस बार जब दैत्य मुझे पकड़ ले गए थे तब महाराजने ही मेरी रक्षा की थी। अब आपको देख लेनेपर मेरे मनमें प्रेमकी बड़ी पीडा उठ खड़ी हुई है, इसलिये चाहती हूँ कि इस बार भी मुझपर आपकी कृपा हो जाय।

राजा—अरी सुन्दरी ! अपनी सखीको तो तुम इतना प्रेममें व्याकुल बता रही हो, पर यह नहीं देख रही हो कि यह पुरूरवा भी उसके प्रेममें पागल हुआ बैठा है। हम दोनोंका प्रेम, दोनों ओर एक जैसा ही बढ़ा हुआ है, इसलिये अब तो एक तपे हुए लोहेको दूसरे तपे हुए लोहेसे जोड़ देना ही ठीक होगा ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—(उर्वशीके पास जाकर) आओ आओ, सखी ! कामदेवने तुमसे भी अधिक इनको सता मारा है। इसलिये अब मैं तुम्हारे प्रियतमकी दूती बनकर ही तुम्हारे पास आई हूँ।

उर्वशी—(मायाकी ओढ़नी हटाकर) वाह ! क्या झटसे तू मुझे छोड़कर उधर जा पहुँची ?

चित्रलेखा—(मुसकराकर) सखी, अभी थोड़ी ही देरमें देखती हूँ न, कि कौन किसे छोड़कर जाती है। अच्छा, पहले महाराजको प्रणाम तो कर लो।

उर्वशी—(हड़बड़ीमें राजाके पास पहुँचकर लजाती हुई प्रणाम करके।) महाराजकी जय हो।

राजा—(सहर्षम्) सुन्दरि !

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते ।
जयशब्दः सहस्राक्षादगतः पुरुषान्तरम् ॥१६॥

(हस्ते गृहीत्वैनामुपवेशयति ।)

विदूषक—**भोदि ! रण्णो पिअवअस्सो बम्हणो किं ण वन्दीअदि ।** [भवति ! राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते ।]

(उर्वशी सस्मितं प्रणमति ।)

विदूषकः—**सत्थि भोदीए ।** [स्वस्ति भवत्यै ।]

(नेपथ्ये देवदूतः) **चित्रलेखे ! त्वरय त्वरयोर्वशीम् ।**

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥१७॥

(सर्वे कर्णं ददति । उर्वशी विषादं रूपयति ।)

चित्रलेखा—**सुदं पिअसहीए देवदूदस्स वअणं । ता अणुमाणीअदु महाराओ ।** [श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम् । तदनुमान्यतां महाराजः ।]

उर्वशी—**णत्थि मे वाआ ।** [नास्ति मे वाचा ।]

चित्रलेखा—**महाराज ! उव्वसी विण्णवेदि- परवसो अअं जणो । ता महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि देवेसु अणवरुद्धं अत्ताणअं कादुं त्ति ।** (महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति- परवशोऽयं जनः । तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवेष्वनपराद्धमात्मानं कर्तुम् इति ।]

राजा—(प्रसन्न होकर) सुन्दरी ! जो 'जय' शब्द तुमने सहस्र आँखवाले इन्द्रको छोड़कर आजतक किसी दूसरे पुरुषके लिये नहीं कहा था, वह आज तुमने मेरे लिये कह दिया, इसलिये आज सचमुच मुझे जय मिल गई ॥ १६ ॥

(दोनों हाथ पकड़कर बैठाते हैं ।)

विदूषक—देवीजी ! क्या महाराजके प्रिय मित्र ब्राह्मणको आप प्रणाम नहीं कीजिएगा ?

(उर्वशी मुसकराती हुई प्रणाम करती है ।)

विदूषक—आपका कल्याण हो ।

(नेपथ्यमें देवदूत कहता है ।) चित्रलेखा ! उर्वशीको झटपट लेती आओ । भरत मुनिने तुम लोगोंको, जो आठों रसोंसे भरा हुआ नाटक सिखा रक्खा है उसीका सुन्दर अभिनय, भगवान् इन्द्र और लोकपाल देखना चाहते हैं ॥ १७ ॥

(सब सुनते हैं । उर्वशी दुखी होनेका नाट्य करती है ।)

चित्रलेखा—प्यारी सखी ! तुमने देवदूतके वचन सुने ? तो अब महाराजसे बिदा ले लो ।

उर्वशी—मुझसे तो बोला नहीं जा रहा है ।

चित्रलेखा—महाराज ! उर्वशी प्रार्थना करती है कि मैं तो पराधीन हूँ, इसलिये महाराजकी आज्ञा हो तो चली जाऊँ और देवताओंका अपराध करनेसे बच जाऊँ ।

राजा -(कथं कथमपि वाचं व्यवस्थाप्य ।) **नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी । स्मर्तव्यस्त्वयं जनः ।** (उर्वशी वियोगदुःखं रूपयित्वा राजानं पश्यन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता ।)

राजा—(निःश्वस्य) **सखे ! वैयर्थ्यमिव मे चक्षुषोः संप्रति ।**

विदूषकः—(पत्रं दर्शयितुं कामः) **णं एद ।** (इति अर्धोक्ते सविषादमात्मगतम् ।) ………**हद्धी हद्धी उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जवत्तअं पब्भट्टं वि हत्थादो पमादेण ण विण्णादं ।** [ननु एतत्……हा धिक् हा धिक् उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्भूर्जपत्रकं प्रभ्रष्टमपि हस्तात्प्रमादेन न विज्ञातम् ।]

राजा—**भद्र ! किमसि वक्तुकाम इव ।**

विदूषकः—**एव्वं वत्तुकामोम्हि—मा भवं अंगाइँ मुंचदु । दिढं क्खु तुइ बद्धभावा उव्वसी ण सा इदोगदं अणुराअं सिढिलेदि त्ति ।** [एव वक्तुकामोऽस्मि—मा भवानङ्गानि मुञ्चतु । दृढं खलु त्वयि बद्धभावा उर्वशी न सा इतोगतमनुरागं शिथिलयति इति ।]

राजा—**ममाप्येतदाशंसि मनः । तया खलु प्रस्थाने ।**

अनीशया शरीरस्य स्ववशं हृदयं मयि ।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥ १८॥

विदूषकः—(स्वगतम्) **वेवदि मे हिअअं इमं वेलं अत्तभवदा तस्स भुज्जवत्तस्स णाम गेण्हिदव्वं त्ति ।** [वेपते मे हृदयमिमां वेलामत्रभवता तस्य भूर्जपत्रस्य नाम ग्रहीतव्यमिति ।]

राजा—**वयस्य ! केनेदानीं दृष्टिं विलोभयामि ।** (स्मृत्वा) **आः उपनयतु भवान्भूर्जपत्रम ।**

राजा—(बड़ी कठिनाईसे बोलते हुए ।) मैं आपके स्वामीकी आज्ञाका भला कैसे विरोध कर सकता हूँ । पर मुझे भूलिएगा मत ।

(उर्वशी वियोगका भाव प्रकट करती हुई और राजाकी ओर देखती हुई सखीके साथ चली जाती है ।)

राजा—(लम्बी साँस लेकर) मित्र ! अब तो मेरी आँखोंका होना न होना बराबर हुआ जा रहा है ।

विदूषक—(पत्र दिखानेकी इच्छासे) पर यह …… (इतना ही कहकर रुक जाता है । दुःखके साथ मन ही मन) हाय हाय ! उस उर्वशीको देखनेमें मैं ऐसा बेसुध हो गया कि मुझे यह भी ध्यान न रहा कि मेरे हाथसे भोजपत्र कब निकल गिरा ।

राजा—क्या कह रहे थे मित्र ?

विदूषक—मैं यही कह रहा था कि आप निराश न हों, क्योंकि उर्वशी आपसे इतना गहरा प्रेम करती है कि अब उसके प्रेममें दिलाई आ नहीं सकती ।

राजा—मेरा मन भी यही कहता है । अपने शरीरपर तो उसका वश था ही नहीं इसलिये अपने जिस हृदयपर उसका अधिकार था उसे तो चलते समय वह अपनी उन उसाँसोंके साथ मुझे सौंप गई जो उसके स्तनोंके काँपनेसे भली प्रकार प्रकट हो रही थीं ॥ १८ ॥

विदूषक—(मन ही मन) मुझे यही डर हो रहा है कि महाराज कहीं भोजपत्र न माँग बैठें ।

राजा—मित्र ! बताओ अब मैं अपनी आँखें कैसे ठंढी करूँ । (स्मरण करके) अरे हाँ ! वह भोजपत्र तो लाओ ।

विदूषकः—(सर्वतो दृष्ट्वा विषादं नाटयति) हंत, ण दिस्सदि। भो दिव्वं क्खु तं भुज्जवत्तं गदं उव्वसीए मग्गेण। [हन्त, न दृश्यते। भोः दिव्यं खलु तद्भूर्जपत्रं गतमुर्वश्या मार्गेण।]

राजा—(सासूयम्) अहो, सर्वत्र प्रमादी वैधेयः। ननु विचिनोतु भवान्।

विदूषकः—(उत्थाय) ण इदो भवे। इह वा भवे। इह वा भवे। [ननु इतो भवेत्। इह वा भवेत्। इह वा भवेत्] (इति विचेतव्यं नाटयति)

(ततः प्रविशति सपरिवारा काशिराजपुत्री देवी चेटी च)

देवी—हंजे णिउणिए! सच्चं तुए भणिदं इमं लदागेहं पविसंतो अज्जमाणवअसहाओ अज्जउत्तो दिट्ठो त्ति। [हञ्जे निपुणिके! सत्यं त्वया भणितमिदं लतागेहं प्रविशन्नार्यमाणवकसहाय आर्यपुत्रो दृष्ट इति।]

निपुणिका—किं अण्णहा भट्टिणी मए कदावि विण्णविदपुव्वा। [किमन्यथा भट्टिनी मया कदापि विज्ञापितपूर्वा।]

देवी—तेण हि लदाविडवंतरिदा सुणिस्सं दाव से विस्सद्धा मंत्तिदाणि जं तुए कहिदं तं सच्चं ण वेदि। [तेन हि लताविटपान्तरिता श्रोष्यामि तावदस्य विश्रब्धा मन्त्रितानि यत्त्वया कथितं तत्सत्यं न वेति।]

निपुणिका—जं भट्टिणीए रुच्चदि। [यद्भट्टिन्यै रोचते।]

देवी—[परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च] हंजे णिउणिए! किं णु क्खु एदं जिण्णचीवरं विअ इदोमुहं दक्खिणमारुदेण आणीअदि। [हञ्जे निपुणिके! किं नु खल्वेतज्जीर्णचीवरमिवेतोमुखं दक्षिणमारुतेनानीयते।]

निपुणिका—(विभाव्य) भट्टिणी! पडिवत्तणविभाविदक्खरं भुज्जवत्तं क्खु एदं। हंत

विदूषकः—(चारों ओर ढूंढता हुआ, दुखी होनेका नाटच करता है हाय, हाय! वह तो कहीं मिलता ही नहीं। मित्र! वह भोजपत्र तो स्वर्गका था न, इसलिये वह भी उर्वशीके साथ ही उड़ गया होगा।

राजा—(क्रोधसे) मूर्ख! तुम सदा ऐसे ही बेसुध रहा करते हो। जाओ, ढूंढो उसे।

विदूषक—(उठकर) बस-बस यहां होगा, या यहां होगा, या यहां होगा। (इस प्रकार खोजनेका नाटच करता है।)

(इसी बीच काशी-नरेशकी पुत्री महारानी अपनी दासियोंके साथ आती हैं।)

देवी—सखी निपुणिका! तूने सच कहा था कि आर्य माणवकके साथ आर्यपुत्र लतामंडपमें गए हैं।

निपुणिका—मैंने क्या आजतक कभी आपसे झूठ बोला है?

देवी—अच्छा तो मैं इन लता-वृक्षोंकी ओटमें खड़ी होकर इनकी गुप-चुप बातें सुनकर देखती हूँ कि तूने जो कुछ कहा है वह सच है या नहीं।

निपुणिका—जैसा भट्टिनी ठीक समझें।

देवी—(घूमकर सामने देखकर) सखी निपुणिका! देखो तो यह दक्खिनी पवनके साथ फटे कपड़े, जैसा क्या इधरको उड़ा चला आ रहा है।

निपुणिका—(देखकर) भट्टिनी! यह तो भोजपत्र है और उलटा-पलटा उड़ा आता हुआ

भट्टिणीए एव्व णेउरकोडीए लग्गं । (गृहीत्वा) णं वाईअंदु एदम् । [भट्टिनि ! परिवर्त्तन-विभाविताक्षरं भूर्जपत्रं खल्वेतत् । हन्त, भट्टिन्या एव नूपुरकोटचा लग्नम् । ननु वाच्यतामेतत् ।]

देवी—अणुवाएहि दाव एदं । जदि अविरुद्धं तदो सुणिस्सं । [अनुवाचय तावदेतत् । यद्यविरुद्धं ततः श्रोष्यामि ।]

निपुणिका—(तथा कृत्वा) भट्टिणी ! तं एव्व कोलीणं विअ पडिहादि । भट्टारअं उद्दिसिअ उव्वसीए कव्वबंधो त्ति तक्केमि । अज्जमाणवअप्पमादेण अ अम्हाणं हत्थं आगदो त्ति । [भट्टिनि ! तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति । भट्टारकमुद्दिश्योर्वश्याः काव्यबन्ध इति तर्कयामि । आर्यमाणवकप्रमादेन चावयोर्हस्तमागत इति ।]

देवी—तेण हि से गहीदत्था होमि । [तेन ह्यस्य गृहीतार्था भवामि ।]

(निपुणिका वाचयति)

देवी—(श्रुत्वा) एत्थ इमिणा एव्व उवाअणेण दं अच्छराकामुअं पेक्खामि । (अत्रानेनैवोपायनेन तमप्सरः कामुकं प्रेक्षे ।]

निपुणिका— तह ! [तथा ।]

(इति परिजनसहिते लतागृहं परिक्रामतः ।)

विदूषकः—(विलोक्य) भो वअस्स ! किं एदं पवणवसगामि पमदवणसमीवगदकीलापव्वदपज्जं ते दीसदि । [भो वस्य ! किमेतत्पवनवशगामि प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते ।]

राजा—(उत्थाय) भगवन्वसन्त-प्रिय दक्षिणवायो !

वासार्थं हर संभृतं सुरभिणा पौष्पं रजो वीरुधां
किं कार्यं भवतो हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे ।
जानीते हि मनोविनोदनशतैरेवंविधैर्धारितं
कामार्तं जनमज्जनां प्रति भवानालक्षितप्रार्थनः ॥ १९ ॥

ऐसा लगता है कि इसपर कुछ लिखा हुआ हो । लीजिए, यह तो भट्टिनीके बिछुएमें ही आ अटका । (उठाकर) लीजिए बाँचिए तो ।

देवी—तुम्हीं बाँच लो । यदि कोई मेरे मनकी बात हो तो सुना देना ।

निपुणिका—(बाँचकर) यह तो वही प्रेमवाली बात जान पड़ती है, जिसका चारों ओर इतना हल्ला हो रहा है । मैं समझती हूँ कि उर्वशीने स्वामीको यह कविता लिखकर भेजी होगी और आर्य माणवककी असावधानीसे यह हम लोगोंके हाथ आ लगी है ।

देवी—अच्छा पढ़ो तो इसमें क्या लिखा है ?

(निपुणिका बाँचती है ।)

देवी—(सुनकर) तो चलो यही भेंट लेकर हम उस अप्सराके प्रेमीसे चलकर जा मिलें ।

निपुणिका—चलिए ।

(दासियोंके साथ लता-मण्डपकी ओर घूम जाती हैं ।)

विदूषक—(देखकर) क्यों मित्र ! यह प्रमदवनके पासवाले क्रीडा पर्वतपर पवनके झोंकेमें हिलता-सा क्या दिखाई दे रहा है ?

राजा—(उठकर) वसन्तके प्यारे मित्र दक्षिण पवन ! तुम्हें अपना शरीर सुगन्धित करना हो तो तुम लताओंपर खिले हुए और वसन्तके हाथोंसे इकट्ठे किए हुए फूलोंका पराग उठाकर

निपुणिका—भट्टिणि ! पेक्ख पेक्ख । एदस्स एव्व अण्णेसणा वट्टदि । [भट्टिनी ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एतस्यैवान्वेषणा वर्तते ।]

देवी—णं पेक्खामि दाव तुण्हि चिट्ठ । [ननु पश्यामि तावत् । तूष्णीं तिष्ठ ।]

विदूषकः—(सविषादम्) हद्धी हद्धी भो मिलाअमाणकेसरच्छविणा मोरपिच्छेण विप्पलद्धो म्हि । [हा धिक् हा धिक् भोः म्लायमानकेशरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलब्धोऽस्मि ।]

राजा—सर्वथा हतोऽस्मि ।

देवी—(सहसोपसृत्य ।) अज्जउत्त अलं आवेएण । एदं तं भुज्जवत्तं । [आर्यपुत्र ! अलमावेगेन । एतत्तद्भूर्जपत्रम्]

राजा—(ससंभ्रमम्) अये देवी ! स्वागतं देव्यै ।

विदूषकः—(अपवार्य) दुरागदं दाणिं संवुत्तं । [दुरागतमिदानीं संवृत्तम्]

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ! किमत्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषकः—(अपवार्य) लोत्थेण गहीदस्स कुंभीलअस्स अत्थि वा पडिवअणं । [लोत्रेण गृहीतस्य कुंभीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम् ।]

राजा—(जनान्तिकम्) मूढ ! नायं परिहासकालः । (प्रकाशम्) देवि ! नेदं मया मृग्यते । अयं खलु परान्वेषणार्थमारम्भः ।

देवी—जुज्जदि अत्तणो सोहग्गं पच्छादेदुं । [युज्यते आत्मनः सौभाग्यं प्रच्छादयितुम् ।]

विदूषकः—भोदि ! तुवरेहि से भोअणं जं पित्तोवसमणसमत्थं होदि । [भवति ! त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनसमर्थं भवति ।]

क्यों नहीं ले जाते । मेरी प्यारीके हाथका लिखा हुआ पत्र भला तुम्हारे किस काम आवेगा ? तुम तो स्वयं अञ्जनासे प्रेम कर चुके हो इसलिये जानते ही होगे कि ऐसी मन बहलानेवाली वस्तुओंको देखकर ही तो प्रेमी लोग जिया करते हैं ॥ १९ ॥

निपुणिका— देखिए देखिए, भट्टिनी ! ये लोग इसी पत्रको खोज रहे हैं ।

देवी—चुप चुप ! देखें तो सही, ये क्या-क्या करते हैं ।

विदूषक—(दुःखके साथ) हाय, हाय ! इस मोर-पंखको देखकर मुझे मुरझाए हुए केशरके फूलका धोखा हो गया, क्योंकि दोनों एक जैसे ही लगते थे ।

राजा—मैं तो सब प्रकार लुट गया ।

देवी—(एकाएक आगे बढ़कर) घबराइए मत आर्यपुत्र ! यह रहा वह भोजपत्र ।

राजा—(घबराकर) अरे आप हैं देवी ? आइए, आइए ! भली आ गईं आप ।

विदूषक—(अलग) भली क्या, बड़ी बुरी आईं इस समय ।

राजा—(अलग) क्यों मित्र ! अब क्या होगा ?

विदूषक—(अलग) चोरीके मालके साथ पकड़ा हुआ चोर अब कह ही क्या सकता है ।

राजा—(अलग) अरे मूर्ख ! यह हँसीका समय नहीं है । (प्रकट) मैं इसे नहीं खोज रहा था देवी ! मैं तो कुछ और ही खोजनेमें लगा हुआ था ।

देवी —हाँ हाँ, आपको तो अपने सौभाग्यकी बात छिपानी ही चाहिए ।

विदूषक —देवी ! जाकर महाराजके भोजनका प्रबन्ध कीजिए जिससे इनका पित्त तो शांत हो ।

देवी--णिउणिए ! सोहणं क्खु बम्हणेण आसासिदो वअस्सो । [निपुणिके ! शोभनं खलु ब्राह्मणेनाश्वसितो वयस्यः ।]

विदूषकः--भोदि ! णं पेक्ख आसासिदो पिसाचोवि भोअणेण । [भवति ! ननु पश्य आश्वासितः पिशाचोऽपि भोजनेन ।]

राजा--मूर्ख ! बलादपराधिनं मां प्रतिपादयसि ।

देवी--णत्थि क्खु भवदो अवराहो । अहं एव्व एत्थ अवरद्धा जा पडिऊलदंसणा भविअ अग्गदो दे चिट्ठामि । इदो अहं गमिस्सं । णिउणिए, एहि गच्छम्ह । [नास्ति खलु भवतोऽपराधः । अहमेवात्रापराद्धा या प्रतिकूलदर्शना भूत्वाग्रतस्ते तिष्ठामि । इतोऽहं गमिष्यामि । निपुणिके ! एहि गच्छामः ।] (इति कोपं नाटयित्वा प्रस्थिता ।)

राजा--(अपसृत्य ।)

अपराधी नामाहं प्रसीद रंभोरु विरम संरम्भात् ।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥ २० ॥

(इति पादयोः पतति ।)

देवी--(स्वगतम्) मा क्खु लहुहिअआ अहं अणुणअं बहु मण्णे । किं दु अदक्खिण्णकिदस्स पच्छादावस्स भाएमि । [मा खलु लघुहृदयाहमनुनयं बहु मन्ये । किन्त्वदाक्षिण्यकृतात्पश्चात्तापाद्बिभेमि ।]

(इति राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रांता)

विदूषकः--पाउसणदी विअ अप्पसण्णा गदा देवी । ता उट्ठेहि उट्ठेहि । [प्रावृण्नदीवाप्रसन्ना गता देवी । तदुत्तिष्ठ उत्तिष्ठ ।]

देवी--निपुणिका ! इस ब्राह्मणने अपने मित्रको अच्छा बचा लिया ।

विदूषक--देखिए, देवी ! भोजन देकर तो भूत-पिशाच-तक शान्त कर दिए जाते हैं ।

राजा--क्यों रे मूर्ख ! तू बिना बातके ही मुझे अपराधी बनानेपर तुला हुआ है ?

देवी--यह आपका नहीं मेरा ही अपराध है कि मैं ऐसे बेढंगे समयमें आपके काममें बाधा डालने आ पहुँची । लीजिए, मैं चली जाती हूँ । चलो निपुणिका, चली चलें ।

(क्रोधका नाटच करके चली जाती है ।)

राजा--(पीछे-पीछे जाता हुआ) सुनिए तो देवी, मैं ही अपराधी हूँ । अरे मान जाओ सुन्दरी ! इतना मत बिगड़ो । जब स्वामिनीने क्रोध किया है तो इस सेवकने कुछ न कुछ अपराध अवश्य ही किया होगा ?

(पैरोंपर गिरते हैं ।)

देवी--(मन ही मन) मुझे ऐसी भोली-भाली न समझ बैठिएगा कि मैं आपकी इन चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आ जाऊँगी । पर मैं तो यही डरती हूं कि यदि मैं आपसे कुछ कड़ा बर्ताव कर भी बैठूंगी तो पीछे मुझे ही पछतावा होगा ।

(राजाको छोड़कर अपनी दासियोंके साथ चली जाती हैं ।)

विदूषक--वर्षाकी नदीके समान अप्रसन्न (गँदले, मैले) मनवाली देवी चली गईं । अब उठिए; उठ जाइए ।

राजा—(उत्थाय) वयस्य, नेदमनुपपन्नम् । पश्य

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते ।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ॥ २१ ॥

विदूषकः—अणुऊलं एव्व एत्थ भवदो एदं । ण क्खु अक्खिदुक्खिदो अहिमुहे दीवसिहं सहेदि । [अनुकूलमेवात्र भवत एतत् । न खल्वक्षिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते ।]

राजा—मा मैवम् ! उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः । किन्तु प्रणिपातलङ्घनादहमस्यां धैर्यमवलम्बयिष्ये ।

विदूषकः—भो ! चिट्ठदु दाव भवदो धीरदा । बुभुक्खिदस्स बम्हणस्स जीविदं अवलंबदु भवं । समओ क्खु ण्हाणभोअणं सेविदुं । [भो ! तिष्ठतु तावद्भवतो धीरतां । बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां भवान् । समयः खलु स्नानभोजनं सेवितुं ।]

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) गतमर्धं दिवसस्य । अतः खलु—

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः ।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्तौ ।)

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

राजा—(उठकर) मित्र ! इसमें उनका कोई दोष नहीं है । देखो,—यदि कोई पति ऊपरी मनसे केवल चिकनी-चुपड़ी बातें करके ही अपनी प्यारीको मनाने लगता है तो उसकी बातें स्त्रियोंके हृदयमें उसी प्रकार नहीं बैठतीं जैसे सच्चे पारखीको बनावटी रंगसे रँगा हुआ मणि नहीं जँचता ॥ २१ ॥

विदूषक—पर आप तो यह चाहते ही थे । जिसकी आखें आ गई हों उसे सामने रक्खे हुए दीयेकी लौ थोड़े ही भाती है ।

राजा—नहीं नहीं ! ऐसा न कहो । उर्वशीसे प्रेम करनेपर भी मैं इन देवीको पहले-जैसा ही प्यार करता हूँ पर मेरे इतने हाथ-पैर जोड़नेपर भी वे मुझे ठुकराकर चल दीं इसलिये अब मैं भी उनसे ऐंठा जाता हूँ ।

विदूषक—ऐंठिएगा पीछे । पहले इस भूखे ब्राह्मणके प्राण तो बचाइए । चलिए, स्नान-भोजनका समय हो गया ।

राजा—(ऊपर देखकर) अरे, यह तो आधा दिन चढ़ आया ! इसीलिये—यह मोर गर्मीसे घबराकर पेड़की जड़के ठंडे थाँवलेमें आ बैठा है, यह भौंरा कनैरकी कलीका मुँह खोलकर उसीमें जा छिपनेका ब्योंत कर रहा है, यह जल-कुक्कुट, तालका गरम पानी छोड़कर तटपर खिली हुई कमलिनीकी छायामें जा बैठा है और मनबहलाववाले भवनके पिंजड़ेमें पड़ा हुआ यह प्यासा सुग्गा भी पानीकी रट लगाए जा रहा है ॥ २२ ॥

(दोनों चले जाते हैं ।)

॥ दूसरा अंक समाप्त ॥

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो भरतशिष्यौ)

गालवः—**सखे पेलव ! महेन्द्रभवनं गच्छता भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितः । अग्निशरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम् । अतः खलु पृच्छामि— अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या परिषदाराधिता ।**

पेलवः—**गालव ! ण जाणे आराहिदा ण वत्ति । तस्सिं उण सरस्सईकिदकव्वबंधे लच्छीसअंवरे तेसु तेसु रसंतरेसु तम्मई आसि । किंतु—।** [गालव । न जाने आराधिता न वा इति । तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मयी आसीत् । किन्तु ~]

गालवः **सदोषावकाश इव ते वाक्यशेषः ।**

पेलवः—**आम्, तस्सिं उव्वसीए वअणं पमादक्खलिदं आसि ।** [आम्, तस्मिन्नुर्वश्या वचनं प्रमादस्खलितमासीत् ।

गालवः—**कथमिव ।**

पेलवः—**लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणाए मेणआए पुच्छिदा— सहि समागता एदे तेलोक्कसुपुरिसा सकेसवा अ लोअवाला । कदमस्सिं दे भावाहिणिवेसो त्ति ।** [लक्ष्मीभूमिकायां वर्त्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्त्तमानया मेनकया पृष्टा—सखि ! समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवाश्च लोकपालाः कतमस्मिंस्ते भावाभिनिवेश इति ।]

गालवः—**ततस्ततः ।**

तीसरा अङ्क

(भरत मुनिके दो शिष्य प्रवेश करते हैं ।)

गालव—मित्र पेलव ! इन्द्र-भवनको जाते समय गुरुजीने अपना आसन ले चलनेके लिये तुम्हें तो अपने साथ ले लिया था और मुझे यहाँ अग्निहोत्रका काम सौंप दिया था । इसीलिये मैं पूछता हूँ कि गुरुजीके नाटकसे देवताओंकी सभा प्रसन्न तो हुई न ?

पेलव—गालव ! यह तो मैं नहीं जानता कि देवसभा प्रसन्न हुई या नहीं, पर वहाँ जो लक्ष्मी-स्वयंवर नामका नाटक हुआ था और जिसके गीत स्वयं सरस्वतीने बनाए थे, उसमें जो-जो रस जब-जब दिखाए जाते थे तब-तब उन-उन रसोंमें वह पूरीकी-पूरी सभा मगन हो उठती थी । पर……

गालव—जान पड़ता है तुम कुछ कहते-कहते रुक गए ।

पेलव—हाँ, यही कि उस नाटकमें उर्वशीने बोलनेमें कुछ भूल कर दी ।

गालव—क्या भूल कर दी ?

पेलव—उस नाटकमें वारुणी बनी हुई मेनकाने, लक्ष्मी बनी हुई उर्वशीसे पूछा— सखी ! यहाँ तीनों लोकोंसे एकसे एक सुन्दर पुरुष, लोकपाल और स्वयं विष्णु भगवान् आए हुए हैं, इसमें तुम्हें कौन सबसे अधिक भाता है ?

गालव—तब तब !

पेलवः—तदो ताए पुरुसोत्तमे त्ति भणिदव्वे पुरूरवसि त्ति ताए निग्गदा वाणी। [ततस्तया पुरुषोत्तमे इति भणितव्ये पुरूरवसीति तस्या निर्गता वाणी]

गालवः—भवितव्यतानुविधायीनि इन्द्रियाणि। न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः।

पेलवः—सा क्खु सत्ता उवज्झाएण। महिंदेण उण अणुगहीदा। [सा खलु शप्तोपाध्यायेन। महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता।

गालवः—कथमिव।

पेलवः—जेण मम उवदेसो तुए लंघिदो तेण ण दे दिव्वं ठाणं हविस्सदि त्ति उवज्झाअस्स सावो। महिंदेण उण पेक्खणावसाणे लज्जावणदमुही सा एव्वं भणिदा—जस्सि तुमं बद्धभावासि तस्स मे रणसहाअस्स राएसिणो पिअं एत्थ करणिज्जं। ता दाव तुमं जहाकामं पुरूरवसं उवचिट्ठ जाव सो तुइ दिट्ठसंताणो भोदि त्ति। [येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी सा एवं भणिता—यस्मिंस्त्वं बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम्। तत्तावत्त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति।]

गालवः—सदृशमेतत्पुरुषान्तरविदो महेन्द्रस्य।

पेलवः—(सूर्यमवलोक्य) कधापसंगेण अम्हेहिं अवरुद्धा अहिसेअवेला क्खु उवज्झाअस्स। ता एहि। से पासवत्तिणो होम। [कथाप्रसंगेनास्माभिरपराद्धाभिषेकवेला खलु उपाध्यायस्य। तदेहि। अस्य पाश्वंवर्तिनौ भवावः।]

गालवः—तथा।

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ मिश्र विष्कम्भकः ॥

पेलव—उस समय उसे कहना तो चाहिए था 'पुरुषोत्तम' पर भूलसे उसके मुँहसे निकल गया, 'पुरूरवा'।

गालव—भाई! जैसी होनी होती है वैसे ही मनुष्य के अंग भी काम करने लगते हैं। क्या गुरुजी इस बातपर बिगड़े नहीं?

पेलव—अरे, गुरुजीने तो उसे शाप ही दे दिया था, पर भगवान् इन्द्रने उसे जैसे-तैसे बचा लिया।

गालव—कैसे?

पेलव—गुरुजीने तो यह शाप दे दिया था कि तूने जो मेरे सिखाए पाठके अनुसार काम नहीं किया इसपर तुझे यही दंड दिया जाता है कि तू स्वर्गमें नहीं रहने पावेगी। पर ज्योंही नाटक समाप्त हुआ त्योंही लज्जासे सिर नीचा किए खड़ी उर्वशीसे इन्द्रने आकर कहा—देखो! रणक्षेत्रमें सदा मेरी सहायता करनेवाले जिस राजर्षिसे तुम प्रेम करती हो उनके मनका भी कुछ कर देना चाहिए। इसलिये जबतक वे तुम्हारी संतानका मुँह न देखें तबतक तुम मनचाहे समयतक पुरूरवाके साथ जाकर रह सकती हो।

गालव—सबके मनकी बात जाननेवाले इन्द्रको यही शोभा देता है।

पेलव—(धूपकी ओर देखकर) बातें करते-करते गुरुजीके स्नानका समय भी निकल गया। आओ चलो, उनके पास चले चलें।

गालव—अच्छा चलो। (दोनों चले जाते हैं।)

॥ मिश्र विष्कम्भक ॥

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—(विनिःश्वस्य)

सर्वः कल्ये वयसि यतते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयन्ती प्रतिष्ठां
सेवाकारा-परिणतिमभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥ १ ॥

(परिक्रम्य) आदिष्टोस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या– व्रतसम्पादनार्थं मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः। तदेव त्वं मद्वचनाद्विज्ञापय इति। यावदहमिदानीमवसितसन्ध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मनः। इह हि –

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः।
आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः
सन्ध्यामङ्गलदीपिका बिभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः ॥ २ ॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अये ! इत एव प्रस्थितो देवः

(कञ्चुकी आता है।)

कञ्चुकी—(लम्बी-लम्बी साँस लेकर) जो लोग बड़े कुटुम्बवाले होते हैं वे युवावस्थामें तो धन बटोरनेके फेरमें पड़े रहते हैं पर बुढ़ापेमें अपना सब भार पुत्रोंपर सौंपकर विश्राम करते हैं। किन्तु यहाँ तो ऐसी दशा हो गई है कि रात-दिन नौकरीके चक्करमें पड़े-पड़े बूढ़े हो चले हैं। सचमुच स्त्रियोंकी सेवा करना बड़ा टेढ़ा काम होता है ॥ १ ॥

(घूमकर) आजकल काशिराजकी पुत्री महारानी व्रत कर रही हैं। उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैं सब मान छोड़कर निपुणिकासे महाराजको कहला चुकी हूँ कि वे आकर मेरा व्रत सफल करें, इसलिये तुम मेरी ओरसे जाकर महाराजको बुला लाओ। इस समय महाराज सायंकालीन जप-संध्या करके बैठे होंगे, इसीलिये चलता हूँ वहीं उनके दर्शन जा करता हूँ। (घूमकर और देखकर)—संध्याके समय राज-द्वार भी कैसा सुहावना लग रहा है। यहाँ—

नींदमें अलसाए हुए और अपने अड्डोंपर बैठे हुए मोर, ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं जैसे पत्थरमें खुदे हुए हों। छतोंसे बाहर निकले हुए मोखोंमें बैठे हुए कबूतरों और उन मोखोंके छेदोंसे निकलनेवाले धुएँ, दोनोंमें यही नहीं जान पड़ता कि कौन धुआँ है कौन कबूतर। रनिवासके बूढ़े नौकर नहा-धोकर, फूलोंसे सजे हुए भवनोंमें, सन्ध्याके पूजनके लिये जलते हुए दीपक ला-लाकर यथास्थान सजाए दे रहे हैं ॥ २ ॥

(नेपथ्यकी ओर देखकर।) अरे ! महाराज तो इधर ही चले आ रहे हैं।

परिजनबनिताकरार्पिताभिः परिवृत एष विभाति दीपिकाभिः ।
गिरिरिव गतिमानपक्षलोपात् अनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः ॥ ३ ॥

यावदेनमवलोकनमार्गे स्थितः प्रतिपालयामि । (परिक्रम्य स्थितः ।)

(ततः प्रविशति यथा निर्दिष्टो राजा विदूषकश्च ।)

राजा—(स्वगतम्) आः ।

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥ ४ ॥

कंचुकी—(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः । देव ! देवी विज्ञापयति—मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः । तत्र संनिहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोग इति ।

राजा--आर्य लातव्य ! विज्ञाप्यतां देवी यस्ते छंद इति ।

कंचुकी--यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—वयस्य ! किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात् ।

विदूषकः—भो ! तक्केमि संजादपच्छादावा तत्तभोदी वदावदेसेण भवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकाम त्ति । [भोः ! तर्कयामि सञ्जातपश्चात्तापा तत्रभवती व्रतापदेशेन भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति ।]

राजा—उपपन्नं भवानाह ।

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्संतप्यमानमनसो हि ।
विविधैरनुतप्यन्ते दयितानुनयैर्मनस्विन्यः ॥ ५ ॥

महाराजके चारों ओर हाथोंमें दीपमाला लिए हुए जो बहुतसी दासियाँ चली आ रही हैं, उनसे महाराज उस पर्वतके समान चमक रहे हैं जो पंख न कटनेसे उड़ा चला आ रहा हो और जिसके दोनों ढालोंपर पीले कनैरके फूले हुए पेड़ खड़े हुए हों ॥ ३ ॥

तबतक मैं आगे उनके दृष्टिपथपर खड़ा होकर उनके आनेकी बाट जोहता हूँ । (घूमकर खड़ा हो जाता है ।)

(राजा और विदूषक आते हैं ।)

राजा—(मन ही मन) ओह ! दिन भर काममें लगे रहनेसे दिन तो बीतता नहीं जान पड़ा, पर मन-बहलावकी सामग्रीके बिना रातकी लम्बी-लम्बी घड़ियाँ कैसे कट पावेंगी ॥ ४ ॥

कञ्चुकी—(आगे बढ़कर) जय हो महाराज ! आपकी विजय हो । देव ! देवी निवेदन करती हैं कि मणिहर्म्य-भवनसे चन्द्रमा भली भाँति दिखलाई पड़ जायँगे । इसलिये मेरी इच्छा है कि मैं वहींपर महाराजके साथ ही चन्द्रमा और रोहिणीका मिलन देखूँ ।

राजा—आर्य लातव्य ! देवीसे कहना कि जो कहेंगी वही करूँगा ।

कञ्चुकी--जैसी देवकी आज्ञा । (चला जाता है ।)

राजा—वयस्य ! क्या देवीने इतनी धूम-धाम सचमुच व्रतके लिये ही की है ?

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि उस दिन जब आप उनके पैरों पड़े थे और वे ऐंठकर चल दीं थीं, उससे उन्हें पछतावा हुआ होगा । इसीलिये उन्होंने यह व्रत ठाना होगा ।

राजा—ठीक कहा तुमने । क्योंकि—स्त्रियाँ जब रूठी रहती हैं तब तो पैरों पड़नेपर भी अपने पतिकी बात नहीं मानतीं पर पीछे इसी बातपर वे बैठी पछताया करती हैं ॥ ५ ॥

तदादेशय मणिहर्म्य-पृष्ठमार्गम् ।

विदूषकः—इदो इदो भवं । इमिणा गंगातरंगसस्सिरीएण फडिअमणिसोवाणेण अरोहदु भवं पदोसावसररमणिजं मणिहम्मिअपिट्ठं । [इतो इतो भवान् । एतेन गङ्गातरङ्ग-सश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोहतु भवान्प्रदोषावसररमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठम् ।]

राजा—आरोहाग्रतः ।

(सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति ।)

विदूषकः—(निरूप्य) भो ! पच्चासण्णेण चंदोदएण होदव्वं जह तिमिररेईअमाणं पुव्वदिसामुहं आलोअसुहअं दीसदि । [भोः ! प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम् यथा तिमिर-रिच्यमानं पूर्वदिशामुखमालोकसुभगं दृश्यते ।

राजा—सम्यग्भवान्मन्यते ।

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते ।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥ ६ ।

विदूषकः—(विलोक्य) ही ही भो एसो क्खु खंडमोदअसस्सिरीओ उदिदो राआ दुआदीणं । [ही ही भोः एष खलु खण्डमोदकसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम् ।]

राजा—(सस्मितम्) सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः । (प्राञ्जलिः प्रणम्य) भगवन् क्षपानाथ ।

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान्पितॄंश्च ।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ॥ ७ ॥

(इति उपतिष्ठते ।)

तो चलो मुझे मणिहर्म्य-भवनमें ले जा पहुँचाओ ।

विदूषक—इधरसे आइए आप, इधरसे । गंगाकी लहरोंके समान उजली स्फटिक मणिकी सीढ़ियोंसे चढ़कर, सन्ध्याको सुहावने लगनेवाले इस मणिहर्म्य-भवनपर पहुँच जाइए ।

राजा—तुम चढ़ो आगे-आगे ।

(दोनों सीढ़ियोंपर चढ़नेका नाटच करते हैं ।)

विदूषक—(देखकर) जान पड़ता है चन्द्रमा बस निकलने ही वाले हैं । देखो ! अँधेरा मिट जानेसे पूर्व दिशाका मुँह कैसा सुहावना लगने लगा है ?

राजा—ठीक कह रहे हो । उदयाचलके पीछे छिपे चन्द्रमाकी किरणोंसे जो अंधकार मिटता जा रहा है वह सचमुच मेरे मनको ऐसा लुभा रहा है मानो जूड़ा बँधा हुआ पूर्व दिशाका मुँह हो ॥ ६ ॥

विदूषक—देखकर हैं हैं हैं हैं ! यह ऊपर उठता हुआ द्विजोंका राजा चन्द्रमा ऐसा सुन्दर लग रहा है जैसे खाँड़का लड्डू हो ।

राजा—(मुसकराकर) भोजन-भट्टको सब स्थानोंपर भोजनकी सामग्री ही दिखाई पड़ती है । (हाथ जोड़कर) भगवन् चन्द्रमा ! सज्जनोंकी धार्मिक क्रियाओंमें सूर्यके साथ-साथ स्मरण किए जानेवाले ! अमृत पिलाकर देवता और पितरोंको तृप्त करनेवाले ! रातके चारों ओर फैले हुए अँधेरेको हटाने वाले ! शिवके जटा-जूटपर रहनेवाले ! आपको प्रणाम है ! ॥ ७ ॥

(पूजा करता है ।)

विदूषकः—भो बम्हणसंकामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुण्णादोसि। ता आसणट्ठिदो होहि जाव अहं वि सुहासीणो होमि। [भोः ब्राह्मणसंक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाभ्यनुज्ञातोऽसि। तदासनस्थितो भव यावदहमपि सुखासीनो भवामि।]

राजा—(विदूषकवचनं परिगृह्योपविष्टः परिजनं विलोक्य।) अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन। तद्विश्राम्यन्तु भवत्यः।

परिजनः—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्तः।)

राजा—(चन्द्रमसमवलोक्य विदूषकं प्रति) वयस्य! परं मुहूर्तादागमनं देव्याः। तद्विविक्ते कथयिष्यामि स्वामवस्थाम्।

विदूषकः—णं दीसदि एव्व सा। किदु तारिसं अणुराअं पेक्खिअ सक्कं क्खु आसाबंधेण अत्ताणं धारेदुं। [ननु दृश्यत एव सा। किन्तु तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम्।]

राजा—एवमेतत्। बलवान्पुनर्मे मनसोऽभितापः।

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्कटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणो भवति ॥ ८ ॥

विदूषकः—भो! जहा परिहीअमाणेहि अंगेहिं अहिअं सोहसि तहा अदूरे पिआसमागमं दे पेक्खामि। [भोः! यथा परिहीयमाणैरङ्गैरधिकं शोभसे तथाऽदूरे प्रियासमागमं ते प्रेक्षे।]

राजा – (निमित्तं सूचयन्।) वयस्य।

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम्।
अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥ ९ ॥

विदूषक—महाराज! आपके दादा चन्द्रमा मुझ ब्राह्मणके मुँहसे आपको यह आज्ञा दे रहे हैं कि आप चलकर बैठिए जिससे मैं भी सुखसे बैठ सकूँ।

राजा—(विदूषकके कहनेसे बैठकर और अपनी सेविकाओंको देखकर।) जब चारों ओर इतनी चाँदनी छिटकी हुई है तब ये दीपक क्यों जला रक्खे हैं। जाइए, आप सब भी विश्राम कीजिए।

परिजन - जैसी देवकी आज्ञा। (सब सेविकाएँ चली जाती हैं।)

राजा—(चन्द्रमाको देखकर विदूषकसे) वयस्य! अभी देवीके आनेमें तो बहुत देर है, इसलिये चलो अकेलेमें बैठकर तुम्हें अपने मनकी व्यथा सुना समझाऊँ।

विदूषक—समझाओगे क्या, वह तो दिखाई ही दे रही है। पर उर्वशी आपपर अपना जैसा प्रेम जता चुकी है उसके भरोसे तो आपको अपना मन सँभाले रहना चाहिए।

राजा—वह तो है, पर मेरे मनमें तो ऐसा ताप भरा हुआ है कि वह सँभाले नहीं सँभाल पा रहा है।—जैसे ऊबड़-खाबड़ चट्टानोंके बीचमें आ जानेसे नदी और अधिक वेगसे बहने लगती है, वैसे ही जब अपने प्यारेसे मिलनेके सुखमें बाधाएँ आ कूदती हैं तब प्रेमकी जलन भी सौ गुनी बढ़ जाती है ॥ ८ ॥

विदूषक—यह जो आप दिन-दिन दुबले हो होकर निखरते जा रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि अब प्यारीके मिलनेमें देर नहीं है।

राजा—(अच्छे सगुन होनेकी सूचना देते हुए) वयस्य! आशाभरी बातें कह-कहकर मुझ प्रेमके घायलको जैसे तुम ढाढ़स बँधा रहे हो वैसे ही यह मेरी दाहिनी भुजा भी फड़ककर मुझे आशा बँधा रही है ॥ ९ ॥

विदूषकः—ण क्खु अण्णहा बम्हणस्स वअणं। [न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनम्।]

(राजा सप्रत्याशस्तिष्ठति।)

(ततः प्रविशति आकाशयानेनाभिसारिकावेषा उर्वशी चित्रलेखा च।)

उर्वशी—(आत्मानमवलोक्य) हला चित्तलेहे! अवि रोअदि दे अअं मम अप्पाभरणभूसिदो णीलंसुअपरिग्गहो अहिसारिआवेसो। [हला चित्रलेखे! अपि रोचते तेऽयं ममाल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः।]

चित्रलेखा—सहि! णत्थि मे वाआविहवो पसंसिदुं। इदुं तु चिंतेमि अवि णाम अहं पुरूरवा भवेअं त्ति। [सखि! नास्ति मे वाग्विभवः प्रशंसितुम्। इदं तु चिन्तयामि अपि नामाहं पुरूरवा भवेयमिति।]

उर्वशी—सहि! मदणो क्खु तुमं आणवेदि। ता सिग्घं णेवि मं तस्स सुहअस्स वसदिं। [सखि! मदनः खलु त्वामाज्ञापयति। तच्छीघ्रं नय मां तस्य सुभगस्य वसतिम्।]

चित्रलेखा—(विलोक्य) णं एदं परिवत्तिदं विअ कैलाससिहरं पिअदमस्स दे भवणं उवगदे म्ह। [नन्वेतत्परिवर्तितमिव कैलासशिखरं प्रियतमस्य ते भवनमुपगते स्वः।]

उर्वशी—तेण हि पहावदो जाणीहि दाव कहिं सो मम हिअअचोरो किं वा अणुचिट्ठदि त्ति। [तेन हि प्रभावाज्जानीहि तावत्क्व स मम हृदयचौरः किं वानुतिष्ठतीति।]

चित्रलेखा—(ध्यात्वा विहस्यात्मगतम्) भोदु कीलिस्सं दाव एदाए। (प्रकाशम्) हला दिट्ठो मए एसो मणोरहलद्धपिआसमाअमसुहं अणुहवंतो उवहोअक्खमे ओआसे चिट्ठदि त्ति। [भवतु। क्रीडिष्यामि तावदेतया। हला! दृष्टो मया एष मनोरथलब्धप्रियासमागमसुखमनुभवन्नुपभोगक्षमेऽवकाशे तिष्ठतीति।]

विदूषक— ब्राह्मणका वचन झूठा थोड़े ही होता है।

(राजा बड़ी आशासे बैठता है।)

(इसी बीच विमानमें बैठी अभिसारिकाके वेशमें उर्वशी और चित्रलेखा आती हैं।)

उर्वशी—(अपनी ओर देखकर) क्यों सखी चित्रलेखा! यह थोड़ेसे आभूषण पहने हुए और नीली रेशमी चादरसे शरीर ढके हुए जो मैं अभिसारिका बनकर आई हूँ, यह वेश क्या तुझे अच्छा लगता है?

चित्रलेखा—मेरे पास इतना पांडित्य कहाँ कि प्रशंसा कर सकूँ। मैं तो यही सोचती हूँ कि कहीं मैं ही पुरूरवा बन सकती?

उर्वशी—सखी! मेरा प्रेम तुम्हें आज्ञा दे रहा है कि तुम मुझे शीघ्र ही उस भाग्यवान्के भवनमें ले जा पहुँचाओ।

चित्रलेखा—(देखकर) हम लोग तो तुम्हारे प्रियतमके उस भवनपर जा ही पहुँची हैं जो ऐसा सुन्दर लग रहा है मानो कैलासकी चोटी ही यहाँ उठी चली आई हो।

उर्वशी—तब दैवी शक्तिसे ही यह खोजो कि वह मेरे हृदयका चोर है कहाँ और क्या कर रहा है।

चित्रलेखा—(ध्यान करके हँसकर, आप ही आप) इससे थोड़ी ठिठोली की जाय। (प्रकट) मैंने देख लिया सखी! वे अपनी मनचाही प्यारीसे मिलनेका सुख लूटते हुए आनन्दके स्थानमें बैठे हुए हैं।

उर्वशी- (विषादं नाटयति । निःश्वस्य) **धण्णो सो जणो जो एव्वं भवे ।** [धन्यः स जनो य एवं भवेत् ।]

चित्रलेखा —**मुद्धे ! का उण चिंता तुए विणा अण्णापिआसमाअमस्स ।** [मुग्धे ! का पुनश्चिन्ता त्वया विनान्यप्रियासमागमस्य ।]

उर्वशी—(सोच्छ्वासम्) **सहि ! अदक्खिणं संदेहदि मे हिअअं ।** [सखि ! अदक्षिणं संदिग्धं मे हृदयम् ।]

चित्रलेखा—(विलोक्य) **एसो मणिहम्मिअप्पासादपिट्ठगदो वअस्समेत्तसहाओ राएसी । ता एहि उवसप्पाम णं ।** [एष मणिहर्म्यप्रासादपृष्ठगतो वयस्यमात्रसहायो राजर्षिः । तदेहि उपसर्पाव एनम् ।]

(उभे अवतरतः)

राजा—**वयस्य ! रजन्या सह विजृम्भते मदनबाधा ।**

उर्वशी —**अणिब्भिण्णत्थेण इमिणा वअणेण आकंपिदं मे हिअअं । ता अंतरिदा एव्व सुणाम से सेरालावं जाव णो संसअच्छेदो होदि ।** [अनिर्भिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पितं मे हृदयम् । तदन्तर्हिते श्रृणुवोऽस्य स्वैरालापं यावदावयोः संशयच्छेदो भवति ।]

चित्रलेखा —**जं दे रोअदि ।** [यत्ते रोचते ।]

विदूषकः—**णं इमे अमिअगब्भा सेवीअंदु चंदवादा ।** [नन्वेतेऽमृतगर्भाः सेव्यन्तां चन्द्रपादाः ।]

उर्वशी —(दुखी होनेका नाटय करती है । लम्बी सांस लेकर) धन्य है वह स्त्री जो ऐसी बड़भागिनी है ।

चित्रलेखा—अरी पगली ! तुझे छोड़कर वे और कौन-सी दूसरी प्रेमिकासे मिलनेकी बात सोचेंगे ।

उर्वशी—(लंबी सांस लेकर) सखी ! मेरा भोला-भाला हृदय तो यही संदेह कर बैठा था ।

चित्रलेखा—(देखकर) वह देख ! वे राजर्षि यहाँ मणिहर्म्य भवनकी छतपर अपने मित्रके साथ आए बैठे हैं । आ, इनके पास बढ़ चला जाय ।

(दोनों उतरती हैं ।)

राजा—वयस्य ! ज्यों-ज्यों रात बढ़ती चली जा रही है, त्यों-त्यों मेरी काम-पीड़ा भी बढ़ती चल रही है ।

उर्वशी—इन गोलमोल वचनोंको सुनकर तो मेरा जी काँप उठा है । चलो, छिपकर इनकी गुपचुप बातें तो सुनें जिससे जीका सन्देह जाता रहे ।

चित्रलेखा—जैसी तुम्हारी इच्छा ।

विदूषक—लो, अमृतसे भरी हुई चन्द्रमाकी किरणोंमें बैठ नहाओ ।

राजा—वयस्य ! एवमादिभिरनुपक्रम्योऽयमातङ्कः । पश्य—

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो ।
न च मलयजं सर्वांगीणं न वा मणियष्टयः ।
मनसिजरुजं सा वा दिव्या ममालमपोहितुं···

उर्वशी—(उरसि हस्तं दत्वा ।) का वा अवरा । [का वा अपरा ।]

राजा—······रहसि लघयेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा ।। १० ।।

उर्वशी—हिअअ ! मं उज्झिअ इदो संकंतेण तुए दाणिं फलं उवलद्धं । [हृदय ! मामुज्झित्वा इतः संक्रान्तेन त्वयेदानीं फलमुपलब्धम् ।]

विदूषकः—आम् । हं वि पत्थयंतो जदा मिट्ठहरिणीमंसभोअणं ण लहे तदा णं संकित्तअंतो आसासेमि अत्ताणं । [आम् । अहमपि प्रार्थयमानो यदा मिष्टहरिणीमांसभोजनं न लभे तदैतत्सङ्कीर्तयन्नाश्वासयाम्यात्मानम् ।]

राजा—सम्पद्यते पुनरिदं भवतः ।

विदूषकः—भवं वि तं अइरेण पाविस्सदि । [भवानपि तामचिरेण प्राप्स्यसि ।]

राजा—सखे ! एवं मन्ये········

चित्रलेखा—सुणु असंदुट्ठे ! सुणु [शृणु, असन्तुष्टे ! शृणु ।]

विदूषकः—कहं विअ । [कथमिव]

राजा—·········अयं तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः ।
एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवो भरः ।। ११ ।।

राजा—वयस्य ! यह पीड़ा इन सब उपायोंसे जानेवाली नहीं है । देखो ! मेरे इस प्रेमके रोगको न तो फूलोंकी शय्या ही दूर कर पा सकती है, न चंद्रमाकी किरणें ही हटा पा सकती हैं, न सारे शरीरमें लेप किया हुआ चंदन ही मिटा पा सकता है और न मोतियोंकी माला ही कम कर पा सकती है । यदि इस रोगको कोई दूर कर पा सकता है तो बस वही एक स्वर्गवाली··· ।

उर्वशी—(हृदयपर हाथ रखकर) यह दूसरी कौन होगी ?

राजा—···· या फिर एकान्तमें कही हुई उसके प्रेमकी बातें ।। १० ।।

उर्वशी—अरे हृदय ! तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो कि मुझे छोड़कर उनके पास जा पहुँचे हो ।

विदूषक—हाँ ! मुझे भी जब कभी माँगनेपर हरिनीके मीठे मांसका भोजन नहीं मिलता तब मैं भी उसीका नाम लेकर ही अपना पेट भर लेता हूँ ।

राजा—पर तुम्हें यह सब मिल तो जाता है ।

विदूषक—आप भी बस उसे मिला ही समझिए ।

राजा—वयस्य ! मैं सोचता हूँ कि ··

चित्रलेखा—सुन री पगली !

विदूषक—हाँ, क्या सोचते हो ?

राजा—यही कि मेरे शरीरके सब अङ्गोंमें यह कन्धा ही धन्य है कि वह रथके हिलने-डुलनेके समय मेरे साथ बैठी हुई उर्वशीके कन्धेको छूता चलता था । शरीरके दूसरे अङ्गोंको तो बस धरतीका बोझ ही समझो ।। ११ ।।

चित्रलेखा—सहि ! किं दाणिं विलंबीअदि । [सखि ! किमिदानीं विलम्ब्यते ।]

उर्वशी —(सहसोपसृत्य) हला ! अग्गदो वि मम ट्ठिदाए उदासीणो विअ महाराओ । [हला ! अग्रतोऽपि मम स्थिताया उदासीन इव महाराजः ।]

चित्रलेखा —(सस्मितम्) अह अदितुवरिदे ! अणक्खित्ततिरक्खरिणी आसि । [अयि अतित्वरिते ! अनाक्षिप्ततिरस्करिणिकासि ।]

(नेपथ्ये) इदो इदो भट्टिणी [इतो इतो भट्टिनी]

(सर्वे कर्णं ददति । उर्वशी सह सख्या विषण्णा ।)

विदूषकः—(सविस्मयम्) अइ भो ! उवट्ठिदा देवी । ता वाचंजमो होहि । [अयि भोः ! उपस्थिता देवी । तद्वाचंयमो भव ।]

राजा—भवानपि संवृताकारमास्ताम् ।

उर्वशी—सहि ! किं एत्थ करणिज्जं । [सखि ! किमत्र करणीयम् ।]

चित्रलेखा—अलं आवेएण । अंतरिदा दाणिं वयं । विहिदणिअमवेसा राएसिमहिसी दीसदि । ता ण एसा इह चिरं चिट्ठिस्सदि । [अलमावेगेन । अन्तर्हिते इदानीमावाम् । विहित-नियमवेषा राजर्षिमहिषी दृश्यते । तन्नैषेह चिरं स्थास्यति ।]

(ततः प्रविशति औपहारिकहस्तपरिजना देवी चेटी च)

देवी—(परिक्रम्य चन्द्रमसमवलोक्य च) हंजे णिउणिए ! एसो रोहिणीसंजोएण अहिअं सोहदि भअवं मिअलंछणो । [हञ्जे निपुणिके ! एष रोहिणीसंयोगेनाधिकँ भगवान् शोभते मृगलाञ्छनः ।]

चेटी—णं भट्टिणीसहिदो भट्टा विसेसरमणिज्जो । [ननु भट्टिनीसहितो भर्त्ता विशेष-रमणीयः ।] (इति परिक्रामतः ।)

चित्रलेखा—क्यों सखी ! अब क्यों देर करती हो ?

उर्वशी—(सहसा आगे बढ़कर) सखी, मैं महाराजके सामने आकर खड़ी भी हो गई हूँ, फिर भी वे मुझसे बोल क्यों नहीं रहे हैं ?

चित्रलेखा—(मुसकराकर) अरी हड़बड़ानेवाली ! तूँने अभी अपनी मायाकी ओढ़नी तो उतारी ही नहीं ।

(नेपथ्यमें) इधरसे आइए स्वामिनी ! इधरसे ।

(सब सुनते हैं । उर्वशी और उसकी सखी उदास हो जाती है ।)

विदूषक—(आश्चर्यसे) अरे वयस्य ! लो, देवी आ पहुँची हैं । अब चुप हो बैठो ।

राजा—तुम भी सँभलकर बैठ जाओ ।

उर्वशी—अब बताओ सखी ! क्या किया जाय ।

चित्रलेखा—घबराओ मत । हम दोनों तो छिपी ही हुई हैं । महारानीके वेशसे जान पड़ता है कि वे कोई व्रत कर रही हैं, इसलिये वे यहाँ बहुत देर नहीं ठहरेंगी ।

(हाथमें पूजाकी सामग्री लिए हुए दासियाँ और उनके साथ महारानी आती हैं ।)

देवी—(चन्द्रमाको देखकर) सखी निपुणिका ! देख रोहिणीके साथ चन्द्रमा कैसे अच्छे लग रहे हैं ।

चेटी—ठीक वैसे ही जैसे स्वामिनीके साथ महाराज बड़े सुन्दर दिखाई देते हैं । (घूमती है ।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा) भो ! ण जाणामि सोत्थिवाअणं मे देइ त्ति आदु वदव्ववदेसेण मुक्करोसा भवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकाम त्ति । अज्ज मे अक्खीणं सुहदंसणा देवी । [भोः ! न जानामि स्वस्तिवायनं मे ददातीति अथवा व्रतव्यपदेशेन मुक्तरोषा भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमाष्टुंकामेति । अद्य मेऽक्ष्णोः शुभदर्शना देवी ।]

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि घटते ! तथापि भवता यत्पश्चादभिहितं तन्मां प्रतिभाति यदत्रभवती !

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका ।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते ॥ १२ ॥

देवी—(उपसृत्य) जेदु जेदु अज्जउत्तो । (जयतु जयतु आर्यपुत्रः ।)

परिजनः—जेदु जेदु भट्टारओ । [जयतु जयतु भट्टारकः]

विदूषकः—सत्थि भोदीए । [स्वस्ति भवत्यै ।]

राजा—स्वागतं देव्यै । (तां हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति ।)

उर्वशी—हला ! ठाणे क्खु इअं देवीसद्देण उवअरीअदि । ण किं वि परिहीअदि सचीए ओजस्सिदाए । [हला स्थाने खलु इयं देवीशब्देनोपचर्यते । न किमपि परिहीयते शच्या ओजस्वितया ।]

चित्रलेखा—साहु असूआपरम्मुहं मंतिदं तुए । [साधु असूयापराङ्मुखं मन्त्रितं त्वया ।]

देवी—अज्जउत्तं पुरोकरिअ को वि वदविसेसो मए संपादणीओ । ता मुहुत्तं उवरोधो सहीअदु । [आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषो मया संपादनीयः । तन्मुहूर्तमुपरोधः सह्यताम् ।]

विदूषक—(देखकर) वयस्य ! यह समझमें नहीं आ रहा है कि ये मुझे पूजाका बायना देने आ रही हैं या व्रतके बहाने ये अपना मान छोड़कर उस दिनका दोष धोने चली आ रही हैं जब ये आपके मनानेपर भी रूठकर चल दीं थीं । कुछ भी हो आज तो देवी मेरी आँखोंको बड़ी सुन्दर जँच रही हैं ।

राजा—(हँसकर) दोनों ही बातें हो सकती हैं, पर तुमने अन्तमें जो बात कही, वही अधिक ठीक जान पड़ती है, क्योंकि उजला रेशमी वस्त्र पहने शरीरपर केवल सुहागके गहने डाले और पवित्र दूबके अँकुवोसे अपनी बाँहें सजाए आती हुई देवीके रंग-ढंगसे यही जँचता है कि ये व्रतके बहाने मान छोड़कर मुझपर प्रसन्न हो गई हैं ॥ १२ ॥

देवी—(आगे बढ़कर) जय हो आर्यपुत्रकी, जय हो ।

दासी—जय हो भट्टारककी, जय हो ।

विदूषक—आपका कल्याण हो ।

राजा—देवीका स्वागत है । (देवीका हाथ पकड़कर उन्हें पास बैठाता है ।)

उर्वशी—सखी ! इस समय तो देवी शब्द इनके लिये बड़ा सटीक बैठ रहा है क्योंकि इनका तेज इन्द्राणीसे किसी भी प्रकार कम नहीं है ।

चित्रलेखा—तुमने डाह छोड़कर यह बड़ी सच्ची बात कही है ।

देवी—मैं आर्यपुत्रको साथ लेकर एक विशेष व्रत करना चाहती हूँ इसलिये प्रार्थना है कि मेरे लिये कुछ देर कष्ट सहन करनेकी कृपा करें ।

राजा -मा मैवम् । अनुग्रहः खलु अयं नोपरोधः ।

विदूषकः—ईरिसो सोत्थिवाअणवंतो उवरोहो बहुसो होदु । [इदृशः स्वस्तिवाचनवानुपरोधो बहुशो भवतु ।]

राजा—किं नामधेयमेतद्देव्या व्रतम् ।

(देवी निपुणिकामुखमवेक्षते ।)

निपुणिका—भट्टा पिआणुप्पसादणं णाम । [भर्तः प्रियानुप्रसादनं नाम ।)

राजा—(देवीं विलोक्य) यद्येवम् ।

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वयादासजनः प्रसाद्यते ।।१३।।

उर्वशी— महंतो क्खु से इमस्सि बहुमाणो । [महान्खलु अस्य एतस्यां बहुमानः ।]

चित्रलेखा—अइ मुद्धे अण्णसंकंदप्पेमाणो णाअरिआ भारिआए अहिअं दक्खिणा होन्ति । [अयि मुग्धे ! अन्य संक्रांतप्रेमाणो नागरिका भर्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति ।]

देवी—(सस्मितम्) णं इमस्स वदपरिग्गहस्स अअं पहावो जं एत्तिअं मंताविदो अज्जउत्तो । [नन्वेतस्य व्रतपरिग्रहस्यायं प्रभावो यदेतावन्मन्त्रित आर्यपुत्रः ।]

विदूषकः—विरमदु भवं न जुत्तं सुहासिदं पच्चाचरिदुं । [विरमतु भवान् । न युक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम् ।]

देवी -दारिआओ ! आणेध ओवहारिअं जाव मणिहम्मिअपिट्ठगदे चंदपादे अच्चेमि । [दारिकाः ! आनयतौपहारिकं यावन्मणिहर्म्यपृष्ठगतांश्चन्द्रपादानर्चामि ।]

राजा—नहीं, नहीं ऐसा न कहो । इसमें कष्ट किस बातका ? यह तो आपकी कृपा है ।

विदूषक—जिस कष्टमें पूजाका बायना मिलता चले, ऐसे कष्ट सदा मिलते रहा करें ।

राजा—आप कौन-सा व्रत कर रही हैं देवी ?

(देवी निपुणिकाका मुँह देखती हैं ।)

निपुणिका—महाराज ! इसे प्रियको प्रसन्न करनेवाला व्रत कहते हैं ।

राजा—(देवीको देखकर) कल्याणी ! यदि इतनी-सी ही बात हो तब तो अपने कमलके समान कोमल शरीरको तुम व्यर्थ ही व्रत करके सुखाए डाल रही हो क्योंकि आपका जो दास स्वयं आपको प्रसन्न देखनेके लिये अधीर हो रहा हो उसे भी क्या कहीं प्रसन्न करनेकी आवश्यकता हुआ करती है ।। १३ ।।

उर्वशी—लगता है इन देवीको महाराज बहुत मानते हैं ।

चित्रलेखा—अरी पगली ! जो चतुर नागरिक किसी दूसरी स्त्रीसे प्रेम करने लगते हैं वे अपनी पहली पत्नीका और भी अधिक आदर करने लगा करते हैं ।

देवी—(मुसकराकर) सचमुच यह व्रतका ही प्रभाव है कि आर्यपुत्रने इतना तो कहा ।

विदूषक—अच्छा रहने दीजिए अपनी बातें । व्रत-पूजाकी बातोंमें मीन-मेख निकालना ठीक नहीं होता ।

देवी—दासियों ! पूजाकी सामग्री तो ले आओ जिससे मैं मणिहर्म्य-भवनपर बिखरी हुई चन्द्रमाकी किरणोंकी पूजा तो कर लूँ ।

परिजनः—जं भट्टिणी आणवेदी । एसो गंधकुसुमादि उवहारो । [यद्भट्टिनी आज्ञापयति । एष गन्धकुसुमाद्युपहारः ।]

देवी—उवणेध । (नाट्येन गंधपुष्पादिभिश्चन्द्रपादानभ्यर्च्य ।) हंजे णिउणिए ! इमे ओहारिअमोदए अज्जमाणवअं लंभावेहि । [उपनयत । हञ्जे निपुणिके ! एतानोपहारिकमोदकानार्यमाणवकं लम्भय ।]

निपुणिका—जं भट्टिणी आणवेदी । अज्ज माणवअ ! एवं दाव दे । [यद्भट्टिन्याज्ञापयति । माणवक ! इदं तावत्ते ।]

विदूषकः—(मोदकशरावं गृहीत्वा) सोत्थि भोदीए । बहुफलो दे एसो वदो भोदु । [स्वस्ति भवत्यै । बहुफलं तवैतद्व्रतं भवतु ।]

देवी—अज्जउत्त । इदो दाव । [आर्यपुत्र ! इतस्तावत् ।]

राजा—अयमस्मि ।

देवी—(राज्ञा-पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणम्य) एसा अहं देवदामिहुणं रोहिणीमिअलंछणं सक्खीकरिअ अज्ज उत्तं अणुप्पसादेमि—अज्जप्पहुदि ज इत्थिअं अज्जउत्तो पत्थेदि जा अ अज्जउत्तस्स समाअमप्पणयिणी ताए सह मए पीदिबंधेण वत्तिदव्वं त्ति । [एषाहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगलाञ्छनं साक्षीकृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि—अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम् इति ।

उर्वशी—अम्महे ! ण आणे किं परं से वअणं त्ति । मम उण विस्सासविसदं हिअअं संवुत्तं । [अहो ! न जाने किमपरमस्या वचनमिति । ममपुनर्विश्वासविशदं हृदयं संवृत्तम् ।]

चित्रलेखा—सहि ! महाणुहावाए पदिव्वदाए अब्भणुण्णादो अणंतराओ दे पिअसमाअमो हविस्सदि । [सखि ! महानुभावया पतिव्रतयाभ्यनुज्ञातः अनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति ।

दासियाँ—जैसी भट्टिनीकी आज्ञा । लीजिए, यह है चन्दन-फूल आदि पूजाकी सामग्री ।

देवी—लाओ । (सामग्री लेकर गन्ध-फूल आदिसे चन्द्रमाकी किरणों की पूजा करनेका नाटच करती है ।) सखी निपुणिका ! ये पूजाके लड्डू आर्य माणवकको दे डालो ।

निपुणिका—जैसी भट्टिनीकी आज्ञा ! लीजिए आर्य माणवक ! ये आपके लिये हैं ।

विदूषक—(लड्डूका पात्र लेते हुए) आपका कल्याण हो । आपका यह व्रत बहुत फले-फूले ।

देवी—आर्यपुत्र ! इधर तो आइए ।

राजा—लीजिए, आ गया ।

देवी—(राजाकी पूजाका नाटच करके और हाथ जोड़कर) आज मैं रोहिणी और चन्द्रमाके दैवी जोड़ेको साक्षी बनाकर आर्यपुत्रको प्रसन्न कर रही हूँ । आजसे जिस किसी स्त्रीको भी आर्यपुत्र चाहेंगे और जो भी स्त्री आर्यपुत्रकी पत्नी बनना चाहेगी उसके साथ मैं बड़े प्रेमसे रहा करूँगी ।

उर्वशी—अरी ! न जाने ये किस दूसरी स्त्रीके लिये कह रही हैं । पर कमसे कम इससे मेरे हृदयको भरोसा तो मिला ।

चित्रलेखा—सखी ! इस उदार हृदयवाली पतिव्रताकी बातोंसे एक बात तो पक्की हो गई कि अब तुम्हें अपने प्यारेसे मिलनेमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी ।

विदूषकः—(अपवार्य) भिण्णहत्थे मच्छे पलायिदे णिव्विण्णो धीवरो भणादि—गच्छ, धम्मो मे हविस्सदि त्ति । (प्रकाशम्) भोदि ! किं तारिसो दे पिओ तत्तभवं । [भिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति—गच्छ, धर्मो मे भविष्यतीति । भवति ! किं तादृशस्ते प्रियस्तत्रभवान् ।]

देवी—मूढ ! अहं क्खु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तं णिव्वुदसरीरं कादुं इच्छामि । एत्तिएण चिंतेहि दाव पिओ ण वत्ति । [मूढ ! अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि । एतावता चिंतय तावत्प्रियो न वेति ।]

राजा— दातुं वा प्रभवसि मामन्यस्मै कर्तुमेव वा दासम् ।
नाहं पुनस्तथा त्वयि यथा हि मां शंकसे भीरु ॥ १४ ॥

देवी—होहि वा मा वा । अधाणिद्दिट्ठं संपादिदं मए पिआणुप्पसादणं णाम वदं । दारिआओ एध गच्छह्म । [भव वा मा वा । यथानिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम् । दारिकाः एत गच्छामः ।]

(इति प्रस्थिता)

राजा—प्रिये ! न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि संप्रति विहाय गम्यते ।

देवी—अज्जउत्त ! अलंघिदपुव्वो मए णिअमो । [आर्यपुत्र ! अलंघितपूर्वो मया नियमः ।]

(इति सपरिवारा निष्क्रांता ।)

उर्वशी—सहि ! पिअकलत्तो राएसी । ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्केमि । [सखि ! प्रियकलत्रो राजर्षिः । न पुनर्हृदयं निवर्तयितुं शक्नोमि ।]

चित्रलेखा—किं उण तुए णिरासाए णिवत्तीअदि । [किं पुनस्त्वया निराशया निवर्त्यते ।]

विदूषक—(अलग, राजासे) जब मछुएके हाथसे निकलकर मछली पानीमें जा कूदती है तब वह भी निराश होकर यही कहता है—'जा ! मुझे पुण्य ही होगा ।' (प्रकट) देवी ! क्या महाराज आपको इतने प्यारे हैं ?

देवी—अरे मूर्ख ! मैं अपने सुखका बलिदान करके भी आर्यपुत्रको सुखी देखना चाहती हूँ । इसीसे समझ ले कि वे मुझे प्यारे हैं या नहीं ।

राजा—देवी ! चाहो तो तुम मुझे किसी दूसरेको दे डालो या चाहो अपना ही दास बनाकर रख छोड़ो, पर तुम मुझे अपनेसे जैसा दूर समझे बैठी हो वैसी बात है नहीं ॥ १४ ॥

देवी—दूर हों या न हों, पर मैंने तो प्रियको प्रसन्न करनेवाला जो व्रत ठाना था वह पूरा कर ही लिया । आओ दासियो ! चलो चला जाय । (चलनेको प्रस्तुत होती हैं ।)

राजा—यदि मुझे छोड़कर चली जाओगी तो समझ लो कि मैं प्रसन्न नहीं हुआ ।

देवी—आर्यपुत्र ! मैंने आजतक कभी अपने व्रतका नियम नहीं तोड़ा है ।

(दासियोंके साथ चली जाती है ।)

उर्वशी—सखी ! राजा अपनी पत्नीको इतना प्यार करते हैं तिसपर भी मैं उनपरसे अपना मन हटा नहीं पा रही हूँ ।

चित्रलेखा—तो क्या तुम निराश होकर लौट जाना चाहती हो ?

राजा—(आसनमुपेत्य) वयस्य ! न खलु दूरं गता देवी ।

विदूषकः—भण विस्सद्धं जं सि वत्तुकामो । असज्झो त्ति वेज्जेण आउरो विअ सेरं मुत्तो भवं तत्तहोदीए । [भण विश्रब्धं यदसि वक्तुकामः । असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवांस्तत्रभवत्या ।]

राजा—अपि नामोर्वशी…… ।

उर्वशी—…… अज्ज किदत्था भवे । [अद्य कृतार्था भवेत् ।]

राजा—

गूढा नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत्
पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने ।
हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना बलात्
आनीयेत पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि ! इमं दाव से मणोरहं संपादेहि । [सखि उर्वशी ! इमं तावदस्य मनोरथं सम्पादय ।]

उर्वशी—(ससाध्वसम्) भोदु । कीलिस्सं दाव । [भवतु, क्रीडिष्यामि तावत् ।]
(इति तिरस्करणीमपनीय पृष्ठतो गत्वा राज्ञो नयने संवृणाति ।)

(चित्रलेखा तिरस्करिणीमपनीय विदूषकं संज्ञापयति ।)

विदूषकः—भो वअस्स ! का उण एसा । [भो वयस्य ! का पुनः एषा ।]

राजा—(स्पर्शं रूपयित्वा) सखे ! नारायणोरुसंभवा सेयं वरोरुः ।

राजा—(अपने आसनपर बैठकर) वयस्य ! अभी देवी दूर तो नहीं पहुँची होंगी ।

विदूषक—जो कहना हो जी खोलकर कह डालो । जैसे रोगीको असाध्य समझकर वैद्य उसे छोड़ देता है वैसे ही आपको भी देवीने यह समझकर छोड़ दिया कि अब आप सुधर नहीं सकते ।

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी…… ।

उर्वशी—…… आज कृतार्थ हो जाय ?

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी इस समय छिपे-छिपे आकर अपने बिछुएकी मीठी छनन-छनन ही सुना जाय या पीछेसे आकर अपने कमलके समान कोमल हथेलियोसे मेरी आँखें बन्द कर ले या इस भवनपर उतरकर वह डरती हुई-सी धीरे-धीरे आगे बढ़े और उसकी चतुर दासी उसे खींचकर मेरे पास ला पहुँचा दे ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—आओ सखी उर्वशी ! अब इनके मनकी हुलास पूरी कर दो ।

उर्वशी—(अधीरतासे) अच्छा ! पहले मैं इनसे कुछ ठिठोली करती हूँ ।

(मायाकी ओढ़नी उतारकर पीछेसे पहुँचकर राजाकी आँखें ढक लेती है ।)

(चित्रलेखा भी मायाकी ओढ़नी उतारकर विदूषकको संकेत करती है कि बताना मत ।)

विदूषक—क्यों वयस्य ! ये कौन हैं ।

राजा—(स्पर्शसे पहचानता हुआ) मित्र ! यह वही सुन्दर जाँघोवाली उर्वशी है जो नारायणकी जाँघसे उत्पन्न हुई है ।

विदूषकः—कहं भवं अवगच्छदि। [कथं भवानवगच्छति।]

राजा—किमत्र ज्ञेयम्।

अङ्गमनङ्गक्लिष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शात्।
नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम्॥ १६॥

उर्वशी—(हस्तौ अपनीय उत्तिष्ठति। किञ्चिदपसृत्य) जेदु जेदु महाराओ [जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—सुंदरि! स्वागतम्। (इत्येकासन उपवेशयति।)

चित्रलेखा—अवि सुहं वअस्सस्स। [अपि सुखं वयस्यस्य]

राजा—नन्वेतदुपपन्नम्।

उर्वशी—हला! देवीए दिण्णो महाराओ। अदो से पणअवदी विअ सरीरसंपक्कं गदम्हि। मा क्खु मं पुरोभाइणिं समत्थेहि। [हला देव्या दत्तो महाराजः। अतोऽस्य प्रणयवतीव शरीरसम्पर्कं गतास्मि। मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व!]

विदूषकः—कहं इह ज्जेव दुम्हाणं अत्थमिदो सुज्जो। [कथं इहैव युवयोरस्तमितः सूर्यः।]

राजा—(उर्वशीमवलोकयन्)

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन्।
प्रथमं कस्यानुमते चोरितमयि मे त्वया हृदयम्॥ १७॥

चित्रलेखा—वअस्स! णिरुत्तरा एसा। संपदं मह विण्णवणा सुणीअदु। [वयस्य! निरुत्तरा एषा। साम्प्रतं मम विज्ञापना श्रूयताम्।]

राजा—अवहितोऽस्मि।

विदूषक—आपने पहचान कैसे लिया?

राजा—इसमें पहचाननेकी क्या बात है। दूसरी कोई ऐसी स्त्री है ही नहीं जो मेरे कामपीड़ित शरीरको अपने हाथसे छूकर सुखी कर दे। चन्द्रमाकी किरणोंसे खिल उठनेवाला कुमुद सूर्यकी किरणोंसे नहीं खिला करता॥ १६॥

उर्वशी—(हाथ हटाकर खड़ी हो जाती है। कुछ हटकर) जय हो, महाराजकी जय हो।

राजा—स्वागत करता हूँ सुन्दरी! आओ (अपने ही आसनपर बैठा लेता है।)

चित्रलेखा—कहिए, आप प्रसन्न तो हैं।

राजा—प्रसन्नता तो अभी-अभी हाथ लगी है।

उर्वशी—सखी! देवीने महाराजको मेरे हाथ दान दे डाला है इसलिए मैं इनकी विवाहिता स्त्रीके समान ही इनसे सटकर बैठी हूँ। तुम मुझे कुलटा न समझ बैठना।

विदूषक—क्या आप लोगोंकी साँझ यहीं बीतेगी।

राजा—(उर्वशीकी ओर देखकर) आज तो आप यह कहकर मुझसे सम्बन्ध जोड़े ले रही हैं कि देवीने मुझे आपके हाथ सौंप दिया है, पर यह तो बताइए कि आप पहले ही जो मेरा हृदय चुराए बैठी थीं वह किससे पूछकर चुराया था॥ १७॥

चित्रलेखा—वयस्य! इस बातका इनके पास कोई उत्तर नहीं है। अब आप मेरी बात सुनिए।

राजा—कहिए मैं सुन रहा हूँ।

चित्रलेखा—वसंताणंतरं उण्हसमए भअवं सुज्जो मए उवचरिदव्वो। ता जहा इअं मे पिअसही सग्गस्स ण उक्कंठेदि तहा अवस्सेण कादव्वं। [वसन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान्सूर्यो मयोपचरितव्यः। तद्यथेयं मे प्रियसखी स्वर्गाय नोत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम्।]

विदूषकः—किं वा सग्गे सुमरिदव्वं। ण वा तत्थ अण्हीअदि ण वा पीअदि। केवलं अणिमिसेहिं णअणेहिं मीणा विडंबीअंति। [किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न वा तत्राश्नीयते न वा पीयते। केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते।]

राजा—भद्रे!

अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति।
अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरूरवाः॥ १८॥

चित्रलेखा—अणुगहीदम्हि। हला उव्वसि! अकादरा भविअ विसज्जेहि मं। [अनुगृहीतास्मि। हला उर्वशी! अकातरा भूत्वा विसर्जय माम्।]

उर्वशी—(चित्रलेखां परिष्वज्य सकरुणम्) सहि, मा क्खु मं विसुमरेहि। [सखि, मा खलु मां विस्मर।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) वअस्सेण संगदा तुमं एव्व एदं मए जाचिदव्वा। [वयस्येन सङ्गता त्वमेवैतन्मया याचितव्या।] (इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्ता।)

विदूषकः—दिट्ठिआ मणोरहसंपदीए वड्ढदि भवं। [दिष्टया मनोरथसम्पत्या वर्धते भवान्।]

राजा—इयं तावद्वृद्धिर्मम। पश्य—

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठं एकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्तं आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः॥ १९॥

चित्रलेखा वसन्त बीतनेपर गर्मीमें मुझे सूर्यकी सेवा करनी है। इसलिये आप इन्हें ऐसा बाँध रखिए कि ये प्यारी सखी स्वर्ग जानेके लिए न घबरा उठें।

विदूषक—स्वर्गमें धरा ही क्या है जिसे ये स्मरण करके घबरायेंगी। न वहाँ कुछ खानेको है न पीनेको। वहाँके लोग तो बस दिन-रात मछलीके समान सदा आँख फाड़े बैठे रहते हैं।

राजा—भद्रे! स्वर्गमें ऐसे-ऐसे सुख भरे पड़े हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये उन्हें भला कौन भुला सकता है, पर मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैं पुरूरवा, सब स्त्रियोंसे मन हटाकर केवल आपकी सखीकी ही सेवा करता रहूँगा॥ १८॥

चित्रलेखा—यह तो आपकी कृपा है। सखी उर्वशी! अब मुझे जी खोलकर बिदा दे दो।

उर्वशी—(चित्रलेखासे गले मिलकर करुणाके साथ।) सखी! मुझे भूल न जाना।

चित्रलेखा—(मुसकराकर) तुम तो अब मित्रके पास आ पहुँची हो इसलिये यह बात तो मुझे कहनी चाहिए थी।

(राजाको प्रणाम करके चली जाती है।)

विदूषक—मनोरथ पूरे होनेकी मैं आपको बधाई देता हूँ।

राजा—यह तो मेरी सबसे बड़ी जीत है। देखो—इनकी आज्ञा पालन करनेमें मैं अपनेको जितना धन्य समझता हूँ उतना मैं सारी पृथ्वीका स्वामी होने तथा अपने पैरके पीढ़ेके सीमान्तके राजाओंके मुकुटके मणियोंसे रँगानेको भी अच्छा नहीं समझता॥ १९॥

उर्वशी—णत्थि मे वाआविहवो अदो पिअदरं मंतिदुं। [नास्ति मे वाग्विभवोऽतः प्रियतरं मन्त्रयितुम्।]

राजा—(उर्वशीं हस्तेनावलम्ब्य) अहो, विरुद्धसंवर्धनं ईप्सितलाभो नाम। यतः—

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य मनोनुकूलाः।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि! यद्यदासीत् त्वत्सङ्गमेन ममतत्तदिवानुनीतम् ॥ २० ॥

उर्वशी—अवरद्धम्हि चिरकारिआ अज्जउत्तस्स। [अपराद्धास्मि चिरकारिकार्यपुत्रस्य।]

राजा—सुन्दरि! मा मैवम्।

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥ २१ ॥

विदूषकः—भो! सेविदा पदोसरमणीआ चंदवादा। समओ क्खु दे वासघरपवेसस्स। [भोः! सेविताः प्रदोषरमणीयाश्चन्द्रपादाः। समयः खलु ते वासगृहप्रवेशस्य।]

राजा—तेन हि सख्यास्ते मार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो इदो भवदी। [इत इतो भवती।]

(इति सर्वे परिक्रामन्ति।)

राजा—सुन्दरि! इयमिदानीं मेऽभ्यर्थना।

उर्वशी—कीरिसी सा [कीदृशी सा]

उर्वशी—इससे बढ़कर प्यारी बात तो मुझे सूझ ही नहीं पा रही है।

राजा—(उर्वशीको हाथसे पकड़कर) जब चाही हुई वस्तु मिल जाती है तब विरोधी वस्तुएँ भी अच्छी लगने लगती हैं क्योंकि चन्द्रमाकी वे ही किरणें आज मुझे सुख दिए डाल रही हैं और कामदेवके वे ही बाण आज मनको भाए जा रहे हैं। सुन्दरी! जो-जो वस्तुएँ क्रोधभरी या कठोर जान पड़ती थीं वे सब तुम्हारे मिलते ही कोमल हो चली हैं ॥ २० ॥

उर्वशी—मैंने आनेमें इतनी देर करके आर्यपुत्रका बड़ा अपराध किया है।

राजा—ऐसी बात न कहो सुन्दरी! दुःखके पीछे जो सुख मिलता है वह बड़ा रसीला होता है। पेड़की छाया उसी मनुष्यको अच्छी लगती है जो धूपमें तपकर आया हो ॥ २१ ॥

विदूषक—चलिए! साँझके चन्द्रमाकी किरणोंका बहुत आनन्द ले चुके। अब आपके शयन-घर जानेका समय हो गया है।

राजा—तो अपनी सखी उर्वशीको भी वहीं लिवा ले चलो।

विदूषक—इधरसे आइए देवी! इधरसे।

(सब घूमते हैं।)

राजा—सुन्दरी! मेरी एक इच्छा है।

उर्वशी—क्या?

राजा—

अनुपमतमनोरथस्य पूर्वं शतगुणितेव गता मम त्रियामा ।
यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

* * *

राजा—यही कि मेरा मनोरथ पूरे होनेके पहले, रातें जैसी सौगुनी लम्बी जान पड़ती थीं यदि वे अब तुम्हारे मिल जानेपर भी वैसी ही लम्बी हो जायँ तो मैं अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझूँ ॥ २२ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

॥ तीसरा अंक पूर्ण ॥

* * *

चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये सहजन्याचित्रलेखे प्रावेशिक्याक्षिप्तिका)

पिअसहिविओअविमणा सहिसहिआ व्वाउला समुल्लवइ।
सूरकरफंसविअसिअतामरसे सरवरुच्छंगे ॥ १ ॥

[प्रियसखीवियोगविमनाः सखीसहिता व्याकुला समुल्लपति।
सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे सरोवरोत्संगे ॥]

(ततः प्रविशति विमनस्का चित्रलेखा सहजन्या च)

चित्रलेखा—(प्रवेशानन्तरं द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

सहअरि दुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअं।
बाहोवग्गिअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ॥ २ ॥

[सहचरी दुखा:लीढं सरोवरे स्निग्धम्।
बाष्पापवल्गितनयनं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥]

सहजन्या—(चित्रलेखां विलोक्य सखेदम्) सहि चित्तलेहे! मिलाअमाणसदवत्तस्स विअ दे मुहस्स छाआ हिअअस्स अस्सत्थदं सूएदि। ता कहेहि मे णिव्वेदकारणं। दे समदुक्खा भविदुं इच्छामि। [सखि चित्रलेखे! म्लायमानशतपत्रस्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्वस्थतां सूचयति। तत्कथय मे निर्वेदकारणम्। ते समदुःखा भवितुमिच्छामि।]

चौथा अङ्क

(नेपथ्यमें सहजन्या तथा चित्रलेखाका प्रवेश सूचित करनेवाली आक्षिप्तिका गीति गाई जाती है।)

प्रिया सखीकी विरह-व्यथासे व्याकुल हंसी सरसी-जलमें।
बैठी रोती, जहाँ खिल उठे कमल सूर्यकी किरणें छूकर ॥ १ ॥

[अपनी प्यारी सखीके लिये बिछोहसे अनमनी और घबराई हुई हंसी, उसी तालाबके जलमें अपनी सखीके लिये बैठी रो रही है, जिसमें सूर्यकी किरणोंके छूनेसे कमल खिल उठे हैं ॥ १ ॥]

(सहजन्याके साथ उदास चित्रलेखाका प्रवेश)

चित्रलेखा—(प्रवेश करके द्विपदिका नामक गीतिके साथ चारों ओर देखकर।

दो हंसिनियाँ सखी-व्यथासे अश्रु बहातीं सरसी-तटपर।
सिसक रही हैं व्याकुल होकर, जिनमें अतिशय प्रेम परस्पर ॥ २ ॥

[अपनी सखीके दुःखमें घबराई हुई और एक दूसरीको प्यार करनेवाली दो हंसिनियाँ आँखोंसे आँसू बहाती हुई तालाबके तीरपर बैठी सिसक रही हैं ॥ २ ॥]

सहजन्या—(चित्रलेखाको देखकर दुःखके साथ) सखी चित्रलेखा! मुरझाए हुए कमलके समान तेरा उदास मुँह बताए दे रहा है कि तेरा जी ठीक नहीं है। तू मुझे अपनी व्यथाका कारण तो बता। मैं भी तेरा दुःख बाँट लेना चाहती हूँ।

चित्रलेखा—(सकरुणम्) सहि ! अच्छरोवारपज्जाएण इह भअवदो सुज्जस्स पादमूलोवट्ठाणे वट्ठदि त्ति बलिअं क्खु उव्वसीए उक्कंठिदम्हि । [सखि ! अप्सरोवारपर्यायेणेह भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तत इति बलवत्खलु उर्वश्यायुत्कण्ठितास्मि ।]

सहजन्या - सहि ! जाणे वो अण्णोण्णसिणेहं । तदो तदो । [सखि ! जाने युवयोरन्योन्यस्नेहम् । ततस्ततः ।]

चित्रलेखा—तदो इमाइं दिबसाइं को णु क्खु वुत्तांतो त्ति पणिधाणट्ठिदाए मए अच्चाहिदं उवलद्धं । [ततः एतेषु दिवसेषु को न खलु वृत्तान्तः इति प्रणिधानस्थितया मयात्याहितमुपमलब्धम् ।]

सहजन्या—(सावेगम्) सहि कीरिसं तं । [सखी कीदृशं तत् ।]

चित्रलेखा—(सकरुणम्) उव्वसी किल तं रदिसहाअं राएसिं अमच्चेसु णिवेसिदरज्जधुरं गेण्हिअ गंधमादणवणं विहरिदुं गदा । [उर्वशी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता ।]

सहजन्या—(सश्लाघम् ।) सो णाम संभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु । तदो तदो । [स नाम संभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु । ततस्ततः]

चित्रलेखा—तहिं क्खु मंदाइणीए पुलिणेसु गदा सिअदापव्वद केलीहिं कीलमाणा विज्जाधरदारिआ उदयवदी णाम देण राएसिणा णिज्झाइद त्ति कुविदा उव्वसी । [तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलिभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निध्यातेति कुपिता उर्वशी ।]

सहजन्या—होदव्वं । दूरारूढो क्खु पणओ असहणो । तदो तदो । [भवितव्यम् । दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहनः ततस्ततः ।]

चित्रलेखा—(दुखी होकर) सखी ! भगवान् सूर्यकी सेवाके लिये यहाँ सब अप्सराओंकी पारी बँधी हुई है । आज मैं भी अपनी पारीपर आई थी और इसीलिये आज उर्वशीको स्मरण करके मेरा जी बड़ा व्याकुल हो उठा है ।

सहजन्या—हाँ सखी, यह तो मैं जानती हूँ कि तुम दोनों एक दूसरीको बड़ी प्यार करती हो । हाँ तब !

चित्रलेखा—यह सोचकर जब मैंने उसका कुशल-समाचार जाननेको ध्यान लगाया तो जान पड़ा कि वह बड़े संकटमें जा पड़ी है ।

सहजन्या—(घबराकर) संकट कैसा सखी ?

चित्रलेखा—(रुआँसी-सी होकर) विहार करनेके लिये उर्वशी गंधमादन पर्वतपर अपने प्रेमी राजा पुरूरवाके साथ चली गई थी, जो राज्यका काम मंत्रियोंको सौंपकर उसके साथ ही चले गए थे ।

सहजन्या—(प्रशंसा करती हुई) ऐसे ही सुन्दर प्रदेशमें संभोग करना तो सच्चा संभोग कहलाता है । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

चित्रलेखा—वहाँ जब वह मंदाकिनीके तटपर जाकर बालूके टीले बना-बनाकर खेल रही थी, उस समय वह देखती क्या है कि उदयवती नामकी एक विद्याधरकी कन्याको राजा बैठे घुर रहे हैं । बस इसी बातपर उर्वशी बिगड़ खड़ी हुई ।

सहजन्या—हाँ, यह होता ही है । जब प्रेम बहुत बढ़ जाता है तब ऐसी बातें सही नहीं जाया करतीं । हाँ तब !

चित्रलेखा—तदो सा भट्टिणो अणुणअं अप्पडिवज्जमाणा गुरुसावसंमूढहिअआ विसुमरिददेवदाणिअमा इत्थिआजणपरिहरणिज्जं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसाणंतरं अ काणणोवंतवत्तिलदा भावेण परिणदं से रूवम्। [ततः सा भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशापसंमूढहृदया विस्मृतदेवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्ति लताभावेन परिणतमस्या रूपम्।]

सहजन्या—(सशोकम्) सव्वधा णत्थि विहिणो अलंघणिज्जं णाम जेण तारिसस्स अणुराअस्स अअं एव्व एक्कवदे अण्णारिसो पलिणामो संवुत्तो। अह किमवत्थो सो राएसी। [सर्वथा नास्ति विधेरलङ्घनीयं नाम येन तादृशस्यानुरागस्यायमेवैकपदेऽन्यादृशः परिणामः संवृत्तः। अथ किमवस्थः स राजर्षिः।]

चित्रलेखा—सो वि तस्सिं एव्व काणणे पिअदमं विचिण्णतो अहो—रत्ते अदिवाहेदि। (नभोवलोक्य) इमिणा उण णिव्वुदाणं वि उक्कंठाकारिणा मेहोदएण अणत्थाहीणो हविस्सदि। [सोऽपि तस्मिन्नेव कानने प्रियतमां विचिन्वन्नहोरात्रानतिवाहयति। एतेन पुनर्निर्वृतानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति।]

(नेपथ्ये जम्भलिका)

सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअंमिसिणिद्धअं।
अविरलवाहजलोल्लअँ तम्मइ हंसी-जुअलअं ॥ ३ ॥
[सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम्।
अविरलबाष्पजलार्द्रं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥]

सहजन्या—सहि! ण क्खु तारिसा आकिदिविसेसा चिरं दुक्खभाइणो होन्ति। तां अवस्सं किंपि अणुग्गहणिमित्तं भूवोवि समाअमकारणं हविस्सदि। (प्राचीदिशं विलोक्य)

चित्रलेखा—भरत मुनिके शापसे उसकी बुद्धि ऐसी मारी गई कि राजाकी मनुहारको उसने ठुकरा भी दिया और कार्तिकेयके नियमका ध्यान छोड़कर वह उस कुमारवनमें जा ही तो पैठी जहाँ स्त्रियोंके जानेकी रोक है। बस, ज्योंही वह उसमें घुसी त्योंही वह कुमार-वनके बाड़ेपर ही लता जा बनी।

सहजन्या—(शोकके साथ) सचमुच भाग्य किसीको नहीं छोड़ता। बताइए, कहाँ तो ऐसा प्रेम और कहाँ उसका ऐसा उलटा फल। अच्छा, अब उन राजर्षिकी क्या दशा है?

चित्रलेखा—वे भी उसी वनमें प्यारीको दिन-रात खोजते हुए अपने दिन बिताए डाल रहे हैं। (आकाशकी ओर देखकर) सुखी लोगोंके मनमें भी चाह जगा उठानेवाले इन बादलोंको देखकर तो उनका जी ही टूट गया होगा।

(नेपथ्यमें जम्भलिका नामक गीति)

दो हंसिनियाँ सखी-व्यथासे अश्रु बहातीं सरसी-तटपर।
सिसक रही हैं व्याकुल होकर जिनमें अतिशय प्रेम परस्पर ॥ ३ ॥

[अपनी सखीके दुःखमें घबराई हुई और एक दूसरीको प्यार करनेवाली दो हंसिनियाँ आँखोंसे आँसू बहाते हुए तडागके तीरपर बैठी सिसक रही हैं ॥ ३ ॥

सहजन्या—देखो सखी! ऐसे भाग्यवान् पुरुष बहुत दिनोंतक दुखी नहीं रहा करते। इसलिये

ता एहि। उदअंमुहस्स भअवदो सुज्जस्स उवठ्ठाणं करेम्ह। [सखि ! न खलु तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो भवन्ति। तदवश्यं किमप्यनुग्रहनिमित्तं भूयोऽपि समागमकारणं भविष्यति। तदेहि। उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः।]

(नेपथ्ये खण्डधारा)

चिंतादुम्मिअमाणसिआ सहअरिदंसण लालसिआ।
विअसिअ कमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए॥ ४॥

[चिन्तादूनमानसिका सहचरिदर्शनलालसिका।
विकसितकमलमनोहरे विहरति हंसी सरोवरे।]

(इति निष्क्रान्ते)

॥ प्रवेशकः ॥

(नेपथ्ये पुरूरवसः प्रावेशिक्याक्षिप्तिका)

गहणं गइंदणाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो।
विसइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणि अदेहपब्भारो॥ ५॥

[गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहोन्मदप्रकटितविकारः।
विशति तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः।]

(ततः प्रविशति आकाशबद्धलक्ष्यः उन्मत्तवेषो राजा)

कोई न कोई ऐसा कारण आ ही जायगा कि वे दोनों फिर मिल जायँगे (पूर्व दिशाकी ओर देखकर) लो, सूर्य निकल आए हैं। आओ हम लोग सूर्यकी पूजा कर लें।

(नेपथ्यमें खण्डधारा गीति)

चिन्ता-भावित प्रिया सखीसे मिलनेको अतिशय उत्कंठित।
दो हंसिनियाँ कमल-सुसज्जित सरसी-जलमें विहर रही हैं॥ ४॥

[चिन्तासे अनमनी और अपनी सखीसे मिलनेको अधीर हंसी, खिले हुए कमलोंसे लुभावने लगनेवाले तालाबमें बिहार कर रही हैं॥ ३॥]

(दोनों जाती हैं।)

॥ प्रवेशक॥

(नेपथ्यमें पुरूरवाके प्रवेशके लिए आक्षिप्तिका गीतका गान)

वह विशाल गज प्रिया-विरहमें अतिशय व्याकुल चला आ रहा।
कोमल सुमन और किसलयसे देह सजाकर व्यथा गा रहा॥ ५॥

[यह बड़ा-सा हाथी अपनी प्यारीके बिछोहमें पागल होनेके कारण अपने मनकी व्यथा प्रकट करता हुआ-सा पेड़ोंके फूलों और कोमल पत्तोंसे अपनी विशाल शरीरको सजाता हुआ इधर वनकी ओर बढ़ा चला आ रहा है॥ ५॥

(आकाशकी ओर मुँह उठाए और पागल-जैसा वेश बनाए राजाका प्रवेश)

राजा—(सक्रोधम्) आः दुरात्मन् रक्षः ! तिष्ठ तिष्ठ । मे प्रियतमामादाय गच्छसि । (विलोक्य) हन्त ! शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्मामभिवर्षति ।

(नेपथ्ये)

हिअआहिअपिअदुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ ।
वाहोवग्गिअणअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ॥ ६ ॥

[हृदयाहितप्रियादुःखः सरोवरे धुतपक्षः ।
वाष्पापवल्गितनयनस्ताम्यति हंसयुवा ।]

(लोष्ठं गृहीत्वा हन्तुं धावन् विभाव्य सकरुणम्)

कथम्—

नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः सुरधनुरिदं दुराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरंपरा कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥७॥

(नेपथ्ये)

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णवतडसामलि, धाराहरु वरिसेइ ॥ ८ ॥

[मया ज्ञातं मृगलोचनां निशाचरः कोऽपि हरति ।
यावन्नु नव तडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति ॥]

(विचिन्त्य सकरुणम्) क्व नु खलु सा रम्भोरुर्गता स्यात् ।

राजा—(क्रोधसे) अरे, खड़ा तो रह दुष्ट राक्षस ! खड़ा रह ! तू मेरी प्रियतमाको उठाए लिए चला जा रहा है ? (देखकर) अरे ! यह तो पहाड़की चोटीसे आकाशमें उड़कर मुझपर बाण बरसाने लगा ।

(नेपथ्यमें)

युवा हंस यह प्रिया-विरहसे सरसी-जलमें व्याकुल होकर ।
निज नयनोंसे नीर बहाकर पंख फड़फड़ा सिसक रहा है ॥ ६ ॥

[यह जवान हंस अपनी प्यारीके बिछोहमें पंख फड़फड़ाता हुआ आँखोंमें आँसू भरे तालाबमें बैठा सिसक रहा है ॥ ६ ॥]

(एक ढेला लेकर मारने दौड़ता है, पर फिर ठीक समझकर करुणाके साथ)

अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है, राक्षस नहीं । इसमें खिंचा हुआ यह इन्द्रधनुष है, राक्षसका धनुष नहीं । और ये जो टप-टप बरसे जा रहे हैं ये बाण नहीं हैं, बूँदे हैं और यह जो कसौटीपर बनी हुई सोनेकी रेखाके समान चमक रही है, यह भी मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, बिजली है ॥ ७ ॥

(नेपथ्यमें)

मैंने समझा कोई निशिचर हर ले जाता है प्यारीको ।
पर यह काला घन बरसाता जल है बिजली भी चमकाता ॥ ८ ॥

[मैंने समझा था कि मृगके समान आँखोंवाली मेरी प्यारीको कोई राक्षस हरे लिए चला जा रहा है, पर यहाँ बिजलीको चमकाता हुआ काला बादल केवल पानी बरसाए डाल रहा है ॥८ ॥]

(दुःखसे सोचकर) वह केलेके समान जाँघोंवाली सुन्दरी कहाँ चली गई होगी !

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति ।
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं ।
सा चात्यन्तमदर्शनं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥ ९ ॥

(इति दिशोऽवलोक्य सनिःश्वासम् ।) अये ! परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि कुतः ।—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥ १० ॥

जलहर संहर एहु कोपइँ आढत्तओ
अविरलधारासारदिसामुहकंतओ ।
ए मइँ पुहविँ भमंतो जइ पिअँ पेक्खिमि
तव्वे जं जु करीहिसि तं तु सहीहिमि ॥ ११ ॥

[जलधर संहरैतं कोपमाज्ञप्तः अविरलधारासारदिशामुखकान्तः ।
ए अहं पृथ्वीं भ्रमन्यदि प्रियां प्रेक्षे तदा यद्यत्करिष्यसि तत्तत्सहिष्ये ॥]

(विहस्य) मुधैव खलु मया मनसः परितापवृद्धिरुपेक्ष्यते । यथा मुनयोऽपि व्याहरन्ति — राजा कालस्य कारणमिति । तत्किमहं जलदसमयं न प्रत्यादिशामि ।

गंधुम्माइअमहुअरगीएहिँ वज्जंतेहिँ परहुअतूरेहिँ ।
पसरिअपवणुव्वेलिअपल्लवणिअरुसुललिअविविहपआरेहिँ णच्चइ कप्पअरु ॥१२॥

कहीं वह क्रोधमें आकर अपने दैवी प्रभावसे छिप न गई हो, पर उसने आजतक तो इतनी देर कभी नहीं की थी या कहीं वह स्वर्ग ही न चली गई हो। पर यह तो हो नहीं सकता क्योंकि मुझे तो वह जी जानसे प्यार करती है। उसे तो मेरे सामनेसे देवताओंके शत्रु राक्षस भी हरकर नहीं ले जा सकते, फिर भी न जाने क्यों मुझे वह कहीं नहीं दिखाई दे रही है। यह कैसा दुर्भाग्य है ॥९॥

(चारों ओर देखकर लम्बी साँस लेकर) अरे ! फूटे भोगवालोंके लिये तो आपत्ति पर आपत्ति आया ही करती है। क्योंकि —कहाँ एक ओर तो प्रियाका ऐसा बिछोह जो सहा नहीं जा रहा है और कहाँ दूसरी ओर ऐसा सुहावना दिन, जो बादलोंके उठने और धूपके छिप जानेसे और भी लुभावना हो गया है ॥ १० ॥

चारों ओर गगनमें व्यापक वारिद ! अब निज कोप रोक लो ।
स्वीय प्रियाको पाकर तब मैं सह लूंगा सब साँसत जी भर ॥ ११ ॥

[लगातार बरसनेसे चारों ओर फैले हुए अरे बादल ! इस समय मेरे कहनेसे तुम अपना क्रोध रोक लो। पृथ्वीपर घूमकर जब मैं अपनी प्रियाको पा जाऊँ, तब तुम जो भी करोगे वह मैं सिरमाथे लेकर सहूँगा ॥ ११ ॥]

(हँसकर) मैं अकारथ ही अपने मनकी पीडाको यों ही बढ़ाए जा रहा हूँ। क्योंकि मुनि लोग भी कहते हैं कि राजा जैसा समय चाहे, वैसा समय ला सकता है, तो मैं इस वर्षाके समयको ही क्यों न आज्ञा दे दूँ।

गन्ध-मत्त भ्रमरोंका गुञ्जन और कोकिला-वंशी रव ले ।
गुञ्जित पवन हिलाता किसलय, कल्पवृक्ष मानो नर्त्तन-रत ॥ १२ ॥

[गन्धोन्मादितमधुकरगीतैः; वाद्यमानैः परभृततूर्यैः ।
प्रसूतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरः सुललितविविधप्रकारैः नृत्यति कल्पतरुः ।।]

अथवा न प्रत्यादिशामि जलदसमयं यत्प्रावृषेण्यैरेव लिङ्गैर्मम राजोपचारः सम्प्रति। कथमिव—

विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।
धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः
धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः ।। १३ ।।

भवतु। किमेवं परिच्छदश्लाघया । यावदस्मिन्कानने तां प्रियामन्वेषयामि।

(नेपथ्ये)

दइआरहिओ अहिअं दुहिओ बिरहाणुगओ परिमंथरओ ।
गिरिकाणणए कुसुमुज्जलए गजजहवई बहुझीणगई ।। १४ ।।
[दयितारहितोऽधिकं दुःखितो विरहानुगतः परिमन्थरः ।
गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले गजयूथपतिर्बहुक्षीणगतिः ।।]

(परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त हन्त ! व्यवसितस्य मे संदीपनमिव संवृत्तम् । कुतः—

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीसलिलगर्भैः ।
कोपादन्तर्बाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः ।। १५ ।।

[सुगन्धसे झूमनेवाले भौरोंके गानेके साथ-साथ और कोयलकी बोलीमें बजनेवाली बंसियोंकी ध्वनिसे गूँजते हुए पवनसे जिस कल्पवृक्षके कोमल पत्ते हिल रहे हैं, वह देखो कैसी सुन्दरतासे अनेक प्रकारके हाव-भावके साथ नाचे जा रहा है ।। १२ ।।]

पर इस वर्षाके समयको कुछ कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि वर्षाकालके जो चिह्न दिखाई दे रहे हैं, उन्हींके कारण तो मैं आज भी राजाके समान शोभा दे रहा हूँ । क्योंकि देखो—बिजलीके सोनेसे बना हुआ यह बादल ही मेरा छत्र है । निचुलके पेड़ ही मेरे ऊपर अपनी मञ्जरियोंके चँवर डुला रहे हैं । गर्मी समाप्त हो जानेके कारण मधुर गान करनेवाले ये मोर ही भाटोंका काम कर रहे हैं और झरनोंके मोती भेंट करती हुईं ये पहाड़ियाँ ही मेरी प्रजा हैं ।। १३ ।।

अच्छा, जाने दो, अपने ठाट-बाटकी बड़ाई करनेसे लाभ ही क्या ? चलूँ, इसी वनमें प्रियाको खोज देखूँ ।

(नेपथ्यमें)

सुमनोज्वल पर्वतपर यह गज । मन्द घूमता प्रिया-विरहमें ।। १४ ।।

[प्यारीके विरहसे अत्यन्त दुखी होनेसे यह बड़ा-सा हाथी फूलोंके कारण उजली बनी हुई इस पहाड़ीमें धीरे-धीरे घूम रहा है ।। १४ ।।]

(घूमकर और देखकर) हाय ! हाय ! उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मेरी पीडाको और भी अधिक बढ़ा देनेवाला यह एक और दूसरा आ मिला । क्योंकि इस नये कन्दलीके पेड़के जल-भरे लाल फूलोंको देखकर मुझे उर्वशीके उन नेत्रोंका स्मरण हो आया, जो क्रोधसे लाल हो उठे थे और जिनमें आँसू छलक आए थे ।। १५ ।।

इतो गतेति कथं नु तत्रभवति मया सूचयितव्या। यतः—

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यदि सा सुगात्री मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्याः दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का ॥१६॥

(परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्) उपलब्धमुपलक्षणं येन तस्याः कोपनाया मार्गोऽनुमीयते।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषाभिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम् ॥ १७ ॥

भवतु। आदास्ये तावत्। (परिक्रम्य विभाव्य च सास्रम्) कथं सेन्द्रगोपं नवशाद्वलमिदम्। कुतो नु खलु निर्जने वने प्रिया-प्रवृत्तिरवगमयितव्या। (शिखिनं दृष्ट्वा) अये! अयमासारोच्छ्वसितशैलेयस्थलीपाषाणमारूढः--

आलोकयति पयोदान्प्रबलपुरोवातताडितशिखण्डः।
केका गर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ॥ १८ ॥

(उपेत्य) भवतु। यावदेनं पृच्छामि।

(नेपथ्ये)

संपत्तविसूरणओ तुरिअं परवारणओ।
पिअअम-दंसण-लालसओ गअवरु विम्हिअ-माणसओ ॥ १९ ॥

फिर, यह मुझे कैसे जान पड़ेगा कि वह किधरसे गई है। यदि वह सुन्दरी वर्षासे भीगी हुई बालूवाले इस वनकी धरतीपर चलती होती तो महावरसे रँगे हुए उसके सुन्दर पैरोंकी ऐसी छापें दूरतक अवश्य दिखाई देतीं, जो उसके नितम्बोंके भारी होनेके कारण एड़ीकी और अधिक गहरी होतीं ॥ १६ ॥

(इधर-उधर घूमकर हर्षके साथ) मुझे कुछ तो ऐसे चिह्न मिल रहे हैं, जिनसे मैं कुछ-कुछ अनुमान लगा सकता हूँ कि वह क्रोधित देवी किधरसे गई होगी—क्योंकि सुग्गेके पेट-जैसे हरे रंगवाली उसकी चोली यही है; जिसपर उसके आँसुओंसे घुलकर ओठोंसे गिरे हुए लाल रंगकी बुँदकियाँ दिखाई दे रही हैं और जो क्रोधमें हड़बड़ीसे चलनेके कारण खिसककर नीचे गिर गई होगी ॥ १७ ॥

अच्छा, तो मैं इसे उठाए लेता हूँ। (घूमकर उसे देखकर रोता हुआ) अरे! यह तो हरी घासपर बीरबहूटियाँ फैली हुई हैं। अब इस सुनसान वनमें प्यारीका ठिकाना कहाँसे मिल पावेगा। (मोरको देखकर) अरे! वर्षासे भाप छोड़नेवाली चट्टानपर बैठा हुआ और सामनेके प्रचण्ड पवनसे छितराती हुई कलँगीवाला यह मोर अपनी ग्रीवा ऊँचे उठाकर क्रें-क्रें करता हुआ बादलोंको देख रहा है ॥ १८ ॥

(पास जाकर) अच्छा, चलूँ इसीसे पूछ देखता हूँ।

(नेपथ्यमें)

व्यथा-भरित निज प्रिया-मिलनको यह अधीर गज शत्रु-निकन्दन।
बड़े वेगसे चला आ रहा घबराया-सा मनमें सत्वर ॥ १९ ॥

[दुःखसे भरा, अपनी प्रियतमाको देखनेके लिये अधीर और अपने शत्रुको पछाड़ देनेवाला यह बड़ा-सा हाथी मनमें घबराया हुआ-सा बड़े वेगसे बढ़ा चला जा रहा है ॥ १९ ॥]

[सम्भ्रान्तविसूरणः त्वरितं परवारणः ।
प्रियतमदर्शनलालसो गजवरो विस्मितमानसः ॥]

(अञ्जलिं बद्ध्वा)

बंहिण पइँ इअ अब्भत्थिअम्मि ओअक्खहि मं ता
एत्थ वणे भम्मंते जइ पइँ दिट्ठी सा महु कंता ।
णिसम्महि मिअंकसरिसवअणा हंसगई
ए चिण्हे जाणीहिसि आअक्खिउ तुज्झ मइँ ॥ २० ॥

[बर्हिण त्वामित्यभ्यर्थये आचक्ष्व मे तत्
अत्र वने भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता ।
निशामय मृगाङ्कसदृशवदना हंसगतिः
अनेन चिह्नेन ज्ञास्यस्याख्यातं तव मया ॥]

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत् ॥ २१ ॥

(विलोक्य) कथमदत्त्वैव प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः । किं नु खलु हर्षकारणमस्य । (विचिन्त्य) आं ज्ञातम्—

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥ २२ ॥

(हाथ जोड़ते हुए)

अरे मोर ! है विनति, यदि कहीं देखा हो मेरी प्यारीको ।
चन्द्रमुखी, हंसी-गति है वह, इतनेसे पहचान सकोगे ॥ २० ॥

[अरे मोर । मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि घूमते-फिरते तुमने मेरी खोई हुई प्यारी कहीं देखी हो तो मुझे बता दो । सुनो ! उसका मुँह चन्द्रमाके समान है और उसकी चाल हंस-जैसी है । बस, मैं जो चिह्न तुम्हें बता रहा हूँ, उतनेसे ही तुम उसे पहचान पा लोगे ॥ २० ॥]

उजले कोनोंकी आँखोंवाले मोर ! क्या तुमने मेरी वह प्रियतमा इस वनमें देखी है, जिसकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं, जिसके लिये मैं व्याकुल हूँ और जो ऐसी सुन्दर है कि बस, उसे देखते ही बनता है ॥ २१ ॥

(देखकर) क्या, बिना उत्तर दिए ही यह नाचने लग गया । यह इतना मगन क्यों हो रहा है ? (सोचकर) हाँ समझ गया—मेरी प्रियाके खो जानेसे मन्द मन्द पवनसे छितराए बादलोंके समान इसके सुन्दर पंखोंको लजानेवाला आज कोई नहीं रह गया है । आज यदि कहीं वह सुन्दर बालोंवाली यहाँ होती, जिसके खुले हुए बालोंमें फूल गुंथे हुए होते तो उसके आगे इस मोरकी शोभाको पूछता कौन ॥ २२ ॥

भवतु । परव्यसननिर्वृतं न खलु एनं पृच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, इयमातपान्त संधुक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते परभृता विहङ्गमेषु पण्डिता जातिरेषा । यावदेनामभ्यर्थये ।

(नेपथ्ये)

विज्जज्झरकाणणलीणओ दुक्खविणिग्गअबाहुप्पीडओ ।
दूरो सारिअ हिअ आणंदओ अंबरमाणेण भमइ गइंदओ ॥ २३ ॥

[विद्याधरकाननलीनो दुःखविनिर्गतवाष्पोत्पीडः ।
दूरोत्सारितहृदयानन्दोऽम्बरमानेन भ्रमति गजेन्द्रः ।]

(इति नर्तित्वा वलन्तिकयोपसृत्य जानुभ्यां च स्थित्वा) हेले हेले ।

परहुअ महुरपलाविणि कंती णंदणबण सच्छंद भमंती ।
जइ पइँ पिअअम सा महु दिट्ठी ता आअक्खहि महु परपुट्ठी ॥ २४ ॥

[परभृते ! मधुरप्रलापिनि कान्ते नन्दनवने स्वच्छन्दं भ्रमन्ती ।
यदि त्वया प्रियतमा सा मम दृष्टा तर्ह्याचक्ष्व मे परपुष्टे ।]

भवति !

त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति मानावभङ्गनिपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।
तामानय प्रियतमां मम वा समीपं मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता ॥ २५ ॥

किमाह भवती । कथं त्वामेवमनुरक्तं विहाय गता इति । (अग्रतोऽवलोक्य) शृणोतु भवती ।

अच्छा ! दूसरोंके दुख-सुखपर ध्यान न देनेवाले इस मोरसे अब मैं बात नहीं करूँगा । (घूमकर और देखकर) अरे ! यह गर्मी बीतनेसे मतवाली कोयल जामुनकी शाखापर बैठी हुई है । पक्षियोंमें कोयल ही सबसे चतुर समझी जाती है । चलूं, इसीसे पूछ देखूं ।

(नेपथ्यमें)

विद्याधर काननमें गजवर निरानन्द हो भ्रमण कर रहा ।
सतत दुःखसे अश्रु बहाता सुखका सब सँभार खो रहा ॥ २३ ॥

[विद्याधरोंके वनमें छिपा हुआ, दुःखसे आंसू बहाता हुआ और हृदयका सारा आनन्द खोकर यह बड़ा-सा हाथी बादलके समान इधर उधर घूम रहा है ॥ २३ ॥]

(वलन्तिका रागके साथ नाचता हुआ आगे बढ़कर घुटने टेककर)

अरी मधुर कूजन-रत कोकिल ! इस वनमें उड़ते फिरते यदि ।
देखा हो प्यारीको तुमने तो तुम मुझको शीघ्र बता दो ॥ २४ ॥

[अरे रे रे ! मीठी-मीठी कूकनेवाली सुन्दर कोयल ! यदि इस नन्दन-वनमें मनचाहे ढंगसे उड़ते-फुदकते हुए तुमने कहीं मेरी प्रिया देखी हो तो बता दो ॥ २४ ॥

देखो ! कामी लोग तुम्हें मदनकी दूती बताते हैं और मानिनी स्त्रियोंका रूठना दूर करनेके लिये तुम अचूक हथियार समझी जाती हो । इसलिये या तो मेरी प्रियतमाको मेरे पास ही ले आओ या फिर अरी मिंठबोली ! मुझे ही उसके पास झटपट ले जा पहुँचाओ ॥ २५ ॥

कुपिता न तु कोपकारणं सकृदप्यात्मगतं स्मराम्यहम् ।
प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ।। २६ ।।

(ससंभ्रममुपविश्य अनन्तरं जानुभ्यां स्थित्वा कुपिता इति पुनः पठित्वा उत्थाय विलोक्य च ।) कथं कथाविच्छेदकारिणी स्वकार्य एव व्यासक्ता ।

अथवा

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य ।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता फलमभिमुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ।। २७ ।।

एवंगतेऽपि प्रियेव मे मञ्जुस्वनेति न मे कोपोऽस्याम् । सुखमास्तां भवती । इतो वयं साधयामस्तावत् (परिक्रम्य कर्णं दत्वा ।) अये दक्षिणेन वनधारां प्रियाचरणनिक्षेपशंसी नूपुररवः श्रूयते यावदेनमनुगच्छामि (परिक्रम्य)

(नेपथ्ये)

पिअअमविरहकिलामिअवअणओ अविरलवाहजलाउलणअणओ ।
दूसहदुक्खविसंठुलगमणओ पसरिअउरुतावदिविअअंगओ ।
अहिअं दुम्मिअ-माणसओ काणण भमइ गइंदओ ।। २८ ।।

[प्रियतमा विरहक्लान्तवदनोऽविरलबाष्पजलाकुलनयनः ।
दुःसहं दुःखविसंष्ठुलगमनः प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्गः ।
अधिकं दूनमानसः कानने भ्रमति गजेन्द्रः ।।]

(अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

क्या कहा तू ने ? कि तुम्हारे इतना प्यार करनेपर भी वह तुम्हें छोड़कर क्यों चली गई ? (आगे देखकर) सुनो ! तुझे एक भी बात ऐसी स्मरण नहीं आती जिसपर वह मुझसे रूठकर चली जा सके । देखो ! स्त्रियाँ तो वैसे ही अपने पतियोंपर धाक जमाए रखती हैं, इसलिये यह आवश्यक नहीं कि पति के अपराध करनेपर ही वे क्रोध करें ।। २६ ।।

(झट बैठकर घुटनें टेककर ऊपर वाली बात फिरसे कहता है, फिर उठकर देखता हुआ)

यह क्या ! मेरी बात पूरी होनेसे पहले ही यह अपने धन्धेमें जा लगी । दूसरेका दुःख चाहे जितना भी अधिक क्यों न हो, पर लोग उसे कम ही समझते हैं । इसलिये मुझ विपत्तिके मारेकी बात अनसुनी करके यह कोयल भी उसी प्रकार आँख मूंदकर पकी हुई फरैंना जामुनों का रस पीनेमें लगी हुई है, जैसे कोई मतवाला अपनी प्यारीके ओठोंका रस पीने लग रहा हो ।। २७ ।।

पर सब कुछ होनेपर भी यह गाती है मेरी प्यारीके समान ही, इसलिये मैं इसपर क्रोध नहीं करता । तुम बैठी रहो सुखसे । हम ही यहाँसे चले जाते हैं । (घूमकर सुनता हुआ) अरे ! इस वनके दक्खिनकी ओरसे प्यारीके बिछुओंकी-सी झन-झन सुनाई दे रही है । चलूं उधर भी चलकर देख लूँ । (घूमता हैं ।)

(नेपथ्यमें)

प्रिया-विरहसे व्याकुल यह गज, निज नयनोंसे नीर बहाता ।
तीव्र व्यथासे मन्दगतिक हो, शोकदग्ध वनमें है फिरता ।। २८ ।।

[प्यारीके बिछोहसे थका हुआ नयनोंसे आँसुओंकी धारा बहाता हुआ, नये अपार दुःखके कारण रुक-रुककर चलनेवाला अत्यन्त शोकसे जलते हुए शरीरवाला यह दुखी हाथी वनमें इधर-उधर घूमे जा रहा है ।। २८ ।।] (इसके पश्चात् द्विपदिका गतिके साथ चारों ओर देखकर)

(नेपथ्ये)

पिअकरिणी-विच्छोइअओ गुरुसोआणल-वीविअओ ।
वाहजलाउललोअणओ करिवरु भमइ समाउलओ ॥ २९ ॥
[प्रियकरिणीवियुक्तो गुरुशोकानलदीप्तः ।
बाष्प-जलाकुल-लोचनः करिवरो भ्रमति समाकुलः ॥]

(सकरुणम्) हा धिक् कष्टम् ।

मेघश्यामा दिशोदृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम् ।
कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितम् ॥ ३० ॥

भवतु । यावदेते मानसोत्सुकाः पतत्रिणः सरसोऽस्मान्नोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या । (उपसृत्य) भो ! भो ! जलविहङ्गमराज ।

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत् पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः ।
मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्या स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥ ३१ ॥

अये ! तथोन्मुखो विलोकयति यथा मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येवं वचनमाह ।

रे रे हंसा किं गोइज्जइ गइअणुसारें मइँ लक्खिज्जइ ।
कइँ पइँ सिक्खिउ ए गइ लालस सा पइँ दिट्ठी जहणभरालस ॥ ३२ ॥
[रे ! रे ! हंस ! किं गोप्यते गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते ।
केन तव शिक्षिता एषा गतिर्लालसा सा त्वया दृष्टा जघनभरालसा ॥]

(नेपथ्यमें)

निज प्यारी गजिनी-वियोगकी प्रबल अग्निमें दग्ध हस्तिवर ।
अश्रु बहाता; रोता व्याकुल घूम रहा एकाकी वनमें ॥ २९ ॥

[अपनी प्यारी हथिनीके विछोहकी भयंकर आगमें जलता हुआ और रोता हुआ यह हाथी व्याकुल हुआ घूम रहा है ॥२९॥

(दुःखके साथ) हाय, हाय । कैसे दुःखकी बात है कि जिसे मैं अपनी प्यारीके बिछुओंकी झन झन समझ रहा था वह उन राजहंसोंकी कूक है, जो उठे हुए बादलोंकी अँधियारी देखकर मानसरोवर जानेको उतावले हो रहे हैं ॥ ३० ॥

अच्छा, जबतक ये मानसरोबर जानेको उतावले पक्षी उड़ नहीं जाते उससे पहले ही मैं इनसे अपनी प्यारीका ठिकाना पूछे देखता हूं । (पास जाकर) अरे जल-पक्षिराज ! तुम मानसरोवर पीछे जाना और यह जो संबलके लिये तुमने कमलनालें तोड़ ली हैं, इन्हें भी अभी छोड़कर फिर ले लेना । उससे पहले तुम मुझे मेरी प्यारीका समाचार देकर मेरा उद्धार कर दो, क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रोंको सहायता देना अपने स्वार्थसे बढ़कर समझा करते हैं ॥ ३१ ॥

अरे ! यह तो केवल अपनी चोंच उपर उठाए टुकुर-टुकुर देखे जा रहा है, मानो कह रहा हो कि मानसरोवर जानेकी उतावलीमें मैंने उसे देखा ही नहीं ।

अरे हंस ! मत छिपा, समझता हूँ मैं लखकर तेरी गतिको ।
बता कहाँ सीखी है यह गति, कहाँ मन्दगति श्रोणि-भार-तन ॥ ३२॥

[अरे हंस ! तुम छिपा क्या रहे हो ? तुम्हारी चालसे ही मैं सब कुछ समझ गया । बताओ यह सुन्दर चाल तुमने सीखी कहाँसे ? उस प्यारीको तुमने अवश्य ही देखा है, जो नितम्बोंके भारसे धीरे-धीरे चला करती है ॥ ३२ ॥

यदि हंस गता न ते नतभ्रूः सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे ।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः सकलं चौर गतं त्वया गृहीतम् ।। ३३ ।।

अतश्च (इति अञ्जलिं बद्ध्वा)

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।। ३४ ।।

(विहस्य) एष चौरानुशासी राजेति भयादुत्पतितः यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (परिक्रम्यावलोक्य च) अयमिदानीं प्रियासहायश्चक्रवाकः । तावदेनं पृच्छामि ।

(नेपथ्ये)

मंमररणिअमणोहरए कुसुमिअतरुवरपल्लवए ।
दइआविरहुम्माइअओ काणण भमइ गइंदओ ।। ३५ ।।

[मर्मररणितमनोहरे कुसुमिततरुवरपल्लवे ।
दयिता विरहोन्मादितः कानने भ्रमति गजेन्द्रः ।।]

गोरोअणा-कंकुमवण्णा चक्का भणइ मइँ ।
महुवासर-कीलंती धणिआ ण दिट्ठी पइँ ।। ३६ ।।

[गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण चक्र भण माम् ।
मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा त्वया ।।]

रथाङ्गनामन् वियुतो रथाङ्गश्रोणिबिम्बया ।
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ।। ३७ ।।

यदि तैंने उस बाँकी चितवनवाली सुन्दरीको इस सरोवरके तीरपर नहीं देखा, तो बता रे चोर ! उसकी वह मदसे इठलाती चलनेवाली सुन्दर चाल तू पा कहाँसे गया है ।।३३।।

इसलिये (हाथ जोड़कर) अरे हंस ! मेरी जिस प्यारीकी चाल तू चुराए बैठा है, उसे मुझे लौटा दे, क्योंकि यदि चोरके पास चोरीका थोड़ा भी माल मिले तो उसे पूरा माल देना ही पड़ता है ।। ३४ ।।

(हँसकर) यह देखो, इसने समझ लिया न, कि मैं चोरोंका दण्ड देनेवाला राजा हूँ । बस इसी डरसे उड़ भागा । चलूँ, कहीं और खोजूँ । (घूमकर और देखकर) यहाँ अपनी प्यारीके साथ यह चकवा बैठा है, चलूँ इसीसे पूछ देखता हूँ ।

(नेपथ्यमें)

किसलय-मर्मररव परिपूरित पुष्पसमन्वित तरुवर-वनमें ।
निज प्यारीसे हो वियुक्त यह भ्रमण कर रहा गजपति व्याकुल ।। ३५ ।।
गोरोचन केशर-वर्णी रे चक्रवाक ! क्या देखा तुमने ।
सरस बसन्त समयमें क्रीडा करती मेरी मधुर प्रियाको ।। ३६ ।।

[पत्तोंकी मधुर खड़खड़ाहटसे भरे और फूलोंसे लदे हुए वृक्षोंके पत्तोंवाले इस वनमें प्यारीके बिछोहसे पागल यह बड़ा-सा हाथी इधर-उधर घूमे जा रहा है ।। ३५ ।।]

गोरोचन और केशरके रंगवाले अरे चकवे ! बता कहीं तूने वसन्तके दिनोंमें खेलती हुई मेरी सौभाग्यवती पत्नी देखा है ।। ३६ ।।

अरे चकवे ! पहिएके समान बड़े-बड़े नितम्बोंवाली प्यारीसे बिछुड़ा हुआ और मनमें सैकड़ों मनोरथ लिए हुए मैं महारथी तुझसे ही पूछ रहा हूँ ! ।। ३७ ।।

कथं कः क इत्याह माम् । मा तावत् । न खलु विदितोऽहमस्य ।

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥ ३८ ॥

कथं तूष्णीं स्थितः । भवतु । उपालभे तावदेनम् ।

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहाम्
ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुकः ।
इति च भवतो जाया स्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता
मयि च विधुरे भावः कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुखः ॥ ३९ ॥

सर्वथा मदीयानां भागधेयानां विपर्यायेण प्रभावप्रकाशः । यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (पदान्तरे स्थित्वा) भवतु न तावद्गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च)

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तःकूजितषट्पदम् ।
मया दष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम् ॥ ४० ॥

भवतु । इतो गतस्य मेऽनुशयो मा भूदित्यस्मिन्नपि कमलसेविनि मधुकरे प्रणयित्वं करोमि ।

(नेपथ्ये)

एक्कक्कमवड्ढिअगुरुअरपेम्मरसें ।
सरे हंसजुआणओ कीलइ कामरसें ॥ ४१ ॥

क्या यह मुझसे पूछ रहा है—कौन है ? कौन है ? बस रहने दे । क्या यह मुझे जानता नहीं है ? सूर्य और चन्द्रमा जिसके नाना और दादा हैं और जिसे उर्वशी और धरणीने अपने आप अपना स्वामी बना लिया है, मैं वही पुरूरवा हूँ ॥ ३८ ॥

क्यों ? चुप क्यों हो गया ? अच्छी बात है, मैं इसे डांटता हूँ न । जब तालाबोंमें तेरी प्यारी चकवी कमलके पत्तोंकी ओटमें भी हो जाती है तब तू उसे दूर गई समझकर घबराकर चिल्लाने लगता है । अपनी प्यारीसे तो तू इतना प्रेम करता है कि इतना बिछोह भी तुझसे नहीं सहा जाता और फिर भी अपनी ऐंठ तो देख कि मुझ प्यारीसे बिछुड़े हुएसे तू बाततक करनेको तैयार नहीं है ॥ ३९ ॥

मेरा भाग्य ही ऐसा है कि सब कहीं मुझे उलटा ही फल मिला जा रहा है । चलूँ, कहीं और चलकर ढूंढता हूँ (कुछ चलकर रुककर) अच्छा अभी मैं नहीं जाऊँगा (घूमकर और देखकर) यह भौंरोंकी गूंजसे भरा हुआ कमल मुझे बरबस रोके डाल रहा है, क्योंकि यह उर्वशीके उस मुखके समान दिखाई दे रहा है जो ओठपर मेरे दाँत लगनेपर सी-सी कर रहा हो ॥ ४० ॥

अच्छा ! कमलपर मँडराते हुए इन भौंरोंसे ही पूछ देखूँ जिससे यहाँसे चले जानेपर मुझको यह तो पछतावा न रह जाय कि उनसे नहीं पूछा ।

(नेपथ्यमें)

एक हंस सरसीके जलमें खेल रहा है प्रेम-मदाकुल ।
जिसके मनमें सहसा आकर बसा प्रेमका भाव मधुरतम ॥ ४१ ॥

[एक ऐसा हंस तालाबमें प्रेमके मदमें भरा खेल रहा है, जिसके मनमें प्रेमका भाव अचानक आ बसा है ॥ ४१ ॥]

[एकक्रमवर्धितगुरुतरप्रेमरसेन ।
सरसि हंसयुवा क्रीडति कामरसेन ॥]

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं

(विभाव्य)

वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे ।
यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं
तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ॥ ४२ ॥

साधयामस्तावत् । (इति परिक्रम्यावलोक्य च) अये ! एष नीपस्कंधनिषण्णहस्तः करिणीसहायो नागराजस्तिष्ठति । अस्मात्प्रियोदन्तमुपलप्स्ये । यावदेनमुपसर्पामि ।

(नेपथ्ये)

करिणीविरहसंताविओ ।
काणणे गंधुद्धुअ महुअरु ॥ ४३ ॥

[करिणीविरहसंतापितः ।
कानने गन्धोद्धतमधुकरः ॥]

(विलोक्य) अथवा न त्वरा कार्या । न तावदयमुपसर्पणकालः ।

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन ।
अभिलषतु तावदासवसुरभिरसं शल्लकीभङ्गम् ॥ ४४ ॥

(क्षणमात्रं स्थित्वा । अवलोक्य) हन्त कृताह्निकः संवृत्तः । भवतु । समीपमस्य गत्वा पृच्छामि ।

अरे भौंरे ! उस मद-भरे नैनोंवाली मेरी प्यारीका समाचार तो कह सुनाओ । (सोचकर) या कौन जाने तुमने उसे देखा ही न हो, क्योंकि यदि तुम्हें मेरी प्रियतमाके मुखकी सुगन्धित साँस मिल गई होती तो तुम इस कमलसे थोड़े ही प्यार करते होते ॥ ४२ ॥

चलें यहाँसे । (घूमकर और देखकर) अरे, इस कदम्बकी डालपर अपनी सूँड़ टेके हुए हथिनीके साथ यह एक बड़ा-सा हाथी खड़ा हुआ है । चलूँ, उसीके पास चलता हूँ ।

(नेपथ्यमें)

निज गजिनी वियोगसे व्याकुल घूम रहा है यह गज वनमें ।
जिसपर मँडराते हैं भौंरे दान-गन्धपर हो मतवाले ॥ ४३ ॥

[हथिनीके बिछोहसे तपा हुआ यह हाथी जंगलमें घूम रहा है, जिसपर गन्धसे मतवाले भौंरे मँडरा रहे हैं ॥ ४३ ॥]

(देखकर) पर हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए । अभी उसके पास जाना ठीक नहीं है, क्योंकि हथिनीने अभी-अभी अपनी सूँड़से यह पत्तोंवाली और सुराके समान गन्ध-भरी जो शल्लकीकी शाखा पकड़ तोड़ी है, उसे यह हाथी खा ले तब मैं इससे पूछूँगा ॥ ४४ ॥

(थोड़ी देर रुककर देखकर) अच्छा, अब तो इसने भरपेट भोजन कर लिया । तो अब पास चलकर पूछता हूँ ।

हउँ पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवरु।
दूरविणिज्जिअ ससहरुकंती दिट्ठी पिअ पइँ सम्मुह जंती ॥ ४५ ॥

[अहं पृच्छामि आचक्ष्व गजवर ! ललितप्रहारेण नाशिततरुवर।
दूरविनिर्जितशशधरकान्तिर्दृष्टा प्रिया त्वया सम्मुखं यान्ती ॥]

(पदद्वये पुरतः उपसृज्य)

मदकल युवतिशशिकला गजयूथप यूथिकाशबलकेशी।
स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥ ४६ ॥

(आकर्ण्य सहर्षम्) अहह, अनेन भवतः स्निग्धमन्द्रेण गर्जितेन प्रियोपलम्भशंसिना समाश्वासितोऽस्मि। साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः।

मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं नागाधिराजो भवान्
अव्युच्छिन्न-पृथुप्रवृत्ति भवतो दानं ममाप्यर्थिषु।
स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा
सर्वं मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां मानुभूः ॥ ४७ ॥

सुखमास्तां भवान्। साधयामस्तावत्। (परिक्रम्य पार्श्वतो दृष्टिं दत्वा।) अये ! अयमसौ सुरभिकन्दरो नाम विशेषरमणीयः सानुमानालोक्यते। प्रियश्चायमप्सरसाम्। अपि नाम सा सुतनुरस्योपत्यकायामुपलभ्येत। (परिक्रम्यावलोक्य च।) कथमन्धकारः। भवतु विद्युत्प्रकाशेनावलोकयामि। हन्त मदीयैर्दुरितपरिणामैर्मेघोऽपि शतह्रदाशून्यः संवृत्तः तथापि शिलोच्चयमेनमपृष्ट्वा न निवर्तिष्ये।

सहज भावसे वृक्ष-विभंजक गजवर ! तुमसे यही पूछता।
क्या देखा प्यारीको जो है करती धुंधली चन्द्र-चन्द्रिका ॥ ४५ ॥

[खेल-खेलमें ही बड़े-बड़े वृक्षोंको सहजमें उखाड़ फेंकनेवाले गजराज ! मैं तुम्हींसे पूछ रहा हूँ। बताओ, क्या तुमने मेरी उस प्रियाको इधर जाते देखा है, जो अपनी चमकसे चन्द्रमाकी चाँदनीको भी लजाए डालती है ॥ ४५ ॥

(दो पग आगे बढ़कर) अरे मतवाले हाथी ! क्या तूने अपनी दूरतक देखनेवाली आँखोंसे उस सदा युवती उर्वशीको कहीं देखा है, जो युवतियोंमें चन्द्रमाकी नई किरणके समान चमकती है और जिसके बालोंमें जूहीके फूल गुंथे हुए हैं ॥ ४६ ॥

(सुनकर हर्षसे) आहा ! इस तुम्हारे कोमल, मन्द और प्रियाका ठिकाना बतानेवाली चिग्घाड़से मेरे जीको बड़ा सहारा मिला है। तुम भी मेरे ही समान बलवान् हो, इसीलिये तुमसे मेरा बड़ा स्नेह हो गया है। मुझे तो लोग राजाओंका स्वामी कहते हैं और तुम्हें गजोंका स्वामी। तुम भी दिन-रात अपना दान (मद) बहाया करते हो तो मेरे यहाँ भी दिन-रात मँगनोंको दान देनेका काम चलता रहता है। जैसे स्त्रियोंमें रत्नके समान सुन्दर उर्वशी मेरी प्रियतमा है वैसे ही यह हथिनी भी तुम्हारी प्यारी है। इस प्रकार हम दोनों सब बातोंमें एक से ही हैं, पर मैं यही मनाता हूँ कि प्रियाके बिछोहका दुःख तुम्हें कभी न सता पावे ॥ ४७ ॥

तुम सुखी रहो। हम जा रहे हैं। (घूमकर एक ओर देखकर) अरे यह सुरभिकन्दर नामका बड़ा सुहावना पर्वत दिखाई दे रहा है और अप्सराओंको यह पर्वत बड़ा प्यारा भी है। कहीं वह सुन्दरी इस पर्वतकी तलहटीमें ही न आ मिले ! (घूमकर और देखकर) अरे ! यहाँ

पसरिअखरखुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु।
परिसप्पइ पेच्चह अइ लीणो णिअकज्जुज्जुअ कोलु ॥ ४८ ॥

[प्रसृतखरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः ।
परिसर्पति पश्यत अति लीनो निजकार्योद्युतः कोलः ॥]

अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वत-पर्वसु संनता ।
इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब - नितम्बवती तव ॥ ४९ ॥

कथं तूष्णीमेवास्ते। शङ्के विप्रकर्षान्न श्रृणोतीति। भवतु। समीपेऽस्य गत्वा पुनरेनं पृच्छामि।

फलिहसिलाअलणिम्मलणिज्झरु बहुविहकुसुमें विरइअसेहरु।
किंणरमहुरुग्गीअमणोहरु देक्खावहि महु पिअअम महिहरु ॥ ५० ॥

[स्फटिकशिलातलनिर्मलनिर्झर ! बहुविधकुसुमैर्विरचितशेखर ।
किन्नरमधुरोद्गीतमनोहर दर्शय मम प्रियतमां महीधर ॥]

(इति परिक्रम्य अञ्जलिं बद्ध्वा)

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया ॥ ५१ ॥

(नेपथ्ये तदेवाकर्ण्य सहर्षम्) कथं यथाक्रमं दृष्टा इत्याह। भवानपि अतः प्रियतरं श्रृणोतु। क्व तर्हि मे प्रियतमा। (पुनरेव सर्वक्षितिभृतां नाथ इति पठति। नेपथ्ये तदेव आकर्ण्य

कितना अँधेरा है। अच्छा, बिजली चमके तो मैं देखूँ—हाय ! हाय ! मेरे दुर्भाग्यसे बादलोंमें भी बिजली नहीं रह गई। फिर भी इस पर्वतसे पूछे बिना तो मैं यहाँसे टलूँगा नहीं।

पैंने खुरसे धरा खूँदता अड़ा टेकपर यह वनशूकर।
अपनी धुनमें मस्त बना यह घूम रहा इस वनमें निर्भय ॥ ४८ ॥

[अपने बड़े-बड़े और पैंने पैंने खुरोंसे पृथ्वीको खूँदता और अपनी टेकपर अड़ा हुआ, एक जंगली सूअर अपनी धुनमें मस्त होकर इस घने जंगलमें घूमे जा रहा है ॥ ४८ ॥]

अरे बड़ी-बड़ी ढालोंवाले पहाड़ ! अपने इस कामदेवके वनमें क्या तुमने सुन्दर नितम्बोंवाली और पोर-पोरपर झुकी हुई-सी उस सुन्दरीको देखा है, जिसके दोनों स्तन उभरकर आपसमें आ सटे हैं ॥ ४९ ॥

अरे ! यह चुप क्यों हो गया ! या कौन जाने दूर होनेके कारण ही वह सुन न सक रहा हो ! अच्छा, इसके पास जाकर पूछता हूँ।

रंगभरे सुम शिखर सुसज्जित स्फटिक शिलापर बहते झरने।
किन्नर-मिथुन गीत-रव मुखरित मुझे प्रियाकी झलक दिखा दे॥ ५० ॥

[अरे अपनी स्फटिककी चट्टानोंपर बहते हुए उजले झरनोंवाले ! अरे रंग-बिरंगे फूलोंसे अपनी चोटियाँ सजानेवाले ! अरे किन्नरोंके मधुर गीतोंसे सुहावने लगनेवाले पर्वत ! एक झलक मेरी प्यारीकी भी तो मुझे दिखा दे ॥ १० ॥

(घूमकर और देखकर) अरे पर्वतोंके स्वामी ! क्या तुमने वनके इस सुन्दर छोरमें मुझसे बिछुड़ी हुई उस निराली सुन्दरी उर्वशीको कहीं देखा है ? ॥ ५१ ॥

(नेपथ्यसे वैसे ही शब्द सुनकर सहर्ष) अरे ! क्या यह कह रहा है कि--हाँ ठीक वैसे ही देखा है, जैसा मैंने कहा था। तब तुम इससे भी प्यारी बात सुनो और बताओ कि

विभाव्य च ।) हा धिक् । ममैवायं कन्दरमुखविसर्पी प्रतिशब्द (इति मूर्च्छति । उत्थाय सविषादम् ।) अहह ! श्रान्तोऽस्मि । अस्यास्तावद्गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरङ्ग-वातमासेविष्ये । (परिक्रम्यावलोक्य च) इमां नवाम्बुकलुषामपि स्रोतोवहां पश्यतो मे रमते मनः । कुतः—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥ ५२ ॥

भवतु । प्रसादयामि तावदेनाम् । (अञ्जलिं बद्ध्वा ।)

पसीअ पिअअम सुंदरिए णए खुहिआकरुणविहंगमए णए ।
सुरसरितीरसमूसुअए णए अलिउलझङ्कारिए णए ॥ ५३ ॥

[प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि नदि क्षुभिताकरुणविहङ्गमे नदि ।
सुरसरितीरसमुत्सुके नदि अलिकुलझङ्कारिते नदि ॥]

(नेपथ्ये)

पुव्वदिसापवणाहअकल्लोलुग्गअबाहओ
मेहंगे णच्चइ सललिअं जलणिहिणाहओ ।
हंसविहंगमकुंकुम संखकआभरणु
करिमअराउलकसणकमलकुआवरणु ।

मेरी प्रियतमा है कहाँ ? (फिरसे ५१ वाँ श्लोक पढ़ता है और नेपथ्यमें फिर यही सुनकर और समझकर) हाय रे भाग्य ! यह तो पहाड़की गुफासे टकराकर निकलनेवाले मेरे ही शब्दोंकी गूँज है । (मूर्च्छित हो जाता है । फिर उठकर दुःखके साथ) अरे ! अब तो मैं थक गया हूँ । इसलिये इस झरनेके तीरपर तरङ्गोंकी ठंढी बयारमें चलकर बैठ लेता हूँ । (घूमकर और देखकर) तत्काल बरसे हुए पानीसे गँदले झरनेको देखकर भी मेरा मन प्रसन्न हो रहा है, क्योंकि मार्गमें आनेवाली चट्टानोंसे बचनेके लिये यह टेढ़ा-मेढ़ा होकर बह रहा है, इसकी लहरें चढ़ी हुई भौंहों-जैसी हैं, व्याकुल पक्षियोंकी पातें ही इसकी तगड़ी है, इसका फेन ही मानो वह वस्त्र है, जो चलनेसे ढीला पड़ गया है और जिसे वह खींचती लिए चली जा रही है । इससे मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरी क्रोधी प्रिया ही नदी बनी बह रही है ॥ ५२ ॥ अच्छा, चलता हूँ मैं इसीको चलकर मनाता हूँ ।

(हाथ जोड़कर)

चल विहगोंके कर्कश रव-युत गंग-समागम उत्सुक सरिते ।
भ्रमर-पंक्ति गुंजरित मनोहर ! मुझपर तुम प्रसन्न हो जाओ ॥ ५३ ॥

[उड़ते और कर्कश स्वरोंमें चहचहाते हुए पक्षियोंवाली गंगासे मिलनेको उतावली और भौंरोंकी पाँतोंसे गूँजनेवाली भरी सुन्दर नदी ! तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ ॥ ५३ ॥]

(नेपथ्यमें)

देखो सागरपतिका नर्तन जलमय बन छाया उसका तन ।
पवन-प्रवर्तित लहर हस्त हैं, शंख हंस आदिक आभूषण ॥

वेलासलिलुव्वेल्लिअहत्थदिण्णतालु
ओत्थरइ दसदिस रुंधेविणु णवमेहआलु ॥ ५४ ॥

[पूर्बदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुः मेघाङ्गैर्नृत्यति सललितं जलनिधिनाथः ।
हंसविहङ्गमकुङ्कुमशङ्खकृताभरणः करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणः ।
वेला सलिलोद्वेल्लितदत्तहस्ततालोऽवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः ॥]

त्वयि निबद्धरतौ प्रियवादिनी प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसि ।
कमपराधलवं मयि पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥ ५५ ॥

कथं तूष्णीमेवास्ते (विचिन्त्य) अथवा परमार्थसरिदेवैषा । न खलूर्वशी पुरूरवसमपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति । भवतु । अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि । यावत्तमेव प्रदेशं गच्छामि यत्र मे नयनयोः सा सुनयना तिरोहिता । (परिक्रम्य विलोक्य च) इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तये सारङ्गमासीनमभ्यर्थये ।

(नेपथ्ये)

अभिनवकुसुमस्तबकिततरुवरस्य परिसरे
मदकलकोकिलकूजितरवझङ्कारमनोहरे ।
नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन संतप्तो
विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा ॥ ५६ ॥

कृष्णसारच्छविर्योऽसौ दृश्यते काननश्रिया ।
नवशष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥ ५७ ॥

हस्ति-मकर-कुल नील वस्त्र हैं नील कमल उनकी मालाएँ ।
तटाघात ही ताल मनोहर, उसपर वर्षा दिग्दिगन्त भर ॥ ५४ ॥

[यह देखो ! समुद्र ही जिसका स्वामी है उस नदीका कैसा अच्छा नृत्य हो रहा है । जलमें पड़ी हुई मेघोंकी परछाइं ही उसका शरीर है । पुरवैया पवनसे उठी हुई लहरें ही मानो नृत्यके लिये उठाए हुए उसके हाथ हैं । शंख और हंस आदि पक्षी ही उसके पैरोंके घुंघरू और आभूषण हैं । हाथियों और मगरोंके झुण्ड ही उसके नीले वस्त्र हैं, नीले कमल ही उसकी मालाएँ हैं और तीरसे टकराती हुई लहरें ही मानो ताल दे रही हैं और इसी बीच वर्षाकाल भी आकर सब दिशाओंको ढँक ले रहा है ॥ ५४ ॥]

अरी नदी ! बता तो तुझसे इतना प्रेम करनेवाले, सदा मीठी बातें करनेवाले और प्रेममें कभी कोई कमी आनेकी बात ही न सोचनेवाले इस प्रेमीमें तुमने कौनसा ऐसा छोटे-से छोटा भी दोष ढूंढ पाया है कि तुम इस दासको इस प्रकार छोड़े दे रही हो ॥ ५५ ॥

अरे, यह चुप क्यों हैं ? (सोचकर) या फिर यह सचमुच नदी ही होगी । क्योंकि यदि वह उर्वशी होती हो पुरूरवाको छोड़कर समुद्रकी ओर जानेके लिये इतनी उतावली न होती । अच्छा, बिना दुःख उठाए सुख मिल भी तो नहीं सकता, चलूं, अब मैं उसी स्थानपर जा पहुँचूं जहाँ वह सुन्दर नयनोंवाली मेरी आँखोंसे ओझल हो गई थी (घूमकर और देखकर) चलूं, इस बैठे हुए हरिणसे ही प्यारीका पता पूछ देखता हूँ ।

(नेपथ्यमें)

नन्दन वनके नये फूलोंके गुच्छोंसे लदे हुए और मदमाते कोयलकी मीठी कूकसे सुहावने लगनेवाले वृक्षके पास यह हाथियोंका राजा ऐरावत अपनी प्यारी हथिनीके बिछोहकी आँचमें तपा हुआ इधर-उधर घूमे जा रहा है ॥ ५६ ॥

इस हरिणके शरीरपर बनी हुई काली-काली बुंदकियाँ ऐसी लगती हैं, मानो वनकी नई हरियाली निहारनेके लिये वनलक्ष्मीने ही इसपर अपनी चितवन ला डाली हो ॥ ५७ ॥

(विलोक्य) किं नु खलु मामवधीरयन्निवान्यतो मुखः संवृत्तः । (दृष्ट्वा)

अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा ।
तामयमनन्यदृष्टिर्भुग्नग्रीवो विलोकयति ॥ ५८ ॥

सुरसुन्दरि जहणभरालस पीणुत्तुंगघणत्थणि
थिरजोव्वण तणुसरीरि हंसगई ।
गअणुज्जलकाणणे मिअलोअणि भमंती
दिट्ठी पइँ तह विरहसमुद्दन्तरे उत्तारहि मइँ ॥ ५९ ॥

[सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
दृष्टा त्वया तर्हि विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥]

(उपसृत्य अञ्जलिं बद्ध्वा) हंहो हरिणीपते !

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु ।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभगं तथैव खलु सापि वीक्षते ॥ ६० ॥

कथमनादृत्य मद्वचनं कलत्राभिमुखं स्थितः । उपपद्यते परिभवास्पदं दशाविपर्ययः । यावदितोऽहमन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य ।

रक्तकदम्ब सोऽयं प्रियया घर्मान्तशंसि यस्यैकम् ।
कुसुममसमग्रकेसरविषममपि कृतं शिखाभरणम् ॥ ६१ ॥

(देखकर) इसने तो मेरी बात ही अनसुनी करके अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया है। (देखकर) इसके पास जो इसकी हरिणी चली आ रही थी और जिसे दूध पीनेवाले मृगछौनेने बीचमें ही रोक लिया है, उसकी ओर आँख लगाए यह एकटक देखता जा रहा है ॥ ५८ ॥

श्रोणि-भारसे मन्दगतिक हो पृथुल समुन्नत पीन पयोधर ।
सदा युवा, तन्वी, हंसी-गति मृगनयनी अप्सरा सदृश जो ।
यदि तुमने नभ-उज्ज्वल वनमें देखा हो मेरी प्यारीको ।
तो मुझको बतलाकर सत्वर विरह-सिन्धुसे तुम उबार लो ॥ ५९ ॥

[नितम्बोंके भारी होनेके कारण धीरे-धीरे चलनेवाली और ऊँचे उठे हुए मोटे-मोटे स्तनोंवाली, सदा जवान रहनेवाली, पतली कमरवाली और हंस-जैसी चालवाली उस मृगनैनी अप्सराको यदि तुमने इस आकाशके समान उजले वनमें घूमते हुए कहीं देखा हो तो उसका ठिकाना बताकर मुझे इस विरहके समुद्रसे उबार लो ॥ ५९ ॥

(पास जाकर हाथ जोड़कर) क्यों जी हरिणीके स्वामी ! क्या तुमने मेरी प्यारीको कहीं वनमें देखा है ? मैं तुम्हें उसका सब रूप-रंग भी बताए देता हूँ । सुनो ! ठीक जैसे तुम्हारी हरिणी अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंसे सुन्दर चितवन चलाती है, वैसे ही वह भी चलाती है ॥ ६० ॥

क्या यह मेरी बात अनसुनी करके अपनी हरिणीकी ओर मुँह करके बैठ गया ? ठीक ही है—जब दिन खोटे आते हैं, तब सभी दुरदुराने लगते हैं । तो फिर यहाँसे कहीं और चलकर उसे ढूँढता हूँ । (घूमकर और देखकर) यह लो ! मैंने उसके मार्गका ठिकाना पा लिया । यह वही

(परिक्रम्याशोकमवलोक्य च)

रक्तशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं······

(पवनधूयमानमूर्धानमवलोक्य सक्रोधम्)

नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छदः
तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ।। ६२ ।।

भवतु । सुखमास्तां भवान् । (परिक्रम्यावलोक्य च) किं नु खलु एतच्छिलाभेदान्तरगतं नितान्तरक्तमवलोक्यते ।

प्रभालेपी नायं हरिहतगजस्यामिषलवः
स्फुलिङ्गो वा नाग्नेर्गहनमभिवृष्टं यत इदम् ।

(विभाव्य)

अये रक्ताशोकप्रसवसमरागो मणिरयं
यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः ।।६३ ।।

अहो, अयं हरति मे मनः । भवतु । आदास्ये तावदेनम् ।

(नेपथ्ये)

पणइणिबद्धासाइअओ वाहाउलणिअणअणओ ।
गअवइ गहणे दुहिअओ भमइ क्खामिअवअणओ ।।६४।।

[प्रणयिनिबद्धाशाको बाष्पाकुलनिजनयनः ।
गजपतिर्गहने दुखितः भ्रमति क्षामितवदनः ।।]

लाल अशोकका पेड़ है, जिसमें फूले हुए फूल बता रहे थे कि गर्मी बीत गई । उसीका एक ऐसा फूल लेकर प्यारीने अपने जूड़ेका सिंगार किया था, जिसमें केसर न फूट आनेके कारण वह उस समयतक कड़ा ही था ।। ६१ ।।

(घूमकर अशोककी ओर देखता हुआ) अरे लाल अशोक ! बता इस प्रेमीको छोड़कर वह सुन्दरी कहाँ चली गई ? (पवनसे हिलती हुई अशोककी चोटी देखकर क्रोधसे) पवनसे झूमता हुआ अपना सिर हिलाकर यह क्यों कह रहे हो कि मैंने नहीं देखा । यदि तुमने उसे न देखा होता तो बताओ मधुके लालचमें इकट्ठे होनेवाले भौरोंसे कुतरी जानेवाली पंखड़ियोंवाले तुम्हारे फूल उसकी लात खाए बिना फूल कैसे उठते ।। ६२ ।।

अच्छा, तुम सुखी रहो । (घूमकर और देखकर) पत्थरकी दरारके भीतर बड़ा गहरा लाल मणि-सा दिखाई दे रहा है ? यह इतना चमक रहा है कि सिंहसे मारे हुए हाथीके मांसका टुकड़ा भी नहीं हो सकता । यह आगकी चिनगारी भी नहीं हो सकती, क्योंकि अभी-अभी घनघोर वर्षा भी हो चुकी है । (देखकर) अरे, यह तो लाल अशोकके फूलोंके समान लाल-लाल मणि है जिसे उठानेके लिये सूर्य भी मानो अपने किरण रूपी हाथ वहाँ तक बढ़ाए हुए हैं ।। ६३ ।।

अरे ! यह तो मेरे मनको बड़ा लुभा रहा है । अच्छा, चलता हूँ इसे निकाले लेता हूँ ।

(नेपथ्यमें)

प्रिया मिलनकी आशा लेकर घूम रहा है वनमें करिवर ।
अति दुःखित हो अश्रु बहाता सूखे मुँहवाला व्याकुल यह ।।

[अपनी प्यारीको पानेकी आशा लगाए, आँखोंमें आँसू भरे यह सूखे मुँहवाला हाथी इस वनमें दुखी होता हुआ घूम रहा है ।। ६४ ।।]

(ग्रहणं नाटयति । गृहीत्वा) अथवा

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः ।
सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमस्रोपहतं करोमि ॥ ६५ ॥

(इत्युत्सृजति ।)

(नेपथ्ये)

वत्स ! गृह्यतां गृह्यताम् ।

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुता-चरणरागयोनिरयम् ।
आवहति धार्यमाणः सङ्गममचिरात्प्रियजनेन ॥ ६६ ॥

राजा--(कर्णं दत्वा) को न खलु मामेवमनुशास्ति । (अवलोक्य) अये ! अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान् । भगवन् ! अनुगृहीतोऽस्मि अहमुपदेशाद्भवतः । (मणिमादाय) हंहो सङ्गमनीय !

तया वियुक्तस्य बिलग्नमध्यया भविष्यसि त्वं यदि सङ्गमाय मे ।
ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः ॥६७॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये ! किं न खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे मनो रमते । अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम् । इयं हि ।

तन्वी मेधजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः ।
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।

(मणि निकालनेका नाटच करता है । उसे पकड़कर) पर मन्दारके फूलोंसे सुगन्धित मेरी प्यारीकी जिस चोटीमें यह बँधनी चाहिए, वही जब नहीं मिल रही है, तब मैं इसे ही लेकर क्यों अपने आँसुओंसे इसे मैला करूँ ॥ ६५ ॥ (वहीं उसे छोड़ देता है ।)

(नेपथ्यमें)

वत्स ! इसे ले लो, ले लो । यह प्रियसे मिलानेवाली संगमनीय मणि है, जो पार्वतीके चरणोंकी ललाईसे बनी है । इसे जो अपने पास रखता है, उसे यह शीघ्र ही प्रियसे मिलवा देती है ॥ ६६ ॥

राजा —(सुनकर) अरे ! यह कौन मुझे इस प्रकार आज्ञा दे रहा है । (देखकर) जान पड़ता है, हरिणके समान वनमें रहनेवाले किसी मुनिने मुझपर कृपा की है । भगवन् ! आपके इस उपदेशके लिये मैं आपका आभारी हूँ । (मणि उठाकर) अरे संगमनीय मणि ! यदि मुझे उस पतली कमरवाली सुन्दरीसे मिला दोगे तो मै तुम्हें उसी प्रकार अपने मुकुटमें उठा लगाऊँगा, जैसे शिवने अपने सिरकी जटाओंमें बाल चन्द्रमाको रख लिया है ॥ ६७ ॥

(घूमकर और देखकर) अरे ! इस बिना फूलवाली लताको देखकर भी मेरा मन न जाने क्यों इतना उछला पड़ रहा है ! पर इसे देखकर तो मेरे मनको सुख मिलना ही चाहिए क्योंकि—बादलके जलसे धुले हुए कोमल पत्तोंके कारण उस सुन्दरीके समान दिखाई दे रही है, जिसके ओठ आँसुओंसे धुल गए हों, फूलनेका समय न होनेसे न फूली हुई भी यह ऐसी लगती है मानो इसने आभूषण उतार दिए हों । इसपर भौंरे भी नहीं गूँज रहे हैं, इसलिये यह ऐसी जान पड़ती है मानो इसने मौन व्रत ले रक्खा हो । इस प्रकार यह ऐसी जान पड़ती है मानो जब उसने

चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डीमामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ।। ६८ ।।

यावदस्यां प्रियानुकारिण्यां परिष्वङ्गप्रणयी भवामि ।

लए पेक्ख विणु हिअएँ भमामि । जइ विहिजोएँ पुणि तहिं पाविमि ।
ता रण्णें विणु करमि णिभंती । पुण णइ मेल्लुइँ ताह कअन्तो ।। ६९ ।।

[लते प्रेक्षस्व विना हृदयेन भ्रमामि । यदि विविधयोगेन पुनस्तां प्राप्नोमि ।
तदारण्येन विना करोमि निर्भ्रांतिं । पुनर्न प्रवेशयामि तां कृतान्ताम् ।।]

(इति उपसृत्य लतां आलिङ्गति । ततः प्रविशति तत्स्थानं एव उर्वशी ।)

राजा—(निमीलिताक्ष एव स्पर्शं रूपयित्वा ।) अये ! उर्वशीगात्रसंस्पर्शादिव निर्वृतं मे शरीरम् । तथापि नास्ति विश्वासः । कुतः—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।
अतो विनिद्रे सहसाविलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ।। ७० ।।

(शनैश्चक्षूंष्युन्मील्य) कथं सत्यमेव प्रियतमा । (इति मूर्च्छितः । पतति ।)

उर्वशी—(बाष्पं विसृज्य) समस्ससदु समस्ससदु महाराओ । (समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः ।)

राजा—(संज्ञां लब्ध्वा) प्रिये ! अद्य जीवितम् ।

त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता ।
दिष्टचा प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ।। ७१ ।।

क्रोध किया था और मैं उसे मनानेके लिये उसके पैरों पड़ा था, तब जो वह रूठकर चल दी थी उसका पछतावा किए डाल रही हो ।। ६८ ।।

तो चलूँ, अपनी प्रियाके समान दिखाई देनेवाली इस लताको ही तबतक गलेसे जा लगाऊँ ।

अरी लते ! ले देख खोलकर हृदय, यहाँ मैं घूम रहा हूँ ।
पाकर उसको ले जाऊँगा दूर, न फिर मैं आने दूँगा ।। ६९ ।।

[अरी लता ! देख ! मैं यहाँ हृदय खोलकर घूम रहा हूँ । यदि दैवयोगसे मैं उसे पा जाऊँ तो इस वनसे उसे इतनी दूर लिवा ले जाऊँगा कि फिर उसे यहाँ कभी आने ही न दूँगा ।। ६९ ।।]

(आगे बढ़कर लताको गले लगाता है । उर्वशी प्रकट हो जाती है ।)

राजा—(आँखें बन्द होनेपर भी स्पर्श करनेका नाटच करता हुआ) अरे ! मेरे शरीरको ऐसा सुख मिल रहा है मानो उर्वशी ही मेरे शरीरसे आ लिपटी हो । फिर भी विश्वास नहीं हो रहा है, क्योंकि—मैं जिस भी वस्तुको अपनी प्यारी समझ बैठता हूँ, वही क्षण भरमें बदल जाती है । इस लताको छूनेसे तो मुझे अपनी प्यारीसे मिलनेका इतना सुख मिल रहा है कि मैं अपनी आँखें खोलूँगा ही नहीं ।। ७० ।।

(धीरेसे आँखें खोलकर) अरे ! यह तो सचमुच मेरी प्यारी ही है । (मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है ।)

उर्वशी—(आँसू बहाती हुई) धीरज धरिए महाराज ! धीरज धरिए ।

राजा—(मूर्च्छासे जागकर) आज मैं जी गया प्यारी ! सुन्दरी ! तुम्हारे बिछोहके अँधेरेमें डूबते हुए मैंने भाग्यवश तुम्हें उसी प्रकार पा लिया है जैसे मरे हुएको प्राण मिल गए हों ।। ७१ ।।

उर्वशी— अब्भंतरकरणाए मए पच्चक्खीकिदवुत्तन्तो क्खु महाराओ। [अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः खलु महाराजः।]

राजा—अभ्यन्तरकरणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि।

उर्वशी—कहइस्सं। इदं दाव पसीददु महाराओ जं मए कोववसं गदाए एदं अवत्थन्तरं पाविदो महाराओ। [कथयिष्यामि। एतत्तावत्प्रसीदतु महाराजो यन्मया कोपवशं गतया एतदवस्थान्तरं प्रापितो महाराजः।]

राजा—कल्याणि! न तावदहं प्रसादयितव्यः। त्वद्दर्शनादेवप्रसन्नबाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा। तत्कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती।

मोरा परहुअ हंस रहंगो अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंगम।
तुज्झह कारण रण्ण भमन्ते को ण हु पुच्छिअ मइँ रोअंते॥ ७२॥
(मयूरः परभृता हंसो रथाङ्गः अलिर्गजः पर्वतः सरित्कुरङ्गमः।
तव कारणेनारण्ये भ्रमता को न खलु पृष्टो मया रुदता॥)

उर्वशी—एव्वं अंतक्करणपच्चक्खीकिदुवुत्तंतो महाराओ। [एवमन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः।]

राजा—प्रिये। अन्तःकरणमिति न खल्ववगच्छामि।

उर्वशी—सुणादु महाराओ। पुरा भअवदा कुमारेण सासदे कुमारवदं गेण्हिअ अकलुसो णाम गंधमादणकच्छो अज्झासिदो। किदो अ एस विही। [शृणोतु महाराजः। पुरा भगवता कुमारेण शाश्वतं कुमारव्रतं गृहीत्वाकलुषो नाम गंधमादनकच्छोऽध्यासितः। कृतश्चैष विधिः…… ।]

राजा—क इव।

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियोंसे महाराजकी सब बातें जान ली थीं।

राजा—मैं तुम्हारे "भीतरी इन्द्रिय" शब्दका अर्थ नहीं समझा।

उर्वशी—मैं बताती हूँ उसका अर्थ। पर आपसे यह प्रार्थना है कि पहले मुझे क्षमा कर दीजिए, क्योंकि मैंने ही क्रोध करके आपको इतना कष्ट पहुँचाया है।

राजा—कल्याणी! तुम्हें मुझसे नहीं क्षमा माँगनी चाहिए। तुम्हारे दर्शनसे ही मेरी अंतरात्मा और बाहरी इन्द्रियाँ सब प्रसन्न हो गई हैं। पर यह तो बताओ कि इतने दिनोंतक तुम मेरे बिना रहीं कैसे? बताओ।

मोर, कोकिला, हंस, चक्रसे, भ्रमर, हस्ति, पर्वत, सरितासे।
सूर्य किरणसे रोकर मैंने घूम घूमकर पूछा तुमको॥ ७२॥

[मोर, कोयल, हंस, चकवा, भौंरा, हाथी, पहाड़, नदी, किरणमेंसे कौन ऐसा रह गया, जिससे मैंने वनमें घूम-घूमकर रोते हुए तुम्हारे लिये नहीं पूछा॥ ७२॥

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियोंसे महाराजकी सब बातें जान ली थीं।

राजा—प्यारी! मैं सचमुच तुम्हारे इस "भीतरी इन्द्रिय" शब्दका अर्थ नहीं समझ सका हूँ।

उर्वशी—सुनिए महाराज! बहुत दिन हुए भगवान् कार्त्तिकेयने सदाके लिये ब्रह्मचर्य लेकर इस पवित्र गंधमादन पर्वतपर अपना डेरा आ जमाया और यह नियम बना दिया…।

राजा—क्या?

उर्वशी—जा किल इत्थिआ इमं पदेसं पविसदि सा लदाभावेण परिणमिस्सदि त्ति। किदो अ अअं सावान्तो गोरीचरणराअसंभवं मणिं विणा तदो ण मुच्चिस्सदि त्ति। तदो अहं गुरुसावसंमूढहिअआ देवदासमअं विसुमरिअ अगहिदाणुणआ इत्थिआजणपरिहरणीयं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसानन्तरं एव्व अ काणणोवंतवत्तिवासंतीलदाभाएण परिणदं मे रूवम्। [या किल स्त्री इमं प्रदेशं प्रविशति सा लताभावेन परिणंस्यतीति। कृतश्चायं शापान्तः गौरीचरणरागसंभव-मणिं विना ततो न मोक्ष्यत इति। ततोऽहं गुरुशापसंमूढहृदया देवतासमयं विस्मृत्यागृहीतानुनया स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरमेव च काननोपान्तवर्त्ति-वासन्तीलताभावेन परिणतं मे रूपम्।]

राजा—**प्रिये ! सर्वमुपपन्नम्।**

श्रमखेदसुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम्।
सा त्वं प्रिये सहेथाः कथं मदीयं चिरवियोगम् ॥ ७३ ॥

इदं तद्यथाकथितं त्वत्सङ्गमनिमित्तं मुनेरुपलभ्य मणिप्रभावादासादिता त्वमस्माभिः। (इति मणिं दर्शयति।)

उर्वशी—**अम्मो, संगमणीओ अअं मणी। अदो क्खु महाराएण आलिंगिदमेत्त ज्जेव्व पकिदित्थ म्हि संवुत्ता।** [अहो, सङ्गमनीयोऽयं मणिः। अतः खलु महाराजेनालिङ्गितमात्रैव प्रकृतिस्थास्मि संवृत्ता।] (मणिमादाय मूर्धनि वहति।)

राजा—**एवमेव सुन्दरि क्षणमात्रं स्थीयताम्।**

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर्ललाटनिहितस्य।
श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातपरक्तकमलस्य ॥ ७४ ॥

उर्वशी—कि जो भी स्त्री यहाँ आवेगी वह लताके रूपमें बदल जायगी। पर इस शापका उन्होंने यह उपाय भी बता दिया था कि पार्वतीजीके चरणोंकी ललाईसे उत्पन्न होनेवाले मणिके पाए बिना इस शापसे छुटकारा नहीं हो सकता। गुरुजीके शापसे मेरी बुद्धि ऐसी मारी गई कि मैं देवताओंके नियमको भूल गई और आपकी मनुहारको ठुकराकर कार्तिकेयके उस वनमें जा पैठी जहाँ स्त्रियोंको नहीं जाना चाहिए। पैठते ही वनके बाड़ेपर ही मैं वासन्ती लता बन गई।

राजा—ओ हो प्रिये ! अब मेरी समझमें सब बात आई। नहीं तो जब तुम मेरे थककर सो जानेपर भी मुझे दूर गया हुआ समझ लेती थीं, तब भला तुम मुझसे इतने दिनोंतक कैसे अलग रह सकती थी ॥ ७३ ॥

देखो, अभी तुम जिस मणिकी बात कह रही थी, वह तुमसे मिलानेवाला मणि यही है, जिसे मुनिसे पाकर मैंने तुम्हें पा लिया है। (मणि दिखलाते हैं।)

उर्वशी—क्या यही संगमनीय मणि है ? इसलिये महाराजके गले लगाते ही मैं फिर जैसीकी तैसी बन गई। (मणि लेकर सिर चढ़ाती है।)

राजा—सुन्दरी ! क्षण भर इसी प्रकार खड़ी तो रहो। सिरपर रक्खी हुई इस मणिसे चमकता हुआ तुम्हारा मुखड़ा प्रातःकालके सूर्यकी किरणोंसे चमकते हुए कमलके समान सुहावना लग रहा है ॥ ७४ ॥

उर्वशी—पिअंवद ! महंतो क्खु कालो तुए पइट्ठाणादो णिग्गदस्स । कदाइ असूइस्संति मं पकिदिओ । ता एहि णिवुत्तम्ह । [प्रियंवद ! महान्खलु कालस्तव प्रतिष्ठानान्निर्गतस्य । कदाचिदसूयिष्यन्ति मह्यं प्रकृतयः । तदेहि मिवर्तावहे ।]

राजा—यदाह भवती ।

(इति उत्तिष्ठतः)

उर्वशी—अध कधं महाराओ गंतुं इच्छदि । [अथ कथं महाराजा गन्तुमिच्छति ।]

राजा—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना ।
गमितेन खेलगमने-विमानतां नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥ ७५ ॥

(नेपथ्ये)

पाविअसहअरिसंगमओ पुलअपसाहिअअंगअओ ।
सेच्छोपत्तविमाणओ विहरइ हंसजुआणओ ॥ ७६ ॥

[प्राप्तसहचरीसङ्गमः पुलकप्रसाधिताङ्गः ।
स्वेच्छाप्राप्तविमानो विहरति हंसयुवा ॥]

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

उर्वशी—अजी मिठबोले ! आप बहुत दिनोंसे प्रतिष्ठान नगरीसे बाहर आए हुए हैं ? क्या जाने आपकी प्रजा मुझे ही इसके लिये कोसे जा रही हो । इसलिये आइए चलिए लौट चलें ।

राजा- जैसा तुम चाहो । (दोनों उठते हैं ।)

उर्वशी—तो महाराज कैसे जाना चाहते हैं ?

राजा—मैं चाहता हूँ कि बिजलीकी झंडियोंवाले और इन्द्रधनुषके नये चित्रोंवाले विमानसे बने हुए मेघपर चढ़कर ही मैं अपने नगरको पहुँच जाऊँ ॥ ७५ ॥

(नेपथ्यमें)

निज प्यारीसे मिलकर पुलकित युवा हंस यह ।
उड़ा जा रहा चढ़ विमानपर निज मनचाहे ॥

[अपनी प्यारीसे मिलकर पुलकित शरीरवाला यह जवान हंस अपने मनचाहे विमानपर चढ़ा उड़ा चला जा रहा है ॥ ७६ ॥]

(दोनों चले जाते हैं ।)

॥ चौथा अंक पूर्ण हुआ ॥

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः ।)

विदूषकः—ही ही भो दिट्ठिआ चिरस्स कालस्स उव्वसीसहाओ णंदणवणप्पमुहेसु देवदारण्णेसु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअवअस्सो। पविसिअ णअरं दाणि ससक्कारोवआरेहिं पकिदीहिं अणुरज्जंतो रज्जं करेदि। संताणत्तणं वज्जिअ ण किंवि से हीणं। अज्ज तिहि विसेसो त्ति भअवदीणं गंगाजउणाणं संगमे देवीहिं सह किदाहिसेओ संपदं उवआरिअं पविट्ठो। ता जाव तत्तभवदो अलंकरीअमाणस्स अणुलेवणमल्ले अग्गभागी होमि। [ही ही भोः दिष्टया चिरस्य कालस्योर्वशीसहायो नन्दनवनप्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः प्रियवयस्यः। प्रविश्य नगरमिदानीं ससत्कारोपचारैः प्रकृतिभिरनुरज्यमानो राज्यं करोति। सन्तानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम्। अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योर्गङ्गायमुनयोः सङ्गमे देवीभिः सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्यां प्रविष्टः। तद्यावत्तत्रभवतोऽलंक्रियमाणस्यानुलेपमाल्येऽग्रभागी भवामि।]

(इति परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

हद्धी हद्धी। दुऊलुत्तरच्छदे तालवेंटाधारे णिक्खिविअ णीअमाणो मए भट्टिणो अब्भंतरविलासिणीमोलिरअणजोग्गो मणि आमिससंकिणा गिद्धेण अक्खित्तो। (हा धिक् हा धिक् दुकूलोत्तरच्छदे तालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया भर्तुरभ्यन्तरविलासिनीमौलिरत्नयोग्यो मणिरामिषशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्तः।)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) अच्चाहिदं अच्चाहिदं। परमबहुमदो क्खु सो वअस्सस्स संगमणीओ णाम चूणामणी। अदो क्खु असमत्तणेवच्छो एव्व तत्तभवं आसणादो उट्ठिअ इदो आअच्छदि। जाव णं उवसप्पामि। [अत्याहितमत्याहितम्। परमबहुमतः खलु स वयस्यस्य

पाचवाँ अङ्क

(प्रसन्न मनसे विदूषक आता है।)

विदूषक—हि हि हि हि ! यह तो बड़े आनन्दकी बात हुई कि नन्दन वन आदि देवताओंके वनोंमें उर्वशीके साथ विहार करके मेरे प्रिय मित्र लौट आए हैं और अब अपने नगरमें आकर लोगोंसे पाई हुई आदर भेंटसे प्रसन्न होकर राज करने लगे हैं। अब एक सन्तानको छोड़कर इन्हें किसी बातकी कमी नहीं रह गई। आज पर्वका दिन होनेसे वे देवियोंके साथ गंगा और यमुनाके संगममें स्नान करके अभी रनिवासमें लौटे हैं। इसलिये जब-तक महाराज अपना साज-सिंगार पूरा करें, तबतक चलता हूँ मैं भी उनकी चन्दन-माला आदिमें अपना भाग पहले ही निकाले लेता हूँ।

(घूमता है)

(नेपथ्यमें)

हाय हाय ! ताड़की पिटारीमें रेशमका टुकड़ा बिछाकर उसपर मैं महारानीके माथेका मणि लिए चला जा रहा था कि इतनेमें एक गिद्ध झपटकर उसे मांसका टुकड़ा समझकर उठा ले उड़ा।

विदूषक—(सुनते हुए) यह तो बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ। यह मणियोंमें अनोखा

सङ्गमनीयो नाम चूड़ामणिः । अतः खल्वसमाप्त-नेपथ्य एव एत्र भवानासनादुत्थायेत आगच्छति । यावदेनमुपसर्पामि ।]

(इति निष्क्रान्तः ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति सावेगपरिजनो राजा ।)

राजा—**वेधक ! वेधक !**

आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः ।
येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥ १ ॥

किरातः—**एसो एसो क्खु मुहकोडिलग्गहेमसुत्तेण मणिणा आलिहंतो विअ आआसं पडिब्भमदि ।** [एष एष खलु मुखकोटिलग्नहेमसूत्रेण मणिनालिखन्निवाकाशं परिभ्रमति ।]

राजा—**पश्याम्येनम् ।**

असौ मुखालंबितहेमसूत्रं बिभ्रन्मणिं मंडलचारशीघ्रः ।
अलातचक्रप्रतिमं विहंगस्तद्रागलेखावलयं तनोति ॥ २ ॥

किं नु खल्वत्र कर्तव्यम् ।

विदूषकः—(उपेत्य) **भो ! अलं एत्थ घिणाए । अवराही सासणीओ ।** [भोः ! अलमत्र घृणया । अपराधी शासनीयः ।]

राजा—**सम्यगाह भवान् । धनुर्धनुस्तावत्**

यवनी—**एसा अणियस्सं** [एषाऽनेष्यामि ।] (इति निष्क्रान्ता ।)

राजा—**वयस्य ! न दृश्यते स विहगाधमः । क्व नु खलु गतः ।**

संगमनीय मणि महाराजको बड़ा प्यारा था । इसीलिये महाराज अधूरा सिंगार किए हुए ही आसन छोड़े इधर चले आ रहे हैं । चलता हूँ । (उन्हींके पास जाता है ।)

॥ प्रवेशक ॥

(सेवकोंके साथ घबराए हुए राजा आते हैं)

राजा—अरे वेधक ! वेधक ! अपने आप अपनी मृत्यु बुलानेवाला वह घोट्टा पक्षी कहाँ चला गया, जिसने रक्षा करनेवालेके घरमें ही यह पहली चोरी आ की है ॥ १ ॥

किरात—मै उसे देख रहा हूँ ! अपनी चोंचमें सोनेका डोरा पकड़े हुए यह पक्षी ऐसे चक्कर लगाए जा रहा है मानो मणिसे आकाशमें लिखे जा रहा हो ।

राजा—हाँ, विखाई दे गया । मणिके सोनेके डोरेको पकड़े हुए वेगसे चक्कर काटता हुआ वह इस प्रकार मणिके रंगका कुंडल बनाए डाल रहा है, जैसे कोई चक्कर देकर आगकी लूक घुमाए डाल रहा हो ॥ २ ॥ अब क्या करना चाहिए ?

विदूषक—(पास जाकर) देखिए ! अब अपनी दया रहने दीजिए । अपराधीको दंड देना ही चाहिए ।

राजा—ठीक कहा तुमने ! अरे धनुष तो ले आओ ।

यवनी—अभी लाई (चली जाती है ।)

राजा—मित्र ! अब तो वह दुष्ट पक्षी कहीं दिखाई ही नहीं दे रहा है । न जाने किधर उड़ा चला गया ?

विदूषकः—भो। इदो दक्खिणंतेण अवगदो सो सासणीओ कुणवभोअणो। [भोः। इतो दक्षिणान्तेनापगतः स शासनीयः कुणपभोजनः।]

राजा—(परिवृत्यावलोक्य च।) दृष्ट इदानीम्।

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः।
अशोकस्तबकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम्॥ ३॥

यवनी—(चापहस्ता प्रविश्य।) भट्टा! एदं हत्थावावसहिदं सरासणं। [भर्तः! एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्।]

राजा—किमिदानीं शरासनेन। बाणपथमतीतः स क्रव्यभोजनः। तथा हि।

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानीं पतत्रिणा नीतः।
नक्तमिव लोहिताङ्गः परुषघनच्छेदसंयुक्तः॥ ४॥

(कञ्चुकिनं विलोक्य) आर्य लातव्य!

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः।

राजा—मद्वचनादुच्यतां नागरिकः। सायं निवासवृक्षाश्रयी विचीयतां स विहगदस्युरिति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः।)

विदूषकः—भो। उवविसदु भवं संपदं! कहिं गदो सो रअणकुम्भीलओ भवदो सासणादो मुच्चिस्सदि। [भोः। उपविशतु भवान् साम्प्रतम्। क्व गतः स रत्नकुम्भीरको भवतः शासनान्मोक्ष्यते।]

राजा—(विदूषकेण सहोपविश्य) वयस्य।

रत्नमिति न मे तस्मिन्मणौ प्रियत्वं विहङ्गमाक्षिप्ते।
प्रियया तेनास्मि सखे सङ्गमनीयेन सङ्गमितः॥ ५॥

विदूषक—वह मार डालने-योग्य मांसखोआ पक्षी दक्खिनकी ओर गया है।

राजा—(घूमकर देखता है।) वह दिखाई दे रहा है। चमकते हुए मणिको इधर-उधर चोंचमें लेकर उड़ता हुआ यह पक्षी ऐसा लग रहा है मानो दिशाके माथेपर चूड़ामणि बाँधे दे रहा हो॥ ३॥

यवनी—(हाथमें धनुष् लिए आकर) यह लीजिए हथरखा और धनुष्।

राजा—अब क्या होगा धनुष्का! वह गिद्ध तो मेरे बाणकी पहुँचसे बाहर निकल गया। उस मणिको दूर उड़ा ले जाकर वह ऐसा लगने लगा है मानो घने बादलकी टुकड़ीके साथ रातको मंगल तारा चमक रहा हो॥ ४॥

(कञ्चुकीको देखकर) आर्य लातव्य!

कञ्चुकी—आज्ञा महाराज!

राजा—मेरी आज्ञासे नगरमें डुग्गी पिटवा दो कि जब यह चोर संध्याको अपने घोंसलेमें पहुँचे, तब उसे खोज लिया जाय।

कञ्चुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा (चला जाता है।)

विदूषक—अब आप बैठ जाइए महाराज! वह रत्नका चोर आपके दंडसे बचकर जायगा कहाँ?

राजा—(विदूषकके साथ बैठकर) मित्र! उस पक्षीने जो रत्न चुराया है, उसका मैं रत्न

विदूषकः—णं परिगदत्थो म्हि किदो भवता। [ननु परिगतार्थोऽस्मि कृतो भवता।]

(ततः प्रविशति सशरं मणिमादाय कञ्चुकी।)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः।

अनेन निर्भिन्नतनुः स वध्यो रोषेण ते मार्गणतां गतेन।
प्राप्तापराधोचितमन्तरिक्षात्समौलिरत्नः पतितः पतत्री॥ ६॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति।)

कञ्चुकी—अद्भिः प्रक्षालितोऽयं मणिः कस्मै प्रदीयताम्।

राजा—वेधक ! गच्छ। अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटकं प्रवेशय।

किरातः—जं भट्टा आणवेदि। [यद्भर्ताज्ञापयति।] (इति मणिं गृहीत्वा निष्क्रान्तः।)

राजा—आर्य लातव्य ! जानीते भवान् कस्यायं बाण इति।

कञ्चुकी—नामाङ्कितोऽयं दृश्यते। न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः।

राजा—तेन हि उपनय शरं यावदहं निरूपयामि।

(कञ्चुकी तथा करोति। राजा नामाक्षराण्यनुवाच्य विचारयति।)

कञ्चुकी—यावदहं नियोगशून्यं करोमि। (इति निष्क्रान्तः।)

विदूषकः—किं भवं विआरेदि। [किं भवान्विचारयति।]

राजा—श्रृणु तावत्प्रहर्तुर्नामाक्षराणि।

विदूषकः—अवहिदो म्हि। [अवहितोऽस्मि।]

होनेके नाते नहीं, वरन् इसलिये आदर करता हूँ कि उस संगमनीय मणिने ही मुझे मेरी प्यारीसे मिलाया था॥ ५॥

विदूषक—महाराज ! यह तो आप मुझे पहले ही बता चुके हैं।

(बाणके साथ मणि लिए हुए कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—जय हो, महाराजकी जय हो, इस मारने-योग्य पक्षीको आपके क्रोधने बाण बनकर मार डाला और यह अपने अपराधका ठीक दण्ड पाकर आकाशसे इस रत्नके साथ ही नीचे गिर पड़ा॥ ६॥

(सब आश्चर्य करते हैं।)

कञ्चुकी—मैं इस मणिको पानीसे धो लाया हूँ। कहिए किसे दे दूँ?

राजा—वेधक ! जाओ, इसे आगमें शुद्ध करके पेटीमें रख आओ।

किरात—जैसी महाराजकी आज्ञा। (मणि लेकर जाता है।)

राजा—क्यों आर्य लातव्य ! कुछ यह भी ज्ञात हुआ कि बाण किसका है ?

कञ्चुकी—इसपर नाम तो खुदा दिखाई देता है, पर मेरी आँखोंसे इसके अक्षर ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा रहे हैं।

राजा—अच्छा, इधर लाओ बाण। मैं ही पढ़ता हूँ।

(कञ्चुकी बाण देता है। राजा उस बाणपर लिखे हुए नामके अक्षरोंको बाँचकर सोचते हैं।)

कञ्चुकी—तबतक चलूँ मैं अपना काम देखूँ। (जाता है।)

विदूषक—आप सोच क्या रहे हैं ?

राजा—उस पक्षीको मारनेवाले वीरका नाम सुनोगे ?

विदूषक—हाँ, बताइए।

राजा—श्रूयताम् । (इति वाचयति ।)—

उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः ।
कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्द्विषदायुषाम् ॥ ७ ॥

विदूषकः—(सपरितोषम् ।) दिट्ठिआ संताणेण वड्ढदि भवं । [दिष्टया सन्तानेन वर्धते भवान् ।]

राजा—सखे ! कथमेतत् । अन्यत्र नैमिषेयसत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या । न च मया कदाचिदपि गर्भव्यक्तिरालक्षिता कुत एव प्रसूतिः । किंतु—

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम् ।
कानि दिनानि वपुरभूत्केवलमलसेक्षणं तस्याः ॥ ८ ॥

विदूषकः - मा भवं सव्वं माणुसीधम्मं दिव्वासु संभावेदु । पहावणिगूढाइँ ताणं चरिदाइँ । [मा भवान् सर्वं मानुषीधर्मं दिव्यासु संभावयतु । प्रभावनिगूढानि तासां चरितानि ।]

राजा - अस्तु तावदेवं यथा भवानाह । पुत्रसंवरणे तु किमिव कारणं तत्र भवत्याः ।

विदूषकः—मा बुड्ढि मं राआ परिहरिस्सदित्ति । [मा वृद्धां मां राजा परिहरिष्यतीति ।]

राजा—कृतं परिहासेन । चिन्त्यताम् ।

विदूषकः—को देवदारहस्साइँ तक्कइस्सदि । [को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति ।]

(प्रविश्य कञ्चुकी)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः । देव च्यवनाश्रमात्कुमारं गृहीत्वा सम्प्राप्ता तापसी देवं द्रष्टुमिच्छति ।

राजा—सुनो । (बांचता है ।) यह बाण पुरूरवा और उर्वशीके धनुर्धारी पुत्र आयु नामके उस राजकुमारका है, जो शत्रुओंके प्राण खींच लिया करता है ॥ ७ ॥

विदूषक—(संतोषके साथ) आपको पुत्र पानेकी बधाई ।

राजा—पर मित्र ! यह हो कैसे सकता है ? नैमिषेय यज्ञको छोड़कर मैं कभी उर्वशीसे अलग रहा नहीं और इस बीच मैंने उनके शरीरमें कभी गर्भके लक्षण भी नहीं देखे, फिर यह पुत्र उत्पन्न कैसे हो गया ? पर हां, एक बात है, अभी कुछ दिन पहले मैं उसके शरीरको देखता था तो उसकी आंखें अलसाई रहती थीं, उनका मुंह लवलीके पत्तोंके समान पीला पड़ गया था और उनके स्तनोंकी घुंडियां सांवली पड़ गई थीं ॥ ८ ॥

विदूषक—आप मानुषी स्त्रियोंवाली सब बातें अप्सराओंपर लागू न समझिए । वे जो चाहें अपनी दैवी शक्तिसे छिपाए रख सकती हैं ।

राजा—तो जो तुम कहते हो वही बात होगी । पर उन्होंने पुत्रको छिपा क्यों दिया ?

विदूषक—इसलिये कि कहीं राजा मुझे बूढ़ी समझकर छोड़ न दें ।

राजा—अच्छा ठिठोली न करो । ध्यानसे सोचो ।

विदूषक—भला देवताओंकी बातोंका भेद कोई कैसे पा सकता है ?

(कञ्चुकी आता है)

कञ्चुकी—जय हो, महाराजकी जय हो । देव ! च्यवन-ऋषिके आश्रमसे एक कुमारको साथ लिए हुए कोई तपस्विनी आई हैं और आपका दर्शन करना चाहती हैं ।

राजा—उभयमप्यविलम्बितं प्रवेशय।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निर्गम्य चापहस्तेन कुमारेण तापस्या च सह प्रविष्टः।)

कञ्चुकी—इत इतो भगवती। (सर्वे परिक्रामन्ति।)

विदूषकः—(विलोक्य) किं णु क्खु सो एसो तत्तभवं खत्तिअकुमारओ जस्स णामंकिदो गिद्धलक्खवेधी अद्धणाराओ। तह हि बहुअरं भवदो अणुकरेदि। [किं नु खलु स एष तत्रभवान्क्षत्रियकुमारको यस्य नामाङ्कितो गृध्रलक्ष्यवेध्यर्धनाराचः। तथा हि बहुतरं भवतोऽनुकरोति।]

राजा—स्यादेवम्। अतः खलु।

बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिः इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः॥ ९॥

कञ्चुकी—भगवति! एवं स्थीयताम्।

(तापसीकुमारौ स्थितौ।)

राजा— अम्ब! अभिवादये।

तापसी—महाभाग! सोमवंसवित्थारइत्तओ होहि। (आत्मगतम्) अम्हो अणाचक्खिदोवि विण्णादो एव्व इमस्स राएसिणो आउसो अओरसो संबंधो (प्रकाशम्) जाद पणम दे गुरुं। [महाभाग! सोमवंशविस्तारयिता भव। अहो अनाख्यातोऽपि विज्ञात एवास्य राजर्षेरायुषश्च औरसः सम्बन्धः। जात! प्रणम ते गुरुम्।]

(कुमारश्चापगर्भमञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति।)

राजा—वत्स! आयुष्मान् भव।

राजा—दोनोंको झटपट भीतर ले आओ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। (बाहर जाकर और धनुर्धारी कुमारको और तपस्विनीको साथ लेकर आता है।)

कञ्चुकी—इधर आइए देवी, इधर से। (सब घूमते हैं।)

विदूषक—(देखकर) कहीं यह वही क्षत्रिय-कुमार तो नहीं है जिसके नामवाला गिद्धपर चलाया हुआ यह आधा बाण मिला है और जो आपसे बहुत मिलता-जुलता भी है।

राजा—हो सकता है। क्योंकि इसे देखते ही आँखें भर आई हैं, हृदयमें वात्सल्य-प्रेम उमड़ा पड़ रहा है, जी खिल उठा है, मेरा शरीर धीरज खोकर काँपने लगा है और मेरी ऐसी इच्छा हो रही है कि इसे कसकर अपने गलेसे उठा लगाऊँ॥ ९॥

कञ्चुकी—भगवती! आइए यहाँ खड़ी हो जाइए। (तपस्विनी और कुमार खड़े हो जाते हैं।)

राजा—मैं प्रणाम करता हूँ माताजी!

तापसी—बड़भागी! आपसे चन्द्रवंश बढ़े। (मन ही मन) अरे! बिना बताए ही ज्ञात हो रहा है कि इस राजा और कुमारका सगा सम्बन्ध है। (प्रकट) बेटा! अपने पिताजीको प्रणाम तो करो।

(हाथमें धनुष् लिए हुए ही कुमार हाथ जोड़कर प्रणाम करता है।)

राजा—वत्स! तुम्हारी बड़ी आयु हो।

कुमारः—(स्वगतम्)

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति।
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः॥ १० ॥

राजा—भगवति ! किमागमनप्रयोजनम्।

तापसी—सुणादु महाराओ। एसो दीहाऊ आउ जादमेत्तो एव्व उव्वसीए किंवि णिमित्तं अवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो। जं खत्तिअकुमारअस्स जादकम्मादि विहाणं तं से भअवदा चवणेण असेसं अणुचिठ्ठिदं। गहीदविज्जो धणुव्वेदे अहिविणीदो। [शृणोतु महाराजः। एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः। यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः।]

राजा—सनाथः खलु संवृतः।

तापसी—अज्ज ! पुप्फसमिधकुसणिमित्तं इसिकुमारएहिं सह गदेण इमिणा अस्समविरुद्धं आअरिदं। [अद्य पुष्पसमित्कुशानिमित्तं ऋषिकुमारकैः सहगतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम्।

विदूषकः—(सावेगम्) किं विअ। [किमिव]

तापसी—गहीदामिसो किल गिद्धो पादवसिहरे णिलीअमाणो अणेण लक्खीकिदो बाणस्स [गृहीतामिषः किल गृध्रः पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो बाणस्य।]

(विदूषको राजानमवलोकयति।)

राजा—ततस्ततः।

तापसी—तदो उवलद्धवुत्तंतेण भअवदा चवणेण अहं समादिठ्ठा—णिज्जादेहि एदं

कुमार—(मन ही मन) जब मुझे केवल यही सुनकर इतना प्रेम उमड़ा पड़ रहा है कि ये मेरे पिता हैं और मैं इनका पुत्र हूँ, तब उन बालकोंको अपने माता-पितासे कितना प्रेम होता होगा, जो उन्हींकी गोदमें पलकर बड़े होते होंगे॥ १० ॥

राजा—कहिए भगवती ! कैसे पधारीं ?

तापसी—सुनिए महाराज ! जब यह चिरञ्जीवी उत्पन्न हुआ तभी कुछ सोच-समझकर उर्वशी इसे मेरे पास छोड़ गई। क्षत्रिय-कुमारके जितने जात-कर्म आदि संस्कार हैं वे सब भगवान् च्यवन ऋषिने करा दिए और पढ़-लिख चुकनेपर इसे धनुष् चलाना भी सिखा दिया है।

राजा—तब तो यह बड़ा भाग्यवान् है।

तापसी—आज फूल, समिधा और कुशा लानेके लिये जब यह ऋषिकुमारोंके साथ जा रहा था तो इसने आश्रमके नियमसे उलटा काम कर डाला।

विदूषक—(घबराकर) क्या ? क्या ?

तापसी—एक गिद्ध मांसका टुकड़ा लिए हुए पेड़ पर बैठा था। बस उसीपर ताककर इसने बाण चला दिया।

(विदूषक राजाकी ओर देखता है)

राजा—तब, तब ?

तापसी—जब भगवान् च्यवनने यह सुना तब उन्होंने आज्ञा दी कि उर्वशीकी यह धरोहर

उव्वसीहत्थे णासं त्ति । ता इच्छामि देविं उव्वसिं पेक्खिदुं । [तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समादिष्टा—निर्यातयैनमुर्वशीहस्ते न्यासमिति । तदिच्छामि देवीमुर्वशीं प्रेक्षितुम् ।]

राजा—तेन ह्यासनमनुगृह्णातु भगवती ।

(तापसी उपनीत आसन उपविशति ।)

राजा—आर्य लातव्य ! आहूयतामुर्वशीम् ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(कुमारमवलोक्य) एहि एहि वत्स !

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेनमामुपगतेन ।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥ ११ ॥

तापसी—जाद ! णंदेहि पिदरम् । (जात ! नन्दय पितरम्)

(कुमारो राजानमुपगम्य पादग्रहणं करोति ।)

राजा—(कुमारमालिङ्गय पादपीठे चोपवेश्य) वत्स ! इतस्तव पितुः प्रियसखं ब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व ।

विदूषकः—किंति संकिस्सदि । णं अस्समवासपरिचिदो एव्व साहामिओ । [किमिति शङ्किष्यते । नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामृगः ।]

कुमारः—(सस्मितम्) तात् वंदे ।

विदूषकः—सोत्थि भवदो । बड्ढदु भवं । [स्वस्ति भवतो । वर्धतां भवान् ।]

(ततः प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च ।)

उसीको ले जा देकर तत्काल सौंप आओ । इसीलिये मैं देवी उर्वशीसे मिल लेना चाहती हूं ।

राजा—तबतक आप आसन सुशोभित कीजिए ।

(लाए हुए आसनपर तापसी बैठ जाती है ।)

राजा—आर्य ! जाओ उर्वशीको बुला तो लाओ ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । (जाता है ।)

राजा—(कुमारको देखकर) इधर आओ वत्स ! इधर आओ । कहते हैं कि पुत्रको छूते ही सारा शरीर सुखी हो जाता है, इसलिये तुम भी मेरे पास आकर मुझे वैसे ही आनन्द दो, जैसे चन्द्रमाकी किरणें चन्द्रकान्त मणिको आनन्द देती हैं ॥ ११ ॥

तापसी—जाओ बेटा ! अपने पिताजीको भी सुखी करो ।

(कुमार पास जाकर राजाके पैर छूता है ।)

राजा—(कुमारको गलेसे लगाकर उसे पैर-पीढ़ेपर बैठाकर) वत्स ! अपने पिताके प्रिय मित्र इन ब्राह्मणको भी निडर होकर प्रणाम करो ।

विदूषक—डर काहे का ? आश्रममें रहनेवाले बानरोंसे तो इसकी पहलेसे ही जान-पहचान हुई रही होगी ।

कुमार—(हँसकर) तात ! प्रणाम ।

विदूषक—तुम्हारा कल्याण हो । तुम फूलो-फलो ।

(उर्वशी और कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—**इत इतो देवी।**

उर्वशी—(कुमारमवलोक्य) **को णु क्खु एसो सबाणासणो पादपीठे सअं महाराएण संजमीअमाणसिहंडओ चिट्ठदि।** (तापसीं दृष्ट्वा।) **अम्मो! सच्चवदी सूइदो अअं मे पुत्तओ आऊ। महंतो क्खु संवुत्तो।** [को नु खल्वेष सबाणासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन संयम्यमानशिखण्डकस्तिष्ठति। अहो! सत्यवतीसूचितोऽयं मे पुत्रक आयुः। महान् खलु संवृत्तः।]

(इति सहर्षं परिक्रामति।)

राजा—(उर्वशीं दृष्ट्वा) वत्स—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥ १२ ॥

तापसी—**जाद! एहि। पच्चुग्गच्छ मादरं।** [जात! एहि। प्रत्युद्गच्छ मातरम्।] (इति कुमारेण सह उर्वशीमुपसर्पति।)

उर्वशी—**अंब! पादवंदणं करेमि।** [अम्ब! पादवन्दनं करोमि।]

तापसी—**वच्छे! भत्तुणो बहुमदा होहि।** [वत्से! भर्तुर्बहुमता भव।]

कुमार—**अम्ब! अभिवादये।**

उर्वशी—(कुमारमुन्नमितमुखं परिष्वज्य।) **वच्छ! पिदरं आराधइत्तओ होहि** (राजानमुपेत्य।) **जेदु जेदु महाराओ।** [वत्स! पितरमाराधयिता भव। जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—**स्वागतं पुत्रवत्यै। इत आस्यताम्।** (इत्यर्धासनं ददाति।)

(उर्वशी उपविशति। सर्वे यथोचितमुपविशन्ति।)

कञ्चुकी—इधरसे आइए देवी! इधरसे।

उर्वशी—(कुमारको देखकर) यह हाथमें धनुष लिए हुए कौन है, जिसे पैर-पीढ़ेपर बैठाकर स्वयं महाराज उसके बाल सँवारे जा रहे हैं। (तापसीको देखकर) अरे, सत्यवतीको देखकर ही मैं समझ गई कि यह मेरा पुत्र आयु हैं। अरे! यह तो बहुत बड़ा हो गया है। (बड़ी प्रसन्न होकर घूमती है।)

राजा—(उर्वशीको देखकर बालकसे) वत्स! लो ये तुम्हारी माँ आ गईं, जो तुम्हारी ओर टकटकी लगाए देख रही हैं और जिसकी चोली तुम्हारे प्रेममें टपके हुए दूधसे भीग चली है ॥ १२ ॥

तापसी—यहाँ आओ बेटा! आगे बढ़कर माताका स्वागत करो। (कुमारको लेकर उर्वशीसे मिलनेको आगे बढ़ती है।)

उर्वशी—माताजी! आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ।

तापसी—अपने स्वामीकी प्यारी बनी रहो।

कुमार—माँ! मैं प्रणाम करता हूँ।

उर्वशी—(कुमारका मुख ऊपर उठाकर उसे शरीरसे चिपटाती हुई) वत्स! पिताकी सेवा करनेवाले बनो। [राजाके पास जाकर] जय हो, महाराजकी जय हो।

राजा—पुत्रवतीका स्वागत है। आओ, यहाँ बैठो। (अपने आधे आसनपर बैठा लेते हैं।)

(उर्वशी बैठती है। सब यथास्थान बैठते हैं।)

तापसी—वच्छे ! एसो गहीदविज्जो आऊ संपदं कवअहरो संवुत्तो। ता एदस्स दे भत्तुणो समक्खं णिज्जादिदो हत्थणिक्खेवो। ता विसज्जेदुं इच्छामि। उवरुज्झइ मह अस्समधम्मो। [वत्से ! एष गृहीतविद्य आयुः साम्प्रतं कवचहरः संवृत्तः, तदेतस्य ते भर्तुः समक्षं निर्यातितो हस्त-निक्षेपः तद्विसर्जयितुमिच्छामि। उपरुध्यते ममाश्रमधर्मः।]

उर्वशी—चिरस्स अज्जं देक्खिअ अहिअदरं अवितिण्हम्हि। ण सक्कणोमि विसज्जिदुं। अण्णय्यं उण उवरोहिदुं। ता गच्छदु अज्जा पुणो दंसणाअ। [चिरस्यार्यां दृष्ट्वाऽधिकतरमवितृष्णास्मि। न शक्नोमि विस्रष्टुम्। अन्याय्यं पुनरुपरोद्धुम्। तद्गच्छत्वार्या पुनर्दर्शनाय।]

राजा—अम्ब ! भगवते च्यवनाय मां प्रणिपातय।

तापसी—एव्वं भोदु। [एवं भवतु।]

कुमारः—आर्ये ! सत्यं यदि निवर्तसे मामप्याश्रमं नेतुमर्हसि।

राजा—अयि वत्स ! उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्यासितुं तव समयः !

तापसी—जाद ! गुरुअणो वअणं अणुचिट्ठ। [जात। गुरोर्वचनमनुतिष्ठ।]

कुमारः—तेन हि।

यः सुप्तवान्मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः।
तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम्॥ १३॥

तापसी—(विहस्य।) एव्वं करेमि। [एवं करोमि।]

उर्वशी—भअवदि ! पादवंदणं करेमि। [भगवति ! पादवन्दनं करोमि।]

राजा—भगवति ! प्रणमामि।

तापसी—वत्से ! ठीकसे पढ़-लिखकर अब यह कुमार कवच धारण करने योग्य हो गया है। इसलिये तुम्हारे स्वामीके सामने ही तुम्हारी धरोहर तुम्हें सौंपे देती हूँ। अब जाना भी चाहती हूँ क्योंकि अभी आश्रमका बहुत-सा काम मेरे बिना रुका पड़ा होगा।

उर्वशी—इतने दिनोंपर तो आप मिली हैं। अभी तो आपसे मिलकर जी ही नहीं भरा इसलिये आपको जाने देनेको जी ही नहीं चाहता। पर आपको रोक रखना भी बड़ा अन्याय होगा, इसलिये आप जाना ही चाहती हैं तो जायँ, पर फिर दर्शन अवश्य दीजिएगा।

राजा—माताजी ! भगवान् च्यवनसे मेरा प्रणाम कहिएगा।

तापसी—अच्छी बात है।

कुमार—आर्ये ! यदि आप सचमुच लौटी जा रही हों तो मुझे भी आश्रम लेती चलिए।

राजा—वत्स ! तुम ब्रह्मचर्य आश्रममें रह चुके हो, अब तुम्हें गृहस्थ आश्रममें आ रहना चाहिए।

तापसी—बेटा ! पिताजीका कहना मान लो।

कुमार—तो आप मेरे उस बड़े-बड़े पंखोंवाले मणिकण्ठक नामके मोरको यहाँ भेज दीजिएगा, जो मेरी गोदमें सोया-सोया अपना सिर मेरे हाथोंसे खुजलाए जानेका आनन्द लिया करता था॥ १३॥

तापसी—(हँसकर) अच्छा भेज दूँगी।

उर्वशी—भगवती ! मैं चरणोंमें प्रणाम करती हूँ।

राजा—भगवती ! प्रणाम।

तापसी—**सोत्थि भोदु तुम्हाणम्।** [स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम्।]

(इति निष्क्रान्ता।)

राजा—(उर्वशीं प्रति)। **कल्याणि!**

अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः सत्पुत्रेणामुना तव।
पौलोमीसंभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥ १४ ॥

(उर्वशी स्मृत्वा रोदिति।)

विदूषकः—(विलोक्य सावेगम्।) **भो! किं णु क्खु सम्पदं अत्तहोदी एक्कवदे अस्सुमुही संवुत्ता।** [भो! किं नु खलु साम्प्रतमत्र भवती एकपदे अश्रुमुखी संवृत्ता।]

राजा—(सावेगम्।)

किं सुन्दरि! प्ररुदितासि ममोपनीते वंशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे।
पीनस्तनोपरिनिपातिभिरानयन्ती मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तिमस्रैः ॥ १५ ॥

(इति अस्या बाष्पं प्रमार्ष्टि।)

उर्वशी—**सुणादु महाराओ। पढमं उण पुत्तदंसणसमुत्थेण आणंदेण विसुमरिद म्हि। दाणिं महिंदसंकित्तणेण सुमरिओ समओ मह हिअअं आआसेदि।** [श्रृणोतु महाराजः। प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनसमुत्थेनानन्देन विस्मृतास्मि। इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन स्मृतः समयो मम हृदयमायासयति।]

राजा—**कथ्यतां समयः।**

उर्वशी—**अहं पुरा महाराअगहीदहिअआ गुरुसावसंमूढा महिंदेण आणत्ता।** [अहं पुरा महाराजगृहीतहृदया गुरुशापसंमूढा महेन्द्रेण आज्ञापिता……।]

तापसी तुम दोनोंका कल्याण हो। (चली जाती है।)

राजा—(उर्वशीसे) कल्याणी! तुम्हारे इस सुपुत्रको पाकर आज मैं सभी पुत्रवालोंसे उसी प्रकार बढ़ गया हूँ, जैसे इन्द्राणीसे उत्पन्न हुए जयन्तको पाकर इन्द्र ॥ १४ ॥

(उर्वशी कोई बात स्मरण करके रो पड़ती है।)

विदूषक—(देखकर, घबराए हुए) अरे! यह क्या? यह अचानक आपकी आँखोंमें आँसू क्यों आ झलके?

राजा—(घबराकर) सुन्दरी! तुम ऐसे शुभ अवसरपर रो रही हो जब मेरे वंशको बढ़ानेवाला पुत्र मुझे मिला हो। तुम अपने मोटे स्तनोंपर गिरनेवाले आँसुओंसे दूसरे हारकी लड़ी व्यर्थ क्यों बनाए दे रही हो ॥ १५ ॥

(उसके आँसू पोंछता है।)

उर्वशी—सुनिए महाराज! पहले तो मैं पुत्रका मुँह देखकर ऐसी मगन हो उठी कि सब भूल ही गई थी, पर जब आपने अभी इन्द्रका नाम लिया तो मुझे एक बात स्मरण हो आई है जो मेरे हृदयको कचोटे जा रही है।

राजा—कहो, क्या बात है।

उर्वशी—बहुत दिन हुए, आपसे प्रेम करनेपर भरत मुनिने मुझे शाप दे दिया था। उस शापसे मैं बहुत घबरा गई थी। तब इन्द्र भगवान्ने मुझे आज्ञा दी थी……—

राजा —किमिति ।

उर्वशी—जदा सो मे पिअसहो राएसी तुइ समुप्पण्णस्स वंसकरस्स मुहं पेक्खिस्सदि तदा तुए भूओ वि मम समीवं आअंतव्वं त्ति । तदो मए महाराअविओअभीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिमित्तं भअवदो चवणस्स अस्समे एसो पुत्तओ अज्जाए सच्चवदीए हत्थे अप्पआसं णिक्खित्तो । अज्ज पिदुणो आराहणसमत्थे संवुत्तो त्ति कलअंतीए ताए णिज्जादिदो एसो मे दीहाऊ आऊ । ता एत्तिओ मे महाराएण सह संवासो । [यदा स मे प्रियसखो राजर्षिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वंशकरस्य मुखं प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति । ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं भगवतश्च्यवनस्याश्रमे एष पुत्रक आर्यायाः सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः । अद्य पितुराराधनसमर्थः संवृत्त इति कलयन्त्या तया निर्यातित एष मे दीर्घायुरायुः । तदेतावान्मे महाराजेन सह संवासः ।]

(सर्वे विषादं नाटयन्ति । राजा मोहमुपगच्छति ।)

विदूषकः—अब्बम्हण्णं । अव्वम्हणं [अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् ।]

कञ्चुकी — समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः ।

राजा—(समाश्वस्य सनिःश्वासम् ।) अहो सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य ।

आश्वासितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः ।
व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्टया वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥१६॥

विदूषकः—अअं सो अत्थो अणत्थाणुबंधो संवुत्तो । संपदं तक्केमि अत्तभवदा वक्कलं गेण्हिअ तवोवणं गंदव्वं त्ति । [अयं सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धः संवृत्तः । साम्प्रतं तर्कयाम्यत्र भवता वल्कलं गृहीत्वा तपोवनं गन्तव्यमिति ।]

राजा—क्या ?

उर्वशी—यही कि तुम्हारे प्यारे मित्र राजर्षि जब तुमसे उत्पन्न हुए पुत्रका मुँह देख लें, तब तुम फिर मेरे पास लौट आना । इसलिये जैसे ही यह बालक उत्पन्न हुआ, वैसे ही मैंने इस डरसे इसे भगवान् च्यवनके आश्रममें पढ़ाने-लिखानेके बहाने आर्या सत्यवतीके पास धरोहर बनाकर रख छोड़ा था कि यदि कहीं आप इसे देख लेंगे तो मेरा आपका बिछोह हो जायगा । आज उन्होंने मेरे इस चिरंजीव पुत्र आयुको पिताकी सेवा करने योग्य समझकर आपको ला सौंपा, इसलिये महाराजके साथ बस मैं आजतक ही रह सकती थी ।

(सब दुखी होते हैं और राजा मूर्च्छित हो जाते हैं ।)

विदूषक—यह तो बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ ।

कञ्चुकी—(ढाढस बँधाता हुआ) धीरज धरिए महाराज ! धीरज धरिए ।

राजा—(मूर्च्छासे जागकर लंबी साँस लेते हुए) अरे, दैव मेरे सुखको फूटी आँखों नहीं देखना चाहता । आज ही तो पुत्रको पाकर मेरा जी ठंडा हुआ था और आज ही तुम चली जा रही हो । यह तो ठीक ऐसा ही हुआ जैसे पहली वर्षासे ठंढाए हुए वृक्षपर अचानक बिजली आ टूटी हो ॥ १६ ॥

विदूषक—जान पड़ता है कुछ और भी विपत्तियाँ टूट पड़नेवाली हैं । मुझे तो अब यह खटका हो रहा है कि कहीं वल्कल पहनकर महाराज भी तपोवनको न चल दें ।

उर्वशी—मं वि मंदभाइणिं किदविणअस्स पुत्तस्स लाभाणंतरं सग्गारोहणेण अवसिदकज्जं विप्पओअमुहिं महाराओ समत्थइस्सदि । [मामपि मन्दभागिनीं कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभानन्तरं स्वर्गारोहणेनावसितकार्यां विप्रयोगमुखीं महाराजः समर्थयिष्यति ।]

राजा—सुन्दरि ! मा मैवम् ।

न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः ।
अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥१७॥

कुमारः—नार्हति तातः पुङ्गवधारितायां धुरि दम्यं नियोजयितुम् ।

राजा—अयि वत्स । मा मैवम् ।

शमयति गजानन्यान्गन्धद्विपः कलभोऽपि सन्
भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम् ।
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ॥ १८ ॥

आर्य लातव्य ।

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संभ्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव । (इति दुःखितो निष्क्रान्तः ।)

(सर्वे दृष्टिविघातं रूपयन्ति ।)

उर्वशी—और मेरे जैसी अभागिनीके लिये भी महाराज यही सोचते होंगे कि पढ़ा-लिखा पुत्र पानेसे इसका काम हो गया है, इसलिये अब यह स्वर्गको चली जा रही है ।

राजा—ऐसा न कहो सुन्दरी ! तुम जिस पराधीनताके कारण मुझे छोड़कर जा रही हो, उससे मनचाही वस्तु तो मिल नहीं सकती, इसलिये जाओ, तुम अपने स्वामीकी आज्ञाका पालन करो और मैं भी आज तुम्हारे पुत्रको राज्य सौंपकर इधर-उधर घूमनेवाले हरिणोंसे भरे तपोवनमें जा रहता हूँ ॥ १७ ॥

कुमार—पिताजी ! रथके जिस जुएको बड़ा बैल खींचता हो, उसे छोटेसे बछड़ेके कन्धेपर डाल देना ठीक नहीं है ।

राजा—ऐसा न कहो वत्स ! जैसे ऊँची जातिके हाथीका बच्चा भी दूसरे हाथियोंको पछाड़ दे सकता है और सँपोलेका विष भी बड़े साँपके विष जैसा ही भयंकर होता है, वैसे ही बालक होते हुए भी राजाका पुत्र ठीकसे पृथ्वीका पालन कर सकता है, क्योंकि अपने-अपने कर्त्तव्यका पालन करनेकी शक्ति अवस्थासे नहीं वरन् जाति या स्वभावसे ही उत्पन्न हो जाती है ॥ १८ ॥ आर्य लातव्य !

कञ्चुकी—आज्ञा कीजिए महाराज ।

राजा—मेरी ओरसे अमात्य-परिषद्को सूचना दे दो कि आयुके राज्याभिषेकका प्रबन्ध किया जाय ।

कञ्चुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा । (दुखी मनसे जाता है ।)

(सब लोगोंकी आँखें चौंधिया जाती है ।)

राजा—(आकाशमवलोक्य ।) किं नु खलु निरभ्रे विद्युत्संपातः ।

उर्वशी—(विलोक्य ।) अम्मो भअवं णारदो । [अहो भगवान् नारदः ।]

राजा—(निपुणमवलोक्य ।) अये भगवान् नारदः । य एषः—

गोरोचनानिकषपिंगजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः ।
मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीः हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः ॥ १९ ॥

अर्घ्यं तावदस्मै ।

उर्वशी—(यथोक्तमादाय ।) इअं भअवदे अहिरणा । इयं भगवतेऽर्हणा ।)

(ततः प्रविशति नारदः । सर्वं उत्तिष्ठन्ति ।)

नारदः—विजयतां विजयतां मध्यमलोकपालः ।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्घ्यमादायावर्ज्यं च ।) भगवन्नभिवादये ।

उर्वशी—भअवं पणमामि । [भगवन् प्रणमामि ।]

नारदः—अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम् ।

राजा—(आत्मगतम् ।) अपि नामैवं स्यात् । (कुमारमाश्लिष्य प्रकाशम् ।) वत्स ! भगवन्तमभिवादयस्व ।

कुमारः—भगवन् ! और्वशेय आयुः प्रणमति ।

नारदः—आयुष्मानेधि ।

राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम् ।

राजा—(आकाशकी ओर देखकर) खुले आकाशमें यह बिजली कैसी ?

उर्वशी—(देखकर) अरे ! ये तो भगवान् नारद हैं !

राजा—(ध्यानसे देखकर) हाँ, ये तो सचमुच भगवान् नारद ही हैं जो गोरोचनाके समान पीली जटावाले कन्धेपर चन्द्रमाकी कलाके समान उजला जनेऊ पहने और मोतियोंकी माला गलेमें डाले ऐसे उतरे चले आ रहे हैं, मानो सुनहरी शाखावाला कोई चलता-फिरता कल्पवृक्ष ही उतरा चला आ रहा हो ॥ १९ ॥ लाओ, इनकी पूजा करनेके लिये सब सामग्री तो ले आओ ।

उर्वशी—(सब सामग्री लाकर) यह रही देवर्षिकी पूजाके लिये सामग्री ।

(नारद प्रवेश करते हैं । सब उठ खड़े होते हैं ।)

नारद—मध्यम लोकको रक्षा करनेवाले महाराजकी जय हो, जय हो ।

राजा—(उर्वशीके हाथसे पूजाकी सामग्री लेकर और पूजा करके) भगवन् ! अभिवादन करता हूँ ।

उर्वशी—भगवन् ! मैं प्रणाम करती हूँ ।

नारद—तुम दोनोंका कभी बिछोह न हो ।

राजा—(मन ही मन) यदि कहीं ऐसा हो जाता ! (कुमारको गले लगाकर प्रकट) वत्स ! भगवान् नारदको प्रणाम करो ।

कुमार—भगवन् ! उर्वशीका पुत्र आयु आपको प्रणाम करता है ।

नारद—तुम्हारी बड़ी आयु हो ।

राजा—देवर्षि ! आइए, यह आसन पवित्र कीजिए ।

नारदः—तथा । (इत्युपविष्टः ।)

(सर्वे नारदमनूपविशन्ति ।)

राजा—(सविनयम्) भगवन् ! किमागमनप्रयोजनम् ।

नारदः—राजन् ! श्रूयतां महेन्द्रसन्देशः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

नारदः—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धि भवन्तमनुशास्ति ।

राजा—किमाज्ञापयति ।

नारदः—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टो महान्सुरासुरसंगरो भावी । भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः । तेन न त्वया शस्त्रं संन्यस्तव्यम् । इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति ।

उर्वशी—(अपवार्य ।) अम्महे, सल्लं विअ मे हिअआदो अवणीदं । [अहो शल्यमिव मे हृदयादपनीतम् ।]

राजा—परवानस्मि देवेश्वरेण ।

नारदः—युक्तम् ।

स्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः ।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥ २० ॥

(आकाशमवलोक्य ।) रम्भे ! उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः ।

नारद—अच्छी बात है ।

(नारद मुनिके बैठनेपर सब बैठ जाते हैं ।)

राजा—(नम्रतासे) कहिए भगवन् ! कैसे पधारनेकी कृपा की ?

नारद—इन्द्रने कुछ सन्देश भेजा है वह सुनिए—

राजा—जी मैं सुन रहा हूँ ।

नारद—अपनी दैवी शक्तिसे सबके मनकी बातें जाननेवाले इन्द्रने जब देखा कि आप वन जानेकी तैयारी कर रहे हैं तब उन्होंने कहलाया है—

राजा—जी हाँ, उन्होंने क्या आज्ञा दी है ?

नारद—त्रिकालदर्शी मुनियोंने भविष्यवाणी की है कि देवताओं और राक्षसोंमें बड़ा भारी संग्राम होनेवाला है और संग्राममें कुशल आप, हम लोगोंकी सदा सहायता करते ही हैं, इसलिये आप शस्त्र न छोड़ें । यह उर्वशी जीवन-भर आपकी संगिनी रहेगी ।

उर्वशी—(अलग) मेरे जीका तो जैसे काँटा निकल गया ।

राजा—मैं तो इन्द्रका सेवक ही हूँ ।

नारद—ठीक ही है—जैसे सूर्य अपने तेजसे अग्निको उकसाता है और अग्नि सूर्यको अपने तेजसे बढ़ाता है वैसे ही इन्द्र भी तुम्हारा काम करें और तुम भी इन्द्रका काम किया करो ।।२०।।

(आकाशकी ओर देखकर) रम्भा ! स्वयं इन्द्रने कुमार आयुके युवराज बननेके उत्सवके लिये जो सामग्रियाँ भेजी हैं; वे सब ले तो आओ ।

(प्रविष्टा यथोक्तहस्ताऽप्सरसः ।)

अप्सरसः—भअवं इमे ! अभिसेअसंभारा । [भगवन्नेतेऽभिषेकसंभाराः ।]

नारदः—उपवेश्यतामयमायुष्मान्भद्रपीठे ।

रम्भा—इदो वच्छ । [इतो वत्स ।] (इति कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति ।)

नारदः—(कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्य ।) रम्भे ! निर्वर्त्यतां शेषो बिधिः ।

रम्भा—(यथोक्तं निर्वर्त्य) वच्छ ! पणम भअवंतं पिदरो अ । (वत्स ! प्रणम भगवन्तं पितरौ च ।)

(कुमारो यथाक्रमं प्रणमति ।)

नारदः—स्वस्ति भवते ।

राजा—कुलधुरंधरो भव ।

उर्वशी—पिदुणो आराहओ होहि । [पितुराराधको भव ।]

(नेपथ्ये वैतालिकद्वयम् ।)

वैतालिकौ—विजयतां युवराजः ।

प्रथमः—

अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दुः
बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः ।
भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तैः
अतिशयिनि समस्ता वंश एवाशिषस्ते ॥ २१ ॥

(ऊपर कही हुई सामग्रियाँ लिए हुए अप्सराएँ आती हैं ।)

अप्सराएँ—महाराज, अभिषेककी सामग्री आ गई ।

नारद—आयुष्मान्‌को भद्रपीढ़ेपर ला बैठाओ ।

रम्भा—इधर आओ वत्स, इधर । (कुमारको भद्रपीठपर बैठाती हैं ।)

नारद—(कुमारके सिरपर अभिषेक करके) रम्भा ! शेष विधि भी पूरी कर डालो ।

रम्भा—(विधि-पूर्वक अभिषेक करती है) वत्स, नारदजीको और माता-पिताको प्रणाम तो करो ।

(कुमार क्रमसे प्रणाम करते हैं ।)

नारद—आपका कल्याण हो ।

राजा—कुलके प्रधान बनो ।

उर्वशी—पिताके भक्त बनो ।

(नेपथ्यमें दो वैतालिक)

दोनों—युवराजकी विजय हो ।

पहला वैतालिक—तुम अपने माता-पिताके वैसे ही योग्य पुत्र बनो, जैसे ब्रह्माके सुपुत्र अमर मुनि अत्रि हुए, अत्रि मुनिके चन्द्रमा हुए, चन्द्रमाके बुध और बुधके पुरूरवा हुए हैं । तुम्हारे इस जगसे निराले वंशमें और सब आशीर्वाद तो पहले ही फल चुके हैं ॥ २१ ॥

द्वितीयः—

तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्
स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्पधैर्ये।
अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मीः
हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ॥२२॥

अप्सरसः—(उर्वशीमुपेत्य।) दिट्ठीआ पिअसही पुत्तस्स जुवराअसिरीए भत्तुणो अविरहेण अ वड्ढदि। [दिष्टचा प्रियसखी पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण च वर्धते।]

उर्वशी—णं साहारणो एसो अब्भुदओ। (कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वच्छ! जेट्ठमादरं अभिवंदेहि। [ननु साधारण एषोऽभ्युदयः। एहि वत्स! ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व।]

(कुमारः प्रतिष्ठते।)

राजा—तिष्ठ! सममेव तत्र भवत्याः समीपं यास्यामस्तावत्।

नारदः— आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥२३॥

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि मघवता।

नारदः—भो राजन्। किं ते भूयः प्रियमुपकरोतु पाकशासनः।

राजाः—यदि मे मघवा प्रसन्नः किमतः परमिच्छामि। तथापि—इदमस्तु।

दूसरा वैतालिक—ऊँचे-ऊँचे लोगोमें श्रेष्ठ तो तुम्हारे पिता हैं और उनके ही तुम बड़े साहसी और मर्यादा पालनेवाले पुत्र हो। तुम दोनोंमें एकसी भक्ति रखनेवाली यह राज्य लक्ष्मी वैसे ही और भी शोभा देने लगी है जैसे हिमालय पर्वत और समुद्र दोनोंमें समान रूपसे भक्ति करनेवाली गंगा शोभा देती हैं ॥ २२ ॥

अप्सराएँ—(उर्वशीके पास जाकर) सखी उर्वशी! पुत्रके यौवराज्याभिषेककी और सदा पतिके पास रहनेकी तुम्हें बधाई।

उर्वशी—यह सौभाग्य तो हम तुम दोनोंका एक-सा ही है। (कुमारका हाथ थामकर) चलो वत्स! बड़ी माँको प्रणाम कर आओ।

(कुमार जानेको तैयार होता है।)

राजा—ठहरो, हम सब लोग साथ ही देवीके पास चलते हैं।

नारद—तुम्हारे पुत्र आयुका यह यौवराज्याभिषेक उस उत्सवका स्मरण दिला रहा है जिसमें इन्द्रने कार्तिकेयको सेनापति बनाया था ॥ २३ ॥

राजा—यह सब भगवान् इन्द्रकी ही कृपा है।

नारद—राजन्! इन्द्र आपकी और कौन-सी इच्छा पूरी करें।

राजा—भगवान् इन्द्रकी प्रसन्नतासे बढ़कर और मुझे चाहिए ही क्या? फिर भी मैं चाहता हूँ कि—

(भरतवाक्यम्)

परस्परबिरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥२४॥

अपि च—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥२५॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ सम्पूर्णमिदं श्रीकालिदासकृतं विक्रमोर्वशीयं नाम त्रोटकम् ॥

(भरतवाक्य)

जो लक्ष्मी और सरस्वती सदा एक दूसरेसे पीठ फेरे रहती हैं और जिनका मिलकर रहना बड़ा कठिन है, वे दोनों, सज्जनोंके कल्याणके लिये एक साथ रहने लगें ॥ २४ ॥ और, सबकी आपत्तियाँ दूर हो जायँ, सब फलें फूलें, सबके मनोरथ पूरे हों और चारों ओर सुख ही सुख फैल जाय ॥ २५ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

॥ पाँचवाँ अंक पूर्ण हुआ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ विक्रमोर्वशीयम् नामका त्रोटक संपूर्ण हुआ ॥

॥ मालविकाग्निमित्रम् ॥

[नाटकम्]

पात्र-परिचयः

पुरुषाः—

सूत्रधारः—**नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता** (नाटकका प्रबन्धक)

पारिपार्श्वकः - **सूत्रधारस्य सहचरः** । (सूत्रधारका साथी)

राजा—**अग्निमित्राख्यो विदिशाधीशः** । (विदिशाका राजा अग्निमित्र)

वाहतकः—**प्राचीन मन्त्री** ।

विदूषकः गौतम - **राज्ञो मित्रम्** । (विदूषक, राजाका मित्र)

कञ्चुकी मौद्गल्य—**अन्तःपुराध्यक्षो वृद्धब्राह्मणः** । (रनिवासका अध्यक्ष बूढ़ा ब्राह्मण कञ्चुकी)

गणदासः हरदत्तश्च—**नाट्याचार्यौ** । (दो नाट्याचार्य)

सारसः—**कुब्जः, किङ्करविशेषः** । (कुबड़ा सेवक)

वैतालिकः—स्तुतिपाठकः ।

स्त्रियः—

मालविका—**मालवाधीशमाधवसेनस्य भगिनी** । (मालवाके राजा माधवसेनकी बहिन)

धारिणी—**अग्निमित्रस्य प्रधाना महिषी** । (अग्निमित्रकी पटरानी)

इरावती—**अग्निमित्रस्य द्वितीया पत्नी** । (अग्निमित्रकी दूसरी रानी)

परिव्राजिका कौशिकी—**माधवसेनसचिवस्य सुमतेर्विधवा भगिनी परिव्राजिका** । (माधवसेमके सचिव सुमतिकी विधवा ब्रहिन संन्यासिनी)

बकुलावलिका—**धारिण्याः परिचारिका । मालविकायाः सखी** । (धारिणीकी सेविका और मालविकाकी सखी)

मधुकरिका—**उद्यानपालिका** । (मालिन)

कौमुदिका—**दासी** ।

समाहितिका—**परिव्राजिकायाः परिचारिका** । (परिव्राजिकाकौशिकीकी सेविका)

निपुणिका—**इरावत्याः परिचारिका** । (इरावतीकी सेविका)

जयसेना—**प्रतीहारी**

चेटी—**अपरा दासी** । (दूसरी दासी)

मदनिका } **विदर्भदेशीय**
ज्योत्स्निका च } **शिल्पिकन्याद्वयम्** । (विदर्भ देशकी दो शिल्पि-कन्याएँ)

॥ श्रीः ॥

❀ मालविकाग्निमित्रम् ❀

प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासा
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम् ।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तेरण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष ! इतस्तावत् ।

(प्रविश्य ।)

पारिपार्श्वकः—भाव ! अयमस्मि ।

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति । तदारभ्यतां संगीतम् ।

पारिपार्श्वकः—मा तावत् । प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ।

पहला अङ्क

अपने भक्तोंको मनचाहा फल देनेका बेजोड़ भंडार अपने पास होते हुए भी जो केवल हाथीकी खाल ओढ़कर ही अपना काम चला लेते हैं, अपने आधे शरीरमें अपनी पत्नीको बसाए रहनेपर भी जो संसारके भोगोंसे अपना मन दूर हटाए रहते हैं और अपने आठों रूपोंसे सारे संसारका पालन करते हुए भी जो अभिमानको पास नहीं फटकने देते, ऐसे संसारके स्वामी महादेवजी, पापकी ओर ले जानेवाली हमारी बुद्धिको ऐसा मिटा दें कि हमारा मन अच्छे ही काम करनेमें लगा रहे ॥ १ ॥

(नान्दी हो चुकनेपर)

सूत्रधार—बस इतना बहुत है । (नेपथ्यकी ओर देखकर) अरे भाई मारिष ! इधर तो आओ ।

पारिपार्श्वक (प्रवेश कर) लीजिए, आ गया हूं, आर्य !

सूत्रधार—देखो ! विद्वानोंकी सभाने कहलाया है कि इस वसन्तोत्सवपर कालिदासका लिखा हुआ मालविकाग्निमित्र नामका नाटक ही खेला जाय । इसलिये चलकर संगीत तो छेड़ो ।

पारिपार्श्वक—यह नाटक आप क्यों खेल रहे हैं ? भास, सौमिल्लक और कविपुत्र-जैसे बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवियोंके नाटक छोड़कर आप आजकलके इस नौसिखिए कवि कालिदासके नाटकको इतना क्यों मान दिए डाल रहे हैं ?

सूत्रधारः—अयि ! विवेकविश्रान्तमभिहितम् । पश्य ।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ २ ॥

पारिपार्श्वकः—आर्यमिश्राः प्रमाणम् ।

सूत्रधारः—तेन हि त्वरतां भवान् ।

शिरसा प्रथमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम् ।
देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ॥ ३ ॥

(इति निष्क्रान्तौ ।)

॥ इति प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति बकुलावलिका ।)

बकुलावलिका—आणत्तम्हि देवीए धारणीए । अइरप्पउत्तोवदेसं छलिअं णाम णट्टअं अन्तरेण कीरिसी मालविअत्ति णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं । ता दाव संगीदसालं गच्छम्हि । [आज्ञप्तास्मि देव्या धारिण्या । अचिरप्रवृत्तोपदेशं छलिकं नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम् । तत्तावत्संगीतशालां गच्छामि । (इति परिक्रामति ।)

(ततः प्रविशत्याभरणहस्ता कुमुदिनी)

बकुलावलिका—(कुमुदिनीं दृष्ट्वा ।) हला कोमुदीए । कुदो दे दाणिं इअं धीरदा जं समीवेण वि अदिक्कमन्ती इदो दिट्ठिं ण देसि । [सखि कौमुदिके ! कुतस्त इदानीमियं धीरता यत्समीपेनाप्यतिक्रामन्तीतो दृष्टिं न ददासि ।]

सूत्रधार—अरे, वाह, यह बात तो तुमने अपनी बुद्धिको विश्राम देकर कह डाली है । देखो—न तो पुराने होनेसे ही सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होनेसे सब बुरे होते हैं । समझदार लोग तो दोनोंको परखकर उनमेंसे जो अच्छा होता है, उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं है, उन्हें तो जैसा दूसरे समझा देते हैं, उसे ही वे ठीक मान बैठते हैं ॥ २ ॥

पारिपार्श्वक—तो जैसा आप ठीक समझें ।

सूत्रधार—हाँ, तो अब आप देर न कीजिए । सभाने मुझे पहलेसे ही जो आज्ञा दे रक्खी है, उसका मैं वैसे ही आदरके साथ पालन करना चाहता हूँ, जैसे आदरसे यह स्वामिभक्ता दासी अपनी स्वामिनी महारानी धारिणीकी आज्ञा पालन करने इधर चली आ रही है ॥ ३ ॥

(दोनों चले जाते हैं ।)

॥ प्रस्तावना ॥

(बकुलावलिका आती है ।)

बकुलावलिका—महारानी धारिणीने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य आर्य गणदाससे पूछो कि मालविकाने जो बहुत दिनोंसे छलिक नामका नाट्य सीखना आरम्भ किया था, उसे वह कहाँतक सीख पाई है । तो चलती हूँ संगीतशालाको । (घूमती है ।)

(हाथमें अँगूठी लिये हुए और उसकी ओर देखते हुए कुमुदिनी आती है ।)

बकुलावलिका—(कुमुदिनीको देखकर) क्यों सखी कौमुदिका ! ऐसी भी क्या बात है कि तुम मेरे इतने पाससे निकली चली जाती हुई भी इधर ताकती-तक भी नहीं हो ?

कुमुदिनी—अम्हो बउलाबलिया ? सहि ! देवीए इदं सिप्पिसआसादो आणीदं-णागमुद्दासणाहं अंगुलीअअं सिणिद्धं णिज्झाअन्ती तुह उवालम्भे पडिदम्हि । [अहो बकुलावलिका ? सखि ! देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि ।]

बकुलावलिका—(विलोक्य) ठाणे सज्जदि दिट्ठी । इमिणा अंगुलीअएण उब्भिण्णकिरणकेसरेण कुसुमिदो विअ दे अग्गहत्थो पडिभादि । [स्थाने सज्जति दृष्टिः । अनेनाङ्गुलीयकेनोद्भिन्नकिरणकेसरेण कुसुमित इव तेऽग्रहस्तः प्रतिभाति ।]

कुमुदिनी—हला ! कहिं पत्थिदासि । [सखि ! कुत्र प्रस्थितासि ।]

बकुलावलिका—देवीए एव्व वअणेण णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं उवदेसग्गहणे कीरिसी मालविएत्ति । [देव्या एव वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुमुपदेशग्रहणे कीदृशी मालविकेति ।]

कुमुदिनी—सहि ! ईरिसेण वावारेण असण्णिहिदा वि सा कहं भट्टिणा दिठ्ठा । [सखी ! ईदृशेन व्यापारेणासंनिहितापि सा कथं भर्त्रा दृष्टा ।]

बकुलावलिका—आम्, सो जणो देवीए पास्सगदो चित्ते दिट्ठो । [आम् स जनो देव्याः पार्श्वगतश्चित्रे दृष्टः ।]

कुमुदिनी—कहं विअ । [कथमिव ।]

बकुलावलिका—सुणु । चित्तसालं गदा देवी जदा पच्चग्गवण्णराअं चित्तलेहं आआरिअस्स आलोअन्ती चिट्ठदि भट्टा अ उवट्ठिदो । [शृणु । चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति भर्ता चोपस्थितः ।]

कुमुदिनी—तदो तदो । [ततस्ततः ।]

कुमुदिनी—अच्छा ! तुम हो बकुलाबलिका ? सखी ! अभी सुनारके यहाँसे महारानीकी यह नागमुद्रा-जड़ी अँगूठी लिए चली आ रही हूँ । उसीको ध्यानसे देख ही रही थी कि तुमने झट ताना कस दिया ।

बकुलावलिका—(देखकर) सचमुच बड़ी बाँकी वस्तुपर तुम्हारी आँखें जा उलझी हैं । इस अँगूठीसे केशरके समान जो किरणें निकली पड़ रही हैं, उनसे तुम्हारी हथेली मानो फूल उठी है ।

कुमुदिनी—क्यों सखी ! तुम जा किधर रही थी ?

बकुलावलिका—मैं भी महारानीके कहनेसे नाटयाचार्य गणदासजीसे यही पूछने जा रही थी कि मालविका कैसा सीख-पढ़ रही है ।

कुमुदिनी—क्यों सखी ! इतनी रोक-टोक होते हुए भी महाराजने उसे देख कैसे लिया ?

बकुलावलिका—अरे ! वह चित्रमें महारानीके पास बैठी हुई है न ! उसीको महाराजने देख लिया ।

कुमुदिनी—कैसे ?

बकुलावलिका—सुन ! जब चित्रशालामें पहुँचकर चित्रकलाके आचार्यके हाथके बनाए हुए गीले चित्रोंको महारानी देख रही थीं, उसी समय स्वामी भी वहाँ आ पहुँचे ।

कुमुदिनी—तब, तब !

बकुलावलिका—उवआराणन्तरं एक्कासणोवविट्ठेण भट्टिणा चित्तगदाए देवीए परिअणमज्झगदं आसण्णदारिअं देक्खिअ देवी पुच्छिदा । [उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्याः परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा ।]

कुमुदिनी—किं ति । [किमिति ।]

बकुलावलिका—अपुव्वा इअं दारिआ देवीए आसण्णा आलिहिदा किं णामहेएत्ति । [अपूर्वेयं दारिका देव्या आसन्ना आलिखिता किं नामधेयेति ।]

कुमुदिनी—आकिदिविसेसेसु आअरो पदं करेति । तदो तदो । [आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति । ततस्ततः ।]

बकुलावलिका—तदो अवहीरिअवअणो भट्टा संकिदो देवीं पुणोवि अणुबंधिदुं । तदो कुमारीए वसुलच्छीए आअक्खिदम् । अज्ज एसा मालविएत्ति । [ततोऽवधीरितवचनो भर्ता शंकितो देवीं पुनरप्यनुबन्धुम् । ततः कुमार्या वसुलक्ष्म्याख्यातम् । आर्य ! एषा मालविकेति ।]

कुमुदिनी—(सस्मितम्) सरिसं क्खु बालभावस्स । अदो अवरं कहेहि । [सदृशं खलु बालभावस्य । अतोऽपरं कथय ।]

बकुलावलिका—किं अण्णं । संपदं मालविआ सविसेसं भट्टिणो दंसणपहादो रक्खीअदि । [किमन्यत् । साम्प्रतं मालविका सविशेषं भर्तुर्दर्शनपथाद्रक्ष्यते ।]

कुमुदिनी—हला ! अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं । अहं वि एदं अङ्गुलीअअं देवीए उवणइस्सं । [सखि ! अनुतिष्ठात्मनो नियोगम् । अहमप्येतदङ्गुलीयकं देव्यायुपनेष्यामि ।]

(इति निष्क्रान्ता ।)

बकुलावलिका—(परिक्रम्यावलोक्य ।) एसो णट्टाअरिओ संगीदसालादो णिग्गच्छदि । जाव से अत्ताणं दंसेमि । [एष नाट्याचार्यः संगीतशालातो निर्गच्छति । यावदस्मा आत्मानं दर्शयामि ।] (इति परिक्रामति ।)

बकुलावलिका—तब क्या ? प्रणाम-आशीष हो चुकनेपर महाराज भी महारानीके साथ एक ही आसनपर जा बैठे । तब चित्रोंमें बनी हुई महारानीकी दासियोंमें पास ही बैठी हुई कन्याको देखकर महाराजने यह पूछा—

कुमुदिनी—क्या ?

बकुलावलिका—कि चित्रमें देवीके पास बैठी हुई यह कौन सुन्दर लड़की है ?

कुमुदिनी—सुन्दरकी ओर सबका मन खिच ही जाता है । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावलिका—देवीको चुप देखकर स्वामीका माथा ठनका और उन्होंने फिर वही बात कह दुहराई । इसी बीच कुमारी वसुलक्ष्मी बोल उठी —आर्य ! यह मालविका है ।

कुमुदिनी—(मुसकराती हुई) बच्ची ही तो ठहरी । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावलिका—और होगा क्या ? अब मालविकापर ऐसा कड़ा पहरा पड़ गया है कि उसे महाराजके आगे होने ही नहीं दिया जाता ।

कुमुदिनी—अच्छा सखी ! जाओ तुम भी करो अपना काम, और मैं भी जाकर यह अँगूठी महारानीको दिए आती हूँ (चली जाती है ।)

बकुलावलिका—(घूमकर, देखकर) नाट्याचार्य तो संगीतशालासे निकले इधर ही बढ़े चले आ रहे हैं । चलती हूँ, इनसे मिले लेती हूँ । (घूमती है ।)

(प्रविश्य)

गणदासः—कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता। न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम्। तथाहि—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥ ४॥

बकुलावलिका—(उपेत्य।) अज्ज! वन्दामि। [आर्य! वन्दे।]

गणदासः—भद्रे! चिरञ्जीव।

बकुलावलिका—अज्ज! देवी पुच्छदि अवि उवदेसग्गहणे णादिकीलिस्सदि वो सिस्सा मालविएत्ति। [आर्य! देवी पृच्छत्यप्युपदेशग्रहणे नातिक्लिश्नाति वः शिष्या मालविकेति।]

गणदासः—भद्रे! विज्ञाप्यतां देवी परमनिपुणा मेधाविनी चेति। किं बहुना।

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥ ५॥

बकुलावलिका—(आत्मगतम्।) अदिक्कमती विअ इरावदिं पेक्खामि। (प्रकाशम्) किदत्था दाणिं वो सिस्सा जाए गुरुअणो एवं तुस्सदि। [अतिक्रामन्तीमिवेरावतीं पश्यामि। कृतार्थेदानीं वः शिष्या यस्या गुरुजन एवं तुष्यति।]

गणदासः—भद्रे! तद्विधामसुलभत्वात्पृच्छामि। कुतो देव्या तत्पात्रमानीतम्।

गणदास—(आकर) यों तो सभी अपने-अपने घरकी विद्याको सबसे अच्छा समझते हैं, पर हम लोग जो अपनी नाटचविद्याका इतना अभिमान करते हैं वह झूठा नहीं है, क्योंकि मुनि लोगोंका कहना है कि यह नाटच तो देवताओंकी आँखोंको सुहानेवाला शान्त यज्ञ है। स्वयं महादेवने ही उमासे विवाह करके अपने शरीरमें इसके दो भाग कर दिए हैं, एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण भी दिखलाए जाते हैं और अनेक रसोंमें लोगोंके चरित्र भी दिखाई पड़ते हैं, इसीलिये अलग-अलग रुचिवाले लोगोंके लिये भी प्रायः नाटक ही ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एक-सा आनन्द मिलता है॥ ४॥

बकुलावलिका—(आगे बढ़कर) आर्य, प्रणाम।

गणदास—बहुत दिन जिओ भद्रे!

बकुलावलिका—आर्य! महारानीने पूछा है कि नाटच सीखनेमें आपकी शिष्या मालविका आपका माथा तो बहुत नहीं चाटती।

गणदास—भद्रे! महारानीको बता देना कि वह तो बड़ी ही चतुर और समझदार है। और क्या कहूँ, मैं जो जो भाव उसे सिखलाता हूँ, उन्हें जब वह और भी सुन्दरताके साथ करके दिखाने लगती है, तब ऐसा जान पड़ता है मानो वही उलटे मुझे सिखा रही हो॥ ५॥

बकुलावलिका—(मन ही मन) जान पड़ता है यह इरावतीको पछाड़ ही डालेगी। (प्रकट) धन्य है आपकी वह शिष्या जिसके गुरु उससे इतने प्रसन्न हैं।

गणदास—भद्रे! ऐसे शिष्य मिलते कहाँ हैं? इसीलिये तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि देवीको यह मिल कहाँसे गई?

बकुलावलिका—अत्थि देवीए वण्णावरो भादा वीरसेणो णाम। सो भट्टिणा णम्मदातीरे अन्तवालदुग्गे ठाविदो। तेण सिप्पाहिआरे जोग्गा इअं दारिएत्ति भणिअ भइणीए देवीए उवाअणं पेसिदा। [अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपालदुर्गे स्थापितः। तेन शिल्पाधिकारे योग्येयं दारिकेति भणित्वा भगिन्या देव्या उपायनं प्रेषिता।]

गणदासः—(स्वगतम्) आकृतिविशेषप्रत्ययादेनामनूनवस्तुकां संभावयामि। (प्रकाशम्) भद्रे ! मयापि यशस्विना भवितव्यम्। यतः।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥ ६॥

बकुलावलिका—अज्ज कहिँ दाणिँ वो सिस्सा। [आर्य ! कुत्रेदानीं व शिष्याः।]

गणदासः—इदानीमेव पञ्चाङ्गादिकमभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।

बकुलावलिका—तेण हि पुणो अणुजाणादु मं अज्जो। जाव से अज्जस्स परितोसणिवेदणेण उस्साहं वड्ढेमि। [तेन हि पुनरनुजानातु मामार्यः। यावदस्या आर्यस्य परितोषनिवेदनेनोत्साहं वर्धयामि।]

गणदासः—दृश्यतां सखी। अहमपि लब्धक्षणः स्वगृहं गच्छामि।

(इति निष्क्रान्तौ।)

॥ मिश्रविष्कम्भकः॥

बकुलावलिका—देवीके एक वीरसेन नामके दूरके भाई हैं। उन्हें महाराजने नर्मदा तीरवाले अन्तपाल दुर्गकी देख-रेखका काम सौंप रक्खा है। उन्होंने ही अपनी बहिन धारिणी देवीके पास इस कन्याको यह कहलाकर भेज दिया है कि यह गाने-बजानेका काम भली भाँति सीख सकेगी।

गणदास—(मन ही मन) पर रूप-रंगसे तो यह किसी ऊँचे घरानेकी जान पड़ती है, क्योंकि सिखानेवालेकी कला अच्छे ही शिष्यके पास पहुँचकर उस प्रकार खिलती है, जैसे बादलका जल समुद्रकी सीपोंमें पहुँचकर मोती बन उठता है॥ ६॥

बकुलावलिका—क्यों आर्य ! आपकी शिष्या इस समय है कहाँ ?

गणदास—अभी उसे पाँचों अंगोंका अभिनय सिखाकर मैंने उसे थोड़ा विश्राम करनेको कहा है। इसलिये वह सरोवरकी ओर खिड़कीपर बैठी बयार ले रही है।

बकुलावलिका—तो आप मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं उसे यह कहकर उत्साहित करूँ कि आप उससे इतने प्रसन्न हैं।

गणदास—हाँ हाँ, जाओ मिल लो अपनी सखीसे। मैं भी छुट्टी पाकर अपने घर जा रहा हूँ।

(दोनों जाते हैं।)

॥ मिश्र विष्कम्भक॥

(ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मन्त्रिणा लेखहस्तेनान्वास्यमानो राजा ।)

राजा —(अनुवाचितलेखममात्यं विलोक्य) वाहतक ! किं प्रतिपद्यते वैदर्भः ।

अमात्यः—देव ! आत्मविनाशम् ।

राजा—संदेशमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।

अमात्यः—इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम् । पूज्येनाहमादिष्टः । भवतः पितृव्यपुत्रः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसंबन्धो ममोपान्तिकमुपसर्पन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्द्य गृहीतः । स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोक्तव्य इति । एतन्ननु वो विदितम् । यत्तुल्याभिजनेषु राज्ञां वृत्तिः । अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति । सोदरा पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा । तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये । अथवा अवश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्यः श्रूयतामभिसंधिः ।

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम् ।
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः ॥ ७ ॥

इति ।

राजा—(सरोषम्) कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः । वाहतक ! प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः । तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय ।

(एकान्तमें अपने सभासदोंके साथ राजा बैठे हुए हैं और मन्त्री
अपने हाथमें एक पत्र लिए हुए हैं ।)

राजा—(मंत्री जब पत्र बाँच चुके तब) क्यों वाहवक । विदर्भके राजा चाहते क्या हैं ?

अमात्य--अपना सत्यानाश, देव !

राजा—अच्छा, पढ़कर तो सुनाओ उनका संदेसा ।

अमात्य—उन्होंने लिखकर भेजा है —'आपने जो मुझे यह आज्ञा दी थी – कि आपके चचेरे भाई कुमार माधवसेन पहलेसे पक्के किए संबन्धके अनुसार मुझसे अपनी बहिन ब्याहनेके लिये जब चले आ रहे थे, तब बीचमें ही आपके राज्यकी सीमाके रखवालोंने उन्हें पकड़कर बाँध लिया है; उन्हें आप मेरे कहनेसे स्त्री और बहिनके साथ छोड़ दीजिए । इस सम्बन्धमें मुझे यह कहना है कि आप बड़े हैं और यह भी आप भली भाँति जानते हैं कि समान वंशवाले राजाओंके झगड़े कैसे निपटाने चाहिएँ । इसलिये आप चाहें तो हम लोगोंका बीच-बचाव कर सकते हैं । हाँ, इस धर-पकड़में माधवसेनकी बहन कहीं खो गई है । मैं उसे खोजनेका जतन करूँगा और आप भी यदि माधवसेनको छुड़ाना चाहते हों तो आप मेरी इतनी बात मान लीजिए कि आपने मेरे साले मौर्यं सचिवको जो पकड़ रक्खा है, उसे यदि आप छोड़ दें तो मैं भी माधवसेनको अभी छोड़ दूँगा ॥ ७ ॥

राजा—(क्रोधसे) क्या वह ढीठ मुझसे इस प्रकार बदलेका व्यवहार करना चाहता है । देखो वाहतक ! यह विदर्भका राजा स्वभावसे ही मेरा शत्रु है' और जो कुछ मैं कहता हूँ, उसका ठीक उलटा ही किया करता है । इसलिये वीरसेनके नायकत्वमें जितनी सेना है उसे आज्ञा दे दो कि जाकर उसे जड़से उखाड़ फेंके, क्योंकि हम लोग पहले ही संकल्प कर चुके हैं कि ऐसे खोटे शत्रुको उखाड़ फेंकना ही ठीक है ।

अमात्यः—यदाज्ञापयति देवः ।

राजा—अथवा किं भवान्मन्यते ।

अमात्यः—शास्त्रदृष्टमाह देव !

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात् ।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ ८ ॥

राजा—तेन ह्यवितथं तन्त्रकारवचनम् । इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुद्योज्यतां सेनाधिपतिः ।

अमात्यः—तथा । (इति निष्क्रान्तः)

(परिजनो यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः ।)

(प्रविश्य ।)

विदूषकः—आणत्तोम्हि तत्तभवदा रण्णा । गोदम ! चिन्तेहि दाव उवाअं । जह मे जदिच्छादिट्ठप्पदिकिदी मालविआ पच्चक्खदंसणा होदित्ति । मए अ तं तहा किदं दाव से णिवेदेमि । [आज्ञप्तोऽस्मि तत्र भवता राज्ञा । गौतम ! चिन्तय तावदुपायम् । यथा मे यदृच्छादृष्टप्रतिकृतिर्मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवतीति । मया च तत्तथा कृतं तावदस्मै निवेदयामि ।] (इति परिक्रामति ।)

राजा—(विदूषकं दृष्ट्वा ।) अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्माकमुपस्थितः ।

विदूषकः—(उपगम्य) वड्ढदु भवं । [वर्धतां भवान् ।]

राजा—(सशिरःकम्पम् ।) इत आस्यताम् ।

(विदूषकः उपविष्टः ।)

अमात्य—जैसी देवकी आज्ञा ।

राजा—पर इसमें आपकी क्या सम्मति है ?

अमात्य—देवने तो पहले ही शास्त्रकी बात कह दी है कि जो शत्रु अभी गद्दीपर आकर बैठा हो और जो भली प्रकार अपनी प्रजामें जड़ भी न जमा सका हो, वह नये रोपे हुए दुर्बल पौधेके समान बड़ी सरलताके साथ जड़से उखाड़ फेंका जा सकता है ॥ ८ ॥

राजा—तब तो शास्त्रकी बात यहाँ ठीक लागू हो रही है । इसलिये शास्त्रके इसी वचनके आधारपर सेनापतिको जा तैयार करो ।

अमात्य—जी अच्छा । (चला जाता है ।)

(सब सेवक राजाके चारों ओर खड़े अपना-अपना काम कर रहे हैं ।)

विदूषक—(आकर) मुझे महाराजने आज्ञा दी थी कि गौतम ! कोई ऐसा उपाय सोच निकालो कि जिस मालविकाको मैंने अचानक चित्रमें देख लिया है, उसे मैं अपनी आँखोंसे देख पाऊँ । मैंने उसके लिये जो उपाय सोच निकाला है, चलकर उसे अभी महाराजको बताए देता हूँ । (घूमता है ।)

राजा—(विदूषकको देखकर) लो, हमारे दूसरे कामोंके मंत्री भी आ पहुँचे ।

विदूषक—(पास पहुँचकर) बधाई है ।

राजा—(सिर हिलाकर) आओ आओ यहाँ आकर बैठो । (विदूषक बैठ जाता है ।)

राजा—अपि कच्चिदुपेयोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षुः।

विदूषकः—पओअसिद्धि पुच्छ। [प्रयोगसिद्धि पृच्छ।]

राजा—कथमिव।

विदूषकः—(कर्णे) एव्वमिव। [एवमिव।]

राजा—साधु वयस्स! निपुणमुपक्रान्तम्। इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयमाशंसामहे। कुतः—

अयं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि॥ ९॥

(नेपथ्ये)

अलं बहु विकत्थ्य। राज्ञः समक्षमेवावयोरधरोत्तरयोर्व्यक्तिर्भविष्यति।

राजा—(आकर्ण्य।) सखे! त्वत्सुनीतिपादपस्य पुष्पमुद्भिन्नम्।

विदूषकः—फलं वि अइरेण दक्खिस्ससि। [फलमप्यचिरेण द्रक्ष्यसि।]

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—देव देव! अमात्यो विज्ञापयति। अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। एतौ पुनर्हरदत्तगणदासौ।

उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ॥ १०॥

राजा—कहो, जिससे मिलनेके लिये हम तड़प रहे हैं, उससे मिलनेका कोई उपाय तुम्हारी बुद्धिमें आया या नहीं?

विदूषक—अजी, यह पूछिए कि हमने काम बनाया कैसे है।

राजा—कैसे, कैसे?

विदूषक—(कानमें) ऐसे।

राजा—वाह मित्र! तुमने बड़ी चतुराईका काम किया है। यह काम है तो बड़ा टेढ़ा, पर तुमने जैसा आरम्भ किया है उससे तो कुछ कुछ आशा हो चली है। क्योंकि झंझटवाले कामोंमें जब कोई साथी मिल जाय तब काम बना ही समझ लेना चाहिए। क्योंकि आँखोंवाला मनुष्य भी अँधेरेमें बिना दीपकके कुछ नहीं देख पा सकता॥ ९॥

(नेपथ्यमें)

बस-बस, अपनी बकवाद रहने दो। अभी महाराजके सामने ठीक-ठीक निर्णय हुआ जाता है न, कि हम दोनोंमें कौन छोटा है कौन बड़ा।

राजा—(सुनकर) लो मित्र! तुम्हारी नीतिके पेड़में फूल तो दिखाई देने लगे हैं।

विदूषक—अभी क्या, थोड़ी ही देरमें फल भी देख लीजिएगा।

(कञ्चुकी आता है।)

कञ्चुकी—देव! मंत्रीजी कहते हैं कि आपकी आज्ञाका पालन कर दिया गया। अभिनयके दोनों आचार्य हरदत्त और गणदास आपसमें एक दूसरेको हरानेकी ठानकर आपसे मिलनेके लिये बाहर खड़े ऐसे लग रहे हैं मानों स्वयं नाटकके भाव ही शरीर धारण किए चले आए हों॥ १०॥

राजा—प्रवेशय तौ।

कञ्चुकी—यदाज्ञपयति देवः। (इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य।) इत इतो भवन्तौ।

गणदास—(राजानं विलोक्य।) अहो दुरासदो राजमहिमा।

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः॥ ११॥

हरदत्तः—महत्खलु पुरुषाकारमिदं ज्योतिः। तथाहि।

द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन्।
तेजोभिरस्य विनिर्वार्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि॥ १२॥

कञ्चुकी—एष देवः। उपसर्पेतां भवन्तौ।

उभौ—(उपेत्य) विजयतां देवः।

राजा—स्वागतं भवद्भ्याम्। (परिजनं विलोक्य।) आसने तावदत्रभवतोः।

(उभौ परिजनोपनीतयोरासनयोरुपविष्टौ।)

राजा—किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्याभ्यामत्रोपस्थानम्।

राजा—ले आओ दोनोंको भीतर।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा (बाहर जाकर दोनोंको ले आता है।) इधरसे आइए आप लोग, इधरसे।

गणदास—(राजाको देखकर) वाह, क्या कहने हैं राजाके तेजके भी! इनके तो पासतक पहुँचना दूभर लग रहा है क्योंकि—ऐसी बात नहीं है कि इनसे पहलेसे जान-पहचान न हो या ये देखनेमें भयंकर लगते हों, फिर भी न जाने क्यों मुझे इनके पास जाते हुए बड़ी हिचक हो रही है। समुद्रके समान ज्योंके त्यों रहते हुए भी ये मेरी आँखोंको पल-पलमें नये-नयेसे दिखाई पड़ रहे हैं॥ ११॥

हरदत्त—पुरुषके रूपमें राजाका तेज सचमुच बड़ा प्रभावशाली है। क्योंकि यद्यपि द्वारपालने मुझे यहाँतक ला पहुँचाया है और मैं इनके सिंहासनके पास रहनेवाले कञ्चुकीके साथ ही भीतर चला भी आया हूँ, फिर भी इनके तेजसे मेरी आँखें इतनी चौंधियाँ गई हैं मानो बिना रोके ही मैं बढ़नेसे रोक दिया गया होऊँ॥ १२॥

कञ्चुकी—लीजिए ये हैं देव! आप लोग आगे बढ़ जाइए।

दोनों—(आगे बढ़कर) देवकी जय हो।

राजा—आप दोनोंका स्वागत है! (सेवकको देखकर) आप लोगोंके लिये आसन तो लगाओ।

(सेवकोंके लाए हुए आसनोंपर दोनों बैठते हैं।)

राजा—कहिए, यह तो शिष्योंको पढ़ानेका समय है। इस समय आप दोनों आचार्य एक साथ कैसे आ पहुँचे?

गणदासः—देव ! श्रूयताम् । मया सुतीर्थादभिनयविद्या सुशिक्षिता । दत्तप्रयोगश्चास्मि । देवेन देव्या च परिगृहीतः ।

राजा—बाढं जाने । ततः किम् ।

गणदासः—सोऽहममुना हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षमयं मे न पादरजसापि तुल्य इत्यधिक्षिप्तः ।

हरदत्तः—देव ! अयमेव प्रथमं परिवादकरः । अत्रभवतः किल मम च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरमिति तत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु । देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः ।

विदूषकः—समत्थं पइण्णादं । [समर्थं प्रतिज्ञातम् ।]

गणदासः—प्रथमः कल्पः । अवहितो देवः श्रोतुमर्हति ।

राजा—तिष्ठ यावत् । पक्षपातमेत्र देवी मन्यते । तदस्याः पण्डितकौशिकीसहितायाः समक्षमेव न्याय्यो व्यवहारः ।

विदूषकः—सुट्ठु भवं भणादि । [सुष्ठु भवान्भणति ।]

आचार्यौ—यद्देवाय रोचते ।

राजा—मौद्गल्य ! अमुं प्रस्तावं निवेद्य पण्डितकौशिक्या सार्धमाहूयतां देवी ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रम्य सपरिव्राजिकया देव्या सह प्रविष्टः ।) इत इतो भवती ।

गणदास—सुनिए देव ! मैंने ऐसे वैसेसे नहीं, बड़े योग्य गुरुसे विद्या सीखी है और इतने दिनोंसे सिखा भी रहा हूँ । देव और देवीने मेरी विद्याका आदर भी किया है ।

राजा—हाँ, यह तो मैं जानता हूँ । तो हुआ क्या है ?

गणदास—आज इन हरदत्तजीने एक बड़े राजपुरुषके आगे यह डींग जा हाँकी है कि गणदास तो मेरे पैरोंकी धूलके बराबर भी नहीं हैं ।

हरदत्त—देव ! पहले इन्होंने ही मेरी निन्दा की है और कहा है कि हमारे और हरदत्तमें तो इतना अन्तर है जितना समुद्रमें और गढ़हीमें है । इसलिये अब आप ही इनके और मेरे शास्त्रज्ञान और प्रयोगकी चतुराईकी स्वयं परीक्षा कर लें । क्योंकि आप ही परीक्षक होकर यह बता सकेंगे कि हम दोनोंमें कौन बढ़कर है ।

विदूषक—बात तो ठीक कह रहे हैं ।

गणदास—यही सही । तो देव ! सावधान होकर सुनें ।

राजा—अभी ठहरो । यदि हम निर्णय करेंगे तो देवी समझेंगी कि हमने पक्षपात किया है, इसलिये उनके और पंडिता कौशिकीके सामने ही निर्णय किया जाना चाहिए ।

विदूषक—यह तो आप ठीक कह रहे हैं ।

दोनों आचार्य—जैसा देव ठीक समझें ।

राजा—मौद्गल्य ! पंडिता कौशिकी और महारानीकी सब बातें बताकर यहाँ बुला तो लाओ ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । (जाता है, परिव्राजिका तथा महारानीको साथ लेकर आता है ।) इधरसे आइए देवी इधरसे ।

धारिणी—(परिव्राजिकां विलोक्य ।) भअवदि ! हरदत्तस्स गणदासस्स अ संरम्भं कहं पेक्खसि । [भगवति ! हरदत्तस्य गणदासस्य च संरम्भे कथं पश्यसि ।]

परिव्राजिका—अलं स्वपक्षावसादशङ्कया । न परिहीयते प्रतिवादिभ्यो गणदासः ।

धारिणी—जइ वि एवं तह वि राअपरिग्गहो पहाणत्तणं उवहरदि । [यद्यप्येवं तथापि राजपरिग्रहः प्रधानत्वमुपहरति ।]

परिव्राजिका—अयि ! राज्ञीशब्दभाजनमात्मानपि चिन्तयतु भवती । पश्य ।

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः ।
अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः ॥ १३ ॥

विदूषकः—अइ उअट्ठिदा देवी पीठमद्दिअं पण्डिअकोसिइं पुरोकरिअ तत्तभोदी धारिणी । [अयि ! उपस्थिता देवी पीठमर्दिकां पण्डितकौशिकीं पुरस्कृत्य तत्रभवती धारिणी ।]

राजा—पश्याम्येनाम् । येषा—

मङ्गलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया ।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया ॥ १४ ॥

परिव्राजिका—(उपेत्य) विजयतां देवः !

राजा—भगवति ! अभिवादये ।

परिव्राजिका—

महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः ।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥ १५ ॥

धारिणी—(परिव्राजिकाकी ओर देखकर) क्यों भगवती ! हरदत्त और गणदासके झगड़ेसे आप किसकी जीत सोचती हैं ?

परिव्राजिका—आप अपने पक्षके हारकी तो बात ही न सोचिए । गणदास कभी अपने जोड़वालेसे नहीं हार सकते ।

धारिणी—यद्यपि यही ठीक है फिर भी राजा जिसपर कृपा कर दें, वह तो जीत ही जायगा ।

परिव्राजिका—अजी ! आप भी तो यह स्मरण रखिए कि आप महारानी हैं । देखिए—जैसे सूर्यकी कृपासे अग्निमें बहुत चमक आ जाती है, वैसे ही रातकी कृपा पाकर चन्द्रमामें भी बहुत चमक आ जाती है ॥ १३ ॥

विदूषक—लो, महारानी धारिणीजी अपनी साथिन पंडिता कौशिकीको साथ लिए इधर चली आ रही हैं ।

राजा—हाँ, देख तो रहा हूँ कि साधुनीके वेशवाली कौशिकीके साथ सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे सजी हुई महारानी ऐसी दिखाई पड़ रही हैं मानो अध्यात्म-विद्याके साथ तीनों वेदोंकी देवी शरीर धारण किए चली आ रही हो ॥ १४ ॥

परिव्राजिका—(पास जाकर) देवीकी जय हो ।

राजा—भगवती ! अभिवादन करता हूँ ।

परिव्राजिका—सैकड़ों शरदोंतक, महातेजस्वियोंको उत्पन्न करनेवाली उन पृथ्वी और धारिणी देवीके आप स्वामी बमे रहें, जिन दोनोंमें सहन करनेकी शक्ति एक-सी है ॥ १५ ॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो। [जयतु जयत्वार्यपुत्रः ।]

राजा—स्वागतं देव्यै। (परिव्राजिकां विलोक्य ।) भवति ! क्रियतामासनपरिग्रहः।

(सर्वे उपविशन्ति ।)

राजा—भगवत्यत्रभवतोर्हरदत्तगणदासयोः परस्परं विज्ञानसङ्घर्षिणोर्भगवत्या प्राश्निकपदमध्यासितव्यम्।

परिव्राजिका—(सस्मितम्) अलमुपालम्भेन। पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा ?

राजा—नैतदेवम्। पण्डितकौशिकी खलु भगवती पक्षपातिनावहं देवी च।

आचार्यौ—सम्यगाह देवः। मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति।

राजा—तेन हि प्रस्तूयतां विवादः।

परिव्राजिका—देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। किमत्र वाग्व्यवहारेण। कथं वा देवी मन्यते।

देवी—जइ मं पुच्छसि तदा एदाणं विवादो एव्व ण मे रोअदि। [यदि मां पृच्छसि तदैतयोर्विवाद एव न मे रोचते ।]

गणदासः—देवी ! न मां समानविद्यया परिभवनीयमवगन्तुमर्हसि।

विदूषकः—भोदि ! पेक्खामो उअरंभरिसंबादं। किं मुहा वेअणदाणेण एदेणं। [भवति ! पश्याम उदरंभरिसंवादम् । किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम् ।]

देवी—णं कलहप्पिओसि। [ननु कलहप्रियोऽसि ।]

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्रकी जय हो।

राजा—देवीका स्वागत है। (परिव्राजिकाकी ओर देखकर) आइए, बैठिए भगवती !

(सब बैठते हैं।)

राजा—भगवती ! आचार्य हरदत्त और गणदास आज एक झगड़ा ले आए हैं कि हम दोनोंमें कौन अधिक योग्य है। अब आपही इनका झगड़ा निपटाइए।

परिव्राजिका—(मुसकराकर) ठिठोली न कीजिए। भला नगरके होते हुए कहीं रत्नकी परख गाँवमें की जाती है ?

राजा—नहीं, ऐसी बात नहीं है। आप ठहरीं पंडिता कौशिकी, और हम तथा देवी ठहरे आचार्योंके पक्षपाती।

दोनों आचार्य—यह तो देवने ठीक कहा। पक्षपातसे दूर रहनेवाली भगवती ही हमारे गुण-दोष ठीक-ठीक जांच सकेंगी।

राजा—तो आप लोग शास्त्रार्थ चलाइए।

परिव्राजिका—देव ! नाट्यशास्त्रकी जाँच तो करके दिखानेसे होती है। इसलिये कोरी बात-चीतसे क्या लाभ होगा ? क्यों देवी ! ठीक है न ?

देवी—मुझसे पूछा जाय तो मुझे इनका झगड़ा ही नहीं सुहाता है।

गणदास—देवी ! आप यह न समझें कि नाट्य-विद्यामें किसीसे पीछे रह जाऊँगा।

विदूषक—तो देवी ! देख ही क्यों न लिया जाय इन दोनों पेटुओंका करतब ? नहीं तो इन्हें इतना वेतन दे-देकर पालनेसे लाभ ही क्या है ?

देवी—हाँ, हाँ तुम्हें तो लड़ाई-झगड़ा अच्छा लगता ही है।

विदूषकः—मा एव्वं । चण्डि ! अण्णोण्णकलहप्पिआणं मत्तहत्थीणं एक्कदरस्सि अणिज्जिदे कुदो उवसमो । [मैवम् । चण्डि ! अन्योन्यकलहप्रियमोमत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः ।]

राजा—ननु स्वाङ्गसौष्ठवातिशयमुभयोर्दृष्टवती भगवती ।

परिव्राजिका—अथ किम् ।

राजा—तद्दिदानीमतः परं किमाभ्यां प्रत्याययितव्यम् ।

परिव्राजिका—तदेव वक्तुकामास्मि ।

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥ १६ ॥

विदूषकः—सुदं अज्जेहिं भअवदीए वअणं । एसो पिण्डिसत्थो उवदेसदंसणादो णिण्णओ त्ति । [श्रुतमार्याभ्यां भगवत्या वचनम् । एष पिण्डितार्थं उपदेशदर्शनान्निर्णय इति ।]

हरदत्तः—परमभिमतं नः ।

गणदासः—देवी ! एवं स्थितम् ।

देवी—जदा उण मन्दमेधा सिस्सा उवदेसं मलिणेन्ति तदा आअरिअस्स ण दोसो । [यदा पूनर्मन्दमेधा शिष्या उपदेशं मलिनयन्ति तदाऽऽचार्यस्य न दोषः ।]

राजा—देवी ! एवमापद्यते । विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति ।

विदूषक—नहीं, ऐसा न कहिए चंडी ! इन दो लड़ाकू हाथियोंमेंसे जबतक एककी हार नहीं हो जायगी, तब तक ये ठंडे कैसे होंगे ?

राजा—भगवती ! आपने तो इन लोगोंके अभिनयकी चतुरता देखी ही होगी ?

परिव्राजिका—हाँ, देखी है ।

राजा—तब इससे बढ़कर ये अपनी कुशलताका और क्या प्रमाण देंगे ।

परिव्राजिका—मैं बताती हूँ न ! देखिए ! कोई गुणी तो ऐसे होते हैं जो अपने गुणको अपने आप भली भाँति जानते हैं । और कुछ ऐसे होते हैं जो अपने गुण दूसरोंको सिखानेमें बड़े चतुर होते हैं, पर सच्चा गुणी वही है जिसमें ये दोनों बातें हों । और ऐसे ही गुणीको सबसे अच्छा समझना भी चाहिए ॥ १६ ॥

विदूषक—(दोनों आचार्योंसे) आप लोगोंने भगवतीकी बातें सुन लीं न ! इसका अर्थ यह निकला कि आप लोगोंने अपने शिष्योंको जैसा सिखाया है, वही देखकर आप लोगोंकी अच्छाईकी जाँच की जायगी ।

हरदत्त—यही तो हम भी चाहते हैं ।

गणदास—तो यही रहे देवी !

देवी—पर यदि कोई मोटी समझवाली शिष्या सिखाए हुए प्रयोग बिगाड़ दे तो इसमें आचार्यका क्या दोष है ?

राजा—देवी ! हमने कहीं पढ़ा है कि यदि गुरु अपनी विद्या देनेके लिये निकम्मा शिष्य चुने तो समझ लेना चाहिए कि गुरुको भी कुछ नहीं आता-जाता ।

देवी—(जनान्तिकम् ।) कहं दाणिं । (गणदासं विलोक्य प्रकाशम् ।) अलं अज्जउत्तस्स ऊसाहकारणं मणोरहं पुरिअ । विरम णिरत्थआदो आरंभादो । [कथमिदानीम् । अलमार्यपुत्रस्योत्साहकारणं मनोरथं पूरयित्वा । विरम निरर्थकादारम्भात् ।]

विदूषकः—सुट्ठु भोदी भणादि । भो गणदास ! संगीतपदं लम्भिअ सरस्सईए उवाअणमोदआणं खादमाणस्स किं दे मुहणिग्गहेण विवादेण । [सुष्ठु भवती भणति । भो गणदास ! संगीतपदं लब्ध्वा सरस्वत्युपायनमोदकान्खादतः किं ते मुखनिग्रहेण विवादेन ।]

गणदासः—सत्यसमयमेवार्थो देवीवाक्यस्य । श्रूयतामवसरप्राप्तमिदानीम् ।

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभिरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥ १७ ॥

देवी—अइरोवणीदा दे सिस्सा । अवरिणिट्ठिदस्स उवदेसस्स उण अण्णाय्यं पआसणं । [अचिरोपनीता ते शिष्या । अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्य पुनरन्याय्यं प्रकाशनम् ।]

गणदास—अत एव मे निर्बन्धः ।

देवी—तेण हि दुवेवि भअवदीए उवदेसं दंसेध । [तेन हि द्वावपि भगवत्यायुपदेशं दर्शयतम् ।]

परिव्राजिका—देवि ! नैतन्न्याय्यम् । सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय ।

देवी—(जनान्तिकम् ।) मूढे परिव्वाजिए ! मं जाग्गतिंपि सुत्तं विअ करेसि । [मूढे परिव्राजिके ! मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि ।] (इति सासूयं परावर्तते ।)

(राजा देवी परिव्राजिकायै दर्शयति ।)

देवी—(अलग) अब क्या हो ? (गणदासको देखकर प्रकट) आर्यपुत्रको उत्साह दिलाने वाला टंटा छोड़ो । तुम क्यों यह बेकामका काम सिर लिए ले रहे हो ?

विदूषक—आप ठीक कहती हैं । देखो गणदास ! जब तुम बैठे-बैठे संगीतके अध्यापक बने हुए, सरस्वतीको चढ़ाए हुए लड्डू खा ही रहे हो, तब तुम ऐसी ठाँय ठाँय मोल ही क्यों लेते हो, जिससे तुम्हारा मुँह बन्द हो जाय ।

गणदास—महारानीकी बातका तो सचमुच यही अर्थ निकलता है, जब बात आ ही पड़ी है तो मैं भी कहे देता हूँ सुनिए—जो अध्यापक नौकरी पा लेनेपर शास्त्रार्थसे भागता है, दूसरोंके उँगली उठानेपर भी चुप रह जाता है और केवल पेट पालनेके लिये विद्या पढ़ाता है ऐसे लोग पंडित नहीं, वरन् ज्ञान बेचनेवाले बनिए कहलाते हैं ॥ १७ ॥

देवी—तुम्हारी शिष्या अभी थोड़े ही दिनोंसे तो सीखने लगी है । इसलिये बिना उसे पक्का किए यहाँ प्रयोग करानेके लिये लाना सचमुच बड़ा अन्याय होगा ।

गणदास—पर इन्हीं कारणोंसे तो मैं और भी उसे यहाँ लानेका हठ कर रहा हूँ ।

देवी—तो तुम दोनों अपने-अपने सिखानेकी चतुराई अकेले भगवतीको ही दिखाओ ।

परिव्राजिका—यह ठीक नहीं होगा देवी ! कोई कितना भी बड़ा पंडित क्यों न हो, पर यदि वह अकेले न्याय करने बैठता है तो उसके निर्णयमें भूल हो ही जाती है ।

देवी—(अलग) अरी मूर्ख परिव्राजिका ! तू मुझ जागती हुईको भी सोती हुई बना देनेपर तुली बैठी है । (डाहसे मुँह फेर लेती है ।)

(राजा परिव्राजिकाको संकेतसे रानीका भाव दिखाता है ।)

परिव्राजिका—

अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि ।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ॥ १८ ॥

विदूषकः—ण सकारणं एव्व । उत्तणो पक्खो रक्खिदव्वो । (गणदासं बिलोक्य ।) दिट्ठिआ कोवव्वाजेण देवीए परित्तादो भवं । सुसिक्खिदो वि सव्वो उवदेसदंसणेण णिण्हादो होदि । [ननु सकारणमेव । आत्मनः पक्षो रक्षितव्यः । दिष्टया कोपव्याजेन देव्या परित्रातो भवान् सुशिक्षितोऽपि सर्वं उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति ।]

गणदासः—देवि ! श्रूयताम् । एवं जनो गृह्णाति । तदिदानीम् ।

विवादे दर्शयिष्यामि क्रियासंक्रान्तिमात्मनः ।
यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥ १९ ॥

(इत्यासनादुत्थातुमिच्छति ।)

देवी—(स्वगतम्) का गई । (प्रकाशम् ।) पहवदि आआरिओ सिस्सजणस्स । [का गतिः । प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य ।]

गणदासः—चिरमपदेशशङ्कितोऽस्मि । (राजानमवलोक्य ।) अनुज्ञातं देव्या । तदाज्ञापयतु देवः कस्मिन्नभिनयवस्तुनि प्रयोगं दर्शयिष्यामि ।

राजा—यदादिशति भगवती ।

परिव्राजिका—किमपि देव्या मनसि वर्तते ततः शङ्कितास्मि ।

परिव्राजिका—अरी चन्द्रमाके समान मुखवाली ! तुम बिना बातके ही महाराजसे क्यों मुँह फेरे बैठी हो । जो अच्छे कुलवाली स्त्रियाँ होती हैं, उन्हें यद्यपि अपने पतियोंपर सभी अधिकार होते हैं, फिर भी जब उन्हें रूठना होता है, तब वे कोई न कोई कारण निकालकर ही अपने पतिसे रूठा करती हैं ॥ १८ ॥

विदूषक—वे कारणसे ही तो रूठ रही हैं । उन्हें अपने पक्षकी तो रक्षा करनी ही चाहिए । (गणदासको देखकर) जाइए बड़ा भाग्य है आपका कि महारानीने रूठनेके बहाने आपको बचा लिया । पर देखो, चाहे कोई कितना भी बड़ा पंडित क्यों न हो, उसकी चतुराई उसके शिष्योंका करतब देखकर ही जानी जाती है ।

गणदास—सुनिए देवी ! जब ऐसी-ऐसी बातें कही जा रही हैं तो अब मैं यही दिखला देना चाहता हूँ कि मैंने अपने शिष्योंको अपनी विद्या कैसे सिखाई है । और यदि आप मुझे इस समय आज्ञा नहीं देंगी तो मैं यही समझूंगा कि आपने मुझे अपने यहाँसे निकाल दिया ॥ १९ ॥

(अपने आसनसे उठना चाहता है ।)

देवी—(मन ही मन) अब और चारा ही क्या है ! (प्रकट) शिष्य तो आचार्यके ही हाथमें है ।

गणदास—मैं इतनी देरसे डर रहा था कि महारानी कहीं रोक न दें (राजाको देखकर) देवीने आज्ञा दे दी है, इसलिये अब देव भी आज्ञा दें कि मैं आपको कौनसा अभिनय दिखलाऊँ ।

राजा—जो भगवती कहें ।

परिव्राजिका—देवी कुछ कहना चाहती हैं, इसीसे मैं हिचक रही हूँ ।

देवी—भण वीसद्धं। पहवदि प्पहू अत्तणो परिअणस्स। [भण विस्रब्धम्। प्रभवति प्रभुरात्मनः परिजनस्य।]

राजा—मम चेति ब्रूहि।

देवी—भअवदि ! भणेदाणीम्। (भगवति ! भणेदानीम्।)

परिव्राजिका—देव ! शर्मिष्ठायाः कृति चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति। तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः। तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेशान्तरम्।

आचार्यौ—यदाज्ञापयति भगवती।

विदूषकः—तेण हि दुवे वि वग्गो पेक्खाघरे संगीदरअणं करिअ तत्तभवदो दूदं पेसअह। अहवा मुदङ्गसद्दो एव्व णो उत्थावइस्सदि। [तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्। अथवा मृदङ्गशब्द एव न उत्थापयिष्यति।]

हरदत्तः—तथा। (इत्युत्तिष्ठति।)

(गणदासो धारिणीमवलोकयति।)

देवी—(गणदासं विलोक्य।) विअई भोदु अज्जो। णं विजअब्भत्थिणी अहं अज्जस्स। [विजयी भवत्वार्यः। ननु विजयाभ्यर्थिन्यहमार्यस्य।]

(आचार्यौ प्रस्थितौ।)

परिव्राजिका—इतस्तावत्।

आचार्यौ—(परिवृत्य।) इमौ स्वः।

देवी—नहीं, आप निडर होकर कहिए। सेवकोंको तो अपने स्वामीकी आज्ञा माननी ही होती है।

राजा—और मुझे आपकी आज्ञा माननी है, यह भी जोड़ दीजिए।

देवी—भगवती ! अब आप कह डालिए।

परिव्राजिका—महाराजा ! शर्मिष्ठाका बनाया हुआ चौपदोंवाला छलिक नामक अभिनय बड़ा कठिन बताया जाता है। उसीके किसी एक भावमें दोनोंका अभिनय देख लेंगे और उसीसे यह जान लिया जायगा कि आप लोगोंने अपने-अपने शिष्योंको कैसा सिखाया है।

दोनों आचार्य—जैसी भगवतीकी आज्ञा।

विदूषक—तो आप दोनों नाटक-घरमें चलकर सब संगीतका साज जुटाइए और सब हो चुकनेपर किसी दूतसे यहाँ कहला दीजिए। या फिर मृदंगकी धमक सुनकर हम लोग ही उठे चले आवेंगे।

हरदत्त—अच्छी बात है। (उठता है।)

(गणदास धारिणीकी ओर देखता है।)

देवी—(गणदासको देखकर) आपकी विजय हो। मैं सचमुच चाहती हूँ कि आपकी विजय हो।

(दोनों आचार्य जानेको उद्यत।)

परिव्राजिका—इधर तो सुनिए।

दोनों आचार्य—(लौटकर) कहिए, आ गए हम लोग।

परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु।

आचार्यौ—नेदमावयोरुपदेश्यम्। (इति निष्क्रान्तौ।)

देवी—(राजानमवलोक्य) जइ राअकज्जेसु ईरिसी उवाअणिउणदा अज्जउत्तस्स तदो सोहणं भवे। (यदि राजकार्येष्वीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्।)

राजा—

अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम्।
प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः ॥२०॥

(नेपथ्ये मृदङ्गध्वनिः। सर्वे कर्णौ ददति।)

परिव्राजिका—हन्त। प्रवृत्तं संगीतम्। तथा ह्येषा—

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्लादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥२१॥

राजा—देवि! तस्याः सामाजिका भवामः।

देवी—(स्वगतम्) अहो अविणओ अज्जउत्तस्स। [अहो अविनय आर्यपुत्रस्य।)

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति।]

विदूषकः—(अपवार्य।) भो! धीरं गच्छ। तत्तभोदी धारिणी विसंवादइस्सदि। [भोः धीरं गच्छ। तत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति।]

परिव्राजिका—देखिए, मुझे निर्णयका अधिकार दिया गया है, इसलिये मैं यह बता देना चाहती हूँ कि पात्रोंके सब अंगोंके हाव-भाव ठीक दिखाए जाने चाहिएँ, इसलिये आप लोग अपने पात्रोंको बहुत अधिक सजा-धजाकर न लाइएगा।

दोनों आचार्य—यह कहनेकी तो आवश्यकता ही नहीं थी। (चले जाते हैं)

देवी—(राजाको देखकर) यदि आर्यपुत्र इतनी कला अपने राज्यकी देखभाल करनेमें लगाते तो कितना अच्छा होता!

राजा—देवी! तुम कुछ और न समझ बैठना। इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है। देखो, जो लोग एक-सी विद्यावाले होते हैं, वे कभी एक दूसरेकी बढ़ती नहीं सह पाते ॥ २० ॥

(नेपथ्यमें मृदंगकी ध्वनि। सब सुनते हैं।)

परिव्राजिका—अरे लो! उन्होंने तो सङ्गीत छेड़ भी दिया। देखो! मृदंगकी थापको मेघोंकी गरज समझकर ये मोर ऊपर मुँह करके देखने लगे और दूरतक गूँजनेवाली यह मध्यम स्वरसे उठी हुई मायूरी नामकी गमक मनको मतवाला बनाए डाल रही है ॥ २१ ॥

राजा—चलिए देवी! चलकर देख लिया जाय।

देवी—(मन ही मन) ओह! आर्यपुत्र भी कैसे ढीठ हैं!

(सब उठ खड़े होते हैं।)

विदूषक—(अलग) अजी, धीरे-धीरे चलिए। कहीं देवी धारिणी सब गड़बड़-घोटाला न कर दें।

राजा—

धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम् ।
अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

राजा—मैं तो बहुत धीरे ही चल रहा हूँ फिर भी मुरजसे निकला हुआ यह राग मुझे इस प्रकार हड़बड़ चला रहा है, मानो मेरा मनोरथ ही मुझे पुकारकर बुला रहा हो कि आओ तुम्हारा काम बन गया है ॥ २२ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

॥ पहला अंक पूर्ण हुआ ॥

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति संगीतरचनायां कृतायामासनस्थो राजा सवयस्यो
धारिणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः ।)

राजा—भगवत्यत्रभवतोराचार्ययोः प्रथमं कतरस्योपदेशं द्रक्ष्यामः ।

परिव्राजिका—ननु समानेऽपि ज्ञानवृद्धभावे वयोवृद्धत्वाद् गणदासः पुरस्कारमर्हति ।

राजा—तेन हि मौद्गल्य ! एवमत्रभवतोरावेद्य स्वनियोगमशून्यं कुरु ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

(प्रविश्य)

गणदासः—देव ! शर्मिष्ठाया कृतिर्लयमध्या चतुष्पदास्ति । तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमना श्रोतुमर्हति देवः ।

राजा—आचार्य । बहुमानादवहितोऽस्मि ।

(निष्क्रान्तो गणदासः)

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ।

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः ।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥ १ ॥

विदूषकः—(अपवार्य) उवट्ठिदं णअणमहु संणिहिदमक्खिअं अ । ता अप्पमत्तो दाणिं पेक्ख । [उपस्थितं नयनमधु सन्निहितमक्षिकं च । तदप्रमत्त इदानीं पश्य ।]

दूसरा अङ्क

(संगीतशालामें विदूषकके साथ राजा, परिव्राजिका, रानी धारिणी
(और सारा राज-परिवार दिखाई देता है ।)

राजा—इन दोनों आचार्योंमेंसे पहले किसका सिखाया हुआ नाटक देखा जाय ।

परिव्राजिका—यद्यपि दोनोंको नाटयशास्त्रका एक-सा ही ज्ञान है, फिर भी आचार्य गणदास अवस्थामें बड़े हैं, इसलिये पहले उन्हींको अवसर मिलना चाहिए ।

राजा - तो मौद्गल्य ! जाओ, आचार्योंको यह बात बताकर तुम अपना काम देखो ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । (चला जाता है ।)

(गणदासका प्रवेश)

गणदास—देव ! शर्मिष्ठाने मध्य-लयमें एक चौपदी बनाई है । प्रार्थना है कि देव उसमेंके छलिकवाले अभिनयको मन लगाकर सुनें देखें ।

राजा—आचार्य ! मैं बड़े आदरसे ध्यान लगाए हुए हूँ ।

(गणदास चला जाता है ।)

राजा—(अलग) मित्र ! परदेके पीछे जो मेरी प्यारी खड़ी है, उसे देखनेके लिये मेरी आँखें ऐसी तरसी जा रही हैं, मानो वे इस अधीरतामें परदेको ही हटानेपर तुल बैठी हों ॥ १ ॥

विदूषक—(अलग) लीजिए न ! आपकी आँखोंका मधु तो आ गया, पर मधुमक्खी भी पास ही बैठी है, इसलिये थोड़ी सावधानीसे उधर देखिएगा ।

(ततः प्रविशत्याचार्यप्रत्यवेक्ष्यमाणाङ्गसौष्ठवा मालविका ।)

विदूषकः—(जनान्तिकम्), पेक्खदु भवं । ण क्खु से पडिच्छन्दादो परिहीअदि महुरदा । [पश्यतु भवान् । न खल्वस्याः प्रतिच्छन्दात्परिहीयते मधुरता ।]

राजा—(अपवार्य ।) वयस्य !

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।
सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ॥ २ ॥

गणदासः—वत्से ! मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव ।

राजा—(आत्मगतम्) अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य । तथाहि ।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहूनतावंसयोः ।
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ॥
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली ।
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसिश्लिष्टं तथास्या वपुः ॥ ३ ॥

मालविका—(उपगानंकृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति ।)

दुल्लहो पिओ मे तस्सिं भव हिअअ णिरासं ।
अम्हो अपङ्गओ मे परिप्फुरइ किं वि वामओ ॥
एसो सो चिरदिट्ठो कहं उण उवणइदव्वो ।
णाह ! मं पराहीणं तुइ परिगणअ सतिण्हम् ॥ ४ ॥

[दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराश-
महो अपाङ्गो मे परिस्फुरति किमपि वामः ।

(मालविका आती है । उसके अंगोंके हाव-भावकी देखभाल आचार्य कर रहे हैं ।)

विदूषक—(अलग) देखिए, देखिए । यह जैसी चित्रमें सुन्दर लगती थी, उससे यह किसी भी बातमें कम सुन्दर नहीं है ।

राजा—(अलग) वयस्य ! चित्रमें इसकी सुन्दरता देखकर मैं अपने मनमें यह समझ रहा था कि यह सचमुच इतनी सुन्दरी नहीं होगी, पर इसे देखकर तो मैं यही सोचने लगा हूँ कि चित्रकारने ही ठीक ध्यानसे इसका चित्र नहीं बनाया ॥ २ ॥

गणदास—(मालविकासे) घबराओ मत वत्से ! सँभली रहो ।

राजा—(मन ही मन) वाह ! यह तो सिरसे पैरतक एकदम सुन्दर है, क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता हुआ शरद्के चन्द्रमा-जैसा मुख, कन्धोंपर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कड़े स्तनोंसे जकड़ी हुई छाती, चिकनी-चिकनी काँखें, मुट्ठी भरकी कमर, मोटी-मोटी जाँघें और थोड़ी-थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरोंकी उँगलियाँ, बस ऐसी जान पड़ती हैं, मानो इसका शरीर इसके नाट्यगुरु गणदासके कहनेपर ही गढ़कर बनाया गया हो ॥ ३ ॥

मालविका—(पहले आलाप भरकर चार पदोंवाला गीत गाती है ।)

(गीत)

दुर्लभ प्रिय है, हृदय ! छोड़ दे तू मिलनेकी आशा ।
पर क्यों बाँयाँ नयन फड़कता; कुछ-कुछ लेकर आशा ॥

एष स चिरदृष्टः कथं पुनरुपनेतव्यो
नाथ ! मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम् ॥]

(ततो यथारसमभिनयति ।)

विदूषकः—(जनान्तिकम् ।) **भो वअस्स! चउप्पदवत्थुअं दुवारीकरिअ तुई उवठ्ठाविदो अप्पा तत्तहोदीए।** [भो वयस्य ! चतुष्पदवस्तुकं द्वारीकृत्य त्वय्युपस्थापित आत्मा तत्रभवत्या ।]

राजा—**सखे ! एवमेव ममापि हृदयम् । अनया खलु ।**

जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्याः स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम् ।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः ॥ ५ ॥

(मालविका गीतान्ते निष्क्रमितुमारब्धा ।)

विदूषकः—**भोदि चिट्ठ । किंवि वो विसुमरिदो कम्मभेदो । तं दाव पुच्छिस्सम् ।** [भवति तिष्ठ । किमपि वो विस्मृतः कर्मभेदः । तं तावत्प्रक्ष्यामि ।]

गणदासः—**वत्से ! क्षणमात्रं स्थित्वोपदेशविशुद्धा यास्यसि ।**

(मालविका निवृत्य स्थिता ।)

राजा—(आत्मगतम्) **अहो ! सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति तथा हि—**

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटप सदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।

बहुत दिनोंपर देख रही हूँ, पर कैसे अपनाऊँ।
नाथ ! विवश हूँ, पर अपनी ही समझो, मैं बलि जाऊँ ॥

(गीतके भावके अनुसार नाट्य करती है ।)

विदूषक—(अलग) लो वयस्य ! इन्होंने तो इस चार चरणवाले गीतके बहाने आपपर अपनेको न्योछावर कर डाला ।

राजा—मैं भी यही समझता हूँ कि इसने 'नाथ ! विवश हूँ, पर अपनी ही समझो'—गीत गाते हुए अपनी ओर संकेत करके जो अभिनय किया है, वह इसीलिये कि महारानी धारिणीको पास देखकर इसने समझ लिया कि प्रेम दिखानेका कोई दूसरा उपाय तो है नहीं ! वास्तवमें एक सुकुमार युवकसे प्रेमकी भीख माँगनेके भाववाला यह गीत गाकर इसने यह सब मुझसे ही कहा है ॥ ५ ॥

(गा चुकनेपर मालविका चली जाना चाहती है ।)

विदूषक—ठहरिए देवी ! आप बीचमें कुछ भूल गई हैं, वही मैं पूछना चाहता हूँ ।

गणदास—वत्से ! थोड़ी देर रुक जाओ और जब यहाँ सब लोग भली-भाँति समझ लें कि तुमने ठीकसे सीख लिया है तभी जाना ।

(मालविका लौटकर खड़ी हो जाती है ।)

राजा—(मन ही मन) अहा ! इसे जिधरसे देखो, उधरसे ही यह मनोहर लगने लगती है । इसने अपना बाँयाँ हाथ कमरपर टेक लिया है, इसलिये हाथका कड़ा पहुँचीपर रुककर चुप हो गया है । दूसरा हाथ श्यामाकी डालीके समान ढीला लटका हुआ है । नीची आँखें किए हुए यह

पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं ।
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥ ६ ॥

देवी—णं गोदमवअणं वि अज्जो हिअए करेदि । [ननु गौतमवचनमप्यार्यो हृदये करोति ।]

गणदासः—देवी ! मा मैवम् । देव प्रत्ययात्संभाव्यते सूक्ष्मदर्शिता गौतमस्य । पश्य ।

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः ॥ ७ ॥

(विदूषकं विलोक्य) तच्छणुमो वयं विवक्षितमार्यस्य ।

विदूषकः—(गणदासं विलोक्य ।) कोसिइं दाव पुच्छ । पच्छा जो मए कम्मभेदो दिठ्ठो तं भणिस्सं । [कौशिकीं तावत्पृच्छ । पश्चाद्यो मया कर्मभेदो दृष्टस्तं भणिष्यामि ।]

गणदासः—भगवति ! यथा दृष्टमभिधीयतां गुणो वा दोषो वेति ।

परिव्राजिका—यथादृष्टं सर्वमनवद्यम् । कुतः—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥ ८ ॥

गणदासः—देवः कथं वा मन्यते ।

अपने पैरके अँगूठेसे धरतीपर बिखरे हूए फूल सरका रही है। इस प्रकार खड़ी होनेसे इसके ऊपरका शरीर लम्बा और सीधा हो गया है । नाचनेके समय भी यह उतनी सुन्दर नहीं लग रही थी, जितनी अब लग रही है ॥ ६ ॥

देवी—क्या आर्य गणदास भी गौतमकी बात सच मान बैठे हैं ?

गणदास—ऐसा न कहिए देवी ! महाराजके साथ रहते-रहते गौतमकी आँखें भी भले-बुरेकी ठीक पहचान करने लगी हैं। सुनिए, विद्वानोंकी संगतिमें बैठकर मूर्ख भी उसी प्रकार विद्वान् बन जाता है, जैसे निर्मलीके बीजसे मटमैला पानी भी स्वच्छ हो जाता है ॥ ७ ॥

(विदूषकको देखकर) हम भी तो सुनें आप क्या पूछना चाहते थे ?

विदूषक—(गणदासको देखकर) आप पहले कौशिकीजीसे पूछ देखिए, मैं पीछे बतलाऊँगा कि भूल कहाँ हुई है ।

गणदास—भगवती ! आपने जहाँ जैसा गुण या दोष देखा हो, सब कह डालिए ।

परिव्राजिका—मैंने तो जितना देखा, उसमें मुझे कहीं कोई दोष नहीं दिखाई दिया । क्योंकि गीतके सब भावोंका ठीक-ठीक अर्थ अंगोंके अभिनयसे भली भाँति दिखा दिया गया है। इनके पैर भी लयके साथ चल रहे थे । फिर गीतके रसमें भी ये तन्मय हो गई थीं । और इनके नृत्यने भी हमें प्रेममें मग्न कर दिया, क्योंकि तालके साथ होनेवाले अभिनयमें अनेक प्रकारसे अंग चलाकर जो भाव दिखाए जा रहे थे, वे ऐसे आकर्षक थे कि मन किसी ओर जाने ही नहीं पाता था ॥ ८ ॥

गणदास—देव ! आप इसे कैसा समझते हैं ।

राजा—वयं स्वपक्षशिथिलाभिमानाः संवृत्ताः ।

गणदासः—अद्य नर्तयितास्मि । कुतः—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः ।
श्यामायते न युष्मासु या काञ्चनमिवाग्निषु ।। ९ ।।

देवी—दिट्ठिआ अपरिक्खदाराहणेण अज्जो वड्ढइ । [दिष्टयाऽपरिक्षताराधनेनार्यो वर्धते ।]

गणदासः— देवी परिग्रह एव मे वृद्धिहेतुः । (विदूषकं विलोक्य ।) गौतम ! वदेदानीं यत्ते मनसि वर्तते ।

विदूषकः—पढमोवदेसदंसणे पढमं बम्हणस्स पूजा कादव्वा । सा णं वो विसुमरिदा । [प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या । सा ननु वो विस्मृता ।]

परिव्राजिका—अहो ! प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः ।

(सर्वे प्रहसिताः मालविका स्मितं करोति ।)

राजा—(आत्मगतम्) उपात्तसारश्चक्षुषा मे स्वविषयः । यदनेन—

स्मयमानमायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम् ।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम् ।। १० ।।

गणदासः—महाब्राह्मण ! न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनमिदम् । अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्यामः ।

राजा—इसे देखकर तो हमें अपने पक्षका अभिमान कम होने लगा है ।

गणदास—आज मैं सच्चा नृत्यकलाका पण्डित हुआ हूँ, क्योंकि जैसे आगमें डालनेसे सोना काला नहीं पड़ता, वैसे ही जिस शिक्षकके सिखानेमें किसी प्रकारकी भूल न दिखाई पड़े, उसीकी शिक्षा ठीक कहला सकती है ।। ९ ।।

देवी—अपने परीक्षकोंको सन्तुष्ट करनेके लिये आपको बधाई है ।

गणदास—देवीकी कृपासे ही मुझे यह यश मिला है । (विदूषकको देखकर) गौतम ! अब आप भी अपने मनकी बात कह डालिए ।

विदूषक—जब पहले-पहल अपनी सिखाई हुई विद्या लोगोंके आगे दिखाई जाती है, तब सबसे पहले ब्राह्मणकी पूजा करनी चाहिए, वह तो आप लोग भूल ही गए ।

परिव्राजिका—वाह, क्या नाटचकलाके भीतरकी बात पूछ डाली है ?

(सब हँसते हैं, मालविका मुसकराती है ।)

राजा—(मन ही मन) मेरी आँखोंको तो चाही हुई वस्तु देखनेको मिल गई, क्योंकि आज मेरी आँखोंकी इस बड़े बड़े नेत्रोंवालीके मुसकराते हुए उस मुखका दर्शन मिल गया, जिसमें कुछ-कुछ दाँत झलके पड़ रहे थे और जो उस खिलते हुए कमलके समान जान पड़ता है, जिसमेंके केसर पूरे-पूरे उभरे दिखाई दे रहे हों ।। १० ।।

गणदास—अरे ब्राह्मण देवता ! हम लोग यह पहली बार नाटक नहीं दिखा रहे हैं । ऐसा होता तो तुम्हारे-जैसे भेंट-पूजापर जीनेवाले ब्राह्मणकी हम अच्छी पूजा क्यों न कर डालते ।

विदूषकः—मए णाम सुक्खघणगज्जिदे अन्तरिक्खे जलपाणं इच्छिदा चादआइदम्। अहवा पंडितसंतोसपच्चआ णं मूढा जादी। जदि अत्तहोदीए सोहणं भणिदं तदो इमं दे पारितोसिअं पअच्छामि। [मया नाम शुष्कघनगर्जितेऽन्तरिक्षे जलपानमिच्छता चातकायितम्। अथवा पण्डितसन्तोषप्रत्यया ननु मूढजातिः यतोऽत्रभवत्या शोभनं भणितं तत इदं ते पारितोषिकं प्रयच्छामि।]

(इति राज्ञो हस्तात्कटकमाकर्षति।)

देवी—चिट्ठ दाव। गुणन्तरं अजाणन्ती किंणिमित्तं तुम आहणं देसि। [तिष्ठ तावत्। गुणान्तरमजानन् किंनिमित्तं त्वमाभरणं ददासि।]

विदूषकः—परकेरअंति करिअ। [परकीयमिति कृत्वा।]

देवी—(आचार्यं विलोक्य।) अज्ज गणदास ! णं दंसिदोवदेसा दे सिस्सा। [आर्य गणदास ! ननु दर्शितोपदेशा ते शिष्या।]

गणदासः—वत्से ! एहि गच्छाव इदानीम्।

(सहाचार्येण निष्क्रान्ता मालविका।)

विदूषकः—(जनान्तिकम्) एत्तिओ मे मदिविहवो भवन्तं सेविदुं। [एतावान्मे मतिविभवो भवन्तं सेवितुम्।

राजा—अलमलं परिच्छेदेन। अद्य हि—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करिणीम्॥ ११॥

विदूषकः—(जनान्तिकम्) दलिद्दो विअ आदुरो वेज्जेण ओसदं दीअमाणं इच्छसि। [दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि।]

विदूषक—तो क्या मैं कोरे गरजनेवाले बादलोंसे प्यास मिटानेकी आशा करनेवाला पपीहा ही बना रह गया ? पर भाई ! हमारे जैसे मूर्खोंकी तो ऐसी बात है कि यदि पण्डितोंको सन्तोष हो गया तो समझो हमें भी सन्तोष हो गया। जब भगवती कौशिकीने इसे सुन्दर बता दिया तो लाओ मैं भी तुम्हें यह पारितोषिक दिए डालता हूँ। (राजाके हाथसे कंगन निकालता है।)

देवी—ठहरो तो। दूसरेका अभिनय बिना देखे तुम अभीसे इसे आभूषण क्यों दिए डाल रहे हो ?

विदूषक—दूसरेका है न, यही समझकर दिए डाल रहा हूँ।

देवी—(आचार्यको देखकर) कहिए, आपकी शिष्या अपना अभिनय दिखा चुकी न ?

गणदास—आओ वत्से ! चलो, हम लोग चलें।

(आचार्यके साथ मालविका चली जाती है।)

विदूषक—(अलग राजासे) जहाँतक मेरी बुद्धिकी पहुँच थी वहाँतक तो मैंने आपका काम कर डाला।

राजा—बहुत मत बको। उसका पर्देके पीछे छिपना मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरी आँखोंका भाग्य फूट गया हो, जीका सारा हुलास ही ठंडा पड़ गया हो और धीरजपर भी ताला लग ठोका गया हो॥ ११॥

विदूषक—(अलग) तो क्या बिना पैसेवाले रोगीके समान यह चाहते हो कि आपको वैद्य ही औषध भी अपने पाससे दे दे।

(प्रविश्य)

हरदत्तः—देव ! मदीयमिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः ।

राजा—(आत्मगतम्) अवसितो दर्शनार्थः । (दाक्षिण्यमवलम्ब्य प्रकाशम्) ननु पर्युत्सुका एव वयम् ।

हरदत्तः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

(नेपथ्ये)

वैतालिकः—जयतु जयतु देवः । उपारूढो मध्याह्नः । तथाहि—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिका पद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥ १२ ॥

विदूषकः—अविहा अविहा । अम्हाणं उण भोअणवेला उवट्ठिदा । अत्तभवदो उदइवेलादिक्कमे चिइच्छआ दोसं उदाहरन्ति । (हरदत्तं विलोक्य) हरदत्त ! किं दाणिं भणसि । [अविधा अविधा । अस्माकं पुनर्भोजनवेलोपस्थिता । अत्रभवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति । हरदत्त ! किमिदानीं भणसि ।]

हरदत्तः—अस्ति वचनस्यान्यस्यावकाशोऽत्र !

राजा—तेन हि त्वदीयमुपदेशं श्वो वयं द्रक्ष्यामः । विरमतु भवान् ।

हरदत्तः यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

हरदत्त—(आकर) देव ! अब मेरा सिखाया हुआ अभिनय भी देखनेकी कृपा कीजिएगा ।

राजा—(मन ही मन) जो देखना था वह तो देख चुके । (उदारता दिखानेके लिये प्रकट) हाँ-हाँ, हम लोग तो देखनेको उत्सुक बैठे ही हैं ।

हरदत्त—बड़ी कृपा है मुझपर ।

(नेपथ्यमें)

वैतालिक—जय हो, देवकी जय हो । दोपहर हो गया है, क्योंकि बावड़ियोंमें कमलकी पंखड़ियोंकी छायामें हंस आँख मूंदकर विश्राम करने लगे हैं, धूपसे भवन ऐसा तप गया है कि छज्जोंपर कबूतरतक नहीं बैठ रहे हैं । चलते हुए रहटसे उछलती हुई पानीकी बूँदें पीनेके लिये मोर उसके चारों ओर चक्कर काट रहे हैं और सूर्य अपनी सब किरणोंके साथ उसी प्रकार चमक रहा है, जिस प्रकार आप अपने राजसी गुणोंसे चमकते रहते हैं ॥ १२ ॥

विदूषक—हाय हाय ! अब तो हम लोगोंके भोजनका समय हो गया है । वैद्योंका कहना है कि समयपर भोजन न करनेसे बड़ी हानि हो जाती है । (हरदत्तको देखकर) कहो हरदत्त ! क्या कहते हो ?

हरदत्त—अब कुछ कहनेकी बात ही कहाँ रह जाती है ?

राजा—तो अब आपका प्रदर्शन हम लोग कल देखेंगे । आप जाकर विश्राम करें ।

हरदत्त—जैसी देवकी आज्ञा । (चला जाता है ।)

देवी—णिव्वट्टेदु अज्जउत्तो मज्जणविहिम्। [निर्वर्तयत्वार्यपुत्रो मज्जनविधिम् ।]

विदूषकः—भोदि ! विसेसेण पाणभोअणं तुवरावेहि । [भवति ! विशेषेण पानभोजनं त्वरय ।]

परिव्राजिका—(उत्थाय) स्वस्ति भवते । [इति सपरिजनया देव्या सह निष्क्रान्ता ।]

विदूषकः—भो वअस्स ! ण केवलं रूवे सिप्पे वि अदुदीआ मालविआ । [भो वयस्य ! न केवलं रूपे, शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका ।]

राजा—वयस्य !

अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता ।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदग्धः ॥ १३ ॥

किं बहुना सखे ! चिन्तयितव्योऽस्मि ।

विदूषकः—भवदा वि अहं । दिढं विपणिकन्दू विअ मे उअरब्भन्तरं दज्झइ । [भवताप्यहम् । दृढं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते ।]

राजा—एवमेव भवान्सुहृदर्थेऽपि त्वरताम् ।

विदूषकः—गहीददक्खिणोम्हि । किं तु मेहावलीणिरुद्धा जोण्हा विअ पराहीणदंसणा तत्तहोदी मालविआ । भवं वि सूणापरिसरचरो विअ गिद्धो आमिसलोलुओ भीरुओ अ । अच्चंतादुरो विअ कज्जसिद्धि पत्थन्तो मे रोअसि । [गृहीतदक्षिणोऽस्मि । किं तु मेघावलीनिरुद्धा ज्योत्स्नेव पराधीनदर्शना तत्रभवती मालविका । भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्रे आमिषलोलुपो भीरुकश्च । अत्यन्तातुर इव कार्यसिद्धि प्रार्थयमानो मे रोचसे ।]

देवी—तो आर्यपुत्र ! चलकर अब नहा-धो लीजिए ।

विदूषक—देवी ! भोजन-पानीका अब झटपट कुछ बढ़िया प्रबन्ध कराइए ।

परिव्राजिका—(उठकर) आपका कल्याण हो । (सेविकाओं और रानीके साथ चली जाती है ।)

विदूषक—वयस्य ! सुन्दरतामें ही नहीं कलामें भी मालविका एक ही है ।

राजा—सच पूछो वयस्य ! तो विधाताने इस सहज सुन्दरी मालविकाको ललित कलाका ज्ञान क्या दिया, मानो उसने इसके हाथमें कामदेवका विष-बुझा बाण ही ला थमा दिया हो ॥१३॥

और क्या कहूँ मित्र ! अब तुम जाकर कुछ मेरी चिन्ता करो ।

विदूषक—आप भी मेरी चिन्ता कीजिए । मेरा पेट इस समय हलवाईकी कड़ाहीकी भाँति बड़ा खौला जा रहा है ।

राजा—तुम भी अब अपने मित्रके लिये शीघ्र ही उपाय सोच निकालो ।

विदूषक—उसके लिये तो मैं आपसे पहले ही दक्षिणा पा चुका हूँ, पर गड़बड़ तो यह है कि बादलोंमें छिपी हुई चाँदनीके समान मालविकाका दर्शन भी तो दूसरोंके हाथमें है । इधर आप हैं कि मांस बेचनेवाले व्याधके घरपर मँडरानेवाले गिद्धके समान उसपर ताक तो लगाए बैठे हैं पर साथ ही डरते भी हैं । इतनी अधीरताके साथ मुझे काम करनेको कहते हुए आप लगते बड़े अच्छे हैं ।

राजा—कथमनातुरो भविष्यामि ।

सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य ।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥ १४ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

राजा—बताओ, अधीरता क्यों न हो ? वह तिरछी चितवनवाली तो मेरे हृदयमें ऐसी आन बसी है कि रनिवासकी सभी रानियोंसे मेरा मन एकदम उचट चला है ॥ १४ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

॥ दूसरा अंक पूर्ण हुआ ॥

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति परिव्राजिकायाः परिचारिका समाहितिका ।)

समाहितिका—आणत्तम्हि भअवदीए—समाहिदिए ! देवस्स उवावणत्थं बीअऊरअं गेण्हिअ आअच्छ त्ति । ता जाव पमदवणपालिअं महुअरिअं अण्णेसामि । (परिक्रम्यावलोक्य) एसा तवणीआसोअं ओलोअन्ती महुअरिआ चिट्ठदि । ता जाव णं उपसप्पामि । [आज्ञप्तास्मि भगवत्या—समाहितिके ! देवस्योपवनस्थं बीजपूरकं गृहीत्वागच्छेति । तद्यावत्प्रमदवनपालिकां मधुरिकामन्विष्यामि । एषा तपनीयाशोकमवलोकयन्ती मधुकरिका तिष्ठति । तद्यावदेनामुपसर्पामि ।]

(ततः प्रविशत्युद्यानपालिका ।)

समाहितिका—(उपसृत्य) महुअरिए ! अवि सुहो दे उज्जाणव्वावारो । [मधुकरिके ! अपि सुखस्त उद्यानव्यापारः ।]

मधुकरिका—अम्हो समाहिदिआ ! सहि ! सागदं दे । [अहो समाहितिका सखि ! स्वागतं ते ।]

समाहितिका—हला ! भगवदी आणवेदि । अरित्तपाणिणा अम्हारिसजणेण तत्तहोदी देवी देक्खिदव्वा । ता बीअपूरएण सुस्सूसिदुं इच्छामि त्ति । [सखि भगवत्याज्ञापयति । अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या । तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति ।]

मधुकरिका—णं संणिहिदं बीजपूरअं । कहेहि दाव अण्णोण्णसंघरिसिदाणं णट्टाअरिआणं उवदेसं देक्खिअ कदरो भअवदीए पसंसिदो । [ननु संनिहितं बीजपूरकम् । कथय तावदन्योन्यसंघर्षितयोर्नाट्याचार्ययोरुपदेशं दृष्ट्वा कतरो भगवत्या प्रशंसितः ।]

समाहितिका—दुवे वि किल आगमिणा पओअणिउणा अ । किंतु सिस्साए मालविआए

तीसरा अङ्क

(परिव्राजिकाकी दासी समाहितिका आती है ।)

समाहितिका—भगवती कौशिकीने मुझे आज्ञा दी है कि समाहितिका ! जाओ, महाराजके उपवनसे एक बिजौरिया नीबू तो ले आओ । तो चलती हूँ, प्रमदवनकी मालिन मधुकरिकाका पता लगाती हूँ ! (घूमकर देखती है ।) अरे, सुनहरे अशोकको ओर टकटकी लगाए यह क्या खड़ी है, तो चलती हूँ इसके पास ।

(मालिन मधुकरिका आती है ।)

समाहितिका—(पास जाकर) कहो मधुकरिका ! तेरे उपवनका काम तो ठीक-ठीक चल रहा है न ?

मधुकरिका—अरे ! तुम हो समाहितिका ! आओ सखी, आओ, तुम्हारा स्वागत है ।

समाहितिका—सखी ! भगवती कौशिकीने कहा है कि हमें छूंछे हाथ महारानीसे मिलने नहीं जाना चाहिए, इसलिये नींबू ही भेंट करके उनसे मिले लेती हूँ ।

मधुकरिका—लो, नींबू तो पास ही है । हाँ, यह तो बताओ कि वह जो दोनों नाट्याचार्योंका झगड़ा चल रहा था, उनमेंसे भगवतीने किसे अच्छा बताया ।

समाहितिका—यों तो दोनों ही शास्त्रके पण्डित और अभिनयकलामें चतुर हैं, पर गणदासने

गुणबिसेसेण गणदासस्स उवदेसो पसंसिदो। [द्वावपि किलागमिनौ प्रयोगनिपुणौ च। किंतु शिष्याया मालविकाया गुणविशेषेण गणदासस्योपदेशः प्रशंसितः।]

मधुकरिका—अह मालविआगदं कोलीणं कीरिसं सुणीअदि। [अथ मालविकागतं कौलीनं कीदृशं श्रूयते।]

समाहितिका—बाढं किल तस्सिं साहिलासो भट्टा। किंतु केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खन्तो ण अत्तणो पहुत्तणं दंसेदि। मालविआ वि इमेसु दिअसेसु अणुहूदमुत्ता विअ मालदीमाला मिलाणा लक्खीअदि। अदो अवरं ण जाणे। विसज्जेहि मं [बाढं किल तस्यां साभिलाषो भर्ता। किन्तु केवलं देव्या धारिण्याश्चित्तं रक्षन्नात्मनः प्रभुत्वं दर्शयति। मालविकाप्येषु दिवसेष्वनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लाना लक्ष्यते। अतः परं न जाने। विसृज माम्।]

मधुकरिका—एदं साहावलम्बिदं बीअपूरअं गेण्ह। एतच्छाखावलम्बितं बीजपूरकं गृहाण।]

समाहितिका—तह। (इति नाट्येन बीजपूरकं गृहीत्वा) हला! तुमं वि अदो पेसलदरं साहुजणसुस्सूसाए फलं पावेहि। [तथा। सखि! त्वमप्यतः पेशलतरं साधुजनशुश्रूषायाः फलं प्राप्नुहि।] (इति प्रस्थिता।)

मधुकरिका—हला! समं जेव्व गच्छम्ह। अहं वि इमस्स चिराअमाणकुसुमोग्गमस्स तवणीआसोअस्स दोहलणिमित्तं देवीए णिवेदेमि। सखि! सममेव गच्छावः अहमप्यस्य चिरायमाणकुसुमोद्गमस्य तपनीयाशोकस्य दोहदनिमित्तं देव्यै निवेदयामि।]

समाहितिका—जुज्जइ। अहिआरो क्खु तुइ। [युज्यते। अधिकारः खलु तव।]

(इति निष्क्रान्ते)

॥ इति प्रवेशकः ॥

अपनी शिष्या मालविकाको जैसा अच्छा सिखाया है, उसे देख लेनेपर गणदास ही आज दोनोंमें अच्छे ठहराए गए हैं।

मधुकरिका—और कहो, मालविकाके सम्बन्धमें ये कैसी-कैसी बातें उड़ाई जा रही हैं?

समाहितिका—हाँ, महाराज उसे चाहने तो बहुत लग गये हैं, पर रानी धारिणीका मन रखनेके लिये वे खुलकर प्रेम नहीं दिखला पाते। इधर मालविका भी इन दिनों पहनकर उतारी हुई मालतीकी मालाके समान कुम्हलाई जा रही है। बस इससे अधिक तो मैं कुछ जानती नहीं। अच्छा, तो छुट्टी दो।

मधुकरिका—हाँ, लो, यह डालपर झूलता हुआ नीबू तोड़ती ले जाओ।

समाहितिका—अच्छा, (नींबू तोड़नेका अभिनय करके) भगवान् करे सखी! साधुओंकी सेवा करनेका तुम्हें इससे भी अच्छा फल मिले। (चलती है।)

मधुकरिका—चलो सखी! हम दोनों साथ ही चली चलें। मुझे भी चलकर महारानीसे निवेदन करना है कि यह जो सुनहरा अशोक अभीतक फूल नहीं रहा है, इसके फूलनेका कोई उपाय किया ही जाना चाहिए।

समाहितिका—ठीक ही है, यह बात तुम न कहोगी तो कौन कहेगा?

(दोनों चली जाती हैं।)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च ।)

राजा—(आत्मानं विलोक्य ।)

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्त्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥ १ ॥

विदूषकः—अलं भवदो धीरं उज्झिअ परिदेविदेण । दिट्ठा मए तत्तहोदीए मालविआए पिअसही बउलावलिआ । सुणाविदा अ अत्थं जो भवदा संदिट्ठो । [अलं भवतो धीरत्वामुज्झित्वा परिदेवितेन । दृष्टा मया तत्रभवत्या मालविकायाः प्रियसखी बकुलावलिका । श्राविता चार्थं यो भवता संदिष्टः ।]

राजा—ततः किमुक्तवती ।

विदूषकः—विण्णावेहि भट्टारअम् । अणुगहीदम्हि इमिणा णिओएण । किदु सा तवस्सिणी देवीए अहिअं रक्खन्तीए णाअरक्खिदो विअ णिही ण सुहं समासादइदव्वा । तहवि जइस्सं । [विज्ञापय भट्टारकम् । अनुगृहीतास्म्यनेन नियोगेन । किन्तु सा तपस्विनी देव्याधिकं रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या । तथापि यतिष्ये ।)

राजा—भगवान् संकल्पयोने ! प्रतिबन्धवत्स्वपि विषयेष्वभिनिवेश्य किं तथा प्रहरसि यथा जनोऽयं न कालान्तरक्षमो भवति । (सविस्मयम् ।)

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम् ।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ॥ २ ॥

(विदूषकके साथ काम-पीडित अवस्थामें राजा बैठे दिखाई पड़ते हैं ।)

राजा—(अपनी ओर देखकर) प्यारीको छाती न लगा पानेसे मेरे शरीरका सूखना भी ठीक ही है और उसे पल भरके लिये भी देख न पानेकी चिन्तामें आँखोंका डबडबाए रहना भी ठीक ही है, पर मेरे हृदय ! यह तो बताओ कि उस हरिणीकी-सी आँखोंवाली और मेरा जी ठण्डा कर देनेवाली प्यारीके सदा पास रहते हुए भी तुम इस प्रकार क्यों जले जा रहे हो ॥ १ ॥

विदूषक—यह सब अधीर होकर रोना-कलपना छोड़िए । मैं मालविका की प्यारी सखी बकुलावलिकासे मिला था और मैंने आपका पूरा संदेश सुना भी दिया है ।

राजा—इसपर वह क्या बोली ?

विदूषक—उसने कहा—स्वामीसे निवेदन कर देना कि यह काम सौंपकर स्वामीने मुझपर बड़ी कृपा की है, पर वह बेचारी महारानीकी वैसी ही कड़ी देख-रेखमें है, जैसे साँपकी देख-रेखमें कोई निधि रक्खी हुई हो । इसलिये वह सहजमें हाथ लगनेवाली नहीं है, फिर भी मैं जतन करूँगी !

राजा—भगवान् कामदेव ! पग-पगपर बाधाओंसे भरे हुए कामोंमें मुझे फँसाकर तुम मुझपर ऐसी चोटें क्यों किए जा रहे हो कि समय भी काटे न कटे । (अचरजके साथ) देखो कामदेव ! कहाँ तो एक ओर जीको ढाढ़स बँधानेवाला तुम्हारा कोमल फूलोंका धनुष् और कहाँ यह हृदयको मथ डालनेवाला प्रेमका रोग । यह कहावत तुमपर तो पूरी-पूरी घटती दिखाई दे रही है कि बाहरसे जो जितने कोमल दिखाई पड़ते हैं, वे भीतरसे उतने ही कठोर होते हैं ॥ २ ॥

विदूषकः—णं भणामि तस्सि साहणिज्जे कज्जे किदो मए उवाओवक्खेओ । ता पज्जवत्थावेदु भवं अप्पाणं । [ननु भणामि तस्मिन्साधनीये कार्ये कृतो मयोपायोपक्षेपः तत्पर्यवस्थापयतु भवानात्मानम ।]

राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि ।

विदूषकः—अज्ज एव्व पढमावदारसुहआणि रत्तकुरवआणि उवाअणं पेसिअ णववसन्तावदारव्ववदेसेण इरावदीए णिउणिआमुहेण पत्थिदो भवं—इच्छामि अज्जत्तेण सह दोलाहिरोहणं अणुहविदुं त्ति । भवदा वि से पडिण्णादं ता पमदवणं एव्व गच्छम्ह । [अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति । भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम् । तत्प्रमदवनमेव गच्छावः ।]

राजा—न क्षममिदम् ।

विदूषकः—कहं विअ । [कथमिव ।]

राजा—वयस्य ! मिसर्गनिपुणाः स्त्रियः । कथमन्यसंक्रान्तहृदयमुपलालयन्तमपि ते सखी न मां लक्षयिष्यति । अतः पश्यामि ।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भवशून्यः ॥ ३ ॥

विदूषकः—णारिहदि भवं अन्दंउरट्ठिदं दक्खिण्णं एक्कपदे पिट्ठदो कादुं ! [नार्हति भवानन्तःपुरस्थितं दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम् ।]

राजा—(विचिन्त्य ।) तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय ।

विदूषक—मैं कह तो रहा हूँ कि आपका मनोरथ पूरा करनेका मैं सब उपाय कर चुका हूँ इसलिये आप चिन्ता न कीजिए ।

राजा—अपने तो किसी काममें मेरा जी लग नहीं रहा है, इसलिये यह बताओ कि आजका यह बचा हुआ दिन बिताया कहाँ जाय ?

विदूषक—नये खिले हुए सुहावने लाख कुरबकके फूल आपके पास भेंटमें भेजकर रानी इरावतीने आज ही निपुणिकाके मुँहसे नये वसंतके आनेका बहाना लेकर कहलाया है कि मैं आज आर्यपुत्रके साथ झूला झूलना चाहती हूँ, और आपने भी उनकी बात मान ली है ! इसलिये चलिए, उधर प्रमदवनकी ओर ही उठ चला जाय ।

राजा—पर वहाँ चलना ठीक होगा नहीं ।

विदूषक—क्यों ?

राजा—देखो मित्र ! स्त्रियाँ स्वभावसे ही बड़ी चंट होती हैं । वहाँ चलकर यदि मैं उसीके मनका काम करने लगूँ तो क्या वह भाँप न लेगी कि मेरा मन कहीं और उलझा हुआ है ? इसलिये मैं समझता हूँ कि बहुतसे इधर-उधरके बहाने बनाकर प्रेमकी उचित बात भी टाल जाना अच्छा होता है, पर चतुर स्त्रियोंके आगे बनावटी प्रेम दिखलाना अच्छा नहीं होता ॥ ३ ॥

विदूषक—पर इस प्रकार रनिवासकी रानियोंके प्रेमका एकाएक निरादर करना भी तो ठीक नहीं होगा ।

राजा—(सोचकर) तो चलो । प्रमदवनकी ओर ही लिवाते ले चलो ।

विदूषकः—**इदो इदो भवं ।** [इत इतो भवान् ।]

(उभौ परिक्रामतः ।)

विदूषकः—**णं एदं पमदवणं पवणबलचलाहिं पल्लवङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ भवन्तं पवेसिदुं ।** [नन्वेतत्प्रमदवनं पवनबलचलाभिः पल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव भवन्तं प्रवेष्टुम् ।]

राजा—(स्पर्शं रूपयित्वा) अभिजातः खलु वसन्तः । सखे पश्य—

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव ।
अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन ॥ ४ ॥

विदूषकः—**पविस णिव्वुदिलाहाअ ।** [प्रविश निर्वृतिलाभाय ।]

(उभौ प्रविशतः ।)

विदूषकः—**अवहाणेण दिट्ठिं देहि । एदं क्खु भवन्तं विअ विलोहइदुकामाए पमदवणलच्छीए जुवदीवेसलज्जावइत्तिअं वसंतकुसुमणेवत्थं गहीदं ।** [अवधानेन दृष्टिं देहि । एतत्खलु भवन्तमिव त्रिलोभयितुकामया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतिवेषलज्जापयितृकं वसन्तकुसुमनेपथ्यं गृहीतम् ।]

राजा—**ननु विस्मयादवलोकयामि ।**

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम् ।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम् ॥ ५ ॥

(उभौ नाटचेनोद्यानशोभां निर्वर्णयतः ।)

विदूषक—इधरसे आइए देव ! इधरसे । (दोनों घूमते हैं)

विदूषक—लीजिए, यह रहा प्रमदवन । देखिए वायुसे हिलते हुए पत्तोंकी उँगलियोंसे यह प्रमदवन मानो आपको बुलाए ले रहा है कि झटपट भीतर बढ़े चले आइए ।

राजा—(वायु लगनेके सुखका नाटच करते हुए) वसन्त सचमुच आ पहुँचा है । देखो मित्र ! कानको सुहानेवाली मतवाले कोकिलोंकी कूकोंमें मानो वसन्त ऋतु मुझपर बड़ी दया दिखलाते हुए यह पूछ रहा हो—क्यों ? प्रेमकी पीड़ा सही जा रही है ? इधर खिली हुई आमकी मञ्जरियोंकी गन्धमें बसा हुआ दक्षिण पवन मेरे शरीरसे लगता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानो वसन्तने अपना अत्यन्त सुख देनेवाला हाथ मेरे ऊपर ला रक्खा हो ॥ ४ ॥

विदूषक—चलिए, भीतर चलकर आनन्द लीजिए ।

(दोनों प्रवेश करते हैं ।)

विदूषक—तनिक ध्यानसे तो देखिए ! इस प्रमदवनकी लक्ष्मीने आपको लुभानेके लिये ही युवतियोंके साज-सिंगारको भी लजानेवाला यह वसन्तके फूलोंका सिंगार कर बनाया है ।

राजा—मैं भी अचरजके साथ आँखें फाड़कर देख रहा हूँ कि—यह लाल अशोककी ललाई तो स्त्रियोंके बिम्बाधरोंकी ललाईको लजा रही है । काले उजले और लाल रंगोंके कुरबकके फूल, स्त्रियोंके मुखोंपर चीती हुई चित्रकारीको फीकी किए डाल रहे हैं । काले भौंरोंसे लिपटे हुए तिलकके फूल स्त्रियोंके माथेपरके तिलकको नीचा दिखाए डाल रहे हैं । जान पड़ता है मानो

(ततः प्रविशति पर्युत्सुका मालविका ।)

मालविका—अविण्णादहिअअं भट्टारअं अहिलसंदी अप्पणो वि दाव लज्जेमि । कुदो विहवो सिणिद्धस्स सहीजणस्स इमं वुत्तन्तं आचक्खिदुं । ण जाणे अप्पडिआरगरुअं वेअणं केत्तिअं कालं मअणो मं णइस्सदि त्ति । आः कहिं क्खु पट्ठिदम्हि ? (इति स्मृतिमभिनीय) आदिट्ठम्हि देवीए—मालविए ! गोदमचापलादो दोलापरिब्भट्ठाए सरुओ मह चलणो । तुमं दाव गदुअ तवणीआसोअस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति । जइ सो पंचरत्तब्भंतरे कुसुमं दंसेदि तदो अहं अहिलासपूरइत्तअं पसादं दावइस्सं त्ति । ता जाव णिओअभूमिं पढमं गदा होमि दाव अणुपदं मह चलणालंकारहत्थाए बउलावलिआए आअंदव्वं । ता परिदेवइस्सं ताव वीसद्धं मुहुत्तअं । [अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलषन्त्यात्मनोऽपि तावल्लज्जे । कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येमं वृत्तान्तमाख्यातुम् । न जानेऽप्रतिकारगुरुकां वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति । आः कुत्र खलु प्रस्थितास्मि ? आदिष्टास्मि देव्या—मालविके ! गौतमचापलाद्दोलापरिभ्रष्टायाः सरुजो मम चरणो । त्वं तावद्गत्वा तपनीयाशोकस्य दोहदं निवर्तयेति । यद्यसौ पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति तातोऽहमभिलाषपुरयितृकं प्रसादं दापयिष्यामीति । तद्यावन्नियोयभूमिं प्रथमं गता भवामि तावदनुपदं मम चरणालङ्कारहस्तया बकुलावलिकयाऽगन्तव्यम् । तत्परिदेवयिष्ये तावद्विस्रब्धं मुहूर्तकम् ।]

(इति परिक्रामति ।)

विदूषकः—(दृष्ट्वा) ही ही । वअस्स ! एदं क्खु सीहुपाणुव्वेजिदस्स मच्छण्डिआ उवणदा । [आश्चर्यमाश्चर्यम् । वयस्य ! एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता ।]

राजा—अये ! किमेतत् ।

वसन्तकी शोभा आज स्त्रियोंके मुखके सारे साज-सिंगारका निरादर करनेपर ही तुली बैठी हो ॥ ५ ॥

(दोनों उस उपवनकी शोभा निहारनेका नाटच करते हैं ।)

(बड़ी चिन्तामें पड़ी हुई मालविका आती है ।)

मालविका—जिस प्रियतमके मनकी मैं थाह नहीं पा सक रही हूँ उससे प्यार करके मुझे अपने ऊपर बड़ी लाज आ रही है । अपनी प्यारी सखियोंसे भी मैं यह बात खुलकर नहीं कह पा रही हूँ । वह प्रेमकी पीडा न जाने कबतक कामदेव मुझे देता रहेगा जिसकी कोई औषधि भी नहीं है । (दो चार पग चलकर) अरे ! मैं कहाँ के लिये चली थी ? (स्मरण करनेका नाटच करती हुई ।) हाँ ठीक है । मुझसे देवी धारिणीने कहा है कि—मालविका ! गौतमके नटखटपनसे मैं झूलेसे गिर पड़ी हूँ और मेरे दोनों पैरोंमें चोट आ गई है इसलिये तुम्हीं जाकर सुनहरे अशोकके फूलनेका उपाय कर आओ । यदि पाँच दिनोंके भीतर वह फूल उठेगा तो तुम्हें मुँह-माँगा पुरस्कार दूँगी । मैं वहाँ पहलेसे ही पहुँची जाती हूँ क्योंकि बकुलावलिका भी मेरे पीछे-पीछे बिछुए लेकर आ ही रही होगी । तबतक मैं अकेले जी भरकर रो भी लूँगी ।

(घूमती है ।)

विदूषक—(उसे देखकर) हिः हिः ! कैसे अचरज की बात है मित्र ! कि मदिरासे मतवाले मनुष्यको और अधिक मतवाला बनानेवाली कच्ची खाँड़ भी आ पहुँची ।

राजा—अरे कौन-सी वस्तु है ?

विदूषकः—एसा णादिपरिक्खिदवेसा ऊसुअवअणा एआइणी मालविआ अदूरे वट्टदि। [एषा नातिपरिष्कृतवेषोत्सुकवदनैकाकिनी मालविकाऽदूरे वर्तते।]

राजा—(सहर्षम्) कथं मालविका ?

विदूषकः—अह इं। [अथ किम्।]

राजा—शक्यमिदानीं जीवितमवलम्बयितुम्।

त्वदुपलभ्य समीपगतां प्रियां हृदयमुच्छ्वसितं मम विक्लवम्।
तरुवृतां पथिकस्य जलार्थिनः सरितमारसितादिव सारसात्॥ ६॥

अथ क्व तत्र भवती ?

विदूषकः—एसा तरुराइमज्झादो णिक्कन्ता इदो ज्जेव्व परिवट्टन्ती दीसइ। [एषा तरुराजिमध्यान्निष्क्रान्तेत एव परिवर्तमाना दृश्यते।]

राजा—(विलोक्य सहर्षम्) वयस्य ! पश्याम्येनाम्।

विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः।
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति॥ ७॥

सखे ! पूर्वस्मादतिमनोहरावस्थान्तरमुपारूढा तत्रभवती। तथा हि—

शरकाण्डपाण्डु गण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा।
माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता॥ ८॥

विदूषकः—एसा वि भवं विअ मअणव्वाहिणा परिमिट्ठा भविस्सदि। [एषापि भवानिव मदनव्याधिना परिमृष्टा भविष्यति।]

राजा—सौहार्दमेवं पश्यति।

विदूषक—यह क्या पास ही अधमैले कपड़े पहने मालविका अकेली उदास बैठी हुई है।

राजा—(प्रसन्न होकर) क्या मालविका है ?

विदूषक—और क्या ?

राजा—तब समझो कि मेरे प्राण अब बच जायँगे। जैसे सारसका शब्द सुनकर प्यासे पथिकको भरोसा हो जाता है कि पेड़की झुरमुटके पीछे कोई नदी होगी वैसे ही तुम्हारे मुँहसे यह बात सुनकर मेरे व्याकुल मनको बड़ा धीरज मिला है कि मालविका पास ही है॥ ६॥

पर, वह है कहाँ ?

विदूषक—वह क्या वृक्षोंके बीचसे होती हुई इधर ही चली आती दिखाई दे रही है।

राजा—(देखकर प्रसन्नतासे) देख रहा हूँ मित्र ! यह बड़े-बड़े नितम्बोंवाली, पतली कमरवाली, उठे हुए स्तनोंवाली और बड़ी-बड़ी आँखोंवाली मानो मेरी जान ही चली आ रही हो॥ ७॥

जैसा इसे मैंने पहले देखा था उससे कहीं बढ़कर सुन्दर तो यह अब लग रही है। और देखो—इने-गिने आभूषण पहने हुए और सरकंडेके समान पीले गालोंवाली यह सुन्दरी वैसी ही दिखाई दे रही है जैसे वसंतसे पके हुए पत्तोंवाली किसी कुन्दलतामें इने-गिने फूल बचे रह गए हों॥ ८॥

विदूषक—तो इन्हें भी आपके जैसा ही कोई प्रेमका रोग लग गया होगा।

राजा—मित्रोंको सदा ऐसा ही सूझा करता है।

मालविका—अअं सो ललिदसुउमालदोहलापेक्खी अगिहीदकुसुमणेवत्थो उक्कंठिदाए मह अणुकरेदि असोओ। जाव एदस्स पच्छाअसीदले सिलापट्टए णिसण्णा अप्पाणं विणोदेमि। [अयं स ललितसुकुमारदोहदापेक्षी अगृहीतकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिताया ममाऽनुकरोत्यशोकः। यावदस्य प्रच्छायशीतले शिलापट्टके निषण्णात्मानं विनोदयामि।]

विदूषकः—सुदं भवदा उक्कंठिदम्हि त्ति तत्तहोदी मन्तेदि। [श्रुतं भवता उत्कण्ठितास्मीति तत्रभवती मन्त्रयते।]

राजा—नैतावता भवन्तं प्रसन्नतर्कं मन्ये। कुतः—

वोढा कुरबकरजसां किसलयपुटभेदशीकरानुगतः।
अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः॥ ९॥

(मालविकोपविष्टा।)

राजा—सखे! इतस्तावदावां लतान्तरितौ भवावः।

विदूषकः—इरावदिं विअ अदूरे पेक्खामि। [इरावतीमिवादूरे प्रेक्षे।]

राजा—नहि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः। (इति विलोकयन्स्थितः।)

मालविका—हिअअ! णिरवलम्बणादो अदिभूमिलंघिणो दे मणोरहादो विरम। किं मं आआसिअ। [हृदय! निरवलम्बनादतिभूमिलङ्घिनो तव मनोरथाद्विरम। किं मामायास्य।]

(विदूषको राजानं वीक्षते।)

राजा—प्रिये! पश्य वामत्वं स्नेहस्य।

औत्सुक्यहेतुं विवृणोषि न त्वं तत्त्वावबोधैकफलो न तर्कः।
तथापि रम्भोरु करोमि लक्ष्यमात्मानमेषां परिदेवितानाम्॥ १०॥

मालविका—फूलोंकी सजावटसे सूना यह अशोक वृक्ष भी अपने मनकी सुहावनी और प्यारी साध पूरी करानेके लिये मेरे ही समान अधीर हुआ जा रहा है। तो चलती हूँ तबतक इसीकी ठंढी छायाके तले पत्थरकी पटियापर बैठकर जी बहलाए लेती हूँ।

विदूषक—सुना आपने? वे कह रही हैं कि मैं अधीर हो रही हूँ।

राजा—केवल इतनी-सी बातसे मैं यह नहीं मान सकता कि तुम ठीक समझ गए हो। क्योंकि कुरवकके परागमें बसा हुआ और खिली हुई कोंपलोंसे जलकी बूँदें उड़ा ले जानेवाला मलयका पवन बिना कारण यों ही मनमें चाह भरे डाल रहा है॥ ९॥

(मालविका बैठ जाती है।)

राजा—आओ मित्र! चलो, हम लोग भी लताके पीछे छिप चलें।

विदूषक—इरावतीजी भी अब आ ही रही होंगी।

राजा—हाथी जब कमलिनीको देख लेता है तब उसे जलमें छिपे हुए घड़ियाल नहीं सूझा करते। (देखता रहता है।)

मालविका—अरे हृदय! तू ऐसी चाह क्यों किए डाल रहा है जिसपर न तो अपना कोई वश ही है और न जहाँतक अपनी पहुँच ही है। मुझे सतानेमें तुझे मिल क्या रहा है?

(विदूषक राजाकी ओर देखता है।)

राजा—प्यारी! प्रेमकी यह उलटी चाल तो देखो कि यद्यपि अभीतक न तो तुम्हींने अपनी व्याकुलताका कारण खोलकर बताया और न अनुमानसे ही मुझे तुम्हारे मनकी ठीक ठीक थाह लग पाई फिर भी मैं तो यही समझ रहा हूँ कि तुम मेरे ही लिये इतना रो-कलप रही हो॥ १०॥

विदूषकः—संपदं भवदो णिस्संसअं भविस्सदि। एसा अप्पिदमअणसंदेसा विवित्ते णं बउलावलिआ उवठ्ठिदा। [सांप्रतं भवतो निःसंशयं भविष्यति। एषार्पितमदनसंदेशा विविक्ते ननु बकुलावलिकोपस्थिता।]

राजा—अपि स्मरेदसावस्मदभ्यर्थनाम्।

विदूषकः—किं दाणिं एसा दासीए दुहिता तुह गरुअं संदेसं विसुमरेदि। अहं दाव ण विसुमरेमि। [किमिदानीमेषा दास्या दुहिता तव गुरुकं संदेशं विस्मरति। अहं तावन्न विस्मरामि।]

(प्रविश्य चरणालङ्कारहस्ता बकुलावलिका।)

बकुलावलिका—अवि सुहं सहीए। [अपि सुखं सख्याः।]

मालविका—अम्हो बउलावलिआ उवट्ठिदा। सहि ! साअदं दे। उवविस। [अहो बकुलावलिकोपस्थिता। सखि ! स्वागतं ते। उपविश।]

बकुलावलिका—(उपविश्य) हला तुमं दाणिं जोग्गदाए णिउत्ता। ता एक्कं दे चलणं उवणेहि जाव सालत्तअं सणूउरं अ करेमि। [सखि ! त्वमिदानीं योग्यतया नियुक्ता। तस्मादेकं ते चरणमुपनय यावत्सालक्तकं सनूपुरं च करोमि।]

मालविका—(आत्मगतम्) हिअअ ! अलं सुहिदाए उवट्ठिदो अअं विहवो। कहं दाणिं अत्ताणं मोचेअं। अहवा एदं एव्व मे मित्तुमण्डणं भविस्सदि। [हृदय ! अलं सुखितया उपस्थितोऽयं विभवः। कथं वेदानीमात्मानं मोचयेयम्। अथवा एतदेव मे मृत्युमण्डनं भविष्यति।]

बकुलावलिका—किं विआरेसि। ऊसुआ क्खु इमस्स तवणीआसोअस्स कुसुमोग्गमे देवी। [किं विचारयसि। उत्सुका खल्वस्य तपनीयाशोकस्य कुसुमोद्गमे देवी।]

राजा—कथमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भः।

विदूषक—आपका सन्देह अभी दूर हुआ जाता है। लीजिए, जिसके हाथ आपने सन्देश भेजा था वह बकुलावलिका भी यहाँ अकेलेमें उसके पास आ पहुँची है।

राजा—पर उसे क्या हमारी बात स्मरण होगी ?

विदूषक—जब मैं-तक नहीं भूल पाया हूँ, तब भला यह दासीकी बच्ची कहीं ऐसी आवश्यक बात भूल पा सकती है ?

(पैर सजानेकी सारी सामग्री हाथमें लिए बकुलावलिका आती है।)

बकुलावलिका—कहो सखी, अच्छी तो हो ?

मालविका—अरे बकुलावलिका ! तुम आ गई ! स्वागत है सखी, आओ बैठो।

बकुलावलिका—(बैठकर) सखी ! तुम्हें जो काम दिया गया है उसके लिये तुम्हीं योग्य थीं। लाओ अपना एक पैर इधर ला बढ़ाओ तो मैं उसमें महावर लगाकर बिछुए पहनाए देती हूँ।

मालविका—(मन ही मन) मेरे हृदय ! यह सम्मान देखकर बहुत फूलो मत। पर मैं इससे बच भी कैसे सकती हूँ ? यह न करूँ तो कहीं इसीसे मेरा अन्तिम सिंगार न हो जाय।

बकुलावलिका—सोच क्या रही हो ? जानती हो, इस सुनहरे अशोकके फूलनेकी देवीको बड़ी चिन्ता है।

राजा—अच्छा तो क्या यह सब सजावट अशोकके फूलनेके लिए की जा रही है ?

विदूषकः—किं णु क्खु जाणासि तुमं मह कालणादो देवी मं अन्तेउरणेवच्छेण योजइस्सदि त्ति । [किं नु खलु जानासि त्वं मम कारणाद्देवी मामन्तःपुरनेपथ्येन योजयिष्यतीति ।]

मालविका—हला ! मरिसेहि दाव णं । [सखि ! मर्षय तावदेनम् ।] (इति पादमुपहरति ।)

बकुलावलिका—अइ सरीरअं सि मे । [अयि शरीरमसि मे ।]

(इति नाटयेन चरणसंस्कारमारभते ।)

राजा—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम् ।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य ॥ ११ ॥

विदूषकः—चलणाणुरूवो तत्तहोदीए अहिआरो उवक्खित्तो । [चरणानुरूपस्तत्रभवत्या अधिकार उपक्षिप्तः ।]

राजा—सम्यगाह भवान् ।

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन ।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम् ॥१२॥

विदूषकः—पहरिस्सदि तत्तहोदी तुमं अवरद्धम् । [प्रहरिष्यति तत्रभवती त्वामपराधम् ।]

राजा—मूर्ध्ना प्रतिगृहीतवचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य ।

(ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेटी च ।)

इरावती—हंजे णिउणिए ! सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणस्स विसेसमंडणं त्ति । अवि सच्चो एसो लोअवाओ । [चेटि निपुणिके ! श्रृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति । अपि सत्य एष लोकवादः ।]

विदूषक—तो क्या आप समझ बैठे थे कि महारानीने मेरे लिये इसे रनिवासके सिंगारोंसे सजाया होगा ।

मालविका—लो सखी ! पर मुझे इसके लिये क्षमा कर देना । (पैर आगे करती है ।)

बकुलावलिका—वाह री ! तू कोई दूसरी है । मैं तो तुझे अपनी देह-जैसी ही प्यारी समझती हूं । (पैर रँगनेका नाटय करती है ।)

राजा—मित्र ! प्यारीके पैरमें महावरकी जो गीली लकीरें बनी हैं वे ऐसी दिखाई पड़ रही हैं मानो महादेवजीके क्रोधसे जले हुए कामदेवके वृक्षमें नई कोपलें फूट आई हों ॥ ११ ॥

विदूषक—और फिर जैसे इनके पैर हैं वैसा ही काम भी तो इन्हें सौंपा गया है ।

राजा—यह तो ठीक कहा तुमने ! चमचमाते हुए नखोंवाले और नई कोपलोंकेसे पंजोंवाले इस सुन्दरीके चरण या तो फूलनेकी इच्छा करनेवाले इस अनफूले अशोकपर पड़ने योग्य हैं या प्रेममें अपराध करनेवाले सिर झुकाए हुए पतिके सिरपर पड़ने योग्य हैं ॥ १२ ॥

विदूषक—तो समझ लीजिए कि आप भी अपराध करेंगे तो ये ही चरण आपपर भी आ पड़ेंगे ।

राजा—मनचाहा भविष्य बतानेवाले ब्राह्मणका आशीर्वाद सिरमाथे ।

(दासीके साथ मदिरा पिए हुए रानी इरावती आती हैं ।)

इरावती—निपुणिका ! मैं बहुतोंसे सुना करती हूँ कि मदिरा पीनेसे स्त्रियाँ बहुत सुन्दर लगने लगती हैं । यह कहावत सच है क्या ?

निपुणिका—पढमं लोअवाओ एव्व अज्ज सच्चो संवुत्तो। [प्रथमं लोकवाद एवाद्य सत्यः संवृत्तः।]

इरावती—अलं मयि सिणेहेण। कहेहि कुदो दाणिं ओगमिदव्वं दोलाघरं पढमं गदो भट्टा ण वेत्ति। [अलं मयि स्नेहेन। कथय कुत इदानीमवगन्तव्यं दोलागृहं प्रथमं गतो भर्ता न वेति।]

निपुणिका—भट्टिणीए अखंडिदादो पणआदो। [भट्टिन्या अखण्डितात्प्रणयात्।]

इरावती—अलं सेवाए। मज्झत्थदं परिगहिअ भणाहि। [अलं सेवया। मध्यस्थतां परिगृह्य भण।]

निपुणिका—वसंतोस्सवुवाअणलोलुवेण अज्जगोदमेण कहिअं तुवरदु भट्टिणी त्ति। [वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति।]

इरावती—(अवस्थासदृशं परिक्रम्य।) हंजे! मदेण किलाअमाणं अत्ताणं अज्जउत्तस्स दंसणे हिअअं तुवरेदि। चलणा उण ण मह पसरन्ति। [चेटि! मदेन क्लाम्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति। चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः।]

निपुणिका—णं संपत्ते मह दोलाघरं। [ननु संप्राप्ते स्वो दोलागृहम्।]

इरावती—णिउणिए! अज्जउत्तो एत्थ ण दीसदि। [निपुणिके! आर्यपुत्रोऽत्र न दृश्यते।]

निपुणिका—णं भट्टिणीए ओलोअदु। परिहासणिमित्तं कहिं वि अदिट्ठेण भत्तुणा होदव्वं। अम्हे वि पिअंगुलदापरिक्खित्तं असोअसिलापट्टअं पविसामो। [ननु भट्टिन्यवलोकयतु। परिहासनिमित्तं कुत्राप्यदृष्टेन भर्ता भवितव्यम्। आवामपि प्रियङ्गुलतापरिक्षिप्तमशोकशिलापट्टकं प्रविशावः।]

निपुणिका—पहले तो यह कहावत ही थी, पर आज तो यह सच दिखाई दे रही है।

इरावती—चल, चल। मुँह-देखी मत कह। अच्छा बता कि यह कैसे जाना जाय कि स्वामी झूलेघरमें पहुँच गए हैं या नहीं।

निपुणिका—आपका अखंड प्रेम ही यह बताए दे रहा है।

इरावती—ठकुरसुहाती रहने दे। लल्लो-चप्पो छोड़कर सच-सच बता।

निपुणिका—वसन्तोत्सव-पूजाकी भेंट पानेके लोभी आर्य गौतमने ही कहलाया है कि देवीको झटपट भेज दो।

इरावती—(मदमें झूमकर घूमती हुई) दासी! मद इतना चढ़ गया है कि आर्यपुत्रको देखनेकी अकुलाहट होनेपर भी मेरे पैर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं।

निपुणिका—लीजिए, झूलेघरमें तो आप पहुँच गईं।

इरावती—अरी निपुणिका! आर्यपुत्र तो यहाँ कहीं दिखाई ही नहीं पड़ रहे हैं।

निपुणिका—ध्यानसे देखिए स्वामिनी! आपसे ठिठोली करनेके लिये स्वामी यहीं कहीं छिपे बैठे होंगे। आइए, हम लोग भी चलकर प्रियंगुके लता-मंडपमें चलकर अशोकके तले पत्थरकी पटियापर जा बैठें।

इरावती—तह। [तथा।]

निपुणिका—(विलोक्य) आलोअदु भट्टिणी चूदंकुरं बिचिण्णन्तीणं पिपीलिआहिँ दंसिदं। [अवलोकयतु भट्टिनी चूताङ्कुरं विचिन्वत्योः पिपीलिकाभिर्दंष्टम्।]

इरावती—कहं विअ एदं। [कथमिवेदम्।]

निपुणिका—एसा असोअपादवच्छाआए मालविआए बउलावलिआ चलणालंकारं णिव्वट्टेदि। [एषाशोकपादपच्छायायां मालविकाया बकुलावलिका चरणालङ्कारं निवर्तयति।]

इरावती—(शङ्कां रूपयित्वा) अभूमी इअं मालविआए! कहं एत्थ तक्केसि। [अभूमिरियं मालविकायाः। कथमत्र तर्कयसि।]

निपुणिका—तक्केमि दोलापरिब्भंसिदाए सरुअचलणाए देवीए असोअदोहलाहिआरे मालविआ णिउत्तेत्ति। अण्णहा कहं देवी सअं धारिअं णूउरजुअलं परिअणस्स अब्भणुजाणिस्सदि। [तर्कयामि दोलापरिभ्रष्टया सरुजचरणया देव्याऽशोकदोहदाधिकारे मालविका नियुक्तेति। अन्यथा कथं देवी स्वयं धारितं नूपुरयुगलं परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति।]

इरावती—महदी क्खु से संभावणा। [महती खल्वस्याः संभावना।]

निपुणिका—किं ण अण्णेसीअदि भट्टा। [किं नान्विष्यते भर्ता।]

इरावती—हला! ण मे चलणा अण्णदो पवट्टन्ति। मदो मं विआरेदि! आसंकिदस्स दाव अन्तं गमिस्सं। (मालविक निर्वर्ण्य। निरूप्यात्मगतम्।) ठाणे क्खु कादरं मे हिअअं। [सखि! न मे चरणावन्यतः प्रवर्तेते। मदो मां बिकारयति। आशङ्कितस्य तावदन्तं गमिष्यामि। स्थाने खलु कातरं मे हृदयम्।]

इरावती—ठीक है।

निपुणिका—(देखकर) देखिए तो स्वामिनी! हम तो चलीं थीं आमकी कोंपलें ढूंढ़ने और काट लिया चींटियोंने।

इरावती—कैसे रे?

निपुणिका—देखिए न। यहाँ बकुलावलिका, अशोककी छायामें बैठी हुई मालविकाके पैर रंगे दे रही है।

इरावती—(कुछ सन्देह करके) मालविका तो इधर आने नहीं पाती, आज क्या बात हो गई है?

निपुणिका—मैं समझती हूँ कि झूलेपरसे गिर जानेके कारण महारानीके पैरोंमें चोट आ गई है इसलिये अशोकके फूलनेके लिये उसपर लात मारनेका काम मालविकाको ही सौंपा गया होगा। नहीं तो क्या महारानी कभी अपने पैरके बिछुए उतारकर अपनी दासियोंको पहननेके लिये देनेवाली हैं?

इरावती—हाँ, यही बात हो सकती है।

निपुणिका—तो क्या महाराजको न ढूँढ़िएगा?

इरावती—सखी, मेरे पैर ही आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। इधर मद भी मुझे बेहाल किए डाल रहा है, पर मेरे मनमें जो खटका आ बैठा है, वह तो मिटाना ही होगा। (मालविकाको देखकर और समझकर मन ही मन) इन्हीं सब बातोंसे तो मेरा जी जल उठता है।

बकुलावलिका—(मालविकायै चरणं दर्शयन्ती ।) अवि रोअदि दे राअरेहाविण्णासो। [अपि रोचते ते रागरेखाविन्यासः ।]

मालविका—हला अत्तणो चलणं त्ति लज्जेमि णं पसंसिदुं। केण पसाहणकलाए अहिणीदासि। [सखि ! आत्मनश्चरण इति लज्जे एनं प्रशंसितुम्। केन प्रसाधनकलायामभिनीतासि।]

बकुलावलिका—एत्थ क्खु भत्तुणो सीसम्हि। [अत्र खलु भर्तुः शिष्यास्मि।]

विदूषकः—तुवरेहि दाव णं गुरुदक्खिणाए। [त्वरय तावदेनां गुरुदक्षिणायै।]

मालविका—दिट्ठिआ ण गव्विदासि। [दिष्टया न गर्वितासि।]

बकुलावलिका—उवदेसाणुरूवा चलणा लंभिअ अज्ज दाव गव्विदा भविस्सं। (रागं विलोक्यात्मगतम्) हन्त ! सिद्धो मे दप्पो। (प्रकाशम्) सहि ! एक्कस्स दे चलणस्स अवसिदो राअणिक्खेवो। केवलं मुहमारुदो लम्भइदव्वो ! अहवा पवादं एदं ठाणं। [उपदेशानुरूपौ चरणौ लब्ध्वाद्य तावदगर्विता भविष्यामि। हन्त सिद्धो मे दर्पः। सखि एकस्य ते चरणस्यावसितो रागनिक्षेपः। केवलं मुखमारुतो लम्भयितव्यः। अथवा प्रवातमेतत्स्थानम्।]

राजा—सखे पश्य।

आर्द्रालक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन शोषयितुम्।
प्रतिपन्नः प्रथमतरः संप्रति सेवावकाशो मे ॥ १३ ॥

विदूषकः—कुदो ते अणुसओ। एदं भवदा चिरक्कमेण अणुभविदव्वं। [कुत तेऽनुशयः। एतावद्भवता चिरक्रमेणानुभवितव्यम्।]

बकुलावलिका—सहि ! अरुणसतपत्तं विअ सोहदि दे चलणं। सव्वहा भत्तुणोअंकपरिवट्टिणी होहि। [सखि अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणम्। सर्वथा भर्तुरङ्कपरिवर्तिनी भव।]

बकुलावलिका—(मालविकाको उसका रँगा हुआ पैर दिखलाती है।) कहो महावरकी रँगाई तुझे अच्छी लगी ?

मालविका—सखी ! अपने पैरकी प्रशंसा करते मुझे लाज लगती है पर यह तो बताओ कि इतनी बढ़िया सिंगारकी कला तुम्हें सिखाई किसने ?

बकुलावलिका—अरी ! यह कला तो मैंने स्वयं महाराजसे ही सीखी है।

विदूषक—जाइए जाइए, झपटकर इससे गुरुदक्षिणा माँग लीजिए।

मालविका—बड़ी भाग्यवान् हो कि इतनेपर भी तुम्हें अभिमान छू-तक नहीं गया है।

बकुलावलिका—पर मैंने जो कुछ सीखा है वैसी कला दिखलानेके योग्य तुम्हारे चरण पाकर आज तो मुझे अवश्य अभिमान हो रहा है। (रँगाईको देखकर मन ही मन) वाह ! आज ही तो मेरा अभिमान सच्चा हुआ है। (प्रकट) लो सखी ! तुम्हारा एक पैर तो रँग गया है अब इसे मुँहसे फूँककर सुखाना भर रह गयाहै, पर यहाँ तो बयार भी चल रही है।

राजा—देखो मित्र ! गीले महावरसे रँगे हुए इसके पैरको मुँहकी फूँकसे सुखाकर इसकी सेवा करनेका यह सबसे अच्छा अवसर मेरे हाथ लगा है ॥ १३ ॥

विदूषक—तो पछताते क्यों हैं ? ऐसी सेवा आपको बहुत दिनोंतक करनेको मिलती रहेगी।

बकुलावलिका—अरी सखी ! तेरा पैर तो लाल कमलके समान खिला पड़ रहा है। मैं तो मनाती हूँ कि तू सदा महाराजकी गोदमें ही लेटी रहा करे।

(इरावती निपुणिकामवेक्षते ।)

राजा—अयमेयमाशीः ।

मालविका—हला ! मा अवअणीअं मंतेहि । [सखि मा अवचनीयं मन्त्रयस्व ।]

बकुलावलिका—मंतइदव्वं एव्व मंतिदं मए । [मन्त्रयितव्यमेव मन्त्रितं मया ।]

मालविका—पिआ क्खु अहं तव । [प्रिया खल्वहं तव ।]

बकुलावलिका—ण केवलं मह । [न केवलं मम ।]

मालविका—कस्स वा अण्णस्स । [कस्य वान्यस्य ।]

बकुलावलिका—गुणेसु अहिणिवेसिणो भत्तुणो वि । [गुणेष्वभिनिवेशिनो भर्तुरपि ।]

मालविका—अलीअं मन्तेसि । एदं एव्व मइ णत्थि । [अलीकं मन्त्रयसे । एतदेव मयि नास्ति ।]

बकुलावलिका सच्चं तुइ णत्थि । भत्तुणो किसेसु सुंदरपांडुरेसु दीसइ अंगेसु । [सत्यं त्वयि नास्ति । भर्तुः कृशेषु सुन्दरपाण्डुरेषु दृश्यतेऽङ्गेषु ।]

निपुणिका—पढमं गणिदं विअ हदासए उत्तरं । [प्रथमं गणितमिव हताशाया उत्तरम् ।]

बकुलावलिका—अणुराओ अणुराएण परिक्खिदव्वो त्ति सुअणवअणं पमाणीकरेहि । [अनुरागोऽनुरागेण परिक्षितव्य इति सुजनवचनं प्रमाणीकुरु ।]

मालविका—किं अत्तणो छंदेण मंतेसि [किमात्मनश्छन्देन मन्त्रयसि ।]

बकुलावलिका—णहि णहि । भत्तुणो क्खु एदाइँ पणअमिदुलाइँ अक्खराइँ वत्तन्तरिताइँ । [नहि नहि । भर्तुः खल्वेतानि प्रणयमृदुलान्यक्षराणि वक्त्रान्तरितानि ।]

(इरावती निपुणिकाकी ओर देखती है ।)

राजा—मैं यही आशीर्वाद देता हूँ ।

मालविका—सखी ! ऐसी बे-सिरपैरकी बातें न कहा करो ।

बकुलावलिका—जो कहना चाहिए वही तो मैं कह रही हूँ ।

मालविका—मैं तुम्हारी प्यारी हूँ न ? इसीलिये ।

बकुलावलिका—केवल मेरी ही नहीं ।

मालविका—और दूसरे किसकी ।

बकुलावलिका—तेरे गुणोंपर रीझे हुए महाराजकी भी ।

मालविका—तू झूठ कहती है । मुझपर उनका तनिक भी प्रेम नहीं है ।

बकुलावलिका—हाँ, सचमुच तुमपर तो नहीं, पर महाराजके दुर्बल, पीले सुन्दर अंगोंपर वह प्रेम अवश्य दिखाई देता है ।

निपुणिका—इस खोटीने ऐसा उत्तर दिया है मानो पहलेसे ही सोचे बैठी हो ।

बकुलावलिका—अच्छा सज्जनोंकी एक बात तो तुम मान लो कि प्रेमकी परीक्षा प्रेमसे ही होती है ।

मालविका—यह सब क्या अपने मनसे गढ़े चली जा रही हो ?

बकुलावलिका—नहीं, अपने मनसे नहीं । ये प्रेमभरे कोमल अक्षर स्वयं महाराजने अपने मुँह से कहे हैं ।

मालविका हला ! देवीं चिन्तिअ ण मे हिअअं विस्ससदि । [सखि ! देवीं चिन्तयित्वा न मे हृदयं विश्वसिति ।]

बकुलावलिका—मुद्धे ! भमरसंपादो भविस्सदि त्ति वसन्तावदारसव्वस्सं किं ण चूदप्पसवो ओदंसिदव्वो । [मुग्धे ! भ्रमरसंपातो भविष्यतीति वसन्तावतारसर्वस्वं किं न चूतप्रसवोऽवतंसितव्यः ।]

मालविका—तुमं दाव दुज्जादे गच्छतस्स सहायिणी होहि । [त्वं तावद् दुर्जाते गच्छतः सहायिनी भव ।]

बकुलावलिका—विमद्दसुरही बउलावलिआ क्खु अहं । [विमर्दसुरभिर्बकुलावलिका खल्वहम् ।]

राजा—साधु बकुलावलिके ! साधु ।

भावज्ञानानन्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याखाने दत्तयुक्तोत्तरेण ।
वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ॥१४॥

इरावती—हंजे ! पेक्ख कारिदं एव्व वउलावलिआए एदस्सिं पदं मालविआए । [सखि । पश्य कारितमेव बकुलावलिकयैतस्मिन्पदं मालविकायाः ।]

निपुणिका—भट्टिणि ! अहिआरस्स उइदो उवदेसो । [भट्टिनि ! अधिकारस्योचित उपदेशः ।]

इरावती—ठाणे क्खु संकिदं मे हिअअं । गहीदत्था अणंतरं चिन्तइस्सं । [स्थाने खलु शङ्कितं मे हृदयम् । गृहीतार्थानन्तरं चिन्तयिष्यामि ।]

बकुलावलिका—एसो दुदीओ वि दे णिव्वुत्तपरिकम्मा चलणो । जाव णं सणूउरं करेमि । (इति नाट्येन नूपुरयुगलमामुच्य ।) हला ! उट्टेहि । असोअविआसइत्तअं देवीए

मालविका—पर सखी ! उधर महारानी का व्यवहार देखती हूँ तो सारी आशा पर पानी फिर जाता है ।

बकुलावलिका—अरी पगली ! तो क्या भौंरोंके डरसे लोग अपने कानोंमें बसन्तकी रानी आमकी मंजरी पहनें ही नहीं ?

मालविका—मुझपर कोई विपदा आवे तो तुम मुझे छोड़ न देना ।

बकुलवलिका—अरी, मेरा तो नाम ही बकुलावलिका है । मैं तो जितनी ही अधिक मसली जाऊँगी उतनी ही अधिक सुगन्ध दूँगी ।

राजा—वाह री बकुलावलिका, वाह—इस समय इसके मनकी ठीक ठीक थाह ले लेनेपर जो मेरे प्रेमका प्रस्ताव करके और इसके नहीं नहीं करनेपर भी इसे जोड़-तोड़का उत्तर देकर जो तुमने इसे पक्का कर लिया है इससे मुझे विश्वास हो गया कि सचमुच प्रेमियोंके प्राण दूतियोंकी मुट्ठीमें ही रहते हैं ॥ १४ ॥

इरावती—देख सखी ! मालविकाको इतना सम्मान इस बकुलावलिकाने ही दिलाया है ।

निपुणिका—स्वामिनी ! इसे जैसा सिखाया गया होगा वैसा ही तो किए डाल रही है ।

इरावती—मुझे जो खटका था वह सब सच ही निकला । सब बातोंका ठीक-ठीक ब्योरा लेकर मैं इसका कोई न कोई उपाय सोच निकालती हूँ ।

बकुलावलिका—लो, तुम्हारा दूसरा पैर भी रँग गया । लाओ, इसमें भी बिछुए डाल दूँ ।

णिओअं अणुचिट्ठ। [एष द्वितीयोऽपि ते निर्वृत्तपरिकर्मा चरणः। यावदेनं सनूपुरं करोमि। हला ! उत्तिष्ठ। अशोकविकासयितृकं देव्या नियोगमनुतिष्ठ।

(उभे उत्तिष्ठतः)

इरावती–सुदो देवीए णिओओ। होदु दाणि। [श्रुतो देव्या नियोगः। भवत्विदानिम् ।]

बकुलावलिका– एसो उवारूढराओ उअभोअक्खमो पुरदो दे वट्टइ। [एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरतस्ते वर्तते।]

मालविका – (सहर्षम्) किं भट्टा [किं भर्ता।]

बकुलावलिका —(सस्मितम्) ण दाव भट्टा। एसो असोअसाहावलंबी पल्लवगुच्छओ। ओदंसेहि णं। [न तावद्भर्ता। एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः। अवतंसयैनम्।]

(मालबिका विषादं नाटयति)

विदूषकः— सुदं भवदा [श्रुतं भवता।]

राजा– सखे। पर्याप्तमेतावता कामिनाम्।

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्धयता समागमेनापि रतिर्न मां प्रीत।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः॥ १५॥

(मालविका रचितपल्लवावतंसा पादमशोकाय प्रहिणोति)

राजा —वयस्य।

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये॥ १६॥

(दोनों बिछुए पहनाने का नाट्य करती है।) अब उठो सखी ! महारानीने अशोकके फूलनेके निमित्त जो काम तुम्हें सौंपा है वह पूरा कर डालो। (दोनों उठ खड़ी होती हैं।)

इरावती –तुमने महारानीका काम सुन लिया न ! अच्छा इसे हो जाने दो।

बकुलावलिका - लो, यह राग-रंगसे भरा और आनन्द लूटने योग्य तुम्हारे आगे ही तो है।

मालविका—(प्रसन्न होकर) कौन महाराज ?

बकुलावलिका –(मुसकराकर) अरे महाराज नहीं ! यह अशोककी शाखा में लटकनेवाले पत्तों का गुच्छा ! लो इसे कानोंपर उठा सजाओ।

(मालविका दुखी होती है।)

विदूषक - सुना आपने।

राजा—मित्र ! प्रेमियों के लिए इतना भी बहुत है। देखो ! जहाँपर एक तो मिलनेके लिए व्याकुल हो और दूसरा मिलना ही न चाहता हो वहाँ उनका मिलना न मिलना दोनों बराबर है। पर जहाँ दोनों ही मिलनेके लिए अधीर हों और दोनों एक दूसरेके मिलनेसे हाथ धोए बैठे हों वहाँ प्राण भी दे देना पड़े तो बुरा नहीं है॥ १५॥

(मालविका पत्तों का गुच्छा कानपर लटकाकर अशोकपर लात जमाती है)

राजा—मित्र ! देखो इसने अपने कानोंपर सजानेके लिए जो अशोक से पत्ते लिये हैं उसके बदले इसने अपना पत्तों-जैसा चरण भी उसे भेंटमें दे डाला। इन दोनोंने एक जैसी वस्तुका अदला-बदला करके मुझे तो सचमुच कहींका न छोड़ा क्योंकि अब मैं इससे इस प्रकार प्रेमकी वस्तुओंकी अदला-बदली कैसे कर पा सकूँगा॥ १६॥

बकुलावलिका - **हला ! णत्थि दे देसो णिग्गुणो अअं असोओ जइ कुसुमोब्भेदमंथरो भवे जो दे चलणसक्कार लम्भिअ ।** [सखि नास्ति ते दोषः निर्गुणोऽयमशोको यदि कुसुमोद्भेदमन्थरो भवेत् यस्ते चरणसत्कारं लब्ध्वा ।]

राजा—

अनेन तनुमध्या मुखरनूपुराराविणा
नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः ।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे
वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥ १७ ॥

सखे ! वचनानुसरणपूर्वकं प्रवेष्टुमिच्छामि ।

विदूषकः—**एहि । णं परिहासइस्सं ।** [एहि एनां परिहासयिष्यामि ।]

(उभौ प्रवेशं कुरुतः ।)

निपुणिका—**भट्टिणि भट्टिणि । भट्टा एत्थ पविसदि ।** [भट्टिनि भट्टिनि ! भर्ताऽत्र प्रविशति ।]

इरावती—**इदं मम पढमं चिन्तिदं हिअएण ।** [एतन्मम प्रथमं चिन्तितं हृदयेन ।]

विदूषकः—(उपेत्य) **भोदि ! जुत्तं णाम अत्तहोदि पिअवअस्सो अअं असोओ णं वामपादेण ताडिदं ।** [भवति ! युक्तं नाम अत्रभवति प्रियवयस्योऽयमशोको ननु वामपादेन ताडयितुम् ।]

उभे—(ससंभ्रमम्) **अम्हो भट्टा ।** [अहो भर्ता ।]

विदूषकः—**बउलावलिए ! गहीदत्थाए तुइ अत्तहोदी ईरिसं अविणअं करन्ती कीस णं णिवारिदा ।** [बकुलावलिके ! गृहीतार्थया त्वयात्रभवतीदृशमविनयं कुर्वन्ती कस्मान्न निवारिता ।]

बकुलावलिका—सखी ! यदि तुम्हारे चरणोंकी पूजा पाकर भी यह अशोक न फूले तो इसमें तुम्हें दोष नहीं लगेगा वरन् यह अशोक ही निकम्मा समझा जायगा ।

राजा—इस पतली कमरवाली सुन्दरीका जो नये कमलके समान कोमल चरण बिछुओंकी झंकारसे गूँज रहा है, उससे आदर पाकर भी यदि तुममें कलियाँ न फूट आईं तो मैं यही समझूँगा कि सुन्दरीकी लातसे फूल उठनेकी जो चाह मस्त प्रेमियोंके मनमें होती है वह तुम्हारे मनमें व्यर्थ ही उत्पन्न हुई ॥ १७ ॥ मित्र ! हम लोगोंकी कोई बात चले तो हम भी आगे बढ़ चलें ।

विदूषक—आइए । मैं इसे चलकर छेड़ता हूँ न ।

(दोनों आगे बढ़ते हैं ।)

निपुणिका—स्वामिनी ! स्वामिनी ! महाराज आ रहे हैं ।

इरावती—यह तो मैं पहले ही ताड़ गई थी ।

विदूषक—(पास जाकर) कहिए देवी ! क्या हमारे प्यारे मित्र अशोकपर अपनी बाईं लात जमाकर आपने कोई अच्छा काम किया है ?

दोनों—(घबराकर) अरे ! महाराज !

विदूषक—क्यों बकुलावलिका ! सब-कुछ जान-बूझकर भी तुमने इन्हें ऐसी ढिठाई करनेसे रोका क्यों नहीं ?

(मालविका भयं रूपयति ।)

निपुणिका—भट्टिणि ! पेक्ख । किं पउत्तं अज्जगोदमेण । [भट्टिनि ! पश्य । किं प्रवृत्तमार्यगौतमेन ।]

इरावती—कहं क्खु ब्रह्मबन्धू अण्णहा जीविस्सदि । [कथं खलु ब्रह्मबन्धुरन्यथा जीविष्यति ।]

बकुलावलिका—अज्ज ! एसा देवीए णिओअं अणुचिट्ठदि । एदस्सिं अदिक्कमे परवदी इअं । पसीददु भट्टा । [आर्य ! एषा देव्या नियोगमनुतिष्ठति । एतस्मिन्नतिक्रमे परवतीयम् । प्रसीदतु भर्ता] (इत्यात्मना सहैनां प्रणिपातयति ।)

राजा—यद्येवमनपराद्धासि । उत्तिष्ठ भद्रे । (हस्तेन गृहीत्वैनामुत्थापयति ।)

विदूषकः—जुज्जइ देवी एत्थ माणइदव्वा । [युज्यते देव्यत्र मानयितव्या ।]

राजा—(विहस्य)

किसलयमृदोर्विलासिनि कठिने निहतस्य पादपस्कन्धे ।
चरणस्य न ते बाधा संप्रति वामोरु वामस्य ॥ १८ ॥

(मालविका लज्जां नाटयति ।)

इरावती—अहो णवणीदकप्पहिअओ अज्जउत्तो । [अहो नवनीतकल्पहृदय आर्यपुत्रः ।]

मालविका—बउलावलिए ! एहि । अणुट्ठिदं अत्तणो णिओअं देवीए णिवेदेम्ह । [बकुलावलिके ! एहि । अनुष्ठितमात्मनो नियोगं देव्यै निवेदयावः ।]

बकुलावलिका—विण्णावेहि भट्टारं विसज्जेहि त्ति । [विज्ञापय भर्तारं विसर्जयेति ।]

राजा—भद्रे ! यास्यसि । मम तावदुत्पन्नावसरमर्थित्वं श्रूयताम् ।

(मालविका डरनेका नाटय करती है ।)

निपुणिका—स्वामिनी ! आपने आर्य गौतमकी चाल देखी ?

इरावती—यह ऐसा न करे तो इस बँभनौटेका पेट कैसे पले ?

बकुलावलिका—आर्य ! यह तो महारानीकी ही आज्ञाका पालन हो रहा है । इसीलिये यह ऐसी ढिठाई करनेको विवश थी । महाराज क्षमा करें ।

(अपने साथ मालविकाको भी उनके पैरोंमें झुकाती है ।]

राजा—अच्छा, यह बात है तो कोई दोष नहीं । उठो भद्रे ! (हाथसे पकड़कर मालविकाको उठाता है ।)

विदूषक—ठीक है, महारानीकी बात तो माननी ही चाहिए थी ।

राजा—(देखकर) क्यों विलासिनी ! तुम्हारा यह पत्तोंके समान कोमल बाँया पैर अशोकपर लगनेसे कहीं दुखने तो नहीं लगा है ? ॥ १८ ॥

(मालविका लजानेका नाटय करती है ।)

इरावती—वाह, इस समय तो आर्यपुत्रका हृदय मक्खनके समान कोमल बन गया है ।

मालविका—आओ बकुलावलिका ! महारानीको सूचना दे आवें कि आपकी आज्ञा पूरी कर दी गई है ।

बकुलावलिका—पहले महाराजसे तो प्रार्थना करो कि वे तुम्हें छोड़ दें ।

राजा—तुम जा सकती हो भद्रे ! पर एक और ऐसे ही अवसरकी बात सुनती आओ ।

बकुलावलिका—अवहिदा सुणाहि। आणवेदु भट्टा। [अवहिता शृणु। आज्ञापयतु भर्ता।]

राजा—धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः ॥ १९ ॥

इरावती—(सहसोपसृत्य) पूरेहि पूरेहि। असोओ कुसुमं ण दंसेदि ! अअं उण पुप्फदि एव्व। [पूरय पूरय। अशोकः कुसुमं न दर्शयति। अयं पुनः पुष्पत्येव।]

(सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः।)

राजा—(अपवार्य) वयस्य ! का प्रतिपत्तिरत्र।

विदूषकः—किं अण्णं। जंघाबलं एव्व। [किमन्यत्। जङ्घाबलमेव।]

इरावती—बउलावलिए ! तुए साहु उवक्कन्तं। दाणिं सफलब्भत्थणं करेहि अज्जउत्तं। [बकुलावलिके। त्वया साधूपक्रान्तम्। इदानीं सफलाभ्यर्थिनं कुर्वार्यपुत्रम्।]

उभे—पसीददु भट्टिणि। काओ अम्हे भत्तुणो पणअपरिग्गहस्स। [प्रसीदतु भट्टिनी। के आवां भर्तुः प्रणयपरिग्रहस्य।] (इति निष्क्रान्ते।)

इरावती—अविस्ससणीआ पुरिसा। अत्तणो वंचणवअणं पमाणीकरिअ आक्खित्ताए वाहजणगीदगहीदचित्ताए विअ हरिणीए एदं ण विण्णादं मए। [अविश्वसनीयाः पुरुषाः। आत्मनो वञ्चनावचनं प्रमाणीकृत्याक्षिप्तया व्याधजनगीतगृहीतचित्तयैव हरिण्यैतन्न विज्ञातं मया।]

बकुलावलिका—देखो, ध्यान देकर सुनो। हाँ महाराज ! आज्ञा कीजिए।

राजा—देखो सुन्दरी ! बहुत दिनोंसे इसी अशोकके समान ही मुझमें भी धीरजके फूल नहीं आ रहे हैं। इसलिये तुम्हें छोड़कर और किसीसे प्रेम न करनेवाले मुझ सेवकके मनकी साध भी अपने स्पर्श का अमृत पिलाकर आज तुम पूरी कर दो ॥ १९ ॥

इरावती—(सहसा आगे बढ़कर) हाँ हाँ, पूरी कर दे, पूरी कर दे। अशोकमें तो अभी फूल नहीं आए हैं पर ये तो अभीसे फूले पड़ रहे हैं।

(इरावतीको देखकर सब घबरा जाते हैं।)

राजा—(अलग) कहो मित्र ! अब क्या किया जाय।

विदूषक—और क्या किया जायगा ! चलिए पैरोंका सहारा लिया जाय (भाग चला जाय)।

इरावती—क्यों री बकुलावलिका ! यह तो तूने बड़ा अच्छा काम ले लिया है ? जा, अब कर न आर्य-पुत्रकी साध पूरी !

दोनों—क्रोध न कीजिए महारानी ! भला हम कौन होती हैं महाराजकी साध पूरी करनेवाली।

(दोनों चली जाती हैं।)

इरावती—सचमुच पुरुषोंका कोई विश्वास नहीं है। मैं क्या जानती थी कि जैसे व्याधोंके गीत सुनकर हरिणी सब सुध-बुध खोकर जालमें जा फँसती है वैसे ही मैं भी इनकी चिकनी-चुपड़ी बातोंपर विश्वास करके इनके फन्देमें जा फँसूँगी।

विदूषकः—(जनान्तिकम्) भो पडिपज्जेहि किंपि उत्तरम् । कम्मग्गहीदेण वि कुम्भीलएण संधिच्छेदे सिक्खिओम्हि त्ति वत्तव्वं होदि । [भो प्रतिपद्यस्व किमप्युत्तरम् । कर्मगृहीतेनापि कुम्भीलकेन संधिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति ।]

राजा—सुन्दरि ! न मे मालविकया कश्चिदर्थः । मया त्वं चिरयसीति यथाकथंचिदात्मा विनोदितः ।

इरावती—बिस्ससणीओसि । ण मए विण्णादं ईरिसं विणोदवुत्तन्तं अज्जउत्तेण उवलद्ध त्ति । अण्णहा दुक्खभाइणीए एव्वं ण करीअदि । [विश्वसनीयोऽसि । न मया विज्ञात ईदृश विनोदवृत्तान्त आर्यपुत्रेणोपलब्ध इति । अन्यथा दुःखभागिन्यैवं न क्रियते ।]

विदूषकः—मा दाव अत्तभोदो दक्खिण्णस्स उवरोहं करेहि । समीवदिट्ठेण देवीए परिचारिइत्थिआजणेन संकहावि जइ वारीअदि एत्थ तुमं एव्व पमाणं । [मा तावदत्रभवतो दाक्षिण्यस्योपरोधं कुरु । समीपदृष्टेन देव्याः परिचारिस्त्रीजनेन संकथापि यदि वार्यते अत्र त्वमेव प्रमाणम् ।

इरावती—णं संकहा णाम होदु । किंति अत्ताणं आआसइस्सं । [ननु संकथा नाम भवतु । किमित्यात्मानमायासयिष्यामि] (इति रुषा प्रस्थिता ।)

राजा— (अनुसरन् ।) प्रसीदतु भवती ।

(इरावती रशनासंधारितचरणा व्रजत्येव ।)

राजा— सुन्दरि ! न शोभते प्रणयिनि जने निरपेक्षता ।

इरावती—सठ । अविस्ससणीअहिअओसि । [शठ । अविश्वसनीयहृदयोऽसि ।]

विदूषक—(अलग) अजी, कुछ तो बात बनाइए । चोरी करते पकड़ा हुआ चोर भी कह देता है कि मैं चोरी करनेके लिये सेंध नहीं लगा रहा था वरन् यही देखना चाहता था कि मैंने भीत फोड़नेकी विद्या ठीक-ठीक सीख पाई है या नहीं ।

राजा—सुन्दरी ! मालविकासे हमें क्या लेना-देना है । तुम्हारे आनेमें देर हो रही थी इसलिये थोड़ा-बहुत जी बहला रहे थे ।

इरावती—जी हाँ ! बड़े सच्चे हैं आप ! मैं नहीं जानती थी कि आर्यपुत्रको मन बहलानेके लिये यही वस्तु मिली है, नहीं तो मैं अभागिन बीचमें पड़ती ही क्यों !

विदूषक—देखिए, आप महाराजको साधारण शिष्टाचार दिखानेसे मत रोकिए । यदि आप चाहती हैं कि पास आई हुई महारानीकी दासियोंसे भी महाराज बात-चीत न करें तो ठीक है, वही सही ।

इरावती—अच्छा तो होने दीजिए बात-चीत, मैं क्यों अपना जी दुखाऊँ ! (क्रोधमें भरी चली जाती है ।)

राजा—(पीछे-पीछे जाते हुए) अरे, मान जाओ देवी ।

(इरावती पैरमें फँसी हुई तगड़ीको घसीटती हुई चलनेको होती है ।)

राजा—सुन्दरी ! अपने प्यारेसे रूठना तुम्हें शोभा नहीं देता ।

इरावती—अरे शठ ! तेरा मुझे तनिक भी विश्वास नहीं है ।

राजा—

शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये।
चरणपतितया न चण्डि ! तां विसृजसि मेखलयापि याचिता ॥ २० ॥

इरावती—इअं पि हृदासा तुमं एव्व अणुसरदि । [इयमपि हताशा त्वामेवानुसरति ।]

(इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति ।)

राजा—वयस्य ! इयमिरावती—

बाष्पासारा हेमकाञ्चीगुणेन श्रोणीबिम्बादप्युपेक्षाच्युतेन ।
चण्डी चण्डं हन्तुमभ्युद्यता यां विद्युद्दाम्ना मेघराजीव विन्ध्यम् ॥ २१ ॥

इरावती—किं मं एव्व भूओ वि अवरद्धं करेसि। [किं मामेव भूयोऽप्यपराद्धां करोषि ।]

राजा—(सरशनं हस्तमवलम्बयति ।)

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि ।
वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च ॥ २२ ॥

नूनमिदमनुज्ञातम् । (इति पादयोः पतति ।)

इरावती—ण क्खु इमे मालविआचलणा जा दे हरिसदोहलं पूरयिस्सन्ति । [न खल्विमौ मालविकाचरणौ यौ ते हर्षदोहदं पूरयिष्यतः ।]

(इति निष्क्रान्ता सह चेटया ।)

विदूषकः—उट्ठेहि अकिदप्पसादोऽसि । [उत्तिष्ठ । अकृतप्रसादोऽसि]

राजा—तुमने शठ कहकर जो मेरा निरादर किया है, यह तो कोई नई बात नहीं है। पर चंडी ! जब तुम्हारी तगड़ी भी तुम्हारे पैरों पड़कर क्षमा माँगे ले रही है तब भी क्या तुम अपना क्रोध न छोड़ोगी ॥ २० ॥

इरावती—लो, यह निगोड़ी भी तुम्हारे पीछे पीछे चली जा रही है।

(तगड़ी लेकर राजाको मारना चाहती है।)

राजा—मित्र ! आँखोंमें आँसू भरे, क्रोधसे लाल और अपने नितम्बोंपरसे अनादरके कारण छूटी हुई करधनीकी डोरीसे मुझको पीटती हुई यह इरावती, इस समय ऐसी लग रही है मानो विन्ध्याचलपर बिजली गिराकर घनी बदली उसे फाड़ डालनेपर उतारू हो चली हो ॥ २१ ॥

इरावती—अच्छा ! तो तुम मुझीपर दोष लगाने चले हो ?

राजा—(तगड़ी-सहित हाथ पकड़ लेता है।) अरी घुंघराले बालोंवाली ! तुम मुझ अपराधीको दंड देते-देते रुक क्यों गई ? इस समय मुझ दासपर जो तुम क्रोध कर रही हो इससे तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गई है ॥ २२ ॥

तो आपने मेरी बात मान ली ? (पैरोंपर गिरता है।)

इरावती—ये मालविकाके पैर नहीं हैं जो तुम्हारे मनकी साध पूरी कर देंगे। (दासीके साथ चली जाती है।)

विदूषक—उठिए ! आप तो ठन-ठन गोपाल ही रह गए।

राजा—(उत्थायेरावतीमपश्यन् ।) तत्कथं गतैव प्रिया ।

विदूषकः—वअस्स ! दिट्ठिआ इमस्स अविणअस्स अप्पसण्णा गदा एसा । ता वअं सिग्घं अवक्कमाम जाव अंगारओ रासिं विअ अणुवक्कं परिगमणं ण करेदि । [वयस्य ! दिष्टयानेनाविनयेनाप्रसन्ना गतैषा । तद्वयं शीघ्रमपक्रमामः यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति ।]

राजा—अहो मदनस्य वैषम्यम् ।

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपातलङ्घनं सेवाम् ।
एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता ॥ २३ ॥

(इति निष्क्रान्तः सह वयस्येन)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

राजा—(उठकर इरावतीको न देखकर) तो क्या प्यारी चली ही गई ?

विदूषक—मित्र ! यह अपना बड़ा भाग्य समझो कि वे आपकी ढिठाईपर केवल बिगड़कर ही चल दीं । चलिए, हम लोग भी यहाँसे नौ-दो-ग्यारह हो जायँ कहीं वे मंगल ग्रहके समान उलटी चाल-चलकर फिर इसी राशिपर न लौट आवें ।

राजा—आह ! प्रेम भी कैसा कष्टकर होता है । ऐसे समय जब कि मालविका मेरा मन हर ले गई हो, उस समय मेरे हाथ-पैर जोड़नेपर भी उसका रूठकर चला जाना अच्छा ही हुआ क्योंकि अब तो यह मुझसे रूठ ही बैठी हैं इसलिये थोड़े दिनों-तक तो इस प्रेमिकासे अलग रहा ही जा सकता है ॥ २३ ॥

(अपने मित्र विदूषकके साथ चला जाता है ।)

॥ तीसरा अंक पूर्ण ॥

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति पर्युत्सुको राजा प्रतीहारी च ।)

राजा—(आत्मगतम्)

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः ।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वा-
त्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञ फलस्य ॥ १ ॥

(प्रकाशम्) सखे गौतम !

प्रतीहारी—जेदु जेदु भट्टा । असंणिहिदो गोदमो । [जयतु जयतु भर्ता । असंनिहितो गौतमः ।]

राजा—(आत्मगतम्) आः मालविकावृत्तान्तज्ञानाय मया प्रेषितः ।

विदूषकः—(प्रविश्य) वड्ढदु भवं । [वर्धतां भवान् ।]

राजा—जयसेने ! जानीहि तावत्क्व देवी धारिणी सरुजचरणत्वाद्विनोद्यत इति ।

प्रतीहारी—जं देव आणवेदि । [यद्देव आज्ञापयति ।] (इति निष्कान्ता ।)

राजा—गौतम ! को वृत्तान्तस्तत्रभवत्यास्ते सख्याः ।

विदूषकः – जो बिडालगहीदाए परहुदिआए । [यो बिडालगृहीतायाः परभृतिकायाः]

चौथा अङ्क

(अनमने-से होकर राजा आते हैं और साथ में प्रतीहारी आती है ।)

राजा—(मन ही मन) अपनी प्यारीके सम्बन्धकी बातोंसे बढ़ी हुई आशा ही जिसकी जड़ है, प्यारीको देखनेसे जगा हुआ प्रेम ही जिसके पत्ते हैं और प्यारीके हाथके स्पर्शसे शरीर में उठे हुए रोंगटे ही जिसके फूल हैं, वह प्रेमका वृक्ष ही मुझे उसका मीठा फल भी चखावे ॥ १ ॥

(प्रकट) मित्र गौतम !

प्रतीहारी—जय हो, महाराजकी जय हो। गौतमजी यहाँ नहीं हैं।

राजा—(मन ही मन) हाँ, ठीक है । मैंने ही तो उन्हें मालविकाकी टोह लेनेके लिये भेज रक्खा है ।

विदूषक—(आकर) बधाई है आपको ।

राजा—जयसेना ! जाओ, देखो तो देवी धारिणी अपना चोट लगा हुआ पैर लिए कहाँ जी बहला रही हैं ।

प्रतीहारी—जैसी देवकी आज्ञा । (चली जाती है ।)

राजा—कहो गौतम ! तुम्हारी सखी मालविकाके क्या समाचार हैं ?

विदूषक—वही जो बिल्लीके पंजेमें पड़ी हुई कोयलके होते हैं ।

राजा—(सविषादम्) कथमिव ।

विदूषकः—सा क्खु तवस्सिणी तए ण पिंगलच्छीए सारभंडभूघरए गुहाए विअ णिक्खित्ता । [सा खलु तपस्विनी तया पिङ्गलाक्ष्या सारभाण्डभूगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता ।]

राजा—ननु मत्संपर्कमुपलभ्य ।

विदूषकः—अह इं । [अथ किम् ।]

राजा—क एवं विमुखोऽस्माकं येन चण्डीकृता देवी ।

विदूषकः—सुणादु भवं परिव्वाजिआए मे कहिदं । हिओ किल तत्तहोदी इरावती रुअक्कन्तचलणं देविं सुहपुच्छिआ आअदा । [श्रुणोतु भवान् परिव्राजिकया मे कथितम् । ह्यः किल तत्रभवतीरावती रुजाक्रान्तचरणां देवीं सुखपृच्छिकागता ।]

राजा—ततस्ततः ।

विदूषकः—तदो सा देवीए पुच्छिदा । किं णु ओलोइदो वल्लहजणो त्ति । ताए उत्तं । मन्दो वो उपआरो जं परिजणे संकंतं वल्लहत्तणं ण जाणीअदि । [ततः सा देव्या पृष्टा । किन्ववलोकितो वल्लभजन इति । तयोक्तम् । मन्दो व उपचारः यत्परिजने संक्रान्तं वल्लभत्वं न ज्ञायते ।]

राजा—अहो निर्भेदादृतेऽपि मालविकायामयमुपन्यासः शङ्कयति ।

विदूषकः— तदो ताए अणुबन्धिज्जमाणा सा भवदो अविणअं अंतरेण परिगदत्था किदा देवी । [ततस्तयानुबध्यमाना सा भवतोऽविनयमन्तरेण परिगतार्था कृता देवी ।]

राजा—अहो दीर्घरोषता तत्रभवत्याः ! अतः परं कथय ।

राजा—(दुखी होकर) कैसे ?

विदूषक—बेचारी तपस्विनीको उस पीली आँखवालीने नीचे के भंडारवाली कालकोठरीमें ले जा मूँदा है ।

राजा—मेरे प्रेमकी बात जाननेके कारण ही उसे बन्द किया होगा ।

विदूषक—और क्या ?

राजा—ऐसा कौन हमारा बैरी है जिसने देवीको इतना भड़का दिया है ।

विदूषक—सुनिए ! मुझसे परिव्राजिकाजी कह रही थी कि कल पैरमें चोट खाई हुई देवी धारिणीसे कुशल-मंगल पूछने इरावती वहाँ पहुँची थी ।

राजा—तब तब ?

विदूषक—तब उनसे महारानीने पूछा—कहो, प्रियतमसे इधर भेंट हुई थी ? इसपर वे बोलीं—अब उन्हें प्रियतम न कहिए ! क्या आप नहीं जानतीं कि वे अब दासियोंसे प्रेम करने लगे हैं ?

राजा—यद्यपि बात खोलकर नहीं कही गई, फिर भी जान पड़ता है कि उन्होंने मालविकाको लक्ष्य करके ही यह बात कही होगी ।

विदूषक—इसपर जब उन्होंने बहुत हठ किया तब इरावतीने महारानीके आगे आपका सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया ।

राजा—जान पड़ता है इरावती बहुत कुपित हो गई हैं । अच्छा फिर क्या हुआ ?

विदूषकः—किं अवरं। मालविआ बउलावलिआ अ पादालवासं णिगलपदीओ अदिट्ठसुज्जपादं णाअकण्णआओ विअ अणुहोन्ति। [किमपरम्। मालविका बकुलावलिका च पातालवासं निगडपद्यावदृष्टसूर्यपादं नागकन्यके इवानुभवतः।]

राजा—कष्टं कष्टम्।

मधुरस्वरा परभृता भ्रमरी च विबुद्धचूतसङ्गिन्यौ।
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते ॥ २ ॥

अप्यत्र कस्यचिदुपक्रमस्य गतिः स्यात्।

विदूषकः—कहं भविस्सदि। जं सारभंडघरव्वावारिदा मालविआ देवीए संदिट्ठा-मह अंगुलीअअमुद्दिअं अदेक्खिअ ण मोत्तव्वा तुए हदासा मालविआ बउलावलिआ अ त्ति। [कथं भविष्यति। यत्सारभाण्डगृहव्यापारिता मालविका देव्या संदिष्टा मामांगुलीयकमुद्रिकामदृष्टा न मोक्तव्या त्वया हताशा मालविका बकुलावलिका चेति।]

राजा—(निःश्वस्य सपरामर्शम्।) सखे ! किमत्र कर्तव्यम्।

विदूषकः—(विचिन्त्य) अत्थि एत्थ उवाओ। [अस्त्यत्रोपायः।]

राजा—क इव।

विदूषकः—(सदृष्टिक्षेपम्) को वि अदिट्ठो सुणिस्सदि। कण्णे दे कहेमि। (इत्युपश्लिष्य कर्णे) एव्वं विअ। [कोऽप्यदृष्टः श्रोष्यति। कर्णे ते कथयामि। एवमिव।]. (इत्यावेदयति।)

राजा—(सहर्षम्) सुष्ठु। प्रयुज्यतां सिद्धये।

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—देव ! पवादसअणे देवी णिसण्णा रत्तचन्दणधारिणा परिअणहत्थागदेण

विदूषक—और क्या होना था ? मालविका और बकुलावलिकाके पैरोंमें बेड़ी डालकर नागकन्याओंके समान उन्हें ऐसे पातालमें ले जा डाला है जहाँ सूर्यकी किरणें भी नहीं पहुँच पा सकतीं।

राजा—यह तो बड़ा बुरा हुआ कि बौरे हुए आमके साथ रहनेवाली मिठबोली कोयल और भौंरी दोनोंको, प्रचंड पुरवाई और असमयकी वर्षाने पेड़के खोखलेमें ले जा बन्द कर दिया ॥ २ ॥

कहो, अब उन्हें छुड़ानेका कोई उपाय हो सकता है या नहीं ?

विदूषक—उपाय क्या होगा ? उस निचले भंडारकी रखवाली माधविकाको देवीने कह दिया है कि इन अभागिनी मालविका और बकुलावलिकाको मेरी अँगूठी देखे बिना कभी न छोड़ना।

राजा—(लंबी साँस लेते हुए कुछ सोचकर) क्यों मित्र ! अब क्या किया जाय ?

विदूषक—(सोचकर) एक उपाय है।

राजा—क्या ?

विदूषक—(इधर-उधर देखकर) कोई छिपकर सुन न रहा हो ? आइए कानमें बताता हूँ। (पास सटकर कानमें) यह हो सकता है। (कानमें कह देता है।)

राजा—(प्रसन्न होकर) बहुत बढ़िया। बस कर ही डालो।

प्रतीहारी—(आकर) देव ! इस समय महारानी बयारवाले भवनमें पलँगपर बैठी हुई हैं

चलणेण भअवदीए कहाहिं विणोदिज्जमाणा चिट्ठदि । [देव ! प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति ।]

राजा—तस्मादस्मत्प्रवेशयोग्योऽयमवसरः ।

विदूषकः—भो ! गच्छदु भवं । अहं वि देविं पेक्खिदुं अरित्तपाणी भविस्सं । [भो ! गच्छतु भवान् ! अहमपि देवीं द्रष्टुमरिक्तपाणिर्भविष्यामि ।]

राजा—जयसेनायास्तावदस्मद्रहस्यं विदितं कुरु ।

विदूषकः—तह । (इति कर्णे) एव्वं विअ होदि । [तथा । एवमिव भवति ।] (इत्यावेद्य निष्क्रान्तः ।)

राजा—जयसेने ! प्रवातशयनमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । [इत इतो देवः ।]

(ततः प्रविशति शयनस्था देवी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः ।)

धारिणी—भअवदि ! रमणिज्जं कहावत्थु । तदो तदो । [भगवति । रमणीयं कथावस्तु । ततस्ततः ।]

परिव्राजिका—(सदृष्टिक्षेपम्) देवी ! अतः परं पुनः कथयिष्यामि । अत्र भगवान्विदिशेश्वरः संप्राप्तः ।

धारिणी—अम्हो भट्टा [अहो भर्ता ।] (इत्युत्थातुमिच्छति ।)

राजा—अलमलमुपचारयन्त्रणया ।

अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि ।
चरणं रुजापरीतं कलभाषिणि ! मां च पीडयितुम् ॥ ३ ॥

उनके पैरमें लाल चन्दन लगा हुआ है, दासियाँ पैर सँभाले हुए हैं और परिव्राजिकाजी कथा सुनाकर उनका जी बहला रही हैं ।

राजा—तो हमारे लिये भी वहाँ जानेका यह अच्छा अवसर है ।

विदूषक—अच्छा, आप चलिए । मैं भी हाथमें कुछ भेंट लेकर महारानीको देखने चला आ रहा हूँ ।

राजा—जयसेनाको भी अपनी सब बातें समझा देना ।

विदूषक—अच्छा । (जयसेनाके कानमें) देखो ! ऐसे करना होगा ।

(सब बताकर चला जाता है ।)

राजा—जयसेना ! बयारवाले भवनतक ले तो चलो ।

प्रतीहारी—इधरसे आइए देव ! इधरसे ।

(पलँगपर बैठी हुई देवी दिखाई देती हैं । पासमें परिव्राजिका और बहुतसी दासियाँ बैठी हैं ।)

धारिणी—यह तो बड़ी सुन्दर कथा कही आपनें । हाँ भगवती, तो आगे क्या हुआ ?

परिव्राजिका—(आँख घुमाकर) देवी ! अब इससे आगे फिर कभी कहूँगी । लीजिए, विदिशाके महाराज आ पधारे हैं ।

धारिणी—अरे ! स्वामी ! (उठना चाहती हैं ।)

राजा—बस, बस शिष्टाचार दिखानेका कष्ट न करो । सोनेकी चौकीपर रक्खे हुए अपने उस चोटवाले पैरको कष्ट देकर मुझे कष्ट न पहुँचाओ जिसे बिना कारण ही बिछुओंका बिछोह सहना पड़ रहा है ॥ ३ ॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो। [जयतु जयत्वार्यपुत्रः।]

परिव्राजिका— विजयतां देवः।

राजा—(परिव्राजिकां प्रणम्योपविश्य।) देवि ! अपि सह्या वेदना।

धारिणी- अज्ज अत्थि मे विसेसो। [अद्यास्ति मे विशेषः।]

(ततः प्रविशति यज्ञोपवीतबद्धांगुष्ठः संभ्रान्तो विदूषकः।)

विदूषकः—परित्ताअदु परित्ताअदु भवं। सप्पेणम्हि दट्ठो। [परित्रायतां परित्रायतां भवान्। सर्वेणास्मि दष्टः।] (सर्वे विषण्णाः।)

राजा—कष्टं कष्टम्। क्व भवान्परिभ्रान्तः।

विदूषकः—देविं देक्खिस्सं त्ति आआरपुप्फग्गहणकारणादो पमदवणं गदोम्हि। [देवीं द्रक्ष्यामीत्याचारपुष्पग्रहणकारणात्प्रमदवनं गतोऽस्मि।]

धारिणी—हद्धी हद्धी। अहं एव्व बम्हणस्स जीविदसंसअणिमित्तं जादम्हि। [हा धिक् हा धिक्। अहमेव ब्राह्मणस्य जीवितसंशयनिमित्तं जातास्मि।]

विदूषकः—तहिं असोअत्थबअकालणादो पसारिदो दक्खिणहत्थो। तदो कोडरणिग्गदेण सप्परूवेण कालेण दट्ठोम्हि। णं एदाणि दुवे दंसणपदाणि। [तस्मिन्नशोकस्तबककारणात्प्रसारितो दक्षिणहस्तः। ततः कोटरनिर्गतेन सर्परूपेण कालेन दष्टोऽस्मि। नन्वेते द्वे दंशनपदे।] (इति दंशे दर्शयति।)

परिव्राजिका—तेन हि दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते। स तावदस्य क्रियताम्।

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ॥ ४ ॥

धारिणी— जय हो, आर्यपुत्रकी जय हो।

परिव्राजिका—आपकी विजय हो देव !

राजा—(परिव्राजिकाको प्रणाम करके बैठते हुए।) कहो देवी ! कुछ पीडा कम हुई।

धारिणी—हाँ, आज तो बहुत कम है।

(अपने हाथके अँगूठेको जनेऊसे बाँधे हुए घबराया हुआ विदूषक आता है।)

विदूषक—अरे बचाइए महाराज ! बचाइए ! मुझे साँपने डस लिया है।

(सभी दुःखित हो जाते हैं।)

राजा—यह तो बड़ा बुरा हुआ। कहाँ घूम रहे थे ?

विदूषक—मैं देवीको देखने आने लगा तो सोचा कि भेंटके लिये दो-चार फूल ही लेता चलूँ। उसीके लिये मैं प्रमदवन चला गया था।

धारिणी—हाय ! हाय !! मेरे ही कारण बेचारे ब्राह्मणके प्राण संकटमें जा पड़े हैं।

विदूषक—वहाँ ज्यों ही मैंने अशोकके फूलोंका गुच्छा तोड़नेके लिये दाहिना हाथ फैलाया त्यों ही उसके खोखलेमेंसे निकलकर साँप बने हुए कालने मुझे आ डसा। यह देखिए उसके दाँतोंके चिह्न। (चिह्न दिखाता है।)

परिव्राजिका—साँपके डसनेपर जो पहला काम किया जाता है वह कर डालो। जहाँ साँपने डसा हो, वह अंग ही यदि काट दिया जाय या जला दिया जाय या घावमेंसे लहू निकाल दिया जाय तो साँपसे डसे हुए मनुष्यके प्राण बच सकते हैं ॥ ४ ॥

राजा— संप्रति विषवैद्यानां कर्म । जयसेने ! ध्रुवसिद्धिः क्षिप्रमानीयताम् ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । [यद्देव आज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता ।)

विदूषकः—अहो पावेण मिच्चुणा गहीदोम्हि । [अहो पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि ।]

राजा—मा कातरो भूः । अविषोऽपि कदाचिद्दंशो भवेत् ।

विदूषकः—कहं ण भाइस्सं । सिमसिमाअन्ति मे अङ्गाइँ । [कथं न भेष्यामि । सिमसिमायन्ति मेऽङ्गानि ।] (इति बिषवेगं रूपयति ।)

धारिणी—हा दंसिदं असुहं विआरेण, अवलम्बथ बम्हण। [हा दर्शितमशुभं बिकारेण, अवलम्बध्वं ब्राह्मणम् ।]

(परिव्राजिका ससंभ्रममवलम्बते ।)

विदूषकः—(राजानं विलोक्य) भो ! भवदो बाल्लादो वि पिअवअस्सोम्हि । तं विआरिअ अपुत्ताए मे जणणीए जोगक्खमं वहेहि । [भोः ! भवतो बाल्यादपि प्रियवयस्योऽस्मि । तं विचार्यापुत्रया मे जनन्या योगक्षेमं वह ।]

राजा—मा भैषीर्गौतम । स्थिरो भव । अचिरात्त्वां वैद्यश्चिकित्सिष्यति ।

(प्रविश्य)

जयसेना—देव ! आणाविदो ध्रुवसिद्धी विण्णावेदि इह एव्व आणीअदु सो गोदमो त्ति । [देव ! आज्ञापितो ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति—इहैवानीयतां स गौतम इति ।]

राजा—तेन हि प्रतिगृहीतमेनं तत्रभवतः सकाशं प्रापय ।

जयसेना—तहा । [तथा ।]

राजा— अब तो विष उतारनेवाले वैद्य आवें तभी काम चल सकता है । जयसेना ! जाओ झटपट ध्रुवसिद्धिको तो बुला आओ ।

प्रतीहारी—जैसी देवकी आज्ञा ! (चली जाती है ।)

विदूषक—हाय रे ! यह पापी मौत मुझे जकड़कर पकड़े बैठी है ।

राजा—घबराओ मत । कौन जाने साँप विषैला न भी हो ।

विदूषक—क्यों न घबराऊँ, मेरे अँग-अँग पथराए जा रहे हैं ।

(विष चढ़नेका नाटय करता है ।)

धारिणी—हाय ! हाय !! इसकी दशा तो बिगड़ती जा रही है ! कोई सँभालो इस ब्राह्मणको ।

(परिव्राजिका घबराकर सँभालती हैं ।)

विदूषक—(राजाकी ओर देखकर) देखिए ! मैं बचपनसे आपका प्रिय मित्र रहा हूँ, इस नाते मेरी निपूती माँकी देखभाल करते रहिएगा ।

राजा—डरो मत गौतम ! धीरज धरो । वैद्य अभी तुम्हें अच्छा कर देंगे ।

जयसेना—(आकर) देव ! मैंने ध्रुवसिद्धिको आपकी आज्ञा सुना दी । उन्होंने कहा है कि गौतमको यहीं ले आया जाय ।

राजा—तो इन्हें सँभालकर उनके पास लेते जाओ ।

जयसेना—अच्छा ।

त्रिदूषकः— (देवीं विलोक्य) **भोदि ! जीवेअं वा ण वा । जं मए अत्तभवन्तं सेवमाणेण ते अवरद्धं तं मरिसेहि ।** [भवति ! जीवेयं वा न वा । यन्मयात्रभवन्तं सेवमानेन तेऽपराद्धं तन्मृष्यस्व ।]

धारिणी—**दीहाऊ होहि ।** [दीर्घायुर्भव ।]

(निष्क्रान्तो विदूषकः प्रतीहारी च ।)

राजा—**प्रकृतिभीरुस्तपस्वी ध्रुवसिद्धिमपि यथार्थनामानं सिद्धिमन्तं न मन्यते ।**

(प्रविश्य)

जयसेना—**जेदु जेदु भट्टा । ध्रुवसिद्धी विण्णावेदि—उदकुम्भविहाणेण सप्पमुद्दिअं किंपि कप्पिदव्वं । तं अण्णेसीअदुत्ति ।** [जयतु जयतु भर्ता । ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति—उदकुम्भविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम् । तदन्विष्यतामिति ।]

धारिणी—**इदं सप्पमुद्दिअं अंगुलीअअं । पच्छा मम हत्थे देहि णं ।** [इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयकम् । पश्चान्मम हस्ते देह्येतत् ।] (इत्यंगुलीयकं ददाति ।)

(प्रतीहारी गृहीत्वा प्रस्थिता ।)

राजा—**जयसेने ! कर्मसिद्धावासु प्रतिपत्तिमानय ।**

प्रतीहारी—**जं देवो आणवेदि ।** [यद्देव आज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

परिव्राजिका—**यथा मे हृदयमाचष्टे तथा निर्विषो गौतमः ।**

राजा—**भूयादेवम् ।**

जयसेना—**जेदु देवो भट्टा । णिवुत्तविसवेगो गोदमो मुहुत्तेण पक्किदित्थो संवुत्तो ।** [जयतु देवो भर्ता । निवृत्तविषवेगो गौतमो मुहूर्तेन प्रकृतिस्थः संवृत्तः ।]

विदूषक—(महारानीको देखकर) देवी ! कौन जाने मैं जीऊँ या न जीऊँ । सेवा करते हुए मुझसे जो कुछ भूल-चूक हुई हो वह क्षमा कीजिएगा ।

धारिणी—भगवान् करे तुम बहुत दिन जीओ ।

(विदूषक और प्रतीहारी चले जाते हैं ।)

राजा—यह बेचारा स्वभावसे ही इतना डरपोक है कि जैसा नाम वैसे गुणवाले ध्रुवसिद्धिपर भी इसे भरोसा नहीं हो रहा है ।

जयसेना—(आकर) जय हो, स्वामीकी जय हो । ध्रुवसिद्धिने कहा है कि पानीके घड़ेके सहारे किसी ऐसी वस्तुसे विष उतारा जायगा जिसमें नागमुद्रा जड़ी हुई हो इसलिये कोई ऐसी वस्तु ढूंढ़कर लाओ ।

धारिणी—लो लो । मेरी इस अँगूठीमें नागमुद्रा जड़ी हुई है । काम हो जानेपर मुझे ही लौटा जाना । (अँगूठी निकालकर देती है ।)

(प्रतीहारी लेकर चलती है ।)

राजा—जयसेना ! काम हो जानेपर शीघ्र ही समाचार देना ।

प्रतीहारी—जैसी देवकी आज्ञा । (चली जाती है ।)

परिव्राजिका—मेरा मन तो कह रहा है कि गौतमका विष उतर गया होगा ।

राजा—आपकी ही बात सच्ची हो ।

जयसेना—(आकर) देवकी जय हो । गौतमका विष थोड़ी ही देरमें उतर गया और अब वे भले-चंगे हो गए हैं ।

(प्रविश्य)

धारिणी—दिट्ठिआ वअणीआदो मुत्तम्हि । [दिष्टया वचनीयान्मुक्तास्मि ।]

प्रतीहारी—एसो उण वाहतओ अमच्चो विण्णवेदि— राअकज्जं बहु मंतिदव्वं दंसणेण अणुग्गहं इच्छामि त्ति । [एष पुनर्वाहतकोऽमात्यो विज्ञापयति— राजकार्यं बहु मन्त्रयितव्यं दर्शनेनानुग्रहमिच्छामीति ।]

धारिणी—गच्छदु अज्जउत्तो कज्जसिद्धीए ! [गच्छत्वार्यपुत्रः कार्यसिद्धये ।]

राजा—देवि ! आतपाक्रन्तोऽयमुद्देशः शीतक्रिया चास्या रुजः प्रशस्ता । तदन्यत्र नीयतां शयनम् ।

धारिणी—बालिगाओ ! अज्जउत्तवअणं अणुचिट्ठह । [बालिकाः आर्यपुत्रवचनमनुतिष्ठत ।]

परिजनः—तह । [तथा ।]

(निष्क्रान्ता देवी परिव्राजिका परिजनश्च ।)

राजा—जयसेने ! मां गूढेन पथा प्रमदवनं प्रापय ।

जयसेना—इदो इदो देवो । [इत इतो देवः ।]

राजा—जयसेने ! ननु समाप्तकाम्यो गौतमः ।

जयसेना—अह इं । [अथ किम् ।]

राजा— इष्टाधिगमनिमित्तं प्रयोगमेकान्तसाध्यमपि मत्वा ।
संदिग्धमेव सिद्धौ कातरमाशङ्कते हृदयम् ॥ ५ ॥

धारिणी—बड़ी बात हुई कि मैं कलंकसे बच गई ।

प्रतीहारी—मंत्री वाहतकने कहलाया है कि राज-काजकी बहुत-सी बातोंपर विचार करना है, इसलिये दर्शनकी कृपा चाहता हूँ ।

धारिणी—जाइए आर्यपुत्र ! राज-काज देखिए ।

राजा—देवी ! यहाँ तो धूप आ गई है । ऐसे रोगमें ठंड ही अच्छी होती है । इसलिये अपना पलँग दूसरी ओर उठवा लगवाइए ।

धारिणी—लड़कियों ! आर्यपुत्र जैसा कह रहे हैं वैसा ही कर डालो ।

दासियाँ—अच्छा ।

(महारानी, परिव्राजिका और दासियाँ सब चली जाती हैं ।)

राजा—जयसेना ! मुझे चोर-मार्गसे प्रमदवन तो ले चलो ।

जयसेना—इधरसे आइए देव, इधरसे ।

राजा—जयसेना ! गौतमने अपना काम पूरा कर लिया होगा न ?

जयसेना—जी हाँ ।

राजा—अपनी प्यारीको पानेके लिये हमने जो उपाय रचा है उसे पक्का समझते हुए भी मेरा हृदय ऐसा सन्देही और अधीर है कि उसे अभीतक काम पूरे होनेमें खटका ही बना हुआ है ॥ ५ ॥

(प्रविश्य)

विदूषकः—वड्ढदु भवं। सिद्धाणि दे मङ्गलकम्माणि। (वर्धतां भवान्। सिद्धानि ते मङ्गलकर्माणि।)

राजा—जयसेने! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

जयसेना—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आयापयति।] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—गौतम! क्षुद्रा माधविका। न खलु किंचिद्विचारितमनया।

विदूषकः—देवीए अंगुलीअअमुद्दिअं देक्खिअ कहं विआरेदि। [देव्या अङ्गुलीयकमुद्रां दृष्ट्वा कथं विचारयति।]

राजा—न खलु मुद्रामधिकृत्य ब्रवीमि। एतयोर्द्वयोः किंनिमित्तो मोक्षः। किं वा देव्याः परिजनमतिक्रम्य भवान्संदिष्ट इत्येवमनया प्रष्टव्यम्।

विदूषकः—णं पुच्छिदोम्हि! पुणो मन्दस्य मे तस्सि पच्चुप्पण्णा मदी। [ननु पृष्टोऽस्मि। पुनर्मन्दस्य मे तस्मिन्प्रत्युत्पन्ना मतिः।]

राजा—कथ्यताम्।

विदूषकः—भणिदं मए। देव्वचिन्तएहिं विण्णाबिदो राआ—सोवसग्गं वो णक्खत्तं। ता अवस्सं सव्वबन्धमोक्खो करीअदु त्ति। [भणितं मया। दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा—सोपसर्गं वो नक्षत्रम्। तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति।]

राजा—(सहर्षम्) ततस्ततः।

विदूषकः—तं सुणिअ देवीए इरावदीए चित्तं रक्खन्तीए राआ किल मोएदि त्ति अहं संदिट्ठो त्ति। तदो जुज्जदि त्ति ताए एव्वं संपादिदो अत्थो। [तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याश्चित्तं रक्षन्त्या राजा किल मोचयतीत्यहं संदिष्ट इति। ततो युज्यत इति तयैवं सम्पादितोऽर्थः।]

विदूषक—(आकर) बधाई है आपको। आपके सब काम सध गए।

राजा—जयसेना! आओ तुम भी अपना काम देखो।

जयसेना—जैसी देवकी आज्ञा। (चली जाती है।)

राजा—कहो गौतम! माधविका तो बड़ी ही चंट है। उसने कुछ आनाकानी तो नहीं की?

विदूषक—देवीकी अँगूठी देख लेनेपर वह क्या आनाकानी करती?

राजा—मैं अँगूठीकी बात नहीं पूछ रहा हूँ। उन दोनोंको तुमने छुड़ाया क्या कहकर! उसने यह तो पूछा ही होगा कि इतने सेवकोंके रहते हुए भी देवीने आपको ही क्यों भेजा?

विदूषक—हाँ, यह तो पूछा था। पर उसी समय मुझ मूर्खकी बुद्धि चेत गई और मेरे मुँहसे अचानक एक अच्छी बात निकल पड़ी।

राजा—क्या?

विदूषक—मैंने कहा कि ज्योतिषियोंने महाराजसे कहा है कि आपके ग्रह बिगड़े हुए हैं इसलिये इस समय सब बन्दियोंको छुड़वा दीजिए।

राजा—(प्रसन्न होकर) तब तब?

विदूषक—जब देवीने ज्योतिषियोंकी यह बात सुनी, तब उन्होंने सोचा कि यदि हम अपने सेवकोंको छुड़ानेके लिये किसी औरको भेजेंगे तो इरावतीजी बुरा मान जायँगी। इसलिये उनका मन रखनेके लिये उन्होंने मुझे ही बुलाकर यह काम सौंप दिया, जिससे इरावती यह समझें कि

राजा—(विदूषकं परिष्वज्य) सखे ! प्रियोऽहं खलु तव ।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम् ।
कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥ ६ ॥

विदूषकः—तुवरदु भवं समुद्दघरए सहीसहिदं मालविअं ठाविअ भवन्तं पच्चुग्गदोम्हि । [त्वरतां भवान् । समुद्रगृहे सखीसहितां मालविकां स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्युद्गतोऽस्मि ।]

राजा—अहमेनां संभावयामि । गच्छाग्रतः ।

विदूषकः—एदु भवं । (परिक्रम्य) एदं समुद्दघरं । [एतु भवान् । इदं समुद्रगृहम् ।]

राजा—(साशङ्कम्) वयस्य ! कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते परिचारिका चन्द्रिका संनिकृष्टमागच्छति । इतस्तावदावां भित्तिगूढौ भवावः ।

विदूषकः—अहो । कुम्भीलएहिं कामुएहिं च परिहरणीआ क्खु चन्दिआ । [अहो कुम्भीरकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका]

(उभौ यथोक्तं कुरुतः ।)

राजा—गौतम ! कथं नु ते सखी मां प्रतिपालयति । एहि । एनां गवाक्षमाश्रित्य विलोकयावः ।

विदूषकः—तह । [तथा ।]

(उभौ विलोकयन्तौ तिष्ठतः)

(ततः प्रविशति मालविका बकुलावलिका च ।)

राजा ही बन्दियोंको छुड़ा रहे हैं, मैं नहीं छुड़ा रही हूँ । माधविका इसे सच मान बैठी और उसने उन्हें छोड़ दिया ।

राजा—(विदूषकको गले लगाकर) मित्र ! सचमुच तुम मेरे बड़े प्यारे हो । क्योंकि केवल बुद्धिके बलसे ही कोई अपने मित्रका काम नहीं कर देता । अपने सिर कोई काम लेकर उसे अन्ततक निभा देना ही सचमुच ऐसा टेढ़ा होता है कि वह तभी पूरा हो पाता है जब काम करनेवाला अपने मित्रसे पक्का स्नेह भी करता हो ॥ ६ ॥

विदूषक—अच्छा, अब आप झटपट चले चलिए क्योंकि मैं बकुलावलिका और मालविकाको समुद्रघरमें बैठाकर तब आपके पास आया था ।

राजा—चलो, मैं अभी उसे चलकर मनाए लेता हूँ । चलो आगे-आगे ।

विदूषक—आइए आप । (घूमकर) यह रहा समुद्रघर ।

राजा—(डरते हुए) देखो मित्र ! तुम्हारी सखी इरावतीकी दासी चन्द्रिका फूल चुनती हुई इधर ही बढ़ी चली आ रही है । चलो, इस भीतके पीछे छिप रहा जाय ।

विदूषक—हाँ, चोरों और जारोंको चन्द्रिकासे बचते ही रहना चाहिए ।

(दोनों भीतके पीछे छिप जाते हैं ।)

राजा—आओ गौतम ! इस खिड़कीमेंसे झाँक देखा जाय कि तुम्हारी सखी मालविका मेरे लिये कैसे बाट जोह रही है ।

विदूषक—अच्छा ।

(दोनों खिड़कीमेंसे झाँकते हैं ।)

(मालविका और बकुलावलिका दिखाई पड़ती हैं ।)

बकुलावलिका—सहि ! पणम भट्टारं । [सखि ! प्रणम भर्तारम् ।]

मालविका—णमो दे । [नमस्ते ।]

राजा—शङ्के मे प्रतिकृतिं निदिशति ।

मालविका—(सहर्षं द्वारमवलोक्य सविषादम्) हला ! मं विप्पलम्भेसि । [सखि मां विप्रलम्भयसि ।]

राजा—हर्षविषादाभ्यामत्रभवत्याः प्रीतोऽस्मि ।

सूर्योदये भवति या सूर्यास्तमये च पुण्डरीकस्य ।
वदनेन सुवदनायास्ते समवस्थे क्षणादूढे ॥ ७ ॥

बकुलावलिका—णं एसो चित्तगदो भट्टा । [नन्वेष चित्रगतो भर्ता ।]

उभे—(प्रणिपत्य) जेदु भट्टा । [जयतु भर्ता ।]

मालविका—हला ! तदा संभमदिट्ठे भट्टिणो रूवे जहा ण वितिण्हम्हि तहा अज्जवि मए भाविदो अवितिण्हदंसणो भट्टा । [सखि ! तदा संभ्रमदृष्टे भर्तृ रूपे यथा न वितृष्णास्मि तथाद्यापि मया भावितोऽवितृष्णदर्शनो भर्ता ।]

विदूषकः— सुदं भवदा । तत्तहोदि—चित्ते जहा दिट्ठो ण तहा दिट्ठो भवं त्ति मन्तेदि । मुहा दाणिं मंजूसा विअ रअणभंडअं जोव्वणगव्वं वहसि । [श्रुतं भवता । तत्रभवती—चित्रे यथा दृष्टो न तथा दृष्टो भवानिति मन्त्रयति । मुधेदानीं मञ्जूषेव रत्नभाण्डं यौवनगर्वं वहसि ।]

राजा—सखे । कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः । पश्य—

कार्त्स्न्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम् ।
न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रवृत्तीनि विलोचनानि ॥ ८ ॥

बकुलावलिका—सखी ! स्वामीको प्रणाम करो ।

मालविका—आपको प्रणाम है ।

राजा—जान पड़ता है यह मेरा चित्र दिखा रही है ।

मालविका—(प्रसन्नताके साथ द्वार खोलती है, फिर दुखी होकर) अच्छा सखी ! तुम भी मुझे बना रही हो ?

राजा—इस समय इनका प्रसन्न होना और दुखी होना दोनों मुझे बड़े प्यारे लगते हैं । सूर्यके निकलते और छिपते समय कमल जैसे-जैसे खिलता और मुरझाता है, ठीक वैसी ही झलक क्षण भरमें इस सुन्दरीके मुँहपर दिखाई दे गई है ॥ ७ ॥

बकुलावलिका—पर चित्रमें भी तो स्वामी ही हैं ।

दोनों—(प्रणाम करती हुई) स्वामीकी जय हो !

मालविका—सखी ! उस दिन हड़बड़ीमें महाराजको मैं जितना नहीं देख पाई उतना आज इस चित्रमें जी भरकर महाराजका रूप देखकर भी मैं अघा नहीं रही हूँ ।

विदूषक—आप कुछ समझे ? उनके कहनेका अर्थ यह है कि जैसे सुन्दर आप चित्रमें दिखाई दे रहे हैं वैसे आप सचमुच नहीं दिखाई दिए थे । इसलिये जैसे रत्नकी छूंछी पिटारी भी अपनेको रत्नोंकी कहकर झूठे ही ऐंठती है वैसे ही आपमें भी कुछ है-वै नहीं, आप झूठे ही अपने योवनकी डींग हाँकते रहे है ।

राजा—मित्र ! अपने प्यारोंसे मिलनेके लिये उतावली होती हुई स्त्रियाँ स्वभावसे ही बड़ी लजीली होती हैं ! देखो—स्त्रियाँ जिस पुरुषसे पहले पहल मिलती हैं उसे वे जी भरकर देख तो

मालविका—हला ! का एसा पासपरिउत्तमुहेण भट्टिणा सिणिद्धाए दिट्ठीए णिज्झाईअदि । [सखि ! कैषा पार्श्वपरिवृत्तमुखेन भर्त्रा मे स्निग्धया दृष्टया निध्यायते ।]

बकुलावलिका—णं इअं पासगदा इरावदी । [नन्वियं पार्श्वंगतेरावती ।]

मालविका—सहि ! अदक्खिणो विअ भट्टा मे पडिभादि जो सव्वं देवीजणं उज्झिअ एक्काए मुहे बद्धलक्खो । [सखि अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वं देवीजनमुज्झित्वैकस्या मुखे बद्धलक्ष्यः ।]

बकुलावलिका—(आत्मगतम्) चित्तगदं भट्टारअं परमत्थदो संकप्पिअ असूअदि । होदु । कीडिस्सं दाव एदाए । (प्रकाशम्) हला ! भट्टिणो वल्लहा एसा । [चित्रगतं भर्तारं परमार्थतः संकल्प्यासूयति । भवतु । क्रीडिष्यामि तावदेतया । सखि ! भर्तुर्वल्लभैषा ।]

मालविका—तदो किं दाणिं अत्ताणं आआसइस्सं । [ततः किमिदानीमात्मानमायासयिष्यामि ।] (इति सासूयं परावर्तते ।)

राजा—सखे ! पश्य ।

भ्रूभङ्गभिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या ।
कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुः संदर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा ॥ ९ ॥

विदूषकः—अणुणअसज्जो दाणिं होहि । [अनुनयसज्ज इदानीं भव ।]

मालविका—अज्जगोदमो एत्थ एव संसेवदि णं । [आर्यगौतमोऽत्रैव संसेवत एनाम् ।]

(पुनः स्थानान्तराभिमुखी भवितुमिच्छति ।)

लेना चाहती हैं पर उन बड़ी-बड़ी आँखोंवाली सुन्दरियोंकी आँखें अपने प्यारेकी ओर ठीकसे उठ ही नहीं पातीं ॥ ८ ॥

मालविका—क्यों सखी ! ये कौन देवी हैं जिनकी ओर महाराज मुँह घुमाकर बड़ी प्रेम-भरी चितवनसे देख रहे हैं ।

बकुलावलिका—महाराजके पास ये इरावतीजी बैठी हुई हैं ।

मालविका—क्यों सखी ! महाराजका प्रेम सबपर एक-सा नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे सब रानियोंको छोड़कर बस एकका ही मुँह देखे जा रहे हैं ।

बकुलावलिका—(मन ही मन) चित्रमें बने हुए महाराजको सचमुच महाराज समझकर यह भोली, व्यर्थ उनपर रूठी पड़ रही है । अच्छी बात है । मैं भी इसे बनाती हूँ । (प्रकट) सखी ! ये ही तो महाराजकी प्यारी हैं ।

मालविका—तब मैं अपनी देह तिल-तिल क्यों जलाऊँ । (डाहसे मुँह फेर लेती है ।)

राजा—देखो मित्र ! इसने डाहसे अपना मुख घुमा लिया है । भौंहोंके चढ़ानेसे हटी हुई इसके माथेकी बिन्दी और इसके फड़कते हुए निचले ओठको देखनेसे ऐसा जान पड़ता है मानो स्वामीके अपराधपर रूठनेकी जो शिक्षा इसने अपने गुरुसे सीखी है वही अभिनय करके दिखला रही हो ॥ ९ ॥

विदूषक—तो चलिए । अब मनानेके लिये तैयार हो जाइए ।

मालविका—आर्य गौतम भी तो यहाँ बैठे इनकी सेवा कर रहे हैं ।

(वहाँसे फिर कहीं और हट जाना चाहती है ।)

बकुलावलिका—(मालविकां रुद्ध्वा ।) ण क्खु कुविदा दाणिं तुमं । [न खलु कुपितेदानीं त्वम् ।]

मालविका—जइ चिरं कुविदं एव्व मं मण्णेसि एसो पच्चाणीअदि कोवो । [यदि चिरं कुपितामेव मां मन्यसे एव प्रत्यानीयते कोपः ।]

राजा—(उपेत्य)

कुप्यसि कुवलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेतन्मे ।
ननु तव साक्षादयमहमनन्यसाधारणो दासः ॥ १० ॥

बकुलावलिका—जेदु जेदु भट्टा । [जयतु जयतु भर्ता ।]

मालविका—(आत्मगतम्) कहं चित्तगदो भट्टा मए असूइदो । [कथं चित्रगतो भर्ता मयासूयितः ।] (प्रकाशं सव्रीडवदनमञ्जलिं करोति ।)

(राजा मदनकातर्यं रूपयति ।)

विदूषकः—किं भवं उदासीणो विअ दीसइ । [किं भवानुदासीन इव दृश्यते ।]

राजा—अविश्वसनीयत्वात्सख्यास्तव ।

विदूषकः—अत्तहोदीए अअं कहं तुइ अविस्सासो । [अत्रभवत्यामयं कथं तवाविश्वासः ।]

राजा—श्रूयताम् ।

पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणा-
त्सरति सहसा बाह्वोर्मध्यं गतापि सखी तव ।
मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया
कथमिव सखे विस्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः ॥ ११ ॥

बकुलावलिका—सहि ! बहुसो क्खु भट्टा विप्पलद्धो । ता तुए अत्ता विस्ससणिज्जो करीअदु । [सखि ! बहुशः किल भर्ता विप्रलब्धः । तत्त्वयात्मा विश्वसनीयः क्रियताम् ।]

बकुलावलिका—(मालविकाको रोककर) अरे, तुम रूठकर तो नहीं जा रही हो ?

मालविका—यदि तुम समझती हो कि मैं बहुत रूठी ही रहती हूँ तो लो मैं रूठ ही बैठती हूँ ।

राजा—(पास पहुँचकर) कमलनयनी ! चित्रमें बने हुए मेरे भावको देखकर ही तुम मुझसे क्यों रुठी जा रही हो ! तुम्हारा यह अनन्य दास तो तुम्हारे सामने ही खड़ा है ॥ १० ॥

बकुलावलिका—जय हो, स्वामीकी जय हो ।

मालविका—(मन ही मन) तो क्या मैं सचमुच चित्रमें बने हुए स्वामीसे रुठी हुई थी ।

(लजाती हुई हाथ जोड़ती है । राजा प्रेममें व्याकुल होनेका नाट्य करते हैं ।)

विदूषक—आप चुपचाप क्यों खड़े हो गए हैं ?

राजा—भाई ! तुम्हारी सखी पर भरोसा नहीं हो रहा है ?

विदूषक—क्यों, इनपर भरोसा क्यों नहीं हो रहा है ?

राजा—सुनो ! ये मेरी आँखोंमें बैठी-बैठी देखते-देखते ओझल हो जाती हैं और मेरी बाहोंमें आकर भी अचानक सरक निकलती हैं । इस मिलनकी माया में फँसे हुए मेरे प्रेमके रोगी मनको इनपर कैसे भरोसा हो ॥ ११ ॥

बकुलावलिका—सखी, तुमने महाराजको बहुत छकाया है । अब कुछ ऐसा तो करो कि वे तुमपर भरोसा करने लगें ।

मालविका—सहि ! मह उण मन्दभग्गाए सिविणसमाअमो वि भट्टिणो दुल्लहो। आसि। [सखि ! मम पुनर्मन्दभाग्यायाः स्वप्नसमागमोऽपि भर्तुर्दुर्लभ आसीत्।]

बकुलावलिका—भट्टा ! कहेदु से उत्तरं। [भर्ता ! कथयत्वस्या उत्तरम्।]

राजा—

उत्तरेण किमात्मैव पञ्चबाणाग्निसाक्षिकम्।
तव सख्यै मया दत्तो न सेव्यः सेविता रहः॥ १२ ॥

बकुलावलिका—अणुगहीदम्हि। [अनुगृहीतास्मि।]

विदूषकः—(परिक्रम्य ससंभ्रमम्) बउलावलिए ! एसो बाआसोअरुक्खस्स पल्लवाइँ लंघेदि हरिणो। एहि णिवारेम णं। [बकुलावलिके ! एष बालाशोकवृक्षस्य पल्लवानि लङ्घयति हरिणः। एहि, निवारयाम एनम्।]

बकुलावलिका—तह। [तथा।] (इति प्रस्थिता।)

राजा—वयस्य ! एवमेवास्मिन्रक्षणक्षणेऽवहितेन त्वया भवितव्यम्।

विदूषकः—एव्वं वि गोदमो सन्दिसेअदि ? [एवमपि गौतमः सन्दिष्यते ?]

बकुलावलिका—(परिक्रम्य) अज्ज गोदम। अहं अप्पआसे चिट्ठामि। तुमं दुवाररक्खओ होहि। [आर्य गौतम। अहमप्रकाशे तिष्ठामि। त्वं द्वाररक्षको भव।]

विदूषकः—जुज्ज। [युज्यते।]

(निष्क्रान्ता बकुलावलिका।)

विदूषकः—इमं दाव फलिहक्खंभं अस्सिदो होमि। (इति तथा कृत्वा) अहो सुहप्फरिसदा सिलाविसेसस्स। [इमं तावत्स्फटिकस्तम्भमाश्रितो भवामि। अहो सुखस्पर्शता शिलाविशेषस्य।] (इति निद्रायते।)

मालविका—सखी ! मुझ अभागिनीकी तो स्वप्नमें भी महाराजसे भेंट नहीं हुई।

बकुलावलिका—महाराज ! इसका तो आप ही उत्तर दे सकते हैं।

राजा—उत्तर क्या, मैं तुम्हारी सखीसे सेवा नहीं कराना चाहता। मैं तो प्रेमकी अग्निको साक्षी बनाकर अकेलेमें ही उनकी सेवा करनेके लिए अपनेको ही इनके हाथ सौंपे देता हूँ॥१२॥

बकुलावलिका—बड़ी कृपा हुई मुझपर।

विदूषक—(घूमकर घबराहटके साथ) अरी बकुलावलिका ! देख-देख, इन नन्हें-नन्हें अशोकके वृक्षोंके पत्ते हरिण चरे जा रहा है। चल, इसे भगा तो दें।

बकुलावलिका—चलिए। (जाना चाहती है।)

राजा—देखो मित्र ! तुम इसी प्रकार सावधानीसे हमारी देखभाल करते रहना।

विदूषक—क्या यह बात भी गौतमको समझानी होगी ?

बकुलावलिका—(घूमकर) आर्य गौतम ! मैं इधर छिपकर बैठती हूँ। तुम जाकर द्वारपर चौकसी करो।

विदूषक—ठीक है।

(बकुलावलिका चली जाती है।)

विदूषक—तबतक इसी स्फटिकके खंभेके सहारे चलकर बैठता हूँ। (बैठता है) वाह ! कैसी ठंढी और चिकनी शिला है।

(ऊँघने लगता है।)

(मालविका ससाध्वसा तिष्ठति ।)

राजा—

विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥ १३ ॥

मालविका—देवीए भएण अत्तणो वि पिअं कादुं ण पारेमि । [देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।]

राजा—अयि ! न भेतव्यम् ।

मालविका—(सोपालम्भम्) जो ण भाअदि सो मए भट्टिणीणे दिट्ठसामत्थो भट्टा । [यो न बिभेति य मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता ।]

राजा—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ! ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥ १४ ॥

तदनुगृह्यतां चिरानुरक्तोऽयं जनः । (इति संश्लेषमुपजनयति ।)

(मालविका नाट्येन परिहरति ।)

राजा—(आत्मगतम्) रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः तथा हि इयम्—

हस्तं कम्पयते रुणद्धि रशनाव्यापारलोलाङ्गुलीः
स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात् ।
पातुं पक्ष्मलनेत्रमुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥ १५ ॥

(मालविका डरी-सी खड़ी रहती है)

राजा—सुन्दरी ! मेरे गलें लंगनेसे डरों मत । न जाने कितने दिनोंसे मैं तुमसे मिलनेको अधीर हो रहा था । देखो ! जैसे माधवी लता आमसे लिपट जाती है वैसे ही आओ, तुम भी मुझसे लिपट जाओ ॥ १३ ॥

मालविका—मुझे महारानीसे बड़ा डर लगता है इसलिये चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर सक रही हूँ ।

राजा—अजी ! डरनेकी क्या बात है ?

मालविका—(उलाहना देते हुए) जी हाँ, आज जो नहीं डर रहे हैं, उन महाराजका साहस, उस दिन देवी इरावतीजीके जानेपर मैं भली भाँति देख चुकी हूँ ।

राजा—अजी बिबाके समान लाल-लाल ओठोंवाली ! प्रेमी लोग यों दिखानेके लिये तो सभीसे प्रेम बनाए रक्खा करते हैं, पर देखो बड़ी-बड़ी आँखोंवाली ! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पानेकी आशापर अटके हुए हैं ॥ १४ ॥

इसलिये इतने दिनोंसे अपने प्रेममें डूबे हुए इस दासपर अब तो कृपा करो । (गले लगनेको बढ़ते हैं, मालविका नाटयसे अपनेको छुड़ाती है ।)

राजा- (मन ही मन) नई नवेलियोंकी प्रेमभरी चटकमटक भी कितनी सुन्दर होती है । क्योंकि इनके हाथ काँप रहे हैं, अपनी खुली हुई तगड़ीको ये अपनी चंचल अँगुलियोंसे थामे जा रही हैं । जब मैं बलपूर्वक गले लगाने चलता हूँ तो दोनों हाथोंसे ये अपने स्तन ढक लेती हैं

(ततः प्रविशतीरावती निपुणिका च ।)

इरावती—**हञ्जे णिउणिए ! सच्चं तुमं परिगदत्था चन्दिआए । समुद्दघरअलिन्दसइदो एआई अज्जगोदमो दिठ्ठो त्ति ।** [हञ्जे निपुणिके ! सत्यं त्वं परिगतार्था चन्द्रिकया । समुद्रगृहालिन्दशयित एकाकी आर्यगौतमो दृष्ट इति ।]

निपुणिका—**अण्णहा कहं भट्टिणीए विण्णावेमि ।** [अन्यथा कथं भट्टिन्यै विज्ञापयामि ।]

इरावती—**तेण हि तहिं एव्व गच्छम्ह संसआदो मुत्तं पिअवअस्सं पुच्छिदुं अ ।** [तेन हि तत्रैव गच्छामः संशयान्मुक्तं प्रियवयस्यं प्रष्टुं च ।]

निपुणिका—**सावसेसं विअ भट्टिणीए वअणं ।** [सावशेषमिव भट्टिन्या वचनम् ।]

इरावती—**अण्णं अ चित्तगदं अज्जउत्तं पसादेदुं ।** [अन्यच्च चित्रगतमार्यपुत्रं प्रसादयितुम् ।]

निपुणिका—**अह दाणिं कहं णु भट्टा एव्वं अणुणीअदि ।**[अथेदानीं कथं नु भर्तैवमनुनीयते।]

इरावती—**मुद्धे! जारिसो चित्तगदो णं तारिसो एव्व अण्णसंकन्तहिअओ अज्जउत्तो। केवलं उवआरादिक्कमं पमज्जिदुं अअं आरम्भो ।** [मुग्धे ! यादृशश्चित्रगतो ननु तादृश एवान्यसंक्रान्तहृदय आर्यपुत्रः । केवलमुपचारातिक्रमं प्रमार्जितुमयमारम्भः ।]

निपुणिका—**इदो इदो भट्टिणी ।** [इत इतो भट्टिनी ।]

(उभे परिक्रामतः)

और जब मैं इनके सुन्दर पलकोंकी आँखोंवाला मुँह चूमनेको बढ़ता हूँ तब ये अपना मुँह फेर लेती हैं। इस हाथा-पाईमें यद्यपि मेरे हाथ कुछ भी नहीं लग रहा है, फिर भी मुझे वैसा ही सुख मिल रहा है मानो सब इच्छाएँ पूरी होती चली जा रही हों ॥ १५ ॥

(इरावती और निपुणिका आती हैं ।)

इरावती—क्यों री निपुणिका ! क्या चन्द्रिकाने सचमुच तुझसे कहा था कि आर्य गौतम, समुद्र-घरके बाहर अकेले सोए पड़े हैं ।

निपुणिका—मैं स्वामिनीसे झूठ थोड़े ही बोलती !

इरावती—तो चलो वहीं चलकर मित्र विदूषकसे पूछ लिया जाय कि अब वे ठीक हो गए हैं या नहीं और…………

निपुणिका—स्वामिनी ! आप कुछ और कहना चाहती थीं ।

इरावती—हाँ, यही कि वहाँ चलकर चित्रमें बने हुए आर्यपुत्रको भी मना लिया जाय ।

निपुणिका—तो आप चलकर महाराजको ही क्यों नहीं मना लेतीं ।

इरावती—अरी पगली ! दूसरोंसे प्रेम करनेवाले आर्यपुत्र हमारे लिये वैसे ही हैं जैसे उनका मित्र । उस दिन मैंने उनके मनानेपर भी जो उनकी बात न माननेकी ढिठाई कर दी है उसीको धोनेके लिये मैं यह सब किए डाल रही हूँ ।

निपुणिका—इधरसे आइए स्वामिनी, इधरसे ।

(दोनों घूमती हैं ।)

(प्रविश्य)

चेटी—जेदु जेदु भट्टिणी ! भट्टिणि ! देवी भणादि—ण मे मच्छरस्स एसो कालो। तेण क्खु बहुमाण बड्ढेदुं वअस्साए सह णिअलबन्धणं किदा मालविआ। जइ अणुमण्णसि अज्जउत्तस्स पिअं कादुं तहा करेमि। ज तुह इच्छिअं तं मे भणाहि त्ति। [जयतु जयतु भट्टिनी। भट्टिनि ! देवी भणति—न मे मत्सरस्येष कालः। तेन खलु बहुमानं वर्धयितुं वयस्यया सह निगडबन्धने कृता मालविका। यद्यनुमन्यसे आर्यपुत्रस्य प्रियं कर्तुं तथा करोमि। यत्तवेष्टं तन्मे भणेति।]

इरावती—णाअरिए ! विण्णावेहि देवीं– का वअं भट्टिणी णिओजेदुं। परिअणणिग्गहेण दंसिदो मइ अणुग्गहो। कस्स वा पसादेण अअं जणो वड्ढदि त्ति। [नागरिके ! विज्ञापय देवीम्—का वयं भट्टिनीं नियोजयितुम्। परिजननिग्रहेण दर्शितो मय्यनुग्रहः। कस्य वा प्रसादेनायं जनो वर्धति इति।]

चेटी—तह। [तथा] (इति निष्क्रान्ता।)

निपुणिका—(परिक्रम्यावलोक्य च) भट्टिणि ! एसो दुआरुद्देसे समुद्दघरअस्स विपणिगदो विअ बलीवद्दो अज्जगोदमो आसीणो एव्व णिद्दाअदि। [भट्टिनि ! एष द्वारोद्देशे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव बलीवर्द आर्यगौतम आसीन एव निद्रायते।]

इरावती—अच्चाहिदं। ण क्खु सावसेसो विसविआरो हवे। [अत्याहितम्। न खलु सावशेषो विषविकारो भवेत्।]

निपुणिका—पसण्णमुहवण्णो दीसइ। अवि अ धुवसिद्धिणा चिइच्छदो। त से असंकणिज्जं पावं। [प्रसन्नमुखवर्णो दृश्यते। अपि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितः। तदस्याशङ्कनीयं पापम्।]

बिदूषकः—(उत्स्वप्नायते) भोदि मालविए ! [भवति मालबिके।]

चेटी—(आकर) जय हो, स्वामिनीकी जय हो। महारानी ने कहलाया है कि अब हम लोगोंको महाराजसे रूठे नहीं रहना चाहिए। मैंने तुम्हारी बात रखनेके लिए ही मालविका और उसकी सखीको बाँध रक्खा है। यदि आर्यपुत्रको मनानेकी बात तुम्हें भी जँचती हो तो मैं उसका उपाय करूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वह मुझे कहला देना।

इरावती—देखो नागरिका ! महारानीसे जाकर कह देना कि उनसे काम करानेवाली हम कौन होती हैं। अपनी दासियोंको बाँधकर उन्होंने मुझपर कृपा दिखाई है। उनकी कृपा न हो तो हम लोगोंका इतना नाम कैसे हो।

चेटी—अच्छा। (चली जाती है।)

निपुणिका—(घूमकर और देखकर) यह देखिये स्वामिनी ! जैसे हाट में लेटा हुआ साँड़ नींद लेता है वैसे ही आर्य गौतम भी समुद्रघरके द्वारपर बैठे खर्राटे भर रहे हैं।

इरावती—यह तो बड़ा बुरा हुआ ? कहीं विषका विकार अभी बचा न रह गया हो।

निपुणिवा—पर इनका मुँह तो बड़ा प्रसन्न दिखाई दे रहा है और फिर स्वयं ध्रुवसिद्धिने इनका विष उतारा है। इसलिए घबरानेकी कोई बात नहीं है।

विदूषक—(स्वप्नमें बड़बड़ाता हुआ) हे देवी मालविका !

निपुणिका—सुदं भट्टिणीए। कस्स एसो अत्तणिओअसंपादणे विस्ससणिज्जो हदासो। सव्वकालं इदो एव्व सोत्थिवाअणमोदएहिं कुक्खि पूरिअ संपदं मालविअं सिविणावेदि। [श्रुतं भट्टिन्या। कस्यैष आत्मनियोगसम्पादने विश्वसनीयो हताशः। सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचनमोदकैः कुक्षि पूरयित्वा साम्प्रतं मालविकां स्वप्नायते।

विदूषकः—इरावदीं अदिक्कमन्ती होहि। [इरावतीमतिक्रामन्ती भव।]

निपुणिका–एदं अच्चाहिदं। इमं भुअंगभीरुअं ब्रह्मबन्धुं इमिणा भुअंगकुडिलेण दंडकट्ठेण खंभंतरिदा भाअइस्सं। [एतदत्याहितम्। इमं भुजंगभीरुं ब्रह्मबन्धुमनेन भुजङ्गकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भान्तरिता भाषयिष्यामि।]

इरावती—अरिहदि एव्व किदग्घो उवद्दवस्स। [अर्हत्येव कृतघ्न उपद्रवस्य।]

(निपुणिका विदूषकस्योपरि दण्डकाष्ठं पातयति।)

विदूषकः–(सहसा प्रबुध्य) अविहा अविहा। भो वअस्स। सप्पो मे उवरि पडिदो। [अविधा अविधा। भो वयस्य। सर्पो मे उपरि पतितः।]

राजा—(सहसोपसृत्य) सखे! न भेतव्यं न भेतव्यम्।

मालविका—(अनुसृत्य) भट्टा! मा दाव सहसा णिक्कम। सप्पो त्ति भणीअदि। [भर्तः! मा तावत्सहसा निष्क्राम। सर्प इति भण्यते।]

इरावती—हद्धी हद्धी। भट्टा! इदो एव्व धावदि। [हा धिक् हा धिक्। भर्ता इत एव धावति।]

विदूषकः—(सप्रहासम्) कहं दंडकट्ठं एदं। अहं उण जाणे जं मए केदईकंटएहिं डंसं करिअ सप्पस्स उवरि अअसो किदं तं मे फलिदं त्ति। [कथं दण्डकाष्ठमेतत्। अहं पुनर्जाने यन्मया केतकीकण्टकैर्दंशं कृत्वा सर्पस्योपर्ययशः कृतं तन्मे फलितमिति।]

निपुणिका—सुना स्वामिनी! अपना काम करानेके लिए इस अभागेका कौन विश्वास करेगा। सदा तो यह आपके दिए हुए पूजाके लड्डुओंसे पेट भरता रहा है, आज स्वप्नमें इसे मालविका सूझ रही है।

विदूषक—तुम इरावतीसे भी आगे बढ़ आओ।

निपुणिका यह तो बड़ी बुरी बात है। साँपसे डरनेवाले इस बाँभनको अब इसी साँप-जैसी टेढ़ी लकड़ीसे ओटमें खड़ी होकर डराती हूँ।

इरावती—ऐसे कृतघ्नके साथ ऐसी ही कुचाल करनी चाहिए।

(निपुणिका विदूषकके ऊपर लकड़ी फेंक देती है।)

विदूषक—(सहसा जागकर) हाय, हाय। अरे मित्र! मुझपर साँप आ गिरा है।

राजा–(सहसा आगे बढ़कर) डरो मत मित्र! डरो मत।

मालविका—(पीछे-पीछे) स्वामी! ऐसे अचानक मत जाइए। वहाँ साँप बताते हैं।

इरावती—हाय, हाय! स्वामी इधर ही दौड़े चले आ रहे हैं!

विदूषक—(हँसकर) अरे! यह तो लकड़ी है। मैं तो समझा था कि मैंने केतकीके काँटेसे साँपके दाँतोंका चिह्न बनाकर जो साँपपर कलंक लगाया था उसीका मुझे फल मिल रहा है।

(प्रविश्य पटाक्षेपेण)

बकुलावलिका—मा दाव भट्टा पविसदु। इह कुडिलगई सप्पो विअ दीसदि। [मा तावद्भर्ता प्रविशतु। इह कुटिलगतिः सर्प इव दृश्यते।]

इरावती—(स्तम्भान्तरिता राजानं सहसोपेत्य) अवि णिव्विग्घमणोरहो दिवासंकेदो मिहुणस्स। [अपि निर्विघ्नमनोरथो दिवासङ्केतो मिथुनस्य।]

(सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः।)

राजा—प्रिये ! अपूर्वोऽयमुपचारः।

इरावती—वउलावलिए ! दिट्ठिआ दूच्चाहिआरविसआ संपुण्णा दे पइण्णा। [बकुलावलिके ! दिष्टचा दूत्याभिसारविषया संपूर्णा ते प्रतिज्ञा]

बकुलावलिका—पसीददु भट्टिणी ! किं मए किदं त्ति देवो पुच्छिदव्वो। दद्दुराः वाहरन्ति त्ति किं देवो पुहवीएँ वरिसिदुं विरमदि। [प्रसीदतु भट्टिनी ! किं मया कृतमिति देवः प्रष्टव्यः। दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितुं विरमति।]

विदूषकः—मा दाव। भोदीए दंसणमत्तेण अत्तभवं पणिवादलंघणं विसुमरिदो। तुमं उण अज्जवि पसादं ण गेण्हसि। [मा तावत्। भवत्या दर्शनमात्रेणात्रभवान्प्रणिपातलंघनं विस्मृतः। त्वं पुनरद्यापि प्रसादं न गृह्णासि।]

इरावती—कुविदा दाणिं अहं किं करिस्सं। [कुपितेदानीमहं किं करिष्यामि।]

राजा—एवमेतदस्थाने कोप इत्यनुपपन्नं त्वयि। तथा हि

कदा मुखं वरतनु कारणादृते तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम्।
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति॥ १६॥

बकुलावलिका—(पर्दा हटाते हुए आकर) स्वामी ! उधर न जाइए। वहाँ टेढ़ा चलता हुआ कुछ साँप-जैसा दिखाई दे रहा है।

इरावती—(खंभेके पीछे छिपी हुई राजाके पास आकर) कहिए ! दिनमें मिलनेका संकेत करनेवाले जोड़ेके मनकी साध पूरी हो गई न !

(सब इरावतीको देखकर घबरा जाते हैं।)

राजा—प्यारी ! यह तुम कैसी अनोखी बात कर रही हो ?

इरावती—बकुलावलिका ! तुझे बधाई है कि इन दोनोंको मिलानेकी जो तूने प्रतिज्ञा की थी वह आज पूरी हो गई।

बकुलावलिका—क्रोध न करें स्वामिनी ! मैंने क्या किया है ? देवसे ही पूछ लीजिए। पृथ्वीपर पानी बरसानेके लिये दैव कहीं मेंढकोंकी टर्र-टर्रकी बात थोड़े ही जोहते हैं।

विदूषक—अजी ! ऐसा न कहिए। उस दिन महाराज आपके पैरों पड़े, हाथ जोड़े खड़े रहे, पर आप थीं कि टससे मस न हुईं, रूठकर चल दीं और इधर महाराजकी भलमनसाहत देखिए कि आपको देखते ही उन्होंने पिछली सब बातें उठाकर एक ओर रख दीं, फिर भी आप अभीतक खिंची बैठी हैं।

इरावती—खिंची होकर भी मैं इनका क्या कर लूँगी ?

राजा—पर बिना बातके रूठना भी तो तुम्हें शोभा नहीं देता। क्योंकि सुन्दरी ! बताओ तो इससे पहले क्या कभी तुम्हारा मुँह बिना कारणके क्षण भरके लिये भी लाल हुआ है ? बताओ बिना ग्रहणकी रात आए क्या कभी चन्द्र-ग्रहण लगा करता है॥ १६॥

इरावती— अट्ठाणे त्ति सुट्ठु वाहरिदं अज्जउत्तेण। अण्णसंकंतेसु अम्हाणं भाअहेएसु जइ उण कुप्पेअं तदो णं अहं हस्सा भवेअं। [अस्थान इति सुष्ठु व्याहृतमार्यपुत्रेण। अन्यसंक्रान्तेष्वस्माकं भागधेयेषु यदि पुनः कुप्येयं ततो नन्वहं हास्या भवेयम्।]

राजा—त्वमन्यथा कल्पयसि। अहं पुनः सत्यमेव कोपस्थानं न पश्यामि। कुतः—

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च ॥ १७ ॥

इरावती—णिउणिए ! गच्छ। देवीं विण्णावेहि—दिट्ठो भवदीए पक्खवादो णं अज्ज त्ति। [निपुणिके ! गच्छ। देवीं विज्ञापय—दृष्टो भवत्याः पक्षपातो नन्वद्येति।]

निपुणिका—तह। [तथा] (इति निष्क्रान्ता।)

विदूषकः— (आत्मगतम्) अहो, अणत्थो संपडिदो। बंधणब्भट्टो गिहकवोदो बिडालिआए आलोए पडिदो। [अहो अनर्थः संपतितः। बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो बिडालिकाया आलोके पतितः।]

निपुणिका—(प्रविश्यापवार्य) भट्टिणि ! जदिच्छादिट्ठाए मालविआए आचक्खिदं एव्वं क्खु एदं णिव्वुत्तं त्ति। [भट्टिनि ! यदृच्छादृष्ट्या मालविकयाख्यातम्— एवं खल्वेतन्निर्वृत्तमिति।] (इति कर्णे कथयति।)

इरावती—(आत्मगतम्) उववण्णं। सच्चं अअं एत्थ बह्मबन्धुणा किदी पओआ। (विदूषकं विलोक्य प्रकाशम्) इअं इमस्स कामतंतसचिवस्स णीदी। [उपपन्नम् सत्यमयमत्र ब्रह्मबन्धुना कृतः प्रयोगः। इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः।]

विदूषकः—भोदि ! जदि णीदिगदं एक्कं वि अक्खरं पढेअं णं मए अत्तभवं पेसिदो हुवे ! [भवति ! यदि नीतिगतमेकमप्यक्षरं पठेयं ननु मयात्रभवान्प्रेषितो भवेत्।]

इरावती—यह तो आर्यपुत्रने ठीक कहा कि मैं बिना कारणके रूठ रही हूं। हमारे स्वामी कहीं और मन लगावें और उसपर हम रूठने लगें, यह तो सचमुच जग-हँसाईकी बात है।

राजा—तुम तो सब बातें उल्टी ही समझा करती हो। मुझे तो सचमुच इसमें रूठनेकी कोई बात दिखाई ही नहीं देती है। क्योंकि मैंने तो इन दोनोंको इसीलिये छोड़ दिया कि अपने सेवकोंको उत्सवके दिन अपराध करनेपर भी बाँधकर नहीं रखना चाहिए। वहाँसे छूटनेपर ये दोनों मुझे प्रणाम करनेके लिये ही सीधे यहाँ चली आई थीं ॥ १७ ॥

इरावती—निपुणिका ! जाओ तो, महारानीसे कह आओ कि आप हमें जैसा मानती हैं, वह आज हमने देख लिया।

निपुणिका—जी, अच्छा। (चली जाती है।)

विदूषक—(मन ही मन) अरे यह तो सब गड़बड़-घोटाला हो गया। पिंजड़ेसे छूटा हुआ कबूतर बिल्लीके सामने आ पड़ा।

निपुणिका—(आकर अलग) स्वामिनी ! अभी माधविका मुझे मिली थी, उसने बतलाया कि यह सब ऐसे हुआ है। (कानमें कहती है।)

इरावती—(मन ही मन) समझ गई, यह सब इसी बंभनैटेकी करतूत है। (विदूषकको देखकर प्रकट) यह सब इसी प्रेम-नीतिके मंत्रीकी चाल है।

विदूषक—देवि ! यदि मैं नीतिका एक अक्षर भी पढ़ा होता तो क्या महाराजको मैं कभी ऐसे फँसने देता ?

राजा—(आत्मगतम्) कथं नु खल्वस्मात्सङ्कटादात्मानं मोचयिष्यामि ।

(प्रविश्य)

जयसेना—देव ! कुमारी वसुलच्छी कन्दुअं अणुधावंदी पिंगलवाणरेणं बलीअं तासिदा अंकणिसण्णा देवीए पवादकिसलअं विअ वेवमाणा ण किंवि पकिदि पडिवज्जइ । [देव ! कुमारी बसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिङ्गलवानरेण बलवत्त्रासिताङ्कनिषण्णा देव्याः प्रवातकिसलयमिव वेपमाना न किंचित्प्रकृतिं प्रतिपद्यते ।]

राजा—कष्टं कष्टम् । कातरो बालभावः ।

इरावती—(सावेगम्) तुवरदु अज्जउत्तो णं समासासिदुं । मा से संतासजणिदो विआरो बड्ढदु । [त्वरतामार्यपुत्र एनां समाश्वासयितुम् । मास्याः संत्रासजनितो विकारो वर्धताम् ।]

राजा—अयमेनामहं संज्ञापयामि । (इति सत्वरं परिक्रामति ।)

विदूषकः—साहु रे पिङ्गलबाणर साहु । परित्तादो तुए सपक्खो । [साधु रे ! पिङ्गलवानर साधु । परित्रातस्त्वया स्वपक्षः ।]

(निष्क्रान्तो राजा बिदूषकश्च इरावती निपुणिका प्रतीहारी च ।)

मालविका—हला ! देविं चिन्तिअ वेवदि मे हिअअं । ण जाणे अदो वरं किं वा अणुहविदव्वं हविस्सदि त्ति । [सखि ! देवीं चिन्तयित्वा वेपते मे हृदयम् । न जानेऽतः परं किं वानुभवितव्यं भविष्यतीति ।]

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं अच्चरिअं अपुण्णे एव्व पंचरत्ते दोहलस्स मुउलेहिं संणद्धो तवणीआसोओ जाव देवीए णिवेदेमि । [आश्चर्यमाश्चर्यम् । अपूर्णं एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः संनद्धस्तपनीयाशोकः यावद्देव्यै निवेदयामि ।]

राजा—(मन ही मन , अब इस संकटसे कैसे छुटकारा पाया जाय ?

जयसेना—(आकर) देव ! कुमारी वसुलक्ष्मी गेंदके पीछे दौड़ ही रही थीं कि इतनेमें ही एक पीला बन्दर वहाँ आ पहुँचा । उसे देखकर कुमारी बहुत डर गई हैं और देवीकी गोदमें पड़ी हुई आँधीसे हिलते हुए पत्तेके समान थर-थर काँपे जा रही हैं । अभीतक उन्हें चेत नहीं हो पाया है ।

राजा—बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ । बच्चोंका तो डरनेका स्वभाव ही होता है ।

इरावती—(घबराकर) चलिए आर्यपुत्र ! चलिए झटपट चलकर उसे सँभालिए । कहीं इस घबराहटमें उसे और कुछ न हो जाय ।

राजा—मैं चलकर अभी उसे चेतमें किए लेता हूँ । (झटपट घूमते हैं ।)

विदूषक—वाह रे पीले बन्दर ! वाह ! आज तो तुमने हमारे महाराजको सचमुच अच्छा बचा लिया ।

(राजा, विदूषक, इरावती, निपुणिका, प्रतीहारी सब चले जाते हैं ।)

मालविका—सखी ! जब महारानीका ध्यान आता है तब मेरे तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं । अब न जाने क्या-क्या दंड भोगना भाग्यमें बदा है ।

(नेपथ्यमें)

बड़ा आश्चर्य है ! बड़ा आश्चर्य है । अभी इस सुनहरे अशोकका दोहद (चाह) पूरा हुए पाँच रातें भी नहीं बीत पाईं कि उसमें कलियाँ आ फूटी हैं । चलती हूँ, महारानीको बता आती हूँ ।

(उभौ श्रुत्वा प्रहृष्टे ।)

बकुलावलिका—आस्ससिदु सही । सच्चप्पइण्णा देवी । [आश्वसितु सखी ! सत्यप्रतिज्ञा देवी ।]

मालविका—तेण हि पमदवणपालिआए पिट्ठदो होमि । [तेन हि प्रमदवनपालिकायाः पृष्ठतो भवामि ।]

बकुलावलिका—तह । [तथा ।]

(इति निष्क्रान्ते ।)

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

(दोनों सुनकर प्रसन्न होती हैं ।)

बकुलावलिका—लो सखी ! धीरज धरो । देवी एक बार जो कह देती हैं उससे पीछे नहीं हटतीं ।

मालविका—तो चलो, हम लोग भी प्रमदवनकी मालिनके पीछे-पीछे वहीं चली चलें ।

बकुलावलिका—चलो ।

(दोनों चली जाती हैं ।)

॥ चौथा अङ्क पूर्ण हुआ ॥

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्युद्यानपालिका ।)

उद्यानपालिका—**उवक्खितो मए किदसक्कारविहिणो तवणीआसोअस्स वेदिआबंधो जाव अणुट्ठिदणिओअं अत्ताणं देवीए णिवेदेमि ।** (परिक्रम्य) **अहो दैवस्स अणुकम्पणीआ मालविआ । तस्सिं तह चंडिआ देवी इमिणा असोअकुसुमवुत्तन्तेण पसादसुमुही हविस्सदि कहिं णु क्खु देवी हवे ।** (विलोक्य) **अम्हो एसो देवीए परिअणब्भंतरो किवि जदुमुद्दालंछिदं मंजूसं गेण्हिअ चदुस्सालादो कुज्जो सारसिओ णिक्कामदि । पुच्छिस्सं दाव ण ।** (ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टहस्तः कुब्जः) **सारसिअ ! कहिं पत्थिदोसि ।** [उपक्षिप्तो मया कृतसत्कारविधिस्तपनीयाशोकस्य वेदिकाबन्धः । यावदनुष्ठितनियोगमात्मानं देव्यै निवेदयामि । अहो दैवस्यानुकम्पनीया मालविका । तस्यां तथा चण्डी देव्यनेनाशोककुसुमवृत्तान्तेन प्रसादसुमुखी भविष्यति । कुत्र नु खलु देवी भवेत् । अहो एष देव्याः परिजनाभ्यन्तरः किमपि जतुमुद्रालाञ्छितां मञ्जूषां गृहीत्वा चतुःशालातः कुब्जः सारसिको निष्क्रामति । प्रक्ष्यामि तावदेनम् । सारसिक ! कुत्र प्रस्थितोऽसि ।]

सारसिकः—**महुअरिए ! विज्जाभरिआणं बह्मणाणं णिच्चदक्खिणं मासिईं पुरोहिदस्स हत्थं पावइस्सं ।** [मधुकरिके ! विद्याभरितानां ब्राह्मणानां नित्यदक्षिणां मासिकीं पुरोहितस्य हस्तं प्रापयिष्यामि ।]

मधुकरिका—**अह किंणिमित्तं ।** [अथ किंनिमित्तम् ?]

सारसिकः—**जदप्पहुदि सेणावदी जण्णतुरंगरक्खणे णिउत्तो भट्टदारओ वसुमित्तो तदप्पहुदि तस्स आउसणिमित्तं णिक्कसदसुवण्णपरिमाणं दक्खिणं देवी दक्खिणीएहिं**

पाँचवाँ अङ्क

(मालिन आती है ।)

मालिन—मैंने सब घास-पात निकालकर इस सुनहरे अशोककी मेड़ ठीक ढंगसे बाँध दी है। अब वहाँका काम सब ठीक हो गया है। चलती हूँ, देवीको बताए आती हूँ, (घूमकर) भगवान्‌ने बेचारी मालविकाकी लाज रख ली। उसपर बिगड़ी बैठी हुई महारानीको जब अशोकके फूलनेका समाचार मिलेगा तो वे फड़क उठेंगी। पर इस समय महारानी होंगी कहाँ ? (देखकर) अरे ! यह महारानीके रनिवासका कुबड़ा सेवक सारसिक कोई लाखसे बन्द की हुई पिटारी लिए रनिवाससे निकला चला आ रहा है। चलती हूँ, इसीसे पूछ देखती हूँ। (हाथमें पिटारी लिए कुबड़ा दिखाई देता है।) कहो सारसिक ! किधर चले ?

सारसिक—मधुकरिका ! विद्वान् ब्राह्मणोंको सदा महीने-महीने जो दक्षिणा दी जाती है वही सब बाँटनेके लिये पुरोहितजीको सौंपने जा रहा हूँ।

मधुकरिका—यह दक्षिणा क्यों बाँटी जा रही है ?

सारसिक—जबसे अश्वमेध यज्ञके घोड़ोंकी रक्षाके लिये राजकुमार वसुमित्र सेनापति बनाए

परिग्गाहेदि । [यतःप्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरंगक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृति तस्या-युर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां दक्षिणां देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति ।]

मधुकरिका—अह कहिं देवी। किं वा अणुचिट्ठदि। [अथ कुत्र देवी। किं वानुतिष्ठति।]

सारसिकः—मंगलघरे आसणत्था भविअ विदब्भविसआदो भादुणा वीरसेणेण पेसिदं लेहं लेहकरेहिं वाइअमाणं सुणादि। [मङ्गलगृहे आसनस्था भूत्वा विदर्भविषयाद्भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लेखं लेखकरैर्वाच्यमानं शृणोति।]

मधुकरिका—को उण विदब्भराअवुत्तन्तो सुणीअदि। [कः पुनर्विदर्भराजवृत्तान्तः श्रूयते।]

सारसिकः—वसीकिदो क्खु वीरसेणप्पमुहेहिं भत्तुओ विजअदंडेहिं विदब्भणाहो। मोइदो से दाआदो माहवसेणो दूदो अ तेण महासाराणि रअणाणि वाहणाणि सिप्पआरिआ-भूइट्ठं परिअणं उवाअणीकरिअ भट्टिणो सआसं पेसिदो त्ति। [वशीकृतः किल वीरसेन-प्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः। मोचितोऽस्य दायादो माधवसेनः। दूतश्च तेन महासाराणि रत्नानि वाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनमुपायनीकृत्य भर्तुः सकाशं प्रेषित इति।]

मधुकरिका—गच्छ, अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं। अहं वि देविं पेक्खिस्सं। [गच्छानु-तिष्ठात्मनो नियोगम्। अहमपि देवीं प्रेक्षिष्ये।]

(इति निष्क्रान्तौ।)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति प्रतीहारी)

प्रतीहारी—आणत्तम्हि असोअसक्कारवावुदाए देवीए—विण्णावेहि अज्जउत्तम्। इच्छम्मि अज्जउत्तेण सह असोअरुक्खस्स पसूणलच्छी पच्चक्खीकादुं त्ति। ता जाव धम्मासण गदं देवं पडिवालेमि। [आज्ञप्तास्म्यशोकसत्कारव्यापृतया देव्या—विज्ञापयार्यपुत्रम्।

गए हैं, तभीसे उनके चिरंजीवी होनेके लिये योग्य ब्राह्मणोंको सौ निष्कके बराबर धन दक्षिणामें बाँटा जाता है। (निष्क-१३५ से १८८ तोले सोना या १६ माशेका सोनेका सिक्का।)

मधुकरिका—अच्छा, यह तो बताओ कि महारानी है कहाँ और क्या कर रही है?

सारसिक—महारानीके भाई वीरसेनने विदर्भसे जो चिट्ठी भेजी है, उसीको वे मंगलघरमें बैठी अपने लेखकसे बँचवाकर सुन रही हैं।

मधुकरिका—विदर्भके राजाका क्या समाचार मिला?

सारसिक—महाराजकी विजयिनी सेना लेकर वीरसेनने विदर्भके राजाको हराकर उसके चचेरे भाई माधवसेनको छुड़ा लिया है। साथ ही उन्होंने एक दूतके साथ बहुतसे अनमोल रत्न, घोड़े और बहुत अच्छे-अच्छे कलाकार सेवक, महाराजके पास भेंटमें पठा भेजे हैं।

मधुकरिका—अच्छा, जाओ, तुम भी अपना काम कर आओ, मैं भी अभी महारानीके दर्शनको जाती हूँ। (दोनों जाते हैं।)

॥ प्रवेशक ॥

(प्रतीहारी आती है।)

प्रतीहारी—अशोककी पूजाकी धूम-धाममें लगी हुई महारानीने आज्ञा दी है कि जाओ महाराजसे कह दो कि मैं चाहती हूँ आर्यपुत्रके साथ ही चलकर फूले हुए अशोककी शोभा देखूँ।

इच्छाम्यार्यपुत्रेण सहाशोकवृक्षस्य प्रसूनलक्ष्मी प्रत्यक्षीकर्तुमिति। तद्यावद्धर्मासनगतं देवं प्रतिपालयामि।] (इति परिक्रामति।)

(नेपथ्ये वैतालिकौ)

प्रथमः—विजयतां विजयतां देवः। दिष्टया दण्डैरेव रिपुशिरःसु वर्तते देवः।

परभृतकलव्याहरेषु त्वमात्तरतिर्मधुं नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वमङ्ग इवाङ्गवान्।
विजयकरिणामालानत्वं गतैः प्रबलस्य ते वरद वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः ॥१॥

द्वितीयः—

विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपमसूरिभि-
श्चरितमुभयोर्मध्ये कृत्य स्थितं क्रथकैशिकान्।
तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिघगुरुभिर्दोर्भिर्विष्णोः प्रसह्य च रुक्मिणीम् ॥ २ ॥

प्रतीहारी—**एसो जअसद्दसूइदप्पत्थाणो भट्टा इदो एव्व आअच्छदि। अहं वि दाव इमस्स पमुहादो लोआदो ओसरिअ खम्भन्तरिदा होमि।** [एष जयशब्दसूचितप्रस्थानो भर्तेत एवागच्छति। अहमपि तावदस्य प्रमुखाल्लोकादपसृत्य स्तम्भान्तरिता भवामि।] (इत्येकांते स्थिता।)

(प्रविश्य सवयस्यो राजा)

राजा—

कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसंप्रयोगां श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं बलैश्च।
धाराभिरातप इवाभिहतं सरोजं दुःखायते मम मनः सुखमश्नुते च ॥ ३ ॥

तो चलती हूँ न्यायासनपर बैठे हुए महाराजके पास ही जा पहुँचती हूँ। (घूमती है।)

(नेपथ्यमें दो वैतालिक)

पहला—जय हो, देवकी जय हो। बधाई है महाराजको कि आपने अपनी शक्तिसे अपने शत्रुओंको पैरों तले रौंद दिया। मनचाहा वर देनेवाले राजा! आप तो इधर साक्षात् कामदेवके समान, कोयलकी सुन्दर कूक सुनते हुए विदिशाके तीरपर फैले हुए उपवनोंमें अपना वसन्त बिता रहे हैं, उधर आपका बलवान् शत्रु वरदानदीके तीरपर खड़े उन वृक्षोंके साथ-साथ झुका दिया गया है जो अब आपकी सेनाके विजयी हाथियोंके बाँधनेके खूँटे बने खड़े हैं ॥ १ ॥

दूसरा—देवताओंके समान राजन्! विदर्भमें दो ही तो बड़ी-बड़ी घटनाएं हुई हैं। एक तो आपका अपनी सेना भेजकर विदर्भके राजाको हराना, दूसरी, भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उनकी अर्गलाके समान बड़ी-बड़ी भुजाओंसे रुक्मिणीका हरा जाना। वीरोंसे प्रेम रखनेवाले कवि लोग अब इन दोनों ही घटनाओंके गीत बना-बनाकर गा रहे हैं ॥ २ ॥

प्रतीहारी—इस जयजयकारसे जान पड़ता है कि महाराज वहाँसे उठकर इधर ही चले आ रहे हैं। मैं भी उनके आगे-आगे चलती हुई भीड़से बचकर खंभेके पीछे जा खड़ी होती हूँ।

(एक ओर खड़ी हो जाती है।)

(विदूषकके साथ राजा आते हैं।)

राजा—एक ओर जब मैं उस दुर्लभ प्यारी की बात सोचता हूँ और दूसरी ओर जब मैं सुनता हूँ कि मेरी सेनाने विदर्भके राजाको हरा दिया है तो मेरा मन उस कमलके समान एक साथ

विदूषकः—जह अहं पेक्खामि तह एक्कन्तसुहिदो भवं हविस्सदि। [यथाहं प्रेक्ष्ये तथा एकान्तसुखितो भवान्भविष्यति ।]

राजा—कथमिव ।

विदूषकः—अज्ज किल देवीए एव्वं पंडितकोसिई भणिदा– भअवदि ! जं तुमं पसाहणगव्वं वहसि तं दंसेहि मालविआए सरीरे विवाहणेवत्थं त्ति । ताए सविसेसालंकिदा मालविआ । तत्तहोदी कदावि पूरए भवदोवि मणोरहं । [अद्य किल देव्यैवं पण्डितकौशिकी भणिता—भगवति ! यत्त्वं प्रसाधनगवं वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे विवाहनेपथ्यमिति । तया सविशेषालंकृता मालविका । तत्रभवती कदाचित्पूरयेद्भवतोऽपि मनोरथम् ।]

राजा –सखे ! मदपेक्षामनुप्राप्य अनया धारिण्या पूर्वाचरितैः संभाव्यत एवैतत् ।

प्रतीहारी--(उपगम्य) जेदु जेदु भट्टा । देवी विण्णावेदि– तवणीआसोअस्स कुसुमसहदंसणेण मह आरंभो सफलो करीअदु त्ति । [जयतु जयतु भर्ता । देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसहदर्शनेन ममारम्भः सफलः क्रियतामिति ।]

राजा—ननु तत्रैव देवी तिष्ठति ।

प्रतीहारी—अह इं । जहरिहसंमाणसुहिअं अंतेउरं विसज्जिअ मालविआपुरोएण अत्तणो परिअणेण सह देवं पडिवालेदि । [अथ किम् । यथार्हसम्मानसुखितमन्तःपुरं विसृज्य मालविकापुरोगेणात्मनः परिजनेन सह देवं प्रतिपालयति ।]

राजा—(सहर्षं विदूषकं विलोक्य) जयसेने ! गच्छाग्रतः ।

प्रतीहारी—एदु एदु देवो । [एत्वेतु देवः ।] (इति परिक्रामति ।)

दुखी और सुखी होता है जिसपर कड़ी धूप भी पड़ रही हो और साथ-साथ पानी भी बरस रहा हो ॥ ३ ॥

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि अब आपको पूरा सुख मिल जायगा ।

राजा—कैसे ?

विदूषक—आज पंडिता कौशिकीसे महारानीने कहा था कि भगवती आपको सिंगार करनेकी विद्याका जो घमंड है वह आप मालविकाको विवाहके सिंगारसे सजाकर दिखाइए । इसपर उन्होंने मालविकाको बड़े सुहावने ढंगसे सिंगारा है । कौन जाने वे ही आपकी साध पूरी कर डालें ।

राजा—हाँ मित्र ! महारानी धारिणीने पहले भी मेरे मनकी बहुत-सी बातें पूरी की हैं इसलिये यह भी कर दें तो कोई अचरज नहीं है ।

प्रतीहारी—(पास जाकर) जय हो, स्वामीकी जय हो ! देवीने कहलाया है कि मेरे साथ चलकर उस फूले हुए सुनहरे अशोकको देखकर मेरा सारा उत्सव सफल कर दीजिए ।

राजा –क्या देवी वहींपर हैं ?

प्रतीहारी—जी हाँ ! रनिवासकी सब रानियोंका यथायोग्य आदर करके वे मालविका और दासियोंके साथ बैठी महाराजकी बाट जोह रही हैं ।

राजा –(प्रसन्न होकर विदूषककी ओर देखकर) जयसेना ! चलो तो आगे-आगे ।

प्रतीहारी—आइए देव ! चले आइए । (घूमते हैं ।)

विदूषकः—(विलोक्य) भो वअस्स ! किंवि परिवुत्तजोव्वणो विअ वसन्तो पमदवणे लक्खीअदि । [भो वयस्य ! किंचित्परिवृत्तयौवन इव वसन्तः प्रमदवने लक्ष्यते ।]

राजा—यथाह भवान् ।

अग्रे विकीर्णकुरबकफलजालकभिद्यमानसहकारम् ।
परिणामाभिमुखमृतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः ॥ ४ ॥

विदूषकः—(परिक्रम्य) अहो ! अअं सो दिण्णणेवत्थो विअ कुसुमत्थवएहिं तवणीआसोओ । ओलोअदु भवं । [अहो ! अयं स दत्तनेपथ्य इव कुसुमस्तवकैस्तपनीयाशोकः । अवलोकतां भवान् ।]

राजा—स्थाने खलु प्रसवमन्थरोऽयमभूत् । यदिदानीमनन्यसाधारणीं शोभामुद्वहति । पश्य —

सर्वाशोकतरूणां प्रथमं सूचितवसन्तविभवानाम् ।
निर्वृत्तदोहदेऽस्मिन्संक्रान्तानीव कुसुमानि ॥ ५ ॥

विदूषकः—तह । भो वीसद्धो होहि । अम्हेसु संणिहिदेसुवि धारिणी पासपरिवट्टिणीं मालविअं अणुमण्णेदि । [तथा । भोः विश्रब्धो भव । अस्मासु संनिहितेष्वपि धारिणी पार्श्वपरिवर्तिनीं मालविकामनुमन्यते ।]

राजा—(सहर्षम्) सखे ! पश्य ।

मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया ।
विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव ॥ ६ ॥

(ततः प्रविशति धारिणी, मालविका, परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः)

विदूषक—देखो मित्र ! जान पड़ता है प्रमदवनमें वसन्तकी जवानी फिर लौट आई है ।

राजा—ठीक कहते हो तुम । इस जाते हुए वसन्तमें भी बिखरे हुए कुरबकके फूल, मनमें जवानीकी लहरें उठाने लगे हैं ॥ ४ ॥

विदूषक—(घूमकर) फूलोंके गुच्छोंसे लदा हुआ यह सुनहरा अशोक ऐसा जान पड़ता है मानो इसका भी किसीने सिंगार कर के सजा सँवारा हो । देखिए तो ।

राजा—इसका देरसे फूलना अच्छा ही हुआ, क्योंकि अब इसके आगे सभी वृक्षोंकी शोभा फीकी लगने लगी है । देखो ! ऐसा जान पड़ता है कि जिन अशोकके वृक्षोंने पहले फूलकर वसन्तके आनेकी सूचना दी थी, उन सबने अपने-अपने फूल इसी अशोकके वृक्षको दे डाले हैं जिसके फूलनेका उपाय अभी थोड़े दिन हुए किया गया था ॥ ५ ॥

विदूषक—हाँ लीजिए, अब अपना काम बना ही समझिए क्योंकि हम लोगोंके आ पहुँचनेपर भी महारानी धारिणी इस मालविकाको अपने पास ही बैठनेके लिये कह रही हैं ।

राजा—(प्रसन्न होकर) देखो मित्र ! मेरा आदर करनेके लिये उठी हुई महारानीके पीछे, अपने कमल-जैसे दोनों हाथ खोले खड़ी हुई मेरी प्यारी मालविका ऐसी लग रही है मानो पृथ्वीके पीछे राजलक्ष्मी खड़ी हुई हो ॥ ६ ॥

(धारिणी, मालविका, परिव्राजिका और उनकी दासियाँ दिखाई देती हैं ।)

मालविका—(आत्मगतम्) जाणामि णिमित्तं कोदुआलंकारस्स । तह वि मे हिअअं बिसिणीपत्तागदं विअ सलिलं ववदि । अवि अ दक्खिणेदरं वि मे णअणं बहुसो फ़ुरदि । [जानामि निमित्तं कौतुकालंकारस्य । तथापि मे हृदयं विसिनीपत्रगतमिव सलिलं वेपते । अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति ।]

विदूषकः—भो वअस्स । विवाहणेवत्थेण सविसेसं क्खु सोहदि मालविआ । [भो वयस्य । विवाहनेपथ्येन सविशेषं खलु शोभते मालविका ।]

राजा—पश्याम्येनाम् यैषा—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे ।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥ ७ ॥

धारिणी—(उपेत्य) जेदु जेदु अज्जउत्तो । [जयतु जयत्वार्यपुत्रः ।]

विदूषकः—वड्ढदु भोदी । [वर्धतां भवती ।]

परिव्राजिका—विजयतां देवः ।

राजा—भगवति ! अभिवादये ।

परिव्राजिका—अभिप्रेतसिद्धिरस्तु ।

धारिणी—(सस्मितम्) अज्जउत्त ! एस ते अम्हेहिं तरुणीजणसहाअस्स असोओ संकेदघरो कप्पिदो । [आर्यपुत्र ! एष तेस्माभिस्तरुणीजनसहायस्याशोकः संकेतगृहं कल्पितः]

विदूषकः—भो आराहिओसि [भोः आराधितोऽसि ।]

मालविका—(मन ही मन) मै इस बनाव-सिंगारका अर्थ तो समझ रही हूं, फिर भी न जाने क्यों मेरा हृदय कमलिनीके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूंदके समान अभीतक कांपे जा रहा है। पर मेरी बाईं आँख भी आज बहुत फड़की पड़ रही है।

विदूषक—कहो मित्र ! विवाहके सिंगारोंसे सजी हुई मालविका कितनी सुन्दर जँचने लगी है ?

राजा—हाँ, देख तो रहा हूँ कि सिरपर एक छोटी सी ओढ़नी ओढ़े हुए और नीचेसे ऊपर-तक अनेक प्रकारके सिंगारोंसे सजी हुई यह चैतकी उस रातके समान दिखाई पड़ रही है जिसमें कोहरा हट जानेसे तारे खिल उठे हों और चाँदनी भी बस छिटकने ही वाली हो ॥ ७ ॥

धारिणी—(पास पहुँचकर) जय हो, आर्यपुत्रकी जय हो।

विदूषक—आपको बधाई है।

परिव्राजिका—देवकी जय हो।

राजा—प्रणाम करता हूँ भगवती।

परिव्राजिका—आपके मनकी साधें पूरी हों।

धारिणी—(मुस्कराकर) आर्यपुत्र ! लीजिए यह आपके लिए अशोकका ऐसा प्रेममिलनका घर बना दिया गया है जहाँ आप युवतियोंसे अकेलेमें जी भरकर मिल सकते हैं।

विदूषक—लीजिए महाराज ! देवीने तो आपकी मनचाही कर दी।

राजा—(सव्रीडमशोकमभितः परिक्रामन्)

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्काराणामीदृशानामशोकः ।
यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पैः शंसत्यादरं त्वत्प्रयत्ने ॥ ८ ॥

विदूषकः—**भो ! वीसद्धो भविअ तुमं जोव्वणदिं इमं पेक्ख ।** [भो ! विश्रब्धो भूत्वा त्वं यौवनवतीमिमां पश्य ।]

धारिणी—**कं ।** [काम् ।]

विदूषकः—**भोदि तवणीआसोअस्स कुसुमसोहम् ।** (भवति ! तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम् ।)

(सर्वं उपविशन्ति ।)

राजा—(मालविकां विलोक्य आत्मगतम्) कष्टः खलु संनिधिवियोगः ।

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे ।
अननुज्ञातसंपर्का धारिणी रजनीव नौ ॥ ९ ॥

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—**विजयतां देवः ! अमात्यो विज्ञापयति – विदर्भविषयोपायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघुशरीरे इति पूर्वं न प्रवेशिते । संप्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते । तवाज्ञां देवो दातुमर्हतीति ।**

राजा—**प्रवेशय ते ।**

कञ्चुकी—**यदाज्ञापयति देवः ।** (इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य ।) **इत इतो भवत्यो ।**

राजा—(लजाते हुए अशोकके चारों ओर घूमते हैं) देवीके हाथों इस अशोकका ऐसा आदर होना ही चाहिए, क्योंकि यह भी वसन्तकी लक्ष्मीका कहना न मानकर और वसन्तमें न फूलकर देवीके प्रयत्न करनेपर ही फूला है ॥ ८ ॥

विदूषक—अब आप जी भरकर इस उठती जवानीवालीको देखिए ।

धारिणी—किसे ?

विदूषक—देवी ! इस सुनहरे अशोकके फूलोंकी शोभाको ।

(सब बैठ जाते हैं ।)

राजा—(मालविकाको देखकर मन ही मन) इतने पास रहते हुए भी अलग बैठना जीमें बहुत कसक रहा है । चकवा और चकवीकी भाँति इतने पास बैठे हुए भी हम दोनोंको ये रात्रि बनी हुई धारिणी मिलने नहीं दे रही हैं ॥ ९ ॥

(प्रवेशकर)

कञ्चुकी—देवकी जय हो । मंत्रीजीने कहलाया है कि विदर्भसे जो कला जाननेवाली दो स्त्रियाँ भेंटके रूपमें आई थीं वे उस समय थकी होनेके कारण महाराजके पास नहीं लाई जा सकी थीं । अब वे महाराजके सामने लाई जा सकती हैं । उसके लिये देवकी आज्ञा चाहिए ।

राजा—लेते आओ ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । (बाहर जाकर उन दोनोंके साथ आता है ।) इधरसे आइये आप, इधरसे ।

प्रथमा—(जनान्तिकम्) हला मदणिए। अपुव्वं इमं राअउलं पविसन्तीए पसीददि मे हिअअं। [सखि मदनिके। अपूर्वमिदं राजकुलं प्रविशन्त्याः प्रसीदति मे हृदयम्।]

द्वितीया—जोसिणीए। अत्थि क्खु लोअप्पवादो आआमि सुहं दुक्खं वा हिअअसमवत्था कहेदि त्ति। [ज्योत्स्निके। अस्त खलु लोकप्रवादः आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयतीति।]

प्रथमा—सो सच्चो दाणिं होदु। [स सत्य इदानीं भवतु।]

कञ्चुकी—एष देव्या सह देवस्तिष्ठति। उपसर्पतां भवत्यौ।

(उभे उपसर्पतः)

(मालविका परिव्राजिका च चेट्यौ विलोक्य परस्परमवलोकयतः।)

उभे—(प्रणिपत्य) जेदु जेदु भट्टा। जेदु जेदु भट्टिणी। (जयतु जयतु भर्त्ता। जयतु जयतु भट्टिनी।)

(उभे राजाज्ञया उपविष्टे।)

राजा—कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ।

उभे—भट्टा! संगीदए अब्भन्तरेम्ह। [भर्तः! संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः।]

राजा—देवि! गृह्यतामनयोरन्यतरा।

धारिणी—मालविए। इदो पेक्ख। कदरा दे संगीदसहआरिणी रुच्चदि। [मालविके! इतः पश्य। कतरा ते संगीतसहकारिणी रोचते।]

उभे—(मालविकां दृष्ट्वा) अम्हो भट्टदारिआ। जेदु जेदु भट्टदारिआ। [अहो भर्तृदारिका। जयतु जयतु भर्तृदारिका।] (इति प्रणम्य तया सह वाष्पं विसृजतः।)

(सर्वे सविस्मयं विलोकयन्ति)

पहली—(अलग) सखी मदनिका! हम पहले तो कभी इस राज-कुलमें आई नहीं हैं, फिर भी न जाने क्यों यहाँ आते ही हमारा जी खिला पड़ रहा है।

दूसरी—ज्योत्स्निका! कहा जाता है कि आगे आनेवाले सुख या दुःख सभीको अपना मन पहले ही जता देता है।

पहली—भगवान् करें, वह बात आज सच हो जाय।

कञ्चुकी—देखिए, यह महारानीके साथ महाराज बैठे हुए हैं। आप दोनों आगे बढ़ जाइए।

(दोनों बढ़ जाती हैं।)

(मालविका और परिव्राजिका इन दोनों दासियोंको देखकर एक दूसरेकी ओर देखती हैं।)

दोनों—(प्रणाम करके) जय हो, स्वामीकी जय हो। जय हो, स्वामिनीकी जय हो।

(राजाके कहनेसे दोनों बैठ जाती हैं।)

राजा—आप लोगोंको कौन-सी कला आती है?

दोनों—स्वामी! हम लोगोंने संगीत सीखा है।

राजा—लो देवी, इनमेंसे जिसे चाहो उसे अपने लिये चुन लो।

धारिणी—मालविका! इधर देखो, संगीतमें तुम्हारा साथ देनेके लिये इनमेंसे तुम्हें कौन-सी अच्छी लगती हैं।

दोनों—(मालविकाको देखकर) अरे, राजकुमारी! जय हो राजकुमारी, जय हो। (प्रणाम करके उससे गले मिलकर रोने लगती हैं।)

(सब अचरजसे देखते हैं।)

राजा—के भवत्यौ । का वेयम् ।

उभे—भट्टा ! एसा अम्हाणं भट्टदारिआ । [भर्तः । एषास्माकं भर्तृदारिका ।]

राजा—कथमिव ।

उभे—सुणादु भट्टा ! जो सो भट्टिणा विजअदंडेहिँ विदब्भणाहं वसीकरिअ बंधणादो मोइओ कुमारो माहवसेणो णाम तस्स इअं कणीअसी भइणी मालविआ णाम । [श्रृणोतु भर्ता । यः स भर्त्रा विजयदण्डैर्विदर्भनाथं वशीकृत्य बन्धनान्मोचितः कुमारो माधवसेनो नाम तस्येयं कनीयसी भगिनी मालविका नाम ।]

धारिणी—कहं राअदारिआ इअं । चन्दणं क्खु मए पादुओवओएण दूसिदं [कथं राजदारिकेयम् । चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम् ।

राजा—अथात्रभवती कथमित्थंभूता ।

मालविका—(निःश्वस्यात्मगतम् ।) विहिणिओएण । [विधिनियोगेन ।]

द्वितीया—सुणादु भट्टा । दाआदवसंगदे भट्टदारए माहवसेणे तस्स अमच्चेण अम्हारिसं परिअणं उज्झिअ गूढं आणीदा एसा । [श्रृणोतु भर्ता । दायादवशंगते भर्तृदारके माधवसेने तस्यामात्येनार्यसुमतिनास्मादृशं परिजनमुज्झित्वा गूढमानीतैषा ।]

राजा—श्रुतपूर्वं मयैतत् । ततस्ततः ।

द्वितीया—भट्टा ! अदो वरं ण आणामि । [भर्तः ! अतः परं न जानामि ।]

परिव्राजिका—ततः परं मन्दभागिनी कथयिष्यामि ।

उभे—भट्टदारिए ! अज्जकोसिईए विअ सरसंजोओ । णं सा एव्व । [भर्तृदारिके ! आर्यकौशिक्या इव स्वरसंयोगः । ननु सैव ।]

मालविका—अह इम् । [अथ किम् ।]

राजा—आप लोग कौन हैं और ये कौन हैं ?

दोनों—स्वामी ! ये हमारी राजकुमारी हैं ।

राजा—कैसे ?

दोनों—सुनिए स्वामी ! आपकी विजयी सेनाने विदर्भके राजाको जीतकर जिन कुमार माधवसेनको बन्धनसे छुड़वाया है, उन्हींकी ये छोटी बहिन मालविका हैं ।

धारिणी—अरे ! तो क्या ये राजकुमारी हैं । मैंने सचमुच चन्दनसे खड़ाऊँका काम लेकर बड़ा पाप किया है ।

राजा—तो वे इस रूपमें यहाँ कैसे आ गईं ।

मालविका—(लंबी साँस लेकर मन ही मन) भाग्यके फेरसे ।

दूसरी—सुनिए महाराज ! जब राजकुमार माधवसेनको उनके चचेरे भाईने पकड़ लिया था, तब उनके मंत्री आर्य सुमतिजी इन्हें हम लोगोंसे हटाकर, यहाँ छिपाकर लेते आए ।

राजा—यह तो मैं पहले सुन चुका हूँ । तब क्या हुआ ?

दूसरी—इसके पीछेकी बात मैं कुछ नहीं जानती हूँ स्वामी !

परिव्राजिका—इसके पीछेकी कथा मैं अभागिनी बताती हूँ ।

दोनों—राजकुमारी ! यह तो आर्या कौशिकी-कीसी बोली लग रही है । वे ही हैं क्या ?

मालविका—और क्या ?

उभे—जदिवेसधारिणी अज्जकोसिई दुक्खेण विभावीअदि । भअवदि ! णमो दे । [यतिवेषधारिण्यार्यकौशिकी दुःखेन विभाव्यते । भगवति ! नमस्ते ।]

परिव्राजिका—स्वस्ति भवतीभ्याम् ।

राजा—कथम् । आप्तवर्गोऽयं भगवत्याः ।

परिव्राजिका—एवमेतत् ।

विदूषकः—तेण हि कहेदु भअवदी अत्तहोदीए वृत्तन्तं दाव असेसं । [तेन हि कथयतु भगवत्यत्रभवत्या वृत्तान्तं तावदशेषम् ।]

परिव्राजिका—(सवैक्लव्यम्) तावच्छ्रूयताम् । माधवसेनसचिवं ममाग्रजं सुमतिमवगच्छ ।

राजा—उपलक्षितः । ततस्ततः ।

परिव्राजिका—स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्धमपवाह्य भवत्सम्बन्धापेक्षया पथिकसार्थं विदिशागामिनमनुप्रविष्टः ।

राजा—ततस्ततः ।

परिव्राजिका—स चाटव्यन्तरे निविष्टो गताध्वा वणिग्गणः ।

राजा—ततस्ततः ।

परिव्राजिका—ततः किंचान्यत् ।

तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापधारि ।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकानामापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम् ॥ १० ॥

(मालविका भयं रूपयति ।)

दोनों—संन्यासिनीका वेश बना लेनेसे कौशिकीजी बड़ी कठिनाईसे पहचानमें आती हैं। आपको प्रणाम है भगवती ।

परिव्राजिका—तुम दोनोंका कल्याण हो ।

राजा—क्यों, क्या ये भी आपकी चेलियाँ हैं ?

परिव्राजिका—जी हाँ, हैं तो ।

विदूषक—तब आप ही इनकी पूरी कथा सुना डालिए ।

परिव्राजिका—(दुखी होकर) तो सुनिए ! माधवसेनके मन्त्री सुमति मेरे बड़े भाई थे ।

राजा—अच्छा समझ गए । हाँ, तब ।

परिव्राजिका—माधवसेनके पकड़े जानेपर मेरे बड़े भाई सुमति आपके साथ इसका विवाह करनेके विचारसे इसे और मुझे साथ लेकर विदिशाकी ओर आते हुए एक व्यापारी दलके साथ हो लिए ।

राजा—तब तब ?

परिव्राजिका—थोड़ी दूरतक खुली सड़कपर चल चुकनेपर उन्हें जंगलमें होकर जाना पड़ा ।

राजा—तब क्या हुआ ?

परिव्राजिका—फिर क्या ? अचानक कन्धोंपर तूणीर कसे हुए, पीठपर लम्बे-लम्बे पंख बाँधे हुए और हाथमें धनुष-बाण लिए हुए कुछ डाकू ऐसे ललकारते हुए हमपर टूट पड़े कि उनसे लड़कर जीतना बड़ा कठिन हो गया ॥ १० ॥

(मालविका डरनेका नाट्य करती है ।)

विदूषकः—भोदि ! मा भआहि अदिक्कंतं क्खु तत्तहोदी कहेदि । [भवति मा बिभेहि । अतिक्रान्तं खलु तत्रभवती कथयति ।]

राजा—ततस्ततः ।

परिव्राजिका—ततो मुहूर्तं बद्धायुधास्ते पराङ्मुखीभूताः सार्थवाहयोद्धारस्तस्करैः ।

राजा—हन्त । इतः परं कष्टतरं श्रोतव्यम् ।

परिव्राजिका—ततः स मत्स्योदर्यः ।

इमां परीप्सुर्दुर्जाते पराभिभवकातराम् ।
भर्तृप्रियः प्रियैर्भर्तुरानृण्यमसुभिर्गतः ॥ ११ ॥

प्रथमा—हा हदो सुमदी । [अहो हतः सुमतिः ।]

द्वितीया—तदो क्खु इअं भट्टदारिआए समवत्था संवुत्ता । (ततः खल्वियं भर्तृदारिकायाः समवस्था संवृत्ता ।]

(परिव्राजिका बाष्पं विसृजति ।)

राजा—भगवति ! तनुत्यजामीदृशी लोकयात्रा । न शोच्यस्तत्रभवान्सफलीकृतभर्तृपिण्डः । ततस्ततः ।

परिव्राजिका—ततोऽहं मोहमुपगता यावत्संज्ञां लभे तावदियं दुर्लभदर्शना संवृत्ता ।

राजा—महत्खलु कृच्छ्रमनुभूतं भगवत्या ।

परिव्राजिका—ततो भ्रातुः शरीरमग्निसात्कृत्वा पुनर्नवीकृतवैधव्यदुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते ।

विदूषक—डरिए मत देवी ! यह तो बीती हुई बातें आपको सुना रही हैं ।

राजा—तब, तब ?

परिव्राजिका—तब थोड़ी ही देरमें, व्यापारियोंके साथ चलनेवाले सब लड़ाकोंको डाकुओंने मार भगाया ।

राजा—हैं, हैं । क्या इससे भी बढ़कर दुःखदायी बात सुनानेवाली हैं ?

परिव्राजिका—तब मेरे भाईने उस विपत्तिमें शत्रुके आक्रमणसे घबराई हुई इन मालविकाको बचानेके लिये अपने प्राण देकर अपने स्वामीका भार चुका दिया ॥ ११ ॥

पहली—अरे ! तो क्या सुमतिजी मारे गए ?

दूसरी—इसीसे हमारी राजकुमारी बेचारीकी ऐसी दुर्दशा हुई ।

(परिव्राजिका रोने लगती हैं ।)

राजा—भगवति ! सभी नाशवान् प्राणियोंको यह संसार इसी प्रकार छोड़ना ही पड़ता है, और फिर उन्होंने तो अपने स्वामीका अन्न सुफल कर दिया है, इसलिये उनके लिये रोना नहीं चाहिए । हाँ, फिर क्या हुआ ?

परिव्राजिका—यह देखकर मैं तो मूर्च्छित हो गई और जब मुझे चेतना आई तो देखती क्या हूँ कि मालविकाका कहीं पता नहीं है ।

राजा—बड़ा कष्ट आपको भोगना पड़ा ।

परिव्राजिका—तब अपने भाईके शरीरका अन्तिम संस्कार करके अपने विधवापनके दुःखको फिर हरा करके मैंने आपके देशमें आकर गेरुआ रँगा लिया ।

राजा—युक्तः सज्जनस्यैष पन्थाः । ततस्ततः ।

परिव्राजिका—सेयमाटविकेभ्यो वीरसेनं वीरसेनाच्च देवीं गता । देवीगृहे लब्धप्रवेशया मया चानन्तरं दृष्टेत्येतदवसानं कथायाः ।

मालविका—(आत्मगतम्) किं णु क्खु संपदं भट्टा भणादि । (किं नु खलु सांप्रतं भर्ता भणति ।)

राजा -अहो परिभवोपहारिणो विधिपाताः । कुतः—

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती ।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥ १२ ॥

धारिणी—भअवदि ! तुए अभिजणवदिं मालविअं अणाचक्खंतीए असंपदं किदम् । [भगवति ! त्वयाभिजनवती मालविकामनाचक्षणयाऽसांप्रतं कृतम् ।]

परिव्राजिका—शान्तं पापम् । केनचित्कारणेन खलु मया नैर्घृण्यमवलम्बितम् ।

धारिणी—किं विअ तं कारणम् । [किमिव तत्कारणम् ।]

परिव्राजिका – इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रागतेन सिद्धादेशकेन साधुना मत्समक्षं समादिष्टा—आसंवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यतीति । तदेवंभाविनमादेशमस्यास्त्वत्पादशुश्रूषया परिणमन्तमवेक्ष्य कालप्रतीक्षया मया साधु कृतमिति पश्यामि ।

राजा—युक्ता प्रतीक्षा ।

राजा—सज्जनोंको यही चाहिए भी । फिर क्या हुआ ?

परिव्राजिका—फिर वीरसेनने मालविकाको उन डाकुओंसे छुड़ाकर यहाँ देवीके पास ला पहुँचाया । यहाँ देवीके पास आनेपर ही मैंने इन्हें देखा है । इतनी-सी ही मेरी कथा है ।

मालविका—(मन ही मन) देखें, महाराज इसपर क्या कहते हैं ?

राजा—देखिए ! विपत्ति आनेपर कितना अनादर हो जाता है, क्योंकि जो सती कहलाने योग्य रानी थी, उससे दासीका काम लिया जा रहा था । यह बात ठीक ऐसी ही हुई है जैसे कोई ऊनके कपड़ेसे देह पोंछनेका काम ले ॥ १२ ॥

धारिणी—भगवति ! यह बात छिपाकर आपने अच्छा नहीं किया कि मालविका इतने ऊँचे घरानेकी हैं ।

परिव्राजिका—नहीं, ऐसा न कहिए । मैंने बहुत समझ-बूझकर ही ऐसी निठुराई की थी ।

धारिणी—यह क्या बात थी ?

परिव्राजिका—जिन दिनों इनके पिता जीवित थे उन दिनों देवयात्रामें एक ऐसा साधु भी आ गया था जो आगेकी बात बताया करता था । उसने मेरे आगे ही कहा कि इसे एक वर्षतक तो दासी होकर रहना पड़ेगा, पर उसके पीछे बड़े योग्य पतिसे इसका विवाह हो जायगा । जब मैंने देखा कि यह भविष्यवाणी आपके चरणोंकी सेवा करते हुए पूरी हो रही है तब मैं चुप्पी लगा गई और इसीलिये मैं समझती हूँ कि मैंने अच्छा ही किया ।

राजा—यह चुप रहना अच्छा ही हुआ ।

कञ्चुकी—देव ! कथान्तरेणान्तरितम् । अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत् । देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति ।

राजा—मौद्गल्य ! तत्रभवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमिदानीमवस्थापयितुकामोऽस्मि ।

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टानुत्तरदक्षिणे ।
नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव ॥ १३ ॥

कञ्चुकी—देव ! एवममात्यपरिषदे निवेदयामि ।

(राजाङ्गुल्यानुमन्यते ।)

(निष्क्रान्तः कञ्चुकी ।)

प्रथमा—(जनान्तिकम्) भट्टदारिए ! दिट्ठिआ भट्टिणा भट्टिदारओ अद्धरज्जे पडिट्ठं गमइस्सदि । [भर्तृदारिके दिष्टचा भर्ता भर्तृदारकोऽर्धराज्ये प्रतिष्ठां गमयिष्यते ।]

मालविका—एदं दाव बहु मणिदव्वं जं जीविदसंसआदो मुत्तो । (एतत्तावद्बहुमन्तव्यम् यज्जीवितसंशयान्मुक्तः ।)

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—विजयतां देवः । देव अमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः । मन्त्रिपरिषदोप्येतदेव दर्शनम् । कुतः—

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः ।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे परस्परोपग्रहनिर्विकारौ ॥ १४ ॥

राजा—तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि—सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेवं क्रियतामिति ।

कञ्चुकी—देव ! इस कथाके बीचमें एक बात छूट गई । मन्त्रीजीने कहलाया है कि विदर्भके लिये जो प्रबन्ध करना था, वह सब कर दिया गया है, पर मैं महाराजकी इच्छा भी जान लेना चाहता हूँ ।

राजा—मौद्गल्य ! मैं चाहता हूँ कि यज्ञसेन और माधवसेन दोनों, वरदा नदीके उत्तर और दक्षिण दोनों तटोंपर अपने-अपने अलग-अलग राज बनाकर वैसे ही सुखसे राज करें जैसे सूर्य और चन्द्रमा रात और दिनको आपसमें बाँटकर अलग-अलग चमकते हैं ॥ १३ ॥

कञ्चुकी—मैं अमात्य-परिषद्से यही बात कह आता हूँ देव !

(राजा उँगलीसे स्वीकृति दे देते हैं, कञ्चुकी चला जाता है ।)

पहली—(अलग) राजकुमारी ! यह बड़ी अच्छी बात हुई कि राजकुमारको महाराज आधे राजपर बैठाए दे रहे हैं ।

मालविका—अरे, इतना ही बहुत समझो कि उनके प्राण बच गए ।

कञ्चुकी—(आकर) देवकी जय हो । देव ! अमात्यने कहलाया है कि महाराजने बहुत ठीक सोचा है और अमात्य-परिषद्की भी यही सम्मति है, क्योंकि जैसे रथमें चलनेवाले दो घोड़े सारथीके हाथमें ठीकसे चलते हैं, वैसे ही महाराजकी देख-रेखमें ये दोनों भाई भी आपसका बैर छोड़कर दो भागोंमें बँटे हुए, अपने राज्यके धुरेको बड़े सुखसे संभाल सकेंगे ॥ १४ ॥

राजा—तो जाकर अमात्य-परिषद्से कह दो कि सेनापति वीरसेनको लिख भेजें कि वे ऐसा ही प्रबन्ध कर दें ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य सप्राभृतकं लेखं गृहीत्वा पुनः प्रविष्टः।) अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। अयं देवस्य सेनापतेः पुष्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयप्राभृतको लेखः प्राप्तः। प्रत्यक्षीकरोत्वेनं देवः।

(राजोत्थाय सप्राभृतकं लेखं सोपचारं ग्रहीत्वा परिजनायार्पयति।)

(परिजनो लेखं नाट्येनोद्घाटयति।)

धारिणी—(आत्मगतम्) अम्हो। तदोमुहं एव्व णो हिअअं। सुणस्सं दाव गुरुअणस्स कुसलाणन्तरं वसुमित्तस्स वुत्तन्तं। अदिघोरे क्खु पुत्तओ सेनावदिणा णिउत्तो। [अहो। तदोमुखमेव नो हृदयम्। श्रोष्यामि तावद्गुरुजनस्य कुशलानन्तरं वसुमित्रस्य वृत्तान्तम्। अतिघोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः।]

राजा—(उपविश्य लेखं सोपचारं गृहीत्वा वाचयति।) स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तुरङ्गो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। ततः उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।

(देवी विषादं नाटयति।)

राजा—कथमीदृशं संवृत्तम्। (शेषं पुनर्वाचयति।)

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः॥ १५॥

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा। (बाहर जाता है और भेंटके साथ पत्र लिए हुए फिर आता है।) आपकी आज्ञा कह सुनाई। श्रीमान् सेनापति पुष्यमित्रके पाससे उत्तरीय आदि भेंटकी सामग्रियोंके साथ-साथ पत्र भी आया है। इसे महाराज देख लेनेकी कृपा करें।

[राजा उठकर बड़े आदरके साथ भेंटकी सामग्री और पत्र लेकर अपने सेवकको दे देते हैं। वह उस पत्रको खोलनेका नाटच करता है।]

धारिणी—(मन ही मन) अरे! मेरा जी भी इसे सुननेको छटपटा रहा है! बड़ोंका कुशल समाचार सुनकर फिर वसुमित्रका समाचार सुनूंगी। सेनापतिने मेरे बच्चेको बड़े संकटका काम सौंप दिया है।

राजा—(बैठकर बड़े आदरसे पत्र लेकर पढ़ते हैं।) आपका कल्याण हो। विदिशामें आए हुए चिरंजीवी पुत्र अग्निमित्रको स्नेहसे गले भेंटकर अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा लिए हुए सेनापति पुष्यमित्र लिख रहे हैं—हम यह बताना चाहते हैं कि अश्वमेधकी दीक्षा लेकर मैंने एक वर्षकी अवधि बांधकर जो खुला घोड़ा छोड़ा था और जिसकी रक्षाके लिये सैकड़ों राजकुमारोंके साथ वसुमित्रको भेजा था, वह घोड़ा जब सिन्धु नदीके दक्षिण तटपर चर रहा था तब घुड़सवार सेनाके एक यवनने उसे पकड़ लिया। इसपर दोनों सेनाओंमें बड़ी घमासान लड़ाई हुई।

(देवी दुखी होनेका नाटच करती हैं।)

राजा—अरे! क्या यहांतक बात बढ़ गई? (बचा हुआ फिर बांचता है।) तब धनुषधारी वसुमित्रने बड़ी वीरतासे शत्रुओंको मार भगाया और छिने हुए घोड़ोंको फिर लौटा लिया॥ १५॥

धारिणी—इमिणा आससिदं मे हिअअं । [अनेनाश्वस्तं मे हृदयम् ।]

राजा—(शेषं पुनर्वाचयति ।) सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये । तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता बधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति ।

राजा—अनुगृहीतोस्मि ।

परिव्राजिका—दिष्टया पुत्रविजयेन दम्पती वर्धेते ।

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि ।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥ १६ ॥

धारिणी—भअवदि ! परितुट्ठम्हि जं पितरं अणुजादो मे वच्छओ । [भगवति ! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः ।]

राजा—मौद्गल्य ! ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम् ।

कञ्चुकी—देव ! अयं कुमारः—

नैतावता वीरविजृम्भितेन चितस्य नो विस्मयमादधाति ।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा ॥ १७ ॥

राजा—मौद्गल्य ! यज्ञसेनश्यालमुरीकृत्य मोच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

धारिणी—जसेयणे ! गच्छ । इरावदीपमुहाणं अन्तेवुराणं पुत्तस्स वुत्तन्तं णिवेदेहि । [जयसेने ! गच्छ । इरावतीप्रमुखेभ्योऽन्तःपुरेभ्यः पुत्रस्य वृत्तान्तं निवेदय ।]

धारिणी—अब मेरे जीमें जी आया ।

राजा—(बचा हुआ फिर पढ़ता है ।) इसलिये जैसे अंशुमान्-द्वारा घोड़ा छुड़ा लानेपर सगरने यज्ञ किया था, वैसे ही मैं भी यह यज्ञ करने जा रहा हूँ । इसलिये अब आप तत्काल शान्तचित होकर बहुओंको साथ लेकर यज्ञ देखनेके लिये चले आएँ । बस इतना ही ।

राजा—बड़ी कृपा हुई मुझपर ।

परिव्राजिका—पुत्रकी विजयके लिये आप दोनोंको बधाई है । अबतक आप संसारकी सब प्रशंसनीय वीर पत्नियोंकी सिरमौर थीं, पर आपके पुत्रने आपके नामके साथ वीर-माताकी पदवी भी जोड़ दी है ॥ १६ ॥

धारिणी—भगवती ! मुझे तो यही सुख है कि मेरा बच्चा पिताके समान ही पराक्रमी निकला ।

राजा—मौद्गल्य ! सचमुच इस हाथीके बच्चेने तो हाथियोंके नायकका काम कर डाला ।

कञ्चुकी—देव ! कुमारकी इस वीरतासे मुझे कोई बड़ा अचरज नहीं हो रहा है, क्योंकि जैसे समुद्रको जला डालनेवाले बडवानलका जन्म उरुजन्मा (और्व) ऋषिसे हुआ है वैसे ही इनका भी जन्म आपसे हुआ है जो आजतक किसीसे नहीं हारे हैं ॥ १७ ॥

राजा—मौद्गल्य ! जाओ, यज्ञसेनके सालेके साथ-साथ और भी जितने बन्दी हों सबको छोड़नेको कह दो ।

कञ्चुकी—देवकी जैसी आज्ञा । (चला जाता है ।)

धारिणी—जाओ, जयसेना । इरावती आदि रनिवासकी सब रानियोंसे हमारे पुत्रके विजयकी बात कह तो आओ ।

(प्रतीहारी प्रस्थिता ।)

धारिणी—**एहि दाव ।** [एहि तावत् ।]

प्रतीहारी—(प्रतिनिवृत्य ।) **इअ म्हि ।** [इयमस्मि ।]

धारिणी—(जनान्तिकम्) **जं मए असोअदोहलणिओए मालविआए पइण्णादं तं से अभिजणं च णिवेदिअ मह वअणेण इरावदिं अणुणेहि—तुए अहं सच्चादो ण विब्भंसिदव्वे त्ति ।** [यन्मयाशोकदोहदनियोगे मालविकायै प्रतिज्ञातं तदस्या अभिजनं च निवेद्य मम वचनेनेरावतीमनुनय—सत्यान्न विभ्रंशयितव्येति ।]

प्रतीहारी—**जं देवी आणवेदि ।** (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) **भट्टिणि ! पुत्तविजअणिमित्तेण परितोसेण अन्तेउराणं आहरणाणं मंजूसम्हि संवुत्ता ।** [यद्देव्याज्ञापयति । भट्टिनि ! पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मञ्जूषास्मि संवृत्ता ।]

धारिणी—**एदं किं अच्चरिअं । साहारणो क्खु ताणं मह अ अअं अब्भुदओ ।** [एतत्किमाश्चर्यम् । सधारणः खलु तासां मम चायमभ्युदयः ।]

प्रतीहारी—(जनान्तिकम्) **भट्टिणी ! इरावदी उण विण्णवेदि—सरिसं देवीए पहवन्तीए । तुह वअणं संकपिदं ण जुज्जदि अण्णहा कादुं त्ति ।** [भट्टिनि ! इरावती पुनर्विज्ञापयति - सदृशं देव्याः प्रभवन्त्याः । तव वचनं संकल्पितं न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति ।]

धारिणी—**भअवदि ! तुए अणुमदा इच्छामि अज्जसुमदिणा पढमसंकप्पिदं मालविअं अज्जउत्तस्स पडिवादेदुं ।** [भगवति ! त्वयानुमतेच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथमसंकल्पितां मालविकामार्यपुत्राय प्रतिपादयितुम् ।]

परिव्राजिका—**इदानीमपि त्वमेवास्याः प्रभवसि ।**

(प्रतीहारी जाना चाहती है ।)

धारिणी—और सुनो !

प्रतीहारी—(लौटकर) जी, कहिए ।

धारिणी—(अलग) देखो ! अशोकके फूलनेके लिये मैंने मालविकासे जो प्रतिज्ञा की थी वह बात और इसके ऊँचे घरानेकी बात कहकर मेरी ओरसे इरावतीसे विनय करना कि देखो ! अब आप कोई ऐसी बात न कर बैठें कि मुझे अपने वचनसे हटना पड़े ।

प्रतीहारी—जैसी देवीकी आज्ञा । (बाहर जाकर फिर आ जाती है ।) स्वामिनी ! आपके पुत्रकी विजयकी बात सुनकर मुझपर पुरस्कारोंकी इतनी बौछार हुई कि मैं तो रनिवासके गहनोंकी पिटारी ही बन गई हूँ ।

धारिणी—इसमें अचरजकी क्या बात है, इसमें तो उनका और मेरा दोनोंका समान ही गौरव है न ।

प्रतीहारी—(अलग) स्वामिनी ! इरावतीने यह भी कहलाया है कि आपने अपने गौरवके अनुकूल ही बात सोची है । जो कुछ आप कह चुकी हैं उसे पूरा कीजिए ।

धारिणी—भगवती ! आर्य सुमतिने आर्यपुत्रसे मालविकाका विवाह करानेका जो पहले विचार कर रक्खा था उसे मैं आपकी सम्मतिसे पूरा कर देना चाहती हूँ ।

परिव्राजिका—अब भी तो आप ही इनकी सब कुछ हैं ।

धारिणी—(मालविकां हस्ते गृहीत्वा) **इदं अज्जउत्तो पिअणिवेदणाणुरूवं पारितोसिअं पडिच्छदु त्ति ।** [इदमार्यपुत्रः प्रियनिवेदनानुरूपं पारितोषिकं प्रतीच्छत्विति ।]

(राजा व्रीडां नाटयति ।)

धारिणी—(सस्मितम्) **किं अवधीरेदि अज्जउत्तो ।** (किमवधीरयत्यार्यपुत्रः ।]

विदूषकः—**भोदि ! एसो लोअव्ववहारो । सव्वो णववरो लज्जादुरो होदि त्ति ।** [भवति । एष लोकव्यवहारः । सर्वो नववरो लज्जातुरो भवतीति ।]

(राजा विदूषकमवेक्षते)

विदूषकः—**अह देवीए एव्व किदप्पणअविसेसं दिण्णदेवीसद्दं मालविअं अत्तभवं पडिग्गहीदुं इच्छदि ।** [अथ देव्यैव कृतप्रणयविशेषां दत्तदेवीशब्दां मालविकामत्रभवान्प्रतिग्रहीतुमिच्छति ।]

धारिणी—**एदाए राअदारिआए अहिजणेण एव्व दिण्णो देवीसद्दो किं पुणरुत्तेण ।** [एतस्या राजदारिकाया अभिजनेनैव दत्तो देवीशब्दः किं पुनरुक्तेन ।]

परिव्राजिका—**मा मैवम् ।**

अप्याकरसमुत्पन्नो रत्नजातिपुरस्कृतः ।
जातरूपेण कल्याणि ! मणिः संयोगमर्हति ॥ १८ ॥

धारिणी—(स्मृत्वा) **मरिसेदु भअवदी ! अब्भुदअकहाए उइदं ण लक्खिदं । जअसेणे ! गच्छ दाव । कोसेअपत्तोण्णजुअलं उवणेहि ।** [मर्षयतु भगवति ! अभ्युदयकथयोचितं न लक्षितम् । जयसेने ! गच्छ तावत् । कौशेयपत्रोर्णयुगलमुपनय ।]

प्रतीहारी—**जं देवी आणवेदि ।** (इति निष्क्रम्य पत्रोर्णं गृहीत्वा पुनः प्रविश्य) **देवी ! एदम् ।** [यद्देव्याज्ञापयति । देवि ! एतत् ।]

धारिणी—(मालविकाका हाथ पकड़कर) आर्यपुत्र ! कुमारकी विजयका प्यारा समाचार सुनानेका यह प्यारा पारितोषिक तो लीजिए ।

(राजा लजा जाते हैं ।)

धारिणी—(मुसकराकर) क्या आर्यपुत्र मेरी भेंट नहीं स्वीकार करना चाहते ?

विदूषक—देवी ! यह तो लोक-व्यवहार दिखा रहे हैं । सभी नये दूल्हे ऐसे समय लजाया ही करते हैं ।

(राजा विदूषककी ओर घूरते हैं ।)

विदूषक—जिन मालविकाको महारानीने ही इतने प्रेमसे देवी बना दिया है, उन्हें महाराज क्यों न स्वीकार कर लेंगे ।

धारिणी—इन राजकुमारीके ऊँचे घरानेने ही इन्हें रानी बना दिया है । उसे दुहरानेकी क्या बात है ।

परिव्राजिका—नहीं ऐसी बात नहीं है । खानसे निकले हुए सबसे अच्छे मणिको भी सोनेमें जड़नेकी आवश्यकता तो पड़ती ही है ॥ १८ ॥

धारिणी—(कुछ स्मरण करके) क्षमा कीजिए भगवती ! कुमारकी इस विजयके हुलासमें एक बड़ी आवश्यक बात तो मैं भूल ही गई । जयसेना ! जा, ऊनी रेशमी जोड़ा तो ले आ ।

प्रतीहारी—जैसी देवीकी आज्ञा । (जाती है और वस्त्र लेकर फिर आती है) यह लीजिए देवी !

धारिणी—(मालविकामवगुण्ठनवतीं कृत्वा) अज्जउत्तो ! दाणिं इमं पडिच्छदु । [आर्यपुत्र ! इदानीमिमां प्रतीच्छतु ।]

राजा—त्वच्छासनात्प्रवृत्ता एव वयम् । (अपवार्य) हन्त प्रतिगृहीता ।

विदूषकः—अहो देवीए अणुऊलदा । [अहो देव्या अनुकूलता ।]

(देवी परिजनमवलोकयति ।)

प्रतीहारी—(मालविकामुपेत्य ।) जेदु भट्टिणी । [जयतु भट्टिनी ।]

(देवी परिव्राजिकां निरीक्षते ।)

परिव्राजिका—नैतच्चित्रं त्वयि ।

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः ।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥ १९ ॥

(प्रविश्य)

निपुणिका—जेदु भट्टा । इरावदी विण्णावेदि—जं उवआरातिक्कमेण तदा भट्टिणो अवरद्धा तं सअं एव्वं भट्टुणो अणुऊलं णाम मए आअरिदं । संपदं पुण्णमणोरहेण भट्टुणा पसादमत्तेण संभावइदव्वेत्ति । [जयतु भर्ता ! इरावती विज्ञापयति—यदुपचारातिक्रमेण तदा भर्त्रे अपराद्धा तत्स्वयमेव भर्तुरनुकूलं नाम मयाचरितम् । सांप्रतं पूर्णमनोरथेन भर्त्रा प्रसादमात्रेण संभावयितव्येति ।]

धारिणी—णिउणिए ! अवस्सं से सेविदं अज्जउत्तो जाणिस्सदि । [निपुणिके ! अवश्यमस्याः सेवितमार्यपुत्रो ज्ञास्यति ।]

निपुणिका—अणुग्गहीदम्हि । [अनुगृहीतास्मि ।]

धारिणी—(मालविकाके सिरपर उढ़ाकर) अब इसे स्वीकार कीजिए ।

राजा—आप जो कहेंगी, वह तो मानना ही पड़ेगा । (अलग) अजी, मैं तो इसे पहलेसे ही स्वीकार किए बैठा हूँ ।

विदूषक—वाह ! महारानी भी कैसी अच्छी हैं ।

(रानी दासियोंकी ओर देखती हैं ।)

प्रतीहारी—(मालविकाके पास जाकर) स्वामिनीकी जय हो ।

(महारानी परिव्राजिकाकी ओर देखती हैं ।)

परिव्राजिका—आपकी यह उदारता देखकर मुझे तनिक भी अचरज नहीं हुआ । क्योंकि पतिको प्यार करनेवाली स्त्रियाँ अपने लिये मौत लाकर भी पतिका मन रक्खा करती हैं । देखिए, समुद्रमें जानेवाली नदियाँ अपने साथ-साथ दूसरी नदियोंका पानी भी समुद्रमें पहुँचा दिया करती हैं ॥ १९ ॥

निपुणिका—(आकर) स्वामीकी जय हो । इरावतीने कहलाया है कि मैंने महाराजकी बात न मानकर जो अपराध किया था, वह सब जान-बूझकर महाराजका काम बनानेके लिये ही रूपक रचा था । अब तो महाराजके मनकी साध पूरी हो गई है । इसलिये आशा है आप मुझे अवश्य क्षमा कर देंगे ।

धारिणी—अरी निपुणिका ! उन्होंने आर्यपुत्रकी जो सेवा की है उसका ध्यान रक्खेंगे ।

निपुणिका—बड़ी कृपा है ।

परिव्राजिका—देव! अमुना युक्तसंबंधेन चरितार्थं माधवसेनं समाजयितुं गच्छामः।

धारिणी—भअवदीए ण जुत्तं अम्हे हरिच्चइदुं [भगवत्या न युक्तमस्मान्परित्यक्तुम्।]

राजा—भगवति! मदीयेष्वेव लेखेषु तत्रभवतस्त्वामुद्दिश्य समाजनाक्षराणि पातयिष्यामः।

परिव्राजिका- युवयोः स्नेहात्परवानयं जनः।

धारिणी—अज्जउत्त! किं ते भूओ वि पिअं उवहरामि। [आर्यपुत्र! किं ते भूयोऽपि प्रियमुपहरामि।]

राजा—

त्वं मे प्रसादसुमुखी! भव देवि नित्यमेतावतेव हृदये प्रतिपालनीयम्।
तथापीदमस्तु।

(भरतवाक्यम्)

आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे ॥२०॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतो मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम् ॥

* * *

परिव्राजिका—देव! इस सुन्दर विवाह सम्बन्धको सुनकर माधवसेन तो फूले न समावेंगे। इसीलिये मैं उन्हें बधाई देनेके लिये चली जाना चाहती हूँ।

धारिणी—हमें छोड़कर आपका जाना ठीक नहीं है।

राजा—भगवती! हम अपने ही पत्रमें आपकी ओरसे बधाई लिखवाकर भिजवा देंगे।

परिव्राजिका—मैं तो आप दोनोंके स्नेहमें बँधी ही हुई हूँ।

धारिणी—आर्यपुत्र! क्या मैं आपकी कुछ और मनचाही बात कर सकती हूँ।

राजा—देवि! मैं तो बस इतना ही चाहता हूँ कि तुम सदा मुझपर प्रसन्न हुई रहो। फिर भी इतना और हो जाय कि—

(भरतवाक्य)

जबतक अग्निमित्र राज्य करें तबतक उनकी प्रजामें किसी प्रकारके उपद्रव आदि न हों ॥ २० ॥

(सब चले जाते हैं।)

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ मालविकाग्निमित्रम् नामका नाटक पूरा हुआ ॥

श्रीमन्महाकविकालिदास-नाटक-प्रशस्तिः

'काव्ये नाटकमस्ति रम्यरुचिरं तत्रापि शाकुन्तलम्'
इत्युक्तं रसिकैर्वचोऽतिललितं भूयो विवेक्तुन्त्विदम् ।
श्रीमन्मालविकाग्निविक्रमलसत्सन्नाटकप्रोच्छलत्
स्वर्वाणीरसनाऽमृतं सरसयत् सम्मोहयेत्संसृतिम् ॥

—श्रीशः ।

[काव्यमें नाटक ही सुन्दर होता है और नाटकोंमें अभिज्ञान शाकुन्तल ही सबसे सुन्दर है, यह बात रसिकोंने बड़ी सच्ची कही है, पर वे इस बातको ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं कर पाए कि काव्यमें नाटक ही क्यों सुन्दर होता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये अभिज्ञान-शाकुन्तलके साथ-साथ मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय नाटक भी प्रस्तुत किए जा रहे हैं कि उनमें छलकता हुआ संस्कृतका मधुर अमृत सृष्टिके सब प्राणियोंको इतना रसमग्न कर दे कि लोगोंको संसारके और दूसरे काव्योंको पढ़नेकी सुध ही न रह जाय।]

—श्री ईशदत्त पाण्डेय 'श्रीश'

तृतीयं खण्डम्

समीक्षा-निबन्धानि

तीसरा खण्ड

॥ समीक्षा-निबन्ध ॥

महाकवि कालिदासकी रचनाओंके सम्बन्धमें समष्टि रूपसे अथवा उनके किसी विशिष्ट ग्रन्थ अथवा किसी विशिष्ट पक्षपर विभिन्न विद्वानोंने जो पांडित्यपूर्ण विचार किया है, उन्हीका संग्रह आगेके लेखोंमें किया गया है। अन्तमें कालिदास-कालीन भारतके मानचित्र और अभिधान-कोषमें महाकवि कालिदासके विभिन्न ग्रन्थोंमें आए हुए व्यक्तियों, वस्तुओं स्थानों, वृक्षों आदिका परिचय है।

निबन्ध-सूची

निबन्ध लेखक पृष्ठ

१. विक्रमादित्य—डा० राजबली पांडेय, कुलपति महारानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर १
२. विक्रम और उनके नवरत्न—श्री ईशदत्त पांडेय "श्रीश" ११
३. कालिदासके ग्रन्थोंकी उपादेयता—पं० सीताराम जयराम जोशी, काशी हिन्दू वि० वि० १७
४. कालिदासके शब्द-प्रयोग—पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय, काशी हिन्दू वि० वि०, काशी २७
५. कालिदासके कवित्वकी पूर्णता—श्रीमन्मध्वसंप्रदायाचार्य श्रीदामोदरलालजी गोस्वामी ३१
६. कालिदासकी सूक्तियाँ—डा० अमरनाथ झा, वाइसचांसलर प्रयाग वि० वि० ३४
७. कालिदासका सन्देश—आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय, सं० सं० विश्वविद्यालय, काशी ३८
८. कालिदास और प्रकृति—आचार्य पं० करुणापति त्रिपाठी, कुलपति, सं० सं० विश्वविद्यालय, काशी ४४
९. निसर्गकन्या शकुन्तला—डा० वेल्वेलकर, पूना ५३
१०. योगवासिष्ठमें मेघदूत—डा० भी० ला० आत्रेय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ६५
११. मेघदूतकी रसवत्ता—आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी ६८
१२. मेघदूतका अध्ययन : शिवका स्वरूप—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ८८
१३. महाकवि कालिदासकी उपमाओंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन—श्री पी० के० गोडे, मुंबई १०१
१४. कालिदासकी छन्दोयोजना—पं० रामगोविन्द शुक्ल, सं० सं० वि० वि०, काशी ११३
१५. अभिधान-कोष—(कालिदासके काव्योंमें आए व्यक्तियों, जीवों, वस्तुओं और स्थानोंका परिचय)—आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी १२१
१६. कालिदास-सम्बन्धी लेखों और समीक्षाओंकी तालिका—डा० रामकुमार चौबे का० हि० वि० वि० १७९
१७. कालिदासके काव्योंमें निर्दिष्ट स्थलोंका परिचायक भारतका मानचित्र १८५

विक्रमादित्य

[डा० राजबली पाण्डेय, एम्० ए०, डी० लिट्०]

जनश्रुति

मर्यादापुरुषोत्तम राम और कृष्णके पश्चात् भारतीय जनताने जिस शासकको अपने हृदय-सिंहासनपर आसीन किया है वे हैं विक्रमादित्य। उनके आदर्श न्याय और लोकाराधनकी कहानियाँ भारतवर्षमें सर्वत्र प्रचलित हैं और आबालवृद्ध सभी उनके नाम और यशसे परिचित हैं। उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि वे उज्जयिनी-नाथ गन्धर्वसेनके पुत्र थे। उन्होंने शकोंको परास्त करके अपनी विजयके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदास आदि कवियोंके आश्रयदाता थे। भारतीय ज्योतिष्-गणनासे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि ईसासे ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्यने विक्रम-संवत्का प्रचार किया था।

अनुश्रुति

भारतीय साहित्यमें अंकित अनुश्रुतिने भी उपर्युक्त जनश्रुतिको किसी न किसी रूपमें स्वीकार किया है। इनमेंसे कुछका उल्लेख नीचे किया जाता है—

(१) अनुश्रुतिके अनुसार विक्रमादित्यका प्रथम उल्लेख गाथासप्तशतीमें इस प्रकार मिलता है—

संवाहण सुहरस तोसिएण दंतेणतुहकरे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा॥ ५।६४

इसकी टीका करते हुए गदाधर लिखते हैं—"पक्षे संवाहणं संबाधनम् लक्खं लक्षम्। विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षम् ददातीत्यर्थः।" इससे प्रकट होता है कि गाथाके रचना-कालमें यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे, जिन्होंने शत्रुओंपर विजय पानेके उपलक्ष्यमें भृत्योंको लाखोंका उपहार दिया था। गाथासप्तशतीका रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दी ईसवीमें हुआ था। अतः, विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता इसके पूर्व ही सिद्ध होती हैं। इस ऐतिहासिक तथ्यका प्रतिपादन महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीने भली भाँति किया था। (एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १२, पृ० ३२०)। इसके विरुद्ध डा० देवदत्त रामकृष्ण भांडारकरने गाथा-सप्तशतीमें आए हुए ज्योतिष्के संकेतोंके आधारपर कुछ आपत्तियाँ भी उठाई थीं (भाण्डारकर-स्मारक ग्रन्थ, पृ० १८७–१८९) किन्तु इसका निराकरण म० म० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझाने भली भाँति कर दिया है। (प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६८)।

(२) जैन पण्डित मेरुतुंगाचार्य-रचित पदावलीमें लिखा है कि नभोवाहनके पश्चात् गर्दभिल्लने उज्जयिनीमें तेरह वर्षतक राज्य किया। उसके अत्याचारके कारण कालकाचार्यने शकोंको बुलाकर उसका उन्मूलन किया। शकोंने उज्जयिनीमें चौदह वर्षतक राज्य किया। इसके पश्चात् गर्दभिल्लके पुत्र विक्रमादित्यने शकोंसे उज्जयिनीका राज्य लौटा लिया। यह घटना महावीर-निर्वाणके ४७० वें वर्षमें (५२७–४७० = ५७ ई० पू०) हुई। विक्रमादित्यने साठ वर्षतक राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्यने ४० वर्षतक शासन किया। तत्पश्चात् भैल्ल,

नैल्ल तथा माहदने क्रमशः ११, १४ तथा १० वर्ष राज्य किया। इस समय महावीर-निर्वाणके ६०५ वर्ष पश्चात् (६०५–५२७ = ७८ ई० पू०) शक संवत्का प्रवर्तन हुआ।

(३) प्रबन्धकोषके अनुसार महावीर-निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् (५२७–४७० = ५७ ई० पू०) विक्रमादित्यने संवत्का प्रवर्तन किया।

(४) धनेश्वरसूरि-विरचित शत्रुञ्जय-माहात्म्यमें इस बातका उल्लेख है कि वीर (महावीर) संवत्के ४६६ वर्ष बीत जानेपर विक्रमादित्यका प्रादुर्भाव होगा। उनके ४७७ वर्ष पश्चात् शिलादित्य अथवा भोज शासन करेगा। इस ग्रन्थकी रचना ४७७ विक्रम संवत्में हुई जब कि बलभीके राजा शिलादित्यने सुराष्ट्रसे बौद्धोंको खदेड़कर कई तीर्थोंको उनसे लौटा लिया था। (देखिए डा० भाऊ दाजी, जनरल औफ़ बौम्बे एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द ६, पृ० २९–३०)।

(५) सोमदेव भट्ट-विरचित कथासरित्सागर (लम्बक १८, तरंग १) में भी विक्रमादित्यकी कथा आती है। इसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनीके राजा थे। इनके पिताका नाम महेन्द्रादित्य तथा माताका नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्यने पुत्रकी कामनासे शिवकी आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रान्त थी। अतः इसके त्राणके लिये देवताओंने भी शिवसे प्रार्थना की। शिवने अपने गण माल्यवान्को[1] बुलाकर कहा कि पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये तुम मनुष्यका अवतार लेकर उज्जयिनी-नाथ महेन्द्रादित्यके यहाँ पुत्र रूपसे उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होनेपर शिवके आदेशानुसार महेन्द्रादित्यने उनका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु-संहारक होनेके कारण) विषमशील रक्खा। बालक विक्रमादित्य पढ़-लिखकर शास्त्रोंमें पारंगत हुए और प्राज्यविक्रम होनेपर उनका अभिषेक किया गया। वे बड़े ही प्रजावत्सल राजा हुए। इनके विषयमें लिखा है—

स पिता पितृहीनानाम बन्धूनाञ्च बान्धवः।
अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नाऽभवत् ॥ १८।१।६६

[वे पितृहीनोंके पिता, बन्धुरहितोंके बन्धु और अनाथोंके नाथ थे। प्रजाके तो वे सर्वस्व ही थे।] इसके अनन्तर विक्रमादित्यकी विस्तृत विजयों और अद्भुत कृत्योंका अतिरंजित वर्णन है।

कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थ होते हुए भी क्षेमेन्द्र-लिखित बृहत्कथामञ्जरी और अन्ततोगत्वा वड्डकहा या बृहत्कथा (गुणाढ्य-रचित)-पर अवलम्बित है। गुणाढ्य सातवाहन हालका समकालीन था, जो विक्रमादित्यसे लगभग १०० वर्ष पीछे हुआ था। अतः, सोमदेव-द्वारा कथित अनुश्रुति विक्रमादित्यके इतिहाससे सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हो सकती। सोमदेवके सम्बन्धमें एक और बात ध्यान देनेकी है। वे उज्जयिनीके विक्रमादित्यके अतिरिक्त एक दूसरे विक्रमादित्यको जानते हैं, जो पाटलिपुत्रका राजा था। ‘विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके’ (लम्बक ७, तरंग ४)। इसलिये जो आधुनिक ऐतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्र-नाथ गुप्त सम्राटोंको केवल उज्जयिनी-नाथ विक्रमादित्यसे अभिन्न समझते हैं वे अपनी परम्परा और जनश्रुतिके साथ बलात्कार करते हैं।

(६) द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, राजावली आदि ग्रन्थों तथा राजपूतानेमें प्रचलित (कर्नल टौडके राज-स्थानमें संकलित) अनुश्रुतियोंमें उज्जयिनी-नाथ शकारि विक्रमादित्यकी अनेक कथाएँ मिलती हैं।

साधारण जनताकी जिज्ञासा इन्हीं अनुश्रुतियोंसे तृप्त हो जाती है और वह परम्परासे परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्यके सम्बन्धमें अधिक गवेषणा करनेकी चेष्टा नहीं करती। किन्तु आधुनिक इतिहासकारोंके लिये केवल अनुश्रुतिका प्रमाण पर्याप्त नहीं। वे देखना चाहते हैं कि अन्य साधनों-

---

[1] कथाकी पौराणिक शैलीमें ‘गण’से गण-तंत्र और ‘माल्यवान्’से मालव जातिका आभास मिलता है।

द्वारा ज्ञात इतिहाससे परम्परा और अनुश्रुतिकी पुष्टि होती है या नहीं। विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें वे निम्नलिखित प्रश्नोंका समाधान करना चाहते हैं—

ऐतिहासिक प्रश्न—

(१) विक्रमादित्यने जिस संवत्का प्रवर्तन किया था उसका प्रारम्भ कबसे होता है ?

(२) क्या प्रथम शताब्दी ई० पू० में कोई प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष मालवा प्रान्तमें हुआ था ?

(३) क्या उस समय कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी, जिसके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन हो सकता था ?

इन प्रश्नोंको लेकर अवतक प्रायः जो ऐतिहासिक अनुसंधान होते रहे हैं, उनका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार दिया जाता है—

(१) यद्यपि ज्यौतिष्-गणनाके अनुसार विक्रम-संवत्का प्रारम्भ ५७ ई० पू० में होता है तथापि ईसाकी प्रथम कई शताब्दियोंतक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखोंमें इस संवत्का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता। मालवा प्रान्तमें प्रथम स्थानीय संवत् मालवगण स्थिति-काल था जिसका पता मन्दसौर प्रस्तर-लेखसे लगा है—मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। (फ़्लीट—गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८)। यह लेख पाँचवीं शताब्दी ई० का है।

(२) प्रथम शताब्दी ई० में किसी प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुषका मालवप्रान्तमें पता नहीं।

(३) इस कालमें कोई ऐसी क्रांतिकारी घटना मालवप्रान्तमें नहीं हुई जिसके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त खोजोंसे यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य नामक कोई शासक नहीं हुआ। तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत हैं। संभवतः मालव-संवत्का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताब्दीमें हुआ था। पीछेसे विक्रमादित्य उपाधिधारी किसी राजाने अपना विरुद इसके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार संवत्के प्रवर्तक विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता बहुतसे विद्वानोंके मतमें असिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रियाका फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्याविशारदोंने प्रथम शताब्दी ई० पू० के लगभग, इतिहासमें प्रसिद्ध राजाओंको विक्रम-संवत्का प्रवर्त्तक सिद्ध करनेकी चेष्टा प्रारम्भ की।

आनुमानिक मत—

(१) फ़र्गुसनने एक विचित्र मतका प्रतिपादन किया। उसका कथन है कि जिसको ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाला विक्रम संवत् कहते हैं, वह वास्तवमें ५४४ ई० में प्रचलित किया गया था। उज्जयिनीके राजा विक्रम हर्षने ५४४ ई० में म्लेच्छोंको (शकोंको) कोरूरके युद्धमें हराकर उस विजयके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रचार किया। इस संवत्को प्राचीन और आदरणीय बनानेके लिये इसका प्रारम्भकाल ६ × १०० (अथवा १० × ६०) = ६०० वर्ष पीछे फेंक दिया गया। इस प्रकार ५६ ई० पू० में प्रचलित विक्रम संवत्से इसको अभिन्न मान लिया गया है। किन्तु क्यों ६०० वर्ष ही पहले इसका प्रारम्भ ढकेल दिया गया, इसका समाधान फ़र्गुसनके पास नहीं है। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० के पूर्व मालव-संवत् ५२९ (मंदसोर प्रस्तर अभिलेख, फ़्लीट—गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८) तथा विक्रम-संवत ४३० (कावी अभिलेख, इंडि० ऐंटि० वर्ष १८७६,

पृ० १५२ के प्रमाण मिल जानेसे .फर्गुसनके मतका भवन ही धाराशायी हो जाता है (.फर्गुसनके मतके लिये देखिए इंडियन ऐंटिक्वेरी, वर्ष १८७६, पृ० १८२)

(२) डॉ० .फ्लीटका मत था कि ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले विक्रम संवत्का प्रवर्तन कनिष्कके राज्यारोहण-कालसे प्रारंभ होता है (जरनल औफ़ दी रौयल एशियाटिक सोसाइटी, वर्ष १९०७, पृ० १६९)। अपने मतके समर्थनमें उनका तर्क यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहासका प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अन्ताराष्ट्रिय साम्राज्यकी स्थापना की। बौद्ध धर्मके इतिहासमें भी अशोकके पश्चात् उसीका स्थान है। ऐसे प्रतापी राजाका संवत् चलना सर्वथा स्वाभाविक था। परन्तु यह मत डा० .फ्लीटके अतिरिक्त प्रायः अन्य किसी विद्वान्को मान्य नहीं है। प्रथम तो अभी कनिष्कका समय ही अनिश्चित है। दूसरे, एक विदेशी राजाके द्वारा देशके एक कोनेमें प्रवर्तित संवत् देशव्यापी नहीं हो सकता था। तीसरे यह बात प्रायः सिद्ध है कि कुषाणोंने कश्मीर तथा पंजाबमें जिस संवत्का व्यवहार किया था, वह पूर्व-प्रचलित सप्तर्षि-संवत् था जिसमें सहस्र तथा शतके अंक लुप्त हैं। यदि यह बात अमान्य भी समझी जाय तो भी कुषाण-संवत् वंशगत था और कुषाणोंके पश्चात् पश्चिमोत्तर भारतमें इसका प्रचार नहीं मिलता।

(३) वेलंडै गोपाल ऐयरने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतका तिथिक्रम' (क्रोनोलौजी औफ़ एंशिएंट इण्डिया, पृष्ठ १७५) में इस मतका प्रतिपादन किया है कि विक्रम-संवद्का प्रवर्तक सुराष्ट्रका महाक्षत्रप चष्टन था। विक्रम-संवत् वास्तवमें मालव-संवत् है। मन्दसौर प्रस्तर-लेखमें स्पष्ट बताया गया है कि मालव जातिके संघटन-कालसे इसका प्रचलन हुआ (मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। .फ्लीट—गुप्त उत्कीर्ण लेख सं०—१८)। कुषाणों-द्वारा इस संवत्का प्रवर्तन नहीं हो सकता था। एक तो कनिष्कका समय विक्रमकालीन नहीं। दूसरे यह बात सिद्ध नहीं कि उसका राज्य कभी मथुरा और बनारसके आगे भी फैला था। क्षत्रपोंके अतिरिक्त ऐसे किसी अन्य दीर्घजीवी राजवंशका पता नहीं चलता, जिसका मालव प्रान्तपर आधिपत्य हो और जिसको संवत्का प्रवर्तक माना जा सके। जब हम इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए रुद्रदामन्के गिरनार लेखमें पढ़ते हैं कि सब वर्णोंने अपनी रक्षाके लिये उसको अपना अधिपति चुना था (सर्ववर्णैरभिगम्य पतित्वे वृतेन —एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द ८, पृ० ४७) तब यह बात हम स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरातकी सब जातियोंने उनको उसी प्रकार अपना राजा चुना था, जिस प्रकार इसके पूर्व उन्होंने रुद्रदामन्के पिता जयदामन् और उनके पितामह चष्टनको चुना था। प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है कि पश्चिमके सभी राजाओंका अभिषेक स्वराज्यके लिये होता है और उनकी उपाधि स्वराट् होती है। इन स्वतन्त्र जातियोंने एकतामें शक्तिका अनुभव करते हुए तथा आवश्यकताके आगे सिर झुकाकर अपने ऊपर विजयी चष्टनके आधिपत्यमें अपनेको एकत्र करके संघटित किया। यही महान् घटना—एक बड़े शासकके आधिपत्यमें मालव जातियोंका संघटन —५७ ई० पू० में संवत्के प्रवर्तनसे उपलक्षित हुई। तबसे यह संवत् मालवामें प्रचलित है। चष्टन और रुद्रदामन्ने मालवके पड़ोसी प्रान्तोंपर भी शासन किया इसलिये संवत्का प्रचार विंध्यपर्वतके उत्तरके प्रदेशोंमें भी हो गया।

ऐयर महोदयका यह कथन स्वतःसिद्ध है कि विक्रम-संवत् वास्तवमें मालव-संवत् है। कनिष्कके विक्रम-संवत्के प्रवर्तक होनेके विरोधमें उनका तर्क भी युक्तिसंगत है। किन्तु कनिष्कसे कहीं स्वल्पशक्तिशाली प्रान्तीय विदेशी क्षत्रप, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवनका कोई अंश संलग्न नहीं था, संवत्के प्रवर्तनमें कैसे कारण हो सकता था यह बात समझमें नहीं आती। रुद्रदामन्के

अभिलेखमें सब वर्णों-द्वारा राजाके चुनावका उल्लेख केवल प्रशस्ति मात्र है। प्रत्येक शासक अपने अधिकारको प्रजा-सम्मत करनेकी नीतिका प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त यदि रुद्रदामन् लोकप्रिय हो भी गया हो तो भी उसका यह गुण दो पीढ़ी पहले चष्टनमें संघर्षकी नवीनता तथा तीव्रताके कारण नहीं आ सकता था। श्रीऐयरकी यह युक्ति अत्यन्त उपहासास्पद जान पड़ती है कि मालवगणने चष्टनके आधिपत्यमें अपना संघटन किया और उसके उपलक्ष्यमें संवत्‌का प्रवर्तन किया। राजनीतिका यह एक साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियोंको तुरन्त संघटित होनेका अवसर नहीं देता, फिर अपने पराजय-कालसे मालवोंने संवत्‌का प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण जान पड़ती है।

(४) डॉ० काशीप्रसाद जायसवालने जैन अनुश्रुतिके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला कि "जैन गाथाओं और लोकप्रिय कथाओंका विक्रमादित्य, गौतमीपुत्र शातकर्णि था। प्रथम शताब्दी ई० पू० में मालवमें मालवगण विद्यमान था, जैसा कि उसके प्राप्त सिक्कोंसे सिद्ध होता है। शातकर्णि और मालवकी संयुक्त शक्तिने शकोंको पराजित किया था, इसलिये शकोंकी पराजयमें मुख्य भाग लेनेवाले शातकर्णि 'विक्रमादित्य' के विरुदसे विक्रम संवत्‌का प्रवर्तन हुआ। मालवगणने भी उसके साथ सन्धिके विशेष ठहराव (स्थिति, आम्नाय) के अनुसार अपना इस समय संघटन किया और इसी समयसे मालवगण-स्थिति काल भी प्रारम्भ हुआ।" (जरनल ऑफ़ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द १६, वर्ष १९३०)।

उपर्युक्त कथनमें मालव-सातवाहन-संघका बनाना तो स्वाभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनोंका अस्तित्व होना सम्भव हो) किन्तु शातकर्णि विक्रमादित्य (?)-की विजयसे मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ सन्धि करके मालव संवत्‌का प्रवर्तन किया, यह बात पूर्ण रूपसे काल्पनिक और असंगत है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देनेकी बात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णिने न केवल शकोंको हराया वरन् शक, छहरात, अवन्ति, आकर आदि अनेक प्रान्तोंपर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उत्कीर्ण लेख, एपिग्राफ़िया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ६०)। उसके दिग्विजयकी घटना मालवगण-स्थितिके बहुत पीछेकी जान पड़ती है। साहित्य तथा उत्कीर्ण लेख किसीसे भी इस बातका प्रमाण नहीं मिलता कि किसी सातवाहन राजाने कभी विक्रमादित्यकी उपाधि धारण की हो। सातवाहन राजाओंका तिथिक्रम अभीतक अनिश्चित है। अपने विभिन्न मतोंकी सिद्धिके लिये विद्वानोंने उसको घपलेमें डाल रक्खा है। किन्तु बहुसम्मत सिद्धान्त यही है कि कण्वोंके पश्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनोंका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी ई० पू० के अपरार्द्धमें हुआ। इसलिये आंध्र-वंशका तेईसवाँ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि प्रथम शताब्दी ई० पू० में नहीं रक्खा जा सकता। सातवाहन राजाओंके लेखोंमें जो तिथियाँ दी हुई हैं, वे उनके राज्यवर्षोंकी हैं, उनमें विक्रम-संवत् या अन्य किसी क्रमबद्ध संवत्‌का उल्लेख नहीं है। श्रीजायसवालके इस मतके सम्बन्धमें सबसे अधिक निर्णायक गाथासप्तशतीका प्रमाण है। आंध्र वंशके सत्रहवें राजा हालके समयमें लिखित यह ग्रन्थ विक्रमादित्यके अस्तित्व और यशसे-परिचित है, अतः इस वंशका तेईसवाँ राजा गौतमी-पुत्र शातकर्णि तो किसी अवस्थामें भी विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न—

इस प्रकार विक्रमादित्यके अनुसन्धानमें प्राच्य-विद्या-विशारदोंने अपनी उर्वर कल्पना-शक्तिका परिचय तो दिया है किन्तु इस प्रकारके प्रयत्नसे विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताकी समस्या हल नहीं

होती। यदि परम्पराके समुचित आदरके साथ सीधी ऐतिहासिक खोज की जाय तो संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्यका पता सरलतासे लग सकता है। वास्तविक विक्रमादित्यके लिये निम्नलिखित बातोंको पूरा करना आवश्यक है—

(१) मालवा प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी।
(२) शकारि होना।
(३) ५७ ई० पू० में संवत्का प्रवर्तक होना, और
(४) कालिदासका आश्रयदाता होना।

अनुशीलन—

(१) यह बात अब ऐतिहासिक खोजमें सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भमें मालव प्रदेशमें प्रचलित होनेवाला संवत् मालवगणका संवत् था। सिकन्दरके भारतीय आक्रमणके समय मालव जाति पंजाबमें रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गणसंघने सिकन्दरका विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूटके कारण मालवगण अकेला लड़कर यूनानियोंसे हार गया। इसके पश्चात् मौर्योंके कठोर नियन्त्रणसे मालवजाति निष्प्रभ-सी हो गई। मौर्य-साम्राज्यके अंतिम कालमें जब पश्चिमोत्तर भारतपर बाख्त्रियोंके आक्रमण प्रारम्भ हुए तब उत्तरापथकी मालवादि कई गणजातियाँ वहाँसे पूर्वी राजपूताना होते हुए मध्यभारत पहुँची और वहाँपर उन्होंने अपने नये उपनिवेश स्थापित किए। समुद्रगुप्तके प्रयाग-प्रशस्ति-लेखसे सिद्ध है कि चौथी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्धमें उसके साम्राज्यकी दक्षिण-पश्चिम सीमापर कई गण-राष्ट्र विद्यमान थे, किन्तु इसके पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० पू० में ही मालवजाति आकर अवन्ति (मालव प्रान्त)-में पहुँच गई थी, यह बात मुद्रा-शास्त्रसे प्रमाणित है। यहाँपर एक प्रकारके सिक्के मिले हैं, जिनपर ब्राह्मी अक्षरोंमें 'मालवानां जयः' लिखा है। (इण्डियन म्यूज़ियम् क्वायन्स, जिल्द १, पृ० १६२; कनिंघम—आर्किऔलौजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द ६, पृ० १६५—७४)।

(२) ई० पू० प्रथम शताब्दीके मध्यमें मगध-साम्राज्यका भग्नावशेष काण्वोंकी क्षीण शक्तिके रूपमें पूर्वी भारतमें बचा हुआ था। बाख्त्रियोंके पश्चात् पश्चिमोत्तर भारतपर शकोंके आक्रमण होने लगे। शक जातिने सिन्ध प्रान्तके मार्गसे भारतवर्षमें प्रवेश किया। यहाँसे उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवन्ति-आकरकी ओर बढ़ने लगी। इस बढ़ावमें मध्यभारतके गणराष्ट्रोंसे शकोंका संघर्ष होना सर्वथा स्वाभाविक था। बाहरी आक्रमणके समय गणजातियाँ संघ बनाकर लड़ती थीं। इस संघका नेतृत्व मालवगणने किया और शकोंको पीछे ढकेलकर सिन्ध प्रान्तके छोरतक पहुँचा दिया। कालकाचार्य-कथामें शकोंको निमन्त्रण देना, अवन्तिके ऊपर उनका अस्थायी आधिपत्य और अन्तमें विक्रमादित्यके द्वारा उनका निर्वासन—इन सभी घटनाओंका मेल इतिहासकी उपर्युक्त धारासे ठीक बैठ जाता है।

(३) शकोंको पराजित करनेके कारण मालवगण-मुख्यका शकारि एक विरुद हो गया यद्यपि इस घटनासे शकोंका आतंक सदाके लिये दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़सौ वर्षोंतक भारतवर्ष शकोंके आधिपत्यसे सुरक्षित रहा। इसलिये इस विजयके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन हुआ और मालवगणके दृढ़ होनेसे इसका गणनाम मालव-गण-स्थिति या मालवगण-काल पड़ा।

(४) अब यह विचार करना है कि मालवगण मुख्य कालिदासके आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं ? अभिज्ञान-शाकुन्तलकी कतिपय प्राचीन प्रतियोंमें नान्दीके अन्तमें लिखा मिलता है कि इस नाटकका अभिनय विक्रमादित्यकी परिषद्में हुआ था। "सूत्रधार— आर्ये ! इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः। नांद्यन्ते।" (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १९१४ ई०)। प्रायः अभीतक विक्रमादित्य एकतांत्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं। किन्तु काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें हिन्दी विभाग के अध्यक्ष स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्रके पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुन्तलकी एक हस्तलिखित प्रति प्रतिलेखन काल—अगहन सुदी ५, संवत् १६९९ वि०)-ने विक्रमादित्यका गणसे सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नांकित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) आर्ये ! रसभावविशेषदीक्षागुरोः **विक्रादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठेयं** परिषत्। अस्याञ्च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशकुन्तलेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यस्माभिः (नांद्यन्ते)।

(आ) भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्त्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः॥ (भरतवाक्य)

उपर्युक्त अवतरणोंमें रेखांकित पदोंसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जिन विक्रमादित्यका यहाँ निर्देश है उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि 'साहसाङ्क' है। भरतवाक्यका 'गण' शब्द राजनीतिक अर्थमें 'गणराष्ट्र' का द्योतक है। 'शत' संख्या गोल और अतिरंजित है तथा 'गणशत' का अर्थ कई गणोंका गण-संघ है। 'गण' शब्दके इस अर्थकी संगति अवतरण (अ) के रेखांकित पदसे बैंठती है जहाँ विक्रमादित्यके साथ कोई राजतांत्रिक उपाधि नहीं लगी हुई है। यदि यह अवतरण छन्दोबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि छन्दकी आवश्यकतावश उपाधियोंका प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु गद्यमें इनका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नहीं थे अपितु गण-मुख्य थे। कौटिल्यके अर्थशास्त्रके अनुसार गणराष्ट्र कई प्रकारके थे—कुछ वार्ताशास्त्रोपजीवी, कुछ आयुधजीवी और कुछ राजशब्दोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण वार्ताशास्त्रोपजीवी था। इसीलिये विक्रमादित्यके साथ राजा या अन्य किसी राजनीतिक उपाधिका व्यवहार नहीं हुआ है।

इन अवतरणोंके सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालवगण-मुख्य थे। उन्होंने शकोंको उनके प्रथम बढ़ावमें पराजित करके इस क्रांतिकारी घटनाके उपलक्ष्यमें मालवगण-स्थिति नामक संवत्का प्रवर्तन किया जो आगे चलकर विक्रम-संवत्के नामसे प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वयं काव्य-मर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों और कलाकारोंके आश्रयदाता थे।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि मालवगणस्थिति अथवा मालव-संवत्का विक्रम-संवत् नाम कैसे पड़ा। इसका समाधान यह है कि संवत्का नाम प्रारम्भमें गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योंकि लोकतन्त्र-राष्ट्रमें गणकी प्रधानता होती है, व्यक्तिकी नहीं। पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्धमें चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यने भारतवर्षमें अन्तिम बार गणराष्ट्रोंका संहार किया। तबसे गणराष्ट्र भारतीय प्रजाके मानसिक क्षितिजसे ओझल होने लगे और आठवीं-नवीं शताब्दी ई० तक, जब कि सारे देशमें निरंकुश एकतन्त्रकी स्थापना हो चुकी थी, गणराष्ट्रकी कल्पना भी विलीन हो गई।

अतः मालवगणका स्थान उसके प्रमुख व्यक्तिविशेष विक्रमादित्यने ले लिया और संवत्के साथ उनका नाम जुड़ गया। साथ ही साथ मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य; राजा विक्रमादित्य हो गए। राजनीतिक कल्पनाओंकी दुर्बलताका यह एकाकी उदाहरण नहीं है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजोंसे अनभिज्ञ भारतीय प्रजामें आज कौन जानता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्धके पिता गणमुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य-तकमें वे राजा करके ही माने जाते हैं। यह भी हो सकता है कि राजशब्दोपजीवी गणमुख्योंकी 'राजा' उपाधि राजनीतिक भ्रमके युगमें विक्रमादित्यके राजा बनानेमें सहायक हुई हो।

प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता प्रमाणित करनेके साथ यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि उन स्थापनाओंका भी संक्षेप में विवेचन किया जाय जिनके आधारपर कालिदासके साथ विक्रमादित्यको भी प्रायः गुप्तकालमें घसीटा जाता है और 'विक्रमादित्य'-उपाधिधारी गुप्त-सम्राटोंमेंसे किसी एकसे सम्बद्ध सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है। वे संस्थाएँ निम्नलिखित विवेचनोंपर अवलम्बित हैं—

(१) कुछ इतिहासकारोंकी धारणा है कि तथाकथित बौद्धकालमें वैदिक (हिन्दू) धर्म और संस्कृत-साहित्य संकटापन्न हो गए थे। अतः, ईसाके एक दो शताब्दी आगे-पीछे संस्कृत-काव्यका विकास नहीं हो सकता था। गुप्तोंके आगमनके पीछे हिन्दू-धर्मके पुनरुत्थानके साथ संस्कृत-साहित्यका भी पुनरुत्थान हुआ। तभी संस्कृत-साहित्यमें कालिदास-जैसे कुशल तथा परिष्कृत काव्यकारका होना सम्भव था। 'पुनरुत्थान' मतके मुख्य प्रवर्तक मैक्समूलर थे। पीछेकी ऐतिहासिक खोजोंसे यह मत असिद्ध हो गया है (विस्तृत विवेचनके लिए देखिए डा० जी० ब्यूलर, इंडियन ऐंटिक्वरी, वर्ष १९१३)। 'बौद्धकाल'में न तो वैदिक धर्म लुप्त हुआ था और न संस्कृत साहित्य ही। गुप्तकालके पहले ईसाकी दूसरी शताब्दीमें सुराष्ट्रके महाक्षत्रप रुद्रदामन्के गिरनार अभिलेखमें गद्य-काव्यका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है '·········पर्जन्येनैकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां·········युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना प्रमथित सलिलविक्षिप्तजर्जरीकृताव······।' एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ८, पृ० ४७। राजकीय व्यवहारका यह गद्यकाव्य अवश्य ही उस युगमें वर्तमान पद्य-काव्यके अनुकरणपर लिखा गया होगा। ई० पू० शुंग कालमें रचित पातञ्जल महाभाष्यमें उद्धृत उदाहरणोंमें काव्योंकी शैली और छन्द पाए जाते हैं। (कीलहौर्न : महाभाष्यका संस्करण)। इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत-जैसे महाकाव्योंके अधिकांश भाग ई० पू० में लिखे गए थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य-स्मृतियाँ ईसाकी पार्श्ववर्ती शताब्दियोंमें लिखी गई थीं। काव्यकी उपर्युक्त धाराके प्रकाशमें प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदासके नाटकों और काव्योंकी रचना पूर्णतः असम्भव नहीं जान पड़ती।

(२) कालिदासके काव्यों और बौद्ध पण्डित अश्वघोषके बुद्धचरित नामक काव्यमें अत्यधिक साम्य है। कथानककी सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलंकारोंका प्रयोग, छन्दोंका चुनाव, शब्दविन्यासादिमें दोनों कलाकार एक दूसरेसे अत्यन्त प्रभावित हैं। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

रघुवंश	बुद्धचरित
ततस्तदालोकनतत्पराणां	ततः कुमारः खलु गच्छतीति
सौधेषु चामीकरजालवत्सु।	श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्य जनात्प्रवृत्तिम्।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां	दिदृक्षया हार्यतलानि जग्मुः
त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ७।५॥	जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः॥३।११

यह तो प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि दोनोंमें कालिदासकी रचना ही श्रेष्ठ है। परन्तु उनमेंसे कतिपय यह भी मान लेते हैं कि संस्कृत काव्यके विकासमें अश्वघोष पहले हुए। कालिदासने उनका अनुकरणकर अपनी शैलीका विकास और परिमार्जन किया। अश्वघोष कुषाण सम्राट् कनिष्कके समकालीन थे जिनका समय प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० है। इसलिये कालिदासका काल तीसरी शताब्दीके पश्चात् संभवतः गुप्त कालमें होना चाहिए (इ० बी० कौवेल—अश्वघोषका बुद्धचरित, भूमिका)। विचार करनेपर यह युक्ति-परम्परा सर्वथा असंगत जान पड़ती है। यह बात विदित है कि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पालि प्राकृतमें लिखा गया था। पीछे संस्कृत साहित्यके प्रभाव और उपयोगिताको स्वीकारकर बौद्ध लेखकोंने संस्कृतको अपने साहित्य और दर्शनका माध्यम बनाया। इसलिये संस्कृतकी काव्यशैलीके प्रचलित और परिष्कृत हो जानेपर उन्होंने उसका अनुसरण किया। अतः, स्पष्ट है कि अश्वघोषने कालिदासकी शैलीका अनुसरण किया। यदि उनकी कला अपेक्षाकृत हीन है तो यह अनुकरणका दोष है। प्रायः अनुकरण करनेवाले अपने आदर्शकी समता नहीं कर पाते।

(३) कालिदासको पाँचवीं या छठीं शताब्दी ई० में खींच लानेमें एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थोंमें यवन, शक, पल्लव, हूणादि जातियोंके नाम आते हैं। हूणोंने ५०० ई० में भारतवर्षपर आक्रमण प्रारम्भ किया। अतः इसका उल्लेख करनेवाले कालिदासका समय इसके पश्चात् ही होना बताते हैं (लिटरेरी रिमेन्स ऑफ डा० भाऊ दाजी, पृ० ४९।) परन्तु ध्यान देनेकी बात तो यह है कि रघुवंशमें हूणों अथवा अन्य जातियोंका वर्णन विदेशी विजेताके रूपमें नहीं आता। रघुने अपनी दिग्विजयमें उनको भारतकी सीमाके बाहर पराजित किया था, अतः कालिदासके समयमें हूणोंको भारतकी पश्चिमोत्तर सीमाके पास कहीं रहना चाहिए। चीन तथा मध्य एशियाके इतिहाससे प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली तथा दूसरी शताब्दीमें हूण पामीरके पूर्वोत्तरमें आ चुके थे। (गुल्ट्ज़ लैफ़—चीनका इतिहास, जिल्द १, पृ० २२०)।

(४) ज्यौतिष्के बहुतसे संकेत कालिदासके ग्रन्थोंमें आए हैं। कई एक विद्वानोंका मत है कि कुषाण-कालके पश्चात् भारतीयोंने ज्यौतिष्के बहुतसे सिद्धान्त यूनान और रोमसे सीखे थे। इसलिये कालिदासका समय इसके बहुत पीछे होना चाहिए। परन्तु इस बातको माननेवाले इस सत्यको भूल जाते हैं कि स्वयं यूनानियोंने कई शताब्दी ई० पू० में बाबुलोनियाके लोगोंसे ज्योतिष्-शास्त्र सीखा था। (मैक्सम्यूलर—इण्डिया, ह्वाट कैन इट टीच अस, पृ० ३६१)। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में पारसी सम्पर्कमें भारतवर्ष भली भाँति आ गया था, अतः वह बाबुलोनिया और चाल्डियाका ज्यौतिष् सीधे सरलतासे सीख सकता था (प्रो० एस० बी० दीक्षित—भारतीय ज्यौतिषका प्राचीन इतिहास, पृ० १५७)। ईसासे बहुत पहले रचित रामायणमें ज्यौतिष्के सिद्धान्तोंका अधिक प्रयोग किया गया है—

नक्षत्रेऽदिति दैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पंचसु।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्यता बिंदुना सह॥
(बा० का०, सर्ग १८, श्लो० ९)

पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ॥
(बा० का०, सर्ग १८, श्लो० १५)

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ आदि ।
(अयो०, सर्ग १५, श्लो० ३)

(५) वराहमिहिरकी तथाकथित समकालीनतासे भी कालिदासका समय पाँचवी शताब्दी ई० में निश्चित किया जाता है । ज्योतिर्विदाभरणमें निम्नलिखित उल्लेख है---

धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंहशंकु-वेतालभट्ट-घटखर्पर-कालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस अवतरणके संबंधमें प्रथम तो यह कहना है कि जिस ग्रन्थमें इसका उल्लेख है वह कालिदासकी रचना नहीं है । दूसरे एक दोको छोड़कर यहाँ जितने रत्न विक्रम-सभामें एकत्र किए गए हैं वे समकालीन नहीं । तीसरे यह अनुश्रुति पीछेकी, और केवल एक ही है, अन्यत्र कहीं भी इसकी चर्चा नहीं । अतः कालिदाससे वराहमिहिरकी समकालीनता उसी प्रकार कल्पनाजन्य जान पड़ती है जिस प्रकार कालिदास और भवभूतिके एक सभामें एकत्र होनेकी किंवदन्ती ।

इस प्रकार कालिदासको गुप्तकालीन और इस कारणसे विक्रमादित्यको गुप्त-सम्राट् सिद्ध करनेकी युक्तियाँ तर्कसिद्ध नहीं जान पड़तीं । विक्रमादित्यके गुप्त-सम्राट् होनेके विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तियाँ हैं ---

(१) गुप्त-सम्राटोंका अपना वंशगत संवत् है । उनके किसी भी उत्कीर्ण लेखमें मालव अथवा विक्रम-संवत्का उल्लेख नहीं है । जब उन्होंने ही विक्रम-संवत्का प्रयोग नहीं किया तब पीछेसे उनके गौरवास्तके पश्चात् जनताने उनका सम्बन्ध विक्रम-संवत्से जोड़ दिया हो, यह बात समझमें नहीं आती ।

(२) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्र-नाथ थे, किन्तु अनुश्रुतियोंके विक्रमादित्य उज्जयिनी-नाथ थे । यद्यपि उज्जयिनी गुप्तोंकी प्रान्तीय राजधानी थी, तथापि वे प्रधानतः पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधाधिप थे । मुग़ल सम्राट् दिल्लीके अतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगरमें भी रहते थे फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे । इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्टने अपने कथासरित्सागरमें स्पष्टतः दो विक्रमादित्योंका उल्लेख किया है---एक उज्जयिनीके विक्रम तथा दूसरे पाटलिपुत्रके । उनके मनमें इस सम्बन्धमें कोई भ्रम नहीं था ।

(३) उज्जयिनीके विक्रमका नाम विक्रमादित्य था, उपाधि नहीं । कथासरित्सागरमें लिखा है कि उनके पिताने जन्म-दिनको ही उनका नाम शिवजीके आदेशानुसार विक्रमादित्य रक्खा । अभिषेकके समय यह नाम अथवा विरुदके रूपसे पीछे नहीं रक्खा गया । इसके विरुद्ध किसी गुप्त सम्राट्का नाम विक्रमादित्य नहीं था । द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्तके विरुद क्रमशः विक्रमादित्य और क्रमादित्य (कहीं-कहीं विक्रमादित्य भी) थे । समुद्रगुप्तने तो यह उपाधि कभी धारण ही नहीं की । महेन्द्रादित्य भी कुमारगुप्तकी उपाधि थी, नाम नहीं । उपाधि प्रचलित होनेके लिये यह आवश्यक है कि उसके नामका कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो, जिसके अनुकरणपर पीछेके महत्वाकांक्षी लोग उस नामकी उपाधि धारण करें । रोममें सीजर उपाधिधारी राजाओंके पहले सीज़र नामक सम्राट् हुआ था । इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी गुप्त नरेशोंके पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ और यह महापराक्रमी मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य साहसाङ्क ही था ।

विक्रम और उनके नवरत्न

(पं० ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश' साहित्यदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न)

सा रम्या नगरी, महान् स नृपतिः, सासान्तचक्रं च तत्,
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषद्, ताश्चन्द्रविम्बाननाः,
उन्मत्तः स च राजपुत्र-निवहः, ते बन्दिनः ताः कथाः ।
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं, कालाय तस्मै नमः !!

—भर्तृहरि

[यह जगमगाती राजधानी ! वह महान् सम्राट् ! वह सामन्तोंका समूह ! वह बड़े-बड़े कला-कोविदोंसे विभूषित राजा-दरबार ! वे चन्द्रमुखी ललनाएँ ! वह मदोन्मत्त राजकुमारोंका झुण्ड ! वे प्रशस्ति-पाठक चारण ! वे बातें !----वह सब कुछ जिसकी कृपासे विस्मृतिके गहरे गर्तमें डूब गया, उस काल भगवान्को बार-बार नमस्कार है ।]

जब जब हम अपने २००० वर्षोंके सांस्कृतिक अतीतके अन्वेषणमें प्रवृत्त होते हैं, तब तब भर्तृहरिकी इस सूक्तिकी ओर मन अकस्मात् आकृष्ट हो जाता है । जिस महान् विक्रमादित्यका स्वर्णिम शासन हमारी परःसहस्र भावनाओंकी आधार-शिला है, जिसके उदात्त दया-दाक्षिण्य तथा अथाह शौर्य-वीर्यकी गाथाएँ हमें रोमांचित करती रहती हैं---आज हममेंसे बहुतोंको उनके अस्तित्वका अन्वेषण करना पड़ रहा है, यह काल भगवान्की महिमा नहीं, तो क्या है ?

प्रास्तावित विक्रम-संवत्-प्रवर्तक, शक-समुद्र-शोषक, सम्राट् विक्रमादित्यकी कीर्ति-गीति, भविष्य-पुराण, कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी, नवसाहसांकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि ज्योतिर्विदाभरणम्, कालकाचार्य-कथानक, विक्रमांकचरितम् आदि अनेक ग्रन्थोंमें अनेक आकृति-प्रकृतिमें मिलती है । यह हमारी संग्रह-शक्तिपर निर्भर है कि हम सूक्ष्म ऊहापोह-शक्ति-द्वारा विवेचनपूर्वक तात्त्विक घटनाओंपर प्रकाश डालें । नवरत्नोंके सम्बन्धकी कुछ बातें यहाँ थोड़ेमें दी जाती हैं । पाठक स्वयं न्यायोचित निर्णय कर सकते हैं---

धन्वन्तरि—

नवरत्नोंमें सर्व-प्रथम इन्हींका उल्लेख किया गया है, किन्तु सूक्तिसुभाषित संग्रहोंमें इसका एक भी पद्य नहीं मिलता । पण्डित-परंपरामें तो ये समुद्रसे निकले हुए भगवान् धन्वन्तरि ही समझे जाते हैं । अनुसंधानसे इनके ९ ग्रन्थोंका पता लगता है, जो सभी आयुर्वेदिक चिकित्सा-शास्त्रसे सम्बद्ध हैं । इन ग्रन्थोंमेंसे "धन्वन्तरि-निघंटु" जो ९ अध्यायोंमें बँटा हुआ है, वैद्योंका महान् उपकारक और अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है । अमरकोशके प्रणेता अमरसिंहसे ये अति प्राचीन हैं और इनका बनाया कोई "रत्नमाला-कोश" भी था इसका पता क्षीरस्वामीकी लिखी "अमर-कोश" की टीकासे लगता है ।

क्षपणक —

इनके नामसे ही प्रतीत होता है कि ये बौद्ध संन्यासी थे; किन्तु कुछ लोग इस मतके विरुद्ध हैं । इनका लिखा कोई विशेष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । 'भिक्षाटन' काव्यसे इनकी एक रचना उद्धृत की जाती है--

नीतिर्भूमिभुजां, नतिर्गुणवतां, ह्रीरङ्गनानां, रतिः
दम्पत्योः, शिशवो गृहस्य, कविता बुद्धेः, प्रसादो गिराम्।
लावण्यं वपुषः, सुमनसां शांतिर्द्विजस्य क्षमा
शान्तस्य द्रविणं, गृहाश्रमवतां शीलं सतां मण्डनम्।

[अच्छे राजाओं, गुणियों, स्त्रियों, पति-पत्नियों, घरों, बुद्धि, वाणी, शरीर, प्रसन्नमनों, ब्राह्मणों, तपस्वियों, गृहश्रामियों और सज्जन पुरुषोंके अलंकार क्रमशः नीति, विनय, लज्जा, रति, बालक, कविता, प्रसादगुण, सौन्दर्य, शांति, क्षमा, धन, शील (सत्स्वभाव) ही गुण हैं।] एक विद्वानका कहना है कि 'नानार्थकोष' भी इन्हींकी रचना है।

अमरसिंह—

संस्कृतज्ञ-समाज इन्हें जैन विद्वान्के रूपमें ही जानता है। इसका मुख्य कारण 'कविकल्पलता-'के प्रणेताका भी इसी नामका होना है। इस भ्रमका खण्डन प्रसिद्ध अन्वेषक विद्वान् राहुल सांस्कृत्यायनने अनेक प्रमाणोंसे किया है। बोधिगयाके वर्तमान बुद्ध-मन्दिरसे प्राप्त एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि इस मन्दिरके निर्माता यही थे। एक मात्र 'अमरकोश' ग्रन्थसे इस प्रकारका अखण्ड यश प्राप्त करना इनकी पुण्य-प्रबलताका द्योतक है। भारतीय पण्डितोंमें यह उक्ति प्रख्यात है—'अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोशो जगत्पिता।' पाणिनिकी अष्टाध्यायी और अमरसिंहका कोश ये जगत्के (पांडित्यके लिये माता पिताके समान) उपकारक हैं।

'अमरकोष' तीन काण्डोंमें लिखा गया संस्कृतका सर्वश्रेष्ठ उपयोगी कोश-ग्रन्थ है। इतने बड़े पैमानेपर शायद ही किसी दूसरे कोश-ग्रन्थका प्रचार हो। इस लोकप्रिय कोशपर कुल मिलाकर ४० टीकाएँ हैं। तिब्बती और चीनी भाषाओंमें भी इसका रूपान्तर हो चुका है।

यद्यपि इनका कोई काव्य-ग्रंथ नहीं प्राप्त होता, तथापि अमरकोशकी सरस प्रवाह-शैली अपने निर्माताके अन्तरमें मुखरित कवित्वकी मधुरिम धाराको छिपा नहीं सकी है। "सदुक्तिकर्णामृत"में इनके सम्बन्धमें लिखा है—

प्रयोगव्युत्पत्तौ प्रतिपदविशेषार्थकथने प्रसन्नौ गाम्भीर्ये रसवति च काव्यार्थरचने।
अगम्यायामन्यैर्दिशि परिणतानर्थवचसोर्मतं चेदस्माकं कविरमरसिंहो विजयते॥

[प्रयोगोंकी शुद्धतामें, प्रत्येक पदके यथार्थ अर्थके प्रकाशनमें, प्रसाद गुणमें, भावोंकी गंभीरतामें, रसशालिनी कविताकी रचनामें, शब्द और अर्थके अन्यजनदुर्लभभाव-परिपाकमें (यदि मेरी बात मानी जाय तो) अमरसिंह कवि ही सर्वोत्तम है।]

शंकु—

नवरत्नोंमें अमरसिंहके अनन्तर इनका नाम लिया जाता है। वास्तवमें इनका नाम 'शंकुक' है। "काव्य-प्रकाश" नामक साहित्य-शास्त्रके विश्रुतनामा ग्रंथमें उसके रचयिता मम्मट भट्टने रस-निरूपणके प्रकरणमें भट्ट लोल्लटके बाद इनके ही मतका उल्लेख किया है। काश्मीरवासी "कल्हण" की "राजतरङ्गिणी"में यह पढ़नेमें आता है—

अथ मम्मोत्पलयोरुदभूद्दारुणो भीषणोरणः
रुद्धप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः।
कविर्बुधमनः सिन्धुशशाङ्क-शङ्कुकाभिधः
यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥

[मम्म और उत्पल इन दोनों राजाओंमें ऐसी लड़ाई हुई कि उसमें मरे हुए वीर सैनिकोंको लोथोंसे वितस्ता (झेलम नदी)का प्रवाह रुक गया ! उस युद्धको लेकर पण्डितोंके हृदयरूपी समुद्रके चन्द्रमा शंकुक कविने "भुवनाभ्युदयम्" नामक काव्य लिखा ।] इससे सिद्ध होता है कि "शंकुक" का "भुवनाभ्युदयम्" किसी समय प्रसिद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त था। किन्तु, काल-क्रमसे ह्रासके वात्याचक्रमें पड़कर वह अपने अस्तित्वको भी खो बैठा और पुरातत्त्वका विषय बन गया ! अब तो प्रयत्न करनेपर सूक्ति–संग्रहोंमें ही इनकी कुछ रचनाएँ पाई जा सकती हैं। इनकी तरह कहनेका ढंग संस्कृत-कवियों में बिरलेमें ही मिलेगा----

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः, प्रियतमो दूरे, मनोऽत्युत्सुकं,
गाढं प्रेम, नवं वयोऽति कठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि, मन्मथसुहृत् कालः, कृतान्तोऽक्षमी
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं मया ॥

[कामदेवके बाण अचूक निशाना मार रहे हैं, प्राणनाथ परदेशमें हैं, उनके लिये मन उत्कंठित हो गया है, अनुराग गाढ़ा है, अवस्था नवीन है, प्राण कठोर हैं, जल्दी निकल नहीं जाते, कुल पवित्र ठहरा, स्त्रीका स्वभाव कभी धीरज नहीं धरता, आजकलका समय (वसन्त) 'पञ्चबाण' का पक्का मित्र है, मृत्यु किसीको क्षमा करना जानती नहीं, सखियाँ चतुर नहीं (जो पतिसे मिलानेका प्रबन्ध करतीं), ऐसी स्थितिमें यह विरह सदा सहा कैसे जाय ?] छोटे-से-छोटे पदमें सुंदर-से-सुंदर भावोंके गुंफनमें ये अद्वितीय, अद्भुत और आश्चर्यजनक कलाकार थे ।

वेतालभट्ट —

विक्रम और वेतालके सम्बन्धमें श्रोता और वक्ताके रूपमें दोनोंकी कहानियाँ अपने देशमें आपण्डित-पामर प्रसिद्ध हैं। पण्डित लोग तो बात-बातमें "पुनर्वेतालस्तत्रैव रमते" के मुहावरेका प्रयोग करते देखे जाते हैं। "वेताल-पञ्चविंशतिः" (बैताल-पचीसी)का प्रचार इन्हीं कथाओंको लेकर है, परन्तु निर्माताके रूपमें इनका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

घटखर्पर —

कहा जाता है कि इनकी प्रतिज्ञा थी कि अनुप्रास और यमकमें जो कवि मुझे पराजित करेगा मैं उसके यहाँ फूटे घड़ेसे पानी भरा करूँगा ।

भावानुरक्तवनिता-सुरतैः शपेयमालभ्य चाम्बुतृषितः करकोशपेयम् ।
जीयेम येन कविना यमकैः परेण तस्मै वहेयमुदकं घट-खर्परेण ॥

यह एक ऐसी बात हुई कि इनका वास्तविक नाम लुप्त हो गया—उसके स्थानपर अप्राकृत नामकी ही ख्याति हुई। इनका बनाया हुआ "घटखर्पर-काव्यम्" (खण्डकाव्य) प्राप्त है। इस काव्यमें कुल मिलाकर २२ श्लोक हैं। सभी चमक-भरे मोतीके दाने हैं। अनुप्रास और यमकके प्रयोगके लिये कविमें परिष्कृत प्रतिभा और लोकोत्तर क्षमता है।

शब्द-अर्थ, भाव-भाषा, गुण-रीति, रस-अलंकार इन सभी काव्यके उपादेय गुणोंका इनके द्वारा यथास्थान उचित मात्रामें उपयोग किया गया है ।

नीलशष्पमतिभाति कोमलं वारि विदति च चातकोऽमलम् ।
अम्बुदैः शिखिगणो विनाद्यते का रतिः प्रिय ! मया विनाऽद्य ते ॥

[इस ऋतुमें हरी-हरी मृदु-मृदु दूवोंका (चारों तरफ) बिछौना बिछा हुआ है, चातक (पपीहा) चोंचसे पानी (स्वाती) की बूंदोंका पान कर रहा है, घन-गर्जन सुनकर मयूर केकारव कर रहे हैं—लेकिन मेरे प्राणनाथ ! मुझे तुम्हारे वियोगमें यह तनिक भी नहीं सुहाता है ।]

हंसा नदन्मेघभयाद् द्रवन्ति
निशामुखान्यद्य न चन्द्रवन्ति ।
नवाम्बुमत्ताः शिखिनो नदन्ति
मेघागमे कुन्द-समानदन्ति ॥

[हे कुन्द (-केफूल)के समान (उज्ज्वल) दाँतोंवाली ! इस समय (वर्षा ऋतुमें) गरजते हुए मेघोंके भयसे हंस भागने लगते हैं, सायंकाल चन्द्रोदय देखनेमें ही नहीं आता, गरजते हुए बादलोंकी सुहावनी छटापर मुग्ध होकर मयूर बोलते हैं ।]

विप्रलंभ-शृंगारका रसाप्लुत परिपाक जिस प्रकार कालिदासके मेघदूतमें मिलता है, उसी प्रकार घटखर्परके प्रकृत खण्डकाव्यमें भी संयोग शृंगारका सुन्दर निरूपण मिलता है। इनके एक और ग्रन्थ "नीतिसार" का भी उल्लेख मिलता है ।

कालिदास –

जैसा कि हम पूर्वमें लिख चुके हैं, महाकवि कालिदास, सम्राट् विक्रमादित्यके प्राणप्रिय कविमित्र थे । अवश्य ही उन्होंने अपनी रचनाओंमें विक्रमके व्यक्तित्वका उज्ज्वल स्वरूप-निरूपण किया है । इनके निम्नलिखित उदाहरणसे इनकी विक्रम-कालीनता स्पष्ट लक्षित हो जाती हैं ।

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै ॥
अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रंभोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥
तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥

[रघु० ६।३१-३६]

[**तब प्रतिहारी 'सुनन्दा' ने 'इन्दुमती' को नये उगे हुए इन्दुके समान दर्शनीय, शत्रुओंसे असह्य प्रतापवाले 'अवन्तिनाथ' को दिखाया और कहा—देखो ! बड़ी बड़ी बाँहोंवाले, गोल और पुष्ट कटिदेश-धारी, चौड़ी बलिष्ठ छातीवाले ये अवन्तीके राजा हैं । इनका शरीर-सौष्ठव इतना नयन-रमणीय है कि अनुमान होता है कि 'विश्वकर्मा'ने अपने "चक्रभ्रम"पर चढ़ाकर इनके सौन्दर्यको यत्न-पूर्वक चमकाया है । जब ये अपनी समस्त 'समर-वाहिनी'के साथ प्रयाण करते हैं तब सेनासे उठी धूलसे बड़े-बड़े सामन्तोंके मौलि-मुकुट मलिन हो जाते हैं । ये भगवान् 'चन्द्रमौलि-**

महाकाल' के निकट रहते हैं अतएव कृष्ण पक्षमें भी अपनी स्त्रियोंके साथ नित्य पूर्णिमाका आनन्द लेते हैं। इन्दुमति ! इस युवा राजाके ऊपर तुम्हारी कुछ प्रीति हो तो इनसे विवाह करके सिप्राकी तरङ्गोंसे उठे हुए पवनसे कम्पित उद्यान-श्रेणीमें विहार जा करो। किन्तु अपने प्रतापसे शत्रु-पङ्कको सोखनेवाले और बन्धु-कमलको खिला देनेवाले, 'अवन्ती-पति' पर उत्तम सुकुमारी 'इन्दुमती'-का भाव नहीं ठहर सका।]

वराहमिहिर—

भारतीय ज्योतिष्-शास्त्र इनसे गौरवास्पद हो गया है। इन्होंने 'बृहज्जातक'', ''बृहस्पति-संहिता'' और ''पंचसिद्धांती'' निबंध-ग्रन्थोंका निर्माण किया, किन्तु ''गणक-तरंगिणी''में भारतीय ज्यौतिष्के अन्यतम आधुनिक आचार्य महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीने इनके अतिरिक्त ''लघु-जातक'', ''समास-संहिता'', ''विवाह-पटल'', ''योग-यात्रा'' नामक ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। इनमें बृहज्जातक और लघुजातकका काशी और मिथिलामें प्रचुर प्रचार है। भट्ट उत्पल नामके विद्वान्के लेखसे ज्ञात है कि मगधमें उत्पन्न होनेवाले शाकद्वीपीय ब्राह्मणवंशके ये अलंकार थे। काम्पिल्य नगरी (वर्तमान 'कलापी') में बाल्यावस्था बीती, वहीं अध्ययन किया और भगवान् सूर्यसे वरदान-स्वरूप ज्यौतिष्शास्त्रका अप्रतिद्वन्द्वी पाण्डित्य प्राप्त किया। इनके पिताका नाम आदित्यदास था। इनके पृथुयश नामका एक विद्वान् पुत्र भी था। अपनी अगाध विद्वत्तासे इन्होंने प्रचुर यश और धन अर्जन किया। ये उज्जयिनीके सम्राट् विक्रमादित्यके आश्रममें रहते थे। वहाँ इन्होंने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाके सहारे अरबी-फ़ारसीका भी प्रशंसनीय अभ्यास कर लिया। एक स्थानमें इन्होंने ज्यौतिष्-शास्त्रकी महिमाके प्रसंगमें यह भी लिखा है—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजः ॥

[यवन तो म्लेच्छ ठहरे; परन्तु उनमें भी इस शास्त्रका प्रचार है और इस कारण वे ऋपियोंके सदृश पूजाके योग्य माने जाते हैं, तब उस ब्राह्मणका क्या कहना है, जो ज्यौतिष् शास्त्रका पण्डित है—वह तो सर्वथा पूजनीय है।]

वररुचि —

ये बड़े ही पुण्यश्लोक कवि थे। अधिकसे अधिक ८–१० श्लोक इनके मिलते हैं जिन्हें सहृदय पाठक ''सदुक्तिकर्णामृत,'' ''सुभाषितावलि'' और ''शार्ङ्गधर-संहिता'' में पा सकते हैं। इतनेपर भी इनकी गणना संस्कृतके नामाङ्कित कवियोंमें होती है। इस नामके तीन व्यक्ति मिलते हैं—

१—पाणिनीय व्याकरणपर वार्तिककार वररुचि कात्यायन।

२—''प्राकृत-प्रकाश'' के प्रणेता वररुचि।

३—सूक्ति-ग्रंथोंमें प्राप्त इसी नामके कवि। इनमें प्रथम और तृतीय वररुचि एक ही मान लिए गए हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डा० भाण्डारकरके मतसे इनका गोत्र ''कात्यायन'' और नाम ''वररुचि'' है। पण्डित-समाज इन्हें ''दाक्षिणात्य'' ही जानता है; किन्तु इधर इन्हें ''मैथिल'' पगड़ी पहनानेके लिये ''आटोपमय'' प्रमाण तैयार किए गए हैं। ऐसे विपयके जिज्ञासुओं-को ''कथासरित्सागर'' और 'लघुत्रिमुनि-कल्पतरु'' देखना चाहिए।

ये व्याकरण-शास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् और वर्ष उपाध्यायके उत्कृष्टतम शिष्य थे। सम्भवतः भाष्यकार पतञ्जलिके सतीर्थ भी। पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें एक स्थानपर 'वाररुचं काव्यम्' कहकर इनके किसी काव्यका निर्देश भी किया है। राजशेखरने अपनी "काव्यमीमांसा"में लिखा है—

"श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकार-परीक्षा —
अत्रोपवर्ष—वर्षाविह पाणिनिरिह व्याडिः, वररुचि-पतञ्जलि इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः ॥

इस खंड-वाक्यसे पूर्वोक्त सन्दर्भकी पुष्टि होती है।

बहुतसे मनीषियोंका अनुमान है कि पतञ्जलिके द्वारा वररुचिके जिस काव्यको इंगित किया गया है, उसका नाम सम्भवतः "कण्ठाभरण" हो सकता है। क्योंकि राजशेखरने लिखा है—

यथार्थता कथं नाम्नि माभूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

किन्तु इस समय तो इस काव्यका दर्शन ही नहीं होता। इनके श्लोकोंमें पुष्ट भाषा, स्वच्छ अर्थ, प्रौढ रसपरिपाकका पूर्ण आनन्द मिलता है।

कलमः फलभारातिगुरुर्मर्धतया शनैः।
विनतामांतिकोद्भूतं समाघ्रातुमिवोत्पलम्॥

[अगहनका धान, फलोंसे लदकर धीरेसे एक तरफ झुक गया है, मानो उस ओर पासमें खिले हुए कमलके फूलको सूँघना चाहता है।]

अस्या मनोहराकारकबरीभारनिर्जिताः।
लज्जयेव वने वासं चक्रुश्चमरबर्हिणः॥

[इस नायिकाके सुशोभित केश-कलापकी छटासे पराजित होकर लज्जाके मारे मयूरोंने वनवास ले लिया।]

वामन ! फलमत्युच्चात्तरुतो मरुतोपनीतमुपलभ्य।
युक्तं यत्तं तृप्यसि दृप्यसि चैतत्तु हास्यतरम्॥

[ऐ बौने ! (भलेमानस !) इस बहुत ऊँचे पेड़से (अचानक) हवाके झकोरेसे टपके हुए फलको पाकर जो तृप्त होते हो (यहाँतक तो) ठीक है, लेकिन (फल तोड़नेका) जो गर्व कर रहे हो, इससे बढ़कर हँसीकी बात और क्या हो सकती है !]

कालिदासके ग्रन्थोंकी उपादेयता

(पं० सीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्याचार्य)

किसी ग्रन्थकी उपादेयता, उस ग्रन्थकी लोकप्रियतापर विशेष निर्भर होती है। जो ग्रन्थ विद्वान् तथा अविद्वान् दोनोंको समान रूपसे प्रिय होते हैं, वे ही ग्रन्थ प्रशंसनीय होते हैं और उन्हींकी उपादेयता मान्य होती है। कालिदासके सभी ग्रन्थोंके इस प्रकार मान्य होनेसे उनकी उपादेयता स्वतःसिद्ध है।

कालिदास और उनके ग्रन्थ संस्कृतके सभी विद्वानोंको पूर्ण परिचित हैं। उनके निर्मित रघुवंश तथा कुमारसंभव नामके दो महाकाव्य, मेघदूत नामका खण्डकाव्य तथा मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल नामके तीन नाटक आबाल-वृद्धोंको ज्ञात हैं। संस्कृत साहित्यका अध्ययन उन्हींके ग्रन्थोंसे आरम्भ होता है और यह कह दें तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि संस्कृत साहित्यके अध्ययनकी परिसमाप्ति भी उन्हींके ग्रन्थोंको ठीक-ठीक समझनेमें ही हो सकती है। प्रसिद्ध विद्वान् टीकाकार मल्लिनाथके प्रास्ताविक श्लोकोंमें बड़ी ही सुन्दरताके साथ इस उक्तिकी पुष्टि की गई है। मल्लिनाथ संस्कृत भाषामें विद्यमान पञ्चमहाकाव्योंपर सर्वोत्तम टीका लिखनेवाले माने गए हैं। वे अनेक शास्त्रोंके पण्डित थे, जैसा कि उन्हींके श्लोकोंसे पता चलता है—

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम्।
अन्तस्तन्त्रमरँस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्॥
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुराम्।
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः॥
मल्लिनाथः कविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम्॥

[कणाद मुनिके वैशेषिक दर्शन, बादरायण व्यासजीके वेदान्त, पतञ्जलि मुनिके व्याकरण-महाभाष्य और अक्षपादके न्याय आदि शास्त्रोंका उन्होंने अध्ययन किया था और वे सबमें पारंगत थे। इसके अतिरिक्त वे अच्छे कवि थे और साहित्य-विद्याके अच्छे पण्डित थे।] ये ईसवी सन्‌की १४ वीं शताब्दीमें विद्यमान थे। कालिदासके तीनों काव्योंपर इनके पूर्ववर्ती अनेक टीकाकार हुए हैं और विशेषकर रघुवंशकी टीका लिखनेवाले १८ अच्छे पण्डित नामतः ज्ञात हैं। उन टीकाकारोंमें कुछ विद्वान् विशेष योग्यतावाले भी हैं तथापि मल्लिनाथने अपने प्रास्ताविक श्लोकमें कहा है—

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता।
एषा संजीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति॥

[कालिदासकी वाणी दोषपूर्ण टीकारूपी विषसे मूर्च्छित हो चुकी है। मेरी यह संजीविनी टीका उसमें जीवनका संचार करेगी।] इस उक्तिसे यह अनुमान भली प्रकार सिद्ध है कि उनके पूर्ववर्ती टीकाकार कालिदासके ग्रन्थोंको अच्छी तरह नहीं समझ पाए थे। उक्त श्लोकके पूर्वमें मल्लिनाथ कहते हैं—

कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः॥

[कालिदासकी वाणीके सारको केवल आजतक तीन व्यक्तियोंने समझा है, एक तो विधाता ब्रह्माने, दूसरे वाग्देवी सरस्वतीने और तीसरे स्वयं कालिदासने। मेरे सदृश अल्पज्ञ उनको ठीक समझनेमें सर्वथा असमर्थ हैं।] जब मल्लिनाथकी कोटिके विद्वान् कालिदासकी रचनाओंको ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं, तब कालिदासकी योग्यताके विषयमें पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। उनके ग्रन्थ इस प्रकार रहस्यमय होते हुए भी इतने सरल हैं कि उनको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ प्रारम्भिक छात्रोंके लिये पाठ्य विषय नहीं हो सकता। इसलिये इन ग्रन्थोंके विषयमें महाकवि भवभूतिकी वह उक्ति चरितार्थ हो सकती है—"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति" [संसारसे निराले उन महापुरुषोंके मनको कौन जान सकता है जो वज्रसे भी अधिक कठोर और फूलसे भी अधिक कोमल होते हैं।]

संस्कृत साहित्य और कालिदासका सम्बन्ध अटूट है। संस्कृत साहित्यका सौष्ठव और सौरभ बहुत कुछ इन्हींके ग्रन्थोंपर निर्भर है। जिस प्रकार रामायण और महाभारत ये दो आर्ष काव्य सारे संस्कृतके कवियोंके उपजीव्य हैं, उसी प्रकार कालिदासके काव्य और नाटक उनके पश्चाद्वर्ती सभी कवियोंके लिये अनुकरणीय बने हैं। यदि संस्कृत साहित्यसे कालिदासको हटा दिया जाय तो उसमें अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके रहते हुए भी उस गीर्वाण-वाणीकी लोकप्रियतामें कमी आ जायगी। अमेरिकाके राउडर नामक विद्वान्ने कालिदासकी श्रेष्ठताको अनेक प्रकारसे स्थापित करते हुए अन्तमें यही कहा है कि—

'वी नो दैट कालिदास वाज़ ए ग्रेट पोएट, बिकौज़ दि वर्ल्ड हैज़ नौट बीन एबिल टु लीव हिम एलोन।' [हम जानते हैं कि कालिदास महान् कवि थे क्योंकि संसारने उनको उपेक्षित नहीं छोड़ा।]

कालिदासके बिना, संस्कृत साहित्यका अध्ययन हो ही नहीं सकता। हम कालिदासको छोड़ नहीं सकते और छोड़कर संतोष नहीं पा सकते।

जर्मनीके जगत्प्रसिद्ध विद्वान् और कवि गेटे भी कालिदासके शाकुन्तलके अनुवादको पढ़कर आनन्द-वेगसे पागल-से हो उठे थे। उन्होंने उस ग्रन्थकी विलक्षण प्रशंसा करते हुए यह कह डाला—

उड्स्ट दाउ दि यङ्ग ईअर्स ब्लौसम्स ऐण्ड फ़्रूट्स औफ़ इट्स डिक्लाइन,
ऐण्ड औल बाइ ह्विच दि सोल इज़ चार्म्ड, एन्रैप्चर्ड, .फ़ीस्टेड् ऐण्ड .फ़ेड्।
उड्स्ट दाउ दि अर्थ ऐण्ड हैविन इट्सेल्फ़ इन वन सोल नेम कम्बाइन,
आइ नेम दी, ओ शकुन्तला ! ऐण्ड औल ऐट् वन्स इज़ सेड्।'

[यदि तुम युवावस्थाके फूल और प्रौढावस्थाके फल और अन्य ऐसी सामग्रियाँ एक ही स्थानपर खोजना चाहो जिनसे आत्मा प्रभावित होता हो, अत्यन्त उल्लसित हो जाता हो, तृप्त होता हो और शांति पाता हो अर्थात् यदि तुम स्वर्ग और मर्त्यलोकको एक ही स्थानपर देखना चाहते हो तो मेरे मुखसे सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है—शकुन्तला।]

कविकी वाणी प्रायः उसके हृदयका प्रतिबिम्ब होती है। कालिदासके विषयमें मल्लिनाथका यह कहना सर्वथा सत्य है कि कालिदासके ग्रन्थोंमें ऐसी कोई न कोई बात है जिसपर सभी दार्शनिक, तान्त्रिक, कवि तथा अन्य विद्वान् मुग्ध हैं। यदि ऐसा कहें कि उनके ग्रन्थोंमें चारों पुरुषार्थोंका प्रतिपादन कान्ताकी-सी मधुर वाणीमें किया गया है तो रामायण-महाभारतादि आर्ष काव्य उनसे कम नहीं हैं। उपनिषद्, भगवद्गीता आदि धर्मशास्त्र तथा मोक्षशास्त्रके ग्रन्थ, महाभारतके अनेक

पर्वों एवं पुराणोंमें और स्वतन्त्र रूपसे भी विद्यमान अर्थशास्त्र और कामशास्त्रके ग्रन्थ—ये सब कालिदासके ग्रन्थोंके उपजीव्य हैं। इतना ही नहीं, वरन् उनके ग्रन्थोंमें संगीतादि अन्यान्य शास्त्रोंके विषय भी पाए जाते हैं। तथापि इतनेसे ही कालिदास हमें इस प्रकार प्रिय नहीं हो सकते, जैसा हम इनको पाते हैं। यह भी मान लिया कि कालिदास समरस थे, अतः, उनके ग्रन्थोंमें निसर्ग अथवा प्रकृतिका वर्णन अनुपम हो उठा है। अलंकारोंमें भी विशेष उपमा अलंकारके वर्णनमें तो ये अद्वितीय ही हैं। मातृगुप्तके बतलाए हुए तीनों प्रकारके रस कालिदासके ग्रन्थमें पाए जाते हैं—

रसास्तु त्रिविधाः वाचिकनेपथ्यस्वभावजाः।
रसानुरूपैरालापैः श्लोकैर्वाक्यैः पदैस्तथा॥
कर्म - रूप - वयो - जाति - देश - कालानुवर्तिभिः।
माल्यभूषणवस्त्राद्यैः नेपथ्यरस इष्यते॥
रूपयौवन—लावण्य—स्थैर्य—धैर्यादिभिर्गुणैः।
रसः स्वाभाविको ज्ञेयः स च नाटचे प्रशस्यते॥

[रस तीन प्रकारके होते हैं—वाचिक, नेपथ्य और स्वभावज। रसके अनुरूप बातचीत, श्लोक, वाक्य और पद कहना तो वाचिक रस हैं; कर्म, रूप, वय, जाति, देश और कालके अनुरूप माला, आभूषण, वस्त्र आदि धारण करनेका वर्णन ही नेपथ्य-रस है और रूप, यौवन, लावण्य, स्थैर्य, धैर्य आदि गुणोंका वर्णन स्वाभाविक रस जानना चाहिए, जो नाटकमें बहुत प्रशंसनीय समझा जाता है।]

उनमेंसे पहला है वस्तु मात्रमें रहनेवाला स्वाभाविक रमणीय रस और दूसरा कृत्रिम रस है, जिसे कवि, योग्य शब्द-सौष्ठवके द्वारा तथा उचित नेपथ्य-वर्णनसे प्रस्तुत करता है। ये सब कालिदासके ग्रन्थोंमें प्रचुर मात्रामें मिलते हैं। इतना होते हुए भी उनकी एक विशेषता यह भी है कि वे मनुष्यकी भूमिकामें स्थित होकर हमारी सभी प्रकारकी वासनाओंकी धाराओंको भी सुन्दर एवं सूक्ष्म रूपसे चित्रित करते हैं, जिसको पढते समय पाठक तन्मय होकर काव्यके उस परम प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृत्ति'का अनुभव करने लगता है, जिसके सम्बन्धमें मम्मट भट्टने अपने 'काव्यप्रकाश'में बताया है कि काव्यरसका आस्वादन करते ही सब विषयोंको भूलकर मन केवल आनन्दमय बन जाता है। इसी आनन्दको स्थायी रूपसे प्राप्त करनेके लिये सारा संसार प्रयत्नशील है। आनन्द ही आत्माका वास्तविक स्वरूप है। अतः, जबतक मनुष्यको सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होता, तबतक उसे शान्ति और समाधान प्राप्त नहीं हो सकता।

कालिदासका ग्रन्थ-निर्माणका प्रधान अभिप्राय जनार्दन-रूपी जनताका आराधन ही प्रतीत होता है। इस लक्ष्यको उन्होंने स्वयं विशद किया है। मालविकाग्निमित्र उनका पहला नाटक है। उसमें उन्होंने नाटचके प्रयोजनको सुंदर रूपसे प्रकट किया है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाटचं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्।

[देवताओंको यज्ञ प्रिय होता है। उनके नेत्रोंको तृप्त करनेवाला परम प्रिय यज्ञ इस नाटच-कलाका अभिनय है, ऐसा मुनियोंका मत है। रुद्र महादेवजीने अपनी अर्द्धाङ्गिनी उमाजीके साथ

इस नाटचयज्ञको अपने ही शरीरमें द्विधा विभाजित करके ताण्डव और लास्य नामकी नृत्यकलाओंको आविर्भूत किया। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे निर्मित इस सृष्टिमें विद्यमान त्रिगुणात्मक लोक-चरितको ही अनेक प्रकारके रसोंमें नाटकमें प्रकट किया जाता है। अतः, भिन्न-भिन्न अभिरुचि-वाली जनताको प्रसन्न करनेके लिये एकमात्र साधन नाटचकला ही है।]

रघुवंश काव्यके आरम्भमें महाकविने रघुकुलके राजाओंका महत्त्व एवं उनकी योग्यताका वर्णन करनेके बहाने प्राणिमात्रके लिये कितने ही प्रकारके रमणीय उपदेश दिए हैं। जिस कार्यको कोई बड़े से बड़ा सुधारक चारों ओर घूमकर उपदेशोंकी झड़ी लगाकर नहीं कर पा सकता, उसे कवि, संसारके एक कोनेमें बैठा हुआ अपनी लेखनीके बलसे सदाके लिये कर दिखाता है—

सोहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

[मैं उन प्रतापी रघुवंशियोंका वर्णन करने बैठा हूँ, जिनके चरित्र जन्मसे लेकर अन्ततक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी कामको उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जिनका राज्य समुद्रके ओर-छोरतक फैला हुआ था, जिनके रथ पृथ्वीसे स्वर्गतक आया-जाया करते थे, जो शास्त्रोंके नियमके अनुसार यज्ञ करते थे, माँगनेवालोंको मनचाहा दान देते थे, अपराधियोंको उचित दण्ड देते थे, समयपर उठते थे, दान करनेके लिये धन बटोरते थे, सत्यकी रक्षाके लिये कम बोलते थे, यशके लिये विजय करते थे, सन्तानोत्पत्तिके लिये विवाह करते थे, बालकपनमें पढ़ते थे, तरुणाईमें सांसारिक भोग भोगते थे, बुढ़ापेमें मुनियोंके समान रहते थे और अन्तमें योगके द्वारा शरीर छोड़ते थे।]

इस प्रकार रघुवंश काव्यमें कालिदासने रघुवंशी राजाओंको निमित्त बनाकर उदारचरित पुरुषोंका स्वभाव पाठकोंके सामने ला रक्खा है। उनका यह अभिप्राय नहीं है कि लोग उनके सदृश होनेके लिये बाध्य हों क्योंकि ऐसा होना असम्भव है। किन्तु यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि इस संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो अपने आपको उन्नत न बनाना चाहता हो क्योंकि उन्नतिकी इच्छा करना आत्माका धर्म है। परन्तु प्रायः सांसारिक जीवोंकी इन्द्रियाँ विषयके अधीन होती हैं इसलिये त्रिगुण स्वभावके अनुसार वे सदा अवश रहते हैं। पर आत्माकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने स्वरूपकी खोज करनेकी ओर होती है इसलिये उसको ऐसे उदारचरितोंका वर्णन ही प्रिय होता है और उसके पढ़नेमें अज्ञात रूपसे मन तन्मय होकर अनुपम आनन्दका अनुभव करता है। ऊपर दिए हुए श्लोकोंमें ही कैसी सुन्दर कल्पना भरी हुई है। सूर्यवंशकी सन्तान जन्मसे ही पवित्र और निष्कलंक होती थी। पवित्र कुलमें जन्म लेना एक स्पृहणीय धर्म अवश्य है जिसमें कालिदासकी अटल श्रद्धा थी। आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करनेवालोंको हताश होनेका कोई

कारण नहीं। रघुवंशी राजाओंके वृत्तसे यह शिक्षा मिलती है कि वे फलकी प्राप्तितक कर्म करते जाते थे। पृथ्वीपर राज्य करते थे तो साधारण राजाओंकी तरह नहीं वरन् अपने राज्यकी सीमाको समुद्रतक पहुँचाते थे। उनके रथोंकी गति दसों दिशाओंमें स्वर्गतक भी थी। इतने महान् होनेपर भी वे अहंकार और दुरभिमानसे ग्रस्त नहीं होते थे, वरन् शास्त्र-विधिका पालन करते हुए देवताओंका पूजन और हवन बराबर किया करते थे, जो याचक होकर उनके पास पहुँचते थे, उनकी अभिलाषाओंको पूरा करके उनको सन्तुष्ट किया करते थे। राजाका कर्तव्य दुष्टोंका दमन करना है, इसलिये अपराध के अनुरूप दण्ड देनेमें कभी चूकते न थे। यह सब होनेपर भी उनमें विलास-प्रियता न थी। वे जितेन्द्रिय होते थे। इस बातको एक ही शब्दमें उन्होंने झलकाया है --'यथाकालप्रबोधिनाम्', अर्थात् सोकर उठनेका समय उनका कभी टलता न था। जो जिस कामका अवसर होता उस समय वह काम करते थे। वे धन इकट्ठा करते थे, परन्तु योग्य पात्रको उसका दान कर देते थे। वे मितभाषी होते थे, जिससे सत्यका अपलाप न हो। विजयी होनेकी इच्छासे ही दिग्विजय किया करते थे और उसका मुख्य हेतु चारों दिशाओंमें अपने यशको फैलाना था। केवल संततिकी इच्छासे ही गृहस्थाश्रमको स्वीकार करते थे, विषय-तृप्तिके लिये नहीं। बाल्यावस्थामें ही अध्ययन समाप्त कर लेते थे। यौवनमें विषयोंका उपभोग होता था, किन्तु वह नियम-रहित मनमाना नहीं होता था, प्रत्युत शास्त्रविधिके अनुसार, जिससे 'भोगे रोगभयं' भी न आए और जवानी बीतनेके पहले ही मुनिका आचरण अङ्गीकार कर लेते थे और योगबलको पाकर देह-त्यागके अनन्तर ब्रह्म-निर्वाणरूपी मोक्ष पा लेते थे। इन सब विषयोंका संकलन केवल रघुवंशमें है, जिसकी वस्तु स्वभाव-सुन्दर होनेके कारण उसको इस श्रेष्ठ कविने अपनी अनुपम वाणीके सामर्थ्यसे और उचित वेश-भूषादिकी योजनाके द्वारा उस काव्यको विविध रसोंसे ओतप्रोत कर दिया। कालिदासके अन्य ग्रन्थ भी इस प्रकारके तथा अन्य प्रकारके गुणोंसे पूर्ण होनेसे अत्यन्त मनोज्ञ और लोकप्रिय बन गए हैं।

आलंकारिकोंने उपदेशके तीन प्रकार बताए हैं—प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित और कान्ता-सम्मित। सम्मित शब्दका अर्थ तुल्य है। प्रभुसम्मित उपदेश आज्ञाके रूपमें होता है। वह जिस पुरुषके लिये होता है उसको विवश होकर उपदेशका पालन करना आवश्यक हो जाता है, जैसे माता-पिताका उपदेश बालकोंके प्रति होता है। वह औषधके समान प्रारम्भमें अप्रिय होनेपर भी अन्तमें गुणकारी होता है। वेद, उपनिषद्, शास्त्र आदि धर्म-ग्रन्थोंका उपदेश इसी प्रकारका माना गया है। दूसरा उपदेश मित्रसम्मित है, जो कि पुराणादि ग्रंथोंसे ज्ञात होनेवाला है, जैसे कोई मित्र दूसरे मित्रको कुमार्गसे हटानेके लिये कुछ कह रहा हो, उसी समय उसके मनमें यह विश्वास भी रहता है कि मेरा मित्र मेरे उपदेशको मान ले तो उसका कल्याण होगा, यदि नहीं मानेगा तो हम उसे बाध्य नहीं कर सकते। किन्तु तीसरा उपदेश कान्ता-सम्मित है, जो अच्छे काव्योंका प्राणरूप होकर कभी विफल नहीं होता। इस उपदेशमें कान्ताके समान पुरुषको सर्वदा प्रसन्न रखते हुए उसको अच्छे पथपर लानेके लिये ऐसा अतर्कित उपाय है कि जब वह अपनेको सुधरा हुआ पाता है तब वह उस चमत्कारको देखकर मन ही मन चकित हो जाता है। कालिदासके ग्रन्थोंमें यह तीसरे प्रकारका उपदेश स्थान-स्थानपर मिलेगा। कालिदासके स्वभावकी विशेषता यही है कि वे किसीसे घृणा करना तो दूर रहा, उलटे सभी प्रकारके ऊँच नीच पात्रोंकी प्रकृति प्रस्तुत करके उनके अच्छे और बुरे परिणामोंका मधुर शब्दोंमें वर्णन करते हैं। उचित होगा या अनुचित इसका निर्णय उन्होंने पाठकोंपर छोड़ दिया है, जिससे पाठकोंको कालिदासपर क्रुद्ध होनेका अवसर कभी

नहीं आ सकता। सारे संसारकी सहज प्रवृत्ति विषय-सुखकी ओर रहती है। विषय-सुखकी वासना कितनी प्रबल होती है और अपनेको राजर्षि जितेन्द्रिय बतलानेवाले भी वासनासे कैसे विवश हो जाते थे और साथ ही उससे अत्यन्त व्यथित होनेपर अधर्मके मार्गपर चलकर अर्थ और कामको वे कितना हेय समझते थे, इसका सूक्ष्म और सुंदर चित्रण हमें कालिदासके ग्रन्थोंमें मिलता है, जिसे पढ़कर पाठक समझ जायँगे कि साधारण जनता कष्ट और क्लेशोंसे बचनेके लिये विषयके अधीन हो जाती है, परन्तु असाधारण अलौकिक जन प्राणपनसे भी अधर्म और अन्यायके प्रलोभनको जीतनेकी चेष्टा किया करते हैं। इस विषयमें तीनों नाटकोंके उदाहरण हमारे सामने हैं। अभिज्ञान-शाकुन्तलके प्रथम अङ्कमें जब शकुन्तलाको राजा प्रथम बार देख लेते हैं, तब उसके सौन्दर्यपर मुग्ध हो जानेपर भी मनमें विचारने लगते हैं कि यह ऋषि-कन्या स्पर्शक्षमरत्न है अथवा अग्नि; और सत्यताके विदित होनेके पहले ही आत्म-विश्वासपर निर्भर होकर इस निर्णयपर पहुँच जाते हैं कि इस दुष्यन्तका मन आजतक कुपंथकी ओर कदापि नहीं झुका है, इसलिये शकुन्तलाके प्रति इच्छा अधर्म नहीं हो सकती। इससे एक बात निश्चित हो जाती है कि यदि किसी बातमें धर्मका विरोध न हो तो उसकी प्राप्तिके लिये किसी उपाय अथवा प्रयत्नका अवलम्बन करना प्रशंसनीय है। मनके विचारोंको वशमें करनेका सरल ढंग मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय सभीमें देखनेको मिलता है। कालिदासके प्रत्येक काव्य या नाटकमें नायक और नायिकाएँ भिन्न कोटिकी दर्शाई गई हैं। जैसे कुमारसंभवमें अत्युच्च कोटिके नायक शिवजी भी जब पार्वतीके सौन्दर्यपर मुग्ध नहीं होते हैं, तब पार्वतीजी 'अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्' (कामका निग्रह करनेवाले शङ्कर भला रूप-द्वारा कैसे रिझाए जा सकते हैं?) को ध्यानमें रखकर कठिन से कठिन तपश्चर्या करनेके लिये उद्यत हो जाती हैं और शङ्करको दास बनना पड़ता है।

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।

—कुमारसंभव, सर्ग ५, श्लो० ८६।

शंकरजीने कहा—['आजसे हे देवि! मैं तुम्हारे तपसे मोल लिया हुआ तुम्हारा दास हूँ।]

इस प्रकार काम-पुरुषार्थका बहुत ऊँचा चित्र उन्होंने अपने काव्यमें खींचा है। ऐसे ही अनेक सूक्ष्म भावोंको मधुर सान्द्र सूक्तियोंके द्वारा वर्णन करते हुए उनको अति मनोहर बना दिया है और भगवद्गीताकी 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कालोऽस्मि भरतर्षभ' का चारितार्थ्य सुचारु रूपसे सिद्ध किया है और स्वयं कामरूपी भगवान्के उपासक थे इसको भी झलकाया है। काम-पुरुषार्थकी निसर्ग दुर्लभता और उसको प्राप्त करनेके अनेक सरल सुगम उपाय तथा उस पुरुषार्थका उपभोग करनेवाले विविध व्यक्तियोंके स्वभाव-वर्णन आदि सब विषय आबालवृद्ध सभीको स्वभावसे ही प्रिय हैं तथा उनके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं और यही उनकी उपादेयताका कारण है।

कवि-जगत्में कालिदासका मौलिक स्थान है। त्रिवर्गके त्रिपय धर्म, अर्थ और काम, जिनका प्रतिपादन शास्त्रोंमें सुचारु तर्क और अनुभवसे किया गया है, उनको रोचक वर्णनोंके साथ आबाल-वृद्धके हृदयमें प्रविष्ट करा देना और उनकी चित्तवृत्तिको तन्मयताकी लहरमें लीन करा देना अच्छे कविका ही कार्य है और उसकी ही कृतिको विद्वानोंने 'काव्य' बताया है। दृश्य और श्रव्य दो प्रकारका काव्य होता है। कालिदासने दोनोंपर लेखनी चलाई है। ऐसी रचनाओंकी मौलिकता प्राञ्जल भाषा-द्वारा पूर्वोक्त उचित नेपथ्यके साथ वस्तु-प्रतिपादन-पर निर्भर रहती है। कालिदासने नाट्यकलामें प्रवीणता प्राप्त करके विचक्षण जगत्के सामने अपनी प्रथम रचना रखी, जिसे मालविकाग्निमित्र कहते हैं। उस नाटयके उपक्रमसे ज्ञात होता है कि उन्हें इस बातका विश्वास नहीं

था कि वह रंगमंचपर खरा उतरेगा। क्योंकि उनके पूर्ववर्ती भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि अनेक नाटककार प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे तथापि कालिदासमें इतना आत्मविश्वास अवश्य था कि उन कवियोंके नाटकोंमें जो बातें नहीं पाई जाती हैं वे मालविकाग्निमित्रमें दर्शकोंको मिल सकती हैं। इसलिये वे कहते भी हैं—'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
—मालविकाग्निमित्र १।२

[न तो पुराना होनेसे ही कोई काव्य ग्राह्य हो सकता और न नवीन होनेके कारण त्याज्य हो सकता है।] अच्छे समालोचक इस नाटककी समालोचना करते समय एक बातको भूल जाते हैं कि कालिदासने इस नाटकके लिये ऐसा नायक चुना, जो कालिदासके समकालीन राजाओंमेंसे था। अग्निमित्र शुंग वंशके एक साधारण राजा थे। उनके कई पत्नियाँ थीं तथापि उनकी काम-वासना नूतन सुन्दरीको देखनेसे जागरित हो जाती थी और वह वस्तु यदि सुप्राप्य रहती थी तो उसकी प्राप्तिके लिये कोई भी यत्न बचा नहीं रक्खा जाता था। हमारी दृष्टिमें यह उसी समयका चरित्र-चित्रण है और इसीको उन्होंने नाटकका प्रधान विषय बनाया है। शेक्सपियरने भी कहा है कि 'नाटक' जगत्के व्यवहारोंका प्रतिबिम्ब है (होल्डिंग मिरर अपटु नेचर)। कालिदास इसे भली भाँति जानते थे कि महाभारत और रामायणमें वर्णित राजर्षिके समान अग्निमित्र उदात्त-चरित नहीं थे तथापि ये नायकके सभी साधारण गुणोंसे सम्पन्न अवश्य थे।

वे धीरोदात्त थे, दक्षिण थे और मालविकासे प्रेम करते हुए भी विवाहिता रानियोंके साथ कभी उपचारातिक्रम नहीं करते थे। मालविकाके साथ एकान्त सेवनरूप जो मानुष-सहज दुर्बलता कालिदासने अग्निमित्रमें दिखलाई है, उसके कारण आधुनिक कतिपय विद्वानोंने उन्हें बहुत ही हीन-चरित्र बताया है एवं उनकी निन्दा भी की है, परन्तु कालिदासकी दृष्टिमें अग्निमित्रका मालविकाके साथ एकान्त समागम केवल मालविकाको स्मर-पीडाकी आत्यन्तिक अवस्थासे बचानेके लिये ही था। नाटकमें इस स्थितिको कविने बड़ी कुशलतासे चित्रित किया है। अन्तमें राजपुत्रीके सम्बन्धको जानकर देवी धारिणीके द्वारा ही मालविकाको देवी पद प्रदान कराया गया है। इसी प्रकार इस नाटकमें परिव्राजिका, नाट्याचार्य, विदूषक तथा अन्य कुल-स्त्रियोंका वर्णन विलक्षण चातुरीके साथ किया गया है और उपर्युक्त वाचिक, नेपथ्य और स्वाभाविक तीनों रसोंका परिपोष इतना मनोज्ञ बना दिया गया है कि उसे पढ़ तथा देखकर पाठक एवं दर्शक मुग्ध हो जाते हैं और सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणोंके अनुरूप अनेक प्रकारके रसोंका आस्वादन करते हैं।

मालविकाग्निमित्र नाटकके पश्चात् अभिनय-जगत्में अवतरित कालिदासका दूसरा नाटक अथवा त्रोटक विक्रमोर्वशीय है जिसमें मनुष्य-भूमिकापर स्थित कराकर राजर्षि और दिव्यांगनाका ऐसा वर्णन किया है कि वह करुण विप्रलम्भ शृङ्गारके अतिविस्मयजनक रस, विलक्षण भाषा-सौन्दर्य और संगीत-शास्त्रके रहस्यमय पदोंके साथ अत्यन्त मनोहर बन गया है। कथा, केवल वेदमें वर्णित सारांश रूपमें ही है। इला और बुधके पुत्र तथा चन्द्रमाके पौत्र राजा पुरूरवा देवांगना उर्वशीके साथ प्रणय करते हैं, फिर वियोग हो जाता है और फिर मिलन भी हो जाता है, जिससे एक पुत्र उत्पन्न होता है। यही सामान्य कथा कवि-कौशलसे बहुत ही रमणीय बन गई है। इस नाटकमें विशिष्ट पात्रोंकी मनोभावनाएँ सूक्ष्मसे सूक्ष्म विशिष्ट संगीत-विज्ञानके साथ प्रकट करके कालिदासने नाटच-कलामें दूसरा प्रशंसापत्र पाया। ऐसी शुष्क कथामें कालिदासके अतिरिक्त अन्य कोई भी कवि इतना जीवन नहीं डाल सकता था।

तीसरी नाट्यरचना सबसे सर्वांगसुन्दर उपदेशोंसे भरी हुई मानवस्वभावकी विचित्रताको प्रदर्शित करनेवाली, सभी देशों और कालोंके अनुरूप कमनीय अभिनय-कलापूर्ण कृति, अभिज्ञान-शाकुन्तलके रूपमें प्रकट हुई और उसने नाटक-जगत्‌में सदाके लिये सर्वत्र श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। पाश्चात्योंके भारतसे परिचित होनेके कुछ कालके अनन्तर संस्कृत भाषाके अन्यान्य ग्रन्थोंके साथ इस नाटकका भी अनुवाद योरोपीय भाषाओंमें हुआ। हम पहले कह चुके हैं कि केवल इसके अनुवादको पढ़कर योरोपके विख्यात कवि गेटेने इसपर लट्टू होकर हर्षातिरेकके साथ इसका आदरपूर्वक अभिनन्दन किया। विद्वानोंमें यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्॥

[जितने काव्यके प्रकार हैं उनमें नाटक विशेष सुन्दर होता है। प्रसिद्ध नाटकोंमें काव्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे अभिज्ञान-शाकुन्तलका मूर्धन्य स्थान है। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें भी चतुर्थ अङ्क और इस अङ्कमें भी चार श्लोक मनोहर हैं।] वल्कल-धारिणी शकुन्तलाको देखकर दुष्यन्तका हृदयोद्‌गार इस रूपमें निकला—'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। [यह नवेली तो वल्कलमें भी बड़ी रसीली लगती है। स्वभावसे ही रमणीय वस्तुओंकी शोभा बाह्य उपकरणोंपर निर्भर नहीं होती।] प्रत्युत असुन्दर वेष-भूषा भी उनकी सहज कमनीयतामें बाधा नहीं डालती। उनकी शोभा प्रतिक्षण नवीन ही रूप धारण करती है। यदि सर्वांग-सुन्दर अभिज्ञान-शाकुन्तलके भाषान्तरमें किए गए अनुवादोंकी समीक्षा करते समय दुष्यन्तकी इसी उक्तिका उपयोग किया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। ठीक ही है, आभ्यन्तर सौन्दर्य बाह्य उपादानके अनुपयुक्त होनेपर भी जगमगाता ही रहेगा। यह नाटक किसी भी रूपमें रहे, इसकी हृदयहारिता ज्योंकी त्यों बनी रहेगी। हमने सुना है कि इस विश्वव्यापी घोर संग्राम (सन् १९३९-४४) के कुछ मास पूर्व इस बीसवीं शताब्दीमें आस्ट्रेलिया द्वीपखण्डमें इस नाटकके आंग्ल भाषानुवादका अभिनय करके वहाँकी जनता आनन्द लेती थी। इसमें चौथा अङ्क सब प्रकारसे सुन्दर तो है ही, उसके चार श्लोक किसी देशमें सदाके लिये सभीको उपादेय हैं। अधिक क्या कहा जाय, शकुंतलाकी एक पंक्ति भी दोषग्रस्त नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पंक्तिमें एक न एक विशेषता है। इस नाटकके सभी पात्र धीवरसे लेकर दुष्यंततक अपने-अपने ढंगसे रमणीय रूपमें अनेक रसोंका परिपोष करते हैं।

कालिदासके तीनों काव्योंका अपना-अपना अलग वैशिष्ट्य है। कालिदास अर्धनारी-नटेश्वर शङ्कर भगवान्‌के उपासक थे। यह बात उन्होंने अपने ग्रन्थोंके मंगल श्लोकमें झलकाई है। तथापि ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनोंके प्रति उनकी अभेद बुद्धि थी। विशिष्ट कार्योंके कारण एक ही परतत्त्वमें तीन प्रकारके अभिधानके मूल प्रकृतिके गुणोंके अनुसार तीन नाम हैं। सर्जन, पालन और संहरण, राजस, सात्त्विक और तामस प्रकृतिके कार्य होनेके कारण कार्यभेदसे एक ही परतत्त्वकी ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन प्रतीक मूर्तियाँ हैं। सांख्यकी प्रकृति और पुरुषको कालिदासने उसी परतत्त्वका आविर्भाव माना। उसी तत्त्वको योगीजन अपने हृदयमें स्थित ज्योतिके रूपमें पाकर कृतार्थ होते हैं। इस प्रकार कालिदासने सारे विश्वको आठ मूर्तियोंमें विभक्त करके उन सबको अपने उपास्य देवताका ही पृथक्-पृथक् अङ्ग माना है। इस दार्शनिक सिद्धान्तका प्रतिपादन स्थान-स्थानपर उन्होंने किया है। शङ्कर भगवान् के अर्धनारी-नटेश्वरके रूपमें उनके उपास्य देव होनेके कारण प्रथम उन्हींकी आराधनाके रूपमें कुमार-सम्भवका प्रवचन प्रतीत होता

है। जगन्माता और जगत्पिताका काम-पुरुषार्थ --संभोग तथा विप्रलम्भात्मक उभयरूप---शृंगारका मनोज्ञ वर्णन शांत रसमें सम्पन्न होकर सुस्थित आत्मानंदका देनेवाला होता है। बताइए, कालिदासके अतिरिक्त दूसरा कौन कवि है, जो इसे इतनी सफलताके साथ वर्णन कर पाता ? यहाँपर अचेतन सृष्टि सचेतन हो उठी है। हिमालय कालिदासकी सृष्टिमें जड़ पर्वत नही है, प्रत्युत वह देवतात्मा है जहाँपर सब देवता सदाके लिये वास करते हैं। पार्वतीजीके तपोवनमें बढ़नेवाले पेड़ उनके पुत्रोंसे कम सत्य-भाजन नहीं थे। जंगम प्राणियोंकी तो कथा ही क्या---उस तपोवनमें व्याघ्र और हिरण अपने शत्रु-भावको त्यागकर शांत चित्तसे विचरण करते थे, वहाँ स्थावर वृक्ष-लताएँ भी प्राणधारी बनकर घड़ेके जलरूपी स्तन्यका पान किया करते थे। इन कथनोंसे कालिदासने दर्शनके उदात्त तत्त्व चैतन्यका सर्व-व्यापित्व बड़ी रमणीयतासे झलकाया है। शिवजी योगीश्वर थे इसीलिये वे पार्वतीजीके सौदर्यपर लुब्ध होनेवाले नहीं थे। यही कारण था कि पार्वतीजीने अपने रूपको हेय माना और कठिन तपके द्वारा शिवजीको वशमें किया---

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

---कुमारसंभव, ५।२

[पार्वतीजीने नियमित रूपसे तपस्याके द्वारा समाधिका अभ्यास प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वैसा दैवी प्रेम और वैसा पति मिल कैसे सकता है ?]

बस, कालिदासका सारा प्रयत्न प्रेम और समाधि दोनोंको एक ही जगह दिखानेका था। इसका उद्देश्य और कोई नहीं, क्योंकि प्राणिमात्रका परम पुरुषार्थ अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनोंको एकत्र पानेमें ही है। यह शिक्षा हमें कालिदासके ग्रन्थोंसे मिलती है। कुमारसम्भवका पञ्चम सर्ग पूराका पूरा इसी भावसे भरा हुआ है।

कविके वर्णनका रहस्य व्यंजना-व्यापारसे उपदेश देनेका रहता है। आलङ्कारिक हमें बतलाते हैं कि सारे रामायणका प्रयोजन 'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' (राम तथा तत्सदृश पुरुषोंकी भाँति काम किया जाय, रावण इत्यादिकी भाँति नहीं) है। कुमारसम्भवमें दिव्य नायकका दिव्य चरित वर्णित है, परन्तु लौकिक काम और श्रृङ्गार-रसकी सूक्ष्म भावनाओंका वर्णन करनेके लिये उन्होंने मेघदूत लिखा, जिसमें यह वर्णन किया है कि प्रकृतिके समरस होते हुए भी प्राणीको मनुष्यसुलभ विपत्ति और वियोगमें सूक्ष्म भावनाओंका अनुभव किस प्रकार होता है और कैसे होना चाहिए। मेघदूत काव्य कोरी कल्पनाका फल नहीं है, जिसमें निसर्गके अनुपम वर्णन तथा श्रृङ्गार-सर्वस्वको कालिदासने अपने अत्यन्त अनुकूल मन्दाक्रांता वृत्तमें भर दिया है। यक्षकी अन्तिम हार्दिक इच्छा यही है कि 'हे मेघ'---

माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः॥

---उत्तरमेघ, ५८

[हे मेघ ! इस प्रकार तुम्हारा कभी बिजलीसे वियोग न हो।]

कालिदासके ग्रन्थोंका जब हम इस दृष्टिसे सूक्ष्म निरीक्षण करेंगे तब विदित होगा कि कालिदासके ग्रंथोंमें अत्यंत उदात्त चरित्र शङ्कर भगवान् तथा भगवान् रामचंद्रसे लेकर साधारण राजा अग्निमित्र तथा उनके साथ-साथ सृष्टिके सभी अन्य नीच प्रकारके व्यक्तियोंका विविध प्रकारका वर्णन पाया जाता है, जो भिन्न-भिन्न रसोंकी पुष्टि करता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन

चारोंका वर्णन तो है ही, साथ ही चारों पुरुषार्थोंकी जो सदिच्छा अर्थात् कामरूपी भगवान् हैं, उन्हींकी श्रेष्ठता जहाँ-तहाँ पाई जाती हैं—

"स शान्तिमाप्नोति न कामकामी" (गीता)

मुमुक्षु भी मोक्षका कामी ही होता है। इस श्लोकमें जितने देवधारी होते हैं, वे किसी न किसी कामके उपासक हैं। कोई धर्म-कामी है तो कोई अर्थ-कामी, बहुतसे काम-कामी हैं तो कोई मोक्ष-कामी भी हैं और ऐसे भी बहुतसे मिलेंगे, जो धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गको समान रूपसे चाहेंगे और दूसरे मोक्षके साथ चतुर्वर्गको और कुछ केवल अर्थ-कामसे संतुष्ट रहेंगे। कालिदासने हमें इन सभीके प्रतीक दिए हैं। केवल धर्म-काम सीतादेवी और रामचंद्र; केवल अर्थ-काम दिलीप और राजा दशरथ; केवल काम-कामी अग्निवर्ण तथा रावण; केवल मोक्ष-कामी राजा रघु तथा अज; धर्म तथा काम दोनोंके उपासक राजा पुरूरवा और दुष्यन्त; धर्म, अर्थ और काम तीनोंके उपासक राजा अग्निमित्र; और इन सभी प्रकारके कामोंको पूर्ण नष्ट करके आत्मस्थित होनेवाले शङ्कर भगवान्, जो पुरुषोत्तमके सुन्दर प्रतीक हैं और उनको भी अपनी तपोभक्तिसे दास बनानेवाली महाभक्त पार्वतीजी मूल प्रकृतिकी प्रतीक—इन सभीका सुन्दर वर्णन पाठक वहाँ पायँगे। संसारके किसी ग्रंथमें इतनी विविध प्रकारकी बातोंका इतना अनुपम विवेचन नहीं पाया जा सकता।

कालिदासकी ओर देखनेकी एक और दृष्टि है, वह है सद्यःपर-निर्वृति—तात्कालिक परमानन्दकी प्राप्ति जो काव्योंके पढ़नेके साथ ही मिलती है। कालिदास इस विषयमें पार्वतीजीकी ओर संकेत कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे उत्पन्न चरित्र नाना रसोंमें अर्थात् आठ (अथवा नौ) प्रकारके रसोंमें जो परिपुष्ट हो रहा है वह क्षणिक होता है, कदापि शाश्वतिक नहीं होता। क्षणिक रस अवश्य शाश्वतिक रसके ही अंश हैं। शाश्वतिक रस शान्त रस है, जो आत्मामें सर्वथा स्थित है, जिसको प्राप्त करनेके उपरान्त उससे श्रेष्ठ कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य रह नहीं जाती। वही आत्मानंद है। अतः आत्मानंदको हम शान्त रसका स्थायी भाव मानते हैं। दूसरे विद्वानोंने काम-तृष्णा-क्षयसुख आदिको शान्तरसका स्थायी भाव माना है परन्तु वे सभी इसी आत्मानन्दके भीतर आ जाते हैं। यह आत्मानन्द ही सांख्य शास्त्रमें निर्दिष्ट पुरुषका धर्म है। किन्तु पुरुष जब प्रकृतिके अधीन हो जाता है, तब प्रकृतिके तीनों गुणोंसे निकलनेवाले उसी एक ही शान्त रसके आठ प्रकार शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र, वीभत्स और अद्‌भुत हो जाते हैं। अतः शान्त रसको इन आठोंका प्रभव अथवा उदयस्थान मानना चाहिए, उनसे पृथक् नहीं। कालिदासका सर्वथा यही प्रयत्न है कि इन्हीं आठों रसोंके द्वारा उन उन आनंदोंको प्रकट करते हुए अन्तमें उस शाश्वतिक आनन्दको ही निरुपाधि बनाकर प्राप्त करा दें जो शांतिके रूपमें आत्मामें स्थित है। यह त्रिगुणातीत होकर पार्वतीजीके पदपर स्थित होकर पाना है—'तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।' यहाँ भगवान्‌के विषयमें भक्तिरूप प्रेमसे परम रूप प्रभुको प्राप्त करना है। यह तपपूर्वक समाधिके बिना नहीं प्राप्त हो सकता। यही ध्वनि-काव्यका उत्तम गुण व्यंजना-व्यापार, कालिदासके सभी ग्रंथोंमें अनुस्यूत है, अतएव वे सर्व-उपादेय बन गए हैं।

* * *

कालिदासके शब्द-प्रयोग

(पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय, व्याकरणाचार्य)

कविकुलतिलक, कविता-कामिनीके कमनीय कान्त कवि कालिदास अलौकिक चमत्कृति-सम्पादक काव्य-संसारके विधाता थे। उनकी प्रतिभा दृश्य तथा श्रव्य दोनों प्रकारकी काव्य-रचनामें अप्रतिहत थी। कविका स्थान जगत्में क्या है इसका आभास इसीसे मिल जाता है कि भगवान् भी अपने को "कविः पुराणः" कहकर 'कवि' शब्दसे ही संकेतित करते हैं। 'कवि' शब्द विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तिका बोधक है, उसीकी चमत्कार-जनक रचनाका नाम 'काव्य' है। काव्यके मुख्य आधार शब्द तथा अर्थ हैं। इसीसे काव्यका लक्षण करते हुए सभी आचार्योंने शब्दार्थकी प्रधानता स्वीकार की है —जैसे, (१) शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यालङ्कार), (२) तददोषौ शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यप्रकाश), (३) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (रस-गङ्गाधर), (४) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (साहित्यदर्पण), (५) इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः काव्यम् (काव्यादर्श) और (६) निर्दोषालक्षणवती सरीतिर्गुणगुम्फिता। सालंकाररसानेक-वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् (चन्द्रालोक)।

इन दोनोंमें भी अर्थापेक्षया 'शब्द'की ही प्रधानता प्रतीत होती है। इसलिये कविका शब्दोंपर अधिकार होना नितान्त आवश्यक है। उसके निमित्त शब्द-शास्त्रका पूर्ण पाण्डित्य अपेक्षित होना निर्विवाद है। इस दृष्टिसे कवि-सम्राट् कालिदास शब्दशास्त्रमें पूर्णतया निष्णात थे, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। उनके ग्रंथोंका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि शब्द-शास्त्र उन्हें रात-दिनके व्यावहारिक विषयकी भाँति अभ्यस्त था। यहाँतक कि उपमानविधानमें भी व्याकरणके विषय नियोजित हैं। उनकी प्रयोगशैली तथा प्रक्रियांशके पाण्डित्यका दिग्दर्शन ही पर्याप्त होगा। दो-चार उदाहरण लीजिए।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥
—रघुवंश, १।१॥

यहाँ शब्दार्थ-सम्बन्ध उपमान तथा पार्वती-परमेश्वर उपमेय हैं। व्याकरणमें शब्द और अर्थका अभेद है, दोनों एक हैं। जैसे 'नीलो घटः' में 'नील' और 'घट'का अभेद है। ऐसे ही 'अयं घटः' दृश्यमान 'व्यक्ति' अर्थ और 'घट' शब्दका अभेद है। इसीलिये 'अयं घटः' में दोनों शब्द समानाधिकरण प्रथमान्त हैं। यदि भेद होता तो 'राज्ञः पुरुषः' की तरह षष्ठी विभक्ति होती, पर 'अस्य घटः' या 'अयं घटस्य' प्रयोग नहीं होता। 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः', 'वृद्धिरादैच्' इत्यादि स्थलोंमें भी समानाधिकरण प्रयोग ही हुआ है। 'वागर्थाविव' समाससे तथा 'पितरौ' एकशेषसे 'इवेन समासो विंभक्त्यलोपश्च' वार्तिककी और 'पित्रा-मात्रा' सूत्रकी स्मृति ही आती है।

रघुवंशके बारहवें सर्गके अट्ठावनवें श्लोकमें 'बाली' के स्थानपर सुग्रीवके अभिषिक्त होनेका वर्णन करते हुए कहा गया है 'धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत्' जैसे 'अस्' के स्थानपर 'भू' आदेश होता है, और 'इण' के स्थानमें 'गा' होता है, वैसे ही 'बाली' के स्थानपर

‘सुग्रीव’ अभिषिक्त किए गए। कितनी सटीक उपमा है, जैसे ‘स्थानी’ के अर्थका वाचक आदेश होता है वैसे ही बालीका सब कार्य सुग्रीव करेंगे।

रघुवंशके पन्द्रहवें सर्गके सातवें श्लोकमें रघुकुलकी सराहना करते हुए लिखा है—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः॥

[रघुकुलका कोई एक ही, शत्रु-समुदायको वैसे ही दूर कर सकता है, जैसे अपवाद अनेक उत्सर्गोंको व्यावृत्त करता है।]

कुमारसंभवके द्वितीय सर्गके सत्ताईसवें श्लोकमें यही भाव और सुन्दर रूपमें आया है—

लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः॥

[पहलेसे लब्धप्रतिष्ठ आप लोग क्या बलवत्तर शत्रुओंसे बाधित हो रहे हैं? जैसे अन्यत्र चरितार्थ उत्सर्ग ‘इको यणचि’, ‘मा हिंस्यात् सर्वभूतानि’ को बलवत्तर (निरवकाश) अपवाद ‘अकः सवर्णे दीर्घः’, ‘अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत्’ इत्यादि व्यावृत्त करते हैं।] ‘अपवादो बलवान्’ या निरवकाशो विधिर्बाधकः’ व्याकरण-नियमका उपयुक्त व्यवहार हुआ।

रघुवंशके पन्द्रहवें सर्गके नवम श्लोकमें लवणासुरको जीतनेके लिये सेना लेकर शत्रुघ्नके प्रस्थानका वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे अर्थ (जय) सिद्धिके लिये सेना पीछे चली, जिस प्रकार अर्थ-सिद्धिके लिये अध्ययनार्थ ‘इङ्’ धातुके पीछे ‘अधि’ उपसर्ग लग जाता है। ‘अधि’ उपसर्गके बिना केवल ‘इङ्’ धातु अर्थ-बोधन करनेमें समर्थ नहीं।

तारकासुरसे त्रस्त देवगण पितामहके पास गए और उनको अपनी करुण कहानी सुनाई। पितामहने उसका उत्तर चारों मुखोंसे दिया। इसका वर्णन कुमारसंभवके दूसरे सर्गके १७वें श्लोकमें इस प्रकार है—

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी॥

पुराने कवि ब्रह्माके चारों मुखोंसे उच्चरित वाणीने “चतुष्टयी शब्दानाम्प्रवृत्तिः” को चरितार्थ कर दिया। बूढ़े ब्रह्माके मुख चार और उनसे शब्द भी निकले चार।

वैयाकरणोंके सिद्धान्तानुसार वाणी चार प्रकारकी होती है—(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा तथा (४) वैखरी।

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभि-संस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥

जो वाणी हम लोग बोलते और सुनते हैं, उसे ‘वैखरी’ कहते हैं। जो हृदयदेशस्थ है, उसे ‘मध्यमा’ जो नाभिदेशस्थ है उसे ‘पश्यन्ती’ और जो मूलचक्रस्थ है उसे ‘परा’ कहते हैं। यदि

‘चतुष्टयी’का अर्थ यह न मानें तो भगवान् पतञ्जलि-कथित ‘चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः’ जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रिया–शब्दाः, यदृच्छा-शब्दाः’ अर्थ लेना चाहिए । शब्दोंके अर्थबोधनमें चार प्रवृत्तियाँ निमित्त हैं—(१) जाति-ब्राह्मणत्वादि (२) गुण-शुक्लादि । (३) क्रिया-अध्यापनादि और (४) यदृच्छा-डित्थ डवित्थ आदि । व्याकरणके नियमोंका काव्यमें कैसा उपयोग किया गया है ।

यही नहीं, कालिदासने व्याकरणसिद्ध वैकल्पिक रूपोंका प्रयोग भी अल्पान्तरसे करके उसका बोध करानेका प्रयत्न किया है । जैसे—ईषदर्थक ‘कु’ शब्दके स्थान पर ‘कव’ तथा ‘का’ आदेश विकल्पसे होता है । रघुवंशके प्रथम सर्गके ६७वें श्लोकमें पहले ‘कवोष्णम्,’ पीछे ८४ वेंमें ‘कोष्णम्’ का प्रयोग किया गया है ।

व्याकरणके नियमोंका उपमान रूपमें प्रयोग करनेवाला व्याकरणके नियमोंका उल्लङ्घन करके चले, यह संभव नहीं प्रतीत होता । इसलिये कालिदासके उन प्रयोगोंपर भी विचार कर लेना प्रसंगप्राप्त है, जिनपर व्याकरणकी दृष्टिसे ‘निरंकुशाः कवयः’ कहकर आक्षेपका समाधान किया जाता है । सबसे पहले रघुवंशके मर्मज्ञ टीकाकार श्रीमल्लिनाथके ही आक्षेपपर विचार कीजिए—

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना ।
कावेरीं सरितांपत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ।।—रघुवंश, ४।४५

इस छन्दके ‘गजदान-सुगन्धिना’ शब्दकी टीका करते हुए वे लिखते हैं—‘गन्धस्येत्यादिना इकारः समासान्तः’ । यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं कर्त्तव्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवेकारादेशः, तथापि निरंकुशाः कवयः । तथा माघकाव्ये ‘ववुरयुक्छदगुच्छसुगन्धयः’ (सततगाः) । नैषधेऽपि —“अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा । न कर्मधारयान्मत्वर्थीय इति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षेऽपि जघन्य एव ।” भाव यह है कि ‘सुगंधिना’ पदमें बहुव्रीहि समास करके गन्ध शब्दके अन्त्य अकारको समासान्त इकारादेश होता है, परन्तु जहाँ गन्ध स्वाभाविक हो वहीं ‘इत्व’ होता है जैसे, ‘सुगन्धि पुष्पम्’ । जलमें गन्ध स्वाभाविक नहीं है, इससे यहाँ इकारादेश नहीं होना चाहिए । यह कविकी निरंकुशता है । माघ कविने वायुकी गन्धमें तथा नैषधकारने जलकी गन्धमें इकारादेश करके निरंकुशता दिखलाई है । यदि ‘सुगन्ध’ का कर्मधारय समास करके मत्वर्थीय प्रत्यय ‘इनि’ करें तो भी अनुचित है, क्योंकि—ऐसा नहीं होता—‘न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः’ । वस्तुतः ‘वार्त्तिक’का अर्थ वैसा है नहीं, जैसा समझा गया है । ‘वार्त्तिक’ का अर्थ है कि जहाँ ‘गन्ध-गन्धवान्’ पृथक् न दिखाई पड़ें वहीं इकारादेश होता है । इसलिये जहाँ ‘गन्धका अर्थ ‘गन्ध-क’ है वहाँ, जैसे ‘सुगन्ध आपणिकः’ में इकारादेश नहीं होता, क्योंकि ‘दूकान’ में गन्ध पृथक् दिखाई पड़ती है, जल तथा वायुमें गन्ध पृथक् नहीं दिखाई पड़ती, इसलिये इकारादेश होगा । अतएव दीक्षितजीने जो उदाहरण दिए–‘सुगन्धि पुष्पं सलिलं च सुगन्धिर्वायुः’ वे ही काशिकावृत्तिकारको भी अभिमत थे । वे लिखते हैं—‘एभ्य एवेति किम् तीव्रगन्धावातः’ यहाँ ‘इकार’ नहीं हुआ । यदि नैसर्गिक गन्धमें इकारादेशका नियम होता तो यहाँ वायुमें गन्ध नैसर्गिक नहीं है । महर्षि पतञ्जलिकी भी यही सम्मति है । कैयटने इस वार्तिककी व्याख्यामें स्पष्ट लिखा है—“यत्राविभागापन्नं कुङ्कुमादि देवदत्तादेर्भवति तदा इत्वमतत्स्थत्वाद्गन्धष्येति” जल तथा वायुमें गन्धका वर्णन करते हुए सबने ‘इत्व’ किया है । मल्लिनाथने माघमें ही ‘गुच्छसुगन्धयः वाताः’ की टीका करते समय इस विषयकी चर्चा-तक नहीं की । यही क्यों, माघके छठे सर्ग ३२ वें श्लोकमें ,शिलीन्ध्रसुगन्धिभिः वायुभिः’ की टीका करते हुए वे स्वयं लिखते हैं—“शिलीन्ध्राणां कदलीकुसु-

मानां सुगन्धः अस्ति षेषां ते शिलीन्ध्रसुगन्धिनस्तैः गन्धस्येस्वे तदेकान्तस्याभावादिनि प्रत्ययाश्रयणम्।'' अब क्या कहा जाय ! यद्यपि भट्टिकाव्यके टीकाकार जगमङ्गलने 'आघ्रायिवान् गन्धवहः सुगन्धः' की टीकामें नैसर्गिक गन्धमें 'इत्व' होता है कहकर 'सुगन्धः' प्रयोगका समर्थन किया है परन्तु व्याकरण तथा महाकविप्रयोगके विरुद्ध होनेसे यह सर्वसम्मत नहीं। अब कहिए किसे निरंकुश कहा जाय ! क्या कवि को !

दूसरा आक्षेप स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजीका है। वह इस प्रकार है—रघुवंशके प्रथम सर्गके अड़तालीसवें श्लोकमें 'महिषी-सखः' प्रयोग आया है। यहाँ यदि 'महिष्याः सखा' विग्रह करें तो महिषीकी प्रधानता होगी और राजा सहायक होंगे, इसलिये बहुव्रीहि होना चाहिए, जैसा 'गृहिणीसहायः' में हुआ है। पर यहाँ बहुव्रीहिमें समासान्त न होगा। यह आक्षेप भी सारगर्भ नहीं प्रतीत होता। यहाँ तो किसीकी प्रधानता या अप्रधानता विवक्षित ही नहीं है, केवल इतना ही विवक्षित है कि दूसरा कोई सहायक न था। इसीलिये मल्लिनाथ भी लिखते हैं—'सहायान्तर-निरपेक्ष इत्यर्थः'। अतएव तत्पुरुष समास करनेसे अर्थभेद नहीं होता।

तीसरा आक्षेप यह है कि रघुवंशके दसवें बारहवें श्लोकमें भगवान्‌के वर्णन 'हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम्' में 'हेति' शब्द पाणिनिके 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' सूत्रसे स्त्रीलिङ्ग है। यदि ऐसा है तो विशेषण-बोधक पद—'चेतनावद्भिः' न होकर 'चेतनावतीभिः' होना चाहिए। यह आक्षेप भी निःसार है। एक तो स्वयं भाष्यकारने व्याकरणको लिङ्गनियामक नहीं माना ''लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य''। लिङ्ग वस्तुतः लोक-प्रयोगके अधीन है। दूसरे, कोशमें 'हेति' शब्दको पुँल्लिङ्ग भी माना है। 'हेति-रक्लीवके' अनुसार यह शब्द केवल नपुंसक लिङ्ग नहीं है।

चतुर्थ आक्षेप कुमारसंभवके एक शब्दपर है। जहाँ कविने लिखा है—'भवनेत्र-जन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार' सर्ग ३।७२। वहाँ 'हरनेत्रजन्मा' कहना चाहिए 'मदनका नाश' करना है तो उत्पत्यर्थक 'भव' का प्रयोग अनुचित है। एक तो 'भव' रूढि संज्ञा है, इससे कोई योगार्थ प्रतीत नहीं होता, अन्यथा संहारक शक्तिका 'शिव' या 'भव' नाम ही न हो सकता। दूसरे, नाशक तो 'वह्नि' है 'भव' तो नाशक नहीं, प्रत्युत अग्निका उत्पादक है, इसलिये भी 'भव' शब्दका ही प्रयोग उचित है। तीसरे, भस्मविशेष मदनकी फिरसे उत्पत्ति होगी, इसलिये 'भव' शब्दका प्रयोग करना ही न्यायसंगत है।

इस प्रकार कवि कालिदासपर व्याकरण-नियमोल्लंघनका आक्षेप समुचित नहीं है। वे तो सर्वथा वैयाकरण सिद्धान्त तथा प्रक्रियांशके वेत्ता थे।

* * *

कालिदासके कवित्वकी पूर्णता

अर्थात्

तदीय कतिपय पद्योंका मर्म-प्रकाश

[श्रीमन्मध्वसंप्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौमसाहित्यदर्शनाद्याचार्य-तर्करत्न-न्यायरत्न
श्रीदामोदरलालजी गोस्वामी]

न सा विद्या न सा रीतिर्न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः॥

इस प्राचीनानुभविकोक्तिसे स्पष्ट सिद्ध है कि महाकविको एक-जातीय सर्वज्ञ होना चाहिए। ऐसी स्थितिमें कविके ज्ञात विषयोंका परिचय करना अंशतः सिद्ध साधन है, तथापि उक्त ज्ञानोंकी सूक्ष्मावगाहितापर सहृदयोंकी दृष्टि आकृष्ट करते हुए दिग्दर्शन कराना ही यहाँ प्रधान उद्देश्य है।

कालिदासके निबन्धोंमें मेघदूतकी सृष्टि अपूर्व है। यह लघुकाय होकर भी कर्ताकी विशेषज्ञताके ज्ञापनमें अति महान् है। इसका पूर्व भाग तो अभ्रान्त भूगोल-परिचयका साक्षी है। उत्तर भागमें—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणी-भारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

—उत्तरमेघ, २२।

इस पद्यसे अपनी पत्नीका परिचय देते हुए यक्षने दन्तोंके, नाभिके जो विशेषण दिए हैं, उनसे सामुद्रिक मार्मिकताकी कामशास्त्राभिज्ञताकी व्यञ्जनासे उसके पद्मिनीत्वका ध्वनन, उससे विशिष्ट सौन्दर्यका प्रत्यायन, एतद्द्वारा स्वकीय निरतिशय प्रेमास्पदत्वका अनुरणन, तन्मूलक तद्विच्छेदजनितारुन्तुदाधिकी दुःसहता, घण्टानाद-न्यायसे संलक्ष्यक्रमध्वनियोंका प्रवाह, व्यञ्जना-पथिकोंके अगोचर नहीं है। उक्त पद्यके शेषमें वाच्योत्प्रेक्षाऽलङ्कारसे तदीय सौन्दर्य-गताद्वितीयत्व वस्तुध्वनि, उससे व्यतिरेकालङ्कारध्वनि, तदनुगतस्वसौभाग्यवस्तुध्वनि, तत्पृष्ठभावी विषादसंचारि-भावध्वनि, यह ध्वनिश्रृङ्खला भी कम चित्ताकर्षिणी नहीं है।

रघुवंशके प्रथम सर्गके १४ वें पद्यमें 'सर्वतेजोऽभिभाविना' पदसे मन्वादिस्मृतिज्ञान, २६ वेंमें 'सम्पद्विनिमयेनोभौ' इससे नीतिज्ञता, ३९ वेंमें 'षड्संवादिनी' शब्दसे सङ्गीतागम परिचय, ५६ वेंमें 'विधेः सायन्तनस्यान्ते' इन पदोंसे सदाचार-बोध, ७१ वेंमें 'अनिर्वाणस्य' से पालिकाप्यतन्त्रज्ञता, ७६वेंमें 'प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायाम्' पदसे शिष्टाचार-शिक्षा, ८२वेंमें 'इति वादिनः' कथनसे शकुन-विज्ञता इत्यादिकी प्रतीति होती है। इसी भाँति तृतीय सर्गके १३ वें श्लोकमें रघुके जन्मक्षणमें—'ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः—इत्यादिसे ज्योतिषके होरास्कन्धकी विचक्षणता, ५२वें श्लोकमें रघुकी 'आलीढस्थिति' के द्वारा चतुर्वेद ज्ञान, ८वें सर्गके २१वें श्लोकमें आजके 'पणबन्धादि' वर्णनसे

नीतिप्रवीणता सूचित होती है, एवं सभी सर्गोंके तत्तत्स्थलोंमें यज्ञ-पद्धति-उपनिषत्सिद्धांत-धर्मशास्त्र–पुराणेतिहास-राजनीति-समाजनीति-गार्हस्थ्यचर्या-अन्याश्रमाचार प्रभृतियोंके निष्णातत्वका परिचय यथेष्ट मिलता है। कुमारसम्भव में भगवतीकी तपश्चर्या वर्णनमें---

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥५॥२४॥

यह पद्य भी निर्माताकी बहुदर्शिताका प्रधान साक्षी है। इसमें योगशास्त्रने जो समाधिमें नासाऽग्रदृष्टि, मुखका खुला न रहना, मेरुदण्डको उन्नत रखना, निश्चल रहना उपदिष्ट किया है, इनमेंसे प्रथम वर्णनमें दृष्टि-बिन्दुओंकी पलकोंपर स्थिति द्वारा पलकोंका अर्धोन्मीलन ध्वनित किया, इससे उनमें निबिडता ध्वनित हुई जिससे सामुद्रिकोक्त सुलक्षण व्यक्त हुआ, अर्द्धोन्मीलनसे नासिकाऽग्रदर्शन भी लब्ध हो गया, क्षण शब्दसे पलकोंमें मसृणता सूचित हुई, ताडित पदसे अधरमें कोमलता झलकी, अधरसे च्युत बिन्दुओंके कुचोंपर ही गिरनेसे मुख संवृति तथा बिखर जानेके द्वारा उनकी कठिनता व्यञ्जित हुई, साथ ही त्रिकोन्नति भी ध्वनित हुई। वहाँसे गिरकर त्रिबलीसे फिसलने-द्वारा उनकी चिकनाई, स्पष्टता, सुलक्षणता भी प्रत्यायित हुई, वहाँसे हटे बिन्दुओंके नाभिमें प्राप्तिवर्णनसे उसकी गम्भीरता-रूप सच्चिह्नकी व्यक्ति हुई। इस भाँति संलक्ष्यक्रम स्वतःसंभवी पदगत-वस्तुध्वनियोंसे भगवतीका अलौकिक सौंदर्य वस्तुध्वनित उपस्कृत हुआ, जो सबका अङ्गी है। सुतराम् उपस्कारकोंके साथ अङ्गाङ्गिभाव-संकर हुआ, उक्त अङ्गध्वनियोंमें परस्पर कोई संसृष्ट है, कोई एकव्यञ्जकानुप्रविष्ट संकीर्ण है।

ऋतुसंहारमें भी जो कर्ताकी लौकिक वस्तु-व्यवहारोंकी अभिज्ञता है, वह भी साहित्य-सेवियोंको अविदित नहीं है।

अभिज्ञानशाकुन्तलसे एक उदाहरण देखिए। शकुन्तलाके उत्तमत्व-प्रयुक्त निःश्वासादिमें नैसर्गिक सौरभसे आए हुए मतवाले भ्रमरका व्यापार देखकर महाराज दुष्यन्तकी वेदनामयोक्तिका चित्रण जो कविने इस पद्यमें किया है---

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं---
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधुरं—
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

---शाकुन्तल, अंक १।२२

उसकी जितनी प्रशंसा की जाय सब कम ही है। यद्यपि इसके आरम्भमें 'चलापाङ्गां दृष्टिम्' ऐसा पाठ मुद्रित पुस्तकोंमें और आधुनिक टीकाओंमें मिलता है, किंतु यह पाठ नितांत अहृद्य है। इस पाठसे "चपल अपाङ्गवाले काँपते नेत्रोंको छूता है" यह अर्थ होता है, और ऊपर लिखित पाठसे "चञ्चल कटाक्षपूर्वक देखा गया काँपती शकुन्तलाको छूता है" यह अर्थ होता है। अब मध्यस्थ बनकर निष्पक्षतासे सहृदय निर्णय करें कि नारियोंके नेत्रोंको देखना और कटाक्षपूर्वक नायिकासे देखा जाना इन दोनोंमेंसे रस-शास्त्र-सिद्धांतमें अधिक सुकृतका फल कौनसा होना उचित है। दूसरी बात यह कि यहाँ अलङ्कारोंकी भरमार कैसी है।

वक्तृ-प्रभृति वैशिष्टचकी सहायता पाकर स्पर्शहेतुसे अलिङ्गनेच्छाकी अनुमिति व्यङ्ग्य है। सुतराम्, अनुमानालङ्कार व्यङ्ग्य होता है। "रहस्याख्यायीव" यहाँ असिद्धविषयावाच्य-स्वरूपो-

त्प्रेक्षा है, और "मृदुकर्णान्तिकचरः" से चुम्बनेच्छाकी अनुमिति होनेसे भी अनुमानालङ्कार व्यङ्गच है। भ्रमरपक्षमें "अन्तिक" पद स्वारस्यसे "नेत्र हैं कि नीलोत्पल हैं" यह संदेहालङ्कार भी व्यक्त होता है, "रतिसर्बस्व" पदसे अनुमेयोक्तिमूलक निरङ्ग अभेद रूपक है और "पिबसि" पदका यद्यपि "पी रहे हो" यह अर्थ है तथापि "पीनेको व्यग्र हो" यह अर्थ ही वर्त्तमान सामीप्य मानकर होना उचित है, क्योंकि सहसा पानमें "करौ व्याधुन्वत्याः" इन दो पदोंका भाव बाधक हो रहा है। इन दो पदोंसे शकुन्तलाका मुग्धात्व वस्तुव्यङ्गच है और पान-सम्बन्ध न होनेपर भी "पिबसि"-द्वारा पानकथनसे असम्बन्धमें संबंधमूलक अतिशयोक्ति अलङ्कार है, तथा भ्रमरमें "स्पृशसि, स्वनसि, पिबसि," इन तीन क्रियाओंके अन्वयसे कारक-दीपक अलंकार है। यहाँ संदेह द्वितीयानुमानका अङ्ग है। दोनों अनुमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक, ये पाँचों परस्पर निरपेक्ष होनेसे इनकी संसृष्टि है, किन्तु कारक-दीपकमें सब अङ्ग होनेसे संकीर्ण हुए। भ्रमर-व्यापारमें हठ कामुक व्यवहारके आरोपसे हुई समासोक्तिमें साङ्ग दीपक अङ्ग है, चतुर्थ पादोक्त भ्रमरके कृतित्वमें पूर्व चरणत्रय वाक्यार्थकी हेतुतासे वाक्यार्थहेतुक काव्यालङ्कारमें समासोक्ति अङ्ग हुई है। "हताश" शब्द-द्वारा व्यञ्जित व्यतिरेकमें काव्यलिङ्ग अङ्ग हुआ है—यह सब शृङ्खला, अङ्ग हुई हैं विप्रलम्भ-भेद पूर्वरागमें। व्यङ्गचोंका यह सङ्घर्ष भरतागम-मार्मिकोंसे तिरोहित नहीं।

उक्त रीतिसे ही इस नाटकमें आगे एवं "विक्रमोर्वशीय" तथा "मालविकाऽग्निमित्र" में भी कविकी बहुदर्शिता पदे-पदे प्रतिपन्न होती है। समष्टि दृष्टिसे अन्य कवियोंकी अपेक्षा इनका उपमाऽलङ्कार स्वभाव-सुन्दर होता है। इससे भी अधिकता यह कि इनका प्रसाद गुण प्रायः सार्वत्रिक प्रशंसनीय है, जो कि प्रसादैक प्राप्त है।

—फलतः इनकी कविता द्राक्षापाकशालिनी है यह निर्विवाद है।

कालिदासकी सूक्तियाँ

(डॉ० पं० अमरनाथ झा, एम्०ए०, डी०लिट्०)

विक्रमके नवरत्नोंके अमूल्य रत्न कविकुलगुरु कालिदासने अपने काव्य-चमत्कारसे समस्त संसारमें ख्याति प्राप्त की है। दूर-दूर देशोंमें नाना भाषा-भाषियोंने इनके ग्रन्थोंको पढ़कर, उनका रसास्वादन करके, इनके गुणोंसे मुग्ध होकर, इनकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा की है। इनके पदलालित्य, इनके रचना-चातुर्य, इनकी कल्पनाशक्ति, इनके प्रकृति-वर्णन, इनके चरित्र-चित्रण, इनके काव्यकी सरसता इत्यादि गुणोंका गान सुनकर भारतवर्षका प्रत्येक निवासी प्रफुल्ल होता है, परन्तु कालिदासमें विचार-गाम्भीर्य भी है, उनके पदोंसे उपदेश भी मिलता है, उनकी उक्तियाँ आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं। इन वाक्योंमें संसारका अनुभव है, जीवनके बहुमूल्य सिद्धांत हैं। यहाँ कुछ ऐसी उक्तियोंका संग्रह किया गया है, जिनके पढ़नेसे और जिनके अनुसरणसे हम आज भी लाभ उठा सकते हैं। पचास उक्तियाँ पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत की जा रही हैं।

(१) एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

(जैसे चन्द्रमाकी ज्योतिमें उसका कलंक छिप जाता है, वैसे ही गुणोंके समूहमें एक दोष भी छिप जाता है।)

(२) क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।

(शरणागत क्षुद्र जनके प्रति भी महात्माका ममत्व-भाव वैसा ही रहता है जैसा सज्जनके प्रति।)

(३) विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

(यथार्थमें धीर पुरुष तो वे ही हैं, जिनका चित्त विकार उत्पन्न करनेवाली परिस्थितिमें भी अस्थिर नहीं होता।)

(४) शाम्येत् प्रत्युपकारेण नोपकारेण दुर्जनः।

(दुष्टको उपकारसे नहीं. अपकारसे ही शान्त करना चाहिए।)

(५) विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।

(अपने हाथसे सींचे हुए विष-वृक्षको अपने ही हाथसे काटना उचित नहीं।)

(६) न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य।

(वायु, पेड़को तो जड़से उखाड़ सकता है, पर पहाड़को नहीं हिला सकता।)

(७) शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।

(जिसकी शस्त्रोंसे रक्षा हो ही नहीं सकती, उसकी यदि शस्त्रधारी रक्षा न कर सके तो इससे उसका अपयश नहीं होता।)

(८) पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्।)

(पवित्र मार्गके प्रदर्शक देवतागण स्वयं पापमार्गका अनुसरण नहीं किया करते।)

(९) पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।

(गुण सब स्थानोंपर अपना आदर करा लेता है।)

(१०) प्रणिपातप्रतीकः संरम्भो हि महात्मनाम् ।

(महात्माओंके क्रोधकी शान्ति उनको प्रणाम करनेसे ही हो जाती है ।)

(११) आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।

(बादलोंके समान सज्जन भी जिस वस्तुको ग्रहण करते हैं, उसका दान भी कर देते हैं ।)

(१२) निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्धनं नार्दति चातकोऽपि ।

(चातक भी शरद्के सूने बादलके आगे आर्त्तनाद नहीं करता ।)

(१३) सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ।

(जब सूर्य दीप्तिमान् हो तब लोगोंकी आँखोंके सामने अँधेरा कैसे छा सकता है ।)

(१४) उष्णत्वमग्न्यातपसंनियोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ।

(धूप अथवा आगसे पानीमें उष्णता आ तो जाती है, परन्तु शीतलता ही इसकी यथार्थ प्रकृति होती है ।)

(१५) भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।

(भावीको सर्वत्र द्वार खुला मिलता है ।)

(१६) किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।

(जो स्वयं सुन्दर है, उसका सौन्दर्य किसी वस्तुसे बढ़ नहीं जाता ।)

(१७) सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः ।

(जहाँ सन्देह हो, वहाँ सज्जनके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही सत्यका निर्देश कर देती है ।)

(१८) न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।

(उत्तम वस्तुकी उत्पत्ति उच्च स्थानसे ही होती है—विद्युत्की ज्योति पृथ्वीतलसे नहीं उत्पन्न होती ।)

(१९) अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थनां कुरुते ।

(प्रेम यदि विफल भी हो तो भी एक दूसरेकी उत्कंठासे प्रसन्नता होती ही है ।)

(२०) कामी स्वतां पश्यति ।

(प्रेमी सब वस्तुओंको अपने अनुकूल ही समझता है ।)

(२१) लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।

(प्रार्थना करनेपर सम्भव है श्री न भी मिले, परन्तु जब श्री स्वयं कोई इच्छा प्रकट करे, तब उसके प्राप्त करनेमें क्या कठिनता हो सकती है ?)

(२२) ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ।

(दिनसे कुमुदिनीके फूलका इतना ह्रास नहीं होता जितना चन्द्रमाका होता है ।)

(२३) इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ।

(प्रेमीके प्रवाससे अबलाको असह्य कष्ट होता ही है ।)

(२४) गरुअम्पि (गुरुकम्पि) विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि (साहयति) ।

(कठिन विरह भी मिलनकी आशासे सह्य हो जाता है ।)

(२५) अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम् ।
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥

(वृक्ष अपने सिरपर गरमी सह लेता है, परन्तु अपनी छायासे औरोंको गरमीसे बचा लेता है ।)

(२६) भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूरि बिलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषा समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

(फलके आनेसे वृक्ष झुक जाते हैं, नब वर्षाके समय बादल झुक जाते हैं; सम्पत्ति पाकर सज्जन नम्र हो जाते हैं—परोपकारियोंका स्वभाव ही ऐसा होता है ।)

(२७) तमस्तपति धर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ।

(सूर्यके प्रकाशमान् रहते अंधकार कैसे फैल सकता है ।)

(२८) हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ।

(हंस दूध दूध निकाल लेता है और उसमें मिले हुए पानीको छोड़ देता है ;)

(२९) प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतंति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ।

(सज्जन अपने मित्रोंपर कृपाकी दृष्टि डालते हैं, शरोंकी वर्षा नहीं किया करते ।)

(३०) उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चंद्रः ।

(रातका जो अंधकार दूर करनेमें सूर्य असमर्थ है, उसे चंद्रमा दूर कर देता है ।)

(३१) प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ।

(प्रायः उत्तेजित होनेपर मनुष्य अपना महत्त्व प्रदर्शित करता ही है ।)

(३२) पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ।

(प्रारंभमें ही तिरस्कृत किया हुआ सौभाग्य दुःखमें परिवर्तित हो जाता है ।)

(३३) स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ।

(अंधा मनुष्य तो सिरपर डाली हुई माला भी साँपकी आशंकासे झटक फेंकता है ।)

(३४) मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ।

(जो सुखी हैं, उनका भी चित्त जब बादलोंको देखकर स्थिर नहीं रह पाता, तब जो विरही हैं, उनकी तो बात ही क्या ?)

(३५) कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।

(जो पुरुष कामसे आर्त्त है, वह जीव और जड़में भेद नहीं कर सकता ।)

(३६) याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।

(सज्जनसे निष्फल याचना भी अच्छी, नीचसे सफल याचना भी अच्छी नहीं ।)

(३७) आशाबंधः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।

(विरहमें वनिताके पुष्पसदृश हृदयको आशा ही कुम्हलानेसे बचाए रखती है ।)

(३८) न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किम्पुनर्यस्तथोच्चैः ।

(जिसने पहले उपकार किया हो, उसके उपस्थित होनेपर क्षुद्रजन भी उसका सत्कार करता है, फिर सज्जनका तो कहना ही क्या !)

(३९) स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।

(स्त्रियोंका हाव-भाव प्रेमीके साथ बातचीतका पहला स्वरूप है ।)

(४०) मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ।

(जिसने मित्रका कार्य सम्पन्न करनेका वचन दिया है, वह उसके समाप्त होनेतक ढिलाई नहीं किया करता ।)

(४१) आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।

(उत्तम पुरुषोंकी सम्पत्तिका मुख्य प्रयोजन यही है कि उससे दुखियोंकी विपत्तिका नाश हो ।)

(४२) के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ।

(निष्फल यत्न करनेवालोंकी जगत्में कब नहीं हँसाई हुई ।)

(४३) प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।

(सरस हृदय जन होते ही हैं, बहुधा मृदुल स्वभाव ।)

(४४) सीमन्तिनीनां कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः सङ्गमात्किंचिदूनः ।

(पतिके मिलनेसे स्त्रीको जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे बस थोड़ा-सा ही कम आनन्द मित्र-द्वारा उसका संदेश पाकर होता है ।

(४५) भूतानां हि क्षयिषु करणेष्वाद्यमाश्वास्यमेतत् ।

(काल सब प्राणियोंके सिरपर है, इसलिये पहले कुशल पूछना चाहिए ।)

(४६) कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

(किसीको भी केवल सुख अथवा एकमात्र दुखः ही दुखः नहीं मिला करता—दुःख और सुख रथके पहिएकी भाँति कभी ऊपर और कभी नीचे होते ही रहा करते हैं ।)

(४७) स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगात् ।
इष्टे वस्तुन्युचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥

(यद्यपि कहा जाता है कि विरहमें प्रेम कुम्हला जाता है, तथापि वस्तुतः वियोगमें प्रेमका प्रयोग न होनेसे वह संचित होकर राशीभूत हो जाता है ।)

(४८) निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः ।
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥

(तुम बिना गरजे हुए भी चातकको वर्षाजलसे तृप्त करते हो । सज्जनका तो स्वभाव ही यह है कि बिना कुछ कहे याचकोंकी माँग पूरी किया करे ।)

(४९) केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ।

(सज्जनसे की हुई प्रार्थना कब सफल नहीं होती ।)

(५०) पुराणमित्येव न साधु सर्वम् ।

(कोई वस्तु केवल इस कारण ग्राह्य और उत्तम नहीं है कि वह पुरानी है ।)

कालिदासका सन्देश

(आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय, साहित्याचार्य)

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

—श्रीकृष्ण कवि ।

महाकवि कालिदास हमारे राष्ट्रीय कवि थे । वे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिके प्रतीक थे। इस विशाल तथा विराट् देशकी संस्कृति कालिदासकी वाणीमें बोलती है तथा उनके नाटकोंमें अपना मनोहर भव्य रूप दिखलाकर मानवमात्रका मनोरञ्जन करती है । अँगरेज़ोंके प्रथम समागमके समय आजसे लगभग दो सौ वर्ष पहले यह भारतवर्ष संसारकी दृष्टिमें संस्कृतिविहीन अन्धकारपूर्ण देश समझा जाता था, परन्तु कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुन्तल' ने ही भारतके प्रति विश्वका आदर जगानेका श्लाघनीय कार्य किया । आजसे ठीक ११५ वर्ष पहले सन् १७८९ ई० में सर विलियम जोन्सने शाकुन्तलका अनुवाद अँगरेज़ी भाषामें किया तथा इसी अनुवादका सन् १७९१ में दो साल पीछे जर्मन भाषामें जौर्ज फ़ौरेस्टरने अनुवाद किया । इसी अनुवादको पढ़कर जर्मनीके सर्वश्रेष्ठ महाकवि गेटेने अपना जो हृदयोद्गार प्रकट किया था वह साहित्यके प्रेमियोंसे छिपा नहीं है । केवल संस्कृतके ज्ञाता पण्डितजन इस संस्कृतानुवादको पढ़कर उस विदेशी कविके अभिप्रायको भली भाँति समझ सकते हैं—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

इस अनुवादने हमारा बड़ा उपकार किया । पाश्चात्य जगत्ने भली भाँति समझा कि भारतीयोंकी संस्कृति बड़ी ऊँची है तथा हृदयके कोमल भावोंको प्रकट करनेकी निपुणता उसके कवियोंमें विशेष है । इस प्रकार कालिदासका ऋण हमारे ऊपर बहुत ही अधिक है ।

हमारी राष्ट्रीय भावनामें और विश्व-कल्याणकी भावनामें किसी प्रकारका कोई विरोध नहीं है । भारतीय कवि राष्ट्रका मंगल चाहता है और उसके साथ ही वह संसारकी मंगल-कामना भी किया करता है, कालिदासके काव्योंमें इस सामञ्जस्यका मनोरम रूप दृष्टिगत होता है। इस महाकविकी वाणीमें जिस प्रकार आदि-कवि वाल्मीकिकी रसमयी धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार गीता तथा उपनिषदोंका अध्यात्म ज्ञान भी मञ्जुल रूपमें अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है । भारतीय ऋषियोंके द्वारा प्रचारित चिन्तन-तथ्योंको मनोभिराम शब्दोंमें भारतीय जनताके हृदयमें उतारनेका काम कालिदासकी कविताने सुचारु रूपसे किया है । इस कविताका प्रणयन मानव-हृदयकी शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावोंका आलम्बन लेकर किया गया है । यही कारण है कि इसके भीतर ऐसी उद्दीप्त उदात्त भावना विद्यमान है, जो भारतीयोंको ही नहीं, प्रत्युत मानवमात्रको सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहेगी । इस भारतीय कविकी वाणीमें इतना रस है, इतना

ओज भरा हुआ है कि दो सहस्र वर्षोंके दीर्घ कालने भी उसमें किसी प्रकारका फीकापन नहीं आने दिया। उसकी मधुरिमा आज भी उसी प्रकार भावुकोंके हृदयको रसमय करती है, जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृतिका जो भव्य रूप इन काव्योंमें दिखाई देता है, वह नितान्त सजीव है। मानव-कल्याणके लिये इन काव्योंमें मधुर शब्दोंमें स्थान-स्थानपर उपदेश भी दिए गए हैं। आजका मानव-समाज परस्पर कलह तथा वैमनस्यसे छिन्न-भिन्न हो रहा है। प्रबल समरानल (सन् १९४०)-के भीतर संसारकी अनेक जातियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं। विश्व नितान्त उद्विग्न है। मानवताके लिये यह महान् संकटका समय है। विचार करनेकी बात है कि कालिदास क्या इस सम्बन्धमें भी कोई सन्देश देते हैं।

मानव-जीवनमें नैराश्यवादके लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक बतलाकर निःसार तथा व्यर्थ मानते हैं; उनका कथन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं, तथा जिससे हम अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं, उसे सारहीन क्यों मानें ? कालिदासका कहना है कि देहधारियोंके लिये मरण ही प्रकृति है, जीवन तो विकृतिमात्र है। यदि जन्तु श्वास लेता हुआ एक क्षणके लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ है—

मरणं प्रकृतिः शारीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

—रघु० ८।८७

इस जीवनको महान् लाभ मानना चाहिए तथा इसे सफल बनानेके लिये अर्थ, धर्म तथा कामका सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहिए। इस त्रिवर्गमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है (त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि—कुमार० ५।३८) परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता बनाए रखनेके लिये धर्मका विरोध करते रहते हैं। धर्मको दबाकर अर्थ अपनी प्रबलता चाहता है और धर्मको ध्वस्त करके काम भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है। इस विश्वमें आज धर्म-विरोधी अर्थ और कामका नग्न नृत्य हो रहा है। धर्म कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके शब्दोंमें 'धर्मसे अविरुद्ध काम' भगवान्‌की ही विभूति है। कालिदासने काव्यों तथा नाटकोंमें 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ'—इस गीता-वाक्यकी सत्यता अनेक प्रकारसे प्रमाणित की है।

मदन-दहनका रहस्य यही है। मदन चाहता है कि पार्वतीके सुन्दर रूपका आश्रय लेकर समाधि-निरत शंकरके हृदयपर चोट करूँ। प्रकृतिमें वसन्तका आगमन होता है। लता वृक्षपर झूल झूलकर अपना प्रेम जताने लगती है। एक ही कुसुम-पात्रमें भ्रमरी अपने सहचरके साथ मधुपान करती हुई मत्त हो जाती है। व्याधिके समान मदन संसारको त्रस्त करने लगता है। वह अपनी आकांक्षा बढ़ाता है और शंकरपर आक्रमण कर बैठता है। जगत्‌के कल्याण, आत्यन्तिक मङ्गलका नाम शंकर है। विश्व-कल्याण मदनकी उपासनामें नहीं है, प्रत्युत उसके धर्म-विरोधी रूपको दबानेमें है। काम अपनी प्रभुता चाहता है। विश्व-कल्याणपर अपना मोहन बाण छोड़ता है। शंकर अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र ज्ञाननेत्र है। वह प्रत्येक मनुष्यके भ्रूमध्यमें विद्यमान है। परन्तु सुप्त होनेसे हमें उसके अस्तित्वका पता नहीं चलता। शंकरका वह नेत्र जाग्रत है। इसी ज्ञानकी ज्वालामें मदनका दहन होता है। धर्मसे विरोध करनेवाला काम, भस्मकी राशि बन जाता है। शंकरको वशमें करनेके लिये पार्वतीजी तपस्या करती हैं। धर्म-सिद्धिका प्रधान साधन है—तपस्या।

बिना अपना शरीर तपाए तथा बिना हृदय-स्थित दुर्वासना जलाए धर्मकी भावना जागरित नहीं होती। कालिदासने कामका जलना दिखाकर यही चिरन्तन तथ्य प्रकट किया है। पार्वतीने घोर तपस्या करके अपना अभीष्ट प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदासकी दृष्टिमें काम तथा धर्मके परस्पर संघर्षमें हमें कामको दबाकर उसे धर्मानुकूल बनाना ही पड़ेगा। जगत्‌का कल्याण इसी भावनामें सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाजका गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तिकी उन्नति वाञ्छनीय वस्तु है, परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति समाजकी उन्नतिपर अवलम्बित है। व्यक्तियोंके समुदायका ही नाम समाज है। कालिदास वैयक्तिक उन्नतिकी अपेक्षा सामाजिक उन्नतिके पक्षपाती हैं। उनका समाज श्रुति-स्मृतिकी पद्धतिपर निर्मित समाज है। वह त्यागके लिये धन इकट्ठा करता है, सत्यके लिये परिमित भाषण करता है, यशके लिये विजयकी अभिलाषा रखता है, प्राणियों तथा राष्ट्रोंको पददलित करनेके लिये नहीं, गृहस्थीमें निरत होता है सन्तान उत्पन्न करनेके लिये, कामवासनाकी पूर्तिके लिये नहीं। कालिदास-द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाजका अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। वे शैशवमें विद्याका अभ्यास करते हैं, यौवनमें विषयके अभिलाषी हैं, वृद्धावस्थामें मुनिवृत्ति धारण करके सारे प्रपञ्चसे मुँह मोड़कर निवृत्ति-मार्गके अनुयायी बनते हैं तथा अन्तमें योगद्वारा अपना शरीर छोड़कर परम पदमें लीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाजकी अपनी विशेषता है—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥
—रघुवंश, १।७-८

उपनिषदोंमें धर्मके तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं— यज्ञ, अध्ययन और दान। इनके अतिरिक्त 'तपः' की महिमासे भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इन स्कन्धोंका विवेचन स्थान-स्थानपर बड़ी ही मनोरम भाषामें किया है। यज्ञका महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञके रहस्योंका ज्ञाता होता है। राजा दिलीप यह बात भली भाँति जानते हैं कि वशिष्ठजीके यथा-विधि सम्पादित होमके द्वारा जलकी ऐसी वृष्टि होती है जो अकालसे सूखे शस्यको हरा-भरा कर देती हैं—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रहविशोषिणाम्॥
—रघु० १।६२

नरराज तथा देवराज, दोनोंका काम परस्पर सहयोगसे मानवोंकी रक्षा करना है। नरराज पृथ्वीको दूहकर, उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त करके यज्ञ सम्पादन करता है और देवराज इसके बदलेमें उत्पन्न होनेके लिये आकाशको दूहकर पुष्कल वृष्टि करता है। इस प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्तिका विनिमय करके उभय लोकका कल्याण करते हैं—

दुदोह गां स यज्ञाय शस्याय मघवा दिवम्।
संपद् विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥
—रघु० १।२६

यज्ञपूत जलके द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थोंकी सिद्धि हमारे महाकविको मान्य है। रघु, सर्वस्व-दक्षिणा-यज्ञके अनन्तर कौत्सकी याच्ञा पूरी करनेके लिये जिस रथपर बैठते हैं, उसे वशिष्ठजीने मन्त्रपूत जलसे अभिमन्त्रित कर दिया है और उससे आकाश, नदी, पहाड़ आदि सब विकट तथा विषम मार्गोंपर चलनेकी क्षमता है। (रघु० ५।२७) इस प्रकार कालिदासकी दृष्टिमें सामाजिक कल्याणके साधनोंमें मन्त्रका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दानकी गौरव-गाथा गाते हुए हमारे महाकवि कभी श्रान्त नहीं होते। समाज आदान-प्रदानकी भित्तिपर अवलम्बित है। धनी-मानी व्यक्तिका संचित धन केवल उन्हींकी आवश्यकता अथवा व्यसन पूरा करनेके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग उन निर्धनोंकी उदर-ज्वाला शांत करनेमें भी है, जो समाजके विशेष अङ्ग हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में डंकेकी चोट कहा गया है कि दैवी वाग् मेघ-गर्जनके रूपमें सदा पुकारती है—दाम्यत (अपनी इन्द्रियोंको वशमें रक्खो), दत्त (दान दो) तथा दयध्वम् (दया करो)। यदि हम लोग इस दैवी वाणीकी पुकार सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं तो यह अपराध हमारा है। दानके बिना समाज छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। कालिदासने रघुवंशके पञ्चम सर्गमें दानका बड़ा ही उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वरतन्तुके शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणाके लिये जब रघुके पास गए, तब उन्होंने अपनी सारी संचित सम्पत्ति यज्ञमें दान दे डाली थीं। रघु अलकापुरीपर चढ़ाई करके यक्षराज कुबेरसे धन पानेका उद्योग करते हैं। इतनेमें कोषमें सोनेकी वृष्टि होती है। राजाका आग्रह है कि शिष्य सम्पूर्ण धन ले जाय और उधर शिष्यका आग्रह है कि मैं अपने कामसे अधिक एक कौड़ी भी न छूऊँगा। दाता और ग्रहीताका यह आग्रह आश्चर्यजनक है। यह दृश्य इस भारत-महीके इतिहासमें भी दुर्लभ है, अन्य देशोंकी तो कथा ही क्या।

तप भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है। इसकी आराधनासे मनुष्य अपनी सारी कामनाओंकी ही पूर्ति नहीं करता प्रत्युत परोपकारके लिये यथावत् योग्यताका भी अर्जन करता है। तपकी महिमासे हमारा साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। मदन-दहनके अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वतीजीने तपको ही अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। जगत्की समग्र आशाएँ छोड़कर वे इसकी सिद्धिमें लग गईं। उनकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीरसे उपार्जित मुनियोंकी तपस्या भी उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावविहीन जान पड़ती थी। प्रकृतिके नाना प्रकारके विषम कष्ट झेलकर वे अपनी कामना-सिद्धिमें सफल होती हैं। कालिदासने पार्वतीके तपका रहस्य विशेष रूपसे प्रकट किया है—

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

—कुमारसम्भव ५।२

पार्वतीकी तपस्याका फल था—'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटिका प्रेम और 'तादृशः पतिः' उस प्रकारका, मृत्युको जीतनेवाला महादेवरूप पति। जगत्के समस्त पति मृत्युके वश हैं, मृत्युञ्जय एक ही व्यक्ति है। महादेव ही मृत्युको भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आजतक कोई भी कन्या मृत्युञ्जयको पति रूपमें पानेमें समर्थ न हुई। और वह प्रेम भी कैसा? कालिदासने 'तपाविधं' शब्दके भीतर गम्भीर अर्थकी अभिव्यञ्जना की है। शङ्करने पार्वतीको अपने मस्तकपर स्थान दिया है। आदरकी भी एक सीमा होती है। पत्नीको इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कारका महान् उत्कर्ष है, आदरकी पराकाष्ठा है। अन्य देवताओंमेंसे किसीने

अपनी पत्नीको इतना गौरव नहीं प्रदान किया। भारतीय कन्याओंके लिये गौरवकी यह साधना अनुकरणीय वस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओंके सामने एक ही महान् आदर्श है और वह है पार्वतीका। भारतीय समाजमें गौरीपूजाका रहस्य महान् स्वार्थ-त्यागके भीतर छिपा हुआ है। तपस्याने ही गौरीको इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। तपस्या करनेवाले ऋषियोंके भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है। वे स्वयं शान्तिमें रहते हैं, सूर्यकान्त मणिकी भाँति वे छूनेमें बड़े कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेजके द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं। वे किसीकी धर्षणा सह नहीं सकते। यही तपस्याका प्रभाव है—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥
—शाकुन्तल, २।७

आजकलकी समर-ज्वालामें दग्ध होनेवाले संसारके लिये कालिदासका सन्देश विशेष रूपसे उपादेय है। विश्व-मानवोंको चाहिए कि यह सुन्दर सन्देश सुनकर अपने जीवनमें उसका बर्ताव करें। इस सन्देशको हम तीन तकारादि शब्दोंमें प्रकट कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन। विश्वकी शान्ति भंग करनेवाली वस्तुका नाम स्वार्थपरायणता है। समस्त जातियाँ अपने बड़प्पनका स्वप्न देखती हुई अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिमें निरत दिखाई पड़ती हैं। भयानक संघर्षका यही निदान है। इसका निवारण त्याग और तपस्याकी साधनाके बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत्ने नगरको विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण करके प्राच्य जगत् भी नागरिक सभ्यताकी उपासनामें दत्तचित्त हो चला। परन्तु कालिदासकी सम्मतिमें तपोवनकी गोदमें पली हुई सभ्यता मानवका सच्चा मंगल कर सकती है। जिसने हमारे देशको भारतवर्ष-जैसा मञ्जुल नाम प्रदान किया, उस दौष्यन्ति भरतका जन्म मारीचके आश्रममें हुआ। गोचारणका फल रघुके जन्मके रूपमें प्रकट हुआ। दिलीपने अपनी राजधानीका परित्याग करके वशिष्ठके आश्रममें निवास किया तथा गुरुकी गायकी विधिवत् परिचर्या की। उसीका फल हुआ इन्द्र—जैसे वज्रधारीका मानमर्दन करनेवाले वीरका उदय। तपोवनमें अलौकिक शान्ति तथा शक्तिका साम्राज्य छाया रहता है। प्रकृति निखिल विषमता दूर कर समताके अभ्यासमें निरत रहती है। हिंस्र पशु भी नैसर्गिक शान्तिके कारण अपनी प्रकृति भूलकर परस्पर मैत्री-भावसे निवास करते हैं। कालिदासकी दृष्टिमें प्रपंचके पचड़ेमें पचने-मरनेवाला जीव दयाका पात्र है। सुखमें आसक्त जीवको तापस उसी दृष्टिसे देखता है जिससे तैल-मर्दन करनेवाले व्यक्तिको स्नान किया हुआ व्यक्ति, अशुचिको शुचि, सुप्त व्यक्तिको प्रबुद्ध, बद्ध पुरुषको स्वच्छन्द गतिवाला पुरुष—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥
—शाकुन्तल, ५।११

जबतक यह संसार त्याग और तपस्याका आश्रय लेकर तपोवनकी ओर नहीं मुड़ेगा, तबतक इसकी अशान्ति कभी न बुझेगी, पारस्परिक कलह कभी न समाप्त होगा तथा वैमनस्यका नाश कभी न होगा।

कालिदासका सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाके अन्तिम श्लोकमें एक ही पद्यके रूपमें प्रकट किया जा सकता है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥
—शाकुन्तल ७।३५।

राजा प्रजाके हित-साधनमें लगे, शास्त्रके अध्ययनसे महत्त्वशाली विद्वानोंकी वाणी सर्वत्र पूजित हो, शक्ति-सम्पन्न भगवान् शङ्कर समग्र जीवोंका पुनर्जन्म दूर कर दें। इससे सुन्दर सन्देश और क्या हो सकता है? राजाका प्रधान कार्य प्रजाका अनुरञ्जन है। अराजक राज्यके दुर्गुणोंसे हम भली-भाँति परिचित हैं। राजाके बिना समाज उच्छिन्न हो जायगा, परन्तु राजाका प्रधान कर्तव्य होना चाहिए समाजकी रक्षा। राष्ट्रकी उन्नति तथा अभ्युदयके मार्गपर ले जानेवाले उसके विद्वज्जन ही होते हैं। अतः उनकी सरस्वतीका पूजन तथा समादर हमारा पवित्र कार्य है। राजा क्षात्र बलका प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्मतेजके प्रतिनिधि हैं। इन दोनोंके परस्पर सहयोगसे ही देशका सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलका सहयोग पवन तथा अग्निके समागमके समान नितान्त उपादेय तथा फलप्रद है—

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥
—रघुवंश, ८।४।

समाजकी सुव्यवस्था होनेपर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार समाज तथा व्यक्तिका परस्पर अभ्युदय भारतीय संस्कृतिका चरम लक्ष्य है सम्राट् विक्रमकी सभाके रत्न महाकवि कालिदासका यह त्याग और तपस्याका सन्देश जगती-तलपर प्रत्येक प्राणीके हृदयको सदय तथा सहानुभूतिमय बनावे, यही अन्तमें भगवान्‌से हमारी प्रार्थना है।

कालिदास और प्रकृति

[व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री पंडित करुणापति त्रिपाठी एम्० ए० (हिन्दी-संस्कृत) बी० टी०
कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी]

विश्वके विशाल साहित्यमें शेक्सपियरको लोग अन्तर्जगत्‌का और कालिदासको बाह्य जगत्‌का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार मानते चले आए हैं। बाह्य जगत्‌के चित्रणमें, प्राकृतिक वर्णनमें कालिदासने जो मनोरम काव्य-रचना की है, वह साहित्य-जगत्‌में अद्वितीय है। इनके प्रकृति-वर्णनमें इतनी सजीवता है, इतनी रमणीयता है तथा इतनी भव्यता और स्वाभाविकता है कि पाठकों और श्रोताओंके मन बरबस इनमें रम जाते हैं। इनके प्रकृति-प्रेमका अनुमान मेघदूतके इस एक ही श्लोकसे लगाया जा सकता है—

> हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
> चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥
>
> —उत्तरमेघ, २।

इस श्लोकमें जो वर्णन है वह शकुन्तला-जैसी किसी तपोवनवासिनी स्त्रीका वर्णन नहीं है वरन् धनपति कुबेरकी उस अलकापुरीकी यक्षिणियोंका वर्णन है, जहाँ महापद्म आदि नवों निधियाँ सदा निवास करती हैं, जहाँकी भूमि मणिकी बनी है, जहाँ गगनचुम्बी प्रासाद खड़े हैं, जहाँ सितमणि (स्फटिक)-के हर्म्यस्थल हैं, कनकमय सिकता है, जहाँ अमर-प्रार्थित यक्षकन्याएँ दिनरात मणियोंसे खेल खेला करती हैं, जहाँ रात्रिमें रत्न-प्रदीप जला करते हैं, चन्द्रकान्त-शिलाओंका बाहुल्य है, जहाँके तालाबोंकी सीढ़ियाँ मरकत (पन्ने) आदि मणियोंकी बनी हैं, हेम-कमलोंमें वैदूर्य मणि (नीलम)-के नाल हैं, इन्द्रनीलके क्रीडा-शिखर हैं और अन्य सभी बहुमूल्य तथा देवदुर्लभ सम्पत्तियाँ बिखरी पड़ी हैं और फिर कल्पवृक्षोंसे समस्त सम्पत्ति और समस्त विभूति भी सुप्राप्य है। इतना सब होनेपर भी वहाँकी अमर-प्रार्थित अङ्गनाओंके शृंगारकी सामग्रियाँ प्रकृतिकी विभूतियाँ हैं न कि जड मणि-शिलाओंके टुकड़े। यह वर्णन सूचित करता है कि प्रकृतिके पुजारी भावुक कविकी अन्तस्तल-दृष्टिको इन प्राकृतिक पदार्थोंमें जो सुषमा लक्षित होती है, वह सुषमा रत्नमुक्ता-खचित कांचके आभूषणोंमें नहीं दिखाई पड़ती।

इस महाकविकी शकुन्तला भी मानो साक्षात् प्रकृतिकी कन्या है। तपोवनके पावन वातावरणमें पली हुई शकुन्तला जिस समय आश्रम तरुओंको सींचती हुई हमारे सम्मुख आती है, उस समय आश्रम-वृक्षोंके प्रति शकुन्तलाका स्नेह ऐसा जान पड़ता है मानो वे उसके सगे कुटुम्बी ही हों। आश्रम-वृक्षोंकी इस भाँति मनोयोग-पूर्वक सेवा करनेवाली शकुन्तला, प्रत्येक वृक्षको अनुराग-पूर्वक सींचनेवाली और तपोवनकी किन लताओंमें स्तबक कब प्रकट हुए, कब उनमें मञ्जरियाँ दिखाई पड़ीं, इन सब बातोंका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करनेवाली कण्व-लालिता शकुन्तलाका अद्भुत प्रकृति-प्रेम उस समय लक्षित होता है, जब स्वयं महर्षि कण्व, जाती हुई शकुन्तलाको निर्दिष्ट करके वृक्षोंकी ओर देखते हुए कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नाधत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

—शाकुन्तल, ४।९

शकुन्तलाके इस चरम प्रकृति-प्रेमका प्रभाव यह होता है कि तपोवनके समस्त जड-चेतन उसके ऐसे अनन्य अनुरागी हो जाते हैं कि उसकी विदाईके समय वहांके वन-देवताओं और तरु-लताओंने अलौकिक वस्त्राभूषणादि-तक उसके लिये उपहारोंमें प्रदान कर डाले।

ऐसा जान पड़ता है कि कवि-कुल-गुरुकी समस्त वृत्तियाँ प्रकृतिके सौंदर्य-निरीक्षणमें, उनकी आरम्भिक अवस्थासे ही रम गई थीं। उनका ऋतुसंहार, जो उनका आरम्भिक काव्य माना जाता है—प्रकृतिकी मनोहर सुन्दरताओंके सूक्ष्म एवं सहृदय निरीक्षणका एक ज्वलन्त साक्षी है। यद्यपि ऋतुओंका आश्रय लेकर प्रकृतिकी सहज विशेषताओंका वर्णन ऋतुसंहारमें उद्दीपन विभावके अंतर्गत हुआ है तथापि उसका प्रथम श्लोक—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतमवारिसंचयः।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥

ऋतुसंहार, १।१

इस बातका पर्याप्त प्रमाण है कि सरस्वतीके लाड़ले पुत्र कालिदासके वर्णन, रूढियों और अलंकार-शास्त्रीय परम्पराओंके कोरे निर्वाह मात्र नहीं, वरन् आत्मानुभूति-जन्य हैं। फिर—

काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥

—ऋतुसंहार, ३।२

यह शरत्का वर्णन कविकी व्यापक दृष्टि और उनके वास्तविक तथ्य-निरीक्षणका परिचायक है। वसन्तके वायुका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां नीहारपातविगमात् सुभगो वसन्ते ॥

—ऋतुसंहार, ६।२४

इस वर्णनमें यद्यपि बहुत ही साधारण बात कही गई है, तथापि इससे यह सूचित होता है कि बौरे हुए आमके बागमें बैठकर मतवाले कोकिलकी कूक सुनकर अपना तन-मन निछावर कर देनेवाले कविने ही यह लिखा होगा। इसी भाँति ऋतुसंहारके प्रत्येक सर्गमें आदि और अन्तके ऋतु-वर्णन-विषयक पद्य इतने सरस, सुन्दर और साथ ही इतने भव्य हैं कि उन्हें पढ़ते ही या सुनते ही हृदयमें उन ऋतुओंका चित्र-सा खिंच जाता है।

कुमार-सम्भव तो प्रकृति-नटीके ललित लास्यकी रमणीय रङ्गशाला ही है। प्रथम सर्गका हिमालयवर्णन संस्कृत साहित्यमें क्या, समस्त विश्व-साहित्यमें एक देदीप्यमान रत्न है। कुछ उदाहरण लीजिए—

यश्चाप्सरो-विभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥
भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥ १५ ॥

ऐसा सुन्दर और स्वाभाविक पर साथ ही साथ सरस वर्णन तबतक सम्भव नहीं हो सकता, जबतक कविका हृदय प्रकृतिकी मनोरम लीलाओंको देखकर मुग्ध न हो गया हो।

आगे चलकर तृतीय सर्गमें पुनः वसन्तका वर्णन और अष्टम सर्गमें सन्ध्या तथा चन्द्रोदयका वर्णन भी अत्यन्त मोहक है। महाकविकी अनेक विशेषताओंमें यह भी एक विशेषता है कि जहाँ वे एक ओर प्रकृतिके स्वाभाविक शब्दचित्र-निर्माणमें अतीव प्रवीण हैं, वहाँ वे दूसरी ओर अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कल्पनामयी प्रतिभाके सहारे अलौकिक और दिव्य विभूतियोंका वर्णन भी बड़ी निपुणताके साथ करते हैं। जहाँ एक ओर हिमालयका अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन करनेमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है, वहीं दूसरी ओर ओषधिप्रस्थ-पुरीके, हिमालय-निवासी यक्षों, गन्धर्वों, किन्नरों और अप्सराओंके, अलकाके, सुमेरुके और गन्धमादनादिके काल्पनिक वर्णनमें भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिके उदाहरण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। पर्वतके झरनोंपर दिनके समय जब सूर्यकी किरणें पड़ती हैं, तब उनमें इन्द्रधनुष चमकने लगता है, पर सन्ध्याके समय सूर्यके लटक जानेपर उनमें इन्द्रधनुष नहीं दिखाई पड़ता। इसीका कवि वर्णन कर रहा है—

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥ ८॥ ३१

किन्तु झरनोंमें इन्द्रधनुषके न दिखाई पड़नेपर भी तालाबोंके जलमें लटकते हुए सूर्यकी समतल कान्ति पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो उनके ऊपर सोनेका पुल बना हो —

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता ।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥ ८ । ३४

ये उक्तियाँ केवल रूढिका अनुसरण करनेवाले कविकी नहीं हो सकतीं, वरन् ये उसकी उक्तियाँ हैं, जो कि मुग्ध दृष्टिसे प्रकृतिकी शोभा देखते हुए सब कुछ भूल जाता है।

इसी प्रकार रघुवंशमें भी तपोवनका वर्णन, प्रभात-वर्णन, वसन्त-वर्णन, समुद्र-वर्णन आदि भी अनुपम हैं—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहंगानामालबालाम्बुपायिनाम् ॥

—रघुवंश, १।५१

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन बिभाति वायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥
ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिका विशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥

—रघुवंश, ५।६९-७०

अमदयन् मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः ।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ।

—रघुवंश, ९।४२

ससत्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥

—रघुवंश; १३।१०

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शंखयूथम् ।

—रघुवंश, १३।१३

इसी सर्गमें आगे चलकर गंगा-यमुनाके संगमका कितना संश्लिष्ट वर्णन है । सम्भवतः गंगा-यमुनाके संगमका ऐसा भव्य चित्र संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध नहीं है। सोलहवें सर्गमें कुशकी जलक्रीडाके अवसरपर नदीका तथा मार्गके अन्यान्य दृश्योंका कितना मनोहर वर्णन है । इस प्रकार केवल रघुवंशमें ही प्रकृतिके न जाने कितने ललित एवं मनोरम दृश्योंके अत्यन्त कलापूर्ण चित्रात्मक वर्णन भरे पड़े हैं ।

मेघदूत तो मानो प्रकृति-रमणीके लालित्यपूर्ण मनोरम विलास-चेष्टाओंका आगार ही है । पूर्वमेघमें आरम्भसे लेकर अन्ततक कैसा अनुपम प्रकृतिका वर्णन है । वर्षाके आरम्भका एक वर्णन लीजिए—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥

—पूर्वमेघ, १०

ग्रीष्म ऋतुके बाद पहले-पहल ,वर्षाकी बूँदोंके पड़नेपर गरमी भर तपे हुए पत्थरवाले बिन्ध्यादि पहाड़ोंसे जो भाप निकलती है, उसका वर्णन लीजिए—

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥

—पूर्वमेघ, १२

इसी भाँति बाँबियोंके ऊपर मकड़ीके जालों और नीचे घासपर पड़ी हुई ओसकी बूँदोंपर या वर्षाकी बूँदोंपर दिखाई पड़नेवाले इन्द्रके धनुषके समान इन्द्रधनुषकी छाया पड़नेसे मेघकी कान्ति कैसी हो उठती है—इसे देखिए—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात् वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥

—पूर्वमेघ, १५

वर्षाके आरम्भमें जब जलकी बूँदोंके गिरनेपर भूमिसे सोंधी-सोंधी गन्ध उठती है उस समय सरल कृषक-बालाएँ कितने स्नेहसे श्यामल अम्बुवाहोंको देखती हैं—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ।।
—पूर्वमेघ, १६

रेवाका वर्णन लीजिए—

रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ।।
—पूर्वमेघ, २०

ऊबड़-खाबड़ विन्ध्यके निचले भागमें वहती हुई रेवा सजे हुए हाथीके अङ्ग-सी जान पड़ती है। एक और सुन्दर वर्णन लीजिए—

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केशरैरर्द्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभि गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ।।
—पूर्वमेघ, २२।

इस प्रकार समस्त पूर्वमेघ अत्यन्त भव्य और रमणीय प्राकृतिक दृश्य-चित्रोंसे भरा पड़ा है। प्रकृतिके किसी एक अंगके नहीं वरन् समस्त अंगोंके वर्णनमें वे बड़े सिद्ध-हस्त हैं। मेघदूतमें उनके प्रकृति-वर्णन एक ओर तो प्राकृतिक सुन्दरताओंका शब्द-चित्राङ्कन हैं और दूसरी ओर बाह्य जगत्का अन्तर्जगत्के साथ सम्बन्ध दिखानेवाला है। उन प्राकृतिक दृश्योंको देखकर केवल कविके, यक्षके या अनुप्राणित मेघके हृद्गत भाव ही नहीं वर्णित हैं, वरन् ग्रामवधुओं, पथिकों और विरहियोंके भावोंका भी अत्यन्त मनोरम चित्रण है। इतना ही नहीं, चातकों, मयूरों, बगुलों तथा हंसोंकी भी उन चेष्टाओंका वर्णन है जिनमें उनकी अन्तरानुभूतियोंकी छाया झलकती है। जन्तु-जगत्की मनोहर चेष्टाओंके चित्रणमें तो कालिदास सिद्ध-हस्त हैं। दुष्यन्त बाण चढ़ाए हरिणके पीछे रथ दौड़ा रहे हैं और वह गर्दन टेढ़ी कर-करके पीछे निहारता और चौकड़ी भरता भागा चला जा रहा है, थक जानेके कारण उसकी साँस फूल रही है और मुँह खुल गया है, इस कारण आधी चबाई हुई कुशा उसके मुखसे गिर पड़ रही है और चौकड़ीके वेगसे वह उड़ता-सा जान पड़ रहा है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥
—शाकुन्तल, १।७

महाकवि जो कुछ लिखते थे, वह उनकी वैयक्तिक अनुभूति और निरीक्षणका परिणाम होता था। शाकुन्तलके प्रथम अंकमें तपोवनकी जिन परिपूत विशेषताओंका कविने वर्णन किया है, वे मानो उनके अनेक बारके देखे हैं—

नीवारा शुकगर्भकोटरमुखभ्रटास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा—
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यंदरेखाङ्किताः॥

शाकुन्तल, १।१४

कुल्यांभोभिः प्रसृतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्भाङ्कुराणां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति॥

—शाकुन्तल, १।१५

महाकविके वर्णनकी अनुपम विशेषता यह है कि यदि उसका वर्णन दिव्य पात्रों और अलौकिक स्थलियोंसे सम्बद्ध नहीं है तो उसमें स्वाभाविकता और भौगोलिक सत्यता अवश्य रहती है। भारविके समान हिमालयमें वे मोतीका वर्णन नहीं करते। जिस देश, जिस काल और जिस परिस्थितिमें उनकी प्रकृति चित्रित होती है, वह उसी देशकालके पूर्णतः अनुरूप होती है। रघुके दिग्विजयका वर्णन करते हुए कवि, जिस मार्गसे और जिस समय जिस देशमें ले चलता है, उस समय वहाँकी जो बातें उसके वर्णनमें आती हैं, वे भौगौलिक विचारसे पूर्णतः वास्तविक हैं चाहे वे प्राच्य समुद्रके तटस्थ श्यामल तालीवनका वर्णन करता है, चाहे बङ्गालके कमलका निर्देश करता है, चाहे महेन्द्राद्रिके नागबल्ली-दलों और नारिकेलासवका चित्र खींचता है, चाहे मारीच-वनके परिभ्रान्त हारीतवाले मलयाद्रिकी उपत्यकाकी कथा सुनाता है, चाहे पांड्य देशकी ताम्रपर्णीकी बात बताता है, चाहे 'केरल' की मुरला नदीके पुलिनस्थ केतकीके पुष्प-परागोंकी गाथा गाता है, चाहे भारतके पश्चिमी सीमा-प्रान्तके अंगूरसे व्याप्त प्रदेशका वृत्तान्त कहता है, चाहे काश्मीरके कुंकुम-केसरकी कहानी कहता है, चाहे हिमालयके भोजपत्रोंका मर्मर, मृगोंकी कस्तूरी, सरल और देवदारुके तरु और गंगाके शीकरसे मिश्रित शीतल अनिलके गीत गाता है, अथवा लौहित्य नदी पार करनेपर कामरूपके अगुरु वृक्षोंकी सम्पत्तिका वर्णन करता है, सब कुछ भौगोलिक और प्राकृतिक वास्तविकता और याथातथ्यसे परिपूर्ण है। रघुदिग्विजयके अतिरिक्त इन्दुमती-स्वयंबर और मेघदूतमें मेघके मार्ग-वर्णन आदिमें भी ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, जहाँ दैशिक विशेषताओंके प्राकृतिक वर्णनमें कवि पूर्ण रूपसे यथार्थ है।

भौगोलिक तथ्य-वर्णनके अतिरिक्त महाकवि कालिदासके प्रकृति-वर्णनकी दूसरी विशेषता यह है कि प्रस्तुतकी अमूर्त्त विशेषताओं और सुषमा-सम्बन्धी विलक्षणताओंके साकार साक्षात्कारके लिये वह प्रकृतिके अप्रस्तुत प्रसंगोंकी निर्बाध सहायता लेता है। शकुन्तलाकी अकृत्रिम सुषमाकी ललित कल्पनाको मूर्त्त रूपमें चित्रित करनेके लिये वह कहता है--

सरजिसमनुबिद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

—शाकुन्तल, १।१९

इसमें शकुन्तलाकी सहज रूपसम्पत्तिका मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण करानेके लिये सेवारसे घिरे हुए कमल और सकलङ्क कलाधरकी सहायता ली गई है। इसी भाँति शकुन्तलाके अभुक्तपूर्व यौवनकी अभिव्यक्तिके लिये, उसके अछूते यौवनकी मनोहरताके प्रतिपादनके लिये, कवि अप्रस्तुतकी सहायता लेकर कह उठता है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥
—शाकुन्तल, २।१०

अनाघ्रात पुष्पादिका वर्णन हमारे सम्मुख उसकी अभुक्त रूपसम्पत्तिका बड़ा भव्य और प्रभावशाली चित्र उपस्थित कर देता है। इस चित्रकी सहायतासे अमूर्त्त भावनाके मूर्त्त साक्षात्करणमें अत्यन्त तीव्रता आ जाती है, हृदयपर उसकी मधुर और अमिट छाप पड़ जाती है।

रमणी-सौन्दर्यको देखकर अनेक तरुणोंके मन आकृष्ट होते रहते हैं, पर इतना कह देना कि अमुक सुन्दरीको देखकर असुक युवकका मन मुग्ध हो गया, पर्याप्त नहीं होता। केवल इतनेसे न तो कोई साहित्यिक रमणीयता जान पड़ती और न इसका कोई प्रभाव ही पड़ता है। अतः, उर्वशीका स्वर्गीय सौन्दर्य देखकर पुरुरवाका हृदय जब मुग्ध हो गया, तब उसीका प्रभावशाली वर्णन करते हुए कवि कहता है—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥
—विक्रमोर्वशीयम् १।२०

[जैसे मृणालके दो खण्ड करके एक खण्डसे दूसरे टुकड़ेके दूर किए जानेपर भी उसमेंसे निकलता हुआ सूत्र दोनोंका सम्बन्ध बनाए रखता है, उसी भाँति उर्वशीके चले जानेपर भी महाराजकी आँख और समस्त अन्तर्वृत्तियाँ उसी ओर लगी हैं।] इसी प्रकार विरहिणी यक्षिणीकी मलिन मूर्तिका चित्रात्मक साक्षात्करण करानेके हेतु कविने उसे शिशिरमथिता पद्मिनीके तुल्य कहा है। आगे उसीका वर्णन करते हुए कविकुल-कमल-दिवाकर कहते हैं—

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वादिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥
—मेघदूत (उत्तरमेघ) २४

यहाँ भी अप्रस्तुत चन्द्र यह सूचित करता है कि सहज-सुन्दर यक्षिणीका मुख वियोगके बादलोंसे कान्तिहीन हो गया है। इस रीतिसे महाकविके काव्योंमें अप्रस्तुत रूपमें भी प्रकृतिका अत्यन्त प्रभावशील और चित्रात्मक दृश्योत्थापक वर्णन पग-पगपर भरा पड़ा है।

यद्यपि कालिदासके प्रकृति-वर्णनमें अनेक विशेषताएँ हैं तथापि उन सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है, अतः यहाँ केवल एक और विशेषताके सम्बन्धमें कुछ निवेदन कर देना है।

कविकी दृष्टिमें मानवके चारों ओर फैली हुई विशाल प्रकृति, अनगिनत तारोंसे जगमगाता हुआ अनन्त अम्बर, अगाध समुद्र, विशाल वन, लता, वृक्ष, पल्लव, प्रसून, फलादि, नदी, पशु-पक्षी तथा अन्य अनन्त प्रकृतिके पदार्थ केवल जड या बुद्धि और भावनासे हीन साधारण वस्तुएँ नहीं हैं, वरन् उसकी भावुक कल्पना-चक्षुओंके सम्मुख वे सभी चेतन जान पड़ते हैं, वे सभी भावनाशील हैं और मानव-जगत्के प्रति उनके हृदयमें सहानुभूति है, मानवपीडासे वे व्यथित होते हैं और मानव-सुखसे सुखी। इसके भव्य और विशद उदाहरण एक नहीं, महाकविके काव्यमें अनेक हैं। विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अङ्कमें उर्वशीके वियोगमें विलाप करते हुए पुरुरवाको देखकर मानो समस्त प्रकृति सदृशानुभूतिसे आकुल हो उठती है और पुरुरवाको भी सारी प्रकृति सजीव और मानव-सुषमामें व्याप्त दिखाई पड़ती है। सम्पूर्ण प्रकृतिको अपने प्रति समानानुभूतिपूर्ण और सदय देखकर ही पुरुरवाके द्वारा कवि अपने हृदयका भाव उनके प्रति व्यक्त करता है।

इसी भाँति शकुन्तला भी मानो प्रकृति-सुन्दरीकी नैसर्गिक शोभामयी वनदेवीकी दुलारी पुत्री है। तपोवनके मृगों तथा अन्य पशु-पक्षियोंके प्रति उसका हृदय बान्धव-स्नेहसे आप्लुत है, नैसर्गिक वन्य-सुषमासे उसके कलेवरके अणु-अणु निर्मित और परिपालित हैं। कण्वके कथनानुसार जो शकुन्तला तरुलतादिको बिना सींचे जल पीना भी उचित नहीं समझती थी, उस शकुंतलाकी बिदाईके समय समस्त तपोवन विरहाकुल हो उठता है, तो क्या आश्चर्य।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअंति अस्सू विअ लदाओ॥

—शाकुन्तल, ४।१२

धर्मपिता कण्व और अन्य तपोवनवासियोंकी विरह-व्याकुलता तो ठीक है, पर जड और मूक प्रकृतिकी शोककातरता तथा व्यथा-व्याकुलता उसी कविके अन्तःकरणके साथ स्पन्दित हो सकती है जिसके हृदयकी वीणाके तार प्रकृतिके व्यापारोंसे बज उठा करते हैं।

महाकविके द्वारा जड प्रकृतिका चेतनीकरण मेघदूतमें आदिसे अन्ततक प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है। यक्ष, जड मेघको अपना दूत बनाकर अपनी प्रियतमाके पास भेजता है। मेघकी सेवा मार्गमें बलाका (बक-पंक्ति) करेगी, किसलयका पाथेय लिए हुए रेवा नदी मिलेगी, मयूर स्वागत करेंगे, विदिशामें पहुँचनेपर कामुकेच्छा पूर्ण होगी और वेत्रवतीके चञ्चल-तरङ्ग-भ्रुकुटियोंवाले मुखका वह चुम्बन करेगा तथा प्रकृति, चेतन मानवके समान आचरण करेगी।

जहाँ एक ओर कवि मनुष्यकी बाह्य शारीरिक सुन्दरताकी प्रभावशील और तीव्र अनुभूतिके लिये प्रकृतिके मनोरम और ललित उपादानोंकी सहायता लेता है, वहीं दूसरी ओर वह प्राकृतिक रमणीयताकी प्रभावशीलता तथा तीव्रता बढ़ानेके लिये प्रकृतिमें भी मानव-सौन्दर्यका आरोप करके अप्रस्तुत रूपसे मानवीय सुन्दरता तथा भावाभिव्यक्तिकी सहायता लेता है—

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः संसर्पन्त्या स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु॥

—मेघदूत (पूर्वमेघ) ३०

महाकविके सम्मुख सुरत-ग्लानिको दूर करनेवाला शिप्रानिल मानो प्रार्थना-चाटुकार प्रियतम है। इसी प्रकार गम्भीरा नदीका 'चटुलसफरोद्वर्त्तन' ही उसके कटाक्ष हैं। अतः, मेघसे यक्ष कहता है--

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधो नितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥

—मेघदूत (पूर्वमेघ) ४५

इस श्लोकसे हमें ज्ञात होता है कि जिस भाँति एक विलास-प्रिय-कामकला-निपुण नायकके हृदयमें 'विवृतजघना' रमणीको देखकर उसके प्रति आकर्षण होता है, उसी भाँति वर्षाकालीन गम्भीराकी उपर्युक्त सहज छटा देखकर कविका जी वहीं रम जाता है और वह सब कुछ भूलकर उसे निहारनेमें मस्त हो उठता है।

कविकुल-गुरु कालिदासके सभी काव्योंमें और विशेषतः मेघदूतमें इस भाँतिके वर्णन भरे पड़े हैं। अतः, चाहे प्रस्तुत रूपमें हो अथवा अप्रस्तुत रूपमें, कविका प्रकृति-निरीक्षण और उसका वर्णन अनुपम है। पर यहींतक उसका प्रकृति-प्रेम समाप्त नहीं हो जाता। हमारे चारों ओर जो विशाल प्रकृति अपने अनन्त सौन्दर्यके वैभवमें अज्ञात रहस्यका आवरण डाले दिखाई पड़ती है, उसकी अपार महिमाके सम्मुख श्रद्धा और भक्तिसे मस्तक झुकाता हुआ महाकवि अभिज्ञान शाकुन्तलके आरम्भमें कह उठता है—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

—अभि० शाकुन्तल, १.१

अर्थात् परमेश्वर भी कहीं अन्यत्र नहीं है। संसारमें, प्रकृतिमें दिखाई पड़नेवाली महिमामयी अष्टविभूतियाँ ही भगवान् अष्टमूर्तिकी आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ हैं।

इसीलिये कवि कुमारसंभवमें भी कहता है--

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु॥

—कुमारसम्भव २।११

वही परमेश्वर पृथिवी आदि प्रकृतिके रूपोंमें इस समस्त चराचर विश्वको धारण किए हुए है---

कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि॥

—कुमारसम्भव, ६।७६

अस्तु, ईश्वरकी परम सुखमयी प्राकृतिक विभूतियोंके अनन्य उपासक महाकवि कालिदासकी कवितामें प्रकृतिका महत्त्वपूर्ण तथा परम रमणीय चित्रण तनिक भी आश्चर्यकारक नहीं कहा जा सकता।

* * *

निसर्ग-कन्या शकुन्तला

[डॉ० एस० के० बेल्वेलकर, ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना ।]

अँगरेज़ कवि वर्ड्सवर्थने किसी ल्यूसीका वर्णन करते हुए लिखा है—

"थ्री ईयर्स शी ग्रू इन सन ऐण्ड शौवर,
दैन नेचर सेड्, "ए लवलिअर .फ्लौवर
औन अर्थ वाज़ नेवर सीन,
दिस चाइल्ड आइ टु माइसैल्फ़ विल टेक,
शी शैल बी माइन, ऐण्ड आइ विल मेक
ए लेडी औफ़ माइ ओन,
माइसेल्फ़ बिल टु माइ डार्लिङ्ग बी
बोथ लौ ऐण्ड इम्पल्स, ऐण्ड विद मी
दि गर्ल इन रौक ऐण्ड प्लेन,
इन अर्थ ऐण्ड हैविन, इन ग्लेड ऐण्ड बौवर
शैल .फील एन् ओवर-सीइंग पौवर
टु किंडिल और रेस्ट्रेन."

[तीन वर्षतक वह धूप और वर्षामें पली । तब निसर्गने कहा—इससे अधिक सुन्दर फूल इस पृथ्वीपर कभी उगाया ही नहीं गया । इस कन्याको मैं स्वयं ले लूंगा । यह मेरी रहेगी और इसे मैं अपनी प्रेयसी बनाऊँगा ।

"मैं ही अपनी इस प्रेयसीका नियम और भाव बनूंगा और मेरे ही साथ यह कन्या चट्टानों और मैदानोंमें, मर्त्यलोक और स्वर्गमें, वनपथों और कुञ्जोंमें मनको उकसानेवाली या संयम करानेवाली दिव्य शक्तिका अनुभव करेगी ।"]

'टिटर्न एबीसे कुछ मील ऊपर' रची हुई अपनी दूसरी कवितामें वही कवि कहता है कि मैं किस प्रकार—

"इन नेचर ऐण्ड दि लैंग्वेज औफ़ सैंन्स,
दि ऐङ्कर औफ़ माइ प्यौरेस्ट थौट्स, दि नर्स,
दि गाइड, दि गार्डियन औफ़ माइ हार्ट ऐण्ड सोल
औफ़ औल माइ मौरल बीइंग,"—

['निसर्ग और भावकी भाषामें, अपने सबसे पवित्र विचारोंको थाम रखनेवाली, अपनी धात्री, अपनी पथ-प्रदर्शिका, हृदयपर शासन करनेवाली और अपने समस्त नैतिक अस्तित्वके आत्मा……"] को पहचाननेमें समर्थ हुआ । और अपनी 'सैर' (दि एक्सकर्शन) शीर्षक कवितामें उसने मानव और प्रकृतिके बीच स्थापित हो सकनेयाले सम्बन्धके कई रूपों और अवस्थाओंका वर्णन किया है । आलोचक-गण इस बातपर सहमत हैं कि वर्ड्सवर्थने इनमें तथा अन्य रचनाओंमें जो कुछ वर्णन किया है वे उस भाव-संक्रान्ति-विभ्रमके उदाहरण मात्र नहीं हैं जिसके द्वारा मनुष्प्र

अपनी निजी अनुभूतियों, उद्‌गारों और भावोंको अचेतन पदार्थोंमें आरोपित करता है। मनुष्योंको प्रकृतिसे जो विचार और प्रेरणाएँ मिलती हैं, उसे प्रदान करनेकी शक्ति सचमुच प्रकृतिमें ही है, क्योंकि मनुष्य और प्रकृतिके बीच वही आत्मा या चेतना व्याप्त है, जिससे दोनोंमें परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध उतनी ही शीघ्रतासे और आवश्यक रूपसे संभव है, जैसा कि परस्पर प्रेम करनेवाले दो मित्रोंमें होता है और ऐसे सम्पर्कके लिये सदा व्यक्त भाषाकी आवश्यकता हुआ भी नहीं करती।

यह समझा जाता है कि उपर्युक्त प्रकृतिवाद वर्ड्‌सवर्थका ही चलाया हुआ है और वह उसमें पूर्णतः विश्वास भी करता था। इसका दार्शनिक आधार हमारे वेदांतके उस रूपसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जहाँ यह माना जाता है कि एक ही विश्वात्मा मनुष्य, पशु, वनस्पति और समस्त सृष्टिमें व्याप्त है। यह भी निश्चय है कि यही कालिदासका भी अपना मत था। किन्तु यदि इसके लिये काव्य-प्रमाणकी आवश्यकता हो तो उर्वशीका यह कथन सबसे अधिक प्रामाणिक होगा जो उसने लता होनेका शाप पाकर और फिर अपना पूर्व रूप धारण करके अपनी लताकी अवस्थाके अनुभवका लेखा हमारे लिये सुरक्षित रख छोड़ा है---

अब्भन्तरकरणाए मए पच्चक्खीकिदवुत्तन्तो क्खु महाराओ। (मैंने अपनी भीतरी इंद्रियोंसे महाराजकी सब बातें जान ली थीं।)

—विक्रमोर्वशीयम्, अङ्क ४, श्लोक ७१ के पश्चात्।

वास्तवमें हिन्दुओंके पुनर्जन्म और आत्मोत्क्रमणकी भावनाके आधारपर यह तथ्य ऐसे अवसरका सामान्य अनुभव माना जा सकता है और इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकृतिके पदार्थ भी ठीक मनुष्योंके समान ही अनुभव कर सकते हैं और अपने विचारोंका आदान-प्रदान कर सकते हैं। इसका सटीक उदाहरण कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलकी नायिका उस शकुन्तलामें पाया जाता है जो नीचेसे ऊपरतक प्रकृतिकी सच्ची कन्या थी और जिसे कविने केवल शब्दोंमें ही वर्णन नहीं किया, वरन् उसे हमारे समक्ष रक्त-मांससे निर्मित शरीर रूपमें भी लाकर रख दिया है। वह बोलती भी है, अनुभव भी करती है, कार्य भी करती है और ठीक उसी प्रकार आचरण करती है जैसे उस वातावरणमें उत्पन्न किसी बच्चेसे आशा की जा सकती है और इसीमें हमारे निम्नांङ्कित अनुसन्धानका वास्तविक कौतुक निहित है।

शकुन्तलाका जन्म स्वर्गीय अप्सरा मेनकाके गर्भसे और उन विश्वामित्र ऋषिसे हुआ, जिनके भयङ्कर तपसे स्वर्गके स्वामी इन्द्र इतने डर गए कि उन्होंने ऋषिको लुभाने और उनकी तपस्या भंग करनेके लिये मेनकाको नीचे मर्त्यलोकमें भेजा। कन्याके उत्पन्न होते ही माता उसे वनमें छोड़कर स्वर्ग लौट जाती है। इस प्रकार अरक्षित छोड़ी हुई बालिकाकी देखभाल वनके पक्षी करते हैं और उसका तबतक पोषण करते हैं जबतक कण्व ऋषि उसे आकर उठा नहीं ले जाते। वे उसका नाम शकुन्तला (शकुन्तैः पक्षिभिः लालिता पालिता = पक्षियों-द्वारा पोषित) रख देते हैं और उसे अपनी पालिता कन्या बना लेते हैं।

कण्वने अपनी पालिता कन्याके लिये बाल-सखियोंके रूपमें अनसूया और प्रियंवदा नामकी दो सखियाँ भी दे दीं, जिनके नाम ही सुविहित रूपसे उनके भिन्न स्वभावोंकी सूचना देते हैं। इतना ही नहीं, उसके लिये कण्वने माधवी, अतिमुक्तक और सबसे अधिक शकुन्तलाकी बहन[1] नवमल्लिका भी दे दी थी, जिसका उसने प्रेमसे वन-ज्योत्स्ना नाम रख दिया था,

---

[1] लदावहिणिआ : अस्यां अहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिंता: ।—शाकुन्तल, ४।१३

बकुल, केसर, सहकार और दूसरे स्नेह और सावधानीसे रोपे और पाले हुए वृक्ष दिए थे, हरिण, मृग, मोर, हंस, कोयल, चक्रवाक आदि पशु-पक्षी भी दे दिए थे और वनके देवी-देवता तो उसके साथी थे ही। इन सभी आश्रम-निवासियोंको तत्परतासे पालना, पानी देना, पोषण करना, इन सबके सुखका ध्यान रखना और समय-समयपर आए हुए अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करना, ये सब नित्यके कार्य कण्वने शकुन्तलाको सौंप दिए थे और उसे थोड़े ही दिनोंमें ये काम रुचने भी लगे और इन कामोंमें उसे सेवाका सच्चा आनन्द भी मिलने लगा था। देखिए—

ण केवलं तादणिओओ। अत्थि ममावि सोदरसिणेहो एदेसु।

(मैं केवल पित्ताजीकी ही आज्ञासे इन्हें नहीं सींचती हूँ। मैं स्वयं भी इनको सगे भाई-बहन-जैसा प्यार करती हूँ।)

या चतुर्थ अंकमें कण्वका वह प्रसिद्ध श्लोक देखिए—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

—शाकुन्तलम्, ४।९

उसके ये पशु और वनस्पति-जगत्के सभी साथी अपने निजी व्यक्तित्व और जीवनसे अनुप्राणित हो उठे और इनके व्यक्तित्व और जीवनमें अनसूया और प्रियंवदासे कुछ कम विशेषता नहीं थी। अतः, यह स्वाभाविक था कि उन्होंने शकुन्तलाको अपनी-अपनी परिस्थितियोंके अनुसार सेवा और मैत्रीके लिये प्रेरित किया तो शकुन्तलाको केवल प्रतिदिन लताओंमें पानी देना और उनका पोषण ही नहीं करना पड़ता था, वरन् जब कभी उनमें उभरते हुए यौवनका लक्षण दिखाई देता था, तब उन्हें उपयुक्त वृक्षोंके सहारे चढ़ाना भी पड़ता था अथवा यदि शकुन्तलाके समान ही बड़ोंकी प्रतीक्षा बिना किए वे स्वयंवर या आत्मनिर्णयसे अपना सम्बन्ध कर लेती थीं तो भी कमसे कम उनके सौभाग्यपर उत्सव तो अवश्य ही मनाना पड़ता था। इसी प्रकार इन्हें मृगछौनोंकी भी सावधानीसे देखरेख करनी आवश्यक होती थी, विशेषतः तब, जब पहले-पहल घास चबाते समय उनके मुँह कट जाते थे। एक ऐसा मृगछौना वहाँ था भी, जिसकी माँ उसके जन्मते ही मर गई थी। शकुन्तला ही इस छौनेकी माँ बन गई थी। उसने प्रेमसे इसका नाम रक्खा था—दीर्घापांग (बड़ी-बड़ी आँखोंवाला)। वह धीरे-धीरे उस छौंनेके कटे हुए ओठोंपर हिंगोट (इङ्गुदी)का तेल लगाती और सचमुच वह उसे दुलार करनेवाली वैसी ही माँके समान सब काम करती थी जैसे प्रकृति माताने स्वयं शकुन्तलाका उस समय पालन किया था जब उसकी कठोर-हृदया माता मेनका उसे छोड़कर चली गई थी। चतुर्थ अंकमें शकुन्तलाके शब्दोंपर विचार तो कीजिए—

‘बच्छ ! किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि। अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिंतइस्सदि।’

(बच्चे ! मुझ साथ छोड़कर जानेवालीके पीछे-पीछे तू कहाँ चला आ रहा है ? तेरी माँ जब तुझे जन्म देकर मर गई थी, उस समय तो तुझे पाल-पोसकर मैंने बड़ा किया था, अब मेरे पीछे तेरी देखभाल पिताजी किया करेंगे।)

अथवा इसके पहलेका श्लोक देखिए जहाँ बड़ी भावुकतासे कण्व वर्णन करते हैं कि शकुन्तला किस प्रकार अनाथ छौनोंका पालन-पोषण किया करती थी

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥
—शाकुन्तल, ४।१४

इस सहानुभूति और सेवाके ऐसे अविरल और स्थिर आदान-प्रदानसे यह आशा की जाती है कि शकुन्तला और उसके ये सब सङ्गी-साथी परस्पर एक दूसरेकी आवश्यकताओं और भावोंको भली भाँति समझते होंगे और एक दूसरेके विचारोंको पहलेसे ही समझकर उनकी व्यक्त या अव्यक्त इच्छाओंको पूरा करनेके लिये शीघ्रता करते होंगे। इसलिये जब शकुन्तला वनज्योत्स्नाके थाँवलेमें पानी देती हुई उसकी ओर चावभरी दृष्टिसे देखती है, उस समय शकुन्तलाके मनकी बात प्रियंवदा समझ जाय तो कोई आश्चर्य नहीं—

अणसूए ! जाणासि किंणिमित्तं सउन्दला वणजोसिणिं अदिमेत्तं पेक्खदि।···जहा वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा, अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं त्ति।'

(अनसूया ! जानती हो शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्योत्स्नाको क्यों देख रही है··· जैसे इस वनज्योत्स्नाको अपने योग्य वृक्ष मिल गया है, वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य वर मिल जाय।)

किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न उठाना क्या वैसा ही उचित न होगा कि क्या शकुन्तलाकी लता-वहन वनज्योत्स्ना भी शकुन्तलाके लिये वैसा ही नहीं सोच सकती थी और जिस प्रकार अनसूया और प्रियंवदाने दुष्यन्तके लिये शकुन्तलासे वह प्रेममय पत्र लिखवाकर नायक और नायिकाका परस्पर मिलन करानेके उपाय ढूँढ़ निकाले थे—

'तं सुमणो गोविदं करिअ देवदासेसावदेसेण हत्थअं पावइस्सं।'

(उसे फूलोंमें छिपाकर देवताका प्रसाद कहकर उन्हें दे आया जाय।) वैसे ही क्या इस प्रकारसे मिलन करानेकी कोई ऐसी ही विधि बकुल या केसरका वृक्ष या वनज्योत्स्ना लता नहीं सोच रही थी ? जिस प्रकार कालिदासने शकुन्तलाके आश्रम-सखाओंका चित्रण किया है, उस दृष्टिसे इस प्रकारका प्रश्न करना असङ्गत न होगा, क्योंकि पीछे जब शकुन्तला अपने पतिके घर जानेको उद्यत होती है, उस समय केवल अनसूया और प्रियंवदा ही निम्नलिखित मङ्गल साज नहीं जुटाती हैं—

'गोरोअणं, तित्थमित्तिअं, दुव्वाकिसलआणि त्ति मंगलसमालम्भणाणि।' (गोरोचन, तीर्थमृत्तिका, दूबके पत्ते आदि मंगल सामग्रियाँ) और वे बकुल (मौलसिरी)के फूलोंकी वह माला भी नहीं भूलती हैं, जिसे अनसूयाने इस अवसरके लिये अलग रख छोड़ा था—

'एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णारिएलसमग्गए एदं णिमित्तं एव्व कालान्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ। (वह जो आमकी डालीपर नारियल लटक रहा है, उसमें मैंने बहुत दिनोंतक सुगन्धित रहनेवाली बकुलकी माला आजके ही लिये ही रख छोड़ी है।)

—वरन् जैसा कालिदासने भी जान-बूझकर कहा है—आश्रमके वृक्षोंने भी शकुन्तलाके विवाहके लिये भेंट दी थी—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्बभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ।'

—शाकुन्तल, ४।५

यह मेरी पहली समस्या है ।

इसी प्रकार यदि दुष्यन्तके प्रति शकुन्तलाका प्रेम जगानेके पहले अनसूया और प्रियंवदा आपसमें बड़ी उत्कण्ठासे इस बातपर विचार कर सकती हैं कि राजा सचमुच शकुन्तलाके प्रेमका उचित अधिकारी हो सकेगा या नहीं —

'अणसूये ! दूरगअमम्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स । जस्सिं बद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं । जुत्तं से अहिलासो अहिणंदिदुं ।'

(अनसूया ! इसकी प्रेम-व्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय शीघ्र ही करना चाहिए । सचमुच इस बातकी तो सराहना करनी ही पड़ेगी कि शकुंतलाने प्रेम भी किया तो पुरुवंशके भूषण दुष्यन्तसे ही ।)

और फिर जब राजा स्वयं अनायास रङ्गमञ्चपर आ पहुँचते हैं, उस समय भी यदि वे ही दोनों सखियाँ स्वयं प्रेम-क्रीडाके सफल परिणामकी सिद्धिके लिये सभी उपायोंका अवलम्बन करती हुई इस प्रकार कहती हैं—

'वअस्स । बहुवल्लहा राआणो सुणीअंति । जह णो पिअसही बंधुअणसोआणज्जा ण होदि तह णिव्वाहेहि ।' (वयस्य ! सुनते हैं कि राजाओंके बहुत सी रानियाँ होती हैं । तो हमारी प्यारी सखीके लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजिएगा कि हम सगे-साथियोंको फिर पछताना न पड़े ।)

—तो क्या हमें यह आशा करनेका अधिकार नहीं है कि कविने वनस्पति और पशु-वर्गमेंसे शकुन्तलाकी जिन सखियोंका वर्णन किया है उनके द्वारा भी कवि, शकुंतलाके भावी मंगलके लिये उसी प्रकारकी उत्कण्ठा प्रदर्शित करावे ?

यह मेरी दूसरी समस्या है ।

अन्तमें उस प्रसिद्ध और मुक्तकण्ठसे प्रशंसित चतुर्थ अंकके बिदावाले दृश्यमें, जहाँ सम्पूर्ण प्रकृति शकुन्तलाके जाते सयय उसके वियोगसे दुखी है—

उग्गलिददब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥
[उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्त्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥]

—शाकुन्तल, ४।१२

और जहाँ दुर्वासाके शापसे भयावने परिणामका विचार करके विदाईके अन्तिम समय भी वे दोनों सखियाँ शकुन्तलाको तात्कालिक व्यथासे थोड़ा बचा देनेके तुच्छ बहानेसे दुष्यन्तकी अँगूठीका स्मरण कराते हुए प्रसंगवश इतना भर ही कहती हैं कि जब आवश्यकता पड़े तब अँगूठीका प्रयोग कर लेना, पर मूर्खता करके शापकी बात छिपा लेती हैं—

'रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही ।'

(उस कोमल स्वभाववाली प्यारी सखीकी रक्षा तो करनी ही होगी ।) और अपनी पुत्रीकी भावी विपत्ति और व्यथाको पहलेसे जाननेकी दिव्य दृष्टिवाले[1] पिता कण्व भी कोई ऐसा संकेत या चेतावनी नहीं देते और यह बात केवल उस नीतिके उपदेशमें ही नही है जिसे वे विशेष रूपसे शकुन्तलाको सुनाते हैं—

'शुश्रूषस्य गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने ॥' आदि

—शाकुन्तल, ४।१८

वरन् क्षीर-वृक्षके तले बैठकर दुष्यन्तके लिये उन्होंने जो संदेश अत्यन्त सोच-समझकर कहा—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यवान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।

—शाकुन्तल, ४।१७

उसमें भी उन्होंने अपनी पुत्रीके लिये किसी विशेष कृपाकी याचना न करते हुए केवल यही चाहा है कि उसे अपने भाग्यका निर्णय करनेके लिये समान अवसर और समान स्वतंत्रता मिले—

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥

मैं पुनः दुहराता हूँ कि इस बिदाईके दृश्यमें भी जहाँ हम शकुन्तलाको अपनी सुध-बुध भूलकर, विश्वासभरी आशासे, खड़े कगारकी ओर बढ़ते हुए देखते हैं[2] और जहाँ (यद्यपि भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंसे) उसकी सखियोंने और पिताने मानो आपसमें यह मंत्रणा कर ली है कि उसके सिरपर लटकती हुई आपत्तियोंकी गम्भीरता और निकटतासे उसे बिलकुल अवगत न होने देंगे—और विशेषकर पिता तो व्यर्थ ही अपने शोकपूर्ण विचारोंको दबानेका प्रयत्न कर रहे हैं[3] वहाँ

---

[1] तपः प्रभावात् प्रत्यक्षमेतत् तत्र भवतः कण्वस्य ।

[2] पंचम अंकमें शकुन्तलाके शब्द देखिए—

परिणए एव्व संदेहो । कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा ।

(आर्यपुत्रको जब विवाहमें ही सन्देह हो रहा है तब जो मैंने और बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रक्खी थीं उनका तो फिर ठिकाना ही कहाँ है ।)

[3] इसका सबसे बढ़िया प्रमाण यह श्लोक है—

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥

जो यद्यपि शकुन्तलाको ढाढ़स बँधाने और प्रसन्न करनेके अभिप्रायसे ही कहा गया है फिर भी शोकसूचक करुण गीतके समान हरिणी छन्दमें डाल दिया गया है और यह जान-बूझकर किया हुआ कवि-कर्म है, जिसका पता इस बातसे चल जाता है कि इस नाटकमें केवल तीन ही श्लोक ऐसे हैं जो इस छन्दमें रक्खे गए हैं और सचमुच वे अपने स्थानपर बड़े उपयुक्त जँचते हैं ।

हम ऐसी क्यों न कल्पना करें कि नायिकाकी मनुष्येतर सखियोंमें-से कुछ तो ऐसी निकलें जो ऋषिके मनकी बात समझकर अपनी आँखों, इङ्गितों और गतियोंकी भाषामें कमसे कम थोड़ी देरके लिये तो शकुन्तलाको सावधान कर दें, भले ही वह पीछे किसी बाह्य परिस्थितिके वश भूल जाय। इस आशाका परिणाम यह होता है कि दुष्यन्तकी राजसभामें जब वह पहुँचती है तब वह उस अंधड़से एकदम अनभिज्ञ रहती है जो उसके ऊपर अचानक आ घहराता है ?

यह मेरी तीसरी समस्या है।

कालिदासके अभिज्ञान-शाकुन्तलके इतने वर्षोंके अध्ययनसे मेरे मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ गई है कि यदि अव्यवस्थित रूपसे सम्पादित किए हुए संस्करणोंके शाकुन्तलको छोड़कर हमारे सामने वह वास्तविक शाकुन्तल अपने उसी मौलिक रूपमें होता जैसा उसे कालिदासने रचा था, तो उपर्युक्त सभी समस्याओंके उत्तर तत्क्षण ठीक-ठीक मिल जाते। किन्तु परिस्थिति ऐसी नहीं है। शाकुन्तलकी समस्या उसी प्रकार हल की जानी चाहिए जिस प्रकार तत्सम्बद्ध महाभारतकी समस्या हल की जा रही है। दोनों दशाओंमें पाठ-सुधारके आधारभूत सिद्धान्त एक ही हैं, महत्त्व-पूर्ण अन्तर केवल यह होगा कि बी० ओ० आर० इंस्टीट्यूटके उस वृहद् वीर-काव्यके संस्करणके वर्तमान सुविचारित पाठकी रचना करते हुए, 'उच्च कोटिकी पाठालोचना' नामकी वस्तु तो कहीं-कहीं देखनेमें आती है पर कालिदासकी इस महान् कृतिमें इसे अधिक विस्तारपूर्वक काममें लाना होगा, क्योंकि नाटकमें यह समस्या अपेक्षाकृत कम जटिल है। स्थानकी कमीके कारण मैं सूचित किए हुए पाठसम्बन्धी सुधारोंका यहाँ वर्णन नहीं करूँगा अपितु इतना ही कहकर संतोष करूँगा कि यदि सुधारे हुए पाठको शुद्ध मान लिया जाय तो हम लोग शकुन्तलाकी निसर्ग-सखियोंके विषयमें वैसे ही निष्कर्ष निकालनेमें समर्थ हो सकते हैं जैसा कोई भी कालिदास-जैसे उस सच्चे हिन्दूसे आशा कर सकता है जो प्रकृतिके सभी पदार्थोंको जीवन्त और चेतनासे अनुप्राणित समझता था।

सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबिली ओरियण्टेलियाके द्वितीय खंडके ३४९ से ३५९ पृष्ठोंमें मैंने एक लेखमें अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि अभिज्ञानशाकुन्तलके प्रथम अङ्ककी बात-चीतका क्रम नेपथ्यमें नायिकाके इस कथन—

'इदो इदो पिअसहीओ'। [इधर आओ, इधर आओ, प्यारी सखियो !] से प्रारम्भ होकर वनज्योत्स्नाके थाँवलेसे भौंरेके निकलने तकका भाग—

'अम्मो। सलिलसेअसंभमादो णोमालिअं उज्झिअ बअणं मे महुअरो अहिवट्टदि।' [अरे ! जल पड़नेसे घबराकर उड़ा हुआ यह भौंरा नई चमेलीको छोड़कर मेरे ही मुँहपर आ मँडराने लगा है।]—आजकलके संस्करणोंमें उलटा हो गया है। नवीन बंगाली संस्करणमें इस स्थल-पर ३१ संवाद दिए गए हैं, काश्मीरी नये संस्करणमें २७ और कैपलर-द्वारा संपादित दक्षिण-भारतीय संस्करणके साथवाले नागरी संस्करणमें केवल २२। इन संवादोंमें आई हुई कथा तीन घटनाओंका वर्णन करती है—शकुंतलाके कसे हुए वस्त्रोंको ढीला करना (वल्कलशिथिलीकरण), केसर वृक्षके कल्पनात्मक संकेतपर शकुंतलाका उसके पास जाना (केसरसमीप-गमन)—

'एसो वादेरिदपल्लवांगुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसर-रुक्खओ। जाव णं संभावेमि।' [यह केसरका वृक्ष पवनके झोंकोसे हिलती हुई पत्तियोंकी उँगलियोंसे मानो मुझे झटपट बुला रहा है। चलूँ इसका भी मन रख लूँ।]

---और शकुन्तलाके हाथों नवमालिका लताका सींचा जाना (नवमालिकासेचन)। प्राप्त मुद्रित संस्करणोंमें वल्कल-शिथिलीकरणका प्रसंग केसर-समीप-गमनके पहले है। केवल उस नवीन संस्करणमें, जो एकमात्र भोजपत्र पांडुलिपि (बौम्बे गवर्नमेन्ट कलेक्शन नं० १९२) सन् १८५७ में मिली (और जो अब बी० ओ० आर० इंस्टिट्यूटमें जमा कर दी गई है), केसर-समीप-गमनवाली घटना पहले दी गई है। उसी पांडुलिपिसे हमें यह भी पता चलता है कि राजा इसी केसर-वृक्षके पीछे छिपे हुए थे। तो इस दशामें आश्चर्य नहीं कि एक अपरिचित व्यक्तिकी अदृष्टपूर्व उपस्थितिसे केसरका वृक्ष भ्रममें पड गया हो और शकुन्तलाको (जिसे सभी आगन्तुकोंपर ध्यान रखनेका भार सौंपा गया था) इंगितसे अपनी ओर बुलाने लगा हो। यदि ऐसी बात न होती तो शकुन्तलाने यों ही चलती हुई बयारसे केसरके पत्तोंके हिलने-मात्रसे यह क्यों समझ लिया कि पेड़ मुझे बुला रहा है? घासकी एक पत्ती भी बिना किसी अभिप्रायके नहीं हिल सकती--यही हिन्दू-कविके विश्वासका आधार था। दूसरे स्थलपर कालिदासने यह कहलाया भी है कि वृक्ष प्रायः पक्षियोंके द्वारा (और हम इतना और जोड़ दें कि भौंरोंके उड़ने और पत्तियोंके हिलने-डोलनेके द्वारा) अपने विचार प्रकट किया करते हैं। उदाहरणार्थ---

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरयं वनवासबंधुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिपत्तीकृतमेभिरात्मनः॥

---शाकुन्तल, ४।१०

केसर वृक्षके पास शकुन्तलाके जानेका वर्णन इन संस्करणोंमें 'तथा करोति' के नाटकीय संकेत-द्वारा किया गया है। केवल भोजपत्रवाली पांडुलिपिमें ही 'राज्ञः सन्निकर्षं आगच्छति' लिखा है। इसके पश्चात् जब नायिकाको इसी वृक्षके पासवाली लताके समान बताया जाता है—

जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि।

[जब तू पेड़से लगकर खड़ी होती है तब यह केसरका वृक्ष ऐसा लगता है मानो उससे कोई लता लिपटी चढ़ी हो।]

---उसकी व्यंजना तभी पूरी उतरती है जब राजा उसी वृक्षके पीछे हों और यदि वल्कल-शिथिलीकरण भी उसी समय हो जब नायिका भी नायकके (जिसकी उपस्थितिकी सखीको शंकातक नहीं है) इतने पास हो, उसमें शृंगारका भाव तभी आता है जिसे कमसे कम कालिदास-जैसे कवि तो छोड़ ही नहीं सकते थे। अतः, इस नाटकीय संकेतमें कुछ ऐसी बात अवश्य है जिससे सिद्ध होता है कि पाण्डुलिपिके कमसे कम कुछ सन्दर्भ तो मौलिक पाठसे अवश्य मेल खाते हैं। केवल मूर्ख या पंडितम्मन्य लोग ही उपर्युक्त नाटकीय संकेतको शेष संस्करणोके नीरस 'तथा करोति' के रूपमें परिवर्तित करनेकी बात सोचेंगे।

इसके पश्चात् सेचन-दृश्यमें जो संवाद आते हैं और विशेषतः शकुन्तलाके ये शब्द—

'हला! रमणीए क्खु काले इमस्स लदापादवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, वद्धपल्लवदाए उवभोअक्खमो सहआरो।'

[सखी! सचमुच इस लता और वृक्षका मेल बड़ी अच्छी घड़ी हुआ है। इधर यह वनज्योत्स्ना फूलकर नवयौवना हो चली है और उधर पत्तोंसे लदा हुआ आमका वृक्ष भी उभारपर आया हुआ है।]

—शकुन्तलाकी भीतरी मनोवृत्तियोंकी पूर्ण रूपसे सूचना देते हैं। प्रियंवदाका अनुमान ठीक लक्ष्यपर पड़ता है और नायिकाको भ्रममें डाल देता है। किन्तु क्या दूसरी निसर्ग-सखियाँ और विशेषकर जिस वनज्योत्स्नाके विषयमें वार्तालाप हो रहा था, वह इसी प्रकार नहीं ताड़ सकती थी? अवश्य ताड़ सकती थी? और लताने बड़े सुन्दर ढंगसे यह बात बताई भी। वह शकुन्तलासे पहले बिवाहित हो चुकी थी इसलिये जब उसने छिपे हुए राजाको देख लिया और उसे शकुन्तलाके योग्य समझ लिया तब उसने अपनी छोटी बहन शकुन्तलाको उसके भावी पतिसे मिलानेका काम उसी प्रकार पूरा किया जैसे बड़ी बहन अपनी छोटी बहनके लिये किया करती है। अतः, हम लोगोंको यही मानना चाहिए कि भौंरेको उकसानेका काम उस लताने ही किया। उस दिन प्रातःकाल शकुन्तलाने न जाने कितने वृक्षों और लताओंको सींचा था तो केवल वनज्योत्स्नाके ही थाँवलेसे भ्रमर क्यों निकला। कुछ लोग उत्तर देंगे—'केवल संयोग' किन्तु जिस जगत्में एक अन्तर्व्यापिनी शक्तिका वास माना जाता है वहाँ संयोगके लिये स्थान ही कहाँ है,। मैं अपनी प्रथम समस्याको इसी प्रकार हल करना चाहता हूँ।

दूसरी समस्याका संतोषजनक समाधान करनेकी क्षमता रखना मानो कालिदासकी शकुन्तलाके स्वरूपको समझनेकी अपनी शक्तिको खरी कसौटीपर कसना है। पञ्चम अङ्कके परित्यागदृश्यमें जब शकुन्तला आश्चर्यचकित होकर देखती है कि मुद्रिका अनजानमें खो गई है तो राजाकी सुप्त स्मृतिको जगानेके लिये वह अन्तिम तीव्र प्रयत्नके रूपमें, दीर्घापांगवाली घटनाका वर्णन करके अपनी बुद्धिमानीका परिचय देती है—

णं एक्कदिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगदं उदअं तुह हत्थे संणिहिदं आसि। तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापंगो णाम हरिणपोदओ उवट्ठिदो। तुए—अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअम्पिणा उवच्छेदिदो उअएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदोसि। सव्वो सगंधेसु विस्ससिदि। दुवे वि एत्थ आरण्णआ त्ति।'

[एक दिन आप नवमल्लिकाके कुंजमें अपने हाथमें पानीसे भरा कमलके पत्तेका दोना लिए हुए थे। इतनेमें ही वहाँ मेरा पुत्रके समान पाला हुआ दीर्घापाङ्ग नामका मृगछौना भी आ पहुँचा। आपने उसपर दया करके कहा—पहले इसे जल पी लेने दो। यह कहकर आप उसे जल पिलाने लगे। पर परिचित न होनेके कारण वह आपके पास गया ही नहीं। तब मैंने आपके हाथसे दोना ले लिया और वह मेरे हाथसे जल पीने लगा। उस समय आपने हँसकर कहा था कि अपने सगे-सम्बन्धियोंको सभी पहचानते हैं। तुम दोनों ही वनवासी हो न?]

क्या यहाँ यह प्रश्न उठाना उपयुक्त न होगा कि शकुन्तलाने दुष्यन्तको स्मरण दिलानेके लिये यही विशेष घटना क्यों चुनी? इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ नवमालिका-कुञ्जका चुनाव बड़े महत्त्वका हुआ है। किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि दुष्यन्तको कमल-पत्रके दोनोंमें पानी लानेकी—अनुमानतः पासके ही किसी जलाशयसे—आवश्यकता क्यों पड़ी? और ठीक इसी ही अवसरपर दीर्घापाङ्ग भी कुञ्जमें क्यों आ पहुँचा? इन प्रश्नोंको किसी सनकी आलोचकके मस्तिष्ककी उपजका निरर्थक प्रश्न कहकर टाल दिया जा सकता है और यदि कालिदास अपने शब्दोको तोल-तोलकर रखनेवाले और अपनी प्रत्येक बात किसी विशेष अर्थमें कहनेवाले न होते तो ये प्रश्न संभवतः निरर्थक हो भी सकते थे। कई वर्ष पहले मैंने विद्वानोंसे इसी विषयपर अपने मत प्रकट

करनेके लिये प्रार्थना की थी। कुछ इने गिने लोगोंने उत्तर भी दिए किन्तु उनसे मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। इस दीर्घापाङ्गवाली घटनाको मैं जिस प्रकार समझ सका हूँ वह यों है—

कुञ्जवाली घटना राजाको इस अभिप्रायसे सुनाई गई है कि उन्हें अँगूठी देनेकी बात स्मरण हो जाय इसलिये यह घटना या तो अँगूठी देनेके ठीक पहले हुई होगी या उसके ठीक पीछे। आगे चलकर जब खोई हुई अँगूठी मिल जाती है और शापका अन्त हो जानेसे राजाको सब बातें स्मरण हो आती हैं तब वे अँगूठीवाली घटनाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'तदा स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह, कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति। पश्चादिमां नाममुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।
तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं नेताजनस्तव समीपमुपैष्यतीति॥

—शाकुन्तल, ६।१२

राजाके इस उपर्युक्त आश्वासनसे शकुन्तला प्रत्यक्षतः सन्तुष्ट हो गई। उसने रोना-धोना बन्द कर दिया और वह अपने प्यारेके वचनोंमें अटूट विश्वास करनेको उद्यत हो गई। परम्परागत हिन्दूप्रथाके अनुसार इसके पश्चात् शकुन्तलाको अश्रुमलिन मुख धोना ही चाहिए था। इसलिये कमलपत्रके दोनेमें लाया हुआ जल नहीं था जिसे भासने[1] ऐसी ही परिस्थितिमें 'मुखोदकम्' कहा है। और इस समय दीर्घापाङ्ग भी उस कुञ्जमें प्यासा होनेके कारण नहीं आया था—क्योंकि वह अपनी प्यास तो पासवाले जलाशयसे ही बुझा सकता था—वरन् वह इसलिये आया था कि मैं चलकर अपनी पालन करनेवाली माताको सावधान कर दूँ कि इस अपरिचित व्यक्तिका इतनी शीघ्रतासे विश्वास न कर बैठे, क्योंकि दीर्घापाङ्गकी दृष्टिमें तो वह राजा, भोले-भाले हिरनोंको अपने शस्त्रोंसे मारनेवाला अहेरी ही था। दीर्घापाङ्गने राजाके हाथका जल अस्वीकार करके उनमें अपना अविश्वास स्पष्ट रूपसे प्रकट कर दिया था। चौथे अंकमें जब यही दीर्घापाङ्ग उस समय रंगमंचपर लाकर उपस्थित कर दिया जाता है जब शकुन्तला, अपने प्यारे सहकार वृक्षसे लिपटी हुई लताबहन वनज्योत्स्नासे बिदा लेती है—

'वणजोसिणि ! चूदसंगदावि पच्चालिङ्ग मं इदोगदाहिं साहाबाहाहिं।'

(प्यारी वनज्योत्स्ना ! तू आमके वृक्षसे लिपटी होनेपर भी अपनी इधर फैली हुई शाखाकी बाँहोंसे मुझसे भेंट तो कर ले।)

और अपने मन ही मन राजा दुष्यंतके साथ अपने वैवाहिक जीवनका गुलाबी चित्र खींचती है। इसके पश्चात् उसका ध्यान उस हरिणीपर जाता है जो स्वयं शकुन्तलाके समान थोड़े दिनोंमें ही माता बननेवाली थी—

'ताद ! एसा उडजपज्जन्तचारिणी गब्भमंथरा मिअबहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसिज्जइस्सह।' (तात ! आश्रममें चारों ओर गर्भके भारसे अलसाती हुई चलनेवाली इस हरिणीको जब सुखसे बच्चा हो जाय तब किसीके हाथ यह प्यारा समाचार मेरे पास भिजवा दीजिएगा।)

---

[1] देखिए—स्वप्नवासवदत्तम्, चतुर्थ अंकके अन्तमें।

---उतनी देरके लिये वह पत्नी और रानीवाले अपने प्रारंभिक चित्रको भूलकर अपनेको माताके रूपमें देखने लगती है और हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय शकुन्तला अपने मन ही मन यह सोच रही है कि मेरी माँ मेनकाने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया था और मैं अपने भावी पुत्रके साथ कैसा व्यवहार करूँगी—ठीक इसी मनःस्थितिके अवसरपर उसका पालित पुत्र दीर्घापांग उसके वस्त्र खींचकर मानो यह पूछता है कि मुझे छोड़कर क्या तुम अपनी माँ मेनकाकी अपेक्षा कुछ अच्छा व्यवहार कर रही हो ? मैं तो यह सोचता हूँ कि दीर्घापांगको यहाँ इसलिये उपस्थित कराया गया है कि वह अपनी धर्म-माताको फिरसे बिदाईके समय उस दुष्यन्तके सम्बन्धमें दूसरी चेतावनी दे दे जिसके विश्वासघातका पता भोली-भाली अनसूयाको भी चल गया था—

'एव्वं णाम विसअपरंमुहस्स वि जणस्स ण एदं ण विदिअं जधा तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं ।' (यद्यपि मैं प्रेमकी बातें कुछ भी जानती नहीं फिर भी इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजाने शकुन्तलाके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया ।)

यदि शकुन्तलाका मन कल्पनाके मधुर स्वप्नोंमें मग्न न होता तो संभवतः वह अपने निसर्गसाथियों-द्वारा दी हुई इन चेतावनियोंको अवश्य समझ जाती । यही मेरी दूसरी समस्याका समाधान है । यदि हम जिज्ञासु भावसे कालिदासके इस प्रमुख ग्रन्थको पढ़नेका अभ्यास डालें तो हमें सौभाग्यवश, इधर-उधरकी छोटी-मोटी बातोंको छोड़कर विभिन्न पाठोंकी समस्या इस परिणामतक पहुँचनेमें बाधा नहीं डालती ।

सन् १९२२ ई० में एशिया मेजरके द्वितीय खण्डके ८४ से ८७ पृष्ठोंमें मैंने अपनी तीसरी समस्यापर एक लेखमें पूर्ण विस्तारसे विचार किया है । इसका सम्बन्ध चतुर्थ अंककी चक्रवाकवाली घटनासे है । इस घटनासे संबंध रखनेवाले तीन प्राकृत संवाद हैं जिनमें पहलेको छोड़कर दूसरा और तीसरा संवाद देवनागरी संस्करणमें मिलता है, वंगाली संस्करणमें पीछेके दो संवादोंको छोड़कर केवल पहला संवाद मिलता है, कश्मीरी पांडुलिपिमें तीनों संवाद मिलते हैं और वही सच्ची समीक्षाकी कसौटीपर ठीक उतरता भी है । ठीक क्रममें वे संवाद इस प्रकार हैं—

१. अनसूया—सहि । ण सो अस्समपदे अत्थि चित्तवंतो जो तए विरहिज्जंतो अज्ज ण ऊसुओ कदो । पेक्ख ।

पुडइणि वत्तन्तरिअं वाहरिओ णाणुवाहरेदि पिअं ।
मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्कवाओ ॥

[सखि ! न स आश्रमपदेऽस्ति चित्तवान् यस्त्वया विरह्यमानोऽद्य नोत्सुकः कृतः । प्रेक्षस्व ।
पद्मिनीपत्रान्तरितां व्याहृतो नानुव्याहरति प्रियाम् ।
मुखोद्वूढमृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः ॥]

(सखी ! यहाँ आश्रममें कौन ऐसा प्राणी है जो तुम्हारे बिछोहसे दुखी नहीं हैं । देखो—कमलिनीके पत्तेकी ओटमें बैठा हुआ चकवा अपनी प्यारीके बुलानेपर भी उसका उत्तर नहीं दे रहा है और चोंचमें कमलकी डंठल पकड़े हुए तुम्हारी ही ओर टकटकी लगाए देख रहा है ।)

२. शकुन्तला— हला ! पेक्ख !

णलिणीवत्तन्तरिअं एसा विअ सहअरं अपेक्खंति ।
आरडइ चक्कवाई दुक्करमहअं करेमि त्ति ॥

(सखी ! देख तो। कमलिनीके पत्तोंकी ओटमें छिपे हुए अपने चकवेको न देख सकनेसे यह चकवी घबराकर चिल्ला रहो है। इसलिये मैं जिस कामसे जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिखाई देता।)

३. प्रियंवदा—सहि ! मा एव्वं मंतेहि।

एसवि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाददीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥

(सखि ! ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जानती हो ? यह चकवी विरहकी लम्बी रातें अपने प्यारेके विना अकेली ही काट देती है क्योंकि मिलनेकी आशा बड़ेसे बड़े विरहके दुःखमें भी ढाढ़स बँधाती रहती है।)

यहाँपर यह पूरी घटना शकुन्तलाको यह समझानेके लिये लाई गई है कि आगे तुम्हारे भाग्यमें क्या बदा है। चकवी पुकारती है किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देनेके कारणोंपर उसका कोई वश नहीं है, उसका हृदय शकुन्तलाके वियोगसे भरा हुआ है। इसी प्रकार शीघ्र ही शकुन्तला भी पुकारेगी और दुष्तन्त भी उसका उत्तर नहीं देगा। अनसूया अपनी सखीको सांत्वना देती है और वह विश्वासके साथ सांत्वना दे भी सकती थी क्योंकि उसके हाथमें शापका अन्त करानेवाली अँगूठी तो थी ही। इसीलिये ठीक इस घटनासे अगले संवादमें ये सखियाँ शकुन्तलाको अँगूठीका स्मरण करा देती हैं। दूसरी दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि कण्वने अपने जिस शोकको प्रकट नहीं होने दिया उसीको चक्रवाकने एक प्रकारके दैवी परिज्ञानसे समझकर शकुन्तलाको भावी विपत्ति और दुःखकी चेतावनी दे दी।

उपर्युक्त मीमांसासे यह भली भाँति स्पष्ट हो गया कि कालिदासने शकुन्तलाकी उस सच्ची निसर्ग-कन्याके रूपमें चित्रित किया है जिसे प्रकृतिके उन तत्त्वोंके साथ अत्यन्त घनिष्ठ व्यवहार और सम्बन्ध रखनेका अधिकार मिला था जिनके बीचमें वह पली थी। जबतक हम कविके "प्रकृति-तत्त्व" को नहीं समझ लेते तबतक कालिदासकी शकुन्तलाके भीतरी महत्त्वको हम ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। पिशेल, पाटनकर तथा कैपेलरके प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए भी मैं कह सकता हूँ कि नाटकके इस तत्त्वकी ओर लोगोंका पर्याप्त ध्यान न जानेका यही कारण है कि अभीतक इस नाटकका वास्तविक पाठालोचन-पूर्ण संस्करण तैयार नहीं हो सका है।

योगवासिष्ठमें मेघदूत

[प्रो० डा० भीखनलाल आत्रेय, एम्०ए०, डी०लिट्०, अध्यक्ष, दर्शन तथा मनोविज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

योगवासिष्ठ महारामायणमें निर्वाण-प्रकरणके उत्तरार्द्धके ११९ वें सर्गमें मेघदूतका निम्नोद्धृतवर्णन आता है—

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके । प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम् ॥ १ ॥
एकत्र पूर्णं किं वृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम् । दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम् ॥ २ ॥
अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे यो मां तथेह मम याति गृहं स कः स्यात् ।
नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यैं प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥ ३ ॥
य एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः ।
विद्युल्लता विलासिन्या वलितो रसिकेः स्थितः ॥ ४ ॥
भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं ब्यालम्ब्य कण्ठे गुणं नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा ।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयात्मानिलैः ॥५॥
चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती ।
न जाने क्वाधुनैवेतः पयोद दयिता गता ॥ ६ ॥

[देखिए ! यह पथिक मन्दर पर्वतके गुल्ममें चिरकालसे वियुक्त पत्नीको पाकर उससे अपने पूर्वकालके विरहकी कथा इस प्रकार कहता है—इस मेरे एक दिनके उत्तम तथा आश्चर्यजनक वृत्तान्तको सुनो । एक दिन तुम्हारे निकट अपना वृत्तान्त भेजनेके लिये दूतकी चिन्ता करते हुए मैंने यह कहा कि इस महाप्रलय कालके समान वियोगके दुःखमें ऐसा कौन दूत है जो मेरे इस वृत्तान्तको मेरे घर जाकर मेरी प्रियासे कहे, क्योंकि इस संसारमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो प्रीतिसे दूसरेके दुःखकी शांतिके लिये सरल भावसे प्रयत्न करे । इतनेमें मुझे स्मरण हो आया कि इस पर्वतके शिखरपर दूसरेके दुःखको शांति देनेवाला रसिक मेघ अपनी विलासिनी विद्युत्-रूपी प्रियासे संयुक्त स्थित है । इसलिये उससे मैंने कहा कि 'इन्द्रधनुष-रूपी सुन्दर माला अपने गलेमें पहने हुए भाई मेघ ! मेरी जिस पत्नीकी आँखोंमें जल भरा हुआ है, उसके पास जाकर धीरे गरजना क्योंकि वह कमलकी नालके समान कोमल शरीरवाली कृश बाला है और तुम्हारा कठोर या ऊँचा गर्जन सुननेमें असमर्थ है । उसे अपने जलकणोंसे युक्त मन्द मन्द पवनके झोंकोंसे जा जगाना । मैंने हृदयाकाशमें चित्तरूपी लेखनीसे अपनी प्रियाका चित्र बनाकर जो आलिङ्गन किया तो न जाने मेघ ! वह तत्क्षण कहाँ चली गई ।]

श्रीयोगवासिष्ठ महारामायणके इस छोटेसे "मेघदूत" के वर्णनको यदि हम महाकवि कालिदासके प्रसिद्ध काव्य 'मेघदूत'से तुलना करके अध्ययन करें तो जान पड़ेगा कि दोनोंके वर्णनमें बहुत ही समानता और एकता है । पाठकोंके सामने यहाँपर हम कवि कालिदासके मेघदूतकी उन पंक्तियों और वाक्योंको उद्धृत करते हैं जिनमें यह समानता विशेष रूपसे पाई जाती है ।

योगवासिष्ठ—

"प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम्" ६।३०।११९

मेघदूतम्—

"कान्ता-विरहगुरुणा" १।१

योगवासिष्ठ—

"दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम्" ६३०।११९।२

मेघदूतम्—

"जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्" १।४

योगवासिष्ठ—

"अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे यो मां तथेह मम याति गृहं स कः स्यात् ।
नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥" ६३०।११९।२३

मेघदूतम्—

"संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः संदेशं मे हर" । १।७

योगवासिष्ठ—

"य एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः" । ६३०।११९।४

मेघदूतम्—

" मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडा-परिणत-गज-प्रेक्षणीयं ददर्श ॥" १।२

योगवासिष्ठ—

"विद्युल्लता बिलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः"

मेघदूतम्—

विद्युद्गर्भः २।४०
"मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः" २।५८

योगवासिष्ठ—

"भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं
नीचैर्गजं मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा ।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा
तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयात्मानिलैः ॥" ६३०।११९।५

मेघदूतम्—

"तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः" । २।४०

योगवासिष्ठ—

"चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती ।
न जाने कोऽधुनैवेतः पयोद दयिता गता" ॥ ६३०।११९।१

नेघदूतम्—

"त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरण-पतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः'' ॥ २।४७ ॥

योगवासिष्ठ महारामायणके निर्वाण प्रकरणके उत्तरार्द्धके ११६वें सर्गके ३२वें श्लोककी इन—

''अस्याः प्रागभवत्पतिः स मुनिना शापेन वृक्षी कृतो।
वर्षंद्वादशकं तदेव गणयन्त्येषश्च साऽत्र स्थिता॥''

दो पंक्तियोंकी तुलना भी मेघदूतकी इन पंक्तियोंसे कीजिए :—

कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः ;
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ॥ १।१ ॥

मेघदूतमें ही नहीं, महाकवि कालिदासके अन्य काव्य कुमारसंभवम्में भी कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जो कि योगवासिष्ठ महारामायणमें पाई जाती हैं।

उदाहरणार्थ देखिए—

योगवासिष्ठ—

अथ तामतिमात्रविह्वलां स कृपाऽऽकाशभवा सरस्वती।
शफरीं ह्रदशोष-विह्वलां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत॥

कुमारसंभवम्—

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती।
शफरीं ह्रदशोषविह्वला प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत ॥ ४।३९ ॥

इन दोनों श्लोकोंमें ये शब्द—''आकाशभवा सरस्वती। शफरीं ह्रदशोषविह्वलां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत॥'' पूर्णतः एक ही हैं। अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि ऊपर दिखाई हुई समताएँ आकस्मिक हैं। अवश्य ही योगवासिष्ठकार और कालिदास दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेके वाक्यों और विचारोंका प्रयोग किया है। विद्वानोंने अभीतक न तो महाकवि कालिदासका ही और न योगवासिष्ठ रामायणका ही समय पूरे ढंगसे निश्चित कर पाया है। अतएव यह कहना कठिन है कि दोनोंमेंसे किसको मौलिक कहा जाय। ऐतिहासिक प्रमाणको यदि माना जाय तो योगवासिष्ठ महारामायण आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीकी कृति है और मेघदूत और कुमारसम्भवके लेखक महाकवि कालिदास आदि विक्रम सम्राट्के (५७ ई० पू०) नवरत्नोंमेंसे एक थे जो अबसे केवल दो सहस्र पूर्व भारतपर शासन करते थे। कवि वाल्मीकि अवश्य ही कवि कालिदासके पूर्ववर्ती माने जाने चाहिएँ। किन्तु आजकलके विद्वानोंके मतमें समूचा योगवासिष्ठ—जैसा कि वह आजकल मिलता है—इतना पुराना ग्रन्थ नहीं है जितना वह बताया जाता है। उसमें बहुत-सा भाग बहुत पीछेका है और अवश्य ही कालिदासके समयके पीछेका है। निर्वाण प्रकरणका उत्तरार्द्ध पीछेका जान ही पड़ता है जिसमें ''मेघदूत'' की कल्पना की गई है। अतएव यह संभव है कि योगवासिष्ठकारके ऊपर कालिदासके विचारों और प्रयोगोंकी कुछ छाप पड़ गई हो। कुछ भी हो, विद्वानोंके लिये यह बात विचारणीय है। आशा है कि पुरातत्त्वके कोई विद्वान् इस समस्याकी ओर ध्यान देकर इसको सुलझानेका यत्न करेंगे।

मेघदूतकी रसवत्ता

[आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी]

किसी प्राचीन जीवन-रसिक, सहृदय पुरुषने अपने जीवनकी उत्कट अभिलाषाओंका वर्णन करते हुए बड़ी तन्मयताके साथ कहा है—

कालिदास-कविता नवं वयः माहिषं दधि सशर्करं पयः ।
एणमांसमबला सुकोमला संभवन्तु मम जन्म-जन्मनि ॥

[मुझे इस भवचक्रमें चाहे जितनी बार जन्म लेना पड़े तब भी मुझे स्वीकार है यदि प्रत्येक जन्ममें मुझे कालिदासकी कविता, नई चढ़ती हुई जवानी, भैंसका सजाव दही, शक्कर पड़ा हुआ दूध, हरिणका मांस और कोमल नवेली प्राप्त होती रहें ।] फ़ारसीके प्रसिद्ध कवि उमर ख़य्यामने भी कुछ इसी प्रकारकी इच्छा प्रकट की है कि मेरे पास साक़ी हो, वृक्षकी छाया हो, मदिरासे भरी हुई सुराही और प्याला हो और हाथमें पुस्तक हो । उमर ख़य्यामने उस पुस्तकका नाम तो स्पष्ट नहीं बताया है किन्तु मुझे विश्वास है कि यदि उमर ख़य्यामने कालिदासकी कविताका अनुवाद पढ़ा या सुना होगा तो निश्चय ही उसने मेघदूतकी पोथी ही चाही होगी । जिस भारतीय रसिकने अपने सम्पूर्ण जीवनकी अभिलाषाओंमें सर्वप्रथम स्थान कालिदासकी कविताको दिया है उसने निश्चय ही रघुवंश और कुमार-संभव नहीं, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र भी नहीं, ऋतुसंहार भी नहीं, केवल मेघदूत ही माँगा होगा क्योंकि कविता तो मेघदूत ही है और तो महाकाव्य हैं या नाटक हैं या स्फुट मुक्तक हैं । इसीलिये संस्कृतके विद्वान् कहा करते हैं—‘मेघे माघे गतं वयः’ (मेघदूत और माघके शिशुपालवधको जीवन भर पढ़ते रह गए (पर तृप्ति न हो पाई) । किन्तु उन्हें कहना चाहिए—‘मेघे मेघे गतं वयः’ (मेघदूत्त ही मेघदूत पढ़ते रहनेमें जीवन बिता दिया, माघमें वह रस कहाँ धरा है ?)

विश्वनाथ कविराजने अपने साहित्य-दर्पणमें ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ कहकर काव्यकी जो परिभाषा बताई है और पंडितराज जगन्नाथने अपने रस-गंगाधरमें जिस काव्यको ‘रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः’ कहकर स्मरण किया है वह निश्चय ही कोई अलौकिक चमत्कार और रससे पूर्ण कृति ही हो सकती है जिसके सम्बन्धमें कहा गया है—

तंत्रीनाद, कवित्त-रस, सरस राग, रतिरंग ।
अनबूड़े बूड़े; तरे, जे बूड़े सब अंग ॥

[तन्त्रीनाद, कविताका रस, मनोहर राग और कामक्रीडामें जो नहीं डूबे वे ही डूब गए, उनका जन्म निरर्थक हुआ और जो भरपूर डूब गए, रम गए उन्हींका जीवन सार्थक है ।]

यद्यपि हास्य, अद्भुत, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स और शान्त भी रस कहलाते और माने जाते हैं तथापि शृंगार तो रसराज है, एक मात्र रस है ‘शृङ्गारैकरसः’ । इस शृंगारसे ओतप्रोत यदि कालिदासका कोई काव्य है तो वह एकमात्र मेघदूत है । काव्यशास्त्र-मर्मज्ञ भली भाँति

जानते हैं कि श्रृंगारके दो पक्ष होते है—संयोग और वियोग। केवल संयोग श्रृङ्गारको हमारे यहाँ अधूरा और कच्चा माना गया है—

न विना विप्रयोगेन संयोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते॥

[विप्रलंभके बिना संयोग श्रृङ्गार पुष्ट नहीं होता क्योंकि वस्त्र आदिको जितने कसैले पदार्थमें डुबो लिया जाता है उतना ही अच्छा उसपर रंग चढ़ता है] इसीका समर्थन करते हुए एक उर्दू के कविने कहा है—

जो मज़ा इन्तज़ारमें देखा,
वह नहीं वस्लेयारमें देखा।

[प्रियकी प्रतीक्षामें जो आनन्द मिला वह उससे मिलकर नहीं मिल पाया।] संस्कृतके एक कविने किसी विरहीसे कहलाया है—

संगम-विरह-विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः॥
अविरहकाले सैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥

[संगम और विरहमेंसे यदि मुझे कोई एक चुनना हो तो संगमकी अपेक्षा मैं विरहको ही अच्छा समझता हूँ क्योंकि संगमके समय तो केवल एक वही होती है किन्तु विरहमें तो यह संपूर्ण त्रिभुवन ही प्रियामय प्रतीत होने लगता है।] उसकी अवस्था यह हो जाती है—'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।' प्रियाकी इस महत्ताका वर्णन करते हुए उर्दू के एक कविने तो पराकाष्ठा दिखला दी है—

माशूकके जलवेको महशरमें कोई देखे।
अल्लाह भी मजनूंको लैला नज़र आता है॥

[प्रियका प्रभाव देखना हो तो प्रलयके अन्तमें न्यायके दिन देखे क्योंकि तब भी प्रेमीकी निष्ठा इतनी प्रबल होती है कि मजनूंको ईश्वर भी लैला ही प्रतीत होता है।] ऐसा ही अधीर, अनन्य और अज्ञात प्रेमी वह यक्ष था जिसका नाम भी कालिदासने नहीं लिया है, केवल कश्चित् (कोई) कहकर उसका संकेत भर दे दिया है क्योंकि हमारे यहाँ नीति-शास्त्रमें कहा गया है—

गुरुद्वेषी कृतघ्नश्च कृपणो शप्तहिंसकौ।
निन्दकोऽपत्य-विक्रेता न ह्येतान् नामतः स्मरेत्॥

[गुरुसे द्वेष करनेवाले, कृतघ्न, शापग्रस्त, हिंसक, कृपण, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले और सन्तान-विक्रेता, इनका कभी नाम नहीं लेना चाहिए।] मेघदूतका यक्ष भी 'शापेनास्तंगमित-महिमा' (शापके कारण समाप्त हो गई हुई महिमावाला) था, जो 'धनपतिक्रोधविश्लेषित' (कुबेरके क्रोधके कारण एक वर्षके लिये अपनी प्रियासे वियुक्त) होकर रामगिरि (चित्रकूट) पर पड़ा हुआ था, जिसका वर्णन कालिदासने अत्यन्त करुणाके साथ किया है—

कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनया-स्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥

[अपनी कान्तामें अतिशय अनुरक्त कोई यक्ष[1] अपना कर्तव्य ठीक पालन नहीं कर पाता था। (कार्तिक शुक्लकी देवोत्थान्या एकादशीके दिन) इसने अपने स्वामी कुबेरके कार्यमें ऐसी ढिलाई कर दी कि उसे कुबेरने शाप दे डाला कि जिस कान्ताके मोहमें पड़कर तू अपने कर्त्तव्यमें प्रमाद करता है उससे तू एक वर्षतक दूर पड़ा रह।] यह घटना देवोत्थान्या एकादशीको ही हुई थी। इसका प्रमाण स्वयं मेघदूतके अन्तमें दिया गया है—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ ।
मासानन्यान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।।
[उ० मेघ० ५।३]

[देखो ! अगली देवउठनी एकादशीको जब विष्णु भगवान् शेषशय्यासे उठेंगे उसी दिन मेरा शाप भी समाप्त हो जायगा। इसलिये इन चार महीनोंको भी किसी प्रकार आँखें मूँदकर बिता डालो।]

और वह शाप भोगनेके लिये अलकासे चलकर कैलास, मानसरोवर, क्रौंचरन्ध्र, कनखल, ब्रह्मावर्त्त, कुरुप्रदेश, दशपुर, उज्जयिनी, दशार्ण, अवन्ती, वेत्रवती, चर्मण्वती, आम्रकूट, रेवा, नीच पर्वत और मालदेश होता हुआ कामदगिरि चित्रकूट (रामगिरि) पहुँचा और वहीं रह गया—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी ।
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।।

[उस पर्वतपर अपनी पत्नीसे बिछुड़े हुए उस कामीने कुछ महीने काट दिए जिसके हाथका सोनेका कंगन विरहमें ढीले होनेके कारण निकल गया था।]

यहाँ पुनः 'कामी' कहकर पत्नीमें उसकी आसक्ति और भी दृढ करके स्पष्ट कर दी गई है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कामीको ही परम निष्ठाका आदर्श माना है और राममें अपनी निष्ठाका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिये उन्होंने यही कहा है—

---

[1] ब्रह्मवैवर्तपुराणके अन्तर्गत आषाढ कृष्ण योगिनी एकादशीकी भूमिकाके रूपमें भगवान् कृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा है कि अलकाके स्वामी कुबेर बड़े ही शिव-भक्त थे। उनका एक हेममाली नामका बटुक (छोकरा) सेवक था जिसकी पत्नी विशालाक्षी बहुत सुन्दरी थी। वह बटुक दिनरात उसीके फेरमें पड़ा रहता था। एक बार जब उसे कुबेरने मानसरोवर-से कमल लानेको कहा तो वह वहाँ न जाकर अपनी पत्नीके पास ही जाकर बैठ रहा और कुबेरके पास कमल लेकर नहीं गया। उधर कुबेर शिवकी पूजाके लिये दोपहरतक प्रतीक्षा करते रहे, इधर हेममाली अपनी पत्नीके साथ आनन्द लेता रहा। बहुत देर हो जानेपर कुबेरको जब यह ज्ञात हुआ कि पत्नीके फेरमें पड़े रहनेके कारण वह नहीं आया तब उन्होंने तत्काल उसे बुलवा भेजा और शाप भी दिया कि तुझे कोढ़ हो और तू अपनी पत्नीसे अलग हो जा और इस स्थानको छोड़कर कहीं नीचे (धरतीपर) चला जा।

जान पड़ता है कालिदासने यह कथा वहींसे ली और कोढ़की बात हटाकर काव्य-कौशल-के चमत्कारसे उस घटनाको काव्यका बाना देकर उसे इतना मधुर बना दिया कि वह विद्वानोंका प्राण बन गया है। लेखकने इस घटनाके आधारपर अलका नामका बहुरंग काव्य भी लिखा है और नाटिका भी, जो पठनीय हैं। ऐसा ही प्रसंग योगवासिष्ठमें भी आया है। देखिए इसी ग्रन्थमें डा० भीखनलाल आत्रेयका 'योगवासिष्ठमें मेघदूत।'

कामिहिँ नारि पियारि जिमि, लोभिहिँ जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तरइ, प्रिय लागहु मोहिँ राम ॥

[जैसे कामीको स्त्री प्यारी होती है, लोभीको पैसा प्यारा होता है, उसी प्रकार श्रीराम भी मुझे प्यारे लगें।]

इसीलिये कालिदासने उसे 'कामी' से विशेषण-विशिष्ट करके उसकी एकान्त आसक्तिको स्पष्ट कर दिया है और इसी कामिताके कारण ही अपनी सुध-बुध भूले हुए यक्षने मेघको ही अपना दूत बना डाला।

इस विरही यक्षने अपने विरहके दिन काटनेके लिये स्थान भी चुना रामगिरि। बहुतसे विद्वानोंका मत है कि यह रामगिरि वास्तवमें चित्रकूट नहीं वरन् नागपुरके पासकी 'रामटेक' पहाड़ी या रीवाँ राज्यकी 'रामगढ़' पहाड़ी है किन्तु यह उनका भ्रम है। उसका कारण यह है कि 'जनकतनया-स्नानपुण्योदकेषु' और 'स्निग्धच्छाया-तरुषु' वाले आश्रम चित्रकूटपर ही हैं, रामटेक पर नहीं। सुन्दर ताल, मन्दाकिनीका प्रवाह, पहाड़ी धाराएँ, घने वृक्ष, हरियाली कुंजें और ऋषियोंके आश्रम चित्रकूटपर ही हैं, रामटेकपर नहीं, क्योंकि रामटेक तो सूखी पहाड़ी है जहाँ कभी-कभी जलके भी दर्शन नहीं होते। ऐसी सूखी पहाड़ीपर भला यक्ष क्यों रहने जायगा। इस सम्बन्धमें रहीमका यह दोहा भी विचारणीय है—

चित्रकूटपै रमि रहे, रहिमन अवध-नरेस।
जापै बिपदा परत है, सो आवत इहि देस ॥

[अवधके नरेश (रहीम) आकर चित्रकूटपर बस गए क्योंकि जिसपर विपत्ति पड़ती है वह यहीं आता है।]

इस दोहेमें जहाँ अवध-नरेश (अवधके नवाब) अब्दुर्रहीम ख़ानख़ानाने अपने आपत्कालके निवासकी सूचना दी है वहीं विपद्ग्रस्त अवध-नरेश राम और मेघदूतके वियुक्त यक्षकी ध्वनि भी समाविष्ट है। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो स्पष्ट रूपसे चित्रकूटको ही रामगिरि कहा है—

राम-सैलबन देखन जाहीं। (राम-सैल = रामगिरि = चित्रकूट)

अयोध्याकांड दोहा २४८ के पश्चात्

अटन रामगिरि बन तापस थल। अयोध्याकांड दोहा २७९ के पश्चात् इसी प्रसंगमें चित्रकूटके सम्बन्धमें भरतने कहा है—

'प्रभु-पद अंकित अवनि-बिसेखी'। ये ठीक वे ही शब्द हैं जो रामगिरिके लिये कालिदासने मेघदूतमें कहे हैं— वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु। इसका अर्थ यह है कि गोस्वामीजीके समयतक भी चित्रकूटको रामगिरि ही कहते थे। रामगिरिको चित्रकूट बतानेके लिये ही गोस्वामीजीने 'प्रभु-पद अंकित अवनि-बिसेखी' लिखकर अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

इतिहास भी इसीका साक्षी है। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार अयोध्यासे चलकर राम जाकर चित्रकूटमें रहे और फिर भरतको अपनी पादुका दे-देनेके कुछ दिनों पश्चात् वे अयोध्या समीप होनेके कारण ऋषियोंके साथ अत्रिके आश्रममें जा पहुँचे। वहाँसे दंडकारण्यमें प्रविष्ट होकर विराधका वध करते हुए वे शरभंग ऋषिके आश्रममें जा पहुँचे। वहाँसे चलकर वे सुतीक्ष्णके आश्रममें एक रात्रि निवास करके, फिर धर्मभृत मुनिके पास रहकर. मांडकर्णि-द्वारा निर्मित पंचाप्सर नामक (पंचसर) सरोवरका प्रभाव सुनकर ऋषियोंके आश्रममें रहते हुए सुतीक्ष्णके आश्रममें लौट आए और वहाँसे चलकर वे अगस्त्यके आश्रममें जा पहुँचे। फिर अगस्त्य मुनिकी आज्ञासे ही वे गोदावरीके तीरपर पंचवटीमें जा रहने लगे। इस प्रसंगमें कहीं भी रामटेक या किसी अन्य ऐसे

स्थानका विवरण ही नहीं आता जहाँ सीताजीने स्नान किया हो और जिसकी मेखला-पर रामके चरण अंकित हों। ऊपर जिन ऋषियोंका वर्णन है उनमेंसे किसीका भी आश्रम रामटेककी ओर नहीं था और यह रामटेक अयोध्यासे भी काले कोसों दूर था।

यदि अंतःसाक्ष्यकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो स्वयं कालिदास ही इस सम्बन्धमें सबसे बड़े प्रमाण हैं। उन्होंने स्वयं रघुवंशमें लिखा है—

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः। [रघु० १२।१५]
रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः।
आशंक्योत्सुकसारंगा चित्रकूटस्थलीं जहौ ।। [रघु० १२।२४]

इसमें भी चित्रकूटमें ही रहनेकी बात आई है। [चित्रकूटमें ही उन्होंने अपने पिताके स्वर्गवासका समाचार सुना और चित्रकूटका परित्याग भी उन्होंने इसलिये किया कि वह प्रदेश अयोध्याके पास था। उन्हें आशंका थी कि भरत फिर न कहीं आ जायँ।] वे चित्रकूट छोड़कर चल दिए और फिर अनेक ऋषिकुलोंमें होते हुए, अत्रि मुनिका दर्शन और विराधका वध करते हुए अगस्त्यकी आज्ञाके अनुसार गोदावरीके तटपर पंचवटीमें जाकर रहने लगे। अतः, वाल्मीकि और कालिदास दोनोंने रामके निवासके दो ही स्थान माने हैं और वे हैं चित्रकूट और पंचवटी। दूसरा प्रमाण यह है कि कुटज (इन्द्रजव) का फूल केवल विन्ध्य-मेखलामें ही होता है रामटेकपर उसका नाम-तक नहीं है। अतः, यक्षका प्रवास-स्थान निश्चय ही चित्रकूट था। 'रामगिर्याश्रमेषु' और 'ब्रूया एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः' दोनों स्थानोंपर कालिदासने 'रामगिरि'का ही नाम लिया है, चित्रकूटका नहीं और उसका कारण यही है कि मेघदूतमें न नायकका नाम दिया गया न नायिकाका और न स्पष्ट रूपसे उस स्थानका जहाँ यक्ष जाकर रहा। यही इस काव्यकी विशेषता है कि नायकका नामतक न होनेपर भी वह इतना लोकप्रिय है। 'जनक-तनया-स्नान-पुण्योदकेषु' और 'वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु' कहकर भी चित्रकूटका ही परिचय दिया गया है क्योंकि राम जब लंकासे लौट रहे हैं तब भी उन्होंने अत्यन्त भावुक होकर चित्रकूटका ही वर्णन करते हुए कहा है—

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृंगाग्रलग्नाम्बुदवप्रपंकः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रिचक्षुर्दृप्तःककुद्मानिव चित्रकूटः ।।
[रघु० १३।४७]

[देखो सुन्दरी ! मस्त साँड़के समान यह चित्रकूट मुझे बड़ा सुहावना लग रहा है। गुफा ही इसका मुख है, जलधाराकी ध्वनि ही डकार है, चोटी ही सींग हैं और छाए हुए बादल ही सींगोंपर लगा हुआ कीच है।]

अब इसे मिलाइए—'वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श।' अन्तर इतना ही है कि मेघदूतमें हाथीकी वप्र-क्रीडाका वर्णन है और रघुवंशमें डील-डौलवाले साँड़की वप्रक्रीडाका। अतः, निश्चय ही वह यक्ष चित्रकूटपर ही था, किसी रामटेकपर नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि चित्रकूटके आस-पास गाँवोंमें रहनेवाले आज भी उसे रामगिरि ही कहते हैं, चित्रकूट नहीं।

जैनियोंके पद्मपुराणमें तो स्पष्ट रूपसे चित्रकूटको रामगिरि बताते हुए उसका रामगिरि नाम पड़नेका कारण भी जैन भावनाके अनुसार दिया है कि यहाँ रामने जैन चैत्य बनवाए थे—

रामेण यस्मात्थरमाणि तस्मिन् जैनानि वेश्मानि विधापितानि।
निर्नष्ट वंशादिवचः स तस्माद्रविप्रभो रामगिरिः प्रसिद्धः ।।४०।४१

उस चित्रकूटपर उस यक्षने आठ महीने बिता दिए। उस दशामें वह ऐसा सूखकर काँटा हो गया और इतना दुबला हो गया कि उसका सोनेका कड़ा भी उसके हाथसे निकल गिरा। विरहमें कृशताका वर्णन विश्वके सभी साहित्योंमें किया गया है और इस कृशताकी व्यंजना करनेके लिये अतिशयोक्ति या मुग़ालतेका प्रयोग किया गया है। सीताजीकी विरह-दशाका वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने भी सीताजीसे कहलाया है—

अब जीवनकै है कपि आस न कोइ।
कनगुरियाकै मुँदरी कंगन होइ॥ [बरवै रामायण]

[देखो हनुमान ! अब जीवनकी कोई आशा नहीं रह गई है, क्योंकि विरहजन्य दुर्बलताके कारण कनिष्ठिका उँगलीकी अँगूठी भी अब कंगन बन गई है।]

अपभ्रंशके एक कविने तो अति ही कर दी और कहा है—

वायसु उड्डावन्तिअए, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्टि तड़त्ति॥

[अपने प्रियके आगमनके शकुनके लिये कोई विरहिणी कौआ उड़ा रही थी। उस उड़ानेमें हाथ झटकते समय दुर्बलताके कारण हाथकी आधी चूड़ियाँ हाथसे निकलकर बाहर गिर गईं। इतनेमें सहसा विदेश गया हुआ पति लौटा हुआ दिखाई पड़ गया। वह नायिका हर्षसे फूली नहीं समाई और सहसा इतनी फूल उठी कि हाथमें बची हुई आधी चूड़ियाँ मोटाईके कारण तड़ककर टूट गईं।]

उर्दूके एक कविने तो विरहकी कृशताके वर्णनमें सीमा पार कर दी है। एक विरही अपनी विरह-कृशताका वर्णन करते हुए किसीसे कह रहा है—

इन्तहाए लाग़रीसे जब नज़र आया न मैं।
हँसके वो कहने लगे बिस्तरको झाड़ा चाहिए॥

[कृशताकी पराकाष्ठाके कारण जब मैं अपने प्रियको दिखाई नहीं पड़ा तो प्रियने कहा कि बिस्तर झाड़ो तो गिरनेपर शायद दिखाई पड़ जायँ।

किन्तु महाकवि कालिदासने इस प्रकारकी हास्यास्पद अतिशयोक्तिका आश्रय न लेकर केवल यही कहा—'अपने हाथका कड़ा निकलकर गिर जानेसे सूनी पहुँचीवाले यक्षने कुछ महीने निकाल दिए।'

'नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।'

इस प्रकार वहाँ आठ महीने बितानेपर आषाढके प्रथम दिन वह देखता क्या है कि चित्रकूटकी चोटीपर लिपटे हुए बादलोंसे चित्रकूट ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो कोई हाथी मिट्टीके टीलेको ढहानेका प्रयत्न कर रहा हो। बहुतसे विद्वानोंने वप्र-क्रडा-परिणत-गज-प्रेक्षणीयमें बादलोंको हाथी माना है और चित्रकूटको वप्र, किन्तु यदि कोई चित्रकूटमें हनुमान-धारापर बैठकर आषाढके पहले दिन चित्रकूटपर छाए हुए बादलका दृश्य देख ले तो उसे प्रतीत होगा कि वास्तवमें चित्रकूटही मस्तक उठाए हुए गजके समान है और बादल ही वप्र (टीला) हैं। स्वयं कालिदासने अपने रघुवंशमें शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपंकः, ककुद्मानिव चित्रकूटः [रघु० १३।४७] बताकर इसे स्पष्ट कर दिया है कि चित्रकूट उस साँडके समान है जिसकी चोटीपर छाए बादल ऐसे लगते हैं मानो उसके सींगोंपर टीलेकी मिट्टी लगी हो।

मेघदूतकी कुछ प्रतियोंमें आषाढस्य प्रथम-दिवसेके बदले 'प्रशम-दिवसे' पाठ मिलता है किन्तु वह पाठ अग्राह्य भी है और भ्रामक भी। आषाढके प्रारम्भमें बादल आनेकी बात उत्तर भारतके सम्पूर्ण ग्राम-गीतोंमें व्याप्त है—

चढ़त असाढ़ गगन घन छाए।
चमचम चपला जी डरपाए।
पिय बिन मोको कछु न सुहाए॥
साजन सौतिन घर बिलमाए।
कछु न सुहाए, बादल छाए॥

गुजरातके अपभ्रंश साहित्यमें मृणालवतीने मुंजको संदेश ही भेजा है—

मुञ्ज षढल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि।
आषाढ़ी घण गज्जिइं चिक्खिल होसे वारि॥

[अरे गँवार मुंज ! तू प्रेमकी ढीली डोरीको समझ नहीं रहा है। जब आषाढमें बादल गरजने लगेंगे तब मार्गमें पानी ही पानी भर जायगा, तब तू कैसे आ पावेगा।]

हमारे देशी साहित्यमें जो अनेक बारहमासे लिखे गए हैं या लिखे जाते है उन सबमें आषाढ चढ़ते ही बादल आनेका वर्णन है। ज्योतिष्-शास्त्रके अनुसार भी आषाढके पहले पक्षमें मेघ-दर्शन आवश्यक है अन्यथा दो मासतक अनावृष्टिकी आशंका होती है—

आषाढमासे प्रथमे च पक्षे निरभ्रदृष्टे रविमंडले च।
विद्युन्नगर्ज्जत्यथ नैव मेघाः मासद्वयं तत्र न वर्षणं स्यात्॥

[आषाढके पहले पखवाड़ेमें यदि सूर्य बिना बादलके खुला रहे और न बिजली चमके-गरजे, न बादल हों तो समझ लो कि दो मास-तक वर्षा नहीं होगी।]
और फिर यह तो प्रत्यक्ष दृश्य है जिसे कोई भी चित्रकूटपर जाकर देख सकता है।

मेघदूतका अध्ययन करनेसे पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि कालिदास कोई भूगोलकी पुस्तक नहीं लिख रहे हैं, काव्य लिख रहे हैं और मेघकी मर्यादाके अनुसार (त्वत्प्रयाणानुरूप) मार्ग समझा रहे हैं। अन्यथा 'वक्रः पन्था'का प्रश्न ही न उठता। किन्तु उस काव्यका यही चमत्कार है कि उसमें भूगोलकी सटीकता, जीव-विज्ञान तथा वनस्पति-विज्ञानकी प्रामाणिकता और इतिहासकी वास्तविकता सब उपस्थित है। आषाढके पहले दिन कामदगिरिके शिखरपर लटके हुए मेघको देखते ही वह कान्ता-विरही कामी यक्ष विरहसे व्याकुल हो उठा और जिस समय मेघको देखकर दूर-देशस्थ पथिक भी अपने घर लौटनेको उत्सुक हो जाता है उस समय शापग्रस्त यक्षकी क्या दशा हुई होगी यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उसकी इस स्वाभाविक आकुलताका समर्थन करते हुए कालिदासने कहा है—

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः।
कंठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे॥

[बादलको देखकर जब सुखी लोगों तकका मन डोल जाता है तब उस वियोगीका तो कहना ही क्या, जो दूर देशमें पड़ा हुआ अपनी प्यारीके गले लगनेके लिये दिन-रात तड़पा करता है।]

उर्दूके कविके अनुसार—

तौबा तो की थी मैंने न पिऊँगा मैं शराब।
बादलका रंग देखके नीयत बदल गई॥

[मैंने प्रतिज्ञा तो की थी कि कभी मदिरा नहीं पीऊँगा किन्तु बादल उठे हुए देखकर संकल्प टूट गया ।]

वह अपनी प्रियतमाके लिये छटपटाने लगा और फिर तत्काल उसने सोचा कि शापके कारण अलका लौट जाना तो अभी सम्भव नहीं है इसलिये क्यों न संदेश ही भेज दिया जाय क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि बादलोंको देखकर वह विरहकी व्याकुलतामें प्राण ही दे डाले। अपभ्रंशके एक कविने इस स्थितिको बड़ी मार्मिकताके साथ कहा है—

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ णिण्णेह ।
बिहुँ पयारेहिँ गइहि धण किं गज्जहि खल मेह ॥

[यदि वह प्रिया मुझसे स्नेह करती होगी तो तुम्हारा गर्जन सुनकर उसने अपने प्राण छोड़ दिए होंगे और यदि वह जीवित है तो निश्चय ही उसके मनमें मेरे लिये स्नेह नहीं। इसलिये वह तो दोनों प्रकारसे मेरे हाथसे जाती रही । तो दुष्ट मेघ ! अब तू क्या गरजे चला जा रहा है ।] इसीलिये उस कामी यक्षने सोचा कि क्यों न इसी मेघसे ही संदेश भेज दिया जाय ।

तुम्हींने दर्द दिया है तुम्हीं दवा देना ।

यही मेघ तो जाकर प्राण लेनेवाला है, क्यों न इसीके हाथ सन्देश भेज दिया जाय, क्योंकि इससे पहले कोई पहुँच नहीं पावेगा और इससे योग्यतर कोई दूसरा संदेशवाहक भी नहीं मिलेगा । क्यों ?

बहुतसे विद्वानोंने कहा है कि मेघके हाथ संदेश भेजना अस्वाभाविक है। यह बात कालिदास भी जानते थे । इसीलिये उन्होंने कहा भी है—

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्रापणैः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥

(कहाँ तो धुएँ, अग्नि, जल और वायुसे बना हुआ मेघ और कहाँ चतुर लोगोंसे पहुँचाया जानेवाला सन्देश । किन्तु कामार्तमें इतनी समझ कहाँ रह जाती है कि वह जड और चेतनका भेद कर सके ।) यह तो कालिदासका अपना अर्थान्तरन्यास है । किन्तु यक्षने अपने इस मेघदूतका चुनाव बहुत ठोक बजाकर किया है । वह कहता है—जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानाम् । जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः । तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोहम् । याच्ञा-मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ [तुम विश्व-प्रसिद्ध पुष्कर और आवर्तक वंशमें उत्पन्न हुए हो, तुम इन्द्रके कामरूप अर्थात् इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाले प्रकृति-पुरुष (अत्यन्त विश्वस्त पुरुष) हो इसलिये मैं तुमसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ क्योंकि किसी गुणीके आगे हाथ फैलाकर निष्फल लौटना अच्छा है किन्तु अधमसे इच्छित फल पाना भी अच्छा नहीं है ।] नीतिशास्त्रोंने दूतके जो अनेक गुण बताए हैं उन सभीका दर्शन यक्षने मेघमें किया है । दूत कुलीन होना चाहिए, मेघ कुलीन है, पुष्कर और आवर्त्तक कुलमें उसका जन्म हुआ है । सबसे बड़ी बात यह है कि वह विश्वस्त होना चाहिए मेघ साक्षात् देवराज इन्द्रका विश्वासपात्र है । दूत ऐसा हो कि जब जैसी आवश्यकता हो वैसा रूप धारण कर ले । ये गुण भी मेघमें स्वभावतः विद्यमान हैं । जब रामके दूत बनकर सीताकी खोज करने हनुमान गए थे उस समय उनकी भी यही परीक्षा सर्पोंकी माता सुरसाने ली थी और देख लिया कि वे बुद्धिमान हैं, निर्भीक हैं, विश्वस्त हैं, जब चाहे जैसा बडा या छोटा रूप धारण कर सकते हैं ।

ज्योतिष्-तत्त्वके अनुसार बादलोंके चार कुल बताए गए हैं—

आवर्तो निर्जलो मेघः संवर्तश्च बहूदकः।
पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः शस्यप्रपूरकः।

[आवर्त्त मेघ निर्जल होता है। संवर्त्तमें बहुत जल होता है। पुष्करमें कठिनाईसे थोड़ा-सा होता है और द्रोण तो धान्य-वर्धक होता ही है।]

इनमें सम्वर्त्त नामक बहूदक बादलको छोड़ दिया कि कहीं अलकामें पहुँचकर धुआँधार पानी न बरसाने लगे और शस्य-प्रपूरक द्रोणको भी छोड़ दिया कि यदि उसे संदेश-वाहक बनाकर भेजा तो यहाँके लोग बिना अन्नके मर जायगें। इसलिये उसने दुष्कर जलवाले पुष्कर और आवर्तक कुलके निर्जल मेघको ही चुना कि उन्हें चाहे जितने दिनों-तक इधर-उधर निश्चिन्तताके साथ घुमाया जा सकता है। मेघोंकी इसी प्रकृतिके कारण कालिदासने उन्हें बीच बीचमें पड़नेवाली नदियोंका जल पीते चलनेका परामर्श भी दिया है।

मेघको दूत बनानेका एक और भी कारण है जो यक्षने स्पष्ट कर दिया है—

'सन्तप्तानां त्वमसि शरणम्।'

[तुम संतप्त लोगोंको शरण देनेवाले हो।] घनानन्दका वह सवैया तो प्रसिद्ध ही है—

पर-कारज देहको धारे फिरौ परजन्य यथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधाके समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ॥
घनआनँद जीवनदायक हौ, कबौं मेरिऔ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजानके आँगन मो अँसुवानहु लै बरसौ॥

और फिर जब किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिको दूत बनाना होता है तब उसकी बड़ी चाटुकारी की जाती है। उसे यह विश्वास दिलाया जाता है कि मैं किसी ऐसे-वैसे स्थानपर किसी बीहड़ मार्गसे नहीं भेज रहा हूँ, किसी अवाञ्छनीय व्यक्तिके पास नहीं भेज रहा हूँ। इसीलिये यक्षने पहले स्थानका निर्देश देते हुए अलकाका परिचय दिया—

गन्तव्या ते वसतिरलकानाम यक्षेश्वराणां बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्याः॥

यक्षने बतलाया कि 'मित्र पयोद! मैं तुम्हें यक्षेश्वरोंकी उस अलका नामकी बस्तीको जानेको कह रहा हूँ जिसे बाहरसे ही देखकर तुम फड़क उठोगे क्योंकि बाहर उद्यानमें स्थित महादेवजीके सिरपर स्थित चन्द्रमाके प्रकाशसे वहाँके भवन बारहों मास चमचमाते रहते हैं। इसके पश्चात् अलकाका मार्ग बताते समय यक्षने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंगसे बादलको भोजन, विश्राम, दर्शनीय स्थल, रमणीय दृश्य, आमोद-प्रमोद, मनोरंजन और देव-दर्शनके साथ बीचमें पड़नेवाले नद, नदी, पर्वत, प्रदेश, नगर, पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प, जलवायु, पुरुष, स्त्री, देवता और ऐतिहासिक घटनाओंका बड़ा संश्लिष्ट वर्णन करते हुए उस मार्गसे जानेका प्रलोभन दिया है क्योंकि वह मेघको कहता है कि 'त्वत्प्रयाणानुरूपम्' तुम्हारे पदके अनुसार मार्ग बता रहा हूँ। और विचित्र बात यह है कि वह सम्पूर्ण विवरण, सम्पूर्ण जड प्रकृति कालिदासने श्रृंगारमयी दिखाई है कि कहीं रसमय मेघ विरस न हो जाय इसलिये वह नदियों और पर्वतोंको भी मानव रूपमें मानवीय सौन्दर्यसे पूर्ण ही देखता है।

मेघको प्रारम्भमें ही प्रलोभन देते हुए यक्ष कहता है कि तुम्हारा उपकार केवल मैं ही नहीं मानूँगा वरन् अन्य पथिक-वनिताएँ भी मानेंगी—

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्तः प्रेक्षिष्यन्ते पथिक-वनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ।
कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां न स्यादन्योप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥

यक्ष कहता है कि [तुम्हें उठा हुआ देखकर गालोंपर फैले हुए बाल हटाकर बड़े विश्वासके साथ परदेसियोंकी पत्नियाँ तुम्हारी ओर देखने लगेंगी क्योंकि मेरे जैसे पराधीनको छोड़कर और कौन होगा जो ऐसे समय अपनी विरहिणी पत्नीकी उपेक्षा कर सके ।]

विरहकी दशामें दिन गिननेकी बड़ी मार्मिक स्थितिका वर्णन अपभ्रंश साहित्यमें मिलता है—

जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगिलउ जज्जरियाउ णहेण ॥

[मेरे प्रियने परदेस जाते समय जो लौटनेकी अवधि बताई थी उसे गिनते-गिनते नखोंकी रगड़से उँगलियोंके सब पोर छीज गए हैं ।] इसलिये यक्ष कहता है—

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीं अव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥

[तुम अपनी उस भाभीसे अवश्य जा मिलना जो वहाँ बैठी दिन गिन रही होगी और जिसके प्राण इसी आशापर टिके हुए होंगे कि अभी फिर भेंट तो होगी ही ।]

रामके विरहमें सीताजीके प्राण न छोड़नेका कारण बताते हुए हनुमान्‌ने रामसे कहा था—

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निजपद-जन्त्रितइ प्राण जाहिँ केहि बाट ॥

[रात दिन आपका नाम-स्मरण ही पहरा देता है, ध्यानके किवाड़ लगे हैं, आँखोंपर अपने चरणका ताला लगा है फिर भला प्राण निकलें तो किस मार्गसे निकलें ।]

इसके पश्चात् यक्षने भारतीय विश्वासके अनुसार अच्छे शकुनका भी निर्देश करते हुए प्रोत्साहन दिया है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां वामश्चायं नदति मधुरश्चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥

[मन्द मन्द पवन तुम्हें आगेको बढ़ा रहा है । बाईं ओर काममत्त चातक मधुर बोल रहा है और गर्भाधानके समयका परिचय पाकर निश्चय ही बगुलियाँ आकाशमें अत्यन्त नयनाभिराम बकमाला बनाकर तुम्हारी सेवा आ करेंगी] और वे ही क्यों ?

कर्त्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
आकैलासद्विसाकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः सविष्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥

[तुम्हारा गर्जन सुनकर कुकुरमुत्ते निकल आवेंगे, धरती हरी-भरी हो उठेगी और मान-सरोवर जानेको उत्सुक राजहंस भी तुम्हारे साथ कैलास-तक उड़े चले जायँगे ।]

और मैं यह नहीं कहता कि तुम झट चल दो । अभी आए हो, ठहरो, बैठो । अपने मित्र चित्रकूटसे गले मिल लो, कुशल-मंगल पूछ लो क्योंकि यह साधारण पर्वत नहीं है । यह भगवान् रामके चरण-कमलोंसे अंकित मेखलावाला वह पर्वत है जिसकी लोग वन्दना किया करते हैं ।]

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुंगमालिंग्य शैलं बन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुंचतो बाष्पमुष्णम् ॥

यक्ष इतने मनोवैज्ञानिक ढंगसे मेघसे अपना काम करानेके लिये उपचारका प्रयोग करता है—

गरीबख़ानेमें लिल्लाह दो घड़ी बैठो।
बहुत दिनोंमें तुम आए हो इस गलीकी तरफ़ ॥
ज़रासी देर ही हो जायगी तो क्या होगा।
घड़ी-घड़ी न उठाओ नज़र घड़ीकी तरफ़ ॥
जो कोई पूछे तो परवाह क्या है कह देना।
चले गए थे टहलते हुए किसीकी तरफ़ ॥

[भगवान्‌के लिये इस कुटियामें थोड़ी देर बैठो क्योंकि इस गलीकी ओर बहुत दिनोंमें आए हो। थोड़ी देर ही हो जायगी तो कोई बात नहीं है। बार-बार घड़ीकी ओर दृष्टि न डालो। जो कोई पूछने भी लगे तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है, कह देना टहलते हुए किसीकी ओर चले गए थे।]

और इस उपचारके पश्चात् भी वह सीधे हड़बड़ीमें अपना संदेश नहीं कह सुनाता। पहले मार्ग बताता है और तब कहता है—

मार्गं तावच्छ्रृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं संदेशं मे तदनु जलद ! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ॥

यक्ष कहता है कि [पहले तुम अपने अनुरूप अर्थात् जिस मार्गसे किसी भले व्यक्तिको भेजा जा सकता है वह समझ लो तब मैं तुम्हें वह श्रोत्रपेय (कानोंसे पीया जा सकनेवाला, रसीला) संदेश सुनाऊँगा जिसे सुनकर तुम फड़क उठोगे]। अतः यक्ष सीधा मार्ग न बताकर बादलके प्रयाणानुरूप मार्ग बता रहा है और वही मार्ग बता रहा है जिस मार्गसे होकर यक्ष स्वयं अलकासे चलकर चित्रकूट-तक आया है क्योंकि वही मार्ग उसका सुपरिचित है।

मार्ग बतानेमें भी वह अपने दूतकी पूरी सुविधाका ध्यान रखता है। पुष्कर और आवर्तक बादलोंमें जल नहीं होता इसलिये यक्ष उसे समझाता है कि—

खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥

[जब थकावट हो तो पर्वतोंकी चोटियोंपर ठहरते जाना और प्यास लगे तो झरनोंका हल्का-हल्का जल पीते जाना।] यह नहीं कि बिना खाए-पिए सीधे हरकारेके समान चलते चले जाओ क्योंकि हनुमानके समान दूत मिलना तो बड़ा कठिन है जो यह कहे कि—

राम-काज कीन्हे बिना, मोहिँ कहाँ बिस्राम ॥

[रामका कार्य अर्थात् सीताकी खोज किए बिना मुझे विश्राम करनेका अवकाश कहाँ है ?]

अब मार्ग बताते हुए यक्ष बीचमें पड़नेवाले अनुभवोंका संकेत देते हुए समझाता है कि जब तुम इस बेंतसे लदी हुई पहाड़ीसे ऊपर उठोगे तो सिद्धोंकी भोली-भाली पत्नियाँ चकित होकर कहेंगी कि कहीं पहाड़की चोटी ही तो नहीं उड़ी चली जा रही है। इस प्रकार उड़ते समय दिङ्नागोंकी सूँड़ोंकी फट्कारें धकेलते हुए तुम आगे बढ़ जाना-दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूल-हस्तावलेपान्।' इससे कुछ विद्वानोंने कल्पना की है कि कालिदासने प्रमाण-समुच्चयके प्रसिद्ध बौद्ध लेखक दिङ्नागपर आक्षेप किया है जिसे मल्लिनाथने कालिदासका प्रतिद्वन्द्वी बताया है।

अब यक्ष सामने उठते हुए इन्द्रधनुषकी ओर देख रहा है और वहींसे सुन्दर मार्गके अनुभवका श्रीगणेश करता है। यह इन्द्रधनुष या तो प्रातःकाल दिखाई देता है या सायंकाल और यदि

बादलके ऊपर विमानसे देखा जाय तो इन्द्र-चक्र दिखाई देता है, इन्द्र-धनुष नहीं। इस इन्द्रधनुषसे यक्षको बादलका नीला शरीर ऐसा जान पड़ता है जैसे 'मोर-मुकुट लगाए कृष्ण।'

'बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः।' [पूर्वमेघ, १५]

अब किसानोंकी पत्नियोंका परिचय देता हुआ यक्ष कहता है कि 'तुम उड़कर चलोगे तो किसानोंकी वे भोली-भाली पत्नियाँ बड़ी आशासे तुम्हारी ओर आँखें उठाकर देखेंगी जिन्हें भौं चलाकर रिझाना नहीं आता'—'भ्रूविलासानभिज्ञैः'। तुम वहाँ माल देशके खेतपर जा बरसना जिससे वहाँकी भूमि सौंधी गंधसे गमक उठेगी। फिर पश्चिमकी ओर बढ़कर उत्तरकी ओर घूम जाना। वहाँ आम्रकूटकी आग बुझाकर उसकी उस चोटीपर जा ठहर जाना जो पके हुए फलोंसे लदे हुए आमके वृक्षोंसे घिरा हुआ है। उस समय देव-दम्पतिको वह पर्वत 'स्तन इव भुवः' (पृथ्वीके स्तनके समान) प्रतीत होगा। उस वनमें तो जंगली स्त्रियाँ घूमा करती हैं इसलिये वहाँ ठहरकर क्या करोगे, डग बढ़ाकर आगे चल देना। जल बरसा चुकनेपर तुम्हारी देहका भारीपन भी दूर हो गया रहेगा जिससे चाल भी बढ़ जायगी। आगे चलकर विन्ध्याचलके ऊबड़-खाबड़ पठारपर अनेक धाराओंमें फैली हुई रेवा नदी ऐसी प्रतीत होगी जैसी भभूतसे चीती हुई हाथीकी देह हो। वहाँ जंगली हाथियोंके मदमें बसा हुआ और जामुनकी कुंजोंमें बहता हुआ रेवाका जल पीकर तब आगे बढ़ना क्योंकि—

रिक्तं सर्वो भवति ही लघुः पूर्णता गौरवाय। [पूर्वमेघ, २१]

[जिसके हाथ रीते रहते हैं उसे सब दुरदुराते हैं और जो भरा-पूरा होता है उसका सभी आदर करते हैं।]

इसके आगे अध-पके हरे-पीले कदम्बपर मँडराते हुए, भौंरे, नई फूली हुई कन्दलीकी पत्तियोंको चरते हुए हरिण और जंगली धरतीकी तीखी गंध सूँघते हुए हाथी तुम्हें मार्ग दिखाते चलेंगे। उस समय सिद्ध लोग अपनी पत्नियोंके साथ ऊपर ही ऊपर बूँद घूँट लेन-वाले चातकोंको और पाँत बाँधकर उड़ती हुई बगुलियोंका दृश्य देख रहे होंगे। बस, जहाँ तुम गरजे कि वे स्त्रियाँ डरकर झट अपने पतियोंसे चिपट जायँगी और वे सिद्ध लोग तुम्हारा बड़ा उपकार मानेंगे— 'मानयिष्यन्ति सिद्धाः।'

यक्ष कहता है—'यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरे कामके लिये तुम शीघ्र ही जाना चाहोगे किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। तुम ककुभ (अर्जुन)-के सुगन्धित फूलोंसे लदे हुए उन पहाड़ोंपर ठहरते हुए मस्ती लेते हुए जाना जहाँके मोर अपनी कूकसे तुम्हारा स्वागत करेंगे। वहाँसे चलकर तुम आगे दशार्ण देशमें पहुँच जाओगे जहाँके उपवनोंकी बाड़, फूले हुए केवड़ोंसे उजली हो उठी होगी। गाँवोंके मन्दिरोंमें कौवे घोंसले बना रहे होंगे। सारा जंगल काली-काली जामुनोंसे लदा मिलेगा और हंस भी कुछ दिनोंके लिये जहाँ आ बसे होंगे। वहाँकी राजधानी बिदिशामें तुम्हें विलासकी सब सामग्री मिल जायगी। वहाँ लहराती हुई वेत्रवतीका जल पीते हुए तुम्हें ऐसा लगेगा जैसे किसी कँटीली भौंहोंवाली कामिनीका रस पी रहे हो।

वहाँसे चलकर नीच नामकी पहाड़ीपर थकावट मिटानेके लिये रुक जाना। वहाँ फूले हुए कदम्ब ऐसे जान पड़ेंगे जैसे तुमसे मिलनेके कारण उनके रोम-रोम फरफरा उठे हों। इतना ही नहीं, उसकी गुफाओंमें वहाँके छैलोंका राग-रंग भी देख लेना।

यःपण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणामुद्दामानि प्रययति शिलावेश्मभिर्यौवनानि। [पूर्वमेघ, २७]

[उसी पहाड़ीकी गुफाओंमेंसे उन सुगन्धित पदार्थोंकी गन्ध निकल रही होगी जो वहाँके छैले; वेश्याओंके साथ रति करनेके समय काममें लाते हैं। इससे तुम यह भी जान जाओगे कि वहाँके नागरिक कितने खुल्लमखुल्ला जवानीका रस लेते हैं।]

ऐसे शिला-वेश्मोंको आजकलके बहुतसे विद्वानोंने भूलसे भरत-द्वारा निर्दिष्ट नाटच-गृह-तक बता दिया है।

यक्षने समझाया है कि वहाँ ठहरकर जूहीकी फुलवारियोंको सींचते हुए उन मालिनोंके मुखपर छाया करते हुए और उनसे हेल-मेल बढ़ाते हुए आगे बढ़ जाना जिनके कानमें खुँसे हुए कमल उनके गालके पसीनेसे मैले पड़ गए होंगे।

इसके पश्चात् यक्षने मेघसे कहा है कि तुम्हें थोड़ा चक्कर तो पड़ेगा किन्तु कोई बात नहीं है—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्संगप्रणयिविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरिचतकितैस्तत्र पौरांगनानां लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वंचितोसि ॥
[पूर्वमेघ, २९]

माल देशकी ‘भ्रूविलासानभिज्ञ, भोली-भाली नारियोंसे भिन्न हैं उज्जयिनीकी नारियाँ। [यद्यपि तुम्हारा मार्ग कुछ टेढ़ा तो पड़ेगा किन्तु तुम उज्जयिनीके विशाल भवनोंसे लिपटना न भूलना। तुम्हारी बिजलीकी चमकसे डरकर जो वहाँकी नवेलियाँ चंचल चितवन चलावेंगी उनपर न रीझे तो समझो तुम्हारा जीवन अकारथ गया।]

हाँ, उधर जाते हुए निर्विन्ध्या नदीका रस ले-लेना जिसकी लहरोंपर कलरव करते हुए पक्षी ही मेखलाके समान और भँवर ही नाभिके समान प्रतीत होंगे। उसे देखकर समझ लेना कि वह चटक-मटक दिखाकर तुम्हें रिझा रही है क्योंकि—

स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु। [पूर्वमेघ, ३०]

[स्त्रियाँ चटक-मटक दिखाकर ही अपने प्रेमियोंको अपने प्रेमकी बात समझा देती हैं।]

उस विरहिणी दुर्बल निर्विन्ध्याको जलसे भरकर तुम श्रीविशाला विशाला उज्जयिनीमें पहुँच जाना जहाँके गाँवोंमें ऐसे बहुतसे बड़े-बूढ़े लोग होंगे जो उदयनकी कथा भली प्रकार जानते हैं।

प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदग्रामबृद्धान् पूर्वोद्दिष्टामनुसरपुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां शेषैः पुण्यै हृतमिव दिवः कान्तिमत्खंडमेकम् ॥

[अवन्ति देशमें पहुँचकर तुम धन-धान्यसे भरी हुई उस विशाला नगरीकी ओर चले जाना जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चूका हूँ जहाँके गाँवके बड़े-बड़े लोग, महाराज उदयनकी कथा भली प्रकार जानते बूझते हैं। वह नगरी ऐसी लगती है मानो स्वर्गमें अपने पुण्योंका फल भोग चुकनेवाले पुण्यात्मा लोग, पुण्य समाप्त होनेसे पहले ही, अपने बचे हुए पुण्यके बदले, स्वर्गका एक चमकीला भाग अपने साथ धरतीपर उतारे लिए चले आए हों।]

ऐतिहासिक दृष्टिसे यह श्लोक बड़े महत्त्वका है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालिदासको उज्जयिनी बहुत प्रिय थी और इस नगरसे उसका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था—वह सम्बन्ध चाहे जन्मका हो या कर्मका। दूसरी बात यह है कि मेघदूत उस समय लिखा गया था जब वत्सराज

उदयन-द्वारा वासवदत्ताके हरण-वाली कथा बहुत पुरानी नहीं हुई थी और जिसकी चर्चा उस समय-तक अर्थात् मौर्य साम्राज्यके क्षीण होनेतक प्रसिद्ध थी।

उज्जयिनीके सौन्दर्यके कारणके सम्बन्धमें कालिदासने जो कल्पना की है वह अद्‌भुत है! हमारे यहाँ माना गया है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।' इसी आधारपर कालिदासने कहा है कि स्वर्गमें गए हुए लोगोंने सोचा कि अन्तमें मर्त्यलोकमें तो जाना ही पड़ेगा इसलिये उन्होंने बहुत दिनोंतक स्वर्गसुख भोग चुकनेपर जब थोड़ा पुण्य बच रहा तब वे अपने बचे हुए पुण्यके बदले स्वर्गका जो सुन्दर चमचमाता खंड साथ लेते आए वही उज्जयिनी है। यह भी एक बड़ा प्रमाण है कि कालिदास उज्जयिनीके थे और इतना ही नहीं, कुछ विद्वान् तो यह भी अनुमान करते हैं कि स्वयं कालिदास ही उज्जयिनीसे निष्कासित होकर चित्रकूटपर जीवन बिता रहे थे।

वहाँके सम्बन्धमें मेघको समझाते हुए वे कहते हैं कि उज्जयिनीमें सारसोंकी मीठी बोली सुनाई पड़ेगी, कमलकी गन्धमें बसा हुआ शिप्राका 'प्रियतम इव प्रार्थना-चाटुकार' पवन यहाँ 'सुरतग्लानि' हर रहा होगा, अगरके धुएँसे तुम्हारा शरीर बढ़ेगा, पालतू मोर नाच-नाचकर तुम्हारा अभिनन्दन करेंगे और फूलोंकी गन्धसे महकते हुए उन भवनोंकी सजावट देखकर तुम अपनी थकावट मिटाना जिनमें सुन्दरियोंके चरणोंमें लगी हुई महावरवाले पैरोंकी लाल छाप बनी हुई होगी।

इसके पश्चात् उसे महाकालके मन्दिरमें जानेका निर्देश करता हुआ यक्ष कहता है कि महाकालके पवित्र मन्दिरमें शिवके गण तुम्हें अपने स्वामी शिवके कंठके समान ही नीला देखकर तुम्हें बड़े आदरसे निहारेंगे। युवतियोंके स्नानसे सुगन्धित और कमलके गन्धमें बसी हुई गन्धवती नदीकी ओरसे आनेवाला पवन इस मन्दिरके उपवनको बार-बार झुला रहा होगा। वहाँ तुम महाकालकी सान्ध्य आरतीमें गरजकर उनके नगाड़ेका साथ देना। वहाँ नृत्य करती हुई वेश्याओंके नखक्षतोंपर जब तुम्हारी ठंडी-ठंडी बूँदें पड़ेंगी तब वे तुम्हारी ओर भौंरेके समान अपनी काली-काली चितवन चलावेंगी। संध्याकी आरती हो चुकनेपर जब महाकाल तांडव नृत्य करने लगें तब वृक्ष-रूपी उनके उठे हुए बाहुओंपर साँझकी ललाई लेकर तुम छा जाना जिससे शिवजीके मनकी हाथीकी खाल ओढ़नेकी इच्छा भी पूरी हो जाय। यह दृश्य देखकर पहले तो पार्वती डर जायँगी किन्तु फिर तुम्हें देखकर और पहचानकर वे तुम्हारी भक्तिका आदर करने लगेंगी। उज्जयिनीमें जो कृष्णाभिसारिकाएँ अपने प्रियतमोंसे मिलनेके लिये अँधेरी रातमें निकलें उन्हें तुम बिजली चमकाकर ठीक मार्ग दिखा देना, गरजना-बरसना मत, नहीं तो वे घबरा उठेंगी। फिर तुम दिन निकलते ही वहाँसे चल देना क्योंकि अपने मित्रोंका काम करनेका जो बीड़ा उठाता है वह आलस्य नहीं किया करता—[मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।] सबेरा होने पर खंडिता नायिकाओंके प्रिय भी अपनी प्रियतमाओंके आँसू पोंछ रहे होंगे और सूर्य भी अपनी प्रियतमा कमलिनीके मुँहपर पड़ी हुई ओस पोंछ रहा होगा, उस समय तुम उनके हाथ न रोकना, नहीं तो वे बुरा मान जायेंगे।

इसके पश्चात् यक्षने गंभीरा नदीका चित्रण अत्यन्त सहृदयता और रसिकताके साथ करते हुए उसे विवस्त्रा नायिकाके रूपमें चित्रित किया है और कहा है कि जो जवानीका रस ले चुका है वह खुले हुए जघन वालीको भला बिना भोगे कैसे छोड़ देगा। 'ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।' वहाँसे मेघको देवगिरि पर्वतकी ओर भेजते हुए बताया है कि चिग्घाड़ते हुए हाथी वहाँकी धरतीकी गंध पी रहे होंगे और वनके गूलर पकने लग गए होंगे। वहाँ सदा निवास करनेवाले स्कन्द भगवान्‌पर जल चढ़ाकर थोड़ा गर्जन भी करना जिससे स्वामि-कार्तिकेयका

मोर नाच उठे। उनकी पूजा कर चुकनेपर आगे बढ़ोगे तो अपनी पत्नियोंके साथ जाते हुए सिद्ध लोग मिलेंगे जो अपनी वीणा भींगनेके डरसे तुमसे दूर ही दूर हटे दिखाई देंगे। फिर कुछ आगे जाकर तुम चर्मण्वती नदीका जल पीनेके लिये उतर जाना जो राजा रन्तिदेवके गवालंभ यज्ञकी कीर्ति बनी हुई बह रही है। वहाँ तुम आकाशचारी सिद्धों और गन्धर्वोंको ऐसे प्रतीत होगे जैसे किसी एकलड़ हारमें मोटासा इन्द्रनील मणि ला पोहा गया हो। चर्मण्वती (चंबल) नदी पार करके तुम दशपुरकी ओर बढ़ जाना जहाँकी रमणियोंकी भौंहें कुन्दपर मँडरानेवाले भौंरोंके समान चमक रही होंगी। वहाँसे चलकर सीधे ब्रह्मावर्तपर छाया करते हुए कुरुक्षेत्रपर उड़ते चले जाना जो कौरवों और पांडवोंकी घरेलू लड़ाईके कारण दुर्नाम है और जहाँ गांडीव-धारी अर्जुनने राजाओंके मुखोंपर उसी प्रकार अगणित बाण बरसाए थे जैसे तुम कमलोंपर अपनी जलधारा बरसाया करते हो। वहाँ सरस्वती नदीका वह शीतल जल पीकर तुम्हारा मन उजला हो जायगा जिसे बलरामने भी मदिरा छोड़कर ग्रहण किया था। वहाँसे चलकर तुम कनखल पहुँच जाना जहाँ हिमालयसे उतरी हुई गंगा मिलेंगी जिन्होंने सगरके पुत्रोंको स्वर्ग पहुँचा दिया था और जो अपनी लहरोंके हाथ चन्द्रमापर टेककर मानो शिवके केश पकड़कर पार्वतीको बता रही हों कि शिव मेरी मुट्ठीमें हैं। वहाँ जल पीते समय गंगापर चलती हुई तुम्हारी छाया ऐसी प्रतीत होगी मानो प्रयाग पहुँचनेसे पहले ही गंगासे यमुना आ मिली हों। वहाँसे तुम गंगोत्री पहुँचकर अपनी थकावट मिटा लेना जहाँकी शिलाएँ कस्तूरी मृगोंके बैठनेसे सदा महकती रहती हैं।

वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृंगे निषण्णः शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खात-पंकोपमेयाम् ॥

[पूर्वमेघ, ५६]

[उस समय पर्वतकी चोटीपर बैठे हुए तुम वैसे ही दिखाई दोगे जैसे महादेवके उजले साँड़के सींगोंपर मिट्टीके टीलोंपर टक्कर मारनेसे कीचड़ जमा हुआ हो।]

देखो मेघ ! जब अन्धड़ चलनेसे देवदारुके वृक्षोंकी रगड़से जंगलमें आग लगने लगे और उसकी चिनगारियाँ सुरागायके लंबे-लंबे रोएँ जलाने लगें तब तुम धुआँधार पानी बरसाकर उसे बुझा देना क्योंकि—

'आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम्।' [पूर्वमेघ, ५७]

[भले लोगोंके पास जो कुछ होता है वह दीन-दुखियोंका दुःख मिटानेके लिये ही तो होता है]—

हिमालयपर जब शरभ जातिके आठ पैरोंवाले जीव बहुत उछलने-कूदने लगें और तुमपर सींग चलानेको झपटें तब तुम धुआँधार ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर देना क्योंकि

'के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारंभयत्नाः।' [पूर्वमेघ, ५८]

[बेकामका काम करनेवालोंको ऐसे ही ठीक करना चाहिए।]

वहाँ पर्वतकी एक शिलापर शिवके जिन पैरोंकी छापपर सिद्धलोग पूजा चढ़ाते हैं वहाँ तुम भी भक्ति-भावसे झुककर प्रदक्षिणा कर लेना क्योंकि श्रद्धावान् लोगोंके पाप उनके दर्शनसे ही धुल जाते हैं। वहाँके पोले-पोले बाँसोंमें वायु भरनेसे बज उठनेवाले मीठे स्वरोंके साथ किन्नरोंकी स्त्रियाँ जब त्रिपुर-विजयका गीत गाने लगें तब तुम भी मृदंगके समान गर्जन करके संगीतके सब अंग पूरे कर देना। हिमालय पर्वतके आसपास सब सुन्दर स्थान देखकर तुम उस क्रौञ्च-रन्ध्रसे होकर उत्तरकी ओर बढ़ जाना जिसमेंसे होकर हंसोंके समूह मानसरोवरकी ओर जाया करते हैं

और जिसे छेदकर परशुरामजी अमर हो गए हैं। उस सँकरे मार्गमें तुम वैसे ही लंबे और तिरछे होकर जाना जैसे बलिको छलनेके समय विष्णुका साँवला चरण लंबा और तिरछा हो गया था। वहाँसे ऊपर उठकर तुम उस कैलास पर्वतपर पहुँच जाओगे जिसकी चोटियोंके जोड़-जोड़ रावणके बाहुओंने हिला डाले थे, जिसमें देवताओंकी स्त्रियाँ अपना मुँह देखा करती हैं और जिसकी कुमुद-जैसी उजली चोटियाँ आकाशमें इस प्रकार फैली हैं मानो—

राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यंबकस्याट्टहासः। [पूर्वमेघ, ६२]

[नित्यका इकट्ठा किया हुआ शिवजीका अट्टहास हो।] कालिदासकी उपमाओंमें यह उपमा बड़े महत्त्वकी और अप्रतिम समझी जाती है। इतना ही नहीं, तुरन्त काटे हुए हाथी-दाँतके समान गोरे कैलासपर चिकने घुटे हुए आँजनके समान अपना काला रूप लेकर तुम वैसे ही सुहावने लगोगे जैसे बलरामके कन्धोंपर पड़े हुए चटकीले नीले वस्त्र। इसी प्रसंगमें मेघको यक्ष समझाता है 'कि उस कैलासपर जब महादेवके हाथोंमें हाथ डाले पार्वती टहल रही हों तब तुम बरसना मत, वरन् सीढ़ीके समान बन जाना जिससे उन्हें ऊपर चढ़नेमें सुविधा हो।' शिवके सम्बन्धमें कालिदासका इतना भक्तिपूर्ण उल्लेख इस बातका भी साक्षी है कि कालिदास निश्चय ही पक्के शैव थे।

इतना भक्ति-जनक निर्देश कर चुकनेके पश्चात् यक्ष पुनः शृंगारकी ओर प्रवृत्त होकर कहता है कि वहाँ पर्वतपर जब अप्सराएँ अपने नग-जड़े कंगनोंके गहने चुभोकर तुम्हारे शरीरसे धाराएँ निकालने लगें और बहुत छुड़ाए तुम्हें न छोड़ें तब तुम कान फोड़नेवाला गर्जन सुनाकर उन्हें डरा देना। वहाँ पहुँचकर पहले तो तुम सुनहरे कमलोंसे भरे हुए मानसरोवरका जल पीना, फिर कपड़ेके समान थोड़ी देर ऐरावतके मुँहपर छाकर उसका मन बहलाना; तब कल्पद्रुमके कोमल पत्ते हिलाते हुए कैलास पर्वतपर जी भरकर घूमना।

अलकाका वर्णन करते हुए यक्ष कहता है कि उस कैलास पर्वतकी गोदमें बसी हुई अलका वैसी ही लगती है जैसे किसी प्रियतमकी गोदमें बैठी कामिनी हो और वहाँसे निकली हुई गंगा ऐसी प्रतीत होती हैं मानो उस कामिनीके शरीरपरसे सरकी हुई उसकी साड़ी हो।

इसके पश्चात् यक्षने अलकापुरीका विस्तृत, संश्लिष्ट, भावपूर्ण तथा भव्य परिचय देते हुए बताया है कि अलकामें ऊँचे भवन, सुन्दरी नारियाँ, भवनोंमें रंगबिरंगे चित्र, संगीत की तानारीरी और मृदंगकी गड़गडाहट, ·नीलमसे जड़ी हुई धरती और गगन-चुम्बी अटारियाँ विद्यमान हैं। वहाँकी कुल-वधुओंके हाथोंमें कमलके आभूषण, चोटियोंमें कुन्दके फूल, मुँहपर लोधके फूलोंका पराग, जूड़ेमें कुरबक (कटसरैयाके फूल), कानोंपर सिरसके फूल और माँगमें कदम्बके फूल टँके दिखाई देंगे। वहाँ सदा फूलनेवाले वृक्ष, बारहमासी कमल और कमलिनियाँ, सदा बसे रहनेवाले हंस, चमकीले पंखोंवाले पालतू मोर तथा सदा प्रसन्न यक्ष और यक्षिणियोंकी भरमार है। वहाँके प्रसन्न यक्ष नित्य अपने भवनोंमें अपनी प्रियाओंके साथ बैठकर वह मधु पीते हैं जो बाजोंके बजनेके कारण कल्पवृक्षसे निकला करता है। वहाँकी सुन्दरी कन्याएँ मन्दाकिनीके तटपर रत्नोंसे खेलती हैं और चन्द्रकान्त मणियोंसे टपकता हुआ जल वहाँकी स्त्रियोंकी थकावट दूर किया करता है अथाह संपत्तिवाले यक्ष अप्सराओं और किन्नरोंके साथ वहाँके वैभ्राज उपवनमें निवास करते हैं, कल्पवृक्षसे उन्हें सब शृंगारकी वस्तुएँ मिलती रहती हैं, पत्तेके समान साँवले वहाँके घोड़े, रंग और चालमें सूर्यके घोड़ोंको कुछ नहीं समझते, पहाड़-जैसे ऊँचे हाथी वहाँ मद बरसाते चलते हैं, रावणसे

लड़नेवाले वीर लोग घावके चिह्नोंको ही आभूषण समझते हैं और शिवका निवास वहाँ होनेके कारण कामदेव भी अपना भौरोंकी डोरीवाला धनुष न चढ़ाकर छबीली कामिनियोंकी बाँकी चितवनसे ही काम निकाल लेता है। कालिदासने अलकाकी वनस्पति और जीव-जन्तुओंका जो वर्णन किया है वह वनस्पति-शास्त्र और प्रकृति-शास्त्रके सर्वथा विपरीत है क्योंकि हिमालयके उस प्रदेशमें बकुल, कुन्द, कदम्ब, मोर, घोड़े और हाथी नहीं हो सकते। किन्तु वहाँ तो दैवी सृष्टि थी जिसके लिये वनस्पति-शास्त्र प्रमाण नहीं है।

इस प्रकारका स्थान किसी भी सहृदय व्यक्तिके मनमें उसे देखनेकी उत्कण्ठा उत्पन्न कर सकता है, इसीलिये यक्षने पहले अलकाका वर्णन किया और इसके पश्चात् वह अपने घरका वर्णन करने लगता है—

'कुबेरके भवनसे उत्तरकी ओर इन्द्रधनुषके समान सुन्दर गोल फाटक-वाला मेरा घर दूरसे दिखाई पड़ेगा जिसके पास ही फूलोंके गुच्छोंसे लदा और नीचेतक झुका हुआ कल्पवृक्ष खड़ा है। भीतर जानेपर नीलम जड़ी हुई सीढ़ियोंवाली बावड़ी है जिसमें चिकने वैदूर्य मणिकी-सी डंठलवाले सुन्दर कमल खिले हैं। उसके जलमें बसे हुए हंस इतने सुखी हैं कि मानसरोवर पास होनेपर भी और तुम्हें देखकर भी वे वहाँ नहीं जाना चाहेंगे। इस बावड़ीके तीरपर नीलमणिकी चोटीवाला बनावटी पहाड़ है जिसके चारों ओर सोनेके केले लगे हुए हैं। इस पर्वतपर कुरबकके वृक्षोंसे घिरे हुए माधवी मंडपके पास एक तो कंचनकेसे पत्तोंवाला लाल अशोकका वृक्ष है और दूसरा मौलसिरीका वृक्ष है। उनमेंसे अशोक तो मेरी प्रियाके बाएँ पैरकी ठोकर खानेके लिये और मौलसिरीका पेड़ उसके मुँहसे छोड़े हुए मदिराके छींटे पानेके लिये तरस रहा होगा। उन दोनोंके बीचमें चमकीले मणियोंकी चौकीपर बनी हुई स्फटिककी चौकोर पटियापर जड़ी हुई सोनेकी छड़पर तुम्हारा मित्र मोर नित्य साँझको आकर बैठा करता है जिसे मेरी पत्नी अपने घुँघरूदार कड़ेवाले हाथोंसे तालियाँ बजा-बजाकर नचाया करती है। मेरे द्वारपर शंख और चक्रके चिह्न देखकर तुम मेरा वैष्णव घर अवश्य पहचान लोगे जो मेरे बिना बड़ा उदास दिखाई पड़ रहा होगा। वहाँ हाथीके बच्चेके समान छोटेसे बनकर पहाड़ीकी सुहावनी चोटीपर बैठकर जुगुनुओंके समान अपनी आँखें मिचकाकर घरके भीतर झाँक लेना।'

रमणीक मार्ग, भव्य पुरी तथा मनोरम भवनके वर्णनसे मेघमें वहाँ जानेकी उत्कंठा जगाकर यक्षने अपनी पत्नीके रूपका वर्णन किया है जिससे मेघको यह विश्वास हो जाय कि जिसके पास मुझे भेजा जा रहा है वह कुदर्शन (असुन्दर) नहीं है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिंबाधरोष्ठी मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥
[उत्तरमेघ, २२]

[वहाँ दुबली-पतली, नोकीले दाँतों-वाली; पके हुए बिंबा-फलके समान लाल होठोंवाली, पतली कमरवाली, डरी हुई हिरनी-सी आँखोंवाली, गहरी नाभिवाली, नितंबोंके बोझसे धीरे-धीरे चलनेवाली और स्तनोंके भारसे कुछ आगेको झुकी हुई जो युवती तुम्हें दिखाई दे, वही मेरी पत्नी होगी। उसकी सुन्दरता देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो ब्रह्माकी सबसे बढ़िया कारीगरी वही हो।] आगे उस विरहिणीका परिचय देते हुए यक्ष कहता है—'विरहिता चकवीके समान अकेली और कम बोलनेवाली उस प्रेयसीको देखकर तुम समझ लोगे कि वह मेरा दूसरा प्राण ही

है। विरहमें उसका रूप इतना बदल गया होगा कि उसे देखकर तुम्हें पालेसे मारी हुई कमलिनीका भ्रम हो सकता है। रोते-रोते उसकी आँखें सूज आई होंगी, गरम उसाँसोंसे उसके ओठोंका रंग उड़ गया होगा, चिन्ताके कारण गालपर हाथ धरनेसे और मुँहपर बाल आ जानेसे उसका अधूरा दिखाई देनेवाला मुँह मेघसे ढके हुए चन्द्रमाके समान उदास दिखाई देने लग गया होगा।'

अपनी प्रियतमाकी विरह-क्रियाओंका वर्णन करते हुए यक्ष कहता है कि 'या तो वह पूजा चढ़ाती मिलेगी या मेरा चित्र बनाती मिलेगी या मैनासे पूछ रही होगी कि तुम अपने पतिको स्मरण करती हो या नहीं या मैले कपड़े पहने गोदमें वीणा लिए ऊँचे स्वरसे मेरे नामके गीत गाती होगी। उस समय बेसुधीमें उसे रागके उतार-चढ़ावका भी ध्यान न रहता होगा या देहलीपर रक्खे हुए फूलोंको देखकर शापके बचे हुए दिन गिन रही होगी या मन ही मन पिछली मधुर स्मृतियोंका आनन्द ले रही होगी। उसकी प्यारी सखियाँ दिनमें उसका साथ नहीं छोड़ती होंगी इसीलिये उसके पलँगके पासवाली खिड़कीपर जा बैठना और जब उसकी सब सखियाँ सो जायँ तब उसके पास पहुँच जाना और ढूँढ लेना। वह एक करवट पड़ी होगी, आँसू बहा रही होगी और बढ़े हुए नखोंवाले हाथसे वह अपने गालोंपर छाए हुए रूखे और उलझे हुए बाल हटा रही होगी। विरहके कारण चन्द्रमाकी किरणें भी उसे कष्ट देती होंगी। आजकल वह कोरे जलसे नहा रही होगी इसलिये उसके रूखे बाल मुँहपर लटककर उसके पतले ओंठोंको तपानेवाली साँसोंसे हिलते जा रहे होंगे। वह स्वप्नमें मुझसे मिलनेके लिये नींद बुलाती होगी पर बहते हुए आँसू उसकी आँखें नहीं लगने देते होंगे।

फिर यक्ष उसे बड़े कौशल और मनोवैज्ञानिक ढंगसे मर्मकी बात अर्थात् सन्देश देनेकी रीति, भूमिका और सन्देशकी बात समझाता है कि 'देखो मेघ! तुम्हारे पहुँचनेपर यदि उसे कुछ नींद आने लगे तो उसके पीछे चुपचाप एक पहर ठहरे रहना जिससे यदि वह स्वप्नमें मुझसे मिल रही हो तो मेरे कंठमें पड़ी हुई उसकी भुजाएँ अचानक नींद टूटनेसे छूट न पड़ें। किन्तु यदि एक पहर ठहरनेपर भी वह आँखें न खोले तो तुम अपने जलकी फुहारोंसे ठंडा किया हुआ वायु चलाकर उसे जगा देना और अपनी बिजलीको छिपाकर मन्द गर्जनके साथ पहले अपना परिचय देना और फिर जैसे सीताने उत्सुक होकर हनुमानका सन्देश सुना था उसी प्रकार जब वह उत्सुक होकर सुननेको उत्कंठित हो जाय, तब तुम उससे कहना कि 'तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी रामगिरिके आश्रममें कुशलसे है और तुम्हारा कुशल जानना चाहता है' क्योंकि जिन लोगोंपर अचानक विपत्ति आ गई हो उनसे पहले-पहल यही पूछना ठीक होता है। उससे कहना कि 'दूर बैठे हुए प्यारे साथीका मार्ग यद्यपि बैरी ब्रह्मा रोके बैठा है तथापि अपनी विरह-दशासे ही वह तुम्हारी दशा समझ लेता है।' उससे कहना कि—

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान् हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चंडि! सादृश्यमस्ति॥
[उत्तरमेघ, ४६]

[मैं यहाँ बैठा प्रियंगुकी लतामें तुम्हारा शरीर, डरी हुई हरिणीकी आँखोंमें तुम्हारी आँखें, चन्द्रमामें तुम्हारा मुख, भौंरोंके पंखोंमें तुम्हारे बाल और नदीकी छोटी-छोटी लहरियोंमें तुम्हारी कटीली भौंहें ढूँढ़ा करता हूँ पर तुम्हारी बराबरी उनमें कहीं नहीं मिलती।]

इतना ही नहीं—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागे शिलायां आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ।।

[ज्यों ही मैं पत्थरकी शिलापर गेरूसे तुम्हारी रूठी हुई मूर्त्तिका चित्र खींचकर तुम्हारे पैर पकड़ने चलता हूँ त्यों ही आँसू उमड़नेसे नेत्रोंके आगे अँधेरा छा जाता है और निर्दयी काल चित्रमें भी हमारा मिलन नहीं सह सकता ।]

इतनी भूमिकाके पश्चात् यक्ष अपनी विरह-दशाका वर्णन करते हुए समझाता है कि 'बहुत कुछ सोच-विचारकर मैं अपने मनको ढाढ़स बँधा लेता हूँ इसलिये तुम भी दुखी मत होना क्योंकि सुख या दुःख तो पहिएके हालके समान यों ही नीचे-ऊपर आया-जाया करते हैं । अगली देवउठनी एकादशीको जब विष्णु भगवान् शेष-शय्यासे उठेंगे उसी दिन मेरा शाप भी बीत जायगा । इसलिये अगले चार महीने किसी-किसी प्रकार आँख मूँदकर बिता डालो ।'

आषाढके पहले दिन यह सन्देश दिया गया और मेघको इतना समय दिया गया कि वह स्थान-स्थानपर ठहरता हुआ, दृश्य देखता हुआ देवोत्थान्या एकादशीसे चार मास पूर्व अलका पहुँच जाय । इस प्रकार मेघको अलकातक पहुँचनेके लिये २५ दिनका समय दिया गया कि वह आषाढ शुक्ल एकादशीको अलका पहुँच जाय । इसीलिये यक्ष कहता है कि आजसे शेष चार मास तुम किसी-किसी प्रकार आँख मूँदकर बिता लो ।

हनुमान् जब सीताकी खोजमें निकले थे तब भगवान् रामने अपनी अगूँठी उन्हें पहचानके लिये दी थी किन्तु यक्षने केवल गोत्र-स्मरणकी एक घटनाका विवरण पहचानके लिये सन्देशके साथ मेघको दे दिया है जिससे यक्षिणीको अविश्वास न हो । आगे कालिदासने भी विरहमें ही प्रेमकी आवृत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगादिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ।।
[उत्तरमेघ, ५५]

[न जाने लोग क्यों कहा करते हैं कि विरहमें प्रेम कम हो जाता है । सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई वस्तु नहीं मिलती तभी उसके पानेके लिये प्यास बढ़ जाती है और प्रेम ढेर बनकर इकट्ठा हो जाता है ।]

यह सन्देश देकर उसने मेघसे प्रार्थना की है कि मेरी प्रियतमाको ढाढस बँधाकर उसके कुशल-समाचार पाकर और उससे अभिज्ञान लेकर तुम यहाँ लौट आना और मेरे प्राणोंकी रक्षा करना ।

यक्ष इतना चतुर है कि वह मेघकी स्वीकृतिकी भी चिंता नहीं करता और पूछता है—'बन्धु ! तुमने मेरा काम करना निश्चय किया है या नहीं ? पर इससे यह न समझ बैठना कि तुम्हारी स्वीकृति लेकर ही मैं तुम्हें इस कामके योग्य समझूँगा क्योंकि तुम तो चातकके माँगनेपर बिना कुछ कहे ही जल दे देते हो इसलिये—

प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ।
[उत्तरमेघ; ५७]

[सज्जनोंकी रीति ही यह है कि दूसरोंका काम पूरा करना ही उनका उत्तर होता है ।] और इसके पश्चात् वह मंगल कामना करता हुआ कहता है कि 'चाहे मित्रताके नाते, चाहे मुझपर कृपा करके, तुम पहले मेरा प्यारा काम कर देना और फिर अपना बरसाती रूप लेकर जहाँ मन चाहे वहाँ घूमना । मैं यही मानता हूँ कि प्यारी बिजलीसे एक क्षणके लिये भी तुम्हारा वियोग न हो ।'

इस प्रकार 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' चित्रकूट पर्वतपर छाए हुए मेघको देखकर यक्षके मनमें कालिदासने उसे दूत बनाकर भेजनेकी बासना जगाकर विश्वमें—विशेषतः भारतीय साहित्यमें दूत-काव्यकी अत्यन्त स्पृहणीय परम्परा बाँध दी जिसके अनुसरणपर अनेक कवियोंने दूत-काव्य लिखे किन्तु शृंङ्गार रससे ओतप्रोत वनस्पति-मानव-प्रवृत्ति तथा जड प्रकृतिकी सूक्ष्म निरीक्षण-भावनासे भरा हुआ यदि कोई दूत-काव्य संसारमें सफल और लोकप्रिय हो सका तो वह महाकवि कालिदासका अद्वितीय काव्य मेघदूत ही है ।

* * *

मेघदूतका अध्ययन–शिवका स्वरूप

[डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

पंडितोंकी दृष्टिमें मेघदूत-काव्यका संदर्भ कुछ भी हो, स्वयं कालिदासने मेघदूतमें बड़े कौशलसे शिवके स्वरूपका सन्निवेश कर दिया है। उसके उज्जयिनीके वर्णनमें महाकाल शिवके पुण्यधामका, शिवके गणोंका, उनके नीलकंठ गुणका, शिवजीके नृत्यका तथा उसके आरम्भमें गजासुरकी कृत्तिके परिधानका उल्लेख है, [मे० १।४०] शंकरको शूली कहकर उनके त्रिशूलकी ओर भी संकेत है। चंडी, भवानी और गौरीके नाम भी हैं। शिवजीके अट्टहासका [मे० १।६२], उनकी जटाओंमें कल्लोल करती हुई जह्नुतनयाका तथा पार्वतीके साथ गंगाके सपत्नी-भावका भी वर्णन है [मे० १।५४]। शंभुके भुजंगोंका, पार्वतीके साथ उनके विहारका [मे० १।६४], कुबेरके साथ उनकी मैत्रीका, किन्नरियों-द्वारा उनके यशोगानका, त्रिपुरकी विजयका एवं उनके वृषभका भी वर्णन है। शिवजी त्रिनयन हैं [मे० १।५६], उनके ललाटपर द्वितीयाके चन्द्रमाकी कला है [मे० १।५९], मदनका वे दहन कर चुके हैं, इसलिये जहाँ शिवका निवास है वहाँ कामदेव जानेसे डरता है। देवांगनाओंके दर्पणके समान काममें आनेवाले रजतगिरि कैलासके उत्संगमें तो अलकापुरी ही बसी हुई है। शिवजी पशुपति हैं [१।६०], उनके चरण न्यासकी परिक्रमा और दर्शन करके श्रद्धालु जन स्थिर पद अर्थात् अनावृत्तिमय मोक्ष पानेमें समर्थ होते हैं [मे० १।५९] और जो शिवके प्रमथ आदि गणोंका स्थान है।

स्वामिकार्तिकेय और उनके जन्मका भी उल्लेख कविने किया है। कार्तिकेय स्कंद क्या हैं ? शिवजीका जो सूर्यसे भी अधिक प्रभावशाली तेज है वही अग्निके मुखमें संचित होकर कुमारके रूपमें प्रकट हुआ है [अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः, मे० १।४७]। कुमारका निवास स्थान देवगिरि है, मेघको वहाँ जाकर पुष्पाकार जलबिन्दु बरसानेका आदेश है क्योंकि स्कन्दका जन्म देवासुर-संग्राममें देवसेनाकी रक्षाके लिये हुआ था, इसलिये वे पूजाकी अंजलिके अधिकारी हैं। कालिदासने स्कंदके मयूरको भी स्मरण किया है। पुत्रके अतिशय प्रेमके कारण भवानी पार्वती कुमारके वाहन मयूरके गिरे हुए पंखको कानका अलंकार बनाकर पहनती हैं। उस मयूरको नृत्यके द्वारा आनन्दित करनेका भी मेघको परामर्श है। इस प्रकार अनेक प्रकारसे वृषराजकेतन शिवके स्वरूपका निर्देश कालिदासने मेघदूतमें किया है। इस स्वरूपपर विस्तृत विचार करनेकी आवश्यकता है।

कविके अनुसार मेघ तो कामरूप पुरुष है और हरने अपने कोपानलसे कामको भस्म कर दिया था, इसलिये भी शिव और वृषात्मक मेघका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः कालिदासका सम्पूर्ण दार्शनिक विज्ञान शिवके स्वरूपके पीछे छिपा हुआ है। शिव, पार्वती और कुमार कौन हैं, इसपर सूक्ष्म विचार कर लेनेसे हम केवल कालिदासके ही नहीं, वरन् अन्य भारतीय साहित्य के सिद्धान्तोंको भी सहानुभूतिके साथ समझ सकेंगे। कालिदास उत्कृष्ट कोटिके अद्वैतवादको माननेवाले थे। वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मको ही वे शिव कहते हैं। ब्रह्मकी शिव संज्ञा वेदोंमें भी कई स्थानोंपर आई है––

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥
[यजुः १६।४१]

यहाँ शिवके शम्भु, शंकर, मयस्कर, मयोभव नाम आए हैं। कालिदासने शिवकी अखण्ड सत्ताका बराबर गुणगान किया है। जो ब्रह्मा सब लोकोंका अधिष्ठाता है, जिसकी आत्मशक्ति अपने गुणोंसे युक्त होकर प्रकृतिकी रचना और उसके विसर्जनका कार्य करती रहती है, वही अव्ययात्मा, अज, स्वयम्भू, अष्टमूर्ति [रघुवंश २।३५] भूतपति महेश हैं। जिन अष्ट स्वरूपोंकी स्तुति कालिदासने शकुन्तलाके मंगल-श्लोकमें की है वे ही गीतामें भी हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७।४ ॥

[पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, इन आठ रूपोंमें मेरी प्रकृति विभाजित है]। कविने स्वयम्भू, विष्णु और शिव, इस त्रिमूर्तिके अद्वैत भावका भी प्रतिपादन किया है। ब्रह्माका वर्णन करते समय उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शिव, ब्रह्मा और विष्णुमें कोई भेद नहीं है [कुमारसंभव २।४]।

कालिदासके दार्शनिक मतमें एक, अखण्ड, शुद्ध और अद्वैत ब्रह्म ही परम तत्त्व है। उनकी त्रिवेदस्तुतियाँ उपनिषदोंके समान ब्रह्मका सरस और निर्भीक प्रतिपादन करनेवाली हैं। रघुवंशके दशम सर्गमें [१६ से ३१ तक] क्षीरसागर-स्थित अवाङ्मनस-गोचर शेषासीन विष्णु भगवान्‌को प्रणाम करके देव लोग उनकी स्तुति करते हैं।

कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि ॥ [कुमार-संभव, ६।७६]

शिवः विश्वगुरोर्गुरुः [कु० ६।८२], विश्वात्मा [कु० ६।८८], त्रैलोक्य-वन्द्य [कु० ७।५४] और तमोविकारसे अनपहत [कु० ७।४८] हैं। वह शिव किसीकी स्तुति नहीं करता, उसकी सब स्तुति करते हैं, वह किसीकी वन्दना नहीं करता, उसकी सब वन्दना करते हैं [कु० ६।८३], वह जगत्‌का अध्यक्ष और मनोरथोंका अविषय है [कु० ६।१७], वाणी, मन और बुद्धिकी वहाँ पहुँच नहीं है, उसको तत्त्वतः कौन जान सकता है ?

किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत्।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥ [कु० सं०, ६।३२]

ब्रह्मके अद्वैतका प्रतिपादन करके कालिदास आगे बढ़ते हैं। जो अनन्त पुरुष लोकलोकान्तर-का अधिष्ठाता है, वही हमारे आत्म-तत्त्वमें प्रतिष्ठित है। गीतामें जिसे अक्षर कहा है [अक्षरं परमं ब्रह्म, गी० ८।३] उसमें और हृदय-देशमें स्थित आत्मेश्वरमें कोई भेद नहीं है। गीताका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कालिदासको मान्य है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ [गीता, १३।१]
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

[हे अर्जुन ! इसी शरीरको क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्रको जो जानता है उसे इस शास्त्रको जाननेवाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही मेरा ज्ञान माना गया है]। इस प्रकार गीताके अक्षर, क्षेत्रज्ञ, तद्विद् आदि शब्द भी कालिदासने ले लिए हैं—

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्। [कुमार०, ३।५०]
योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्त्तिनम्।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ॥ [कुमार०, ६।७७]

कालिदासने उसी योगसाधना-मार्गका वर्णन किया है जिसका प्रतिपादन गीतामें है—

'योगाभ्यासी पुरुष ऐसे शुद्ध आसनपर अपना स्थिर आसन लगावे जो न बहुत ऊँचा हो न नीचा। उसपर पहले दर्भ और फिर मृगछाला और वस्त्र बिछावे। वहाँ चित्त और इन्द्रियोंका व्यापार रोककर तथा मनको एकाग्र करके आत्म-शुद्धिके लिये आसनपर बैठकर योगका अभ्यास करे।

काय अर्थात् पीठ, मस्तक और ग्रीवाको सम करके स्थित होता हुआ, दिशाओंको न देखे और नासिकाके अग्र भागपर दृष्टि जमावे। वायुरहित स्थानमें रक्खे हुए दीपककी ज्योति जैसे निश्चल होती है, वही उपमा चित्तको संयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगीकी भी दी जाती है। योगानुष्ठानसे निरुद्ध हुआ चित्त स्वयं आत्माको देखकर आत्मामें ही संतुष्ट हो रहता है......।

इसकी तुलना कुमारसंभव [३।४४-५०] से करनी चाहिए—

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रयम्बकं संयमिनं ददर्श ॥
पर्यंकबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवांकमध्ये ॥
भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तं द्विगुणाक्षसूत्रम्।
कंठप्रभा-संग-विशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्।
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥
मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥

"आसन्न-मृत्यु कामने देवदारुओंके अधोभागमें बनी हुई वेदीपर बाघम्बर बिछाकर बैठे हुए समाधिनिष्ठ शिवको देखा। वे वीरासनसे शरीरके ऊर्ध्व भागको निश्चल करके मेरुदण्ड सीधा ताने हुए थे, उनके दोनों स्कन्ध प्रदेश कुछ आगेको झुके हुए थे, हथेलीके ऊपर रक्खी हुई हथेलीको प्रफुल्ल कमलके समान अंकमें धारण किए हुए थे। भुजंगोंसे लिपटी हुई जटाओंवाले, कानोंसे लटकती हुई दुहरी रुद्राक्ष मालाओंवाले, नीलकंठकी प्रभाके मिलनेसे विवृद्ध कान्तिवाली कृष्ण मृगछाला गलेमें गाँठ लगाकर पहने हुए शंकरजी, नीचे छूटती हुई प्रकाशकी किरणोंवाले उन

नेत्रोंसे नासिकाके अग्रभागको देख रहे थे, जिन मन्द प्रकाशसे युक्त नेत्रोंकी उग्र पुतलियाँ निश्चल थीं, जो भ्रूविक्षेपमें अनासक्त थे तथा जिनका निमेषोन्मेष कार्य भी बन्द था। वृष्टि-संक्षोभसे रहित मेघके समान तथा तरंगरहित तालके समान प्राणापानादि शरीरस्थ वायुओंका निरोध करके वे निष्कम्प प्रदीपकी भाँति स्थित थे। कपालस्थ विवृत्ति-मार्गसे भीतर प्रवेश पाकर सिरपर फूटती हुई तेजकी किरणें कमलसे भी अधिक कोमल इन्दुकी कान्तिको फीकी कर रही थीं। इस प्रकार प्रणिधानसे वशमें किये हुए मनको, समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे हटाकर, हृदय-देशमें अधिष्ठित करके उस परमात्म-तत्त्वको आत्मामें ही प्रत्यक्ष कर रहे थे, जिसे क्षेत्रविद् लोग कूटस्थ[1] ब्रह्म कहते हैं।'

शिव, विष्णु और ब्रह्माका अद्वैतभाव, शिव और कूटस्थ आत्माका तादात्म्य और योग-द्वारा उस अक्षर ब्रह्मका साक्षात्कार ही कालिदासका दार्शनिक मत है।

शिवके द्वारा मदन-दहनका रहस्य

शिव जिस समय आत्म-प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, उस समय काम उनके मार्गमें विघ्न करता है। उस कामको वे अपने वशमें करते हैं। बोधि-लाभ करनेसे पूर्व भगवान् बुद्धको भी मार-विजय करना पड़ा था। काम और शिवका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। कामकी संज्ञा वृष है, वृष नाम मेघका है। मेघ ही वृषाकपि इन्द्रका कामरूप पुरुष है, अर्थात् वृष, काम और मेघ एक ही तत्त्वके नामान्तर हैं। जिस मेघको दूत कल्पित करके यक्ष अपने कामोद्गारोंका प्रकाश करता है, उसको वारम्बार परामर्श है कि वह शिवको प्रसन्न करे, भक्तिसे नत होकर हर-चरणन्यासकी परिक्रमा करे तथा अपना स्निग्ध गम्भीर घोष, पशुपतिके संगीत-साजके काममें लावे। कामका निग्रह करनेवाले शिव, कामसे किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं, इसका उत्तर शिव-पार्वतीका विवाह है। पार्वती सुषुम्णा नाडीका नाम है। मेरुदंड हिमालय है, इसीके भीतर सुषुम्णा है। इस मेरुदंडमें छह चक्र और तैंतीस पर्व या अस्थि-पोर हैं। ये पोर एक दूसरेसे सटे रहते हैं। मेरु ही पर्वत है [पर्वाणि सन्त्यस्य]। उस पर्वतके भीतर रहनेवाली सुषुम्णा पर्वतराजकी पुत्री पार्वती हैं। अस्थि-पोरोंके भीतर एक छिद्र है, पर्वोंके परस्पर मिलनेसे वह रन्ध्र, दीर्घ-नलिकाकार हो जाता है। इसीके भीतर सुषुम्णा नाडी है। वह नाडी मस्तिष्कसे होती हुई पृष्ठ-वंशमें अवस्यूत होकर सबसे नीचेके मूलाधार चक्र-तक आती हैं। पर्वास्थिके भीतर पहले श्वेत फिर विभूति वर्णका भूरा मज्जामय पदार्थ भरा रहता है जो मस्तिष्कके कोषोंमें भी पाया जाता है। इसी मज्जामय सुषुम्णाके भीतर एक सूक्ष्म विवर है जो नीचेसे ऊपर-तक आयत रहता है। सुषुम्णाके बाईं ओर इडा और दक्षिण ओर पिंगला नामकी नाडियाँ हैं जो सुषुम्नासे संबद्ध रहती हैं और सहस्र जालसे फैलती हुई अन्तमें कपालस्थ आज्ञाचक्रमें सुषुम्णासे मिल जाती हैं। ये नाडियाँ सब प्राणकी वाहिका हैं और प्राण ही जीवन-तत्त्व है।

भौतिक पक्षमें इस प्राणके आधार ये सब नाडी-जाल और षट् चक्र हैं। नाडियोकी सूक्ष्मताकी कोई सीमा नहीं है। उनकी संख्या योग-शास्त्रके अनुसार ७२००० हैं। वस्तुतः आधुनिक शरीर-शास्त्रीके लिये भी समस्त नाडी-संख्याका निर्धारण कठिन है। इन सबमें मुख्य सुषुम्णा ही है। स्थूल-शरीर-विज्ञान जीवन-तत्त्वके भौतिक आधारका ही परिचय पा सका है, उसका भोगायतन

---

१. द्वाविमौ पुरुषो लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
गी० १५।१६।

[फ़िज़ियोलौजिकल] रूप प्रयोग-साध्य है। परन्तु योग-विद्या मानसिक पक्षमें भी प्राणकी गतिका निर्देश और सूक्ष्म परिचय कराती है। इसीलिये भौतिक प्रयोगसे जिस वस्तुका ज्ञान नहीं हो पाता, ध्यानमें उन्हीं शारीरिक रहस्योंका मानसिक क्रियाओंके साथ प्रत्यक्ष हो जाता है। तन्त्रग्रन्थोंमें इसके दो प्रकारसे वर्णन मिलते हैं। कहीं तो भोगायतन-पक्षमें शरीर संघटनमें जीवन-तत्त्वका अधिष्ठान समझानेके लिये सुषुम्णा आदि संज्ञाओंसे काम लिया जाता है और कहीं उस वर्णनको आध्यात्मिक स्वरूप देकर शिव, पार्वती, कुमार, प्रमथ आदि संज्ञाएँ कल्पित करके योग-प्रत्यक्षको शब्दों-द्वारा प्रकट किया जाता है। षट् चक्रोंका स्थान और क्रम इस प्रकार है—

१. मूलाधार [कौक्सीजियल रीजन]—इसका संयोग गुदासे है। इसमें चार पर्व (वर्टिब्रल) हैं जो कि ऊपरके पर्वोंकी अपेक्षा छोटे और अपूर्ण दशामें हैं। चारों पृथक्-पृथक् स्फुट स्वरूपके न होकर एक ही अस्थिसे प्रतीत होते हैं जिसे अँग्रेजीमें कौक्सिक्स कहते हैं। कीकसा अस्थि भी यही ज्ञात होती है। कुंडलिनी शक्ति यहीं निवास करती है। शिव-पार्वतीके विवाहमें कुंडलिनीको जगाकर ही ब्रह्मांड या मस्तिष्कमें ले जाते हैं। इसीको योगकी परिभाषामें सर्पिणी कहते हैं क्योंकि यह सर्पिणीकी भाँति कुंडल मारकर सोई रहती है। मूलाधारमें पृथ्वी तत्वका स्थान है।

२. स्वाधिष्ठान [सेक्रल रीजन]—इसका अधिष्ठान लिंगमें हैं। इसमें पाँच पर्व हैं। ये पाँचों भी एक ही अस्थिमें जुड़े रहते हैं जिसे अंग्रेजीमें सेक्रम कहते हैं। इन्हीं दोनों अस्थियोंके नौ पर्वोंको निकालकर आधुनिक शरीर-शास्त्री, मेरुदण्डमें २४ अस्थिपोरोंकी गणना करते हैं। पर भारतीयोंने इस शक्तिको तेंतीस पर्वोंसे युक्त ही माना है। स्वाधिष्ठान चक्रमें जल-तत्त्वका अधिष्ठान है।

३. मणिपूर [लम्बर रीजन]—इसका स्थान नाभि है और मेरुदण्डके इस भागमें ५ पर्व हैं। तेज इसका तत्व है। इन तीन चक्रोंका भेद कर लेनेपर योगी विराट् भावसे युक्त हो जाता है, उसकी मोह-निद्रा टूट जाती है।

४. अनाहत [डोर्सल रीजन]—मेरुदण्डमें १२ पर्वोंवाला यह चक्र हृदयमें स्थित है। यहाँ वायु तत्त्वका स्थान है।

५. विशुद्ध चक्र [सर्विक रीजन]—इसमें सात पर्व हैं और यह ग्रीवामें स्थित है। यहींसे आकाशगुणक शब्दका जन्म होता है। इसके भेद करनेपर योगीको आकाश तत्त्वपर विजय प्राप्त हो जाती है।

६. आज्ञाचक्र—मस्तिष्क प्रदेशके भ्रूमध्य या त्रिकुटीमें योगी इसका स्थान मानते हैं। यहाँ सुषुम्णाका अन्त हो जाता है। यहाँ मन, बुद्धि और अहंकारका निवास है। इसी स्थानपर ज्ञानचक्षु है जो तृतीय नेत्र है। यहीं शिवका वास है।

जब योगी पाँच चक्रोंको सिद्ध कर लेता है, तब उसे काम-बाधा नहीं सता सकती। शिवके लिये कालिदासने कहा—'अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्,' अर्थात् मदनके निग्रह के कारण रूप या सौन्दर्य उनके चित्तको नहीं हर सकता। पहले शिवने मदनको भस्म कर डाला है [भस्मावशेषं मदनं चकार] तभी वे पार्वतीके साथ विवाह करके षडानन कुमारको जन्म देते हैं। आज्ञा-चक्रसे ऊपर सहस्रदल-कमल [सेरेब्रल रीजन] है जहाँपर साक्षात् शिव निवास करते हैं।

कुमारका जन्म शिवके स्कंद्रित तेजसे होता है। यह तेज पार्वती-रूपी सुषुम्णामें[1] निक्षिप्त होकर क्रमशः छहों[2] चक्रोंके द्वारा पुष्ट और लालित होता हुआ स्कंदको जन्म देता है जो इसी कारण छह माताओंके पुत्र या षाण्मातुर कहे गए हैं। कालिदासने मेघदूतमें स्कंदके जन्मका रहस्य सूत्र रूपमें लिख दिया है—

तत्र स्कन्दं नियतवसतिः पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥१।४७॥

[वहाँ देवगिरिपर बसनेवाले कुमारको अपना अभ्र-पुष्पात्मक रूप बनाकर आकाशगंगासे सींची हुई पुष्पवृष्टिसे स्नान कराना। देवसेनाकी रक्षा हेतु पावकके मुखमें संचित सूर्यसे भी अधिक प्रभावशाली शिवका तेज ही कुमार है—

अत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः।

यही स्कंदकी परिभाषा है। हुतवह अर्थात् अग्नि नामक सुषुम्णाके मुखमें सूर्यसे भी अधिक प्रकाशित शिवका तेज ही स्कंद है। कोषोंमें स्कंदकी पत्नीका नाम देवसेना है। इन्द्रियोंकी सात्त्विक और तामसिक वृत्तियोंका द्वन्द्व देवासुर-संग्राम है। जब सतोगुणी इन्द्रियाँ कामसे हारने लगती हैं, तब वे समाधिमें बैठे हुए शिवसे प्रार्थना करती हैं कि आप उन्हें एक सेनापति दें। देवोंने भी यही कहा है—

तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये। [कुमार०, २।५१]

[उस असुरको परास्त करनेके लिये हम लोग एक सेनापति चाहते हैं।] शिवजीने मदनको भस्म किया, तदुपरान्त उमाकी तपस्यासे सुषुम्णा नाडी-द्वारा योगकी साधनासे शिव और पार्वतीका विवाह हुआ अर्थात् व्यक्तिकी चिदात्मिका शक्ति जो अधोमुखी थी वह अन्तर्मुखी होकर सहस्रारदलमें स्थित पर-बिन्दु शिवसे संयुक्त हो जाती है, फिर विषयोंसे उसे कोई भय नहीं रहता। जो इंद्रियाँ और सबोंको मथ देती हैं, वे ही प्रमथोंके रूपमें शिवके पार्षद [परिषदि साधु] होकर रहती हैं। 'अत्यादित्यं हुतवह-मुखे संभृतं तद्धि तेजः' को समझनेके लिये तीनों नाडियोंके नाम जान लेने चाहिएँ। सुषुम्णा = वह्नि-स्वरूपा, सरस्वती, लोहित-वर्णा। इडा = चन्द्र-स्वरूपा, गंगा, सतोगुणी, अमृत-विग्रहा, पीत-वर्णा। पिंगला = सूर्य-स्वरूपा, तैजसवर्णा, रौद्रात्मिका, वज्रिणी, यमुना, राजसी।

---

१. सुषुम्न। सुम्न=आनंद। षुञ् अभिषवे धातुसे सुम्न बनता है। षट्चक्र भेदके पश्चात् स्कंद जन्म लेता है। लोकमें स्कंदका सम्बन्ध छहकी संख्या से है—षडानन, स्कन्द-षष्ठी। आज्ञा-चक्रका जो चित्र श्री आर्थर एवेलनने दिया है उसमें कुमार षडानन दिखाए गए हैं।

२. षट्चक्र सुषुम्णा नाडीमें ही रहते हैं। शरीर विज्ञानमें सुषुम्णाके पाँच स्वाभाविक विभाग हो गए हैं, छठा सबसे ऊपर है जहाँ सुषुम्णा (स्पाइनल क्रोर्ड), कौंच रन्ध्र (मैगनम फोरामेन, अर्थात् बड़े छेद) में होती हुई मस्तिष्क या ब्रह्माण्डमें फैल जाती है। इन पाँच चक्रोंकी शक्तिप्रवाहिनी नाडियोंका संबन्ध क्रमशः गुदा, लिंग, नाभि, हृदय और कण्ठसे है। उदाहरणके लिये मणिपूर चक्र, नाभि देशका नियंत्रण करता है पर उसका स्थान सुषुम्णामें ही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी है।

सुषुम्णाका नाम वह्नि या हुतवह है। इसीमें अपना तेज हवन करनेसे शिव यज्वा कहलाते हैं। साधनामें पुरुषका तेज इसी वह्निके मुखोंसे संचित होता रहता है और जब छहों चक्रोंका भेद पूरा हो जाता है तभी उस कुमारका जन्म होता है जिसकी अध्यक्षतामें देवसेना कभी नहीं हारती। पुराणोंके अनुसार कुमार वे हैं जो आजन्म ब्रह्मचारी हैं।

सहस्रारदलमें जो शिव हैं वे ही अक्षर तत्त्व हैं। वे ही समस्त ब्रह्मांडकी चित्-शक्ति हैं। मूलाधार चक्रमें शक्तिपीठ है जहाँ व्यक्तिकी शक्ति निवास करती है। शक्तिके तीन कोण कहे गए हैं---इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इन्हींका नाम त्रिपुर है। इनके मध्यमें बसनेवाली शक्ति त्रिपुर-सुंदरी कही गई है। इसी त्रिपुर या त्रिकोणमें कुंडल मारकर शांत बसनेवाली शक्तिकी शब्दगत कल्पना सर्पिणीकी है। इसीसे शिवके शरीरमें भुजंग लिपटे रहते हैं और शिवको अहिवलय धारण करनेवाला कहा गया है। कालिदासने कहा है---

हित्वा तस्मिन् भुजग-वलयं शम्भुना दत्तहस्ता।
क्रीडाशैले यदि च विचरेत् पादचारेण गौरी॥ [मेघ०, १।६४]

मूलाधारमें यह सर्पिणी शिवरूप ज्योतिके चारों ओर लिपटी रहती है, परन्तु आज्ञा-चक्रमें पहुँचकर जब शिव-पार्वतीका संयोग हो जाता है तब यह कुंडलिनी पूरी खुल जाती है, मानो शिवजीने अपने सर्पवलयको त्याग दिया हो। जहाँतक शरीरशास्त्रसे प्रत्यक्ष करनेका विषय है वहाँतक इस प्रकार त्रिकोणात्मिक शक्तिके रूपको शल्यशास्त्रके द्वारा हम नहीं देख सकते। मानस-प्रत्यक्षसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु, यंत्र-द्वारा कैसे जानी जा सकती है? इसका दर्शन योगपक्षमें ध्यान[१] द्वारा ही हो सकता है। ज्योति या तेजःस्फुलिंगके आकारका शिवलिंग इसीका प्रतीक है। शिव इसी शक्तिके त्रिकोण या त्रिपुरकी विजय करते हैं, इससे उनकी संज्ञा त्रिपुर-विजयी है। मेरुदंड रूपी पर्वतके सिरेपर उसीके एक प्रदेशका नाम कैलास है। मेरुदंडका ऊर्ध्व सिरा ही कैलास है जहाँ आज्ञाचक्र है। यहाँ कैलास पर ही अलकापुरी है। कालिदास कहते हैं कि यहाँ कामदेव अपने चापपर शर नहीं चढ़ाता---

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं।
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्॥ [मे०, २।१४]

[कैलासके उत्संगमें बसी हुई अलकामें शिवका साक्षात् निवास जानकर वहाँ कामको अपना भौंरोंकी डोरीवाला धनुष काममें लानेका साहस नहीं होता]। ठीक भी है, आज्ञा-चक्र-तक सिद्धि-प्राप्त योगीको कामबाधा नहीं सता सकती। इसीलिये यहाँ हिमालयमें ही किन्नरियाँ मिलकर त्रिपुर-विजयके गीत गाती हैं---

---

[१] केन्द्रस्थ नाडी-जालकी रचना अत्यन्त जटिल है। उन तन्तु-समूह- घटिका-बिन्दुओं और प्रतंतुओंमें घटित होनेवाला संवेदनात्मक तथा संकल्पात्मक कार्यका ठीक-ठीक पता आजतक नहीं लग सका है। कुछ आश्चर्य नहीं यदि भारतीय योगी ध्यानमें इसका प्रत्यक्ष कर सके हों। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चेतनाका जो भौतिक आधार है वह उसके बहुत थोड़े अंश या स्वरूपका परिचय कराता है। कुछ लोग भोगायतन पक्षमें चेतनाका आधार न पाकर उसकी सत्ताको ही संदिग्ध मान बैठते हैं। चेतना [चिदात्मक शक्ति] मनोविज्ञानसे सम्बन्ध रखती है, भौतिक रचनामें उसका अपूर्ण आभास मिलता है इसलिये भौतिक रचनाको उसका प्रमाण-दण्ड नहीं मान सकते।

संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः । [मे०, १।६०]

वहीं धनपतिका यश किन्नर गाते हैं क्योंकि शिव और धनपतिमें सख्य-भाव है—

उद्गायद्भिः धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम् । [मे०, २।१०]

धनपति कुबेरका अनुचर यक्ष अवसर पाते ही अपने कामरूप पुरुषको शिवकी उपासना करनेका आदेश देता है । पार्वतीकी संज्ञा गुहा, स्कन्दकी गुह और यक्षोंकी गुह्यक है । इससे भी इनके परस्पर सम्बन्धका संकेत मिलता है । यक्ष कामकी मूर्त्ति है । उसके नेत्रोंसे ही कामदेव टपका करता है । इस प्रकार कामसे भरा हुआ पुरुष अवश्य ही गुह्यक या रक्षा करने योग्य है । वह अपनी रक्षाके लिये उस देवकी शरणमें जाता है जिसने कामको भस्म कर दिया है, तथा फिर जिसके अनंगजित् रूपसे सेनानी गुहका जन्म हुआ[1] । शिवजी पिनाक-पाणि हैं—

अरूप-हार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति । [कुमार०, ५।४३]

पिनाकको शिवका धनुष कहते हैं । निरुक्तमें पिनाकके अर्थ हैं —

रम्भः पिनाकमिति दंडस्य । [नैगम कांड ३।४]

अर्थात् रम्भ और पिनाक दंडके नाम हैं । वहीं यह भी लिखा है—

कृत्तिवासाः पिनाक-हस्तोऽवततधन्वेत्यपि निगमो भवति ।

पिनाक नाम मेरुदंडका ही है । यही शिवका धनुष है । इस दंडाकार धनुषकी दो कोटियाँ, सिरे हैं । नीची कोटि मूलाधार चक्रमें हैं । वहाँ जो कुंडलिनी पड़ी है, उसीको पिनाककी प्रत्यंचा कल्पित करके उसके दूसरे सिरको शिव आज्ञा-चक्रमें ले जाते हैं । यही धनुषकी प्रत्यंचा चढ़ाना या अवततधन्वा होना है । प्रायः धनुषोंकी प्रत्यंचा खुली रहती है और वे दंडाकार होते हैं जो पुरुष धनुष पर चिल्ला [डोरी] चढ़ा सकता है, वही उस धनुषका स्वामी माना जाता है । पिनाकको सबसे प्रथम शिवने अधिज्य किया, इसलिये वे ही उस धनुष्के स्वामी हैं ।

शिवजीकी संज्ञा खंडपरशु है—

भूतेशः खंडपरशुर्गिरीशो गिरिशो मृडः । [अमरकोष]

और यही संज्ञा भृगुपतिकी भी है । भृगुपतिकी संज्ञा क्रौंचदारण कालिदासने ही दी है—हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् [मे०, १।६१] । क्रौञ्चदारण संज्ञा स्वामिकार्तिकेय[2] की भी है । इस प्रकार शिव, भृगुपति और कुमारका सम्बन्ध भी स्थापित होता है । शिव और कुमारमें कोई भेद नहीं है क्योंकि शिवका ही तेज कुमार है । यह भी प्रसिद्ध है कि कुमारकी उत्पत्तिमें किसी स्त्रीके गर्भकी आवश्यकता नहीं हुई । वस्तुतः कालिदासने कुमारको अग्निके मुखमें संभृत[3] तेज लिखा है । फिर जो पिनाक शिवके पास है, वही अजगव नामक शिव धनु अब परशुरामके पास भी था ।

---

१. गुहति रक्षति देवसेनामिति गुहः । इः कामः अक्षिषु यस्य स यक्षः । [भानुजी दीक्षित] [देवसेनाकी जो रक्षा करता है वह गुह है और जिसकी आँखोंमें काम भरा रहता है वह यक्ष है ।]

२. षाण्मातुरः शक्तिधरः कुमारः क्रौंचदारणः । अमरकोष ।
कैलासे धनदावसे क्रौंचः क्रौंचोऽभिधीयते । बृहद्धारावली ।

३. तेजो हि साक्षाद्भगवतो हरस्यैव मूर्त्यन्तरमित्यर्थः । [मल्लिनाथ], अर्थात् वह तेज शंकरका साक्षात् मूर्त्यन्तर ही है ।

इस प्रकार इन तीनोंमें सम्बन्ध प्रतीत होता है। योगकी साधनामें षट्चक्रके भेदनके समय प्राणको जिस रन्ध्रमें होकर सुषुम्णा मस्तिष्कमें प्रवेश करती है वह द्वार ही क्रौंच-रन्ध्र है। सुषुम्णा [स्पाइनल कोर्ड] श्वेत और विभूति वर्ण पदार्थकी बनी हुई नाडी है। वह मूलाधार चक्रसे उठकर, आगेके चार चक्रोंको होती हुई विशुद्धि-चक्र [सर्विकल रीजन]-को पारकर मस्तिष्कमें फैल जाती है। सर्विकल रीजनके प्रथम अस्थि-पर्वतको अंग्रेजीमें ऐटलस कहा जाता है, जो अपने ऊपर आकाश या द्यूलोकको उठाए हुए था। यहींसे सुषुम्णा नाडी स्पाइनल बल्बमें होकर मस्तिष्कमें जाती है। इसलिये क्रौंच पर्वत ही स्पाइनल बल्ब है जिसे मेडूला औबलौंगाटा भी कहते हैं। इसीमें क्रौंचरन्ध्र या बड़ा छेद है जिसे अंग्रेजीमें मैगनम फ़ोरामेन कहते हैं। इसी विवरमें तिर्यगायामके साथ अर्थात् तिरछी झुककर सुषुम्णा प्रवेश करती है। कुंडलिनी शक्ति जिस समय मूलाधारसे जागकर शिव नामक आज्ञाचक्रमें जाती है, उसे भी इसीद्वारसे होकर जाना पड़ता है। इस रन्ध्रका दारण करना भृगुपतिके लिये बड़ा यशस्वी कार्य है, इसीसे कालिदास इसे भृगुपतियशोवर्त्म [मे०, १।६१] कहा है। प्रालेयाद्रि या हिमाद्रि अर्थात् पर्ववान् पृष्ठवंशके उपांतरमें ही यह क्रौंचद्वार बताया गया है। भृगुपति, शिवका नामान्तर है। क्रौंच-दारण, खंड-परशु कुमार, भृगुपति और शिव ये एकही चैतन्यके नामान्तर हैं जो विशेष गुणोंके कारण कल्पित किए गए हैं।

क्रौंचतटसे तुरन्त आगे शुभ्र कैलास ही खड़ा है [मे०, १।६२] योगकी परिभाषामें विशुद्धिचक्रके अनन्तर आज्ञाचक्र है जहाँ शिवरूप ज्योतिका प्रकाश है। मूलाधार-चक्रसे योगसाधनाके लिये जिस नृत्यका आरम्भ होता है उसकी सिद्धि होनेपर शिवजी वज्र-अट्टहास करते हैं, वही मानो शुभ्र कैलासके रूपमें घनीभूत हो गया है—

राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः [मे०, १।६२]

इसी कैलासका नाम रजतगिरि है। यहाँ एक मणि-तट है। उसपर शिवजी, गौरीके साथ आरोहण करना चाहते हैं। मेघको चाहिए कि वह स्तम्भितान्तर्जलौघः [अपने जलतत्त्वको भीतर रोके रखनेवाला] होकर अपने शरीरकी सीढ़ी बनाकर शिवको वहाँ आरोहण करनेमें सहायता दे।

इस मणितट[1]का योग-ग्रन्थोंमें विशद वर्णन है। पादुका-पंचक नामक तन्त्रयोगके ग्रन्थमें मणिपीठकी बड़ी-महिमा कही गई है। मस्तिष्कमें जो परम चिन्मय सहस्रदल-कमल है उसमें अ-क-थ त्रिकोण है। उस त्रिकोणमें मणिपीठ है, उसपर शुभ्र रजताद्रिके समान अनन्त गुरु शिव सुशोभित हैं अथवा प्रकृति-पुरुषके संयोग रूप शिव-गौरी विराजते हैं। मेघदूतमें कामरूप पुरुषको स्तम्भित करके शिव उस मणितट-पर चढ़ते हैं। इस मणितटकी प्रभा, तडिच्छबिको लजानेवाली है [पटु तडित्-कडारिम-स्पर्द्धमान मणिपाटलप्रभम्]। कालिदासने न केवल क्रौंचरन्ध्रके पश्चात् कैलासका ही वर्णन आवश्यक समझा, वरन् वहाँके मणितटका भी नाम लिखा है। इससे उनकी योगपरिभाषाका संकेत स्पष्ट सिद्ध है—

भंगी भक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः।
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ [मे०, १।६४]

---

[1] बौद्धोंका महामन्त्र—ॐ मणिपद्मे हुँ—इसी मणिकी ओर संकेत करता है। काशी [ज्ञानकी पुरी, शिवके धाम] में मणिकर्णिका घाट है जहाँ नहाने से अथवा प्राण त्यागनेसे मोक्ष होता है। मणिकर्णिका—सहस्रारदल कमलकी कर्णिका।

[हे मेघ ! तू आगे बढ़कर अपना जल भीतर रोककर शिवके मणितटपर चढ़नेके लिये सोपान बन जाना]। इन वर्णनोंमें कविने काव्यके साथ-साथ योगशास्त्रके उच्च अनुभवोंका भी गूढ समन्वय किया है।

मल्लिनाथने क्रीडाशैल [मे०, १।६०] का अर्थ बताते हुए शम्भु-रहस्यका अवतरण देकर लिखा है—

कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरों गन्धमादनः।
क्रीडार्थनिर्मिताः शंभोर्देवैः क्रीडाद्रयोऽभवन्॥

[देवताओंने शम्भुकी क्रीडाके लिये कैलास (रजताद्रि), कनकाद्रि (मेरु, सुमेरु, हेमगिरि, महा-रजतगिरि), मन्दर और गन्ध-मादन पर्वत बनाए थे, इसलिये ये सब क्रीडाशैल कहलाते हैं।]

मेरु पर्वत या मेरुदंड और उसीके समीप-स्थित क्रीडाशैल कैलासका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। कैलासकी व्युत्पत्ति ही क्रीडा-स्थान है—केलीनां समूहः कैलम् [तस्य समूहः इत्यण्।] तेन आस्यतेऽत्र [आस्-बैठना] इति कैलासः [भानुजी दीक्षित्], अर्थात् शिवकी क्रीडाओंका स्थान कैलास है। यहीं कुबेर रहते हैं, यहीं यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध और चारणोंके मिथुन बिहार करते हैं, यहीं ध्यानावस्थित होकर योगी शंकर तप करते हैं और फिर पार्वतीशक्तिसे विवाह करके क्रीडा करते हैं। वस्तुतः यहाँ एक ही मेरुदण्डको पर्वत कल्पित करके उसके भिन्न भिन्न नाम दिए हैं। इस मेरुदंडका जो भाग मूलाधार-चक्रमें स्थित है उसका नाम चित्रकूट है क्योंकि चित्रा नाम सुषुम्णा या कुंडलिनी[1]का है। और यह चित्रिणी मूलाधार-चक्रके आधारपर ठहरी हुई है। चित्राका कूट ही चित्रकूट है। यही रामगिरि है क्योंकि शिवधनुको शिवकी भाँति सामने भी अधिज्य किया था। यहींसे काम पुरुष उठकर कैलासकी गोदमें बसी अलकाको जाता है। मेरुदण्डकी एक कोटिपर शिव और दूसरीपर राम हैं, इन्हीं के बीचमें यह अजगव धनुष तना हुआ या अवतत है। कुण्डलीके विरहको सहस्रार पद्म ढके हुए है। कुण्डलीके विवर [स्पाइनल कौलमके अन्तर्गत स्पाइनल केनाल] से तात्पर्य उस मार्गसे है जिसके द्वारा मूलाधारमें शिव-तेजके चारों ओर प्रसुप्त कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर उपर चढ़ती हुई शिवसे मिल जाती है। चित्रिणीके भीतर ही यह मार्ग है। चित्रिणी उस नलिकाको समझना चाहिए जिसके भीतर यह विवर है। जिस प्रकार कमल अपनी नालके सिरेपर शोभित होता है, वैसे ही चित्रिणी और सहस्रदल तथा द्वादशदल कमलका सम्बन्ध है। चित्रिणी या कुण्डलिनी परम चैतन्य ज्योति है। यही वह स्पन्दनात्मक शक्ति है जिससे सब रचना होती या इसीकी इच्छा, ज्ञान और मायामयी त्रिगुणात्मिका मूर्ति जीवों [पशुओं] में सत्त्व, रज और तम रूपमें प्रकट होती है। उसीके संकोच और प्रकर्षके स्फुरणसे क्रीडा-शरीर बनता है। ऋग्वेदमें इसी अदिति शक्तिके आठ पुत्र बताए गए हैं। शैव दर्शनसे भी शिवकी आठ मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं।[2] योग-साधनासे सप्तर्षि [पंचेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि], कुंडलिनीरूपिणी

---

[1] भूरे और श्वेत दो वर्णोंके संयोगके कारण कुण्डलिनीको ललिता या चित्रा नाम दिया गया है। ग्रे मैटर और ह्वाइट मैटरके मिलनेसे चित्र वर्ण बनता है—देखिए आर्थर एवलेनकृत 'सर्पेंट पावर', पादुका-पंचक भाग, पृ० १६५।

[2] श्रीचितिशक्तिरेव पारमेश्वरी ज्ञान-क्रिया-माया-शक्तित्रितयतया श्रीसदाशिवादिपदे स्फुरित्वा सङ्कोचप्रकर्षात्सत्त्वरजस्तमोरूपं क्रीडा-शरीरं श्रयति [स्पन्द-निर्णय पृ० ३७]। सुप्रबुद्ध योगी अपनी चित्त शक्तिके स्फारसे ही सब जगत्को अधिष्ठित जानता है [प्रत्यभिज्ञाशास्त्र]।

रूपिणी उमा और शिवके बीचमें पड़कर उनका विवाह सम्बन्ध स्थिर करते हैं। जब शिवका पार्वतीके साथ विवाह रचाया जाता है तब ये सातों ऋषि विवाह-यज्ञके अध्वर्यु बनते हैं। इस यज्ञमें यदि इनकी अनुमति और शुभाशीर्वाद होगा तभी यह सफल हो सकता है। शिवजी कहते हैं—

विवाह-यज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति। [कुमार०, ७।४७]

[विवाह-यज्ञका वितान होनेपर पहले ही मैंने आप लोगोंको अपना अध्वर्यु बना लिया था।]

मेघदूतमें शिवके वाहन वृषका [१।५६] और कुमारके वाहन मयूरका [१।४८] भी उल्लेख है। वृष या इन्द्र, इन्द्रियोंकी शक्तिका कारण है। पाणिनी भी इन्द्रिय-शक्तिकी व्युत्पत्ति इंद्रसे ही करते हैं[1] [५।२।९३]। वृष, इंद्र और कामका घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवजी जिस समय तीसरे नेत्रसे उत्पन्न अग्निसे कामको भस्म कर देते हैं तब मानो वे वृष [काम]-पर आरोहण करते हैं। इस वृषपर आरोहण करनेके लिये वे कुम्भोदर सिंहकी सहायता लेते हैं, यथा—

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेःकुम्भोदरं नाम निकुम्भ-मित्रम्॥ [रघु०, २।३५]

[कैलासके सदृश शुभ्र वृषपर आरोहण करनेकी इच्छासे जिसकी पीठपर पैर रखकर शिव चढ़ते हैं वह मैं अष्टमूर्तिका किंकर कुम्भोदर नामका सिंह हूँ।] काम शक्तिका वर्णन गीतामें भी यही है—

महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।

[कामदेव बड़े भोगवाला है।] काम और रसनाका सदा साथ है, क्योंकि जो जलतत्त्व स्वाधिष्ठान-चक्रका अधिष्ठाता है वही जिह्वामें बसता है। वृषपर चढ़नेके लिये कुम्भोदरकी पीठपर पैर रखना आवश्यक है। स्कन्दका वाहन मयूर है। हम बता चुके हैं कि स्कन्दका सम्बन्ध छहकी संख्यासे है, उसका वाहन मयूर भी षड्ज स्वर संवादी[2] है। सर्परूप कुण्डलिनीका स्वाभाविक बैर मयूरसे है। परन्तु शिवकी साधनासे जन्मे हुए कुमारका वाहन होकर मयूर, कुण्डलिनीरूपी सर्पिणीका मित्र हो जाता है। शिवके कुटुम्बमें साँप और मोर बैर त्याग कर बसते हैं। तात्पर्य यह कि पहले मनुष्य कुण्डलिनीके यथार्थ स्वरूपको न जानकर उसे विनाशकारी मार्गसे लगाता है पर 'कुमार' स्कन्दके जन्मके पश्चात् वह अपने षट्चक्रोंके संयमपूर्ण विनियोगको जान जाता है। कामका सम्बन्ध रेतसे है, कामका निवास स्वाधिष्ठान-चक्रमें है। इसी चक्रमें जलका निवास है, जैसा कहा है—आपः रेतो भूत्वा शिश्नम् प्राविशत् [ऐतरेय उ० १।२।४] आयुर्वेदके मतसे वीर्यका जलतत्त्व से सम्बन्ध है। निरुक्तमें तथा संस्कृत साहित्यमें भी जलके ही विष और अमृत दो नाम हैं। शरीरस्थ रेत, हिरण्यके समान भास्वर तेजवाला है। जिस समय दैवी वृत्तियाँ आसुरी वृत्तियोंसे दबी रहती हैं, उस समय रेत, विष स्वरूप होकर सब इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देता है। उस विषको सहने, पचाने और धारण करनेकी शक्ति किसी इन्द्रियाधिष्ठाता देवतामें नहीं हैं। जबतक शिव विषको नहीं पीते तबतक इन्द्रियरूपी देवता उसकी लपटों से झुलसे हुए रहते हैं। गोसाईंजीने ठीक कहा है—

---

[1] इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रकुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा। [अष्टाध्यायी, ५।२।९३]

[2] षड्ज संवादिनीः केका द्विधा भिन्ना शिखंडिभिः। रघु० १।३९
षड्ज मयूरो वदति – इति मातंगः॥

जरत सकल सुरबृन्द बिषम गरल जेहि पान किय।
भजसि न तेहि मतिमन्द, को कृपालु संकर-सरिस ॥

शिव ही योग-समाधिके कारण उस विषका पान कर सकते हैं। पाँचों चक्रोंको भेदकर जब पहले शिव इस रेतके दुर्विषह्य तेजको विशुद्ध-चक्र अर्थात कंठमें स्थापित कर लेते हैं, तभी सब देवता अमृतका भाग पाते हैं। शिवके विषपानके पश्चात् वही रेत अमृत रूप होकर इन्द्रियोंके आत्म-तेजका संवर्द्धन करता है। शिवका विषपान प्रकारान्तरसे योग साधनाके फलका वर्णन है।

यक्षने मेघसे एक काम और लिया है—

नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छाम्।
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ [मे०, १।३६]

[हे मेघ ! सायंकालके समय नवीन जपा-पुष्पकी लालीके सदृश रक्तिमासे सम्पन्न अपने मंडलको शिवकी भुजाओंपर इस प्रकार तान देना कि अपने नाचके आरम्भसे उन्हें गजासुरकी गीली खालकी इच्छा न रहे। उस तेरी शिव-भक्तिको उस समय पार्वती भी निश्चल नयन होकर देखेंगी।]

संक्षेपमें तन्त्रके अनुसार इसका अर्थ यह है जिस मूलाधार चक्रका पृथ्वी तत्त्व है उसमें एक सप्तशुंड गजाकार ज्योति है जिसकी पीठपर शिव-तेजके चारों ओर वलित कुण्डलिनी स्थित रहती है। जिस समय योग-साधनाकी इच्छासे [नृत्यारम्भे] शिवजी इस चक्रको भेदते हैं, तब इस गजकी मानो मृत्यु हो जाती है। जिस व्यक्तिने कामको वशमें नहीं किया है ऐसा कोई व्यक्ति इस गजको परास्त नहीं कर सकता।

आज्ञा चक्रमें प्रणवका प्रत्यक्ष होता है। वहाँ ही चन्द्राकार ज्योतिका दर्शन होता है। यहीं सूर्य, चन्द्र और अग्निके तीन बिन्दु हैं जिनके नामान्तर शिव, विष्णु और ब्रह्मा तंत्र-ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। यहाँ साधकको चन्द्रकी किरणोंसे टपकनेवाली सुधाके आस्वादका आनन्द मिलता है। इसीलिये शिवजी नवशशिभृत [मेघ० १।४७] और इन्दुशेखर [कुमार० ५।७८] हैं। योगशास्त्रमें शिवके रूपका बड़ा विस्तार दिया गया है। शिवपुराण, स्कन्दपुराण[1], तथा तन्त्रोंने इसे बढ़ाकर कथाओंके रूपमें प्रकट किया है। कालिदासका यह कहना बहुत ठीक है—

न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः। [कु०, ५।७७]
न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः। [कु०, ५।७८]

---

[1] इसकी कथा स्कन्द महापुराणान्तर्गत काशीखंडके ६८वें अध्यायमें दी हुई है। गजासुरने ब्रह्मासे वर पाया था कि 'कंदर्प-वशीभूत किसी व्यक्तिके हाथ उसकी मृत्यु न होगी।' पार्वतीने जिस समय महादेवसे रत्नेश्वर लिंग [मणिपीठाधिपति शिव]-का माहात्म्य सुना उसी समय गजासुर अपने बलवीर्यमें उन्मत्त होकर प्रमथोंको निपीडन करके शिवकी ओर झपटा। कंदर्प-दर्पहारी महादेवने पास आनेपर उसे त्रिशूलसे छेदकर शून्यमें टाँग दिया। महादेवजीके मस्तकपर उसने अपना शरीर छत्रकी भाँति फैला लिया था। जब उसने शिवकी बहुत स्तुति की तब शिवने वर देना चाहा। गजासुरने कहा कि आप मेरे शरीरका चमड़ा पहन लीजिए। इसीसे शिवजी कृत्तिवास कहलाए।

[शिवके स्वरूपका ठीक-ठीक निर्धारण कौन व्यक्ति कर सकता है !] पाशुपतशास्त्रमें[१] शिव, विष्णु और ब्रह्माके अद्वैतको मानकर जीवात्माके साथ परम चित् शक्तिका तादात्म्य दिखाया है । वह चित्-शक्ति-रूप परमहंस शिव सहस्रार-पद्ममें प्रतिष्ठित है । उस पर-बिन्दुतक पहुँचनेका मार्ग योग-साधना-द्वारा कुंडलिनीको जगाकर ब्रह्माण्डमें ले जाना है । जबतक वृषकेतु, वृषाञ्चन, शिव-रूप आत्माके दर्शन नहीं होते, तबतक काम-बाधा चित्त-वृत्तियोंको अधोमुखी रखती है । वृषपति शिवकी साधना और भक्ति [मेघ० १।५९] प्राप्त करना प्रत्येक कामरूप पुरुषके लिये अत्यन्त आवश्यक है । कालिदासके अनुसार योगके द्वारा परमात्म-संज्ञक परम-ज्योतिका दर्शन करना ही जीवनकी परम सिद्धि है ।

> योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम । [कुमार०, ३।५८]

शिवके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान ही कालिदासके दर्शन और काव्य-साधनाका ज्ञान है ।

* * *

---

[१] जीव कार्य है, इसका नाम पशु है । ईश्वर कारण है, वही पशुपति है । पशुपतिमें चित्तकी समाधि ही योग है । भस्म, विभूति, स्नान आदि तपश्चर्या-विधि है । मोक्ष इसका प्रयोजन है । उस मोक्षका फल दुःखका अन्त है । यही संक्षेपमें पाशुपत शास्त्र है ।

महाकवि कालिदासकी उपमाओंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन

[श्री पी० के० गोडे, संग्रहालयाध्यक्ष, भांडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना]

संस्कृत-साहित्यका प्रत्येक विद्यार्थी उस श्लोकसे पूर्णतः परिचित है जो 'उपमा कालिदासस्य' से आरम्भ होता है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।।

—और यद्यपि उस उद्धरणके महत्त्वको कालिदासके बहुतसे अध्येताओंने समझ भी लिया है फिर भी किसीने उनकी उपमाओंका वह आलोचनात्मक रूप सामने लाकर नहीं रक्खा, जो केवल अलंकार-शास्त्रके विद्वानोंके लिये ही नहीं अपितु साहित्यके साधारण प्रेमीके लिये भी अत्यन्त आकर्षक और रुचिकर होता। मैं स्वतन्त्र आधारोंपर उपर्युक्त कथनकी परीक्षा करना चाहता हूँ परन्तु ऐसा करनेमें मेरा ध्येय मुख्यतः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही है। मैं केवल कविकी पर्यवेक्षण-परिधि, उसकी सौन्दर्यानुभूति और उसके विस्तृत ज्ञानकी ही ओर संकेत करना नहीं चाहता, अपितु उसकी उपमान्वेषणकी विचित्र शक्तिके उन विभिन्न रूपोंका विस्तारसे वर्णन करना चाहता हूँ जो 'बौद्धिक जीवनके मूल स्तम्भ' माने जाते हैं।

मैं 'उपमा' शब्दका यहाँ विस्तृत अर्थ ग्रहण कर रहा हूँ, इसलिये इसमें केवल समानतापर आश्रित अलङ्कार ही नहीं सम्मिलित किये गए हैं वरन् और भी बहुतसे ऐसे अलङ्कार इसीमें समन्वित हैं जो भारतीय आलंकारिकों-द्वारा बाँधी हुई सीमाओंके बाहर हैं, उदाहरणार्थ—रूढोक्तियों [कहावतों]-का जीवनकी विशेष परिस्थितियोंके लिये प्रयोग करना वास्तवमें तुलना ही तो है, इसीलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मैं उन्हें उपमामें ही सम्मलित करना ठीक समझता हूँ।

मैंने केवल 'शकुन्तला' की उपमाओंकी आलोचनामें ही अपने प्रयत्नको परिमित रक्खा है क्योंकि पहले तो यह महाकवि कालिदासकी सर्वश्रेष्ठ रचना है और दूसरे, नाटकीय रचना होनेके कारण उसमें उनके काव्योंकी अपेक्षा मानव-जीवनका अधिक सच्चा चित्रण है।

इस आलोच्य ग्रन्थमें सब मिलाकर १८० उपमाएँ हैं। यद्यपि प्रथम और षष्ठ अंक विस्तारमें लगभग बराबर है, फिर भी पहला तो उपमाओंसे शून्य-सा है और उसमें लगभग आठ ही उपमाएँ हैं जबकि दूसरा उनसे एकदम भरा हुआ प्रकाशमान-सा है, और उसमें सब मिलाकर ५१ उपमाएँ हैं। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। प्रथम अङ्क तो पूरी रचनाकी प्रायः भूमिका है और कवि 'जीवनकी आलोचना' की अपेक्षा वर्णन करनेमें अधिक व्यस्त है—मुख्य जीवनकी वह आलोचना, जो किसी भी दृश्य काव्यमें नाटककारका मुख्य काम है। छठे अंकमें कवि कुछ मानस अनासक्तिकी सिद्धिमें सफल हुआ है जो मानव-चरित्रके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और इसके विस्तृत व्यक्तीकरणके लिये बहुत आवश्यक है। दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें अंकमें क्रमशः १३, १७ २७ और २९ उपमाएँ हैं। छठे अंकसे आगे संख्यामें वृद्धि नहीं है अपितु निश्चित रूपसे ह्रास है और सातवेंमें केवल ३४ हैं। नाटकका उपसंहार सातवें ही अंकमें प्रारम्भ होता है और उसीमें

चूर्ण भी ही जाता है। इसीलिये इसमें उपमाओंकी कमी है। वास्तवमें इसमें दो तत्त्व मानो खींचा-तानी कर रहे हों। नाटकके प्रारम्भमें वर्णनात्मक तत्त्वकी प्रधानता है जो कभी तो प्रत्यक्ष रहता है और कभी प्रच्छन्न। आलोचनात्मक तत्त्व वहाँ एकदम गौण हो गया है। इसलिये चौथे अंकमें विशेष रूपसे ऐसा ज्ञात होता है कि कवि पूर्ण अनहंकार भावनाको स्थिर रखनेमें असमर्थ है। ऐसी ही परिस्थितिमें उपमाओंका प्रादुर्भाव आरंभ हो जाता है। इस स्थलपर कोमल भावनाका पूर्ण आधिपत्य है और मन भावावेशमें झूलने लगता है : इस अंककी शैली विशेषत: भावात्मक हैं, विवेचनात्मक नहीं और इसीलिये उपमाओंकी संख्यामें क्रमिक ह्रास दिखाई देता है क्योंकि यह रचना मुख्यत: कविके हृदयकी उपज है, न कि उसके मस्तिष्ककी।

इस निबन्धका मुख्य लक्ष्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, अत: मैं सब उपमाओंको उनके मूल-स्रोतोंके अनुसार पहले विभाजित कर लेना चाहता हूँ। मनुष्य और वस्तुओंके सम्बन्धमें कविका ज्ञान-जगत् जितना विस्तृत है उतने ही विस्तृत उपमाओंके मूल स्रोत हैं—

१. स्वर्ग और आकाश—सूर्य अपने अनेक रूपोंमें अधिकतर तुलनाके लिये प्रयोगमें लाया गया है। जलको खौला देनेवाला ग्रीष्म ऋतुकी तप्तताका वर्णन तीसरे अंकके दसवें श्लोकमें मिलता है। उसका शक्तिशाली प्रकाश चन्द्रमाको मन्द कर देता है (अंक ३, श्लोक १५)। एक साथ ही चन्द्रमाका उदय और सूर्यका अस्त होना संसारकी एक साथ होनेवाली समृद्धि और दीनताका द्योतक है (अंक ४, श्लोक २)। एक प्रकाशमान पुत्रका जन्म पूर्वमें सूर्योदयके समान है (अंक ४, श्लोक १९)। सूर्य हमारे सामने कर्त्तव्यपरायणके रूपमें रक्खा गया है। क्योंकि लोगोंको प्रकाश देनेके कर्त्तव्यमें वह कभी नहीं चूकता (अंक ५, श्लोक ४)। वह अन्धकार दूर करनेका सबसे बड़ा साधन है (अंक ५, श्लोक १४) ऐसा होनेपर भी रात्रिका अन्धकार दूर करनेमें वह असमर्थ ही रहता है (अंक ६, श्लोक ३०)। अरुण या प्रात:कालीन सन्धिबेलाको उसका अग्रदूत (या अग्रदूती) बताया गया है (अंक ७, श्लोक ४)। सूर्य ही कमलोंको खिलाता है (अंक ५, श्लोक २८)।

जैसा कि निम्नाङ्कित उद्धरणोंसे स्पष्ट है, चन्द्रमाके विविध रूप और उसकी विशेषताएँ संस्कृत-काव्यमें प्राय: रूढ हो गई हैं—

शारदी चन्द्रिका बहुत ही आकर्षक होती है (अंक ३, श्लोक १२ के पश्चात्)—

'क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति।'

वह सूर्यके प्रखर प्रकाशके सम्मुख फीकी पड़कर महत्वहीन हो जाती है (अंक ३, श्लोक १५)। चन्द्रोदय इस जगत्के कुछ व्यक्तियोंके चमकते हुए ऐश्वर्यका सूचक है (अंक ४, श्लोक २)। केवल वही रात्रिके अन्धकारको दूर करनेमें समर्थ है (अंक ६, श्लोक ३)। चन्द्रग्रहणका वर्णन अंक ७, श्लोक २२ में है। चन्द्रके धरातलके काले धब्बोंकी चर्चा अंक १, श्लोक १९ में की गई है। कमल-नाल उतना ही कोमल होता है जितनी चन्द्र-किरण (अंक ६, श्लोक १८) शकुन्तलाका उसकी दो सखियोंकी ओर व्यक्तिगत आकर्षण उसी आकर्षण—जैसा बताया गया है जिससे कि विशाखा-तारक-मण्डलको चन्द्रमा अपनी ओर खींचता है—

'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशांकलेखामनुवर्त्तेते।' (अंक ३)

चन्द्रकी किरणें यद्यपि स्वयं शीतल होती हैं फिर भी काम-पीडित जनोंको तो जलाती-सी ही हैं (अंक ३, श्लोक ३)। दिनमें चन्द्रमाकी अनुपस्थिति, कुमुदिनियोंकी समस्त मनोहारिणी

सुन्दरताका अपहरण कर लेती है (अंक ४, श्लोक ३)। चन्द्रमा ही कुमुदिनियोंको खिलानेका कारण है (अंक ५, श्लोक ७८)।

उपग्रहोंकी चर्चा नाटकमें बहुत कम है। विशाखा उपग्रह चन्द्रमा-द्वारा खींचा जाता है (देखो ऊपर)। चन्द्रमण्डलका उपग्रह रोहिणी अपने प्रेमी चन्द्रमासे चन्द्र-ग्रहणके पश्चात् मिलती है (अंक ७, श्लोक २२)। आकाश-मंडलके सभी ग्रह-पिण्डोंके ग्रहणोंमें केवल चन्द्रमाकी ही चर्चा है (अंक ७, श्लोक २२)। आकाशमेंके धरातलकी चर्चा अंक ७, श्लोक ७ में की गई है। आकाश और पृथ्वीके भूमध्यमें स्थित पक्षियोंके विचरण करने-योग्य स्थानकी चर्चा अंक ५, श्लो० २२ में की गई है।

२. पृथ्वी आकाशके निम्नांङ्कित व्यापारोंका प्रयोग तुलनाके लिये किया गया है—

संभवतः विद्युत्‌की चर्चा उस काँपते और चमकते हुए प्रकाशके रूपमें की गई है जिसका उद्भव अपार्थिव है (अंक १, श्लो० २४)। प्रातःकालीन अरुण-प्रकाश, अन्धकारको दूर करनेमें इसलिये समर्थ होता है कि वह सूर्यसे प्रकाश लेता है (अंक ७, श्लो० ४)। वायुका अविराम गतिसे बहना कर्त्तव्य-निष्ठाका द्योतक है (अंक ५, श्लो० ४)। अंधड़से बिना हिले-डुले पर्वत सदा स्थिर रहते हैं—'ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः।' (अंक ६) वायु, कोमल लताओंके रस-भरे हरे-हरे पत्तोंको सुखा देता है (अंक ३, श्लो० ८) पर्वत-श्रेणी, पश्चिमी क्षितिजपर सन्ध्याके मेघोंके परकोटेके समान दिखाई देती है—"सान्ध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते (अंक ७)।

भूरे रंगके राक्षस सन्ध्याके बादलोंके समान प्रकट होते हैं (अंक ३, श्लो० २५)। पृथ्वी पर झुके और पानीसे भरे हुए मेघके समान ही नम्र पुरुष होते हैं (अंक ५, श्लो० १२)। दुष्यन्त अपनी प्रजाकी सहायताके लिये जो विश्वास दिया उसका उसने सामयिक वर्षाके समान स्वागत किया—काले प्रवृष्टिमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम् (अंक ६)।

समुद्रका एक बड़ी नदीसे सीधा और अविच्छिन्न सम्बन्ध, पुरुवंशमेंके प्रसिद्ध उत्तराधिकारीके प्रति शकुन्तलाके हृदयकी प्राकृतिक और उचित अभिलाषाओंको अभिव्यक्त करता है—'तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्। (अंक ३)

पृथ्वीको आच्छादित करनेवाला समुद्र उसका वस्त्र कहा गया है (अंक ३, श्लो० १८)।

किसी चट्टानसे दो धाराओं में विभाजित होकर वेगसे बहती हुई नदी राजाके दुविधामें पड़े हुए चित्तको अभिव्यक्त करती है (अङ्क २, श्लो० १७)। बड़ी नदियाँ समुद्रसे पूर्ण रूपसे सम्बद्ध होती हैं—'सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति।' (अङ्क ३)

नदीकी वेगवती धार, अपने कगारपर स्थित वृक्षोंको नीचे गिरा देती है (अङ्क ५, श्लो० १०)। उमड़ी हुई नदी और मृग-मरीचिकाकी विषमताका प्रयोग अङ्क ६, श्लोक १६ में मिलता है। निराशाकी तुलना मृग-मरीचिकासे दी गई है—'अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावः (अंक ७)। नदीकी बहती हुई धाराके वेगसे उसमें उगे हुए नरकट झुक जाते हैं—'यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदीवेगेन' (अङ्क २)।

सरोवरमें स्नान करनेकी कल्पना अङ्क ७, श्लोक १ में है और अपने कगारोंपर उफनाती हुई नदीकी कल्पना अङ्क ५ में है जहाँ कि एक गीत भावावेशसे उफनाता सा कहा गया है—'अहो रागपरिवाहिनी गीतिः'।

आँसूसे भरे हुए और आनन्दातिरेक सूचित करनेवाले नेत्रोंके वर्णनका भाव भी मूलतः कुछ ऐसा ही है (अङ्क ४) जल नीचेसे ऊपर नहीं जा सकता । यह प्रकृतिका नियम शकुन्तलाके प्रति स्थिर किए हुए दुष्यन्तके प्रेमको प्रकट करता है (अङ्क ३,) हंस पानीको तभी अलग करता है जब कि वह दूधमें मिलाकर उसे दिया जाय (अङ्क ६, श्लो० २८) । कोमल लताओंपर गरम जलका नाशकारी प्रभाव अङ्क ४ में वर्णन किया गया है ।

पर्वतोंकी विशाल शक्तिका वर्णन केवल एक उपमामें किया गया है । झंझावातके अत्यधिक क्रोधसे भी वे अचल स्थिर रहते हैं (अङ्क ६) । पृथ्वी-तलकी ऊँचाई-निचाईका संकेत अङ्क ६ में है जहाँ पृथ्वीतलके एक चित्रका वर्णन है ।

घाससे ढका हुआ कूप उस मनुष्यके समान है जिसने सत्यताका बाना धारण किया हो (अङ्क ५) । पृथ्वीका धरातल बिजली उत्पन्न करनेमें असमर्थ है (अङ्क १) । एक मन्द बुद्धिकी तुलना मृत्पिण्डसे की गई है (अङ्क ६) । पृथ्वीका भार शेषनाग भगवान् वहन करते हैं (अङ्क ५) । पृथ्वी, शासन करनेवाले राजाकी पत्नी कही गई है (अंक ३, श्लो० १८) ।

खनिज-जगत्से बहुत कम उपमाएँ दी गई हैं, परन्तु जो हैं, उनमेंसे अधिकांश एकदम मौलिक हैं । चमकीला रत्न, यद्यपि चमकमें अग्निसे मिलता-जुलता है, फिर भी हाथसे स्पर्श किया जा सकता है (अंक १) । सूर्यकी किरणें जब सूर्यकान्त-मणिपर पड़ती हैं तब उसमें से जलानेवाली गर्मी निकलती है (अंक २, श्लो० ७) । रत्नोंका वेधा जाना अंक २, श्लो० १० में वर्णित है । शाणसे घिसकर छोटा कर देनेपर भी रत्नोंमें अत्यन्त चमक आ जाती है (अंक ६, श्लो० ६) । स्त्रीके सौन्दर्यकी तुलना रत्नसे की गई है (अंक २, श्लो० ९) ।

३—[१] वनस्पति-जीवन—इसकी उपमाएँ असंख्य हैं—

वाटिका और वनकी लताओंमें विषमता दिखाई गई है (अङ्क १) एक घनी भौंहकी तुलना लतासे की गई है (अङ्क ३, श्लोक १३) । पतली और कोमल स्त्री लताके समान होती है (अंक ७) । लताएँ वसन्त ऋतुमें खिलती हैं (अंक ७) । फूलोंसे भरी हुई लता मधुपको प्रिय अतिथिके रूपमें पाकर प्रसन्न होती है (अंक ६) । तपोवनके कुञ्जसे शकुन्तलाकी बिदाई के समय लताएँ अश्रुपात करती हैं (अङ्क ४, श्लोक १२) । एक ध्यानावस्थित साधुके गर्दनके चारों ओर लताओंकी कुण्डली बन गई है (अंक ३) ।

विशेष पौधों और लताओंसे भी उपमाएँ ली गई हैं । बहुधा कोमलता तथा सौन्दर्यके लिये ही उनका सन्निवेश किया गया है—

शमी-लता काटनेमें बड़ी कड़ी होती है (अंक १) और शमीकी लकड़ीमें स्वयं अग्नि उत्पन्न करनेकी क्षमता होती है (अंक ४, श्लोक ४) । वायुसे माधवी-लता सूख जाती है (अंक ३) । अतिमुक्तक लता पत्तोंके भारसे झुकी होती है और सहकार वृक्षसे लिपटी रहती है (अङ्क ३) । नवमालिकाके फूलकी कोमलता अधिकतर शकुन्तलाके लिये प्रयुक्त हुई है (अंक १) । सूर्यकी किरणोंसे नवमालिका फूलपर कालिमा छा जाती है (अङ्क २, श्लोक ८) । कौन ऐसा मनुष्य है जो नवमालिका लतापर गरम पानी छोड़ना चाहे ? (अङ्क ४) । फूली हुई वनज्योत्स्ना लताका वर्णन अङ्क १ में मिलता है । उसे शकुन्तलाकी भगिनी कहा गया है (अंक ४) ।

कुछ फूलोंका भी उपमाओंके लिये प्रयोग किया गया है—

उष:कालमें ओसकणसे भरा हुआ कुन्द-पुष्प मधुपको ललचाता है, परन्तु ठंढे ओसके कारण वह उसका रस लेनेसे रोक दिया जाता है (अंक ५, श्लोक १९)। नील जलजकी कोमलता और शमीकी कठोरतामें विषमता दिखाई गई है (अंक १)। शैवालसे घिरा हुआ कमल मनोहर दीख पड़ता है (अंक १)। कमलके पत्ते पङ्खा झलनेके लिये प्रयुक्त होते हैं (अंक ३, श्लोक १९)। राजमार्गकी धूल कमलके कोमल परागकेशरके समान है (अंक ४)। मधुपका स्वाभाविक वास-स्थान कमल है (अंक ५, श्लोक १)। सुन्दर हाथ रक्त कमलनालके समान दीख पड़ता है (अंक ६)। किसी शिशुका कोमल हाथ उष:कालमें खिले हुए कमलके समान दिखाई देता है (अंक ७, श्लोक १६)। सूर्यका कुमुदिनीपर हानिकारक प्रभाव पड़ता है (अंक ३, श्लोक १५)। चन्द्रमाके न रहनेपर कुमुदिनीसे भरे हुए सरोवरकी सचमुच दयनीय दशा होती है। (अंक ४, श्लोक ३) उसकी उपस्थितिमें वे खिल जाती हैं (अंक ५, श्लोक २८)। कमल केवल सूर्यकी उपस्थितिमें खिलते हैं (अंक ५, श्लोक २८)। युवावस्था उतनी ही आकर्षक है जितना कि कोई फूल (अंक १, श्लोक १९)। जिस सौन्दर्यका आनन्द नहीं लिया गया वह मानो बिना सूँघा हुआ सुगन्धित फूल है (अंक २, श्लोक १०)। मधुप एक नवीन पुष्पसे मधु चूसता है (अंक ३, श्लोक २२) वह फूलोंसे मधु चुरानेवाला चोर है (अंक ६)। वसन्तसे लताओंके संयोगकी सूचना वसन्तकी कली देती है (अंक ७) फूलोंका दिखाई देना युवावस्थाकी सूचना देता है (अंक १)। ओठ उतने ही लाल होते हैं जितने कि वृक्षोंके लाल पत्ते (अंक १, श्लोक २०)। किसी युवतीका अधर इतना ही सुन्दर दीख पड़ता है जितना कि हाथसे न छुए हुए वृक्षोंके कोमल पत्ते (अंक ६)। किसी युवतीका निष्कलंक सौन्दर्य अस्पृष्ट कोमल कोंपलके समान होता है। (अंक २, श्लोक १०)। हथेलियोंका रंग वृक्षोंकी नवीन शाखाओंसे होड़ लेता है (अंक ४, श्लोक ५)। लाल कोंपलों और सूखी हुई पत्तियोंमें विषमता दिखाई गई है (अंक ५, श्लोक १)। एक होनहार शक्तिशाली नवयुवककी तुलना विशाल वृक्षकी प्रशाखासे की गई है (अंक ७, श्लोक १९) वृक्षोंकी पत्तियाँ मानो उनकी उँगलियाँ हैं जो दर्शकोंको अपने पास आनेके लिये बुला रही हैं (अंक १)। वृक्षोंकी शाखाएँ उनकी भुजाएँ हैं जिनसे वे शकुन्तलाका आलिङ्गन करती हैं (अंक ४)। फलोंके भारसे झुके हुए वृक्ष, कृपालु मनुष्यकी नम्रता प्रकट करते हैं (अंक ५, श्लोक १२)। आत्मिक विचारोंमें लीन व्यक्ति, वृक्षके तनेके समान मौन होता है (अंक ७) वृक्षोंकी जड़ें तपस्वियोंके निवास-स्थान हैं (अंक ७, श्लोक २०)।

वृक्ष शकुन्तलाके मित्र हैं (अंक ५, श्लोक १०)। वे सूर्यका अत्यधिक ताप सहन करते हैं और अपने नीचे आए हुए लोगोंको शरण देते हैं (अंक ५, श्लोक ७)।

आइये, अब कुछ विशेष वृक्षों और पौधोंपर भी विचार करें। केवल सहकार या आम्रवृक्ष ही अतिमुक्तकका भार सहन कर सकता है। वह वनज्योत्स्ना लताका भी प्रेमी है (अंक १) और नवमालिकाका भी (अंक ४)। कमलमें अपना निवास-स्थान बना लेनेपर भ्रमर, आम्र-मंजरियोंकी तनिक भी चिन्ता नहीं करता (अंक ५, श्लोक १)। ये तो वसन्तके प्राण ही हैं (अंक ४)। ये भ्रमरोंपर मादक प्रभाव डालती है (अंक ६)। नदीकी धाराओंके वेगवान् प्रवाहसे नरकट झुक जाते हैं (अंक २) ईखकी चर्चा अंक ३ में की गई है। चन्दन वृक्ष, यद्यपि अपने पास आनेवाले सभी जीवोंको प्रसन्न करता है तथापि अपने भीतर कृष्ण सर्प रखनेके कारण वह स्वयं निन्द्य समझा जाता है (अंक ७, श्लोक १८)। जब शकुन्तला केशर-वृक्षकी जड़के पास

बैठती है तो वह ऐसा लगता है मानो उससे कोई लता लिपटी हो (अंक १)। असुरोंकी तुलना काँटोंसे की गई है (अंक ७, श्लोक ३)।

कृषि-सम्बन्धी उपमाएँ बहुत कम हैं—

समयपर बोए हुए बीज बहुत अधिक अन्न उत्पन्न करते हैं (अंक ६, श्लोक २४)।

(२) पशु-जीवन—पशु-जीवन अपने साथ पशु-शरीरके सभी विकार भी लाता है। इनका भी उपमाओंमें प्रयोग किया गया है—

दुष्यन्त एक रोगसे दुखी कहा गया है वह रोग 'शकुन्तला' है (अंक ६)। दुष्यन्तकी दशा लगभग पूर्णतः निराशा-जनक है। एक फोड़ेके ऊपर छोटी फुन्सीका होना अंक २ में दिखाया गया है। विदूषककी असह्य भूख उसे ही खाए डाल रही है (अंक ६)।

उपमाओंमें कुछ पशुओंका प्रयोग इसलिये हुआ है कि अन्य पदार्थोंके समान उनमें स्पष्ट मिलनेवाले गुणोंकी व्याख्या की जा सके—

हरिण, संस्कृत काव्यमें तुलनाका साधारण मापदण्ड है। शकुन्तलाके नयन हरिणीके नेत्रोंके समान हैं (अंक १, श्लोक २४) और वे हरिणके नेत्रोंके समान भी हैं (अंक ६, श्लोक ७)। शकुन्तलाके कटाक्षोंके समान दिखाई देनेवाले मृगीके सुन्दर कटाक्ष, राजाको उसे मारनेसे रोकते हैं (अंक २, श्लोक ३)। मृग-शावकको शकुन्तलाका पोष्य पुत्र कहा गया है। (अंक ४, श्लोक १४) अगाध मृगया-प्रेमके कारण पर्वतोंपर भ्रमण करते हुए राजा, बनैले हाथीके समान जान पड़ते हैं (अंक २, श्लोक ४) दिनके कृत्योंको समाप्त करके विश्राम करता हुआ राजा हाथियोंके उस स्वामीके समान दीख पड़ता है जो उन्हें अपने चारागाहोंमें छोड़कर एक शीतल स्थानमें बैठकर विश्राम कर रहा हो (अंक ५, श्लोक ५) विदूषककी अच्छी तरह हजामत बनाकर मातलि, अपनी तुलना उस बाघसे करता है जो किसी छटपटाते हुए पशुपर झपटा हो (अंक ६, श्लोक २७)। बिल्ली-द्वारा पकड़ा हुआ चूहा जीवनसे निराश हो जाता है (अंक ६)। सर्प जब क्रोध करता है, तब अपना फण फैला लेता है (अंक ७, श्लोक ३१)। कृष्ण-सर्प अपनी उपस्थितिसे चन्दन वृक्षको अपवित्र करता है (अंक ६, श्लो० १८)। आश्रमके वृक्षोंपर नमी हुई धूल टिड्डीदलके समान दिखाई देती है। (अंक १, श्लोक २९)। कोमल आम्र-मञ्जरियोंको देखकर कोकिल प्रसन्नतासे मस्त हो जाता है (अंक ६)। वृक्षोंसे आता हुआ कोकिलका मधुर कूजन, मानो शकुन्तलाके पतिगृह जानेके समय आदेश है (अंक ४, श्लोक १०)। कोकिला कौओंके घोंसलेमें पली हुई मानी गई है (अंक ५, श्लोक २२)। चकई पक्षीकी चर्चा अंक ३ में की गई है। उनकी 'पी कहाँ' की ध्वनि उसके जोड़ेके वियोगके दुःखकी सूचना देती है (अंक ४) मधुप बड़ी सावधानी और कोमलता से किसी फूलका मधु-रस चूसता है, (अंक ३, श्लोक २२)। इसके लिये यह भी कहा गया है कि यह आम्र-मञ्जरियोंको चूसकर कमलोंमें प्रवेश कर जाता है (अंक [illegible], श्लोक ८)। यह प्रातःकालकी ओससे भरे हुए कुन्द फूलका रस नहीं ले सकता (अंक ५) । यह फूलोंसे युक्त लताका बहुत ही प्रिय अतिथि है (अंक ६) । भ्रमरी, अत्यधिक प्रेमके कारण बिना अपने प्रेमीके मधु नहीं पी सकती (अंक ६, श्लोक १९)। किसी स्थान पर मक्खियोंका न रहना वहाँ पूर्ण शान्तिका द्योतक है (अंक २, श्लोक ६)।

३. गृह-जीवन—ज्ञानके इस विभागसे दी गई उपमाएँ अनेक प्रकारकी और घरेलू हैं—

जिस मनुष्यकी खजूरसे अरुचि हो गई है, वह इमली खानेकी इच्छा कर सकता है (अंक २)। सद्यः मधुकी चर्चा अंक २, श्लोक १० में की गई है। कामिनी स्त्रियाँ मधुर बोली

बोलती हैं (अंक १)। राजाको भी मधुर-भाषी कहा गया है (अंक ५)। ईखका वर्णन छठे अंकमें मिलता है। तूल-राशिको जलाकर नष्ट करनेके लिये अग्निकी एक चिनगारी पर्याप्त है (अंक १, श्लोक १०)। अग्निके छेड़नेपर वह चमकती हुई शिखामें जल उठती है (अंक ७, श्लोक ३१)। अग्निके अतिरिक्त और कोई साधन वस्तुओंको नष्ट करनेवाला नहीं है (अंक ४)। दीपकके पास रहनेपर भी यदि उसे पर्देसे ढक दिया जाय तो मनुष्यको अन्धकार ही दीख पड़ता है (अंक ४)। जल नीचेसे ऊपर उसी प्रकार नहीं जा सकता जिस प्रकार राजाका हृदय शकुंतलाकी ओरसे नहीं फिर सकता (अंक ३)। राज्य-शासनकी तुलना उस छत्रसे दी गई है जिसका दण्ड हाथमें धारण किया हुआ हो (अंक ५, श्लोक ६)। गर्दसे भरा हुआ दर्पण स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं देता है परन्तु वही स्वच्छ कर देनेपर बड़ी सरलतासे स्पष्ट छाया प्रतिबिम्बित करता है (अंक ७, श्लोक ३२)। इन्द्रका वज्र किसी स्त्रीके आभूषणके समान था, क्योंकि असुरोंके युद्धमें वह व्यर्थ सिद्ध हुआ (अंक ७, श्लोक २६)। एक रेशमी झण्डा पीछेकी ओर फरफराता है यद्यपि इसका दण्ड आगेकी ओर ले जाया जाता है, ठीक यही दशा राजाके मनकी भी उस समय थी जब वह शकुन्तलासे प्रथम प्रेम करके अपनी राजधानीकी ओर लौट रहा था (अंक १, श्लोक ३१)। तपस्या तपस्वियोंका धन है (अंक ४, श्लोक १)। मन और शरीरका संयम स्वयं एक कोष है (अंक ४, श्लोक १७)। कन्या धरोहर है (अंक ४, श्लोक १२)। शारद्वत और विलासी नागरिकोंमें वही सम्बन्ध है जो स्नान किए हुये और तेल लगाये हुएमें, शुद्ध और अशुद्ध व्यक्तिमें, पूर्णतः जगे हुए और सोये हुएमें और बन्धन-युक्त तथा स्वतन्त्र मनुष्यमें है (अंक ५, श्लोक ११)।

४. कौटुम्बिक सम्बन्धोंका भी प्रयोग उपमाओं में हुआ है। इस नाटकमें छोटे पैमानेपर प्राचीन भारतीय जीवनका अनेक रूपोंमें आदर्श चित्र खींचा गया है, अतः, यह स्वाभाविक ही है कि इस सम्बन्धोंको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाय। पत्नीका पतिपर स्वाभाविक प्रभाव अंक ७, श्लोक ३२ में वर्णित है। आम्रवृक्ष, नवमालिकाका पति है (अंक ४, श्लोक १३)। पृथ्वी, शासककी पत्नी है (अंक ४, श्लोक २०)। भ्रमर-भ्रमरीकी चर्चा अंक ६, श्लोक २० में की गई है।

पैतृक प्रेमका निरूपण करनेवाली उपमाएँ निम्नांकित है—

पशुओंको सन्तान समझना चाहिए (अंक ७, श्लोक १४)। एक मृगशावक तो शकुन्तलाका पोष्य पुत्र था (अङ्क ४, श्लोक १४)। राजा अपनी प्रजाकी रक्षा अपनी सन्तानके समान करता है (अंक ५, श्लोक ५)।

भ्रातृ-सम्बन्धको सूचित करनेवाली उपमाएँ भी ध्यान देने योग्य हैं—राजाको प्रजाका बन्धु कहा गया है (अंक ५, श्लोक ७ और अंक ६, श्लोक २३)।

५. सामाजिक जीवन—प्राचीन भारतमें अतिथि-सत्कार बहुत बड़ा धर्म माना जाता था। इन्द्र-द्वारा दुष्यन्तके सम्मानका विशद वर्णन अंक ७ में मिलता है। मधुप, फूलोंसे भरी हुई लताओंका प्रिय अतिथि है (अङ्क ६, श्लोक १९)। व्यक्तियोंको पुकारनेके शिष्टाचारका वर्णन अङ्क ५ में मिलता है। बिना दूसरेके हृदयको भली भाँति समझे, जो मित्रता शीघ्रतामें की जाती है वह अवश्य शत्रुतामें परिणत हो जाती है (अङ्क ५, श्लोक २४)। सज्जन सदा अपने मित्रोंको कृपा-दृष्टिसे देखते हैं (अङ्क ६, श्लोक २९)। कृपाके आदर्श रूपकी उपमा किसी मनुष्यको शूलीसे उतारकर हाथीपर चढ़ा देनेसे दी गई है (अङ्क ६, श्लोक २)।

कुछ मित्रता-विरोधी उपमाओंका विषय कपट है—

राजाकी उपमा मधुरभाषी कपटीसे दी गई है (अंक ५)। उसकी तुलना चोरसे भी की गई है (अङ्क ५, श्लोक २०)। भ्रमरको ऐसा चोर कहा गया है जो फूलोंसे मधु चुराता है (अङ्क ५, श्लोक १०)। जनसंकुला नगरीकी उपमा भीड़से घिरे हुए उस घरसे दी गई है जिसमें आग लग गई हो (अङ्क ५, श्लोक १०)। बन्दी होनेकी भावना अङ्क ६, श्लोक २० में निहित है, जहाँ राजा उस भ्रमरसे ईर्ष्या करता है जिसे कविने शकुन्तलाके मुँहपर मँडराते हुए चित्रित किया है। राजा चाहता है कि मैं भी कमलमें बन्द हो जाता। जान-बूझकर दुष्टता करनेसे कुछ लोगोंको जो प्रसन्नता होती है उसका वर्णन दैनिक जीवनकी तद्वत् घटनासे किया गया है—अर्थात् किसी मनुष्यकी आँख इस प्रकार खोद देना कि उसमें आँसू निकलने लगें और फिर उससे इसका कारण पूछना (अङ्क २)।

सैनिक जीवन, मृगया और अन्य खेलोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपमाएँ भी मिलती हैं। सूत्रधार अपनी प्रियाके मनोहर आलापसे उसी प्रकार आकृष्ट किया जाता है जिस प्रकार दुष्यन्त सवेग दौड़ानेवाले हरिणसे (अङ्क १, श्लोक ५)। पुनः अङ्क १, श्लोक ६ में दुष्यन्तकी तुलना शिवसे की गई है जो हरिणका पीछा कर रहे हैं। किसी विश्वासघातीके दिखावटी धर्माचरणकी तुलना कवचसे की गई है (अङ्क ५)। किसी पश्चाताप करते हुए हृदयके शोकोद्गार वैसे ही हैं जैसे उस हृदयके होते हैं जो विष-बुझे बाणपर्वसे बेधा गया हो (अङ्क ३, श्लोक ९)। ऐसा बाणपर्व निकाल लिया जाता है तो जैसा सुख उस मनुष्यको होता है जिसके हृदयसे वह बाण निकाला जाता है उसका वर्णन अङ्क ७ में मिलता है। धनुष्टंकारकी तुलना किसी वन्य पशुके गर्जनसे की गई है (अङ्क ३, श्लोक १)।

पृथ्वीकी कल्पना एक ऐसी गेंदके समान की गई है जो आकाशमें ऊँचे फेंक दी गई हो (अङ्क ७, श्लोक ८)।

६. धार्मिक जीवन—योग्य पति पानेके लिये शकुन्तलाको उसकी सखियाँ उस समुचित घटनासे उपमा देती हुई बधाई देती हैं जिसमें होता-द्वारा धुएँसे ढकी हुई अग्नि न देखी जानेपर भी हव्य ठीक यज्ञकी अग्निमें ही गिरता हो। शकुन्तलाकी उपमा अच्छे शिष्यको दिये हुए ज्ञानसे दी गई है, क्योंकि ऐसे ज्ञानके नष्ट होनेकी चिन्ता कर्त्ताको नहीं करनी पड़ती (अङ्क ६)। मातलि-द्वारा बड़ी कठोरतासे पकड़े जानेपर विदूषक अपनी तुलना उस बलि-पशुसे करता है जो अब मारा ही जानेवाला हो (अङ्क ६)।

निम्नाङ्कित उपमाएँ, कर्म और मोक्षके दो धार्मिक सिद्धान्तोंको स्पष्ट करती हैं—

पूर्व जन्ममें किये गए अनेक कर्मोंका फल पकता है (अङ्क २, श्लोक १०) यदि किसी साधुको अप्सराओंने मोहित कर लिया तो उसके लिये मोक्ष पानेकी एकदम सम्भावना नहीं है (अङ्क ५)।

७. पुराण और अन्य साहित्य-ज्ञानके मूलसे ली गई उपमाओंसे स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक कथाओं और कहानियोंकी प्राचीन पुस्तकोंका कालिदासको बहुत गम्भीर ज्ञान था।

शिवजीका हरिणके पीछे दौड़नेकी कल्पना पुराणोंसे ली गई है (अङ्क १, श्लोक ६)। लक्ष्मीजी, जो सौन्दर्यका केवल एक ही माप-दण्ड हैं, यदि बढ़कर नहीं तो शकुन्तलाकी समतामें रक्खी हुई जान पड़ती हैं (अङ्क २, श्लोक ९)। दुविधामें पड़े हुए किंकर्त्तव्यविमूढ चित्तकी सटीक तुलना स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें लटके हुए त्रिशंकुसे की गई है (अङ्क २)। विशाखा

उपग्रह और चन्द्रकलाकी चर्चा (अंक ३) का मूल यह ज्योतिष तथ्य है कि विशाखा उपग्रह चन्द्रमाके पास उस समय दिखाई देता है जब कि आकाश धवल रहता है और बहुत तीव्रतासे चमकता है अर्थात् वैशाख और ज्येष्ठके महीनेमें ।

प्राचीन पौराणिक कथासे ययाति और शर्मिष्ठाका उल्लेख किया गया है (अंक ४, श्लोक ७) ।

कामनाओंपर आधिपत्य करनेवाले साधुओंके विरुद्ध मोहनेवाली युक्तियोंका प्रयोग करनेके लिये स्वर्गिक अप्सराओंका वर्णन अंक ५ में मिलता है ।

रथमें जोते हुए घोड़ोंके साथ सूर्यका और पृथ्वीका भार वहन करनेवाले शेषनागका वर्णन अंक ५, श्लोक ४ में मिलता है । सूर्यके सात घोड़े हैं, इसकी चर्चा अंक ६, श्लोक ३० में की गई है । सूर्यके सारथी अरुणके विषयमें कहा गया है कि वह अपने स्वामीसे शक्ति लेकर अन्धकारका नाश करता है (अंक ७, श्लोक ४) ।

विषोंका विष कालकूट, राजाके रनिवासके विषमय प्रभावको बतलाता है (अंक ६, श्लोक २१) ।

दुष्यन्त अपने उन पूर्व पुरुषोंका काल्पनिक चित्र खींचते हैं जो पुत्रके न रहनेपर आवश्यक पिण्डोदक नहीं पायेंगे (अंक ६, श्लोक २५) । दुष्यन्त और इन्द्रमें इसके अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है कि इन्द्रका रथ पृथ्वीपर उसे बिना स्पर्श किए चलता है और दुष्यन्तका स्पर्श करते हुए चलता है । मारीचके आश्रममें रहते हुए दुष्यन्त अपनेको गहरे अमृत-सरोवरमें बैठा हुआ समझते हैं, क्योंकि उस स्थानका वायुमण्डल आनन्दसे भरा हुआ है (अंक ७, श्लोक १) । रोहिणी और चन्द्रमाके प्रेमसे सम्बद्ध कथाके साथ-साथ चन्द्रग्रहणके पौराणिक अभिप्रायका प्रयोग अंक ७, श्लोक २२ में किया गया है, जिसमें शकुन्तला और दुष्यन्तका वियोग और संयोग दिखाया गया है । अंक ७, श्लोक २८ में दुष्यन्तकी तुलना इन्द्रसे, उनके पुत्रकी इन्द्रके पुत्र जयन्तसे और शकुन्तलाकी पौलोमीसे की गई है ।

दुष्यन्तने इन्द्रके वैरी असुरोंके कुलका नाश कर दिया, अतः उनकी तुलना विष्णुके चौथे अवतार नृसिंहसे की गई है (अंक ७, श्लोक ३) ।

८. ललित कलाएँ--कालिदासके ग्रन्थोंमें ललित कलाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले उद्धरण इस बातको सिद्ध करते हैं कि कवि होनेके अतिरिक्त उनको काव्यसे सम्बद्ध चित्रविद्या और गायन आदि अन्य कलाओंका भी बहुत गम्भीर ज्ञान और तत्सम्बन्धी आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि थी ।

प्रेक्षागृहमें रङ्गमञ्च के मधुर गानोंको उत्सुकता और ध्यानसे सुननेवाले श्रोताओंको चित्रखचित व्यक्तियोंका समूह कहा गया है (अंक १) । किस प्रकार कोई कलाकार एक आदर्श चित्र चित्रित करते समय उसमें सभी सुन्दर रूप निहित करनेका प्रयत्न करता है इसका बहुत अच्छा वर्णन अंक २, श्लोक ९ में मिलता है जहाँ राजा, शकुन्तलाके अपार सौन्दर्यसे चौंधियाकर उसकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक प्रकारकी भावावेगपूर्ण कल्पनाओंमें लीन हो जाता है । चित्रकलाका दूसरा सिद्धान्त कि चित्रमें बनाई हुई वस्तुएँ अपनी ऊँचाई-निचाईके अनुसार होनी चाहिए, अंक ६ में समझाया गया है, जहाँ राजा द्वारा बनाया हुआ चित्र विस्तारसे वर्णित है । उसी चित्रके वर्णनमें कहा गया है कि वह तपोवनके पौधोंको सींचनेके कारण किञ्चित् श्रान्त चित्रित की गई है । (अंक ६) ।

गायन-सम्बन्धी उपमाएँ 'शकुन्तला' में बहुत कम है, यद्यपि कालिदासके अन्य ग्रन्थोंमें और अधिक मिल जायँगी। गायनका आवेगमय रूप अंक ५ में निहित है जहाँ राजा अपनी प्रथम कृपापात्रा हंसपदिकाके गायनकी बड़ी प्रशंसा करता है।

९. मानसिक दशाएँ—परिष्कृत मस्तिष्क या विकृत मस्तिष्ककी दशाओंका वर्णन करनेवाली उपमाएँ और साथ ही साधारण अनुभवोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपमाएँ भी मिलती हैं—

पागलके प्रलापमें अनुबन्धकी आशा नहीं की जा सकती (अङ्क ४, श्लोक १)। कामोन्मत्त विचारोंके आवेगमें अपनी अगूँठीसे बातचीत करते हुए राजाकी तुलना पागलसे की गई है (अंक ६)। अन्धा मनुष्य अपने सिरपर फेंकी हुई मालाको भ्रम-वश सर्प समझता है (अङ्क ७, श्लोक २४)। स्वप्नमें अनुभव किए हुए, एक तान्त्रिक-द्वारा उत्पन्न किए गए अथवा मस्तिष्ककी तल्लीनताकी कमीसे पैदा हुए मति भ्रमोंकी ओर अङ्क ६, श्लोक १० में संकेत किया गया है।

पृथ्वीकी ओर सीधे उतरते हुए इन्द्रके रथकी अत्यन्त द्रुति गति एक प्रकारका ऐसा भ्रम उत्पन्न करती है मानो अचानक दृष्टिपथमें आते हुए पर्वत-शिखरोंसे पृथ्वी स्वयं नीचे उतर रही हो (अङ्क ७, श्लोक ८)। विश्वसनीय साक्ष्यपर आश्रित निष्कर्षके द्वारा किसी वस्तुके मिथ्याज्ञानसे सत्यज्ञानमें होनेवाले परिवर्तनका वर्णन अंक ७, श्लोक ३१ में किया गया है। अंक ७, श्लोक ३१ से हम जानते हैं कि कुछ विषयोंमें हमारी निजी अभिरुचि किस प्रकार मृत वस्तुओंको भी जीवित कर सकती है।

१०. भाव-जगत्—किसी भी ग्रन्थमें उपमाओंके प्रयोगका मुख्य तात्पर्य यह है कि स्थूल उदाहरणों-द्वारा सूक्ष्म भाव स्पष्ट किए जायँ। परन्तु शेली आदि कुछ आंग्ल कवियोंकी भाँति कालिदासको भी हम इस क्रमागत पद्धतिके विरुद्ध पाते हैं। बहुधा व्यक्तीकृत भाव उपमाका माप-दण्ड हो जाता है। भाव-सम्बन्धी उपमाओंके निम्नांकित उदाहरण हैं—

राजाके रथसे डरकर एक हाथी, कण्वके पवित्र लता-वितानमें इस प्रकार घुसता है मानो वह उनकी तपस्याका मूर्तिमान विघ्न हो (अंक १, श्लोक ३०)। अंक ७, श्लोक १३ में शकुन्तला, जो वास्तवमें राजाकी कामनाका लक्ष्य थी, स्वयं कामना-रूपमें अंकित की गई है। दुष्यन्त, शकुन्तला और उनके पुत्र सर्वदमनके प्रेम-मिलनकी उपमा विश्वास, भाग्य और कर्मके आकस्मिक योगसे दी गई है (अंक ७, श्लोक २९)। शकुन्तलाके निर्दोष सौन्दर्यकी तुलना महान् कृत्योंके पूर्ण फलसे की गई है (अंक २, श्लोक १०)। पश्चात्ताप करता हुआ राजा शकुन्तलासे अपने प्रथम प्रेम-प्रदर्शनकी तुलना उतने ही कम पारितोषिकसे करता है (अंक ६, श्लोक १०)।

दूसरे व्यक्तिकृत भावोंके उदाहरण भी प्रायः मिल जाते हैं—

दोषोंके कारण बहुतसे अनिष्ट होते हैं (अंक ६)। भाग्य सचमुच सर्वव्यापी है (अंक ६) महामनाकी महत्वाकांक्षाएँ वास्तवमें ऊँचे उड़ा करती हैं (अंक ७)। दुष्यन्तकी प्रसिद्धि स्वर्गके धरातल-पर स्थित है (अंक ७)। भूख विदूषकको प्रायः खा गई है (अंक ६)।

११. काव्य-सम्बन्धी या अन्य रूढ़ियाँ—

सभी संस्कृत-साहित्य-प्रेमियोंका सत्य कथन है कि बहुतसी भावनाएँ जो प्रारम्भमें आवेश और ओजसे भरी हुई थीं उनमें यद्यपि अतिशयोक्ति थी फिर भी वे पिछले खेवेके कवियोंके हाथमें पड़कर सर्वथा रुढ़िवद्ध और निर्जीव-सी हो गईं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि हमको शुद्धि स्वर्णके साथ-साथ कालिदासकी रचनाओंमें कुछ निम्न कोटिकी धातुओंका मिश्रण भी मिलता है यद्यपि उनमें कल्पनाकी कमियाँ भी पर्याप्त है।

काम-पीडित मनुष्यपर चन्द्रमाकी शीतल किरणें अग्निकी वर्षा करती हैं (अङ्क ३, श्लोक ३)। काम-पीडित मनुष्योंका रूढ वर्णन 'शकुन्तला' में भी वैसा ही है जैसा प्राचीन पुस्तकोंमें मिलता है, क्योंकि अनसूया यह आलोचना करती हुई पाई जाती है कि उपर्युक्त वर्णन उसकी सखी शकुन्तलाके लिये उपयुक्त ही है (अङ्क ३, श्लोक १४)। लताके साथ भौंहोंकी तुलना बहुत पुरानी है। (अङ्क ३, श्लोक १३)। कुमुदिनियोंपर चन्द्रमाका प्रभाव प्रायः सभी संस्कृत-काव्योंमें उद्धृत है, वह उपमाओंमें सबसे अधिक नीरस है (अंक ३, श्लोक १५)। पृथ्वी, राजाकी पत्नी समझी गई है (अंक ३, श्लोक १८)। चकवा-चकवीका वियोग एकदम रूढिगत है (अंक ३, श्लोक ३)। चन्दन वृक्षके वास-स्थान मलय पर्वतका वर्णन अंक ४, श्लोक १२ में मिलता है। कोकिलाके बच्चोंका पालन-पोषण कौओंके घोंसलों में होता है (अंक ५, श्लोक २२)। अब प्रकृतिवादी ही इस उक्तिके सत्यकी जाँच करें। कामदेवका धनुष और बाणसे सुसज्जित दिखलाना योरोपीय और संस्कृत काव्यमें समान है (अंक ५, श्लोक २३; अंक ६, श्लोक ४) आम्रमञ्जरी कामदेवका छठा अस्त्र है (अंक ६ श्लोक २३; अंक ६, श्लोक ८)। आम्रमञ्जरियोंको देखकर भ्रमरोंका मदमस्त होना यद्यपि स्वाभाविक है फिर भी यह काव्य-सौन्दर्य प्राप्त करनेके लिये एक प्रवेश-पत्र सा हो गया है (अंक ६)। दूध और जलके मिश्रणसे केवल दूध चूस लेना और जलको छोड़ देना हंस-पक्षीका विशेष गुण है। यह एक दीर्घकालिक कवि-समय है (अंक ६, श्लोक ८)।

कुछ साधारण निष्कर्ष —

उपरिलिखित विचारोंकी सारिणीसे भली भाँति स्पष्ट हो जायगा कि साधारण बातोंमें असाधारणके प्रति कालिदासकी भावुकता बहुत ही तीव्र थी। अपने विश्लेषणके निष्कर्षोंसे भी मुझे यह लिखनेमें प्रसन्नता है कि उनकी बुद्धि सचमुच विस्तृत थी और इस बुद्धिने अपने घेरेमें आई हुई प्रत्येक वस्तुको उचित स्थान दिया। उनका प्रकृति-ज्ञान एकदम नया था। दुष्यन्तके प्रथम प्रेमने एक स्थायी स्थान बना लिया है। वह कहता है —

न च निम्नादिव सलिलं निवर्तते मे ततो हृदयम्।

[अपने प्रेम-पात्रको छोड़ना मेरे लिये उतना ही असम्भव है जितना कि नीचे बहते हुए जलको ऊपर चढ़ा ले जाना।]

शब्द-चित्रमें कोई उपमा, पहले पशुओंकी खुरसे उठाई गई और फिर कण्वके तपोद्यानके वृक्षोंपर स्थित धूलसे अधिक कलाका प्रदर्शन नहीं करती। धूलके जमावकी तुलना टिड्डी दलसे की गई है —

शलभसमूह इव रेणु·········पतति। क्या यह उपमा कालिदासके प्राकृतिक दृष्टिकोणकी नवीनता नहीं सूचित करती ? क्या उनमें प्रत्यक्ष संकेतों-द्वारा वस्तु प्रदर्शित करनेकी विचित्र शक्ति नहीं है जिनको टेनिसन या ब्राउनिङ्ग या अन्य कवि और अधिकतासे दिखलाते हैं ?

उनके प्राकृतिक ज्ञानके सम्बन्धमें दूसरी ध्यान देने-योग्य बात यह है कि उन्होंने मनुष्य और प्रकृतिके बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची है। समाजमें मनुष्योंका सम्बन्ध पौधोंके पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा समझाया गया है। विशेषतः 'शकुन्तला' में वनस्पति और पशु-जीवनके सभी अन्तर बिल्कुल निकाल दिए गए हैं और पूर्ण जीवन हमारे समक्ष रखा गया है।

दुश्यन्तके सम्पूर्ण अनुभवका वर्णन विस्तारसे करनेके लिये कल्पनाके बहुत ही उत्कृष्ट रूपकी आवश्यकता है। उदाहरणार्थ — किस प्रकार नीचे उतरते समय पृथ्वी दुष्यन्तकी ओर लुढ़का दी गई सी जान पड़ती है, इसका प्राञ्जल वर्णन — अङ्क ७, श्लोक ८ में किया गया है। कालिदासके

समयमें वायुयान नहीं थे फिर भी विचित्रता यह है कि पूरा वर्णन, एच० जी० वेल्स-द्वारा अपने लेखमें दिए गए उस वर्णनसे मक्षिका स्थाने मक्षिका मिल जाता है जिसमें उन्होंने अपना प्रथम वैमानिक अनुभव हमें बताया है।

फिर भी मैं इस बातपर बल देता हूँ कि सभी उपमाएँ बुद्धिमत्ताकी सूझ नहीं हो सकतीं। संसारकी अन्य वस्तुओंके समान उपमाओंका भी अपना निजी सौन्दर्य होता है। प्रथम तो उन्हें उचित होना चाहिए। जब किसी पण्डितमानीने किसी ऊँची मीनारको देखकर इस प्रकार आलोचना की "यह गृहका कैसा निरर्थक वाक्यांश है" तो उसने सचमुच शिशुता या कवि होनेकी अपनी अयोग्यता प्रकट की।

कालिदासकी उपमाओंमें यह औचित्य निश्चय ही है, इसका विवरण कुछ उदाहरणोंसे चल जायेगा। प्रियंवदा अपनी सखी शकुन्तलाको योग्य पति पानेपर बधाई देते हुए कहती है—

दिष्टया धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।
वत्से! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता॥

उपमाओंका औचित्य और सदौर्य इस बातमें समझा जाता है कि कविमें यह शक्ति हो कि वह धार्मिक जीवनसे उदाहरण लेकर सांसारिक सम्बन्धको समझा दे।

दूसरी ओर विदूषकके हाथमें पड़कर प्रत्येक गम्भीर और पवित्र विचार असंस्कृत और हास्यास्पद हो जाते हैं। जब मातलि उसे भली प्रकार पीट चुकता है तो वह कहता है—

इष्टिपशुमारं मारितः।

दूसरे स्थलपर दुष्यन्तके प्रेमोन्मत्त हो जानेपर वह कहता है—

'लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तला व्याधिना'।

वर्ग्सनका हास्य-सिद्धान्त विदूषककी चरित्र-वृद्धिमें भली भाँति दिखाया गया है, क्योंकि आत्माके विषयमें बातचीत करते हुए सर्वदा शरीर और उसके असंस्कृत प्रेमकी ओर ही निर्देश करता है।

उपमाओंके अन्य गुण जैसे वैचित्र्य, वैविध्य आदिका विशेष रूपसे वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे ऊपर दी हुई उपमाओंके मूल स्रोतोंके विभागोंसे स्पष्ट हो गए हैं।

अँगरेजी साहित्यका विद्यार्थी मिल्टन अथवा होमरमें अधिकतासे मिलनेवाली लम्बी पूँछोंवाली उपमा न पाकर आश्चर्यमें पड़ जाता है। किसी विचारको जान-बूझकर पीट-पाटकर बढ़ाना, कृत्रिमता ही सूचित करता है, चाहे वह कितनी ही चतुराईसे क्यों न किया जाय, क्योंकि मौलिक रचनाके लिए वह किसी प्रकार भी सहायक नहीं है। बनावट कभी मौलिक रचनाके समकक्ष हो भी नहीं सकती। कालिदासकी प्रायः सभी उपमाएं सीधी-सादी हैं और वे भारतीय मस्तिष्कपर अपना प्रभाव डालती भी हैं क्योंकि वे उस भारतीय सभ्यताका चित्रण करती हैं जिसका पालन-पोषण वनमें हुआ है न कि यूनानी और रोमन सभ्यताकी भाँति नगरकी चहारदीवारीके भीतर। अतः उन सभीमें वह स्वातन्त्र्यकी झलक दिखाई देती है जो प्रकृतिके शक्तिशाली प्रभावके दैनिक सम्पर्कसे ही सम्भव है।

कालिदासकी छन्दोयोजना

[पण्डित श्री रामगोविन्द शुक्ल, न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य, काशी]

जैसे विभिन्न प्रकारके उच्चारणके लिये विभिन्न प्रकारसे कण्ठतालुके अभिघातोंका विधान है और जैसे विभिन्न प्रकारके वर्ण पृथक् पृथक् रस, भाव तथा अलंकार आदिके व्यञ्जक हैं वैसे ही उन-उन रसोंकी व्यञ्जनाके लिये भिन्न-भिन्न छन्दोंका भी विधान है। जैसे शृङ्गार रसके व्यञ्जक वर्णोंके द्वारा ही शृङ्गार रसकी सिद्धि होती है वैसे ही छन्दोंके विषयमें भी यह विचार किया गया है कि किस छन्दमें रचा हुआ काव्य किस रसकी पुष्टिके लिये अधिक उपयुक्त होगा। तात्पर्य यह है कि केवल शब्द-योजना ही काव्यमें रस-सिद्धिके लिये पर्याप्त नहीं होता, उसके लिये छन्दोयोजना भी उतनी ही अधिक अपेक्षित है। महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने सुवृत्त-तिलकमें कहा है कि—

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥

(काव्यमें रस तथा वर्णनीय वस्तुके अनुसार छन्दोयोजना ठीक समझकर छन्दोंका विनियोग करना चाहिए।)

छन्दोयोजनाका परिज्ञान तो उन महाकवियोंके काव्योंसे ही सम्भव है जिनकी वाग्धारा अविरल प्रवाह-द्वारा साहित्य तथा साहित्यकारोंको तृप्त करती रही है। आचार्य मम्मटने कहा है कि काव्य-निर्माणकी शक्ति होनेपर भी "काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः" की आवश्यकता रहती ही है। अतएव नये कवि अपने पूर्ववर्त्ती बड़े-बड़े कवियोंके बनाये हुए मार्गपर ही चलना उचित समझते हैं और तद्नुसार ऐसी परिपाटी बना लेते हैं जिससे पीछे आनेवाले कवि-बालक भटकते न फिरें, प्रत्युत उसी मार्गपर सावधानीसे पैर रखते हुए चले आवें। इसीलिये महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने सुवृत्ततिलक नामक ग्रन्थमें छन्दोयोजनाके विषयमें नियम लिखते हुए कहा है—

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तारसंग्रहे—
समोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥
शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम्
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु।
षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥
वसन्ततिलकं भाति सङ्करे वीररौद्रयोः।
कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ॥
उपपन्ने परिच्छेदकाले शिखरिणी मता।
औदार्यरुचिरौचित्य-विचारे हरिणी मता ॥
साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वीभरक्षमा।
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलक्रीडितं मतम्।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता ॥

दीर्घकतोटकनर्कुटयुक्तं मुक्तकमेव विराजति सूक्तम् ।
निर्विषयस्तु रसादिषु तेषां निर्नियमश्च सदा विनियोगः ।।

शेषाणामप्यनुक्तानां वृत्तानां विषयं विना ।
वैचित्र्यमात्रपात्राणां विनियोगो न दर्शितः ।।

इत्येष वश्यवचसां सर्ववृत्त-प्रसंगिनाम् ।
अदो विभागः सदवृत्तविनिवेशे विशेषवान् ।।

[किसी सर्गके आरम्भमें, कथाके विस्तारका संग्रह करनेमें, उपदेश या वृत्तान्त कथनमें अनुष्टुप् छन्दके प्रयोगकी प्रशंसा सज्जन लोग करते हैं। शृङ्गारके आलम्बन-स्वरूप उदार नायिकाके वर्णन और शृङ्गारके अंगभूत वसन्त आदिका वर्णन उपजाति छन्दमें करना चाहिए। भव्य चन्द्रोदय आदि विभावोंका वर्णन रथोद्धतामें और षाड्गुण्य आदि नीति-सम्बन्धी विषयोंका वर्णन वंशस्थ छन्दमें शोभन होता है। वीर और रौद्रके मेलमें वसन्ततिलका छन्द ठीक होता है और सर्गके अन्तमें द्रुत तालके समान मालिनी छन्दका प्रयोग करना चाहिए। अध्यायको अलग करने या प्रारम्भ करते समय शिखरिणी छन्द उचित होता है। उदारता, रुचि और औचित्य आदि गुणोंके वर्णनके लिये हरिणी छन्द ठीक है। आक्षेप, क्रोध और धिक्कारके लिये पृथ्वीभरक्षमा छन्द उचित है। वर्षा, प्रवास, विपत्ति आदिके वर्णनके लिये मन्दाक्रान्ता छन्द उपयुक्त है। राजाओंके शौर्यकी स्तुतिके लिये शार्दूलविक्रीडित तथा आँधी-बवंडरके वर्णनके लिये स्रग्धरा ठीक है। मुक्तक सूक्तियाँ दोधक, तोटक तथा नर्कुट छन्दमें अच्छी लगती हैं। जिन अन्य छन्दोंके प्रयोगका वर्णन नहीं किया गया है उनके विषय और प्रयोगके औचित्यका विचार कर लिया जा सकता है। कवि लोग उचित प्रकारसे यथास्थान उनका प्रयोग कर ही लेते हैं।]

महाकवि क्षेमेन्द्रकी दृष्टिमें कालिदासकी छन्दोयोजना इस प्रकार की है—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ।।

सुवर्णार्हंप्रबन्धेषु यथास्थान-निवेशिनाम् ।
रत्नानामपि वृत्तानां भवत्यभ्यधिका रुचिः ।।

महाकवि क्षेमेन्द्रका यह निर्देश सर्वथा सराहनीय है और छन्दोंके विषयमें पूर्णरूपसे यह विधान बन जाना चाहिए कि किस छन्दका कहाँ प्रयोग करना उचित और कहाँ अनुचित है जिससे नये कवियोंका उचित पथ प्रदर्शन हो सके। रीति-ग्रन्थकारोंने काव्यदोष गिनते हुए 'हतवृत्तता' नामक दोष भी लिखा है। उनका कहना है कि जो वृत्त, रसके स्वभावसे विपरीत पड़ता हो उसका प्रयोग उस रसके लिये करना ही हतवृत्तत्व दोष है। यहाँ केवल यही विचार किया जा रहा है कि महाकवि कालिदासने अपने काव्यमें किन रसों, भावों तथा वर्णनोंके लिये किन छन्दोंका प्रयोग किया है—

छन्द   विषय-भाव या रस

१. उपजाति—वंशवर्णन, तपस्या तथा नायक-नायिकाका सौन्दर्य ।
२. अनुष्टुप्—लम्बी कथाको संक्षिप्त करने तथा उपदेश देनेमें ।
३. वंशस्थ—वीरताके प्रकरणमें; चाहे युद्ध हो या युद्धकी तैयारी हो रही हो ।
४. वैतालीय—करुण रसमें ।
५. द्रुतविलम्बित—समृद्धिके वर्णनमें ।

६. रथोद्धता—जिस कर्मका परिणाम खेदके रूपमें परिणत हो, चाहे वह खेद रति-जनित हो, दुष्कर्म-जनित हो या पश्चात्ताप-जनित हो। अतः कामक्रीडा, आखेट आदिका वर्णन इसी छन्दमें है।

७. मन्दाक्रान्ता—प्रवास, विपत्ति तथा वर्षाके वर्णनमें।

८. मालिनी—सफलताके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमें।

९ प्रहर्षिणी—हर्षके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमें। यदि मध्यमें भी कहीं इसका प्रयोग है तो वहाँ भी दुःखकी धारामें हर्ष या हर्षकी धारामें हर्षातिरेक ही वर्णित है।

१०. हरिणी—जब नायकका अभ्युत्थान हो या सौभाग्यका वर्णन हो।

११. वसंततिलका—कार्यकी सफलतापर। ऋतु-वर्णनमें भी पुरुषोंकी सफलता या ऋतुकी सफलनापर तभी सिद्ध हो सकी है जब उसका उपभोक्ता उन वस्तुओंका उपभोग कर रहा हो।

इसी प्रकार सफलताके लिये प्रस्थान या प्राप्तिमें अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा, निराशाके साथ निवृत्तिमें तोटक, कृतकृत्यतामें शालिनी, वृथा वीरता-प्रदर्शनमें औपच्छन्दसिक, क्रीडाके वर्णनमें (चाहे कामक्रीडा हो या अन्य क्रीडा हो) रथोद्धता, संयोगसे स्वयंप्राप्त विपत्ति या सम्पत्तिमें स्वागता, घबराहटमें मत्तमयूर, प्रपञ्चोंका परित्याग करनेमें नाराच तथा वीरता आदिके वर्णनमें शार्दूलविक्रीडितका प्रयोग किया गया है।

महाकवि कालिदासने अपने छन्दोंके प्रयोग-द्वारा यह भी सिद्ध करने और समझानेका प्रयत्न किया है कि इन छन्दोंका प्रयोग किस रसमें करना चाहिए। जिस सर्गकी घटनाओंमें श्लोक-श्लोकपर भाव बदला है या घटना बदली है, ठीक उसीके अनुसार कविने छन्दोंमें भी गिन करके ही परिवर्तन किया है जिससे यह भी मानना अनुचित न होगा कि कविने अपने काव्यके द्वारा रसोंके अनुकूल छन्दोयोजनाकी शिक्षा भी दी है।

छंदोंका प्रयोग समझने और उनका प्रकरण जाननेके लिये छंदोंकी तालिका नीचे दी जाती है—

रघुवंश

प्रथम सर्ग	छन्द	लक्षण
१ से ९४ तक	अनुष्टुप्	लघुस्यात् पंचमं यत्र गुरुषष्ठं तु सप्तमम्। द्वितुर्यपादयोर्ह्रस्वमष्टाक्षरमनुष्टुभम्।
९५ वाँ	प्रहर्षिणी	म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्।
द्वितीय सर्ग		
१ से ७४	उपजाति	उपेन्द्रवज्रापदसंगतानि यदीन्द्रवज्राचरणानि च स्युः। तदोपजातिः कथिता कवीन्द्रैर्भेदा भवन्तीह चतुर्दशास्याः।
७५ वाँ	मालिनी	ननमयमयुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।
तृतीय सर्ग		
१ से ६९ तक	वंशस्थ	जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

७० वाँ	हरिणी	रसयुगहयैंस्नौं म्नौस्लौ गो यदा हरिणी तदा ।	

चतुर्थ सर्ग

१ से ८६ तक	अनुष्टुप्		(ऊपर देखो)
८७ से ८८ तक	प्रहर्षिणी		(ऊपर देखो)

पञ्चम सर्ग

१ से ६२ तक	उपजाति		(ऊपर देखो)
६३ से ७३ तक	वसन्ततिलका	उक्ता वसंततिलका तभजा जगौगः ।	
७४ से ७५ तक	मालिनी		(ऊपर देखो)
७६ वाँ	पुष्पिताग्रा	अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।	

षष्ठ सर्ग

१ से ८४ तक	उपजाति		(ऊपर देखो)
८५ वाँ	मालिनी		(ऊपर देखो)
८६ वाँ	पुष्पिताग्रा		(ऊपर देखो)

सप्तम सर्ग

१ से ६९ तक	उपजाति	द्वितीय सर्गमें,	(ऊपर देखो)
७० से ७१ तक	मालिनी	द्वितीय सर्गमें,	(ऊपर देखो)

अष्टम सर्ग

१ से ९० तक	वैतालीय	विषमे यदि षट्कलासमेऽष्टौ स्युस्ता इह नो निरन्तराः । न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ।	
९१ वाँ	तोटक	इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम् ।	
९२ वाँ	प्रहर्षिणी	प्रथम सर्गमें	(ऊपर देखो)
९३ से ९४ तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)
९५ वाँ	मन्दाक्रान्ता	मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौनतौ तद्गुरू चेत् ।	

नवम सर्ग

१ से ५४ तक	द्रुतविलम्बित	द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।	
५५ से ६३ तक	वसंततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)
६४ से ६५ तक	शालिनी	शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोब्धिलोकैः ।	
६६ वाँ	औपच्छंदसिक	चरमे यदि रेफयो भवेतामौपच्छन्दसिकं दलद्वये तत् ।	
६७ वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो)
६८ वाँ	रथोद्धता	रान्नराविह रथोद्धता लगौ ।	
६९ से ७० तक	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)
७१ से ७३ तक	स्वागता	स्वागतारनभगैर्गुरुणा च	
७४ वाँ	वैतालीय	अष्टम सर्गमें	(ऊपर देखो)
७५ वाँ	मत्तमयूर	वेदै रन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्	
७६ से ८२ तक	वसंततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)

दशम सर्ग

१ से ८५ तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्गमें	(ऊपर देखो)

८६ वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो)

एकादश सर्ग

१ से ९१ तक	रथोद्धता	नवम सर्गमें	(ऊपर देखो)
९२ वाँ	वसंततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)
९३ वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो)

द्वादश सर्ग

१ से १०१ तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्गमें	(ऊपर देखो)
१०२ वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो)
१०३ वाँ	वसंततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)
१०४ वाँ	नाराच	इह ननरचतुष्कसृष्टं तु नाराचमाचक्षते ।	

त्रयोदश सर्ग

१ से ६७ तक	उपजाति	द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो)
६८ से ७८ तक	वसंततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)
७९ वाँ	प्रहर्षिणी	प्रथम सर्गमें	(ऊपर देखो)

चतुर्दश सर्ग

१ से ८६ तक	उपजाति	द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो)
८७ वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्गमें	(ऊपर देखो)

पञ्चदश सर्ग

१ से १०२ तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्गमें	(ऊपर देखो)
१०३ वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्गमें	(ऊपर देखो)

षोडश सर्ग

१ से ८५ तक	उपजाति	द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो)
८६ वाँ	वसन्ततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)
८७ से ८९ तक	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्गमें	(ऊपर देखो)

सप्तदश सर्ग

१ से ८० तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्गमें	(ऊपर देखो)
८१ वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्गमें	(ऊपर देखो)

अष्टादश सर्ग

१ से ५१ तक	उपजाति	द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो)
५२ से ५३ तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)

एकोनविंशति सर्ग

१ से ५५ तक	रथोद्धता	नवम सर्गमें	(ऊपर देखो)
५६ वाँ	वसन्ततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)
५७ वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्गमें	(ऊपर देखो)

कुमारसम्भव

	छन्द	लक्षण	
प्रथम सर्गमें			
१ से ५९ तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	रघुवंश
६० वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	,,
दूसरा सर्ग			
१ से ६३ तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग	,,
६४ वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	,,
तीसरा सर्ग			
१ से ७४ तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	,,
७५ वाँ	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग	,,
७६ वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	,,
चौथा सर्ग			
१ से ४४ तक	वैतालीय	अष्टम सर्ग	,,
४५ वाँ	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग	,,
४६ वाँ	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्ग	,,
पाँचवाँ सर्ग			
१ से ८४ तक	वंशस्थ	तृतीय सर्ग	,,
८५ से ८६ तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्ग	,,
छठा सर्ग			
१ से ९४ तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग	,,
९५ वाँ	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्ग	,,
सातवाँ सर्ग			
१ से ४३ तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	,,
९४ से ९५ तक	मालिनी	द्वितीय सर्ग	,,
आठवाँ सर्ग			
१ से ९० तक	रथोद्धता	नवम सर्ग	,,
९१ वाँ	मालिनी	द्वितीय सर्ग	,,
नवाँ सर्ग			
१ से ५१ तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	,,
५२ वाँ	पुष्पिताग्रा	पंचम सर्ग	,,
दसवाँ सर्ग			
१ से ५९ तक	अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग	,,
६० वाँ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग	,,
ग्यारहवाँ सर्ग			
१ से ४९ तक	उपजाति	द्वितीय सर्ग	,,

५० वाँ	हरिणी		तृतीय सर्ग रघुवंश
बारहवाँ सर्ग			
१ से ५९ तक	उपजाति		द्वितीय सर्ग ,,
६० वाँ	हरिणी		तृतीय सर्ग ,,
तेरहवाँ सर्ग			
१ से ५० तक	उपजाति		तृतीय सर्ग ,,
५१ वाँ	मालिनी		द्वितीय सर्ग ,,
चौदहवाँ सर्ग			
१ से ४९ तक	वंशस्थ		तृतीय सर्ग ,,
५० वाँ	मालिनी		द्वितीय सर्ग ,,
पंद्रहवाँ सर्ग			
१ से ५२ तक	वंशस्थ		तृतीय सर्ग ,,
५३ वाँ	शार्दूलविक्रीडित	सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।	,,
सोलहवाँ सर्ग			
१ से ४९ तक	अनुष्टुप्		प्रथम सर्ग ,,
५० वाँ	हरिणी		तृतीय सर्ग ,,
सत्रहवाँ सर्ग			
१ से ५३ तक	वसन्ततिलका		पंचम सर्ग ,,
५४ वाँ	पुष्पिताग्रा		पंचम सर्ग ,,
५५ वाँ	मालिनी		द्वितीय सर्ग ,,

मेघदूत

पूर्वमेघ **उत्तरमेघ**	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्ग ,,

ऋतुसंहार काव्य

प्रथम सर्ग		
१ से २१ तक	उपजाति	सभी छन्दोंके लक्षण ऊपर आ चुके हैं।
२२ से २८ तक	मालिनी	
दूसरा सर्ग		
१ से २० तक	उपजाति	
२१ से २२ तक	वसन्ततिलका	
२३ से २९ तक	मालिनी	

तीसरा सर्ग

१ से २२ तक	वसन्ततिलका
२२ से २८ तक	मालिनी

चौथा सर्ग

१ से १३ तक	उपजाति
१४ से १८ तक	वसन्ततिलका
१९ वाँ	मालिनी

पाचवाँ सर्ग

१ से १० तक	उपजाति
१२ से १३ तक	मालिनी

छठा सर्ग

१ से १० तक	उपजाति
११ वाँ	वसन्ततिलका
१२ से १८ तक	उपजाति
१९ से २८ तक	वसन्ततिलका
२९ से ३७ तक	मालिनी
३८ वाँ	शार्दूलविक्रीडित

महाकवि कालिदास केवल संस्कृत-पिंगलके ही ज्ञाता नहीं थे, उन्होंने विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अंकमें प्राकृत और अपभ्रंशके छन्दों और नाटच-रीतियोंका भी प्रयोग किया है। इस प्रकार महाकविने वस्तु, भाव तथा रसके प्रभावको स्थिर तथा पुष्ट रखनेके लिये योग्य छन्दोंका प्रयोग करके अपनी छन्दो-योजना-शक्तिका भी अत्यन्त भव्य परिचय दिया है।

अभिधान-कोष

[सीताराम चतुर्वेदी]

अ

अंशुमान्—सूर्यवंशी राजा सगरका पौत्र असमंजसका पुत्र। (देखो सगर)

अक्षत—चावलके समूचे दाने जो देवपूजाके काममें आते हैं।

अगस्त्य—१. ऋषि, जिनका जन्म घड़ेसे हुआ था, जिन्होंने समुद्र सोख लिया था और जिनके कहनेसे विन्ध्यपर्वत लेट गया था। 'अगं विन्ध्याचलं स्त्याययति इति अगस्त्यः।' ऋग्वेदके अनुसार यज्ञस्थलमें उर्वशीको देखकर मित्र और वरुणका वीर्य स्खलित होकर यज्ञके कुम्भमें जा गिरा, उसीसे वशिष्ठ और अगस्त्यकी उत्पत्ति हुई। लोपामुद्रासे अगस्त्यका विवाह हुआ। अगस्त्यका आश्रम गोदावरीके उत्तर तटपर दण्डकारण्यमें विदर्भ (वर्तमान बरार) की पूर्वोत्तर सीमापर था। देवताओंके अनुरोध से इन्होंने समुद्र सोख डाला, इल्वल और वातापि असुरोंको नष्ट कर डाला तथा जब विंध्याचलने सूर्यका पथ रोक लिया था, उस समय इन्होंने उसे नीचे लिटा दिया था।

विद्वानोंका विश्वास है कि अगस्त्यको स्मरण करते हुए यह श्लोक पढ़नेसे अजीर्ण दूर हो जाता है—

आतापी मारितो येन वातापी च महाबलः।
समुद्रः शोषितो येन स मेऽगस्त्यः प्रसीदतु॥

२—तारा, जो दक्षिण दिशामें सौर भाद्रपद मासके सत्रहवें दिन उदय होता है। यह तारा जब उदित हो जाता है तब वर्षा समाप्त हो जाती है।

३—वृक्ष, जिसमें द्वितीयाके चन्द्रमा के आकारके फूल लगते हैं।

अगुरु—सुगन्धित काष्ठ। इसके धुएँसे महिलाएँ अपने केश सुगन्धित किया करती थीं। अगर चन्दन। यह देखनेमें काला, पर पत्थरपर घिसनेसे सुन्दर पीले रंगका हो जाता है। इसका पेड़ बहुत बड़ा होता है और सिलहटके पहाड़ी जंगलमें उगता है। इसीके पुराने वृक्षसे गुग्गुल-जैसी एक प्रकारकी गोंद निकलती है जिसे पीसकर आगपर डालनेसे मीठी सुगंध निकलती है।

अग्नि—आग्नेय-कोण (दक्षिण-पूर्व दिशा)-के अधिष्ठाता देवता। अग्निके तीन प्रकार हैं—दावाग्नि, जठराग्नि, वाडवाग्नि। चौथी ज्ञानाग्नि या योगाग्नि है।

दावाग्नि—लकड़ीकी आग; (जठराग्नि; पेट की आग जो भोजन पचाती है; वाडवाग्नि समुद्रकी अग्नि।)

अग्निहोत्र—यज्ञ विशेष। एक मासमें इस यज्ञका उद्यापन किया जाता है फिर यावज्जीवन यह यज्ञ करनेवालेको प्रातः और संध्याको होम करना पड़ता है और अमावस्या तथा पूर्णमासीको दर्शपौर्णमासेष्टि करनी पड़ती है।

अङ्क—किसी नाटकका एक कार्य जितने अंशमें पूर्ण होता है उसे अंक कहते हैं।

अंक्य—वे बाजे, जो गोदमें रखकर बजाए जाते हैं। जैसे—मृदंग, ढोलक, पखावज।

अंगराग—वे सब सुगन्धित पदार्थ-चन्दन, कपूर, अगर, पराग, आलता आदि जिन्हें लेप करनेसे शरीरमें सुगन्ध और शोभा आती है।

अंगिरा या अंगिरस् ऋषि—ब्रह्माके द्वितीय पुत्र। इनकी पत्नी शुभा और पुत्र बृहस्पति हुए। एक बार महर्षि अंगिराने इतना कठोर तप किया कि उनकी ज्योतिसे सारा

संसार भर गया। उन्हीं दिनों अग्निदेव भी तपस्या कर रहे थे। जब अंगिराके तेजसे अग्निको अपना तेज मन्द जान पड़ने लगा तब उन्होंने सोचा कि क्या ब्रह्माने दूसरी अग्निका निर्माण कर दिया है, तब अंगिराने अग्निसे कहा कि आप अपना अधिकार ले लीजिए, मैं आपका पुत्र बनूँगा। तभीसे बृहस्पतिके नामसे वे अग्निके पुत्र बने।

(देखो अत्रि भी)

अजगर---'अजं छागं गिरति' जो साँप, बकरेको भी निगल जाय। यह पहाड़ी साँप एशिया और अफ्रीकामें होता है। इसे अंग्रेजी में पाइथन और अमेरिकामें 'बोआ कंस्टिक्टर' कहते हैं। यह बकरे, मेंढ़े, हरिण, भैंसे और चीतेतकको निगल जाता है या लिपटकर उन्हें जकड़कर मार डालता है।

अञ्जना--सुमेरु पर्वतके पासवाले प्रदेशमें रहनेवाले वानरराज केसरी नामके वानरकी पत्नी थीं। इनके गर्भसे पवनके सम्बन्धसे हनुमानजीका जन्म हुआ। ये बड़ी धीर, वीर नारी थीं। जब लंका विजयके पश्चात् हनुमान्जी इनसे मिलने गए तब इन्होंने हनुमान्जीको डाँटते हुए कहा कि तू रावण-जैसे अत्यन्त सामान्य व्यक्तिसे युद्ध करने क्यों गया। तुझे तो चाहिए था कि अपने दसों नखोंसे रावणके दसों सिर नोच लाता, अशोकवनके साथ सीताको लाकर रामके पास पहुँचा देता और अपना शरीर फैलाकर समुद्रपर पुल बना देता।

अञ्जलि--दोनों हाथोंकी हथेलियों और उँगलियोंको मिलाकर उसे इस प्रकार बना लेना कि उसमें पानी या कोई वस्तु भरी जा सके।

अट्टहास---'अट्टेन अतिशयेन हासः। ठठाकर या ठहाका मारकर हँसना!

अणिमा --यह एक ऐश्वर्य सिद्धि है जिसके सध जानेपर मनुष्य अत्यन्त सूक्ष्म रूप बना सकता है ऐसी आठ सिद्धियाँ हैं---

अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा कामावसायिता।
[अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता (वैराग्य)।

अतिबला--बला और अतिबला नामकी दो विद्याएँ विश्वामित्रजीने राम-लक्ष्मणको उस समय सिखाई थीं जब वे विश्वामित्रजीके साथ उनके यज्ञकी रक्षाके लिये चले जा रहे थे। इन विद्याओंके ग्रहण करनेसे थकावट, भूख, प्यास, गर्मी कुछ नहीं सताती, कोई कुछ हानि नहीं कर सकता, अपार बलवीर्य सौभाग्य, उदारता, ज्ञान, विज्ञान मिल जाता है। मार्गमें इनका पाठ करनेसे कोई भय नहीं होता। ये तेजस्विनी विद्याएँ पितामह ब्रह्माकी कन्याएँ हैं।

अतिमुक्त (लता)--तिनसुनेका पेड़, माधवी लता, मोगरा।

अत्रि --सप्तऋषियोंमेंसे एक ऋषि जो ब्रह्माके चक्षुसे उत्पन्न हुए थे। कर्दम ऋषिकी पुत्री अनसूयाजी इनकी पत्नी हैं। दत्तात्रैय, दुर्वासा और चन्द्र इनके पुत्र हैं। मनुसे उत्पन्न दस प्रजापतियोंमें से ये एक थे---

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुं।
प्रचेतसं वशिष्ठञ्च भृगुं नारदमेव च॥
[मनु० १।३५]

जिन सप्तर्षियोंमें इनकी गिनतो होती है वे हैं---

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतु,।
ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः, वशिष्ठश्चेति सप्त ते॥

अदिति---ये दक्षकी पुत्री और मरीचिके पुत्र कश्यपकी पत्नी है। ये देवमाता और दाक्षायणी कहलाती हैं।

अंतःपुर--रनिवास। राजभवनमें रानियोंके निवास और विलास स्थान।

अंतपाल (दुर्ग)--राज्यकी सीमापर बना

हुआ वह दुर्ग जिससे राज्यपर बाहरके शत्रुओंके आक्रमणसे रक्षा की जा सके। 'अन्तं सीमानं पालयति इति अन्तपालः।'

अंतर्धान—अपने भीतर छिप जाना। अदृश्य हो जाना।

अनसूया—अत्रि मुनिकी पत्नी तथा कर्दम ऋषिकी पुत्री। (देखो अत्रि)

अनुदात्त—(स्वर) जब कोई स्वर बल देकर न बोला जाय तब उसे अनुदात्त कहते हैं। नीचैरनुदात्तः जैसे उ। शिक्षाशास्त्रमें लिखा है—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।
दीर्घो ह्रस्वो प्लुतश्चेति कालतो नियमस्त्वचि॥

(उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर होते हैं, जो उनके उच्चारणमें लगनेवाले समयके अनुसार दीर्घ, ह्रस्व और प्लुत कहलाते हैं। इसके अनुसार अ, इ, उ, अनुदात्त हैं, आ ई, ऊ उदात्त हैं तथा आ ऽऽ, ई ऽऽ, ऊ ऽऽ स्वरित हैं।)

अंधक—दितिके गर्भसे और कश्यपके औरस (वीर्य) से इस दैत्यका जन्म हुआ था। इसके अत्याचारसे ऊबकर महादेवजीने इसे मार डाला था।

अपराजिता (विद्या)—वह विद्या जिसके सीख लेनेपर कभी हार न हो।

अप्सरातीर्थ—या अप्सरस्तीर्थ—१. वह तीर्थ या स्थान जहाँ अप्सराएँ रहती हो। २. आकाश-गंगाका वह घाट जहाँ अप्सराएँ स्नान करती हैं। ३. अप्सराके समान रूपवाली।

अभिनय—'अभिनयति हृदन्तर्भावान्प्रकाशयति।' नाटकमें निर्दिष्ट पात्रोंके अनुसार वेशभूषा धारण करके उसके लिये निर्दिष्ट वाग्व्यापार और क्रियाओंका अनुकरण करके दिखाना अभिनय कहलाता है। अभिनय चार प्रकारका होता है—आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। नेत्र, सिर, हाथ, पैर आदि-अंग चलाकर अभिनय करना आंगिक कहलाता है। वाणीके उतारचढ़ावसे बोलनेका अभिनय वाचिक कहलाता है। आँसू, कम्प, पसीना निकलने आदिका अनुकरण सात्त्विक कहलाता है और नाटकीय पात्रोंके अनुसार वेशभूषा धारण करना आहार्य कहलाता है।

अभिसारिका—'अभिसरति, अभिसारयति वा संकेतस्थानम्।' किसी निश्चित स्थानपर मिलनेका संकेत करके अपने प्रेमीके पास जाने वाली नायिकाको अभिसारिका कहते हैं।

अभिसारयति कान्तं या मन्मथेऽस्य वशंवदा।
स्वयं वाऽभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका॥
(साहित्यदर्पण)

जो स्त्री काम-पीडित होकर अपने प्रियको सहेट या संकेत-स्थलको भेज दे या स्वयं वहाँ जाय उसे अभिसारिका कहते हैं। ये तीन प्रकार की होती हैं, १—दिवाभिसारिका, जो दिनमें प्रियसे मिलने जाय, २—शुक्लाभिसारिका (ज्योत्स्नाभिसारिका) जो श्वेत वस्त्र पहनकर चाँदनी रातमें मिलने जाय और ३—कृष्णाभिसारिका (अंधकाराभिसारिका) जो अँधेरी रातमें काले कपड़े पहनकर मिलने जाय।

अमरावती—'अमरा देवा विद्यन्ते यस्यां सा' इन्द्रपुरी विश्वकर्माने सुमेरु पर्वतपर इसका निर्माण किया। यहाँ किसीको बुढ़ापा, मृत्यु, शोक और ताप कुछ भी नहीं सताता। यहींपर कामधेनु गौ, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, अप्सराएँ और नंदनवनके पाँच प्रकारके वृक्ष हैं—मंदार, पारिजात, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचंदन। इस पुरीके भीतरसे अलकनंदा बहती है, इन्द्र यहाँके स्वामी हैं। विद्वानोंका अनुमान है कि तुर्किस्तानमें बोखाराके पास इन्द्रालय नामक स्थान ही अमरावती और वर्तमान ओक्षस् नदी ही अलकनंदा है।

अमात्य-परिषद् राजाओंकी सहायताके

लिये मंत्रिमंडल, जो विभिन्न विषयोंपर राजाको मन्त्रणा देता था ।

अमृत—राजा पृथुके भयसे पृथ्वीने गोरूप धारण किया था । देवोंने इन्द्रको वत्स बनाकर सुवर्ण पात्रमें गोरूप पृथ्वीको दूहा । उसके स्तनसे अमृत निकला था । पीछे दुर्वासाके शापसे वही अमृत समुद्रमें जा गिरा । तब देवताओं और असुरोंने शेषनागको रस्सी और मंदराचलको मथानी बनाकर क्षीरसागरको मथा, जिससे १४ रत्न निकले जिनमें अमृतका कलश भी था ।

अमृतकिरण—चन्द्रमा जिसकी किरणमें अमृत रहता है । चन्द्रमाको ओषधीनां पतिः कहते हैं और यह माना जाता है कि जड़ी-बूटियोंमें चन्द्रमाकी किरणोंसे ही गुण आता है ।

अंबिका—दुर्गा वा पार्वतीका एक रूप ।

अयोध्या—सूर्यवंशी राजाओंकी राजधानी । यहाँके राजाओंको युद्धमें कोई परास्त नहीं कर सकता था इसीसे इसका नाम अयोध्या पड़ा । यह सरयू नदीके तटपर स्थित कोशल (कोसल) की राजधानी थी । यह उस समयकी सात मुख्य पुरियोंमें थी ।

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची ह्यवन्तिका ॥
पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः पुरयः स्मृताः ॥

अरणि—वह लकड़ी जिसे रगड़नेसे आग निकले । यज्ञमें एक लकड़ीपर बरमेके समान दूसरी लकड़ी खड़ी करके रगड़ी जाती थी जिससे अग्नि उत्पन्न होती थी । इसके दो भाग होते हैं:—अधरारणि और उत्तरारणि और यह शमीमें उगनेवाले पीपलसे तैयार होती है । उत्तरारणि (ऊपरवाली लकड़ी) को अधरारणि (नीचेवाली अरणि)-के छेद में डालकर मथानीके समान रस्सीके चलानेपर छेदके नीचे रक्खा हुआ कुश जल उठता है और यही अरणि-मंथनसे निकली हुई अग्नि यज्ञ में काम आती है ।

अरुण—१—सूर्यका सारथी, यह विनता तथा कश्यपका पुत्र था । अपनी सौत कद्रूने बच्चोंको चलते-फिरते देखकर इसकी माताने अपने दो अंडोंमेंसे एक को फोड़ दिया जिससे कमरतक शरीरवाला अरुण, अनूरु या विपादका जन्म हुआ । अपनी माताके कुकृत्यपर खीझकर इसने उसे ५०० वर्षोंतक सौतकी दासी होनेका शाप दिया पर साथ ही कहा कि दूसरे अंडेसे उत्पन्न गरुड़ तुम्हारा उद्धार करेगा । इसने अपने योगबलसे सूर्यका तेज निगल लिया और फिर देवताओंके कहनेसे सूर्यका सारथी बना । इसकी पत्नी श्येनीसे इसके तीन पुत्र संपाति, जटायु और श्येन हुए । २—सूर्य, ३—प्रातःकालकी लालिमा ।

अरुन्धती—१—वशिष्ठजीजी पत्नी तथा कर्दम ऋषिकी कन्या । २—आकाशमें सप्तर्षियोंमेंसे वशिष्ठ तारेके पास एक छोटासा तारा; जो ऐसे लोगोंको नहीं दिखाई देता जिनकी आयु समाप्त होनेवाली हो ।

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥

[जिनकी आयु पूरी हो चलती है वे न तो बुझाए गए दीपककी गंध सूँघ पाते हैं, न मित्रोंकी बात सुन पाते हैं और न अरुन्धतीको देख पाते हैं ।] ३—जिह्वाका नामभी अरुन्धती है इसलिए मृत्यु समीप आनेपर जिह्वाका अग्रभाग भी नहीं दिखाई देता है ।]

अर्गला—द्वारके किवाड़ बन्द करके उसके पीछे लकड़ी या लोहेका मूसल जो द्वारके दोनों ओरवाले छेदोंमें आर-पार डाल दिया जाता है जिससे सांकल खुली रहनेपर भी धक्का देनेसे द्वार न खुले ।

अर्घ्य—१—अपने घर आए हुए अतिथि या देवताको हाथ धोनेके लिये जो जल देते हैं उसे अर्घ्य कहते हैं । २—पूजनके लिये जल,

दूर्वा, कुशकी फुनगी, दही, सरसों, चावल और जौ। ३–कहीं-कहीं दूब और चावल आदि पूजाकी सामग्री।

अर्जुन (वृक्ष)—इसका पेड़ अमरूदके पेड़ जैसा होता है और इसकी पत्ती और छाल भी अमरूद जैसी होती है। इसके छोटे और श्वेत फूलोंमें बड़ी तीखी और मीठी गंध होती है। इसका पेड़ अमरूदके पेड़से बहुत बड़ा अवध, बंगाल, मध्यभारत और दक्षिणमें बहुत होता है। इसे ककुभ और करवीरक भी कहते हैं। इसकी लाल रंगकी छाल अत्यन्त बलवर्धक होती है यह छाल चमड़ेको चिकना करने एवं कपड़ा रंगनेके काम आती है। यह हृदय-रोगकी अचूक औषधि है। इसके काढ़ेसे धो देनेपर घाव सूख जाता है और हड्डी टूटनेपर इसका चूर्ण फाँकनेपर पीड़ा कम हो जाती है। और हड्डी जुड़ जाती है।

अर्थ (पुरुषार्थ)—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार पुरुषार्थोंमें से एक। धन, संपत्ति। अर्थ तीन प्रकारका होता है शुक्ल, शवल और कृष्ण। अपने-अपने वर्णके अनुसार कार्यके द्वारा उपार्जित धनको शुक्ल, अपनेसे नीच वर्णकी वृत्ति द्वारा कमाया हुआ शवल, और जुआ चोरी ठगी, परपीडन आदिसे उपार्जित किया हुआ धन कृष्ण कहलाता है।

अर्धचन्द्र (बाण)- एक प्रकारका वाण, जिसका फल आधे चन्द्रमाके आकारका होता है।

अलकापुरी-हिमालयपर बसी हुई कुवेरकी नगरी जिसमें शिवजी भी रहते हैं। इसका वर्णन उत्तर मेघदूतमें देखिए।

अवन्ति (देश)—मालव देश और उसकी राजधानी उज्जयिनी। विशाला, अवन्ती और उज्जयिनी तीनों इनके नाम हैं। अवन्ती नगरी शिप्रा (सिप्रा) के तटपर मालवामें बसी हुई है। वहीं महाकाल महादेवजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। ईसाके जन्मसे ५७ वर्ष पूर्व महाराज विक्रमादित्य यहाँके राजा थे। यहीं सान्दीपनि आचार्य भी रहते थे जिनके यहाँ बलराम और श्रीकृष्ण अस्त्र-विद्या सीखने गए थे। शिप्रा नदीका भी दूसरा नाम अवन्ती है।

अशोक (वृक्ष)—एक प्रकारका वृक्ष जिसके पत्ते पीलापन लिए हुए लहरिया हरे तथा जिसके फूल लाल और पीले होते हैं। अशोक दो प्रकारका होता है–रक्तशोक और पीतशोक। चैत्र शुक्ल अष्टमीको अशोककी आठ कलियाँ खा लेनेसे शोक नहीं रहता। खाते समय यह श्लोक पढ़े—

त्वामशोक हरामीष्ट ! मधुमाससमुद्भव।
पिवामि शोकसन्तप्तो मामशोकं सदा कुरु॥

कहा जाता है कि स्त्रियोंकी लात पड़नेसे अशोक फूल उठता है—'पादाघातादशोकः।' इसे बकुल, वंजुल, चित्र भी कहते हैं। यह लीची या नागकेशरके पेड़ जैसा होता है और वसन्तमें फूलता है। इसके पत्ते लहरियादार होते हैं जो उत्सवोंमें सजानेके काम आते हैं। इसके फल गुच्छेदार हलके गुलाबी रंगके होते हैं। इसकी छाल ठण्डी और कड़वी होती है जिससे प्यास, जलन, पेटके कीड़े, मूत्रापन और विष दूर होता है। स्त्रियोंके रजोदोषमें इसकी छालका काढ़ा दिया जाता है।

अश्वमेध—जो लोग स्वर्गका राज्य चाहते हैं वे सौ अश्वमेध यज्ञ करते हैं। इसमें नियम यह है कि एक घोड़ा छोड़ दिया जाता है और वह जब चारों ओरसे घूमकर आता है तब उसकी बलि दी जाती है। इस यज्ञका बड़ा माहात्म्य समझा जाता है। इस यज्ञके घोड़े श्यामकर्ण अर्थात् काले कानवाले होते हैं।

अश्विनी—(दक्षकन्या, चन्द्रपत्नी)—२७ नक्षत्रोंमें पहला नक्षत्र। यह चन्द्रकी पत्नी मानी जाती है। दक्षकी ६० कन्याओंमें दो अंगिराके, दो कृशाश्वको, १० धर्मको और २७ चन्द्रको व्याही गईं। अश्विनी, भरणी,

कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती, ये चन्द्रकी २७ पत्नियाँ मानी गई हैं।

अश्विनीकुमार सूर्यके जुड़वाँ पुत्र, जो सूर्यके औरस और विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञासे उत्पन्न हुए हैं। ये देवताओंके वैद्य हैं जिनका यौवन और सौन्दर्य शाश्वत हैं। संज्ञाका दूसरा नाम अश्विनी भी है, अतः ये अश्विनीकुमार कहलाते हैं।

अष्टमूर्ति – शिव। जिनकी आठ मूर्तियाँ हैं—जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु।

अस्ताचल —पश्चिम दिशामें कल्पित पर्वत जहाँ संध्याके समय सूर्य अस्त होता माना जाता है।

अस्त्र —१-फेंककर मारे जानेवाले हथियार, बाण, बर्छा, चक्र आदि। २—धनुष, करवाल तथा अन्य हथियार।

असिधार —(या असिधारा व्रत) जिसमें कोई सुन्दर युवा अपनी युवती पत्नीके साथ पतिभावसे रहते हुए भी कामभावसे संग न करे। इस व्रतके टूटनेपर नरकमें असिधारा अर्थात् तलवारकी धारकी चोट लगती है। जैसे कोई तलवारकी धारपर चलकर बिना चोट खाए नहीं रह सकता, वैसे ही इस व्रतमें अडिग रहना बड़ा कठिन है। इसीलिये किसी कठिन कामके प्रयत्नको असिधारा-व्रत कहते हैं।

अहल्या —गौतम ऋषिकी पत्नी अहल्याके नाम जपनेसे महापान नष्ट हो जाते हैं—

अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मंदोदरी तथा।
पंचकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

[ये वृद्धाश्वकी कन्या थीं, इन्द्रने छलसे गौतमका रूप धारण करके अहल्याका पातिव्रत्य धर्म नष्ट किया इसपर गौतमने इन्द्रको शाप दिया कि तुम्हारे शरीर भरमें योनि हो जाय और अहल्या को शाप देकर पत्थर बना दिया। त्रेतामें रामके चरणस्पर्शसे अहल्याका शाप छूटा।] ये पाँचों सदा कन्या ही बनी रहीं, कभी वृद्धा नहीं हुईं।

आ

आकाशगंगा—१-आकाशमें बहनेवाली गंगा। आकाश नदी भी इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। इसका दूसरा नाम है मन्दाकिनी। २—नक्षत्र-मंडल विशेष—यह आकाशमें उत्तरसे दक्षिणतक विस्तृत है। ग्रामीण लोग इसे आकाश जनेऊ, हाथीकी सूँड़ या प्रेत-मार्ग कहते हैं। इसे छायापथ भी कहते कहते हैं। यह अरबों तारों का समूह है।

आदित्य —आङ् पूर्वात् दाते दीप्यते वा। आदित्य १२ हैं—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र एवं उपक्रम।

आन्वीक्षिकी—१. 'दण्डनीतिस्तर्कविद्याऽर्थशास्त्रयोः। (दण्डनीति, तर्क विद्या और अर्थशास्त्र।)

२—गौतम-प्रणीत आत्म-विद्या। अक्षपादने पाँच अध्यायोंमें इसे पूरा किया है। प्रथममें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह। इन सबके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष मिलता है।

आम्रकूट —अमरकंटक नामक पर्वत जो बुंदेलखंडके रीवाँ राज्यमें पड़ता है। शोण और नर्मदा नदी इसीसे निकली हैं। यहीं नर्मदा नदीके चारों ओर मन्दिर बने हैं। विन्ध्याचलके सतपुड़ा पर्वतका यह भाग हिन्दुओंका पवित्र तीर्थ है और यहीं प्रतिवर्ष मेला लगता है।

आलिग्य (वाद्य)—जो हाथमें लिपटाकर शरीरसे चिपटाकर बजाया जाता है। मृदंग, ढोल, महुवरी और मसक आदि।

आश्रम—१ मुनियोंका स्थान, २—मठ,

२-तपोवन, ४-मुक्त व्यक्ति (परमेश्वरमें लीन रहने तथा श्रम न रहनेसे मुक्त व्यक्तिको भी आश्रम कहते हैं।) ५-ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासीका शास्त्रोक्त चार प्रकारका धर्म विशेष।

आसन (वृक्ष) या असन या अशन-- पीतशालका वृक्ष। इसे मारवाड़ीमें आसन, हिन्दीमें सज्ज और उड़ियामें पियासाल कहते हैं। इसका पेड़ बहुत बड़ा होता है । इसकी ऊपरी लकड़ी भूरी काले दागवाली, अत्यन्त कठोर और पक्की होती है। आसनकी पक्की लकड़ीमें पौलिश अच्छी लगती है। इसके भीतरकी लकड़ीमें लाल दूध होता है। नेपालीमें इसे वंगी काठ कहते हैं। इसकी लकडी धुंधले रंगकी, उजली और कोमल होती है। एक प्रकारका और भी आसन वृक्ष होता है जिसे पंजाबमें पाथर कहते हैं। इसकी भी लकडी धुँधले रंगकी होती है। भीग जाने या कच्ची रहनेपर इसमें पीला दाग पड़ जाता है। पंजाब, दक्षिण और ब्रह्मामें आसन नामकी एक लकड़ी होती है, जो ऊपर श्वेत और लाल होती है तथा भीतरसे भूरी, काली, कठोर और लहरदार रेखावाली होती है। शिमला पहाड़पर भी बैलून नामका आसनका पेड़ होता है जिसे पंजाबीमें सफेदा या आसन कहते हैं।

आसव--१. एक प्रकारका मद्य, २. चीनी या गुड़की ताजा शराब, ३. आयुर्वेदीय औषध।

आहवनीय--'आहूयते हवनीयं हविरत्र।' यज्ञकी अग्नि विशेष यह गार्हपत्य अग्निसे लेकर अन्य होमादिके लिये प्रस्तुत किया जाता है। इसका कुंड चौकोर होता है।

आहुति--मंत्र-द्वारा स्वाहा कहकर देवताके उद्देश्यसे घृत आदिका अग्निमें निक्षेप करना आहुति कहा जाता है।

इ

इक्ष्वाकु-वैवस्वत मनुके पुत्र, जो अयोध्याके सर्वप्रथम राजा थे। इनके एक सौ पुत्र थे जिनमें सबसे बड़े विकुक्षि थे। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी इन्हींके वंशज थे।

इन्द्र-- १-शक्र। देवराज, वेदोक्त प्राचीन देवता। इन्द्र निष्टीग्रीके पुत्र हैं। इनकी माताने इन्हें सहस्रों वर्ष गर्भमें रोक रक्खा था। उसके पश्चात् इन्द्रने स्वयं वीर्यपूर्ण होकर जन्म ग्रहण किया। इनकी माताका नाम एकाष्टका था। जन्मके समय इनकी माता प्रमत्त हो गई थी। इंद्रने अपने पिताके दोनों पैर पकड़कर उन्हें मार डाला। २-स्वर्गके राजा।

इन्द्रधनुष-- इन्द्रे तत्स्वामिके मेघे धनुः इव। इसे इन्द्रायुध भी कहते हैं। वर्षाकालमें सूर्यके सामनेकी दिशामें दिखाई पड़ता है।

इन्द्रनीलमणि--एक मणि जिसे दूधमें डालनेपर दूधका रंग काला पड़ जाता है। यह शनिग्रहको प्रिय है। इससे शनिदोष शान्त हो जाते हैं। इसका रंग काले मेघ जैसा होता है। यह मध्यम कोटिका रत्न है।

इन्द्रलोक--इसे अमरावती भी कहते हैं। स्वर्ग भी इसीका नाम है। (देखो अमरावती)

इमली--यह दक्षिण भारत तथा अफ्रीकामें अपने आप उत्पन्न होती है। इसका वृक्ष बहुत बड़ा होता है। इसके फल खट्टे होते हैं यह प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। इसे संस्कृतमें तिन्तिडीका और चिंचा कहते हैं।

उ

उच्चैःश्रवा--समुद्र-मँथनसे उत्पन्न हुआ श्वेत रंगका सात मुँहवाला घोड़ा, जिसके कान सदा खड़े रहते हैं और जो अत्यन्त गम्भीर स्वरमें हिनहिनाता है। यह घोड़ा इन्द्रको दे दिया गया था।

उज्जयिनी-मध्यभारतमें मालवाकी पुरानी राजधानी शिप्रा नदीके दक्षिणी तटपर बसी हुई है। आजकल इसे उज्जैन कहते हैं। इसका प्राचीन नाम अवंती है। इसे विशाला और

पुष्प-करंडिनी (फूलोंकी डलिया) भी कहते हैं। उज्जयिनी हिन्दू तीर्थ भी है। स्कंद पुराणके अवंति-खंडमें उज्जयिनीका विस्तृत विवरण मिलता है। यहाँ महाकालका ज्योतिर्लिंग भी है जिसे अनन्तकल्पेश्वर भी कहते हैं। इस लिंगके कारण उज्जयिनीको पीठस्थान भी कहते हैं।

उत्तराफाल्गुनी- २७ नक्षत्रोंमेंसे १२ वाँ नक्षत्र जिसमें दक्षिणसे उत्तरकी ओर पलँगकी आकृति बनाते हुए दो तारे होते हैं। इस नक्षत्रमें जन्म लेनेसे मनुष्य दाता, दयालु, सुशील, कांतिमान्, सुमति, श्रेष्ठ, धीर और अत्यन्त मृदु स्वभावका होता है। इसके पहले चरणमें सिंह और शेष तीन चरणोंमें कन्या राशि पड़ती है।

उत्तरायण—मकर संक्रान्ति (१४ जनवरी) से ६ मासतक सूर्य उत्तरमें रहते हैं। उत्तरायणमें शिशिर, वसंत और ग्रीष्म ऋतुएँ पड़ती हैं। जब पृथ्वीके गोलेकी कर्करेखा सूर्यकी ओर सीधी हो जाती है और सूर्यकी किरणें विषुवत रेखामें सीधी पड़ने लगती है, तब सूर्य उत्तरायणमें कहे जाते हैं। उत्तरायणमें मृत्यु होनेसे स्वर्ग प्राप्त होता है। भीष्मने इसीलिये दक्षिणायनमें प्राण नहीं छोड़े।

उत्तरीय- कमरके ऊपर ओढ़नेका वस्त्र दुपट्टा, ओढ़नी, चादर।

उदयन—ईसासे ६०० वर्ष पूर्व वत्स (वर्त्तमान प्रयाग) देशके राजा। इनकी पत्नीका नाम वासवदत्ता और पुत्रका नाम नरवाहन था। कौशाम्बीमें (प्रयागके पास) इनकी राजधानी थी। ये वीणा बजाकर हाथी फँसानेकी विद्यामें बड़े निपुण थे। अवन्तीके राजा चण्डप्रद्योतने बनावटी हाथीके द्वारा इन्हें बंदी कर लिया और इन्हें अपनी कन्या वासवदत्ताका वीणा-शिक्षक बना दिया। वहाँसे एक दिन वासवदत्ताके साथ नल-गिरि हाथीपर चढ़कर ये निकल आए और इन्होंने वासवदत्ताके साथ विवाह कर लिया। ये वत्स देशके राजा थे इसीलिये इन्हें वत्सराज उदयन भी कहते हैं।

उदात्त (स्वर)—उच्चैरुदात्तः (पा० १।२।२९) मुखमें तालु आदि ऊर्ध्वभागसे उच्चरित होनेवाला स्वर।

उद्धय (नदी)—एक नदीका नाम।

उपसर्ग—ये अव्यय शब्द जो धातुओंके पहले जोड़ देनेसे विभिन्न अर्थ प्रकट करते हैं। संस्कृतमें निम्न लिखित उपसर्ग हैं---प्र, परा, अप, सम, अनु, अव; निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अपि, अति, सु, उत, अभि, प्रति, परि, उप।

उरूजन्मा—और्व ऋषि जिन्होंने अपना हृदय मथकर अत्यन्त ज्वालापूर्ण आयोजित पुत्र उत्पन्न किया और जिसे समुद्रमें बड़वाके मुखमें छोड़ दिया जो निरंतर जल पीता रहता है। ये ऋषि भृगुवंशके थे। यह बढ़वा सूर्यकी पत्नी थी जो घोड़ीका रूप धारण करके सूर्यके तापसे और उसके तेजसे डरती हुई जलमें तपस्या करती थी।

उषःकाल—तड़केका समय, जब आकाशमें पूर्वकी ओर हलका श्वेत उजाला होता है जिसे पौ फटना कहते हैं।

ऊ

ऊर्ध्वक—वे बाजे जिनका मुख ऊपरकी ओर होता है। जैसे १—नरसिंह, २—वह मृदंग जिसका बहुत तीखा स्वर होता है।

ऋ

ऋक्षवान्—यह पर्वत गुजरातके गण्डोयाना प्रदेशमें है और रैवतक पर्वतसे निकला है। यह सप्तकुलाचल अर्थात् सात परिवारके पहाड़ोंके बीचका पर्वत है।

ऋतु—एक प्रकारके जलवायुके समयको ऋतु कहते हैं। भारतमें ६ ऋतुएँ होती हैं। सुश्रुतके मतसे माघ फाल्गुनमें शिशिर, चैत्र-

वैशाखमें वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ़में ग्रीष्म, श्रावण भाद्रमें वर्षा, आश्विन कार्तिकमें शरद्, आग्रहायण-पौषमें हेमन्त । ऋक् संहितामें ५ ही ऋतुएँ मानी गई हैं । योरपमें चार ऋतुएँ मानी जाती हैं—जाड़ा (विंटर), वसंत (स्प्रिंग), गर्मी (समर), वर्षा (रेनी) । हेमंतशिशिरको एक ही ऋतु जाड़ा माना है । इसके अतिरिक्त पतझड़ (औटम) ऋतु भी है । साधारणतः लोग तीन ही ऋतु मानते हैं—जाड़ा, गर्मी, बरसात ।

ऋत्विज्—पुरोहित । वेदके मंत्रोंसे यज्ञमें कर्मकाण्ड करानेवाला । प्रायः यज्ञोंमें चार ऋत्विज् प्रधान होते हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा ।

ऋष्यशृङ्ग—ऋष्यस्य मृगस्य शृंगमिव शृंगमस्य । एक मुनि । विभाण्डक नामक कश्यप वंशीय ऋषिका वीर्य उर्वशीको देखकर जलमें गिर गया जो मृगी-रूप धारिणी शापभ्रष्टा देवकन्याने पी लिया । उसके गर्भसे ऋष्यशृंगका जन्म हुआ । उनके सिरपर एक हिरणका सींग भी था । दशरथकी शान्ता नामकी कन्या ऋष्यशृंगसे ब्याही थी । इन्हीं ऋष्यशृंगने दशरथको पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था ।

ऐ

ऐन्द्र (अस्त्र)—इन्द्र-द्वारा दिया हुआ वह अस्त्र जिसके चलानेसे भयंकर जल बरसता है ।

ऐरावत - १. इन्द्रहस्ती—यह सफेद और चार दातोंवाला हाथी समुद्र-मंथनके समय निकला था । यही पूर्व दिशाका दिग्गज है जो इन्द्रको दे दिया गया था और इसलिये वह इन्द्रवाहन कहलाता है । 'इरावान् समुद्रः तत्र भवः ऐरावतः ।'

ओ

ओषधिप्रस्थ—हिमालयमें नगर, जिसके पास एक चोटीपर गंगाजी पहले-पहल ब्रह्मपुरसे उतरकर गिरी थीं । 'औषधि-बहुलं प्रस्थः सानुर्यत्र' जहाँ ओषधियोंसे भरी चोटी हो ।

यत्र गङ्गा निपतिता पुरा ब्रह्मपुरात् सृता ।
ओषधिप्रस्थनगरस्थाद्दूरे सानुरुत्तमः ॥
(कालिकापुराण- ४१ अ०)

और्व—देखो उरूजन्या ।

क

ककुत्स्थ—सूर्यवंशमें शशादके पुत्र पुरञ्जय नामके राजा जिन दिनों पृथ्वीपर शासन कर रहे थे उन्हीं दिनों देवताओंने दैत्योंसे हारकर विष्णुकी शरण ली । उन्होंने सम्मति दी कि राजा पुरञ्जयकी सहायता लो । पुरञ्जय तैयार हो गए । इन्द्रने वृषभ (साँड़)-का रूप धारण किया । उसीपर चढ़कर पुरञ्जयने दैत्यों को हराया । इसीलिये उनका नाम ककुत्स्थ (ककुदि तिष्ठतीति–जो साँड़पर बैठा हो) पड़ गया ।

ककुभ (फूल)—अर्जुन नामका वृक्ष और उसका फूल ।

कंकेलि, कंचुकी अथवा कंचुकी—राजाके अन्तः पुरका रक्षक । भरतने उसका लक्षण बताया है—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

रनिवासमें आ-जा सकनेवाला जो वृद्ध ब्राह्मण सब गुणोंमें पूरा हो और सब कामोंमें, सब ढंगकी बातोंमें चतुर हो वह कंचुकी कहलाता है ।

कण्व—मेनका द्वारा छोड़ी हुई कन्या शकुन्तलाका पालन करनेवाले कश्यप गोत्रके ऋषि कण्व काश्यप ।

कदम्ब—१. वृक्ष, जो भारत, ब्रह्मा और सिंहलमें होता है । इसकी उँचाई ७० से ८० फुट होती है । यह नित्य हरित वृक्ष है । इसके पत्ते महुएके पत्ते जैसे होते हैं । वर्षा ऋतुमें यह फूलता है । इसका फूल गेंदके समान गोल होता है । इस परसे जब पीली केसर झड़ जाती है तब यह फूल ही पककर फल बन जाता है जो खानेमें खटमिट्ठा लगता है । इसीसे कादम्ब मदिरा बनाई जाती है । २. कलहंस, राजहंस पक्षी ।

कनखल—हरिद्वारसे दक्षिण आधे कोसपर गंगाके पश्चिमी तटपर बसा हुआ है। यहींपर दक्षने यज्ञ किया था जहाँ सतीने अपना शरीर छोड़ दिया था और शिवजीके गणोंने यज्ञ विध्वंस कर दिया था। यह पवित्र तीर्थ माना जाता है—

हरिद्वारे कुशावर्त्ते बिल्वके नीलपर्वते।
स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते॥
(महा भा० अनु० २५ अ०)

कंदली—(**पत्नी**) १. एक प्रकारका गुल्म या पौदा जिसकी झाड़ियाँ फैलती हैं। २. कुकुरमुत्तेको भी कंदली-कुसुम कहते हैं।

कन्याराशि—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ तथा मीन। इन १२ राशियोंमेंसे छठी राशि। यह राशि उत्तराफालगुनीके अन्तिम तीन चरणोंपर, सम्पूर्ण हस्त नक्षत्र पर चित्रा नक्षत्रके प्रथम तथा द्वितीय चरणपर व्याप्त रहती है। इस राशिमें जन्म लेनेसे मनुष्य शास्त्रमें श्रद्धा रखनेवाला, उचित क्रोधपर भी पश्चाताप करनेवाला, पत्नीसे विरत, अनेक शास्त्र-विशारद, सर्वांग सुन्दर, सौभाग्यशाली और सुरतप्रिय होता है।

कपिल—१ एक ऋषिका नाम, वेद के उपनिषद् भागमें इनका नाम मिलता है। इनके पिताका नाम कर्दम और माताका नाम देवहूति था। ये सांख्य दर्शनके प्रणेता थे।

२. सगरके सौवें अश्वमेधका घोड़ा इन्द्रने चुराकर उसे पातालमें तप करने वाले कपिलके आश्रममें ले जाकर बाँध दिया। उस घोड़ेको ढूंढते हुए सगरके ६०००० पुत्र उस आश्रममें पहुँचकर कपिल मुनिको गाली देने लगे किन्तु ज्योंही कपिलमुनिने समाधि खोलकर उनकी ओर देखा त्योंहीं वे भस्म हो गए। (देखो सगर)

कपिशा—राजा रघु इसीको पार करके उत्कल पहुँचे थे। यह नदी मेदिनीपुरके दक्षिणसे प्रवाहित होकर बंगालकी खाड़ीमें गिरती है। इसका वर्तमान नाम कसाई है।

कबंध—एक राक्षस। दनु नामके एक दानवकी तपस्यापर प्रसन्न होकर ब्रह्माने उसे दीर्घायुका वरदान दिया। वर पाकर वह इन्द्रसे युद्ध करने पहुँच गया। इन्द्रने वज्र मारकर उसका सिर धड़के भीतर धँसा दिया। तब बहुत प्रार्थना करनेपर इन्द्रने उसके हाथ एक एक योजन लम्बे कर दिए और धड़के ऊपर एक मुँह बना दिया। जब राम वनमें चले जा रहे थे तब इसने राम, लक्ष्मण, सीताको अपने हाथमें समेट लिया। रामने उसका हाथ काटकर उसे मार डाला। रामके हाथसे मरनेपर वह दिव्य स्वरूप पाकर स्वर्ग चला गया। यह पिछले जन्ममें विश्वावसु नामका गन्धर्व था जो एक ब्राह्मणके शापसे राक्षस हो गया था।

कमल—यह श्वेत, नील और रक्त तीन प्रकारका होता है। इसका निवास जलमें रहता है। इसकी पंखड़ियाँ चौड़ी होती हैं और वह वर्षा और शरद्में दिनमें खिलता है। श्वेत और लाल कमल भारत, ईरान, तिब्बत, चीन और जापानमें ही मिलता है। नील कमल कश्मीरके उत्तर और तिब्बतमें ही होता है। श्वेत कमलको शतपत्र, पुण्डरीक, सरोज, नलिन और महोत्पल या महापद्म कहते हैं। लाल कमलको कोकनद, रक्तोत्पल और रविप्रिय कहते हैं। नील-कमलको इन्दीवर, कुवलय, मृदूत्पल और भद्र कहते हैं। कमलके बीज-कोषको कर्मिकर, मधुको मकरन्द, केशरको किंजल्क और नालको मृणाल कहते हैं।

कमलिनी—जलमें दिनमें खिलनेवाला एक फूल जिसकी पंखड़ियाँ लम्बी होती हैं। यह भी तीन रंगकी होती है श्वेत, रक्त और नील।

कमल और कमलिनीमें भेद यही है कि कमलमें बीजकोष होता है, कमलिनीमें नहीं होता। कमलकी पंखड़ियाँ चौड़ी होती हैं कमलिनीकी पतली और लम्बी।

कर—भूमिके प्रयोग अथवा व्यापार आदिके लिये राजाको जो नियमित भाग दिया जाता है इसे कर या राजस्व भी कहते हैं।

करंजक (वृक्ष)—करौंदा, इसकी झाड़ी, ६ प्रकारकी होती है। इसमें छोटे-छोटे अंडाकार कुछ ललाई लिये श्वेत खट्टे फल लगते हैं। यह झाड़ी वर्षामें फलोंसे लदी बहुत सुन्दर लगती है। जन्माष्टमीके अवसरपर श्रीकृष्णजी का झूला इससे सजाया जाता है।

कर्णफूल—कानमें पहननेका फूलके आकारका या फूलका आभूषण।

कर्णिकार—कनैर। इसके फूल श्वेत, लाल और पीली होते हैं।

कम्बोज—वर्तमान अफ़गानिस्तान का वह भाग जो कन्दहारके पास है। शक्तिसंगम तंत्रमें लिखा है—

पाञ्चालदेशमारभ्य म्लेच्छाद्दक्षिणपूर्वतः।
काम्बोजदेशो देवेशि वाजिराशि-परायणः॥

[पंजाबसे लगाकर म्लेच्छ अर्थात् अरब देशसे दक्षिणपूर्व कम्बोज है जहाँ घोड़े बहुत होते हैं।]

रघुवंशमें जो कम्बोजका वर्णन आता है वह काबुलके उत्तरका कम्बोज था।

कलिंग—दीर्घतमाके औरस और बलिकी पत्नी सुदेष्णाके गर्भसे कलिंगने जन्म लिया। इन्होंने अपने नामपर वह जनपद बसाया जो जगन्नाथपुरीके पूर्व भागसे कृष्णा नदीके तीर तक फैला हुआ है। मेदिनीपुर, उड़ीसा और गंजाम प्रदेश कलिंगमें आते हैं। महाभारत और हरिवंश पुराणके समय वैतरणी नदीसे गोदावरीतक कलिंग था। इसे पौण्ड्र भी कहते हैं।

कल्पलता—स्वर्गकी कल्पित लता जिससे जो माँगों मिल जाता है। सुवर्ण-निर्मित लताको भी कल्पलता कहते हैं।

कल्पवृक्ष—यह समुद्र-मन्थनके समय निकला था। कल्पान्त तक यह वृक्ष बना रहता है। चौदह रत्नोंमेंसे यह एक है।

कश्यप—ब्रह्माके मानसपुत्र। मरीचिके औरस और कलाके गर्भसे कश्यपका जन्म हुआ था। वेदोंके मतसे हिरण्यगर्भ ब्रह्मासे कश्यपका जन्म हुआ था। इन्होंने १७ कन्याओंसे विवाह करके देव, दैत्य, दानव, अश्व, गन्धर्व, राक्षस, वृक्ष, अप्सरा, सर्प, गृध्र, श्वापद, जल-जन्तु, गरुड, अरुण, नर, पतंग और शलभ उत्पन्न किए। मार्कण्डेय पुराणमें इनकी १३ पत्नियाँ-अदिति, दिति, दनु, विनता, खशा, कद्रू, मुनि, क्रोधा, अरिष्टा, इरा, ताम्रा, इला और प्रध्य गिनाई गई हैं।

कश्यपकी पत्नियां—(ऊपर देखो)।

कस्तूरी—कस्तूरी मृगकी नाभिसे निकलता हुआ सुगन्धित पदार्थ। कस्तूरी हिरणके सींग नहीं होते किन्तु इसका आकार हिरणोंसे मिलता जुलता है। इसकी आखोंमें आँखके छेद नहीं होते। इसके मुँहमें दो-तीन अंगुलके दो गजदन्त बाहर निकले रहते हैं और इसके बाल कड़े होते है। इसकी ऊँचाई लगभग २॥ फीट और रंग काला होता है जिसमें बीच-बीचमें लाल चकत्ते पड़े होते हैं। इसका गला पीला और पूँछ बहुत छोटी होती है। केवल नर हिरणसे ही कस्तूरी निकलती है। यह मृग गर्मीमें समुद्रतलसे आठ हजार फीट ऊँचे स्थानोंपर साइबेरिया, मध्य एशिया, हिमालय और आसाममें मिलता है। इसमेंसे तिब्बतका मृग सबसे अच्छा होता है। कस्तूरी तीन रंगकी होती है—नैपालकी कपिला, कश्मीरकी पिंगला

और कामरूपकी काली। इनमें कामरूपकी सर्वश्रेष्ठ, नैपालकी मध्यम और कश्मीरकी साधारण होती है।

काकपक्ष— मस्तकके दोनों ओर बालोंको चिकनाईसे पीछेकी ओर फेरकर बहाए रखना। इसीको पट्टे बहाना भी कहते हैं।

काम—१. चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) मेंसे एक। २. इच्छा। ३. कामदेव। शास्त्रकारोंने कामदेवके ५० भेद बताए हैं। स्मरदीपिकामें कहा गया है—प्रतिपदाको पैरके अँगूठेमें, द्वितीयाको गुल्फमें, तृतीयाको जाँघमें, चतुर्थीको भगमें, पंचमीको नाभिमें, षष्ठीको स्तनोंमें, सप्तमीको हृदयमें, अष्टमीको कुक्ष (बगल) में, नवमीको कंठमें दशमीको ओठमें, एकादशीको गालोंपर, द्वादशीको नेत्रोंमें, त्रयोदशीको कानोंपर, चतुर्दशीको ललाटपर, अमावस्या और पूर्णिमाको मस्तकपर रहता है। कामदेवके पास शंख, पद्म धनुष और बाण है, मदके कारण उसकी आँखें कुछ-कुछ बन्द रहती हैं। उसके झण्डेपर मकर (मछली) है। रति, प्रीति, शक्ति और उज्वला नामकी उसकी चार स्त्रियाँ हैं। जब ब्रह्माने दक्ष आदि मानसपुत्र उत्पन्न किए उस समय संध्या नामकी कन्या भी हुई थी। उसी कन्यासे कामदेवका जन्म हुआ और फिर दक्षसे उत्पन्न रति नामकी सुन्दरीसे कामदेवका विवाह हुआ। तारकासुरके उत्पात करनेपर जब देवताओंने कामको महादेवजीके पास उन्हें काम-पीडित करनेके लिये भेजा तब कामदेव उनके क्रोधसे जल मरा। पार्वतीके साथ शिवका विवाह हो जानेपर कामको फिर शरीर मिल गया। अगले जन्ममें कृष्णके औरस और रुक्मिणीके गर्भसे कामदेवका प्रद्युम्नके रूपमें जन्म हुआ। महाभारतमें कामदेवको धर्मका पुत्र माना गया है। कामदेवके ये पाँच बाण हैं—

अरविंदमशोकं च चूतञ्च नवमल्लिका।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः॥
(देखो पञ्चबाण)

(अरविंद, अशोक, आमकी मंजरी, नवमल्लिका और नीलोत्पल।)

कामदेव—देखो (काम)

कामधेनु—स्वर्गकी गाय। इस गायसे इच्छानुसार जो वस्तु माँगें वही मिल जाती है। दक्षकी कन्या सुरभिके गर्भसे कश्यपके औरससे रोहिणीका जन्म हुआ। उस रोहिणीसे तपोनिधि शूरसेन नामक वसुके औरससे कामधेनुका जन्म हुआ। इसका वर्ण श्वेत है, चारों वेद ही उसके चारों पैर हैं, उसके चारों स्तनोंसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष बहा करते हैं। यौवनमें कामधेनुकी सुन्दरता देखकर एक वैतालने वृष बनकर उससे संभोग किया था जिससे एक बड़ा विशाल वृष उत्पन्न हुआ जो अपनी तपस्याके बलसे महादेवजीका वाहन बना।

कार्तवीर्य—चन्द्रवंशीय कृतवीर्य राजाका पुत्र सहस्रार्जुन। माहिष्मतीपुरी (मध्यप्रदेशका मंडला नामक नगर) कार्तवीर्यकी राजधानी थी। इसने दत्तात्रेयकी आराधना की जिससे दत्तात्रेयने प्रसन्न होकर इसे सहस्र भुजावाला बना डाला। अपने पराक्रमसे उसने समुद्र-पर्यन्त भूमिपर अधिकार कर लिया। लंकाके राजा रावणको भी इसने हराकर बन्दी बना लिया था तब पुलस्त्य मुनि जाकर उसे छुड़ा लाए। कार्तवीर्यने जमदग्नि ऋषिके आश्रमसे बछड़ेके सहित कामधेनुको भी हर लिया था। जमदग्निके पुत्र परशुरामने इसे मार डाला और धेनु लौटा ली।

कार्तिकेय—जब तारकासुरके अत्याचारसे पीडित होकर देवताओंने महादेवजीसे पुत्र माँगा तब महादेवजीका तेज अग्निमें, अग्निसे गंगाजीमें और गंगाजीसे छहों कृत्तिकाओंमें जा पहुँचा। वही तेज बालरूपमें कार्तिकेय हुए

और उन्होंने ही तारकासुरका वध किया। वे मयूरपर बैंठते हैं। उनका रंग तपे हुए सोनेके समान है। उनके छह मुँह और दो भुजाएँ हैं। वे देवताओंकी सेनाके सेनापति हैं। देवसेना ही उनकी पत्नी हैं जिन्हें षष्ठी भी कहते हैं। इन्हें सेनापति, कुमार, षण्मुख, सुब्रह्मण्य, क्रौञ्चदारण और स्वामीकार्तिकेय भी कहते हैं।

कालनेमि—१. यह रावणका मामा था और जब लक्ष्मणको शक्ति लगनेपर हनुमान्‌जी द्रोणाचलपर ओषधि लेने गए थे तब यह भी बीचमें बाधा देने पहुँचा और चाहता था कि हनुमान्‌जीको एक मगरी निगल जाय किन्तु हनुमान्‌जीने मगरीको मारकर शाप-मुक्त कर दिया और कालनेमिको भी मार डाला।

२. हिरण्यकशिपुका पुत्र एक राक्षस जिसका शरीर मन्दार पर्वतके समान विशाल और गौरवर्ण, जिसके सौ हाथ और सौ मुख, धुएँके रंगके बाल, हरी मूँछ-दाढ़ी और बड़े-बड़े बाहर निकले हुए दाँत थे। इसने देवताओंको हराकर स्वर्ग जीत लिया था और फिर अपनी देहको चार भागोंमें बाँटकर स्वर्गका राज्य चलाया था। विष्णुके हाथ मारे जानेपर यही कंस हुआ।

कालागुरु—काले अगरका पेड़ या काला अगर। इसे संस्कृतमें कृष्णकाष्ठ, गंध और शृङ्गार भी कहते हैं (देखो अगुरु)।

कालिका—जब शुंभ और निशुंभ दैत्योंने इन्द्रादि देवोंको कष्ट देना प्रारंभ किया तब इन लोगोंने महामाया देवीकी स्तुति की। देवीने पूछा--तुम यहाँ क्यों आए हो? तब उनके शरीरसे ही एक देवीमूर्तिने प्रकट होकर कहा कि ये देव लोग निशुंभ और शुंभका वध चाहते हैं। इन्हीं प्रकट होनेवाली देवीका नाम कालिका था क्योंकि इनका रंग काला था। इनकी आठ योगिनियाँ हैं—महाकाली, रुद्राणी, उग्रा, भीमा, घोरा, भ्रमरी, महारात्रि और भैरवी।

कालिय नाग—गरुडसे युद्धमें हारकर यह नाग यमुनाके कुण्डमें छिपकर रहता था इसीसे इसे कालिय कहते हैं। 'के जले, आलीयते इति कालियः।' इसी नागको श्रीकृष्णजीने नाथकर भगा दिया था।

कालीयक—१. काला अगर, २. पीत चन्दन, ३. रासहल्दी, ४. मलेन्द्री काष्ठ, या एक प्रकारका देवदारु।

कावेरी—दक्षिणापथकी प्रसिद्ध महानदी। आर्षग्रन्थोंमें यह पूर्णतोया मानी गई है। स्नानके समय इसका स्मरण किया जाता है।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।

यह नदी पश्चिमी घाट पर्वतमें ब्रह्मणगिरसे निकलकर महासुर घाटीमेंसे होती हुई मद्रासके दक्षिणमें बंगालकी खाड़ीमें जा गिरती है।

काश—काँस, वर्षा बीतनेपर यह लम्बी घास फूल उठती है।

किन्नर—देवयोनिमें एक प्रकारके देव जिनका मुख अश्वके समान और शरीर मनुष्यके समान होता है। इन्हें किंपुरुष, अश्वमुख और गीतमोदी भी कहते हैं। ये अत्यंत संगीत प्रेमी होते हैं और निरन्तर गाते रहते हैं।

किन्नरी—किन्नर जातिकी स्त्री।

किरात—१. तप्त कुण्डसे लेकर राम, क्षेत्रान्त पर्यन्त किरात देश है, यह शैल विंध्यमें स्थित है। (शक्तिसंगम-तंत्र)

२. ब्रह्म देशकी ओर किरातोंका विवरण मिलता है। नेपालमें भी किरात रहते हैं जो असमतक फैले हुए हैं। ये लोग कन्या मोल लेकर विवाह करते हैं। यह सारी जाति लड़ाकू है और बाण चलानेमें अद्वितीय है।

किरीट—मुकुटके नीचे बाँधी जानेवाली पगड़ी या मुकुट ।

कुकुरमुत्ते—वर्षाके दिनोंमें गोबर आदि तथा कूड़ेपर जो छतरीदार पौधा सा निकल आता है। इसे संस्कृतमें कंदलीकुसुम भी कहते हैं।

कुंकुम-केसर—यह कश्मीरमें उत्पन्न होता है और एक फूल का किंजल्क है जिसके पौधे छोटे होते हैं यह क्यारियोंमें बोया जाता है। लाल, बारीक तथा कमलकी गंधवाला केशर सबसे अच्छा समझा जाता है।

कुटज—कुरैया या कुरचाका पौधा। इसे साधारण बोलीमें इन्द्रजव भी कहते हैं। इसका फूल श्वेत, लम्बा और सुगन्धित होता है।

कुंड—देवखात, होमके लिये जिस चौकोर गड्ढेमें अग्नि स्थापित की जाती है उसे कुण्ड कहते हैं। कर्मकाण्डमें इसके निर्माणका बड़ा विधान है। प्रत्येक यज्ञमें अलग-अलग आकार-प्रकारके कुण्ड बनाए जाते हैं और कुण्ड ठीक न बननेपर बड़ा दोष भी होता है। कुण्डका खात अधिक होनेसे रोगी, अल्प होनेसे धनक्षय, टेढ़ा होनेसे दुःख, छिन्न-मंडल होनेसे मृत्यु, मेखलाशून्य होनेसे शोक, मेखला अधिक लगानेसे धननाश, योनिशून्य होनेसे स्त्रीनाश और कण्ठ नाश होनेसे पुत्र नाश होता है।

कुन्द ६ पंखड़ियोंका छोटा अत्यन्त धवल फूल जिसे शुक्ल पुष्प, मकरन्द और सदा-पुष्प भी कहते हैं। यह पुष्प शिवजीपर चढ़ाया जाता है। इसके व्यवहारसे सिरका रोग और विष-पित्त भी दूर हो जाता है।

कुबेर—विश्रवाके पुत्र रावणके भाई कुबेर की माताका नाम हिलाबिला था। उनकी बुद्धिमत्तासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने उन्हें धनपति और सर्वपूज्य होनेका आशीर्वाद दिया। वे अपनी तपस्यासे लोकपाल हुए और ब्रह्माने उन्हें पुष्पक विमान दिया। उनके पिता महामुनि विश्रवाने उन्हें लंकापुरीमें राज्य करनेका आदेश दिया किन्तु रावणके भयसे वे लंकाको छोड़कर कैलासके पास अलकापुरीमें यक्ष-किन्नर आदिपर शासन करते हुए रहने लगे। उनका वर्ण श्वेत आठ दाँत और तीन पैर हैं। इसी विकलांगताके कारण उन्हें कुबेर कहते हैं—'कुबेरः कुशरीरत्वात् नाम्ना तेनायमङ्कितः'। उनके पुत्रका नाम नलकूबर है। उनकी वैश्रवणी नामक विस्तीर्ण सभाके परिषद् हैं—विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुंबुरु, पर्वत, चित्रासन, चित्ररथ और चक्रधर्मा।

कुमुद--१. पुष्प। इसे देशी भाषामें कैरव, कोका, कोईं कहते हैं। यह रातको जलमें खिलता है। इसकी पंखड़ियाँ चौड़ी किंतु कमलसे छोटी होती हैं। यह श्वेत होता है। इसे धवलोत्पल, कैरव और चन्द्रकांत भी कहते हैं। २. नाग, जो सतयुगमें था।

कुमुदिनी—रातको जलमें खिलनेवाला कमलके रूपका फूल, जिसकी पंखड़ियाँ छोटी और लम्बी होती हैं। देशी भाषामें इसे कोईं कहते हैं।

कुंभीनसी—वह रावणकी बहिन और लवणासुरकी माँ थी।

कुरबक– कटसरैयाका फूल जिसे रक्त झिण्टी, कुरैया या मडुया भी कहते हैं। इसका फूल लाल होता है।

कुररी—क्रौंच या सारस या कुरांकुल नामका पक्षी जो कष्ट पानेपर अत्यन्त करुणासे रोता है। इसके जोड़ेका एक मर जाता है तो दूसरा भी रो-रोकर प्राण दे डालता है।

कुरुक्षेत्र—दृशद्वतीके उत्तर और सरस्वती नदीके दक्षिण कुरुक्षेत्र है जो आजकल दिल्लीसे १५६ किलोमीटर उत्तरमें पड़ता है। कुरु नामके राजर्षिने उस क्षेत्रको जीता था, अतः

उसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ गया। वहीं महाभारतका प्रसिद्ध युद्ध हुआ था।

कुश—कुशा—यज्ञादिके कार्यमें आनेवाली लम्बी पवित्र घास जिसकी जड़में तीखे काँटे होते हैं। एक हाथसे लंबीको दर्भ और छोटीको कुशा कहते हैं। कुश पास रखनेसे भूत-प्रेत बाधा नहीं होती।

कुसुम—(फूल) इसे कुसुम्भ भी कहते हैं। इसके छोटे पौधेमें लाल फूल लगते हैं जिन्हें छायामें सावधानीसे सुखाते हैं। इसके फूलसे लाल रङ्ग बनता है। कुसुमके फूलका रंग सात प्रकारका होता है जिनमें प्याजी, गुलाबी, उजला गुलाबी, गहरा लाल उसका अपना रङ्ग होता है। सेंहुड़का फूल मिलानेसे सुनहला और नारङ्गी रङ्ग आ जाता है। हल्दी मिलानेसे पीली चमकका गहरा लाल और नील मिलानेसे बैंगनी रङ्गका हो जाता है। इसके तीन भेद हैं—महाकुसुम्भ, ह्रस्वकुसुम्भ और वनकुसुम्भ।

कुसुम्भी—(फूल) १. (देखो कुसुम) २. लाल रङ्ग।

कूटनीति—कपट नीति। ऐसी चाल जिससे बिना भेद खुले काम बन जाय।

कूटशाल्मली (यमका अस्त्र)—यमकी गदा।

कृत्तिका—तीसरा नक्षत्र। चंद्रकी पत्नी कृत्तिकामें ६ तारे हैं। चन्द्रमाके शापसे कृत्तिका नक्षत्रमें यात्रा वर्जित है। एक बार भरणी, कृत्तिका, आश्लेषा, मघा, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढा और उत्तरा भाद्रपदने चंद्रमाको बहुत डाँटा कि तुम हमसे स्नेह नहीं करते हो केवल रोहिणीसे ही प्रेम करते हो। इसीपर चन्द्रने इन्हें शाप दिया कि तुमने हमें दुर्वचन कहे हैं इस कारण तुम उग्र और तीक्ष्ण कहलाओगी और तुम्हारे भोग्य दिनोंमें जो यात्रा करेगा उसका अनिष्ट होगा।

कृत्तिकाएँ—इन ६ कृत्तिकाओंने कार्त्तिकेयका पालन किया था।

केकय—केकयदेश। शतद्रु (सतलज) नदीसे पश्चिम और विपाशा (व्यास) नदीके उत्तरमें था जिसका कुछ भाग कश्मीरमें भी पड़ता है। केकयके राजा अश्वपति ही कैकेयीके पिता, दशरथके श्वसुर और भरतके नाना थे। आजकल भी केकयवाले कक्का कहलाते हैं।

केतकी—केवड़ा। इसके पत्ते लंबे, उजले, कोमल और चिकने होते हैं। इन्हीं पत्तोंके बीचसे फूल निकलता है। इसके पत्ते काँटेदार होते हैं। इसकी जड़में प्रायः साँप रहते हैं। केतकीके फूल शिवजीपर नहीं चढ़ाए जाते। केतकी दो रंगकी होती है—सफेद और पीली।

केरल—दक्षिण भारतमें पश्चिमकी पट्टी केरल कहलाती है। आजकल गोकर्णसे लेकर कुमारी अन्तरीप तक का भाग केरल कहलाता है। केरलका अर्थ है केर (नारियल)—का देश।

केवड़ा—(देखो केतकी)

केशर—१. नागकेशरका फूल। २. मौलसिरी। ३. कश्मीरमें उत्पन्न होनेवाला सुगन्धित फूल।

केशी—(राक्षस)—जो कंसके कहनेसे वृन्दावन पहुँचकर अत्याचार करने लगा और जिसे कृष्णजीने मार डाला।

केसर—फूलोंके भीतर बीचमेंसे जो पतले तंतु निकले रहते हैं, उन्हें केसर कहते हैं।

केसर—(वृक्ष)—१. मौलसिरीका पेड़। २. पुन्नागका वृक्ष।

केसर (सिंहके)—सिंहके कन्धेपर फैले हुए बड़े-बड़े बाल-चौंरी या अयाल।

कैकेयी—(देखो केकय) इसका नाम रूपमालिनी था।

कैलास—प्रसिद्ध पर्वत, महादेव और यक्षाधिप कुबेरका वासस्थान, अनेक रत्नमय शृङ्गयुक्त हिमशैलके पृष्ठपर है। यह उस राक्षस-तालाब या रावण-ह्रदसे ५० मील दूर है जिससे सिंधु, शतद्रु, ब्रह्मपुत्र नद उत्पन्न हुए हैं।

भोट लोग इसे 'तिसी' कहते हैं। 'कैलं केलीनां समूहः आस्यतेऽत्र इति कैलासः'—आनन्द तथा क्रीडाका स्थान।

कोंई—(देखो कुमुदिनी)

कोशल या कोसल—काशीसे उत्तर अयोध्या-सहित सरयूके तीरका सब भाग। यह सूर्यवंशी राजाओंका राज्य था और अयोध्या इसकी राजधानी थी।

कौत्स—कुत्स नामक ऋषिके पुत्र और महर्षि वरतन्तुके शिष्य।

कौपीन—मेखलासे बाँधकर कटिमें पहना जानेवाला कपड़ा। इसे कच्छा, कच्छाटिका, कक्षा और धटी भी कहते हैं। इसीसे धोता; धोती शब्द बना।

कौशल्या (कौसल्या)—कोशल राजकी कन्या, महाराज दशरथकी बड़ी रानी, रामकी माता। इनके पिता वर्तमान मध्यप्रान्तके दक्षिणी भागके राजा रहे होंगे। इनका नाम अपराजिता था।

कौशिक (गोत्र)—राजर्षि कुशिकके पुत्र। इन्हींका नाम गाधि था। इन्होंने ही कौशिक गोत्र चलाया।

कौस्तुभ मणि—समुद्र-मंथनसे जो चौदह रत्न निकले उनमें यह मणि भी था जो भगवान् विष्णुको दे दिया गया और जिसे विष्णुने अपने हृदयपर धारण कर लिया। इसमेंसे लाल रंगकी करोड़ों सूर्योंकी किरणोंके समान चमक निकलती है।

क्रथकैशिक—विदर्भ देश (वर्तमान बरार) जो विदर्भके पुत्र क्रथ और कैशिकने आपसमें बाँट लिया था।

क्रौंच—सारस या कुरर पक्षी। यह बगलेकी जातिका पाँच फीट ऊँचा पक्षी होता है। इसमेंसे कुछ श्वेत होते हैं, कुछ भूरे धुएँके रंगके। इनके जोड़े प्रायः खेतोंमें या जलाशयके पास दिखाई पड़ते हैं। इनमें परस्पर इतना प्रेम होता है कि यदि एक मर जाय तो दूसरा अत्यन्त करुण विलाप करके छटपटाकर प्राण दे डालता है। व्याध-द्वारा इसी काममोहित पक्षीके जोड़ेमेंसे एकके मारे जानेपर महर्षि वाल्मीकिके मुँहसे व्याधके लिये दिया हुआ शाप इस श्लोकके रूपमें व्यक्त हुआ था—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

[हे व्याध ! तुम्हें अनन्त वर्षों-तक सुख न मिले क्योंकि तुमने क्रौञ्चके काममोहित जोड़ेमेंसे एकको मार डाला।] इसे कराङ्कुल भी कहते हैं।

२—एक पर्वत, जो हिमालयका पौत्र और मैनाकका पुत्र माना जाता है। इस अत्यन्त उजले पर्वतपर क्रौञ्च नामका दैत्य रहता था जिसे कार्त्तिकेयने मार डाला था, इसीलिये इसका नाम क्रौञ्च पड़ गया और कार्त्तिकेयका नाम क्रौञ्चदारण।

क्रौंचरन्ध्र—क्रौंच पर्वतमें बना हुआ छेद। कालिदासके मतसे वर्षाकालमें हंस आदि पक्षी इसी छेदसे होकर मानसरोवर जाते हैं। जब क्रौंच पर्वतको फाड़नेसे कार्त्तिकेयको अभिमान हो गया तब महादेवजीके शिष्य परशुरामजीने उनका अभिमान चूर करनेके लिये क्रौंच पर्वतमें ऐसा बाण मारा जो क्रौंच पर्वतको बेधता हुआ पार कर गया, वही क्रौंचरन्ध्र हुआ।

क्षीर समुद्र—श्वेतद्वीपमें दूधका समुद्र, जिसमें विष्णु भगवान् शेषनागपर योगनिद्राके समय शयन करते हैं। देवताओं और दैत्योंने मिलकर इसे मथा था और इसमेंसे चौदह रत्न निकाले थे—कालकूट विष, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, अप्सरा (रंभा), पारिजात (कल्पतरु), चन्द्र, लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, शार्ङ्गधनुष्, कामधेनु, धन्वन्तरि, वारुणी, अमृत और शंख।

ख

खण्डिता नायिका—वह नायिका जिसका पति किसी दूसरी स्त्रीके साथ संभोग करके उन

चिह्नोंके साथ पत्नीके पास आता है और वह ईर्ष्या-जनित व्यवहार दिखाती है; जैसे अस्फुट चिन्ता, संताप, लंबी साँस, मौन भाव, आँसू बहाना आदि।

खदिर (खैर) दो प्रकारका होता है—रक्तसार और श्वेतसार। यह भारतके प्रायः सभी प्रदेशोंमें पाया जाता है। इसकी लकड़ी बहुत पक्की होती है जिससे यज्ञ पात्र और ढाल-तलवारकी मुठिया बनायी जाती है। ज्येष्ठ तथा आषाढ़में इसमें फूल लग जाता है और शीत कालमें इसका बीज पक जाता है। इसीके क्वाथसे कत्था निकलता है। २–श्वेतसारको देशी भाषामें पापड़ी कत्था कहते हैं। यह वर्णको साफ करता है तथा मुख-रोग, रक्तदोषका नाश करता है। शतपथ ब्राह्मणके अनुसार यह प्रजापतिके शरीरसे उत्पन्न हुआ था।

खर—रावण और दूषणका भाई! यह अपनी बहिन शूर्पणखाके साथ पंचवटी वनमें रहता था। जब लक्ष्मणने शूर्पणखाके नाक-कान काट लिये तब खर और दूषण दोनों रामके द्वारा मारे गए। उनके पिताका नाम विश्रवा और माताका नाम राका था।

खस—गड़र घासकी जड़ जिसमेंसे सुगन्ध आती है। गर्मीमें इसकी टट्टियाँ बनाकर पानीसे भिगोकर द्वारपर टाँग दी जाती है जिससे घर ठंडा रहता है। इसके पंखे भी बनते हैं, इसमें पान भी बसाये जाते हैं और इसका फुलेल भी बनता है। इसे पीसकर माथेपर थोप देनेसे पागलपन अच्छा हो जाता है। यह घास ५-६ फीट लंबी, भारत और ब्रह्मामें बहुत उत्पन्न होती है। इसे उशीर भी कहते हैं।

ग

गङ्गा—भारतकी प्रसिद्ध नदी, जिसका उद्गम गंगोत्रीमें हुआ है। जब भगवान् विष्णुने बलिको छलकर अपने तीनों पैरोंसे तीनों लोकोंको नापनेके लिये त्रिविक्रमका रूप धारण किया था, उस समय ब्रह्माजीने उनके नख धोकर उस जलको अपने कमंडलुमें रख लिया था। वही ब्रह्मतोय सगर-वंशज भगीरथके तपसे महादेवजीकी जटाओंमें आ गिरा और वही जलकी धारा गंगा कहलाई जिसने भगीरथके पीछे-पीछे चलकर कपिलके कोपसे भस्म सगरके साठ सहस्र पुत्रोंका उद्धार किया। यह नदी भारतके उत्तर-पूर्वी प्रदेशमें बहती हुई बंगालकी खाड़ीमें समुद्रसे जा मिलती है। इन्होंने इस प्रदेशको मरुभूमि होनेसे बचा लिया है इसीलिये गंगाको माता मानते हैं और विश्वास करते हैं कि गंगाका नाम लेनेसे और विश्वास करनेसे सब पाप दूर हो जाते हैं।

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

गंगाजलकी यह विशेषता है कि वह कभी बिगड़ता नहीं, उसमें कभी कीड़े नहीं पड़ते।

गंगासागर—वह स्थान जहाँ गंगाजी समुद्रसे मिलती हैं। मकर-संक्रान्तिके दिन (४ जनवरीको) यहाँ बहुत बड़ा मेला होता है। यहाँके स्नान, ध्यान, दानका बड़ा पुण्य है।

हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागर-संगमे।
सर्वत्र दुर्लभा गंगा त्रिस्थानेषु सुदुर्लभा॥

गजमुक्ता—पुराने हाथीके माथेमें पाया जानेवाला मोती। किन्तु आजके वैज्ञानिक आजतक हाथीके मस्तकमें मोती नहीं पा सके। इसलिये वे गजमुक्ताको कल्पित मानते हैं और बड़े मोतीको ही गजमुक्ता मानते हैं। हमारे यहाँ मुक्ता उत्पन्न होनेके आठ स्थान माने हैं—गज, मेघ, शूकर, शंख, मत्स्य, सर्प, सीपी और बाँस।

करीन्द्र-जीमूत-वराह शंख-
मत्स्यादि-शुक्त्युद्भव-वेणुजानि।
मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके
तेषान्तु शुक्त्युद्भवमेव भूमिः॥

गंधमादन—एक पर्वत जो रोमक पत्तन (रोम नगर)-के उत्तरमें केतुमाल और इलावृत्त वर्षके बीचमें नील और निषधतक फैला हुआ है। विष्णुपुराणके मतसे यह सुमेरुके दक्षिणमें है, जिसपर जम्बू नामका केतु वृक्ष है। इसके पूर्वमें चैत्ररथ, दक्षिणमें गन्धमादन, पश्चिममें वैभ्राज, उत्तरमें नन्दन नामके चार मनोहर उपवन हैं जिनमें देवता विहार करते हैं। गंधमादनपर विशेषतः किंपुरुष या किन्नर और किन्नरी, सिद्ध, चारण, विद्याधर और विद्याधरियाँ विहार करती हैं। इस पर्वतपर महाभद्र नामका बहुत बड़ा सुन्दर सरोवर भी है। किन्तु सिद्धांतशिरोमणिके अनुसार मानसरोवरपर ही गंधमादन पर्वत है।

गन्धर्व—यह अत्यन्त सुन्दर जातिकी देवयोनि है जो देवताओंकी सभामें गान, वाद्य और नाट्य करते हैं; इनकी दो जातियाँ हैं—दिव्य और मर्त्य। जो मनुष्य इस कल्पमें अपने पुण्यबलसे गंधर्व हुए हैं वे मर्त्य हैं; जो इस कल्पके प्रारम्भसे गन्धर्व हैं वे दिव्य हैं। हरिवंशके मतसे स्वारोचिष मन्वंतरमें अरिष्ठाके गर्भसे गन्धर्वोंका जन्म हुआ।

गन्धवती—१–उड़ीसाके पुरी जिलेमें भुवनेश्वरके पास यह बहती है। शिवपुराणके मतसे दक्षिण समुद्रके पास विन्ध्यपादसे यह नदी निकली है।

गंभीरा—चर्मण्वती (चंबल) नदीकी एक शाखा।

गरुड—विनताके गर्भसे और कश्यपके औरससे इनका जन्म हुआ। अरुण इनके भाई हैं जो सूर्यके आगे रहते हैं। ये स्वयं अपना अण्डा फोड़कर निकले थे। एक बार गरुड अमृत लेकर विष्णुके साथ जा रहे थे। विष्णुने प्रसन्न होकर कहा—वर माँगो। गरुडने कहा—मैं आकाश-गामी होकर आपके ऊपरके भागमें रहूँ और अमृतके बिना ही अजर-अमर बना रहूँ। विष्णुसे यह वर पाकर गरुडने विष्णुसे कहा—आप भी वर माँगिए। विष्णुने कहा—आप मेरा वाहन बनिए और मेरे ध्वजपर रहकर मेरे ऊपर भी रहिए।

गवालम्भ—गोवध। (देखो चर्मण्वती)

गाण्डीव—अर्जुनका धनुष्। यह धनुष् ब्रह्माने प्रजापतिको, प्रजापतिने इन्द्रको, इन्द्रने सोमको और सोमने वरुणको दिया था। अग्निने वरुणसे प्रार्थना करके यह धनुष् अर्जुनको दिलाया था। ब्रह्माने १००० वर्ष, प्रजापतिने ५०३ वर्ष, सोमने ५०० वर्ष, वरुणने १०० वर्ष और अर्जुनने ६५ वर्ष इस धनुष्को धारण किया था। दधीचिकी हड्डीसे यह धनुष बनाया गया था।

गान्धर्व (विवाह)—आठ प्रकारके विवाहोंमेंसे एक विवाह—जिसमें वर और कन्या परस्पर एक दूसरेसे प्रेम करके विवाह कर लेते हैं। यह विवाह क्षत्रियोंके लिये ही ठीक माना गया है। आठ प्रकारके विवाह हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।

गायत्री—मंत्र। ॐभूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। यह मंत्र वेदमाता है और द्विजोंका उपास्य है। इसके द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र हैं। सूर्य इसके देवता हैं। इसे सावित्री मंत्र भी कहते हैं।

गारुडास्त्र—वह अस्त्र या बाण जिसके चलानेसे सर्प या सर्पका विष नष्ट हो जाय।

गार्हपत्य—१. वह अग्नि जो यजमान या गृहपतिके साथ सदा रहती है। २. वह गोल कुण्ड जिसमें गार्हपत्य अग्नि रक्खी जाती है।

गुण—सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुण जिनके मेलसे यह सृष्टि हुई है।

गुरुदक्षिणा—गुरुसे विद्या लेकर श्रद्धाके साथ गुरुको जो भेंट दी जाय उसे गुरुदक्षिणा कहते हैं। कभी-कभी गुरु लोग ही स्वयं दक्षिणा माँग भी लेते थे जिसे पूरा करना शिष्य अपने लिये गौरव समझता था।

गुह—(निषाद) शृङ्गवेरपुरके एक शूद्र जाति के मुखिया जिन्होंने वनवासके समय रामको गंगासे पार उतारा था। कुछ लोग निषादको केवट मानते हैं किन्तु निषाद-जाति शूद्रोंमेंसे ही हैं। ये लोग शिकार खेलते, मछली मारते और डाका डालते थे। मनुके मतसे ब्राह्मण पिता और शूद्र मातासे उत्पन्न जाति ही निषाद जाति है। कुछ लोग इन्हें धीवर भी मानते हैं।

गेरू—गवेरुक खानोंसे निकलनेवाली लाल कड़ी मिट्टी। इसमें जो भुरभुरी होती है उसे कच्चा गेरू और जो कड़ी होती है उसे पक्का गेरू कहते हैं। सोनेपर रंग चढ़ाने और घर रँगनेमें इसका प्रयोग होता है।

गोकर्ण—बम्बई प्रान्तके उत्तर कनारा जिले और कुन्ता तालुकेमें कुन्ता नगरसे १० मील उत्तर हिन्दुओंका प्रसिद्ध पवित्र तीर्थ स्थान है। रावण और कुम्भकर्णने यहींपर तप किया था। वहींपर महाबलेश्वर मन्दिर है।

गोत्र—वंश। जिस पूर्व पुरुषसे किसीके कुलकी उत्पत्ति होती है, उस कुलके सब लोग उस पूर्व पुरुषके गोत्रके समझे जाते हैं।

गोद—गोदावरी नदीके पासका स्थान।

गोदान—विवाह आदि मंगल कार्योंमें सवत्सा गौ देनेका बड़ा पुण्य लिखा है। मृत्युके समय जो गोदान करते हैं उन्हें साक्षात् स्वर्ग-लोक मिलता है।

गोदावरी—दूसरा नाम गौतमी नदी है। तीर्थ-यात्राको जाती हुई ब्राह्मणीसे एक कामुकने बलपूर्वक रमण किया और जब उससे पुत्र उत्पन्न हुआ तब उसे परित्याग कर दिया। इससे दुखी होकर ब्राह्मणीने तप किया और गोदावरी नदी बन गई। बम्बई प्रान्तके नासिक जिलेके त्र्यंम्बक गाँवके पास पहाड़से यह नदी निकली है और दक्षिण पठारको पार करती हुई बंगालकी खाड़ीमें समुद्रसे जा मिली है।

गोप्रतर—सरयूके तीरपर जिस स्थानपर रामने अपना पांचभौतिक शरीर त्याग किया था वही गोप्रतर या गोप्रतार तीर्थ कहलाता है।

गोरोचन—या गोरोचना, पीले रंगका सुगन्धित द्रव्य जो गौके माथेसे निकलता है। इसीसे तंत्र और देवताओंके कवच लिखे जाते हैं।

गोवर्धन—वृन्दावनके पास प्रसिद्ध पोला पर्वत जिसे श्रीकृष्णने वर्षासे व्रजकी रक्षाके लिये अपनी उँगलीपर उठाए रक्खा था।

ग्रह—सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। इसमें मेषका सूर्य, वृषका चन्द्र, मिथुनका मंगल, कन्याका बुध, कर्कका बृहस्पति, मीनका शुक्र, तुला का शनि उच्च या श्रेष्ठ होता है। तुलाका सूर्य, वृश्चिकका चंद्र, कर्कका मंगल, मीनका बुध, मकरका बृहस्पति, कन्याका शुक्र, मेषका शनि नीच होता है। प्लूटो (यम), यूरेनस (वरुण), नेपचून (कुबेर) और हर्षल नामक चार और भी ग्रह खोजे गए हैं किन्तु वे इतनी दूर हैं कि उनका कोई प्रभाव पृथ्वीपर नहीं पड़ता।

ग्रहण—जब पृथ्वी और सूर्यके बीच चंद्रमा आ जाता है तब सूर्यग्रहण होता है और जब चन्द्र और सूर्यके बीच पृथ्वी आ जाती है तब चन्द्रग्रहण लगता है।

ग्राह—मगर (मकर) या घड़ियाल।

घ

घड़ियाल या मगर—जलजन्तु जिसका रूप छिपकलीके समान किन्तु आकार इतना बड़ा होता है कि वह गाय और भैंसको निगल

जाता है। इनमेंसे जिसकी थूथन लम्बी होती है उसे नाकू, नाका (नक्र) कहते हैं।

चक्रवाक—चकवा, जलके पास रहनेवाला एक पक्षी है जो देखनेमें हंसके समान होता है। इसकी लम्बाई २५-२६ इञ्च होती है। कहा जाता है कि दिनमें चकवा और चकवी दोनों चोंच मिलाकर बैठते हैं और साथ-साथ जलमें तैरते हैं किन्तु रातमें अलग अलग हो जाते हैं। इनके माथेका चोटी और दोनों पंखोंका रंग गेरुआ और छाती तथा पीठका रंग घना नारंगिया होता है। इनकी गर्दनके नीचे और छातीके ऊपरके हिस्सेमें तीन चार अंगुल चौड़ा एक चमकीला काले रंगका फीतासा होता है जो छातीसे लगाकर पीठके ऊपरसे घूमा हुआ रहता है। यह चकवेको होता है, चकवीको नहीं, कुछ चकवियों को भी नहीं होता है। पीछेका निचला भाग कुछ-कुछ पीलापन लिए लाल होता है। कुछ चकवोंके इस स्थानपर लाल और काले डोरे भी होते हैं। इनके पंख और पेट आदि अन्य रंगोंके भी होते हैं। चकवीकी देहका रंग पीला और ललाई लिए हुए श्वेत होता है। मस्तक और गर्दनका रंग चूहेके रंगका तथा चोंच और पैर काले होते हैं। ये बड़े सजग रहते हैं इसलिये अहेरी लोग इन्हें जल्दी मार नहीं पाते हैं। भारतमें जाड़के दिनोंमें वे दिखाई पड़ते हैं।

चकवी—(देखो चक्रवाक)

चक्र—एक प्रकारका अस्त्र जो लोहेके पहिएके आकारका तीखी धारवाला होता है। शुक्र-नीतिके अनुसार आठ अरों-वाला उत्तम, ६ वाला मध्यम और चारवाला अधम कहलाता है। युवकके लिये १६ अंगुलका उत्तम, १४ का मध्यम और १२ का निकृष्ट समझा जाता है। इसकी परिधि या पुट्टीकी चौड़ाई तीन अंगुल उत्तम, ढाई अँगुल मध्यम और दो अंगुल अधम समझी जाती है। इसका किनारा चारों ओरसे तीखा पैना होना चाहिए।

च

चक्रवर्ती—एक समुद्रसे दूसरे समुद्र तक फैले हुए राज्यके राजा, जिन्हें दूसरे राजा लोग कर देते हों। ऐसे सात चक्रवर्ती राजा माने गए हैं—भरत, सहस्रार्जुन, मान्धाता, भगीरथ, युधिष्ठिर, सगर और नहुष।

भरतार्जुनमान्धातृभगीरथयुधिष्ठिराः।
सगरो नहुषश्चैव सप्तैते चक्रवर्तिनः॥

चण्डी—दुर्गा।

चन्द्रकान्तमणि—एक प्रकारका रत्न जो पूर्णिमाके चन्द्रमाको सामने पाकर द्रवित होता है। मुक्ति-कल्पतरुमें लिखा है—

पूर्णेन्दुकरसंस्पर्शादमृतं स्रवति क्षणात्।
चन्द्रकान्तं तदाख्यातं दुर्लभं तत्कलौ युगे॥

चन्द्रक्षय—(देखो दक्ष)

चन्द्रहार—गलेमें पहननेका सोनेका आभूषण जिसमें जड़ाऊ काम हो।

चन्द्रहास—रावणका खड्ग।

चर्मण्वती—चंबल नदी। इसका दूसरा नाम चर्मबाला और शिव-नद भी है। प्राचीन दशपुर नगर इसीके तटपर था। महाराज रन्तिदेव प्रतिदिन गवालम्भ अर्थात् कई सौ बैल मारकर ब्राह्मण और अतिथियोंको खिलाते थे। उन बैलोंके चमड़े और पसीनेसे इस नदीकी उत्पत्ति हुई। यमुनाकी यह सहायक नदी इन्दौर राज्यके जनपाव पर्वतसे निकलकर यमुनामें मिल गई है।

चातक—पपीहा। यह पक्षी स्वातीके जल के अतिरिक्त कोई दूसरा जल नहीं पीता। चातकके शरीरके आगेका भाग हरा और पंख काले होते हैं। पंखकी जड़में सफेद और काला मिली हुई, कंधेपरके पंख श्वेत और पूँछ काली होती है। चातकीका रंग भी ऐसा ही होता है

पर उसकी पूँछका रंग घना काला होता है। किन्तु पंख चातकके पंखोंके समान काले नहीं होते। चातक और चातकी दोनोंकी चोंच और पैरोंका रंग कुछ नीला और भूरा तथा नेत्र श्वेत और धुँधले रंगके होते हैं। यह लगभग ५। इंच लंबा होता है। इसके पंख लगभग २।। इंच, पूँछ २ इंच चौर चोंच पौन इंचकी होती है। कहा जाता है कि इसके गलेमें एक छेद होता है और जब यह पानी पीने लगता है तो बहुत-सा पानी इसके गलेसे निकल जाता है।

चामर—मृग—सुरा गाय। चामर—सुरा गायकी पूँछ जिनसे चँवर बनाया जाता है। सुरागायको चमरी या चामर मृग कहते हैं। बड़ा चँवर ढुलवानेसे दीर्घायु, छोटेसे भय और विनाश, उजलेसे धन तथा कीर्ति और घनेसे संपदा मिलती है।

चारण—राजाओंके यहाँ उनकी वंश-कीर्त्तिका विवरण रखनेवाले और अवसरपर कवितामें कीर्ति कहनेवाले लोग। इन्हें कुशीलव, भाट और बन्दीजन भी कहते हैं।

चित्रकूट-प्रयागसे दक्षिणमें मन्दाकिनी नदीके तटपर स्थित पर्वत जो उत्तर प्रदेशके बाँदा जिलेमें पड़ता है। वनवासके प्रारम्भिक दिनोंमें राम इसी पर्वतपर रहे इसीलिये इसे रामगिरि भी कहते हैं।

चित्रा—२७ नक्षत्रोंमें यह १४वाँ नक्षत्र अत्यन्त उज्वल प्रभावाला है। इसमें एक तारा है। यह पूर्व दिशामें निकलता और पश्चिममें अस्त होता है। चित्रामें उत्पन्न हुआ मनुष्य शत्रुओंको त्रस्त रखता, नीति-शास्त्रमें निपुण और अनेक शास्त्रोंका पण्डित होता है। पुराणके अनुसार यह दक्ष प्रजापतिकी चौदहवीं कन्या और चन्द्रकी पत्नी है। चैत्रकी पूर्णिमाको चन्द्रमा इसीका भोग करता है। चित्रामें यात्रा निषेध है।

चूडामणि—सिरपर पहननेका शीशफूल नामका गहना जो माथेके ऊपर ठीक बीचमें माँगपर लटकाकर पहना जाता है। राजस्थानमें इसे बोरला कहते हैं।

च्यवन—ऋषि। इनके पिता महर्षि भृगु और माता पुलोमा थीं। जब ये माताके गर्भमें थे उस समय एक राक्षस इनकी माताको हरण करनेको आया। अपनी माताकी रक्षा करनेके लिये इन्होंने तत्काल गर्भसे निकलकर उसे मार डाला, इसीलिये इनका नाम च्यवन पड़ा। एक बार तपस्या करते-करते इनके शरीरपर वल्मीक या बाँबी उठ आई। केवल दोनों चमकीली आँखें खुली रह गईं। एक दिन राजा शर्यातिकी पुत्री सुकन्याने कुतूहलवश उनमें काँटे चुभा दिए। महर्षिके क्रोधसे शर्यातिके सामन्तोंका मल-मूत्र रुक गया। तब शर्यातिने क्षमा माँगकर अपनी कन्या उन्हें ब्याह दी। सुकन्या इतनी साध्वी थी कि जब अश्विनीकुमारने परीक्षा लेनेके लिये इन्हें फुसलाया तब भी ये दृढ़ रहीं। इससे प्रसन्न होकर इनके पति च्यवनको अश्विनी कुमारोंने सुन्दर युवक बना दिया। इसके बदलेमें च्यवन ऋषिने अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोम रस दिया। इसपर इन्द्र रुष्ट हो गए और इनपर वज्र चलाया। च्यवनने अपने मंत्रबलसे वज्रको रोक दिया और उनका नाश करनेके लिये एक विकराल असुरकी सृष्टि की। तब इन्द्र भयभीत होकर च्यवनकी शरणमें आया और इन्द्रको मुक्ति मिली। उस विकराल असुरको च्यवनने चार भागोंमें बाँटकर स्त्री, मद्य, द्यूत और मृगयामें प्रतिष्ठित कर दिया।

छ

छतिवन—(सप्तपर्ण)—भारतके सभी शीतप्रधान प्रदेशोंमें होनेवाला वृक्ष। इसके एक-एक पत्तेमें कई दल होते हैं। इसका पेड़

बड़ा होता है और टहनियोंसे दूध निकलता है। इसका दूध फोड़ेको अच्छा कर देता है और तेलमें मिलाकर कानमें डालनेसे दर्द दूर हो जाता है।

छलिक—एक प्रकारका रूपक या नाटक जिसमें दर्शकोंसे किसी प्रकारका छल किया जाता है, उन्हें मूर्ख बनाया जाता है या जिसका लक्ष्य छल करना होता है।

छायापथ—देखो आकाशगंगा।

ज

जटायु—प्रसिद्ध गृध्र पक्षी जो सूर्यके सारथी अरुणके औरस तथा श्येनीके गर्भसे उत्पन्न थे। इनके बड़े भाईका नाम संपाती था। जब रावणने सीताका हरण किया तब जटायुने रावणसे युद्ध किया और उसके हाथों मारा गया। रामने अपने पिताका मित्र समझकर उसका दाह-संस्कार किया।

जनक—निमि वंशमें ह्रस्वरोमाके पुत्र, मिथिलाके राजा सीरध्वज, सीताके पिता। निमिने अपने पुरोहित वशिष्ठकी उपेक्षा करके यज्ञ किया था। इसपर वशिष्ठने क्रुद्ध होकर नष्ट होनेका शाप दे दिया। तब ऋषियोंने मृत निमिकी देहको मथा जिसमेंसे मथित होकर उत्पन्न होनेके कारण मिथि नामका पुत्र हुआ। इन्हींका दूसरा नाम जनक था। इन्हींके द्वारा स्थापित देश मिथिला कहलाया। ये ब्रह्मज्ञानी और विरक्त थे। इसलिये विदेह कहलाते हैं और उपदेष्टा होनेके कारण राजर्षि कहलाते हैं। मिथिलाके सभी राजा ब्रह्मज्ञानी होते चले आए इसलिये सभी विदेह और जनक कहलाते हैं।

जनपद—एक ही बोली बोलनेवाले लोग जितने प्रदेशमें बसते हों उसे जनपद कहते हैं।

जनस्थान—(१) दण्डकारण्य। (२) दण्डकारण्यके पासका स्थान। इक्ष्वाकु वंशके राजपुत्र दण्डने जब शुक्राचार्यकी कन्या अरजासे बलात्कार किया तब शुक्राचार्यने शाप दिया कि तुम सात रात्रिमें भस्म हो जाओ। उन्हींके नामपर इस वनका नाम दंडकवन पड़ा और उसमें जिस स्थानपर रहनेसे तपस्वियोंकी रक्षा हुई थी उसे जनस्थान कहते हैं। (३) दंडकारण्यका वह स्थान जिससें रावणकी सेना लेकर खर, दूषण आदि रहते थे।

जयन्त—इन्द्रका पुत्र।

जया—पार्वतीजीकी सखी जो तपस्याके समय इनके साथ थी।

जलकुक्कुट—पनडुब्बी नामक पक्षीजो जलमें डूबकर मछली आदि जीव निकालकर खाती है। मुरगाबी।

जातकर्म—दस संस्कारोंमेंसे चौथा संस्कार इसका विधान यह है कि पुत्रके जन्मका समाचार सुनते ही पिताको यह कहना चाहिए—नाभि मा कृन्तत, स्तनं च माददत। (नार न काटना, स्तन न पिलाना) और फिर सवस्त्र स्नान करके षष्ठी, मार्कण्डेय और षोडशमातृकाका पूजन करके वसुधारा तथा नान्दीमुख श्राद्ध कार्य करना चाहिए। तब किसी ब्रह्मचारी, कुमारी, गर्भवती या वेदनिष्ठ ब्राह्मणसे एक पत्थरकी पटिया धुलवाकर दाहिने हाथकी अनामिका और अंगुष्ठसे चावल और जौ लेकर 'कुमारस्य जिह्वां निर्माष्टि इयमाज्ञा' कहकर कुमारको छुआना चाहिए। फिर सोनेकी सलाईसे घी लेकर यथाविधि मन्त्रोंके साथ बालककी जीभपर लगाना चाहिए और 'नाभि कृन्तत, स्तनं च ददत्त' (नार छेदो, स्तन पिलाओ) कहकर बाहर चला जाना चाहिए।

जानकी—जनककी पुत्री, रामकी धर्मपत्नी। इनको वैदेही, मैथिली, सीता और धरणीसुता भी कहते हैं। खेत जोतते हुए राजा जनककी हलकी फालसे टकराए हुए एक मिट्टीके घड़ेमें मिली थीं। अतः ये जनककी अयोनिजा कन्या थीं और हलसे उत्पन्न होनेके कारण सीता

कहलाईं। इनका जन्म वैशाख शुक्ला अष्टमीको हुआ था। जब रावणने ऋषियोंसे भी कर माँगा तो उन्होंने अपने अँगूठे चीरकर उसके रक्तसे घड़ा भर-कर रावणके पास यह कहकर भेज दिया कि इसमें तुम्हारा विनाश निहित है। रावणने वह घड़ा मिथिलाके खेतमें गड़वा दिया। वही ऋषियोंका रक्त सीताके रूपमें उत्पन्न हुआ और उन्हींके कारण रावणका विनाश हुआ।

जूही—सफेद चमेलीसे मिलते जुलते छोटे छोटे फूल जो हिमालयकी ढालपर झाड़ियोंमें होते हैं और फुलवारियोंमें लगाये जाते हैं। इसका पौधा कुन्दसे मिलता है और बरसातमें फूलता है। इसे संस्कृतमें यूथिका कहते हैं क्योंकि ये झुंडके झुंड गुच्छोंमें लगते हैं।

ज्वार—प्रतिदिन समुद्रमें दो बार पानी घटता बढ़ता है। इस चढ़ाव-उतारको ज्वार-भाटा कहते हैं। जब पानी बढ़ता है तब ज्वार होता है, जब उतरता है तब भाटा होता है। ज्वारको संस्कृतमें वेला कहते हैं। प्रायः १२ घंटे २८ मिनटपर ज्वार आता है।

ड

डंश—(दंश) जंगली मच्छर, डाँस। इस मच्छरके काटनेपर बड़े-बड़े फफोले पड़ जाते हैं और बड़ी खुजलाहट होती है।

त

तक्षक—आठ नागोंमेंसे एक नाग। इसका जन्म कश्यप और कद्रूके गर्भसे हुआ था। यह खाण्डव वनमें रहता था और इसने ही शृङ्गी ऋषिका शाप सफल करनेके लिये राजा परीक्षितको काट लिया था जिससे क्रुद्ध होकर जनमेजयने सर्प-यज्ञ किया था। यज्ञका समाचार सुनकर तक्षकने इन्द्रकी शरण ली और वासुकीने यज्ञ रोकनेके लिये आस्तीकको भेजा, राजा जनमेजयने तक्षकको इन्द्रका शरणागत जानकर ऋत्विजोंसे कहा कि तक्षकके साथ इन्द्रकी आहुति कर डालिए। फलतः 'इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' कहते ही तक्षकके साथ इन्द्र भी अग्निकी ओर आकृष्ट हो गए। तब इन्द्रने डरकर तक्षकको छोड़ दिया जो अग्निकी ओर गिरने लगा। इसी समय आस्तीकने अपनी जान देकर महाराज जनमेजयसे सर्प-यज्ञ बन्द करनेकी भिक्षा माँगी। और तभीसे यह प्रसिद्ध है कि आस्तीकका नाम जपनेसे सर्प-भय नहीं रहता। सर्प दूर करनेका मंत्र यह है—

सर्पापसर्प भद्रन्ते दूरं गच्छ महाविष !
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीक वचनं स्मर।
आस्तीकवचनं श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते ॥
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिशवृक्षफलं यथा।

विश्वास किया जाता है कि वह नाग इच्छानुसार मनुष्य शरीर धारण कर सकता था। वैद्यक ग्रन्थोंमें लिखा है—

मसूरं निम्बपत्रं च योऽत्ति मेषगते रवौ।
अतिरोषान्वितस्तस्य तक्षकः किं करिष्यति ॥

वैशाखमें जो मसूरके साथ नीमके पत्ते खाता है उसपर क्रोध करके तक्षक भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता अर्थात् उन्हें कोई विष नहीं चढ़ सकता। आठ प्रधान नाग ये हैं—अनन्त, वासुकि, पद्म, महापद्म, तक्षक, कर्कोटक, शंख और शेष।

तपोवन—नदीके किनारे हरे-भरे खाद्य-फलोंसे युक्त जिस वनमें महर्षि लोग तपस्या करते थे।

तमसा—टोंस नदी, जिसके स्मरण करनेसे पाप नाश हो उसका नाम तमसा है—यस्याः स्मरणात्ताम्यति पापं सा तमसा। वन जाते समय रामने पहली रात इसी नदीके तीरपर बिताई। यह नदी मध्यप्रदेशमें होती हुई प्रयागके पूर्व ४० किलोमीटरपर गंगामें मिल गई है।

तमाल—यह वृक्ष बीससे अट्ठाइस फुट तक ऊँचा और देखनेमें गहरा हरा और सुन्दर होता है। वैशाखमें इसमें बड़े-बड़े श्वेत फूल लगते हैं और कलमी नीबू जैसा एक फल लगता है जिसका छिलका बेलके समान चिकना और पीला होता है किन्तु यह इतना खट्टा होता है कि एक बार खानेसे कई दिनतक दाँत खट्टा रहता है। सियार इसे बहुत खाते हैं। इसके पत्ते तेजपातके समान होते हैं और इसकी छाया बड़ी घनी होती है। इसे नीलताल, कलताल और नीलध्वज भी कहते हैं। यों तो भारतमें सभी स्थानोंपर यह वृक्ष होता है किन्तु समुद्रके तटपर बहुत पाए जाते हैं।

तमोगुण—सत्त्व, रज, तम तीन गुणोंमेंसे एक। जिसमें तमोगुण विशेष होता है वह क्रोधी और दुष्कर्मी होता है।

तर्पण—अपने पितरोंको जल-दान देकर तृप्त करनेका कार्य। यह तर्पण विशेष विधानके साथ किया जाता है। तर्पणका यह फल लिखा है कि तर्पण करनेवालेको किसी प्रकारका दुःख नहीं होता।

ताटका (ताडका)—यह सुकेतु नामक पराक्रमी यक्षकी कन्या थी जिसे उसने ब्रह्मासे वरके रूपमें पाया। इसमें एक सहस्र हाथियोंका बल था। यह जम्भके पुत्र सुन्दसे ब्याही थी। जब अगस्त्य ऋषिने सुन्दको मार डाला तब यह अपने पुत्र मारीचको साथ लेकर अगस्त्य ऋषिको खाने दौड़ी, किन्तु उनके शापसे दोनों राक्षस हो गये। तभीसे यह राक्षसी अगस्त्यजीका तपोवन नष्ट करने लगी और वहाँके सब ऋषियोंको खाने लगी। इसीलिये यह जंगल ताड़का-जंगल कहलाता है। जब यह विश्वामित्रजीके यज्ञमें भी विघ्न करने लगी तब वे राम-लक्ष्मणको ले आए और रामने उसका वध किया। स्त्री समझकर जब राम झिझक रहे थे तब विश्वामित्रने कहा था—'जो स्त्री वीरके समान युद्ध करे, लज्जा और कोमलताका त्याग करे, उसे मारनेमें स्त्रीवधका दोष नहीं लगता।'

ताण्डव—पुरुषोंके उद्धत नृत्यको ताण्डव और स्त्रियोंके कोमल नृत्यको लास्य कहते हैं। यह नृत्य शिवजीको अत्यन्त प्रिय था। १. इस नृत्यके प्रवर्त्तक शिव ही हैं। २. ताण्डु नामक ऋषिने पहले-पहल इसकी शिक्षा दी थी। अतः, इसका नाम ताण्डव पड़ा।

ताम्रपर्णी—१. यह नदी मद्रास प्रान्तके तिन्नेवेलि जिलेमें है। इसे वहाँ 'पसने' कहते हैं। यह पश्चिमी घाट पर्वतसे निकलकर बंगालकी खाड़ीमें जा गिरती है। २. इसीके आसपास ताम्रपर्णी नामकी एक और नदी पश्चिमकी ओर बहती है। ३. बम्बई प्रान्तके बेलगाँव जिलेकी एक छोटी नदी।

तारकासुर—यह तारक नामका दैत्य असुर वज्रांग तथा वरांगीका पुत्र था। सहस्रों वर्ष तपस्या करनेपर इसके मस्तकसे ऐसी ज्योति फूट निकली जिससे इन्द्रादि देवता जलने लगे। देवताओंने यह वृत्तान्त ब्रह्मासे कहा। तत्काल ब्रह्माजी तारकासुरके पास गए। वरदानके रूपमें उसने दो वर माँगे—१. मेरे समान कोई बली न हो। २. शिवके पुत्रके अतिरिक्त किसीसे न मारा जाऊँ। वर पाकर वह अपने घर आया। सब असुरोंने उसका राज्याभिषेक किया। वह संसारमें नाना प्रकारके अत्याचार करने लगा। इससे देवता बहुत दुःखी हुए। तब शिवके पुत्र कार्त्तिकेयने उसका वध किया। (देखो कार्त्तिकेय)

ताल—संगीतके समय गीतकी प्रत्येक कड़ीका समय नापनेके लिये हाथकी जो ताली बजाई जाती है अथवा मृदंग, तबले आदि पर विशेष बोलोंमें बँधे हुए जो विभिन्न कड़ियोंके द्वारा समयकी अभिव्यक्ति की जाती है उसे

ताल कहते हैं। ऐसी तालें अनेक हैं। तालकी उत्पत्ति महादेवजीके ताण्डवके "ता" और पार्वतीजीके लास्यके "ला" से हुई। ये दो प्रकारकी होती हैं—मार्गी और देशी। भरतने ६० प्रकारकी मार्गी तालें तथा १२० प्रकारकी देशी तालोंका विवरण दिया है जिनमेंसे आजकल कुछ थोड़ेसे ही ताल प्रयुक्त होते हैं।

तिन्नी—नीवार या मुन्यन्न। यह एक प्रकारका चावल होता है जो अपने आप बिना बोए उत्पन्न हो जाता है। प्रायः व्रतोंमें लोग इसीका प्रयोग करते हैं।

तिल—यह छोटा, पतला, चिपटा बीज होता है जो काला, सफेद और लाल रंगका होता है। जंगली तिल भी होता है। तैल शब्द इसी तिलके तेलके लिये प्रयुक्त होता है। यह श्राद्ध-तर्पणादिमें अधिक काम आता है। इसके फूलकी उपमा नाकसे दी जाती है जो सफेद रंगका, गिलासके आकारका, ऊपर चार दलोंमें विभक्त रहता है जिनपर भीतरकी ओर बैंगनी धारियाँ होती हैं। इसका पौधा चार फुटतक ऊँचा होता है। इसके पत्ते ८, १० अंगुल लंबे और ३-४ अंगुल चौड़े होते हैं जिसके किनारे टेढ़े-मेढ़े होते हैं। काला तिल पास रहनेसे भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षसोंका भय नहीं रहता।

तिलक १—चन्दन, केशर आदिसे तिलक फूलके समान माथे, छाती या हाथपर जो चीता जाय उसे तिलक कहते हैं। १–लोधका पेड़। १–पुन्नागकी जातिका पेड़, जिसमें वसंत ऋतुमें छत्तेके आकारके फूल लगते हैं।

तिलाञ्जलि—अपने पितरोंको तृप्त करनेके लिये तर्पणके समय जलमें तिल डालकर अंजलि देना। पितरोंको तिल बहुत प्रिय है।

तीर्थ—नदियोंके संगम, तट अथवा अन्य किसी महापुरुषके जन्म-स्थान अथवा किसी पवित्र घटनाके स्थलको तीर्थ कहते हैं जहाँ स्नान करने, निवास करने या दर्शन करनेसे पाप दूर हो जाते हैं। तीन प्रकारके तीर्थ बताये गये हैं—जंगम, मानस और स्थावर। ब्राह्मण और सन्त लोग जंगम तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, दया, ऋजुता, दान, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धैर्य और तपस्या ये मानस तीर्थ हैं। गंगा, काशी आदि स्थावर तीर्थ हैं।

तूणीर—तरकश। बाण रखनेका खोल, जो दाहिने कन्धेकी पीठसे बँधा रहता है। इसे निषंग, भाथा भी कहते हैं।

तूर्य (तुरही)—मुँहसे फूंककर बजाए जानेवाला एक लम्बा बाजा।

त्रयी—ऋक्, यजुः और साम ये तीन वेद। सृष्टिके आदिमें ऋङ्मय ब्रह्मा, स्थितिमें यजुर्मय विष्णु और लयमें साममय रुद्र ही त्रयी हैं।

त्रिकूट—तीन शिखरोंवाला पर्वत। ऐसा पर्वत एक लंकामें है, दूसरा क्षीरसागरमें है, तीसरा गुजरातमें गिरिनार पर्वत है जिसे पार करके रघु, सिन्धकी ओर गए थे।

त्रिपुर-विजय—तारकासुरके तीन पुत्र-तारकाख्य, कमलाख्य और विद्युन्मालीने तपस्या करके ब्रह्मासे यह वर पा लिया कि हम तीनों तीन पुरोंमें रहकर पूजित हों और जब एक साथ मिल जायँ तब जो एक समय बाणसे तीनों पुरोंका नाश कर दे, उसीके हाथसे हमारी मृत्यु हो। मय दानवने इनके लिये स्वर्गमें सोनेका, अन्तरिक्षमें चाँदीका और मर्त्यलोकमें लोहेका लोक बसाया। इन दानवोंने वरके कारण देवताओंपर अत्याचार प्रारम्भ कर दिए। तब महादेवजीने सब देवताओंका आधा-आधा बल लेकर ब्रह्माजीको सारथी बनाकर विश्वकर्माके बनाए रथपर चढ़कर दिव्य धनुष खींचकर त्रैलोक्य-सार-भूत-बाण छोड़ा जिससे त्रिपुर नष्ट हो गए और उन्होंने तीनों पुरोंको जलाकर पश्चिम सागरमें फेंक दिया।

त्रिपुष्कर तीर्थ—ब्रह्माका बनाया एक तीर्थ जहाँ तीन तालाब हैं।

त्रिशंकु—ये सूर्यवंशी राजा सशरीर स्वर्ग जाना चाहते थे। जब वशिष्ठ और उनके पुत्रोंने ऐसा यज्ञ करना स्वीकार नहीं किया तब त्रिशंकुने विश्वामित्रकी शरण ली। विश्वामित्रने जो यज्ञ किया उसमें कोई देवता नहीं आए। तब विश्वामित्रने क्रोधसे त्रिशंकुसे कहा—मेरी तपस्याके फलसे ही तुम सशरीर स्वर्गमें चले जाओ। स्वर्गकी ओर आते देखकर इन्द्रने उसे ढकेलकर कहा—तुमपर गुरुका शाप है, तुम औंधे मुँह होकर लौट जाओ। जब वह नीचे गिरने लगे तब विश्वामित्रने उन्हें बीचमें रोक दिया। तबसे त्रिशंकु वहीं नीचे सिर किए हुए लटके हुए हैं।

त्रिशूल—तीन नोकीले फलकोंवाला महादेवजीका अस्त्र।

त्रेता—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग नामक चार युगोंमेंसे एक। कार्तिक शुक्ल नवमीको त्रेता युग प्रारम्भ हुआ। इस युगमें बारह लाख छानबे हजार वर्ष होते हैं। इसमें मनुष्यकी आयु १० सहस्र वर्षकी होती है, लम्बाई १४ हाथ होती है। इसमें तीन चरण पुण्य और एक चरण पाप होता है, चाँदीके पात्र ही काममें आते हैं। इस युगमें वामन, परशुराम और रामका अवतार होता है। मनुके अनुसार इस युगमें मनुष्योंकी आयु ३०० वर्षकी होती है।

त्रोटक—यह ५, ७ या ९ अंकका एक नाटक होता है। जिसमें स्वर्ग और पृथ्वी दोनोंके विषय वर्णन किए जाते हैं। शृङ्गाररस प्रधान होता है और नायक कोई दिव्य मनुष्य होता है। विक्रमोर्वशीय नाटक त्रोटक ही है।

द

दक्ष—अदितिके पिता और प्रजापति। इन्होंने अपनी १० कन्याएँ धर्मको, १३ कश्यपको, २७ चन्द्रमाको, दो-दो भृगु, अंगिरा और कृशाश्वको तथा ४ तार्क्ष्यको दी थीं। चन्द्रमाको जो इन्होंने कन्याएँ ब्याही थीं उनमेंसे रोहिणीको वह सबसे अधिक प्रेम करता था। तब कृत्तिका आदि सातने दक्षसे यह बात कही। जब दक्षके समझानेपर भी रोहिणीसे ही चन्द्रमा स्नेह करता रहा तब दक्षने उसे शाप दिया कि तुझे क्षय हो जाय। किन्तु फिर चन्द्रमाके गिड़गिड़ानेपर इतना समाधान कर दिया कि मासमें एक पक्ष तुम्हारा क्षय होगा और एक पक्षमें वृद्धि होगी। (देखो कृत्तिका)

दक्षकन्या—दक्षकी असिक्नी नामक पत्नीसे ६० कन्याएँ हुईं। (देखो दक्ष)

दक्षिण—पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, ऊर्ध्व और अधः नामक दस दिशाओंमेंसे तीसरी दिशा। सूर्यकी ओर मुँह करके खड़े होकर दाहिना हाथ अपने कन्धेकी ओर बढ़ा देनेसे जिधर संकेत होता है वही दक्षिण दिशा है। इस दिशाका नाम अवाच्या है।

दक्षिणनायक—कई नायिकाओंपर समान प्रेम रखते हुए सबको प्रसन्न रखनेवाला नायक।

दक्षिण-पवन—दक्षिण दिशासे आनेवाला पवन। वसन्त ऋतुमें जो पवन दक्षिणकी ओरसे चलता है वह स्वास्थ्यके लिये लाभकर है। इसीलिये वसन्तमें दक्षिणानिल सेवन करनेका विधान है। वसन्ते भ्रमणं पथ्यम्। वसन्तमें रोग भी होते हैं, इसीलिये कहा गया है—

वैद्यानां शारदी माता पिता च कुसुमाकरः॥

दक्षिणायन—आकाश-मण्डलमें सूर्य प्रति वर्ष आषाढ़ मासके अन्तमें उत्तरकी ओर जहाँ तक पहुँचते हैं अर्थात् सीधी किरण डालते हैं, वहाँ तकका नाम उत्तर संक्रान्ति या कर्क संक्रान्ति और उस उत्तर संक्रान्तिसे लेकर जहाँ-तक दक्षिणकी ओर पहुँचते हैं अर्थात् सूर्य जब श्रावणसे पौष मास तक उत्तरसे दक्षिणकी ओर मकर रेखा तक आते हैं उसे दक्षिणायन और माघसे आषाढ तक जब दक्षिणसे उत्तरकी ओर चलते हैं तब उत्तरायण कहते हैं।

दण्ड—१. डण्डा २. अपराध करनेपर किसीको शारीरिक कष्ट या आर्थिक असुविधा दी जाती है उसे दण्ड कहते हैं।

दण्ड-नीति—अर्थशास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र [राज्य-शासनके चलानेके नियम] और उपदेश —

दण्डेन नीयते भेदं दण्डं नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्यात त्रीन्!लोकानतिवर्तते॥

ब्रह्माने लोक-स्थितिके लिये दण्ड-नीति बनाई।

दन्तक्षत—काम शास्त्रके अनुसार स्तन, कपोल, ओष्ठ तथा अधरपर जो दाँतके चिन्ह बना दिए जाते वे स्त्रियोंको सुखकर होते हैं—

स्तनयोर्गण्डयोश्चैव ओष्ठे चैव तथाधरे।
दन्ताघातः प्रकर्त्तव्यः कामिनीनां सुखावहः॥

दर्भ—(देखो कुश) एक अरत्नी (कोहनीसे कानी उँगलीतक) लंबी कुशा। कुशासे बड़ी।

दशपुर—मध्य भारतमें स्थित वर्तमान मन्दसोर नगर। कुछ लोगोंका विश्वास है कि कालिदास यहींके थे।

दशार्ण--विन्ध्यके पूर्व-दक्षिणका देश जिसमें दशान नदी बहती है और जिसकी राजधानी विदिशा (वर्त्तमान भिलसा) थी, जो भोपालसे १३ कोस उत्तर पूर्व बेतवाके किनारे पहाड़ीपर बसी हुई है।

दाक्षिणात्य (अग्नि)—जो धनुषाकार कुण्डमें अग्निशालाके दक्षिणमें और गार्हपत्य अग्निके आग्नेय कोणमें स्थित होती है।

दाक्षायणी—दक्षकी पुत्री, कश्यपकी पत्नी, अदिति तथा इन्द्रकी माता।

दाम—साम, दाम्, दण्ड, भेद नामक चार नीतियोंमें से एक। धनका लोभ देकर शत्रुको फँसानेकी चाल। इसका दूसरा नाम दान भी है।

दिक्पति--ज्योतिषके अनुसार विभिन्न दिशाओंके स्वामी ग्रह। पूर्वके सूर्य, आग्नेयके शुक्र, दक्षिणके मंगल, नैर्ऋत्यके राहु, पश्चिमके शनि, वायव्यके चन्द्रमा, उत्तरके बुध और ईशानके बृहस्पति।

दिक्पाल—दसों दिशाओंको पालन करने वाले दस देवता। पूर्वमें इन्द्र, आग्नेयमें अग्नि, दक्षिणमें यम, नैर्ऋत्यमें निऋति, पश्चिममें वरुण, वायव्यमें मरुत, उत्तरमें कुबेर, ईशानमें शिव, ऊर्ध्व दिशामें ब्रह्मा, अधो दिशामें अनन्त।

दिग्गज—आठों दिशाओंको सँभालनेवाले और पृथ्वीको दबाए रखनेवाले आठ हाथी। पूर्वमें ऐरावत, आग्नेयमें पुण्डरीक, दक्षिणमें वाम, नैर्ऋत्यमें कुमुद, पश्चिममें अंजन, वायव्यमें पुष्पदन्त, उत्तरमें सार्वभौम और ईशानमें सुप्रतीक।

दिग्विजय—अपना पराक्रम विख्यात करने के लिये सब देशोंको जीतकर, जीते हुए राजाओं से कर मात्र लेकर उन्हें राज्य लौटा देना।

दिङ्नाग—१. प्रमाण-समुच्चयके लेखक विख्यात बौद्ध ग्रन्थकार। मल्लिनाथने दिङ्नागको कालिदासका प्रतिद्वन्द्वी माना है। २. दिशाओंके हाथी (देखो दिग्गज)

दिव्यलोक--स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि वे लोक जिनमें देवता रहते हैं।

दिव्यास्त्र—मंत्रोंसे चलाए जानेवाले वे अस्त्र-शस्त्र जो देवताओंसे प्राप्त किए जाते हैं।

दुपहरियाका फूल—(देखो बन्धुजीव)

दुर्वासा—एक मुनि, जो शिवजीके अंशसे अत्रिके पुत्र थे। और्व मुनिकी कन्या कन्दलीसे इनका विवाह हुआ था। विवाहके समय इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि पत्नीके सौ अपराध तक क्षमा करेंगे। सौ अपराधके पश्चात् इन्होंने अपनी स्त्रीको शापसे भस्म कर दिया। इसपर और्वने शाप दिया कि तुम्हारा अभिमान दूर होगा। फलतः अम्बरीषने इनका अभिमान दूर किया।

ये बड़े क्रोधी थे। इन्हींके शापसे शकुन्तलाके पति दुष्यन्तने उसका प्रत्याख्यान किया था और इन्हींके शापसे यदुवंश नष्ट हुआ था।

दूषण—(देखो खर)

देव—अमर या देवता जो स्वर्ग-लोकमें रहते हैं। इनकी पलकें नहीं गिरतीं इनके पैर भूमिको स्पर्श नहीं करते, इन्हें पसीना नहीं आता। इनके गलेकी माला मुरझाती नहीं।

देवउठनी एकादशी - (देवोत्थान्या एकादशी) कार्तिक शुक्ल एकादशीको विष्णु भगवान् योगनिद्रासे जागते हैं। इसीलिये उसे देवोत्थान्या-एकादशी कहते हैं। आषाढ़ शुक्ल ११ को विष्णु भगवान् योगनिद्रामें सोते हैं।

देवगिरि—देवताओंका प्रिय एक पर्वत जो कैलासके पास स्थित है। वहाँ अनेक देवताओंकी मूर्तियाँ हैं। सुमेरु और हिमालयको भी देवगिरि कहते हैं।

देवदारु—देवदार नामका बहुत ऊँचा पेड़। हिमालयपर समुद्रकी सतहसे ६ सहस्रसे ८ सहस्र फीट तककी ऊँचाईपर उगता है। यह पेड़ ८० गजतक सीधे ऊँचे चला जाता है। कुमाऊँसे लेकर कश्मीरतक इसके जंगल हैं। इसकी पत्तियाँ पतली और नुकीली होती हैं और इसका घेरा ऊपरसे नीचे-तक ढलुआँ होता है। इसकी लकड़ी सुन्दर, हल्की, सुगन्धित और गेहुएँ रंगकी श्वेत होती है। इसमें घुन या कीड़े नहीं लगते।

देवसेना—१. देवताओंकी सेना, २. कार्तिकेयकी पत्नी और प्रजापतिकी कन्या जो सावित्रीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी। इनका दूसरा नाम षष्ठी वा महाषष्ठी भी है। एक बार केशी दानव इन्हें हर कर ले गया तब इन्द्रने इनकी रक्षाकी और स्कन्दसे इनका विवाह करा दिया।

देवांगना—१. अप्सरा। २. देवताओंकी पत्नियाँ।

देवोत्थान्या—(देखो देवउठनी एकादशी)

दैत्य—असुर, जो कश्यपके औरससे उनकी दिति नामक पत्नीसे उत्पन्न हुए थे।

ध

धनुर्यज्ञ—सीताजीके विवाहके लिये जनकजीने प्रण किया था कि जो महादेवजीका धनुष् उठाकर उसपर डोरी चढ़ा देगा उसीके साथ सीताजीका विवाह होगा। यद्यपि बहुत राजाओंने धनुष् उठानेका प्रयत्न किया तथापि रामके अतिरिक्त कोई भी धनुष् नहीं उठा सका इसीलिये सीताजीका विवाह रामसे हुआ।

धर्म—जिस कामसे इस लोकमें अभ्युदय और परलोकमें मोक्ष मिले वही धर्म है। यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। परहित-सरिस धरम नहिं भाई। परोपकारः पुण्याय पापाय पर-पीडनम्।

धर्मासन—राजा या न्यायाधीश जिस आसनपर बैठकर न्याय करता है।

धातु—वह मूल क्रियारूप जिससे क्रियाके अनेक रूप बनते हैं—जैसे अस्, इ, आदि।

धूम्रकेतु—(देखो पुच्छलतारा)

ध्वजा—१. झंडीका डंडा। २. झण्डा।

न

नक्षत्र—अश्विनी आदि २७ तारक-समूह। (देखो कृत्तिका)

नखक्षत - रतिकालमें प्रेयसीके शरीरपर प्रियतम-द्वारा बनाये जानेवाले नखके चिह्न। कामशास्त्रमें इसका विस्तारसे वर्णन किया गया है। (देखो दन्तक्षत)

नटी—सूत्रधार या नटकी पत्नी।

नन्दनवन—इन्द्रका वह उद्यान जिसमें मनुष्य अपना भोगकाल पूरा करके विहार करते हैं। यह सृष्टिभरके सब स्थानोंमें सुन्दरतम माना गया है। यहाँ आकाश-गंगामें सुनहरे कमल खिलते हैं भूमिपर कल्पवृक्ष फलता फूलता है, कामधेनु यथेच्छ फल देती है और यहाँ

पहुँचकर लोग अप्सराओंके साथ विहार करते हैं। यहाँ किसीको रोग, शोक, भय और चिन्ता नहीं होती और भूख-प्यास नहीं सताती।

नन्दिग्राम—अयोध्यासे चार कोसपर एक गाँव जहाँ रहकर भरतने रामके वियोगमें १४ वर्षतक तप किया और अयोध्याका राज्य चलाया था।

नन्दिनी—देव-सुरभि कामधेनुकी कन्या और वशिष्ठकी गौ जिसे प्रसन्न करके दिलीपने पुत्र पाया था। एक दिन वशिष्ठके यहाँ सेना लेकर विश्वामित्रजी गए। वशिष्ठने नन्दिनी गौके प्रभावसे उनका इच्छानुसार सत्कार किया। विश्वामित्रने उनसे यह गौ माँगी। जब वशिष्ठने अस्वीकार कर दिया तब वे बलपूर्वक गौको ले चले। मार्गमें नन्दिनीके चिल्लानेसे उसके विभिन्न अंगोंमेंसे म्लेच्छों और यवनोंकी इतनी सेनाएँ निकल पड़ीं कि विश्वामित्र हार गए।

नन्दी—१. शालंखायण नामक शिवजीके द्वारपाल। २. शिवजीके एक प्रकारके गण जिनके तीन भेद होते होते हैं—कनकनन्दी, गिरिनन्दी और शिवनन्दी।

नमुचि—एक दानव जो शुम्भ और निशुम्भका तीसरा भाई था और कश्यपकी दनु नामक पत्नीसे उत्पन्न हुआ था। २. विप्रचित नामक दानवका पुत्र, जो इन्द्रका मित्र था, जिसने सोमरसके साथ साथ इन्द्रका बल भी हर लिया था और जिसे इन्द्रने सरस्वती और अश्विनीकुमारसे वज्र लेकर मारा था। इन्द्रने इससे प्रतिज्ञा की थी कि मैं न तो तुम्हें दिनमें मारूँगा और न रातमें, न सूखे अस्त्रसे न गीले अस्त्रसे। इसीलिये इन्द्रने आक या मदारके समान एक वज्रास्त्रसे उसका वध किया।

नमेरु—एक प्रकारका पुन्नाग वृक्ष। इसे हिन्दीमें मुल्तानी चम्पा कहते हैं। इसका फूल बड़ा-बड़ा लाल-लाल होता है जिसमें अत्यन्त मोहक गंध निकलती है।

नरकट—सरकण्डे, (शरपत्र, सरपत) के समान दलदलमें होनेवाली एक लंबी घास, जिसमें पोरदार छड़ी निकलती है जिससे लिखने के कलम बनाए जाते हैं। इसका पौधा बेंतके समान पत्तियाँ, बाँसकी पत्तियोंके समान और डंठल या छड़ी पोली होती है जिससे हुक्केकी निगालियाँ, टोकरी और मूढे भी बनते हैं। इसे नरकुल भी कहते हैं।

नर्मदा (नदी)—यह रीवाँ राज्यके अमरकण्टक पहाड़से निकलकर भड़ौंचके पास अरब सागरमें गिर जाती है। यह विन्ध्यके दक्षिण ८०० मील तक बहती है। अमरकण्टकसे निकलकर माल भूमिमें पहुँचकर वहाँसे ७० फुट नीचे गिरकर कपिलधारा प्रपात बनाती है। इस नदीमें स्नान करनेका बड़ा पुण्य बताया गया है क्योंकि यह शंकरकी देहसे उत्पन्न हुई है।

नलकूबर—कुबेरका पुत्र, मणिग्रीवका भाई। एक बार यह कैलास पर्वतपर मदिरा पीकर स्त्रियोंके साथ विहार कर रहा था तब नारदने शाप दिया, जिससे यह वृन्दावनमें यमलार्जुन हुआ था।

नलगिरि—(हाथी) उज्जयिनीके राजा चंडप्रद्योतका प्रसिद्ध वेगशील हाथी।

नवमल्लिका—१. चमेली, २. नेवारी।

नहुष—ये चन्द्रवंशी राजा आयुके पुत्र और पूरूरवाके पौत्र थे। ये बड़े प्रतापी चक्रवर्ती राजा थे। जब वृत्रासुरको मारनेपर ब्रह्महत्याके डरसे इन्द्र कमलनालमें जा छिपे, तब बृहस्पतिने नहुषको ही इन्द्र बना दिया। इन्द्राणीप मोहित होकर जब इन्होंने उन्हें पास बुलाना चाहा तब इन्द्राणीने कहलाया कि आप सप्तर्षियोंके कन्धेपर पालकीपर चढ़कर आइए। पालकीपर चढ़कर हड़बड़ीमें इन्होंने सप्तर्षियोंसे कहा—'सर्प, सर्प' अर्थात् जल्दी-जल्दी चलो। इसपर अगस्त्यजीने इन्हें शाप दे दिया कि

जाओ; सर्प हो जाओ। किन्तु प्रार्थना करनेपर अगस्त्यने कहा—युधिष्ठिर तुम्हें शाप-मुक्त करेंगे इसीसे ये बहुत दिनों सर्प बनकर द्वैतवनमें पड़े रहे और जब इनकी पकड़से भीमको छुड़ानेके लिये युधिष्ठिर आए तब इनकी मुक्ति हुई।

नाग—कश्यपकी कद्रु नामक पत्नीसे अनन्त, वासुकि, कम्बल, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख, कुलिक और अपराजित नामके नाग उत्पन्न हुए। ये नाग, भूमिके नीचे रमणक या रमणीयक द्वीपमें रहते थे।

नागकन्या—नाग नामक मनुष्य जातिकी कन्याएँ, जो बहुत सुन्दर बताई गईं हैं।

नागपाश - वरुणका अस्त्र (फन्दा) जिससे वे शत्रुओंको बाँध लेते हैं। मेघनादने इन्द्रसे यही अस्त्र प्राप्त किया था। तंत्रके अनुसार ढाई फेरेके बन्धनका नाम नागपाश है।

नागरमोथा—नागरमुस्ता—एक प्रकारकी घास जो जंगली सूअर बहुत खाते हैं।

नान्दी—नाटकके प्रारम्भमें देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये जो प्रार्थनाएँ की जाती हैं। साहित्य दर्पणके अनुसार यह आठ या १२ पदोंमें होनी चाहिए किन्तु भरतने १० पदोंकी भी बताई है। नान्दीका पाठ मध्यम स्वरमें होना चाहिए।

नारद—अपने पितरोंको सदा जलदान देनेके कारण इनका नाम नारद पड़ा। ये ब्रह्माके मानस-पुत्र उनके कण्ठसे उत्पन्न हैं और देवर्षियोंमें प्रधान माने जाते हैं।

नारायण—(नर-नारायण) एक बार शरभरूपी महादेवने अपने दाँतसे नरसिंहके दो टुकड़ कर डाले जिसमें उनके नररूपसे तपस्वी मुनि नरकी उत्पत्ति हुई और सिंहाकृति देहसे नारायणकी। ये नर और नारायण हिमालयपर बदरिकाश्रममें तपस्या करने लगे। वहाँ उनके तपसे डरकर इन्द्रने बाधा देनेके लिये अप्सराएँ भेजीं। उन्हें लज्जित करनेके लिये नारायणने अपनी जंघासे उर्वशी उत्पन्न करके खड़ी कर दी। जिसके रूपके सामने अप्सराएँ लजा गईं।

निचुल-- एक प्रकारके बेंतका पेड़।

निमिकुल—मिथिलावंशको स्थापित करनेवाले और इक्ष्वाकुके पुत्र निमिने यह विदेह वंश चलाया। एक बार निमिने वशिष्ठको बुलाया किन्तु वशिष्ठजी इन्द्रका यज्ञ करने चले गये। तब निमिने दूसरे ऋषियोंको बुलाकर यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। इसपर वशिष्ठने शाप दिया कि मेरी अवज्ञा करनेके कारण तू दीन होगा और तेरा शरीर नहीं रहेगा। निमिने भी वशिष्ठको शाप दिया कि बिना समझे-बूझे शाप देनेके कारण आपका भी शरीर नहीं रहेगा। यह कहकर निमिने शरीर छोड़ दिया और उनकी देह तेलमें रख दी गई। उधर वशिष्ठजी शरीर छोड़ कर मित्रावरुणके तेजमें समा गए और फिर मित्रावरुणके औरससे उर्वशीके द्वारा उत्पन्न हुए। यज्ञकी समाप्तिपर जब देवताओंने मृतक निमिसे वर माँगनेके लिये कहा तब उन्होंने उत्तर दिया—मैं जीना नहीं चाहता। किन्तु यही चाहता हूँ कि मैं आँखोंपर रहूँ। तबसे वे सबकी पलकोंपर रहते हैं। उनकी मृत देहको मथकर एक पुत्र उत्पन्न किया गया जिसका नाम जनक रक्खा गया और इसी मथनेसे उत्पन्न होनेके कारण उनका नाम मिथि भी था। उसी समयसे निमि सबकी पलकोंपर रहते हैं और सबकी पलकें उठती गिरती रहती हैं उन्हींका कुल निमिका कुल कहलाता है।

नियम—१. किसी प्रकारका व्रत। २. शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान।

निर्विन्ध्या—विन्ध्याचलसे निकली हुई एक नदी।

नीच—पहाड़ी जो विन्ध्यकी ही एक प्रशाखा है।

नीति—षट्-नीति—'सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव।'

नीवार—(देखो तिन्नी)

नूपुर—(देखो बिछुए)

नैर्ऋत—१. एक राक्षस। २. नैर्ऋत्य-कोणके दिक्पाल।

नैर्ऋत्य—पश्चिम-दक्षिण कोणकी दिशा।

नैमिषारण्य—वर्तमान नीमसार नामका तीर्थ जो अवधके सीतापुर जिलेमें है। यहाँ गौमुख मुनिने निमिषमात्रमें असुरोंको भस्म कर दिया था इसीलिये इसका नाम नैमिषारण्य पड़ा। देवी भागवतमें लिखा है :—जब कलिकालके भयसे ऋषि लोग ब्रह्माके पास गए तब उन्होंने मनोमय चक्र लेकर कहा कि जहाँ इसकी नेमि (घेरा) चूर-चूर हो जाय वहीं पवित्र स्थान समझकर रहना। वही नैमिषारण्य है। यहाँ गोमती नदी बहती है।

नैमिषेय यज्ञ—निमिषारण्यमें किया हुआ यज्ञ।

न्यायासन—(देखो धर्मासन)

प

पक्ष—प्रतिमासमें १५ दिनका समय। कृष्ण पक्षमें चन्द्रमा नित्य एक कला घटता है शुक्ल पक्षमें नित्य एक कला बढ़ता है।

पंचतत्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्हीं पाँच तत्त्वोंके संयोगसे सृष्टि बनी है।

पंचवटी—१. पीपल, बेल, बड़, आँवला और अशोकके वृक्षोंका समूह। इसमेंसे पीपलको पूर्व, बेलको उत्तर, बरगदको पश्चिम, आँवलेको दक्षिण और अशोकको आग्नेय कोणमें लगाकर पाँच वर्ष बाद इस पंचवटीकी प्रतिष्टा करनी चाहिए और इसके बीचमें चार हाथ लम्बी-चौड़ी वेदी बनानी चाहिए। २. दण्डकारण्यमें नासिकके पास गोदावरीके तटपर एक वन जिसमें वनवासके समय राम, लक्ष्मण, सीताने निवास किया था, जहाँ शूर्पणखाके नाक-कान काटे गये थे और सीताहरण हुआ था।

पंचबाण—१. कामदेव २. कामदेवके पाँच बाण—द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन। कामदेवके पाँच बाण ये हैं—कमल, अशोक, आमकी मंजरी, नवमल्लिका (चमेली) और नीला कमल।

अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥

पञ्चाप्सर—(पम्पासर) जहाँ शातकर्णि मुनि तपस्या करते थे। इनका तप भंग करनेके लिये इंद्रने पाँच अप्सराएँ भेजी थीं, रामायणमें इन्हें भाण्डकर्णी लिखा है।

पर्णकुटी—पत्तोंसे छाई हुई कुटिया या झोंपड़ी। वनवासके समय लक्ष्मणने चित्रकूट और पञ्चवटीमें रामके लिये बड़ी सुन्दर पर्णकुटी बनाई थी जिसकी वाल्मीकिने बड़ी प्रशंसा की है।

पताका—झण्डी। झण्डीका कपड़ा।

पद्मराग—लाल रंगका 'लाल' नामक मणि। कहा जाता है कि जब इंद्रने असुरोंको मारते समय उनका रक्त पृथ्वीपर न गिरने देनेके लिये सूर्यको नियुक्त किया और जब रावणके डरसे सूर्य गिर गये तब असुरोंका रक्त सिंहल देशमें रावण-गङ्गा नदीमें जा गिरा। उसीसे तीन प्रकारके लालमणिकी उत्पत्ति हुई—सुगन्धि, कुरुविन्द और पद्मराग। पद्मरागका रंग कमल-जैसा, चमक जुगनू-जैसी, कोंपल सारस या चकोर-जैसी और देखनेमें लाल-जैसा होता है।

पद्मासन—बाएँ जंघेके ऊपर दाहिना जंघा चढ़ाकर, छातीपर अँगूठा रखकर नासिकाके अग्रभागको देखना पद्मासन कहलाता है। इस आसनको साधनेसे किसी प्रकारकी कोई व्याधि नहीं होती।

पन्ना—इसे ही मरकत कहते हैं। इसका रंग हरा उजला होता है। कहा जाता है जिस समय दैत्यपतिका पित्त लेकर नाग-राज वासुकी चले जा रहे थे उस समय गरुड उसे ग्रसनेको तैयार हुए। उसी समय वासुकीने वह पित्त तुरुष्क देशके पर्वतकी घाटियोंपर ले जा फेंका और वहीं मरकतमणि या पन्ना फैल गया। पन्नेमें यह गुण है कि सर्पका जो विष औषधि या मंत्रसे दूर न हो वह इससे दूर हो जाता है। पन्ना धारण करनेसे सब पाप क्षय हो जाते हैं, धनधान्यकी वृद्धि, युद्धमें विजय तथा रोगोंका नाश होता है।

पम्पासर—(देखो पंचाप्सर) दक्षिणमें पंपा नदीके किनारे और ऋष्यमूक पर्वतके पास एक तालाब है। वर्तमान वनमलय नदी ही पंपा नदी जान पड़ती है और पश्चिमी घाट ही ऋष्यमूक पर्वत है। यहीं मतंग ऋषिका आश्रम भी था।

परमानन्द—निर्विकल्प समाधिके समय योगीकी त्रिपुटीमें जब परा ज्योतिका प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है वही परमानन्दकी अवस्था है। इसे ब्रह्मानंद भी कहते हैं।

परशुराम—जमदग्निके औरससे रेणुकाके पुत्र। ये अपने पाँच भाइयोंमेंसे सबसे छोटे थे। इनके भाई थे—रुमण्वान्, सुषेण, वसु और विश्वावसु। चैत्र शुक्लातृतीया पुनर्वसु नक्षत्रमें इनका जन्म हुआ था। इन्होंने गंधमादन पर्वतपर तपस्या करके महादेवजीसे अस्त्र-विद्या सीखी और गणेशजीसे परशुविद्या सीखी इसीलिये परशुराम कहलाते हैं। एक बार इनकी माता रेणुकाने नदीमें चित्ररथको अपनी स्त्रीके साथ विहार करते देखा और वहाँसे कामोद्विग्न होकर घर आईं। जमदग्निको इसपर क्रोध हुआ और उन्होंने बारी-बारीसे अपने पुत्रोंको आज्ञा दी कि माताका वध कर डालो। अन्य चारों भाइयोंने तो पिताका कहना नहीं माना पर परशुरामने पिताकी आज्ञासे माताका सिर काट डाला। इसपर प्रसन्न होकर जमदग्निने वर माँगनेके लिये कहा। परशुरामने कहा—मेरी माताको जिला दीजिए। उन्हें परमायु दीजिए, मेरे भाइयोंको चेतन कर दीजिए और ऐसा कीजिए कि युद्धमें मेरे सामने कोई न डटे। जमदग्निने ऐसा ही वर दिया। एक बार हैहय राजा कार्त्तवीर्य सहस्रार्जुन जमदग्निके आश्रममें आया। रेणुकाने उसका स्वागत किया किंतु वह मदांध होकर वृक्षोंको उजाड़कर होमधेनुका बछड़ा लेकर चल दिया। परशुरामको ज्ञात हुआ तो उन्होंने तुरंत आकर कार्त्तवीर्यकी सहस्रों भुजाएँ काट डालीं। इसके बदलेमें कार्त्तवीर्यके कुटुम्बियोंने जमदग्निको मार डाला। इसपर क्रुद्ध होकर परशुरामने क्षत्रियोंके नाशका प्रण किया और सब क्षत्रियोंको मार डाला। जब इस क्रूरताकी निन्दा ब्राह्मणोंमें होने लगी तब वे तपस्याके लिये वनमें चले गए। वहाँ इनके पौत्र परावक्षुने यह कहकर उन्हें उत्तेजित किया कि ययातिके यज्ञमें अभी बहुतसे राजा आए थे इसलिये आपकी प्रतिज्ञा व्यर्थ हुई है। इसपर उन्होंने पुनः क्षत्रियोंका नाश प्रारम्भ किया और यह सब कर चुकनेपर सारी पृथ्वी कश्यपको दानमें दे डाली। कश्यपने बचे हुए क्षत्रियोंकी रक्षाके लिये परशुरामसे कहा—यह पृथ्वी हमारी हो चुकी, अब तुम जाकर दक्षिणमें रहो। तब वे दक्षिण (वर्त्तमान केरल) में समुद्रके तटपर शूर्पारक नामक स्थानमें रहने लगे। परशुरामने २१ बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करके कुरुक्षेत्रके समंतपंचक (५ ताल) रुधिरसे भर दिए और उन्हीं तालोंसे तर्पण करके अपने पितामह महर्षि ऋचीकका दर्शन पाया था जिसमें ऋचीकने परशुरामको क्षत्रिय-वध करनेसे रोक दिया। इनमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों अंश थे क्योंकि इनके पिता ब्राह्मण थे और माता क्षत्रिय। इनका कथन था—

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।
इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि॥

परा—१. नाभि-रूपी मूलाधार चक्रसे पहले-पहल निकलनेवाली वाणी जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरीमेंसे सबसे पहली है। २. ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करनेवाली उपनिषद् विद्या या ब्रह्म-विद्या।

परिक्रमा—१. किसी पूजनीय व्यक्ति, देवमूर्ति या स्थानके चारों ओर दाहिनी ओरसे घूमना। २. देवमंदिरके चारों ओर घूमनेके लिये बनी हुई गली।

पारिपार्श्वक—सूत्रधारके पास रहनेवाला नट। इसे पारपार्श्विक भी कहते हैं।

परिवह—वह यवन जो प्रातःकालीन वायुपर रहता है, आकाश-गङ्गाको बहाता है और शुक्र तारेको घुमाता है। आठ प्रधान पवन ये हैं—आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह और परावह।

पलाश—ढाक या किंशुक। इसके पत्ते चौड़े, गोल और एक डंठलमें तीन लगते हैं। गर्मीमें इसमें लाल फूल लगते हैं जिसे टेसू कहते हैं, इसे पकानेसे पीला रङ्ग निकलता है। उस पीले रङ्गसे लोग होली खेलते हैं। इसके पत्ते और जड़में बड़ा गुण होता है। इसके फूलको पकाकर उसके पानीसे नहानेसे सब देह विकार मिटते हैं।

पवन—(पाँच) प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नाकमें स्थित पवन प्राण, गुदा आदि स्थानोंमें अपान, अन्य जलादिको पचानेवाला समान, कण्ठमें उदान और सब नाड़ियोंमें व्याप्त पवन व्यान है। सांख्यके आचार्योंने नाग, कूर्म, वृक, देवदत्त और धनंजय नामक पाँच वायु माने हैं। उगलानेवाले वायुका नाम नाग, आँखें खोलनेवालेका नाम कूर्म, भूख उत्पन्न करनेवालेका नाम वृक, जँभाई उत्पन्न करनेवालेका नाम देवदत्त और शरीर पोषण करनेवाले वायुका धनञ्जय।

पवन-(४९) प्रलयकालके उनचास पवन।

पश्यन्ती—मूलाधारसे पहले उठा हुआ वह नागरूप वर्ण या वाणी जो हृदयमें पहुँच जाती है।

पाटल—१. गुलाबका फूल। २. गुलाबी रंग।

पाताल—पृथ्वीके नीचेके सात लोकोंमेंसे सातवाँ लोक। ये लोक हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल (पद्म-पुराण)। पाताल भी सात माने गए हैं—अतल, नितल, वितल, गभस्तिमत्, तल, सुतल और पाताल। (शब्दरत्नावली) ये पाताल अनेक भवन, उद्यान, उपवन आदिसे सुशोभित हैं। ये सब स्वर्गलोकसे भी बढ़कर हैं। इनमें महानाग और सर्प निवास करते हैं। यहाँ चन्द्रमा और सूर्य प्रकाश देते हैं, गर्मी-सर्दी नहीं होती।

पाण्ड्य—भारतमें धुर दक्षिणका भाग जिसमें वर्तमान तिरुवरांकुर, मद्रासका दक्षिणी भाग और कोचीन (कोच्चिन)-का प्रदेश पड़ता है।

पातिव्रत्य—अपने पतिमें शुद्ध निष्ठा रखकर पतिको ही देवता और सर्वस्व माननेका भाव।

पाद्य—पैर धुलानेके लिए जल।

पारसिक (पारसीक)—भारतके पश्चिममें पारस व ईरान देशके निवासी जो पहले अग्नि-पूजक थे और अब अधिकांश मुसलमान हैं।

पारिजात—समुद्र-मन्थनसे निकला हुआ वृक्ष। यह इन्द्रकी नगरी अमरावतीमें लगा दिया गया था जिसे श्रीकृष्णजी सत्यभामाके कहनेसे द्वारका ले आए थे।

पिण्डदान—पितरोंको तृप्त करनेके लिये दूधमें पके भात, मधु, शक्कर, तिल और घीका पिण्ड।

पिनाक—महादेवजीका धनुष् जो उन्होंने प्रसन्न होकर जनकको दिया था।

पिशाच—१. कच्चा माँस खानेवाले। २. एक हीन देवयोनि। ये अत्यन्त अपवित्र

और गन्दे बताए गए हैं ।

पुंसवन—गर्भके तीसरे महीनेमें पुत्र संतान प्रसव करानेके लिये यह संस्कार कराया जाता है ।

पुच्छलतारा--धूम्रकेतु । एक प्रकारका अत्यन्त चमकदार तारा जिसके पीछे लम्बी पूँछसी दिखाई देती है। कहा जाता है कि जब यह दिखाई देता है तब पृथ्वीपर कोई न कोई उपद्रव होता है ।

पुत्रेष्टि—(यज्ञ) पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा से किया हुआ यज्ञ ।

पुनर्वसु—२७ नक्षत्रोंमेंसे सातवाँ नक्षत्र । इसकी आकृति धनुषके समान है और इसमें पाँच तारे हैं । इसके पहले तीन चरणोंमें जन्म लेनेसे मिथुन राशि, और चौथे चरणमें कर्क राशि होती है । इस नक्षत्रमें जो जन्म लेता है वह बहुत मित्रवाला, शास्त्र पढ़नेवाला, रत्नोंसे प्रेम करनेवाला, दाता, प्रतापी और भूस्वामी होता है ।

पुरु—ययातिके सबसे छोटे पुत्र जिन्होंने अपने पिताको अपना यौवन अर्पित किया था । इन्हींसे चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई है ।

पुरोहित—जो हित करनेवाला, वेदस्मृति जाननेवाला, सत्यवादी, पवित्र, ब्राह्मण-कर्म करनेवाला, निर्मल आचरण करनेवाला, आपत्ति दूर करनेवाला सौम्य होता है ।

पुलस्त्य—ब्रह्माके मानस पुत्र और सप्तर्षियोंमेंसे एक ऋषि जिनकी गिनती प्रजापतियोंमें भी होती है । इन्होंने ब्रह्मासे आदि-पुराण सुनकर उसका प्रचार पृथ्वीपर किया था । ये विश्रवाके पिता तथा कुबेर और रावणके पितामह थे ।

पुष्पक—कुबेरका विमान, जो इच्छानुसार चलता था । रावणने यह विमान कुबेरसे छीन लिया था किन्तु रामने रावणवधके उपरान्त वह कुबेरको लौटा दिया था ।

पुष्करावर्तक—पुष्कर अर्थात् जलाशय, आवर्त्तक अर्थात् समुद्र या नदीमें पड़ी हुई भँवर जिनमें भाप उठनेसे बादल बनते हैं । ज्योतिष् तत्त्वमें आवर्त्त, संवर्त, पुष्कर और द्रोण नामक चार प्रकारके मेघोंका उल्लेख किया गया है । इनमेंसे आवर्त्त-मेघ निर्जल, संवर्त बहुत जलवाला, पुष्कर भयंकर जलवाला और द्रोण सब प्रकारके धान्योंको बढ़ानेवाला होता है—

आवर्तो निर्जलो मेघः संवर्तश्च बहूदकः ।
पुष्करो दुष्कर-जलो द्रोणः शस्य-प्रपूरकः।।

[कालिदासने आवर्त वंशके निर्जल मेघ और पुष्कर नामक दुष्कर जलवाले मेघको ही दूत बनाकर भेजा है क्योंकि दोनों ही प्रजाके लिये निरर्थक हैं ।]

पुष्य—२७ नक्षत्रोंमें आठवाँ नक्षत्र । इसकी आकृति बाणके समान है । सब पुण्य कार्य इसी नक्षत्रमें किए जाते हैं । यह नक्षत्र कर्क राशिमें पड़ता है । इसमें जन्म लेनेवाला बुद्धिमान्, कृतज्ञ, धनधान्ययुक्त, परम विद्वान्, आस्तिक, पिता-माताका भक्त, अभिनय-कुशल और सम्पन्न होता है । इस नक्षत्रमें गंगास्नान करनेसे करोड़ों कुलोंका उद्धार हो जाता है ।

पृथु—त्रेतायुगके सूर्यवंशी पाँचवें राजा । जब राजा वेणुका निःसन्तान देहान्त हो गया तब ब्राह्मणोंने इनके दोनों हाथ हिलाए जिससे इनके दाहिने हाथसे पृथु और बाएँसे एक अर्चि नामकी कन्या हुई जिनका परस्पर विवाह कर दिया गया । जब पृथुका राज्याभिषेक हुआ तब पृथ्वीसे अन्न उत्पन्न होना बन्द हो गया । पृथुने झट अपने धनुष्पर बाण चढ़ाकर पृथ्वीको दौड़ाया और कहा—तुम अन्न क्यों नहीं उत्पन्न करती हो । तब पृथ्वीने कहा—ब्रह्माने मुझपर

जो ओषधियाँ आदि उत्पन्न की थीं उनका लोग दुरुपयोग करने लगे हैं । प्रजापालन और लोकहितका किसीको ध्यान नहीं है इसी कारण मैंने सब ओषधियोंको अपने उदरमें रख लिया है । अब आप राजा हो गए इसलिये कोई बछड़ा, दुहनेका बर्तन और दुहनेवाला खड़ा कीजिए । मुझे ऐसा समतल बना दीजिए कि वर्षाका जल गिरकर समान रूपसे फैल जाय । तब पृथुने मनुको बछड़ा बनाया और अपने हाथपर सब ओषधियाँ दूह लीं । इसके पश्चात् अनेक ऋषियोंने अनेक प्रकारसे अनेक वस्तुओंको बछड़ा बना-बनाकर पृथ्वीको दूहा । हिमालयको बछड़ा बनाकर पर्वतोंने भी अनेक रत्न दुह लिए थे तभीसे पृथ्वीका नाम दुहिता पड़ा और पृथ्वी धान्यपूर्ण हो गई । यह सब करके पृथुने ९९ अश्वमेध यज्ञ किए । जब सौवाँ यज्ञ कर रहे थे तब इन्द्र उनका घोड़ा लेकर भागे । पृथुके पीछा करनेपर इन्द्रने जो अनेक रूप धारण किए उन्हींसे जैन, बौद्ध, कापालिक आदि मतोंकी सृष्टि हुई । किन्तु पृथुने इन्द्रसे घोड़ा छीन लिया और तबसे इनका नाम विजिताश्व पड़ा । इस यज्ञमें पृथुने इन्द्रको मन्त्र-द्वारा भस्म करना चाहा पर ब्रह्माने आकर मेल करा दिया । यज्ञ समाप्त करके पृथुने सनत्कुमारसे ज्ञान प्राप्त किया ।

पौलोमी—(देखो शची)

प्रणव—ओंकार । अकारसे विष्णु, उकारसे महेश्वर और मकारसे ब्रह्मा । अतः, ओंकार कहनेसे तीनोंका स्मरण होता है । मनुके अनुसार वेद-पाठके पहले और पीछे प्रणवका उच्चारण कर लेना चाहिए । ओंकार और अर्थ ये दो शब्द ब्रह्माका कण्ठ छेदकर बाहर निकले थे इसीसे ये मंगल-जनक कहे जाते हैं । प्रणवके कारण मंत्र और क्रियाके सब दोष दूर हो जाते हैं ।

प्रतिपदा—प्रत्येक पक्षकी पहली तिथि (प्रतिपद्) । प्रतिपद् तिथिका नाम नन्दा भी है । प्रतिपदको तेल लगाना, बाल बनवाना और कोंहड़ा (कूष्मांड) खाना निषिद्ध बताया गया है । प्रतिपदाको जो जन्म लेता है वह मणि आदिसे संयुक्त, मनोहर कान्तिवाला, प्रतापशाली और कुलका उद्धारक होता है ।

प्रतिष्ठानपुरी—चन्द्रवंशी राजा पुरूरवाकी राजधानी गंगा-जमुनाके संगमपर थी जहाँ अब झूँसी नगरी है ।

प्रतिहार—(प्रतीहार)—१. द्वारपाल । २. राज कर्मचारी जो सदा राजाओंके पास रहते थे और सब प्रकारके समाचार सुनाया करते थे । ये प्रायः पढ़े-लिखे ब्राह्मण या राज-परिवारके होते थे ।

प्रतीहारी—(देखो प्रतिहार) स्त्री प्रतिहारी कहलाती है ।

प्रत्यय—वह अक्षर जो शब्दके अन्तमें जोड़ देनेसे अर्थकी विशेषता उत्पन्न करता है । जैसे 'समर्थ' शब्दमें 'ता' लगा देनेसे 'समर्थ' होने गुणका बोध कराता है ।

प्रदक्षिणा—देवमूर्ति या पूज्य पुरुषके दाहिनी ओरसे उसके चारों ओर घूमना । देवीकी प्रदक्षिणा एक बार, सूर्यकी सात बार, विनायककी तीन बार, विष्णुकी चार बार और महादेवकी आधी बार करनी चाहिए । कालिका पुराणमें लिखा है कि दाहिना हाथ फैलाकर और सिर झुकाकर देवताको दाहिनी ओर करके एक या तीन बार उनकी परिक्रमा की जाती है ।

प्रद्योत—उज्जयिनीके राजा जो विक्रमकी शताब्दीसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व राज्य करते थे । इनका नाम चण्ड-प्रद्योत भी है । इन्हींकी कन्या वासवदत्ताका हरण वत्सराज उदयनने किया था ।

प्रमथ--१. महादेवजीके मुखकी फेनसे बत्तीस करोड़ प्रमथोंकी सृष्टि हुई है । २. महादेवजीके खेल-कूद और विहारमें सहायता देनेवाले उनके गण । ये सब विचित्र आभरणोंसे अलंकृत, जटाजूट और अर्धचन्द्र धारण किए हुए उजले वृषपर चढ़े हुए उमाके समान सुन्दरी कामिनियोंको साथ लेकर पार्वती और महादेवके पीछे-पीछे उनके विहारमें साथ रहते हैं और जब महादेव-पार्वतीजी एकान्त विहार करते हैं तब ये द्वारकी रक्षा करते हैं । ३. शिवके पार्षद जो हास्यरसके अधिष्ठाता देवता कहलाते हैं ।

प्रमद-वन---रनिवासकी फुलवारी ।

प्रमोद-वन---आनन्द या विहार करनेका उपवन ।

प्रलय---१. सम्पूर्ण सृष्टिका विनाश । यह चार प्रकारसे होता है---नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक ---

नित्यं नैमित्तिकं चैव प्राकृतात्यन्तिको तथा ।
नित्यं संकीर्त्यते नाम्ना मुनिभिः प्रति संचर ॥

लोकमें जो बराबर क्षय हुआ करता है वह नित्य प्रलय है । कल्पके अन्तमें तीनों लोकोंका जो क्षय होता है वह नैमित्तिक या ब्राह्म प्रलय कहलाता है । जिस समय प्रकृतिके महदादि विशेष तत्त्व विलीन हो जाते हैं वह प्राकृतिक प्रलय कहलाता है । ज्ञानकी पूर्णावस्था प्राप्त होनेपर ब्रह्म या चित्तमें लीन हो जाना आत्यन्तिक प्रलय है ।

प्रवेशक---नाटकमें वह स्थल जहाँ कोई पात्र अपने वार्तालाप-द्वारा दो अंकोंके बीचकी घटनाका परिचय देता है ।

प्रवाल---१. लाल रंगका मूँगा । २. पत्तोंकी कोंपलें ।

प्राग्ज्योतिष---असम (आसाम) देश, जो भारतवर्षमें पूर्वकी ओर अवस्थित है ।

प्राणायाम---नाकसे प्राणवायुको भीतर खींचना (पूरक), रोकना (कुंभक) और बाहर निकाल देना (रेचक) प्राणायाम कहलाता है । इसका नियम यह है --यदि ३२ गिनते हुए साँस भीतर खींची जाय तो ६४ तक गिनकर उसे रोक रखना चाहिए और १६ गिनकर उसे धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए । साँस खींचते या छोड़ते हुए शीघ्रता नहीं करनी चाहिए अन्यथा बड़ी हानि होती है और अनेक रोग हो जाते हैं ।

प्रियंगु---एक प्रकारकी सुगन्धित जड़ी, जिसे संस्कृतमें फलिनी और पीता भी कहते हैं । यह भारतके पश्चिमी तटके देशोंमें और श्रीलंका, सिंगापुर, जावा, सुमात्रा, मलायामें होती है । इसका फल मीठा होता है ।

प्रियाल---इसे संस्कृतमें अखट्ट, स्नेहबीज, तापस-प्रिय भी कहते हैं । इसीका बीज चिरौंजी कहलाता है । इसका वृक्ष विन्ध्यके जंगलोंमें होता है । इसमेंसे बढ़िया गोंद भी निकलता है ।

ब

बकुल---मौलसिरीका पेड़ । इसके फूलोंकी सुगन्धि बड़ी भीनी होती है । यह भारतके प्रायः सभी स्थानोंमें पाया जाता है । इसकी छालके लाल रससे रेशमी और सूती कपड़े रँगे जाते हैं । यह गर्मीमें फूलता है और इसके फल पकनेपर स्वादिष्ट लगते हैं ।

बडवानल---एक बार महर्षि और्व अयोनिज पुत्रकी इच्छासे अपना वक्षस्थल मथने लगे । इससे जो ज्वालामय पुरुष उत्पन्न हुआ उसने पितासे प्रार्थना की कि मैं भूखसे व्याकुल हूँ, मुझे जगत् भक्षण करनेकी आज्ञा मिले । ब्रह्माजी यह सुनकर और्वके पास गए और उनसे कहा कि अपने पुत्रको सँभालिए । और्वने कहा--आपही कुछ उपाय निकालिए । ब्रह्मा बोले---

समुद्रमें इन्द्रपत्नी वडवाके मुखमें इसका वास होगा और समुद्रके जलरूपी हविसे इसकी भूख मिटेगी और यह वडवानल कहलायेगा। सृष्टिके अन्तमें यही वडवानल देवासुरोंको भक्षण कर जायगा।

बदरिकाश्रम—हिमालय पर्वतपर कण्वाश्रम और नन्द पर्वतके बीच वैष्णव तीर्थ है जहाँ नरनारायण अर्जुनने तपस्याकी थी और श्रीकृष्ण भी उनके साथ थे। (देखो नर-नारायण)

बन्धुजीव—(बन्धूक) दुपहरियाका फूल। दुपहरियाका पौधा। इसका फूल चार प्रकारका होता है–नीला, श्वेत, पीला और लाल। छोटी कटोरीके आकारका यह अत्यन्त लाल फूल लगभग ६ से १० इञ्च तक लम्बी शाखाओंमें लगता है, पत्ते छोटे-छोटे और कोमल होते हैं, इसे संस्कृतमें रक्तक, जीवन, बन्धूक, बन्धुल, माध्यन्दिन, हरिप्रिय, रक्तपुष्प और ओष्ठपुष्प भी कहते हैं।

बन्धूक—(देखो बन्धुजीव)

बलराम—श्रीकृष्णजीके बड़े भाई जो रोहिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। वासुदेवकी पत्नी रोहिणी गोकुलमें रहती थी। जब देवकीको कारावासमें सातवाँ गर्भ हुआ तब महामायाने कंसके भयसे वह गर्भ रोहिणीके उदरमें पहुँचा दिया। इसी गर्भके संकर्षणके कारण उनका नाम संकर्षण भी पड़ा। उनका नाम बलदेव था। 'बलेन दीव्यतीति बलदेवः।' शेषनागके अंशसे जन्म लेनेके कारण इन्हें शेषावतार, हल धारण करनेके कारण हली, नीला वस्त्र पहननेके कारण शितिवास भी कहते हैं। इनकी पत्नीका नाम रेवती था। गर्ग मुनिने इनका नामकरण किया था और सान्दीपनि मुनि इनके गुरु थे। यदुकुल ध्वंस हो जानेपर जब इन्होंने योगासन साधा तब इनके शरीरमेंसे सहस्र लाल फणोंवाला बड़ासा श्वेत सर्प निकलकर समुद्रमें चला गया। कुरुराज दुर्योधन इनका शिष्य था। इनका ध्यान इस प्रकार किया जाता है—

बलदेवं द्विबाहुञ्च शंखकुन्देन्दु-सन्निभम्।
वामे हलायुधधरं मुसलं दक्षिणे करे॥
हालालीलं नीलवस्त्रं हेलावन्तं स्मरेत्परम्।

बला—(विद्या) यह विद्या ब्रह्मकन्या मानी जाती हैं। विश्वामित्रने रामको यह विद्या सिखाई थी जिसके प्रभावसे युद्धमें योद्धाको भूख प्यास नहीं लगती थी। बला और अतिबला विद्या समस्त ज्ञानकी मातृस्वरूपिणी है। (देखो अतिबला)।

बलि—१. देवता, पितर यक्ष, भूत प्रेत आदिके निमित्त किसी विशेष स्थानपर किसी विशेष कामनासे जो चढ़ाया जाता है। उसे काम्यबलि कहते हैं। २. किसी देवताके लिये किसी विशेष उद्देश्यसे किसी जीवका यज्ञमें जो वध किया जाता है उसे भी बलि कहते हैं। दक्षिणमार्गी लोग कूष्माण्ड आदि काटकर बलि चढ़ा देते हैं। ३. प्रह्लादके पौत्र, विरोचनके पुत्र तथा पातालके राजा बलि जिन्हें बाँधनेके लिये स्वयं विष्णु भगवान्ने वामन रूप धारण किया था। बलिने अश्वमेध यज्ञ करके जब बहुत दान देना प्रारम्भ किया तब विष्णु भगवान् वामनरूप धारण करके वहाँ आए और उन्होंने तीन पैर भूमि माँगी। शुक्राचार्य तत्काल पहचान गए और बलिको दान देनेसे रोकने लगे किन्तु बलिने कहा—'मैं वचन दे चुका हूँ। मैं अवश्य दान दूँगा।' तब शुक्राचार्यने शाप दिया कि मेरे वचनोंकी अवज्ञा करनेके कारण तू श्रीभ्रष्ट हो जा। किन्तु बलिने अविचलित होकर विष्णुकी पूजा की और कहा—भूमि माप लीजिए। विष्णु भगवान् बढ़ने लगे और उन्होंने एक पैरसे समस्त भूमि, शरीरसे आकाश, दोनों भुजाओंसे दिशाओंको और दूसरे पैरसे स्वर्गको

नाप लिया—तीसरे पैरके लिये कोई स्थान नहीं मिला। तब विष्णुने कहा—तुम्हारे वचन पूर्ण नहीं हुए इसलिये तुम नरक जानेकी तैयारी करो। बलि बोले—मैं असत्य नहीं बोलता। आपने स्वयं कपट रूप धारण किया है। अतः, तीसरा चरण मेरे मस्तकपर रख लीजिए। विष्णु बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—मैं तुम्हें वह स्थान दूँगा जो देवताओंको भी अप्राप्य है। तुम विश्वकर्मा द्वारा बनाए हुए सुतलमें जाकर रहो, मैं कौमोदिकी गदासे तुम्हारी रक्षा करूँगा और तभीसे विष्णु भगवान् बलिके यहाँ द्वारपाल बनकर रहते हैं।

बाज़—मटमैले रंगका काली पीठ और लाल आँखों-वाला चीलसे छोटा एक शिकारी पक्षी जो आकाशमें उड़ती हुई चिड़ियोंको झटपट पकड़ लेता है। पक्षियोंका शिकार करनेवाले इसे पालते हैं। संस्कृतमें इसे श्येन कहते हैं।

बारहसिंगा—हरिणकी जातिका एक पशु जो तीन-चार फुट ऊँचा और ७-८ फुट लंबा होता है। नर-हरिणकी सींगोंमें कई शाखाएँ निकलती हैं इसीसे यह बारहसिंगा कहलाते हैं। इन सींगोंपर कोमल चमड़ा रहता है जो प्रति वर्ष फाल्गुन या चैत्रमें उतर जाता है और सींगमें-से एक नई शाखा निकल आती है जो क्वार, कार्त्तिक तक पूरी बढ़ जाती है। मादाके सींग नहीं होते। चैत्र-वैशाखमें बच्चा देती हैं।

बालखिल्य (ऋषि)—ब्रह्माके रोमकूपसे उत्पन्न होनेवाले साठ सहस्र मुनि जो डीलडौलमें अँगूठेके बराबर हैं (महाभारत विष्णुपुराण)। ये सब बड़े तपस्वी और ऊर्ध्वरेता हैं और क्रतुकी भार्या सन्ततिके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। ये सूर्यको मार्ग दिखाते चलते हैं।

बाली—मेरु पर्वतपर योगाभ्यास करते समय ब्रह्माकी आँखसे सहसा आँसूकी बूँद टपकनेसे ऋक्षराज नामका बानर नामक मनुष्य जातिका पुरुष उत्पन्न हुआ जिसे ब्रह्माने सुमेरु पर्वतपर फल-फूल खाने और अपने पास रहनेको कहा। एक दिन यह बानर प्यासके मारे सुमेरुके सरोवरमें अपनी छाया देखकर सोचने लगा—यह मेरा शत्रु है। वह झट पानीमें कूद पड़ा और निकलनेपर सुंदर स्त्री बन गया। इन्द्र और सूर्य उसपर मोहित हो गए। इन्द्रने उसके मस्तकपर और सूर्यने उसकी ग्रीवापर अपना तेज छोड़ा। इसी इन्द्रके तेजसे बालीका जन्म हुआ और सूर्यके तेजसे सुग्रीव। कुछ दिनमें वह फिर पुरुष बानर हो गया और दोनों पुत्रोंको लेकर ब्रह्माके पास पहुँचा। ब्रह्माने उन दोनों पुत्रोंको किष्किन्धामें राज्य करनेकी आज्ञा दी जहाँ विश्वामित्रने एक सुन्दर नगरी बसा रक्खी थी। अपनी रानी ताराके साथ बाली और अपनी स्त्री रुमाके साथ सुग्रीव वहाँ रहने लगे। एक दिन वहाँ दुन्दुभिका पुत्र मायावी नामक एक दैत्य आया। इससे लड़ता हुआ बाली पर्वतकी गुफामें घुस गया। जब बहुत दिन बीत जानेपर भी बाली नहीं लौटा और उस खोहमेंसे रक्तकी धार निकली तब सुग्रीवने समझा कि बाली मारा गया। वह गुफाके द्वारपर एक पत्थर रखकर किष्किन्धाका राजा हो गया और उसने तारासे विवाह कर लिया। जब बाली लौटा तो उसने राज्य भी छीन लिया और अपनी पत्नी के साथ-साथ सुग्रीवकी पत्नी भी छीन ली। डरके मारे सुग्रीव मतंगके आश्रममें ऋष्यमूक पर्वतपर जाकर रहने लगा। उसी बीच एक बार रावण भी उसे हरानेके लिये उसके पास जा पहुँचा। तब रावणको काँखमें दबाकर बालि संध्या किया करता रहा। इसी समय एक दिन अवसर पाकर रावण काँखसे खिसककर भाग निकला। सीताको ढूँढते हुए जब राम वहाँ पहुँचे तब उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता की और

बालीका वध करके वहाँका राज्य सुग्रीवको दे दिया। बालीका पुत्र अंगद भी बड़ा पराक्रमी और बुद्धिमान् था। उसने राम-रावण युद्धमें रामकी बड़ी सहायता की।

बिछुए—पैरकी उँगलियोंमें पहने जानेवाले घुँघरूदार आभूषण जो चलनेके समय बजते हैं। नूपुर।

बिम्बा—कुँदरू नामका फल जो पकनेपर गहरा लाल हो जाता है। इसकी उपमा सुन्दरियोंके ओठसे दी जाती है।

बीरबहूटी—बरसातमें सहस्रोंकी संख्यामें निकलकर रेंगनेवाला एक कीड़ा जिसका ऊपरी भाग गहरे लाल रंगके मखमली रोएँसे ढँका होता है। इसे इन्द्रबधू, बीरबधूठी और रामकी गुड़िया भी कहते हैं।

बुध—नवग्रहमें चौथा ग्रह। कहा जाता है कि चन्द्रमाने देवगुरु बृहस्पतिकी पत्नी ताराको हर लिया था। ब्रह्मा तथा देवर्षियोंने चन्द्रको बहुत समझाया पर वह नहीं माना। दैत्योंके गुरु शुक्र भी चन्द्रके सहायक हुए और उनके कारण सभी प्रधान दानव भी चन्द्रके पक्षमें आ गए। बृहस्पति और चन्द्रमें बड़ा युद्ध हुआ किन्तु ब्रह्माके बीच-बचाव करनेसे बृहस्पतिको तारा दिला दी गई। किन्तु वह गर्भिणी थी। बृहस्पतिने कहा कि हमारे क्षेत्रमें दूसरेका पुत्र धारण करना तुम्हें उचित नहीं है। यह सुनकर ताराने मूँजकी झाड़ीमें वह गर्भ गिरा दिया जिससे अत्यन्त तेजस्वी बुध उत्पन्न हुए। जब देवताओंने तारासे पूछा कि यह संतान किसकी है तब ताराने लज्जित होकर कहा—चन्द्रकी। इसपर प्रसन्न होकर चन्द्रने बुधसे कहा—तू बुद्धिमान् है इसलिये तेरा नाम बुध है। इस ग्रहका रंग दूबके समान गहरा हरा है। रवि और शुक्र इसके मित्र हैं, चन्द्र शत्रु हैं। इसकी आकृति धनुषके समान है। यह २८ दिनमें एक राशिका भोग करता है। बुधके नवांशमें उत्पन्न होनेवाला बालक स्थूल, धीर, साँवला, दयालु, राजसेवी, प्रसन्न, चतुर, कुलपालक, अनेक वेशधारी तथा रक्ताक्ष होता है। १२ वें अंशमें उत्पन्न मनुष्य शास्त्रज्ञ, सुखी, दीर्घायु और बुद्धिमान् होता है। १३ वें अंशमें उत्पन्न मनुष्य अत्यन्त ऐश्वर्यशाली, सुखी तथा धनी होता है। कुछ लोगोंका मत है कि बुधकी माताका नाम रोहिणी है।

ब्रह्म—सत्त्व, रज और तम गुणोंसे परे, विशुद्ध, चित्-स्वरूप, चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म या ज्ञानमय महान्त परमात्मा जो सम्पूर्ण सृष्टिका कारण है, वही केवल सत्य है।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास, इन चार आश्रमोंमेंसे पहला आश्रम। पहले २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करके गुरुकुलमें विद्याध्ययन करते थे। अष्टांग मैथुनसे बचना ही इसकी विशेषता है। आठ मैथुन ये हैं—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, क्रियानिवृत्ति।

ब्रह्मतेज - ब्राह्मणकी तपस्याका तेज।

ब्रह्मर्षि—ब्राह्मण ऋषि।

ब्रह्मावर्त्त—कुरु, मत्स्य, पांचाल सू(शू)रसेन देश, सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके बीचका देश। देवनिर्मित होनेके कारण यह देश अत्यन्त पवित्र माना जाता था और यहींकी ब्राह्मण आदि जातियोंका आचरण ही सदाचार कहलाता था।

ब्रह्मास्त्र—एक विशेष प्रकारका सब अस्त्रोंमें श्रेष्ठ अमोघ अस्त्र जो मंत्रसे पवित्र करके चलाया जाता था।

भ

भगीरथ—अंशुमान्के पौत्र और दिलीपके पुत्र। कपिलके शापसे जब सगरके साठ सहस्र पुत्र भस्म हो गए तब उनका उद्धार करनेके लिये गंगाको ये पृथ्वीपर लाए, इसीलिये गंगाका नाम भागीरथी भी है।

भद्रकाली—दुर्गाकी एक विशेष मूर्त्ति जो सोलह हाथवाली है, जिन्होंने महिषासुरको मारकर उसे सदा अपने चरणोंपर रहकर पूजित होनेका वरदान दिया था। (कालिकापुराण)

भद्रपीठ—राजसिंहासन या वह सिंहासन जिसपर बैठकर राजा या देवताका अभिषेक किया जाता है।

भरत-वाक्य—नाटकके अन्तमें मंगलात्मक आशीर्वाद या कामनात्मक-कथन।

भागीरथी—(देखो गंगा और भगीरथ)।

भिद्य—एक नदी।

भुजबन्ध—भुजाओंमें पहना जानेवाला बिजायट या 'अनन्त' नामक आभूषण। यह आभूषण स्त्री और पुरुष दोनों पहनते हैं। इसे बाजूबंद, केयूर और अंगद भी कहते हैं।

भुवन—भू भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्य ये सात स्वर्गलोक और अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमत्, महातल, रसातल, पाताल। ये पाताल लोक हैं।

भूत—मरनेके पश्चात् दुष्ट या अतृप्त मनुष्यका आत्मा प्रेत-योनिमें जाकर अनेक प्रकारके उपद्रव करता है और लोगोंको कष्ट पहुँचाता है। उसकी औषध इस प्रकार है। श्वेत अपराजिताके मूलको चावलके धोये हुए पानीमें पीसकर उसीका नस्य लेनेसे भूतका उपद्रव शान्त हो जाता है। मिर्चके साथ अगस्त्य पुष्पका नस्य भी भूतके उपद्रवको शांत करता है।

भृगु—१. भगवान् रुद्रने वारुणी मूर्ति धारण करके एक यज्ञका अनुष्ठान किया—इस यज्ञको देखनेके लिये तप, यज्ञ, दीक्षा, व्रत, दिक्पति, देवकन्या तथा देवपत्नी आई थीं। ब्रह्मा उस समय आहुति दे रहे थे। वारुणीको देखकर ब्रह्माका वीर्य स्खलन हो गया। सूर्यने वीर्यको अग्निमें फेंक दिया। ब्रह्माका वीर्य अग्निमें आहुति होते ही उसकी शिखासे भृगु, सधूम अंगारेसे अंगिरा, निर्धूम अंगारेसे कविकी उत्पत्ति हुई। महादेवजीने कहा—यज्ञका अधिष्ठाता मैं हूँ। ये तीनों पुत्र मेरे हैं। यह सुनकर अग्निने कहा कि ये मेरे अंगसे उत्पन्न हुए हैं अतः मेरे पुत्र हैं। ब्रह्माने कहा—मेरे वीर्यसे इनकी उत्पत्ति हुई अतः ये मेरे पुत्र हैं। तब सब देवोंने मिलकर इस झगड़ेका इस प्रकार निपटारा किया। भृगु महादेवको, अंगिरा अग्निको और कवि ब्रह्माको दे दिए गए। (भारत अ० पर्व) २. ये ब्रह्माके मानस पुत्र और दस प्रजापतियोंमेंसे एक हैं। दक्षकी कन्या ख्यातिके साथ इनका विवाह हुआ। इनके गर्भसे लक्ष्मी नामकी कन्या तथा धाता और विधाता नामके दो पुत्र हुए। महात्मा मेरुकी आयति और नियति नामकी दो कन्याओंके साथ इन दोनों पुत्रोंका विवाह हुआ। धीरे-धीरे इनका वंश विस्तृत होकर भार्गव नामसे प्रसिद्ध हुआ। भृगु धनुर्विद्याके प्रवर्तक भी थे।

भृङ्ग—१. भृङ्गी, अंजनहारी या बिलनी नामका कीड़ा। यह अन्य कीड़ोंको पकड़कर उनके सामने गूँजता हुआ उन्हें भी अपने समान बना लेता है। २. इन्द्र आदि देवताओंने तारकासुरके वधके लिये महादेवसे उमाके गर्भ और महादेवजीके औरससे एक पुत्रकी प्रार्थना की। महादेवजीने उसे स्वीकार करके उमाके साथ महासुरत क्रीडा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार ३२ वर्ष बीत जानेपर सब देवता घबरा

उठे। अत्यन्त भयभीत होकर वे ब्रह्माके पास गए और कहा कि इस महासुरत क्रीडासे उमाके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होगा वह हम लोगोंके लिये तारकासुरसे भी बढ़कर भयावह होगा। तब ब्रह्माने इन्द्र और देवताओंके साथ महादेवजीके पास जाकर प्रार्थना की। महादेवजीने महासुरत क्रीडा त्यागकर इन देवोंसे आनेका कारण पूछा। देवताओंने कहा—महाराज! आपकी इस महासुरत क्रीडासे तीनों लोक काँप गए हैं। अतः आप महामैथुन त्यागकर रति मात्रका अवलम्बन कीजिए। महादेवजीने कहा—यह सब मैं आप ही लोगोंके लिये कर रहा हूँ फिर भी आप लोगोंके कहनेसे उस महामैथुनका परित्याग कर दूंगा। आप लोग इस महामैथुन-प्रसूत तेजको धारण कर सकनेवाले एक देवताको आदेश दीजिए। तब देवोंने अग्निको तैयार किया और महादेवजीने अग्निमें अपना तेज छोड़ा। अग्निमें छोड़े गए महादेवजीके तेजमेंसे दो परमाणु के बराबर तेज पर्वतके शिखरपर जा गिरा। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसमेंसे एक भौंरेके समान कृष्ण वर्णका था। अतः उसका नाम ब्रह्माने भृङ्गी रक्खा और दूसरा मले हुए अंजन जैसा काला था, अतः उसका नाम महाकाल पड़ा। महादेवजीने उन दोनोंका पालन प्रमथ आदि गणों-द्वारा कराया और अपर्णाने विशेष यत्नसे उनका पालन किया। बादमें महादेवजीने इन दोनोंको गणाधिपति बनाकर द्वारपर नियुक्त कर दिया।

—(कालिकापुराण)

भेद—साम, दाम, दण्ड और भेद नामके शत्रुको वशमें करनेके चार उपायोंमेंसे चौथा, जिस उपायके द्वारा शत्रु-दलमेंसे किसीको फोड़कर अपने दलमें मिला लिया जाय।

भोजपत्र—एक प्रकारके मझोले आकारके वृक्षकी छाल, जो हिमालयपर बहुत होता है।

म

मगध—वाराणसीसे पूर्वका प्रदेश। वर्तमान बिहार ही मगध है। तीर्थयात्राके अतिरिक्त यहाँ आना निषिद्ध है।

मगरमच्छ—१. मगर या घड़ियाल नामका प्रसिद्ध जलजन्तु। (दे० घड़ियाल) २. एक बड़ी मछली।

मंगलसूत्र (रक्षा-सूत्र)—वह तागा जो किसी शुभ अवसरपर कल्याणके लिये देवताके प्रसादके रूपमें हाथमें बाँधा जाता है।

मंगलाचरण—जो गीत-पाठ किसी शुभ-कार्यके पहले किया जाता है। ग्रन्थ लिखनेके पहले इसीलिये मंगल किया जाता है कि उसकी निर्विघ्न समाप्ति हो। "समाप्तिकामो मंगलमाचरेदिति श्रुतिः।" कार्यारम्भ, कार्यमध्य, कार्यसमाप्ति, इन तीनोंमें भी मंगल हो सकता है फिर भी कार्यारम्भमें मंगल करना शोभन होता है।

मञ्जरी—१. छोटे पौधे या लता आदिकी नई निकली हुई कलियाँ तथा कोंपलें। २. कुछ विशेष वृक्षोंमें एक सींकेमें लगे हुए बहुतसे छोटे-छोटे फूलोंका समूह जैसे तुलसी, महुआ, आम आदिमें।

मणिबन्ध—हाथकी कलाई या कलाईमें जो आभूषण पहना जाता है उसे मणिबन्ध कहते हैं।

मंडल—चन्द्र-सूर्यके चारों ओर पड़नेवाले घेरे।

मतंग—(ऋषि)—एक ऋषि जो ब्राह्मण स्त्रीके गर्भसे और नापितके वीर्यसे उत्पन्न हुए थे। ब्राह्मणने अपना ही औरस समझकर इनका जन्मजात संस्कार किया। पिताके कहनेपर एक दिन ये यज्ञीय सामान लेनेके लिये गधेपर चढ़कर गए। इधर-उधर चलनेके कारण उस गधेको इन्होंने खूब पीटा। उस गधेकी माता गधीने उसकी चोट देखकर कहा कि यह ब्राह्मणका लड़का नहीं है यह शूद्रका लड़का है क्योंकि ब्राह्मण इतना निर्दयी नहीं होता। यह

सुनकर इन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसी दिन ये ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेके लिये तपस्या करने लगे। इन्द्रने बार-बार आकर वरदान देनेको कहा पर इन्होंने ब्राह्मणत्वके अतिरिक्त दूसरा वर नहीं माँगा। इन्द्रने यह वर देनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्तमें इन्होंने यह वर माँगा कि मुझे ऐसा पक्षी बना दीजिए जिसकी सभी वर्णवाले पूजा करें। इन्द्रने यही वर दिया और वे छन्दोदेवके नामसे प्रसिद्ध हुए।

मद--हाथियोंके गंडस्थलसे बहनेवाला रस।

मंदार—मदार या आक, इसका पौधा बालुकामय प्रदेशमें प्रायः पाया जाता है। बरसातमें इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं। इसका दूसरा नाम अकवन या आक भी है। महादेवजीपर इसका फूल चढ़ाया जाता है। कल्पवृक्षको भी मंदार कहते हैं।

मध्यमा—पाँचों अँगुलियोंके बीचवाली उँगली।

मध्यम लय—गीतके वह लय जो न अति तीव्र हो न अति मन्द।

मध्यलोक—पृथ्वी। यह स्वर्ग और पातालके बीचमें पड़ती है इसीसे इसे मध्यलोक कहते हैं।

मनःशिला—(देखो मैनसिल)

मनु-ब्रह्माके पुत्र और मानव जातिके आदि पुरुष जो प्रजापति और धर्मशास्त्र-वक्ता होते हैं। प्रत्येक कल्पमें १४ मनु होते हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, धर्म-सावर्णि, रुद्र-सावर्णि, देव-सावर्णि और इंद्र-सावर्णि। इस समय वैवस्वत मनुका युग चल रहा है। ये सातवें मनु विवस्वान्के पुत्र श्राद्धदेव हैं। इनके पुत्र इक्ष्वाकु, नभग, धृष्टशर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करुष, ध्रषपृ और वसुमान् हैं।

मंत्र— मन्त्र्यते गुप्तं परिभाष्यते इति मंत्रः। ऐसे वचन या शब्दसमूह जिनके जप या उच्चारणसे कोई कार्य सम्पन्न किया जाय। मंत्र केवल अधिकारीको ही सिखाया जाता है अतः, इसे मंत्र कहते हैं। मंत्र, तंत्र और यंत्रमें सबसे अधिक शक्तिशाली मंत्र ही माना जाता है। आह्निक तत्वमें लिखा है—"मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मंत्रः प्रकीर्त्तितः।" जिसके मननसे रक्षा हो उसे मंत्र कहते हैं। प्रत्येक व्यक्तिको मंत्रसे दीक्षित होना चाहिए। अदीक्षितके हाथका अन्न विष्ठाके समान और जल मूत्रके समान है और उनका किया हुआ सब कार्य निष्फल समझा जाता है। मन्त्र किसी सात्त्विक विद्वान् ब्राह्मणसे लेना चाहिए तभी सफल होता है।

मंदराचल—वह पर्वत जिसे कच्छपकी पीठपर खड़ा करके क्षीरसागर मथा गया था। यह पर्वत ११ सहस्र योजन नीचे गड़ा हुआ था। विष्णुके कहनेपर वासुकि इसे उखाड़ लाए और उन्होंने समुद्र मथनेके समय मथानी बनाकर उसे ला खड़ा किया।

मन्दाकिनी—१. नदी जो चित्रकूटके पास होकर बहती है। यह चित्रकूट पर्वतसे ही निकली है। २. स्वर्गंगा, इसकी लम्बाई १० सहस्र योजन और चौड़ाई १ योजन है। इसका जल दूधके समान उजला और ऊँची लहरोंवाला है। यह धारा वैकुण्ठसे होती हुई स्वर्गलोक तक चली गई है।

मन्दार—एक देववृक्ष विशेष। यह वृक्ष बहुत जल्दी बढ़ता है। इसका आकार मध्यम होता है। इसके उगनेके समय काँटे रहते हैं। बड़े हो जानेपर काँटे झड़ जाते हैं। यह वृक्ष भारतमें पानकी लता तथा मिर्च वृक्षके चारों ओर फेरनेके काम आता है। यह पित्तनाशक है। इसके काजलसे आँखके सभी प्रकारके रोग नष्ट हो जाते हैं। इसका रस कृमिनाशक तथा रेचक है तथा कान, दाँतके मसूड़ेकी पीड़ामें लाभ पहुँचाता है।

मरकत—मणि विशेष। (देखो पन्ना)

मरीचिका—मृगतृष्णा। जल या जलकी लहरोंकी वह मिथ्या प्रतीति जो कभी-कभी मरुभूमिमें कड़ी धूप पड़नेके समय होती है। गर्मीके दिनोंमें जब वायुकी तहोंका घनत्व उष्णताके कारण असमान होता है तब पृथ्वीके निकटका वायु अधिक गर्मीसे ऊपर उठना चाहता है, परन्तु ऊपरवाली तहें उसे उठने नहीं देतीं। इसी कारण उस वायुकी लहरें पृथ्वीके समानान्तर बहने लगती हैं। ये ही लहरें दूरसे देखनेपर जलकी धारा-सी दिखाई पड़ने लगती हैं। मृग इससे प्रायः धोखेमें आकर उसे पीनेके लिये दौड़ते हैं। इसीसे इसे मृगतृष्णा, मृगजल और मृग-मरीचिका भी कहते हैं।

मलयवायु—दक्षिण दिशाका वायु। दक्षिणके नीलगिरिके चन्दन वृक्षकी सुगन्ध लेकर यह वायु बहता है।

मलयदर्दुर—पश्चिमी घाटकी दो पहाड़ियाँ जो कावेरीके दक्षिणमें पड़ती हैं।

मलयाचल—मलय पर्वत।

मल्लिका—बेलेका फूल। जिस समय महादेवजीका ध्यान तोड़नेके लिये कामदेव आए तो महादेवजीने अपने तृतीय नेत्रसे उसे जला डाला। कामदेवके भस्म होते ही उसका धनुष्-बाण पृथ्वीपर गिरकर पाँच भागोंमें बँट गया। इसी धनुष्की मूठसे मल्लिका आदि वृक्षोंकी उत्पत्ति हुई। (वामनपुराण ६ अ०)

महाकाल—उज्जयिनी नगरीमें शिप्राके पूर्व पिशाचमुक्तेश्वरघाटके दक्षिण महाकालका विशाल मन्दिर है। महाकालके दर्शनसे करोड़ों अश्वमेध यज्ञोंका फल होता है।

महाकालं ततो गच्छेत् नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत्॥

कालिकादेवीकी पूजाके पश्चात् दाहिनी ओर महाकालकी पूजाका विशेष माहात्म्य है। ध्यान-पूर्वक महाकालका मंत्र जपनेसे सब प्रकारकी सिद्धि होती है—मंत्र है—हूँ क्षौं कां रां लां वां क्रौं महाकाल भैरव सर्वविघ्नान् नाशय नाशय ह्रीं फट् स्वाहा—

महाकालं यजेद् यत्नात् पश्चाद्देवीं प्रपूजयेत्।

महाकोशी—एक नदीका नाम।

महामणि—एक मूल्यवान् रत्न।

महेन्द्र—एक पर्वत। यह सात अच्छे पर्वतोंमें गिना जाता है। हनुमान्‌जी इसी पर्वतसे उछलकर लंका गए थे। दक्षिणमें तिन्नेवलीके समीप इस पर्वतप्रान्तमें त्रिचेनगुडी नगर गोपुर-युक्त सुन्दर मन्दिरसे शोभित है तथा पश्चिममें तिरुवरांकूर और लन्दन मिशनरी सोसाइटीका प्राचीन आवास नागर-कोविल स्थित है। पर्वत-पर कहवेकी खेतीके लिये जंगलका बहुतसा भाग काट दिया गया है।

मातलि—इन्द्रका सारथी।

माताएँ—[सात]

ब्राह्मी माहेश्वरी चैन्द्री रौद्री वाराहिकी तथा।
कावेरी चैव कौमारी, मातरः सम्प्रकीर्तिताः।

ये ही सात माताएँ हैं। एक पाठ यह भी है—

गौरी षद्माशची मेधासावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः॥

माधवी—पुष्पलता। यह चमेलीका एक भेद है। इसमें अच्छी गन्ध देनेवाले पुष्प होते हैं।

मानसरोवर—हिमालयके उत्तरमें कैलास पर्वतके दक्षिण भागमें अंजन नामक पर्वतके निकट वैद्युत प्रदेशमें मानसरोवर पड़ता है। इसीसे सरयू नदी निकली है। इसके किनारे वैभ्राज नामका उपवन है। यहीं ब्रह्मपात नामका राक्षस रहता है। सिन्धु, शतद्रु, ब्रह्मपुत्र नदियाँ यहींसे निकलती हैं। ब्रह्माने ३० योजन विस्तृत इस सरोवरकी स्थापना की थी। इसके अनुपम सौन्दर्यको देखकर ऋषियोंने इसे स्वर्ग कहा है।

माया—स्वप्न और इन्द्रजालके समान जिसका फल अचिन्तनीय है उसको माया कहते हैं—

विचित्रकार्यकारणा अचिन्तितफलप्रदा।
स्वप्नेन्द्रजालवल्लोके माया तेन प्रकीर्तिता॥

प्रकृति, अविद्या, अज्ञान, प्रधान, शक्ति और अजा भी इसीको कहते हैं ।

माया-मृग—सीताका हरण करनेके लिये रावणने अपने मामा मारीचको स्वर्णमृग बना कर भेजा था जिससे सीताजी उसकी खाल लेनेके लिये मचल उठी । उसके पीछे-पीछे राम बहुत दूर निकल गए । अन्तमें वह रामके हाथसे मारा गया । वह मारीच, सुन्दका औरस पुत्र, ताडका राक्षसीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था ।

मायूरी—संगीतमें एक प्रकारकी मूर्च्छना ।

मारिष—नाटकका सूत्रधार अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति ।

मारीच—१. मरीचिके पुत्र कश्यप । २. ताडकाका पुत्र (देखो माया-मृग)

माल—रीवाँ राज्यका वह प्रदेश जो नर्मदा नदीके उद्गमसे प्रारम्भ होकर विन्ध्यके पास तक फैला हुआ है ।

मालती—एक प्रकारका श्वेत पंखड़ियों वाला फूल, जिसकी डण्ठल लगभग एक इञ्चकी होती है । जब फूल झड़ जाते हैं तब वृक्षके नीचे फूलोंका बिछौना-सा बिछ जाता है । इसका पौधा वर्षाके प्रारम्भमें लगाया जाता है । पद्मपुराणमें लिखा है कि गौरी, लक्ष्मी और श्रद्धा गे तीन देवियाँ ही धात्री, मालती और तुलसी वृक्षके रूपमें अवतरित हुई हैं । मा अर्थात् लक्ष्मीसे उत्पन्न होनेके कारण इसका नाम मालती पड़ा । यह लता उद्यानोंमें लगाई जाती है और किसी बड़े पेड़ या मण्डपपर चढ़ा दी जाती है ।

मालिनी—१. वनदेवी, जो पार्वतीजीकी सखी थी । २. नदी, जिसके तटपर महर्षि कण्वका आश्रम था और जो हिमालयकी तराईमें बहती है । उत्तर प्रदेशके बिजनौर जिलेमें यह नदी गंगासे आ मिली है ।

माल्यवान्—[पर्वत] महाराष्ट्र प्रदेशके रत्नागिरि जिलेका एक भाग जिसके बीचमें जंगलोंसे घिरी हुई पहाड़ियाँ हैं ।

मिथिलापुरी—महाराज जनककी नगरी वर्त्तमान बिहारमें जनकपुरी । (देखो जनक और निमि ।)

मुग्धा—वह नायिका जिसको अपने यौवनके आगमनका ज्ञान न हुआ हो । इसके दो भेद हैं [१] स्वीया या स्वकीया [२] परकीया ।

मुण्डन—१६ संस्कारोंमेंसे एक संस्कार, जिसमें बालकका सिर मूंड़ दिया जाता है । यह संस्कार यज्ञोपवीतसे पहले होता है ।

मुरला—[नदी] नर्मदाका दूसरा नाम ।

मुस्ता—(देखो नागरमोथा)

मूंज—एक प्रकारकी घास जिसमें डंठल या टहनियाँ नहीं होतीं । जड़से बहुत-पतली पतली दो-दो हाथ लम्बी पत्तियाँ निकली रहती हैं । पत्तीके बीचमें एक डोरा नीचेसे ऊपर तक होता है । झाड़ीके बीचसे एक पतलीसी छड़ी निकलती है जिसके सिरेपर घूवे (कोमल भूरे गुच्छे)-से फूल निकलते हैं । इसमें सरकंडे-सी गाँठें नहीं होतीं । ब्राह्मणके उपनयनके समय बालकको मूंजकी मेखला पहनाई जाती है । मूंजकी रस्सियाँ भी बनाई जाती हैं ।

मूल-प्रकृति—आद्या शक्ति, जिसके सहारे पुरुष या ब्रह्म सृष्टि करता है । यह अविकृति है । अर्थात् मूल प्रकृति है । यह किसी से उत्पन्न नहीं होती, इसीसे सब उत्पन्न होते हैं ।

मृदंग—ढोलकसे कुछ लम्बा एक बाजा जो पक्की मिट्टीका होनेके कारण मृदंग कहलाता है । जब त्रिपुरासुर मारा गया तब उसके रक्तसे पृथ्वीपर जो कीचड़ हो गया था उसीसे ब्रह्माने मृदंग बनाया । उसी असुरके चमड़ेसे वह मढ़ा गया । नसोंसे उसके पूड़े और डोरियाँ तथा हड्डीसे उसके गट्टे बना दिए गए । उसका विनाश करके जब महादेवजी नृत्य करने लगे थे तब गणेशजीने उसीपर ताल दी थी । द्वापरमें कृष्णलीलाके समयसे वह काठका बनाया जाने लगा ।

मेघनाद —रावणका पुत्र, यह मेघ में छिप कर युद्ध किया करता था इसीसे मेघनाद कहलाया। इसका नाम इन्द्रजित् भी है।

मेनका --अप्सरा, शकुन्तलाकी माता जिसने इन्द्रकी आज्ञासे विश्वामित्रका तप भंग किया था।

मेना —पार्वतीकी माता और हिमालयराज-की पत्नी। मेना पूर्व जन्ममें दक्ष-कन्या सतीकी सखी थीं। जब सतीने दक्षके घर प्राण छोड़ा तब मेनाने इस आशासे तपस्या की कि सती मेरी कन्या हो। भगवती काली तपस्यासे प्रसन्न हुई और मेनाके माँगनेपर यह वर दिया कि तुम्हारे एक सौ बलवान् पुत्र होंगे और मैं ही तुम्हारी कन्या हूँगी।

वामन पुराणमें लिखा है कि आषाढ और मार्गशीर्ष (अगहन)-की अमावस्याको इन्द्रने अपने पितरोंको भक्तिके साथ जो पिंड दिया था उससे प्रसन्न होकर पितरोंने मेना नामकी मानसी कन्या उत्पन्न की जिसका विवाह देवताओंने हिमालयराजसे कर दिया।

मैनसिल—[मनःशिला] [१] एक प्रकारकी धातु। यह मिट्टीकी तरह पीली होती है और नेपालके पहाड़ोंमें बहुतायतसे होती है। इसे मनोज्ञा, नागजिह्वा, नैपाली शिला, कल्याणिका, रोगशिला, गोला, दिव्यौषधि, कुनटी और मनोगुप्ता भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति लक्ष्मीके रजसे मानी गई है।

मैना—काले रंगका एक प्रकारका प्रसिद्ध पक्षी। इसकी चोंच नारंगी लिए हुए पीली होती है। यह पक्षी बहुत सुन्दर न होनेपर भी सिखाने-पर मनुष्यकी तरह मीठी बोली बोल सकता है। स्थान-भेदसे मैनामें आकृतिगत बहुत विलक्षणता देखी जाती है। जावा, सुमात्रा और पूर्व समुद्रस्थ सभी द्वीपोंमें, जो मैना पाई जाती है उसकी आकृति भारतीय पहाड़ी मैनासे भिन्न है। इसे संस्कृतमें सारिका कहते हैं।

मैनाक—पुराणानुसार एक पर्वतका नाम जो हिमालयका पुत्र माना जाता है। कहते हैं कि इन्द्रसे डरकर यह पर्वत समुद्रमें जा छिपा था। इस कारण यह अबतक सपक्ष है। लंका जाते समय समुद्रकी आज्ञासे इसने हनुमान्‌जीको आश्रय देना चाहा था।

मोक्ष—जब आत्मा सब प्रकारके जन्म-मरणके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है, उस अवस्थाको मोक्ष कहते हैं।

मोती—१. एक प्रसिद्ध बहुमूल्य रत्न, जो छिछले समुद्रोंमें अथवा रेतीले तटोंके पास सीपमेंसे निकलता है।

मोथा—[घास] १. मुस्तक, नागरमोथा नामक घास। २. उपर्युक्त घासकी जड़ जो औषधिकी भाँति प्रयुक्त होती है। यह तृण जलाशयोंमें पैदा होता है। इसकी पत्तियाँ कुशकी पत्तियोंकी तरह लम्बी-लम्बी और गहरे हरे रंगकी होती हैं। इसकी जड़ बहुत मोटी होती है जिसे सूअर खोदकर खाते हैं।

(देखो मुस्ता)

मौलसिरी—[देखो बकुल] एक प्रकारका बड़ा सदाबहार पेड़। इसकी लकड़ीं अन्दरसे लाल होती है।

य

यजमान—१. वह जो यज्ञ करता हो। दक्षिणा आदि देकर ब्राह्मणोंसे यज्ञ, पूजन-आदि धार्मिक कृत्य करानेवाला। २. वह जो ब्राह्मणों-को दान देता हो। ३. महादेवकी आठ मूर्तियों-मेंसे एक मूर्ति।

यज्ञ—जिसमें सभी देवताओंका पूजन, अथवा घृत आदि-द्वारा हवन हो उसे यज्ञ कहते हैं।

यज्ञशाला—यज्ञ स्थान। वह मंडप जहाँ यज्ञ होता है।

यज्ञोपवीत—यज्ञसूत्र, जनेऊ। यथा-विहित यज्ञ करके यह उपवीत पहनना होता है इसीसे इसको यज्ञोपवीत कहते हैं। सोलह संस्कारोंमेंसे

एक संस्कार है। इसका मूल उद्देश्य उपनयन अर्थात् संस्कार करके गुरुके पास विद्याध्ययन करनेके लिये भेजना है। यह मन्त्र पढ़कर यज्ञोपवीत पहना और बदला जाता है---

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजपतेयत्सहज पुरस्तात् ।
आयुष्यगग्र्यं प्रतिमुन्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु - तेजः ।।

इस मन्त्रके परमेष्ठी मृषि, लिंगोक्ता देवता और त्रिष्टुप् छन्द है।

यम—१. संयम, मन, इन्द्रिय आदिको वशमें करना या रोके रखना। यमके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहकी साधना है। २. भारतीय आर्योंके प्रसिद्ध देवता जो दक्षिण दिशाके दिक्पाल कहे जाते हैं। आजकल ये मृत्युके देवता माने जाते हैं। पापी और पुण्यात्माके पाप-पुण्यका विचारकर पापीको नरकमें और पुण्यात्माको स्वर्गमें भेजते हैं। ये धर्मराज भी कहलाते हैं।

यमराज—(देखो यम)

यमुना—१. उत्तर भारतमें प्रवाहित यह पुण्यतोया नदी गढ़वाल राज्यके मध्य हिमालय शैलके यमुनोत्तरी श्रृङ्गसे ढाई कोस उत्तर और पाँचवाँदर श्रृङ्गसे चार कोस उत्तर-पश्चिममें प्रकट हुई है। हिमालयसे लेकर प्रयागतक अनेक नदियाँ इसमें आकर मिली हैं और प्रयागमें पहुँचकर त्रिवेणी संगमपर यह स्वयं भी गंगाजीमें आ मिली है। २. मार्कण्डेय पुराणमें लिखा है कि यमुनाजी सूर्यकी कन्या और यमकी भगिनी हैं। यम और यमुना माताके गर्भसे यमज उत्पन्न हुए। इनका वर्ण काला था। कलिन्द पर्वतसे उत्पन्न होनेके कारण कालिन्दी या कलिन्दजा कहलाती हैं।

ययाति—राजा नहुषके एक पुत्रका नाम। महाभारतके अनुसार एक दिन ये शिकार खेलने जंगलमें गए। वहाँ इन्होंने कुएँमें गिरी हुई शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानीको देखा और उसे बाहर निकाल लिया। पीछे एक दिन शुक्रकी कन्या देवयानी अपनी शर्मिष्ठा आदि दो सहस्र दासियोंके साथ जल-विहार कर रही थी। इसी समय ये वहाँ पहुँच गए और जल माँगने लगे। देवयानीसे राजाने कहा— मैं राजपुत्र हूँ, मेरा नाम ययाति है, मैं ब्रह्मचर्य धारण करके वेदका अध्ययन करता हूँ। शिकार करते-करते थक गया हूँ। देवयानीने कहा—दो सहस्र कन्याओं और दासी शर्मिष्ठाकी स्वामिनी मैं आपका वरण करना चाहती हूँ। ययातिने कहा, तुम ब्राह्मण-कन्या हो, मैं क्षत्रिय हूँ, विवाह कैसे हो सकता है? देवयानीने यह वृत्तांत अपनी दासीके द्वारा अपने पिता शुक्रसे कहला भेजा कि इन्होंने मेरा हाथ पकड़कर कुएँसे बाहर निकाला था। अतः आपसे प्रार्थना है कि मेरा विवाह इनके साथ करनेकी आज्ञा दें। शुक्राचार्यके कहनेपर ययातिने शर्मिष्ठा आदि दासियोंवाली देवयानीसे विवाह कर लिया और अपने घर लौटे। कुछ दिन बाद शर्मिष्ठाने अपनी ऋतुरक्षाके लिये ययातिसे प्रार्थना की। इसके फलस्वरूप शर्मिष्ठाको भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। देवयानी यह सुनकर बहुत क्रुद्ध हुई और उसने शर्मिष्ठाके पास जाकर कहा कि तुमने कामलुब्धा होकर घोर पाप किया है। परन्तु शर्मिष्ठाने जब उसे बताया कि उसने एक ऋषिसे अपनी ऋतुरक्षा कराई तब जाकर देवयानी प्रसन्न हुई। अन्तमें जब पोल खुल गई तब देवयानी अपने पिताके घर चली गई। पिताने सारा समाचार सुनकर क्रुद्ध होकर ययातिको शाप दिया कि तुम्हें बुढ़ापा आ जायगा। राजाने सहस्र वर्षतक अपने पुत्र पुरुकी जवानी लेकर यौवनका उपभोग किया।

यवन—राजा ययातिके शापसे तुर्वसुके वंशधर गण लोग सदाचारहीन होकर यवन जातिमें मिल गए। राजा ययातिने तुर्वसुको यह कहकर शाप दिया है—

यत्त्वं हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मात् प्रजा समुच्छेदं तुर्वसोस्तव प्राप्स्यसि ।।
संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च ।
पिशिताषु चरंत्येषु मूढ राजा भविष्यसि ।।
गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्य्यंग्योनिगतेषु च ।
पशुधर्मेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि ।।
[महाभारत १।८४। १३–१५]

इससे ज्ञात होता है कि म्लेच्छ और यवन दो जातियाँ हैं। तुर्वसु वंशीय गण यवन देशमें बसनेके कारण सम्भवतः यवन और अनुके वंशधर म्लेच्छ कहलाए। यवन देशोद्भव होनेके कारण इस जातिका नाम यवन पड़ा।

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवना स्मृताः।
द्रुह्योः सुतास्तुवैभोजा अनेच्छु म्लेच्छजातयः।
[भारत १।८४-८५]

यवनी--यवनकी या यवन जातिकी स्त्री। (देखो 'यवन')

युवराज—राजाका वह राजकुमार जो उसके राज्यका उत्तराधिकारी हो। राजाका वह सबसे बड़ा पुत्र जिसे आगे चलकर राज्य मिलनेवाला हो।

यूथिका—(देखो जूही)

योग—१. अपनी चित्तवृत्तियाँ संसारसे हटाकर ईश्वरमें लगा लेना योग कहलाता है। इसके आठ अंग या साधनाके क्रम हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि। २. अपने प्राण-वायुको शरीरके छहों चक्रोंको भेदन करनेवाली कुण्डलिनीके साथ ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचाकर कपाल भेदनकर निकाल देना ही योग-द्वारा शरीर-त्याग करना कहलाता है।

योगनिद्रा—युगके अवसानमें विष्णुकी निद्रा।

योगबल—वह शक्ति जो योगकी साधनासे प्राप्त हो।

र

रजोगुण—प्रकृतिका वह स्वभाव जिससे जीवधारियोंसे भोग-विलास तथा दिखावेकी रुचि उत्पन्न होती है। यह सांख्यके अनुसार प्रकृतिके तीन गुणोंमेंसे एक है जो चंचलता और भोग-विलास आदिमें प्रवृत्त करनेवाला कहा गया है।

रति—कामदेवकी पत्नी। यह दक्ष प्रजापतिकी कन्या मानी जाती है। दक्षने अपने शरीरके पसीनेसे उत्पन्न करके कामदेवको अर्पित की थी।

रत्न—(देखो क्षीर-समुद्र)

रन्तिदेव—चंद्रवंशी राजा, जिसने प्रतिदिन दो सहस्र बैल तथा दूसरे पशु मारकर मांससहित अन्नदान किया था।

रसायन—जराव्याधिनाशक औषध जिसके सेवनसे बुढ़ापा और रोग नष्ट हो जाता है। रससे भरा हुआ, रसीला, मनोहर।

राक्षस—ब्रह्माने प्राणियोंकी रक्षाके लिये इनकी सृष्टिकी थी। वे भूख-प्याससे व्याकुल होकर अपना कर्तव्य पूछने गए तब ब्रह्माने उन्हें मनुष्योंकी रक्षा करनेकी आज्ञा दी। उनमेंसे कुछने 'रक्षामः' (रक्षा करेंगे) कहा वे राक्षस हो गए। कुछने 'यक्षामः' (यज्ञ करेंगे) कहा वे यक्ष हो गए। आगे चलकर ये रक्षक राक्षस ही भक्षक बन गए।

राजहंस—एक प्रकारका हंस होता है जो बरसात आनेपर झुंड बाँधकर झीलोंके तीरपर उड़ता फिरता है। इसे सोना-पक्षी भी कहते हैं।

राजहंसी—राजहंस पक्षीकी नारी।

राज्याभिषेक—ब्राह्मण लोग क्षत्रियोंको वैदिक विधिके अनुसार राजदंड ग्रहण करनेके लिये अभिषिक्त करनेकी प्रक्रिया।

रामगिरि—चित्रकूट पर्वत। कुछ लोग भूलसे रामटेक या रामगढ़को भी रामगिरि बताते हैं।

रावण—रुलानेवालेको रावण कहते हैं। यह ब्रह्माके पौत्र विश्रवाका औरस तथा कैकसीका पुत्र था जो लंकाका राजा था और सीताको हर ले गया था।

राशि—सम्पूर्ण खगोल बारह भागोंमें ज्योतिषियोंने बाँट दिया है। वे १२ भाग ये हैं–मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन।

रुद्र—[१] जगत्की सृष्टि करते समय ब्रह्माकी भौंहोंके बीचसे क्रोध-रूपसे रुद्रदेवकी उत्पत्ति हुई थी। भागवतके अनुसार उनकी संख्या ११ है–अज, एकपाद, अहिव्रघ्न, पिनाकी

अपराजित, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हर और ईश्वर। गरुडपुराणके अनुसार अज, एकपाद, अहिर्वघ्न, त्वष्टा, विश्वरूप, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी और रैवत ये ११ रूद्र हैं।

रुद्राक्ष—रुद्राक्ष नामके प्रसिद्ध वृक्षका बीज है जिसकी माला धारण करना शास्त्रमें बहुत कल्याणकर माना गया है।

रुरु—कस्तूरी मृग।

रेवती—बलरामकी पत्नी, राजा रेवतकी कन्या, जिसका विवाह ब्रह्माकी आज्ञासे बलरामके साथ हुआ था।

रेवा—(देखो नर्मदा।)

रोहू—एक प्रकारकी मछली।

ल

लकार—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् दस हैं। वर्तमान कालमें लट्, परोक्षकालमें लिट्, अनद्यतन भविष्यमें लुट्, अनद्यतन संशयित भविष्यमें लृट्, आमन्त्रण तथा विधि अर्थमें लेट् [जिसका प्रयोग केवल वेदमें होता है], आशीर्वादमें लोट्, अनद्यतन भूतमें लङ्, आशीर्वाद तथा आमन्त्रण आदिमें लिङ्, अनद्यतन भूतमें लुङ्, भविष्यत्के कारण-कार्यके लिये लृङ्का प्रयोग होता है।

लंका—रावणकी राजधानी जो लंका द्वीपमें भारतके दक्षिणमें थी।

लव—सीता और रामके पुत्र थे। इनका नामकरण लव (गौकी पूँछ) से अभिषेक करने के कारण हुआ था। वाल्मीकिने इन्हें रामायण पढ़ाया था।

लवणासुर—यह असुर था जो विश्वावसुकी कन्या अनलाकी पुत्री कुम्भीनसीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। इनके पिताका नाम मधु था, जिसने महादेवजीके प्रसादसे शूल प्राप्त कर लिया था। इसके अत्याचारको शान्त करनेके लिये रामचन्द्रजीने शत्रुघ्नको भेजा था और उन्हींके द्वारा इसका वध हुआ था।

लवली—एक फल विशेष, जिसे हरफारेवड़ी कहते हैं।

लास्य—कोमल नृत्य, जिसकी रचना पार्वतीजीने की। भाव और तालके साथ कोमल अंगोंके द्वारा विशेषतः स्त्रियोंके द्वारा शृङ्गार आदि कोमल रसोंके उद्दीपनके लिये यह नृत्य होता है। इसके दो भेद हैं क्षुरित और यौवत इसके दस अंग हैं--गेयपद, स्थितपाठ, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धवाख्य, द्विगूढक, उत्तमोत्तम और युक्तप्रत्युक्त।

लू—गर्मीके दिनोंमें चलनेवाली गर्म हवा जिसके लगनेपर तीव्र ज्वर हो जाता है और मृत्यु भी हो जाती है। लू लगनेपर कच्चे आम भूनकर उसकी लुगदी बनाकर शरीरपर लेप करनेसे और कच्चा आम भूनकर उसका पन्ना बनाकर पीनेसे भी लू का प्रभाव कम हो जाता है। साथमें प्याज रखनेसे भी लू नहीं लगती।

लोक—(सात) देखो भुवन।

लोकपाल—आठों दिशाओंके अलग-अलग लोकपाल हैं। (देखो दिक्पाल।)

लोकालोक-(पर्वत)—यह पर्वत पृथ्वीके चारों ओर परकोटेके समान खड़ा है। इसके कुछ भागमें सूर्यका प्रकाश दिखाई देता है और कुछमें नहीं, इसीलिये इनका नाम लोकालोक है। ब्रह्माने इस पर्वतपर चारों ओर ऋषभ, पुष्पचूड, वामन और अपराजित नामके चार दिग्गज स्थापित किए हैं।

लोध—**(लोध्र)**—एक वृक्ष जो भारतके सभी जंगलोंमें होता है। इसका छिलका चमड़ा सिझाने और रँगनेके काम आता है। यह पेड़ १० से १२ फुट ऊँचा होता है। इसकी जड़के चूर्णसे अबीर बनता है।

लौहित्य (नद) या ब्रह्मपुत्र—शान्तनु मुनि जब हरिवर्षमें हिरण्यगर्भ मुनिकी कन्या अमोघाके

साथ रहते थे तभी एक दिन अमोघाको अकेली पाकर ब्रह्मा उसपर मोहित होकर उसपर बलात्कार करनेके लिये उद्यत हो गए किन्तु अमोघा घरमें घुस गई और ब्रह्मा अपना वीर्य वहीं छोड़कर चले गए। जब शान्तनु मुनिने लौटकर यह सब देखा-सुना तब उन्होंने अपनी पत्नीको ब्रह्म-वीर्य पी जानेको कहा। बहुत देरतक पत्नीसे वाद-विवाद करनेके पश्चात् शान्तनु उसे पी गए। कुछ दिनोंके पश्चात् वह तेज अमोघाके गर्भसे जलराशि बनकर उत्पन्न हुआ जिसके बीचमें नीलाम्बर, रत्नमाला तथा किरीट पहने चतुर्भुज गौर वर्णवाला मगरपर चढ़ा हुआ एक पुत्र दिखाई दिया। यह जल कैलास, संवर्तक, गन्धमादन और जारुधि नामक पहाड़ोंके घाटीके बीचमें रख दिया गया। जब परशुराम अपनी मातृ-हत्याका पाप छुड़ाने उस कुण्डमें स्नान करने गए तब लोकहितके लिये उन्होंने पहाड़ काटकर उस जलको नदी बनाकर बहा दिया। लोहित सरोवरसे निकलनेसे उसका नाम लौहित्य पड़ गया और ब्रह्माका अंश होनेसे ब्रह्मपुत्र कहलाया।

व

वज्र—इन्द्रने दधीचिकी हड्डीसे विश्वकर्माके द्वारा वृत्रासुरको मारनेके लिये जो अस्त्र बनवाया उसे वज्र कहते हैं।

वत्स [देश]—प्रयागके चारों ओरका देश जिसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुरी (वर्तमान झूंसी) थी।

वनायु [देश] अरब देश जहाँके घोड़े प्रसिद्ध होते थे।

वन्दी—अपने आश्रयदाता राजाकी विरुदावली कहनेवाले भाट।

वराह—विष्णुका तीसरा अवतार। जब प्रलय सागरमें पृथ्वी डूब गई तब ब्रह्माकी नाकसे अँगूठे भरका एक वराह-पोतक निकला जो निकलते ही आकाशतक बढ़ गया। उन्होंने अपने दाँतोंसे पृथ्वीको उभारकर बाहर निकाल लिया और उस दैत्य हिरण्याक्षको मार डाला जो पृथ्वीको नीचे रसातलमें लेता गया था।

वरतन्तु [ऋषि]—जिन्होंने अपने शिष्य कौत्ससे १४ करोड़ स्वर्ण-मुद्रा गुरु-दक्षिणा माँगी। वह उस गुरु-दक्षिणाके लिये रघुके पास पहुँचा और रघुने चुका दिया।

वरदा [नदी]—हिमालयसे निकली हुई नदी जिसके तटपर अट्ठारह भुजावाली देवीकी मूर्ति है।

वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

वर्णमाला—बारह खड़ी। अ से लेकर ह तक वर्ण।

वल्कल—१. पेड़की छाल। २. पेड़की छालसे बने हुए वस्त्र।

वशिष्ठ या वसिष्ठ—मुनि। ये ब्रह्माके प्राणसे उत्पन्न हुए थे। कर्दमकी पुत्री अरुन्धती इनकी पत्नी थी। ऋग्वेदके सप्तम मंडलका अधिकांश वशिष्ठकी कृति है। जब मित्र और वरुणका वीर्य वसतीवर नामक यज्ञकुंभमें गिरा उससे अगस्त्य और वशिष्ठकी उत्पत्ति हुई। [देखो अगस्त्य] इन्होंने इसलिये सूर्यवंशका पौरोहित्य स्वीकारा था कि उस वंशमें राम जन्म लेंगे।

वषट्—यज्ञोंमें आहुति देते समय इसका उच्चारण किया जाता है। देवताओंको स्वाहा, श्रौषट्, वौषट्, वषट और स्वधा शब्दोंके साथ आहुति दी जाती है।

वसन्तोत्सव—फाल्गुनकी पूर्णिमाके दिन यह उत्सव मनाया जाता है। उस दिन वसन्त कालमें जो चन्दनके साथ आमकी मंजरी खाता है वह निश्चय ही सौ वर्षतक सुखसे जीवन बिताता है। यह श्लोक पढ़कर मंजरीका सेवन करना होता है।

चूतमग्र्यं वसन्तस्य माकन्दकुसुमस्तव।
सचन्दनं पिबाम्यद्य सर्वकामार्थ सिद्धये॥

वामन—विष्णुका पाँचवाँ अवतार। (देखो बलि)

वायव्य [अस्त्र]—मंत्रसे चलाया हुआ वह

बाण जिसके चलाते ही आँधी चलने लगती है ।

वार्त्ता—वैश्यकर्म अर्थात् कृषि, गोरक्षा, व्यापार और कुसीद (महाजनी) ।

वारुणास्त्र—मंत्रसे चलाया हुआ वह बाण जो जल बरसा दे ।

वाली—देखो बाली ।

वाल्मीकि या वाल्मीक—प्रचेता ऋषिके वंशमें दसवें पुरुष । तमसाके तटपर इनका आश्रम था : ये प्रारंभमें ब्राह्मण-पुत्र होते हुए भी किरातका काम करते थे । शूद्रासे विवाह करके इन्होंने उससे कई सन्तानें उत्पन्न कीं । एक बार इन्होंने ऋषियोंको भी घेर लिया । उन्होंने कहा कि जो पाप तुम करते हो उसमें तुम्हारे परिवारवाले भागी हैं या नहीं । जब परिवारवालोंने अस्वीकृति दे दी तब इन्हें ज्ञान हुआ और इन्होंने मुक्तिका उपाय पूछा । उन्होंने 'राम' नाम जपनेको कहा तो ये उलटा करके 'मरा मरा' जपने लगे यहाँतक कि इनके शरीरपर बाँबी उठ आयी । तबसे इनका नाम वाल्मीकि या वाल्मीक हुआ । इन्होंने रामके राज्य करते समय रामायणकी रचना की थी । प्रथम कवि होनेके कारण इन्हें आदिकवि भी कहते हैं । सीता वनवासके समय इन्होंने ही रामके पुत्र लव और कुशको शिक्षा-दीक्षा दी थी ।

वासवदत्ता—अवन्तीके राजा चंड प्रद्योतकी कन्या जिसे वत्सराज उदयन हर ले गया था

वासुकि या वासुकी—नागोंका राजा । आठ प्रधान नागोंमेंसे एक । (देखो नाग) ।

विद्याधर—एक देवयोनि, जिसके अन्तर्गत खेचर, गन्धर्व और किन्नर आते हैं ।

विष्णु—सृष्टिका भरण-पोषण करनेवाले देवता जो क्षीरसागरमें शेषनागपर शयन करते हैं और जिनकी नाभिसे उत्पन्न कमलमेंसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई है ।

विजया—१. पार्वतीकी सखी जो गौतमकी कन्या थी । २. वनदेवी ।

विजितवर—वह रथ जिसपर चढ़कर विजय अवश्य मिलती है ।

विदर्भ [देश]—वर्तमान हैदराबादके उत्तरमें बरार प्रदेश ।

विदूर [पर्वत]—वह पर्वत जहाँ वैदूर्यमणि मिलता है ।

विन्ध्याचल—भारतके मध्यमें पूर्वसे पश्चिम तक फैला हुआ पर्वत (देखो अगस्त्य)

विराध—[राक्षस] इसके पिताका नाम सुपर्जन्य और माताका नाम शतह्रदा था । पिछले जन्ममें वह तुम्बुरु नामका गन्धर्व था जो वैश्रवणके शापसे राक्षस हो गया था । लक्ष्मणके हाथसे इसकी मृत्यु हुई ।

विल—१. एक प्रकारके घोड़े, २. उच्चैःश्रवा घोड़ा ।

विशाखा—सत्ताईस नक्षत्रोंमेंसे सोलहवाँ नक्षत्र । इसका रूप तोरणाकार है और इसमें चार तारे हैं । यह नक्षत्र दो भागोंमें बँटा है इसलिये इसके दो देवता हैं—इन्द्र और अग्नि ।

विश्वकर्मा—देव शिल्पी जो सब प्रकारके शिल्प-शास्त्रके आविष्कर्ता माने जाते हैं । ये प्रभास नामक वसुके औरस तथा बृहस्पतिकी बहिन ब्रह्मचारिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । इन्होंने ही देवताओंके लिए विमान बनाए थे ।

विश्वाजित्—वह यज्ञ जिसमें सब कुछ दक्षिणामें दे दिया जाता है ।

विश्वामित्र—इन्होंने क्षत्रियवंशमें जन्म लेकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया और सात ब्रह्मर्षियोंमें गिने जाने लगे । इसके पिताका नाम गाधि था ।

विश्वावसु [गन्धर्व]— अमरावतीका निवासी गन्धर्व ।

विष्कम्भक—नाटकके किसी अङ्कके प्रारम्भमें संक्षेपमें जो विषय कहा जाता है उसे विष्कम्भक कहते हैं । जहाँ एक या दो मध्यम पात्रोंसे यह कहलाया जाता है वहाँ शुद्ध, जहाँ

नीच तथा मध्यम पात्रोंसे कहलाया जाता है वहाँ संकीर्ण या विमिश्र या मिश्र कहा जाता है।

वीणा—यह तारका बाजा जिसके दोनों ओर दो तुम्बियाँ होती हैं और बीचके डंडेपर सात तार खिंचे रहते हैं। महादेवकी वीणा लम्बी, सरस्वतीकी कच्छपी, नारदकी महती और तुम्बुरुकी कलावती कहलाती हैं।

वीरासन—(देखो पद्मासन) इस आसनसे बैठकर साधक साधना करते हैं।

बृहस्पति—अङ्गिराके पुत्र और देवताओंके गुरु। धर्मशास्त्रके प्रयोक्ता और नवग्रहोंमें पंचम।

वेत्रवती—बेतवा नदी जो मालवासे निकल कर कालपीके पास यमुनामें जा मिली है।

वेद—ऋक्, यजु, साम और अथर्व।

वेदांग—[६] शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और व्याकरण।

वेदान्ती—वेदान्त जाननेवाला। विरक्त।

वेदी—यज्ञके लिये स्वच्छ की हुई समतल चौकोर भूमि जो विशेष मापके अनुसार लम्बी, चौड़ी, गहरी और ऊँची बनाई जाती है।

वेला—(देखो ज्वार)

वैखरी—कण्ठसे उत्पन्न होनेवाली वाणी जो उच्च और गम्भीर सुनाई पड़े।

वैजयन्ती—एक प्रकारकी माला जो पाँच रंगोंकी और घुटनों-तक लटकी होती है। इसे श्रीकृष्णजी पहनते थे।

वैतालिक—चारण या वन्दी जो प्रातः-काल मंगल-गीत तथा वाद्य बजाकर राजाओंको जगाते थे।

वैदूर्य—[मणि]—पीले रंगकी मणि जिसके देवता केतु हैं। इसके धारण करनेसे केतुका दोष नष्ट हो जाता है। इसे लहसुनियाँ कहते हैं। नीलमको भी वैदूर्य या वैडूर्य कहते हैं।

वैभ्राज—(देखो नन्दन-वन)

वैयाकरण—व्याकरण जाननेवाला।

वैष्णव—[बाण]—विष्णुका बाण।

व्यूह—शत्रुसे रक्षा करनेके लिये जो सेनाका विशेष संघटन किया जाता है उसे व्यूह कहते हैं। यह व्यूह चार प्रकारका होता है; दण्ड, भोग, मण्डल और असंहत और इनके भी बहुतसे भेद हैं।

व्रत—किसी विशेष पर्वपर विशेष प्रकारके आहार-विहार-सम्बन्धी आचारका पालन करना।

श

शक्रावतार—गंगाके तटपर वह तीर्थ जहाँ शकुन्तलाकी अँगूठी गिर पड़ी थी। उत्तर प्रदेशके मुजफ्फरनगर जिलेमें शुक्करताल, सुक्करताल या शुक्रतालके नामसे प्रसिद्ध है।

शृङ्गार—नवरसोंमें प्रधान। इसे भरत ने रसराज माना है। इसमें दो आलम्बन होते हैं नायक और नायिका, सभी संचारियों और नवों अनुभवोंका प्रयोग होता है। इसका स्थायी भाव रति है—पुंसः स्त्रियाँ स्त्रियः पुंसि संयोगं प्रति या स्पृहा। स शृंगार इति [illegible] रति-क्रीडादि कारणम्॥ इसके दो भेद हैं—विप्रलम्भ और संभोग। जहाँ नायक या नायिकाका अनुरागसे परिपूर्ण रहनेपर अपने अपने अभि-लषित लोगोंके साथ संयोग नहीं होता वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है। जिस समय दम्पतिके दर्शन, स्पर्शन, चुम्बन एवं परिरम्भण आदिका संघटन होता है, उस समय संभोग शृंगारकी उत्पत्ति होती है। विप्रलम्भके बिना सम्भोग कभी परिपुष्ट नहीं हो सकता।

न विना बिप्रलंभेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते॥

शकुन—शुभाशुभ-सूचक लक्षण—जिन चिह्नोंको देखनेसे शुभ और अशुभ जाना जा सके।

शक्ति—[शस्त्र]—छोटी बर्छी, जो फेंककर मारी जाय।

शची—[पौलोमी]—इन्द्रकी पत्नीका नाम जो दानवराज पुलोमकी कन्या थी।

शतघ्नी—बर्छी, एक प्रकारका शस्त्र। यह किसी बड़े पत्थर या लकड़ीके कुन्देमें बहुतसे कील काँटे ठोंककर बनाया जाता है। इसका व्यवहार युद्धके समय शत्रुओंपर फेंककर होता था। यह शस्त्र दुर्गके चारों ओर रक्खा जाता था।

दुर्गञ्च परिखोपेतं चयाट्टालक-संयुतम्।
शतघ्नी-यंत्रमुख्यश्च शतशश्च समावृतम्॥

शब्दवेधी—[बाण] शब्द सुनकर चलाया हुआ बाण। शब्दोच्चारणके साथ ही जो तालु छेदकर ऊपर निकलता है।

शम्बूक—शूद्र तपस्वी, जिसकी अनधिकारिक और असंगत तपस्याके कारण त्रेता-युगमें रामराज्यमें एक ब्राह्मणका पुत्र अकाल मृत्युको प्राप्त हुआ था। उसे रामने मारकर मृत ब्राह्मण-पुत्रको पुनरुज्जीवित किया।

शमी—एक प्रकारका वृक्ष, जिससे यज्ञके लिये अरणी बनती है। भारतके प्रायः सभी प्रदेशोंमें पाया जाता है। यह राजस्थान, बंगाल और बिहारमें अधिक होता है। इसकी लकड़ी खदिर-जैसी होती है। इस जातिके लाल पत्तेवाले वृक्ष अग्निगर्भ कहलाते हैं। इसे जाँट कहते हैं।

शरत्—आश्विन और कार्तिक मासमें यह ऋतु मानी जाती है। यह काल उष्ण, पित्त-वर्द्धक और मानवोंके लिये बलप्रद होता है। शरत्कालमें वायु प्रशमित और पित्त प्रकुपित होता है। इस कालमें जन्म लेनेवाला मनुष्य उत्तम कार्य करनेवाला, तेजस्वी, पवित्र, सुशील, गुणवान्, सम्मानी और धनी होता है।

शरभ—एक प्रकारका बलिष्ठ जीव जिसके आठ पैर होते थे। यह सिंहसे भी अधिक बलवान् होता था। अपने लम्बे कंठसे यह कुएँमें मुँह डालकर पानी पी लेता था। इसकी जाति नष्ट हो गई है।

शरभंग—ये महर्षि दक्षिणमें रहते थे। वनवासके समय भगवान् रामने इनका दर्शन किया था।

शर्मिष्ठा—[देखो ययाति]।

शल्लकी—सलईका पेड़। (देखो शाल)

शस्त्र—खड्ग या तलवार। जो हाथसे पकड़कर चलाया जाय उसे शस्त्र और जो फेंककर चलाया जाय उसे अस्त्र कहते हैं।

शातकर्णि—ये ऋषि पंचाप्सर नामके क्रीडा-सरोवरमें तप करते थे। पहले ये तप करते समय मृगोंके साथ घास चरते थे। तब इन्द्रने पाँच अप्सराओंको भेजकर इन्हें तपसे विरत कर दिया।

शाप—अहित कामना-सूचक शब्द, जो ऋषि या तपस्वी लोग किसीपर रुष्ट होकर कहते थे और जो अवश्य पुरा होता था।

शान्तिजल—जो जल पूजाके पश्चात् शान्तिके निमित्त घरके रहनेवाले व्यक्तियोंपर छिड़का जाता है।

शार्ङ्ग—[धनुष]—विष्णुके हाथमें रहनेवाला धनुष जो दधीचि ऋषिकी हड्डीसे बना था।

शाल—शाल, साल या शल्लकीका पेड़। हिमालयकी तराईमें सतलजसे आसाम-तक तथा मध्य भारतमें इसके घने जंगल हैं। यह वृक्ष सीधा लम्बा बढ़ता है और इसके पत्ते बड़े-बड़े होते हैं। इसकी छालमें छेद करनेपर गुग्गुल निकलता है। इसके वृक्षमें छोटे छोटे फूलके गुच्छे लगते हैं जिन्हें तोड़कर कोल स्त्रियाँ संध्याको अपने जूड़ेमें खोंस लेती हैं।

शाल्मली—(देखो सेमर या सेमल)

शास्त्र—वे प्राचीन ग्रन्थ जिनमें मनुष्योंके लिये अनेक प्रकारके कर्त्तव्य बताए गए हैं तथा अनुचित कर्त्तव्योंका निषेध किया गया है। हमारे यहाँ वे ही शास्त्र प्रामाणिक माने गए हैं जो वेद-मूलक हैं। इनकी संख्या १८ हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मीमांसा, न्याय, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र। इन १८ शास्त्रोंको १८ विद्याएँ भी कहते हैं।

शिप्रा—[सिप्रा या क्षिप्रा]—उज्जैनके पास बहनेवाली नदी। जब वशिष्ठने अरुन्धतीके साथ विवाह किया उस समय ब्रह्मा, विष्णु और महादेवने उन्हें शान्तिजल और आशीर्वाद दिया। वह शान्तिजल पहले मानस पर्वतकी कन्दरामें और पीछे सात धाराओंमें विभक्त होकर मानस पर्वतसे हिमालय पर्वतकी गुहा, शिखर और सरोवरमें पृथक्-पृथक् भावसे गिरा। उससे शिप्र सरोवर बहुत बढ़ने लगा। पीछे विष्णुने चक्र-द्वारा गिरिशृंगको काटकर उस प्रवृद्ध जल-राशिको पुण्यतमा नदी बनाकर पृथ्वीपर भेजा। शिप्र सरोवरसे इसकी उत्पत्ति हुई, इसीसे इसका नाम शिप्रा हुआ। इसमें नहानेसे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। कार्तिक मासकी पूर्णिमा तिथिको इसमें नहानेका विशेष माहात्म्य है।

शिरीष—सिरसका पेड़ जिसके फूल बड़े कोमल होते हैं।

शिलाजीत (**शिलाजतु**)—पहाड़में उत्पन्न होनेवाली औषधि विशेष। गर्मीके दिनोंमें सूर्यकी किरणोंद्वारा सन्तप्त पर्वतोंसे जो धातुसार निकलता है, उसीको शिलाजीत कहते हैं। यह चार प्रकारका होता है—१. सौवर्ण जो जवा पुष्पकी तरह लाल, कटु, मधुर, तीता, शीतवीर्य और कटुविपाक होता है। २. राजत जो श्वेतवर्ण, शीतवीर्य, कटुरस और मधुर-विपाक होता है। ३. तामस जो मयूर कण्ठके समान आमाविष्ट, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है। ४. आयस जो जटायुके पंख जैसा आमाविष्ट तीता, लवणरस, कटुविपाक और शीतवीर्य होता है। यही सबसे श्रेष्ठ है।

शुक्र—[ग्रह]—नवग्रहमें पाँचवा ग्रह। यह शुभ ग्रह है। यदि बुरे स्थानमें न हो तो मानवका कल्याण करता है। सुख, श्री, विलास, भूषण, विज्ञान-शास्त्र, भगिनी, स्त्री, संगीत और कविता-शक्ति देनेवाला है।

शुक्राचार्य—ये दैत्योंके गुरु और भृगु ऋषिके पुत्र थे। इनकी कन्याका नाम देवयानी तथा पुत्रोंका षण्ड और अमर्क था। देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कचने इनसे संजीवनी विद्या सीखी थी। [देखो ययाति]

शूर्पणखा—रावणकी बहिन और सुन्दकी पत्नी। विश्रवा ऋषिके औरस और कैकसीके गर्भसे इसका जन्म हुआ था। भगवान् रामचन्द्र जब दण्डकारण्यमें गए थे उस समय काम-पीडित होकर रामके पास ब्याह करनेकी इच्छासे आई थी। रामके संकेतसे लक्ष्मणने इसके नाक-कान काट डाले। इसीका बदला लेनेके कारण रावणने छद्म-वेश बनाकर सीताको हरा था। इसका नख सूपके समान था।

शूली—लोहेकी वह नोकदार किल्ली जिसपर अपराधीको गुदाकी ओरसे टाँगते थे और वह बिंधकर मर जाता था।

शेफालिका—एक प्रकारका पुष्प बिशेष। शरद्कालमें इसमें फूल लगते हैं। इस ऋतुके अतिरिक्त इसका पुष्प पूजामें चढ़ाना निषिद्ध है। इसके पत्तेका रस सेवन करनेसे सभी प्रकार के ज्वर नष्ट होते हैं। इसकी गंध कड़वी और मीठी होती है। इसकी प्रत्येक सींकमें अरहरकी पत्तियोंके समान पाँच-पाँच पत्तियाँ होती हैं। जिसका ऊपरी भाग नीला और नीचेका भाग सफेद होता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। किसीमें काले और किसीमें सफेद पुष्प लगते हैं। फूल आमके बौरकी मंजरीके समान लगते हैं और केशरिया रंगके होते हैं इसकी माला प्रणयी जनोंको बहुत प्रिय है।

शेषनाग—जब यह जगत् प्रलय कालमें नष्ट हो जाता है तब भगवान् नारायण लक्ष्मीके साथ क्षीरसागरमें शेषके फणकी छायामें शयन करते हैं। ये अपना पूर्ण फण फैला कर कमल पुष्पसे उन्हें आच्छादित करते हैं, उत्तर फणसे

भगवान्‌के सिर एवं दक्षिण फणसे पाँव ढँके रहते हैं, पश्चिम फणको फैलाकर भगवान्‌पर पंखा झलते हैं, ईशान फणके द्वारा शंख, चक्र, नन्द, खड्ग दोनों तूणीर तथा गरुडको ढकते हैं एवं आग्नेय फणके द्वारा गदा, पद्म प्रभृति धारण किए रहते हैं । इस प्रकार भगवान् विष्णु प्रलयके समय शयन किया करते हैं ।

शेषशय्या—(देखो—शेषनाग)

श्येन—(देखो बाज)

श्राद्ध—शास्त्र-विधानके अनुसार पितरोंको तृप्त करनेके लिये जो कर्म किया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं इसमें अन्न आदिके दानका विशेष माहात्म्य है ।

संस्कृत-व्यंजनादयश्च पयोदधिघृतान्वितम् ।
श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते ॥

श्रीवत्स—विष्णुके वक्षस्थलपर अंगुष्ठके बराबर श्वेत बालोंका दक्षिणावर्त्त भौंरीकासा चिह्न जो भृगुके चरण-प्रहारका चिह्न माना जाता है ।

श्रुति—वेदको श्रुति और धर्मशास्त्रको स्मृति कहते हैं । जहाँ वेद और धर्मशास्त्रका विरोध पड़ता है वहाँ श्रुति ही प्रमाण मानी जाती है । श्रुतिद्वैधे स्मृतिद्वैधे श्रुतिरेव गरीयसी ।

ष

षड्ज—संगीतमें सप्तकका पहला स्वर । मोरका शब्द षड्ज माना जाता है ।

स

संस्कार—अशुद्धि दूर करनेकी क्रिया । शास्त्रोंके अनुसार १६ प्रकारके संस्कारोंसे जीवकी शुद्धि होती है—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, केशान्त, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, गार्हपत्य और अन्त्येष्टि ।

सगर—सूर्यवंशमें बाहु नामक प्रतापी राजा थे । इनकी स्त्रीका नाम यादवी था । एक दिन अकस्मात् इनके ऊपर शत्रुओंने चढ़ाई कर दी । युद्धमें बाहु परास्त हुए और पत्नीके साथ जंगलमें भाग गए । उस समय इनकी पत्नी गर्भिणी थी । यादवीकी सपत्नीको जब ज्ञात हुआ कि यादवी गर्भिणी है तो उसने उसे विष पिला दिया पर उससे कोई अनिष्ट नहीं हुआ । राजाकी मृत्यु जंगलमें ही हो गई । रानी जब राजाके साथ सती होने जा रही थी उसी समय और्व ऋषिने वहाँ आकर उसे रोक दिया । समय पूरा होनेपर एक पुत्र उत्पन्न हुआ । और्वने उसका जात-संस्कार किया और विषकर्म-पान करनेके कारण उसका नाम सगर रखा । और्वने ही उन्हें वेद-शास्त्र और शस्त्र-विद्याकी शिक्षा दी । उन्होंने हैहय आदि शत्रुओंको मार डाला । राजा सगर इस प्रकार शत्रुओंको परास्त करके राजसिंहासनपर बैठे । इनकी दो रानियाँ थीं—वैदर्भी और शैव्या । इन्हें शंकरजीने वर दिया था कि एक पत्नीसे ६० सहस्र पुत्र होंगे तथा उनका नाश होगा । एक वंशधर पुत्र होगा । कुछ दिन पश्चात् वैदर्भीके गर्भसे एक कूष्मांड (कद्दू) उत्पन्न हुआ और शैव्याके गर्भसे वीर्यवान् पुत्र । राजा उस कूष्मांड (कद्दू)-को फेंकने जा ही रहे थे कि आकाशवाणी सुनाई दी—'राजन् ! इसमें तुम्हें ६० सहस्र पुत्र उत्पन्न होंगे ।' राजाने उस कद्दूमेंसे एक एक बीज निकलवाकर घृत-कुण्डमें रख दिया और उसकी रक्षाके लिये एक धात्री नियुक्त कर दी । कुछ दिन पश्चात् उसमेंसे एक-एक करके ६० सहस्र बलिष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए । ये लोग देवताओंपर अत्याचार करने लगे । कुछ दिन पश्चात् राजा सगरने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया । घोड़ेके साथ उनके ६० सहस्र पुत्र रक्षाके लिये चले । कुछ दूरपर घोड़ा लुप्त हो गया । राजपुत्रोंने राजासे सब घटनाएँ कहीं । राजाने उन्हें खोजनेकी आज्ञा दी । वे सब खोजते-खोजते कपिल-मुनिके आश्रममें जा

पहुँचे। वहीं बँधे हुए घोड़ेको देखकर इन लोगोंने कपिलजीको दुत्कारना आरम्भ किया। ऋषिकी क्रोध-पूर्ण दृष्टिसे वे ६० सहस्र पुत्र वहीं जलकर भस्म हो गए। फिर राजा सगरके पौत्र तथा असमंजसके पुत्र राजा भगीरथ कठिन तपस्या करके गङ्गाको लाये और इन सबका उद्धार हुआ।

संजीवनी—१. जीवन देनेवाली औषधि। २. एक विद्या जिसके प्रभावसे मृतक भी जी उठता है। शुक्राचार्यको वह विद्या आती थी इससे कोई दैत्य मरता ही नहीं था। तब देवताओंने बृहस्पतिके पुत्र कचको शुक्राचार्यके पास यह विद्या सीखने भेजा। वहाँ दैत्योंने कई बार कचका वध किया किन्तु शुक्राचार्यने उसे जिला दिया। तब असुरोंने उसे मारकर उसका माँस शुक्राचार्यको खिला दिया। तव शुक्राचार्यके मन्त्रसे कच उनका पेट फाड़कर निकल आया और फिर उसने अपने गुरुको भी जिला दिया।

सतोगुण या सत्त्वगुण—सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणोंमेंसे एक। यह गुण जिसमें होता है वह प्रसन्न, प्रेमी, धैर्यशाली और मेधावी होता है।

सन्धि—[नाटककी ५ सन्धियाँ] मुख-सन्धि, प्रतिमुख-सन्धि, गर्भ-सन्धि, विमर्श-सन्धि, निर्वहण-सन्धि।

सन्निपात—वह अवस्था, जब कफ, वात पित्त बिगड़ जाते हैं और मनुष्य ज्वरमें बकने-झकने लगता है। यह असाध्य रोग है—

यदि कथमपि पुंसां जायते कामपीडा
भ्रममद परितापो मोह-वैकल्यभावः।
विकलनयनहासो गीतनृत्यप्रलापी
ह्यभिदधति असाध्यं केऽपि चित्तभ्रमाख्यम्॥

संन्यास—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमोंमेंसे चौथा आश्रम। ७५ वर्षकी अवस्थामें घरबार छोड़कर केवल ईश्वर-प्राप्तिमें लगना।

सप्तमातृका—(देखो मातृकाएँ)

सप्तर्षि—कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज तो इस वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षि हैं। प्रारम्भिक सप्तर्षि ये हैं जो ब्रह्माके मानस पुत्र थे—मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अंगिरा और वशिष्ठ। प्रत्येक मन्वन्तरमें अलग-अलग सप्तर्षि होते हैं।

समिधा—यज्ञ करनेके लिये अर्क, पलाश या गूलरकी प्रादेश भरकी [अँगूठेसे तर्जनी तकके नापकी] उस टहनीको कहते हैं जिसमें आगे फुनगीके पत्ते हों और पूरा छिलका हो। यह समिधा अँगूठेके बराबर मोटी होनी चाहिए और हरी होनी चाहिए। विशीर्ण समिधसे हवन करनेसे आयुक्षय, निष्पत्रसे पुत्रनाश, छोटीसे पत्नीनाश, टेढ़ी होनेसे बन्धुनाश, कीड़े खाई होनेसे रोग, दो टुकड़ोंमें फटी होनेसे विद्वेष, बड़ी होनेसे पशुनाश और अधिक मोटी होनेसे बन्धुनाश होता है। रविके होममें अर्ककी, सोमकेमें पलाशकी, मंगलकेमें खैरकी, बुधकेमें अपामार्ग या चिरचिटेकी, गुरुकेमें पीपलकी, शुक्रकेमें गूलरकी, शनिकेमें शमीकी, राहुकेमें दूर्वाकी और केतुके होममें कुशाकी समिधा काममें लानी चाहिए।

समुद्र—[सात] लवंग, इक्षु, दुग्ध, दधि, सुरा, घृत, महासमुद्र।

सम्पाति—[पक्षी] श्येनीके गर्भसे अरुणका पुत्र, जटायुका बड़ा भाई। जब इंद्रने वृत्रासुरको मार डाला, तब इन्द्रको जीतनेके लिये सुरपुर गया। वहाँ जब सूर्यकी ज्वालासे जटायुके पंख जलने लगे तब सम्पातिने उसपर छाया कर ली। तब सम्पातिके पंख भी जल गए और वह विन्ध्याचलपर आ गिरा। जब हनुमान् आदि सीताको ढूँढने जा रहे थे उस समय समुद्रतटपर सम्पातिने ही उन्हें लंकाका मार्ग दिखाया था और उसी समय उसे पंख भी निकल आए थे।

सम्मोहन—वह अस्त्र जिसके चलानेसे सब जड़वत् हो जायँ।

सरकंडा - सरपतकी जातिकी एक झाड़ी जिसके बीचसे गाँठवाली छड़ियाँ निकलती हैं।

सरस्वती – १. देवी, शुक्लवर्ण, वीणाधारिणी, वेद-शास्त्रकी जननी, विद्याकी देवी। ये ब्रह्माकी मानस-पुत्री हैं। २. नदी, जो पंजाबमें सिरमूर राज्यकी पहाड़ीसे निकलकर थानेश्वर और कुरुक्षेत्र होती हुई सिरसा जिलेकी कागार [दृषद्वती] नदीमें विलीन हो गई है। यह पहले प्रयागमें त्रिवेणीपर गङ्गा-यमुनासे मिल जाती थी और अब कहा जाता है कि यह वहाँ अन्त:सलिला अर्थात् धरतीके नीचे होकर बहती है।

सर्ज– [वृक्ष] शालका पेड़ (देखो शाल।)

सहस्राबाहु—[देखो कार्त्तवीर्य]।

सह्य– ताप्ती नदीसे कन्याकुमारीतक फैली हुई पश्चिमी घाटकी पहाड़ियाँ सह्याद्रि कहलाती हैं।

सारस – बगलेके रूपका चार फुट लम्बा पक्षी जिसका ऊपरी भाग लाल, शरीर भूरा, और टाँगें लम्बी काली होती हैं। यह खेतके बीज, मेंढक और घोंघे खाता है। इसके दर्शनसे यात्रा सिद्ध होती है।

सारिका—(देखो मैना)

साहित्य—कवियों-द्वारा लिखित तथा सुरक्षित वाङ्मय।

सिद्धि–[आठ] अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। जिन्हें ये सिद्धियाँ मिल जाती हैं उन्हें कोई वस्तु तथा कोई कार्य दुर्लभ नहीं होता।

सिन्धु—[नद] यह नद हिमालयसे निकलकर कश्मीर, पंजाब और सिन्धुमें होता हुआ अरब सागरमें जा गिरता है।

सिन्धुवार—निर्गुण्डी या सिन्दुवार।

सुग्रीव—बालीका भाई (देखो बाली)।

सुतीक्ष्ण –अगस्त्य मुनिके भाई जो वनवासके समय रामसे मिले थे।

सुप्रतीक—देवताओंका हाथी जो ईशान कोणका दिग्गज है। (देखो दिग्गज)।

सुबाहु—मारीचका भाई जो ताडकाके साथ रामसे लड़ने आया था और उनके हाथसे मारा गया था।

सुमंत्र—राजा दशरथके मन्त्री और सारथि। ये ही रामको रथपर बैठाकर वनवासके समय गंगातटतक छोड़कर आए थे।

सुमित्रा—राजा दशरथकी पत्नी, लक्ष्मण और शत्रुघ्नकी माता।

सुमेरु--[पर्वत] (देखो मेरु)

सुरागाय—(देखो चँवर)

सुह्म—[देश] वर्त्तमान राढ़ देश जो बंगालके पश्चिममें दामोदर नदीके उत्तरी भागमें है।

सूत—आश्रयदाता राजाओंकी स्तुति करनेवाले पौराणिक।

सूत्रधार—नाटकका प्रबन्ध करनेवाला।

सूर्य—[देखो आदित्य] कश्यपके औरससे दितिके गर्भसे इनकी उत्पत्ति हुई।

सूर्यकान्त—[मणि]—बिल्लौरी पत्थर, जिसे सूर्यके सामने रखनेसे उसमेंसे आग निकलती है।

सेमर या सेमल—शाल्मलीका पेड़। इसका बहुत बड़ा पेड़ होता है जिसमें मोटी पंखड़ियोंवाले लाल फूल लगते हैं और जिसके फलों या डोड़ोंमेंसे कोमल रुई निकलती है।

सोमतीर्थ—वर्त्तमान कन्नड़के पास पिंडपुरीके पास है जहाँ सोमने तपस्या की थी।

सौरीघर—वह प्रकोष्ठ जिसमें स्त्री बालकका प्रसव करके शुद्ध होनेतक रहती है।

स्कन्द—(देखो कार्त्तिकेय)

स्फटिक—बिल्लौरी पत्थर जो पारदर्शी होता है। (देखो सूर्यकान्त)

स्मृति—१८ स्मृतियाँ मानी गई हैं। अनुभूत ज्ञान। महर्षिभिर्वेदार्थचिन्तनं स्मृतिः। महर्षियोंने वेदके अर्थका जिस प्रकार चिन्तन किया वही स्मृति है। इसे धर्मशास्त्र या धर्मसंहिता भी कहते हैं। कलियुगमें पारासर स्मृति मान्य समझी जाती है। 'कलौ पाराशरस्मृतिः।'

स्रुवा—खैरकी लकड़ीका बना हुआ चमचा जिससे हवनमें घी डाला जाता है।

स्वयंवर—१. वह उत्सव, जिसमें कन्याका पिता अनेक युवकोंको एकत्र करता है और कन्या उनमेंसे किसी एकको चुन लेती है। २. स्वयं अपना वर चुन लेनेका कार्य।

स्वरित—[देखो उदात्त और अनुदात्त]

स्वधा—[देखो वषट्] पितृभ्यः स्वधा कहकर पितरोंको सभी वस्तुएँ दी जाती हैं। इसके बिना कहे यदि पितरोंको कोई वस्तु दी जाती है तो वे ग्रहण नहीं करते।

स्वर्ग—देवताओंका लोक जहाँ नन्दनवन, स्वर्गंगा, कल्पवृक्ष, अप्सरा, विमान, अमृत आदि सब आनन्द-विहारके पदार्थ हैं किन्तु वह नश्वर लोक है। पुण्य क्षीण होनेपर वहाँसे फिर लौटना पड़ता है। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।"

स्वामिकार्तिकेय—[देखो कार्तिकेय]

स्वाहा—[देखो वषट्] देवताओंको इस मन्त्रके साथ आहुति दी जाती है।

ह

हंस—[देखो राजहंस]

हनुमान् या हनूमान्—पवनके औरस और अंजनाके गर्भसे इनका जन्म हुआ था। (देखो अंजना)। जन्म लेते ही ये क्षुधातुर होकर लाल फल समझकर सूर्यपर टूट पड़े। यह देखकर देव, दानव, यक्ष सभीमें हाहाकार मच गया। सूर्यके तापसे बचानेके लिये पवनदेवने शीतल वायुके द्वारा इनकी रक्षा की। उस समय सूर्यको राहु ग्रसने जा रहा था। इस शिशुके पहुँचनेपर राहु डरकर भाग गया और इन्द्रसे जाकर कहने लगा कि आपने मुझे सूर्यको ग्रसनेके लिये भेजा था परन्तु एक दूसरे व्यक्तिको भी वहाँ आपने भेज दिया। इसपर इन्द्र बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने जाकर वज्रास्त्रसे, उसपर प्रहार किया जिससे उनका वाम हनु टूटकर लटक गया। पवन उसे उठाकर गुफामें ले गए। पवनदेवने क्रुद्ध होकर सभी वायुओंको रोक दिया। इससे चारों ओर हाहाकार मच गया। देवोंने जाकर ब्रह्मासे कहा। ब्रह्माने आकर उस बच्चेको आशीर्वाद दिया। सभी देवोंने आकर उसे अमोघ वर दिये। इस प्रकार देवताओंसे वर प्राप्त करके हनुमान्‌जी ऋषियोंको सताने लगे। ऋषियोंने शाप दिया कि जिस बलसे गर्वित होकर हम लोगोंको कष्ट दे रहे हो उसे तुम भूल जाओगे। जब कोई स्मरण दिलावेगा तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा। हनुमान् ऋषियोंके शापसे बलहीन होकर आश्रममें विचरने लगे। ऋक्षराजके मरनेपर बाली राजा हुआ। बाली और सुग्रीवसे परस्पर कलह होनेपर हनुमान्‌ने सुग्रीवका साथ दिया। इन्होंने ही जानकीजीकी खोज की थी और रामकी आजन्म सेवा की। ये अमर हैं। सात अमर पुरुष ये हैं—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

हथरखा—[हस्तावाप]—बाण चलाते समय धनुषकी डोरीकी फटकार बाएँ हाथमें कलाईके ऊपर पड़ती रहती है जिससे घट्ठे पड़ जाते हैं। उस फटकारसे हाथको बचानेके लिये चमड़ेकी जो पट्ठी बाँधी जाती थी उसे हथरखा या हस्तावाप कहते थे।

हरताल—[सं॰ क्ली॰] १—एक खनिज पीतवर्ण उपधातु। वैद्यक-शास्त्रमें लिखा है कि

हरिके वीर्यसे हरिताल तथा लक्ष्मीके रजसे मनःशिलाकी उत्पत्ति हुई थी। ताल, आल और तालक ये तीन नाम हरितालके हैं। हरिताल दो प्रकारका होता है १. पत्र-हरिताल सर्वश्रेष्ठ और पिण्ड-हरिताल गुणहीन होता है। पत्र-हरिताल सुनहला, भारी, चिकना, अबरक जैसा तहवाला श्रेष्ठ, गुणदायक और रसायन होता है। पिण्ड-हरिताल पिण्ड-जैसा, स्तरहीन, स्वल्पसत्त्व, अल्पगुण-युक्त, लघु और रजोनाशक होता है। औषधादिके व्यवहारमें इसका संशोधन कर लेना होता है। संशोधित हरिताल लाभप्रद तथा अशोधित रोगप्रद होता है।

हरिचन्दन—१. एक प्रकारका चन्दन। २. स्वर्गके पाँच वृक्षोंमेंसे एक। शेष चार वृक्षोंके नाम ये हैं—पारिजात, मन्दार, संतान और कल्पवृक्ष। ३. पीतचन्दन। ४. पारिभाषिक चन्दन। तुलसीकी लकडीको घिसकर कपूर और अगर अथवा केशर मिलानेसे उसको हरिचन्दन कहते हैं। ५. कुंकुम-केशर, ६. रक्तचन्दन।

हवनकुण्ड—होमकुण्ड, हवनी।

हस्तावाप—[देखो हथरखा]

हावभाव—स्त्रियोंकी वह चेष्टा जिससे पुरुषोंका चित्त आकृष्ट होता है। नाज-नखरा, चटक-मटक।

हिंगोट—हिंगनबेर। इंगुदी वृक्ष।

हिमालय—भारतवर्षके उत्तरमें सदा हिमसे ढका हुआ रहनेके कारण इसका नाम हिमालय पड़ा है। इसमें अनेक प्रकारके धातुज पदार्थ तथा ओषधियाँ मिलती हैं। शतद्रु और काली नदीके मध्यस्थित पर्वतपर लोहा, जस्ता बहुतायतसे मिलता है। हिमालयपर इराण और तुराण नामकी दो आदि-जातियाँ रहती हैं। उत्तर भारतवर्षको शस्यश्यामला बनानेवाली नदियाँ हिमालयके पश्चिम और पूर्वसे निकली हैं—झेलम, चेनाब, राबी, व्यास, सतलज यमुना, गङ्गा, घाघरा, गंडक, कोसी, तिस्ता, ब्रह्मपुत्र और दिहङ्ग। इसके सबसे उच्च शिखरका नाम गौरीशंकर है। भगवान् शंकरकी यही क्रीडाभूमि है।

हिरण्यगर्भ—वह ज्योतिर्मय अण्ड जिससे ब्रह्मा और सारी सृष्टिकी उत्पत्ति हुई।

हूण—प्राचीन जाति। ये चौथी सदीमें एशियासे दो दलोंमें विभक्त हो गए—एक दलने यूरोपमें जाकर अपना आधिपत्य जमाया और दूसरा दल पाँचवीं सदीमें भारतके उत्तर-पश्चिम प्रदेशसे होता हुआ शस्य, श्यामल भारतके समतल क्षेत्रमें पहुँचा और यहाँ शासकोंको अपने प्रबल पराक्रमसे भयभीत करने लगा। गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्तने इन लोगोंको अपने पराक्रमसे परास्त किया। हूणोंका आधिपत्य अफ़गानिस्तानमें भी था। कुछ दिनोंके पश्चात् गान्धार और पेशावरके कुछ भाग जीत कर हूणोंने गुप्त साम्राज्यको तहस-नहस कर डाला। पंजाबका शाकल या वर्त्तमान सियालकोट उनकी राजधानी रही। भारतवर्षपर पचास वर्षोंसे भी ऊपर हूणोंका शासन रहा। उस समय उत्तर भारतमें शाकद्वीपीय ब्राह्मणोंकी तूती बोलती थी।

हेमकूट—हिमालयके उत्तरका एक पर्वत जो भारतकी सीमापर स्थित है। इसकी कल्पित लम्बाई नब्बे सहस्र योजन और चौड़ाई दो सहस्र योजन मानी गई है।

होता—होम करनेवाला। यह चार प्रधान ऋत्विजोंमें है जो ऋग्वेदके मन्त्र (शस्त्र) पढ़ता और देवताओंका आवाहन करता है। इसके तीन सहायक होते हैं—अध्वर्यु, उदगाता और ब्रह्मा।

कालिदास सम्बन्धी पुस्तकों तथा निबन्धोंकी सूची

[डा० रामकुमार चौबे]

नोट—कालिदास सम्बन्धी निबन्धोंकी संख्या इतनी अधिक है कि उसकी पूरी सूची इस समय बनाना दुस्तर है। केवल मुख्य पुस्तकों और निबन्धोंका विवरण ही नीचे दिया जाता है।

पुस्तकें

मैक्डौनेल : **A History of Samskrit Literature.**
वेबर : **A History of Indian Literature.**
विन्टरनित्स : **A History of Indian Literature.**
कीथ : **The Samskrit Drama.**
,, : **A History of Samskrit Drama.**
,, : **Classical Samskrit Literature.**
कृष्णमाचार्य्यार : **History of Classical Samskrit Literature.**
कुलकर्णी, के. पी. : **Samskrit Drama and Dramatists.**
महावीरप्रसाद द्विवेदी : कालिदास
विलसन : **Hindu Theatre.**
सिलवाँ लेवी : **The Theatre of the Indians (French)**
अरविन्द घोष : **The Age of Kalidasa.**
रामकृष्ण भंडारकर : **A Peep into the early History of India.**
— — : **Early History of the Deccan.**
द्विजेन्द्रलाल राय : कालिदास और भवभूति
मिराशी, वासुदेव विष्णु : कालिदास
चट्टोपाध्याय के. सी. : **The date of Kalidasa.**
लक्ष्मीधर काला : **The birth-place of Kalidasa.**
हे. एस. सी. : **Kalidasa and Vikramaditya.**
स्मिथ, वी. : **Early History of India.**
आयंगर, के. एस. : **Studies in Gupta History.**
बकलदार, एच. सी. : **Social Life in Ancient India.**
रामकुमार चौबे : कालिदासकी प्रतिष्ठा और उनके समय तथा ग्रन्थ-रचना सम्बन्धी
: विवेचना पर एक नवीन दृष्टि।
हिलेब्रांट : **Kalidasa (German).**
हरदत्त शर्मा : **Padmapurana and Kalidasa.**
हूट : **Die Zeit des Kalidasa.**
बलदेव उपाध्याय : संस्कृत कवि-चर्चा

विष्णुकृष्ण चिपलूणकर : संस्कृत कवि पंचक
परांजपे, कै. शि. म. : साहित्य-संग्रह
लेले कै. शि. म. : विक्रमोर्वशीय सार व विचार
,,— : शाकुन्तल-सार व विचार
हरिचन्द : Kalidasa
पिशेल : De Kalidasae Shakuntala recensions. (1870)
,,— : Die Recensionen der Shakuntala. (1875)
हेनरी वी. : Les literatures de I' inde.
वेबर : Indische Studien.
बीलर : Kashmir Report.
भगवतशरण उपाध्याय : Social India as depicted by Kalidasa.
गावरान्सकी : Les Sources de quelques drames Indiens.
शाह, एच. ए. : Kautalya and Kalidasa.
गावरान्सकी : Fess Schrift Windisch.
,,— : The Digvijaya of Raghu. (1915)
बीलर : Die Indischen Insschriften.
गाईगेट : Lit Orsd Sperache der Singhalasen.
नन्दर्गीकर : कुमारदास
भाऊदाजी : Literary Ramains.
वेख, एच : Ein Bertrung Zur Textkritic daes.
,, : Kalidasa's Meghadut.
फौन श्रोएडर : Indiens Literature and Cultur.
मैक्समूलर : India : what it can teach us.
कर्ण : Introduction to Brihatsamhita of Varahamihir.
कावैल : Buddhacharita of Ashwaghosha.
आपटे : Date of Kalidasa (Marathi) Bombay.
,, : Chandragomin and Kalidasa (German)
चटर्जी ए. एस. : Kalidasa, his poetry and mind.
रामस्वामी शास्त्री : Kalidasa (Vani Vilas Press)
झाला : Kalidasa (Bombay 1943)
सुमनेर, एम. : Les Heroines de Kalidasa et Belles.
de Shakespeares (Paris)
सिनेविरत्ने : Life of Kalidasa (Colombo)

पत्र-पत्रिकाओंमें लेख और निबन्ध

हरप्रसाद शास्त्री : Kalidasa, his home JBOS (1916)
I A. XLVII p. 264
I R. XI. p. 292.
मजुमदार : Home of Kalidasa, I. A. XLVII p. 264
ग्रीयरसन : Tradition about Kalidasa J A S B XLVII
भाऊदाजी : Saturday Review Jan. 1860
J. B. R. A. S. 1861
पंडित एस. पी. : Introduction to Raghuvamsha.
लासेन : I. A. II p. 451 & 1158-1160
मोनियर विलियम्स : Indian Wisdom. p. 494
नन्दर्गीकर : Introduction to Raghuvamsha.
वीवर : Malavika & Agnimitra (Berlin)
विलफर्ड : Vikramditya and Shalivahana Essay AS. IX. p. 117
शंकर अय्यर के. जी. : Quarterly Journal of mythic Soc. VIII.
पाठक : Introduction to Meghaduta.
नारायण शास्त्री, टी.एस. : Age of Sankaras.
;; Shri Harsha, the Dramatist.
जायसवाल : Kaildasa 1. A. XL. p. 265.
पाठक : Kalidasa J. B. R. A. XIX 35
चक्रवर्ती : Kalidasa J. R. A. S. (1904) p. 158 (1903) p 183.
ब्लाख : Kalidasa Z. D. M. G. (1908) p, 671
होर्नले : Kalidasa J. R. A. S. (1909)
केनेडी : Kalidasa J. R. A. S. (1908)
तैलंग : Introduction to Mudra Rakshasa.
स्मिथ, वि. : Kalidasa J. A. S. B. (1905) p. 227
कीथ : Kalidasa J. R. A. S. (1909)
मजुमदार, बी. सी. : Kalidasa J. R. A. S. (1909)
मोदी जे. जे. : Kalidasa Asiatic Papers.
गणपति शास्त्री : Introduction to Pratima Natak.
बैन्टली : Kalidasa, Asiatic Researches VIII p. 243
कीलहौर्न : Kalidasa Got. N. (1890) p. 257
Kalidasa I. A. XIX p. 285

लाइबिख : Kalidasa Annual. Rep. of the Ges fus Vaterlandische Kultur (Breslaw 1903)
याकोबी : (Jacobi) Kalidasa Vo. J. III p. 127
ताताचार्य : Ist Verse of Raghuvamsha JASB XXI and Oriental Conf. Proc. III (Madras)
शिवप्रसाद भट्टाचार्य्य : Analysis of Raghuvamsha JASB. XXI
Proceedings 4th Oriental Conference.
Studies of Ritusamhara. Karma yogin Journal
नोबेल : Kalidasa Z. D. M. G. LXVI
Kalidasa J. R. A. S. 1913. 401
Kalidasa J. R. A. S. 1912
स्ट्रेन्जलर : Kalidasa Z. D. M. G. XLIV
अरविन्द घोष : Kalidasa's Seasons.
बन्डेल : Kalidasa in Ceylon J. R. A. S. (1880)
ग्रियर्सन : Are Kalidasa's heroes monogamists J.A.S.B. XLVI p.39
——— : Some Notes on Kalidasa. JASB XLVIII (32-48)
लेओनर्ड : Further proof of Polygamy of Kalidas as heroes JASB XLVI p. 160.
प्राणनाथ पंडित : Morals of Kalidasa JASB XLV p. 352
जेक्सन : Legend of Kalidas preserved in Ujjain JAOS XXIIp.331
: Time Analysis of Drama of Kalidasa JAOS XXp. 341-59
: Bibliography of Kalidasa's plays JAOS XXII p. 237 XXIII p. 937.
टूइलु आ. वी. : Traditional Account of Kalidasa IA VII p. 115
होर्नले : Kalidasa and Kamandaki IAXLI p. 156.
चक्रवर्ती, जे. बी. : Kalidasa; the great Indian poet. Journal of Mythic Soc. VIII p. 261
नृसिंहाचार्य्यार : Life of Kalidasa J. of Mythic Soc. VIII p. 273
कृष्णशास्त्री : Tormative influences of Kalidasa. J. My. S. IX p. 557
व्यङ्कट सुब्बय्या : Kalidasa's Sociological Ideals. J. My. S. Ibid 95.
व्यङ्कट रमनय्या : Some Views of Kalidasa's philosophy and Religion J. M. Y. S. Ibid 98
कृष्ण आयंगर : Kalidasa and Shakespeare J. My. Soc Ibid 151.
भंडारकर, डी. आर. : Solesisms of Shankaracharya & Kalidasa (I.A XLI214)
नृसिहाचार्य्यार : Kalidas's Religion and Philosophy (IA. XXXIX 236).
सोवानी; वी. खी. : Essay on Society in the time of Kalidasa (in Malavati)

रामशास्त्री, अलमराजू : Heroines of Kalidasa (Sah XXII, 45)
चटर्जी, ए. सी. Kalidasa his poetry and mind (M. R. XI alooed Calcutta)
कृष्णमाचार्य्यार : Kalidasa and Bhavabhuti (Sah XVIII)
रामानुजाचार्य्य : Kalidasa's date (Sah XIX)
रामाचार्य्य : Kalidas's Love for deer (Sah XXIV) (Sahridaya, a Sanskrit Journal of Madras)
शेषगिरि शास्त्री : Kalidasa, (I A. 1340)
कृष्णस्वामी अय्यर : Poetry of Kalidasa (I. R. XIV 899)
भिड़े : Notes on Kalidasa (I A. XLXII)
हरिचन्द : Les Citations des Kalidasa dans le traites d' Alankara (J. A. VII. No i, ii)
: Kalidasa et la poetique de l' inde Paris Reviewed in (J. R. A S. 1981)
वैद्य, सी. वि. : Pandyas and the date of Kalidasa
मजूमदार, के. जी. : Vatsyayana and Kalidasa (IA XLVII 195)
Kalidasa and Kamandaki (IA XLVI 220)
चटर्जी पी. के. : Poet Kalidasa and sea voyage (Journal Dep. of Letters Calcutta XVI)
आनन्द कौल : Birth place of Kalidasa (Journal of Indian His. VII 345)
बालसुब्रह्मण्य अय्यर : Kalidasa, his philosophy of Love (JOR. III 349)
वैङ्कट रमय्या सी. के. : Kalidasa and Bhasa in the light of western Criticism. (J. My. XVII 125)
रंगस्वामी सरस्वती : Kalidasa. J. My. XV 269 XVI 98.
शाह, ए. : Kalidasa and Kautalya (J. My. Soc. XI 42, X 303)
Astronomical date in the dramas of Kalidasa (Proceedings, All India Oriental Conference 1924)
शंकर, अय्यर के. जी. : Vikrama theory of Kalidasa's date (J. My, XI 188)
चक्रवर्ती : Date of Kalidasa J. R. A. S. (1891) 330
भाऊदाजी : On the Samskrit Poet Kalidasa (J. B. R. A. S. VI 1920)
मजूमदार बी. सी. : Date of Kalidasa (J. B. O. R. S. II 388)
शंकर, अय्यर के. जी. : Yasodhaman's theory of Kalidas's date (J. B. O. R. S VII 60)
सुब्बाराव शास्त्री : Kalidasa's flowers (Bharati)

वेङ्कट रमय्या : Was Kalidasa a votary of Kali. (Bharati V 688)
रामकृष्ण अय्या : Ritusambara; Bharati V 387
पिचय शास्त्री : Megha Sandesha, Bharati V 678
रामदास्य : Megha Sandesha, Bharati V 20
जगो पन्तालू : Kalidasa, Bharati VIII 19
रामकृष्ण राव : Kalidasa and Bhavabhuti (Bharati III 15)
सुतत्रमथ शास्त्री : Kalidasa-patrauchityam. (Bharati V 326)
शिवराम मूर्ति : Kalidasa and painting. (J. O. R. VII 160)
वैङ्कटराम शास्त्री : Mystical elements Kalidasa (J. O. R, VII 337)
मजुमदार : Birth place of Kalidasa IA XLVII 264
टामस : Birth place of Kalidasa J. R. A. S. 1918 p. 118
डे, एस. के. : Kalidasa I. H Q 1940 385 ff
रामनाथ अय्यर : The authorship of Nalodaya (J. R. A. S. 1925)
गोखले वी. बी. : The Mangalashtaka of Kalidasa.
मजुमदार, जी. एन. : Kalidasa and music Annals, B. O. B. I 1925-26 VI
भंडारकर, डी. आर. : Date of Kalidasa. Annals BORI VIII p. II
हरदत्त शर्मा : Padmapurana and Kalidasa Cal. O.S. No. 17-1923
लूई फिनो : Kalidasa in China (I. H. Q. 1933, 829, 834)
स्टाइन कोनो : Kalidasa in China (IHQ 1934. 566 ff)
प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त : Date of Kalidasa, Sahitya parishad. patrika Bengali XLI No, 2
चट्टोपाध्याय, के. सी. : Kalidasa and the Huns. Jour. Ind. His XV pt. I
भगवतशरण उपाध्याय : Educations and Learning as depicted by Kalidasa and Fine Arts as depicted in Kalidasa. Journal B. H. U. IVI—3
राघवन, वी. : Women characters in Kalidas's dramas (Annals Oriental Research Uni. Madras IV 1939-40)
कुन्हन राजा : Studies in Kalidasa (Annals Oriental Res. Uni Madras V pt 21 940-41
सुब्रह्मण्यम्, ए. सी. : Nature Poetry in Kalidasa's Reghuvamsha J. Annals Univ. III 1934 and 35

रघुवंशमहाकाव्यम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

	सर्गे	श्लोकः
अ		
अकरोत्स तदोर्ध्वदैहि	८	२६
अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ	८	२०
अकार्यचिन्तासमकाल	६	३९
अकाले बोधितो भ्रात्रा	१२	८१
अक्षबीजवलयेन नि	११	६६
अगस्त्यचिह्नादयनात्स	१६	४४
अग्निवर्णमभिषिच्य	१९	१
अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्त	१५	८
अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते	१९	१३
अङ्गदं चन्द्रकेतुं च	१५	९०
अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं	१९	३६
अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्ज	१९	१७
अचिराद्यज्वभिर्भागं	१०	४५
अजयदेकरथेन स	९	१०
अजस्य गृह्णतो जन्म	१०	२४
अजिताधिगमाय मन्त्रि	८	१७
अजिनदण्डभृतं कुश	९	२१
अतिथिं नाम काकुत्स्थान्	१७	१
अतिप्रबन्धप्रहितास्त्र	३	५८
अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्ष	१०	३
अतोऽयमश्वः कपिलानु	३	५०
अत्रानुगोदं मृगयानि	१३	३५
अत्राभिषेकाय तपोध	१३	५१
अत्रावियुक्तानि रथाङ्ग	१३	३१
अथ काश्चिदजव्यपेक्ष	८	२४
अथ जातु रुरोर्गृहीत	९	७२
अथ जानपदो विप्रः	१५	४२
अथ तं सवनाय दीक्षि	८	७५
अथ तस्य कथञ्चिदङ्क	८	७१
अथ तस्य विवाहकौतु	८	१
अथ तस्य त्रिशाम्पत्यु	१०	५०
अथ तेन दशाहतः	८	७३
अथ धूमाभिताम्राक्षं	१५	४९
अथ नभस्य इव त्रिद	९	५४
अथ नयनसमुत्थं	२	७५
अथ पथि गमयित्वा	११	९३
अथ प्रजानामधिपः	२	१
अथ प्रदोषे दोषज्ञः	१	९३
अथ प्रभावोपनतैः	५	५२
अथ प्राचेतसोपज्ञं	१५	६३
अथ मदगुरुपक्षैर्लोक	१२	१०२
अथ मधुवनितानां	१८	५२
अथ यथासुखमार्तव	९	४८
अथ यन्तारमादिश्य	१	५४
अथ रामशिरश्छेद	१२	७४
अथ रोधसि दक्षिणोदधेः	८	३३
अथवा कृतवाग्द्वारे	१	४
अथवा मम भाग्यविप्लवा	८	४७
अथवा मृदु वस्तु हिंसि	८	४५
अथ वाल्मीकिशिष्येण	१५	८०
अथ विधिमवसाय्य	५	७६
अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठि	८	१०
अथ वेलसमासन्न	१०	३५
अथ व्यवस्थापितवाक्क	१४	५३
अथ समाववृते कुसु	९	२४
अथ स विषयव्यावृत्ता	३	७०
अथ सावरजो रामः प्रा	१५	७०
अथ स्तुते वन्दिभिरन्व	६	८
अथाग्र्यमहिषी राज्ञः	१०	६६
अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं	६	५३
अथाङ्गराजादवतार्य	६	३०
अथात्मनः शब्दगुणं	१३	१
अथाथर्वनिधेस्तस्य	१	५९
अथाधिकस्निग्धविलोचने	१४	२६
अथाधिशिश्ये प्रयतः	५	२८
अथानपोढार्गलमप्यगा	१६	६

	सर्गे	श्लोकः
अथानाथाः प्रकृतयो	१२	१२
अथानुकूलश्रवणप्र	१४	४७
अथान्धकारं गिरि	२	४६
अथाभिषेकं रघुवंश	१४	७
अथाभ्यर्च्य विधातारं	१	३५
अथार्धरात्रे स्तिमितप्र	१६	४
अथास्य गोदानविधेर	३	३३
अथास्य रत्नग्रथितोत्त	१६	४३
अथेतरे सप्त रघुप्रवी	१६	१
अथेप्सितं भर्तुरुप	३	१
अथेश्वरेण क्रथकैशि	५	३९
अथैकधेनोरपरा	२	४९
अथोपनीतं विधिवद्वि	३	२९
अथोपयन्त्रा सदृशेन	७	१
अथोपरिष्टाद्भ्रमरै	५	४३
अथोपशल्ये रिपुभग्नशल्य	१६	३७
अथोरगाख्यस्य पुरस्य	६	५९
अथोर्मिलोलोन्मदराज	१६	५४
अथोष्ट्रवामीशतवा	५	३२
अदः शरण्यं शरभङ्गना	१३	४५
अदूरवर्तिनीं सिद्धिं	१	८७
अद्धा श्रियं पालितसङ्ग	१३	६५
अधिकं शुशुभे शुभंयु	८	६
अधिगतं विधिवद्यद	९	२
अध्यास्य चाम्भःपृषतो	६	५१
अनम्राणां समुद्धर्तुं	४	३५
अनयत्प्रभुशक्तिसम्प	८	१९
अनवाप्तमवाप्तव्यं	१०	३१
अनश्नुवानेन युगोपमा	१८	४८
अनसूयातिसृष्टेन पुण्य	१२	२७
अनाकृष्टस्य विषयै	१	२३
अनिग्रहत्रासविनीत	१३	५०
अनित्याः शत्रवो बाह्या	१७	४९
अनीकिनीनां समरेऽग्र	१८	१०
अनुग्रहप्रत्यभिनन्दि	१४	७९
अनुभवन्नवदोल्मृ	९	४६
अनुभूय वसिष्ठसम्भृतैः	८	३
अनेन कथिता राज्ञो	१०	५३
अनेन चेदिच्छसि गृह्य	६	२४

	सर्गे	श्लोकः
अनेन पर्यासयताश्रु	६	२८
अनेन पाणौ विधिवद्गृ	६	६३
अनेन यूना सह पार्थिव	६	३५
अनेन सार्धं विहराम्बु	६	५७
अन्यदा जगति राम	११	७३
अन्येद्युरथ काकुत्स्थः	१५	७५
अन्येद्युरात्मानुचर	२	२६
अन्योन्यदर्शनप्राप्तवि	१२	८७
अन्योन्यसूतोन्मथनाद	७	५२
अन्वियेष सदृशीं स च	११	५०
अपतुषारतया विश	९	३९
अपथेन प्रववृते न जातूप	१७	५४
अपनीतशिरस्त्राणाः	४	६४
अपशूलं तमासाद्य	१५	१७
अपशोकमनाः कुटुम्बि	८	८६
अपि तुरगसमीपादु	९	६७
अपि प्रभुः सानुशयोऽनु	१४	८३
अपि प्रसन्नेन मह	५	१०
अप्यग्रणीर्मन्त्रकृता	५	४
अप्यर्धमार्गे परबाण	७	४५
अब्रवीच्च भगवन्मतङ्ग	११	३९
अभिनवान्परिचेतु	९	३३
अभिभूय विभूतिमार्त	८	३६
अभ्यभूयत वाहानां	४	५६
अभ्यासनिगृहीतेन	१०	२३
अभ्युत्थिताग्निपिशुनै	१	५३
अमदयन्मधुगन्धस	९	४२
अमंस्त चानेन परार्ध्य	३	२७
अमी जनस्थानमपोढ	१३	२२
अमी शिरीषप्रसवावतंस	१६	६१
अमुं पुरः पश्यसि देव	२	३६
अमुं सहासप्रहितेक्ष	१३	४२
अमूर्विमानान्तरलम्बि	१३	३३
अमेयो मितलोकस्त्व	१०	१८
अमोघं सन्दधे चास्मै	१२	९७
अमोच्यमश्वं यदि मन्य	३	६५
अयं सुजातोऽनुगिरं	१३	४९
अयःसङ्कुचितां रक्षः	१२	९५
अयोध्यादेवताश्चैनं प्रश	१७	३६

	सर्गे	श्लोकः
अरिष्टशय्यां परितो	३	१५
अरुणरागनिषेधिभि	९	४३
अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं	११	६९
अर्चिता तस्य कौसल्या	१०	५५
अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थि	७	१०
अर्पितस्तिमितदीपदृ	१९	४२
अलं महीपाल तव	२	३४
अलं ह्रिया मां प्रति	५	५८
अलिभिरञ्जनबिन्दुम	९	४१
अवकाशं किलोदन्वा	४	५८
अवगच्छति मूढचेत	८	८८
अवजानासि मा यस्मा	१	७७
अवनिमेकरथेन व	९	११
अवन्तिनाथोऽयमुदग्र	६	६२
अवभृथप्रयतो निय	९	२२
अवाकिरन्वयोवृद्धा	४	२७
अवेक्ष्य रामं ते तस्मि	१५	३
अवैमि कार्यान्तरमानु	१६	८२
अवैमि चैनामनघेति	१४	४०
अशून्यतीरां मुनिसन्नि	१४	७६
अंशे हिरण्याक्षरिपोः स	१८	२५
अंसलम्बिकुटजार्जुन	१९	३७
असकृदेकरथेन त	९	२३
असङ्गमद्रिष्वपि सार	३	६३
असज्जनेन काकुत्स्थः प्र	१२	४६
असमाप्तविधिर्यतो	८	७६
असह्यपीडं भगवन्न	१	७१
असह्यविक्रमः सह्यं	४	५२
असौ कुमारस्तमजोऽनु	६	७८
असौ पुरस्कृत्य गुरुं	१३	६६
असौ महाकालनिकेत	६	३४
असौ महेन्द्रद्विपदान	१३	२०
असौ महेन्द्राद्रिसमान	६	५४
असौ शरण्यः शरणोन्मु	६	२१
अस्त्रं हरादाप्तवता	६	६२
अस्य प्रमाणेषु समग्र	६	३३
अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घ	६	४३
अहमेव मतो महीप	८	८
अहीनगुर्नाम स गां सम	१८	१४

आ

	सर्गे	श्लोकः
आकारसदृशप्रज्ञः	१	१५
आकीर्णमृषिपत्नीना	२	५०
आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततो	६	१५
आततज्यमकरोत्स	११	४५
आतपात्ययसङ्क्षिप्त	१	५२
आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य	१५	४६
आदिदेशाथ शत्रुघ्नं	१५	६
अदिष्टवर्त्मा मुनिभिः	१५	१०
आधारबन्धप्रमुखैः	५	६
आधूय शाखाः कुसुम	१६	३६
आधोरणानां गजसं	७	४६
आनन्दजः शोकजमश्रु	१४	३
आपादपद्मप्रणताः	४	३७
आपिञ्जरा बद्धरजः	१६	५१
आपीनभारोद्वहन	२	१८
आमुक्ताभरणः स्रग्वी	१७	२५
आयोधने कृष्णगतिं स	६	४२
आराध्य विश्वेश्वरमीश्व	१८	२४
आरूढमद्रीनुदधीन्वि	६	७७
आलोकमार्गं सहसा	७	६
आवर्ज्य शाखाः सदयं	१६	१९
आवर्तशोभा नतनाभि	१५	६३
आवृण्वतो लोचनमार्ग	७	४२
आशास्यमन्यत्पुनरु	५	३४
आश्वास्य रामावरजः स	१४	५८
आससाद मिथिलां स	११	५२
आससाद मुनिरात्मन	११	२३
आसां जलस्फालनतत्प	१६	६२
आसारसिक्तक्षितिवाष्प	१३	२९
आसीद्वरः कण्टकितप्र	७	२२
आस्फालितं यत्प्रमदाक	१६	१३
आस्वादवद्भिः कवलैः	२	५

इ

	सर्गे	श्लोकः
इक्षुच्छायनिषादिन्यः	४	२०
इक्ष्वाकुवंशगुरवे	१३	७०
इक्ष्वाकुवंशप्रभवः	१४	५५
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो	५	५५
इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं	६	७१

	सर्गे	श्लोकः
इतः परानर्भकहार्य	७	६७
इतराण्यपि रक्षांसि	१२	८२
इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्र	१५	३५
इतस्ततश्च वैदेहीम	१२	५९
इति क्रमात्प्रयुञ्जानो	१७	६८
इति क्षितीशो नवतिं न	३	६९
इति जित्वा दिशो जिष्णु	४	८५
इति प्रगल्भं पुरुषा	२	४१
इति प्रगल्भं रघुणा स	३	४७
इति प्रतिश्रुते राज्ञा	१५	७४
इति प्रसादयामासुस्ते	१०	३३
इति वादिन एवास्या	१	८२
इति विज्ञापितो राज्ञा	१	७३
इति विरचितवाग्भिः	५	७५
इति विस्मृतान्यकरणीय	९	६९
इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु	८	२३
इति शिरसि स वामं	७	७०
इति सन्तर्ज्य शत्रुघ्नं	१५	१९
इति स्वसुर्भोजकुलप्र	७	२९
इत्थं क्षितीशेन वशी	२	६७
इत्थं गते गतघृणः	९	८१
इत्थं जनितरागासु	१७	४४
इत्थं द्विजेन द्विजराज	५	२३
इत्थं नागस्त्रिभुवनगु	१६	८८
इत्थं प्रयुज्याशिषम	५	३५
इत्थं व्रतं धारयतः	२	२५
इत्यध्वनः कैश्चिदहोभि	१६	३५
इत्यपास्तमखविघ्नयो	११	३०
इत्यर्घ्यपात्रानुमित	५	१२
इत्याप्तवचनाद्रामो	१५	४८
इत्या प्रसादादस्यास्त्वं	१	९१
इत्यारोपितपुत्रास्ते	१५	९१
इत्युक्तवन्तं जनकात्म	१४	४३
इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तु	१२	३८
इत्युद्गताः पौरवधू	७	१६
इत्यूचिवानुपहृताभरणः	१६	८६
इदमुच्छ्वसितालकं	८	५५
इन्दीवरश्यामतनु	८	६५
इन्दोरगतंयः पद्मे	१७	७५

	सर्गे	श्लोकः
इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदो	१७	८१
इन्द्रियार्थपरिशून्यम	१९	६
इमां तटाशोकलतां च	१३	३२
इमां स्वसारं च यवीय	१६	८५
इयमप्रतिबोधशायि	८	५८

ई

ईप्सितं तदवज्ञाना	१	७९

उ

उत्खातलोकत्रयकण्टके	१४	७३
उत्तस्थुषः सपदि पल्व	९	५९
उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृता	२	६१
उत्तिष्ठ वत्से ननु सानु	१४	६
उत्थापितः संयति रेणु	७	३९
उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः	१५	९८
उदधेरिव रत्नानि	१०	३०
उदयमस्तमयं च	९	९
उदये मदवाच्यमुज्झ	८	८४
उदायुधानापततस्ता	१२	४४
उद्बन्धकेशश्च्युतपत्र	१६	६७
उद्यच्छमाना गमनाय	१६	२९
उद्यतैकभुजयष्टिमा	११	१७
उन्नाभ इत्युद्गतनाम	१८	२०
उन्मुखः सपदि लक्ष्मणा	११	२६
उपकूलं स कालिन्द्याः पु	१५	२८
उपगतोऽपि च मण्डल	९	१५
उपचितावयवा शुचि	९	४४
उपपन्नं ननु शिवं	१	६०
उपययौ तनुतां मधु	९	३८
उपशल्यनिविष्टैस्तैश्च	१५	६०
उपस्थितविमानेन ते	१५	१००
उपस्थितां पूर्वमपास्य	१४	६३
उपहितं शिशिरादग	९	३१
उपात्तविद्यं विधिव	५	३८
उपान्तयोर्निष्कुषितं वि	७	५०
उपान्तवानीरवनोप	१३	३०
उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः	१५	९२
उपेत्य सा दोहददुःख	३	६
उभयमेव वदन्ति	९	३
उभयोरपि पार्श्ववर्ति	८	३९
उभयोर्न तथा लोकः	१५	६८

	सर्गे	श्लोकः
उभावुभाभ्यां प्रणतौ	१४	२
उमावृषाङ्कौ शरज	३	२३
उरस्यपर्याप्तनिवेश	१८	४७
उवाच धात्र्या प्रथमोदि	३	२५
उषसि स गजयूथक	९	७१
ऋ		
ऋत्विजः स तथानर्च दक्षि	१७	८०
ऋद्धापणं राजपथं स	१४	३०
ऋषिदेवगणस्वधाभु	८	३०
ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते	१५	८६
ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य	१०	४
ए		
एकातपत्रं जगतः	२	४७
एको दाशरथिः कामं या	१२	४५
एतद्गिरेर्माल्यवतः	१३	२६
एतन्मुनेर्मानिनि शात	१३	३८
एताः करोत्पीडितवारि	१६	६६
एता गुरुश्रोणिपयोधर	१६	६०
एतावदुक्तवति दाश	१३	६८
एतावदुक्त्वा प्रतिया	५	१८
एतावदुक्त्वा विरते	२	५१
एते वयं सैकतभिन्न	१३	१७
एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य	६	२५
एवं तयोरध्वनि	५	६०
एवमात्तरतिरात्मसं	११	५७
एवमाप्तवचनात्स	११	४२
एवमिन्द्रियसुखानि	१९	४७
एवमुक्तवति भीमदर्शनि	११	७९
एवमुक्ते तया साध्व्या	१५	८२
एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्र	१७	७७
एषा त्वया पेशलमध्यया	१३	३४
एषा प्रसन्नस्तिमित	१३	४८
एषोऽक्षमालावलयं	१३	४३
ऐ		
ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय	१५	२२
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या	१२	२२
ऐरावतास्फालनविश्ल	६	७३
क		
कण्ठसक्तमृदुबाहु	१९	२९

	सर्गे	श्लोकः
कण्डूयमानेन कटं	२	३७
कथं नु शक्योऽनुनयो	२	५४
कराभिघातोत्थितकन्दु	१६	८३
करेण वातायनलम्बि	१३	२१
कलत्रनिन्दागुरुणा	१४	३३
कलत्रवन्तमात्मान	१	३२
कलत्रवाहनं बाले कनी	१२	३४
कलमन्यभृतासु भाषितं	८	५९
कल्याणवुद्धेरथवा	१४	६२
कश्चित्कराभ्यामुपगूढ	६	१३
कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतो	७	५१
कश्चिद्यथाभागमवस्थि	६	१९
कातरोऽसि यदि वोद्गता	११	७८
कातर्यं केवला नीतिः	१७	४७
का त्वं शुभे कस्य परिग्र	१६	८
काप्यभिख्या तयोरासी	१	४६
कामं कर्णान्तविश्रान्ते	४	१३
कामं जीवति मे नाथ	१२	७५
कामं न सोऽकल्पत पैतृ	१८	४०
कामं नृपाः सन्तु सहस्र	६	२२
कामं प्रकृतिवैराग्यं स	१७	५५
कामरूपेश्वरस्तस्य	४	८४
कामिनीसहचरस्य कामि	१९	५
काम्बोजाः समरे सोढुं	४	६९
कायेन वाचा मनसा	५	५
कार्तिकीषु सवितानह	१९	३९
कार्येषु चैककार्यत्वा	१०	४०
कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स	१५	२४
कालान्तरश्यामसुधेषु	१६	१८
काषायपरिवीतेन	१५	७७
किन्तु वध्वां तवैत	१	६५
किमत्र चित्रं यदि का	५	३३
किमप्यहिंस्यस्तव	२	५७
किमात्मनिर्वादकथामु	१४	३४
किंवा तवात्यन्तवियोग	१४	६५
कुमारभृत्याकुशलैरनु	३	१२
कुमाराः कृतसंस्कारा	१०	७८
कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण	१२	८०
कुम्भपूरणभवः पटु	९	७३

	सर्गे	श्लोकः
कुम्भयोनिरलङ्कारं	१२	५५
कुरुष्व तावत्करभो	१३	१८
कुलेन कान्त्या वयसा न	६	७९
कुशावतीं श्रोत्रियसात्स	१६	२५
कुशेशयाताम्रतलेन	६	१८
कुसुमं कृतदोहदस्त्व	८	६२
कुसुमजन्म ततो नव	९	२६
कुसुममेव न केवल	९	२८
कुसुमान्यपि गात्रसङ्ग	८	४४
कुसुमैर्ग्रथितामपार्थि	८	३४
कुसुमोत्खचितान्वलीभृ	८	५३
कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि न	१७	६९
कृच्छ्रलब्धमपि लब्ध	११	२
कृतदण्डः स्वयं राज्ञा	१५	५३
कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयो	१२	९४
कृतः प्रयत्नो न च देव	१६	७६
कृतवत्यसि नावधीरणां	८	४८
कृतसीतापरित्यागः स	१५	१
कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब	१४	१६
कृताभिषेकैर्दिव्यायां	१०	६३
कृशानुरपधूमत्वा	१०	७४
क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लता	१९	२३
केवलं स्मरणेनैव	१०	२९
कैकेय्यास्तनयो जज्ञे	१०	७०
कैलासगौरं वृष	२	३५
कोशेनाश्रयणीयत्वमि	१७	६०
कौशिकेन स किल क्षिती	११	१
कौसल्य इत्युत्तरकोस	१८	२७
क्रतुषु तेन विसर्जित	९	२०
क्रथकैशिकवंशसम्भ	८	८२
क्रमेण निस्तीर्य च	३	७
क्रियानिमित्तेष्वपि	५	७
क्रियाप्रवन्धादयमध्व	६	२३
क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य	१७	२०
क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण	१३	७९
क्लेशावहा भर्तुरलक्ष	१४	५
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव	१३	५७
क्वचित्खगानां प्रियमान	१३	५५
क्वचित्पथा सञ्चरते	१३	१९

	सर्गे	श्लोकः
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी	१३	५६
क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्र	१३	५४
क्व सूर्यप्रभवो वंशः	१	२
क्षणमात्रसखीं सुजात	८	३७
क्षतात्किल त्रायत	२	५३
क्षत्रजातमपकारवैरि	११	७१
क्षत्रियान्तकरणोऽपि	११	७५
क्षितिरिन्दुमती च भामिनी	८	२८
ख		
खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः	१७	६६
खर्जूरीस्कन्धनद्धानां	४	५७
ग		
गन्धश्च धाराहतपल्व	१३	२७
गरुडापातविश्लिष्टमेघ	१२	७६
गर्भं दधत्यर्कमरीचयो	१३	४
गृणवत्सुतरोपितश्रियः	८	११
गुणैराराधयामासु	१०	८५
गुप्तं ददृशुरात्मानं	१०	६०
गुरोर्नियोगाद्वनितां	१४	५१
गुरोर्यियक्षोः कपिलेन	१३	३
गुरोः स चानन्तरमन्त	१८	१५
गुरोः सदारस्य निपी	२	२३
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपार	५	२४
गृहिणी सचिवः सखी मिथः	८	६७
गृहीतप्रतिमुक्तस्य	४	४३
गेये को नु विनेता वा	१५	६९
गौरवाद्यदपि जातु	१९	७
ग्रथितमौलिरसौ वन	९	५१
ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु	१	४४
घ		
घ्राणकान्तमधुगन्ध	१९	११
च		
चकम्पे तीर्णलौहित्ये	४	८१
चतुर्भुजांशप्रभवः स	१६	३
चतुर्वर्गफलं ज्ञानं	१०	२२
चन्दनेनाङ्गरागं च मृग	१७	२४
चमरान्परितः प्रवर्ति	९	६६
चरणयोर्नखरागस	९	१३
चरतः किल दुश्चरं	८	७९

	सर्गे	श्लोकः
चारुनृत्यविगमे च	१९	१५
चित्रकूटवनस्थं च कथि	१२	१५
चित्रद्विपाः पद्मवनाव	१६	१६
चुम्बने विपरिवर्तिता	१९	२७
चूर्णबभ्रु लुलितस्रगा	१९	२५
छ		
छाया-मण्डललक्ष्येण	४	५
छायाविनीताध्वपरिश्र	१३	४६
ज		
जगाद चैनामयमङ्ग	६	२७
जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः	१५	९९
जनपदे न गदः पद	९	४
जनस्य तस्मिन्समये वि	१६	५३
जनस्य साकेतनिवा	५	३१
जनाय शुद्धान्तचरा	३	१६
जनास्तदालोकपथात्प्र	१५	७८
जयश्रियः संवननं	१६	७४
जलानि वा तीरनिखात	१३	६१
जहार चान्येन मयूर	३	५६
जातः कुले तस्य किलोरु	६	७४
जात्यस्तेनाभिजातेन	१७	४
जाने विसृष्टां प्रणिधान	१४	७२
जाने वो रक्षसाक्रान्ता	१०	३८
जालान्तरप्रेषितदृष्टि	७	९
जिगमिषुर्धनदाध्युषि	९	२५
जुगूहू तस्याः पथि	१४	४९
जुगोपात्मानमत्र	१	२१
जेतारं लोकपालानां	१२	८९
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ	१	२२
ज्याघातरेखे सुभुजो	६	५५
ज्यानिनादमथ गृह्णती	११	१५
ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन	६	४०
ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं ते	१२	३५
त		
तं रागबन्धिष्ववितृप्तमे	१८	१९
तं राजवीथ्यामधिहस्ति	१८	३९
तं वाहनादवनतोत्त	९	६०
तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ	१२	३०
तं विस्मतं धेनुरुवाच	२	६२

	सर्गे	श्लोकः
तं वेधा विदधे नूनं	१	२९
तं शरैः प्रतिजग्राह खर	१२	४७
तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ	५	४०
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति	१	१०
तं कर्णभूषणनिपी	५	६५
तं कर्णमूलमागत्य रामे	१२	२
तं कृतप्रणतयोऽनुजीवि	१९	८
तं कृपामृदुरवेक्ष्य	११	८३
तं गृहोपवन एव सङ्ग	१९	५४
तच्चात्मचिन्तासुलभं वि	१४	२०
तच्चोदितश्च तमनु	९	७७
ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं	१७	२१
ततः परं वज्रधरप्रभाव	१८	२१
ततः परं तत्प्रभवः	१८	३४
ततः परं तेन मखाय	३	३९
ततः परं दुःप्रसहं	६	३१
ततः परमभिव्यक्त	१७	४०
ततः प्रकोष्ठे हरिचन्द	३	५९
ततः प्रजानां चिरमात्म	३	३५
ततः प्रतस्थे कौबेरीं	४	६६
ततः प्रहस्यापभयः	३	५१
ततः प्रियोपात्तरसेऽधरो	७	६३
ततः स कृत्वा धनुरात	१६	७७
ततः सपर्यां सपशूपहा	१६	३९
ततः समाज्ञापयदाशु	१६	७५
ततः समानीय न मानि	२	६४
ततः सुनन्दावचना	६	८०
ततस्तदालोकनतत्प	७	५
ततो गौरीगुरुं शैल	४	७१
ततो धनुष्कर्षणमूढ	७	६२
ततो भिषङ्गादसमग्र	३	६४
ततो नृपाणां श्रुतवृत्त	६	२०
ततो नृपेणानुगताः स्त्रियः	१६	६९
ततो बिभेद पौलस्त्यः	१२	७७
ततोऽभिषङ्गानिलविप्र	१४	५४
ततो मृगेन्द्रस्य मृगे	२	३०
ततो यथावद्विहिता	५	१९
ततोऽवतीर्याशु करेणु	७	१७
ततो वेलातटेनैव	४	४४

	सर्गे	श्लोकः
तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै	१	४७
तत्प्रतीपपवनादिवैकृ	११	६२
तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभी	११	४४
तत्प्रार्थितं जवनवाजि	९	५६
तत्र जन्यं रघोर्घोरं	४	७७
तत्र तीर्थसलिलेन	१९	२
तत्र दीक्षितमृषिं ररक्ष	११	२४
तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिं	१५	८३
तत्र यावधिपती मख	११	२७
तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनै	११	१०
तत्र सौधगतः पश्यन्य	१५	३०
तत्र स्वयंवरसमा	५	६४
तत्र हूणावरोधानां	४	६८
तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं	४	८०
तत्राभिषकप्रयता	१४	८२
तत्रार्चितो भोजपतेः	७	२०
तत्रेश्वरेण जगतां	१३	७७
तत्रैनं हेमकुम्भेषु	१७	१०
तथा गतयां परिहास	६	८२
तथापि शास्त्रव्यवहार	३	६२
तथेति कामं प्रतिशुश्रुवा	३	६७
तथेति गामुक्तवते	२	५९
तथेति तस्याः प्रणयं	१६	२३
तथेति तस्याः प्रतिगृह्य	१४	६८
तथेति तस्यावितथं	५	२६
तथेति प्रतिजग्राह	१	९२
तथेति प्रतिपन्नाय	१५	९३
तथेत्युपस्पृश्य पयः	५	५९
तथैव सुग्रीवविभीष	१४	१७
तदङ्गनिस्यन्दजलेन	३	४१
तदङ्गमग्र्यं मघवन्म	३	४६
तदञ्जनक्लेदसमाकु	७	२७
तदद्भुतं संसदि रात्रि	१६	२४
तदपोहितुमर्हसि प्रिये	८	५४
तदन्यतस्तावदन	५	१७
तदन्वये शुद्धिमति	१	१२
तदर्हसीमां वसतिं	१६	२२
तदलं तदपायचिन्त	८	८३
तदात्मसम्भवं राज्ये	१७	८

	सर्गे	श्लोकः
तदाननं मृत्सुरभि	३	३
तदाप्रभृत्येव वन	२	३८
तदीयमाक्रन्दितमा	२	२८
तदेतदाजानुविलम्बि	१६	८४
तदेष सर्गः करुणार्द्र	१४	४२
तद्गतिं मतिमतां वरे	११	८७
तद्गीतश्रवणैकाग्रा	१५	६६
तद्रक्ष कल्याणपरं	२	५०
तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं	१२	९८
तनुत्यजां वर्मभृतां	७	४८
तनुलताविनिवेशित	९	५२
तं तस्थिवांसं नगरोप	५	६१
तं दधन्मैथिलीकण्ठनि	१५	५६
तं धूपाश्यानकेशान्तं	१७	२२
तन्मदीयमिदमायुधं	११	७७
तं न्यमन्त्रयत सम्भृत	११	३२
तपस्यानधिकारित्वात्प्र	१५	५१
तपस्विवेषक्रिययापि	१४	९
तपस्विसंसर्गविनीत	१४	७५
तपोरक्षन्स विघ्नेभ्यस्त।	१७	६५
तमङ्कमारोप्य शरीर	३	२६
तमध्वराय मुक्ताश्वं	१५	५८
तमध्वरे विश्वजिति	५	१
तमपहाय ककुत्स्थकुलो	९	१६
तमब्रवीत्सा गुरुणा नव	१६	९
तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्र	३	६८
तमभ्यनन्दत्प्रणतं स	१५	४०
तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं	८	१२
तमर्चयित्वा विधि	५	३
तमलभन्त पतिं पति	९	१७
तमशक्यमपाक्रष्टुं नि	१२	१७
तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य	१४	७१
तमातिथ्यक्रियाशान्त	१	५८
तमात्मसम्पन्नमनिन्दि	१८	१८
तदादौ कुलविद्यानाम	१७	३
तमाधूतध्वजपटं व्यो	१२	८५
तमापतन्तं नृपते	५	५०
तमार्यगृह्यं निगृहीत	२	३३
तमाहितौत्सुक्यमद	२	७३

	सर्गे	श्लोकः
तमीशः कामरूपाणा	४	८३
तमुद्वहन्तं पथि भोज	७	३५
तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षि	१५	२३
तमृषिः पूजयामास	१५	१२
तं पयोधरनिषिक्तच	१९	४५
तं पितुर्वधभवेन म	११	६७
तं प्रमत्तमपि न प्रभाव	१९	४८
तं प्राप्य सर्वावयवान	६	६९
तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्व	१७	३५
तं भावार्थं प्रसवसमया	१९	५७
तं भूपतिर्भासुरहे	५	३०
तया स्रजा मङ्गलपुष्प	६	८४
तया हीनं विधातर्मां	१	७०
तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः	१७	७
तयोरपाङ्गप्रतिसारि	७	२३
तयोरुपान्तस्थितसिद्ध	३	५७
तयोर्जगृहतुः पादा	१	५७
तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रि	१४	२५
तयोश्चतुर्दशैकेन	१२	६
तयोस्तस्मिन्नवीभूत	१२	५६
तद्वल्गुना युगपदु	५	६८
तव निःश्वसितानुकारि	८	६४
तव मन्त्रकृतो मन्त्रै	१	६१
तवार्हतो नाभिगमे	५	११
तवाधरस्पर्धिषु विद्रु	१३	१३
तवोरुकीर्तिः श्वशुरः	१४	७४
तस्मात्पुरःसरविभीष	१६	६९
तस्मात्समुद्रादिव मध्य	१६	७९
तस्मादधः किञ्चिदिवाव	१८	४१
तस्मिन्कुलापीडनिभे	१८	२९
तस्मिन्क्षणे पालयितुः	२	६०
तस्मिन्गते द्यां सुकृतो	१८	२२
तस्मिन्गते विजयिनं	११	९२
तस्मिन्नभिद्योतितबन्धु	६	३६
तस्मिन्नवसरे देवाः	१०	५
तस्मिन्नात्मचतुर्भागे	१५	९६
तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं	१२	२३
तस्मिन्प्रयाते परलोक	१८	१६
तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते	१२	४९
तस्मिन्समावेशितचित्त	६	७०
तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र	१६	७८
तस्मिन्विधानातिशये	६	११
तस्मै कुशलसम्प्रश्न	१०	३४
तस्मै निशाचरैश्वर्यं	१२	६९
तस्मै विसृज्योत्तरकोस	१८	७
तस्मै सभ्याः सभार्याय	१	५५
तस्मै सम्यग्धुतो वह्नि	४	२५
तस्य कर्कशविहारसं	९	६८
तस्य कल्पितपुरस्क्रिया	११	५१
तस्य जातु मरुतः प्रती	११	५८
तस्य दाक्षिण्यरूढेन	१	३१
तस्य द्विपानां मदवारि	१६	३०
तस्य निर्दयरतिश्रमाल	१९	३२
तस्य पाण्डुवदनाल्पभू	१९	५०
तस्य पूर्वोदितां निन्दां	१५	५७
तस्य प्रभानिर्जितपुष्प	१७	३२
तस्य प्रयातस्य वरूथि	१६	२८
तस्य प्रसह्य हृदयं कि	८	९३
तस्य मार्गवशादेका	१५	११
तस्य संवृतमन्त्रस्य	१	२०
तस्य सन्मन्त्रपूताभिः	१७	१६
तस्य संस्तूयमानस्य च	१५	२७
तस्य सावरणदृष्टसन्धयः	१९	१६
तस्य स्तनप्रणयिभिर्मु	९	५५
तस्य स्फुरति पौलस्त्यः	१२	९०
तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः	११	३८
तस्यां रघोः सूनुरुपस्थि	६	६८
तस्याः खुरन्यासपवित्र	२	२
तस्याधिकारपुरुषैः	५	६३
तस्यानलौजास्तनयस्त	१८	५
तस्यानीकैर्विसर्पद्भि	४	५३
तस्मान्मुच्ये यथा तात	१	७२
तस्यान्वये भूपतिरेष	६	४१
तस्यापनोदाय फलप्र	१४	३९
तस्यापरेष्वपि मृगेषु	९	५८
तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः	२	६८
तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्वि	७	६८

	सर्गे	श्लोकः
तस्याः प्रकामं प्रियदर्श	६	४४
तस्याभवत्सूनुरुदार	१८	१७
तस्याभिषेकसम्भारं	१२	४
तस्यामात्मानुरूपा	१	३३
तस्यामेवास्य यामिन्यामन्त	१५	१३
तस्यायमन्तर्हितसौधमा	१३	४०
तस्यालमेषा क्षुधितस्य	२	३९
तस्यावसाने हरिदश्वधा	१८	२३
तस्याः स रक्षार्थमनल्प	७	३६
तस्याः स राजोपपदं	१६	४०
तस्यास्तथाविधनरेन्द्र	१९	५६
तस्याः स्पृष्टे मनुजपति	१६	८७
तस्यैकनागस्य कपोल	५	४७
तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं	१७	३३
तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्र	१४	२९
तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गु	१२	६२
तस्योत्सृष्टनिवासेषु	४	७६
तस्योदये चतुर्मूर्तेः	१०	७३
तस्योपकार्यारचिती	५	४१
तस्यौघमहती मूर्ध्नि	१७	१४
तं स्वसा नागराज्यस्य	१७	६
तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा	१६	३८
तां सैव वेत्रग्रहणे	६	२६
ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्र	१४	८१
तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा	१५	७२
ता नराधिपसुता नृपा	११	५६
तां तामवस्थां प्रतिपद्य	१३	५
तां दृष्टिविषये भर्तुर्मु	१५	७९
तां देवतापित्रतिथि	२	१६
तान्हत्वा गजकुलवद्ध	९	६५
तां प्रत्यभिव्यक्तमनोर	६	१२
ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्ना	१०	६४
ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै	१०	५८
तामग्रतस्तारमरसान्त	६	३७
तामङ्कमारोप्य कृशाङ्ग	१४	२७
तामन्तिकन्यस्तबलि	२	२४
तामभ्यगच्छद्रुदितानु	१४	७०
तामर्पयामास च शोकं	१४	८०
तामेकभार्यां परिवाद	१४	८६

	सर्गे	श्लोकः
तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा	१	८६
ताम्बूलीनां दलैस्तत्र	४	४२
ताम्बूलवल्लीपरिणद्ध	६	६४
ताम्रपर्णीसमेतस्य	४	५०
ताम्रोदरेषु पतितं	५	७०
ता राघवं दृष्टिभिरापि	७	१२
तावत्प्रकीर्णाभिनवोप	७	४
तावुभावपि परस्पर	११	८२
तासां मुखैरासवगन्ध	७	११
तासु श्रिया राजपरम्प	६	५
ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य	१५	७३
ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दो	१९	४४
तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन	७	३३
तीरस्थली बर्हिभिरुत्क	१६	६४
तीर्थे तदीये गजसेतुब	१६	३३
तीर्थे तोयव्यतिकरभ	८	९५
तीव्रवेगधुतमार्गवृ	११	१६
ते चतुर्थसहितास्त्रयो	११	५५
ते च प्रापुरुदन्वन्तं	१०	६
तेजसः सपदि राशिरु	११	६३
ते तस्य कल्पयामा	१७	९
तेन कार्मुकनिषक्तमु	११	७०
तेन दूतिविदितं निषे	१९	१८
तेन द्विपानामिव पुण्य	१८	८
तेन भूमिनिहितैकको	११	८१
तेन मन्त्रप्रयुक्तेन नि	१२	९९
तेनातपत्रामलमण्डले	१६	२७
तेनाभिघातरभसस्य	९	६१
तेनावरोधप्रमदास	१६	७१
तेनार्थवाँल्लोभपरा	१४	२३
तेनावतीर्य तुरगात्प्र	९	७६
तेनाष्टौ परिगमिताः	८	९२
तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां	११	७१
तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै	१८	२
ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्र	१४	४
ते प्रजानां प्रजानाथा	१०	८३
ते प्रीतमनसस्तस्मै या	१७	१८
ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे	१०	५६
ते रामाय वधोपायमा	१५	५

	सर्गे	श्लोकः
ते रेखाध्वजकुलिशा	४	८८
ते सेतुवार्तागजबन्धमु	१६	२
तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं	१७	२३
तेषां सदश्वभूयिष्ठा	४	७०
तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं	१०	८२
तेषां महार्हासनसंस्थि	६	६
तैः कृतप्रकृतिमुख्यसं	१९	५५
तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्य	१२	४८
तैः शिवेषु वसतिर्गता	११	३३
तौ दम्पती बहु विलप्य	९	७८
तौ निदेशकरणोद्यतौ	११	४
तौ पितुर्नयनजेन वारि	११	५
तौ प्रणामचलकाकपक्ष	११	३१
तौ बलातिबलयोः प्रभा	११	९
तौ समेत्य समये स्थिता	११	५३
तौ सरांसि रसवद्भिर	११	११
तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं	१२	५४
तौ सुकेतुसुतया खिली	११	१४
तौ स्नातकैर्बन्धुमता च	७	२८
तौ विदेहनगरीनिवासि	११	३६
त्यजत मानमलं बत	९	४७
त्यागाय सम्भृतार्थानां	१	७
त्याजितः फलमुत्खातै	४	३३
त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालिये	६	४९
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य	८	६०
त्रिलोकनाथेन सदा म	३	४५
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्य	१३	३७
त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्र	१६	८१
त्वं रक्षसा भीरु यतोऽप	१३	२४
त्वचं स मेध्यां परिधाय	३	३१
त्वया पुरस्तादुपयाचि	१३	५३
त्वयैवं चिन्त्यमानस्य	१	६४
त्वय्यावेशितचित्तानां	१०	२७

द

	सर्गे	श्लोकः
दक्षिणेन पवनेन सं	१९	४३
दधतो मङ्गलक्षौमे वसा	१२	८
दयितां यदि तावदन्व	८	५०
दर्पणेषु परिभोगदर्शि	१९	२८
दशदिगन्तजिता रघु	९	५
दशरश्मिशतोपमद्यु	८	२९
दशाननकिरीटेभ्य	१०	७५
दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनम	१५	५९
दिन दिने शैवलवन्त्य	१६	४६
दिनेषु गच्छत्सु नितान्त	३	८
दिलीपसूनोः स वृह	३	५४
दिलीपानन्तरं राज्ये	४	२
दिवं मरुत्वानिव भो	३	४
दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववु	३	१४
दिशि मन्दायते तेजो	४	४९
दिष्टान्तमाप्स्यति भवान	९	७९
दीर्घेष्वमी नियमिताः	५	७३
दुकूलवासाः स बधूस	७	१९
दुदोह गां स यज्ञाय	१	२६
दुरितदर्शनेन घ्नंस्त	१७	७४
दुरितैरपि कर्तुमात्म	८	२
दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्त	१७	५२
दुर्जातबन्धुरयमृक्ष	१३	७२
दूरादयश्चक्रनिभस्य	१३	१५
दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्या	१७	७९
दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्व	१७	१२
दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे	१२	१९
दृष्टदोषमपि तन्न	१९	४९
दृष्टसारमथ रुद्रका	११	४७
दृष्टा विचिन्वता तेन	१२	६१
दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां	१०	१२
द्विषां विषह्य काकुत्स्थ	४	४१
द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्ट	१	२८

ध

	सर्गे	श्लोकः
धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्र	२	११
धरायां तस्य संरम्भं	१५	८५
धर्मलोपभयाद्राज्ञी	१	७६
धातारं तपसा प्रीतं	१०	४३
धारास्वनोद्गारिदरीमु	१३	४७
धियः समग्रैः स गुणैरु	३	३०
धूमधूम्रो वसागन्धी	१५	१६
धूमादग्नेः शिखाः पश्चादु	१७	३४
धृतिरस्तमिता रतिश्चयु	८	६६
ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते	८	४९

	सर्गे	श्लोकः
ध्वजपटं मदनस्य धनु	९	४५
न		
न किलानुययुस्तस्य	१	२७
न कृपणा प्रभवत्यपि	९	८
न केवलं गच्छति तस्य	१८	४९
न खरो न च भूयसा	८	९
न चावदद्भर्तुरवर्ण	१४	५७
न चोपलेभे पूर्वेषा	१०	२
न तस्य मण्डले राज्ञो	१७	४८
नदत्सु तूर्येष्वविभाव्य	७	३८
नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं	१७	११
न धर्ममर्थकामाभ्यां ब	१७	५७
न नवः प्रभुरा फलोदया	८	२२
न पृथग्जनवच्छुचो व	८	९०
न प्रसेहे स रुद्धार्क	४	८२
न प्रहर्तुमलमस्मि निर्द	११	८४
नभश्चरैर्गीतयशाः स ले	१८	६
न मृगयाभिरतिर्न दु	९	७
न मे ह्रिया शंसति किं	३	५
नमो विश्वसृजे पूर्वं	१०	१६
नयगुणोपचितामिव	९	२७
नयविद्भिर्नवे राज्ञि	४	१०
नरेन्द्रमूलायतनाद	३	३६
नवपल्लवसंस्तरेऽपि	८	५७
नवेन्दुना तन्नभसोपमे	१८	३७
न संयतस्तस्य बभूव	३	२०
नातिपर्याप्तमालक्ष्य म	१५	१८
नाभिप्ररूढाम्बुरुहास	१३	६
नाम राम इति तुल्यम	११	६८
नाम वल्लभजनस्य ते	१९	२४
नाम्भसां कमलशोभिनां	११	१२
निगृह्य शोकं स्वयमेव	१४	८५
निग्रहात्स्वसुराप्तानां व	१२	५२
निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति	१४	३५
नितम्बगुर्वी गुरुणा	७	२५
निद्रावशेन भवता	५	६७
निधानगर्भामिव सा	३	९
नियुज्य तं होमतुरङ्ग	३	३८
निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जि	९	६४

	सर्गे	श्लोकः
निर्दिष्टां कुलपतिना स	१	९५
निर्दोषमभवत्सर्वं	१०	७२
निर्बन्धपृष्ठः स जगाद	१४	३२
निर्बन्धसञ्जातरुषा	५	२१
निर्ययावथ पौलस्त्यः पु	१२	८३
निर्वर्त्यते यैर्नियमा	५	८
निर्वर्त्यैवं दशमुखशि	१५	१०३
निर्वाप्य प्रियसन्देशैः	१२	६३
निर्विष्टविषयस्नेहः स	१२	१
निर्वृत्तजाम्बूनदपट्ट	१८	४४
निर्वृष्टलघुभिर्मेघै	४	१५
निवर्त्य राजा दयितां	२	३
निववृते स महार्णव	९	१४
निवातपद्मस्तिमिते	३	१७
निविष्टमुदधेः कूले तं	१२	६८
निवेश्य वामं भुजमास	६	१६
निशम्य देवानुचर	२	५२
निशाचरोपप्लुतभर्तृका	१४	६४
निशासु भास्वत्कलनूपु-	१६	१२
निःशेषविक्षालितधा	५	४४
निसर्गभिन्नास्पदमेक	६	२९
नीपान्वयः पार्थिव एष	६	४६
नीवारपाकादि कडङ्ग	५	९
नूनं मत्तः परं वंश्याः	१	६६
नृत्यं मयूराः कुसुमानि	१४	६९
नृपतिः प्रकृतीरवेक्षि	८	१८
नृपतेः प्रतिषिद्धमेव	९	७४
नृपतेर्व्यजनादिभिस्त	८	४०
नृपं तमावर्तमनोज्ञ	६	५२
नृपस्य वर्णाश्रमपाल	१४	६७
नेत्रव्रजाः पौरजनस्य	६	७
नेपथ्यदर्शिनश्छाया त	१७	२६
नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रव	११	२१
न्यस्ताक्षरामक्षरभूमि	१८	४६
प		
पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्त	१३	७
पञ्चमं लोकपालानामूचुः	१७	७८
पञ्चवट्यां ततो रामः	१२	३१

	सर्गे	श्लोकः
पञ्चानामपि भूतानां	४	११
पणबन्धमुखान्गुणान्	८	२१
पतिरङ्कनिषण्णया	८	४२
पत्तिः पदातिं रथिनं	७	३७
पयोघटैराश्रमबाल	१४	७८
पयोधरैः पुण्यजनाङ्ग	१३	६०
परकर्मापहः सोऽभूद	१७	६१
परस्पराक्षिसादृश्य	१	४०
परस्पराभ्युक्षणतत्प	१६	५७
परस्पराविरुद्धास्ते	१०	८०
परस्परेण क्षतयोः	७	५३
परस्परेण विज्ञात	४	७९
परस्परेण स्पृहणीय	७	१४
परात्मनोः परिच्छिद्य	१७	५९
पराभिसन्धानपरं यद्य	१७	७६
परार्ध्यवर्णास्तरणोप	६	४
परिकल्पितसान्निध्या	४	६
परिचयं चललक्ष्य	९	४९
परेण भग्नेऽपि	७	५५
परेषु स्वेषु च क्षिप्तैर	१७	५१
पर्णशालामथ क्षिप्रं	१२	४०
पर्यन्तसञ्चारितचा	१८	४३
पवनस्यानुकूलत्वा	१	४२
पश्यावरोधैः शतशो	१६	५८
पाण्डयोऽयमंसार्पितलम्ब	६	६०
पात्रीकृतात्मा गुरुसेव	१८	३०
पादपाविद्धपरिघः	१२	७३
पारसीकांस्ततो जेतुं	४	६०
पार्थिवीमुदवहद्रघु	११	५४
पिता पितॄणामनृणस्तम	१८	२६
पिता समाराधनतत्परे	१८	११
पितुः प्रयत्नात्स समग्र	३	२२
पितुरनन्तरमुत्तर	९	१
पितुर्नियोगाद्वनवास	१४	२१
पित्रा दत्तां रुदन्रामः	१२	७
पित्रा विसृष्टां मदपेक्ष	१३	६७
पित्रा संवर्धितो नित्यं	१७	६२
पित्र्यमंशमुपवीतल	११	६४
पुण्डरीकातपत्रस्तं	४	१७

	सर्गे	श्लोकः
पुत्रजन्मप्रवेश्यानां	१०	७६
पुत्रो रघुस्तस्य पदं	६	७६
पुरन्दरश्रीः पुरमु	२	७४
पुरं निषादाधिपते	१३	५९
पुरस्कृता वर्त्मनि	२	२०
पुराणस्य कवेस्तस्य	१०	३६
पुरा शक्रमुपस्थाय	१	७५
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्र	१३	३९
पुरुषस्य पदेष्वजन्म	८	७८
पुरुषायुषजीविन्यो	१	६३
पुरुहूतध्वजस्येव	४	३
पुरुहूतप्रभृतयः	१०	४९
पुरोपकण्ठोपवना	६	९
पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं	१७	१३
पुष्पं फलं चार्तवमाह	१४	७७
पूर्वजन्मधनुषा समा	११	८०
पूर्वं प्रहर्ता न जघान	७	४७
पूर्ववृत्तकथितैः पुरा	११	१०
पूर्वस्तयोरात्मसमे	१८	१२
पूर्वानुभूतं स्मरता च	१३	२८
पृक्तस्तुषारैर्गिरिनि	२	१३
पृथिवीं शासतस्तस्य	१०	१
पृष्टनामान्वयो राज्ञा स	१५	५०
पौत्रः कुशस्यापि कुशेश	१८	४
पौरस्त्यानेवमाक्रामं	४	३४
पौरेषु सोऽहं बहुलीभव	१४	३८
प्रजानामेव भूत्यर्थं	१	१८
प्रजानां विनयाधा	१	२४
प्रजावती दोहदशंसि	१४	४५
प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो	१७	४१
प्रणिपत्य सुरास्तस्मै	१०	१५
प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः	४	३०
प्रतिकृतिरचनाभ्यो	१८	५३
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्त	४	४०
प्रतिप्रयातेषु तपोध	१४	१९
प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्ते	१५	४
प्रतियोजयितव्यवल्ल	८	४१
प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो	१०	२८
प्रत्यपद्यत चिराय	११	३४

	सर्गे	श्लोकः
प्रत्यपद्यत तथेति	११	८८
प्रत्यब्रवीच्चैनमिषु	२	४२
प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामा	१२	६४
प्रत्युवाच तमृषिर्न त	११	८५
प्रत्युवाच तमृषिर्निश	११	४१
प्रथमपरिगतार्थस्तं	७	७१
प्रथमममन्यभृताभिरु	९	३४
प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृ	७	२४
प्रदक्षिणीकृत्य पय	२	२१
प्रदक्षिणीकृत्य हुतं	२	७१
प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं	१०	९
प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं	१०	१०
प्रभावस्तम्भितच्छायमा	१२	२१
प्रमदामनुसंस्थितः	८	७२
प्रमन्यवः प्रागपि कोस	७	३४
प्रमुदितवरक्षपमेक	६	८६
प्रययावातिथेयेषु	१२	२५
प्रलोभिताप्याकृतिलोभ	६	५८
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि	१३	१४
प्रवृत्तावुपलब्धायां	१२	६०
प्रवृद्धतापो दिवसोऽति	१६	४५
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः स	१७	७१
प्रवेश्य चैनं पुरम	५	६२
प्रशमस्थितपूर्वपार्थि	८	१५
प्रसन्नमुखरागं तं स्मित	१७	३१
प्रसवैः सप्तपर्णानां	४	२३
प्रससादोदयादम्भः	४	२१
प्रसादसुमुखे तस्मिंश्च	४	१८
प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्च	१७	४६
प्रसाधिकालम्बितमग्र	७	७
प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः	१	८९
प्रहारमूर्च्छापगमे	७	४४
प्राजापत्योपनीतं	१०	५२
प्रातः प्रयाणाभिमुखाय	५	२९
प्रातरेत्य पतिभोगशोमि	१९	२१
प्रातर्यथोक्तव्रतपा	२	७०
प्राप्तानुगः सपदि शास	९	८२
प्राप्य चाशु जनस्थानं	१२	४२
प्रायः प्रतापभग्नत्वाद	१७	७०

	सर्गे	श्लोकः
प्रायो विषाणपरिमोक्ष	९	६२
प्रासादकालागुरुधूम	१४	१२
प्राहिणोच्च महितं महा	११	४९
प्रियतमाभिरसौ तिसृ	९	१८
प्रियंवदात्प्राप्तमसौ	७	६१
प्रियानुरागस्य मनः स	३	१०
प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमा	१९	३०
प्रेमगर्वितविपक्षमत्स	१९	२०

फ

फलमस्योपहासस्य	१२	३७

ब

बन्धच्छेदं स बद्धानां	१७	१९
बभूव रामः सहसा स	१४	८४
बभौ तमनुगच्छन्ती वि	१२	२६
बभौ भूयः कुमारत्वादा	१७	३०
बभौ सदशनज्योत्स्ना	१०	३७
बलमार्तभयोपशान्त	८	३१
बलिक्रियावर्जितसैकता	१६	२१
बलैरध्युषितस्तस्य	४	४६
बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः	१०	२६
बाढमेष दिवसेषु	१९	५२
बाणभिन्नहृदया निपे	११	१९
बालार्कप्रतिमेवाप्सु	१२	१००
बाहुप्रतिष्टम्भविवृ	२	३२
बाहुभिर्विटपाकारै	१०	११
बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकु	११	७४
बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं	१०	६२
ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य	५	३६

भ

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलो	५	१४
भक्त्या गुरौ मय्यनुक	२	६३
भगवन्परवानयं जनः	८	८१
भज्यमानमतिमात्रक	११	४६
भयोत्सृष्टविभूषाणां	४	५४
भरतस्तत्र गन्धर्वान्यु	१५	८८
भर्तापि तावत्क्रथकैशि	७	३२
भर्तुः प्रणाशादथ शोच	१४	१
भल्लापवर्जितैस्तेषां	४	६३
भवति विरलभक्ति	५	७४

	सर्ग	श्लोकः
भवानपीदं परवा	२	५६
भव्यमुख्याः समारम्भाः	१७	५३
भस्मसात्कृतवतः पितृ	११	८६
भास्करश्च दिशमध्युवा	११	६१
भीमकान्तैर्नृपगुणैः	१	१६
भुजमूर्धोरुबाहुल्यादे	१२	८८
भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी	१	८४
भूतानुकम्पा तव	२	४८
भूयस्ततो रघुपतिर्वि	१३	७६
भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वा	१५	३७
भूर्जेषु मर्मरीभूताः	४	७३
भोगिभोगासनासीनं	१०	७
भोगिवेष्टनमार्गेषु	४	४८
भ्रमरैः कुसुमानुसारि	८	३५
भ्रूभेदमात्रेण पदान्म	१३	३६
म		
मखांशभाजां प्रथमो	३	४४
मणौ महानील इति प्रभा	१८	४२
मतङ्गशापादवलेप	५	५३
मत्तेभरदनोत्कीर्ण	४	५९
मत्परं दुर्लभं मत्वा	१	६६
मत्स्यध्वजा वायुवशाद्वि	७	४०
मदिराक्षि मदाननार्पि	८	६८
मदोदग्राः ककुद्मन्तः	४	२२
मनसापि न विप्रियं मया	८	५२
मनुप्रभृतिभिर्मान्यै	४	७
मनुष्यवाह्यं चतुरस्र	६	१०
मनोभिरामाः शृण्वन्तो	१	३९
मनोज्ञगन्धं सहकार	१६	५२
मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य	१७	५०
मन्दः कवियशःप्रार्थी	१	३
मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन	४	९
मयि तस्य सुवृत्त वर्त	८	७७
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां	८	८७
मरुतां पश्यतां तस्य	१४	१०१
मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्स	२	१०
मरुपृष्ठान्युदम्भांसि	४	३१
मर्मरैरगुरुधूपगन्धि	१९	४१
महार्हसिंहासनसंस्थितो	७	१८

	सर्ग	श्लोकः
महिमानं यदुत्कीर्त्य	१०	३२
महीं महेच्छः परिकीर्य	१८	३३
महेन्द्रमास्थाय महोक्ष	६	७२
महोक्षतां वत्सतरः	३	३२
मातङ्गनक्रैः सहसोत्प	१३	११
मातलिस्तस्य माहेन्द्रमा	१२	८६
मातृवर्गचरणस्पृशौ	११	७
मान्यः स मे स्थावर	२	४४
मा भूदाश्रमपीडेति	१	३७
मार्गैषिणी सा कटकान्त	१६	३१
मित्रकृत्यमपदिश्य	१९	३१
मिथुनं परिकल्पितं त्वया	८	६१
मुक्तशेषविरोधेन	१०	१३
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्र	१३	९
मुखावयवलूनां तां नै	१२	४३
मुरलामारुतोद्धूत	४	५५
मृगवनोपगमक्षम	९	५०
मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्य	१३	२५
मैथिलः सपदि सत्यसं	११	४८
मैथिलस्य धनुरन्यपा	११	७२
मोक्ष्यध्वे स्वर्गवन्दीनां	११	४७
य		
यः कश्चन रघूणां हि	१५	७
यच्चकार विवरं शिला	११	१८
यतिपार्थिवलिङ्गधारि	८	१६
यत्कुम्भयोनेरधिगम्य	१६	७२
यत्स लग्नसहकारमा	१९	४६
यथा च वृत्तान्तमिमं स	३	६६
यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः	४	१२
यथाविधिहुताग्नीनां	१	६
यदात्थ राजन्यकुमार तं	३	४८
यदुवाच न तन्मिथ्या	१७	४२
यद्वोपतरकल्पोऽभूत्तं	१५	१०१
यन्ता हरेः सपदि संह्र	१२	१०३
यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः	१६	४९
यमात्मनः सद्मनि सनि	६	५६
यवनीमुखपद्मानां	४	६१
यशोभिराब्रह्मसमं	१८	२८
यः सुबाहुरिति राक्षसो	११	२९
यस्मिन्महीं शासति वाणि	६	७५

	सर्गे	श्लोकः
यस्यात्मगेहे नयनाभि	६	४७
यस्यावरोधस्तनचन्द	६	४८
यां सैकतोत्सङ्गसुखोचि	१३	६२
यासौ राज्यप्रकाशाभिर्व	१५	२९
यावत्प्रतापनिधिरा	५	७१
यावदादिशति पार्थिव	११	३
यावन्नाश्यायते वेदिरभि	१७	३७
युधाजितश्च सन्देशात्स	१५	८७
युवां युगव्यायतबाहु	३	३४
यूपवत्यवसिते क्रिया	११	३७
येन रोषपरुषात्मनः	११	६५
योगनिद्रान्तविशदैः	१०	१४
योषितामुडुपतेरिवा	१९	३४
यौवनोन्नतविलासिनी	१९	९

र

	सर्गे	श्लोकः
रक्षसा मृगरूपेण व	१२	५३
रक्षोवधान्तो न च मे प्र	१४	४१
रघुनाथोऽप्यगस्त्येन	१५	५४
रघुपतिरपि जातवे	१२	१०४
रघुमेव निवृत्तयौव	८	५
रघुरश्रुमुखस्य तस्य	८	१३
रघुर्भृशं वक्षसि तेन	३	६१
रघुवंशप्रदीपेन	१०	६८
रघूणामन्वयं वक्ष्ये	१	९
रघोरवष्टम्भमयेन	३	५३
रजःकणैः खुरोद्धूतैः	१	८५
रजोभिः स्यन्दनोद्धूतै	४	२९
रणः प्रववृते तत्र भीमः	१२	७२
रतिस्मरौ नूनमिमाव	७	१५
रतेर्गृहीतानुनयेन	६	२
रथाङ्गनाम्नोरिव भाव	३	२४
रथात्स यन्त्रा निगृहीत	१४	५२
रथी निषङ्गी कवची	७	५६
रथो रथाङ्गध्वनिना	७	४१
रसातलादादिभवेन	१३	८
रसान्तराण्येकरसं	१०	१७
राघवान्वितमुपस्थितं	११	३५
राघवास्त्रविदीर्णानां	१२	५१
राघवोऽपि चरणौ तपो	११	८९
राघवो रथमप्राप्तां ना	१२	९६
राजन्प्रजासु ते कश्चिद	१५	४७
राजर्षिवंशस्य रविप्रसू	१४	३७
राजसत्वमवधूय मातृ	११	९०
राजापि तद्वियोगार्तः	१२	१०
रात्रावनाविष्कृतदीपभा	१६	२०
रात्रिन्दिवविभागेषु	१७	४९
रात्रिर्गता मतिमतां	५	६६
राम इत्यभिरामेण	१०	६७
रामं पदातिमालोक्य	१२	८४
राममन्मथशरेण ता	११	२०
रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भ	१२	२४
रामस्य मधुरं वृत्तं	१५	३४
रामाज्ञया हरिचमूपत	१३	७४
रामादेशादनुगता सेना	१५	९
रामोऽपि सह वैदेह्या	१२	२०
रावणस्यापि रामास्तो	१२	९१
रावणावग्रहक्लान्त	१०	४८
रावणावरजा तत्र राघ	१२	३२
रुदता कुत एव सा	८	८५
रूपं तदोजस्वि तदे	५	३७
रूपे गीते च माधुर्यं	१५	६५
रेखामात्रमपि	१	१७

ल

	सर्गे	श्लोकः
लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा को	१२	३९
लक्ष्मणानुचरमेव	११	६
लक्ष्यते स्म तदनन्तरं	११	५९
लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य	९	५७
लङ्केश्वरप्रणतिभङ्ग	१३	७८
लताप्रतानोद्ग्रथितैः	२	८
लव्धपालनविधौ न	१९	३
लव्धप्रशमनस्वस्थ	४	१४
लव्धान्तरा सावरणेऽपि	१६	७
ललाटोदयमाभुग्नं	१	८३
ललितविभ्रमवन्धवि	९	३६
लवणेन विलुप्तेज्यास्ता	१५	२
लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रि	७	३०
लोकान्तरसुखं पुण्यं	१	६९
लोकेन भावी पितुरेव	१८	३८

	सर्गे	श्लोकः
लौल्यमेत्य गृहिणी परि	१९	१९
व		
वङ्गानुत्खाय तरसा	४	३६
वचसैव तयोर्वाक्यम	१२	९२
वत्सस्य होमार्थविधे	२	६६
वत्सोत्सुकापि स्तिमि	२	२२
वधनिर्धूतशापस्य	१२	५७
वधूर्भक्तिमती चैना	१	९०
वनान्तरादुपावृत्तैः	१	४९
वनेषु सायन्तनमल्लि	१६	४७
वन्यवृत्तिरिमां शश्व	१	८८
वपुषा करणोज्झितेन	८	३८
वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हं	१५	२५
वयारूपविभूतीनामे	१७	४३
वयोवेषविसंवादिरा	१५	६७
वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्ग	१६	७०
वंशस्थितिं वंशकरेण	१८	३१
वसिष्ठधेनोरनुया	२	१९
वसिष्ठमन्त्रोक्षणजा	५	२७
वशी विवेश चायोध्यां	१५	३८
वशी सुतस्तस्य वशंव	१८	१३
वसन्स तस्यां वसतौ	१६	४२
वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सा	१७	३८
वस्वौकसाराममभिभूय	१६	१०
वागर्थाविव सम्पृक्तौ	१	१
वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ	१५	८१
वाचंयमत्वात्प्रणतिं	१३	४४
वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स	१४	६१
वापीष्विव स्रवन्तीषु	१७	६४
वामनाश्रमपदं ततः	११	२२
वामेतरस्तस्य करः	२	३१
वार्षिकं सञ्जहारेन्द्रो	४	१६
विक्रमव्यतिहारेण सामा	१२	९३
विग्रहाच्च शयने पराङ्मु	१९	३८
वितानसहितं तत्र भेजे	१७	२८
विदितं तप्यमानं च	१०	३९
विद्धि चात्तबलमोजसा	११	७६
विद्वानपि तयोर्द्वास्थः	१५	९४
विधेरधिकसम्भारस्ततः	१५	६२
विधेः सायन्तनस्यान्ते	१	५६
विनयन्ते स्म तद्योधा	४	६५
विनाशात्तस्य वृक्षस्य	१५	२१
विनीताध्वश्रमांस्त	४	६७
विन्ध्यस्य संस्तम्भयिताम	६	६१
विप्रोषितकुमारं तद्राज्य	१२	११
विभक्तात्मा विभुस्तासा	१०	६५
विभवेऽपि सति त्वया	६	६९
विभावसुः सारथिनेव	३	३७
विभूषणप्रत्युपहारह	१६	८०
विरक्तसन्ध्याकपिशं	१३	६४
विरचिता मधुनोपव	९	२९
विलपन्निति कोसलाधि	८	७०
विललाप स वाष्पगद्ग	८	४३
विलासिनीविभ्रमदन्त	६	१७
विलुप्तमन्तःपुरसुन्द	१६	५९
विलोचनं दक्षिणमञ्ज	७	८
विशश्रमुर्नमेरूणां	४	७४
विशीर्णतल्पाट्टशतोनि	१६	११
विषादलुप्तप्रतिपत्ति	३	४०
विसृष्टपार्श्वानुचरस्य	२	९
विस्रस्तमसादपरो वि	६	१४
वीक्ष्य वेदिमथ रक्तवि	११	२५
वीचिलोलभुजयोस्तयो	११	८
वीरासनैर्ध्यानजुषामृ	१३	५२
वृक्षेशयायष्टिनिवासभ	१६	१४
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः	१५	६४
वृन्ताच्छ्लथं हरति	५	६९
वेणुना दशनपीडिताध	१९	३५
वेलानिलः केतकरेणु	१३	१६
वेलानिलाय प्रसृताभु	१३	१२
वेश्मानि रामः परिवर्ह	१४	१५
वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कु	६	३
वैदेहि पश्यामलयाद्द्वि	१३	२
वैमानिकाः पुण्यकृत	१०	४६
वैवस्वतो मनुर्नाम	१	११
व्याघ्रानभीरभिमुखोत्प	९	६३

	सर्गे	श्लोकः
व्यादिदेश गणशोऽथ	११	४३
व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः	१	१३
व्यूहावुभौ तावितरेत	७	५४
व्यूह्य स्थितः किञ्चिदिवोत्त	१८	५१
व्योमपश्चिमकला स्थिते	१९	५१
व्रणगुरुप्रमदाधर	९	३२
व्रताय तेनानुचरेण	२	४
श		
शक्येष्वेवाभवद्यात्रा	१७	५६
शङ्खस्वनाभिज्ञतया	७	६४
शतैस्तमक्ष्णामनिमेष	३	४३
शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः	१५	३६
शब्दादिनिर्विश्य सुखं	१८	३
शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं	१०	२५
शमितपक्षबलः शत	९	१२
शय्यागतेन रामेण	१०	६९
शय्यां जहत्युभयप	५	७२
शरीरमात्रेण नरेन्द्र	५	१५
शरीरसादादसमग्र	३	२
शरैरुत्सवसङ्केता	४	७८
शशंस तुल्यसत्त्वानां	४	७२
शशाम वृष्ट्यापि वि	२	१४
शशिनमुपगतेयं कौ	६	८५
शशिनं पुनरेति शर्वरी	८	५६
शापोऽप्यदृष्टतनयान	९	८०
शिरीषपुष्पाधिकसौकु	१८	४५
शिलीमुखोत्कृत्तशिरः	७	४९
शुशुभिरे स्मितचारु	९	३७
शुशुभे तेन चाक्रान्तं	१७	२९
शैलोपमः शैवलम	५	४६
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां	१	८
शोचनीयासि वसुधे यां	१५	४३
श्मश्रुप्रवृद्धिजनिता न	१३	७१
श्येनपक्षपरिधूसरा	११	६०
श्रियः पद्मनिषण्णायाः	१०	८
श्रुतदेहविसर्जनः	८	२५
श्रुतस्य यायादयमन्त	३	२१
श्रुतिमुखभ्रमरस्वन	९	३५
श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं	१२	१३

	सर्गे	श्लोकः
श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गो	१५	४४
श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मे	१२	६६
श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भि	१	४१
श्रोत्राभिरामध्वनि	२	७२
श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वै	१५	६१
श्वगणिवागुरकैः प्रथ	९	५३
श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण	१४	६०
श्वश्रूजनानुष्ठितचारु	१४	१३
स		
स एवमुक्त्वा मघवन्त	३	५२
स कदाचिदवेक्षित	८	३२
स किंवदन्तीं वदतां	१४	३१
स किल संयुगमूर्ध्नि स	९	१९
स किलाश्रममन्त्यमाश्रि	८	१४
स कीचकैर्मारुतपूर्ण	२	१२
स कुलोचितमिन्द्रस्य सा	१७	५
स क्षेमधन्वानममोघ	१८	९
सखा दशरथस्यापि	१५	३१
स गत्वा सरयूतीरं देहत्या	१५	९५
स गुणानां बलानां च	१७	६७
स गुप्तमूलप्रत्यन्तः	४	२६
सङ्गमाय निशि गूढचारि	१९	३३
सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्र	६	३८
सङ्ग्रामस्तुमुलस्तस्य	४	६२
स चतुर्धा बभौ व्यस्तः	१०	८४
स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भी	१५	१५
स चानुनीतः प्रणते	५	५४
स चापकोटी निहितैक	७	६६
स चापमुत्सृज्य विवृद्ध	३	६०
सञ्चारपूतानि दिगन्त	२	१५
सञ्चारिणी दीपशिखेव	६	६७
स च्छिन्नबन्धद्रुतयु	५	४९
स च्छिन्नमूलः क्षतजेव	७	४३
स जहार तयोर्मध्ये	१२	२९
स जातकर्मण्यखिले	३	१८
स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ	१५	८९
स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञ	६	१
स तथेति विनेतुरुदा	८	९१
स तद्वक्रं हिमक्लिष्टकि	१५	५२

	सर्गे	श्लोकः
स तपःप्रतिबन्धमन्यु	८	८०
सन्तानकमयी वृष्टि	१०	७७
सन्तानकामाय तथे	२	६५
सन्तानश्रवणाद्भ्रातुः	१९	१४
सन्तानार्थाय विधये	१	३४
स तावदभिषेकान्ते	१७	१७
स तावाख्याय रामाय	१५	७१
स तीरभूमौ विहितोप	१६	५५
स तीर्त्वा कपिशां सैन्यै	४	३८
स तेजो वैष्णवं पत्न्यो	१०	५४
स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भ	१५	३२
सत्रान्ते सचिवसखः	४	८७
सत्यामपि तपःसिद्धौ	१	९४
स त्वं निवर्तस्व विहाय	२	४०
स त्वनेकवनितासखो	१९	५३
स त्वं प्रशस्ते महिते	५	२५
स त्वं मदीयेन शरीर	२	४५
सन्दष्टवस्त्रेष्ववलानि	१६	६५
स दक्षिणं तूणमुखेन	७	५७
स ददर्श सभामध्ये स	१५	३९
सदयं बुभुजे महाभु	८	७
स दुष्प्रापयशाः प्राप	१	४८
स धर्मस्य सखः शश्वद	१७	३९
स धातुभेदारुणयानने	१६	३२
सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य वि	१२	२८
स नन्दिनीस्तन्यमनि	२	६९
स नर्मदारोधसि	५	४२
स नादं मेघनादस्य	१२	७९
स निर्विश्य यथाकामं	४	५१
स निवेश्य कुशावत्यां	१५	९७
स नैषधस्यार्थपतेः सुता	१८	१
स नौ विमानादवतीर्य	१६	६८
सन्तस्तस्याभिगमनाद	१७	७२
स न्यस्तचिह्नामपि	२	७
स परार्ध्यगतेरशोच्य	८	२७
स पल्वलोत्तीर्णवराह	२	१७
स पाटलायां गवि	२	२९
स पितुः पितृमान्वंशमा	१७	२
स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्प	१७	३२

	सर्गे	श्लोकः
स पूर्वजन्मान्तरदृष्ट	१८	५०
स पूर्वजानां कपिलेन	१६	३४
स पूर्वतः पर्वतपक्षसा	३	४२
स पृष्टः सर्वतो वार्तमा	१५	४१
स पौरकार्याणि समीक्ष्य	१४	२४
सप्तच्छदक्षीरकटु	५	४८
सप्तसामोपगीतं त्वां	१०	२१
स प्रतस्थेऽरिनाशाय	१२	६७
स प्रतापं महेन्द्रस्य	४	३९
स प्राप हृदयन्यस्तमणि	१२	६५
स बभूव दुरासदः	८	४
सम्बन्धमाभाषणपूर्व	२	५८
सभाजनायोपगतान्स	१४	१८
सम्भाव्य भर्तारममुं	६	५०
सम्मोचितः सत्त्ववता	५	५६
सम्मोहनं नाम सखे	५	५७
सम्यग्विनीतमथ वर्म	८	९४
समतया वसुवृष्टिवि	९	६
समदुःखमुखः सखीज	८	६५
सममापन्नसावास्ता	१०	५९
सममेव समाक्रान्तं	४	४
समानेऽपि हि सौभ्रात्रे	१०	८१
समाप्तविघ्नेन मया	५	२०
स मारुतिसमानीतमहौ	१२	७८
समुद्रपत्न्योर्जलसन्नि	१३	५८
स मुहूर्तं क्षमस्वेति	१५	४५
स मृण्मये वीतहिर	५	२
स मौलरक्षोहरिभिः स	१४	१०
स ययौ प्रथमं प्राचीं	४	२८
संरम्भं मैथिलीहासः	१५	३६
सरलासक्तमातङ्ग	४	७५
सरसीष्वरविन्दानां	१	४३
स राजककुदव्यग्रपाणि	१७	२७
स राजलोकः कृपर्व	७	३१
स राज्यं गुरुणा दत्तं	४	१
स रावणहृतां ताभ्यां	१२	५५
सरितः कुर्वती गाधाः	४	२४
सरित्समुद्रान्सरसीश्च	१४	८
संरुद्धचेष्टस्य मृगे	२	४३

	सर्गे	श्लोकः
सरोषदष्टाधिकलोहि	७	५८
सर्पस्येव शिरोरत्नं ना	१७	६३
सर्वज्ञस्त्वमविज्ञात	१०	२०
सर्वत्र नो वार्तमवेहि	५	१३
सर्वातिरिक्तसारेण	१	१४
सर्वासु मातृष्वपि वत्स	१४	२२
सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्र	७	५९
स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्व	१४	४४
स ललितकुसुमप्रवाल	९	७०
स विभुर्विबुधांशेषु	१५	१०२
स विद्धमात्रः किल ना	५	५१
स विवेश पुरीं तया	८	७४
स विश्वजितमाजह्रे	४	८६
स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा	१२	१८
स वृत्तचूलश्चलकाक	३	२८
स वेलावप्रवलया	१	३०
स शापो न त्वया राज	१	७८
स शुश्रुवान्मातरि भाग	१४	४६
सशोणितैस्तेन शिलीमु	७	३५
ससञ्जुरश्वक्षुण्णानां	४	४७
स सन्निपात्यावरजान्ह	१४	३६
स सत्त्वमादाय नदीमु	१३	१०
स सीतालक्ष्मणसखः स	१२	९
स सेतुं बन्धयामास	१२	७०
स सेनां महतीं कर्षन्पू	४	३२
स सैन्यपरिभोगेण	४	४५
स सैन्यश्चान्वगाद्रामं	१२	१४
स स्वयं चरणरागमा	१९	२६
स स्वयं प्रहतपुष्करः	१९	१४
संहारविक्षेपलघु	५	४५
स हत्वा लवणं वीरस्त	१५	२६
स हत्वा वालिनं वीरस्त	१२	५८
स हि प्रथमजे तस्मिन्न	१२	१६
स हि सर्वस्य लोकस्य	४	८
सा किलाश्वासिता चण्डी	१२	५
सा केतुमालोपवना	१६	२६
साङ्गं च वेदमध्याप्य किं	१५	१३
सा चूर्णगौरं रघुनन्दन	६	८३
सातिरेकमदकारणं	१९	१२
सा तीरसोपानपथाव	१६	५६
सा दृष्टनीवारबलीनि	१४	२८
सा दुर्निमित्तोपगताद्वि	१४	५०
सा दुष्प्रधर्षा मनसा	२	२७
साधयाम्यहमविघ्नम	११	९१
सान्निध्ययोगात्किल तत्र	७	३
सा नीयमाना रुचिरान्प्र	१४	४८
सानुप्लवः प्रभुरपि	१३	७५
सा पौरान्पौरकान्तस्य	१२	३
सा बाणवर्षिणं रामं यो	१२	५०
सा मन्दुरा संश्रयिभिस्तु	१६	४१
सा यूनि तस्मिन्नभिलाष	६	८१
सा लुप्तसंज्ञा न विवेद	१४	५६
सा वक्रनखधारिण्या	१२	४१
सा शूरसेनाधिपतिं सु	६	४५
सा साधुसाधारणपार्थिव	१६	५
सा सीतामङ्कमारोप्य	१५	८४
सा सीतासन्निधावेव तं	१२	३३
साहं तपः सूर्यनिविष्ट	१४	६६
सा हि प्रणयवत्यासी	१०	५७
सीता तमुत्थाप्य जगाद	१४	५९
सीतां हित्वा दशमुखरि	१४	८७
सुखश्रवा मङ्गलतूर्य	३	१९
सुतां तदीयां सुरभेः	१	८१
सुते शिशावेव सुदर्शना	१८	३५
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ	१०	७१
सुरगज इव दन्तैर्भ	१०	८६
सुरतश्रमसम्भृतो	८	५१
सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भ	३	११
सुवदनावदनासव	९	३०
सेकान्ते मुनिकन्याभिः	१	५१
सेनानिवेशान्पृथिवीक्षि	७	२
सेनापरिच्छदस्तस्य	१	१९
सेयं मदीया जननीव	१३	६३
सेयं स्वदेहार्पणनि	२	५५
सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः	१	३८
सैकतं च सरयूं विवृ	१९	४०
सैषा स्थली यत्र विचिन्व	१३	२३
सोऽधिकारमभिकः	१९	४
सोऽपश्यत्प्रणिधानेन	१	७४

	सर्गे	श्लोकः
सौपानमार्गेषु च येषु	१६	१५
सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः प	७	६०
सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रको	११	२८
सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा	१०	४४
सोऽहं सपर्याविधिभा	५	२२
सोऽहमाजन्मशुद्धा	१	५
सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा	१	६८
सौमित्रिणा तदनु संस	१३	७३
सौमित्रिणा सावरजेन	१४	११
सौमित्रेर्निशितैर्बाणैर	१५	२०
स्तम्भेषु योषित्प्रतिया	१६	१७
स्तूयमानः क्षणे तस्मि	१७	१५
स्तूयमानः स जिह्लाय स्तु	१७	७३
स्थाणुदग्धवपुषस्तपो	११	१३
स्थाने भवानेकनरा	६	१६
स्थाने वृता भूपतिभिः	७	१३
स्थितः स्थितामुच्चलितः	२	६
स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यां	१	१५
स्नात्वा यथाकाममसौ	१६	७३
स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूप	१६	५०
स्निग्धगम्भीरनिर्घोषि	१	३६
स्फुरत्प्रभामण्डलभानु	१४	१४
स्मरतेव सशब्दनूपु	८	६३
स्रगियं यदि जीवितापहा	८	४६
स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु	१०	४२
स्वप्रकीर्तितविपक्षमङ्गनाः	१९	२२

	सर्गे	श्लोकः
स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्रा	१५	७६
स्वर्गामिनस्तस्य तमै	१८	३६
स्वशरीरशरीरिणाव	८	८९
स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्त	६	६६
स्वाभाविकं विनीतत्वं	१०	७९
स्वासिधारापरिहृतः	१०	४१
स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्ष	१६	४८

ह

हंसश्रेणीषु तारासु	४	१९
हरिर्यथैकः पुरुषोत्त	३	४९
हरेः कुमारोऽपि कुमार	३	५५
हविर्भुजामेधवतां च	१३	४१
हविरावर्जिते होत	१	६२
हविःशमीपल्लवलाज	७	२६
हविषे दीर्घसत्रस्य	१	८०
हस्तेन हस्तं परिगृह्य	७	२१
हा तातेति क्रन्दितमाक	९	७५
हीनान्यनुपकर्तृणि	१७	५८
हुतहुताशनदीप्तिव	९	४०
हृष्टापि सा ह्रीविजिता	७	६९
हृदयस्थमनासन्न	१०	१९
हेमपक्षप्रभाजालं	१०	६१
हेमपत्रागतं दोर्भ्यामा	१०	५१
हैयङ्गवीनमादाय	१	४५
ह्रेपिता हि बहवो नरे	११	४०

कुमारसम्भवमहाकाव्यम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

अ

	सर्गे	श्लोकः
अकामकरणं	१०	५९
अकिञ्चनः सन्प्रभवः	५	७७
अक्षमा दुर्वहं वोढु	१०	५६
अखण्डितं प्रेम लभ	७	२८
अगूढसद्भावमिति	५	६२
अङ्काद्ययावङ्कमुदी	७	५
अङ्गुलीभिरिव केश	८	६३
अच्छिन्नामलसन्तानाः	६	६९
अणिमादिगुणोपेत	६	७५
अत आहर्तुमिच्छा	६	२८
अतन्द्रिता सा स्वय	५	१४
अतः शृणुष्वावहिते	११	१२
अतोऽत्र किञ्चिद्भव	५	४०
अत्रान्तरे पर्वतराज	११	४
अत्रोपपन्नं तदमी	१२	५६
अथ ते मुनयः सर्वे	६	१५
अथ ते मुनयो दि	६	४७
अथ तैः परिदेविता	४	२५
अथ दिव्यां नदीं	१०	४८
अथ प्रपेदे त्रिदशै	१२	१
अथ प्रयाणाभिमुख	१५	१३
अथ मदनवधूरु	४	४६
अथ मोहपरायणा	४	१
अथ मौलिगतस्येन्दो	६	२५
अथ वा सुमहत्येषा	६	२४
अथ विबुधगणांस्ता	७	९४
अथ विश्वात्मने गौरी	६	१
अथ व्रजद्भिस्त्रिदशैर	१३	७
अथ सर्वस्य धातारं	२	३
अथ स ललितयोषि	२	६४
अथ सा पुनरेव वि	४	४
अथाग्रहस्ते मुकुली	५	६३
अथाङ्गिरसमग्रण्य	६	६५
अथाङ्गुलिभ्यां ह	७	२३
अथाजिनाषाढधरः	५	३०
अथादितीन्द्रप्रमदाः	१३	४९
अथानुरूपाभिनिवे	५	७
अथान्योन्यं विभुक्ता	१६	१

	सर्गे	श्लोकः
अथाभिपृष्ठं गिरिजा	१३	२३
अथाभ्युपेतस्तापार्तो	१०	३५
अथावमानेन पितुः	१	२१
अथाह देवी शशि	११	६
अथाह देवो बलवै	१२	३४
अथाह वर्णी विदि	५	६५
अथेति वादिन्यमृ	११	१५
अथेन्द्रनीलाचलच	१४	७
अथेन्द्रियक्षोभमयु	३	६९
अथोपनिन्ये गिरि	३	६५
अथोरुदेशादवता	३	११
अथोष्णवाष्पानिलदू	९	१५
अथौषधीनामधिप	७	१
अद्यप्रभृति भूत।ना	६	५६
अद्यप्रभृत्यवनता	५	८६
अद्रिराजतनये तप	८	४७
अधः प्रस्थापिताश्वेन	६	७
अधस्तथोर्ध्वं पुर	१४	२१
अधिष्ठितः स्फाटि	११	३०
अध्यापितस्योशनसा	३	६
अनतिक्रमणीयात्ते	१०	६
अनन्तरत्नप्रभवस्य	१	३
अनन्यभाजं पतिमा	३	६३
अनन्यसाधारणसि	१२	३८
अनर्घ्यमर्घ्येण तम	१	५८
अनेकलोकैकनम	१२	३०
अनेन धर्मः सविशे	५	३८
अनेन सम्वन्धमुपे	७	६८
अन्तः प्रविश्यावसरे	९	३१
अन्तश्चरोऽसि भूता	१०	२१
अन्येऽपि सन्नह्य म	१४	१३
अन्योन्यं रथिनौ	१६	४८
अन्योन्यमुत्पीडयदु	१	४०
अपमेघोदयं वर्ष	६	५४
अपारेऽसृक्सरित्पूरे	१६	२५
अपि क्रियार्थं सुलभं	५	३३
अपि त्वदावर्जितवा	५	३४
अपि प्रसन्नं हरिणे	५	३५

	सर्गे	श्लोकः
अपीति पश्यन्पुरं	१५	२५
अप्यवस्तुनि कथाप्र	८	६
अभिगौरीरतासक्तं	१०	७
अभितोऽभ्यागता	१६	२१
अभिलाषमुदीरिते	४	४१
अभ्यर्थ्यमाना विबु	११	१
अभ्यापतन्तमसुरा	१७	४९
अभ्युन्नताङ्गुष्ठनख	१	३३
अभ्रंलिहैः शृङ्गशतै	१५	३५
अमी च कथमादि	२	२४
अमीषां सुरसङ्घानां	१०	३३
अमी हि वीर्यप्रभवं	३	१५
अमुना ननु पार्श्वव	४	२९
अमुनैव कषायित	४	३४
अमोघं शाम्भवं बी	१०	५७
अयाचितारं न हि	१	५२
अयाचितोपस्थितम	५	२२
अयि जीवितनाथ जी	४	३
अयि सम्प्रति देहि द	४	२८
अयुक्तरूपं किमतः	५	६९
अरण्यबीजाञ्जलिदा	५	१५
अरिष्टमाशङ्क्य वि	१५	२६
अर्धाचिता सत्वरमु	७	६१
अलं विवादेन यथा	५	८२
अलकामतिवाह्यैव	६	३७
अलक्तकं पादसरो	९	२७
अलभ्यशोकाभिभवे	५	४३
अलिपङ्क्तिरनेकश	४	१५
अवगम्य कथीकृतं	४	१३
अवचितवलिपुष्पा	१	६०
अवधानपरे चका	४	२
अवस्तुनिर्वन्धपरे	५	६६
अवृष्टिसंरम्भमिवा	३	४८
अवैमि ते सारमतः	३	१३
अवैमि पूतमात्मानं	६	५७
अवैमि सौभाग्यमदे	५	४९
अशेषलोकत्रयमा	११	२४
अशेषविश्वप्रियद	११	१४
अशोकनिर्भर्त्सितप	३	५३

	सर्गे	श्लोकः
असम्पदस्तस्य वृषे	५	८०
असम्भृतं मण्डनम	१	३१
असम्मतः कस्तव मु	३	५
असह्यहुङ्कारमिव	५	५४
असि त्वमेको जगता	९	७
असुरयुद्धविधौ वि	१२	५९
असूत सद्यः कुसुमा	३	२६
असूत सा नागवधू	१	२०
अस्तोतुः स्तूयमानस्य	६	८३
अस्त्युत्तरस्यां दिशि	१	१
अहमेत्य पतङ्गव	४	२०
अहेतुहासच्छुरिता	११	४३
अहो अहो देवग	१२	५४
अहो ततोऽनन्तरम्	१२	४८
अहो बतानन्तपरा	१५	३५
अहो स्थिरः कोऽपि	५	४७
अह्नाय कोपकलुषो	१७	२५
आ		
आक्रान्तपूर्वा रभसे	१४	४९
आक्षिप्ता अपि द	१६	३३
आक्षिप्याभिदिवं	१६	३६
आगामिदैत्याशनके	१५	१४
आज्ञापय ज्ञातविशे	३	३
आत्मानमात्मना वे	२	१०
आत्मानमालोक्य च	७	२२
आप्लुतास्तीरमन्दार	६	५
आमेखलं सञ्चरतां	१	५
आर्द्रकेसरसुगन्धि	८	७६
आर्याप्यरुन्धती तत्र	६	३२
आलोकमार्गं सहसा	७	५७
अलोचनान्तं श्रवणे	७	८४
आवर्जितजटामौलि	२	२६
आवर्जिता किञ्चिदिव	३	५४
आविर्भवद्बालतृणाल	१३	४०
आविशद्भिरुटजाङ्ग	८	३८
आशंसता वाणगतिं	३	१४
आसक्तवाहुलतया	६	८
आससाद सुनासीरं	१०	१
इ		
इच्छाविभूत्योरनुरूप	७	२९

	सर्गे	श्लोकः
इतस्ततोऽथ प्रतिबि	१२	४
इतस्ततो वातविधू	१४	४६
इतः स दैत्यः प्राप्त	२	५५
इति क्रमेणामरराज	१४	२५
इति गिरितनुजावि	९	५२
इति चापि विधाय दी	४	३७
इति चाह स धर्मया	४	४३
इति चैनमुवाच दुः	४	२७
इति तेभ्यः स्तुतीः	२	१६
इति देहविमुक्तये	४	३९
इति द्विजातौ प्रतिकू	५	७४
इति ध्रुवेच्छामनुशा	५	५
इति प्रबद्धाञ्जलिरे	१२	२७
इति प्रभो चेतसि सं	९	१०
इति प्रविश्याभिहिता	५	५१
इति बहुविधं बाल	११	५०
इति विषमशरारेः	१७	५५
इति व्याहृत्य विबु	२	६२
इति श्रुत्वा वचो व	१०	२५
इति सुररिपुर्वृत्ते	१६	५१
इतीरयत्युग्रतरं	१५	४३
इतीरिते मन्मथम	१२	४२
इतो गमिष्याम्यथवे	५	८४
इत्थं निशम्य वचनं	१७	१६
इत्थं महेशाद्रिसुता	१९	३९
इत्थं रतेः किमपि	४	४५
इत्थं विधिज्ञेन पुरो	७	८६
इत्थं विलोक्य सुरसै	१७	३३
इत्थं शिशोः शैश	११	४९
इत्थं सुरेन्द्रे वदति	१२	५३
इत्थमाराध्यमानोऽपि	२	४०
इत्यग्निना घनतरे	१७	४०
इत्यद्भुतैकप्रभवः	७	३६
इत्यन्धकारातिसुत	१३	१७
इत्यभौममनुभूय	८	२८
इत्याद्यरिष्टैरशुभो	१५	३२
इत्युक्तवन्तमवद	१७	१८
इत्युदीर्य भगवांस्त	१२	५७
इत्युदीर्य सुनासीरो	१०	२७
इत्यूचिवांस्तमेवार्थं	६	६४
इत्यौषधिप्रस्थविला	७	६९
इदमत्रोत्तरं न्याय्य	६	८७
इयं च तेऽन्या पुर	५	७०
इयं महेन्द्रप्रभृती	५	५३
इयेष सा कर्तुमव	५	२
ई		
ईप्सितार्थक्रियोदारं	६	९०
ईश्वरोऽपि दिवसा	८	५०
उ		
उच्चैरुच्चैःश्रवास्तेन	२	४७
उज्जागरस्य दहन	१७	३८
उत्कीर्णचामीकरप	१३	३९
उत्क्षिप्य करिभि	१६	३४
उत्तरन्ति विनिकीर्य	८	३५
उत्तुङ्गपीनस्तनपी	९	५१
उत्पाट्य मेरुशृङ्गाणि	२	४३
उत्साहिताः शक्ति	१५	५१
उद्घातः प्रणवो यासां	२	१२
उद्दण्डहेमध्वजदण्ड	१४	१४
उद्दामदानद्विपवृ	१४	४१
उद्दामदैत्येशविप	१३	५
उद्दीप्तकोपदहनो	१७	८
उद्द्योतिताम्बरदि	१७	५०
उद्वेजयत्यङ्गुलिपा	१	११
उन्नतावनतभाव	८	६९
उन्नतेन स्थितिमता	६	३०
उन्नतेषु शशिनः प्र	८	६६
उन्मीलितं तूलिकये	१	३२
उपपन्नमिदं सर्व	६	६६
उपमानमभूद्विला	४	५
उपात्तवर्णे चरिते	५	५६
उपाददे तस्य सह	७	४१
उपेत्य तां तत्र कि	१३	३१
उभे एव क्षमे वोढु	२	६०
उमापि नीलालकम	३	६२
उमारूपेण ते यूयं	२	५९
उमा वधूर्भवान्दाता	६	८२
उमास्तनोद्भेदमनु	७	२४

	सर्गे	श्लोकः
उवाच चैनं परमा	५	७५
ऊ		
ऊरुमूलनखमार्ग	८	७७
ऊर्ध्वीकृतास्या रविद	१५	२४
ऋ		
ऋजुतां नयतः स्म	४	२३
ए		
एकैव मूर्तिर्बिभिदे	७	४४
एकैव सत्यामपि पु	७	४
एको नव द्वौ दश	११	४५
एतदुच्छ्वसितपीत	८	७०
एतावता नन्वनुमे	१	३७
एतावदुक्त्वा तनया	६	८९
एते वयममी दाराः	६	६३
एतेषु कस्येदमप	११	८
एवं त्वमेव तनयो	१७	१४
एवं यदात्थ भगव	२	३१
एवं वाच्यः स क	६	३१
एवंवादिनि देवर्षौ	६	८४
एवमालिनिगृहीत	८	५
एवमिन्द्रियसुखस्य	८	२०
एष चारुमुखि योग्य	८	७३
एष वृक्षशिखरे कृ	८	३६
एहि विश्वात्मने वत्से	६	८८
क		
कटुस्वरैः प्रालपथा	१५	४१
कण्ठस्थलीलोलकपा	९	४९
कण्ठस्य तस्याः स्तन	१	४२
कदाचिदासन्नसखी	५	६
कपर्दमुद्बद्धमही	१२	९
कपर्दिकण्ठान्तकपा	११	४६
कपालनेत्रान्तरलब्ध	३	४९
कपोलकण्डूः करिभि	१	९
कपोलपाल्यां मृगना	९	२२
कम्पेन मूर्ध्नः शतप	७	४६
कयासि कामिन्सुरता	३	८
करालवाचालमुखा	१४	४८
करेण करिणा वीरः	१६	४०
कर्णार्पितो लोध्रकषा	७	१७

	सर्गे	श्लोकः
कर्णान्तमेत्य दिति	१७	२०
कर्तव्यं वो न प	६	६१
कलितान्योन्यसा	६	७६
कल्पवृक्षशिखरेषु	८	६८
कल्लोलैरुद्गतैरर्वा	१०	३४
कश्चिदभ्यागते वीरे	१६	१९
काठिन्यं स्थावरे	६	७३
कादम्बिनी विरुरुचे	१७	४३
कामस्तु बाणावसरं	३	६४
कामेकपत्नीव्रतदुः	३	७
कालक्रमेणाथ तयोः	१	१९
कालार्दितानां त्रि.	१२	१५
किं येन सृजसि	६	२३
कि चायमरिदुर्वार	२	२१
किञ्चित्कलं भङ्गुरतं	११	४८
किञ्चित्प्रकाशस्तिमि	३	४७
किमिदं द्युतिमात्मी	२	१९
किमित्यपास्याभरणा	५	४४
किं ब्रूथ रे व्योम	१५	४०
कियच्चिरं श्राम्यसि	५	५०
किरीटकोटिच्युतपा	१२	२९
किरीटवद्धाञ्जलिभि	११	१६
कुतूहलाद् द्रष्टुमुपा	१३	२८
कुन्ताश्वकाशिरे च	१६	१६
कुन्दोज्जवलानि स	१७	२७
कुवेरगुप्तां दिशमु	३	२५
कुवेरस्य मनःशल्यं	२	२२
कुले प्रसूतिः प्रथम	५	४१
कुसुमायुधपत्नि दु	४	४०
कुसुमास्तरणे सहा	४	३५
कृतवानसि विप्रियं	४	७
कृताभिषेकां हुतजा	५	१६
कृशानुरेतसोरेत	१०	३८
कृशानुरेतसोरेत	१०	५४
क्लृप्तोपचारां चतुर	७	८८
केचिद्वीरैः प्रणादै	१६	१८
केनाभ्यसूया पदका	३	४
केवलं प्रियतमाद	८	८४
कैतवेन शयिते कु	८	३

सर्गे श्लोकः
कोलाहलेनोच्चलतां १४ १६
क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः ९ ३५
क्रमेण चान्येऽपि १२ ३३
क्रियतां कथमन्त्यम ४ २२
क्रुद्धस्य दन्तिनः १६ ३८
क्रोधं प्रभो संहर सं ३ ७२
क्रोधादभ्यापतद्दन्ति १६ २९
क्रमं ययौ कन्दुकलि ५ १९
क्लिष्टकेशमवलुप्त ८ ८३
क्वचित्स्खलद्भिः ११ ४२
क्व नु ते हृदयङ्गमः ४ २४
क्व नु मां त्वदधीनजी ४ ६
क्षितौ निरस्तं प्र १५ २७
क्षीरोदवेलेव सफे ७ २६
क्षुण्णं रथैर्वाजिभिरा १४ १९

ख

खड्गनिर्लूनमूर्धानो १६ २६
खड्गा रुधिरसंलिप्ता १६ ७
खड्गाः शोणितसं १६ १५
खड्गेन मूलतो हत्वा १६ ३९
खड्गौर्धवलधारालै १६ ३५
खं प्रसुप्तमिव संस्थि ८ ४३
खातं खुरै रथ्यतुरं १४ २०
खे खलगामी तमुवा ७ ४९

ग

गगनादवतीर्णा सा ६ ४९
गङ्गातरङ्गप्रतिबि १२ ११
गङ्गां तद्गच्छ मा १० २५
गङ्गास्रोतःपरिक्षिप्तं ७ ३८
गङ्गावारिणि कल्या १० ३६
गणा नमेरुप्रसवा १ ५५
गणोपनीते प्रभुणो १२ ३२
गत एव न ते निव ४ ३०
गतश्रियं वैरिवरा १३ ३६
गम्भीरशङ्खध्वनिमि ११ ३८
गम्भीरभेरीध्वनितै १४ २७
गर्भत्वमाप्तं तदमो ११ १३
गाढाद्वयाद्वियति १७ ३९
गामधास्यत्कथं ना ६ ६८

सर्गे श्लोकः
गिरीशगौरीतनये १३ ९
गीतान्तरेषु श्रमवा ३ ३८
गुरुः प्रगल्भेऽपि व १ ५१
गुरुसमीरसमीरि १४ ५०
गुरोर्नियोगाच्च नगे ३ १७
गुहोऽसुरैः षड्दिन १५ ३४
गृहीताः पाणिभि १६ १४
गृह्णन्विषाणे हरवा ११ ४४
गोप्तारं सुरसैन्यानां २ ५२

घ

घण्टारवै रौद्रतरे १४ ४७
घनप्रमोदाश्रुतरं १३ १९
घनैर्विलोक्य स्थ १४ ३५
घूर्णमाननयनं स्ख ८ ८०
घोरान्धकारनिकर १७ ४१
घोरान्धकारपटलैः १७ ४५

च

चतुष्कपुष्पप्रकरा ५ ६८
चन्द्रं गता पद्मगुणा १ ४३
चन्द्रचूडामणिर्देवो १० ४९
चन्द्रपादजनितप्र ८ ६७
चमूप्रभं मन्मथम १५ २
चमूरजः प्राप दिग १५ १०
चलच्छिखाग्रो विक ९ ४८
चापैराकर्णमाकृष्टै १६ १३
चुम्बनादलकचूर्ण ८ १९
चुम्बनेष्वधरदान ८ ८
चूताङ्कुरास्वादकषा ३ ३२

ज

जगच्चक्षुषि चण्डांशौ १० ४३
जगतः सकलस्यास्य १० २२
जगत्त्रयीनन्दन ए ११ १०
जगद्योनिरयोनिस्त्वं २ ९
जङ्गमं प्रैष्यभावे व ६ ५८
जज्वाल वह्निरतुलः १७ ३७
जम्भद्विषत्प्रभृतिदि १७ ३
जयाशा यत्र चास्मा २ ४९
जहीन्द्रशत्रुं समरे १३ २
जातवेदसमायान्त १० ३२

	सर्गे	श्लोकः
जालान्तरप्रेषितदृ	७	६०
जितसिंहभया नागा	६	३९
ज्ञानप्रदीपेन तमो	१२	४४
ज्वलदग्निमुखैर्बाणै	१६	११
ज्वलद्भिरङ्गारचयै	१५	२१
ज्वलद्भिरुच्चैरभितः	१५	२०
ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं	२	३८
त		
तं यथात्मसदृशं व	८	१६
तं लोकपालाः पुरुहू	७	४५
तं वीक्ष्य वेपथुमती	५	८५
तं साधु साध्वित्यभि	१३	२०
ततः कुमारं कनका	१२	२५
ततः कुमारः सुमु	११	४०
ततः क्रुधा विस्फुरि	१५	५
ततः परममित्युक्त्वा	६	३५
ततः शरवणे सार्धं	१०	६०
ततः स कक्षाहितहे	१२	६
ततः सुराः शक्ति	१३	२२
ततः स्वसेवावसरे सु	९	३३
ततो गणैः शूलभृतः	७	४०
ततो गिरीशस्य	१२	४३
ततो भुजङ्गाधिपतेः	३	५९
ततो मन्दानिलोद्धूत	२	२९
ततो महेन्द्रस्य चरा	१५	४७
ततोऽवलेपाद्विंकटं	१५	४४
ततो व्रजन्नन्दनना	१३	३३
तत्कृतानुग्रहापेक्षी	२	३९
तत्क्षणं विपरिवर्ति	८	७९
तत्प्रयातौषधिप्रस्थं	६	३३
तत्र काञ्चनशिलात	८	२९
तत्र निश्चित्य कन्दर्प	२	६३
तत्र माहेश्वरं धाम	१०	३७
तत्र वेत्रासनासीना	६	५३
तत्र हंसधवलोत्तर	८	८२
तत्राग्निमाधाय समि	१	५७
तत्राथ दुःसहतरं	१७	२४
तत्रावतीर्याच्युतद	७	७०
तत्रेश्वरो विष्टरभा	७	७२
तत्स्यन्दनः सपदि	१७	१०

	सर्गे	श्लोकः
तथातितप्तं सवितु	५	२१
तथापि तावत्कस्मिं	६	६२
तथाविधं शैलसुता	१२	२२
तथाविधेऽनङ्गर	९	१
तथा समक्षं दहता	५	१
तथेति शेषामिव भ	३	२२
तदङ्गसंसर्गमवा	५	७९
तदनु ज्वलनं मद	४	३६
तदागमनकार्यं नः	६	७४
तदाप्रभृत्युन्मदना	५	५५
तदिच्छामो विभो	२	५१
तदिदं क्रियतामन	४	३२
तदिदं परिरक्ष शो	४	४४
तदीयास्तोयदेष्वद्य	२	५०
तदीषदार्द्रारुणग	७	८२
तद्गच्छ सिद्धयै कुरु	३	१८
तद्गौरवान्मङ्गलम	७	३१
तद्दन्तिदन्तक्षतहे	१३	४१
तद्दर्शनादभूच्छम्भो	६	१३
तद्ब्रूत वत्साः किमि	२	२८
तं देशमारोपितपु	३	३५
तन्मातरं चाश्रुमुखीं	६	९२
तन्मुहूर्तमनुमन्तु	८	४८
तपःपरामर्शविवृ	३	७१
तपस्विनः स्थाणुवनौ	३	३४
तमङ्कमारोप्य सुता	१३	४
तमन्वगच्छद्भिरिशृ	१४	६
तमन्वगिन्द्रप्रमुखा	७	७१
तमभ्यगच्छत्प्रथमो	७	४३
तमर्थमिव भारत्या	६	७९
तमवेक्ष्य रुरोद सा	४	२६
तमातिथेयी बहुमा	५	३१
तमाशु विघ्नं तपस	३	७४
तमीक्षमाणाक्षणमी	११	२०
तमृद्धिमद्बन्धुजना	७	५२
तमेकदृश्यं नयनैः	७	६४
तं मातरो देवमनु	७	३८
तया दुहित्रा सुतरां	१	२४
तया प्रवृद्धाननच	७	७४

	सर्गे	श्लोकः
तया व्याहृतसन्देशा	६	२
तयोः समापत्तिषु का	७	७५
तव प्रसादात्कुसुमा	३	१०
तस्मात्प्रदेशाच्च विता	७	१२
तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः	२	४८
तस्मिन्मघोनस्त्रिदशा	३	१
तस्मिन्मुहूर्ते पुरसु	७	५६
तस्मिन्वने संयमिनां	३	२४
तस्मिन्विप्रकृताः काले	२	१
तस्मिन्संयमिनामाद्ये	६	३४
तस्मिन्सुराणां विजया	३	१९
तस्मै जयाशीः ससृजे	७	४७
तस्मै शशंस प्रणिप	३	६०
तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां	३	१६
तस्य जातु मलयस्थ	८	२५
तस्याः करं शैलगुरु	७	७६
तस्याः प्रविष्टा नत	१	३८
तस्याकृतिं कामपि	९	५
तस्यात्मा शितिकण्ठ	२	६१
तस्यानुमेने भगवा	७	९३
तस्याः शलाकाञ्जननि	१	४७
तस्याः स कण्ठेऽपि	९	२४
तस्याः सखीभ्यां प्र	३	६१
तस्याः सुजातोत्पलप	७	२०
तस्योपकण्ठे घननी	७	५१
तस्योपायनयोग्यानि	२	३७
तां विलम्बितपनीय	८	८१
तां वीक्ष्य सर्वावयवा	३	५७
तां हंसमालाः शरदी	१	३०
तानर्घ्यानर्घ्यमादाय	६	५०
तां नारदः कामचरः	१	५०
तान्प्रज्वलत्फलमुखै	१७	४
ताभिस्तत्रामृतकर	१०	६१
तामगौरवभेदेन	६	१२
तामर्चिताभ्यः कुलदे	७	२७
तामस्मदर्थे युष्माभि	६	२९
तामिमां तिमिरवृद्धि	८	५३
तां पार्वतीत्याभिजने	१	२६
तां पुलोमतनयाल	८	२७

	सर्गे	श्लोकः
तां प्रणामादरस्रस्त	६	९१
तां प्राङ्मुखीं तत्र	७	१३
तां लोध्रकल्केन हृता	७	९
तावत्पताकाकुलमि	७	६३
तावद्भवस्यापि कुबे	७	३०
तासां च पश्चात्कनक	७	३९
तासां मुखैरासवग	७	६२
तास्ताः खरेण मरु	१७	३०
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च	६	७१
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिः	२	६
तीव्राभिषङ्गप्रभवे	३	७३
तुरङ्गसादिनं शस्त्र	१६	४३
तुरङ्गी तुरगारूढं	१६	४१
तुषारसङ्घातशिलाः	१	५६
ते चाकाशमसिश्याम	६	३६
तेजसा तेन रौद्रेण	१०	४२
तेजोदग्धानि गात्रा	१०	१६
तेन भिन्नविषमोत्त	८	८९
ते नागपाशविशिखै	१७	६
तेनामरवधूहस्तैः	२	४१
तेनाहतास्त्रिदशसै	१७	३२
तेनोज्झितं सकलमे	१७	३४
ते प्रभामण्डलैर्व्योमं	६	४
तेषां मध्यगता साध्वी	६	११
तेषामाविरभूद् ब्रह्मा	२	२
ते सद्मनि गिरेर्वेगा	६	४८
ते स्वर्गलोकं चिर	१३	१०
ते हिमालयमामन्त्र्य	६	९४
तौ क्षणं शिथिलितोप	८	८६
तौ दम्पती त्रिः परि	७	८०
तौ सन्धिषु व्यञ्जित	७	९१
त्यजाशु गर्वं मदमू	१५	३८
त्रिभागशेषासु निशा	५	५७
त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयै	१२	५०
त्वं सर्वभक्षो भव	९	१६
त्वत्सम्भावितमात्मानं	६	२०
त्वदीयसेवावसर	९	९
त्वमेव तावत्परि	५	६७
त्वमेव हव्यं होता	२	१५

	सर्गे	श्लोकः
त्वं पितॄणामपि पिता	२	१४
त्वया प्रियाप्रेमवशं	९	८
त्वयि जुह्वति होता	१०	१८
त्वामामनन्ति प्रकृतिं	२	१३
त्विषामधीशस्य पुरो	१५	१८
द		
दक्षस्य शापेन शशी	९	१७
ददौ रसात्पङ्कजरे	३	३७
दधानया नेत्रसुधै	११	२९
दन्तीन्द्रदानद्रववा	१४	४३
दर्पणे च परिभोग	८	११
दष्टतामरसकेस	८	३२
दष्टमुक्तमधरोष्ठ	८	१८
दासीकृताशेषजग	१५	४
दिक्चक्रवालगिलनै	१७	३६
दिक्षु प्रसर्पस्तदधी	११	३३
दिगन्तदन्त्यावलिदा	१४	३९
दिगम्बराधिक्रमणो	१४	१०
दिग्दन्तिनां वारि	१३	२५
दिने दिने सा परिवर्ध	१	२५
दिवं यदि प्रार्थयसे	५	४५
दिवाकराद्रक्षति यो	१	१२
दिवापि तारास्तरला	१५	१९
दिवापि निष्ठ्यूतमरी	७	३५
दिवौकसो देवगृहं	१२	३७
दिवौकसो वो हृदय	१२	३९
दिव्यर्षयः शत्रुविजे	१३	२१
दिव्यां विष्णुपदीं	१०	५०
दुःप्रेक्षणीयमरिभि	१७	१९
दुकूलवासाः स वधू	७	७३
दुर्वारदोरुद्यमदुः	१२	४५
दुर्विषह्येण तेनाहं	१०	१३
दुश्चेष्टिते देवरिपौ	१३	३७
दूरमग्रपरिमेय	८	४०
दृप्तान्धकप्राणहरं	१२	१९
दृप्तारिसन्त्रासखिली	१२	२
दृष्टिप्रपातं परिहृ	३	४३
दृष्टिप्रपातवशतो	१७	७
दृष्ट्वा छद्मविहङ्गं मां	१०	८

	सर्गे	श्लोकः
दृष्ट्वा तथाविधं वह्नि	१०	३
दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दै	१७	१
दृष्ट्वा रथं प्रलयवा	१७	११
दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां	१२	२४
देवद्विषां परिवृढो	१७	२
देवं महेशं गिरिजां	१३	६
देवस्य तस्य स्मरसू	९	४७
देवास्तदन्ते हरमूढ	७	९२
देवि त्वमेवास्य	११	११
देवी भागिरथी पूर्वं	१०	२४
देवेन मन्मथरिपो	१७	२२
देवोऽपि गौर्या सह	९	४६
देवोऽपि दैत्यविशिख	१७	४७
दैतेयदन्त्यावलिद	१३	३८
दैत्याधिराज भवता	१७	१७
दैत्येश्वरो ज्वलितरो	१७	५
दैत्योऽपि रोषकलुषो	१७	४६
द्रवः सङ्घातकठिनः	२	११
द्रुमेषु सख्या कृतज	५	६०
द्वयं गतं सम्प्रति शो	५	७१
द्विधा प्रयुक्तेन च	७	९०
द्विषद्दलत्रासविभी	१५	५०
द्विषा प्रासहृतप्राणो	१६	४२
ध		
धन्विनस्तुरगारूढा	१६	३७
धर्मेणापि पदं शर्वे	६	१४
धातुताम्राधरः प्रांशु	६	५१
धूतानि तेन सुरसै	१७	२९
धूपोष्मणा त्याजितमा	७	१४
ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवद	७	८५
ध्वनत्सु तूर्येषु सुम	११	३६
न		
न केवलं दरीसंस्थं	६	६०
नखव्रणश्रेणिवरे	९	२५
न जामदग्न्यः क्षय	१५	३७
ननन्द सद्यश्चिरका	१३	२९
न नूनमारूढरुषा	७	६७
नभश्चरीमण्डनद	९	४४
नभोदिगन्तप्रतिभो	१४	४५

	सर्गे	श्लोकः
नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं	२	४
नयनान्यरुणानि घू	४	१२
न रथी रथिनं भूयः	१६	४७
नवपरिणयलज्जा	७	९५
न वेद्मि स प्रार्थितदु	५	६१
नवोद्यदम्भोधरघो	१४	९
नागेन्द्रहस्तास्त्वचि	१	३६
नाभिदेशनिहितः स	८	४
निकामतप्ता विविधे	५	२३
निदाघधामक्लमवि	१२	४९
निधत्से हुतमर्काय	१०	२०
निनाय सात्यन्तहि	५	२६
निम्नाः प्रदेशाः स्थ	१४	४४
निर्घातघोषो गिरिशृ	१५	२२
निर्दयं खड्गभिन्नेभ्यः	१६	६
निर्दष्टवर्त्मा विबुधे	१३	४२
निर्भिद्य दन्तिनः पूर्वं	१६	१०
निर्मितेषु पितृषु स्व	८	५२
निर्लूनलीलोपवना	१३	३५
निर्वाणभूयिष्ठमथा	३	५२
निर्विभुज्य दशनच्छ	८	४९
निवर्तयास्मादसदी	५	७३
निवार्यतामालि किम	५	८३
निवार्यमाणैरभितो	१५	२९
निवेदितं निश्वसित	५	४६
निशम्य चैनां तपसे	५	३
निशासु यत्र प्रतिबि	९	४३
निष्कम्पवृक्षं निभृत	३	४२
निसर्गकल्पद्रुमतो	१३	४३
निसर्गवात्सल्यरसौ	११	२३
निसर्गवात्सल्यवशा	११	५
नीलकण्ठपरिभुक्त	८	१२
नूनमुन्नमति यज्व	८	५८
नेपथ्यलक्ष्मीं दयितो	९	३०
नोर्ध्वं न चाधो न	१४	३८
नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न	८	५६
न्यस्ताक्षरा धातुरसे	१	७
प		
पठतां बन्दिवृन्दानां	१६	४

	सर्गे	श्लोकः
पत्तिः पतिमभीयाय	१६	२
पत्युः शिरश्चन्द्रकला	७	१९
पत्रान्तलग्नैर्जलबि	७	८९
पदं तुषारस्रुतिधौ	१	६
पद्मकान्तिमरुणत्रि	८	३०
पद्मनाभचरणाङ्कि	८	२३
परलोकनवप्रवा	४	१०
परलोकविधौ च मा	४	३८
परस्परं वज्रधर	१५	५२
परस्परेण स्पृहणीय	७	६६
पराभवं तस्य महा	१२	४१
परिणेष्यति पार्वतीं	४	४२
परिहृत्य परीरम्भ	१०	११
पर्यङ्कबन्धस्थिरपू	३	४५
पर्याकुलत्वान्मरुतां	२	२५
पर्याप्तपुष्पस्तवक	३	३९
पर्यायसेवामुत्सृज्य	२	३६
पशुपतिरपि तान्य	६	९५
पश्य कल्पतरुलम्बि	८	७१
पश्य पक्वफलिनीफ	८	६१
पश्य पश्चिमदिगन्त	८	३४
पश्य पार्वति नवेन्दु	८	६४
पाकभिन्नशरकाण्ड	८	७४
पाणिपीडनविधे	८	१
पाणिस्थितब्रह्मकपा	१२	१६
पादाङ्गुष्ठाग्रभूमिस्थैः	१०	४७
पादौ महर्षेः किल क	१३	४४
पार्वती तदुपयोग	८	७८
पिनाकिनापि स्फटि	९	३९
पिबन्स तस्याः स्तन	११	२
पीतासितारक्तसितैः	१४	३१
पुनर्ग्रहीतुं नियम	५	१३
पुरः सुराणां पृतनां	१५	४६
पुरःस्थितं देवरिपो	१५	४८
पुराणस्य कवेस्तस्य	२	१७
पुरातनीं ब्रह्मकपा	१२	१७
पुरा मयाकारि गिरी	१२	५५
पुरा सुरेन्द्रं सुरसं	१२	२८
पुरे तावन्तमेवास्य	२	३३

	सर्गे	श्लोकः
पुरोगतं दैत्यचमू	१५	४९
पुरोभव त्वं न पुरो	१३	११
पुलकभरविभिन्न	१७	५४
पुलोमपुत्रीं विबुधा	१३	४८
पुष्पं प्रवालोपहितं	१	४४
पूर्वभागतिमिरप्र	८	३७
पृथुप्रमोदः प्रगुणो	११	३१
प्रक्षुभ्यमाणमवलो	१७	१२
प्रज्वलत्कान्ति च	१६	१७
प्रणम्य शितिक	६	८१
प्रणर्तितस्मेरसरो	१३	३२
प्रतिक्षणं सा कृतरो	५	१०
प्रतिग्रहीतुं प्रणयि	३	६६
प्रतिपद्य मनोहरं	४	१६
प्रत्यर्थिभूतामपि तां	१	५९
प्रदक्षिणप्रक्रमणा	७	७९
प्रभामहत्या शिखये	१	२८
प्रभो प्रसीदाशु	९	११
प्रमथ्यमानाम्बुधिग	१४	१८
प्रमोदबाष्पाकुललो	११	१८
प्रयाणकालोचितचा	१४	५
प्रयुक्तपाणिग्रहणं	७	७८
प्रयुक्तसत्कारविशे	५	३९
प्रवातनीलोत्पलनि	१	४६
प्रशमादर्चिषामेत	२	२०
प्रसन्नचेता मदना	९	१३
प्रसन्नदिक्पांसुविवि	१	२३
प्रसाधिकालम्बितम	७	५८
प्रसीद विश्राम्यतु	३	९
प्रस्थानकालोचितचा	१३	१
प्रह्वीभवन्नम्रतरेण	१३	३
प्राक्तनानां विशुद्धानां	६	१०
प्रियेण दत्ते मणिद	९	२९
प्रीतः स्वाहास्वधाह	१०	१७
प्रीतात्मना सा प्रचक	११	२७
ब		
बद्धकोशमपि तिष्ठ	८	३९
बबन्ध चाम्राकुलदृ	७	२५
बभूव भस्मैव सिता	७	३२
वभौ च सम्पर्कमुपे	७	८
बलमदसुरलोका	१४	५१
वली बलारातिबला	१५	८
बलोद्धृतं काञ्चनभू	१४	२२
बहिरार्ता युगान्ताग्ने	१०	४१
बहुभिः सह युद्ध्वा	१६	२०
बाढं वपूंषि निर्भिद्य	१६	९
बाणैः सुरारिधनुषः	१७	२१
बालेन्दुवक्राण्यवि	३	२९
बिभ्राणमुत्तुङ्गतरं	१२	१०
ब्रह्मध्यानपरैर्योग	१०	४६
भ		
भद्रासनं काञ्चनपा	१२	२०
भयङ्करौ तौ विक	९	५०
भल्लेन शितधारेण	१६	४४
भवत्यनिष्टादपि ना	५	४२
भवत्सम्भावनोत्थाय	६	५९
भवल्लब्धवरोदीर्ण	२	३२
भविष्यतः पत्युरुमा	३	५८
भस्मानुर्लिप्ते वपुषि	९	२९
भागीरथीनिर्झरसी	१	१५
भागीरथी पावकक्ृ	११	३
भालस्थले लोचनमे	१२	१२
भालेक्षणाग्नौ स्वयम	९	२६
भावसूचितमदृष्ट	८	१५
भियासुरानीकविम	१४	२९
भीत्यालमद्य त्रिदिवौ	१३	१४
भुजङ्गमोन्नद्धजटा	३	४६
भुवं विगाह्य प्रययौ	१४	४०
भुवनालोकनप्रीतिः	२	४५
भ्रूभङ्गभीषणमुखो	१७	४८
भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठै	६	४५
भ्रूसंज्ञयानेन कृता	१२	७
म		
मदनेन विनाकृता	४	२१
मदान्ध मा गा भुज	१५	३३
मदोद्धतं प्रेतमथा	१४	८

सर्गे श्लोकः
मधु द्विरेफः कुसुमै ३ ३६
मधुश्च ते मन्मथसा ३ २१
मध्येन सा वेदिविल १ ३९
मनीषिताः सन्ति गृहे ५ ४
मनोतिवेगेन ककु ९ ३७
मनोतिवेगेन रथेन १५ ४५
मनो नवद्वारनिषि ३ ५०
मन्दरान्तरितमूर्ति ८ ५९
मन्दाकिनी सैकतवे १ २९
मन्दाकिन्याः पयः २ ४४
मन्देव खिन्नाङ्गुलिना ९ २०
महागजानां गुरुवृं १४ ३३
महागजानां गुरुभि १४ ४२
महाचमूनामधिपाः स १५ ६
महाचमूस्यन्दनच १४ २६
महारणक्षोणिपशू १२ ५२
महार्हरत्नाञ्चितयो १२ १३
महार्हशय्यापरिव ५ १२
महासुराणामवरो १४ ३४
महास्वनः सैन्यविम १४ ३२
महाहवे नाथ तवा १२ ५१
महाहिनिर्बद्धजटा १४ १२
महीभृतः पुत्रवतो १ २७
महीभृतां कन्दरदा १५ ११
महेश्वरजटाजूटवा १० ३०
महेश्वरः शैलसुता ११ ४१
महेश्वरोऽपि प्रमद ११ २८
महेश्वरो मानसरा ९ ३४
महोत्सवे तत्र समा ११ ३४
मान्यभक्तिरथवा स ८ ७७
मिथः प्रासाहतौ वा १६ ४५
मिथोऽर्धचन्द्रनिर्लून १६ ४९
मिलन्महाभीमभुज १५ १७
मिलितेषु मिथो यो १६ ३१
मुक्ता बभूवुरधुना १७ ९
मुक्तायज्ञोपवीतानि ६ ६
मुक्तिस्त्रीसङ्गदूत्यज्ञै १० ५२
मुखेन सा पद्मसुग ५ २७
मुञ्च कोपमनिमित्त ८ ५१

सर्गे श्लोकः
मुनिव्रतैस्त्वामतिमा ५ ४८
मुहुर्विभग्ना तपवा १५ १५
मूढं बुद्धमिवात्मानं ६ ५५
मूर्ते च गङ्गायमुने ७ ४२
मृगाः प्रियालद्रुमम ३ ३१
मृणालिकापेलवमे ५ २९
मेने मेनापि तत्सर्वं ६ ८६
मेरुमेत्य मरुदाशु ८ २२
मैत्रे मुहूर्ते शशला ७ ६
य
यं सर्वशैलाः परिकः १ २
यः पूरयन्कीचकर १ ८
यज्ञभागभुजां मध्ये ६ ७२
यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य १ १७
यज्वभिः सम्भृतं हव्यं २ ४६
यत्र कल्पद्रुमैरेव ६ ४१
यत्र स्फटिकहर्म्येषु ६ ४२
यत्रांशुकाक्षेपविल १ १४
यत्रापतत्स दनुजा १७ ५२
यत्रौषधिप्रकाशेन ६ ४३
यथागतं तान्विबुधा ९ ३६
यथाप्रदेशं भुजगेश्व ७ ३४
यथा प्रसिद्धैर्मधुरं ५ ९
यथाश्रुतं वेदविदां ५ ६४
यथैव श्लाघ्यते गङ्गा ६ ७०
यदध्यक्षेण जगतां ६ १७
यदमोघमपामन्त २ ५
यदा च तस्याऽधिगमे ५ ५९
यदा फलं पूर्वतपः ५ १८
यदा बुधैः सर्वगत ५ ५८
यदीयभित्तौ प्रतिबि ९ ४२
यदुच्यते पार्वति पा ५ ३६
यदैव पूर्वे जनने १ ५३
यद्ब्रह्म सम्यगाम्नातं ६ १६
यन्मुखग्रहणमक्ष ८ ९
यमोऽपि विलिख २ २३
यश्चाप्सरोविभ्रमम १ ४
यस्य चेतसि वर्तेथाः ६ १८
या नः प्रीतिर्विरूपाक्ष ६ २१

	सर्गे	श्लोकः
यामिनीदिवससं	८	५५
यावन्त्येतानि भूतानि	६	८०
युगक्षयक्षुब्धपयो	१५	९
युगान्तकालाग्निमिवा	९	१४
युद्धाय धावतां धीरं	१६	३
योगिनो यं विचिन्व	६	७७
यौवनान्तं वयो य	६	४४

र

	सर्गे	श्लोकः
रक्तपीतकपिशाः प	८	४५
रक्तभावमपहाय	८	६५
रङ्गभङ्गच्युतं रेत	१०	१२
रचितं रतिपण्डित	४	१८
रजनीतिमिरावगु	४	११
रणाङ्गणे शोणितप	१६	५०
रणे बाणगणैर्भिन्ना	१६	२४
रणोत्सुकेनान्धकश	१४	१
रतिद्वितीयेन मनो	९	४
रतिश्लथं तत्कबरी	९	२१
रथस्य कर्णाविभि त	९	२३
रथाश्वकेशावलिक	१५	३१
रथिनो रथिभिर्बाणै	१६	४६
रराज तेषां व्रजतां	१३	८
रात्रिवृत्तमनुयोक्तु	८	१०
रावणध्वनितभीत	८	२४
रुद्धनिर्गमनमादि	८	६०
रुषा मिथो मिलद्द	१६	३२
रेखाविभक्तः सुविभ	७	१८
रेजे सुरारिशरदु	१७	२३
रे शम्भुतापसशिशो	१७	१३
रोमोद्गमः प्रादुरभू	७	७७
रौद्रं सुदुर्धरं धाम	१०	५५
रौद्रेण दह्यमानस्य	१०	१४

ल

	सर्गे	श्लोकः
लग्नद्विरेफं परिभू	७	१६
लग्नद्विरेफाञ्जनभ	३	३०
लज्जा तिरश्चां यदि	१	४८
लतागृहद्वारगतो	३	४१
लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं	२	२७
लब्ध्वा धनुर्वेदमन	१५	३६
लाङ्गूलविक्षेपविस	१	१३
लीलारसाभिः सुरक	१३	२६
लोहितार्कमणिभाज	८	७५

व

	सर्गे	श्लोकः
वचस्यवसिते तस्मि	२	५३
वचोभिर्मधुरैः सार्थै	१०	९
वधूं द्विजः प्राहतवै	७	८३
वधूर्विधात्रा प्रति न	७	८७
वनेचराणां वनिता	१	१०
वपुर्विरूपाक्षमल	५	७२
वर्गावुभौ देवमही	७	५३
वर्णप्रकर्षे सति क	३	२८
वर्षातिकालजलद	१७	३५
वाता ववुः सौख्य	११	३७
वासराणि कतिचित्क	८	१३
विकस्वराम्भोजवन	१२	२३
विकीर्णसप्तर्षिबली	५	३७
विचित्रचञ्चन्मणिभ	१२	५
विजानता भावि शि	१५	२८
विदितं वो यथा	६	२६
विद्युल्लता वियति वा	१७	४२
विधिना कृतमर्धवै	४	३१
विधिप्रयुक्तसत्कारैः	६	५२
विधिप्रयुक्तां परिगृ	५	३२
विधेरमोघं स वर	१२	४६
विध्वस्य तेन सुरसै	१७	२८
विनम्रदेवासुरपृष्ठ	११	२१
विन्यस्तवैदूर्यशिला	७	१०
विन्यस्तशुक्लागुरु च	७	१५
विपत्प्रतीकारपरे	५	७६
विबुधैरसि यस्य दा	४	१९
विभिन्नं धन्विनां	१६	१२
विभूषणोद्भासि पिन	५	७८
विमुच्य सा हारम	५	८
विरोधिनां शोणित	१४	११
विरोधिसत्त्वोज्झितपू	५	१७
विलोकिताः कौतुकि	१४	३०
विलोक्य धूलीपटलै	१४	३७
विलोक्य यत्र स्फ	९	४०

	सर्गे	श्लोकः
विलोचनं दक्षिणम	७	५९
विवक्षता दोषमपि	५	८१
विवृण्वती शैलसुता	३	६८
विशृङ्खलं पक्षतियु	९	३
विश्वावसु प्राग्रहरैः	७	४८
विष्णुपादोदकोद्भूता	१०	३१
विसृजन्तो मुखैर्ज्वा	१६	८
विसृष्टरागादधरा	५	११
वीज्यते स हि संसु	२	४२
वीराणां शस्त्रभिन्ना	१६	२७
वीराणां विषमैर्घोषै	१६	२३
वृतं तेनेदमेव प्रा	२	५६
वृत्तानुपूर्वे च न चा	१	३५
वैवाहिकीं तिथिं पृष्टा	६	९३
वैवाहिकैः कौतुकसं	७	२
व्यधुर्बहिर्मङ्गलगा	९	३२
व्यावृत्तगतिरुद्याने	२	३५
व्याहृता प्रतिवचो न	८	२
व्योम्नस्तलं पिदध	१७	४४
श		
शक्तिर्ममासावहत	१३	१६
शक्त्या हृतासुमसु	१७	५१
शक्यमङ्गुलिभिरुत्थि	८	७२
शक्यमोषधिपतेर्न	८	६२
शङ्खान्तरद्योति विलो	७	३३
शम्भोरम्भोमयी मू	१०	२६
शम्भोः शिरोन्तःस	११	४७
शरच्चरच्चन्द्रमरी	१४	४
शरण्यः सकलत्राता	१०	१०
शशिना सह याति	४	३३
शस्त्रच्छिन्नगजारो	१६	३०
शस्त्रभिन्नेभकुम्भे	१६	२२
शस्त्रास्त्रविद्याभ्यस	१२	२१
शासनं पशुपतेः स	१२	५८
शिखरासक्तमेघानां	६	४०
शिरसा प्रणिपत्य या	४	१७
शिरांसि वरयोधाना	१६	२८
शिरीषपुष्पाधिकसौ	१	४१
शिलाशयां तामनिके	५	२५

	सर्गे	श्लोकः
शिष्यतां निधुवनोप	८	१७
शुचौ चतुर्णां ज्वलतां	५	२०
शुद्धमाविलमवस्थि	८	५७
शुभ्रैरभ्रङ्कषैरूर्मि	१०	४४
शूलिनः करतलद्व	८	७
शैलः सम्पूर्णकामोऽपि	६	८५
शैलात्मजापि पितुर	३	७५
श्रीनीलकण्ठ द्युपतिः	१२	२६
श्रुताप्सरोगीतिरपि	३	४०
श्रुत्वेति वाक्यं हृदय	११	९
श्रुत्वेति वाचं विय	१५	३९
संयुगे सांयुगीनं त	२	५७
स		
सकलविबुधलोकः	१३	५१
स कश्यपः सा जन	१३	४६
स कात्तिकियः पुरतः	१३	३०
स कृत्तिवासास्तपसे	१	५४
सखी तदीया तमुवा	५	५२
स गोपतिं नन्दिभुजा	७	३७
सङ्क्रन्दनः स्यन्दनतो	१२	३
सङ्गेन वो गर्भ तप	१५	४२
सङ्ग्रामं प्रलयाय सं	१५	५३
सङ्ग्रामानन्दवर्धिष्णौ	१६	५
स चण्डिभृङ्गिप्रमुखै	१२	८
स तथेति प्रतिज्ञाय	६	३
स ते दुहितरं साक्षा	६	७८
सत्यमर्काच्च सोमाच्च	६	१९
स दक्षिणापाङ्गनिवि	३	७०
स दुर्निवारं मनसो	१४	२
स देवदारुद्रुमवे	३	४४
स देवमातुर्जगदे	१३	४५
सद्यः प्रवालोद्गमचा	३	२७
सद्यो निकृत्ताञ्जनसो	१५	३०
सद्यो विभिन्नाञ्जनपु	१५	१६
स द्वारपालेन पुरः	१५	७
सद्विनेत्रं हरेश्चक्षु	२	३०
सन्तानकतरुच्छाया	६	४६
सन्तानकाकीर्णमहा	७	३
सन्धानमात्रमपि य	१७	२६

	सर्गे	श्लोकः
सन्ध्ययाप्यनुगतं र	८	४४
सपदि मुकुलिताक्षीं	३	७६
स पावकालोकरुषा	९	१८
सप्तर्षिहस्तावचिता	१	१६
स प्रजागरकषाय	८	८८
स प्रापदप्राप्तपरा	७	५०
स प्रियामुखरतं दि	८	९०
स प्रीतियोगाद्विकस	७	५५
समदिवसनिशीथं	८	९१
स माधवेनाभिमते	३	२३
स मानसीं मेरुसखः	१	१८
समीयिवांसो रहसि	९	४५
समुत्थितेन त्रिदिवौ	१४	२८
समेत्य दैत्याधिपतेः	१५	३
समेत्य सर्वेऽपि मुदं	१३	५०
सम्पत्स्यते वः कामो	२	५४
सम्मिलद्भिर्मरालैः सा	१०	३३
सम्यक्त्वयं किल	१७	१५
सर्गशेषप्रणयना	६	९
सर्वं सखे त्वय्युपप	३	१२
सर्वाभिः सर्वदा चन्द्र	२	३४
सर्वोपमाद्रव्यसमु	१	४९
सलीलमङ्कस्थितया	१२	१८
स वासवेनासनसं	३	२
स विलक्ष्यमुखैर्दे	१०	४
स व्यबुध्यत बुधस्त	८	८५
स शङ्करस्तामिति जा	९	१२
सस्वजे प्रियमुरोनि	८	१४
सहस्रेण दृशामीशो	१०	२
स हि देवः परञ्ज्योति	२	५८
सहेलहासच्छुरिता	१३	१३
साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुन	६	२२
सा गौरसिद्धार्थनिवे	७	७
सान्द्रप्रमोदात्पुलको	१३	१८
सान्द्रैः सुरानीकरजो	१४	३६
सान्ध्यमस्तमितशेष	८	५४
सा भूधराणामधिपे	१	२२
सा मङ्गलस्नानविशुद्ध	७	११
सामभिः सहचराः स	८	४१

	सर्गे	श्लोकः
सा राजहंसैरिव सं	१	३४
सा लाजधूमाञ्जलिभि	७	८१
सा सम्भवद्भिः कुसुमै	७	२१
सा सुदुर्विषहं गङ्गा	१०	४०
सिंहकेसरसटासु	८	४६
सीकरव्यतिकरं म	८	३१
सुकान्तकान्तामणिता	९	२
सुखाश्रुपूर्णेन मृगा	११	२५
सुगन्धिनिश्वासविवृ	३	५६
सुजातसिन्दूरपराग	१४	२४
सुज्ञा विज्ञाय ता	१०	५८
सुधासारैरिवाम्भोभि	१०	३९
सुबिम्बितस्य स्फ	९	४१
सुभक्तिभाजामधिपा	१२	३१
सुमङ्गलोपायनपा	११	३५
सुरद्विषोपप्लुतमे	१३	३४
सुरपरिवृढः प्रौढं	१२	६०
सुराङ्गनानां जलके	१३	२४
सुरारिनाथस्य महा	१५	१२
सुरारिलक्ष्मीपरिक	१४	१७
सुरालयश्रीविपदां	१४	३
सुरालयालोकनकौ	१३	१२
सुराः समभ्यर्थयिता	३	२०
सुराः सुराधीशपुरः	१२	४०
सुविस्मयानन्दविक	११	१९
सुस्नातानां मुनिं	१०	४५
सेनापतिं नन्दनम	१५	१
सोऽनुमान्य हिमव	८	२१
सोऽयमानतशिरो	८	४२
सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं	६	२७
सौभाग्यैः खलु सु	१०	५१
सौरभ्यलुब्धभ्रमरो	१३	२७
स्खलन्महेभं प्रपत	१५	२३
स्तुत्या पुरास्माभि	१२	४७
स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते	२	७
स्थानमाह्निकमपास्य	८	३३
स्थाने तपोदुश्चरमे	७	६५
स्थाने त्वां स्थावरा	६	६७
स्थिताः क्षणं पक्ष्म	५	२४

	सर्गे	श्लोकः
स्नात्वा तत्र सुल	१०	५३
स्फुरद्विचित्रायुधका	१४	१५
स्फुरन्मरीचिच्छु	११	३२
स्मरसि स्मर मेखला	४	८
स्मरस्तथाभूतमयु	३	५१
स्रस्तां नितम्बादवला	३	५५
स्वकालपरिमाणेन	२	८
स्वदर्शनार्थं समुपे	१३	४७
स्वबद्धया कण्ठिकये	१२	१४
स्वमङ्कमारोप्य सुधा	११	२२
स्वयं विशीर्णद्रुमप	५	२८
स्वरूपमास्थाय ततो	९	६
स्वरेण तस्याममृत	१	४५
स्वर्गापगापावकक्रु	११	१७
स्वर्गापगासलिलसी	१७	५३
स्वर्गापगासावनलो	११	७
स्वर्गारोहणनिःश्रे	१०	२९
स्वर्गौकसः स्वर्गप	१२	२६
स्वर्लोकलक्ष्मीकचक	१३	१५
स्वर्वाहिनीवारिविहा	९	३८
स्वागतं स्वानधीकारा	२	१८
ह		
हरस्तु किञ्चित्परिलु	३	६७
हरितारुणचारुब	४	१४
हरोविकर्णं घनघ	९	१९
हवींषि मन्त्रपूतानि	१०	१९
हव्यवाह त्वया सा	१०	५
हित्वायुधानि सुरसै	१७	३१
हिमव्यपायाद्विशदा	३	३३
हिरण्यरेतसा तेन	१०	२८
हृदये वसतीति म	४	९
हेमतामरसताडि	८	२६
हेमावनीषु प्रतिवि	१४	२३
हैमीफलं हेमगिरे	११	२६
ह्रीमानभूद्भूमिधरो	७	५४

* * *

मेघदूतम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

श्लोक	पू०/उ०	श्लो०
अ		
अक्षय्यान्तर्भवननिधयः	उ०	१०
अङ्गेनाङ्गं प्रतनुतनुना	उ०	४४
अद्रेः शृङ्गं हरति	पू०	१४
अध्वक्लान्तं प्रतिमुख	पू०	१९
अन्वेष्टव्यामवनि	उ०	३०
अप्यन्यस्मिञ्जलधर	पू०	३८
अम्भोबिन्दुग्रहण	पू०	२३
आ		
आद्ये बद्धा विरह	उ०	३४
आधिक्षामां विरह	उ०	३१
आनन्दोत्थं नयन	उ०	४
आपृच्छस्व प्रियसख	पू०	१२
आराध्यैनं शरवण	पू०	४९
आलोके ते निपतति	उ०	२५
आश्वास्यैनं प्रथम	उ०	५६
आसीनानां सुरभि	पू०	५६
इ		
इत्थम्भूतं सुरचित	उ०	६३
इत्याख्याते पवन	उ०	४२
इत्याख्याते सुरपति	उ०	६०
उ		
उत्पश्यामि त्वयि तट	पू०	६३
उत्पश्यामि द्रुतमपि	पू०	२४
उत्सङ्गे वा मलिन	उ०	२६
ए		
एतत्कृत्वा प्रियमनु	उ०	५८
एतस्मान्मां कुशलिन	उ०	५५
एभिः साधो ! हृदय	उ०	२०
क		
कच्चित्सौम्य ! व्यवसित	उ०	५७
कर्तुं यच्च प्रभवति	पू०	५१
कश्चित्कान्ता विरह	पू०	१

श्लोक	पू०/उ०	श्लो०
ग		
गच्छन्तीनां रमण	पू०	४१
गत्युत्कम्पादलक	उ०	११
गत्वा चोर्ध्वं दशमुख	पू०	६२
गत्वा सद्यः कलभ	उ०	२१
गम्भीरायाः पयसि	पू०	४४
छ		
छन्नोपान्तःपरिणत	पू०	१८
ज		
जातं वंशे भुवन	पू०	६
जाने सख्यास्तव	उ०	३६
जालोद्गीर्णैरुपचित	पू०	३६
ज्योतिर्लेखावलयि	पू०	४८
त		
तं चेद्वायौ सरति	पू०	५७
तं सन्देशं जलधर	उ०	६१
तन्मध्ये च स्फटिक	उ०	१९
तत्र व्यक्तं दृषदि	पू०	५९
तत्र स्कन्दं नियत	पू०	४७
तत्रागारं धनपति	उ०	१५
तत्रावश्यं वलय	पू०	६५
तन्वी श्यामा शिखरि	उ०	२२
तस्मादद्रेर्निगदित	उ०	५९
तस्माद्गच्छेरनुकन	पू०	५४
तस्य स्थित्वा कथमपि	पू०	३
तस्याः किञ्चित्करधृत	पू०	४५
तस्यास्तिक्तैर्वनगज	पू०	२१
तस्यास्तीरे रचित	उ०	१७
तस्याः पातुं सुरगज	पू०	५५
तस्मिन् काले नयन	पू०	४३
तस्मिन् काले जलद	उ०	३९
तस्मिन्नद्रौ कतिचि	पू०	२
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन	पू०	६७

श्लोक	पू० / उ०	श्लो०
तां कस्याञ्चिद्भवन	पू०	४२
तां चावश्यं दिवस	पू०	९
तां जानीथाः परिमित	उ०	२३
तामायुष्मन् मम	उ०	४०
तामुत्तीर्य व्रज परि	पू०	५१
तामुत्थाप्य स्वजल	उ०	४०
तेषां दिक्षु प्रथित	पू०	२६
त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित	पू०	४६
त्वय्यादातुं जलमव	पू०	५०
त्वय्यायत्तं कृषिफल	पू०	१६
त्वामारूढं पवन	पू०	८
त्वामालिख्य प्रणय	उ०	४७
त्वामासारप्रशमित	पू०	१७
द		
दीर्घीकुर्वन् पटुमद	पू०	३३
ध		
धारासिक्तस्थल	उ०	४८
धूमज्योतिःसलिल	पू०	५
न		
नन्वात्मानं बहु	उ०	५२
निःश्वासेनाधर	उ०	३३
नीचैराख्यं गिरि	पू०	२७
नीपं दृष्ट्वा हरित	पू०	२२
नीवीबन्धोच्छ्वसित	उ०	७
नूनं तस्याः प्रबल	उ०	२४
नेत्रा नीताः सतत	उ०	८
प		
पत्रश्यामा दिनकर	उ०	१३
पश्चादुच्चैर्भुज	पू०	४०
पाण्डुच्छायोपवन	पू०	२५
पादानिन्दोरमृत	उ०	३२
पादन्यासैः क्वणित	पू०	३९
प्रत्यासन्ने नभसि	पू०	४
प्रद्योतस्य प्रिय	पू०	३५
प्राप्यावन्तीनुदयन	पू०	३३
प्रालेयाद्रेरुपतट	पू०	६१
ब		
ब्रह्मावर्तं जनपद	पू०	५२
भ		
भर्तुः कण्ठच्छविरिति	पू०	३७
भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे	उ०	४१
भित्त्वा सद्यः किसलय	उ०	५०
भूयश्चाहं त्वमपि	उ०	५४
म		
मत्वा देवं धनपति	उ०	१४
मन्दं मन्दं नुदति	उ०	१०
मन्दाकिन्याः सलिल	उ०	६
मामाकाशप्रणिहित	उ०	४९
मार्गं तावच्छृणु	पू०	१३
य		
यत्र स्त्रीणां प्रियतम	उ०	९
यत्रोन्मत्तभ्रमर	उ०	३
यस्यां यक्षाः सितमणि	उ०	५
ये संरम्भोत्पतन	पू०	५८
र		
रक्ताशोकश्चल	उ०	१८
रत्नच्छायाव्यतिकर	पू०	१५
रुद्धापाङ्गप्रसर	उ०	३७
व		
वक्रः पन्था यदपि	पू०	२९
वापी चास्मिन् मरकत	उ०	१६
वामश्चास्याः कररुह	उ०	३८
वासश्चित्रं मधु	उ०	१२
विद्युत्वन्तं ललित	उ०	१
विश्रान्तः सन् व्रज	पू०	२८
वीचिक्षोभस्तनित	पू०	३०
वेणीभूतप्रतनु	पू०	३१
श		
शब्दाख्येयं यदपि	उ०	४५
शब्दायन्ते मधुर	पू०	६०
शापान्तो मे भुजग	उ०	५३
शेषान् मासान् विरह	उ०	२७
श्यामास्वङ्गं चकित	उ०	४६
श्रुत्वा वार्तां जलद	उ०	६२
स		
सङ्क्षिप्येत क्षण	उ०	५१

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पू०/उ०	श्लो०
सन्तप्तानां त्वमसि	पू०	७
सव्यापारामहनि	उ०	२८
सा सन्यस्ताभरण	उ०	३५
स्थित्वा तस्मिन् वन	पू०	२०
स्निग्धाः सख्यः कथ	उ०	२९
ह		
हस्ते लीलाकमल	उ०	२
हारांस्तारांस्तरल	पू०	३४
हित्वा तस्मिन् भुजग	पू०	६४
हित्वा हालामभिमत	पू०	५३
हेमाम्भोजप्रसवि	पू०	६६

◆

ऋतुसंहार

(श्लोकानुक्रमणिका)

	सर्ग	श्लो०
अ		
अगरुसुरभिधूपा	५	१२
अङ्गानि निद्रालस	६	१३
अन्या प्रकामसुरत	४	१५
अन्या प्रियेण परि	४	१७
अन्याश्चिरं सुरत	४	१८
अपगतमदरागा	५	११
अभीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनता	२	१०
असह्यवातोद्धत	१	१०
असितनयनलक्ष्मीं	३	२६
आ		
आकम्पयन्कुसुमिताः	६	२४
आकम्पयन्फलभराः	३	१०
आकम्पितानि हृदयानि	६	३४
आदीप्तवह्निसदृशैः	६	२१
आमूलतो विद्रुम	६	१८
आम्रीमञ्जुलमञ्जरी	६	३८
आलम्बिहेमरसनाः	६	२६
ई		
ईषत्तुषारैः कृत	६	३
उ		
उच्छ्वासयन्त्यः श्लथ	६	९
क		
कदम्वसर्जार्जुन	२	१७
कनककमलकान्तैः	६	३२
कनककमलकान्तैः	५	१३
कमलवनचिताम्वुः	१	२८
करकमलमनोज्ञाः	३	२२
कर्णे सुयोग्यं नव	६	६
कह्लारपद्मकुमुदानि	३	१५
काचिद् विभूषयति	४	१४
काञ्चीगुणैः काञ्चन	४	४
कान्तामुखद्युतिजुषा	६	२०

	सर्ग	श्लो०
कारण्डवानन	३	८
कालागुरुप्रचुर	२	२२
काशांकुशा विकच	३	१
काशैर्महीशिशिर	३	२
किं किंशुकैः शुकमुख	६	२२
कुन्दैः सविभ्रमवधू	६	२५
कुवलयदलनीलैः	२	२३
कुसुम्भरागारुणितैः	६	५
कृतापराधान् बहुशो	५	६
केशान्नितान्तघन	३	१९
ग		
गजगवयमृगेन्द्रा	१	२७
गात्राणि कालीयक	४	५
गुरूणि वासांसि	६	१५
गृहीतताम्बूलविले	५	५
च		
चञ्चन्मनोज्ञशफरी	३	३
छ		
छायां जनः समभि	६	११
ज		
जलभरविनताना	२	२८
ज्वलति पवनवृद्धः	१	२५
त		
तडिल्लताशक्र	२	२०
तनूनि पाण्डूनि	६	१०
ताम्रप्रवालस्तवका	६	१७
तारागणप्रवर	३	७
तुषारसङ्घातनिपात	५	४
तृणोत्करैरुद्गत	२	८
तृषाकुलैश्चातक	२	३
तृषामहत्याहत	१	१४
द		
दधति वरकुचाग्रै	२	२६

	सर्ग	श्लो०
दन्तच्छदैः सव्रण	४	१३
दिवसकरमयूखै	३	२५
द्रुमाः सपुष्पाः	६	२
न		
नखपदचितभागान्	५	१५
न चन्दनं चन्द्र	५	३
न बाहुयुग्मेषु	४	३
नवजलकणसङ्गा	२	२७
नवप्रवालोद्गम	४	१
नष्टं धनुर्बलभिदो	३	१२
नानामनोज्ञकुसुम	६	२७
नितम्बबिम्बैः	१	४
नितान्तनीलोत्पल	२	२
नितान्तलाक्षा	१	५
निपातयन्त्यः परितः	२	७
निर्माल्यदामपरि	४	१६
निरुद्धवातायन	५	२
निशाः शशाङ्क	१	२
नृत्यप्रयोगरहिता	३	१३
नेत्रे निमीलयति	६	२८
नेत्रेषु लोलो मदिरा	६	१२
नेत्रोत्सवो हृदय	३	९
प		
पटुतरदवदाहो	१	२२
पयोधराश्चन्दन	१	६
पयोधरैः कुङ्कुम	५	९
पयोधरैर्भीमगभीर	२	११
परभृतकलगीतै	६	३१
पाकं व्रजन्ती हिम	४	११
पीनस्तनोरःस्थल	४	७
पुंस्कोकिलश्चूत	६	१६
पुंस्कोकिलैः कल	६	२६
पुष्पासवामोद	४	१२
पृथुजघनभरार्ताः	५	१४
प्रकामकामैर्युवभिः	५	७
प्रचण्डसूर्यः	१	१
प्रचुरगुडविकारः	५	१६
प्रफुल्लचूताङ्कुर	६	१

	सर्ग	श्लो०
प्रफुल्लनीलोत्पल	४	९
प्रभिन्नवैदूर्यनिभै	२	५
प्रभूतशालिप्रसवैः	४	८
प्रियङ्गुकालीयक	६	१४
प्ररूढशालीक्षुचया	५	१
ब		
वलाहकाश्चाशनि	२	४
बहुगुणरमणीयो	४	१९
बहुगुणरमणीयः	२	२९
बहुतर इव जातः	१	२६
भिन्नाञ्जनप्रचय	३	५
म		
मत्तद्विरेफपरि	६	१९
मधुसुरभिमुखा	६	३२
मनोज्ञकूर्पासक	५	८
मनोहरैः कुङ्कुम	४	२
मन्दानिलाकुलित	३	६
मलयपवनविद्धः	६	३७
मार्गं समीक्ष्याति	४	१०
मालाः कदम्बनव	२	२१
मुदितं इव कदम्बै	२	२४
मृगाः प्रचण्डातप	१	११
र		
रक्ताशोकविकल्पिता	६	३६
रतिश्रमक्षाम	४	६
रम्यः प्रदोषसमयः	६	३५
रविप्रभोद्विग्न	१	२०
रवेर्मयूखैरभि	१	१३
रुचिरकनककान्तीन्	६	३०
व		
वनद्विपानां नव	२	१५
वहन्ति वर्षन्ति	२	१९
वापीजलानां मणि	६	४
विकचकमलवक्त्रा	३	२८
विकचनवकुसुम्भ	१	२४
विपत्रपुष्पां नलिनीं	२	१४
विपाण्डुरं कीटरज	२	१३
विलोचनेन्दीवर	२	१२

	सर्ग	श्लो०
विलोलनेत्रोत्पल	२	९
विवस्वता तीक्ष्ण	१	१८
विशेककण्ठोद्गत	१	१५
व्योम क्वचिद्रजत	३	४
श		
शरदि कुमुदसङ्गाद्	३	२२
शिरसि बकुलमालां	२	२५
शिरोरुहैः श्रोणि	२	१८
शेफालिका कुसुम	३	१४
श्वसिति विहगवर्गः	१	२३
श्यामा लताः कुसुम	३	१८
स		
सचन्दनाम्वु	१	८
सदा मनोज्ञं स्वन	२	६
सपत्रलेखेषु विलासि	६	८
सफेनलालावृत	१	२१
सभद्रमुस्तं परि	१	१७
समदमधुकराणां	६	२९

	सर्ग	श्लो०
समुद्गतस्वेद	१	७
समुद्धृताशेष	१	१९
सम्पन्नशालिनिचया	३	१६
सविभ्रमैः सस्मित	१	१२
ससीकराम्भोधर	२	१
सितेषु हर्म्येषु	१	९
सितोत्पलाभाम्बुद	२	१६
सुगन्धिनिःश्वास	५	१०
सुरतरसविलासाः	३	२४
सुवासितं हर्म्य	१	३
सोन्मादहंसमिथुनैः	३	११
स्तनेषु हाराः सित	६	७
स्त्रीणां विहाय	३	२७
स्फुटकुमुदचितानां	३	२१
ह		
हंसैर्जिता सुललिता	३	१७
हारैः सचन्दनरसैः	३	२०
हुताग्निकल्पैः सवितुः	१	१६

* * *

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

श्लोक	अ०	श्लो०
अ		
अक्लिष्टबालतरु	६	२०
अतः परीक्ष्य कर्तव्यं	५	२४
अधरः किसलयरागः	१	२१
अध्याक्रान्ता वसति	२	१४
अनवरतधनुर्ज्या	२	४
अनाघ्रातं पुष्पं	२	१०
अनुकारिणि पूर्वेषां	२	१६
अनुमतगमना	४	९
अनुयास्यन् मुनि	१	२८
अनेन कस्यापि	७	१९
अन्तर्गतप्रार्थन०	७	२
अन्तर्हिते शशिनि	४	३
अपरिक्षतकोमलस्य	३	२१
अभिजनवतो भर्तुः	४	१८
अभिनवमधुलोलुपो	५	१
अभिमुखे मयि संहृत	२	११
अभ्यक्तमिव स्नातः	५	११
अभ्युन्नता पुरस्ताद	३	५
अमी वेदिं परितः	४	७
अयं स ते तिष्ठति	३	११
अयमरविवरेभ्यः	७	७
अर्थो हि कन्या	४	२१
अर्धपीतस्तनं मातुः	७	१४
असंशयं क्षत्रपरिग्रह	१	२२
अस्मात्परं वत	६	२५
अस्मान् साधु	४	१६
अहन्यहन्यात्मन	६	२६
आ		
आखण्डलसमो	७	२८
आचार इत्यवहितेन	५	३
आजन्मनः शाठ्य	५	२५
आताम्रहरितपाण्डुर	६	२

श्लोक	अ०	श्लो०
आ परितोषाद्	१	२
आलक्ष्यदन्तमुकुलान्	७	१७
इ		
इतः प्रत्यादेशात्	६	९
इदं किलाव्याजमनो	१	१८
इदमनन्यपरायण	३	१६
इदमशिशिरै	३	१०
इदमुपनतमेवं	५	१९
इदमुपहितसूक्ष्म	१	१९
ई		
ईषदीषच्चुम्बितानि	१	४
उ		
उत्पक्ष्मणोर्नयनयो	४	१४
उत्सृज्य कुसुम	३	१९
उदेति पूर्वं कुसुमं	७	३०
उद्गलितदर्भकवला	४	११
उन्नमितैभ्रूलत	३	१२
उपोढशब्दा न	७	१०
ए		
एकैकमत्र दिवसे	६	१२
एवमाश्रमविरुद्ध	७	१८
एष त्वामभिनव	६	२७
एषा कुसुमनिषण्णा	६	१९
एषापि प्रियेण विना	४	१५
औ		
औत्सुक्यमात्रमव	५	६
क		
कथं नु तं बन्धुर	६	१३
कः पौरवे वसुमतीं	१	२४
का कथा बाण	३	१
कामं प्रत्यादिष्टां	५	३१
कामं प्रिया न सुलभा	२	१
कार्या सैकतलीन	६	१७

श्लोक	अ०	श्लो०
का स्विदवगुण्ठन	५	१३
किं कृतकार्यद्वेषो	५	१८
किं तावत् व्रतिना	५	९
किं शीतलैः क्लम	३	१८
कुतो धर्मक्रियाविघ्नः	५	१४
कुमुदान्येव शशाङ्कः	५	२८
कुल्याम्भोभिः पवन	१	१५
कृतं न कर्णार्पित	६	१८
कृताभिमर्शामनु	५	२०
कृता शरव्यं हरिणा	६	२९
कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्	२	१७
कृष्णसारे ददच्चक्षु	१	६
क्व वयं क्व परोक्ष	२	१८
क्षामक्षामकपोल	३	७
क्षौमं केनचिदिन्दु	४	४
ग		
गच्छति पुरः शरीरं	१	३३
गान्धर्वेण विवाहेन	३	२०
गाहन्तां महिषा	२	६
ग्रीवाभङ्गाभिरामं	१	७
च		
चलापाङ्गां दृष्टिं	१	२३
चित्रे निवेश्य	२	९
चूतानां चिरनिर्गता	६	४
ज		
जन्म यस्य पुरोर्वंशे	१	१२
जाने तपसो वीर्यं	३	२
ज्वलति चलितेन्धनो	६	३१
त		
तत्साधुकृतसन्धानं	१	११
तदेषा भवतः कान्ता	५	२६
तपति तनुगात्रि	३	१४
तव कुसुमशरत्वं	३	३
तव न जाने हृदयं	३	१३
तव भवतु	७	३४
तव सुचरित	६	११
तवास्मि गीतरागे	१	५
तस्याः पुष्पमयी	३	२३

श्लोक	अ०	श्लो०
तीव्राघातप्रतिहत	१	३२
तुरगखुरहत	१	३१
त्रिस्रोतसं वहति	७	६
त्वन्मतिः केवला	६	३२
त्वमर्हतां प्राग्रसरः	५	१५
त्वमसि मया चूताङ्कुर	६	३
द		
दर्भाङ्कुरेण चरणः	२	१२
दर्शनसुखमनुभवतः	६	२१
दिष्ट्या शकुन्तला	७	२९
दुष्यन्तेनाहितं	४	४
न		
न खलु न खलु	१	१०
न नमयितुमधिज्य	२	३
नापेक्षितो गुरुजन	५	१६
नियमयसि विमार्ग	५	८
नीवाराः शुकगर्भ	१	१४
नैतच्चित्रं यदय	२	१५
प		
परिग्रहबहुत्वेऽपि	३	१७
पातुं न प्रथमं	४	८
पुत्रस्य ते रणशिर	७	२६
पृष्टा जनेन सम	३	८
प्रजाः प्रजाः स्वा इव	५	५
प्रजागरात्	६	२२
प्रत्यादिष्टविशेष	६	६
प्रथमं सारङ्गाक्ष्या	६	७
प्रथमोपकृतं मरुत्वतः	७	१
प्रलोभ्यवस्तुप्रणय	७	१६
प्रवर्ततां प्रकृति	७	३५
प्राणानामनिलेन	७	१२
प्राहुर्द्वादशधा	७	२७
ब		
वल्मीकाग्रनिमग्न	७	११
बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि	७	२३
भ		
भवनेषु रसाधिकेषु	७	२०
भवन्ति नम्रास्तरवः	५	१२

श्लोक	अ०	श्लो०
भव हृदय साभिलाषं	१	२७
भानुः सकृद्युक्त	५	४
भूत्वा चिराय	४	१९
म		
मनोरथाय नाशंसे	७	१३
मय्येव विस्मरण	५	२३
महतस्तेजसो	७	१५
महाभागः कामं	५	१०
मानुषीषु कथं वा	१	२५
मुक्तेषु रश्मिषु	१	८
मुनिसुताप्रणय	६	८
मुहुरङ्गुलिसंवृता	३	२२
मूढः स्यामहमेषा वा	५	२९
मेदश्छेदकृशोदरं	२	५
मोहान्मया सुतनु	७	२५
य		
यथा गजो नेति	७	३१
यदालोके सूक्ष्मं	१	९
यदि यथा वदति	५	२७
यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो	२	१३
यद्यत् साधु न	६	१४
ययातेरिव शर्मिष्ठा	४	६
यस्य त्वया व्रण	४	१३
यात्येकतोऽस्तशिखरं	४	२
या सृष्टिः स्रष्टुराद्या	१	१
यास्यत्यद्य शकुन्तलेति	४	५
येन येन वियुज्यन्ते	६	२३
यो हनिष्यति	६	२८
र		
रथेनानुद्घात	७	३३
रम्यं द्वेष्टि यथा	६	५
रम्याणि वीक्ष्य	५	२
रम्यान्तरः कमलिनी	४	१०
रम्यास्तपोधनानां	१	१३
व		
वसने परिधूसरे	७	२१
वाचं न मिश्रयति	१	३०
विचिन्तयन्ती यमनन्य	४	१

श्लोक	अ०	श्लो०
विच्छित्तिशेषैः	७	५
वैखानसं किमनया	१	२६
व्यपदेशमाविलयितुं	५	२१
श		
शक्यमरविन्दसुरभिः	३	४
शमप्रधानेषु तपोधनेषु	२	७
शममेष्यति मम	४	२०
शान्तमिदमाश्रमपदं	१	१६
शापादसि प्रतिहता	७	३२
शुद्धान्तदुर्लभमिदं	१	१७
शुश्रूषस्व गुरून्	४	१७
शैलानामवरोहतीव	७	८
स		
संरोपितेऽप्यात्मनि	६	२४
सख्युस्ते स किल	६	३०
सङ्कल्पितं प्रथममेव	४	१२
सतीमपि ज्ञाति	५	१७
सन्दष्टकुसुमशयना	३	१५
सरसिजमनुविद्धं	१	२०
सहजं किल	६	१
साक्षात् प्रियामुप	६	१६
सा निन्दन्ती	५	३०
सायन्तने सवनकर्मणि	३	२४
सिध्यन्ति कर्मसु	७	४
सुखपरस्य हरे	७	३
सुतनु हृदयात्	७	२४
सुभगसलिला	१	३
सुरयुवतिसम्भवं	२	८
स्तनन्यस्तोशीरं	३	६
स्त्रीणामशिक्षित	५	२२
स्निग्धं वीक्षित	२	२
स्मर एव तापहेतुः	३	९
स्मृतिभिन्नमोह	७	२२
स्रस्तांसावतिमात्र	१	२९
स्वप्नो नु माया	६	१०
स्वसुखनिरभिलाषः	५	७
स्वायम्भुवान्मरीचेर्यः	७	९
स्विन्नाङ्गुलि	६	१५

विक्रमोर्वशीयम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

श्लोक	अ०	श्लो०
अ		
अग्रे यान्ति रथस्य रेणु	१	५
अग्रे स्त्रीनखपाटलं	२	७
अङ्गमनङ्गक्लिष्टं	३	१६
अचिरप्रभाविलसितैः	४	७५
अदः सुरेन्द्रस्य	१	१९
अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः	३	१८
अनीशया शरीरस्य	२	१८
अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं	३	२२
अनेन कल्याणि! मृणाल	३	१३
अनेन निर्भिन्नतनुः	५	६
अपराधी नामाऽहं	२	२०
अपि दृष्टवानसि मम प्रियां	४	६०
अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा	४	४९
अभिनवकुसुम	४	५६
अमरमुनिरिवात्रिः	५	२१
अयं तस्या रथक्षोभात्	३	११
अयञ्च गगनात् कोऽपि	१	१५
अयमचिरोद्गतपल्लवम्	४	४४
अयमेकपदे तया वियोगः	४	१०
अवधूतप्रणिपाताः	३	५
असौ मुखालम्बित	५	२
अस्याः सर्गविधौ	१	१०
अस्यान्तिकमायान्ती	४	५८
अहं पृच्छामि आचक्ष्व	४	४५
अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः	५	१४
आ		
आत्मनो वधमाहर्त्ता	५	१
आ दर्शनात्प्रविष्टा सा	२	२
आभरणस्याभरणं	२	३
आभाति मणिविशेषो	५	४
आयुषो यौवराज्यश्रीः	५	२३
आरक्तराजिभिरियम्	४	१५
आलोकयति पयोदान्	४	१८
आ लोकान्तात् प्रतिहततमो	२	१
आविर्भूते शशिनि तमसा	१	९
आविलपयोधराग्रं	५	८
आश्वासितस्य मम नाम	५	१६
इ		
इदमसुलभवस्तुप्रार्थना	२	६
इदं रुणद्धि मां पद्मं	४	४०
इयं ते जननी प्राप्ता	५	१२
उ		
उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु	३	२
उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिः	३	६
उर्वशीसम्भवस्यायम्	५	७
उष्णाणुः शिशिरे निषीदति	२	२२
ऊ		
ऊरूद्भवा नरसखस्य	१	४
ए		
एकक्रमवर्धितगुरुतर	४	४१
एताः सुतनु! मुखं ते	१	१२
एषा मनो मे प्रसभं	१	२०
क		
करिणीविरहसन्तापितः	४	४३
कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं	३	४
किं सुन्दरि! प्ररुदिताऽसि	५	१५
कुपिता न तु कोपकारणं	४	२६
कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं	३	१०
कृष्णसारच्छविर्योऽसौ	४	५७
ग		
गतं भयं भीरु!	१	६
गन्धोन्मादितमधुकर	४	१२
गहनं गजेन्द्रनाथः	४	५

श्लोक	अ०	श्लो०
गूढं नूपुरशब्दमात्रमपि मे	३	१५
गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण	४	३६
गोरोचनानिकषपिङ्गजटा	५	१९
च		
चिन्तादूनमानसिका	४	४
ज		
जलधर संहरैतं	४	११
त		
तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया	४	६८
तया वियुक्तस्य विलग्न-	४	६७
तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभित	४	५२
तव पितरि पुरस्तात्	५	२२
तिष्ठेत् कोपवशात्	४	९
तुल्यानुरागपिशुनं	२	१३
त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्	५	२०
त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि !	४	७१
त्वयि निवद्धरतेः प्रियवादिनः	४	५५
त्वां कामिनो मदनदूति	४	२५
द		
दातुं बा प्रभवसि	३	१४
दयितारहितोऽधिकं	४	१४
देव्या दत्त इति यदि व्यापारं	३	१७
न		
न तथा नन्दयसि मां	२	१४
नद्या इव प्रवाहो विषम	३	८
ननु वज्रिण एव वीर्यमेतत्	१	१७
नवजलधरः सन्नद्धोऽयं	४	७
न सुलभा सकलेन्दुमुखी	२	९
नहि सुलभवियोगा कर्तुम्	५	१७
नितान्तकठिनां रुजं	२	११
निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं	२	४
नीलकण्ठ ! ममोत्कण्ठा	४	२१
प		
पद्भ्यां स्पृशेद् वसुमतीं	४	१६
परभृते मधुरप्रलापिनि	४	२४
परस्परविरोधिन्योरेक	५	२४
परिजनवनिताकरार्पिताभिः	३	३
पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां	२	१५
पश्चात् सरः प्रतिगमिष्यसि	४	३१

श्लोक	अ०	श्लो०
पादास्त एव शशिनः	३	२०
पुरां नारायणेनेयमतिसृष्टा	१	१६
पूर्वदिक्पवनाहतकल्लो	४	५४
प्रणयिनिबद्धाशोको	४	६४
प्रणयिषु वा दाक्षिण्यात्	१	२
प्रभापल्लवितेनासौ	५	३
प्रभालेपी नायं हरिहत	४	६३
प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि	४	५३
प्रसृतखरदारित	४	४८
प्राप्तसहचरीसङ्गमः	४	७६
प्रियकरिणीवियुक्तो	४	२९
प्रियतमाविरहक्लान्त	४	२८
प्रियमाचरितं लते ! त्वया	१	१८
प्रियवचनकृतोऽपि योषितां	२	२१
प्रियसखीवियोगविमनाः	४	१
ब		
वर्हिण परमित्यभ्यर्थये	४	२०
वाष्पायते निपतिता मम	५	९
म		
मत्तानां कुसुमरसेन	१	३
मदकलयुवतिशशिकला	४	४६
मधुकर मदिराक्ष्याः	४	४२
मन्दारकुसुमदाम्ना	१	७
मन्दारपुष्पैरधिवासितायां	४	६५
मम कुसुमितास्वपि सखे !	२	८
मया ज्ञातं मृगलोचनां	४	८
मया नाम जितं यस्य	२	१६
मयूरः परभृता हंसो	४	७२
मर्मररणितमनोहरे	४	३५
महदपि परदुःखं शीतलं	४	२७
मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं	४	४७
मुञ्चति न तावदस्या	१	८
मुनिना भरतेन यः प्रयोगो	२	१७
मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा	४	३०
मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया	४	२२
य		
यदिदं रथसङ्क्षोभात्	१	१३
यदि हार्दमिदं श्रुत्वा	५	१०

श्लोक	अ०	श्लो०
यदि हंस गता न ते नतभ्रूः	४	३३
यदेवोपनतं दुःखात्	३	२१
यदृच्छया त्वं सकृदप्यबन्धयोः	१	११
यावत्पुनरियं सुभ्रू	१	१४
यः सुप्तवान् मदङ्के	५	१३
र		
रक्तकदम्बः सोऽयं	४	६१
रक्ताशोक ! कृशोदरी	४	६२
रत्नमिति न मे तस्मिन	५	५
रथाङ्गनामन् ! वियुतो	४	३७
रविमाविशते सतां क्रियायै	३	७
रे रे हंस ! किं गोप्यते	४	३२
ल		
लते प्रेक्षस्व विना	४	६९
व		
वचोभिराशाजननैर्भवानिव	३	९
वासार्थं हर सम्भृतं सुरभि	२	१९
विद्याधरकाननलीनो	४	२३
विद्युल्लेखाकनकरुचिरं	४	१३
विविक्षोर्यदिदं नूनम्	२	५
वेदान्तेषु यमाहुरेक	१	१
श		
शमयति गजानन्यान्	५	१८
श्रमखेदसुप्तमपि	४	७३

श्लोक	अ०	श्लो०
स		
समर्थये यत् प्रथमं	४	७०
सम्प्राप्तविसूरणः	४	१९
सरसि नलिनीपत्रेणापि	४	३९
सर्वः कल्पे वयसि यतते	३	१
सर्वस्तरतु दुर्गाणि	५	२५
सर्वक्षितिभृतां नाथ	४	५१
सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य	५	११
सङ्गमनीय इति मणिः	४	६६
सहचरीदुःखालीढं	४	२
सहचरीदुःखालीढं	४	३
सामन्तमौलिमणिरञ्जित	३	१९
सितांशुका मङ्गलमात्र	३	१२
सुरसुन्दरी जघनभरालसा	४	५९
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य	४	३८
स्फटिकशिलातल	४	५०
स्फुरता विच्छुरितमिदं	४	७४
स्वामिन् ! सम्भाविता	२	१२
ह		
हंस ! प्रयच्छ मे कान्ताम्	४	३४
हृतौष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः	४	१७
हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः	२	१०
हृदयाहितप्रियादुःखः	४	६

* * *

मालविकाग्निमित्रम्

(श्लोकानुक्रमणिका)

	अङ्कः	श्लोक
अ		
अर्थं स प्रतिबन्धं	१	९
अप्याकरसमुत्पन्नः	५	१८
अग्रे विकीर्णकुरबक	५	४
अनुचितनूपुरविरहम्	४	३
अनतिलम्बि दुकूल	५	७
अहं रथाङ्गनामेव	२	९
अनेन तनुमध्यया	३	१७
अनातुरोत्कण्ठितयोः	३	१५
अचिराधिष्ठितराज्यः	१	८
अतिमात्रं भासुरत्वम्	१	१३
अनिमित्तमिन्दुवदने	१	१८
अलमन्यथा गृहीत्वा	१	२०
अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः	२	८
अव्याजसुन्दरीं तां	२	१३
अपराधिनि मयि दण्डं	३	२२
आ		
आदाय कर्णकिसलय	३	१६
आर्द्रालक्तकमस्याः	३	१३
इ		
इष्टाधिगमनिमित्तं	४	५
इमां परीप्सुर्दुर्जति	५	११
उ		
उपदेशं विदुः शुद्धं	२	९
उभावभिनयाचार्यौ	१	१
उचितः प्रणयो वरं	३	३
उन्मत्तानां श्रवण	३	४
उत्तरेण किमात्मैव	४	१२
ए		
एकैश्वर्ये स्थितोऽपि	१	१
औ		
औत्सुक्यहेतुं विवृणोषि	३	१०
क		
कदा मुखं वरतनु	४	१६
कान्तां विचिन्त्य	६	३
कात्स्र्न्येन निवर्णयितुं	४	८
किसलय मृदोविला	३	१८
कुप्यसि कुवलय	४	१०
क्व रुजा हृदयप्रभा	३	२
च		
चरणान्तनिवेशितां	२	११
चित्रगतायामस्यां	२	२
छ		
छेदो दंशस्य दाहो वा	४	४
ज		
जनमिममनुरक्तम्	२	५
जीमूतस्तनित	१	२१
त		
ततः परान् पराजित्य	५	१५
तामाश्रित्य श्रुतिपथ	४	१
तूणीरपट्टपरिणद्ध	५	१०
तौ पृथग्वरदाकूले	५	१३
त्वदुपलभ्य समीप	३	६
त्वं मे प्रसादसुमुखी	५	२०
द		
दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि	४	१४
दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति	२	३
दुल्लहो पिओ मे	२	४
देवानामिदमामनन्ति	१	४
द्वारे नियुक्त पुरुषा	१	१२
द्विधा विभक्तां	५	१४
ध		
धृतपुष्पमयमपि	३	१९
धैर्यावलम्बिनमपि	१	२२
न		
न च न परिचितो	१	११
नवकिसलयरागेण	२	१२
नहि बुद्धिगुणेनैव	४	६

	अङ्क	श्लोक
नार्हति कृतापराधो	४	१७
नायं देव्या भाजनत्वं	५	८
नेपथ्यपरिगतायाः	२	१
नैतावता वीरविजृम्भितेन	५	१७
प		
पथि नयनयोः	४	११
पत्रच्छायासु हंसाः	२	१२
परभृतकलव्याहारेषु	५	१
पात्रविशेषे न्यस्तं	१	६
पुराणमित्येव न	१	२
प्रतिपक्षेणापि	५	१९
प्रेष्यभावेन नामेयं	५	१२
ब		
बाष्पासारा हेमकाञ्ची	३	२१
भ		
भर्त्रासि वीरपत्नीनां	५	१६
भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोः	२	११
भावज्ञानान्तरं प्रस्तुतेन	३	१४
भ्रूभङ्गभिन्नतिलकम्	४	९
म		
मङ्गलालङ्कृता	१	१४
मधुरस्वरा परभृता	४	२
मन्दोऽप्यमन्दतामेति	२	७
मन्ये प्रियाहृतमनाः	३	२३
महासारप्रसवयोः	१	१५
मामियमभ्युत्तिष्ठति	५	६
मौर्यसचिवं	१	७

	अङ्क	श्लोक
य		
यद्यत्प्रयोगविषये	१	५
र		
रक्ताशोकरुचा	३	५
ल		
लब्धास्पदोऽस्मीति	१	१७
व		
वामं सन्धिस्तिमित	१	६
विवादे दर्शयिष्या	१	१८
विपुलं नितम्बदेशे	३	७
विसृज सुन्दरि	४	१३
विरचितपदं बन्धु	५	२
वोढा कुरबकरजसां	३	९
श		
शरकाण्डपाण्डु	३	८
शठ इति मयि	३	२०
शरीरं क्षामं स्याद्	३	१
शिरसा प्रथमगृहीतां	१	३
श्लिष्टा क्रिया	१	१६
स		
सर्वान्तःपुरवनिता	२	१४
सर्वाशोकतरूणाम्	५	५
सूर्योदये भवति या	४	७
स्मयमानमायताक्ष्याः	२	१०
ह		
हस्तं कम्पयते	४	१५

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-संस्थानम् के प्रमुख प्रकाशन

क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक/सम्पादक	मूल्य
1.	संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास	प्रधान सम्पादक	
	(अट्ठारह खण्ड)	**पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय**	
	वेद खण्ड (प्रथम)	सम्पादक प्रो. व्रजविहारी चौबे	320.00
	वेदाङ्ग खण्ड (द्वितीय)	सम्पादक प्रो. ओम्प्रकाश पाण्डेय	300.00
	आर्षकाव्य खण्ड (तृतीय)	सम्पादक प्रो. भोलाशंकर व्यास	400.00
	काव्य खण्ड (चतुर्थ)	सम्पादक प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी	300.00
	गद्य खण्ड (पंचम)	सम्पादक प्रो. जयमन्त मिश्र	300.00
	आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास (सप्तम)	सम्पादक प्रो. जगन्नाथ पाठक	360.00
	काव्य शास्त्र (अष्टम खण्ड)	सम्पादक पं. करुणापति त्रिपाठी	375.00
	न्याय खण्ड (नवम्)	सम्पादक प्रो. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर	280.00
	वेदान्त खण्ड (दशम)	सम्पादक प्रो. संगम लाल पाण्डेय	300.00
	तन्त्रागम खण्ड (एकादश)	सम्पादक प्रो. ब्रजबल्लभ द्विवेदी	300.00
	व्याकरण खण्ड (पंचदश)	सम्पादक प्रो. गोपाल दत्त पाण्डेय	300.00
2.	सरल संस्कृतम्	श्री प्रयाग दत्त चतुर्वेदी	30.00
3.	स्तुतिमणि माला (दो भाग)	संपादक आचार्य करूणापति त्रिपाठी	40.00
4.	दावानल	डॉ. श्रीनाथ हसूरकर	113.00
5.	मदीयात्मकथा	सम्पादक आचार्य करूणापति त्रिपाठी	125.00
6.	संस्कृत प्रभा	डॉ. कपिलदेव द्विवेदी	70.00
7.	पाणिनि तथा संस्कृत के अन्य-अल्पज्ञात कवियों की रचनायें	डॉ. प्रभात शास्त्री	86.00
8.	संक्षिप्त महाभारत (द्वितीय खण्ड)	संपादक एवं अनुवादक डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी	225.00
9.	कालिदास-ग्रन्थावली	सम्पादक आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	200.00
10.	कविर्जयति-वाल्मीकिः	सम्पादक डॉ. आनन्द कुमार श्रीवास्तव	120.00
11.	पौरोहित्य कर्म प्रशिक्षक	सम्पादक डॉ. सच्चिदानन्द पाठक	100.00
12.	परिशीलनम् षाण्मासिकी संस्कृतानुसंधान पत्रिका		10.00
13.	विद्वच्चरित पंचकम्	सं.म.म. नारायणशास्त्री खिस्ते	60.00
14.	अद्वैत सिद्धिः (तीन भाग)	गुरु चन्द्रिका टीका	280.00
15.	तन्त्र समुच्चयः (दो भाग) शंकरप्रभृति विमर्शिनी आख्या विवरणाख्या-व्याख्या समेत		200.00
16.	पंचदशी अच्युतरायमोडक एवं रामकृष्ण-व्याख्या सहित		150.00
17.	सदुक्ति कर्णामृतम् (प्रथम भाग) श्रीधरदास प्रणीतम् एवं म.म. रामावतार शर्मा सम्पादित, हिन्दी टीका-प्रो. ओम् प्रकाश पाण्डेय		120.00
18.	श्रीमद्वाल्मीकि रामायण (चार भाग) श्री गोविन्दराजीय व्याख्या तिलक प्रभृति अनेक पूर्व व्याख्यान उद्धृत गोविन्दराजीय अनुक्त एवं पूर्व विषयों से समलंकृत		740.00
19.	मन्त्ररामायण (हिन्दी टीका)	डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी	75.00
20.	धातुरूप-निदर्शनम्	पं. वासुदेव द्विवेदी शास्त्री	50.00
21.	नैषधीय-चरितम् (दो भाग)	नारायणी एवं मल्लिनाथ टीका सहित	240.00
22.	भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिकता	सम्पादक डा. उमारमण झा	100.00
23.	व्यावहारिक संस्कृत प्रशिक्षक	सम्पादक डा. सच्चिदानन्द पाठक	100.00
24.	भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष गाथा	डॉ. सत्यदेव चौधरी	40.00
25.	कथामन्दाकिनी	डॉ. ओम प्रकाश ठाकुर	60.00
26.	बालकथा कौमुदी	सम्पादक डॉ. विश्वास	50.00
27.	बाल वाटिका	सम्पादक डॉ. विश्वास	30.00